

महर्षिकल्प धर्ममूर्ति

महामना पंडित मदनमोहन मालवीयजीकी
पुण्य स्मृतिमें

अपरिमित श्रद्धा तथा निःसीम आदर के साथ
समर्पित

जिन्होंने इस ग्रन्थकी रचनाके लिए प्रेरणा, प्रोत्साहन, सहायता और
प्राशोर्वादि दिया और जिसकी सहृदयी अनुकम्पासे मैं विश्वके कविकुल-
गुरु कालिदासकी सम्पूर्ण रचनाओंकी उनकी अभीष्ट सरल नागरी भाषामें
अनुवाद करके प्रस्तुत करनेमें सफलता प्राप्त कर सका ।



महामना पंडित मदनमोहन मालवीय

कालिदास-ग्रन्थावलीका सम्पादक-मण्डल

मूल प्रेरक

महामना पंडित मदनमोहन मालवीयजी

प्रधान सम्पादक

साहित्याचार्य पंडित सोताराम चतुर्वेदी, एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी, पालि
प्रत्न भारतीय इतिहास तथा संस्कृति), बी० टी०, एल्-एल्०, बी०

सम्पादक-मण्डल

पंडित महादेव शास्त्री, कवि-तात्त्विक-चलन्त्यर्त्ता (अब स्वामी श्री १०८ महेशानन्दजी)
व्याकरणाचार्य, साहित्यशास्त्री पंडित कल्याणपति त्रिपाठी, एम० ए०

डा० पंडित गोवर्धननाथ शुक्ल, एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत) बी० टी०, पी-एच० डी०
साहित्य-दर्शनाचार्य एव० पंडित ईशदत्त पाण्डेय "धीश"

शुश्री सुमति सरमुकदम, एम० ए० (संस्कृत)

पंडित गद्याप्रसाद ज्योतिषी, एम० ए०

एव० पंडित नानेश उपाध्याय, एम० ए० (संस्कृत, प्रत्न भारतीय इतिहास तथा
ज्योतिषाचार्य)

पंडित शिवप्रसाद मिश्र "उद्भ", एम० ए०, बी० टी०

पंडित राधाबिमोद गोस्वामी, एम० ए०

न्याय-व्याकरण-साहित्याचार्य पं० रामगोविन्द शुक्ल

साहित्यरत्न पं० राजाराम तिवारी, एम० ए०

साहित्यरत्न पं० अक्कनारायणधर द्विवेदी

सहायक-मण्डल

साहित्यशास्त्री पं० वसुदेव मिश्र, एम० ए० (संस्कृत)

व्याकरणाचार्य पं० नृसिंह मिश्र

साहित्यशास्त्री पं० इन्द्रजीत पाण्डेय (विशारद)

साहित्यशास्त्री पं० भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र

पंडित जयशंकर चतुर्वेदी, एम० ए०

विषय-सूची

भूमिका

प्रथम खण्ड (काव्य)

| | | | | |
|---------------|-----|-----|-----|---------|
| रघुवंश | ... | ... | ... | १-२२८ |
| कुमारसम्भवम् | ... | ... | ... | २२९-३८८ |
| मेघदूतम् | ... | ... | ... | ३८९-४२४ |
| श्रुतुतंहारम् | ... | ... | ... | ४२५-४५६ |

द्वितीय खण्ड (नाटक)

| | | | | |
|---------------------|-----|-----|-----|---------|
| अभिज्ञान-शाकुन्तलम् | ... | ... | ... | १-१५० |
| विजयमोर्वेदीय | ... | ... | ... | १५१-२५८ |
| मालविकाग्निमित्रम् | ... | ... | ... | २५९-३५८ |

तृतीय खण्ड (समीक्षा-निबंध)

| | | | | |
|--|-----|-----|-----|---------|
| विजयमालिका—डा० राजबाली पाण्डेय | ... | ... | ... | १-१३ |
| विजय और उनके गणराज—पंडित ईशदत्त शास्त्री "श्रीश" | ... | ... | ... | १४-२० |
| कालिदासके प्रबंधोंकी उपादेयता—पं० सीताराम जयराम जोशी | ... | ... | ... | २१-३१ |
| कालिदासके शब्द-प्रयोग—पं० अम्बिकाप्रसाद उपाध्याय | ... | ... | ... | ३२-३५ |
| कालिदासके कालिकाकी पूर्णता—स्व० श्री गो० दामोदरदासजी | ... | ... | ... | ३६-४२ |
| कालिदासका शब्द—पं० यतदेव उपाध्याय | ... | ... | ... | ४३-४८ |
| कालिदास और प्रकृति—पं० बरुणाप्रति त्रिपाठी | ... | ... | ... | ४९-५८ |
| निर्गमनका शाकुन्तला—डा० बेलवेन्वर | ... | ... | ... | ५९-७० |
| योगबलिष्ठमें मेघदूत—डा० मीनलाल घाणेय | ... | ... | ... | ७१-७३ |
| मेघदूतकी मर्यादा—आचार्य सीताराम चतुर्वेदी | ... | ... | ... | ७४-८३ |
| मेघदूतका एक सम्मेलन : निबन्ध स्वल्प—डा० यामुदेवचरण शर्मा | ... | ... | ... | ८४-१०६ |
| मर्यादा कालिदासकी उपमाओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन—डा० पी० के० मोह | ... | ... | ... | १०७-११८ |
| कालिदासकी दूरदर्शकता—पी० ए० रामगोविन्द शुक्ल | ... | ... | ... | १२०-१२१ |
| अभिज्ञान-कौटिल्य—(कालिदासके पाण्डेयों में आए हुए व्यक्तियों, जोषों, यत्नपूर्ण और स्थानों का परिचय) पं० सीताराम चतुर्वेदी | ... | ... | ... | १२९-१८६ |
| कालिदास-सम्बन्धी प्रश्नों, सैद्धांतिक तथा प्रयोगों की सारणी—डा० रामकुमार चौधरी | ... | ... | ... | १८७-१८८ |
| कालिदास-सम्बन्धी भारतीय भाषाओं का मानचित्र | ... | ... | ... | संलग्न |

कालिदास-ग्रन्थावली

PRESENTED BY

सीताराम चतुर्वेदी

अखिल भारतीय विक्रम-परिषद्

काशी के लिए

भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़ द्वारा प्रकाशित

सं० २०१६ वि०

तृतीय संस्करण

कि

जान होकर गोवर्धनके !
एव मंदिरके अधिष्ठाता

प्रकाशक—
बन्नीप्रसाद शर्मा
भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़



PAF-1 154
Ministry of Education
Govt of India

इस प्रकाशनी के किली एक या सब प्रन्थो के समुवाद प्रकाशन का पूरा अधिकार
पण्डित सीताराम चतुर्वेदी को है।

मूल्य—बीस रुपया

मुद्रक—
चन्द्रप्रकाश शर्मा
आदर्श प्रेस, अलीगढ़।

तृतीय संस्करण का संपादकीय निवेदन

सन् २००० विक्रमाब्दमें जब भारत भरमें विक्रमद्विसहस्राब्दी मनाई जा रही थी समय महामना भारतवीरजी महाराजके आदेशसे काशीमें अखिल भारतीय-विक्रम-परिपक्षी हुई, जिसकी योजनामें सार्वजनिक समारोहके अतिरिक्त शकारि-विक्रमादित्यके नवरात्रोत्सव एवं कविगुल-गुल कालिदासके सब ग्रन्थोंका अनुवाद, अभिनव नाट्यशास्त्र, समीक्षाशास्त्र फौटल्सका अर्थ-शास्त्र आदि ग्रन्थोंका प्रकाशन करके अत्यन्त कम मूल्यमें सर्व-साधारणके लिये मुलभ करना भी था। यद्यपि संपादक महलमें मनेक महानुभाव थे, किन्तु भारतवीरजी २१.१५ मेरा निम्ना हुमा अनुवाद ही भ्रष्टा सगा और मुझे उन्होंने आदेश दिया कि "पूरा अनुवाद प्रकाशनी सरल, सुगोच और सर्वगम्य भाषामें कर जातो।" उनका आदेश मेरे लिए वेद-न, था। तदनुसार मैंने सभी ग्रन्थोंका अनुवाद कर डाला और उन्हें शुभा भी डाला। जहाँ-जहाँ उन्होंने परिवर्तन या व्याख्या या विस्तार करनेका सुझाव दिया वह भी कर दिया। उन्होंने यह भी दिया था कि मूल अक्षर तथा अनुवाद अलग रखा जाय। उनकी आज्ञाके अनुसार प्रथम इसी प्रकार प्रकाशित हुमा और केवल पाँच रुपयेमें पूर्ण निर्विघ्न ब्राह्मणको दे दिया गया।

सोढ़े ही दिनोंमें द्वितीय संस्करणकी आवश्यकता पड़ गयी। परिपक्ष तो व्यापार भी और न पैसा ही संचित करती थी। कागज और छपाईकी महर्षता थी। पाठकोंका आग्रह कि मूल और अनुवाद साफ-साफ हो, आकार बड़ा कर दिया जाय, कागज भी अच्छा लगाया जाय। इतर सामानोका पूर्ण भ्रष्टा था। मेरे परम पूज्य पितृवरण स्व० पंडित भीमसेनजी २००० जब मेरी इस विवशताका ज्ञान हुमा तो उन्होंने अत्यन्त स्वाभाविक वात्सल्यभावसे मुद्रणका व्यय देनेकी कृपा की। किन्तु वे उसके प्रकाशनसे पूर्व दिवंगत हो गए। द्वितीय भी बात की बातमें समाप्त हो गया और तृतीय संस्करणकी माँग होने लगी। यह संस्करण बड़ी दैवी तथा नाटकीय परिस्थिति में प्रकाशित हुमा है।

बार वर्ष पूर्व सन् १९५८ के जनवरी मासमें अत्यन्त अस्वस्थ वृद्धा में काशीमें पड़ा हुमा कल्याणके सन्त भक्त पारमण कर रहा था। उसी समय मुझे अन्तःप्रेरणा हुई कि अपने शिष्य गोवर्धननाथ शुक्लके साथ श्री गिरिराजजीके दर्शन किए जायें। मैंने शुक्लजीको लिख दिया और उन्होंने अत्यन्त अद्भुतपूर्वक स्वीकृति भी दे दी। तत्पश्चात् एक-दो-एक-एक-एक-एक-एक ही पड़ा रहा। अकस्मात् सन् १९५९ के जुलाई मासमें शुक्लजीने लिखा कि "आपादस्य दियसे" के उपलक्ष्यमें अलीगढ़ विश्वविद्यालयमें महाकवि कालिदास पर आकर भाषण दीजिए। श्रीगिरिराजजीके दर्शनवा लोभ भी उन्होंने साथ ही दिया था। इसलिए निमन्त्रण स्वीकार करनेमें आपत्तिका प्रश्न ही नहीं था। यों भी शुक्लजीका गुणपर इतना अधिक आदरपूर्ण प्रेम है कि उनके आग्रह की अग्रश में किसी भी प्रकार नहीं कर सकता था।

अलीगढ़ विश्वविद्यालयमें भाषण दे चुकने पर अगले दिन हम लोग सयान होकर गोवर्धनके दर्शनके लिए चल पड़े। सयोंपयस साथमें अलीगढ़स्थ भारत प्रकाशन मंदिरके अधिष्ठाता

१० यशोप्रसाद शर्मा भी थे। गोवर्धन पर्वतके दर्शन कर चुकने पर प्रसंगवश कालिदास ग्रन्थावलीका प्रयोग छिड़ गया। मैंने अपनी विवशता प्रकट की किन्तु तत्काल पंडित बदरीप्रसाद शर्माने उसके प्रकाशनका भार स्वीकार कर लिया। श्रीगिरिराजके दर्शनका यह प्रत्यक्ष और सचकल था। काशी या बलियामें बैठकर इसका संशोधन संभव नहीं था किन्तु पंडित गोवर्धननाथ मुखर्जीने भयान्त तत्परताके साथ यह भार-बहन करनेकी स्वीकृति देकर मुझे निश्चिन्त कर दिया।

मुक्ति उन्होंने और उनके प्रिय पंडित चिरजीवनात् रावलने जिस परिचय, जिस मनोयोग, धर्म और दयाहीने साथ इस ग्रन्थको संशोधन मुद्रा मुद्रित कराने का प्रयत्न किया है उसका महत्त्व मैं भण्डारके प्रोत्साहक शब्दोंमें परिमित नहीं करना चाहता। हाँ, मैं हृदयसे उनको इसके लिए भाणीबाँद देता हूँ।

रघुपति

कुमार मुझे सतोष और हर्ष है कि श्री यशोप्रसाद शर्माने महामना पंडित गवतमोहन प्रमुखानवीशजीके जन्म-ज्योतिष-संवत्सरमें इसे कम मूल्यमें प्रकाशित करके अपना और सबका भविष्य बताया है।

इस संस्करणमें कुछ लेख और भी बढ़ा दिए गये हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस परिश्रमकारणसे कालिदास प्रेमियोंमें अधिक संतोष होगा। भयान्त सजग और सावधान रहने पर भी कि कुछ मुद्राशायीबी दयासे कुछ भ्रममुद्रियाँ रह गई हैं और कुछ पन्नोंके प्रहारसे माथे धूँट जानेसे मान-कुछ भ्रममुद्रियाँ रह गई हैं। कृपया पाठकगण सुधारकर पाठ्यार्थ प्रारम्भ करें।

भारत तथा भारतके बाहरके जिन अनेक विद्वानों, मनीषियों, पंडितों, विद्यापियों और विद्वानों विद्यावुरागियोंने इस ग्रन्थके प्रति इतनी भारतीयता और नम्रता प्रदर्शित की है उसके लिए मैं उनका हृदयसे कृतज्ञ हूँ और उनकी इस सहृदयताको ही अपने परिश्रमका सबसे बड़ा पुरस्कार मानता हूँ। यदि इस संस्करण के सम्बन्धमें वे कुछ सुझाव भेजें तो मैं बादरपूर्वक उनका भगते संस्करणमें उपयोग करनेका प्रयत्न करूँगा।

श्री सौदी निमरो, काशी
श्री गोवर्धन-शुभा स. २०१६

—सीताराम चतुर्वेदी

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

—रघुवंशम्—

॥ प्रथमः सर्गः ॥

वानरार्थाविव संपृक्तौ वानरार्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥१॥
क सूर्यप्रभवो वंशः क चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥२॥
मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशुलस्ये फले लोभादुल्लाहुरिव वामनः ॥३॥
अर्धमा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसुरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥४॥

पहला सर्ग

[बाणी और अर्थ जैसे अलग कहलाते हुए भी एक ही है, वैसे ही पार्वतीजी और शिवजी भी गृहस्थी दो रूप है, पर है वे सबमुन एक ही । इसलिये] बाणी और अर्थको अपने वशमे करने के लिये, [उनकी ठीक समझने और उनका ठीक व्यवहार करनेके लिये] मैं ससारकी माता पार्वतीजी और पिता शिवजीको प्रणाम करता हूँ जो शब्द और अर्थके समान परस्पर मिले हुए एक रूप हैं ॥१॥ [मैं रघुवंशका वर्णन तो करते बंटा हूँ पर मैं देख रहा हूँ कि] यहाँ तो सूर्यसे उत्पन्न हुआ यह [विजस्वी] वंश, [जिसमे रघु और राम—जैसे पराक्रमी उत्पन्न हुए हो और] वहाँ मोटी बुद्धिवाला मैं । [मैं यह भली भाँति जानता हूँ कि मैं रघुवंशका पार नहीं पा सकता फिर भी मेरी मूर्खता तो देखिए कि] तिनकोसे धनी छोटी-सी नाव लेकर अपार समुद्रको पार करनेकी बात सोच रहा हूँ ॥२॥ देखा, मैं हूँ तो मूर्ख, पर मेरी साथ यह है कि, बड़े-बड़े कवियोंमे मेरी गिनती हो । यह सुनकर लोग मुझपर अवश्य हँसेंगे, क्योंकि मेरी यह बानी बंसी ही है जैसे कोई बोना अपने नन्हे नन्हे हाथ ऊपर उठाकर उन फलोंको तोड़ना चाहता हो जो केवल सम्वे हाथवाले ही पा सकते हो ॥३॥ पर [मुझे एक बड़ा भारी मरोसा गहरी है कि] वाल्मीकि आदि मुझसे पूर्वके कवियोंमे इस सूर्यवंशपर [सुन्दर काव्य] लिखकर बाणीका द्वार, पहले ही खोल दिया है । इसलिये उसमे पंठ जाना [और इस वंशपर फिरसे वर्णन करना] मेरे लिये बंसा ही [सरल] हो गया है जैसे हीरेकी कनीसे बिंये

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।

आसमुद्रचितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥५॥

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामाचिंतार्थिनाम् ।

यथापराधदण्डानां यथाकालप्ररोधिनाम् ॥६॥

त्पागाय संभृतार्थानां सत्पाय मितभाषिणाम् ।

यशसे विजिगीषूणां ब्रजायै गृहमेधिनाम् ॥७॥

शैशवेऽभ्यस्ताविधानां यौवने विपर्ययिणाम् ।

चार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥८॥

रघूणामन्ययं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन् ।

तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥९॥

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः ।

हेम्नः संलक्ष्यते सग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥१०॥

वैवस्वतो मनुनाम माननीयो मनीषिणाम् ।

आसीन्महीक्षितामाधः प्रणवश्छन्दसामिव ॥११॥

हुए मणिमे ओरा पिरोना ॥५॥ मैं जानता हूँ कि मुझे कुछ माता-जाता नहीं है, फिर भी मैं उन [प्रतापी] रघुवक्षियों को, वपुन करने बैठा हूँ, जिसके चरित्र जन्मसे लेकर अन्ततक शुद्ध धोर पवित्र रहे, जो किसी कामको ठठाकर, उसे पूरा करके ही छोड़ते थे, जो समुद्रके धोर-धोर तक फैली हुई धरतीके स्वामी थे, जिनके रथ, पृथ्वीसे स्वयं तक सीधे जाया-माया करते थे, जो [राक्षसोंके] निबल-के अनुसार ही मज करते थे, जो मीनने बावोंको मन-बाह्य दान देते थे, जो [अपराधियोंको] अपराधके अनुसार ही दण्ड देते थे, जो बवसर देखकर ही काम करते थे, जो दान करनेके लिये ही धन इकट्ठा करते थे, जो राज्यकी रक्षाके लिये बहुत कम बोलते थे [कि जितना बहूँ उलटा कर भी दिया], जो [दूसरोंका राज हड़पने या बूटमारके लिये नहीं बरख] प्रपन्ना यहाँ बढानेके लिये ही दूसरे देश जीतते थे, जो [भोग-बिसाखके लिये नहीं बरख] सन्ताव, उत्पन्न बरानेके लिये ही विद्याह करते थे, जो बालनर्पणमे पढते थे, तत्कालीन ससारके भोवका प्रानन्द लेते थे, बुढापेमे 'मुनियोंके समान [जगलूमि रहकर] तपस्या करते थे और अन्तमे योगके द्वार [ब्रह्म या परमात्माका ध्यान करते हुए] प्रपन्ना रांरीर छोड़ते थे । [यद्य पृथिवी तो] रघुवक्षियोंके, इन गुणोंमे ही 'मुझे यह काव्य लिखनेकी दिहाई करने को उरसाया है ॥५-९॥ 'इम काव्यको सुननेके अधिपतारी भी वे ही सज्जन है जिन्हे सने-बुरेकी सज्जी परख है क्योंकि सोनेका खरापन या खोटपन धामने 'दासनेपर ही जाना जाता है ॥१०॥ जैसे वेदके छन्दोंमे सर्वाँ पहले ध्वजार है वैसे ही 'राजायोग्य सबसे पहले, सूर्यके पुत्र वैवस्वत मनु हुए जिनका माँदर बढे-बढे निदाम लोग भी किया बरते थे ॥११॥' लक्ष्मी वक्ष्यते

तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः ।
 दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधानिव ॥१२॥
 व्यूढोरस्को हृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाशूलः ।
 आत्मकर्मक्षमं देहं चात्रो धर्म इवाश्रितः ॥१३॥
 सर्वोतिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिमाविना ।
 स्थितः सर्वोन्नतेनोर्षा क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना ॥१४॥
 आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः ।
 आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः ॥१५॥
 भीमकान्तैर्नृपगुणैः स वभूवोपजीविनाम् ।
 अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्षवः ॥१६॥
 रेखाभात्रमपि सुवृणादामनोर्दर्मनः परम् ।
 न व्यतीद्युः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नमिवृत्तयः ॥१७॥

मनुके उज्ज्वल वस्त्रे राजासौम्य चन्द्रमासे समान सबको सुख देनेवाले तथा प्रत्यन्त धुइ चरित्रवाले राजा दिलीपको वैसे ही जन्म लिया जैसे क्षीरसागरमें, चन्द्रमाने जन्म लिया था ॥१२॥ [राजा दिलीपका रूप देखने ही योग्य था ।] उनकी चौड़ी छाती, साँढकेसे जैसे घोर, गारी कबे, शालके वृक्ष-जैसी लंबी भुजाएँ और उनका धार तेज देखकर ऐसा जान पड़ता था भागो क्षत्रियोका धर्म [वीरत्व] उनके शरीरमें यह सम्भवकर था ठटा हो कि [सज्जनोकी रक्षा और दुर्जनोके नाश करनेका जो] मेरा काम [है वह] इस शरीरसे प्रवृत्त पूरा हो सकेगा ॥१३॥ जैसे कुम्ह पर्वतने अपनी दृढतासे ससारके सब दृढ पर्वतोंको दबा दिया है, अपनी चमकत सब चमकीली वस्तुओंकी चमक पटादी है, अपनी ऊँचाईसे सब ऊँची वस्तुओंको नीचा दिखा दिया है और अपने फैलावसे सारी पृथ्वीको ढक लिया है वैसे ही राजा दिलीपने भी अपने बल, तेज और धील-धीलवाले शरीरसे सबको नीचा दिखाकर सारी पृथ्वीको अपनी मुठ्ठीमें भर लिया ॥१४॥ जैसा सुन्दर उनका रूप था, वैसी ही तीखी उनकी बुद्धि थी, जैसी तीखी बुद्धि थी वैसी ही सीधतासे उन्होंने सब वास्तव पट डाले थे । इसीलिये वे वास्तवके अनुसार ही किसी काममें हाथ डालते थे और [सब यह होता था कि उन्हें] वैसी ही [बड़ी] सफलता थी [सबसे] हाथ लगती थी ॥१५॥ [जैसे परियासो और मगरमच्छोंके डरते सोम समुद्रमें पैठनेके डरते हैं, वैसे ही] राजा दिलीपसे भी उनके सेवक डरते थे क्योंकि वे न्यायसे बड़े बड़ोर भी थे [और किसीका पक्षपात नहीं करते थे ।] किन्तु समुद्रके सुन्दर और मगौटर रत्नानो पानेके दिव्य जैसे सोम समुद्र में पैठ ही जाने हैं वैसे ही राजा दिलीप, इतने देवानु, उदार और सुखजानी भी थे कि उनके सेवक उनकी कृपा पानेके लिये सदा उनका मूँह खोलते रहते थे ॥१६॥ जैसे बहुत सारकी जब रस चलाता है सब रसके पहिले वास्तव में लीनने बाहर नहीं हा पाने वैसे ही राजा दिलीपने देव

प्रजानामेव भृत्यर्थं म ताम्यो बलिमग्रंहीत् ।
 महत्सगुणसुखसुप्तमाद्ये हि रसं रविः ॥१८॥
 मेना परिच्छदस्तस्यद्वयमेवार्थसाधनम् ।
 शास्त्रेष्वकुप्लिता बुद्धिर्माँर्वी धनुषि चावता ॥१९॥
 तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारोक्तिवस्य च ।
 फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव ॥२०॥
 जुगोपात्मानमप्रस्तो भजे धर्ममनातुरः ।
 अमृचुराददेः सौर्ज्यमसक्तः सुखमन्यभूत् ॥२१॥
 ज्ञाने मौनं समा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः ।
 गुणा गुणानुपन्धित्वात्तस्य संप्रसवा इव ॥२२॥

पच्छे इगते प्रजाकी रेलनात की नि प्रजाका कोई भी व्यक्ति मनुके पनाए हुए निबनोति बहवर चल नहीं सपना था । [सब लोग 'जहाँ धीर प्राथमिके नियमोंके अनुसार ही अपने धर्मका पावन करते थे] ॥१८॥ जैसे सूर्य अपनी किरणोंके प्रदीपका जो जल सोखता है उसका सहायगुना करता होता है, वैसे ही राजा दिलीप भी अपनी प्रजाको भलादि लगानेके लिये ही प्रजासे कर लेते थे ॥१९॥ [जैसे धीर राजाओंके पास बड़ी शायी सेवा होती थी वैसे ही] राजा दिलीपने पास श्री बड़ी शायी सेना की पर वह सेना केवल सोचाने लिये ही थी [उसके कोई काम राजा दिलीप नहीं लेते थे] क्योंकि शास्त्रोंका उन्हें बहुत अच्छा ज्ञान था और धनुष बचानेमें भी वे एक ही थे । इसलिये वे अपना सब काम शायी तीखी बुद्धि और धनुषपर शवी हुई शरीर-इग से ही निबाल लेते थे । [उन्हें किसी कामसे किसी धीरकी सहायता नहीं लेनी पड़ती थी] ॥२०॥ राजा दिलीप न तो अपने मनका भेद किसीको बताते थे और न अपनी भावमौलिके ही अपने मनकी बात किसीको जानने देते थे । जैसे इस जन्मसे किसीके [पुत्री या पुत्री] जीवनको देखकर लोग समझते हैं कि उसने जिसने जन्ममें क्या [पच्छे या पुत्रे] काम किया था, वैसे ही राजा दिलीपके मनकी बात भी लोग समझ पाते थे जब वह काम ही सुना था, [उसके पहले 'नहीं'] ॥२१॥ वे निदर होकर अपनी रक्षा करते थे, बने धीरवर्गके साथ अपने धर्मका पालन करते थे, धीर धीरवर मन दृढ़ता करते थे और कोई धीरवर संसारके कुछ भीगते थे ॥२२॥ [जो लोग बहुत सिद्ध-पद पाते हैं वे अपनी विद्याका दिव्योप पीतते हैं, जो बलवान होते हैं वे दूसरोंको लड़ानेमें अपनी बड़ाई समझते हैं, जो लोग दास देते हैं या बंद बात नहीं थी] वे सब कुछ जानकर भी कुछ करने में, धनुषोंके बरसा देनेकी शक्ति पड़े हुए भी उन्हें शाना कर देते थे, धीर राजा केवल यह व्याप करने की अपनी प्रशंसा करानेकी इच्छा नहीं करते थे । [उनके इस गर्वके लिये स्वयंसेवकों देखकर नहीं जान पड़ता था कि] कुछ रहने, शाना करती धीर प्रजाकी दूर भागनेसे कुछ भी उनमें ज्ञान, शक्ति और त्यागके साथ

अनाकुलस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः ।
 तस्य धर्मरतेरासीदुबुद्धत्वं जरसा पिना ॥२३॥
 प्रजानां विनयाधानाद्रचणाद्धरणादपि ।
 से पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥२४॥
 स्वित्यै दण्डयतो दण्डशान्परिणेतुः प्रसूतये ।
 अप्यर्थकामी तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः ॥२५॥
 'दुदोह गां स यज्ञाय तस्याय मधवा दिवम् ।'
 संपद्भिर्निमयेनोमौ दधतुर्भुवनद्वयम् ॥२६॥
 न क्लानुययुस्तस्य राजानो रवितुर्यशः ।
 प्यायुता यत्परस्येभ्यः श्रुतौ तस्करता स्थिता ॥२७॥

ही साप उल्लस हृप थे ॥२३॥ संसारके लोगोंको ये धपने पास नहीं पटकते देने थे, छोटी विद्याओं-
 को उन्होंने मुहूर्ति कर, किया या और अपना जीवन ये दिवसत धर्मके नामोंमें ही लगाने थे ।
 छोटी ही धर्मस्थानों ये इतने क्रूर हो गए थे कि बिना बुझाया चाप ही उनको गिनती धरे-बूझोंमें
 हीने लगी ॥२३॥ जैसे पिता अपने पुत्रोंको घुरे बान करनेमें रोजता है, मध्ये नाम करनेकी
 सीख देता है, सब प्रकारसे उसकी रक्षा करता है और उनको पाल-पोषण करवा करता है वैसे ही
 राजा क्षीति भी अपनी प्रजाको घुरे मार्गपर जानेमें रोजते थे, प्रच्छा राप करनेकी उपाहिउ
 करते थे, विपत्तिपक्षि उनको रक्षा करते थे और [उनके लिये धन, धन, धन तथा विद्याया
 प्रदान करते] उनका पालन-पोषण करते थे । इस प्रकार ये ही अपनी प्रजाके लिये पिता थे,
 पिता बहूनामैवाते धर्म्य लोग तो जीवन जग्य देने भरने पिता थे ॥२४॥ [अपराधीको दण्ड देना
 राजाका धर्म है । यथोक्ति] अपराधीको दण्ड दिए बिना राज्य टूट ही लज्जा, हानिलिये ये
 अपराधीको उचित दण्ड देते थे । [धन चलाना भी मनुष्यका धर्म है । इतिधिये] उन्नाम उल्लस
 करके वरा पसानेकी दृष्टाते ही उन्होंने विवाह किया या, कोई भोग विलासों लिये नहीं । [इस
 प्रकार दण्डि] दण्ड और विवाह वास्तवमें धर्मसाधन और नामसाधनके विषय हैं फिर भी उनके
 हाथोंमें पहुँचकर ये धर्म ही उन गए थे ॥२५॥ राजा क्षीति प्रथमे जी कर लेते थे वह दण्डकी
 प्रदान करनेके लिये यज्ञों समा देने थे [यथोक्ति यज्ञ करनेमें देना प्रदान और पुष्ट होते हैं] ।
 उपर दण्ड भी देने प्रदान होकर धर्मसाधनो दुस्तर जन बरमाना या प्रियं मेउ धनके
 मद जाने थे । इस प्रकार राजा क्षीति और दण्ड एक दूसरेकी सहायता करने दोनों दोहोरा
 पालन करते थे ॥२६॥ क्षीतिपकी छोटकर और कोई भी राजा अपनी प्रजाको रक्षा करनेमें
 नाम न बना सारा यथोक्ति [समीचे नहीं बभी-बभी चोरी-चपली हो ही जाती थी । पर राजा
 क्षीतिपका अपने राज्यमें ऐसा दबदबा था कि] चोरीरा, चण्ड वंश बहने-मुद्रोंको ही रू दया था,
 [उस राज्यमें कोई भी लोगोंका धन नहीं चुरा पाता था] ॥२७॥ जैसे रोगी मर दण्डपर औरपरी

द्वेप्पोऽपि संमतः शिष्टस्तस्यार्तस्य यथौषधम् ।
 त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगच्छता ॥२८॥
 तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना ।
 तथाहि सर्वे तस्यासन्पराथैकफला गुणाः ॥२९॥
 स वेलावप्रवल्गुयां परिसीकृतसामराम् ।
 अनन्यशासनाश्रुर्वी शशासैकपुरीमिव ॥३०॥
 तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा ।
 पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा ॥३१॥
 कलत्रवन्तमात्मानमवरोधे महत्यपि ।
 तयां मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च वसुधाधिपः ॥३२॥
 तस्यामात्मानुरूपायामात्मजन्मसमुत्सुकः ।
 विलम्बितफलैः कालं स निनाप मनोरथैः ॥३३॥
 मंतानाधौय रिधये स्वभुजादवतारिता ।
 तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिचिपे ॥३४॥

भीमराज है कि इसमें मैं भग्न हो जाऊँगा वैसे ही राजा दिलीप भी उन बंदिनोंको अपना लेते थे जो
 भरे होने थे और जैसे ताँबे के काटनेपर लोग अपनी उँगली भी काटकर फेंक देते हैं वैसे ही राजा
 दिलीप अपने उन रागे प्यारे लोगोंको भी निवास बाहर करते थे जो दुष्ट होते थे ॥२८॥ बहाने
 निरुचम ही महाराज दिलीपको [वृष्णी, जन, अग्नि, वायु, आकाश इन] पाँच तत्वोंसे ही बनाया
 था क्योंकि [जैसे वे तत्व निरन्तर गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द इन गुणोंसे सारी सृष्टिको ढँका
 करते हैं । वैसेही] राजा दिलीपके सब मुखोंसे भी वे सब तत्वोंका उपकार ही होता था ॥२९॥
 [जैसे कोई राजा किसी ऐसी नगरीपर शासन करे जिसके चारों ओर परकोटा और खाई हो
 वैसे ही] दिलीप दस पुरी मुखोंपर अपने राज्य करते थे जिसका परकोटा समुद्रका तट था और
 जिसकी गार्हपत्य नाम स्वयं समुद्र करता था ॥३०॥ जैसे यज्ञकी पत्नी दक्षिणा प्रसिद्ध है वैसे ही
 भगवत्पदम उत्पन्न मुदक्षिणा नामकी उनकी पत्नी भी समारमे यज्ञकी चतुरतासे जिये प्रसिद्ध
 थी ॥३१॥ जैसा तो राज्य दिलीपकी बहुत सी राजियाँ थी, पर वे यदि अपनेको स्वीकारता तबभने
 थे तो गदगीके समान मगध्विनो केवल अपनी पत्नी मुदक्षिणासे बाराए ही ॥३२॥ उनकी बड़ी
 दक्षता थी कि वेरी प्यारी पत्नीसे वेरे-जैसा पुत्र हो, पर दिन बीतने चले जा रहे थे और उनकी
 माय पूर्ण नहीं हो पा रही थी ॥३३॥ तब उन्होंने निरुचम किया कि समस्त उत्पन्न करनेवा
 दुष्ट न दुष्ट उत्पन्न करता ही दाक्षिण्य । उन्होंने बहुत समय सोच, यह विचार कि वृष्णी पावनका पुत्र
 भाग्यवान् क्योंकि उत्तरावर बंदिनोंको छोड़ दिया ॥३४॥ राज्यकी चिन्तासे मरी जाकर निरुचम

अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुनराम्यया
 तौ दम्पती वशिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम् ॥३५॥
 स्निग्धगम्भीर निर्घोषमेकं स्पन्दनमास्थितौ ।
 प्रावृषेस्यं पयोवाहं विद्युदैरातृतामिव ॥३६॥
 मा भूदाश्रमपीडेति परिमेयपुरःसरैः ।
 अनुभावमिशेषाद्यु सेनापरिवृतामिव ॥३७॥
 सैव्यमानौ मुखस्पर्शैः शालानिर्यामगन्धिभिः ।
 पुष्परेरुत्तिकरैर्वर्तैरावृतवनरालिभिः ॥३८॥
 मनोभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः ।
 पद्मजसंवादिनीः केका द्विधा भिजाः शिखंडिभिः ॥३९॥
 परस्पराचिसादृश्यमद्रोज्ज्वलतरुसु
 मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्पन्दनामद्वद्वटिषु ॥४०॥
 श्रेणीबन्धाद्वितन्यद्भिरस्तम्भां तोरशसजम् ।
 सारसैः कलनिर्हार्दैः कचिदुन्नमिताननौ ॥४१॥

गनसे राजा दिलीप और देवी सुदक्षिणाने पुनकी दृष्टिसे पहले बह्मजीवी पूजा की और फिर वे दोनों पति पत्नी बहति धपने कुलकुल बसिष्ठजीके आश्रमकी ओर चले ॥३५॥ जिस रूपपर वे दोनों बंटे हुए थे वह भीठी भीठी परपराहट करता हुआ चला था रहा था । उस पर बंटे हुए वे दोनों ऐसे जाल पड़ते थे मानो बपकि बावतपर ऐरावत और विजली दोनों चढ़े चले जा रहे हो ॥३६॥ उन्होंने अपने साथ सेवक नहीं लिए क्योंकि उन्हें क्या था कि बहुत भीड़भाड़ ले जानेसे आश्रमके काममें बाधा होगी, पर उनका प्रयास और तेज ही इतना अधिक था कि उससे जान पड़ता था माना साधने बड़ी भारी सेवा चली जा रही हो ॥३७॥ धुले मार्गमें सातने मोदकी गन्धमें बसा हुआ, फूलोंके पराग उड़ाता हुआ और उनके वृक्षोंकी पातोंकी धीरे-धीरे कौपाता हुआ पवन, उनमें शरीरमें सुख देता हुआ उनकी सेवा करता चल रहा था ॥३८॥ राजा दिलीप और देवी सुदक्षिणाने इधर उधर दृष्टि घुमाई और देखा कि कहीं तो रथकी पनपनाहट सुनकर बहुतसे मोर इस जगमें धपना मुंह उमर उठा उठाकर दुहरे मतोंदूर पद्म सभसे दूर रहे हैं कि कहीं, ऊपर बादल तो नहीं गरज रहे हैं ॥३९॥ कहीं वे देखते हैं कि हरिणोंके जोड़े मार्गसे कुछ हटकर रथकी ओर घुनटन देख रहे हैं । उनकी सरल चित्तवत्की राजा दिलीपने सुदक्षिणाने नेत्रोंके समान समझा और सुदक्षिणाने राजा दिलीपके नेत्रोंके समान ॥४०॥ जब वनी के श्रृंखला उठाकर ऊपर देखते तो मानासमें उठते हुए मोर भीठी सोलने-बांस बगले भी उन्हें दिखाई पड़ जाते जो पवित्र उदक हुए ऐसे मान पड़ते थे मानो सम्भके बिना ही बन्दनवार टेंगो हुई हो ॥४१॥ पवन भी उनमें अनुकुल चल रहा था और यह सचेत वे

पवनस्यानुकूलत्वात्प्रार्थनासिद्धिशंभिनः ।
 रजोभिन्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालकवेष्टनी ॥४२॥
 मरगाध्वरविन्दानां चीचिविद्योमशीतलम् ।
 ध्यामोदमुपनिघ्नन्तौ स्वनिःश्वामानुकारिणम् ॥४३॥
 शोमेध्यान्मरिमृष्टेषु शूषचिह्नेषु यज्वनाम् ।
 ध्यामोषाः श्रुतिगृह्णन्तावर्ध्यानुषदमाश्रितः ॥४४॥
 ह्येयं गर्वानमादाय घोषवृद्धानुषस्थितान् ।
 नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम् ॥४५॥
 काप्यभिरग्न्या तपोरामीद्व्यजतोः शुद्रवेपथोः ।
 हिमनिर्मुक्तपोषेभि चित्राचन्द्रमतोरिव ॥४६॥
 तत्तद्गमिषतिः पत्न्यैर्दर्शयन्प्रियदर्शनः ।
 शयि ललितमध्यानं युयुधे न युषोपमः ॥४७॥
 म दुष्प्रापयशाः प्रापदान्मर्म भ्रान्तवाहनः ।
 सायं भयमिनस्तस्य महर्षेर्महिषीस्रगुः ॥४८॥
 वनान्तरादुषाश्रितः समित्तुशकुलादरैः ।
 सूर्यमागमदद्यान्निघ्नत्पुयार्त्तमपस्विभिः ॥४९॥

आकीर्णमृषिपत्नीनामुदज्ज्वारोधिभिः ।
 अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥५०॥
 सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्त्वणोज्ज्वलतृक्षकम् ।
 विधासाय विहंगानामालवालाभ्युपायिनाम् ॥५१॥
 आतपात्ययसंसिप्तनीवाराहु निपादिभिः ।
 मृगैर्वर्तितरोमन्धमुटनाङ्गनभूमिषु ॥५२॥
 अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान् ।
 पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः ॥५३॥
 अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान्विश्रामयेति सः ।
 तामवारोहयत्पत्नीं रथादवतंतार च ॥५४॥
 तस्मै सम्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः ।
 अर्हन्नामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे ॥५५॥
 विधेः सार्यतनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम् ।
 अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेय इविर्भुजम् ॥५६॥
 तयोर्जगृहतुः पादान् राजा राज्ञी च मागंधी ।
 तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतुः ॥५७॥

वे देखते क्या हैं कि सध्याके अग्निहोत्रके लिये बहुतसे तपस्वी हाथी सविषा, कुसा और फल लिए हुए जगलोयि सौट रहे हैं ॥५६॥ बहुतसे मृग वहाँ आश्रमके इधर-उधर पर्यट्टियोंके द्वार रोके खड़े हुए थे क्योंकि उन्हें श्री ऋषि-पत्नियोंके शष्णोके सनान तिन्नीके दाने रानेका सम्प्राप्त पड गया था ॥५०॥ ऋषिकन्याएँ वृक्षोंकी जड़ोमें पानी दे-देकर वहंसि हट गई थी जिससे आश्रमके पक्षी उन वृक्षोंके बाँवलोंका लस निहार होकर पी सकें ॥५१॥ धूपमें सुलानेके लिये जो तिन्नीका अन्न फैलाया हुआ था, वह दिन छिपते ही समेटकर कुटियाके आँगनमें ढेर बनाकर रख दिया गया था और वही आँगनमें बहुतसे हरिण सुलसे बैठे जुगाली कर रहे थे ॥५२॥ हवन-सामग्रीकी गणसे भरा हुआ अग्निहोत्रका जो धुँआँ पवनके कारण चारों ओर फैल जाता था उस धुँएने आश्रमकी ओर आते हुए इन अतिथियोंको भी पवित्र कर दिया ॥५३॥ तब राजा दिलीपने अपने सारथीको आज्ञा दी कि घोड़ोंको ठडा करो। तब सहारा देकर पहले तो उन्होंने अपनी पत्नीको, रखते चतारा फिर स्वयं भी रखते उतर पड़े ॥५४॥ जब यह समानार आश्रमवालोंको मिला तब वहाँके सम्य सयमी मुनियोंने अपने रखक, प्रादरणीय तथा नीतिके अनुसार चलनेवाले सप्तवीक राजा दिलीपका सम्मानके साथ स्वागत किया ॥५५॥ जब सध्याकी सज क्रियाएँ हो चुकी तब उन्होंने उन तपस्वी महापुत्रि वशिष्ठजी देवा जिनके पीछे देवी प्ररन्वतीजी भी उती प्रारर बैठे थी जैमे अग्निके पीछे स्वाहा ॥५६॥

तमातिथ्यक्रियाशान्तरंशचोभपरिश्रमम् ।

पप्रच्छ कुशलां राज्ये राज्याश्रममुनिं मुनिः ॥५८॥

अथार्थवर्निधेस्तस्य विजितारिपुरः पुरः ।

अर्थार्थमर्थपतिर्वाचमाददे वदतां वरः ॥५९॥

उपपद्ये ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे ।

दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् ॥६०॥

तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दृष्टात्प्रशमितारिमिः ।

प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः ॥६१॥

हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु ।

घृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोपिणाम् ॥६२॥

पुरुषायुपजीविन्यो निरासङ्गा निरीक्षयः ।

यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद्वन्नक्षत्रचसम् ॥६३॥

त्वयैवं चिन्त्यमानस्य गुरुणा ब्रह्मयोनिना ।

सानुवन्धाः कथं न स्युः संपदो मे निरापदः ॥६४॥

राजा दिलीप और मगधकी राजकुमारी सुदक्षिणाने चरण छूकर उन्हें प्रणाम किया और गुरु वसिष्ठ तथा उनकी पत्नीने बड़े दुःखसे उनका स्वागत किया ॥५८॥ पहले तो वशिष्ठजीने उनका इतना आतिथ्य सरकार किया कि रथकी हथकड़ी जो उन्हें बकायत हुई थी वह सब दूर हो गई और सब मुनि वसिष्ठने राजपि दिलीपसे पूछा—बहिए। आपके राज्यमें सब कुशल तो है न ॥५९॥

राजा दिलीपने जहाँ अपने की रीतसे बहुतोंने नगर जीते थे और धनपति घने थे वहाँ ये बातचीत करनेकी कलामें भी बड़े चतुर थे, इसलिये उन्होंने अपनेबड़ेदेके रक्षक वसिष्ठजीके उत्तरमें अपनी अर्थ-भरी बाणीमें कहा ॥५९॥ 'आपकी कृपासे इस राज्यमें [राजा, मंत्री, मित्र, राजकोष, राज्य, दुर्ग और सेना ये] सबी अव मरपूर हैं। [अग्नि, जल, महामारी और मराल मृत्यु इन] देवी विपत्तियों और [भोर, डाकू, शत्रु आदि] मानुषी आपत्तियोंको दूर करनेवाले तो आप बैठे ही हैं ॥६०॥ आप मन्त्रोंके रक्षित हैं। आपके मंत्र ही इतने शक्तिशाली हैं कि मुझे अपने वाम-पैतलेकी आषड्यवता नहीं पड़ती, क्योंकि अपने बाणोंसे तो मैं केवल उन्हें ही बंध सक्ता हूँ जो मेरे आगे आते हैं, पर आपके मन तो यहाँ बैठे-बैठे दूरसे ही शत्रुओंको नष्ट कर देते हैं ॥६१॥ हे यज्ञ करनेवाले ! आप जब आत्मीय विधिसे अग्निमें हवि छोड़ते हैं तो आपकी आहुतियाँ अनाहुतिसे मुखे हुए पानके सेतोपर जलवृष्टि होकर बरसने लगती हैं ॥६२॥ यह आपने ब्रह्मतेजना ही तो वश है कि मेरी प्रणामे कोई भी न तो तो बरससे कम आयु पाता है और न किसीको ईति [बाढ़, सूखा, जूझ, सोता, राज-जलह, मेरीभी चढ़ाई आदि] तथा विपत्तिना डर रहता है ॥६३॥ जब आप स्वयं ब्रह्माके पुत्र हो

किन्तु वर्षां तवैतस्यामदृष्टदृशप्रजम् ।
 न मामवति सद्दीपा रत्नसरपि मेदिनी ॥६५॥
 नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः ।
 न प्रक्रमभुजः श्राद्धे स्वपासंग्रहतत्पराः ॥६६॥
 मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया ।
 पयः पयैः स्वनिःधासैः कवोष्णमुपमुज्यते ॥६७॥
 सोऽहमिज्याविशुद्धारमा प्रजालोपनिमीलितः ।
 प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः ॥६८॥
 लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम् ।
 संततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥६९॥
 'तया हीनं विधातर्मा कथं पश्यन्न दूयसे ।
 सिक्तं स्वयमिव स्नेहाद्वन्ध्यमाश्रमवृत्तकम् ॥७०॥
 असह्यपीडं भगवन्वृणुमन्त्यमवेहि मे ।
 अर्कतुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिनः ॥७१॥

हमारे कुलगुह होकर सदा हमारा कल्याण करने के लिए बैठे हैं तब हमारी सम्पत्ति भक्षा निविघ्न पयी न रहे ॥६४॥ पर देव ! आपकी दत्तकी कृपा होते हुए भी जब आपकी इस वधू [मेरी पत्नी] के गर्भसे मेरे समान श्रेष्ठस्त्री पुत्र नहीं हुआ तब रखीको पंदा करने वाली, कई हीनोमे फैली हुई भगने राज्यकी यह पृथ्वी भी मुझे कंसे अच्छी सब सकती है ॥६५॥ अब तो मुझे ऐसा जान पड़ने लगा है कि मेरे पीछे कोई मुझे पिण्ड देनेवाला भी नहीं रह जायगा । इसी बुझते हमारे पितर मेरे दिए हुए श्राद्धके सम्पत्ति भरणे न साकर उरवा भाग भागेके लिये इकट्ठा करने लग गए हैं ॥६६॥ जब मैं सर्वज्ञके समय जलदान देने लगता हूँ, तब मेरे पितर यह सोचकर दुःखी होते तेने लगते हैं कि 'इसके पीछे हम जल कीव देगा और यह सोचकर वे अपनी साँसोसे परम हुए जनको ही पी डालते हैं ॥६७॥ जिस प्रकार लोकालोक नामका पर्वत एक ओरसे सूर्यवा प्रकाश पड़नेसे चमकता है और दूसरी ओर प्रकाश न पड़नेसे अधिवारा रहता है, उसी प्रकार सदा यज्ञ करनेसे मेरा चित्त प्रसन्न रहता है किन्तु पुत्र न होनेसे सदा शोकसे भरा रहता है ॥६८॥ देव ! तपस्या करनेसे और ब्राह्मणों तथा दीनोको दान देनेसे जो पुण्य मिलता है वह वेगल परलोचने मुख देता है पर अच्छी सन्तान [शिवा सुधुपा करके] इस लोकमे यो सुख देती ही है साथ ही [तपस्य और पिण्डदान प्रादि करके] परलोक भी सुख देती है ॥६९॥ हे मुन्देव ! जैसे अपने हाथसे प्रेमसे लीचे हुए आश्रमके वृक्षों पर लगता न देखकर घटा दुःख होता है वैसे ही जब आप मुझ कृपा पायको सन्तानहीन देखते हैं तो क्या आपकी दुःख नहीं होता ॥७०॥ हे भगवन् ! जिस प्रकार हमीको उसका लूटा भरण्य वष्ट देता है वैसे ही पुत्र न होनेके कारण जो विवराता भार मेरे सिरपर

तस्मान्मुच्ये यथा तात संविधार्तुं तथार्हसि ।
 इच्छाकृष्णं दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः ॥७२॥
 इति विद्यापितो राजा ध्यानस्तिमितलोचनः ।
 तत्रमात्रमृषिस्तस्थौ सुप्तमीन इव हृद्गः ॥७३॥
 सोऽपश्यत्प्रशिखानेन संततेः स्तम्भकारणम् ।
 भावितात्मा भुवो भर्तुरर्थेन प्रत्यवोधयत् ॥७४॥
 पुराशक्रमुपस्थाय तवोर्वी प्रति यास्यतः ।
 आसीत्फलपतकञ्छायामाश्रिता सुरभिः पथि ॥७५॥
 धर्मलोपंभयाद्राक्षीमृतुस्नातामिमं स्मरन् ।
 प्रदक्षिणक्रियाहर्ष्यां तस्यां त्वं साधु नाचरः ॥७६॥
 अवलानासि मां यस्मादवस्ते न भविष्यति ।
 मत्प्रसूतिमनसाध्य प्रजेति त्वां शशप सा ॥७७॥
 स शपो न त्वया राजन् च सारथिना श्रुतः ।
 नदत्याकाशगङ्गायाः स्रोतस्युद्दामदिग्गजे ॥७८॥

बड़ा रहा है वह भी मुझे बहुत पीटा दे रहा है ॥७२॥ इसीलिये हे प्रभो ! अब कोई ऐसा
 उपाय बताइए जिससे मेरे पुत्र रत्न हो और मैं अपने पिछ-ऊछने मुक्त हो जाऊँ क्योंकि
 इच्छाकृष्ण राजाभोक्ता सभी कठिनाइयाँ यस्की छपाये रावा दूर होनी रही हैं ॥७३॥ राजाकी
 बात सुनकर वशिष्ठजीने अपनी आँखें बन्द करके क्षण भरके लिये ध्यान लगाया । उस समय वे
 उस तालके समान स्थिर और निश्चल हो गए जिसकी सब मछलियाँ सो गई हो ॥७४॥
 वशिष्ठजीने अपने योगके बलसे ध्यान किया कि पवित्र आत्मावाले राजाके पुत्र मर्यो नहीं हुआ
 और ध्यान कर चुकनेपर वे राजाको समझाने लगे ॥७५॥ हे राजन् ! बहुत दिन हुए एक
 बार जब तुम स्वर्गसे इन्द्रजी सेवा करके पृथ्वीको लौट रहे थे, तब मार्गमें कल्पवृक्षाकी छायामें
 कामवेनु बंटी हुई थी ॥ ७६ ॥ उस समय तुम्हारी पत्नीने रजस्वला होनेपर स्नान किया था
 और तुम सोचते जा रहे थे कि [यदि इस समय उसके साथ सम्भोग नहीं करूँगा तो] गृहस्थका
 धर्म विगड़ जायगा । इसी विचारमें पड़े रहनेके कारण तुमने कामवेनुकी ओर तनिक भी ध्यान
 नहीं दिया । यह बात तुमने ठीक नहीं किया, क्योंकि तुम्हें चाहिए था कि उसकी पूजा
 और प्रदक्षिणा करो हुए लौटते ॥७६॥ इसीसे रष्ट होकर कामवेनुने तुम्हें शाप दिया कि
 तुमने जो मेरा तिरस्कार किया है इसका दण्ड गही है कि जनता तुम मेरी सन्तानकी सेवा नहीं करेगी
 तबतक तुम्हें पुत्र नहीं होगा ॥७७॥ उस समय बड़े-बड़े गतवाले दिग्गज आकाशगंगामें खेलते हुए
 बहुत गिग्याह रहे थे, इसलिये उन शापको न सो तुम ही सुन पाए, न तुम्हारा सारथी ही ॥७८॥

ईप्सितं तदवज्ञानादिद्विर्गुणसर्गलमात्मनः ।
 प्रतिवध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥७६॥
 हविषे दीर्घसंत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः ।
 भुजंगपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति ॥७७॥
 मुतां तदीयां सुरमेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः ।
 आराधय सपत्नीकः प्रीता कामदुघा हि सा ॥७८॥
 इति चादिन एवास्य होतुराश्रुतिसाधनम् ।
 धनिन्धा नन्दिनी नाम धेनुराववृते वृणात् ॥७९॥
 ललाटोदयमांभुग्नं पल्लवस्निग्धपाटला ।
 विभ्रती श्वेतरोमाङ्कं संध्येव शशिनं नवम् ॥८०॥
 भुवं कोप्येन कुरुदोष्णी मेघ्येनावभृथदपि ।
 प्रसवेनाभिषर्पन्ती वत्सालोकप्रवर्तिता ॥८१॥
 रत्नकण्ठैः सुरोद्भूतैः स्पृशद्भिर्गात्रमन्तिकात् ।
 तीर्थाभिषेकां शुद्धिमादधाना महीक्षितः ॥८२॥

इसलिये तुम्हारे पुत्र न होनेका कारण गयी है कि तुमने कामधेनुका तिरस्कार किया है देखो, जो मुख्य मन्त्र पूज्योकी पूजा नहीं करता है उसका शुभ कामों बिना पड़ता ही है ॥७६॥
 अब इस समय कामधेनु तो मिला गयी सबकी क्योंकि वसुदेव पातालमें बहुत बड़ा मन्त्र कर रहे हैं। उस मन्त्रमें आहुतिभी सागरी देवने लिये कामधेनु की पाताल कीव पत्नी गई है और उस सोवने द्वारोपर बड़े-बड़े बिपत्तय एवं रत्नवास भी बँट है ॥७७॥ [चाहिए तो गयो कि पहले तुम कामधेनुकी ही प्रशंसा करते पर इस समय तो उनका दर्शन दुर्लभ है।]
 इसलिये तुम इनकी पुत्री नन्दिनीको ही उनका प्रतिनिधि समझ लो और अपनी रानीव साथ कुछ मन्त्रे उसकी सेवा करो, क्योंकि यदि वह प्रसन्न हो जायगी तो वह दुरन्त इच्छित सब अन्त्य दे देगी ॥७८॥
 फिर बलिष्ठकी यह कह रही है कि उनकी आहुतिमें यिसे पूत आदि पुत्रानेवासी सुलक्षणा नन्दिनी को दानसे तोटकर आ पहुँची ॥७९॥ नन्दिनीको देह गये पत्तने समान वीर्य और लाल थी। उसने माथेपर बनी हुई भूरे ताम्बूकी टेढ़ी रेखा ऐसी जान पड़ती थी जैसे लाल सध्याने माथेपर द्वितीयाना चन्द्रमा पड़ जाया हो ॥८०॥ अपना बड़का देखते ही उसने बड़के समान बड़े-बड़े बनेंसे वह गरम-गरम दूध पिबलकर पृथ्वीपर टपकन लगा जो यज्ञके परचाद किए हुए धवभूष स्नानके जलसे भी अधिक पवित्र था ॥८१॥
 नन्दिनीने प्राते समय उसके धुरीसे उठी हुई धूतके सगनेसे राजा द्वितीय बीते ही पवित्र हो गए जैसे किसी सोपने स्नान करने लोटे हो। धनुन जाननेवाले तपस्वी बलिष्ठकीने जब उस

तां पुण्यदर्शनां ऋष्ट्या निमित्तज्ञस्तपोनिधिः ।
 याज्यभाशंसितावेन्ध्यप्रार्थनं पुनरब्रवीत् ॥८६॥
 अदूरवर्तिनीं सिद्धिं रात्रिनिगणयात्मनः ।
 उपस्थितेयं कल्याणीं नमसि कीर्तित एव यत् ॥८७॥
 वन्यवृत्तिरिमो शखदात्मानुभगमनेन गाम् ।
 विद्यामंथ्यसनेनेव प्रसादयितुमर्हसि ॥८८॥
 प्रस्थितायां प्रतिष्ठेयाः स्थितायां स्थितिमाचरेः ।
 निपण्णायां निपीदास्यां पीताम्भसि पिबेरपः ॥८९॥
 वधूर्भक्तिमती चैनामर्चितामातपोवनात् ।
 ग्रयता प्रातरन्वेतु सार्यं प्रत्युद्ब्रजेदपि ॥९०॥
 इत्याप्रसादादस्यास्त्वं परिचर्यापरो भव ।
 अविघ्नमस्तु ते स्थेयाः पितेव धुरि पुत्रिणाम् ॥९१॥
 तथेति प्रतिजग्राह प्रीतिमान्सपरिव्रहः ।
 आदेशं देशकालज्ञः शिष्यः शासितुरानतः ॥९२॥

गौरी देवा, जिसके दर्शनसे ही पुण्य मिलता है, तब वे अपने यजमान उन राजा दिलीपसे बोले जो अपनी प्रार्थना सफल करानेके लिये वहाँ आए हुए थे ॥८६॥ हे राजर् ! तुम्हारा मनोरथ बहुत क्षीघ्र ही पूरा होगा क्योंकि यह कल्याण करनेवाली नन्दिनी नाम लेते ही मा पहुँची है ॥८७॥ जैसे दिव्यापी [सब सुखोंकी छोटकर] सगनसे पढ़कर विद्या प्रान्त कर लेता है वैसे ही यदि तुम भी [सब भोगोंकी छोटकर] कन्द-मूल-फल खाते हुए सदा इस गौरी सेवा करोगे तो वह भी तुमपर प्रसन्न हो कर तुम्हारी इच्छा धरम पूरी करेगी ॥८८॥ जब वह चले तब तुम भी इसके पीछे-पीछे चलने लगना, जब सारी हो जाय तभी तुम भी लड़े हो जाना, जब बँडे तभी तुम भी बैठना और जब यह पानी पीने लगे तभी तुम भी पानी पीना ॥८९॥ तुम्हारी रानी सुदर्शिकाके आहिए कि वे नियम प्रातःकाल बड़ी भक्तिसे इसकी पूजा विद्या करें और जब यह बननी जानें तब वे तपोवनके वाटेवन उसके पीछे-पीछे जायें और सायंकाल सोते समय वहाँसे घगवानो करने उठे आश्रमसे ले आयें ॥९०॥ जबतक यह गौ प्रसन्न न हो जाय जबतक तुम इसी प्रकार इसकी सेवा करते रहो । ईश्वर करे तुम्हें कोई बाधा न हो और जिस प्रकार तुम अपने पिताके योग्य पुत्र हो वैसे ही सुयोग्य पुत्र तुम्हें भी प्राप्त हो ॥९१॥ राजा दिलीप यह सोचकर मनसे बहुत प्रसन्न हुए कि सध्याके समय हवनकी अग्निसे सामने बैठकर वशिष्ठजीने जो मुद्रा कहा है यह अवश्य मल्य होगा । तब बड़ी नम्रतासे उन्होंने वशिष्ठजीसे कहा कि 'हम ऐसा ही करेंगे' और यह बट्बर उन्होंने और उनकी पत्नीने मुद्रासे इस प्रकार लिये माता जी ॥९२॥ रात हो चली थी । विद्वान्, शल्यवशात्, ब्रह्मणे पुत्र वशिष्ठजीने राजा दिलीपको

अथ प्रदोषे दोषज्ञः संवेशाय विशांपतिम् ।

स्रजुः स्रजत्तवाक्स्रष्टुर्विसर्जोर्जितश्रियम् ॥६३॥

सत्पामर्षिं तपःसिद्धौ नियमापेक्षया भुनिः ।

कल्पवित्कल्पयामास वन्यामेवास्य संविद्याम् ॥६४॥

निर्दिष्टां कुलपतिना स पृथुशालामध्यास्य प्रयत्नपरिव्रहद्वितीयः ।

तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां संविष्टः कुशशपने निशां निनाय ॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ रघुवज्जे.महाकाव्ये

वशिष्ठाश्रमाभिगमनो नाम प्रथम सर्ग ॥

जाकर सोनेकी छाता दे दी ॥६३॥ यद्यपि वशिष्ठजी चाहते तो अपनी तपस्याके प्रभावसे ही राजा विलीपके योग्य भोजन और सोनेका उपिठ प्रबन्ध कर सकते थे पर वे व्रतके नियमोंको जानते थे इसलिये उन्होंने राजाके व्रतके योग्य [वस्त्रमूलके भोजन और कुशाकी चटाईका] ही प्रबन्ध किया था ॥६४॥ कुलपति वशिष्ठजीने जो पणकुटी बटाई उसीमे राजा विलीप ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए रानी मुदक्षिणाके साथ कुशाकी चटाईपर ही सो गए और प्रातःकाल ही जब वशिष्ठजीने अपने शिष्योंको वेद पढ़ाना प्रारंभ किया तब उसकी ध्वनि मानने पड़ते ही राजा विलीप उठ बैठे ॥६५॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवज महाकाव्यका वशिष्ठके आश्रममे आगमन नामका पहला सर्ग समाप्त हुआ ॥

पुक्तस्तुपारैर्गिरिनिर्भराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी ।
 तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूर्तं पवनः सिपेवे ॥१३॥
 शशाम वृष्ट्यापि विना दवाग्निरामीदृशोपाफलपुष्पवृद्धिः ।
 ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बवाधे तस्मिन्वनं गोप्तरि गाहमाने ॥१४॥
 संचारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।
 प्रचक्रमे पल्लवरागताभ्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥१५॥
 तां देवतापिप्रतिथिक्रियार्थमिन्वम्ययौ मध्यमलोकपालः ।
 यमौ च सा तेन सतां मतेन अद्वेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥१६॥
 स पल्लवोत्तीर्णवराहयूयान्यावासवृक्षोन्मुखवर्हियानि ।
 ययौ मृगाध्यासितशाहलानि श्यामायमानानि वनानिपश्यन् ॥१७॥
 आपीनभारोद्धहनप्रयत्नाद्गृष्टिर्गुरुत्वद्विषो नरेन्द्रः ।
 उभावलंचक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तपथं गताभ्याम् ॥१८॥
 वशिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्चमानं वनिता वनान्तात् ।
 पपी निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरूपोपिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥१९॥

कारण मधुर स्वर निकल रहे थे ॥१३॥ पहाड़ी भरनोकी ठबी कुहारोंसे लदा हुआ और मन्द-
 मन्द कोंपाए हुए वृक्षोंके फूलोंकी गन्धमे बसा हुआ वायु उन सदाचारी राजा दिलीपको ठक-
 चता रहा था जिन्हें खन न होनेके कारण प्रसवे बन्द हो रहा था ॥१३॥ राजा दिलीप प्रजापालक
 थे इसीलिये उनके जगतमें पहुँचते ही वर्षाकी बिना ही उनकी आग ठबी हो गई, वहाँके पेड़ भी
 फल और फूलोंसे सदा गए और वहाँके बड़े जीवोंसे छोटे जीवोंको सताना भी छोड़ दिया ॥१४॥
 दिन बल्लनेपर नये पत्तोंकी लताईने सामने सूर्यकी लताई चारों ओर फैलकर सब दिशाओंकी
 पवित्र करके सब विश्राम करने लौट बसी । उधर जान रगची नन्दिनी भी अपने धुरोंके स्वयंसे
 मार्गको पवित्र करती हुई तपोवनकी ओर लौट पड़ी ॥१५॥ वृष्णीका पालन करनेवाले राजा
 दिलीप भी वशिष्ठ ऋषिके यज्ञ, याज्ञ, अतिथि पूजा आदि धर्मके कामोंके लिये दूध देनेवाली उस
 नन्दिनीके पीछे-पीछे लौटते हुए ऐसे भले लग रहे थे जैसे ब्रह्माकी पुत्री अदाके साथ सदाचार शोभा
 देता हो ॥१६॥ राजा दिलीप देखते हुए चले जा रहे थे कि वही तो छोटे-छोटे तालोंमेंसे मूमरोंके
 झुंड निकल-निकल कर चले जा रहे हैं, पही ओर अपने वस्त्रों की ओर उड़े जा रहे हैं, वही
 हरिण हरी-हरी घासों पर घनकर बैठ गए हैं और धीरे-धीरे सँभल होनेसे उनकी सारी चरती
 घुपसी पड़ती जा रही है ॥१७॥ नन्दिनी और दिलीप दोनों धीरे-धीरे चले जा रहे थे । नन्दिनी अपने
 पनवे भारी होनेसे धीरे-धीरे चल रही थी और राजा दिलीप भारी शरीर होनेके कारण धीरे-धीरे
 चल रहे थे । उन दोनोंकी धीरे-धीरे चलते देखकर तपोवनका मार्ग बस देखते ही बगता था
 ॥१८॥ जब सँभलने राजा दिलीप नन्दिनीके पीछे-पीछे लौटे तब मुदसिखा अपलक नेत्रोंसे उन्हें देखती

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनचपामध्यगतेव संध्या ॥२०॥
प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साचतपात्रहस्ता ।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥२१॥
वत्सोत्सुकापि स्तिमिता सपर्या प्रत्यग्रहोत्प्रेति ननन्दतुस्तौ ।
भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ॥२२॥
गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सांध्यं च विधिं दिलीपः ।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं मेजे भुजोच्छ्वारिपुनिषण्णाम् ॥२३॥
तामन्तिक्रम्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः ।
क्रमेण सुतामनु संविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत् ॥२४॥
इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीयकीर्तिः ।
सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥२५॥

—हूँ गईं नामो उसकी आँखें राजा दिलीपका रूप पीनेको प्यासी हो ॥१९॥ आश्वमेध नामके शीशे पीछे राजा दिलीप के और आगे भगवानीके लिये रानी सुदक्षिणा खड़ी थी । इन दोनोंके बीचसे वह रात रणवाली नन्दिनी ऐसी सोमा के रही थी जैसे दिन और रातके बीचसे साँझकी लताई ॥२०॥ पहले तो सुदक्षिणाने हाथमें ब्रजत आदि सामग्री लेकर नन्दिनीकी पूजा करके प्रदक्षिणा ली, फिर प्रणाम करके उसकी सीपों के बीचमें माथेपर चन्दन-भस्म लगाया क्योंकि उन्होंने समझ लिया था कि वह सीपों का मध्य नहीं वरन् मेरी पुत्र-कामना पूरी करने का द्वार है ॥२१॥ मर्यादित नन्दिनी उस समय अपना बड़का देसनेके लिये बहुत उत्तापली थी फिर भी वह रानीसे पूजा करानेके लिये खड़ी हो गई । नन्दिनीका यह प्रेम देखकर वे दोनों बहुत प्रसन्न हुए, क्योंकि नन्दिनीके समान मनोरथ पूर्ण करनेवाले यदि भक्तपर प्रसन्न हो जाय तो सर्वत्र उसे कि काम पूरा हो गया ॥२२॥ गौकी पूजा हो चुकने पर शत्रुओंके सहारक राजा दिलीपने पहले बक्षिष्ठजी और भ्रक्ष्मन्जीके चरणोंको बन्दना की और फिर अपने सन्ध्याके निरूप पर्व पूरे किए । जब नन्दिनीका दूध दुह लिया गया और वह बैठ गई तब राजा दिलीप फिर उसकी सेवामें लग गए ॥२३॥ प्रजापावक राजा दिलीप अपनी पत्नीके साथ बहुत देरतक नन्दिनीकी सेवा और पूजा करते रहे । जब वह सो गई तब वे दोनों भी सोने लगे गए और क्योंकि वह सोकर उठी त्योंही इन दोनोंकी नींद भी टूट गई ॥२४॥ इस प्रकार सन्तान प्राप्तिके लिये अपनी पत्नीके साथ यह कठोर व्रत करते हुए दोनोंके रक्त परम कीर्तिशाली राजा दिलीपके इच्छित दिन बीत गए ॥२५॥ तब नन्दिनीने सोचा कि मैं अपने सेवक राजा दिलीपकी परीक्षा क्यों न लूँ कि वे सच्चे भावसे सेवा कर रहे हैं या केवल स्वार्थ भावसे । इसीलिये राजा दिलीप जब बाईसवें दिन उसे वनमें ले गए तो वह ऋतु हिमालयकी उस भुजामें बैठ गई जिसपरसे

शन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं विज्ञाममाना मुनिहोमधेनुः ।
 गद्गाप्रपातान्तविरुद्धशब्धं . गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश ॥२६॥
 सा द्युप्रवर्षा मनमापि हिंसैरित्यद्रिशोभाप्रहितेनखेन ।
 थलजिताम्पुत्पन्नो नृपेण प्रमत्त सिंहः किल तां चकुर्य ॥२७॥
 तदीयमाक्रन्दितमार्तमाधोर्गुहानिवदप्रतिशब्ददीर्घम् ।
 रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां निर्वर्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥२८॥
 स पाटलायां गवि तस्थिवांमं घनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
 अधिन्यकायामिव घातुमय्यां लोघ्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥२९॥
 ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः ।
 जाताभिपद्मो नृपतिर्निपत्तादुद्धर्तुमैच्छत्प्रसमोद्धृतारिः ॥३०॥
 यामेनरस्तस्य वरः प्रहर्तुर्नृपप्रभाभूषितकङ्कपत्रे ।
 नक्ताद्गुलिः सायकशृङ्ग एव चित्रापितारम्भ इवावतस्थे ॥३१॥
 प्राहुप्रतिष्मभविष्यद्मन्पुरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः ।
 राजा स्वतेजोभिरदत्ततान्तर्भागीय मन्त्रीपधिरद्वर्षीयः ॥३२॥

तमार्यगृहं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।
 विस्माययन्विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः ॥३३॥
 अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
 न पादपोन्मूलनशक्तिरहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥३४॥
 कैलासगौरं वृषमारुरुचोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
 अवेहि मां किंकरमष्टमूर्चेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥३५॥
 अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषमध्वजेन ।
 यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥३६॥
 कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य ।
 अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिषासुरास्त्रैः ॥३७॥
 तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुञ्चौ ।
 व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्गागतसत्त्ववृत्ति ॥३८॥
 तस्यालमेपा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेस्वरेण ।
 उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विपरचान्द्रमसी सुधेव ॥३९॥

से बँधा हुआ साँव ॥३२॥ सज्जनोके मित्र, मनुवंशके शिरोमणि श्रीर सिंहके समान पराक्रमी राजा
 दिलीप बड़े ब्रह्मभेमे पड़े हुए थे श्रीर जब वह सिंह मनुष्यकी बोलीमें बोलने लगा तब तो उनके
 ब्रह्मरजका ठिकाना ही नहीं रहा ॥३३॥ सिंह बोला—हे राजन् ! तुम मुझे मारनेका जतन मत
 करो क्योंकि मुझपर जो भी अस्त्र चलाओगे वह ध्वंस जायगा । देखो ! वायुका जो वेग वृक्षोंको
 जड़से उखाड़ केक सकता है वह पर्वतका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता ॥३४॥ [मुझे तुम
 राधारण सिंह न समझना] मैं सर्वशक्तिशाली शकरजी का कृपापात्र सेवक श्रीर कुम्भोदर नागका
 गण हूँ श्रीर शिवजीके शक्तिशाली गण निकुम्भका मित्र हूँ । जब शकरजी कैलास पर्वतके समान
 जगसे नन्दीपर चढ़ते है तब पहले अपने चरखोंसे मेरी पीठ पधिर करते है ॥३५॥ श्रीर
 यह जो तुम्हारे सामने यका सा देवदारु का पेड़ दिखाई दे रहा है इसे शकरजी अपने पुत्रके समान
 भागते है क्योंकि स्वयं पार्वतीजीने अपने सोनेके घटरूपी स्तनोके रससे सींच-सींचकर इसे इतना
 बड़ा किया है ॥३६॥ [तुम जानते नहीं हो कि पार्वतीजी इसे कितना प्यार करती हैं ।] एक
 बार एक जगती हाथी भाकर इससे रमब-रगड़कर अपनी कनपटी कुजवाने लगा । उससे इसकी
 थोड़ी छान छिल गई । बस, इतनेपर ही पार्वतीजीको ऐसा शोक हुआ जैसा दैत्योके बाणों से पायल
 स्वाभिकारिकेयको देखकर हुआ था ॥३७॥ तबसे शकरजीने जगती हाथियोंको डरानेके लिये मुझे
 यहाँ पहाड़के ढालपर रसवाना बनाकर रस छोड़ा है और मेघ पेट भरनेके लिये मुझे माता दे दी
 है कि यहाँ जो जीव आवे उसे मारकर खा जाया करो ॥३८॥ जैसे चन्द्रमाका अमृत राहुको

स त्वं निर्वर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्मवान्दर्शितशिष्य भक्तिः ।
 शस्त्रेण रक्त्यं यदशक्यरक्तं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥४०॥
 इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य ।
 प्रत्याहताश्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार ॥४१॥
 प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्नः ।
 जडीकृतस्त्र्यम्बकवीचखेन वज्रं मुमुक्षुभिः वज्रपाणिः ॥४२॥
 संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्रं कामं हास्यं वचस्तघदहं विवक्षुः ।
 यन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद सर्वं भवान्मायमतोऽभिधास्ये ॥४३॥
 मान्यः स मे स्यात्वरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः ।
 गुरोरपीदं घनमाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम् ॥४४॥
 स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद ।
 दिनानसानोत्पुङ्गवात्तवत्मा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः ॥४५॥
 यथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूरीः शकलानि कुर्वन् ।
 भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किञ्चिद्दिहस्पर्धपतिं वभापे ॥४६॥

एकतपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
 अल्पस्य हेतोर्वहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥४७॥
 भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमति त्वदन्ते ।
 जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि ॥४८॥
 अथैकधेनोरपराधचण्डादुगुरोः कृशानुप्रतिमाद्विर्भेपि ।
 शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुंगाः कोटिशाः स्पर्शयताघटोध्नीः ॥४९॥
 तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम् ।
 महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥५०॥
 एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन ।
 शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ॥५१॥
 निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच ।
 धेन्या तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः ॥५२॥
 क्षतात्किल प्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो ध्रुवनेषु रूढः ।
 राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपकोशमलीमसैर्वा ॥५३॥

बोला ॥४५॥ हे राज्य ! जाम पढ़ता है कि तुमसे यह सोचनेकी शक्ति नहीं रह गई कि मुझे क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, क्योंकि तुम एक साधारण-सी गौके पीछे इतना बड़ा राज्य, जीवन और ऐसा सुन्दर शरीर खोबनेपर उतारू हो गए हो ॥४७॥ यदि तुम केवल प्राणियोपर दया करनेके विचारके हो ऐसा कर रहे हो तो भी यह त्याग ठीक नहीं है, क्योंकि इस समय यदि तुम मेरे भोजन बनते हो तो केवल एक बीकी रक्षा होगी, पर यदि जीते रहोगे तो पित्तके समान तुम अपनी पूर्य प्रजाकी रक्षा कर सकोगे ॥४८॥ और यदि तुम गौके स्वाधी और अग्निके समान अपने तेजस्वी गुरूजीसे डरते हो तो उन्हें बड़े-बड़े धनोवाली करोड़ों गोएँ देकर तुम उन्हें बना सकते हो ॥४९॥ देखो ! सभी तुम्हारे खेलने-खानेके दिन हैं । इसलिए तुम अपने बलवान् शरीरकी रक्षा करो, क्योंकि विद्वानोंने कहा है कि कुछ और समृद्धिसे भरा हुआ राज्य पृथ्वीपर ही स्वर्ग बन जाता है । उस स्वर्गसे इस स्वर्गसे इतना ही अन्तर होता है कि यह भूमिका स्वर्ग होता है और वह देवलोका ॥५०॥ जब इतना कहकर सिंह छुप हो गया तब पर्वतकी कन्दरा से भी सुनाई पड़नेवाली उसकी गूँज ऐसी जान पड़ी मानो पर्वतने भी प्रसन्न होकर सिंहकी ही बातोंका समर्थन किया हो ॥५१॥ राजाने एक ओर सिंहकी बातें सुनी और दूसरी ओर देखा कि सिंहके नीचे दबी हुई गो क्षत्र नेत्रोंसे रक्षाकी भीख माँग रही है । दयालु राजा दिलीपका जो भर भावा और वे बोले—॥५२॥ हे सिंह ! क्षत्रिय शब्दका अर्थ ही है कि दूसरोंको नष्ट होनेसे बचावे । यदि मैंने यह नाम नहीं किया तो मेरा राज्य करना ही किस कामका और अप्रार्थ्य लेकर जीते रहना

कथं न शक्योऽनुनयो महर्षेर्निश्चायनाच्चान्यपयस्विनीनाम् ।
 इमामनूनां सुरभेरवेदि रुद्रौवसा तु प्रहृतं त्वयास्याम् ॥५४॥
 सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवतः ।
 न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः ॥५५॥
 भगानपीदं परवानरैति महान्हि यत्नस्तव देवदारी ।
 स्यात्तुं नियोक्तुर्नहि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमलतेन ॥५६॥
 किमप्यहिंस्पस्तत्र चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भग मे दयालुः ।
 एकान्तविष्यंसिषु मन्त्रिधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥५७॥
 संन्यसाभाषणपूर्वमाहुर्धृचः स नौ संगतयोर्वनान्ते ।
 तद्भूतनाथानुग नार्हसि त्वं सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ॥५८॥
 तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तराहुः ।
 स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत्पिण्डमिवामिपस्य ॥५९॥
 तस्मिन्स्थले पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम् ।
 शवाद्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात निधाधरद्वस्तमुक्ता ॥६०॥

ही बिता वामना ॥५३॥ तुम रामभरो हो कि हमने बदलेने दूसरी गोई देकर मैं महर्षि बसिष्ठको
 बना लूंगा । यह हो नहीं सकता । तुम इस गोवो नहीं पहचान रहे हो । यह बिस्ती भी प्रवार
 रामधेनुके नाम नहीं है । आज शकटजीका बल लेकर ही तुमने इसपर आक्रमण किया है; नहीं तो
 तुममें इनकी शक्ति नहीं [कि इसका जान भी जाना कर सको] ॥५४॥ इसलिये मैं अपना
 शरीर देकर भी इसे दृढाङ्गना बसोधि ऐसा करनेसे तुम्हारी भूग भी मिट जायगी और गोके
 ग रूढ़नेसे बसिष्ठजीकी जो गज-क्रियायें इस बातों, वे भी न रहेंगी ॥५५॥ देखो भाई ! तुम
 भी हमने सेवन हो और बड़ी लगनसे देवदार के वृक्ष की रक्षा कर रहे हो । तुम यह जानते होने
 कि जिसकी रक्षाका भार मेवकको मिलता है यदि वह मर पड़े तो जाय और सेवन होता रह जाय तो
 बजाओ वह अपने स्वामीके भागे बीन मूँह लेकर जायगा ॥५६॥ यदि तुम किसी कारणसे मरे
 ऊपर क्या करना चाहते हो तो मेरे बजायी रक्षा करो, क्योंकि तुम जैसे लोगों को पशु-तत्वमें भी इस
 दरकर शरीर का ठनिका भी भोह नही होगा ॥५७॥ देखो भाई ! जातबोन चतानेने माते हम दोनों
 मित्र हो गए हैं, इसलिये हे मित्रसे सेवन ! अपने मित्रकी प्रार्थना में दुःखरापी ॥५८॥ यह मुझपर
 गिह बोला—अच्छी बात है, यही सही । ठराम दिगीपना हाथ खुल गया और राजा दिगीप
 को अपने पौरवर मानने निकले मानस सिंहने भागे था वने ॥५९॥ गोपा मूँह करने राजा
 दिगीप यह गोप हो रह थे कि अब यह ऊपर दूटने जाना है कि इसीमे ही प्रवा जाय

तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य ।
 ग्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशांस वाचा पुनरुक्तयेव ॥६८॥
 स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्ब्रह्मलो वत्सहुतावशेषम् ।
 पपौ वशिष्ठेन..कृताभ्यनुव्रतः शुभ्रं यशो मूर्चमिवातितृष्णः ॥६९॥
 प्रातर्प्योक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य ।
 तौ दंपती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशीवशिष्ठः ॥७०॥
 प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनेन्तरं मर्तुरस्त्वर्त्ता च ।
 धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः ॥७१॥
 श्रोत्राभिरामप्यनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः ।
 यपायनुद्वातमुखेन मार्गं स्वेनेव पूर्णेन मनोरथेन ॥७२॥
 समाहितौ सुख्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजार्थव्रतकृशिताङ्गम् ।
 नेत्रेः पपुस्तप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नायमिवौपधीनाम् ॥७३॥

परी ॥६७॥ निर्मल चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखवाने राजाधिराज दिलीप जब वशिष्ठजीके पास पहुँचे तब उनका प्रसन्न मुख देखते ही वशिष्ठजी सब बातें पहलेसे समझ गए। इसलिये राजाने जो समाचार सुनाया वह उन्हें ऐसा लगा मानो दुहराया जा रहा हो। गुरुजीसे वह चुकनेपर राजा दिलीपने यह समाचार सुवक्षिणासे भी वह सुनाया ॥६८॥ जब बछड़ा दूध पी चुका और हवन भी हो चुका तब राजाजीके प्यारे प्रसन्नगीय राजा दिलीपने वशिष्ठजीकी आज्ञासे नन्दिनीका दूध ऐसे पी लिया मानो उन्हें बड़ी प्यास लगी हुई हो। उस दूधके उजलेपत्तका तो पहना ही क्या। उनकी जान पड़ा मानो स्वयं उजला जा ही दूध धन ज्ञाया हो ॥६९॥ दूसरे दिन प्रातःकाल त्रितेन्द्रिय वशिष्ठजीने समझ लिया कि गौकी सेवाका व्रत तो पूरा हो ही गया इसलिये उन्होंने राजा और रानी दोनों को आज्ञावादि दिया कि तुम्हारा मार्ग आनन्दसे बटे और उन्हें भगोप्याके विषे बिदा कर दिया ॥७०॥ बिदा लेते समय राजाने पहले हवन-कुण्डली, फिर शुद्ध वशिष्ठजी, तब माता भद्रकलीजी और सपत्नी पीछे बगैरैके साथ घड़ी हुई नन्दिनीकी परिक्रमा की। महर्षिने आजीर्वादि पानेसे उनका तेज और भी अधिक बढ़ गया ॥७१॥ सहनशील राजा दिलीप अपनी धर्मपत्नीने साथ जिस रूपपर चढ़कर प्रयोग्यारो पने उसको ध्वनि बानोको बड़ी मीठी गन रही थी और वह ऐसा प्रसन्न था कि उत्तम नामकी भी हँस नहीं लगती थी। इसलिये उसपर सुगन्ध पड़ार जाते हुए वे ऐसे लगते थे मानो वे अपने गङ्गा मनोरथपर बैठे हुए जा रहे हों, रथपर नहीं ॥७२॥ राजाकी प्रयोग्यारो गए बहुत दिनों हो गए थे इसलिये प्रजा उनके दर्शने निमेष टरक रही थी। पुत्रकी उत्पत्तिके निमेष जो उन्होंने मन लिया था उससे वे बहुत दुबले हो गए थे। अत्र रत्नने दिनों बाद सोतेसे उनकी प्रजा उन्हें ऐसी एहतर होकर देखन लगी जैसे सोय द्वितीयाने चन्द्रमाने उदय होनेपर

पुरंदरश्रीः पुरमुत्पंताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः ।

भुजे भुजंगेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससज्ज ॥ ७४ ॥

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेति धौः

सुरसरिदिव तेजो बह्विनिष्कृतमैशम् ।

नरपतिबुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी

गुरुभिरभिनिर्विष्टं लोकपालानुभावैः ॥ ७५ ॥

इति महाकविश्रीकानिदासकृतौ रघुवशे महाकाव्ये
नन्दिनीवरप्रदानो नाम द्वितीयः सर्गः ॥

उसे ध्यानसे देखते है ॥ ७३ ॥ इन्द्रके समान सम्पत्तिप्राप्ती राजा दिलीपने प्रजाका भावर पाकर अपनी उस अमोघ्या नगरीमे प्रवेश किया जिसमें उनके स्वागत के लिये भजे ऊँचे कर दिए गए थे । वहाँ पहुँचकर उन्होंने रोपनाशके समान अपनी बसबती भुजाओसे फिर राज काज सँभाल लिया ॥ ७४ ॥ जैसे अग्नि ऋषिके नेत्रसे निकली हुई चन्द्रमारुती ज्योतिको आकाशने धारण किया और जैसे स्कन्दको उत्पन्न करनेवाले सकरजीके उस तेजको बगजीने धारण कर लिया जिसे अग्नि भी नहीं सँभाल सकी थी, वैसे ही राजा मुदक्षिणाने राजा दिलीपका वश चसानेके लिये [आठो विद्याभोक्त] लोकपालोसे समान तेजस्वी पुरुषोके तेजसे भरा हुआ वर धारण किया ॥ ७५ ॥

महाकवि श्रीकानिदासके रहे हुए रघुवश महाकाव्यका नन्दिनी वर-प्रदान नामक
दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ।

दिशः प्रसेदुर्मरुतो वयुः सुखाः प्रदक्षिणांचिह्नविरग्निराददे ।
 वभूव सर्वं शुभशंसि तत्त्वशं भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम् ॥१४॥
 अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा मुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा ।
 निशीथदीपाः सहसा हतत्विपो वभूवुरालेख्यसमर्पिता इव ॥१५॥
 जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृतसंमिताचरम् ।
 अदेयमासीत्त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्रमुमे च चानरे ॥१६॥
 निचातपन्नस्तिमितेन चक्षुषा नृपस्य कान्तं पिवतः सुताननम् ।
 महोदधेः पूर इवेन्दुदर्शनाद्गुरुः प्रहर्षः प्रवभूव नात्मनि ॥१७॥
 स ज्ञातकर्मस्यस्थिते तपस्विना तपोचनादेत्य पुरोधसा कृते ।
 दिलीपसूनुर्मणिराफरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं धर्मौ ॥१८॥
 सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वार्योपिताम् ।
 न केवलं सन्ननि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ॥१९॥

*मन्त्रालय] ये भयल सम्पत्ति या सेवा है वैसे ही इन्द्राणीके समान तेजवाली सुदक्षिणाएँ भी वह
 पुत्र उत्पन्न किया जिसके साम्राज्यवासी होनेकी सूचना वे पाँच ध्रुव यह दे रहे थे जो उस समय उष
 स्थानपर थे और सायमे सूर्यके न होने से फल देने में समर्थ थे ॥१३॥ बालकके उत्पन्न होनेके समय
 आकाश धुल गया, शीतल मन्द-सुगन्ध वायु चलने लगा और हवनकी प्रतिकी लपटें दक्षिण
 की ओर घूमकर हवनपी सामप्रियाँ सेने लगी । सभी पशुन बच्चे हो रहे थे [और यह उचित भी
 था] क्योंकि ऐसे बालक ससार के कल्याणके लिये ही उत्पन्न होते हैं ॥१४॥ उस भाम्यानु बालक-
 का तेज सौरी-परमे चारो ओर इतना छाया हुआ था कि बायीं रातके समय धरमे रखे हुए बीषोका
 प्रकाश भी दृकदम पीका पड़ गया और वे ऐसे जान पड़ने लगे मानो चित्रमे बने हुए हों ॥१५॥
 भट्ट भन्त पुरके सेवकने राजा दिलीप के पास आकर पुत्र होनेका समाचार सुनाया । यह सुनकर वे
 इतने प्रसन्न हुए कि छत्र और दोनों बँवर तो न दे सके [क्योंकि वे राजबिहू थे] शेष सब प्राभू-
 पण उन्होंने उत्तारकर उसे दे डाले ॥१६॥ वे तत्काल भीतर गये और जैसे वायुके एक जानेपर कमल
 निश्चल हो जाता है वैसे ही वे एकटक होकर अपने पुत्रका मूँह देखने लगे । जैसे चन्द्रमाको देखकर
 महासमुद्रमे ज्वार भा जाता है वैसे ही पुत्रको देखकर राजाको इतना अधिक आनन्द हुआ कि वह
 उनके हृदयमें समा न सका ॥१७॥ पुरोहित वशिष्ठजीने भी जब यह ध्रुव समाचार पाया तब वे भी
 तपोवनसे वहाँ आ गए और स्वभावसे ही सुन्दर उस बालकके जातकर्म आदि संस्कार किये । संस्कार
 हो जानेपर वह बालक बड़े ही सुन्दर लगने लगा जैसे खानसे निकालकर सरादा हुआ हीरा ॥१८॥
 वह बालक तो ससारका कल्याण करनेवाला था इसलिये उसके जन्म लेनेपर केवल सुदक्षिणाके पति
 दिलीपके ही राजमन्दिरमें मनीहर जाने और वेर्याधोवि नाच आदि उत्सव नहीं हो रहे थे वरन् आकाशमें
 देवताओंके वहाँ भी नाच-गान हो रहा था ॥१९॥ [जब राजकुमार का जन्म होता है तब बन्दी-गुली

न सयतस्तस्य बभूव रचितुर्विसर्जयेद्य सुतजन्महर्षितः ।
 ऋणाभिधानात्स्वमेव केनल तदापितृणां मुमुचे सू चन्धनात् ॥२०॥
 श्रुतस्य यायादयमन्तर्मर्मकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः ।
 अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविचकार नाम्ना रघुमात्मसंभवम् ॥२१॥
 पितुः प्रयत्नात्स समग्रसंपदः शुभैः शरीरावयवैर्दिने दिने ।
 पुपोप वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः ॥२२॥
 उमावृषाङ्गौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरंदरौ ।
 तथा नृप सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ ॥२३॥
 रथाङ्गनाम्भोरिव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्परश्रयम् ।
 विमक्तमप्येकसुतेन सचयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत ॥२४॥
 उवाच धात्र्या प्रथमोदितं बभौ ययौ तदीयामवलम्ब्य बाहुगुलिम् ।
 अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मृदं तेन ततान सोऽर्मकः ॥२५॥
 तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुरैर्निपिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि ।
 उपान्तसंभीलितलोचनो नृपधिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥२६॥

हे बन्धी छोड़ दिए जाते हैं पर राजा दिलीपके राज्यका ऐसा बन्धन प्रबन्ध था कि कोई भयराय ही नहीं करता था । इसलिये राज्यमे कोई बन्दी ही नहीं था जिसे ये पुत्र-जन्मकी प्रसन्नतामें छोड़ते । इसलिये उन्होंने यही समझा कि पुत्र न होनेसे जो मैं पितरोंके ऋणके बन्धनमे था उस बन्धनसे भाग मैं ही छूट गया हूँ ॥२०॥ [शब्दोंके ठीक] धर्म पक्षाननेवाले राजाने (रधि) पातु-का 'जाना' धर्म समझकर अपने पुत्रका नाम इसलिये रघु रक्ता कि वह सम्पूर्ण शास्त्रोंके पार पहुँच जायगा और मुद्दक्षेत्रमे दानुमौके स्मृतीको तोड़कर उनके भी पार चला जायगा ॥२१॥ जैसे युक्त पक्षकी प्रतिपदाका चन्द्रमा सूर्यकी किरणों पाकर दिन दिन बढ़ने लगता है वैसे ही बालक रघुके भग भी सम्पत्तिशास्त्री पिताकी देखरेखमे दिन दिन बढ़ने लगे ॥२२॥ जैसे वार्तिकमे समान पुनको पाकर शकर और पार्वतीको भयान्त प्रसन्नता हुई थी और जयन्त जैसे प्रतापी पुत्रको पाकर इन्द्र और राक्षी प्रसन्न हुए थे वैसे ही राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणा भी उन दोनोंने ही समान तेजस्वी पुत्र पाकर बड़े प्रसन्न हुए ॥२३॥ राजा और रानीमे चकवा और चकईके समान गाढ़ा प्रेम था । वह प्रेम यद्यपि एकमात्र पुत्र रघुपर बँट गया था फिर भी उनके परस्पर प्रेममे कमी नहीं हुई, उनटे यह बढ़ता ही गया ॥ २४ ॥ जब बालक रघु कुछ बड़े हुए तब भगने उन्हें जो कुछ शिक्षाया उसे ये अपनी तोतली बोनोमे बोझने लगे, उसकी जंगली पबटवर चतने लगे और तिर झुकाकर बड़ोकी प्रणाम करना भी सीख गए । राजा दिलीप अपने पुत्रको ये बालचीलाएँ देखकर पूते नहीं समझे थे ॥२५॥ जब राजा उसे गोदमें चढ़ाते तब उसका शरीर झूलेले ही उन्हें ऐसा जान पड़ता था मानो उनके शरीरपर भृशको फूहारें बरस रही हो । उस

अयंस्त चानेन परार्थ्यजन्मना स्थितेरभेत्ता स्थितिमन्तमन्वयम् ।
 स्वमूर्तिभेदेन गुणाग्र्यवर्तिनापति प्रवानामिव सर्गमात्मनः ॥२७॥
 स वृत्तचूलश्लकाकपचकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः ।
 लिपेर्यथावद्ग्रहणेन बाह्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥२८॥
 अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम् ।
 अबन्ध्ययत्नाथ बभूवुरत्र ते क्रिया द्विवस्तूपहिता प्रसीदति ॥२९॥
 धियः समग्रं स गुरुरेददारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः ।
 ततार द्विधाः पथनातिपातिभिर्दिशो हरिर्द्विर्हरितामिवेसरः ॥३०॥
 त्वर्चं स मेध्यां परिवाय रौरवीमशिषतास्रं पितुरेव मन्त्रवत् ।
 न केनलं तव गुरुरेकपार्थिवः क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः ॥३१॥
 महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं क्लमः श्रयन्निव ।
 रघुः क्रमाद्यौघनभिन्नशैशवः पुपोप गाम्भीर्यमनोहरं वपुः ॥३२॥
 अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद्गुरुः ।
 नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुद दक्षसुता श्वानभुः ॥३३॥

[मय अलि बन्द बरने ये बहुत देर तक यह मानन्द लेते ही रह जाते थे ॥२९॥ जैसे प्रजापति
 ब्रह्मणे अपने सत्रोगुलवाले भजते विष्णुके प्रकट होनेपर यह समझ लिया कि अब हमारी सृष्टि-अमर
 हो गई, वैसे ही सर्वोदात्तसिध्द गिरीशने भी यह समझ लिया कि रघुने भी कर्मवत् सदा चलाता
 रहेगा ॥३०॥ मुण्डन सत्कार ही जानेपर घने ज्वल लट्ठेवाले तथा सभान भायुवाले बन्धियोने पुत्रोके
 साथ पहले पर्यामाता तिसना-बन्ना सोखा और फिर क्षात्र तथा राज्य वा अध्ययन प्रारम्भ कर
 दिया मानो नदीके मुहानेके हीकर समुद्रमें बैठ गए हो ॥३१॥ बसोपवीत हो मुखनेपर रघुने वपुः
 पण्डित लोग सत्र विदार्य भी पढ़ते सगे । इसने गुरुभोजन सारा परिश्रम सफल हो गया क्योंकि चतुर
 क्षिप्रको भी विश्वास हो जाती है वह अवश्य फलती हो है ॥३२॥ जैसे सूर्य अपने सरपट शौडनेवाले
 घोडोंकी सहायतासे घोडे ही सगवम चारों दिशाओकी पार कर लेता है वैसे ही बुद्धिमान् रघुन अपनी
 तीव्र बुद्धिकी सहायतासे शीघ्र ही चार समुद्रों के सभान विस्तृत [थायोधिनी, यनी, वार्ता तथा दक्ष-
 नीति के] चारों बिताए सोख लीं ॥३३॥ पवित्र दक्ष मृगया चर्म पहनकर रघुने मन्त्रमुक्त फलोकी
 शिक्षा अपने पिताके ही प्राप्त की क्योंकि उनके पिता केवल परकृष्णों संगत हो नहीं थे वरन् अद्वितीय
 अनुप चमनेवाले भी थे ॥३४॥ जैसे मायका बछड़ा बड़ा हुआपर सीध हो जाता है और हाथीका
 बच्चा बचकर गजराज हो जाता है वैसे ही जब रघुने भी स्वयंन बिताकर कुशावस्थामे पर रफता
 एवं उनका सरोर और भी पिय उठा ॥३५॥ राजाने गोदान सम्भार करके स्वयं विवाह कर
 दिया । जैसे दक्षी [अश्विनी यादि] बम्मारें बन्दमा-जैसे बलियो पावर प्रगन हृदि धी धीसे ही
 राजकुमारियो भी रघु जैसा प्रतापी बलि पावर प्रगन हृदि ॥३६॥ मुशकस्याने बारण रघुकी मुआए

युवा युगव्यायतवाहुरसलः कषाठवचाः परिखद्वकधरः ।
 वपुः प्रकर्षादजयद्गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥३४॥
 ततः प्रजानां चिरमात्मना शृतां नितान्तगुर्वी लघयिष्यता धुरम् ।
 निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेय चक्रे युवराजशब्दभाक् ॥३५॥
 नरेन्द्रमूलायतनादनन्तरं तदास्पदं श्रीयुवराजसंज्ञितम् ।
 अगच्छदंशेन गुणामिलापिषी नवावतारं कमलादिवोत्पलम् ॥३६॥
 विभावसुः सारधिनेव वायुना धनव्यपायेन गभस्तिमानिव ।
 बभूव तेनातिरां सुदुःसहः कटप्रभेदेन करीव पार्थिवः ॥३७॥
 निपुज्य तं होमतुरंगरक्ष्ये धनुर्धरं राजसुतैरनुव्रुतम् ।
 अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः ॥३८॥
 ततः परं तेन मखाय यज्वना तुरंगमुत्सृष्टमनर्गलं पुनः ।
 धनुर्भूतामग्रत एव रविणां जहार शकः किल गूढविग्रहः ॥३९॥
 विपादलुप्तप्रतिपत्ति विस्मितं कुमारसैन्यं सपदि स्थितं च तत् ।
 वशिष्ठधेनुश्च यदृच्छयागता श्रुतप्रभावा ददृशेऽथ नन्दिनी ॥४०॥

हजरो जुएके समान हठ और लम्बी हो गई, धाती चौड़ी हो गई और कंधे भारी हो गए । इस प्रकार बीस बीस बंद जानेके कारण रघु अपने बड़े पितासे भी ऊँचे और लम्हे खड़े थे, फिर भी वे इतने गम्भ थे कि उन्होंने कभी अपना बड़ापन प्रकट नहीं होने दिया ॥३४॥ जब राजा दिलीप ने देखा कि शिक्षा भादि सास्कारों से रघु तन्म हो गए हैं और भली भाँति राज्य संभाल सकते हैं तब उन्होंने सोचा कि बहुत दिनों से जो राज्य मैं चला रहा हूँ उसे रघुको क्यों न सौंप दूँ । यह विचारकर उन्होंने रघुको युवराज बना दिया ॥३५॥ जैसे सुन्दरतानी देवी मुरझाए हुए कमलको छोड़कर नये कमलपर चढ़ जाती है वैसे ही राज्य लक्ष्मी भी बूढ़े दिलीपको छोड़कर धीरे धीरे रघुपर चढ़ गई ॥३६॥ जैसे वायुको सहजतासे धूम्रि, चारदं फलके खुले हुए आम्रकाशको पककर सूर्य और मंद बहनेके कारण हाथी प्रचंड हो जाता है वैसे ही प्रतापी रघुकी सहजतासे दिलीप भी इतने जतिशाली हो गए कि उनमें शत्रु उनसे माँगने लगे ॥३७॥ इसके समान प्रभावशाली दिलीपने यज्ञ के घोड़े की रक्षाकर भार रघु और अन्य धनुर्धर राजकुमारों को सौंपकर नित्यान्वे अभ्यर्थे यज्ञ विना वापाये पूरे कर लिए ॥३८॥ तब दिलीपने सौर्षा यज्ञ करनेके लिये घोड़ा छोड़ा । इनको यह बात सटकी और उन्होंने प्रपनेको छिपाकर धनुषधारी रखनेके देखते देखते उस घोड़ेको चुरा लिया ॥३९॥ जब घोड़ेकी रक्षा करनेवाली रघुकी सेनाने देखा कि घोड़ा देखते देखते गदगद हो गया तब वे बड़े घबराए और उन्हें आश्चर्य भी हुआ । ठीक उसी समय वहाँ बसिष्ठ ऋषिकी प्रभावशालिनी गौ नन्दिनी भूमती धामती चली आई ॥४०॥ सज्जनो

तदङ्गानिस्पन्दजलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम् ।
 अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीपनन्दनः ॥४१॥
 स पूर्वतः पर्वतपक्षशातनं ददर्श देवं नरदेवसंभवः ।
 पुनः पुनः स्रुतनिपिद्धचापलं हरन्तमखं रथरश्मिसंयतम् ॥४२॥
 शतैस्तमक्षामनिमेषवृचिर्महिरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिभिः ।
 अघोचदेनं गंगनस्पृशा रघुः स्वरेण धीरेण निवर्तयन्निव ॥४३॥
 मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र सदा निगद्यसे ।
 अतस्तर्दीक्षाप्रपतस्य मद्गुरोः क्रियाविधाताय कथं प्रवर्तसे ॥४४॥
 त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विपस्त्वया नियम्पा ननु दिव्यचक्षुषा ।
 स चेत्स्वयं कर्मसु धर्मचारिणां त्वमन्तरायो भवसि च्युतो विधिः ॥४५॥
 तदङ्गमायं मघवन्महाक्रतोऽरमुं तुरंगं प्रतिमोक्तुमर्हसि ।
 पथः श्रुतेर्दर्शयित्वा ईश्वरा मलीमत्तामाददते न पद्धतिम् ॥४६॥
 इति प्रगल्भं रघुणा समीरितं वचो निशम्पाधिपतिर्दिवौकसाम् ।
 निवर्तयामास रथं सविस्मयः प्रचक्रमे च प्रतिवक्तुमुत्तरम् ॥४७॥

द्वारा सम्मानित रघुने तत्काल नन्दिनीका भूष प्रपनी श्रीधौसे सगामा जियसे उन्हें उन सब वस्तुमोकी
 ऐस सपनेकी पक्ति भानई जो किसी भी इन्द्रियके किसीको नहीं ज्ञात होती ॥४१॥ इस प्रकार दिव्य
 शक्ति प्राप्त करके रघु देखते क्या है कि पर्वतोंके पक्ष नाटनेवाले इन्द्र रथयं उस पौढ़ेको लिए खजे जा
 रहे हैं और यह घोड़ा भी उनके रथके पीछे धँसा हुआ, गुटायन भातने या दल कर रहा है जिसे
 अन्धका छारपी बार बार संभालनेका यत्न कर रहा है ॥४२॥ रघुने श्रीय गटायन देखा कि घोड़ा
 गुटायन लेमाने बानेके खरीएयर भाँपे हो पाँखें हैं, उन बाँखोंकी पलकों भी नहीं गिरती ॥ और उनके
 रथके घोड़े भी हरे-रूहे हैं । यह रघुने समझ लिया कि हो न हो ये इन्द्र ही हैं और ये जैसे वभीर स्वरेखे
 इस प्रकार इन्द्रके बोले मानो उन्हें लौटनेकी सलवार रहे हो ॥४३॥ हे देवेन्द्र ! विद्वानोंका कहना
 है कि पशुका भाग सबसे पहले आपकी हो गितता है । मेरे पिताजी भी आप लोगोंके लिये ही यत्न
 कर रहे हैं फिर न जाने क्यों आप उसमें विघ्न डाल रहे हैं ॥४४॥ उनसे आपकी तो यह चाहिए कि
 समारमे जो कोई भी यज्ञमें विघ्न डाले उसे आप स्वयं दण्ड दें, क्योंकि आप ही तीनों लोकोंके स्वामी
 हैं, और अब स्वयं आप ही यज्ञमें विघ्न डालने लगे हैं अब तो समारमे धर्म ही लुप्त हो जायगा ॥४५॥
 इसलिये हे इन्द्रदेव ! आप मेरे पिताके धर्मके पक्षमें लिये दण्ड पौढ़ेको छोड़ दीजिए । वेदका
 मार्ग दिखानेवाले महारथार्योंके ऐस छोड़ा नाम करना घोरना नहीं देता ॥४६॥ रघुके मन्त्रिमान-
 मरे दल समानां सुनकर इन्द्रकी बड़ा आदर्यं हुआ और अपना रथ लौटाकर वे बोले—॥४७॥ 'हे

यदात्य राजन्यकुमार तत्तथा यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः ।
जगत्प्रकाशं तदशेषमिज्यया मयद्गुरुर्लक्षपितुं ममोद्यतः ॥४८॥
हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्यम्बक एव नापरः ।
तथा विदुर्मा मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी न हि शब्द एष नः ॥४९॥
अतोऽयमश्वः कपिलानुकारिणा पितृस्त्वदीयस्य मयापहारितः ।
अलं प्रयत्नेन तवान्न मा निघाः पदं पदध्यां सगरस्य संततेः ॥५०॥
ततः ग्रहस्यापभयः पुरंदरं पुनर्बभाषे सुरगस्य रक्षिता ।
गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान् ॥५१॥
स एषमुत्स्वा मध्वन्तमुन्मुखः करिष्यमाणः तंशरं शरासनम् ।
अतिष्ठदालीढविशेषशोभिना वपुःप्रकर्षेण विदम्बितेश्वरः ॥५२॥
रघोरवष्टम्भमयेन पत्त्रिणा हृदि क्षतो गोत्रमिदम्यमर्षणः ।
नवाभ्युदानीकमुहूर्तलाञ्छने धनुष्यमोघं समधत्त सायकम् ॥५३॥
दिलीपघ्नोः स वृद्धद्रुजान्तरं प्रविश्य भीमासुरशोणितोचितः ।
पपावनास्वादितपूर्वमाशुगः कुतूहलेनेव मनुष्यशोणितम् ॥५४॥

राजकुमार ! तुम जो कहते हो वह सब ठीक है । पर हम यशस्विषोका यह भी कर्त्तव्य है कि जो अपनेसे होड़ करें उनसे अपने यशकी रक्षा भी करें । मैंने तो यज्ञ करनेका जो यज्ञ पाया है उसे तुम्हारे पिता मुझसे छीनना चाहते हैं ॥४८॥ देखो ! जिस प्रकार पुष्पोत्तम केवल विष्णु ही हैं, शम्भु केवल शक्र ही हैं वैसे ही मुनि योग धतकतु (तो यज्ञ करनेवाला) केवल मुझे ही कहते हैं । जिन नामोंसे हम लोग प्रसिद्ध हैं वे नाम दूसरे नहीं रख सकते ॥४९॥ इसलिए जैसे कपिल मुनिने तुम्हारे गुरसे सगरके घोड़ेको हर लिया था वैसे ही मैंने तुम्हारे पिताके इस घोड़ेको हर लिया है । तुम इसे छुड़ानेका प्रयत्न मत करो, नहीं तो जैसे कपिल मुनिके श्रोत्रसे सगरके साठ सहस्र पुत्र मरम् हो गए थे वैसे ही हमारे श्रोत्रसे तुम भी मरम् हो जाओगे ॥५०॥ यह सुनकर शशके रक्षक रघुने निठर होकर हँसते हुए दृढ़से कहा—यदि आपने यही निश्चय किया हो तो शत्रु बड़ा ही और मुझ कीजिए । रघुने भीते बिना आप घोड़ा लेकर नहीं जा सकते ॥५१॥ यह कहकर रघुने धनुषपर बाण चढ़ाया और पंखरा सायक इन्द्रकी ओर ऊपर मुँह करके बड़े हो गए । उस समय वे ऐसे लग रहे थे मानो दृढ़से मुझ करने के लिए स्वयं शक्र मरवाद् घा डटे हो ॥५२॥ रघुने खभके समान दृढ़ एक बाण इन्द्रकी छातीमें मारा । इससे इन्द्र बड़े कोपित हुए और अपने धनुषपर ऐसा बाण चढ़ाया जिसका बार कभी चूकता नहीं । इन्द्रका यह धनुष इतना सुन्दर था कि बोली देरके लिये उसने नए बादलों में इन्द्र-धनुष जैसे रंग भर दिए ॥५३॥ बड़े-बड़े राक्षसोंका रक्त पीनेवाले उस बाणने रघुकी छातीमें घुसकर वहाँका रक्त बड़े चावसे पिया क्योंकि उसे अपनी तक मनुष्यके रक्तका स्वाद तो कभी मिला ही नहीं था ॥५४॥ नातिनेयके समान पराक्रमी रघुने भी अपना

हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशाद्भलौ ।
 भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्क्षिते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् ॥५५॥
 जहार चान्येन मयूरपत्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजम् ।
 चुकोप तस्मै स भृश सुरश्रियः प्रसह्य केशव्यपरोपणादिव ॥५६॥
 तयोस्त्वान्तस्थितसिद्धसैनिकं गत्तमदाशीविषभीमदर्शनैः ।
 बभूव युद्धं तुमुलं जयैषिणोरंधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च पत्रिभिः ॥५७॥
 अतिप्रगन्धप्रहिताक्षवृष्टिभिस्तमाश्रयं दुष्प्रसहस्य तेजसः ।
 शशाक निर्घोषयितुं न वासवः स्वतश्च्युतं बद्धिमिवाद्भिरभ्युदः ॥५८॥
 ततः प्रसोष्ठे हरिचन्दनाङ्क्षिते प्रमथ्यमानार्थवधीरनादिनीम् ।
 रघुः शशाकार्धमुखेन पत्रिणा शरासनज्यामलुनाद्विद्वौजसः ॥५९॥
 स चापमुत्सृज्य विवृद्धमत्सरः प्रणाशनाय प्रबलस्य विद्विपः ।
 महीप्रपञ्चव्यपरोपणोचितं स्फुरत्प्रमामण्डलमस्रमाददे ॥६०॥
 रघुर्भृशं वचसि तेन ताडितः पपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभिः ।
 निमेषमात्रादवधूय तद्व्यथां सहोत्थितः सैनिकहर्षनिःस्वनैः ॥६१॥

नाम बुझा हुआ एक बाण इन्द्रकी उस वाई भुजासे मारा जिसकी उँगलियाँ ऐरावतको बार-बार धपपाने से पड़ी होगई थी और जिसपर सबीने कनूय मादिते कुछ चित्रकारी कर दी थी ॥५५॥ फिर रघुने मोरसे पखवाले दूसरे बाणसे इन्द्रकी बज्र-जैसी ध्वजारो काट बाधा । उससे इन्द्रको ऐसा प्रीण हुआ मानो किसीने बलपूर्वक देवताओंकी राज्य-सम्पत्तिके सिरसे बाल काट लिए हों ॥५६॥ रघु और इन्द्र दोनों ही अपनी अपनी जीत चाहते थे और दोनों युद्ध के समान ठोसे बाणोंसे मथकर युद्ध कर रहे थे । रघुकी सदाय बनाकर इन्द्र नीचेकी ओर अपने बाण चलाते थे और इन्द्रको ताक सावकर रघु ऊपर बाण चला रहे थे । ऊपर देवता और नीचे रघुके सैनिक इस अनवरत भरे युद्धको देख रहे थे ॥५७॥ जैसे बादल घोर वर्षा करके भी अपने हृदयसे उत्पन्न बिजलीको नहीं बुझा सकता जैसे ही इन्द्र भी अपने अगले पैदा हुए रघुको बाणोंकी वर्षासे मही हरा पा रहे थे ॥५८॥ तब रघुने अर्ध-वन्दने आकारसे बाणसे इन्द्रकी डीन कत्तार्दिके पास अनुपगो गह डोरी काट डाली जिससे बाण चलाते समय ऐसा प्रचण्ड शब्द होता था जैसे मधे जानेके समय शीर सपुत्रसे होता था ॥५९॥ अनुपगो डोरी गट जानेसे इन्द्रको बड़ा प्रीण हुआ । उन्होंने अनुपगो तो दूर फेंका और अपने प्रबल शत्रु रघुको मारनेके लिये पर्यंतोंके बाण काटनेवाला शक्तिसे समान समचमकता बज्र उठा लिया ॥६०॥ उस बज्रकी मारसे रघु भूमीपर गिर पड़े । उनसे गिरते ही उनके सैनिकोंने रोना-भीटना आरम्भ कर दिया । निरतु रात भरने ही वे समवरत उठ खड़े हुए और उनसे साथ ही उनसे सैनिकोंकी जयजय-वार भी आवाजसे गूँज उठी ॥६१॥ बज्रकी चौटसे रात भरने समवरत रघु फिर सन्नेके लिये आ

तथापि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपद्यभावे चिरमस्य तस्मिन् ।
ततोप वीर्यातिशयेन वृत्रहा पदं हि सर्वत्र गुह्यं निधीयते ॥६२॥
असङ्गमद्रिष्वपि सारवचया न मे त्वदन्येन विसोढमायुधम् ।
अवेदि मां प्रीतमृते तुरंगमात्किमिच्छसीति स्फुटमाहवासवः ॥६३॥
ततो निपद्नादसमग्रमुद्धृतं सुवर्णपुद्गद्युतिरजिताङ्गुलिम् ।
नरेन्द्रसन्तुः प्रतिसंहरन्निपुं प्रियंवदः प्रत्यवदत्सुरेश्वरम् ॥६४॥
अमोच्यमश्वं यदि मन्यसे प्रभो ततः समाप्तेविधिनैव कर्मणि ।
अजस्रदीक्षाप्रयतः स मद्गुरुः क्रतोरशेषेण फलेन युज्यताम् ॥६५॥
यथा च वृत्तान्तमिमं सदोगतस्त्रिलोचनैकांशतया दुरासदः ।
तवैव संदेशहराद्विशांपतिः शृणोति लोकेश तथा विधीयताम् ॥६६॥
तथेति कामं प्रतिशुश्रुवात्रघोर्यथामतं मातलिसारथिर्ययी ।
नृपस्य नातिप्रमनाः सदोगृहं सुदक्षिणासुररपि न्यवर्तत ॥६७॥
तमभ्यनन्दत्प्रथमं प्रबोधितः प्रजेरवरः शासनहारिणा हरेः ।
परामृशन्हर्षजडेन पाणिना तदीयमङ्गं कुलिशव्रणाङ्कितम् ॥६८॥

कटे । उनकी इस मङ्गितीय वीर्यताको देखकर इन्द्र बड़े सन्तुष्ट हुए । ओक भी था, क्योंकि गुरुरोप भावर सर्वत्र होता ही है ॥६२॥ इन्द्रने कहा—‘हे राजकुमार ! पर्वतोंके पक्ष काटनेवाले मेरे बड़ो बख्शी घोड़ेको तुम्हें छोड़कर आज-तक बिसीने नहीं रहा । मैं तुम्हारी वीर्यतापर प्रसन्न हूँ । तुम इस घोड़ेकी छोबबर और जो कुछ मुझसे माँगना चाहो, माँग लो ॥६३॥ इन्द्रके ये बख्त मुनकर रघुने तुरीसो घाबे निकाले हुए उस बाणको फिरसे उसमे डाल दिया जिसके सुनहरे पक्षकी बमकां रघुकी रँगलियोने पक्ष भी बमक उठे थे और फिर ये इन्द्रसे बोले ॥६४॥—‘हे इन्द्र ! यदि इस घोड़ेको नहीं देना चाहते हैं तो यही बरदान दीजिए कि मेरे पिता विधिपूर्वक यज्ञको समाप्त करके इस घोड़ेके बिना ही सौ अश्वमेध यज्ञ करनेका फल पा जायें ॥६५॥ हे लोकेश ! मेरे पिता यज्ञ भरणमे मग्नमूर्ति शिवजीके एक अश्वमेध रूपमे बँडे हुए हैं भत, वहाँ इस समय हम लोगोमेसे कौन पहुँच नहीं सकता । इसलिये ऐसा उपाय कीजिए जिससे आपका ही कोई दूत जाकर उनको यह समाचार सुना सके ॥६६॥ इन्द्रने कहा—‘ऐसा ही होगा ।’ यह कहकर जिस मार्गसे वे आए थे उसी मार्गसे चले गए । सुदक्षिणाके पुत्र रघु भी अपने पिता राजा दिलीपको समझे लौट आए । वे दबे सिस से क्योंकि इन्द्रसे मुझमे जीतनेपर भी अश्वमेध का घोड़ा लौटा न पानेवा उन्ह बड़ा दुःख था ॥६७॥ रघुके पहुँचनेके पहले ही इन्द्रके दूतने राजा दिलीपको सर वृत्तान्त सुना दिया था । इसलिये जब रघु वहाँ आए सब राजा दिलीपने उनकी बड़ी प्रशंसा की और जहाँ उन्हे बख्त लगा था वहाँ पीरे-पीरे सह्याने लगे ॥६८॥ इस प्रकार जिस दिलीपकी भाज्ञा कोई टाल नहीं सकता था

इति द्वितीशो नवतिं नवाधिकं महाकतूनां महनीयशासनः ।
समारुरुद्धुर्दिवमायुषः क्षये ततान सोपानपरम्परामिव ॥६६॥

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि स्रुत्वे
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम् ।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
मलितवयसामिन्द्राकूषामिदं हि कुलव्रतम् ॥७०॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवधे महाकाव्ये
रघुराज्याभिषेको नाम तृतीयः सर्गः ॥

उन्होंने मानो स्वर्ग जानेके लिये निम्नान्ये यज्ञोंकी छींटी सी बनाली थी ॥६६॥ तब ससारके सब विषय छोड़कर राजा दिलीपने अपने मयमुक्क पुत्र रघुको शास्त्रोंके अनुसार छत्र, शंकर आदि राजपिहू भी छीप दिए और देवी मुवतिछाये साथ तप करनेके लिये जगन्मयी राह ली क्योंकि इन्द्राकु-वसाने राजाजीने यही परम्परा चली आई है कि वे भूदे होनेपर जगत्तमे जाकर तपस्या किया करते थे ॥७०॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवध महाकाव्यमें रघुका राज्याभिषेक नामक तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥

॥ चतुर्थः सर्गः ॥

स राज्यं गुरुणा दत्तं प्रतिपद्याधिकं वसौ ।
 दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः ॥ १ ॥
 दिलीपानन्तरं राज्ये तं निशम्य प्रतिष्ठितम् ।
 पूर्वं प्रभूमितो राज्ञां हृदयेऽग्निरिवोत्थितः ॥ २ ॥
 पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपटुक्तयः ।
 नवाभ्युत्थानदर्शिन्यो ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः ॥ ३ ॥
 सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना ।
 तेन सिंहासनं पिभ्यमखिलं चारिमण्डलम् ॥ ४ ॥
 व्यापामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम् ।
 पद्मा पद्मातपत्रेण मेजे साम्राज्यदीक्षितम् ॥ ५ ॥
 परिकल्पितसान्निध्या काले काले च बन्दिषु ।
 स्तुत्यं स्तुतिभिरर्ध्याभिरुपतस्थे सरस्वती ॥ ६ ॥
 मनुप्रभृतिभिर्मान्यैर्मुक्ता यद्यपि राजभिः ।
 तथाप्यनन्यपूर्वेव तस्मिन्नासीदसुंधरा ॥ ७ ॥

श्रीवा सर्ग

जैसे सांझके सूर्यसे तेज सेकर आग जमक उठती है वैसे ही अपने पितासे राज्य पाकर रघु और भी अधिक तेजस्वी हो गए ॥१॥ जब दूसरे राजाओंने सुना कि दिलीपके पीछे रघु राजा भू. गार्. मत्. उनके हृदयमें दीरकी सी आग धीरे-धीरे सुलग रही थी वह मानो भटक उठी ॥२॥ राजा रघु जब अपने ऊंचे सिंहासनपर बैठते थे तब उनकी प्रजाके सब बूढ़े बच्चे उनकी पीर धाल सटाकर देखते हुए वैसे ही प्रसन्न होते थे जैसे आनासमे उठे हुए नये इन्द्रधनुषको देखकर लोग प्रसन्न होते हैं ॥३॥ हाथीके समान मस्त जालसे चबनेवाले राजा रघुने पिताके सिंहासनपर धीरे अपने सपुत्रीपर एक साथ अधिकार कर लिया ॥४॥ जब वे सिंहासनपर बैठते थे उस समय उनके चारों ओर प्रकाशका एक घेरसा बन जाता था, जैसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो लक्ष्मी स्वयं छिपकर उनको कमल-का छत्र लेकर उनके पीछे खड़ी हो ॥५॥ समय-समयपर सरस्वती भी उनके चारों ओर के कठोंमें बैठ-कर भयंभरा विरद सुनाकर उन प्रसन्ननीय राजा रघुका गुण गाती थी ॥६॥ यो तो रघुसे पहले मनु आदि बहुतसे प्रतापी राजा पृथ्वीका भोग कर चुके थे पर रघुके हाथमें पहुँचकर बड़ी पृथ्वी ऐसी नई जान पड़ने लगी मानो पहले-पहल रघुके ही हाथों में आई हो ॥७॥ जैसे बघैलका बाधु बहुत चीर था

स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः ।

आददे नातिशीतोष्णो न भस्वानिव दक्षिणः ॥ ८ ॥

मन्दोत्कण्ठाः कृतास्तेन गुणाधिकतया गुरौ ।

फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजाः ॥ ९ ॥

नयचिह्निर्नवे राज्ञि सदसचोपदर्शितम् ।

पूर्वं एवाभयत्पदस्तस्मिन्नाभवदुत्तरः ॥ १० ॥

पञ्चानायपि भूतानामुत्कर्षं पुष्पपुर्गुणाः ।

नवे तस्मिन्महीपाले सर्वं नयमिवाभवत् ॥ ११ ॥

यथा - प्रह्लादनाचन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा ।

तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात् ॥ १२ ॥

कामं कर्णान्तविश्रान्ते विशाले तस्य लोचने ।

चक्षुष्मं चा तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्पार्यदर्शिना ॥ १३ ॥

लब्धप्रशमनस्वस्थमर्थेन समुपस्थिता ।

पार्थिवश्रीर्द्वितीयेव शरत्पङ्कजलक्षणा ॥ १४ ॥

बहुत गरम न होनेके कारण सबकी भाषा है [बैठे ही रघु गीत तो अधिक कठोर बह देते थे न अधिक फोमल] जो जैसा प्रचाराय करता था उसको वैसा ही बह देते थे । इस प्रकारके व्यापसे उनकी प्रज्ञा भी बनते बड़ी प्रसन्न थी ॥८॥ और जैसे आमके सुन्दर फल देखकर लोग सबके घोरको भूल जाते हैं वैसीही रघुने राजा दिलीपसे अधिक गुण देखकर लोग किसीको भूलसे गए ॥९॥ नीति जाननेवाले मनीषी ने यद्यपि रघुकी सरल और कुटिल दोनों प्रकारकी नीतियों से राज्य चलानेकी विधियाँ सिखाई थी, किन्तु उस धर्मात्मा राजाने सीधी नीतिकी ही अपेक्षा, डेटी नीतिको छोड़ दिया ॥१०॥ रघुके सिंहासनपर बैठते ही जलकी मिठास अधिक हो गई, फूलोंकी सुगन्ध बढ़ गई और [पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन] पाँचों तत्वोंके गुण भी बढ़ने लगे । ऐसा जान पड़ने लगा मानो नये राजा-को पाकर सभी वस्तुएँ नई हो गई हो ॥११॥ जैसे सबको आनन्द देकर चन्द्रमाने अपना चन्द्र नाम सार्वक कर दिया और सबको लषाकर सुवर्ण अपना 'वपन' नाम सार्वक किया, वैसे ही रघुने भी प्रजा-का रत्न करके, उन्हें सुख देकर अपना 'राजा' नाम सार्वक कर दिया ॥१२॥ यद्यपि रघुके नेत्र वानो-त्तक फले हुए और बहुत घडे-बडे थे पर इन्हें अधिक भरोसा अपने उस शास्त्र-बसुपर था जिससे वे सूक्ष्मसे सूक्ष्म बातको भी समझ जाते थे ॥१३॥ जब रघुने अपने राज्यके शान्ति स्थापित करली और जनका चित् ठिकाने हुआ तभी दूसरी राज्य-सहमी के समान वह शरद् ऋतु आ गई जिसमें चारों ओर सुन्दर वस्त्र धित गए थे ॥१४॥ वर्षा ऋतु चुकी थी, वाहन हट गए थे और जैसे खुले

निर्वृष्टलघुभिर्मैघैर्मुक्तवर्मा सुदुःसहः ।
 प्रतापस्तस्य मानोश्चयुगपद्भ्यान्शे दिशः ॥१५॥
 वार्षिकं संजहारेन्द्रो धनुर्वैवं रघुर्दधौ ।
 प्रजार्थसाधने तौ हि पर्यायोद्यत्कर्तुर्कौ ॥१६॥
 पुण्डरीकातपत्रस्तं विक्रमत्काशचामरः ।
 श्रुतुर्विहम्बयामास न पुनः प्राप तच्छ्रियम् ॥१७॥
 प्रसादसुपुसे तस्मिन्त्रन्द्रे च विशदप्रभे ।
 तदा चक्षुष्मतां प्रीतिरासीत्समरसा द्वयोः ॥१८॥
 हंसश्रेणीषु तारासु कुमुदस्तु च वारिषु ।
 विभूतयस्तदीयानां रर्यस्ता यशसामिव ॥१९॥
 इक्षुच्छायनिपादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् ।
 आकुमारकथोद्भातं प्रालिङ्गोप्यो जगुर्यशः ॥२०॥
 प्रससादोदयादम्भः कुम्भयोर्नेर्महौजसः ।
 रघोरभिभवाशङ्कि चुचुमे द्विपतां मनः ॥२१॥
 मदोदग्राः ककुब्जन्तः सरितां कूलमुद्रुजाः ।
 लीलाखेलमनुप्राप्तुर्महोद्वास्तस्य विक्रमम् ॥२२॥

मानासमें बमकले हुए प्रबन्ध सूर्यका प्रकाश चारों ओर फैल गया था वैसे ही शत्रुओंके नष्ट हो जाने-
 पर रघुका प्रबन्ध प्रताप भी चारों ओर फैल गया ॥१५॥ इन्होंने जब अपनी वर्षा-शत्रु वाला हनु-
 धनुष हटाया तब रघुने अपना बिजली धनुष हाथमें उठा लिया क्योंकि ये दोनों ही बारी-बारीसे प्रजा-
 की भलाई किया करते थे ॥१६॥ शरद ऋतु भी रघुके शत्रु और शत्रुको देखकर कमलके धूप और
 फूले हुए काँचके बँवर लेकर रघुसे होठ करने लगी, पर तब कुछ करके भी उनकी शोभा नहीं पा सकी
 ॥१७॥ शरद ऋतुने रघुके खिले हुए मुख और उनसे चन्दमा दोनोंको देखकर दराँकीकी एक सा
 प्रागन्ध मिलाया था ॥१८॥ उनसे हसोकी उठती हुई पाँवों, रातमें खिले हुए टिमाटिमाते चारों
 ओर तालीमें खिली हुई कोहँकी देखकर यह जान पड़ता था कि रघुकी कीर्ति ही इतने रूप बनाकर
 फैली हुई है ॥१९॥ [प्रजाको वे इतने प्यारे थे कि] धानके खेतोंकी रखवाली करनेवाली किसानों-
 की स्त्रियाँ, ईश्वरी दायामे बैठकर प्रजापालक राजा रघुकी बचपनसे तबतकनी गुणकथाओं के नीव
 पना-बनावर गाती थी ॥२०॥ इधर तो बमकीले अग्रहस्त्य तारेके निकलनेसे जल निर्मल हो
 गया, उधर शत्रुओंके मरने यह जानकर खलबली मच गई कि अब न जाने कब रघु बड़ाई कर
 बैठे ॥२१॥ उस शत्रुने ऊँचे-ऊँचे कपोवाले मतवाले साँव नदियोंके कंधार बाँधे हुए ऐसे लगते थे मानों
 वे रघुके सङ्कल्पनके खेलनाखेला अनुसरण कर रहे हों ॥२२॥ (शरद ऋतुमें चारों ओर) ललितवनके

प्रसवैः सप्तपर्शानां मदगन्धिमिराहताः ।
 अस्त्रयथेव तन्नागाः सप्तधैव प्रसुप्तुः ॥२३॥
 सरितः कुर्वती गाधाः पथधारयानकदमान् ।
 यात्रायै चोदयामास तं शक्तेः प्रथमं शरत् ॥२४॥
 तस्मै सम्यग्पुतो वह्निर्वाजिनीराजनाविधौ ।
 प्रदक्षिणार्चिर्व्याजिनं हस्तेनेव जयं ददौ ॥२५॥
 स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपाणिंरयान्वितः ।
 पङ्क्तिं यत्नमादाय प्रसस्ये दिग्जिगीषया ॥२६॥
 अवाहिरन्ययोषुद्धास्तं लाजैः पौरयोपितः ।
 पुष्टैर्मन्दरोद्धूतैः चरीरोर्मय इवाच्युतम् ॥२७॥
 स ययौ प्रथमं प्राचीं तुल्यः प्राचीनबर्हिषा ।
 अहितानंनिलोद्धूतैस्तर्जयन्निव केतुभिः ॥२८॥
 रजोभिः स्यन्दनोद्गर्जैश्च घनसंनिभैः ।
 ध्रुवस्तलमिव व्योम कुवेन्वयोमेव भूतलम् ॥२९॥

जो फूल फूले हुए थे उनकी मद-जैसी गन्ध पाकर [रघुके हाथियोंने सोचा कि ये भी हाथी हैं और हमसे होठ करके मद बहा रहे हैं । इसलिये ये भी] रीसके पारे अपनी सूँडके नथनीसे दोनों कपोतो-से, कनरों और दोनों भालोंसे मद बहाते सगे ॥२३॥ सरस्के प्राते ही नदियोंका पानी उतर गया और मार्गका बीच-बीच भी सूख गया, मानो शरत् ऋतुने रघुके सगेबनेसे पहले ही उन्हें दिग्बिजय करनेको उकसा दिया हो ॥२४॥ यात्राके लिये चलनेसे पहले घोड़ोंकी पूजाके लिए हवन होने लगा और हवनकी अग्नि भी दाहिनी ओर पुष्टी हुई उठ रही थी मानो अपने हाथ उठा-उठाकर रघुको बँहनेसे ही बिजय दे रही हो ॥२५॥ वीभाग्यशाली रघुने पहले राजधानी और सीमाके गडोंकी रक्षाका प्रबन्ध किया फिर शुभ मुहूर्तमें [बुद्धवार, हाथी, रथ, वैद्य, गुप्तावर और शत्रुके राज्यके भागको जाननेवाले द्रुम] छद्म प्रकारकी सेनाओंको लेकर ये बिजयके लिये चल रहे ॥२६॥ जैसे मन्दरा चलेसे मण्डे समग्र धीरसागरकी सहरोकी चक्षुषती हुई सबको फुहारें बिष्णु भगवान्के ऊपर बरस रही थी वैसे ही मगरणी बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंने बिजय-यात्राके लिये जाते हुए रघुके ऊपर घातकी सीलें बुरसाई ॥ २७ ॥ इन्द्रके समान प्रतापी राजा रघु पहले दिग्बिजयके लिये पूर्वकी ओर चले । यानु सगनेसे सेनाओं को ऋद्धिर्वा फरफरा रही थी वे मानो शत्रुओंको जंगली उठा-उठाकर डाट रही थी ॥ २८ ॥ रघुके रथोंके चलनेसे जो धूल ऊपर उठी उसने आकाशको पृथ्वी बना दिया । इधर पृथ्वीपर चलती हुई सेनाके जाले-जाले हाथी बादल-जैसे लग रहे थे जिससे पृथ्वी भी आकाश जैसी लगने लगी थी ॥२९॥ [रघुना प्रताप इतना अधिक था कि सेनाके पहुँचनेसे पहले ही शत्रु काँप

प्रतापोऽग्रे ततः शब्दः परागस्तदनन्तरम् ।
ययौ पारश्चद्रथादीति चतुःस्कन्धेव सा चमूः ॥३०॥
मरुष्टृगान्युदम्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः ।
विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमच्चाचकार सः ॥३१॥
स सेनां महतीं कर्षन्पूर्वसागरगामिनीम् ।
वभौ हरजटाभ्रष्टां गङ्गामिव भगीरथः ॥३२॥
त्याजितैः फलमुत्प्राप्तैर्भग्नैश्च बहुधा नृपैः ।
तस्यासीदुल्लस्यो मार्गः पादपैरिव दन्तिनः ॥३३॥
पौरस्त्यानेवमाक्रमेस्तांस्ताञ्जनपदाक्षयी
प्राप तालीवनरयाममुपकण्ठं महोदधेः ॥३४॥
अनभ्राणां समुद्रतुस्तस्मात्सिन्धुरयादिव ।
आत्मा संरचितः सुप्रैर्धृतिमाश्रित्य वैतसीम् ॥३५॥
वह्नानुत्प्राय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान् ।
निचरान जयस्तम्भान्नाङ्गास्रोतोन्तरेषु सः ॥३६॥

जाते थे ।] इस प्रकार भागे-भागें उनका प्रवाप चलता था, पीछे उनकी सेनाका कोलाहल सुनाई पड़ता था, राम धूल उड़ती दिखाई देती थी और सबसे पीछे रथ आदिकी सेना चली आ रही थी मानो रघुवी सेना इस प्रकारके चार भागोंमें बँटी हुई चला रही थी ॥३०॥ रघुके पास ऐसे साधन थे कि मरुभूमिमें भी जलवा पायाई वहने लगी, गहरी नदियोंपर पुल बँध गए और घने जंगलों में घुले मार्ग बन गए ॥३१॥ अपनी बिम्बास सेनाके साथ जब वे पूर्वी समुद्रकी ओर जा रहे थे उस समय वे ऐसे लग रहे थे मानो लकड़जीवी जटासे भिक्की हुई गंगाजीकी साथ लिए हुए भगीरथजी [पूर्वी समुद्रकी ओर] चले जा रहे हों ॥३२॥ जैसे कोई बलवान् जंगली हाथी किसी वृक्षको पकड़ा मारकर छोड़ देता है, किसीको उखाड़ फेंकता है और किसीको तोड़ देता है वैसे ही रघुमें भी किसी राजासे बर लेकर उसे छोड़ दिया, किसीका राज्य उखाड़ फेंका और किसीको सखाईमें ध्वस्त कर डाला । इस प्रकार शत्रुओंको नाश करके उन्होंने अपने भागके सब रीढ़ें दूर कर डाली ॥३३॥ विजयी राजा रघु पूर्वी राज्योंको जीतते हुए उस समुद्रके किनारे पहुँचे जो तटपर पड़े हुए आग्नेय वृक्षोंकी छाया पड़नेसे काला दिखाई पड़ रहा था ॥३४॥ जैसे वैतकी साखाएँ नदीकी पारामें झुककर खड़ी रह जाती हैं वैसेही सुहृद् देशके राजाओंमें अभिमानियोंको उखाड़ फेंकनेवाले रघुकी महीनता चुपचाप काम दबाकर मान ली और अपने प्रणु बचा लिए ॥३५॥ फिर सेनानायक रघुने उन बगानी राजाओंको जानकर हारया जो बलसेनासेकर लड़नेमाए थे, उन्हें जीतकर रघुने गङ्गासागर के द्वीपोंमें अपने विजयका झंडा गाड़ दिया ॥३६॥ [जैसे एक सेतसे उखाड़ उखाड़कर दूसरे

आपादपन्नप्रणता- कलमा इव ते रघुम् ।
 फलैः संवर्धयामासुस्त्वातप्रतिरोपिता ॥३७॥
 स तीर्त्वा कपिशां सैन्यैर्वद्वदिरदसेतुभिः ।
 उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखो ययौ ॥३८॥
 स प्रतापं महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीर्त्वा न्यवेशयत् ।
 अङ्गुशं द्दिरदस्येव यन्ता गम्भीरवेदिनः ॥३९॥
 प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तमस्त्रैर्गजसाधनः ।
 पचच्छेदोपतं शक्रं शिलावर्षाव पर्यतः ॥४०॥
 द्विषां विषम काकुत्स्थस्तत्र नाराचदुर्दिनम् ।
 सन्मङ्गलस्नात इव प्रतिपेदे जयश्रियम् ॥४१॥
 ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचिताऽऽपानभूमयः ।
 नारिकेलसर्व योधाः शात्रवं च पपुर्पशः ॥४२॥
 गृहीतप्रतिमुक्तस्य स घर्मविलयी नृपः ।
 श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु भेदिनीम् ॥४३॥

सेतुमें ले जाकर रोपते हुए] मानके पीछे किशनका घर फलते भर देते हैं वैसे ही रघुने उन राजाओंकी फिर राजपर बैठा दिया जो उनके परोपर आगर गिर पड़े थे और जिन्होंने बहुतसा धनधान्य मेटमें देकर रघुका राज्यकोष बढ़ाया था ॥३७॥ बहूति बलकर रघुने हाथियोंका पुल बनाकर अपनी पूरी सेनाको कपिष्ठा नदीसे पार कर दिया । वहाँ उड़ीसाके राजाओंने सपीनता तो स्वीकार की ही साथही मागे वा मार्ग भी बताया और बलिङ्ग देश जीतनेके लिये रघु मागे बड़े गए ॥३८॥ जैसे मतवाले हाथीके माथेमें हाथीबाण प्रकुल गडगता है वैसे ही रघुने भी महेन्द्र पर्वत पर पहुँचकर उसकी चोटीपर खपना पड़ाव जमा दिया ॥३९॥ जैसे पत्थर बरसानेवाले पहाड़ने पत्थर बरसाकर पर्वतोंके पक्ष काटनेवाले इन्द्रका सामना किया था वैसे ही बलिङ्ग-नरोंने हाथियोंकी सेना लेकर और धरम बरसाकर रघुका सामना किया ॥४०॥ जैसे तोपोंके जलसे स्नान कराकर राजाओंका राज्यभोग होता है और उन्हें राज्य-सधमी मिलती है वैसे ही रघुने भी शत्रुओंके बाणोंकी वपसि स्नान करके विजय पाई ॥४१॥ लड़ाई हो चुकनेपर रघुके और सैनिकोंने महेन्द्र पर्वत-पर मानके पक्षे बिछाकर पदिरासव बनाया और वहाँ बाणिलक्ष्मी पदिरासे साधु-साध मानो शत्रुओं का पक्ष भी पी गए ॥४२॥ राजा रघु जो घर्म-बुट करते थे इसलिये उन्होंने महेन्द्र पर्वतके राजाओं जन्मी तो बना लिया पर जब उसने इनकी शयीनता स्वीकार करनी तब उसे छोड़ भी दिया । इस प्रकार उन्होंने महेन्द्रके राजाजी "राज्यभी तो लेनी पर राज्य उन्हींको लौटा दिया ॥४३॥ पूर्व दिशाको जीतकर निम्नवी रघु समुद्रके उस तट पर होते हुए दक्षिण दिशाको गए जिसपर पकी हुई

ततो वेलातटेनैव फलवत्पूगमालिना ।
 अगस्त्याचारितामाशामनाशास्यजयो ययौ ॥४४॥
 स सैन्यपरिमोगेण गजदानसुगन्धिना ।
 कावेरीं सरितां पत्युः शङ्कनीयामिवाकरोत् ॥४५॥
 बलैरघ्युपितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वनः ।
 मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यकाः ॥४६॥
 ससञ्जुरस्वक्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः ।
 तुल्यगन्धिषु मनेमकटेषु फलरेणवः ॥४७॥
 भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम् ।
 नास्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीच्छेदिनामपि ॥४८॥
 दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।
 तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विपेहिरे ॥४९॥
 ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः ।
 ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव संचितम् ॥५०॥
 स निर्निश्य यथाकाम तटेष्वालीनचन्दनौ ।
 स्तनाविन दिशस्तस्याः शैलौ मलयदुर्दुरौ ॥५१॥

गुप्पारियोके पैठ लगे हुए थे ॥४४॥ जब वे कावेरीके तटपर पहुँचे तब राजा रघुके सैनिकोंने जी भर
 मह्ना गहाकर जलको मथ डाला । फिर हाथियोंके महानेसे तबकी कर्तली गन्ध भी जलमे घाते
 लगी । प्रचार कावेरी नदीकी उन्होंने ऐसी दुर्गति करदी कि जब वह अपने पति समुद्रके पास जाय
 तो उधे उसके चरित्रमे सन्देह होने लगे ॥४५॥ वहाँसे चलते चलते वे बहुत दूर निकल गए और बिजय
 चाहते बाते रघुके सैनिक मलयाचलकी उस तराईमे जा उतरे जहाँ कावेरी भिचकी भाडियोम हरे हरे
 सुगन्धे द्रवर उपर उठ रहे थे ॥४६॥ वहाँ पृथ्वीपर गिरे हुए सौंके बीज पौडोको टापोसे पिसकर
 वायुके सहाये हाथियोंके उन मालो पर चिपक गए जहाँ उन्हीके गन्ध जैसी मदकी गन्ध निकल रही
 थी ॥४७॥ सौपोके रावा लिपटे रहतेसे वहलके चन्दनके पेडोके चारो ओर गहरी रेखाएँ बन गईं
 थी जिनमे बँधे हुए रस्सोको वे हाथी भी न तोड़ सके जो परके रस्सोको भटनेसे तोड़ डालते
 थे ॥४८॥ दक्षिण दिशामे जानेपर महाप्रतापी सूर्यवा तेज भी मन्द पड़ जाता है पर रघुना तेज
 इतना प्रबल था कि वहलके पाण्ड्य राजा भी इनके सामने न ठहर सके ॥४९॥ दक्षिणके पाण्ड्य राजामोंने
 ताम्रपर्णी और समुद्रके लगभगमे जितने गोखी बटोरे थे वे सब उन्होंने रघुको ऐसे सौंप दिए मानो
 अपना बटोरा हुमा यरा ही उन्हें दे जाता हो ॥५०॥ उहे भीतवर महाप्रतापी रघुने उन मलय
 और दुर्दुर नामकी पहाडियोंपर बहुत दिनों तक पड़ाव डाला जिनपर चन्दनके पेड लगे थे और जो
 ऐसे बिसाई पड़ते थे मानो चन्दन रागे हुए दक्षिण दिशामे दो स्तन हो ॥५१॥ फिर वे सह्यकी

असह्यविक्रमः सह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता ।
 नितम्बमिव मेदिन्या सस्तांशुकमलङ्घयत् ॥५२॥
 तस्यानीकैर्विसर्पद्भिरपरान्तजयोद्यतैः ।
 रामास्रोत्सारितोऽप्यासीत्सह्यलग्न इवार्शवः ॥५३॥
 भयोत्सृष्टविभूपाणां तेन केरलयोपिताम् ।
 अलकेषु चमूरेणुरचूर्णप्रतिनिधीकृतः ॥५४॥
 मुरलामारुतोद्धूतमगमत्कैतकं रजः ।
 तद्योधवारवाणानामयत्नपटवासताम् ॥५५॥
 अम्यभूयत बाहानां चरसां गात्रशिञ्जितैः ।
 वर्मभिः पथनोद्धूतराजतालीवनध्वनिः ॥५६॥
 सर्जरीस्कन्धनद्धानां मदोद्गारसुगन्धिषु ।
 कटेषु करिणां पेतुः पुंतागेभ्यः शिलीमुखाः ॥५७॥
 अवकाशं किलोदन्वान्नामापाम्यर्थितो ददौ ।
 अपरान्तमहीपालव्याजेन रघवे करम् ॥५८॥
 मत्तेभरदनोत्कीर्णव्यक्तविक्रमलक्षणम् ।
 त्रिकूटमेव तत्रोच्चैर्जयस्तम्भं चकार सः ॥५९॥

उस पहाड़ीको पार करके आगे बढ़े जो समुद्रके दूर हट जानेसे ऐसी दिखाई पड़ती थी मानी वह
 वृष्योमा नितम्ब ही जिस परसे कपड़ा हट गया हो ॥५२॥ यद्यपि परधुरामने मगने करतेसे ही
 समुद्रको सह्य पर्वतसे हटा दिया था फिर भी उसके पाससे जाती हुई रघुकी सेना ऐसी लगती थी
 तनी समुद्र फिर सहायिके पास ही लहरें से रहा हो ॥५३॥ रघुके भयसे जो कंपल देशनी स्त्रियाँ
 तान-झिगार छोडकर मरते भाग खड़ी हुई थी उनके बालोपर रघुकी सेनाके चलनेसे उठी हुई जो
 ब्रूल बैठ गई थी वह ऐसी जगड़ी थी मानो कस्तूरीका चूरा लगा हुआ हो ॥५४॥ मुरला नदीकी
 शोरसे आनेवाले वायुके कारण जो कंवरेके फूलोकी मूल उड़ रही थी वह संनिपोंके खच्चो पर बैठ-
 कर दिना मज्जने ही सुगन्धिन चूर्णका काम देने लगी ॥५५॥ चलते समय घोडोंके शरीरपरने खच्च
 ऐसे जैसे स्वरसे खनखाना रहे थे कि वायुके चलनेसे जो बड़े-बड़े ताडके पेडोपेसे ध्वनि निकल रही थी
 वह भी उसके आगे फोकी पट गई ॥५६॥ नागकेसरके फूलोपर बैठे हुए घोरोपो जेतोही खड्गकी
 टालोसे बंधे हुए हाथियोके बपोवोसे टपकते हुए मदनी गन्ध मिली कि वे जन्हे छोडकर इनपर ही
 आ दूटे ॥५७॥ पच्छिमके राजाघोने जो रघुके अपीन होवर उन्हे कर दिया था वह मानी जन्हेने
 नहीं बरसु उस प्रतापी समुद्रने ही कर दिया जिसने बहुत प्रार्थना करनेपर परधुरामजीको थोड़ी सी
 भूमि दी थी ॥५८॥ वहाँ रघुके भतवाले हाथियोने अपने दाँतोकी चोटोसे त्रिकूट पर्वतपर जो रेखाएँ

पारसीकांस्ततो 'जेतुं' प्रतस्थे स्थलवर्त्मना ।
 इन्द्रियाख्यानिव रिपूँस्तत्त्वज्ञानेन संयमी ॥६०॥
 यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः ।
 बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः ॥६१॥
 संग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्यैरस्वसाधनैः ।
 शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रत्नस्यभूत् ॥६२॥
 भण्णपवर्जितैस्तेषां शिरोमि रमश्रुत्सैर्महीम् ।
 तस्तार सरधान्याप्तैः सचौद्रपटलैरिव ॥६३॥
 अपनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तं शरशं ययुः ।
 प्रशिपात्प्रतीकारः सरम्भो हि महात्मनाम् ॥६४॥
 विनयन्ते स्म तद्यौधा मधुमिर्विजयश्रमम् ।
 ध्यास्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु ॥६५॥
 ततः प्रतस्थे कौबैरीं मास्यानिव रघुर्दिशम् ।
 शरैरुत्तरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन्मसानिव ॥६६॥

यनादी भी उनसे वह पर्वत ऐसा लगने लगा मानो वह रघुकी विजयका स्मरण दिजगिवाला जय-
 स्तम्भ दृष्ट हो जिसपर रघुकी विजय-कथा मिली, हुई हो ॥६०॥ जैसे कोई मोती इन्द्रिय-रूपी
 शत्रुओंको जीतनेके लिये तत्त्वज्ञानका सहारा लेता है वैसे ही रघुने भी पारसी राजाओंको जीतनेके
 लिये स्थल-मार्ग पकड़ा ॥६०॥ जैसे असमयमें उठे हुए बादलोंसे प्रभातकी धूपमें खिले हुए
 कमलोंकी चमक जाती रहती है वैसे ही रघुके अचावन शाक्रमणसे मदिरासे लाल गालों वाली
 पवनियोंके मुख कमल मुखझ गए ॥६१॥ वहाँ पच्छिम देशके पुंड्रसवार राजाओं से रघुकी
 पतघोर लड़ाई हुई । सेनाके बचनेसे इतनी घुल उठी कि आठ पाँच कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता दो,
 केवल घनुषकी टख्खारसे ही सैनिक लोग शत्रुको पहचान पाते थे ॥६२॥ मधुमक्षियोंसे भरे हुए
 छत्तेके समान बाढ़ियोंवाले यवनोंके चिरोको मत्स्य नामके बाणोंसे काट काट कर रघुने पृथ्वी पाट
 दी ॥६३॥ उनमेंसे जो जीते बच गए उन्होंने अपने लोहेके टोप सतार उतारकर रघुके चरणोंमें
 रख दिए क्योंकि महापुरुषात्मी कृपा प्राप्त करनेका यही उपाय है कि उनको शरणमें पहुँच जाया
 जाय ॥६४॥ रघुके सैनिक दासनी सताओते चिरी हुई पृथ्वीपर युद्धवती मृगछानाएँ बिछाकर
 जंगलसे बैठ गए घोर मदिरा पी पीकर नयाईकी धवावट मिटाने लगे ॥६५॥ जैसे सूर्य अपनी तीखी
 किरणोंसे पृथ्वीका जल खींचनेके लिये उत्तरकी घोर घूम बाता है वैसे ही रघु भी उत्तरके राजाओंको
 जीतनेके लिये उत्तर घूम पड़े ॥६६॥ सिन्धु नदीके तटपर पहुँचकर रघुके पीछे, वहाँकी रेतोंमें

विनीताष्वभमास्तस्त सिन्धुतीरविचेष्टनैः ।
 दुधुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुङ्कुमकेसराम् ॥६७॥
 तत्र हृणावरोधानां मर्तुषु व्यक्तविक्रमम् ।
 कपोलपाटलादेशि वभूव रघुचेष्टितम् ॥६८॥
 काम्बोजाः समरे सोढंस्तस्य वीर्यमनीश्वराः ।
 गजालानपरिक्रिष्टैरचोटैः सार्धमानताः ॥६९॥
 तेषां सदस्वभूपिष्ठास्तुङ्गा द्रविणराशयः ।
 उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोशलेश्वरम् ॥७०॥
 ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहास्वसाधनः ।
 वर्धयन्निव तत्कृटानुद्धूतैर्धातुरेषुभिः ॥७१॥
 शशंस तुल्यसच्चानां सैन्यघोषेऽप्यसंभ्रमम् ।
 गुहाशयानां सिंहानां परिगृच्यायलोकितम् ॥७२॥
 भूर्जेषु मर्मरीभृताः कीचकप्यनिहंतवः ।
 गङ्गाशीकरियो मार्गे मस्तस्तं सिपेविरे ॥७३॥
 विशश्रमुर्नमेरुणां छायास्वध्यास्य सैनिकाः ।
 दृषदो वासितोत्सङ्गा निपत्यमृगनाभिभः ॥७४॥

सरलासक्त मातङ्गग्रैवेयस्फुरितत्विषः ।
 आसन्नोपधयो नेतुर्नक्तमस्नेहदीपिकाः ॥७५॥
 तस्योत्सृष्टनिवासेषु कण्ठरज्जुचतुस्त्वचः ।
 गजवर्ष्म किरातेभ्यः शशंसुर्देवदारवः ॥७६॥
 तत्र जन्यं रघवोरं पर्वतीयैर्गर्भैरभूत् ।
 नाराचचेपणीयाश्मनिष्पेपोत्पतितानलम् ॥७७॥
 शरैरुत्सवसंकेतान्स कृत्वा विस्तोत्सवान् ।
 जयोदाहरणं बाह्योर्गाययामास किन्नरान् ॥७८॥
 परस्परेश्च विज्ञातस्तेषूपायनपाणिषु ।
 राज्ञा हिमवतः सारो राज्ञः सारो हिमाद्रिणा ॥७९॥
 तत्राक्षोभ्यं यशोराशिं निवेश्यावरोह सः ।
 पौलस्त्यतुलितस्याद्रेरादधान इव हियम् ॥८०॥
 चक्रम्पे तीर्णलौहित्ये तस्मिन्प्राग्ज्योतिषेश्वरः ।
 तद्गजालानतां प्राप्ते सह फालागुरुद्रुमैः ॥८१॥
 न प्रसेहे स रुद्रार्कमधारावर्षदुर्दिनम् ।
 रथवर्त्मरज्जोऽप्यस्य कुत एव पताकिनीम् ॥८२॥

यो सफल पर्वी यी के रतकी चमकनेवासी बूटियाक प्रकारसे चमचमा उठती थी और इस प्रका-
 रण बूटियोने रघुने लिये बिना लेसके ही दीपक जला दिए ॥७५॥ जब रघुने बहाल भवती सेनाप-
 त्पक्ष हटा लिया तब यहाँ देवदारवी ऊँची-ऊँची शालाग्रपर हाथियोने गलेकी साँवला से बर्ग
 रेशाप्रोकी देलकर ही जगली किरातीने रघुके हाथियोकी ऊँचाईका अनुमान कर लिया ॥७६॥ पहाड़
 सेनामोसे रघुकी सेनानी घनघोर लड़ाई हुई । रघुकी सेना बाएँ चलाती थी और पहाड़ी लो-
 पट्टपर बसाती थी । इस प्रकार जब बाँहें और पत्थरकी चित्तत हों जाती थी तो कभी-कभी प्रा-
 उत्पन्न हो जाया करती थी ॥७७॥ रघुने घुर्घाघार बाएँ बरसानर उरसव सनेस मानव पहाडियोने
 धक्के छुटा दिए । इसपर चिन्नरोने मिलकर रघुकी कीरतावे बटलसे पीत गए ॥७८॥ पहाड़
 राजाप्रोने रत्नो के डेर रघुको भेंटमे दिए जिसे देखकर रघुने हिमालयके पतुल घनना अनुमान किया
 और हिमालयने भी मुझमे रघुके पराक्रमका अनुमान कर लिया ॥७९॥ हिमालयपर भवता नन्दा
 गाढवर प्रागे कंसाएकी ओर न बटकर रघु लौट पडे । इससे बंलास परंतकी इव बाढकी लग्ना हुई
 कि एव बार रापएने मुझे क्या उठा लिया कि सभी मुझे हारा हुआ समझने लगे ॥८०॥ सोहित्य
 नदीकी पार करके रघु प्राग्ज्योतिष या प्रसममे जा पहुँचे । वहाँ हाथियोने बैचनेसे ऊँचे शालागुरके
 पेड बँपते थे वैसे ही, प्राग्ज्योतिषके राजा भी रघुके नयसे बँपने लगे ॥८१॥ बहाने राजने
 देला कि बादलोके बिना ही बेबल रघुकी सेनानी घूलसे शून्य दिए गया । अब इस घूलसे ही यह

तमीशः कामरूपाणामत्पाखण्डलविक्रमम् ।
 भेजे मित्रकटैर्नागैरन्यानुपसरोध यैः ॥८३॥
 कामरूपेस्वरस्तस्य हेमशीठाधिदेवताम् ।
 रत्नपुष्पोपहारेण च्छायामानर्च पादयो ॥८४॥
 इति जित्वा दिशो विष्णुर्न्यवर्तत रथोद्धतम् ।
 रजो विश्रामयन्नाह्वां ह्यत्रशून्येपुमौलिः ॥८५॥
 स विश्वजितमाजह यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम् ।
 आदानं हि विसर्गाय सतां चारिमुचामिव ॥८६॥
 सत्त्रान्ते सचिवसखः पुरस्त्रिपाभिर्गुर्वीभिः शमितपराजयव्यलीकान् ।
 काकुत्स्थश्चिरविरहोत्सुकाधरो घात्राजन्त्यान्स्वपुरनिवृत्तयेऽनुमेने ॥८७॥
 ते रेखाध्वजकुलिशातपत्रचिह्नं सभाजश्वरख्युगं प्रसादलभ्यम् ।
 प्रस्थानप्रणतिभिरङ्गुलीषु चक्रमौलिस्रक्व्युतमकरन्दरेणुगौरम ॥८८॥
 इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
 रघुविजयो नाम चतुर्थ सर्गः ॥

बहुत बबरा गया तो फिर सेनाछे लडता ही गया ॥८२॥ तब यत्नके राजाने जिन हाथियोंको
 तेश्वर बड़े-बड़े पशुओंको हरा दिया था वे ही हाथी उसने इन्द्रसे भी अधिक पराक्रमी रघुको
 भेटने दे गये ॥८३॥ और जैसे कोई भक्त फूल-माला आदिसे भक्तिपूर्वक देवताकी पूजा करता
 है वैसे ही कामरूपने करेजने पाँच-सीदेपर पड़ी हुई रघुने चरणोंकी छायाका रत्नसे पूजा ॥८४॥
 इस प्रकार विजयी रघु जब सारी पृथ्वीको जीतकर अपनी राजधानी मगधवासीको लौटने लगे तो उनके
 अपने पहिलेसे चली हुई धूल पीछे पीछे चलनेवाले हारे हुए राजाओंके ध्वज रहित मुकुटोंपर बैठती चलती
 थी ॥८५॥ दिग्विजयसे लौटकर रघुने विश्वविज नामका यज्ञ किया जिससे उन्होंने अपनी सभी
 सम्पत्ति दक्षिणामे दे दी । जैसे बादल पृथ्वीसे जल लेकर फिर पृथ्वीपर बरसा देते हैं वैसे ही महारत्ना
 लोग भी उनके यज्ञ करनेके लिये ही इकट्ठा किये हैं ॥८६॥ यज्ञ समाप्त हो चुकनेपर रघुने और
 उनके मन्त्रियोंने हारे हुए राजाओंका बड़ा सत्कार किया और उनके गवमे हारनेकी जो लाज थी
 उसे दूर कर दिया । फिर अपनी रानियाँ बहुत दिनसे बिछड़े हुए उन राजाओंको उन्होंने अपने
 अपने देशोंमें जानेकी आज्ञा दे दी ॥ ८७ ॥ जाते समय उन राजाओंने रघुके उन चरणोंमें भुक्तकर
 प्रणाम किया जिसपर ध्वज, बख और छत्र आदिनी रेखाएँ बनी हुई थी । उस समय उन राजाओंके
 सिरकी मात्तामोसे जो पराग गिर रहा था उससे रघुके चरणोंकी जेबलिर्षा मोरी हो गई ॥८८॥

महान्वि कालीदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमे रघु विजय
 नामक चौथा सर्ग समाप्त हुआ ।

॥ पञ्चमः सर्गः ॥

तमप्यरे विश्वजिति चितीशं निःशेषविश्राणितकोपजातम् ।
 उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः ॥१॥
 स मृण्मये पीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निघायार्घ्यमनर्घशीलः ।
 श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः ॥२॥
 तमर्चयित्वा विधिवद्विधिज्ञस्तपोधनं मानघनाग्रयायी ।
 निशांपतिर्विष्टरभाजमारात्कृताञ्जलिः कृत्यविदित्युवाच ॥३॥
 अप्यग्रणीर्मन्त्र कृतमृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते ।
 यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः ॥४॥
 कायेन वाचा मनसापि शश्वद्यत्संमृतं वासवचैर्यलोपि ।
 आपाद्यते न ध्ययमन्तरायैः कचिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत् ॥५॥
 आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः संघर्षितानां सुतनिर्निशेषम् ।
 कच्चिन्नवाग्वादिरुपप्लवो वः श्रमच्छ्रुदामाश्रमपादपानाम् ॥६॥
 क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु ।
 तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला कचिन्मृगीशमनघा प्रसूति ॥७॥

पाचवीं सर्ग

जिस समय रघु विश्वजित् यज्ञने मगना सब कुछ दान किए बैठे थे उसी समय परतन्तुने
 शिष्य कौत्स ऋषि गुरुदक्षिणार्थके सिधे घन माँगनेको उनके पास आ पहुँचे ॥१॥ प्रतिधिका रात्कार
 करनेवाले, घत्सना शीलवान् और यशस्वी रघु मिट्टीका पान लेकर विद्वान् ऋषिभिः [कौत्स ऋषि]
 की पूजा करने चले क्योंकि छोटे चाँदीके पात्र तो उन्होंने सब दान ही कर डाले थे ॥ २ ॥ तपस्वी
 औरस कुशाग्र बुद्धिमान्मनसंगर बैठ हुए थे । शास्त्रके जाननेवाले सम्माननीय रघुने वही विधिसे उनकी पूजा
 की और हाथ जोड़कर उनसे कहा—॥३॥ हे बुद्धिमान् ! जैसे सूर्य अपने प्रकाशसे सोए हुए सत्तारको
 जगा देता है वैसेही जिस मुखने आपकी ज्ञानकी ज्योति देकर जगाया है और जो मन्त्र दृष्टा ऋषिमे
 सर्वश्रेष्ठ हैं वे आपके गुरु कुशलतासे तो हैं न ॥४॥ उन्होंने शरीर, मन और वचन तीनों
 प्रकारका जो कठिन तप करना प्रारम्भ किया था और जिसे देखकर दन्त भी खबर उठे थे, वह तप तो
 ठीक चल रहा है न ॥५॥ आप लोगो ने आश्रमके जिन वृक्षोंके चानिने बाँधकर उन्हें पुत्रके
 समान जतनसे पाला है और जिनसे पशुबन्धको छाया मिलती है उन वृक्षोंके आधीपानीसे कोई हानि
 तो नहीं पहुँची है ॥६॥ हरिणियोंने वे छोटे-छोटे छोले तो कुशलसे हैं न, जिन्हें ऋषि लोग
 बड़े प्यारसे गोदीमें बैठाकर खिलाते हैं, जिनकी नामिका नाव ऋषियोंकी मोक्ष ही सूखकर गिरता
 है और जिन्हें ऋषि लोग अपने सिधे बटोरी हुई कुशा पत्तानेसे भी नहीं टोकते ॥७॥

निर्वर्त्यते यैर्निषमाभिषेको येभ्यो निवापाञ्जलयः पितृशाम् ।
 तान्युञ्ज्यप्राक्षितसैकतानि शिवानि वस्तीर्यजलानि कञ्चित् ॥८॥
 नीवारपाक्रादि कर्हगरीरैरामृश्यते जानपदैर्न कञ्चित् ।
 कालोपपन्नातिथिकल्पभावं कन्यं शरीरस्थितिसाधनं यः ॥९॥
 अपि श्रतन्नेन महर्षिणा त्वं सम्पत्विनीयानुमतो गृहाय ।
 कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारचममाश्रमं ते ॥१०॥
 त्वार्हतो नाभिगमेन हृष्टं मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे ।
 अप्याह्वयाशासितुरात्मना वा प्राप्तोऽसि संभावयितुं वनान्माम् ॥११॥
 इत्यर्घ्यपात्रानुमितन्ययस्य रघोरुदारामपि गां निशम्य ।
 स्वार्थोपपत्तिं प्रति दुर्बलाशस्तमित्यवोचद्वरतन्तुशिष्यः ॥१२॥
 सर्वत्र नो वार्तमवेहि राजन्नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम् ।
 त्वयं तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा ॥१३॥
 भक्तिः ऽतीक्ष्वेषु कुलोचिता ते पूर्वान्महाभाग तपातिशये ।
 व्यतीतकालस्त्वहमभ्युपेतस्त्वामर्थिभावादिति मे विपादः ॥१४॥

हा, जन नवियोगा बल तो ठीक है न, जिससे आप लोग प्रतिदिन स्नान, सन्ध्या, उपवास आदि करते हैं और जिनकी रैतीपर आप लोग अपने चुने हुए धन्यका छठा भाग राजाका भग्न समझकर रख छोड़ते हैं ॥८॥ जिसकी जिस धन्य और जिन जलसे आप लोग कतिपियोगा एतवार करते हैं और जिन्हें खाकर ही आप लोग रह जाते हैं उन्हें भास-भासके गाँवों में पशु तो नहीं मानकर चर जाते ॥९॥ क्या ऋषिने आपकी विद्वत्तासे प्रसन्न होकर आपको गृहस्थ बन जानेकी आज्ञा दे दी है, क्योंकि आपकी इतना मयत्ता भी हो गई है कि आप विवाह करें और सबका भला करने-वाले गृहस्थाश्रममें प्रवेश करें ॥१०॥ आप जैसे पूजनीय महात्माके जाने भरसे पैर जो नहीं भरा, मुझे कुछ सेवा करनेकी आज्ञा भी सोजिए और यह बताइए कि आपने केवल अपने मुण्डाकी आज्ञासे ही मही आपकी मुझे वृत्तांत किआ है या अपनी इच्छासे ही आपने वृत्तांत की है ॥११॥ नौरात्रे ध्यान से रघुवी उदार भावें सुनी पर देखा कि उनका हाथमें केवल बिट्टीका पात्र बचा है । उन्होंने समझ लिया कि रघुने पात्र एवं चौकी भी नहीं है । उनका मुँह उतर गया और उन्होंने समझ लिया कि यहाँ हमारा नाम नहीं कनेषा । यह सोचकर भरतन्तुने शिष्य नीला बोले— ॥१२॥ 'हे राजन् ।' आपके राज्यमें हमें सब प्रकारका सुख है । जैसे सूर्यके खड़े हुए धँवेरा नहीं उड़र पाता वैसे ही आपने राजा रहनेपर प्रजापति दुष्टता नाम भी नहीं है ॥१३॥ हे भाग्यशाली ! बड़ाही पूजा करता आपके बचना ही धर्म है और आप तो इस बातमें अपने पूर्वजोंसे भी आपके बड़े हुए हैं । मैं आपके पाग कुछ माने आपा था पर मैं समझता हूँ कि मुझे मानेमें कुछ विसम्भ हो गया है, रघुवी मुझे घेर १ ॥१४॥ हे राजन् । आपने अपना सब धन अच्छे लोगोंको दे दाता है और केवल यह उरीर

शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितदिः ।
 आरण्यकोपाचफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ॥ १५ ॥
 स्थाने भवानेकनराधिपः सन्नकिञ्चनत्वं मखजं व्यनक्ति ।
 पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः ॥ १६ ॥
 तदन्यतस्तापदनन्यकार्यो गुर्वर्थमाहर्तुमह यत्तिष्ये ।
 स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्धनं नार्दति चातकोऽपि ॥ १७ ॥
 एतावदुक्त्वा प्रतियातु कामं शिष्यं महर्षेर्नृपतिर्निषिध्य ।
 किं वस्तु विद्वन्गुरवे प्रदेयं त्वया कियद्वेति तमन्वयुहक्त ॥ १८ ॥
 ततो यथावद्विहिताध्वराय तस्मै स्मयावेशविवर्जिताय ।
 यर्णाश्रमाणां गुरवे स यर्णा विचक्षणः प्रस्तुतमाचचचे ॥ १९ ॥
 समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद्गुरुदक्षिणायै ।
 स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागच्छयत्पुरस्तात् ॥ २० ॥
 निर्वन्धसंज्ञासकृपार्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्तः ।
 वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीयत्सो दश चाहरेति ॥ २१ ॥
 सोऽहं सपर्याविधिभाजनेन मत्वा भवन्तं प्रभुशब्दशेषम् ।
 अभ्युत्सहे संप्रति नोपरोद्धमल्पेतरत्वाच्छ्रुतनिष्कयस्य ॥ २२ ॥

भर आपके पास बचा है । इससे आप उस तिन्नीके पीछेकी दूँठ-जैसे रह गए हैं जिसके दाने उपलब्धियों
 ने फाड़ लिए हैं ॥ १५ ॥ चक्रवर्ती होते हुए भी यज्ञमें सब कुछ देकर खीर बरिज होकर भी आप उस
 चन्द्रमाके समान बड़े सुन्दर लग रहे हैं जिसकी सारी बलार्ध पीरे-पीरे देवताओंने पी डाली हो ॥ १६ ॥
 आपके पास तो कुछ है नहीं, इसलिये मैं अब किसी दूसरे धनीका द्वार लटलटाता हूँ क्योंकि पपीहा
 भी बिना जलवाले दादनीसे पानी नहीं माँगता । आपका कल्याण हो ॥ १७ ॥ ऐसा कहकर कीत्त
 छठवर चलने लगे । रघुने उन्हें रोका और पूछा— 'आप गुरुजीको क्या और कितना देना चाहते हैं,
 कुछ बहिए भी तो' ॥ १८ ॥ ब्रह्मचारी कीत्तने देखा कि विस्मयित् यज्ञ करनेपर भी रघुको समझाना
 पूरा नहीं गया इसलिये वर्षों और आश्रमकी रक्षा करनेवाले रघुसे उन्होंने अपने भागी बात कहनी
 प्रारम्भ की— ॥ १९ ॥ "राजन् । विद्या पद चुकनेपर मैंने गुरुजीसे कहा कि आप गुरुसे गुरु-दक्षिणा
 माँगिए । गुरुजीने कहा— मैं तुम्हारी गुरुभक्तिसे ही बहुत प्रसन्न हूँ फिर गुरु-दक्षिणा लेकर क्या
 होगा । मैंने बड़ी भक्तिसे जो उनकी सेवा की थी उसे ही उन्होंने गुरु-दक्षिणा समझ लिया था
 ॥ २० ॥ पर जब मैंने बार-बार दक्षिणा माँगनेके लिये उनसे हठ किया तो वे विगड खड़े हुये और
 मेरी दरिद्रताका विचार किए बिना ही बोल उठे—मैं तुम्हें चौदह विद्याएँ पढाई दे इसलिय मुझे
 चौदह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ लाकर दो ॥ २१ ॥ आपके हाथमें मिट्टी का पात्र देखकर ही मैं समझ गया

इत्थं द्विजेन द्विजराजकान्तिरावेदितो वेदविदां वरेण ।
 एनोनिवृत्तेन्द्रियवृत्तिरेनं जगाद भूपो जगदेकनाथः ॥२३॥
 गुर्वर्थमर्थो श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम् ।
 गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत्परीवादनावतारः ॥२४॥
 स त्वं प्रशस्तो महिते मदीये वसन्धतुर्याऽग्निरिवान्यगारे ।
 द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन्यवघते साधयितुं त्वदर्थम् ॥२५॥
 तथेपि तस्यावितथं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्संगरमग्रजन्मा ।
 गामात्तसारां रघुरप्यवेक्ष्य निष्क्रण्डुमर्थं चकमे कुयेरात् ॥२६॥
 वशिष्ठमन्त्रोच्चणजात्प्रभावादुदन्वदाकाशमहीधरेषु ।
 महत्सखस्येष वलाहकस्य गतिर्विजघ्ने न हि तद्रथस्य ॥२७॥
 अधाधिशिष्ये प्रयतः प्रदोषे रथं रघुः कल्पितशस्त्रगर्मम् ।
 सामन्तसंभावनयैव धीरः कैलासनार्थं तरसा जिगीषुः ॥२८॥
 प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै सविस्मयाः कोपगृहे निष्पत्ताः ।
 हिरण्यमयीः कोपगृहस्य मध्ये वृष्टिं शशंशुः पतितानमस्तः ॥२९॥
 तं भूपतिर्मासुरहेमराशिं लब्धं कुवेरादमियास्यमानात् ।
 दिदेश कौत्साय समस्तमेव पादं सुमेरोरिव वज्रभिन्नम् ॥३०॥

'किं भाषते वाम' 'राजा' चन्द्रको सोढवर धोर बुद्ध भी नहीं बचा है । इपर मेरी गुरु-दीक्षणा भी हतनी
 पहरी है कि मय मेरा मन ही नहीं करता कि आपसे कुछ माँगूँ ॥२३॥ जब वैदिक ब्राह्मणोंमें सर्वश्रेष्ठ
 बोलने वाला वाम चन्द्रमाने गमान सुन्दर वरम पाविय रघु बोले—॥२३॥ भाप जैसे वेदवादी
 ब्राह्मण गुरु-दीक्षणाके निम्ने हमारे वाम भाषे धीर बहुत निराग सोढवर विपत्ती दूखरेका द्वार भावे,
 यह नहीं ही गवता ॥२४॥ इनतिवे भाप हमारी यज्ञभानावे भविय । वही [गार्गाय, दाक्षिणात्य
 धोर पाण्णनीय—] वे तीन पूजनीय भविय रघाविय है । धार भी चौकी भगिने गमान पूजनीय
 होकर दो बार दिन दृष्टि, तदर्थ मैं आपकी गुरु-दीक्षणाके निम्ने कुछ न कुछ जगन वरमान ॥२५॥
 पर सुन्दर बीज्य बडे प्रमत्त हुए धीर उन्होंने चन्द्रवादी रघुकी बात मानली । रघुने भी देखा कि
 पूर्वोपर भी धन है नहीं, इसनिवे उन्होंने निश्चय किया कि कुवेरने ही धन दिया जाल ॥२६॥
 भेगे पावने कोराने भेग करी भी जा सकता है भेगे ही वसिष्ठजीके मन्त्रोवे पवित्र किया हुआ
 रघुका रथ भी समुद्र, आकाश धोर सर्वत्र करी भी आ-जा सकता था ॥२७॥ रघुने सोचा कि 'उगी
 रघावर परावर मैं धरें' 'तही भगवान्ताके वंशधरने' 'नामी बुद्धको द्रष्टेके' 'राजाके' 'ममान गान् मे' 'नीन
 नृदा । पर निरावर करने के नहीं होने ही प्रमत्त रूप टोक करने प्रमत्त ही 'आवर भी रहे ॥२८॥
 दूरी दिन लड़ा भेगे ही रघु न लोको हुए बडे ही राजकोरने रघुनेके आकर पर धरा-धरा
 लनापर दिया कि कोरने बहुत देर तक कोरनेकी बर्गी होती रही है ॥२९॥ [यम पर दूर भी दि]

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसञ्चौ ।
 गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥३१॥
 अथोष्ट्रवामीशतचाहितार्थं प्रजेश्वरं प्रीतमना महर्षिः ।
 स्पृशन्करेणानतपूर्वकायं संग्रस्थितो वाचमुवाच कौत्सः ॥३२॥
 किमत्र चित्रं यदिकामस्र्मूर्ध्वे स्थितस्याधिपतेः प्रजानाम् ।
 अचिन्तनीयस्तु तव प्रभावो मनीषितं दूरपि येन दुग्धा ॥३३॥
 आशास्यमन्यत्पुनरुक्तभूतं श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुपस्ते ।
 पुत्रं लभस्यात्मगुणानुरूपं भवन्तमीदृजं भवतः पितेव ॥३४॥
 इत्थं प्रयुज्याशिषमग्रजन्मा राज्ञे प्रतीयाय गुरोः सकाशम् ।
 राजापि लेभे सुतमाशु तस्मादालोकमर्कादिव जीवलोक ॥३५॥
 ब्राह्मे मुहूर्ते क्लिप्त तस्य देवी कुमाररूपं सुपुत्रे कुमारम् ।
 अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमर्जं चकार ॥३६॥

रघुकी बढाई की बात कानमे पड़ेही फुेरने राखी ही सोनेकी कर्पा कर दी थी । वह सोनेका डेर ऐसा चमक रहा था जैसे किसीने बज्जरो सुमेरु पर्वतका एक टुकड़ा काटकर गिरा दिया हो । रघुने यह सारा सोना कौत्सको भेंट कर दिया ॥३०॥ [उत्ते देखकर कौत्सने कहा—मैं इतना सोना लेकर क्या करूँगा । मुझे तो गुरु-दक्षिणा चुकाने भरकी धन चाहिए । इसपर रघु बोले—यह नहीं हो सकता । यह सारा धन आप ही ने जाइये ।] अयोध्या-निवासिबोने इन दोनोंकी बड़ी प्रशंसा की क्योंकि उन दोनों ने एक तो इतना उन्तोपी था कि आवश्यकतासे अधिक एक कौडी लेनेको उद्यत नहीं था और दूसरा इतना दया दाता था कि मौखिक अधिक धन देनेपर तुला हुआ था ॥३१॥ रघुने उस सारे धनको सैकड़ों ऊँटों और खच्चरोंपर लदवा दिया और जब कौत्स चलने लगे तब राजाने बड़ी नम्रतासे उन्हें प्रणाम किया । कौत्स बड़े प्रसन्न थे और उन्होंने राजाके तिर-पर हाथ भरते हुए कहा ॥३२॥ धर्मात्मा राजाकोके लिए यदि पृथ्वी उनकी इच्छाने अनुसार धन है तो कोई अचरज नहीं है, पर तुम्हारे प्रभावको देखकर तो राचमुख बड़ा आश्चर्य होता है क्योंकि मुझे तो स्वर्गसे भी जितना चाहूँ उतना धन ने लिया ॥३३॥ सत्कारकी सभी वस्तुएँ तुम्हें प्राप्त हो सकती हैं इसलिये तुम्हें उनके लिये आशीर्वाद देना तो व्यर्थ है तो भी मैं तुम्हें यह आशीर्वाद देता हूँ कि जैसे तुम्हारे पिता दत्तोपको तुम्हारे जैसा श्रेष्ठ पुत्र मिला वैसे ही तुम्हें भी तुम्हारे ही समान प्रतापी पुत्र प्राप्त हो ॥३४॥ राजाको यह आशीर्वाद देकर ब्राह्मण नीति को अपने गुरुजीके पास चले गए और जैसे सूर्यसे सत्कारको प्रकाश मिलता है वैसे ही ब्राह्मण आशीर्वादसे थोड़े ही दिनमें रघुको भी पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ ॥३५॥ रघुकी यानीकी बोखसे उसके ब्राह्मणभूतमं काशिरामके समान तेजस्वी पुत्र जनमा तो ब्राह्मण मुहूर्तमें जन्म होनेसे पिताने ब्राह्मणके नामपर पुत्रका नाम अज रख दिया ॥३६॥

रूपं तदोजसि तदेव वीर्यं तदेव नैमर्गिस्मुलतत्वम् ।
 न कारणान्वादिमिदं कुमारः प्रवर्तितो दीपश्च प्रदीपात् ॥३७॥
 उपानयनं विधिवद्गुग्म्यम्तं यौवनोद्देदविशेषशान्तम् ।
 श्रीः माशिलापापि गुणैरनुज्ञां धीरेव कन्या पितुगचकाङ्क्ष ॥३८॥
 अथेवरेण प्रथदैशिकानां स्वयंवराथे स्वमुरिन्दुमत्याः ।
 आतः शुभागतयनोत्सुकेन भोजेन दूतो रघवे सिम्पुटः ॥३९॥
 नं श्लाघ्यमंरन्धमर्मा विचिन्त्य दारप्रियायोग्यदशं चपुत्रम् ।
 प्रस्थापयामास नर्मन्यमेनमृदां विदुर्भाधिपराजधानीम् ॥४०॥
 नम्योपशयार्गचितोपचारा वन्येतरा ज्ञानपदोपदाभिः ।
 मार्गं निरागता मनुजेन्द्र एनोर्दभृत्पुद्गानप्रिहारकन्याः ॥४१॥
 न नर्मदागोचरिणी गीरराट्टैर्मरद्विरानतिनक्तमाने ।
 निररायामास स्निहिताध्याकनान्नं रजोधूमकेतु मैन्यम् ॥४२॥
 अथोपरिष्ठादुक्षमर्भ्र मद्भिः प्राक्प्रचितान्तःकलिनप्रवेष्टः ।
 निर्घातदानाघनगणैर्भिरिर्गन्धः गरितो गज उन्ममज्ज ॥४३॥

निःशेषविज्ञातितधातुनापि वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु ।
 नीलोर्ध्वरेखाशबलेन शंसन्दन्तद्वयेनाश्मबिड्गुप्ठितेन ॥४४॥
 संहाराविक्षेपलघुक्रियेण हस्तेन तीरामिमुखः सशब्दम् ।
 वभौ स भिन्दन्वृहतस्तरंगान्वार्यर्गलाभङ्ग इव प्रवृत्तः ॥४५॥
 शैलोपमः शैवल्मञ्जरीणां जालानि कर्पन्नुरसा स पथात् ।
 पूर्वं तदुत्पीडितवारिराशिः सरित्प्रवाहस्तटमुत्सर्प ॥४६॥
 तस्यैकनागस्य कपोलमिष्योर्बलावगाहक्षमात्रशान्ता ।
 धन्येतरानेकपददर्शनेन पुनर्दिदीपे मददुर्दिनश्रीः ॥४७॥
 सप्तच्छदचरकदुप्रवाहमसङ्गमाधाय मदं तदीयम् ।
 विलङ्घिताधोरणतीव्रयत्नाः सेनागजेन्द्रा विमुखा वभूयुः ॥४८॥
 स च्छिन्नग्रन्धद्रुतयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तस्थं क्षणेन ।
 रामापरिव्राणविहस्तयोध सेनानिवेशं तुष्टुलं चकार ॥४९॥
 तमापतन्तं नृपतेरध्व्यो वन्यः करीति ध्रुतवान्कुमारः ।
 निवर्तयिष्यन्निशिखेन कुम्भे जघाम नात्यायतकृष्टशार्ङ्गः ॥५०॥

पुन गया था ॥४३॥ यद्यपि नहानेसे उसके दाँतोमे लगी वैष्णवी लाली तो छूट गई थी फिर भी
 टीलोपर टक्कर मारनेसे उसकी दाँतोपर जो नीली-नीली रेखाएँ बन गई थी उनसे जान पड़ता था
 कि उसने ऋक्षवान पर्वतकी शिलाग्रोम टक्करें मारी हैं ॥४४॥ वह हाथी ज्यों-ज्यों तटकी ओर बढ़ने
 लगा त्यों त्यों धपनी घूँट फँला और सिकोड़कर चिन्घाटता हुआ जलकी लहरोंको धीरे
 लगा । उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो वह घनालकी साँवसें तोड़ रहा हो ॥४५॥
 वह पहाड़के समान लम्बा-चौड़ा हाथी धपनी छातीसे सेवारकी अपने साथ खीचता हुआ तटपर सा
 पहुँचा । इससे जलमे जो लहरें उठी थी वे उससे भी पहले तटपर पहुँच चुकी ॥४६॥ यद्यपि
 नदीमे नहानेसे उस हाथीके भापेका सब मद धुल चुका था । फिर भी प्रजकी सेनाके हाथियोंको
 देखकर वह घलवानु हाथी जोधसे तमतमा उठा और उसके भापेसे फिर धुसाँपार मद दरसने लगा
 ॥४७॥ जब भजके हाथियोंके नालके क्षिप्तवमके दुधके समान कर्सेसे मदको गन्ध पाई तब वे
 हाथीवानोंके बार-बार रोवनेपर भी इपर-उपर भाग चले ॥४८॥ उस विशाल जगली हाथीको
 देखते ही सब थोड़े भी रसा नुदा-नुदाकर भाग चले । इस भगदडमे जिन रथोंके घुरे टूट गए वे जहाँ-
 जहाँ गिर पड़े थे । उस भङ्गेसे हाथीने सेनामे इतनी भगदड मचादी कि लोग धपनी धपनी सिंघारो
 धिपनेके लिये सुरक्षित स्थान ढूँढने लगे ॥४९॥ वह हाथी भवकी ओर चला पा रहा था बिन्दु
 भयने सोचा कि यह जगली हाथी है । इसको मारना ठीक नहीं है । इसलिए उन्होंने अपने पशुपती मोड़ा

स विदमात्रः किल नागरूपमुत्सृज्य तद्विस्मितसैन्यदृष्ट ।
 स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्त्ति कान्तं वपुर्न्योमचरं प्रपेदे ॥५१॥
 अथ प्रभावोपनतैः कुमारं कल्पद्रुमोत्थैरवकीर्य पुष्पैः ।
 उवाच वाम्मी दशनप्रभाभिः संवर्धितोरःस्यलतारहारः ॥५२॥
 मत्तद्वशापादवलेपमूलादवाप्तवानस्मि मत्तद्वज्रत्वम् ।
 अवेहि गन्धर्वपतेस्तनूजं प्रियंवदं मां प्रियदर्शनस्य ॥५३॥
 स चानुनीतः प्रणतेन पथान्मया महर्षिर्मुदुतामगच्छत् ।
 उष्णत्वमग्न्यातपसप्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य ॥५४॥
 इच्छाकुवंशप्रभवो यदा ते मेत्स्यत्यजः कुम्भमयोमुखेन ।
 संयोक्ष्यसे स्वेन वपुर्महिम्ना तदेत्यवोचत्स तपोनिधिर्मां ॥५५॥
 संमोचितः सच्चवता स्वपाहं शापाधिरप्रार्थितदर्शनेन ।
 प्रतिप्रियं चेद्भवतो न कुर्यां वृथा हि मे स्वात्स्वपदोपलब्धिः ॥५६॥
 संमोहनं नाम सखे ममास्त्रं प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम् ।
 गान्धर्वमादत्स्व यतः प्रयोक्तुर्न चारिहिंसा विजयश्च हस्ते ॥५७॥

सा जीवकर एक बाला उसके मस्तकमे इसलिये मारा कि वह लोट जाय ॥५०॥ बाण लगते ही वह
 अपना हाथीका शरीर छोड़कर देवताभीके समान सुन्दर और तेजपूर्ण शरीर वाला बनकर उड़ा हो
 गया । यह देखकर अजके सैनिक तो आँख फाड़कर अचरजसे देखते हुए जहाँके उहाँ खड़े रह गए ॥५१॥
 उस वैवताका वेप धारण करनेवाले पुरुषने अपने प्रभावसे पत्तवृक्षके फूल मँगाकर अजके ऊपर बरसाए
 और जब उसने जीतनेके लिए मूँह खोला तब उसके दाँतोकी चमकसे उसके गलेमें पड़ा हुआ हार
 एक लड़ा ॥५२॥ [यह बोला] मैं गन्धर्वोंके राजा प्रियदर्शनका पुत्र प्रियम्भद हूँ । एक बार मैंने
 भगवानमे आकर मतंग ऋषिका प्रपमान कर दिया था उन्होंने के शापसे मैं हाथी हो गया ॥५३॥ जब
 मैंने ऋषिके बहुत हाथ-पाँव लोड़े तब उन्हें दया भा गई क्योंकि जब तो आगभी गर्मी पाकर ही गर्म
 होता है, उसका भयना स्वभाव तो ठंडा ही होता है ॥५४॥ तब प्रवन्न होकर उस तपस्वीने
 कहा—इच्छाकु वरामे सब नामके कुमार उत्पन्न होंगे जब वे तुम्हारे शायेपर लोहेके फलवाला
 बाण मारेंगे तब तुम्हें फिरसे अपना वास्तविक शरीर प्राप्त हो लेंगे ॥५५॥ उसी दिनसे मैं हाथी
 होया और तबसे सदा आपके पानेकी बात देखा करता था । ओहरे बड़े नामसे आपने आकर मुझे
 शापसे मुक्त दिया । इस उपकारके बदलेमे यदि मैंने आपकी कोई भलाई न की तो मेरा यह शरीर
 पाना व्यर्थ ही है ॥५६॥ देखिये ! मेरे पास यह सम्मोहन नामका गन्धर्वोत्पन्न है, जिसके चलाने और
 रोकनेके प्रलय-प्रलय मन्त्र हैं । इस दुर्लभ अस्त्रको आप से लीजिए । इसमे यह विशेषता है कि जब
 आप इसे चलाने तब आप शत्रुके प्राण लिए बिना ही उसे जीत लेंगे ॥५७॥ जान पड़ता है कि

थलं हिया मां प्रति यन्मूर्तुर्दयापरोऽभूः प्रहरन्नपि त्वम् ।
 तस्मादुपच्छन्दयति प्रयोज्यं मयि त्वया न प्रतिपेधरौक्ष्यम् ॥५८॥
 तथेत्युपस्पृश्य पयः पवित्रं सोमोद्भवायाः सरितो नृसोमः ।
 उदह्मुखः सोऽस्रविदस्रमन्त्रं जग्राह तस्माद्विगृहीतशापात् ॥५९॥
 एवं तयोरध्वनि दैवयोगादासेदुपोः सख्यमंचिन्त्यहेतु ।
 एको ययौ चैत्ररथप्रदेशान्तौराज्यरम्यानपरो विदर्भान् ॥६०॥
 तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे तदागमारूढगुस्प्रहर्षः ।
 प्रत्युज्जगाम क्रथकैशिकेन्द्रध्वन्त्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली ॥६१॥
 प्रवेश्य चैनं पुरमग्रयायी नीचैस्तयोपाचरदपिंतश्रीः ।
 मेने यथा तत्र जनः समेतो वैदर्भमागन्तुमजं गृहेशम् ॥६२॥
 तस्याधिकारपुत्रपैः प्रसूतैः प्रदिष्टां प्राग्द्वारवेदिनिनिवेशितपूर्णाहुम्भाम् ।
 रम्यां रघुप्रतिनिधिः स नवोपकार्या बाल्यात्पराभिवृत्तां मदनोऽध्युवास ॥६३॥
 तत्र स्वयंवरसमाहृतराजलोकं कन्याललाम कमनीयमजस्य लिप्ताः ।
 भावावबोधकलुपा दयितेव रात्रौ निद्रा चिरखे नयनाभिमुखी बभूव ॥६४॥

आपने जो मेरे ऊपर बाण चलाया है उससे आपके मनमें कुछ सकोष हो रहा है । पर इसमें लजाने-
 की क्या बात है, क्योंकि बाण चलते समय तो आपने मनमें मुझे मारनेकी इच्छा तो थी नहीं ।
 आपने तो दया करके ही बाण चलाया था । अब मैं आपसे यह प्रार्थना करता हूँ कि आप यह भ्रम
 से लीजिए, भ्रमा-भानी न कीजिए ॥५८॥ चन्द्रमणि सपान सुन्दर भजने गम्भिरका कहना मान
 लिया । उन्होंने पहले चन्द्रमासे निकली हुई नर्मदाके जलका आचमन किया और फिर उत्तर की ओर
 मुंह करके आपसे छूटे हुये उस गम्भिरसे यह प्रश्न ले लिया और उठके चलाने और रोकनेका मन्त्र भी
 सीखा लिया ॥५९॥ इस प्रकार दैवयोगसे भज और प्रियम्बदकी मार्गमें ही मित्रता हो गई । वहाँसे
 प्रियम्बद को बुझेरके विमरष नामक उपवनकी ओर चल गया और भज उस विदर्भ देशकी ओर
 चल पड़े जो मन्त्रे शासनके कारण बड़ा सुन्दर हो गया था ॥६०॥ जब विदर्भके राजाको समाचार
 मिला कि भज आगए हैं तब वे बड़े प्रसन्न हुए और जैसे समुद्र भवनी वहाँ जँचे उठाकर चन्द्रमाका
 स्वागत करता है वैसे ही उन्होंने भी भजके बाहर भजके पताबजे जाकर उनका स्वागत किया ॥६१॥
 राजा भोज अपने साथ भजको नगरमें ले गए और वहाँ उन्हें अपनी सब कुछ खेद करके ऐसी नम्रताके
 साथ उनका सत्कार किया कि लोग यही समझने लगे कि भज ही इस घरके स्वामी हैं और भोज
 प्रतिधि हैं ॥६२॥ वहाँसे भोज-राजके सेवक, भजकी बड़ी मधुरतासे उस मनोहर राज-मन्दिरमें ले
 गए जिसके द्वारकी चौकियोंपर जलसे भरे मयल-वसख रखे हुए थे । उस भवनमें रघुके प्रतिनिधि
 भज ऐसे रहने लगे मानो कामदेवने अपनी वचन बिताकर जबानीमें पंर धरा हो ॥६३॥ अब भजकी
 यह चाह हुई कि किसी प्रकार उस कन्याको प्राप्त करें जिसे पानेके लिये सैकड़ों राजा स्वयम्बरमें आए

सं कर्णभूषणनिपीडितपीवरांमं शय्योत्तरच्छदविमर्दकशाङ्गरागम् ।
 यत्तात्मजाः सवयसः प्रथितप्रबोधं प्राशोधयन्नुपसि चाग्निरुदारवाचः ॥६५॥
 रात्रिर्गता भतिमतांवर मुञ्च शय्यां धात्रा द्विधैव ननु धूर्तगतो विभक्ता ।
 तामेकतस्तव विभक्तिं गुरुर्विन्द्रिस्तस्या भवानपरधुर्यपदावलम्बी ॥६६॥
 निद्रावशेन भवताप्यनवेक्ष्यमाणा पर्युत्सुकत्वमवला निशि स्खण्डितेव ।
 लक्ष्मीविनोदयति येन दिग्मन्तलम्बी सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः ॥६७॥
 तद्वलगुना युगपदुन्मिषितेन तावत्सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे ।
 प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पयम् ॥६८॥
 घृन्ताच्छ्लथं हरति पुष्पमनोकहानां संसृज्यते सरसिर्जररुणांशुभिर्भैः ।
 स्वाभाविकं परगुणेन विभातवायुः मौरस्यमौष्पुखि वे मुखमारुतस्य ॥६९॥
 तात्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु निर्धातहारगुलिकाविशदं हिमाम्भः ।
 आभाति लब्धपरभागतयाधरोष्ठे लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्यदीयम् ॥७०॥

है । इसी उज्ज्वलने पडे रहनेके कारण रघुवी घाँगोंमें राजकी उसी प्रकार बहुत बिलबले नींद भाई
 जैसे अपने पतिरे लम्बो न जाननेवाली नई बहू अपने पतिरे पास बिलबले जाती है ॥६५॥ एक
 बरबट मोनेके कारण अजमे मरे हुए कण्ठोपर कुण्डलके दबनेसे उसका बिछू पट गया और बिछोनेकी
 रगड़ने एतने तरीक़र तथा हूँसा समझा भी पहुँच गया । दिन निकलने ही उसकी समान प्रवृत्तियाँ
 और मगुर सोलनेकी मूर्तिके पुत्र यह रघुवी आन्धकार बुझमान बनकी जगाने लगे ॥६५॥

है परम बुझिमा । राज कम गई है, अब चम्पा छोड़िए । बहाने गुप्ताका भार बेचल दो
 भागीन बाँटा है, जिसे एक और तो गुप्तारे पिला गया तबज होकर सँभालने है और दूसरी ओर
 गुप्तें पापकर मैमानता है ॥६६॥ देखो, गुप्ताकी मौरस्यमौष्पुखीने जब यह देखा कि गुप्त जिज्ञा करी
 दूसरी रानीने यहाँ ही उस बट गुप्ते पाई है रहनेपर भी गूँट होकर गुप्तारे ही गुप्तने अपना
 गुप्तर चम्पाके नाम करी गई की पर इस समय चम्पा भी मगिन हो गया है और इसीसे यह
 मौरस्यमौष्पुखी केतारी निराधार हो गई है, [क्योंकि गुप्तारे गुप्तकी बराबरी करनेवाला और कोई
 गुप्तर यहाँ भी है नहीं, जिसके पास वह जा गये] इसीसे जापकर गुप्त जगे फिर मानासी
 ॥६७॥ इस समय गुप्ताकी बट घाँगोंमें पुनर्प्राप्त हुए रही है और लामोने कमरने भीतर
 भी लूँट रहे हैं । इस समय बटो में मूर्ति निकलने पर गुप्तारे नेव ओर रुपल एक पाप मिलकर
 एक जैसे गुप्तर मर्ति लगे ॥६८॥ प्रायः जापकर जब गुप्तोंकी चम्पाछोड़ चुकने की छेदे
 कोरल । गुप्तोंके दिवसा हूँसा मूर्तिकी चम्पाके गिरे हुए कण्ठोंकी हूँसा हूँसा पल रहा है माने
 मुझे बड़ा हूँसा न देखकर वह गुप्तारे मूर्तिकी स्वाभाविक गुप्तिव दूखोसे नेने का प्रयास कर रहा हो
 ॥६९॥ एतने उत्रो मोनेकीने गुप्तर जिम्मे छोड़के बट गुप्तारे लाम लाम चम्पाके निरपार बंधे हो
 गुप्तर लम रहे हैं जैसे गुप्तारे मूर्तिके समय गुप्तर लाम-लाम छोड़कर दबो हुई गुप्तारे मोनेकी

यावत्प्रतापनिधिराक्रमते न मानुरह्वाय तावदरुणेन तमो निरस्तम् ।
 आयोधनाग्रसरतां त्वयि वीर याते किं वा रिपूँस्तव गुरुः स्वयमुच्छिनत्ति ॥७१॥
 शय्यां जहत्पुभयपक्षविनीतनिद्राः स्तम्बेरमा मुखरभ्रङ्गलकर्पिणस्ते ।
 येषां विभान्ति तरुणास्तरामयोगाद्भिन्नाद्रिगैरिक्तटा इव दन्तकोशाः ॥७२॥
 दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु निद्रां विहाय वनजाच्च वनायुदेस्याः ।
 दक्षोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानि लेखानि सैन्धवशिलाशकलानि घाहाः ॥७३॥
 भवति विरलभक्तिम्लानपुष्पोपहारः स्वकिरणपरिवेपोद्भेदशून्याः प्रदीपाः ।
 अयमपि च गिरं नस्त्वस्त्रबोधप्रश्रुक्तामनुषदति शुक्रस्ते मञ्जुवायपङ्कजस्थः ॥७४॥
 इति विरचितवाग्भिर्वन्दिपुत्रः कुमारः सपदि विगतनिद्रस्तल्पसुज्ज्वलाचकार ।
 मदपटुनिनदद्भिर्बोधितो राजहंसैः सुरगज इव गाङ्गं सैकतं सुप्रतीकः ॥७५॥
 अथ विधिमवसाय्य शास्त्रदृष्टं दिवसमुखोचितमश्रिताविपक्षमा ।
 कुशलविरचितानुकूलवेषः क्षितिपसमाजमगात्स्वयंवरस्थम् ॥७६॥
 इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवशो महाकाव्ये अजस्वयवराभिगमनो नाम पञ्चमः सर्गः ॥

चमक सुन्दर लगती है ॥७०॥ सुयंके उदय होनेके पहले ही उनका चतुर सारथी भरुण सत्तारसे भौंभेरे की भगा देता है । यह ठीक भी है, क्योंकि जब सेवक चतुर रहता है तब स्वामीको स्वयं कार्य करनेका कष्ट नहीं उठाना पड़ता । देखो, जब तुम्हारे जैसे योग्य पुत्र युद्धमें जानर लड़ते हैं तब तुम्हारे पिताजीको क्या कभी शत्रुओंको स्वयं मारनेका कष्ट उठाना पड़ता है, कभी नहीं ॥७१॥ तुम्हारी सेनाके हाथी, घोने और करवटें बदलकर खनखनाती हुई सज्जिल लौचते हुए उठ खड़े हुए हैं । लाल सूर्यकी किरणें पड़नेसे उनके दाँत ऐसे लगते हैं मानो वे अभी गेरु का पहाड़ लौटे चले आ रहे हों ॥७२॥ हे कमलके समान नेत्रवाले ! बड़े बड़े पट मण्डपोंमें बँसे हुए तुम्हारे बगामु (काबुल) देशके घोड़े नींद छोड़कर सँभे नमकके उन टुकड़ोंको छपने मुँहकी भापसे मँवा कर रहे हैं जो पाटनेके लिये उनमें माने रखे हुए हैं ॥७३॥ रातकी सजावटके फूल मुरझाकर झड़ गए हैं । उजाड़ा हो जानेके कारण दीपकका प्रकाश भी धुंध छपनी लौसे बाहर नहीं जाता और विजरेमें बैठे हुमा मीठी बोरी बोलनेवाला तुम्हारा यह सुग्गा भी हमारी ही बातें दुहरा रहा है ॥७४॥ जैसे भावनातण्णाजी रीतीमें जेटा हुआ सुश्रुणीव नामका देवताओंका हाथी, राजहंसोंका शब्द सुनकर जाग उठता है वैसे ही चारणोंकी सुरचित वाणी सुनकर राजकुमार धनकी नींद खुल गई और वे उठ बैठे ॥७५॥ सुन्दर पसलोंवाले राजकुमार अचाने उठकर शास्त्रसे बताई हुई प्रातःकालकी मूल उचित क्रियायें की और फिर उनके चतुर सेवकोंने उन्हें बहुत सुन्दर वस्त्र पहनाए । इस प्रकार सब धनकर वे स्वयम्बरसे राज-समाजकी ओर चल दिए ॥७६॥

महानदि नामिदाससे रचे हुए रघुवश महाकाव्यमें अजवर स्वयम्बर यमन नामका पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

॥ षष्ठः सर्गः ॥

॥ तत्र भञ्जेषु मनोज्ञवेपान्तिहासनस्थानुषचारवत्सु ।
 वैमानिकानां मरुतापमरयदाकृष्टलीलाञ्जरलोकपालान् ॥ १ ॥
 रतेर्गृहीतानुनयेन कामं प्रत्यर्पितस्त्राङ्गमिवेश्वरेण ।
 काकुत्स्थमालोकयतां नृपाणां मनो बभूवेन्दुमतीनिराशम् ॥ २ ॥
 वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः कल्पतेन तोषानपयेन मश्वम् ।
 शिलाविर्भगैर्मृगराजाशावस्तुङ्गं नगोत्सङ्गमिवारुरोह ॥ ३ ॥
 परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवात्रत्नवदासनं सः ।
 भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्तिर्मयूष्मथापिण्यां गुहेन ॥ ४ ॥
 तस्य श्रिया राजपरम्परासु प्रभाविशेषोदयदुर्निरीक्यः ।
 सहस्रधात्मा व्यरुचद्विभक्तः पयोमुचां पंक्तिषु विधुतेव ॥ ५ ॥
 तेषां महाहासनसंस्थितानामुदारनेपथ्यभृतां स मध्ये ।
 रराज धाम्ना रघुसज्जुरेव कल्पद्रुमाणामिव पारिजातः ॥ ६ ॥
 नेत्रग्रजाः पौरजनस्य तस्मिन्निहाय सर्वान्नुपतीन्निपेतुः ।
 मदोत्कटे रेचितपुष्पधृत्वा गन्धद्विपे वन्य इव द्विरेफाः ॥ ७ ॥

छठा सर्ग

[स्वयम्बरवी सभा में जाकर अजने देखा कि] सजे हुए बंकोपर बैठे हुए राजा लोग ऐसे सुन्दर लग रहे हैं जैसे विमानोंपर देवता बैठे हुए हों ॥१॥ जब दूसरे राजाओंने धनको देखा तब उन्होंने इन्दु-मतीको पानेकी सब भावार्थें छोड़ी। क्योंकि अब ऐसे लग रहे थे मानो साक्षात् कामदेव हो, जिसे दिगम्बीने रतिकी प्राणनापर किरसे जीवित कर दिया हो ॥२॥ जैसे सिद्धवा वन्या एक-एक शिलापर पैर रखता हुआ महाद्वपर चढ़ जाता है वैसे ही राजकुमार अब भी सुन्दर छोड़ीपर चढ़कर भोजके पताए हुए मगर जाकर बैठ गए ॥३॥ जिस छिहासनपर वे जाकर बैठे, वह सोनेका बना हुआ था, उसमें रान जड़े थे और उसपर रंग-बिरंगे वस्त्र बिछे हुये थे । उसपर बैठे हुए वे ऐसे सुन्दर लग रहे थे मानो स्वयं कान्तिप्रेम ही अपने मोरपर चढ़े बैठे हो ॥४॥ वहाँ बैठे हुए राजाओंके ठाट-बाट और उनकी लटक-भटक देखकर धीरे धींचिया जाती थीं और देखा जान पड़ता था मानो लक्ष्मीने अपनी घोभा उन लोगोंमें उगी प्रकार बाँट दी हो जैसे विजली अपनी चमक वादलोंमें बाँट देती है ॥५॥ जैसे मन्दन वनके वृक्षोंमें फारिवात हो गये हैं अधिक सुन्दर हैं वैसे ही बहुमुख्य छिहासनोंपर बैठे हुए और बड़े ठाट-बाटसे सजे हुए राजाओंके बीचमें अनेकें घबड़े हुए मिल रहे थे ॥६॥ जैसे पूजवाले वृक्षोंकी छोड़कर मर वहाँवाले जंगली हाथियोंपर चढ़े भुन-भुन करते हैं, वैसे ही नगरवासियोंकी

अथ स्तुते बन्दिभिरन्वयज्ञैः सोमार्कवंश्ये नरदेवलोके ।
 संचारिते चागुरुमारयोनी धूये समुत्सर्पति वैजयन्तीः ॥ ८ ॥
 पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ ।
 प्रध्मातशङ्खे परिवो दिगन्तास्तूर्पस्वने, मूर्च्छति मङ्गलार्थे ॥ ९ ॥
 मनुष्यबाह्वं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि ।
 विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिवरा क्लृप्तविवाहवेया ॥ १० ॥
 तस्मिन्निधानातिशये विधातुः कन्यामये नेत्रशतैकलक्ष्ये ।
 निपेतुरन्तःकरणैर्नरेन्द्रा देहैः स्थिताः केवलमासनेषु ॥ ११ ॥
 तां प्रत्यभिध्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूतयः ।
 प्रवालशोभा इव पादपानां शृङ्गारचेष्टा विविधा बभूवुः ॥ १२ ॥
 कश्चित्कराभ्यामुपगूढनालमालोलपत्राभिहतद्विरेफम् ।
 रजोभिरन्तःपरिवेषगन्धि लीलारविन्दं भ्रमयांचकार ॥ १३ ॥
 विलस्तमंसादपरो विलासी रत्नानुविद्धाद्गदकोटिलम्बम् ।
 प्रालम्बमुत्कृष्य यथावकाशं निनाय साचीकृतचारुक्त्र ॥ १४ ॥

माथें सब राजाभोसे हृदयर भजवर ही जा टिकी थी ॥७॥ इतनेमें सब राजाभोका बस जाननेपाले
 भाटोंके सूर्य और चन्द्रके पक्षमें उत्पन्न होनेपाले उन सब राजाभोकी प्रसन्नता प्रारम्भ करदी। उधर भगरके
 सारसे बनाई हुई धूप बलियोका पुँमा चारो ओर उड़ता हुआ पहचती हुई कडियोतक चढ़ गया ॥८॥
 जिन शङ्खो और मगल बाजोके बजनेपर नवरत्ने भाग पाएगी भ्रमरादयोंमें रहनेवाले मोर उरो बादल
 का गरजना समझकर तान उठने हैं उन बाजोकी ध्वनिते दसो दिशाएँ गूँज उठी ॥९॥ इसी बीच
 पर चुननेके लिये विवाहके समयका वेदा धारण किए हुए इन्दुमती, पालकीपर चढ़कर मधोके बीचपाले
 राजमार्गसे आई। यह पालकी मनुष्य दो रहे थे और उसने चारो ओर शक्तिपूर्ण पैदल चलती था रही
 थी ॥१०॥ वह कन्या क्या थी सद्भावी रचनावा बडा ही सुन्दर बैचल था जिसे सँकडो माथें
 एकदम होकर देल रही थी। उसकी सुन्दरता देखते ही सब राजाभोके मन तो उसने पास थले गए,
 बैचल उनके शरीर भर मधोपर रह गए ॥११॥ राजाभो ने अपना प्रेम जतानेके लिये जो वृत्तोंमें
 पक्षीय समान गीतों प्रकारमें मौहू मादि पत्तावर शृङ्गार-वेष्टाएँ कीं वे मानो उनके प्रेमको इन्दुमतीक
 पहुँचानेवाली वृत्तिर्मा थी ॥१२॥ कोई राजा हाथमें सुन्दर बमल सेकर उसकी ठठल पकड़कर घुमाने
 लगा। उसके घुमनेसे भीरे तो इधर-उधर भाग गए पर उत्तम जो पराग मरा हुआ था, उसने
 फँलनेमें कमलने भीतर चारो ओर एक कुण्डली सी बन गई। [उसे घुमाना यह वह प्रकट करता
 था कि विवाह कर लेनेपर हूब भी तुम्हारे हाथमें इसी प्रकार तान सकने हैं] ॥१३॥ दूसरा एक
 विलासी राजा, पोडा मुँह घुमाकर कन्येसे सरकी हुई और भुजवन्धमें उसकी हुई रत्नोकी माला
 उठाकर फिर उसे गलेमें ढीकसे पहनने लगा। [इससे उसने अपने विद्या वि में सदा तुम्ह पलेगा

आकुञ्चिताग्राहगुलिना सतोऽन्यः किञ्चित्समावर्जितनेत्रशोभः ।
 तिर्यग्विसंसर्पिनस्त्रग्रमेष्वा पादेन हैमं विलिलेख पीठम् ॥१५॥
 निवेश्य वामं भुजमासनार्धे तत्सनिवेशादधिकोन्नतांसः ।
 कश्चिद्वृत्तत्रिकभिन्नहारः सुहृत्समाभाषतत्परोऽभूत् ॥१६॥
 विलासिनीविभ्रमदन्तपत्रमापाण्डुरं केतकवर्हमन्यः ।
 प्रियानितम्बोचितमनिवेशैर्विपाटयामास युवा नरराघ्रैः ॥१७॥
 कुशेशयाताम्रतलेन कश्चित्करेण रेखाध्यज्जलाञ्छनेन ।
 रत्नाङ्गुलीयप्रभयास्तुबिद्धास्तुदीरयामास सलीलमहान् ॥१८॥
 कश्चिद्यथाभागमवस्थितेऽपि स्वसंनिवेशाद्व्यवस्थितहिनीच ।
 वजाङ्गुगर्भाङ्गुलिरेन्ध्रमेकं व्यापातयामास करं फिरीटे ॥१९॥
 ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा पुत्रप्रमल्भा प्रतिहाररत्नी ।
 प्राक्संनिकर्षं मगधेश्वरस्य नीत्वा कुमारीमवदत्सुनन्दा ॥२०॥
 असौ शरण्यः शरण्योन्मृगानामगाधसत्त्वो मगधप्रतिष्ठ ।
 राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः परंतपो नाम यथार्थनामा ॥२१॥

हार बनाए रखलूँगा ॥१४॥ तीसरा राजा भी है मटककर, पैरकी जंगलियाँ मोड़कर, पैरके नखों की चमक तिरछी झलते हुए पैरकी जंगलियोंसे सोमेके पाँव पीकेपर कुछ लिख रहा था । [इस सकेतसे वह इन्द्रमुक्तीको अपने पास बुला रहा था] ॥१५॥ कोई राजा सिंहासनके एक ओर बाईं भुजा टेककर बैठा था और अपने पाँव बँडे हुए मित्रसे इस प्रकार बात करने लगा कि उसका दायाँ कन्धा सठ गया और गलेकी माला भी पीठपर लटक गई । [इससे उसने यह सकेत किया कि मैं सदा तुम्हें अपनी बाईं ओर बिठाऊँगा] ॥१६॥ एक दूसरा युवा राजा था, जिसके नख मालों प्रियाके निवासोपर चिह्न बनानेके लिये ही बने थे । वह उन नखोंसे केतकीके उन घोंघे पत्तोंको मोच रहा था जो किसी विलासी स्त्रीके शृङ्गारके लिये कानके आभूषणके रूपमें कटे हुए थे । [इस सकेतसे उसने प्रकट दिया कि हम इसी प्रकार तुम्हारे नितम्बोपर नख-चिह्न लगावेंगे] ॥१७॥ एक दूसरे राजा थे, गिनकी हथेली कमलके समान साफ थी और जिसपर ध्वानाकी रेखाएँ बनी हुई थी । वे अपने हाथने पासे जवाब रहे थे और उनकी भँगुलीकी कपक पासोपर पड़ रही थी । [वे सकेत कर रहे थे कि तुम्हारे साथ विवाह होनेपर हम दिन-रात तुम्हारे साथ बाँसा खेल करेंगे] ॥१८॥ एक दूसरा राजा बार-बार अपने हाथोंसे उग्र मुकुटको सीधा कर रहा था जो पहलेसे ही सीधा था । ऐसा करनेसे उसके हाथोंकी जंगलियोंके बीचका भाग खलोकी निरखोसे चमक उठता था । [इससे यह सकेत करता था कि मैं तुम्हें सदा सिर-आँखोपर बिठाए रखूँगा ॥१९॥ इसी बीच पुरुषोंके समान दीठ और राजाओंके यशोंकी कथा जाननेवाली रविनासनी प्रतिहारो सुनन्दा, सबसे पहले इन्द्रमुक्तीको मगध-नरेशके प्रागे ले गई और बोली ॥२०॥ वे राजा बडे पराक्रमी हैं और अपनी शरणमें आनेवालोंकी रक्षा करते हैं । अपनी प्रजाको मुख देकर इन्द्रेण बड़ा नाम कमाया है । इनका नाम

कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम् ।
 नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः ॥२२॥
 क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहृतसहस्रनेत्रः ।
 शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बान्मन्दारशून्यानलकौशकार ॥२३॥
 अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाणं पाणिं वरेण्येन कुरु प्रवेशे ।
 प्रासादवातायनसंश्रितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुराङ्गनानाम् ॥२४॥
 एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किञ्चिद्विस्त्रांसिर्द्वाङ्गमधूकमाला ।
 ऋजुप्रणामक्रिययैव तन्वी प्रत्यादिदेशैनमभापमोक्षा ॥२५॥
 तां तैव क्षेत्रग्रहणे नियुक्ता राजान्तरं राजसुतां निनाय ।
 समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीम् ॥२६॥
 जगाद चैनामयमङ्गनाद्यो सुराङ्गनाप्रार्थितयौवनश्रीः ।
 विनीतनामः किल स्रजकारैरैन्द्र पदं भूमिगतोऽपि भुङ्क्ते ॥२७॥
 अनेन पर्यासयताशुबिन्दुमुक्ताफलस्थूलतमान्स्तनेषु ।
 प्रत्यर्पिताः शत्रुविलासिनीनामुन्मुच्य सत्रेण विनैव द्वाराः ॥२८॥

परतप है और ये सबमुच परतप [दानुषीको साथ लेनेवाले] हैं ॥२१॥ जैसे तारो, ग्रहो और नक्षत्रोंसे भरी रहनेपर भी रात सभी चांदनी रात कहलाती है जब चन्द्रमा सित्ता हुआ हो, वैसे ही यद्यपि सारास्ने सहस्रो राजा हैं किन्तु पृथ्वी इन्हीसे रहनेसे राजापाती कहलाती है ॥२२॥ इन्हीने एकपर एक यज्ञ करके बार-बार इन्द्रको अपने वहाँ बुलाया जिसका फल यह हुआ कि इन्द्राणीके सिरकी मोटी बल्लवृक्षके फूलोंका शृङ्गार न होनेसे बीसे गालोपर झूलने लगी, [क्योंकि पतिके पास न रहनेसे उन्हीने शृङ्गार करना ही छोड़ दिया था] ॥२३॥ यदि इनके साथ पुत्र मित्राह करना चाहती हो तो अवश्य करो । क्योंकि जब तुम बिवाह करके इनके साथ इनकी राजधानी [पाटलिपुत्रमें] पहुँचोगी तब सर्जनी स्त्रियाँ भरोखोभे बैठकर तुम्हें देखेंगी और तुम्हारी सुन्दरता देखकर उनकी भाँषोंको सुख मिलेगा ॥२४॥ सुमन्द्याकी बात सुनकर इन्द्रमतीने तनिक सी भाँस उठाकर राजाको देखा । उसके हाथकी दूबमें शुभी हुई बह्वक्की माला कुछ खरब गई और बिना कुछ बड़े-सुने सोचा-सा प्रलाभ करने उसे अस्वीकार करती हुई वह भागे बढ गई ॥२५॥ जैसे बागुसे जड़ी हुई सहरोसे सहारे मानखरोबरकी राजहसिनी एक कपलसे दूसरे वमलतक पहुँच जाती है, उसी प्रकार सुनन्दा भी राजकुमारी इन्द्रगतीको दूसरे राजाके भागे पहुँचाकर खड़ी हो गई ॥२६॥ और बोली—ये भग देखके राजा हैं । इनके यौवनको देवताओंकी स्त्रियाँ भी चाह्य करती हैं । हाथियोंकी बिचाके बड़े-बड़े मुली सोम इनके हाथियोंको लिप्याते हैं । ये पृथ्वीपर रहते हुए भी इन्द्र ही समके जाते हैं ॥२७॥ [इन्हीने जिन राजाओंको युद्धमें मार डाला था] उनकी स्त्रियोंमें अपने पतियोंके खोबमें मोतियोंके हार ली उत्तार फेंके थे पर उनके रोनेसे उनमें स्तनोपर गिरती हुई भाँगुओंकी बूँदें बड़े-बड़े मोतियोंके समान लगती थी उन्हे देखकर ऐसा लगता था मानो

निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च ।
 कान्त्या गिरा स्रुतया च योग्या त्वमेव कल्याणितयोस्तृतीया ॥२६॥
 अथाङ्गराजादवतार्य चक्षुर्याहीति जन्यामवदत्कुमारी ।
 नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग्द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः ॥३०॥
 ततः परं दुष्प्रसहं द्विपद्भिर्नृपं नियुक्ता प्रतिहारभूमौ ।
 निदर्शयामास विशेषदृश्यमिन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमर्त्यै ॥३१॥
 अयन्ति नाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः ।
 आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वप्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति ॥३२॥
 अस्य प्रयागेषु समग्रशक्तेरग्रेसरैर्वाजिभिरस्थितानि ।
 कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीनां प्रमाप्ररोहास्तमयं रजांसि ॥३३॥
 अतौ महाकालनिकेतनस्य वसभदूरे किल चन्द्रमौलेः ।
 तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिज्योत्स्नायतो निर्विशतिप्रदोपान् ॥३४॥
 अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोर कचिन्मनसो रुचिस्ते ।
 सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ॥३५॥

इन्होंने शत्रुघ्नो की स्त्रियो के गलेसे मोतियों के हार उतार कर उन्हें बिना डोरेवाले [भासुमोके]
 हार पहना दिये हो ॥२८॥ यो तो तुम जानती हो कि सखी और सरस्वती दोनोंने कमी नहीं
 धनती, पर इनके पास दोनों ही मिलकर रहती हैं । इसलिये हे कल्याणी ! तुम सुन्दर भी हो और
 सुन्दारी गम्भीर बाणी भी है, तुम उन दोनोंके साथ सीसरी बनकर पहुँच सकती हो ॥२९॥
 इन्दुमतीने जब धैर्य देखने राजापरसे आँखें हटाई और सुनन्दाने कहा थागे चलो—यह बात
 नहीं थी कि वह राजा सुन्दर न हो और न यही बात थी कि इन्दुमतीने उसे ठीकसे देखा न हो ।
 पर सबकी अपनी अपनी रुचि ही होती है [किसीको कोई अच्छा लगता है किसीको कोई] ॥३०॥ वहाँसे
 प्रागे बढ़कर प्रतिहारी सुनन्दाने एक दूतके राजाको दिखाया जिससे सब खूब कोपते थे और जिसका
 रूप और यौवन पूतोंके जलते हुए चन्द्रमाके समान सुन्दर था । उसे दिखाकर सुनन्दा बोली ॥३१॥
 देखो, ये जो लम्बी भुजा, चौड़ी छाती और पतली गोल कमरवाले राजा सूर्यके समान चमक रहे हैं,
 ये भवन्तीदेवने राजा हैं और ऐसा जान पड़ता है कि विश्वकर्मणि अपने सान बढ़ानेके अक्षर इन्हें
 भले यत्नसे खराद दिया है ॥३२॥ जब ये शक्तिशाली राजा शत्रुघ्नोपर चढ़ाई करते हैं सब सेनाके
 भागे चलेनेवाले घोड़ोंको टापते उठो हुई धूलसे शत्रुघ्नोके मुकुटोभी चमक धुँधली पड़ जाती है
 ॥३३॥ इनका राज-भवन महाकाल मन्दिरके बैठे हुए और तिरपर चन्द्रमा धारण करेवाले शिवजीके
 पास हो है । इसलिये भँपेरे पाससे भी शिवजीके तिरपर चले हुए चन्द्रमानी चाँदनीसे ये अपनी
 स्त्रियोके साथ सदा जगते पासका ही आनन्द लेते हैं । नेलेके सम्योके समान [चिकनी और डलवा]
 जलियानी इन्दुमती ! क्या तुम भवन्तीके उन उद्यानोंमें विहार करना चाहती हो जिनमें दिन-

तस्मिन्नभिद्योतितबन्धुपद्मे प्रतापसशोपितशत्रुपङ्के ।
 यवन्ध सा नोत्तमसौकुमार्या कुमुद्वती मानुमतीव भावम् ॥३६॥
 तामग्रतस्तामरसान्तराभामनूपराजस्य मुखैरनुनाम् ।
 विधाय सृष्टिं ललितां विधातुर्जगाद भूयः सुदतीं सुनन्दा ॥३७॥
 सदग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुरष्टादशद्वीपनिष्ठातयूपः ।
 अनन्यसाधारणराज्यशब्दो बभूव योगी किल कार्त्तवीर्यः ॥३८॥
 अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भवैश्चापवरः पुरस्तात् ।
 अन्तःशरीरेष्वपि यः प्रजानां प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता ॥३९॥
 ज्यावन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण ।
 कारागृहे निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेशोपितमाप्रसादात् ॥४०॥
 तस्यान्वये भूपतिरेष जातः प्रतीप इत्यागमद्वृद्धसेवी ।
 येन श्रियः संश्रयदोषरूढं स्वभावलोलेत्ययशः प्रमृष्टम् ॥४१॥
 आयोधने कृष्णगतिं सहायमवाप्य यः क्षत्रियकालरात्रिम् ।
 धारां शितां रामपरश्वधस्य संभावयत्युत्पलप्रसाराम् ॥४२॥

रात किन्ना नदीका ठडा कायु हरहराना रहता है ३५॥ सुनन्दाकी बात सुनकर भी सुकुमारी इन्दुमती-
 की यह मित्रोकी प्रसन्न करनेवाला और शत्रुओकी मारनेवाला प्रतापी राजा उसी प्रकार प्रच्छा नहीं
 सगा जैसे कुमुदिनीको वह सूर्य नहीं जाता जो कथकले खिलाता और कीचड़को सुखा देता
 है ॥३६॥ कामलके समान सुन्दरी, बड़ी मुखवती, विधाताकी सुन्दर रचना और सुन्दर बाँतोवाली
 इन्दुमतीको वहाँसे अनूप राजाके भोगे ले जाकर सुनन्दा बोली—॥३७॥ 'बहुत दिनोंकी बात है,
 एक कार्त्तवीर्य नामके बड़े योगी हो गये हैं । उनमें बड़ी भारी बात यह थी कि जब वे लड़ने जाते
 थे तब उनके सहस्री हाथ निकल जाते थे । उन्होंने अठारह श्रोपोथे जाकर पशुके खन्ने पाह दिए
 थे । वे ऐसे प्रतापी थे कि उनके सामने कोई मयनेको राजा ही नहीं कह सकता था ॥३८॥ उनके
 समयमें यदि कोई पाप करनेका विचार भी करता था तो वे धनुष बस्थ लेकर उसके शिरपर जा
 चढ़ते थे । इस ढंगसे उस दब्यारीने सब लोगोंके मनसे पाप निकल वाला था ॥३९॥ जिस रावणने
 इन्द्रकी भी जीत लिया था उसको भी उन्होंने अपने कारागारमें बन्दी रख छोड़ा था । उन्होंने
 रावणकी भुजाएँ दस प्रकार धनुषकी छेरीसे कसकर बाँध दी थी कि वह बेचारा दिनरात उसीमें
 भरता रहता था और जबतक कार्त्तवीर्य उसपर प्रसन्न नहीं हुए तबतक उन्होंने उसे छोड़ा नहीं ॥४०॥
 उन्हीं प्रसिद्ध राजाके दशमें थे उत्पन्न हुए हैं, वे वेदो और बड़े-बूढ़ो [अथवा वेदके पण्डितों] की बड़ी
 सेवा करते हैं । लक्ष्मीको जो चंचलतावा दोष समझा जाता था उनका वह दोष भी सबसे मुक्त गया
 जबसे वह इनके पास रहने लगे [क्योंकि लक्ष्मी तो उसी पुरुषकी छोटकर चंचला होकर जाती
 है जो व्यवसती होने है । इसमें कोई व्यसन नहीं, इसलिये इन्हें कभी छोड़कर जायें] ॥४१॥ वे राजा
 इतने बलवान् हैं कि अग्निनी सहायता था वेनेसे, वे पशुधामकीके उद्य करनेकी तेज धाराकी भी

अस्याङ्गलक्ष्मीर्मव दीर्घवाहोर्माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम् ।
 प्रासादजालैर्जलवेशिरम्यां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः ॥४३॥
 तस्या प्रकामं प्रियदर्शनोऽपि न स चित्तीशो रचये बभूव ।
 शरत्प्रमृष्टाम्बुधरोपरोधः शशीव पर्याप्तकलो नलिन्याः ॥४४॥
 सा शूरसेनाविपतिं सुपेणमुद्दिश्य लोकान्तरगीतकीर्तिम् ।
 आचारशुद्धोभयवंशदीपं शुद्धान्तरच्या जगदे कुमारी ॥४५॥
 नीपान्वयः पार्थिव एष यज्वा गुणैर्यमाश्रित्य परस्परेण ।
 सिद्धाश्रमं शान्तमिवैत्य सत्त्वैर्नैसर्गिकोऽप्युत्ससृजे विरोधः ॥४६॥
 यस्यात्मगेहे नयनाभिरामा कान्तिर्हिमांशोरिव सनिविष्टा ।
 'हर्म्याग्रिसंरुद्धतृणाङ्कुरेषु तेजोऽविपद्य' रिपुमन्दिरेषु ॥४७॥
 यस्यापरोधस्वनचन्दनानां प्रचालनाद्वारिविहारकाले ।
 कलिन्दकन्या मधुरां गतापि गङ्गोर्मिससक्तजलेव भाति ॥४८॥
 व्रस्तेन तात्पर्यात्किल कालिपेन माणिं विसृष्टं यमुनौकमा यः ।
 बहःस्थलच्यापिरुचं दधानः सकौस्तुभं हपयतीव कृष्णम् ॥४९॥

कमलकी पक्ष्मीके समान कोमल सगभ्रते हैं जिसने युद्धमें अजियोका महासंहार कर वाला था ॥४३॥
 तुम यदि राजभवनके भरोबांसे उस सुन्दर सहरोबाकी नर्मदा का मनोहर दृश्य देखना चाहो जो
 माहिष्मती नगरीके चारों ओर तगड़ी-जैसी घूम गई है तो इस महाबाहु राजासे विवाह करलो ॥४३॥
 जैसे सुले साकाशवाली खरद-हनुका मनोहर चन्द्रमा भी कमलिनीबो नहीं माता वैसे ही वह सुन्दर
 राजा भी हनुगतोके मनमें नहीं जैसा ॥४४॥ तब रनिवासकी सेविका सुनन्दा, राजकुमारीको मधुराके
 उस राजा सुपेणके भ्राते से गई जिसकी कीर्ति स्वर्गके देवता भी गाते थे और जिसने अपने
 युद्ध करिये माता और पिताके दोनों मुलुके उजागर कर दिया था । उन्हें विज्ञाकर सुनन्दा
 बोली— ॥४५॥ 'ये राजा बड़ी निधिये यज्ञ करते हैं और प्रद्युम्नीय ब्रह्ममें उत्पन्न हुए हैं । जैसे
 भ्रातृप्रेमके दान्त आश्रमांभ सब जीव बँर छोड़कर एक साथ रहते हैं वैसे ही विद्वत्ता और मौन रहना
 ये परस्पर विरोधी गुण भी इनमें एक साथ रहते हैं ॥४६॥ चन्द्रमाकी चाँदीकी समान घ्राँवोकी
 गुप्त बेबेबात्ता इनका प्रवाह तो धरम रहता है और सूर्य के समान प्रज्वल छेज शत्रुओंके उन राज-
 भवनोपर दिखाई देता है जिसके उज्ज्वल जामेपर उनमें घात जम घाई है ॥४७॥ जब ये जल-
 विहार करते हैं और इनकी रानियोंके स्तनोपर लगा हुआ चन्दन जलमें मिश्रकर यमुनामें बहने
 लगता है उस समय मधुरामें भी यमुनानीनर रम ऐसा प्रतीत होता है मानो बहीवर उनका
 गयाबीकी सहरोसे सगम हो गया हो ॥४८॥ जब ये समय गलेमें वह मणि पहन लेते हैं, जो
 उन्हें उस कालिय नागने दी थी जो गरुडके डरते यमुनाके जलमें रहने लगा था, तब इनकी
 शोभाके भ्राते भीस्तुभ मणि पहने हुए श्रीकृष्णजीकी शोभा भी पीकी पट जाही है ॥४९॥

संभान्य भर्तारमसुं युवानं मृदुप्रवालोचरमुष्पशये ।
 वृन्दावने चैत्ररथादन्ते निर्विस्पतां सुन्दरि यौवनश्रीः ॥५०॥
 अध्यास्य चाम्भः पृथोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि ।
 कलापिनां प्रावृषि परय नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु ॥५१॥
 नृप तमावर्चमनोज्ञनाभिः सा व्यत्यगादन्यवधूर्मवित्री ।
 महीधरं मार्गवशादुपेतं स्रोतोपहा सागरगामिनीव ॥५२॥
 अथाङ्गदारिल्लभुजं भुजिष्या हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथम् ।
 आसेदुषीं सादितशत्रुपक्षं बालामवालेन्दुमुखीं वभाषे ॥५३॥
 असौ महेन्द्राद्रितमानसारः पतिर्महेन्द्रस्य महोदधेश्च ।
 यस्य क्षरत्सैन्यगजच्छत्नेन यात्रासु यातीव पुरो महेन्द्रः ॥५४॥
 ज्याघातरेखे सुसुब्धो भुजाम्यां विभर्ति यश्चापभृतां पुरोगः ।
 रिपुश्रियां साञ्जनवाप्यसेके वन्दीकृतानामिव पद्मती द्वे ॥५५॥
 यमात्मनः सघनि संनिकुष्टो मन्द्रध्वनिस्पाजितयामतूर्यः ।
 प्रासादवातायनदृश्यवीचि प्रबोधयत्यर्ध एव सुप्तम् ॥५६॥

हे सुन्दरी! इनके साथ पिताहृषिक आप पुत्रके चैत्ररथ नामके उद्यानसे भी बरबर सुन्दर वृन्दावनमें मोमल पत्तों और फूलोंकी छायाओपर बिहार करत ॥५०॥ और अर्ध दिनोंमें गोवर्धन पर्वतकी मुहावती गुफाओंमें पानीकी मुहारोते भीगी हुई दिस जाती थी ॥५१॥ दादियोंपर बैठकर मोरोंका नाच देखता ॥५२॥ पानीकी गहरक समान गहरी नाभिवाली और किसी प्रणयसे पिताहृषिकसे भी इच्छावाली इन्दुमती, राजा सुपुत्रको छोड़कर उसी प्रकार बाल बट गई जैसा समुद्रकी और बड़ती हुई नदी बीचमें पड़ते हुए पड़ावकी धोड़ जाती ॥५३॥ वहाँसे सुमन्दा बायीं ओरके पश्चिमकी समान मुखवाली इन्दुमतीसे उस क्षत्रिय देशका राजा हेमाङ्गदके आग ला गई जो प्रपनी माँहमें भुजध्वज पहने हुए थे और जि होत प्रणय समझावो नष्ट कर डाला था । उन्हें विज्ञाती हुई सुमन्दा बीली ॥५४॥ इनका देखाती है । ये महेन्द्र वरुण समान शक्तिवाला है और महेन्द्र पर्वत और समुद्र दोनोंपर इसका अधिकार है । जब ये ब्रह्मके निवे जाने हैं उस समय इनके प्राण-प्राये चलने वाले मायावा हाथी ऐसे तयत हे माना हाथियाका पैर ब-पर स्वयं महेन्द्र पर्वत जाता था रहा हो ॥५५॥ इनको देखाती हो न, नौसी सुन्दर इनकी मुजाएँ हैं और धनुषधारियोंमें तो इनसे बरबर नहीं है ही नहीं इनकी मुजाधारर जो दो बानी वाली रेखाएँ धनुषकी टारी सींचनेसे बन गई हैं, ये ऐसी जान पड़ती हैं मानो ये धनुषोंमें उस राज्य लक्ष्मीके मानेकी दो पादद्विधां हैं जो चन्द्रहोने धनुषोंसे तीन को हो और जिसने गहरारे कोसे महेन्द्राधुमोने तरारण ये पाद पट गए हो ॥५६॥ ठीक इनके राजभवनके नीचे ही समुद्र द्विचोर नेता है । उसकी लहरें राजभवनके चरोंपोंसे स्पष्ट दिखाई देती है । जब ये प्रपने राजभवनमें सोते हैं तब यह समुद्र हो नगादेकी ध्वनिसे भी

अस्याङ्गलक्ष्मीर्मव दीर्घबाहोर्माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम् ।
 प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः ॥४३॥
 तस्या प्रकामं त्रियदर्शनोऽपि न स चितीशो रचये वभूव ।
 शरत्प्रमृष्टाम्बुधरोपरोधः शशीव पर्याप्तकलो नलिन्याः ॥४४॥
 सा शूरसेनाधिपतिं सुपेणुशुदिरय लोकान्तरगीतकीर्तिम् ।
 आचारशुद्धोभयवंशदीपं शुद्धान्तरच्या जगदे कुमारी ॥४५॥
 नीपान्वयः पार्थिव एष यज्वा गुणैर्यमाश्रित्य परस्परेश ।
 सिद्धाश्रमं शान्तमिवैत्य सत्त्वैर्नैसर्गिकोऽप्युत्ससृजे विरोधः ॥४६॥
 यस्यात्मगेहे नयनाभिरामा कान्तिर्हिमांशोरिव सनिविष्टा ।
 हर्म्याग्रसरुदृशाङ्कुरेषु तेजोऽविषद्यं रिपुमन्दिरेषु ॥४७॥
 यस्यावरोबस्तनचन्दनानां प्रवालनाद्वारिविहारकाले ।
 कलिन्दकन्या मथुरां गतापि गङ्गोर्मिससक्तजलेव भाति ॥४८॥
 व्रस्तेन तात्पर्यात्किल कालियेन मर्षि विसृष्टं यमुनौकमर यः ।
 वज्रस्थलव्यापिरुचं दधानः सकौस्तुभं ह्येपयतीव कृष्णम् ॥४९॥

कमलकी पक्षडीके समान गोमन समझते हैं जिन्होंने युद्धमें सत्रियोका महामोहार कर डाला था ॥४३॥
 तुम यदि राजभवनके भरोसोसे उस सुन्दर लहरोवाली नर्मदा का मनोहर दृश्य देखना चाहो जो
 माहिष्मती नगरीके चारों ओर लगी जैसी धूम गई है तो हम महाबाहु राजासे विदाह करलो ॥४४॥
 जैसे छुले प्राकानवाभी छरदरुतुका मनोहर चन्द्रमा भी कमलनीको नहीं भाता वैसे ही वह सुन्दर
 राजा भी हनुमतीके मनमें नहीं जंचा ॥४५॥ तब रविदासका सेनिका सुनन्दा, राजकुमारीको मथुराके
 उस राजा सुपेणुके आगे ले गई जिसकी कीर्ति स्वर्गक देवता भी गाते थे और जिसने अपने
 छुड़ चरित्रसे नाता और पिताके दोनो कुलोको उजागर कर दिया था । उन्हे दिखाकर सुनन्दा
 मौली—॥४६॥ ये राजा बड़ी विधिले गज करते हैं और प्रवासनीय यत्नमें उत्पन्न हुए हैं । जैसे
 ऋषिकेके शान्त आश्रममें सब जीव बंद छोड़कर एक साथ रहते हैं वैसे ही विद्वत्ता और मोन रहना
 ये परस्पर विरोधी गुण भी इनमें एक साथ रहते हैं ॥४६॥ चन्द्रगानी चंदनीके समान प्राक्षोको
 सुख देनेवाला इनका प्रभाव तो परमे रहता है और सूर्य के समान प्रबल तेज शत्रुकाके मन राज-
 भवनोपर दिखाई देता है जिनके उजड़ जानेपर उनमें मास जम आई है ॥४७॥ जब ये कल-
 विहार करते हैं और इनको सत्रियोने स्तनोपर लगा हुआ चन्दन जलम मिलकर मधुनाम बहने
 लगता है उस समय मथुरामें भी यमुनाजीका रग ऐसा प्रतीत होता है मानो वहीपर उनका
 गगाजीको लहरोसे सगम हो गया हो ॥४८॥ जब ये अपने गलेमें वह मखि पहन लेते हैं जो
 उन्हें उस कालिय नागने दी थी जो गरुडके डरसे यमुनाके जलमें रहने लगा था, तब इनकी
 घोभाने आगे बोलतुम मखि पहने हुए श्रीरूपजीकी शोभा भी कीकी यह जाती है ॥४९॥

ताम्बूलवल्लीपरिखट्टपूगास्वेतालतालिकितचन्दनासु ।
 तमालपत्रास्तरसासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्यलीषु ॥६४॥
 इन्दीवरश्यामतनूर्नुपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरपट्टिः ।
 अन्योन्यशोभापरिबृद्धये वां योगस्तद्विचोयदयोरिवास्तु ॥६५॥
 स्वसुर्विदर्भाधिपतेस्तदीयो लेभेऽन्तरं चेतसि नोपदेशः ।
 दिवाकरादर्शनवद्वकोशे नक्षत्रनाथांशुरिवारविन्दे ॥६६॥
 संस्वारिणीदीपशिखेवरात्रौ यं यं व्यतीपाय पतिंवरा सा ।
 नरेन्द्रमार्गाद्दृष्ट्वा प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥६७॥
 तस्यां रघोः क्षुरुरुपस्थितायां वृषीत मां नेति समाकुलाऽभूत् ।
 शमेतरः संशयमस्य बाहुः केयूरबन्धोच्छ्वसितैर्नुनोद ॥६८॥
 तं प्राप्य सर्वावयवानवधं व्यवर्त्ततान्योपगमात्कुमारी ।
 न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काञ्चति पट्पदाली ॥६९॥
 तस्मिन्समावेशितचित्तवृत्तिमिन्दुप्रभामिन्दुमयीमवेक्ष्य ।
 प्रचक्रमे वक्तुमनुक्रमज्ञा सविस्तरं वाक्यमिदं सुनन्दा ॥७०॥

पृथ्वीकी सीत बन जायो जिसकी तमझी स्वयं रत्नोसे भरा समुद्र है ॥६३॥ यदि तुम सदा मलय
 पर्वतकी उन घाटियो मे विहार करना चाहो, जिनमे पानकी बेसंति ठके हुए सुपारीके पेठ लड़े हैं,
 इलायचीकी बेसीसे लिपटे हुए चन्दनके पेठ लगे हैं और स्थान-स्थानपर ताड़के पत्ते फँसे हुए हैं, तो
 तुम इनसे विवाह कर लो ॥६४॥ फिर ये मीस कमसके समान साँवले हैं और तुम गोरीजन जैसी
 गोरी हो, इसलिये यदि तुम दोनोका विवाह हो जायगा तो तुम ऐसी सुन्दर लगोगी जैसे बादलके
 साथ विजली ॥६५॥ सुनन्दाकी बातें इन्दुमतीके मनमे बैसे ही नहीं घर कर सकी जैते सूर्यके न दिलाई
 बेनेपर बन्द कमलके भीतर चन्द्रमाकी किरणें नहीं पहुँच पाती ॥६६॥ रातको जब हम दोपक
 सेकर चलते हैं तब जो-जो राजमार्गके भवन पीछे छूटते वसते हैं वे अँधेरेसे पड़कर धुँधले पड़ते जाते
 हैं, वैसे ही जिन-जिन राजाओको छोड़कर इन्दुमती आगे बढ़ गई उनका मुँह उवास पड़ गया ॥६७॥
 जब वह रघुके पुत्र राजके सामने आकर खड़ी हुई सब अजके मनमे भी यह धुवधुकी होने लगी कि यह
 मुझे बरेगी या नहीं । पर उसी समय भुजबन्धके पास उनकी दाईं ओर फटक उठी जिससे उनकी
 शंका दूर हो गई ॥६८॥ इन्दुमतीमे जब उन सर्वाङ्ग-सुन्दर राजा अजकी देखा तब वह वही बन
 गई और फिर किसी राजाके सामने नहीं जा सकी क्योंकि जब भीरोका भुज आगेके वृक्षपर पहुँच
 जाता है तब उन्हे दूसरे वृक्षके पास जानेकी चाह नहीं रहती ॥ ६९ ॥ सुनन्दा तो बात पतामेका
 बड़ा डंग जानती थी इसलिये जब उसने देखा कि चन्द्रमाके समान मुखवाली इन्दुमती राजके रूपपर

इच्छादुर्वश्यः ककुदं नृपाणां ककुत्स्थ इत्याहितलवणोऽभूत् ।
 ककुत्स्थशब्दं यत्त उन्नतेच्छाः श्लाघ्यं दधत्युत्तरकोशलेन्द्राः ॥७१॥
 महेन्द्रमास्याय महोचरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः ।
 चकार वार्धस्मृगद्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेयाः ॥७२॥
 ऐरावतास्थालनविश्वयं यः संघट्टयन्नद्गदमद्गदेन ।
 उपेयुषः स्वामपि मूर्तिमग्रयामधर्मिनं गोत्रभिदोऽधितप्टौ ॥७३॥
 जातः कुलो तस्य किलोरुकीर्तिः कुलप्रदीपो नृपतिर्दिलीपः ।
 अतिष्ठदेकोनशतक्रतुत्वे शक्राम्यस्रयाविनिष्टुत्तये यः ॥७४॥
 यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम् ।
 पातोऽपि नासंसघदंशुकानि को लम्पयेदाहरणाय हस्तम् ॥७५॥
 पुत्रो रघुमत्स्य पदं प्रशास्ति महाक्रतोर्विश्रजितः प्रयोक्ता ।
 चतुर्दिगानर्जितमंभृतां यो मृत्पाप्रशेषामकरोद्विभूतिम् ॥७६॥
 आरुढमद्रीनुदधीन्वितीर्णं मुजगमानां वसतिं प्रविष्टम् ।
 ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुगन्धि यशःपरिच्येतुमियत्तयालग् ॥७७॥

असौ कुमारस्तमजोऽनुजातस्त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्त ।
 गुर्वीं धुरं योम्वनस्य पित्रा धुर्येष दम्यः सदृशं निभर्ति ॥७८॥
 कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयग्रधानैः ।
 त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्वरत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ॥७९॥
 ततः सुनन्दावचनामसाने लज्जां तनूकृत्य नरेन्द्रकन्या ।
 दृष्ट्या प्रसादामलया कुमारं प्रत्यग्रहीत्सवरणस्रजेव ॥८०॥
 सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्ध शशाकशालीनतया न वक्तुम् ।
 रोमाञ्चलक्ष्येण सगात्रयष्टि भित्तिनिराकामदरालकेरयाः ॥८१॥
 तथागतायां परिहासपूर्वं सख्यां सखीं चेतृभृदाश्रभापे ।
 आर्ये प्रजामोऽन्यत इत्यथैनां धधूरस्रयाकुटिलं ददर्श ॥८२॥
 सा चूर्णगौरं रघुन्दनस्य घात्रीकराभ्यां करभोपमोरुः ।
 आसज्जपामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुण मूर्च्छमिवानुरागम् ॥८३॥
 तथा सजा मङ्गलपुष्पमय्या विशालवत्स्थललम्बया सः ।
 अर्मेस्त कण्ठापितवाहुपाशां विदर्भराजावरजां वरेण्यः ॥८४॥
 शशिनमुपगतेय कौमुदीः मेघमुक्तं जलनिधिमनुरूप जङ्घुकन्यावतीर्णा ।
 इति समगुणयोगप्रीत्यस्तत्रपीराः श्रवणकट्ट नृपाणामेकवाक्यं विद्युः ॥८५॥

मे घोर भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों नामोंमें सब कह्यो तो उनका यत्त फौज हुआ है ॥७७॥ जैसे हादके पुत्र जयन्त बड़े प्रजापी हुए थे वैसे ही कुमार भज भी उन्हीं प्रजापी रघुके पुत्र हैं और ये भी अपने प्रजापी पिताके समान ही राज्यका सब काम सँभालते हैं ॥७८॥ इनका कुल, रूप, यौवन, और नम्रता भावि गुण सब सुन्दारे ही जैसे हैं । तुम इनसे अवश्य विवाह करो जिस रत्न घोर सोने-का ठीक-ठीक मेस हो जाय ॥७९॥ जब सुमन्दा कह चुकी तब इन्दुमतीने तबसे छोटपर अपनी हैतवी हुई भाँखें भजपर डाली और भाँखी भाँखोमें इस प्रकार उन्हे बर तिया गानो वह दृष्टि ही स्वयंवरकी माता हो ॥८०॥ लाजके मारे इन्दुमती अपने प्रेमकी बात भजसे कह तो न सकी पर उस प्रेमके बारण उसे रोमान हो आया और धुंधराले बालोवाली इन्दुमतीके हृदयपर वह प्रेम छिपाने पर भी न छिप सका मानो खड़े हुये रोनेटोये रूपमें वह प्रेम दारीर फोडकर निकल आया हो ॥८१॥ सुनन्दाने इन्दुमतीकी यह दशा देखकर ठिठोली करते हुए कहा—आर्य, चलिए आगे बढ़िए । इसपर इन्दुमतीने भाँखें तरेरकर सुनन्दाकी ओर देखा ॥८२॥ हाथी की सूँडके समान जवामोवाली इन्दुमतीने सुनन्दाके हाथो रघुके पुत्र भजके गलेमें वह स्वयंवरकी माता पहनवा दी जिसके कोरेमें लगी हुई रौली साक्षात् धनुरागके तामान ही सोमा दे रही थी ॥८३॥ जब अपने गलेमें वह फूलो की मगल माता पड़ी और उन्नी चौड़ी छातीपर झूल गई तब उसे देखकर भजने मही समझा

प्रमुदितवरपक्षमेकतस्तत्त्वितिपतिमण्डलमन्यतो वितानम् ।
उपसि सर इव प्रफुल्लपत्रं कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रमासीत् ॥८६॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतो रघुवंशे महाकाव्ये
स्वयंवरवर्णनो नाम पष्ठ सर्गः ॥

मानो इन्दुमतीने मेरे गलेमें अपनी चुजाएँ हो शास हो हो ॥८४॥ जब वहाँके नगरवासियोंने देखा कि समान गुणवाले भज और इन्दुमतीका सम्बन्ध हो गया तब वे एक साथ बोल उठे—‘यह तो चाँदनी और चन्द्रमा का भेल हुआ है और बगानों समूहमें मिल गई हैं ।’ दूसरे राजा लोग ज्यों-ज्यों ये सब बातें सुनते जा रहे थे, त्यों-त्यों मनमें मुठ्ठते जा रहे थे ॥८५॥ स्वयंवरके मठपने एक ओर राजके सारी हँसते हुए सबे से और दूसरी ओर उदास मुँहवाले राजा लोग । उस समय यह मण्डप प्राप्त-जालके जल सरोवर जैसा लगने लगा जिसमें एक छोटी सिले हुए कमल दिखाई दे रहे हो और दूसरी ओर मुँहे कुमुदोका मूण्ड लड़ा हो गया हो ॥८६॥

महाकवि कालिदासके रहे हुए रघुवंश महाकाव्यमें इन्दुमती-स्वयंवर नामका छठा सर्ग समाप्त हुआ ।

॥ सप्तमः सर्गः ॥

अथोपयन्त्रा सदृशेन युक्तां स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम् ।
 स्वसारमादाय विदर्भनाथः पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव ॥ १ ॥
 सेनानिवेशान्पृथिवीक्षितोऽपि जग्मुर्विमानग्रहमन्दमासः ।
 भोज्यां प्रति ध्यर्धमनोरयत्वाद्वेषेषु च साम्यस्रयाः ॥ २ ॥
 सांनिध्ययोगात्किल तत्र शच्याः स्वयंवरद्योमकृतामभावः ।
 क्राकुत्स्यमुदिरय समत्सरोपि शशाम तेन क्षितिपाललोकः ॥ ३ ॥
 तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारमिन्द्रासुधघोतितवोरणाङ्गम् ।
 वरः स बभूव सह राजमार्गे प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् ॥ ४ ॥
 ततस्तदालोकनतत्पराणां सौधेषु चामीकरजलावस्तु ।
 यभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥ ५ ॥
 आलोकमार्गे सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमास्थः ।
 यदु न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥ ६ ॥

राजतर्वा सर्ग

स्वपत्नर हो चुकने पर योग्य पतिसे न्याही हुई अपनी बहन इन्दुमतीको साथ लेकर विभर्ष-
 रिसा नगरकी ओर चले । अपनी पत्नी इन्दुमती के साथ जाते हुए अज ऐसे तब रहे थे मानो साक्षात्
 'वसेना' के साथ स्कन्द जा रहे हो ॥१॥ दूसरे राजा लोग भी प्रातःकालने तारोकि समान अपना
 दास भूँड़ लेकर अपने अपने देरों में यह कहते हुए सोट गए कि जब इन्दुमती ही नहीं मिली
 अब हम लोगोबा यह रूप और यह वेश रहा किस कामका ॥२॥ उस स्वपत्नर में स्वयं इन्द्राणी
 लक्षित थी इसलिये वहाँ किसीका साहस नहीं हुआ कि कुछ हटबडी कर सके । यो तो जितने
 गये हुए राजा वे थे सभी अजसे मन ही मन कुबते थे किन्तु इन्द्राणोंके रहनेसे जलका भी कोष
 पडा पट गया ॥३॥ उस राग्य अज अपनी पत्नीके साथ नगरके बीचते राजपथपर चले जा रहे
 । स्नान-स्नानपर मन्दर नये फूल उनपर बरसाए जा रहे थे और इन्द्रधनुषके समान रंग बिरंगे
 रेरण उनके स्वागतमें सजाए गए थे । नगरमें इतनी कण्डियाँ लगाई गई थी कि धूप भी एक गई
 ही ॥४॥ उनको देखतेके लिये नगर की सुन्दरियाँ अपना अपना काम छोड़कर अपने अपने भवनों के
 झरोखों की ओर सोच पड़ी ॥५॥ एक सुन्दरी उन्हें देखने के लिये जब झरोखेकी ओर लपकी तब
 हवा उसका झूटा पुल गया । उस हटबडीमें अपना झूटा नाँपनेकी भी उसे सुघ न रही और वह
 अपने केश हाथमें धामे ही खिडकीपर फँस गई । बालों के बीले पट जानेसे उनमें घुपे हुए फूल

प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाचिष्य काचिद्भ्रवरागमेव ।
 उत्सृष्टलीलाभतिरामवाचादलक्षकाङ्क्षा पदवीं ततान ॥७॥
 विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा ।
 तथैव वातायनसंनिकर्षे ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥८॥
 जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिचां न वचन्ध नीवीम् ।
 नाभिप्रविष्टाभरणप्रमेष हस्तेन तस्यावबलम्व्य वासः ॥९॥
 अर्धाञ्चित्तं सत्त्वरमुत्थितायोः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती ।
 कस्याधिदासीदृशना तदानीमद्गुप्तमूलापितृवृक्षशेषा ॥१०॥
 तासां सुरैरासवगन्धगर्भैर्व्यसितान्तराः सान्द्रवृत्तहलानाम् ।
 विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाचाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥११॥
 ता राघवं दृष्टिभिरोपिरन्त्यो नार्यो नजगमुर्निपयान्तराणि ।
 तयाहि शेषेन्द्रियवृचिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥१२॥
 स्थाने कृता भूपतिभिः परोक्षैः स्वयंवरं साधुमर्मस्त भोज्या ।
 पद्मेयं नारायणमन्यथासी लमेत कान्तं कथमात्मतुल्यम् ॥१३॥

दरबार में गिरते जाते थे ॥६॥ एक दूसरी स्त्री अपनी भुज्जोर करनेवाली बांसों से पैरों में महाबर लगवा रही थी । वह भी अपने पैर सीचकर गीले पैरों से ही भरोखेकी घोर दौड पड़ी जिससे भरोखेक लाल पैरों के छावनी पाँत-सी बनती चली गई ॥७॥ एक तीसरी स्त्री अपनी आँखों में मौजने लगी रही थी । आई आँखों में तो सगा चुनी थी पर वाई आँख में मौजन लगाए बिना ही वह सलाई हाथ में लिए भरोखेकी घोर दौड पड़ी ॥८॥ एक घोर स्त्री भरोखेमें आँख लगाए खड़ी थी । उसका ताँहा खुल गया था पर उसे बाँधने की गुप्त ही उसे नहीं थी । वह अपने कपड़े हाथों में घामे इस प्रकार खड़ी थी कि उसके हाथों में धामुपखोकी चमक उसकी नाभितक पहुँच रही थी ॥९॥ एक स्त्री वैठी हुई मणिमयी की तगड़ी गुथ रही थी जिसका एक छोर उसने एक पैर के मँगुठे में बाँध रक्खा था । वह अभी बांधी ही पिये पाई थी कि सहसा उठकर भ्रजको देखनेके लिये भरोखे की घोर लपकी चली गई । फर्क यह हुआ कि वहाँ पहुँचते पहुँचते मणि तो सब निकल-निकलने पर इधर उधर बिखर गए, केवल थोड़ा-भर पाँवों में बँधा रह गया ॥१०॥ मदिरा की गन्ध से मुवाहित मुखोवाली, भरोखों में उत्प्लुताके साथ योग्यती हुई वे स्त्रियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो भरोखों में बहुतसे वमल खड़े हुए हो और उनपर बहुत से और मा बँटे हो क्योंकि उनसे मुन्दर मुखोपर आँखें ऐसी जान पड़ती थी जैसे वमलपर और बँटे हो ॥११॥ वे स्त्रियाँ ऐसी एकटब होकर अपने नेत्रों में भ्रजका रूप भी रही थी कि उनकी ध्यात्र किसी घोर कामकी घोर गया हो नहीं मानो उनकी सब इन्द्रियोंकी चालि रव आँखों में हो या बगी हो ॥१२॥ [स्त्रियाँ घायलसे कह रही थी] यो तो बहुतसे राजाधनि अपने

परस्परेण स्पृहणीयशोभ न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत् ।
 अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां वितथोऽभविष्यत् ॥१४॥
 रतिस्मरौ नूनमिमावभूतां राज्ञां सहस्रेषु तथाहि बाला ।
 गतेयमात्मप्रतिरूपमेव मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम् ॥१५॥
 इत्युद्रताः पौरवधूम्रमेभ्यः शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः ।
 उद्भासितं मङ्गलमंविधाभिः संवधिन्नः सप्त समामसाद ॥१६॥
 ततोऽवतीर्थांशु करेणुकायाः स कामरूपेस्वरदत्तहस्तः ।
 वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्क्रमन्तः ॥१७॥
 महार्हसिंहामनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम् ।
 भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ॥१८॥
 दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये त्रिनीतैरवरोधरक्षैः ।
 वेलासकाशं स्फुटफेनराजिर्नयैस्दन्वानिव चन्द्रपादैः ॥१९॥
 तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः ।
 तमेव चाधाय त्रिधाहसाक्ष्ये वधूवरौ संगमयांचकार ॥२०॥

आप आपर इन्दुमतीसे विवाहकी आर्पणा की थी, पर राजकुमारीने स्वयवर करके ही अपना विवाह करना उचित समझा और यह ठीक भी किया । जैसे स्वयवरमे खसमीने नारायणजी वर लिया वैसे ही इन्दुमतीमे भी धनजी वर लिया है । बताया तो बिना स्वयवरके उसे ऐसा योग्य वर कैसे मिल पाता ॥१३॥ यदि बहुत यह सुन्दर जोड़ी न भिन्नाते तो इन दोनोंको सुन्दर बनानेका उनका सब परिश्रम ही व्यर्थ जाता ॥१४॥ ये दोनों पिछले जन्ममे रति और कामदेव ही रहे होंगे । इसीलिये दो सहस्रो राजाओंके बीचमे इन्दुमतीने उन्हें प्राप्त कर लिया क्योंकि पिछले जन्मके सन्ध्यावर्षे मन तो भली भाँति पहचान ही लेता है ॥१५॥ नगरकी महिलाओंने मुहसे इस प्रयादवी बातें सुनते हुए कुमार आज अपने सन्ध्यावर्षे भोजके उस राज सन्ध्यावर्षे या पहुँचे तो नगल सामग्रियोंकी सजावटके जममगा रहा था ॥१६॥ वहाँ पहुँचकर वे अगले हथिनिले नीचे उतरे और कामरूपी राजाके हाथमे हाथ देकर विदर्भराजके बताये हुए भीतरी चौकमे ऐसे पंठ गये मानो वे वहाँकी स्थितियोंके मन मे भी पंठ गए हों ॥१७॥ वहाँ ने सुन्दर बहुमूल्य सिंहासनपर जानवर बैठ गए । भोजने उन्हें रत्नीय वस्त्रोंने एवं जोड़ेने साथ जो [यही, मधु और घी मिला हुआ] मधुपर्क भेंट दिया उसे उन्होंने वहाँकी केलियों की बाँकी चितवनक साथ साथ स्वीकार कर लिया १८॥ चन्द्रावती नई तिरछी सगुदकी उजली आगवासी लहरोको शीतकर दूर बिनारेक ले आती है वैसे ही रतिवासके नग हेतक सजकी इन्दुमतीने पास ले गये ॥१९॥ वहाँ विदर्भराजके अग्निके समान तेजस्वी पुरोहितने भी आदि आगवियों से हवन करने और उसी अग्निकी साथी बनाकर पर वधूदा

हस्तेन हस्तं परिगृह्य बध्वाः स राजसूनुः सुतरां चकासे ।
 अनन्तराशोकलताप्रवाल प्राप्येव चूतः प्रतिपल्लवेन ॥२१॥
 ग्रासीद्वरः कण्टकितप्रकोष्ठः स्विनांगुलिः संवृते कुमारी ।
 तस्मिन्द्वये तत्त्वशमात्मवृत्तिः समं विभक्तेव मनोभवेन ॥२२॥
 तयोरपाङ्गप्रतिसारितानि क्रियासमापचिनिवर्तितानि ।
 हीयन्वणामानशिरै मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥२३॥
 प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदक्षिपस्तन्मिथुनं चकासे ।
 मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥२४॥
 नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता बध्विधातृप्रतिमेन तेन ।
 चकार सा मसचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ ॥२५॥
 हविःशमीपल्लयलाजगन्धी पुण्यः कृशानोरुदियाय धूमः ।
 कपोलससर्पिंश्छिद्यः स तस्या मूर्तकणोत्पलतां प्रपेदे ॥२६॥
 तदञ्जनक्रोदसमाकुलाक्षं प्रभलानवीजाङ्कुरकर्षणम् ।
 बध्मुलं पाटलगण्डलेखमाचारधूमग्रहणाद्बभूव ॥२७॥
 तौ स्नातकैर्वन्धुमता च राज्ञा पुरंध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम् ।
 कन्याकुमारौ कनकासनस्यावाद्राक्षितारोपणमन्वभूताम् ॥२८॥

गैडजोवा कर दिया ॥२०॥ जैसे ग्रामका पेठ अपनी पत्तिमोके साथ-साथ भयोकर लताकी लाल पत्तिपो के मिल जानेसे मनोहर लगता है वैसे ही जब भवने अपनी बहूका हाथ यामा तब वे भी बहुत सुन्दर लगने लगे ॥२१॥ बहूके हाथ यामनेसे भयके गट्टेके पास रोमांच हो आया और इन्दुमती की जैंगलियोंमें पसीना भाते लगा । उस समय ऐसा प्रतीत हुआ मानो फायदेवने अपने प्रेमका भाव उन दोनोंमें बराबर बाँट दिया हो ॥२२॥ वे कनखियोंसे एक दूसरेकी ओर देखते थे और भाँसे पार होते ही एक दूसरेको देखकर लज्जासे भाँसे नीची कर लेते थे । उगका यह लाजमरा सकोच देख-मैवालोका मन मोह ले रहा था ॥२३॥ जब और इन्दुमती दोनों जब हयनकी अग्निके फेरे देने लगे उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो दिन और रातका जोड़ा मिलकर सुमेरु पर्वतकी कंरी दे रहा हो ॥२४॥ तब बड़े-बड़े नितम्बोवाली गल चकोरके लगान भाँखोवाली, लजीभी इन्दुमतीने बहूके समान पूर्य पुरोहितके कहनेसे अग्निमें यामकी खोलें छोड़ी ॥२५॥ धी शमीके पत्तो और घानकी खीलोकी गन्धसे भरा हुआ पवित्र धुआँ अग्निसे निकलकर जब इन्दुमतीके कपोलतक पहुँचा तब ऐसा जान पड़ा मानो इन्दुमतीने नीले कमलका बसंभूत पहन लिया हो ॥२६॥ उस विवाहकी अग्निका धुआँ लगनेसे इन्दुमतीकी भाँखोंसे आँखें मिला हुआ भाँसू रहने लगा, कानोंके कण्ठफूल कुम्हला गए और गाल लाल हो गए ॥२७॥ फेरे हो चुकनेपर सोनेके सिंहासनपर बैठे हुए बर-बधूके ऊपर स्नातकीने, कुटुम्बियोंने, भोबरावने और पुरोहितजीने वारी-वारीसे अथवा गीते छोटकर ग्रासीर्वाद

इति स्वसुभाजिकुलप्रदीपः संपाद्य पाणिग्रहणं स राजा ।
 महीपतीनां पृथग्दर्शार्थं समादिदेशाधिकृतानधित्रीः ॥२६॥
 लिङ्गैर्मुदः संवृतविक्रियास्ते हृदाः प्रसन्ना इव गूढनक्राः ।
 वैदर्भमामन्य ययुस्तदीयां प्रत्यर्प्य पूजामुपदाच्छलेन ॥३०॥
 स राजलोकः कृतपूर्वसंविदारम्भसिद्धौ समयोपलभ्यम् ।
 आदास्पमानः प्रमदामिपं तदावृत्य पन्थानमजस्य तस्थौ ॥३१॥
 भर्चापि तावत्कथकैशिकानामनुष्ठितानन्तरजाविवाहः ।
 सत्त्वानुरूपाहरणीकुतश्रीः प्रास्यापयद्राघवमन्वगाञ्च ॥३२॥
 तिलस्त्रिलोकः यित्तेन सार्धमजेन मार्गे वसतीरुपित्वा ।
 तस्मादपावर्तत कुण्डिनेशः पर्वत्यये सोम इवोष्णरश्मेः ॥३३॥
 प्रमन्ययः प्रागपि कोशलेन्द्रे प्रत्येकमात्तस्वतया बभूवुः ।
 अतो नृपाश्चक्षुमिरे समेताः स्त्रीरत्नसार्धं न तदात्मजस्य ॥३४॥
 तमुद्वहन्तं पथि भोजकन्यां रुरोध राजन्यगणः स दसः ।
 वलिप्रदिष्टां श्रियमाददानं त्रैविक्रमं पादमिवेन्द्रशत्रुः ॥३५॥

दिष्ट ॥३५॥ उस भोज-कुलके दीपक, लक्ष्मीबाबू राजाने अपनी बहन का विवाह-सत्कार पूरा करके सेवकों को आज्ञा दी कि वे भलग-भलग सब राजाओं का आदर-सत्कार करें ॥२६॥ जैसे हातके निर्मल जलके भीतर ही पड़ियाल भी रहते हैं वैसे ही वृत्तरे राजा भी ऊपरसे तो बड़े प्रसन्न दिखाई देते थे पर मनने बड़े कुटे हुए थे । वे सब विदर्भ-राजसे आज्ञा लेकर उनकी दी हुई सामग्रीको भेंटके बहानेसे लौटा-लौटाकर अपनी-अपने देशोंको लौट चले ॥३०॥ इन राजाओंने मिलकर पहले ही निश्चय कर लिया था कि जब जब इन्दुपतीको लेकर चलें तो उन्हें घेर लिया जाय और उनसे सुन्दरी इन्दुपतीको छीन लिया जाय इसलिये वे सब मिलकर धामे भजक मार्ग रोककर बीचमें डहड़ गए ॥३१॥ इधर छोटी बहिनका विवाह करके विदर्भ-राजने भी अपने सामर्थ्यके अनुसार धन देकर अपने पुत्र प्रजको बिदा दी और उनके साथ-साथ जाकर कुछ दूरतक उन्हें पहुँचा आए ॥३२॥ कुम्भिनपुरके राजा भोजने तीनों लोकोंमें विख्यात प्रजके साथ मार्गमें तीन रातें बिताई और फिर वैसे ही लौट आए जैसे अमावस्या होनेपर सूर्यके पाससे चन्द्रमा लौट जाता है ॥३३॥ जो राजा मार्ग रोकें उन्हें हुए थे, उनका कोदलपति अपने विमिश्रणके समय धन छीन लिया था इसलिये वे तो पहलेसे ही उनसे जले बँटें थे । इसीलिये वे यह भी नहीं सह सके कि अपने पुत्र हम लोगोंके रहते हुए स्त्रियोंमें रत्न इन्दुपतीको लेकर चला जाय ॥३४॥ जब जब इन्दुपतीको साथ लिए चले जा रहे थे उस समय उन अभिमानी राजाओंने उनकी उसी प्रकार रोक लिया जैसे इन्द्रके शत्रु युनासुरने वामनके चरणोंको जब समय रोक लिया था जब वे बलिकी राज्य-लक्ष्मी लेकर चले थे ॥३५॥

तस्याः स रक्षार्थमनल्पपोषमादिरथ पित्र्यं सचिवं कुमारः ।
 प्रत्यग्रहीत्पार्थिववाहिनीं तां मागीरथीं शोण इवोत्तरगः ॥३६॥
 पत्तिः पदातिं रथिनं रथेशस्तुरङ्गसादी तुरगाधिरुडम् ।
 यन्ता गजस्याभ्यपतद्गजस्थं तुल्यप्रतिद्वान्द्रि बभूव युद्धम् ॥३७॥
 नदत्सु तूर्य्यध्वनिमाव्यवाचो नोदीरयन्ति स्म कुलोपदेशान् ।
 बाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जितं चापभृतः शशंसुः ॥३८॥
 उत्थापितः संयति रेणुररवैः सान्द्रीकृतः स्पन्दनवंशचक्रैः ।
 विस्तारितः कुञ्जरकर्णतालैर्नेत्रक्रमेणोपरुध सूर्यम् ॥३९॥
 मत्स्यध्वला वायुवशाद्विदीर्घैर्मुखैः प्रवृद्धध्वनिनीरजांसि ।
 वधुः पिबन्त परमार्थमत्स्याः पर्याविलानीव नवोदकानि ॥४०॥
 रथो रथाङ्गध्वनिना विजहो विलोलपण्टाकवणितेन नाभः ।
 स्त्रभर्वनामग्रहणाद्वभूव सान्द्रे रजस्यात्मपरावबोधः ॥४१॥
 आश्रयतो लोचनमार्गमाजी रजोऽन्धकारस्य विजृम्भितस्य ।
 शस्त्रक्षताश्वद्विपवीरजन्मा - बालारुणोऽभूद्भिरप्रवाहः ॥४२॥

प्रजने अपने पिताके मर्षीको आज्ञा दी कि थोड़ेसे थोड़ा साथ लेकर इन्धुमतीकी रक्षा करो और वे
 स्वयं उस सेनाको लेकर उसी प्रकार सहे हो गए जैसे बाढ़ने दिनेमि ऊँची तरंगोवाला घोरानव
 तङ्गाजीकी पाराकी रोक लेता है ॥३६॥ सट्टाई छिट गई। पंख पंखो से निड गये, रथवाले
 रथवालो से शूब गए, पुटसवार पुटसवारी से चलभ परे, हाथी सवार हाथी सवारी पर टूट पडे ।
 इस प्रकार बराबर जौरकी लड़ाई होने लगी ॥३७॥ वहाँ इतनी तुरहीयाँ बज रही थी कि नितीको
 पुछ गुनाई नहीं देता था । इसलिये पनुषपारी अपना कुन धीरे नाथ भी नहीं पुकार रहे थे ।
 पर ये जो बाण चला रहे थे उनपर घुरे हुए अक्षरोंके ही उनसे माधोवा जान हो जाता
 था ॥३८॥ मुद्-शेनमे थोड़ीकी टापो से जो धूल उठी, उसमे उनके पहिपोले सटी हुई धूल
 गिलवर भोग भी पनी हो गई । हाथियोने बानोने हुतालोये ऐसी धूल आरो धोर फेंक
 गई जानी सूर्यको कपडेते डक दिया गया हो ॥३९॥ नाबुने करण सेनाकी मछलीके
 धाराखाती म्दियोने मुँह खुल गये थे । उनमे जब धूल घुस रही थी तब वे ऐसी
 जान पड़ती थी जानी पर्याप्त गदता पानी पीती हुई लम्बी मछलिमाँ हो ॥४०॥
 धूल इतनी गहरी छा गई थी कि उस मुद् सेन मे पहियोका धन्द गुनवर हो वे समझ पाते
 थे कि रथ या रहा है और अपना-परमा तब समझते थे जब दोनों धोरसे संनिव अपने-अपने राजा-
 ओका नाम मेलेतर मुद् बज्ते थे ॥४१॥ सीतोने धाने धंधेरा छा देनेवापी धोर मुद्भूमिमें
 भी हुई धूलके सीपयारिमे, धस्नोमे धायत पाँदो, हाथियो धोर थोडाधोने धधेरमे निवसा हुआ

स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्ठात्पवनावधूतः ।
 अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवावभासे ॥४३॥
 प्रहारमूर्च्छाभिगमे रथस्था यन्तनुपालम्य निवर्तिताश्रान् ।
 यैः सादिता ललितपूर्वकेतूस्तानैव सामर्पतया निबन्धुः ॥४४॥
 अप्यर्धभागैः परवाणालूना धनुर्मृतां हस्तवतां पृषत्काः ।
 संप्रापुरेयात्मजवानुवृत्त्या पूर्वार्धभागैः फलिभिः शरव्यम् ॥४५॥
 आधोरणानां गजसंनिपाते शिरांसि चक्रैर्निशितैः क्षुराग्रैः ।
 हुतान्यपि रयेननराग्रकोटिष्यासक्तकेशानि चिरेण पेतुः ॥४६॥
 पूर्वं प्रहर्ता न जघान भूयः प्रतिप्रहाराक्षममथसादी ।
 तुरङ्गमस्कन्धनिपण्यदेहं प्रत्याश्वसन्तं रिपुमाचक्राङ्क्ष ॥४७॥
 तनुत्पजां बर्मभृतां विकोर्षुशैहत्सु दन्तेष्वसिभिः पतद्भिः ।
 उद्यन्तमग्निं शमयान्मूर्धुर्गजा विविग्नाः करशीकरेण ॥४८॥
 शिलीमुखोत्कृत्तशिरः फलाढ्या च्युतैः शिरस्त्रैश्चपकोत्तरेण ।
 रणवितिः शोणितमघकुल्या रराज मृत्योरिव पानभूमि ॥४९॥

लङ्घ्य, प्रातः वासने सूर्यकी लाली जंसा समने लगा ॥४२॥ पृथ्वीपर इतना रक्त बहा कि नीचेकी धूल खद गई और जो धूल उठ चुकी थी वह वायुके सहारे ऊपर-ऊपर फैलकर उस धुँए जैसी लगने लगी जो अग्निसे उठकर ऊपर फैल चुका हो और नीचे केवल आगारे बचे रह गये हो ॥४३॥ जो मोट्टा चोट लगनेसे मूर्च्छित हो गये थे उनको उनके सारथी रथपर छासकर लौटा लाए । पर जब उनकी मूर्च्छा दूर हुई तो वे अपने सारथियोंको बहुत बुरा भला कहने लगे और जिनकी मारसे वे घायल हुए थे उन्हें रथके झण्डोंसे पहचान पहचानकर मारते लगे ॥४४॥ जिन घनुपधारियोंके हाथ बाण घमाने में लगे हुए थे उनके बाण मर्यापि शत्रुओंके बाणोंसे क्षीण-हो चो हूँ हो जाते थे फिर भी उनमें इतना वेग होता था कि उनका रक्त लगा हुआ अगला भाग लक्ष्यपर पहुँच ही जाता था ॥४५॥ जहाँ हाथियोंका युद्ध हो रहा था वहाँ पंजे छुरेवाले चक्रोंसे जिन हाथीवागोंके सिर बट गए थे वे सिर बहुत देरसे पृथ्वीपर बिखरे थे, क्योंकि उनके लम्बे लम्बे शाल बाजों के नालों में उत्तमनेसे बहुत देरतक ऊपर ही टंगे रह जाते थे ॥४६॥ एक घुड़सवारने अपने शत्रु घुड़सवारपर पहले चोट मारी । चोट खातेही वह घोड़ेके बन्धेपर झुक गया और उसने इतनी भी शक्ति न रही कि खिरक उठा सके । जिस घुड़सवारने प्रहार किया था उसने यह देखकर फिर उसपर हाथ नहीं उठाया, उसने यह मनाते लगा कि यह फिरसे जी उठे [और फिर उससे लड़ा जाय क्योंकि मरेको मारना कायरता है] ॥४७॥ जो बबचधारी मोट्टा अपने प्राण हथेली पर लिए लड़ रहे थे, उन्होंने नगो तलवारसे जब हाथियोंके दाँतोंपर चोट की तब चित्तगारी निबलने लगी । उस चित्तगारी से शायी इतने डर गए कि वे अपनी सँढवे जलसे उस आगरी बुझाने लगे ॥४८॥ यह युद्धलेख मृत्यु

उपान्तयोर्निष्कृपितं विहंगैराक्षिप्य तेभ्यः पिशितप्रियापि ।
 केयूरकोटिचतुर्बालुदेशा शिवा भुलच्छेदमपाचकार ॥५०॥
 कश्चिद्द्विपत्स्वङ्गहृतोचमाङ्गः सद्यो विमानप्रसुतामुपेत्य ।
 वामाङ्गसंसक्तमुराङ्गनः स्वं नृत्यत्कवन्धं समरे ददर्श ॥५१॥
 अन्योन्यसूतोन्मथनादभूतां तावेव सूतौ रथिनौ च कौचित् ।
 व्यथौ गदाध्यायतसंग्रहारौ भग्नायुधौ बाहुविमर्दनिष्ठौ ॥५२॥
 परस्परेण क्षतयोः प्रहर्त्रोरुत्क्रान्तबाह्वोः समकालमेव ।
 अमर्त्यभावेऽपि कयोधिदासीदेकाप्सरःप्राथितयोर्विवादः ॥५३॥
 ष्वहाधुमौ तावितरेतरस्माङ्गजं जयं चापतुरव्यवस्थम् ।
 पथात्पुरोमाहृतयोः प्रष्टुदौ पर्यायष्टत्पेव महार्णवोर्मौ ॥५४॥
 परेण भग्नेऽपि वले महौजा ययावजः प्रत्यरिसैन्यमेव ।
 धूमो नियत्येत समीरणेन यतस्तु क्वचस्तत एव बहिः ॥५५॥
 रथी निपट्ठी क्वचो धनुष्मान्दत्तः स राजन्यकमेकवीरः ।
 निवारयामास महावराहः कल्पवयोदृत्तमिवार्थचाम्भः ॥५६॥

वेबके उस मंदिरालय-सा जान पड़ने लगा निरामें वायुसे कटे हुए खिर ही मानो फल हो, चलदकर गिरे हुए बूँद ही मानो प्याले हो और बहता हुआ रक्त ही मानो मदिरा हो ॥५६॥ एक स्थानपर किसीके बाँहका टुकड़ा कटा पड़ा था, जिसे मिट्टा आदि पक्षियोंने नोक रक्खा था । उसे माँसके लोभसे सियारिन खीच ले गई, पर यमोही उसने उसपर बूँद मारा त्योंही बाँहमे बँधे हुए युद्धव्यग्न को नोकसे उठाका ताबू खिच गया और उसने उसे वहीपर छोड़ दिया ॥५७॥ एक योद्धाका गिर उभरनी तलवारसे कट गया । मुझने मृत्यु होनेसे वह देवता हो गया और अपने बाएँ एक अक्षरय लिए हुए विमानपर बैठकर आकाशसे यह देखने लगा कि मेरा वध रघुभूमिमे किस प्रकार साध रहा है ॥५८॥ दो योद्धाओंके सारथी मारे जा चुके थे पक्षिलों ने अपने आप रख भी चला रहे थे और सड़ भी रहे थे । गर जब उनके घोड़े भी मारे जा चुके तब वे रखसे उतरकर बंदन ही गदा लेकर सड़ने लगे और जब एदाएँ भी हट गई तब वे मरुत-मुद करने लगे ॥५९॥ दो वीर एक दूसरेके प्रहारसे एक साथ मारे गए । दोनों देवता होकर जब स्वर्गमे पहुँचि तब वहाँ एक ही अक्षरयपर दोनों रोक गए और वहाँ भी वे आपसमे झगड़ने लगे ॥६०॥ जैसे समुद्रकी दो लहरें प्रागे-पीछे भोका लेनेवाले वायुसे हटती-बटती रहती हैं वैसे ही वे दोनों लेनाएँ भी कभी चोखी थी और कभी हारती थी ॥६१॥ यद्यपि अनुग्रहने पक्षी सेनाकी मारकर भगा दिया था पर महर्षिपराक्रमी प्रज, शत्रुकी सेनामे बहते ही बने गए क्योंकि वायु धुँएँकी भले ही उड़ा दे पर भाग से उसके सहारे पासपूजाने पकड़ती हो चली जाती है ॥६२॥ जैसे प्रलयके समय बराह समवाय समुद्रके बड़े हुए जलकी नीरते हुए चलते थे वैसे ही घोड़ेपर चढ़े

स दक्षिणं तूष्णमुखेन वामं व्यापारयन्हस्तमलक्ष्यताजौ ।
 आकर्णकृष्टा सकृदस्य योद्धमौर्विव वाणान्सुपुवे रिपुघ्नान् ॥५७॥
 स रोपदष्टाधिकलोहितौष्ठैर्न्यक्तोर्ध्वरेखा त्रुकुटीर्वहद्विः ।
 तस्तार मां भल्लनिकृत्तकण्ठैर्हुंकारगर्भैर्द्विपतां शिरोभिः ॥५८॥
 सर्वैर्वलाङ्गैर्द्विरदग्रधानैः सर्वायुधैः कङ्कटमेदिमिश्र ।
 सर्वप्रयत्नेन च भूमिपालास्तस्मिन्प्रजहुर्युधि सर्व एव ॥५९॥
 सोऽस्तत्रजैरस्त्रचरथः परेषां ध्वजाग्रमाग्रेण बभूव लक्ष्यः ।
 नोहारमग्नौ दिनपूर्वभागः किञ्चित्प्रकाशेन विवस्वतेव ॥६०॥
 प्रियंवदात्प्राप्तमसौ कुमारः आयुङ्क्त राजस्वधिराजस्रजुः ।
 गान्धर्वमस्तं कुसुमास्त्रकान्तः प्रस्वापनं स्वप्ननिवृत्तलीयथः ॥६१॥
 ततो धनुष्कर्षश्चमूढहस्तमेकांसपर्यस्तशिरस्त्रजालम् ।
 तस्थौ ध्वजस्तम्भनिपण्णदेहं निद्राविधेयं नरदेवसैन्यम् ॥६२॥
 ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः ।
 तेन स्वहस्ताजितमेकवीरः पिबन्पशो मूर्तमिवावभासे ॥६३॥
 शङ्खस्यनाभिज्ञतया निवृत्तास्तं सञ्चशशुं ददशुः स्वयोधाः ।
 निमीलितानामिव पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशङ्खम् ॥६४॥

हृष्टीर बांधे स्वाभिमानी धीर अत्र प्रकटे ही शत्रुमोकी सेनाको चीरते चले जा रहे थे ॥५९॥ वे इतनी
 कुर्तीधे बाण चला रहे थे कि यह पता ही नहीं चलता था कि उन्होंने कब अपनी हाथ तूलीरने वाला
 धीर बाण बाण निकाला । वरन् ऐसा जान पड़ता था कि वे जब पानतक धनुषकी डोरी खींचते थे तब
 उसीमेसे शत्रुमोका नाश करनेवाले बाण गिनचते चले जा रहे थे ॥५७॥ जिन राजाजीने शीघ्रसे चचा-
 चचाकर मोठोको माल कर लिया था धीर को मोंहि ताम-तानकर हुंकार करते हुए भागे पड़ रहे थे उनके
 सिर फाट-काट पर भजने पृथ्वी घाटदी ॥५८॥ जब उन राजाजीने यह देखा तब वे रथ, घोड़े और पैदल
 लेकर कचधक्का काट देनेवाले धौने अस्त्रोंसे गुरा बल लगाकर एक साथ सबपर प्रहार करने लगे ॥५९॥
 इन राजाजीने सबपर इतने घस्त्र बरसाए कि उनका रथ टक गया । जैसे कोहरेके दिन प्रभात होनेवा
 शान धुंधले सूर्यकी देखकर होता है वैसे ही सबका पता उनके रथकी पतनामे सिरको देखकर ही
 मिलता था ॥६०॥ तब महाराज रथके पुत्र, कागदेवके समान सुन्दर, सावधान भजने प्रियंवदका
 दिया हुमा यह गणन अस्त्र राजाजीपर लीखा जिससे निद्रा भा जाती है ॥६१॥ घस्त्र छोड़ते
 ही उन राजाजीकी सेनाके हाथ ऐसे रुक गए कि वे अपने धनुषतक न खींच पाए । उनकी पराधियां
 बिरकर कन्धीपर मूल गर्द और गारी सेना ऋद्धियोंके बड़ोंके सहारे सो पड़े ॥६२॥ उस समय
 इन्दुमतीके पुष्पवका रस लेनेवाले अपने मोठोसे बाण फूँकते हुए सब ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने
 बाहुबलसे उत्पन्न किए हुए मूर्तिमान बघनों ही भी रहे हो ॥६३॥ शखकी ध्वनिकी पहचानकर

सशोणितैस्तेन शिलीमुखान्नैर्निक्षेपिताः केतुषु पार्थिवानाम् ।
 यशोऽहृतं दुःसंप्रति राघवेण न जीवितं वः कृपयेति वर्याः ॥६५॥
 स चापकोटीनिहितैकबाहुः शिरस्त्रनिष्कर्षणभिन्नमौलिः ।
 ललाटचन्द्रभ्रमवारिविन्दुर्भीतां प्रियामेत्य वचो बभाषे ॥६६॥
 इतः परानर्मकद्वार्यशस्त्रान्वैदर्भि पर्यानुमता मयासि ।
 एवंविधेनाहवचेष्टितेन त्वं प्रार्थ्यसे हस्तगता ममैभिः ॥६७॥
 तस्याः प्रतिद्वन्द्विमवादिपादात्तद्यो विमुक्तं मुखमावभासे ।
 निःश्वासवाष्पापगमात्प्रयत्नः प्रसादमात्मीयमिवात्मदर्शः ॥६८॥
 हृष्टापि सा ह्रीविजिता न साक्षाद्वाग्भिः सखीनां प्रियमभ्यनन्दत् ।
 स्थली नवाग्भःपृषताभिपृष्टा मयूरकेकाभिरिवाभ्रवृन्दम् ॥६९॥
 इति शिरसि स वामं पादमाधायराज्ञा-
 मृदवहदनवद्यां तामवधादपेतः ।
 रथतुरगरजोभिस्तस्य रूचालकाग्रा
 समरविजयलक्ष्मीः सैव मूर्त्ता बभूव ॥७०॥

प्रजके मोढ़ा कौट आए । सोते हुए लड्डुघोके बीच धन उन्हें ऐसे सगे मानो मूँवे हुए कमलोंके बीचमे चन्त्रमा चमक रहा हो ॥६५॥ तब उन भूमिगत पडे हुए राजाघो की ध्वजामोपर शयिस्ते सवे दाएँकी ओरकोसे यह निस दिया गया—हे राजाघो ! इस समय राजकुमार प्रजने हुए लोनों का यश तो ले लिया पर क्या बरके प्राण नहीं लिए ॥६५॥ अपने अपने सिरका कूट उतारा तो उनके बाल छितरा गए, उनके भाषेपर पसीना छा गया और धनुषके एक छोरपर बाँह टेककर वे इन्दुमतीके पास आकर बोले ॥६६॥ 'इन्दुमती ! चलो देखो, युद्धभूमि में राजा शीघ्र इस प्रकार सोए पडे हैं कि बालक भी उनके पास हीन जावें । देखो, इसी बलपर ये तुम्हें मेरे हाथोंसे धीनने पडे थे ॥६७॥ जब इन्दुमतीको विश्वास हो गया कि अब मारे गए सब उसका मूँह उस दर्पणके समान सुन्दर लगने लगा जिसपर गड्ढे हुई साँसनी भाष मोछ दी गई हो ॥६८॥ अपने पक्षिका पराक्रम देखकर इन्दुमती प्रसन्न तो हुई पर वह इतनी लजा गई कि उसके मुँहमे उनके अभिनन्दन के लिए शब्द तक निकले । पर जैसे नये बादलोंकी बूँदोंसे भीनी हुई पृथ्वी मोर के चन्दोसे मेघोवा स्वागत करती है वैसे ही उसकी ससियोंने जो प्रजकी प्रशंसा की वह मानो इन्दुमतीने ही उनका अभिनन्दन किया हो ॥६९॥ इस प्रकार पवित्र प्रज उन राजाघोंके सिरपर बायाँ पैर रखकर मुन्दरी इन्दुमतीको लेकर चले । उनके रथने पोढ़ोकी दापोसे उठी हुई क्षुब्ध इन्दुमतीके बेश भर गए थे

प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः संनिधुत्तं
 विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यवायारामेतम् ।
 तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोभूत्
 न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय ॥७१॥
 इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ रघुवक्षे महाकाव्ये अजेनेन्दुमतोपाणि-
 ग्रहणो नाम सप्तमः सर्गः ॥

और वह साक्षात् विजयसद्वर्ती जैसी जान पड़ रही थी ॥७०॥ रघुजी यह समाचार पहले ही मिल चुका था इसलिये उन्होंने सुन्दरी पत्नी के साथ भाए हुए विजयी अजब स्थापत विद्या और फिर उन्हें कुटुम्बका भार सौंपकर मोटाबी छापनामे लग गए, क्योंकि सूर्यवंशी राजाओं का यह नियम है कि जब पुत्र कुलका भार संभालने में योग्य हो जाता है तब वे घरमें नहीं रहते ॥७१॥

महाकवि श्रीकालिदासजी ऐसे हुए रघुवक्ष महाकाव्यमें अजब विषाद नामक सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ

॥ अष्टमः सर्गः ॥

अथ तस्य विवाहकौतुकं ललितं विभ्रत एव पार्थिवः ।
 वसुधामपि हस्तगामिनीमकरोदिन्दुमतीमिवापराम् ॥१॥
 दुरितैरपि कर्तुमात्मसात्प्रयतन्ते नृपक्षनवो हि यत् ।
 तदुपस्थितमग्रहीदजः पितुराज्ञेति न भोगतृष्यया ॥२॥
 अनुभूय वशिष्ठसंभृतैः सलिलैस्तेन सहाभिषेचनम् ।
 विशदोच्छ्वसितेन मेदिनीं कययामास कृतार्थतामिव ॥३॥
 स यभूव दुरासदः परैर्गुरुणार्थविदा कृतक्रियः ।
 पवनान्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म पदस्त्वतेजसा ॥४॥
 रघुमेव निवृत्तपौवनं तममन्यन्त नवेश्वरं प्रजाः ।
 स हि तस्य न केवलां धियं प्रतिपेदे सकलान्गुणानपि ॥५॥
 अधिकं ह्यशुभे शुभं धुना द्रितयेन द्वयमेव सङ्गतम् ।
 पदमृद्धमजेन पैतृकं निनयेनास्य नवं च यौवनम् ॥६॥
 सदयं बुभुजे महाभुजः सहस्रोद्वेगमियं ब्रजेदिति ।
 अचिरोपनतां स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधुमिव ॥७॥

आठवाँ सर्ग

अभी भजने विवाह का सुन्दर मङ्गल-सूत्र उतारा भी नहीं था कि रघुने भजके हाथोंमे सारी
 पृथ्वी इस प्रकार खींच दी मानो वह भी दूसरी इन्दुमती हो ॥१॥ जिस राज्यको पानेके लिये दूसरे
 राजपुन्दर खींचे व्यामोहा प्रयोग करनेसे भी नहीं सकोच करते, वही राज्यको भजने केवल भजने
 पिताकी आज्ञा मानकर ही स्वीकार कर लिया, भोगकी इच्छासे नहीं ॥२॥ जिस समय भजका
 राज्याभिषेक हुआ उस समय वशिष्ठजीने उनके ऊपर जो पवित्र जल छिड़का वह पृथ्वीपर भी पड़ा ।
 उसके कारण पृथ्वीसे जो आप निकसी वह मानो यह सृष्टि करती थी कि उसे भी भजने राजा होनेसे
 सन्तोष है ॥३॥ प्रपञ्चैदने जाननेवाले वशिष्ठजीने जब उनका राज्याभिषेक कर दिया तब ये इतने
 तेजस्वी हो उठे कि उनसे सब द्रव्य भाँप गए क्योंकि जब द्रव्य तेजसे साथ ब्रह्मतेज मिल जाता है तब
 वह बँसा ही बलरानी हो जाता है जैसे वायुका सहारा पाकर ध्वनि ॥४॥ वहाँकी प्रजाने भी भजके
 राजा होनेपर मही समझा मानो रघु ही पिरसे युवा हो गये हो क्योंकि भजने केवल रघुकी राज्य-
 लक्ष्मीका ही नहीं पाया था वरन् रघुने सब कुछ भी उनसे प्राप्त किया ॥५॥ उस समय सत्तारमे
 केवल दो ही बरतुएँ एक दूसरेसे मिलकर सुन्दर बँबी, एवं जो पिताना भरपूरा राज्य पाकर भज
 घोर दूसरे भजकी नज्जता पाकर उनका नया यौवन ॥६॥ महाबाहु भजने नई पार्द हृद पृथ्वीका
 पावन यह समझकर दयालुताके साथ भजना प्रारम्भ किया कि नहीं पवित्र बढोरताका व्यवहार

अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत् ।
 उदधेरिव निम्नगाश्वतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित् ॥ ८ ॥
 न खरो न च भूयसा मृदुः पवमानः पृथिवीरुहामिव ।
 स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्वरन् ॥ ९ ॥
 अथ वीच्य रघुः प्रतिष्ठितं प्रकृतिष्वात्मजमात्मव्रतया ।
 विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्येष्वपि निःस्पृहोऽभवत् ॥ १० ॥
 गुणवत्सुतरोपितश्रियः परिणामे हि दिलीपवंशजाः ।
 पदवीं सख्यत्कवाससां प्रयताः संयमिनां प्रपेदिरे ॥ ११ ॥
 समरस्यसमाश्रयोन्मुखं शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः ।
 पितरं शृण्वित्य पादयोस्परित्यागमयाचतात्मनः ॥ १२ ॥
 रघुरश्रुमुखस्य तस्य तत्कृतवानीप्सितमात्मजप्रियः ।
 न तु सर्प इव त्वचं पुनः प्रतिपेदे व्यपवर्जितां श्रियम् ॥ १३ ॥
 स क्लृप्ताश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्रहि ।
 समुपास्यत पुत्रभोग्या स्तुपयेवाविकृतेन्द्रियः श्रियाः ॥ १४ ॥

करनेसे वह भी उसी प्रकार न पबरा जाय जैसे नई व्याही हुई बहू कठोर व्यवहार से घबरा जाती है ॥७॥ ये अपनी प्रजाको बहुत प्यार करते थे । इससे सब लोग अपने-अपने मनमें मही सोचते थे कि ये हमे ही सबसे अधिक मानते हैं । बात यह थी कि जैसे समुद्र सैकड़ों नवियोंसे एवसा ही व्यवहार करता है जैसे ही ये भी न किसीका बुरा चाहते थे न किसीसे घोर करते थे ॥८॥ वे न तो बहुत कठोर थे और न बड़े कोमल । उन्होंने बीषका मार्ग पकड़ा था और अपने शत्रु राजाओंको राजगद्दीसे उतारे बिना ही उनको उसी प्रकार नष्ट कर दिया जैसे नक्षत्र गतिसे बहनेवाला वामु वृषोको उखाड़ता तो नहीं पर मुका अवश्य धेका है ॥९॥ जब रघुने देखा कि हमारे पुत्र मगका प्रजामे बड़ा घावर है और वह भली-भाँति राज कर रहा है- तब उन्हें इतना आत्मज्ञान हो गया कि स्वर्गके उन गुणों की चाह भी उन्होंने छोड़ दी जो कभी न कभी नष्ट हो ही जाते हैं ॥१०॥ दिलीप के वशमे जिसने राजा हुए थे बुढ़ीतीमे सब राज-काज अपने गुणवानु पुत्रको सौंपकर विषयसे पैड़की छाज का बहन पहननेवाले सन्यासियोंके समान जगलमे चले जाते थे ॥११॥ इसलिए जब राजा रघु जगलमे जाने को उद्यत हुए तब मजने मनोहर पगड़ी-वाला अपना सिर उगके भरखो मे नवाकर प्रार्थना की कि आप मुझे छोड़कर न जाइये ॥१२॥ अपने पुत्र मगको रघु बहुत प्यार करते थे, इसलिये मगकी माँसमे घाँसु देवकर वे रुक तो गए पर जैसे सौर अपनी केशुली छोड़कर फिर उसे नहीं ग्रहण करता जैसे ही उन्होंने जिस रान्ध-नक्षत्रीको एक बार छोड़ दिया फिर स्वीकार नहीं किया ॥१३॥ वे संन्यास लेकर नगरके बाहर एक कुटियामे रहने लगे । जिस भूमिपर उनके पुत्र राज्यकर रहे थे वह जितेन्द्रिय रघुको वन-भूम देकर उसी

प्रशमस्थितपूर्वपार्थिवं कुलमभ्युद्यतनूतनेश्वरम् ।
 नभसा निभृतेन्दुना तुलाप्लुदितार्केण समासरोह तत् ॥१५॥
 यतिपार्थिवलिङ्गधारिणौ ददृशाते रघुराध्वौ जनैः ।
 अपवर्गमहोदयार्थयोर्भुवमंशाखि धर्मयोगीतौ ॥१६॥
 अजिताधिगमाय मन्त्रिभिर्युज्ये नीतिविशारदैरजः ।
 अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः ॥१७॥
 नृपतिः प्रकृतीरवेक्षितुं व्यवहारासनमाददे युवा ।
 परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् ॥१८॥
 अनयत्प्रभुशक्तिसंपदा वशमेको नृपतीननन्तरान् ।
 अपरः प्रणिधानयोम्यया मरुतः पञ्च शरीरगोचरान् ॥१९॥
 अकरोदचिरेश्वरः क्षितौ द्विषदारभ्यफलानि भस्मसात् ।
 शूरो दहने स्वकर्मणां वष्ट्रे ज्ञानमयेन वह्निना ॥२०॥
 पण्डन्धमुखान्गुणानजः पटुपायुङ्क्त समीक्ष्य तत्फलम् ।
 रघुरप्यजयद्वुगुणप्रयं प्रकृतिस्थं समलोप्यकाञ्चनः ॥२१॥

प्रकार सेवा पर रही थी मानो जनकी पतीहू ही हो ॥१५॥ उस समय सूर्य वद्य उस आकाशके
 समान लग रहा था जिससे एक ओर चन्द्रमा धिख रहे हो और दूसरी ओर सूर्य निकल रहे हो, [क्योंकि
 एक ओर राजा रघु सन्यास लेकर शान्तिना जीवन बिठा रहे थे और दूसरी ओर ऐश्वर्यशाही
 भज राजा बनकर गद्दीपर बैठे थे] ॥१५॥ सन्यासी बने हुए रघु और राजा बने हुए भजको देखकर
 लोगोंने यह समझ लिया कि मोक्ष और ऐश्वर्य देनेवाले कौनके दो भय पृथ्वीपर साधनाय वाले
 थाए हैं ॥१६॥ एक ओर भज नीति जाननेवाले मंत्रियोंके साथ दिव्यजपका विचार करने लगे,
 दूसरी ओर रघु भी मोक्ष पद पाने के लिये तत्त्वदर्शी योगियोंके साथ जास्र चर्चा करने लगे ॥१७॥
 इधर युवा राजा भज जनताके कामोकी देखभाल करनेके लिये न्यायके आसनपर बैठते थे, उधर
 दूढ़े रघु अपने मनको साधनेका अभ्यास करनेके लिये झकेलेमें कुशाके पवित्र आसनपर बैठते थे ॥१८॥
 भजने लो अपने प्रभुत्व और अपनी शक्तिके आस पास के शत्रु राजाओंको चपटे कर लिया और रघुने
 अपने योगबलसे शरीरके भीतर रहनेवाले [प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन] पाँचों
 पवनोको अपने वशमें कर लिया था ॥१९॥ भजने पृथ्वीपर शत्रुओंको सब चालें मष्ट कर डाली
 और रघुने जानकी मन्त्रिके अपने सारे कर्मों को राख कर खाला ॥२०॥ एक ओर भज [सहि,
 विग्रह, ध्यान, पावन, धायय और द्वीधोमाव इन] छह नीतियोंका परिणाम समझन प्रयोग करते
 थे, दूसरी ओर मिट्टी और सोना दोनोंको बराबर लपभनेवाले रघुने भी प्रकृतिमें सत्य, रज और

न नवः प्रभुराफलोदयात्स्विकर्मा विरराम कर्मतः ।
 न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात् ॥२२॥
 इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु च प्रतिपिद्धप्रगरेषु जाग्रती ।
 प्रसिताबुदयापवर्गयोर्हर्षा मिद्धिमुभाववापतुः ॥२३॥
 अथ काश्चिदज्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः ।
 तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगममाधिना रघुः ॥२४॥
 श्रुतदेहविसर्जनः पितृश्रिमश्रूणि विमुच्य राघवः ।
 विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं पतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित् ॥२५॥
 अकरोत्स तर्द्धर्द्धदिकं पितृभक्त्या पितृकार्यदल्पदित् ।
 न हि तेन पथा तनुत्यलस्तनयार्जितपिण्डकाङ्क्षिणः ॥२६॥
 स परार्ध्यगतेरशोच्यतां पितुरुद्दिश्य सदर्धवेदिभिः ।
 शमिताधिरधिज्यकार्मुकः कृतानप्रतिशाननं जगत् ॥२७॥
 क्षितिरिन्दुमती च भामिनी पतियासाय तमउपपीरपम् ।
 प्रथमा पटुरत्नचूरभूदपरा वीरमजीवनत्सुतम् ॥२८॥

तम इम तीन गुणोंको जीत लिया ॥२१॥ हृद् प्रसितापात्त भव जय विजयो मानको उठाते ये तो
 उसे सबतक मही छोड़ते ये जयतम यह पूरा नहीं हो जाता था, ब्रह्म ही स्थिर पितृपाते रघुने भी
 जयतम-वीरभिया नहीं छोड़ी जयतम उन्हें परमात्माका दर्शन नहीं हो गया ॥२२॥ हम प्रचार एक
 ओर मन सारे सचारके ऐश्वर्यको प्राप्त करनेके लगे हुए थे और दूसरी ओर रघु मोक्ष प्राप्त करनेके
 मन लगाए हुए थे । करने करने शत्रुघोषा बहना खोजकर धीरे रघुन इन्द्रियाको समान करने अपनी-
 अपनी मिथ्या प्राप्त कर ली ॥२३॥ सबको समान समानोबाने रघुन सबके करनेके कृपा पर गगारमें
 और बिताए । फिर योगबलसे सदा प्रकाशमान, धविनाली परमात्माय सीन हो गए ॥२४॥ अपने
 पिताके देहत्यागका समाचार पाकर अग्निहोत्र करनेवाले सब बहल भए । उन्होंने अपने पिताके
 शरीरका दाहनकरा नहीं किया बल्कि योगबलसे माप उनके शरीरको ले जाकर पृथ्वीमें समाधि दे
 दी [स्वर्गके सम्पत्तिवीरा दाहगन्धार नहीं किया जाता] ॥२५॥ यद्यपि रघु ब्रह्म-सो महामा योग
 बलसे शरीर त्याग करने मुक्त हो जाते हैं उन्हें अपने पुत्रों के निश्चयन की आवश्यकता नहीं रहती,
 फिर भी भव तो यह जानते ही थे कि पिताका समाचार किस प्रकार करना चाहिये । इसलिये उन्होंने
 बड़ी भक्तिसे अपने पिताके आत्मा प्राप्ति सम्पन्न किए ॥२६॥ तन्माली पत्थिनी जेन सबको समाना
 कि सुन्दरी पिताने मोक्ष पा लिया है सब उन्हें औरत हूँ और उनका स्नेह बन हूँ । सब के
 धनुष-बाण लेकर मैं गगारपर प्रकाश राज्य करने लगे ॥२७॥ पृथ्वी और शत्रुघोषी दोनों सब ब्रह्म
 महापराधीनी पतिने करने जाकर बड़ी प्रगमन हुई और करनेके पृथ्वीके बहने रत्न उपाय किया

कुसुमान्यपि गात्रसंगमात्प्रभवन्त्यायुरपोढितुं यदि ।
 न अधिष्यति हन्त साधनं किमिवान्यत्प्रहरिष्यता विधेः ॥४४॥
 अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारमते प्रजान्तकः ।
 हिमसेकविषतिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता ॥४५॥
 स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
 विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥४६॥
 अथवा मम भाग्यविप्लवादशनिः कल्पित एष वेधता ।
 यदनेन सक्तुर्न पातितः क्षपिता तद्धिटपाश्रिता लता ॥४७॥
 कृतवत्पसि नावधीरशामपराद्धेऽपि यदा चिरं मयि ।
 कथमेकपदे निरागसं जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे ॥४८॥
 ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते विदितः कैतववत्सलस्तव ।
 परलोकमसंनिषृक्तये यदनापृच्छथ गतासि मामितः ॥४९॥
 दयितां यदि तावदन्वगाद्धिनिषृषं किमिदं तया विना ।
 सहतां हतजीवितं मम प्रबलामात्कृतेन वेदनाम् ॥५०॥
 सुरतश्रमसंभृतो मुखे ध्रियते स्वेदलवोद्गमोऽपि ते ।
 जय चास्तमिता त्वमात्मना धिगिमां देहमृतामसारताम् ॥५१॥

राम ! जब फूल भी धीरे-धीरे छूकर प्राण में चक्कर हैं, तब तो सब चाहें कि वह वस्तु से किसी की भी भार सकता है ॥४४॥ या संभवतः कोमल वस्तुको भारनेके लिये सब कोमल वस्तुका ही प्रयोग करता हो, क्योंकि मैंने पहले ही देखा निमा है कि नलिनीको नष्ट करनेके लिये पाला ही बहुत होता है ॥४५॥ और यदि इस मांसमे ही प्राण हरनेकी शक्ति है तो जो मैं भी इसे छापी पर रखे लेता हूँ पर यह मुझे क्यों नहीं मार जानती है । यह ईश्वरकी इच्छा ही तो है, वही विष भी ममृत हो जाता है और वही ममृत भी विष हो जाता है ॥४६॥ या यह मेरा दुर्भाग्य ही सम्भूता चाहिए कि मिथ्यातने इस मानाको ऐसी बिजली बनाकर बिछाया है जिसने पेड़को तो छोड़ दिया पर उसके साथ निषी हुई जलानेकी जला दिया ॥४७॥ हे इन्दुमती ! मैंने बहुत अपराध किए पर तुमने कभी मेरा तिरस्कार नहीं किया फिर आज एनाएक विना अपराधमे ही तुम मुझे वात करने के योग्य भी क्यों नहीं समझ रही हो ॥४८॥ हे मधुर हँसी हँसनेवाली ! तुमने सचमुच यह समझा है कि मैं तुमसे भूखा भ्रम करता हूँ इसीलिये तो तुमने बिना पूछे तुम सदाके लिये परलोचको चला दी ॥४९॥ मेरे ये नीच प्राण जब प्रियाने साथ-साथ एक बार चले गए थे तब ये जोड़ क्यों गए । जब इनकी चरने ही ऐसी है तब ये भोगें कुछ । मैं क्या कर सकता हूँ ॥५०॥ अपनी तुम्हारे मूर्खपनसे सम्भोगकी श्रमान्तने पसीनेकी सूँघे भी नहीं सूँघी और तुम चल बसी । धिक्कार है मनुष्यकी इस नस्वरत्ताको ॥५१॥ मैंने कभी मनसे भी तुम्हारी बुवाई नहीं की, फिर

मनसापि न विप्रियं मया कृतपूर्वं तव किं जहासि माम् ।
 ननु शब्दपतिः क्षितेरहं त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः ॥५२॥
 कुसुमोत्पचितान्वलीभृतश्लयन्मृङ्गरुचस्तबालकान् ।
 करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्चनशङ्कि मे मनः ॥५३॥
 तदपोहितमर्हसि प्रिये प्रतिबोधेन निषादमाशु मे ।
 ज्वलितेन गुहागतं तमस्तुहिनाद्रेरिव नक्तमोपधिः ॥५४॥
 इदमुच्छ्वसितालकं मुखं तव विश्रान्तकथं दुनोति माम् ।
 निशि सुप्तमिवैकपङ्कजं विरताभ्यन्तरपट्पदस्वनम् ॥५५॥
 शशिनं पुनरेति शर्वरी दयिता द्वन्द्वचरं पतस्त्रिणम् ।
 इति तौ विरहान्तरण्मौ कथमत्यन्तगता न मां दहेः ॥५६॥
 नक्षपल्लवसंस्तरेऽपि ते सृष्टुं दूयेत यदङ्गमर्पितम् ।
 तदिदं विपहिष्यते कथं वद वामोरु चिताधिरोहणम् ॥५७॥
 इयमप्रतिबोधशायिनीं रशना त्वां प्रथमा रहःसखी ।
 गतिविभ्रसादनीरवा न शुचा नानुमृतेव लक्ष्यते ॥५८॥
 फलमन्यभृतासु भाषितं फलहंसीषु मदालसं गतम् ।
 पृपृतीषु विलोलमीक्षितं पयनाधृतलतासु विभ्रमाः ॥५९॥ .

तुम मुझे क्यों छोड़े जा रही हो । [उत्पन्न प्रतीति] मैं वृष्णीका पति तो नाम भरषी हूँ, मेरा सच्चा प्रेम तो वैयन तुमसे ही है ॥५२॥ हे सुन्दर जापोशासी ! कृतंति वृष्णी और भीरो के समान काली तुम्हारी सटे जब दायुसे दिखती हैं, तब मेरे मनमें यही आशा होने लगती है कि तुम अचरम जो छोड़ोगी ॥५३॥ इसप्रिये हे प्रिये ! जैसे रातमें चमकनेवाली इक्षिणी ग्रहने प्रकाशसे दिखानेकी छोपेरी गुफामें भी जायनी कर देती है वैसे ही तुम भी फिरसे जागकर मेरा दुःख मिटाओ ॥५४॥ मौन भीरोसे भरे हुए और रातमें बुंदे श्वेतके कमलके जंभा सघनेवाला तुम्हारा मिलने भलकॉसे हका मौन भुक्त देवाकर मेरा हृदय फटा जा रहा है ॥५५॥ देखो जन्ममाको यात्रि फिर मिल जाती है, चमकेकी चमकी भी प्राप्त मिल ही जाती है इसलिये उन्हें बिछोहका दुःख थोड़ी ही देरतक रहता है पर तुम तो उसके लिये चली जा रही हो, फिर बताओ मैं विरहकी आगमें जलकर क्यों न मरम् हो जाऊँ ॥५६॥ कौमल पल्लवोका बिछोना भी जिसके शरीरमें पुबता था, हे सुन्दर जपायानी ! बताओ वही शरीर बितावर कंसे चढ सकेगा ॥५७॥ क्या तुम नहीं देख रही हो कि तुम्हारी हावभरी बालके बन्द हो जानेसे तुम्हारी एकान्त सखी यह लगती भी तुम्हें सदाके लिये ओठी देववर तुम्हारे घोषमें मरी सी दिखाई दे रही है ॥५८॥ तुम्हारी मोठी बोली बोलतोंने ले ली, तुम्हारा पीरे-पीरे चलना कलहतिनिपौने ले लिया, तुम्हारी चमक चितवन हरिणियोनी मिल गई मौन तुम्हारा चुल-

त्रिदिवोत्सुक्याप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया ।
 विरहे तव मे गुरुच्यर्थं हृदयं न त्ववलाम्बितुं क्षमाः ॥६०॥
 मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्विमौ ।
 अविधाय विवाहसत्क्रियामनयोर्गम्यत इत्यसांप्रतम् ॥६१॥
 कुसुमं कृतदोहदस्त्वया यदशोकोऽयमुदीरयिष्यति ।
 अलमाभरणं कथं नु तत्तव नेष्यामि निवापमाल्यताम् ॥६२॥
 स्मरतेव सशब्दनुपूरं चरणानुग्रहमन्यदुर्लभम् ।
 अमुना कुसुमाश्रुचपिंशा त्वमशोकेन सुगात्रि शोच्यसे ॥६३॥
 तव निःश्वसितानुकारिभिर्मकुलैरर्घचितां समं मया ।
 असमाप्य विलासमेखलां किमिदं किन्नरकण्ठ सुष्यते ॥६४॥
 सधुमःरसुसुतः सरीजनः प्रतिपद्यन्निभोऽयमात्मजः ।
 ग्रहमेकरसस्तथापि ते व्यवसायः प्रतिपत्तिनिष्ठुरः ॥६५॥
 धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेषमृतुर्निरुत्सवः ।
 गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीमथ मे ॥६६॥

दुःसाधन वापुसे हिलती हुई सत्तामो मे पहुँच गया ॥६६॥ अपने स्वयं जानेकी उतावलीमे यद्यपि
 तुमने मुझे बहमानेके लिये अपने गुण यही छीन दिए हैं पर तुम्हारे बिछोहमे तो मैं इतना धीर हो
 गया हूँ कि इन सबसे मेरे हृदयको किसी प्रकार भी छन्नोप नहीं मिल रहा है ॥६०॥ प्रिये ! तुमने
 उस धाम धीर प्रियगुलताका विवाह करना पक्का किया था । इन दोनोंका विवाह किए बिना तुम्हारा
 जाना ठीक नहीं ॥६१॥ देखो ! जिस प्रसोकको तुमने अपने चरणोंकी ओकर लगाई थी वह अब
 प्रागे चलकर फूटगा तब तुम्हारे केशोंको सजानेवाले उनके फूलोंकी भी जलदानकी प्रशालिमे फंसे ले
 सकूँगा ॥६२॥ हे सुन्दरी ! तुम्हारे मृनमुनाते मिथुनोंवाले चरणकी ओकर निचोको नहीं मिलती
 पर तुमने यही कृपा करके उस गजोवनकी ओकर लगाई थी । अब उन तुम्हारे चरणोंकी कृपाकी
 स्मरण करके ही यह मजोब वृक्ष फूलोंके भीम परछाकर तुम्हारे लिए रो रहा है ॥६३॥ हे मधुर-
 भाषिणी ! अपने दबासके समान सुगन्ध वाले मौलिकिरीमे फूलोंकी भी सुन्दर माता मुम मेरे साथ
 गूँप रही थी उसे अपनेही ही छोड़कर क्या सो रही हो ॥६४॥ तुम्हारे मुखदुःखकी सामिने मे सखियाँ
 खड़ी हैं, गुल वरके चन्द्रमाके समान प्रखल मुखलासा तुम्हारा मुख भी धरी है धीर तुम्हारा वह
 अनन्य प्रेमी मैं भी तुम्हारे पास हूँ, फिर हम दोनोंकी छोड़कर चने जानेकी जो तुमने ठान ली है
 तुम्हारी वही बंदोरता है ॥६५॥ आज मेरा धीरव भूट गया, मानन्द जाता रहा, गाना-वजाना हार
 चला गया, मृत्युकी पीची बर गई, पहनावा छोड़ना बेवाम हो गया धीर लम्बा भी सूती हो गई ॥६६॥

गृहिणी सचिवः सखी मित्रः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
 करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥६७॥
 मदिराक्षि मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे ।
 अनुपास्यसि बाष्पद्रुपितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम् ॥६८॥
 विभवेऽपि सति त्वया विना सुखमेतावदजस्य गण्यताम् ।
 अहृतस्य विलोभनान्तरैर्मम सर्वे विषयास्त्वदाश्रयः ॥६९॥
 विलपन्निति कोशलाधिप करुणार्थग्रथितं प्रियां प्रति ।
 अफरोत्पृथिवीरुहानपि सुतशास्त्रारसबाष्पद्रुपितान् ॥७०॥
 अथ तस्य कथंचिदङ्कतः स्वजनस्तामपनीय सुन्दरीम् ।
 विमत्तर्ज तदन्त्यमण्डनामनलायागुरुचन्दनैधसै ॥७१॥
 प्रमदामनु संस्थितः शुचा नृपतिः सन्निति वाच्यदर्शनात् ।
 न चकार शरीरमग्निसात्सह देव्या न तु जीविताशया ॥७२॥
 अथ तेन दशाहतः परे गुणशेषामुपदिश्य भामिनीम् ।
 विदुषा विधयो महर्द्वयः पुर एवोपवने समापिताः ॥७३॥
 स विवेश पुरीं तया विना लखदापायमाशाङ्कदर्शनः ।
 परिवाहमिषालोकयन्स्वशुचः पौरवधुमुखाश्रुपु ॥७४॥

तुम्ही मेरी स्त्री थी, सम्मति देनेवाली मित्र थी, एकान्तकी सखी थी और गाल बिछा मादि कलाप्रो-
 के ललित कलाप्रोमे शिष्या थी । तुम्ही मताओ तुम्हे मुझसे छीनकर निर्दयी विभाठाने मेरा क्या नहीं
 छीन लिया ॥६७॥ हे मरभरे नयनोवाली ! तुमने मेरे मुँहसे छूटे हुए स्वादिष्ट मांसवकी पीया है,
 मधु, तुम बाँसुप्रोके जलसे गिली हुई गँदसी जलाञ्जलिको परलोकमे कैसे पी सकोगी ॥६८॥ इतना
 देववर्ग होनेपर भी तुम्हारे बिना भजनका सारा सुख मिट्टी हो गया हे क्योंकि मुझे और किसी वस्तुसे
 तो प्रेम है नहीं, मेरे तो सब सुखोना केन्द्र तुम्ही थी ॥६९॥ जब कौशलनरेश भजन अपनी प्रियाके
 सिये इस प्रकार शोक करके रो रहे थे उस समय उन्हें देखकर वृष भी मानो अपनी शाखाप्रोसे रस
 बहाकर रोने लगे ॥७०॥ कुटुम्बियोंने भजनकी गोदीसे ज्यो ली करके इन्दुमतीका शरीर हटाया और
 उसी पुष्पमालासे उसका शृङ्गार करके भजर और चन्दनकी लकड़ियोंसे उसका दाह-संस्कार किया
 ॥७१॥ अपनी पत्नीके विशेषगमे राजा भजन इतने व्याकुल हो गए कि उन्हें जीनेकी साथ जाती
 रही किन्तु वे इन्दुमतीके साथ इसलिये चित्तापर नहीं पडे कि कहीं लोग यह न कहने लगे कि राजा
 भजने विद्वान् होकर भी अपनी स्त्रीके पीछे प्राण दे दिए ॥७२॥ जिस इन्दुमतीके केवल गुण भर
 वने रह गए थे उस प्रियाके सब क्रियान्वय साधन जाननेवाले भजने दस दिन पीत जानेपर उसी
 उपवनमे बडे धूम-धामसे पूरे किए ॥७३॥ इन्दुमतीके विशेषगमे भजन ऐसे उदास लगने लगे जैसे
 रात पीत जानेपर चन्द्रमा मन्द पड जाता है । जब वे गगरमे धुले सब उन्हें देखकर नगर भरकी

अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद्गुरुराश्रमस्थितः ।
 अमिषद्वज्जडं विजज्ञिवानिति शिष्येण किलान्वबोधयत् ॥७५॥
 असमाप्तविधिर्यतो मुनिस्त्वव विद्वानपि तापकारणम् ।
 न भवन्तमुपस्थितः स्वयं प्रकृतौ स्थापयितुं पथश्च्युतम् ॥७६॥
 मयि तस्य सुवृत्तं वर्तते लघुसंदेशपदा सरस्वती ।
 शृणु विश्रुतमच्चसारं तां हृदि चैनामुपधातुमर्हसि ॥७७॥
 पुरपस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च ।
 स हि निष्प्रतिवेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति ॥७८॥
 चरतः किल दुश्चरं तपस्तृणविन्दोः परिशङ्कितः पुरा ।
 प्रजिघास्य समाधिभेदिनीं हरिरस्मै हरिणीं सुराङ्गनाम् ॥७९॥
 स तपःप्रतिबन्धमन्युना प्रमुखाविभूतचारुविभ्रमाम् ।
 अशपद्मव मानुपीति तां शमवेलाप्रलयाभिषा भुवि ॥८०॥
 भगवन्परधान्यं जनः प्रतिकूलाचरितं क्षमस्व मे ।
 इति चोपनतां क्षितिस्पृशं कृतवाना सुरपुष्पदर्शनात् ॥८१॥
 क्रथकैशिकवशमभया तव भूत्वा महिषी चिराप सा ।
 उपलब्धवती दिवश्च्युतं विवशा शापनिवृत्तिकारणम् ॥८२॥

खिन्नी फूट फूटकर रोने लगी मानी अजना शोक इतनी पाँखोंसे वह निकला हो ॥७४॥ उन दिनों
 वशिष्ठजी यज्ञ कर रहे थे । उन्होंने आश्रममें ही योगबलसे राजाके योगका कारण जान लिया और
 एक क्षिप्यसे भोजन पात संदेश भेजा । क्षिप्यने भोजन आकर कहा—॥७५॥ 'वशिष्ठ मुनिजी यज्ञ
 समाप्त नहीं हुआ है इसलिये आपके दुःखको जानते हुए भी न तो वे आ ही सके और न आपकी इस
 खोजमें पीरज ही देपा सके ॥७६॥ हे स्वयंसेव राजा ! मैं उनका एक छोटासा सन्देश लाया हूँ,
 जैसे आप पीरज रखकर सुनिए और समझिए ॥७७॥ वे अपने ज्ञानसे नेत्रोंसे तीनों लोकोंकी धोती
 हुई, होती हुई और होनेवाली सभी बातें जानते हैं ॥७८॥ एक बार तृणविन्दु नामक ऋषि तप कर
 रहे थे । उनकी तपस्यासे हरकर इन्द्रने उनका तप भंग करने में मिले हरिणी नामकी धम्मरा भेजी
 ॥७९॥ जैसे प्रलय कालकी सहर समुद्र तटको टाह देती है वैसे ही ऋषिजी तप दिवानेके लिये वह
 धम्मरा भी वहाँ पहुँची । धम्मराको देखते ही मुनिने मोहित होकर धाप दिया कि जा तू सत्तारने मनु-
 ष्यरी छोड़ ॥८०॥ साथ सुनते ही धम्मरा ध्वरा उठी । वह हाथ जोड़कर विनम्रतासे बोली—
 हे भगवन् ! मैंने दूसरों के बहुनेसे यह काम किया है, मेरा हस्तम कुल भी दोष नहीं है, मुझे क्षमा
 कीजिये । इसपर ऋषिने कहा—जब तब तुम्हें स्वर्गीय पुण्य नहीं दिखाई पड़े तो सचतक तुम्हें पृथ्वीपर
 रहना ही पड़ेगा ॥८१॥ बड़ी धम्मरा क्रयवन्धिन (बिदम) नेगमे जम्म लेकर तुम्हारी राती हुई और
 अने दिनोंआद जैसे ही उसे स्वर्गीय पुण्य दिखाई पड़े, वैसे ही वह सगसे दूधर धरीर छोड़कर बलीगई

तदलं तदपायचिन्तया विषदुत्पत्तिमतामुपस्थिता ।
वसुधेयमवेक्ष्यतां त्वया वसुमत्या हि नृपाः कलत्रिणः ॥८३॥
उदये मदवाच्यमुज्ज्वला श्रुतमाविष्कृतमात्मवच्चया ।
मनसस्तदुपस्थिते ज्वरे पुनरङ्गीवतया प्रकाशयताम् ॥८४॥
रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नानुमृतापि लभ्यते ।
परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम् ॥८५॥
अपशोकमनाः कुडुम्बिनीमनुगृहीष्व निवापदत्तिभिः ।
स्वजनाश्रु फिल्लाविसंततं दहति प्रेतमिति प्रचचते ॥८६॥
मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते युधैः ।
क्षणमप्यचतिष्ठते स्वमन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानमी ॥८७॥
अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्पमपितम् ।
स्थिरधीस्तु तदैव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्रतम् ॥८८॥
स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययो यदा ।
विरहः किमिवानुतापयेद्बद्धास्त्रैर्विपर्ययैर्निषिचितम् ॥८९॥

॥८२॥ इसीलिए अब आप उसकी मृत्युका शोक न कीजिए, क्योंकि जो जन्म लेता है वह मरता ही है । इसलिये अब शोक छोड़कर सावधान होकर आप धृष्टकेतु का पालन कीजिए, क्योंकि राजाओं की सच्ची सहपमंचारिणी तो धृष्टी है ॥८३॥ ऐश्वर्य पाकर राजा लोग मतबाले हो जाते हैं, किन्तु आप गुलके बिनोम भी इस अवयवने बंधे रहे और अभिमन्यु छोड़कर आपन अपने आत्मज्ञानका परिचय दिया । वही ही इस दु राके समयमें भी धीरज परवर आप फिर उसी अघ्यात्मज्ञानका प्रकाश कीजिए ॥८४॥ रोने की तो बात ही क्या, यदि आप मर भी जायें तब भी इन्दुगती आपकी नहीं मिल सकती, क्योंकि मरनेपर तब प्रारब्धी धपने धपन कबेक अनुसार धनव-प्रसन्न मार्गमें जाते हैं ॥८५॥ अब आप सब शोक छोड़कर विष्टदान आदि करने धपनी पत्नीका परजोर मुधारिए क्योंकि शास्त्र कहते हैं कि जब कुटुम्बी बहुत रोते हैं तब उन्में प्रेतात्माको बड़ा चष्ट होता है ॥८६॥ देखिए, जिसने देह धारण की है उसका मरना तो स्वाभाविक है । विज्ञानोंका तो यह कहना है कि वास्तवमें जीना ही बड़ा भारी विहार है । इसलिये प्राणी जितना क्षण जी जाय उतनेमें ही तन सन्तोष करना चाहिए ॥८७॥ प्रियजानों मृत्युको भूरां सोच बैठा ही कष्टकारक मानने हैं जैसे धातीमें पीत मर गई हो, पर विज्ञान लोग यह समझते हैं कि जो मर गया वह अब भस्मों में घूट गया । उनकी समझमें मृत्युने क्या ही कुछ मिला है जैसे हृदयमें गयी हुई बीज निष्कलनेसे ॥८८॥ आपही बताइए कि जब मरीर और धा-धा भी आपन में विपुलने जाने मले गए हैं, तब पुत्र, स्त्री आदि बाहरी सम्बन्धियों के विच्छादने विज्ञानोंको क्या दुःख हो ॥८९॥ और फिर आप तो त्रिदेवियों के

न पृथग्जनवच्छुचो वशं वशिनामुत्तम गन्तुमर्हसि ।

द्रुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः ॥६०॥

स तथेति विनेतुर्द्वारमतेः प्रतिगृह्य वचो विससर्ज मुनिम् ।

तदलब्धपदं हृदि शोकधने प्रतिपातमिवान्तिकमस्य गुरोः ॥६१॥

तेनाष्टौ परिगमिता समाः कथंचिद्बालत्वादवितथस्तृतेन स्नोः ।

सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सर्वैश्च ॥६२॥

तस्य प्रसन्न हृदयं किल शोकशंकुः प्लवप्ररोह इव सौधतलं विभेद ।

प्रायान्तहेतुमपि तं भिषजामसाध्यं लाभं प्रियानुगमने त्वरया स मेने ॥६३॥

सम्पत्तिनीतमथ वर्महरं कुमारमादिश्य रक्षयिषीं विधिवत्प्रजानाम् ।

रोगोपसृष्टानुदुर्यसति मृषुचुः प्रायोपवेशनमनिर्नृपतिर्वभूव ॥६४॥

तीर्थेतोयच्यतिफरभवे जह्नु कन्यासरथोर्देहत्वागादमरगणनालेख्यमासाध सद्यः ।

पूर्वाकाराधिकतररुचा संगतः कान्तयासां लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥६५॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये

अजयितापो नाम अष्टमः सर्गः ॥

सर्वधेच्छ है । प्राय साधारण लोगोंके समान लोक मत कीजिए । यदि पर्वत भी वृक्षकी भाँति भाँधीसे
हिल उठेगा तो उन दोनोंमें अन्तर ही क्या रहा ॥६०॥ विद्वान् धिक्कृत हुए धनिष्कजीवा उपदेश
राजाने स्वीकार किया और उनके सिध्यमें इस प्रकार बिदा किया मानो अपने लोकमरे हृदयमें स्थान
न दे सगनेमें समता उपदेश हो सोटा दिया हो ॥६१॥ प्रिय, सबमापी करने अपने पुत्रके वचन
का ध्यान करके और प्रियाके चित्रको देखनेकर तथा स्वप्नमें प्रियाको क्षणमरके समागमका
प्राप्त्य केतर किसी प्रकार माठ सपने काट दिए ॥६२॥ कहा जाता है कि जेटे पकनी जहाँ भयन
की लकीरी देखकर गीने पुत जाती है वैसे ही सोनकी चर्छीने राजा के हृदयको बलपूर्वक धारदार
वेप दिया था । वर अपनी प्रियाके पीछे प्राण देनेकी थे इतने जतावले थे कि उन्होंने प्राण हर
लेनेवाली और चर्छीने पकड़ी न होने वाली उस मौचकी चर्छीको भी महामक ही समझा ॥६३॥
तब मुनिप्रति नववधवाही कुमार वयरपको धाम्पने अनुसार प्रजापता, पावन करनेका उपदेश देकर
वे दोनों चरीरो पुटकारा जाने के लिये प्रवृत्त करने लगे ॥६४॥ थोड़े दिनोंमें ही गंगा और सरयूके
मगधपर उन्होंने अपना चरीर छोड़ दिया और मरवान देना बनकर पहुँचे चरीरो भी धमिक
गुप्तर चरीरवाली आम्निके साथ मन्दन उनके विलास-भवनो में बिहार करने लगे ॥६५॥

महाविद्वान्निदागने रगे हुए रघुवंश महापाव्यमें

अज-वित्तपो नाम का आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

॥ नवमः सर्गः ॥

पितुरनन्तरमुत्तरकोशलान्समधिगम्य समाधिजितेन्द्रियः ।

दशरथः प्रशशात्स महारथो यमवतामवतां च धुरि स्थितः ॥ १ ॥

अधिगतं विधिवद्यदपालयत्प्रकृतिमण्डलमात्मशुलोचितम् ।

अभयदस्य ततो गुणवत्तरं सनगरं नगरन्ध्रकरीजसः ॥ २ ॥

उभयमेव वदन्ति मनीषिणः समयवर्षितया कृतकर्मणाम् ।

बलनिपूदनमर्थपतिं च तं श्रमनुदं मनुदण्डधरान्वयम् ॥ ३ ॥

जनपदे न गदः पदमादधावभिभवः झुत एव सपत्नजः ।

चितिरभूत्फलवत्यजनन्दने शमरतंऽमरतेजसि पार्थिवे ॥ ४ ॥

दशादिगन्तजिता रघुया यया श्रियमपुष्पदमेन ततः परम् ।

तमधिगम्य तथैव पुनर्वर्भौ न न महीनमहीनपराक्रमम् ॥ ५ ॥

समतया वसुष्टेविसर्जनैर्वर्नियमनादसतां च नराधिपः ।

अनुययी यमपुण्यजनेयरी भवरुणावरुणाग्रसरं रुचा ॥ ६ ॥

नवमं सर्गं

समयसे अपनी इन्द्रियोकी जीत लेनेवाले योगियोमें और प्रजाका पालन करनेवाले राजाओंमें सर्वश्रेष्ठ दशरथजीने अपने पिताके पीछे उत्तर कोशलका राज्य यनी योग्यतासे संभाला ॥१॥ कौश्ल पहाड़की पाठ देनेवाले कात्तिकेयके समान वे बलवान् थे । उन्होंने अपने पुत्रोंमें पाई हुई राजधानी और मण्डलीका ऐसे अच्छे ढंगसे पालन किया कि सारी प्रजा उन्हें पहलेसे सभी राजाओंमें बद्वर मानने लगी ॥२॥ विद्वानोंका कहना है कि सगरके दो ही लो ऐसे हुए हैं जिन्होंने कर्त्तव्य-पालन करनेवाले लोगोंको उनके परिश्रमका ठीक-ठीक वारिसार दिया है । उनमें से एक तो हैं दण्ड जिन्होंने समयपर वर्षा करके किसानोंका परिश्रम सफल किया और दूसरे हैं मनुयसी दशरथ, जिन्होंने सुवर्गियोंको धन देकर उनका पालन-पोषण किया ॥३॥ दशरथजी देवताओं के समान तेजस्वी थे और उनका मन भी सब प्रकारसे शान्त था । राज्यकी हाथमें लेते ही उनका देश धन-धान्यसे भर गया, रोग भी उनके राज्यकी सीमामें पैदा न रह सकें, फिर यन्त्रोंके आक्रमणकी तो समाप्ति हो गई थी ॥४॥ जैसे दसों दिशाओं के जीतनेवाले रघुने और उनके पीछे उनके पुत्र राजने पृथ्वीकी दोभा घड़ाई थी उसी प्रकार उन्हीं दोनों के समान शक्तिशाली गहाणराज्यकी दशरथको पावर पृथ्वीकी दोभा न बड़ी हो गई बात नहीं है ॥५॥ जैसे यम सबको एक समान समझते हैं वैसे ही वे भी सबको एक-सा व्यवहार करते थे, जैसे कुंवर धन खरसाने हैं वैसे ही वे भी धन बाँटने थे, जैसे वरुण दुष्टोंको दंड देते हैं वैसे ही वे भी दुष्टोंको दंड देते थे और जैसे मूर्खका बड़ा तेज है वैसे ही उनका भी तेज था ॥६॥

न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु ।
 तमुदयाय न वा नवपौत्रना प्रियतमा यत्तमानमपाहरत् ॥७॥
 न कृपणा प्रभवत्यपि वासने न वितथा परिहामकथास्वपि ।
 न च सपत्नजनेन्द्रपि तेन बागपरुषा परुषाचरमीरिता ॥८॥
 उदयमस्तमयं च रघूद्वहादुभयमानशिरे वसुधाधिपाः ।
 स हि निदेशमलक्ष्यतामभूत्सुहृदयोहृदयः प्रतिगर्वताम् ॥९॥
 अजयदेकरथेन स मेदिनीमुदधिनेमिमघिज्यशरासनः ।
 जयमयोपयदस्य तु केवल गजवती जवतीग्रहया चमूः ॥१०॥
 अयनिमेकरथेन वरूयिना जितवतः किल तस्य धनुर्मृतः ।
 पित्रयदुन्दुभितां ययुर्गर्वा घनरवा नरवाहनसंपदः ॥११॥
 शमितपक्ष्वलः शतकोटिना शिखरिणां कुलिशेन पुरंदरः ।
 सशरपृष्ठिमुचा धनुषा द्विषां स्वनवता नवतामरसाननः ॥१२॥
 चरणयोर्नखरागसमृद्धिभिर्मुकुटरस्नमरीचिभिरस्पृशन् ।
 नृपतयः शतशो मस्तो यथा शतमरां तमखण्डितपौरुषम् ॥१३॥
 निघृष्टे स महार्णवरोधमः सचिवकारितबालमुताञ्जलीन् ।
 ममनुकम्प्य सपत्नपरिग्रहाननलकानलकानवर्मां पुरीम् ॥१४॥

ताशारिष ऐश्वर्यको घटोरनेम ये मेमे सगे हूये ये नि यागितवा व्यसन, जूएका खेल, चन्द्रमाकी परछाहीं
 पही हुई मदिरा घोर नखपौत्रना गली, कीई भी उन्हे न लुभा सवा ॥७॥ ये इतने मनहवी ये कि
 इन्द्रताने प्राये ये जभी नहीं गिटगिटाए, हँसीमे भी उन्हेले मूठ नहीं बोला घोर कोपित होनेकी तो
 बाा ही दुर है, उन्हेनि मपने धनुकी भी कीई भी घटोर उन्ध नहीं पटा ॥८॥ उन रघुजन्मने श्रेष्ठ
 दमरूपने हाथी बहुतही राजा बने घोर बहुतसे बिगड़े मर्षाति जो उनका कहा मान लेने ये उन्हे तो
 ये दया करने छोड देने ये पर जो मुँठकर उनको टकरा नेने प्राये पाते ये उन्हे ये निटाकर ही छोडते ये
 ॥९॥ एक धनुष लेकर घोर घनेने एक रथपर चढ़कर ही उन्हेनि समुद्रतय पैसी हुई सारी पृथ्वी
 जीत सी । बेगले बलनेगले हाथी घोहीकी उनकी सेना तो बेल जय-जयवार भर करती थी ॥१०॥
 निम समय मनेने मुर्छित रथपर चडे कुँरेले समान सम्पत्तितानी धनुषधारी दशरथजी पृथ्वी जीतले
 हुए चडे ये उत समय घाटवने समान गरजता हुआ समुद्र उनकी विनाय-दुन्दुभी बजाता था ॥११॥
 बने इन्हे पानी तो नोचोराते वयने पर्वताने पर जाट दिने ये बने हो नये कमलने समान गुन्दर
 मुलवाने दशरथजीने मपन बाण बरसानेवाँ धनुगे धनुषधारी बारबन बिधा दिया ॥१२॥ घोर
 जने देवता लोग इन्हे चरण छोटे बने ही मँकडले पराक्रमी दमरुवटे चरणोंपर दमने
 ये मुट्ट बाँने गिर रहा दिग् दिग्ग मलि दमरुवीने पैरने नयोकी सनाई ये दमक उठने ये ॥१३॥
 उन्हेने शिव जिन देवने राजाघोरो बार जाला था उनको शनिवी मने पुषोको लेकर राजा दम-

उपगतोऽपि च मण्डलनाभितामनुदितान्यसितात्पवारणः ।
 श्रियमवेक्ष्य स रन्ध्रचक्षाममूदनलसोऽनलसोमसमद्युतिः ॥१५॥
 तमपहाय ककुत्स्थकुलोद्भवं पुरुषमात्मगर्वं च पतिव्रता ।
 नृपतिमन्यमसेवतं देवता सकमला कमलाधवमधिपु ॥१६॥
 तमलभन्त पतिं पतिदेवताः शिस्त्ररिणामिव सागरभाषगाः ।
 मगधकोशलकेक्यशासिनां दुहितरोऽपितरोपितमार्गणम् ॥१७॥
 प्रियतमाभिरसौ तिसृभिर्धर्मौ तिसृभिरेव भुवं सह शक्तिभिः ।
 उपगतो विनिनीपुरिव प्रजा हरिहयोऽरिहयोगविचक्षणः ॥१८॥
 स क्लिप्तसंयुगमूर्ध्नि सहायतां मघवतः प्रतिपद्य महारथः ।
 स्वभुजवीर्यमगापयदुच्छ्रितं सुरवधूरवधृतमयाः शरैः ॥१९॥
 क्रतुषु तेन विसर्जितमौलिना भुजसमाहृतदिम्बसुना कृताः ।
 कनकपूषसमुच्छ्रयशोभिना वितमसा तमसातरयूढताः ॥२०॥

रथके आगे आईं और उन देशोंके मन्त्रियोंके राजगुरुकी दशरथके आगे हाथ जोड़कर खड़ा कर दिया । उन सुते केशवाली शत्रुघोषकी रानियोंके साथ दशरथजीने वध्नी दवाका व्यवहार किया और उस महासमुद्रके तटसे वे अपनी उस अयोध्या राजधानीको लौट आए जो दुयेस्की राजधानी मलकासे किसी प्रकार कम नहीं थी ॥१५॥ चारों ओरके राजाओंका गण्डव उनके हाथमें आ गया जिससे वे अग्नि और पन्द्रमाके समान तेजस्वी लगने लगे । उनका प्रताप इतना बढ गया कि उनके आगे कोई भी दूसरा राजा खेत छत्र नहीं लगा सकता था । पर अक्रवर्ती हो जानेपर भी मालव्यको वे अपने पास नहीं पटकने देते थे क्योंकि वे जानते थे कि जहाँ एक भी दोष आया कि लक्ष्मी हमें छोड़कर भागी ॥१६॥ और फिर भगवान् विष्णु और दशरथको छोड़कर और दूसरा राजा ही कौन-सा था, जिसके यहाँ हममें कमल धारण करनेवाली पतिव्रता लक्ष्मी स्वयं जाकर रहती ॥१६॥ जैसे पूर्वतों-से निकलनेवाली नदिनी समुद्रको वा लेती है वैसे ही कौशल, मगध और केक्य देशके राजाओंकी कौशल्या, गुमित्रा और कैकेयी नामकी बन्ध्याओं ने शत्रुघोष पर बाण चरसानेवाले दशरथजीको पहिले रूपमें वा लिया ॥१७॥ शत्रुघोषका नाश करनेवाले दशरथजी अपनी तीनों रानियोंके साथ ऐसे जान पड़ते थे मानो पृथ्वीपर राज्य करनेके लिये स्वयं इन्द्र ही [भगवान्, उत्साह और मगध नामकी] अपनी तीनों शक्तियोंके साथ व्यवहार लेकर चले आये हो ॥१८॥ कह्य जाता है कि महारथी दशरथने मुझमें इन्द्रकी सहायता करवे और अपने बाणों से उनमें शत्रुघोषना नाश करके देवताओंकी स्त्रियोंका सब डर दूर कर दिया और वे सब दशरथजीके दाहबलके गेह गाने लगी ॥१९॥ उन्होंने अपने दाहबलसे चारों ओरवा घन साकर दहका दिया था और उनमें नामकी भी लामची भाष नहीं था । उन्ही राजा दशरथने अपना भुवुट उतारकर धक्केधक्का यज्ञ करते समय तमसा और तरयूके किनारे

अजिनदसुडभृतं कुशमेखलां यतगिरं मृगशृङ्गपरिश्रद्धाम् ।
 अधिवसैस्तनुमध्वरदीचितामसमभासयभासयदीधरः ॥२१॥
 अथभृथप्रयतो नियतेन्द्रियः सुरसमाजसमाक्रमणोचितः ।
 नमयति स्म सा केवलमुन्नतं वनमुचे नमुचेरये शिरः ॥२२॥
 असकृदेकरथेन तरस्विना हरिहयाग्रसरेण धनुर्भुता ।
 दिनकराभिमुखं रथरेणयो रुरुधिरे हृधिरेण गुरद्विषाम् ॥२३॥
 अथ समावृते कुमुदं नैर्नैस्तमिव सेवितुमेकराधिपम् ।
 यमकुचेरजलेखरवज्जिह्वां समधुरं मधुरञ्चितविक्रमम् ॥२४॥
 जिगमिषुर्धनपाच्युपितां दिशं रथयुजा परिवर्तितवाहनः ।
 दिनमुखानि रविर्दिमनिग्रहं विमलयन्मलयं नगमत्यजत् ॥२५॥
 कुमुमजन्म ततो नपपल्लवास्तदनु पटपदकोदिलहृजितम् ।
 इति पंथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम् ॥२६॥
 नयगुणोपचितामिव भूपतेः सदुपकारफलां श्रियमर्थिनः ।
 अभिययुः सरसो मधुर्नमृतां कमलिनीमलिनीरपवत्त्रिषः ॥२७॥

कुसुममेव केवलमार्तवं नवमशोक्तरोः स्मरदीपनम् ।
 किमलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः ॥२८॥
 विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषकाः ।
 मधुलिहां मधुदानविशारदाः कुरवका रवकारखतां ययुः ॥२९॥
 सुवदनावदनासवसंभृतस्तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः ।
 मधुकरैरकरोन्मधुलोनुपैर्वकुलमाकुलमायतङ्किभिः ॥३०॥
 उपहितं शेशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके ।
 प्रणयिनीं नखचतमण्डनं प्रमदया मदयापितलज्जया ॥३१॥
 प्रसगुरुप्रमदाधरदुसहं जघननिर्विपयीकृतमेखलम् ।
 न खलु तावदशेषमपोहितुं रविरत्नं विरत्नं कृतवान्हिमम् ॥३२॥
 अभिनयान्परिचेतुमिबोद्यता मलयमास्तकम्पितपल्लवा ।
 अमदयरसहकारलतामनः सकलिका कलिकामजितामपि ॥३३॥
 प्रथममन्यभृतामिहदीरिताः प्रविरला इव सुग्धवधूकथाः ।
 सुरभिगन्धिषु शुश्रुविरे गिरः कुसुमितासु मिता वनराजिषु ॥३४॥

फूलोपी देखकर ही कामोद्दीपन नहीं होता था वरन् कामियोंको मतवाला बनानेवाले जो कोमल कोप-
 र्शोंके गुच्छे स्त्रियोंके अपने कानोपर रख लिए थे उन्हें देखकर भी मन हावसे निकल जाता था ॥२८॥
 मनमें खड़े हुए कुरवकावे पेड़ ऐसे जान पड़ते थे मानो बसठमे वनभीके शरीरपर बेलबूटे बीतकर इसका
 शृङ्गार किया गया हो । उन पेड़ोंसे इतना मधु बह रहा था कि भीरे मस्त होकर उन्हींपर मुत्तामुत्ता रहे
 थे ॥२९॥ बगुलके जो वृक्ष सुन्दरी स्त्रियोंके मुसकी मदिराके छीटेसे फूल उठे थे और जिसमें उन्हीं
 स्त्रियोंके समान गुण भी भरे थे, उनको कुण्डमे उठते हुए मधुबे बोभी भीरोने बड़ा क्वक्मोर
 ॥३०॥ बसठके आनेसे पत्तासमे फूट निकली हुई कलियाँ ऐसी जान पड़ती थी मानो कामके
 आवेगसे साज चौंकर किसी वरमनोने अपने प्रियतमके शरीरपर अपने नख-शत कर डाले
 हो ॥३१॥ अभी यह ठह गतो प्रचार दूर नहीं हुई थी जिसमें पतिपोंके दाँतोसे घायल हुए स्त्रियों
 के झोठ बुद्धा करते हैं और स्त्रियाँ अपनी कमरकी तगवी भी ठण्ठी होनेके कारण उतार टाकती हैं ।
 पर हाँ, सूर्यने कुछ जाड़ा कष्ट भवस्य कर दिया था ॥३२॥ नये बीरे हुए घामके वृक्षोंकी टालियाँ
 मलयके तामुसे झूम उठी माओ उन्हीने अगिनय सीतला प्रारम्भ कर दिया हो । उन्हें देखकर राग-
 द्वेषको जीतने वाले योगियोंका मन भी घनत्व जठा ॥३३॥ जिस समय मनहर सुगन्धवासी वनकी
 लताओंपर बँठकर कोमलने डूक सुनाई तो ऐसा जान पड़ा मानो कहीं कोई मुग्धा नायिका ही खेल

श्रुतिसुखप्रमदस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो वसुः ।
 उपवनान्तलताः पवनान्तैः किसलयैः सलयैरिव पाण्डिभिः ॥३५॥
 ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं सुरभिगन्धपराजितकेसरम् ।
 पतिषु निर्विविशुर्मधुमङ्गनाः स्मरससं रसखण्डनवर्जितम् ॥३६॥
 शुशुभिरे स्मितचारुतरानना स्त्रिय इव श्लथशिक्षितमेखलाः ।
 विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकनोदकलोलविहंगमाः ॥३७॥
 उपययौ तनुतां मधुराण्डिता हिमकरोदयशयदुमुखच्छविः ।
 सदृशमिष्टसमागमनिर्वृतिं वनितयानितया रञ्जनीवधुः ॥३८॥
 अपतुपारतया विशदप्रभै सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभिः ।
 कुसुमचापमतेजयदंशुभिर्हिमकरो मकरोर्जितकेतनम् ॥३९॥
 हुतहुताशनदीप्तिवनश्रियः प्रतिनिधिः कनकाभरणस्य यत् ।
 युवतयः कुसुमं दधुराहित तदलके दलकेमरपेशलम् ॥४०॥
 अलिभिरञ्जनचिन्दुमनोहरैः कुसुमपद्मिक्तनिपातिभिरङ्कित ।
 नखलुशोभयति स्म वनस्थलीन तिलकस्तिलकः प्रमदामिव ॥४१॥

चली हो ॥३४॥ वनके किनारे घड़ी हुई जताएँ ऐसी सजीव-सी जान पड़ती थी वानों वानोंको मुख देनेवाली भीरोकी गुञ्जार ही उनके गीत हो, मिले हुए कोमल फूल ही उनकी हँसीके दाँत हो और वायुसे द्रिती हुई शाकाशोवाले हाथोंके वे अनेक प्रकारके हाव भाव दिखा रही हो ॥३५॥ चितवन प्रायः मधुर हाव भाव करानेको उज्जानेवाले और वक्रुतको भी अपनी गन्धसे धरानेवाले कामदेवके साथी नखको स्त्रियोने अपने पविके प्रेम्मे बिना बाधा दिए ही पो लिया ॥३६॥ कोमलके चरोके भीतर घनी हुई वायवियोमें जो कमल खिले हुए थे और वहाँ मधुर ध्वन करते हुए जो जल पक्षी तैर रहे थे उनसे वे वावनियाँ ऐसी सुन्दर जान पड़ती थी मानो जगमे मुसकराती हुई सुरदर मुखवाली और डोली होनेके कारण वनकी हुई लपटी (करयनी) वाली स्त्रियाँ विहार कर रही हो ॥३७॥ जैसे अपने प्रियतमसे समागम न होनेके कारण सज्जित नायिका सूखती जाती है वैसे ही राजि रूपी नायिका भी वधवत्के आगेते छोटी होती चली गई और उसका चन्द्रमावाला मुख भी गीता पटता गया ॥३८॥ पाला दूर हो जानेसे चन्द्रमा निर्मल हो गया । सभोगवती पकावटको दूर करनेवाली उसकी ठठी किरणों से कामदेवके कूनोंके धनुषको मानो और भी अधिक बन् मिल गया हो ॥३९॥ हृदयकी अग्निने समान भगकते हुए कनैरके फूल वनलक्ष्मीके वानोंके कण्ठफूल जैसे जान पड़ते थे । अपने प्रियतमोंके हाथोंसे जूटोमे लीसे हुए थे सुन्दर पखड़ी और पखगवाले फूल स्त्रियोंके केशोमे बड़े सुन्दर लग रहे थे ॥४०॥ तिलकके वृक्षने भी बनस्पतीकी कम घोभा नहीं बढ़ाई । जैसे किसी युवतीके श्रृंगारके लिये उसका मुँह चोता जाता है वैसे ही उस तिनक वृक्षके फूलोपर पँडराते हुए काजलकी बुदियोंके समान सुन्दर और ऐसे जान पड़ते थे मानो बनस्पतियोका मुख भी चोत दिया गया हो

अमदयन्मधुगन्धसनाथया कसिलयाधरसंगतया मनः ।
 कुसुमसंभृतया नवमल्लिका स्मितरुचा तरुचारुविलासिनी ॥४२॥
 अरुणरागनिपेधिभिरंशुकैः श्रवणालम्बपदैश्च यवांकुरैः ।
 परभृताविरुतैश्च विलासिनः स्मरवलैरवलैरसाः कृताः ॥४३॥
 उपचितावयवा शुचिभिः कर्षैरलिकदम्बकयोगमुपेयुषी ।
 सदृशकान्तिरलक्ष्यत मञ्जरी तिलकजालकजालकमौक्तिकैः ॥४४॥
 ध्वजपटं मदनस्थ धनुर्भूतरङ्गविकरं मुखचूर्णमृतुश्रियः ।
 कुसुमकेसररेणुमलिप्रजाः सपवनोपवनोत्थितमन्वयुः ॥४५॥
 अन्तुभवन्नवदोलमृत्सर्वं पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया ।
 अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलतां जलतामवलोजनः ॥४६॥
 त्यजत मानमलं यत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः ।
 परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधुजनः ॥४७॥
 अथ यथासुखमार्तवद्युत्सवं समनुभूय विलासयतीसखः ।
 नरपतिश्चक्रे मृगपारतिं स मधुमन्मधुमन्मयसंनिभः ॥४८॥

॥४१॥ वहाँ वृधोष्ठी सुन्दरी नायिका नवमल्लिका लता भी थी । वह अपने पकरन्द-रूपी मद्यको गन्धो
 भरी लाल-लाल-पत्तोंके झोलोपर फूंगोपी भुमकान लेकर देखते बालोको भी बारल यसाए खाल रही
 थी ॥४२॥ प्रातः कानको लताईसे श्री अधिक लाल बल्लोके, बागवर रखे हुए जोके अकुरीने श्रीर
 कोमलकी फूफोंकी रोना सेकर बलनेवाले कामदेवने ऐसा जाल बिछाया कि सभी विलासी पुरुष पुनती
 स्त्रियोंके प्रेममें लुप्त-लुप्त हो बैठे ॥४३॥ तिलकके फूलोंके गुच्छे उज्जले परागते भरे बड़ चुके थे ।
 उनपर मेंडराते हुए भीरोके झुण्डके कारण वे ऐसे सुन्दर अपने सगे जैसे किन्ती स्त्रीने अपने सिरपर
 मौतियोंकी जाली पहन ली हो ॥४४॥ उपवनके फूलोंका पराग जो वायुने उड़ाया हो भीरोके झुण्ड
 भी उनके पीछे-पीछे उड़ चले । वह उड़ता हुआ पराग ऐसा जान पड़ता था मानो पनुपधारी काम-
 देवका भगवा हो या वनतप्रीके मुखपर लगानेवा मृद्गार-बूछें हो ॥४५॥ जो स्त्रियाँ वसन्तोत्सवमें सगे
 झूलोपर शायपान होकर झूल रही थीं वे भी अपने हाथमें पकड़ी हुई रस्सीको दस्तलिये धोला छोड़
 देती थी कि हाथ छूटनेपर हमारे प्रियजन हमें पाम हो लेंगे और इस प्रकार हम उनके गलेमें भी लान
 पायेंगी ॥४६॥ उन दिनों कोयलकी बूक मानो कामदेवका यह आदेश सुना रही थी कि हे स्त्रियो !
 रुटना छोड़ दो, जराई-भगड़ा छोड़ो, बीना हुआ जीवन फिर हाथ नहीं पाता । यह सुन-सुनकर
 सभी स्त्रियाँ अपने पतियोंके साथ फिर रमता करने लगी ॥४७॥ किष्णुके समान पराक्रमी, वसंत
 ऋतुके समान प्रसन्न और कामदेवके समान सुन्दर दसरदजीने भी सुन्दरी स्त्रियोंके साथ वसंत अनुवा

परिचयं चललक्ष्यनिपातने भयस्पोश्च तदिङ्गितबोधनम् ।

श्रमजयात्प्रगुणां च करोत्यसौ तनुमतोऽनुमतः सचिवैर्ययौ ॥४६॥

मृगयनोपगमचमवेपमृदिपुलकण्ठनिपकशरासनः ।

गगनमश्वसुरोद्धतरेणुमिर्नृसविता स तितानमिवाकरोत् ॥४७॥

ग्रथितमौलिरसौ वनमालया तरुपलाशसवर्णतनुच्छदः ।

तुरगवल्गनचञ्चलकुण्डलो विरुक्चे रुरुचेष्टितभूमिषु ॥४८॥

तनुलताविनिवेशितविग्रहा भ्रमरसंक्रमितेक्ष्णवृक्षयः ।

ददृशुरध्वनिं त वनदेवताः सुनयनं नयनन्दितकोशलम् ॥४९॥

श्वगणिवारुरिकैः प्रथमास्थितं व्यपगतानलदस्यु विवेश सः ।

स्थिरतुरंगमभूमि निपानवन्मृगवयोगवयोपचितं वनम् ॥५०॥

अथ नभस्य श्व त्रिदशायुधं कनकपिङ्गतडिद्रुणसंयुतम् ।

धनुरधिज्यमनाधिरूपाददे नरवरो रवरोपितकेसरी ॥५१॥

तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणुशार्धैर्व्याहन्पमानहरिणीगमनं पुरस्तात् ।

आविर्भव कुशगर्मसुरा मृगाणां यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् ॥५२॥

मानन् त्रिमा घोर फिर उसके मनमें आसित करनेकी इच्छा होने लगी ॥४५॥ आसितसे घने साम भी होते हैं । पहली बात तो यह है कि उससे घसते हुए सस्वरो वेषनेवा अग्न्यास हो जाता है । फिर उससे जीवी के भय और शीघ्र भावि भावोपी पहचान हो जाती है और परिधम करनेसे शरीर भी नवी प्रचार गठ जाता है । इसलिये मत्रियोके सम्मति लेकर के आसितके लिये निकल पड़े ॥४६॥ जब झूठीवा वेष धनागर, अपने ऊँचे बन्धेपर धनुष टंगि, तेजस्वी राजा वधरथ घोड़ेपर चढ़कर चले तब उनमें घोड़ीकी टापोलि इतनी घुल उठी कि आवाजमें बंदोबा सा लग गया ॥४७॥ उनके फैलो-ने वनमाला गुंथी हुई थी । वे बुझने पतनें समान गहरे रंगवा बबब पहने हुए थे और घोड़ेके वेगसे चलनेके कारण उनमें बानोके कुण्डल भी हिल रहे थे । इस वेषमें चलते-चलते वे उस जंगलमें जा पहुँचे जहाँ पर जातिके हरिण बहुत घूमा करते हैं ॥४८॥ गोमल लताधारा रूप धारण करके शीरी की भाँतिसे वनदेवता भी उन सुन्दर नेत्रवाले और बौझलकी प्रभावो सदा सुख पहुँचानेवाले राजा वधरथको देखने के लिये यहाँ पहुँच गए ॥४९॥ तब वे उस जंगल में पहुँचे जहाँ पहलेसे ही जाल और सारारी मृत्ते लेकर उनमें लेकर पहुँच चुके थे । वहाँ न तो यमिनर मय वा न चोरो वा । वहाँ की पृष्ठी घोड़ोंके लिये पानी थी । वहाँ बहुतसे सात के जिनने पारो और बहुतसे हरिण, पक्षी और चौकी गहरे घूमा बरखी थी ॥५०॥ तब उस सुन्दर स्वस्व राजाने प्रपत्ता वह पदा दृष्टा धनुष उठाया जिसकी टबार मुनकर सिंह भी गरज उठे । उस समय वे उस भादोनि गहीनेके समान लग रहे थे जिनमें इन्द्रानुप निजला दृष्टा हो और जिसमें मोनेके रंगवो पीलीविजली की होरी बँधी हो ॥५१॥ उन्होंने देखा कि घावे हरिणों वा मुष्ट चारा वा रहा है जिनमें बहुत सी हरिणिनी भी हैं जो अपने

त्प्रापितं जवनवाजिमतेन राज्ञा तूष्णीमुखोद्धृतशरेण विशीर्षपट्क्तिः ।
 यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातैर्वर्तितेतोत्पलदलप्रकरैरिवाद्रैः ॥५६॥
 त्र्ययीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् ।
 राक्षसकृष्टमपि कामितया स धन्वी बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसंलहार ॥५७॥
 स्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः कर्णान्तमेत्य विभिदे निविहोऽपि मृष्टिः ।
 आसातिमात्रचटुलैः स्मरयत्सु नैत्रैः प्रौढप्रियानयनभिभ्रमचेष्टितानि ॥५८॥
 तत्स्रुपः सपदि पल्लवपद्ममध्यान्मुस्ताप्ररोहकवलावयवानुकीर्णम् ।
 ग्राह्यं स द्रुतचराहकुलस्यमार्गं सुव्यक्तमार्द्रपदपट्क्तिभिरायताभिः ॥५९॥
 ग्राह्यादवनतोत्तरफलयमीपद्विध्यन्तमुद्धतसटाः प्रतिहन्तुमीपुः ।
 आत्मानमस्य विविदुः सहसा वराहा वृक्षेषु विद्धमिषुभिर्जघनाश्रयेषु ॥६०॥
 नाभिघातरमसस्य विकृष्य पत्नी वन्यस्य नेत्रविवरे महिषस्य मुक्तः ।
 नेर्भिय विग्रहमशोखितलिप्तपुद्गस्त पातयां प्रथम मास पपात पश्चात् ॥६१॥

न छीमो के कारण रक्ती चलती है जो बुरा बघाते बघावे अपनी माँके स्तनोत्ते दूध पीनेके लिये
 बीच-बीचमे खड़े हो जाते हैं । इस भ्रुवन्के भागे भागे एक बरौला कल्ला हरिण भी चला जा रहा
 ॥५५॥ राजाने ज्योंही अपने बेल्गामो पोडेपर चढ़कर और अपने तूखीरमे से बाण निकालकर
 तथा पीछा किया कि वह भ्रुष्ट तितर-बितर हो गया और उनकी बबराई हुई आँखोसे भरा हुआ
 इ सारा जगल ऐसा लगने लगा मानो घायुने नीचे कमलोजी पक्षियों लाकर वहाँ बिछेर दी हो
 ५६॥ इन्द्र के समान शक्तिशाली चतुर धनुषधारी राजा बसरबने देखा कि वे जिस हरिणको मारना
 चाहते थे उसकी हरिणी बीचमे आकर लड़ी हो गई । वे स्वयं भी प्रेमी थे । अपने हरिणके लिए
 रिशका यह प्रेम देखकर उनका हृदय भी दयासे भर आया और उन्होंने कानतब खींचा हुआ भी
 पना बाण उतार लिया ॥५७॥ वे दूसरे हरिणोपर बाण चलाया चाहते थे और उन्होंने बाणपी
 टकी कानतब खींच भी ली थी पर जब उन्होंने उन हरिणोकी टरी हुई आँखोकी देखा तो उन्ह
 पनी गुवर्ता प्रियतयाके चलन नेत्रोका स्पर्श हो आया और उनके हाथ ढीरे पड़ गए ॥५८॥ उन्हो
 नेहकर दशरथजी उपर झूम पड़े जिधर भाँसे बने हुए गोबकी घासके मुँठे स्थान-स्थान पर बिखरे
 डेये और रँरकी गोलो छापोकी पाँतको देखकर जान पड़ता था कि साँसाके बीच-बीचमे निबल निकलकर
 नैले सूसरोका भ्रुष्ट उपरको भागा है ॥५९॥ ज्यों ही उन्होंने पोडेपर चढ़े हुए अपने शरीरको भागे
 लाकर उन सूभरीपर बाण चलाए त्योंही वे भी अपने बड़े बाँल खड़े करके राजा दशरथपर भ्रष्ट पड़े
 लगे उन्होने तरलात ऐसे कसरत बाण मारे कि सूसरोको जान ही नहीं पडा कि वे उन पेड़ोम बाँलके
 ५९॥ अब चिपक गए जिनके सहारे वे खड़े थे ॥६०॥ इतनेमे ही उन्होंने देखा कि एक जगली भँसा
 नकी ओर भगटा पला आरहा है । उन्होंने उसकी आँखमे ऐसा बाण मारा कि वह भँसेके शरीरमे से
 उनी फुटसि पार होगया कि बाँलके पलम तनिक सा भी रक्त नहीं तथा भी बिदेपला यह भी कि बाँल

प्रायो विपापमिमोक्षलवृत्तमाद्धान्यद्राक्ष्यन् नृपतिर्निश्चितैः क्षुरप्रैः ।
 शृङ्गं मद्यमग्निपापिकृतः परेषामत्युन्निद्रं न ममृषे न तु दीर्घमायुः ॥६२॥
 व्याघ्रानगीरमिमुषोत्पतितान्गुह्यभ्यः फुल्लामनाग्रमिष्टपानिव वायुस्त्वान् ।
 शिवाग्निशेषलघुहस्ततथा निमेषाचूर्णाचकार शरपूरितमग्गरन्धान् ॥६३॥
 निर्घातोर्ग्रैः बुद्धिर्लोनाञ्जिघांसुर्ज्यानिर्घोषैः क्षोभयामास मिहान् ।
 नूनं तेषामभ्यक्षयापरोऽभृष्टीषोदये राजजन्ते मृगेषु ॥६४॥
 तान्दत्त्वा भजन्तुलरद्धतीर्नरान्कावुत्स्यः कुटिलनग्राग्रलग्नमुक्तान् ।
 प्रान्नानं गच्छतुतदर्मज्ञं गजानामानृश्यं गतमिदं मार्गैर्यैर्ममैस्त ॥६५॥
 चमरान्पग्नितः प्रवर्तितारयः क्वचिदाररारिहृष्टभज्यर्षी ।
 नृपतीनि तान्प्रियोज्य नद्यः मितसालव्यलनैर्जगाम शान्तिम् ॥६६॥
 अपि तुरगानमीषादुत्पन्नं मयूरं न न रुचिरकलापं रागलक्ष्मीचकार ।
 सपदि गतमनस्त्रिभुवमास्यानुनीरोरतिनिगलितरन्ध्रे केशपाशे प्रियायाः ॥६७॥

तस्य . कर्कशविहारसंभवं स्वेदमाननविलम्बजालकम् ।

आचचाम सतुपारशीकरो भिन्नपल्लवपुटो वनानिलः ॥६८॥

इति विस्मृतान्यकरणीयमात्मनः सचिन्तावलम्बितधुरं धराधिपम् ।

परिवृद्धरागमनुबन्धसेवया मृगया जहार चतुरेव कामिनी ॥६९॥

स ललितकुसुमप्रवालशय्यां ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथाम् ।

नरपतिरतिबाह्यांभूय कचिदसमेतपरिच्छदस्त्रियामाम् ॥७०॥

उपसि स गजयूथकर्णतालैः पटुपटहृष्यनिभिर्विनीतनिद्रः ।

अरमत मधुराणि तत्र शृण्वन्विहगविकूजितबन्दिमङ्गलानि ॥७१॥

अथ जातु करोमृहीतवर्मा विपिने पार्श्वचरैरलक्ष्यमाणः ।

श्रमफेनमुच्चा तपस्विगाढां समसां प्राप नदीं तुरंगमेण ॥७२॥

कुम्भपूरणभवः पदुरुच्चैरुचचार निनदोऽम्भसि तस्याः ।

तत्र स द्विरद्वृंहितशङ्की शन्दपातिनमिषु विसनर्ज ॥७३॥

नृपतेः प्रतिपिद्धमेव तत्कृतवान्पद्भक्तिरथो विलङ्घय पद् ।

अपये पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ॥७४॥

हा तातेति क्रन्दितमाकर्ण्य विपणस्तस्यान्विष्यन्वेतसगूढप्रभवं सः ।

शल्पप्रोतं प्रेक्ष्य सकुम्भं मुनिपुत्रं तापाटन्तःशल्यड्वासीत्चित्तिपोऽपि ॥७५॥

स्मरण हो जाता था ॥६७॥ कठिन परिश्रमसे उनके मूँहपर जो पसीना छा गया था उसे उनके उस बापुने सुला दिया जो जलके कण्डोसे छीतल होकर पत्ती घोर कसियोको गिराता चल रहा था ॥६८॥ इस प्रकार अपना सय काम भूले हुए घोर राजका भार मत्रियोपर छोडकर बगमे भाए हुए राजा दशरथका मन आखेटके व्यसनने उसी प्रकार मुभा लिया जैसे कोई स्त्री अपने पतिजी सेवा करने उसे अपने बशमे कर लेती है ॥६९॥ यह आखेटका व्यसन उन्हें ऐसा लगा कि कभी कभी उन्हें सारी रात फूल पत्तीकी साँवरपर, रातको कमकनेवाली मुटियोके प्रकाशके सहारे, जिना किसी सेवकने घनेले ही काटनी पडती थी ॥७०॥ घोर प्रातःकाल जब नगाड़ी के समान सज्ज नरनवान हाधियोके बार्तोकी पटपट होती थी तब उनकी भाँखें खुलती थी घोर उस समय बनने पड़ी चारणोके समान जो मनुष्य-गोत्र गाते थे उन्हें सुनकर ही वे मगन हो जाते थे ॥७१॥ एक दिन जगसमे हर मृगका पीछा करते हुए वे अपने सापियोसे बहुत दूर भटकगए । यवानटके नारख उतवा मोक्ष भूँहसे भाग फँकने लगा, पर उसी पर चडे हुए वे तपसा नदीके उध गटपर निवल गए जहाँ बहुतसे तपस्वियोके आश्रम बने हुए थे ॥७२॥ वहाँ चलने कोई पडा भर रहा था, उन्होंने समझा कि यह कोई हाथी है । बाए निजाता घोर सज्जपर सज्ज करने उन्होंने भट सज्जवेची बाए खला ही तो दिया ॥७३॥ हाथियो मारता आत्मने विरह है । इसलिये दशरथने जो किया यह राजाके लिये ठीक नहीं था पर कभी-कभी बिडान् मोग भी जब आवेशसे अचे हो जाते हैं तब वे भी उलटा काम कर ही बैठे हैं ॥७४॥ सहसा कोई

तेनावतीर्य तुरगात्प्रथितान्वयेन पृष्ठान्वयः स जलकुम्भनिपयण देहः ।
 तस्मै द्विजेतरतपस्विसुतं स्पलद्भिरात्मानमचरपदैः कथयां वभूव ॥७६॥
 तद्योदितश्च तमनुद्धृतशल्यमेव पित्रोः सकाशमवसन्नदृशोर्निनाय ।
 ताम्भ्यां तथागतमुपेत्य तमेकपुत्रमज्ञानतः स्वचरितं नृपतिः शशंस ॥७७॥
 तौ दंपती बहु विलप्य शिशोः प्रहर्षां शल्यं निघ्रातमुदहारयतामुरस्तः ।
 सोऽभूत्परासुरश्च भूमिपतिं शशाप हस्तापिर्वैनयनवारिभिरेव वृद्धः ॥७८॥
 दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोकादन्त्ये वयस्यहमिवेति तमुक्तयन्तम् ।
 आक्रान्तपूर्वमिव मुक्तविपं भुजंगं प्रोवाच कोशलपतिः प्रथमापाद्धः ॥७९॥
 शापोऽप्यष्टतनपाननपन्नशोभे सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम् ।
 कृप्यां दहन्नपि खलु चित्तिमिन्वनेद्धो बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति ॥८०॥
 इत्थंगते गतघृणः किमयं विधत्तां वध्यस्तपेत्यभिहितो वसुधाधिपेन ।
 एधान्हुताशनयतः स मुनिर्ययाचे पुत्रं परासुमनुगन्तुमनाः सदारः ॥८१॥

चित्ताया—हाय पिता ! यह मुनवर हनका माया टनका धीर के भट उसे बँधने बड़ चले । पागे
 बढते ही वेपते क्या हैं कि मरत्यटपी काटियो में बाँधसे बिपा हुआ, पड़ेपर मुफा हुआ मिछी मुनि
 या पुत्र पडा है । उसे देखकर उनको ऐसा बघ्ट हुआ मानो इन्हें भी बाँध लग गया हो ॥७५॥
 जब श्रेष्ठ बना बाँधे राजा दशरथने पड़ेपर भुवै हुए मुनि-पुत्रसे उसका वध-परिचय पूछा तब उसने
 लज्जबारी बाणीसे बताया कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, मेरे पिता वैश्य हैं और मेरी मरता दूता हैं ॥७६॥
 उसने राजा दशरथने कहा कि मुझे मेरे भविष्य माता-पिताने पास ले बसो । राजा दशरथने उस
 बाँधसे बिधे मुनि पुत्रको उठाया और उनके माता-पिताके पास ले गए । वहाँ पहुँचकर उन्होंने
 उनसे सब कथा बता दी कि भूलने मेंने आपने एवसीते पुत्रपर बिना प्रचार बाँध पला दिया है
 ॥७७॥ यह मुने ही वे दोनो तो डाढ़ मारकर रोने लगे और उन्होंने अपने पुत्रके हाथपैरको धासा
 दी कि मेरे पुत्रकी धातीमेंने बाण निकल लो । बाण निकलते ही मुनि-कुमारने बाण भी निकल
 गए । इस पर मुने तपस्वीने अपने ब्रह्मियोने अपनी ब्रजली भरवर राजारो साथ दिया—॥७८॥
 'हे राजा ! जाओ तुम भी हमारे ही समान बुढ़ापेमें पुन-लोकेसे प्राण छोड़ोगे ।' परसे अपनेपर
 एवं जंमे बिप उगतकर जान्न हो जाता है बैसे ही आप देखर जब वे बूढ़े मुनि शान्त हो गए तब
 पहले पहन धरराध बल्लेकाले राजा दशरथ जंमे बोले—॥७९॥ 'हे मुनि ? मुझे धाततण पुत्रने
 मुरा बमलवा दर्शन-लन नहीं हुआ है, इसलिये मैं आपने साथको बरदान हो समझता हूँ क्योंकि
 इसी बहाने मुझे पुत्र तो प्राप्त होगा । उगतली सबलीनी बाण बाँधे एव बार धृष्टो को मले ही
 जाता दे निन्तु यह धृष्टो को इतनी उपजाऊ बना देती है कि बाँधे उधमें बनी मच्छी उपज होती
 है ॥८०॥ यह कहकर राजा के विर उनको कहा—'मैं तो इसी योग्य हूँ कि आप मेरा वध करें ।
 अब मुक्त नीमने बिधे आपकी क्या प्राप्ता होती है ।' यह मुनवर उस मुनिने कहा कि 'हम और
 हमारी स्त्री सब अपने पुत्रके साथ ही पत्थर छोड़ देंगे । इसलिये अब हमारे लिए ईप्स और मनि

प्राप्तानुगः सपदि शासनमस्परान्ता

संपाद्य पातकविलुप्तश्रुतिनिवृत्तः ।

अन्तर्निविष्टपदमात्मविनाशहेतुं

शार्पं दधज्ज्वलनमौर्वमिवाम्बुराशिः ॥८२॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये

मुगयावर्णनो नाम नवमः सर्गः ॥

जुटाओं ॥८१॥ राना दसरथके अनुचर भी तबतक पहुँच गए थे । तत्काव ईंधन और अग्नि जुटा दी गई । जैसे रामुदके हृदयमें बठवानच जता करता है वैसे ही, अपने पापसे अधीर हृदयमें मुनिके क्षापकी ज्वाला घाग लिए हुए वे [मिसी-मिसी प्रकार] पर लौटे ॥८२॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे रघुवंश महाकाव्यमें आठेठ-बर्णन

नामक नवीं सर्ग समाप्त हुआ ॥

॥ दशमः सर्गः ॥

पृथिवीं शासतस्तस्य पाकशासनतेजसः ।
 किञ्चिद्नमनूतद्धैः शरदामयुतं ययौ ॥ १ ॥
 न चोपलेभे पूर्वेषामृष्यनिर्मोक्षसाधनम् ।
 सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोक्तमोषहम् ॥ २ ॥
 श्रतिष्ठत्प्रत्ययापेक्षसंततिः स चिरंरुपः ।
 ग्राह्मन्थादनमिव्यक्तरत्नोत्पत्तिरिबार्णवः ॥ ३ ॥
 ऋष्यशृङ्गादयस्तस्य सन्तः संतानकाङ्क्षिणः ।
 धारेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः ॥ ४ ॥
 तस्मिन्मयसरे देवाः पौलस्त्योपप्लुता हरिम् ।
 अमिजगृह्णन्दिधातारिश्वापावृद्धमिवाध्वगाः ॥ ५ ॥
 ते च प्रापुरुदन्वन्तं घुबुधे चादिपुरुषः ।
 अच्युत्तेषो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्दि लक्षणम् ॥ ६ ॥
 भोमिभोगासनासीनं ददशुस्तं दिवौकसः ।
 सत्कणामण्डलोदधिर्मणिगियोतितविग्रहम् ॥ ७ ॥
 श्रियः पद्मनिपणाययाः क्षौमान्तरितमेखले ।
 अष्टौ निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपद्मले ॥ ८ ॥

दसवां सर्गं

अर्धर घनवासी श्रीर इन्द्रके समान ठेकरवी राजा दशरथको पृथ्वीपर राज करते-करते लगभग दस सहस्र राज्य बीत गए ॥१॥ पर तब भी पितरोके ऋष्यसे छुटाकारा दितानेवाली श्रीर शोरके धैरेकी दूर करनेवाली वह ज्योति उन्हें नहीं मिल सकी जिसे पुत्र कहते हैं ॥२॥ जैसे समुद्रको रत्न उत्पन्न करनेके लिये मये जानैतक उठरना पड़ा था वैसे ही संतानके लिये उपाय होनेतक राजा दशरथकी भी उठरना पड़ा ॥३॥ तब ऋष्यशृङ्ग आदि जितेन्द्रिय श्रीर सत्त यज्ञ करनेवाते ऋषियोंनि संतान चाहनेवाले राजा दशरथके लिये पुत्रेष्टि यज्ञ करना प्रारंभ किया ॥४॥ ठीक उसी समय रावणके पत्माचारसे पबराकर देवता लोग उसी प्रकार विष्णुकी शरणमें गए जैसे घुपसे व्याकुल पक्षि बड़कर छायावाले वृक्षके नीचे पहुँच जाते हैं ॥५॥ ज्यों ही देवता लोग श्रीर सामरमें पहुँचे त्यों ही विष्णु भगवान् भी योग-मिताते आग उठे । काममे देर न होना ही उसके पुरे होनेका सबसे बड़ा लक्षण है ॥६॥ देवताओंने देखा कि विष्णु भगवान् शेष-शम्भापर सेठे हुए हैं और शेषके फणियोंकी मणियोंसे उनका शरीर और जो अधिक घमक उठा है ॥७॥ उन्होके पास कमलपर सदासी बैठी हुई थी जिनकी कमरमें रेशमी वस्त्र पड़ा हुआ था

प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं चालातपनिभांशुकम् ।
 दिवसं शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम् ॥ ६ ॥
 प्रभानुलसितश्रीवत्सं लक्ष्मीविभ्रमदर्पणम् ।
 कौस्तुभाख्यमपां सारं विभ्राणं बृहत्तोरसा ॥ १० ॥
 बाहुभिर्विन्दयाकोरैर्दिव्याभरणभूषितैः ।
 आविर्भूतमपां मध्ये पारिजातमिवापरम् ॥ ११ ॥
 दैत्यस्त्रीगणदल्लेखानां मदरागविलोपिभिः ।
 हेतिभिरचेतनावह्निरुदीरितजयस्वनम् ॥ १२ ॥
 मुक्तशेषविरोधेन कुलिशत्रयलक्ष्मणा ।
 उपस्थितं प्राक्षलिता विनीतेन गरुत्मता ॥ १३ ॥
 योगनिद्रान्तविशदैः पावनैरवलोकनैः ।
 भृन्वादीननुगृह्णन्तं सौखशायनिकानृपीन् ॥ १४ ॥
 प्रणिपत्य सुरास्तस्मै शमयित्रे सुरद्विषाम् ।
 अथैनं तुष्टयुः स्तुत्यमवाद्मनसगोचरम् ॥ १५ ॥

श्रीर जो विष्णु भगवान् के कारण अपनी गोदमे लेकर पहाट रही थी ॥८॥ जैसे चिते हुए कमल-
 से श्रीर व-पारासिने सूर्य से शरद ऋतु के प्रारम्भिन दिन बने सुहावने सघने हैं वैसे ही जिले हुए
 कमल जैसी भाँसी वाले, प्रातः कालकी धूपने समान सुनहले बस्त्र पहने श्रीर ध्यानमग्न योगियोंको घर-
 लतासे बर्छांग देनेवाले, विष्णु भी बड़े सुन्दर लग रहे थे ॥९॥ उनसे जोड़े वक्षस्वतपर वह कौस्तुभ गण
 चमक रहा था जिससे लक्ष्मीजी शृङ्गारने समथ भयवा हाव भाव करते हुए अपना मुँह देखा सकती हैं
 श्रीर जिसकी चमकसे मृगुने पचणके प्रहारसे बचा हुआ बौद्ध विह भी चमक उठता था ॥१०॥
 भामुपणोसे राजी हुई उनकी बहो-बहो भुजाएँ वृक्षकी शाखाओंके समान थी श्रीर उनसे वे ऐसे लगते
 थे मानो समुद्रमे दूसरा कल्पवृक्ष निकल आया हो ॥११॥ असुरोंको मारकर उनकी दिग्गोत्रे वालोंसे
 मदकी भाँसी मिटानेवाले उनके चक्र, भवा आदि ध्वज खड़ीन होकर उनकी जयजयकार कर रहे
 थे ॥१२॥ शेषनागसे स्वाम्यायिक विरोध छोड़कर इन्द्रके नष्पकी खोटकन विह्वल धारण किए हुए गरुड-
 जी बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़कर उनकी सेवामे लगे थे ॥१३॥ वे योग-निद्रासे उठकर अपनी स्वच्छ
 श्रीर पवित्र चित्तवन्तसे उब शृगु आदि ऋषियोंको अनुगृहीत कर रहे थे जो उनसे पूछ रहे थे—‘भगवद्
 आप सुखसे तो सोए है ॥१४॥ तब देवता लोग दैत्योंके नाश करनेवाले विष्णु भगवान् को
 प्रणाम करते उन प्रशसनीय विष्णुकी स्तुति करते लगे जिनका न तो बालो हो पहुँचती है
 श्रीर न तो मन हो पहुँच सकता है । वे बोले—॥१५॥ विजयनी बनाने, पालन करने श्रीर

॥ दशमः सर्गः ॥

पृथिवीं शासतस्तस्य पाकशासनतेजसः ।
 किंचिद्नमनूनर्द्धः शरदामयुतं ययौ ॥ १ ॥
 न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम् ।
 सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोक्तमोपहम् ॥ २ ॥
 अतिष्ठत्प्रत्ययापेक्षसंततिः स चिरंनृपः ।
 प्राङ्मन्थादनभिव्यक्तस्त्वोत्पत्तिरिवार्थवः ॥ ३ ॥
 श्रुष्यभृद्भादयस्तस्य सन्तः संतानकाङ्क्षिणः ।
 आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः ॥ ४ ॥
 तस्मिन्नवसरे देवाः पौलस्त्योपप्लुता हरिम् ।
 अभिलम्बुनिंदाघातारिह्यायावृक्षमिवाध्वगाः ॥ ५ ॥
 ते च प्राप्सुर्दन्वन्तं वुषुषे चादिपूरयः ।
 श्रव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कर्पसिद्धेर्हि लक्षणम् ॥ ६ ॥
 भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः ।
 तत्पश्यामण्डलोदर्चिर्मणियोतितविग्रहम् ॥ ७ ॥
 श्रियः पद्मनिपण्यायाः द्यौमान्वरितमेतले ।
 अङ्गे निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे ॥ ८ ॥

दसवां सर्गं

अपार मनवाले और इन्द्रके समान तेजस्वी राजा दशरथको पृथ्वीपर राज करते-करते लगभग
 पक्ष सहस्र बरस बीत गए ॥१॥ पर सब भी पितरोंके श्रुत्यसे सुटाकारा दिलानेवाली और
 शोकके प्रबरेकी दूर करनेवाली वह ज्योति जन्म नहीं मिल सकी जिसे पुत्र कहते हैं ॥२॥ जैसे
 समुद्रको रत्न उत्पन्न करनेके लिये मये जातेतक टहलना पड़ा था वैसे ही संतानके लिये उपाय होनेतक
 राजा दशरथको भी ठहरना पड़ा ॥३॥ तब श्रुष्यभृद् आदि जितेन्द्रिय और सन्त यज्ञ करनेवाले
 श्रुषियोंने संतान चाहनेवाले राजा दशरथके लिये पुनेष्टि यज्ञ करना प्रारम्भ किया ॥४॥ ठीक उसी
 समय रामराके भत्याचारसे भयराकर देवता लोग सभी प्रकार विष्णुकी शरणने गए जैसे
 घुपसे व्याकुल पथिक बहकर छायावाले वृक्षके नीचे पहुँच जाते हैं ॥५॥ ज्यों ही देवता
 लोग क्षीर सागरमें पहुँचे त्यों ही विष्णु भगवान् श्री योग-निद्रासे जाग उठे । कामसे देर न
 होना ही उसके पूरे होनेका सबसे बड़ा लक्षण है ॥६॥ देवताओंने देखा कि विष्णु भगवान्
 शेष-लयापर जेठे हुए हैं और शेषके पक्षोकी मणियोति उनका शरीर और भी अधिक चमक
 उठा ॥७॥ उन्हींके पास नगलपर बसपी बेंटी हुई थी जिनको कमरसे देखनी वस्त्र पटा हुआ था

प्रमुदपुण्डरीकाक्षं वालातपनिभांशुकम् ।
 दिवसं शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम् ॥ ६ ॥
 प्रभानुल्लिप्तश्रीवत्सं लक्ष्मीविभ्रमदर्पणम् ।
 कौस्तुभाख्यमपां सारं विभ्राणं बृहतोरसा ॥ १० ॥
 बाहुभिर्विंटपाकोरैर्विव्याभरणभूषितैः ।
 आविर्भूतमपां मध्ये पारिजातमिवापरम् ॥ ११ ॥
 दैत्यस्त्रीगण्डलेखानां मदरामविलोपिभिः ।
 हेतिभिरचेतनावद्भिरुदीरितजयस्वनम् ॥ १२ ॥
 मुक्तशेषविरोधेन कुलिशत्रयलक्ष्मणा ।
 उपस्थितं प्राञ्जलिना विनीतेन गरुत्मता ॥ १३ ॥
 योगनिद्रान्तविशदैः पावनैरवलोकनैः ।
 भृग्वादीननुगृह्यन्तं सौखशायनिकानृपीन् ॥ १४ ॥
 प्रणिपत्य सुरास्तस्मै शमयित्रे सुरद्विषाम् ।
 अथैनं तुष्टुः स्तुत्यमवाद्मनसगोचरम् ॥ १५ ॥

श्रीर जो बिष्णु भगवान् के चरण अपनी गोदमे लेकर पतोटे रही थी ॥६॥ जैसे खिले हुए कमलों-
 से श्रीर कन्याशालिके सूर्य से शरद् ऋतु के प्रारम्भिक दिन बने सुहावने लगते हैं वैसे ही खिले हुए
 कमल जैसी प्राणी बाले, प्रातः कालकी धुपके समान सुनहले वस्त्र पहने श्रीर ध्यानमग्न योगियोंको सर-
 लतासे दर्शन देनेवाले, बिष्णु भी बड़े सुन्दर लग रहे थे ॥६॥ उनके चौड़े वक्षस्त्रयपर वह कौस्तुभ मणि
 चमक रहा था जिसमे लक्ष्मीजी मृदुलारने समग्र प्रपञ्च हाव भाव करते हुए अपना मुँह देखा करती हैं
 श्रीर जिसकी चमकसे भृगुने शरणागते प्रह्लादसे बना हुआ श्रीवत्स भिन्न भी चमक उठता था ॥१०॥
 माभूषणोंसे सजी हुई उनकी बड़ी बली भुजाएँ वृक्षकी शाखाओंके समान थी श्रीर उनसे वे ऐसे लगते
 थे मानो समुद्रमे दूधरा कल्पवृक्ष निकल आया हो ॥११॥ प्रमुदोषो भाकर उनकी स्त्रियोंके गालोंसे
 मदकी लाली मिटानेवाले उनके चक्र, गदा आदि अस्त्र सशिव होकर उनकी जयजयकार कर रहे
 थे ॥१२॥ शेषनागसे स्वाभाविक विरोध छोडकर दम्भके वज्रकी चोटका चिह्न धारण किए हुए गरुड-
 जी बड़ी मन्त्रतासे हाथ जोडकर उनकी सेवामे सटे थे ॥१३॥ वे लोभ निद्रासे उठकर अपनी स्वच्छ
 श्रीर पवित्र चित्तवत्से उन मृगु आदि ऋषियोंको अनुगृहीत कर रहे थे जो उनसे पूछ रहे थे—भगवन्
 आप मुझसे तो छोए हैं ॥१४॥ तब देवता सोए दैत्योंके नाश करदेवाले बिष्णु भगवान् को
 प्रणाम करके उन प्रशसनीय बिष्णुकी स्तुति करने लगे जिनका न तो बाली ही पहुँचती है
 श्रीर न तो मन ही पहुँच सकता है । वे बोले—॥१५॥ विद्वदों के बताने, पालन करने श्रीर

नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु विभ्रते ।
 अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने ॥१६॥
 रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते ।
 देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः ॥१७॥
 श्रमेयो मितलोकस्त्वमनर्थं प्रार्थनावहः ।
 अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तश्चराम् ॥१८॥
 हृदयस्थमनासन्नमकामं त्वां तपस्विनम् ।
 दयालुमनघस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः ॥१९॥
 सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः ।
 सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपमाह् ॥२०॥
 सप्तसामोपगीतं त्वां सप्तारविज्ञानम् ।
 सप्ताचिर्मुत्समाचक्षुः सप्तलोकैकसंश्रयम् ॥२१॥
 चतुर्वर्गफलं ज्ञानं कालावस्थाधतुर्गुणः ।
 चतुर्वर्गभयोलोकस्त्वचः सर्वं चतुर्द्विजम् ॥२२॥

उदधेरिव रत्नानि तेजांसीव विनस्वतः ।
 स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते दूराणि चरितानि ते ॥३०॥
 यनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किञ्चन विद्यते ।
 लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः ॥३१॥
 महिमानं यदुत्कीर्त्य तव संहियते वचः ।
 श्रमेण तदशास्त्रा वा न गुणानामियचया ॥३२॥
 इति प्रसादयामासुस्ते सुरास्तमधोऽक्षजम् ।
 भूतार्थव्याहृतिः सा हि न स्तुतिः परमेष्ठिनः ॥३३॥
 तस्मै कुशलमंप्रश्नव्यञ्जितप्रीतये सुराः ।
 मयमप्रलयोद्देल्लादाचर्युनैर्ऋतोदधेः ॥३४॥
 अथ वेलासमासन्नगैलरन्ध्रानुनादिना ।
 स्वरेणोवाच भगवान्परिभूतार्थवच्चनिः ॥३५॥
 पुराणस्य कवेस्तस्य वर्णस्थानरमीरिता ।
 यमव कृतमंस्कारा चरितार्थैव भारती ॥३६॥
 यमौ सदशनज्योत्स्ना सा विभोर्दनोद्भवा ।
 निर्यातिशेषा चरणाद्भङ्गेषोर्ध्वप्रवर्तिनी ॥३७॥

चिरखें गिनी नहीं था सकती पैसे ही स्तुति करने आपके पूरे परितका चलें नहीं हो सकता ॥३०॥
 ससारमे प्राप्त करने कोय नौई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो आपके हाथमे न हो । फिर भी आप जो
 जन्म लेते हैं और जन्म करते हैं उनका एक मात्र उद्देश्य यही है कि आप ससारपर अनुग्रह
 करना चाहते हैं ॥३१॥ आपकी महत्ताकी प्रशंसा करने जो हम चुप हो रहे हैं, इसका
 यह कारण नहीं है कि हमने आपकी छत्र गुण बताने वाले, बरत इसका कारण नहीं है
 कि हम का गए हैं और भागे कोनोंकी शक्ति हममें नहीं रह गई है ॥३२॥ जो भगवान् किसी
 भी इन्द्रियमे प्राप्त नहीं होते हैं उनकी स्तुति करने देवताओंने उन्हें प्रसन्न कर लिया । यह स्तुति भी
 उनकी भूयो प्रशंसा नहीं थी बरन् सब बातें उनकी ही थी ॥३३॥ विष्णु भगवान्ने प्रसन्न होकर
 उनमे कुशल-मंगल पूछा, जिसमे उत्तरमे देवताओंने कहा कि भाग्य-कर्म ऐसे राक्षस प्रसन्न हो गए हैं
 जिन्होंने जिना प्रथम नाम ध्याए ही सारे सगर्वाकी भर्षाया भंग करने काये और हाहाकार मचा दिया
 है ॥३४॥ यह सुनकर समुद्रमे भी दह्राव गये और ध्वनिमे जब भगवान् उत्तर देने लगे तब शीर-
 सारमे तटपर राखे हुए पहाड़ोंकी गुफाओंमे उनका शब्द गूँज उठे ॥३५॥ विष्णु भगवान् ही सबसे
 पुराने यदि है इसलिए जब उनसे मुझने भीतर बन्ध, ताजु, दौन, धौड आदि उच्चारणमे स्थानेमे भी
 भीति फैलायी निवन्नी तब माते गरुडोंने अपने जन्म लेनेका वचन पालिया ॥३६॥ उनसे दाँतोंकी चमक
 मे जपमालाकी हई उनकी चारों मुझने निवन्नी हुई ऐसी घोषा देने लगे मागे उनसे परखेंति

जाने वो रचसाक्रान्तावनुभावपराक्रमौ ।
 अङ्गिनां तमसेरोमौ मुखौ प्रथममध्यमौ ॥३८॥
 विदितं तप्यमानं च तेन मे श्रुवनत्रयम् ।
 अकामोपनतेन साधोर्हृदयमेनसा ॥३९॥
 कार्येषु चैककार्यत्यादस्यर्थोऽस्मि न वज्रिणा ।
 स्वयमेव हि वातोऽग्नेः सारथ्यं प्रतिपद्यते ॥४०॥
 स्वासिधारापरिहृतः कामं चक्रस्य तेन मे ।
 स्थापितो दशमो मूर्धा लम्बांश्च इव रक्षसा ॥४१॥
 स्रष्टुर्वरातिसर्गाचु मया तस्य दुरात्मनः ।
 अत्यारूढं रिपोः सोढं चन्दनेनेव भोगिनः ॥४२॥
 धातारं तपसा प्रीतं ययाचे स हि राक्षसः ।
 दैवात्सर्गादिवध्यत्वं मर्त्येष्वास्यापराङ्मुखः ॥४३॥
 सोऽहं दाशरथिर्भूत्वा रणभूमेर्ललितमम् ।
 करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैस्तच्छिरः कमलोद्ययम् ॥४४॥
 अचिराद्यज्वभिर्भागं कल्पितं विधिवत्पुनः ।
 मायाविभिरनालीढमादास्यध्वे निशाचरैः ॥४५॥

निरुत्तर गंगाजी ऊपरको जा रही हो ॥३७॥ विष्णु भगवान् बोले— हे देवताओं ! जैसे सभारके जीवोंके सत्त्वगुण और रजोगुणको उतना तमोगुण दबा लेता है वैसे ही आपने तेज और बलको राक्षस दबा बैठा है ॥३८॥ मैं यह भी जानता हूँ कि जैसे अनजानमे किए हुए पापसे सज्जनका मन पगला जाता है वैसे ही सारा सभार राक्षसने अत्याचारसे पगला उठा है ॥३९॥ इसलिए राक्षसोंको मिटा डालनेका काम जैसा इन्द्रका है वैसा ही मेरा भी है । इसके लिए दन्त्रने जो मेरी प्रार्थना की है उसकी मैं कोई प्रावश्यकता नहीं समझता हूँ क्योंकि आपकी सहायतासे सिय पापुसे पहना नहीं पड़ता, वह तो स्वयं आगकी लज्जा देता है ॥४०॥ शिवजीको प्रसन्न करनेके लिये राक्षसने अपने भी सिर काटकर चढ़ा दिए थे । अब जान पड़ता है कि उस राक्षसने अपना दसवाँ सिर मेरे चक्रसे काटे जाने के लिये रख जोड़ा है ॥४१॥ ब्रह्माजीने जो उसे वरदान दे दिया है उसीसे मैंने उस दुष्टका दिन दिन ऊपर चढ़ना उसी प्रकार सहा है जैसे अपने ऊपर चढ़त हुए गौणको चन्दनका गेह सह लेता है ॥४२॥ अब ब्रह्माजी उसको तपस्याको प्रयत्न हुए सब उसने यही वरदान माँगा कि मैं देवताओंके हाथसे न मारा जा सकूँ क्योंकि मनुष्योंको तो वह कुछ भयभता ही नहीं है ॥४३॥ इसलिये मैं राजा दशरथके यहाँ जन्म लेकर अपने लोखे धारणसि उससे सिरोंको नमलये समान उत्तरकर रणभूमिमें बैठ चढाऊँगा ॥४४॥ हे देवताओं ! यजमान सोण जो विधिसे दिया हुआ यज्ञका भाग कुछ दे दोगे उसे अब राक्षस सोण धीमेकर नहीं खा

वैमानिकाः पुण्यकृतस्त्यजन्तु मरुतां पथि ।
 पुष्पकालोकसंचोमं मेघावरणतत्पसः ॥४६॥
 मोक्षध्वे स्वर्गवन्दीनां वेणीवन्धानदूषितान् ।
 शापयन्त्रितपौलस्त्यवलात्कारकचग्रहैः ॥४७॥
 रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः ।
 अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेधस्तिरोदधे ॥४८॥
 पुरुहूतप्रभृतयः सुरकार्योद्यतं सुराः ।
 अंशैरनुययुर्विष्णुं पुष्पैर्बायुमिष द्रुमाः ॥४९॥
 अथ तस्य विशांपत्युरन्ते काम्यस्य कर्मणः ।
 पुरुषः प्रबभूवाग्नेर्विस्मयेन सहर्तिवजाम् ॥५०॥
 हेमपाशगतं दोर्म्यामादघानः पयश्चरुम् ।
 अनुप्रवेशादाद्यस्य पुंसस्तेनापि दुर्वहम् ॥५१॥
 प्राजापत्योपनीतं तदन्नं प्रत्यग्रहीन्नुपः ।
 वृषेव पयसां सारमाविष्कृतमुदन्वता ॥५२॥
 अनेन कथिता राज्ञो गुणास्तस्यान्पदुर्लभाः ।
 प्रसूतिं चकमे तस्मिन्त्रैलोक्यप्रभवोऽपि यत् ॥५३॥

राक्षसों । अब आप लोगोको ही मिलेगा ॥४१॥ अब आप लोग विबर
 होकर अपने-अपने विमानोंपर चढ़कर आकाशमें घुमिए और रावलके पुष्पक विमानको
 देखकर और उससे डरकर बादलोंमें छिपना छोड़ दीजिए ॥४६॥ रावणने स्वर्गकी जिम
 झिपोको अपने महीं बन्वो किया है उनके बूढ़ोको जलपूचरके शापके डरसे उसने हाथ नहीं
 लगाया है । अब आप लोग ही उन बन्दी स्त्रियोंके बूढ़े अपने हाथोंसे सोलेंगे ॥४७॥ जैसे सूर्यके
 दिनोंमें घागके सेतपर कोई बादल जल बरसाकर निकल जाय वैसे ही रावणके डरसे सूर्य हुए
 देवताओंपर अपने मधुर वचन बरसाकर विष्णु भगवान् भी बल्लर्षी हो गए ॥४८॥ जैसे वायुके
 चलनेपर उनके वृक्ष स्वयं उसके पीछे न जाकर अपने फूल उसके साथ भेज देते हैं वैसे ही अब
 भगवान् विष्णु देवताओंका कार्य करनेके लिये चले तब इन्द्र आदि देवताओंमें भी अपने-अपने
 प्रश उनके साथ भेज दिए ॥४९॥ इसर ज्यो ही राजा दशरथका पुत्रेष्टि यज्ञ समाप्त हुआ त्यों ही
 यज्ञकी अग्निमेंसे एक पुरुष प्रकट हुआ जिसे देखकर यज्ञ करनेवाले सभी ऋषि बड़े प्रवरजमें पड़
 गए ॥५०॥ उस पुरुषके हाथमें खीरसे मरा हुआ सोनेका बटोरा था । उस खीरमें सारे ब्रह्माण्डकी
 संभालनेवाले विष्णु भगवान् पड़े हुए थे इसलिये वह दिव्य पुरुष भी उस कटोरेको सही कठिनाईसे
 संभाल पा रहा था ॥५१॥ जैसे इन्द्रने समुद्रमेंसे निकले हुए अमृतके कलशको नाम लिया था
 वैसे ही राजा दशरथने भी उस दिव्य पुरुषके हाथसे वह खीर ले ली ॥५२॥ उस दिव्य पुरुषने

स तेजो वैष्णवं पत्न्योर्विभेजे चरुसंज्ञितम् ।
 दाशपृथिव्योः प्रत्यग्रमहर्षतिरिवातपम् ॥५४॥
 अर्चिता तस्य कौशल्या प्रिया केकयवंशजा ।
 अतः संभाषितां ताम्भ्यां सुमित्रामैच्छदीश्वरः ॥५५॥
 ते बहुशस्य चित्तज्ञे पत्न्यौ पत्युर्महीदितः ।
 चरोरर्धार्धमागाम्यां तामयोव्यतामुभे ॥५६॥
 सा हि प्रणयवत्यासीत्सपत्न्योरुभयोरपि ।
 भ्रमरी वारणस्येव मदनिस्पन्दरेखयोः ॥५७॥
 ताभिर्गर्भः प्रजाभृत्यै दध्रेदेवांशसंभवः ।
 सौरीभिरिव नाडीभिरमृताख्याभिरम्मथः ॥५८॥
 सममापन्नसच्चास्ता रेजुरापाण्डुरत्विषः ।
 अन्तर्गतफलारम्भाः सस्यानामिव संपदः ॥५९॥
 गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः ।
 जलजासिगदाशाङ्गचक्रलान्छितमूर्तिभिः ॥६०॥
 हेमपद्मप्रभाजालं गगने च वितन्वता ।
 लघन्ते स्म सुपर्णेन वेगाकुटपयोमुखा ॥६१॥

राजा दशरथके असाधारण गुणोंकी इतनी प्रशंसा की कि विष्णु भगवान्को भी उनके पार्श्व जन्म लेनेकी इच्छा होने लगी ॥५६॥ जैसे सूर्य अपनी नई रूप पृथ्वी और आकाश दोनोंमें बाँट देता है वैसे ही लीरके रूपमें पाये हुए विष्णुके तेजको राजाने कौशल्या और कँकेयीमें बराबर बाँट दिया ॥५४॥ कौशल्या उनकी पत्नी रानी थी और कँकेयी उनकी प्यारी रानी थी इसलिये वे चाहते थे कि वे दोनों रानियाँ ही अपने-अपने भागमेंसे स्वयं कुछ भाग लेकर सुग्रीवाका सम्मान करें ॥५५॥ सब कुछ जाननेवाले राजा दशरथकी उन दोनों रानियोंने अपनी-अपनी सौरक्षा आशा-आशा भाग सुमित्राको दे दिया ॥५६॥ जैसे हाथीके दोनों कानोंसे निकलनेवाली भवकी दोनों धाराओंसे भीरी बराबर प्रेम करती है वैसे ही सुग्रीवा भी अपनी दोनों सौतो से बराबर प्रेम करती थी ॥५७॥ जैसे प्रसूत माँकी जल बरसानेवाली सूर्यकी फिरछें ससारके जलधारणके लिये जल लिए रहती हैं वैसे ही उन तीनों रानियोंने लीरके कल्याणके लिये विष्णुके अक्षोंमें बराबर धर्म धारण किया ॥५८॥ एक साथ गर्भ धारण करनेवाली रानियाँ गर्भसे पीली पड़नेके कारण घनाजनी उन वासोंके समान पीली लगती थी जिनमें दाने पड़ गए हो ॥५९॥ उन्हें यह स्वप्न दिखाई देता था कि कमल, तलवार, गदा, साङ्ग धनुष और चक्र लिए हुए कोई बीना-सा पुरुष बराबर हमारी रक्षाकर रहा है ॥६०॥ और अपने सीनेके पक्षोंसे प्रकाश फैलता हुआ अपने नेत्रोंके कारण अपने साथ बाँदलोंकी भी धीरे-धीरे ले जाता

विभ्रत्वा कौस्तुभन्यासं स्तनान्तरविलम्बितम् ।
 पर्युपास्यन्त लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया ॥६२॥
 कृताभिषेकैर्दिव्यायां त्रिस्रोतसि च सप्तभिः ।
 यदापिभिः परं ब्रह्म गृणद्भिरुपतस्थिरे ॥६३॥
 ताभ्यस्तथाविधान्स्वप्नाञ्छ्रुत्वाप्रीतो हि पार्थिवः ।
 मेने परार्धमात्मानं गुरुत्वेन जगद्गुरोः ॥६४॥
 विभक्तात्मा विभुस्तासामेकः कुक्षिष्यनेकधा ।
 उवाच प्रतिमाचन्द्रः प्रसन्नानामयामिव ॥६५॥
 अथाउयमहिषी राज्ञः प्रवृत्तिसमये सती ।
 पुत्रं तमोपहं लेभे नक्तं ज्योतिरिवौषधिः ॥६६॥
 राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः ।
 नामधेयं गुरुश्रुके जगत्प्रथममङ्गलम् ॥६७॥
 रघुर्वशप्रदीपेन तेनाप्रतिमतेजसा ।
 रक्षागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टा इवाभयन् ॥६८॥
 शय्यागत्येन रामेण माता शातोदरी बभौ ।
 सैकताभोजवलिना जाह्नवीव शरत्कृशा ॥६९॥

हुआ गहक हूँ आकाशमे उभरकर से जा रहा है ॥६१॥ और वधास्थलपर कौस्तुभमणि पहने हुए लक्ष्मी भी हाथों गमलवा पद्म लेकर हमारी सेवा कर रही है ॥६२॥ इतना ही नहीं, आकाश-गङ्गा मे स्नान करके सप्तभि भी वेद पाठ करते हुए हमारी ही उपासना कर रहे हैं ॥६३॥ जब रामियोंने राजाको अपने से स्वप्न सुनाए तब वे बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने समझ लिया कि अब ससारमे मुझे बटकर कोई नहीं है क्योंकि मैं ससारमे कुछ विष्णुजी का भी पिता बन रहा हूँ ॥६४॥ यद्यपि विष्णुजी एव ही रूप है पर जैसे निर्मल जलमे चन्द्रमाके बहुतेके प्रतिबिम्ब पड़ जाते हैं वैसे ही वे भी तीनों रामियोंने सभी में चलन चलन निवास कर रहे थे ॥६५॥ जैसे पर्वतकी बहुतसी छूटियोंमे रातको प्रवेष्टा दूर परलेवाला प्रवाल या जाटा है वैसे ही राजाकी पटरानी यौगल्याने तमोपुगपी दूर परलेवाला पुत्र उल्लस विधा ॥६६॥ उस वासन्तका मनोहर शरीर, देलकर वशिष्ठजीने उनका ससारमे सबसे अधिक महत्त्वकारी नाम 'राम' रख दिया ॥६७॥ रघुवशको उजागर करनेवाले उस बालक का इतना तेज था कि सारी धरने सब दीपको भी ज्योति जगने धामे मन्द पड़ गई ॥६८॥ प्रसव से दुबली माता चौकल्या, नन्हें रामको लिए हुए पलंग पर लेटी हुई ऐसी सुन्दर जान पड़ती थी जैसे भरद्वाजमे पतली धारवाली गङ्गाजीने तट पर विनीता चढ़ाया हुआ नीला वमल रत्ता

दंकेय्यास्तनयो जज्ञे भरतो नाम शीलवान् ।
 जनयित्रीमलंचक्रे यः प्रथ य इव धियम् ॥७०॥
 सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रा सुपुत्रे धर्मौ ।
 सम्पगाराधिता विद्या प्रबोवनिपात्रि ॥७१॥
 निर्दोषममवत्सर्वमाविष्कृतगुणं जगत् ।
 अन्यगादिष हि स्वर्गा गां गतं पुरुषोत्तमम् ॥७२॥
 तस्योदये चतुर्भुजैः पौलस्त्यचकितेधराः ।
 विरजस्कनैर्नभस्वज्जिह्वैश्च उच्छ्वसिता इव ॥७३॥
 कृशानुरपधूमत्वात्प्रसन्नत्वात्प्रभाकरः ।
 रत्नोविप्रकृतावास्तामपविद्धशुचाविव ॥७४॥
 दशाननकिरीटेष्वस्तत्त्वर्णराक्षसश्रियः ।
 मणिध्व्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुविन्दवः ॥७५॥
 पुत्रजन्मप्रवेशानां तूयाणां तस्य पुत्रिणः ।
 आरम्भं प्रथमं चक्रुर्देवदुन्दुभयो दिवि ॥७६॥
 संतानकमयी पृथिव्यने चास्य पेतुषी ।
 सन्मङ्गलोपचाराणां सैवादिरचनाभवत् ॥७७॥

हुआ हो ॥६६॥ कैकेयीने भरतको जन्म दिया । उन्हे पावर के ऐसी गोभर के रक्षी भी जैसे संवत्तिवे
 साप भावर दोभा देता है ॥७०॥ जसे धम्माम मे पाई हुई विद्या मे ज्ञान और विनय दोनो मिल
 जावे है वैसे ही सुमित्रादे लक्ष्मण और शत्रुघ्न नामके दो पुत्रको पुत्र उत्पन्न हुए ॥७१॥ जग समस्त
 ससारो तारे दोष नाम गए और चारों ओर गुण ही गुण फैल गए मानो विष्णु भगवान् के साप-
 शाप स्वर्ग भी पृथ्वी पर उतर आया हो ॥७२॥ दसो दिशाओंमे बिना पक्षी जो स्वयं बगैर चलने
 सगी यह ऐसी सगती की मानो राक्षसमे दरे हुए कुबेर आदि दिग्पालोने पृथ्वीपर पार पों के घावे
 हुए भगवान्को पावर सन्तोष की साँत सी हो ॥७३॥ राक्षसमे पीछा पावे हुए भक्तिदेवता पृथ्वी निकल
 गया और मूर भी निर्मल हो गए मानो दोनो बा शोक दूर हो गया हो ॥७४॥ उनी समय राक्षसके
 गुहुरके कुछ मरि पृथ्वीपर निर बडे मानो राक्षसो की सन्तोषे आँखो हो दुःख पडे हो ॥७५॥
 पुत्रवान् राजा दशरथके यही पुत्र-जन्मके समय, मणिके आदि बाडे पीछे बडे, पदो देखाओने हो
 स्वर्गमे गपारकी दुनुभी दबाई ॥७६॥ और उनो राजभवनपर आवाजो बज्जुगोने पृथ्वी की
 चर्पी हुई उतीगे उनके आन्वित भग्वागे वा आरम हुआ ॥७७॥ जानवर्मे आदि सम्बार हो

विभ्रत्या कौस्तुभन्यासं स्तनान्तरविलम्बिनम् ।
 पर्युपास्यन्त लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया ॥६२॥
 कृताभिषेकैर्दिव्यायां त्रिस्रोतसि च सप्तभिः ।
 ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म गृणद्भिरुपतस्थिरैः ॥६३॥
 ताम्यस्तथाविधानस्वप्नाञ्छ्रुत्वा प्रीतो हि पार्थिवः ।
 मेने परार्घ्यमात्मानं गुरुत्वेन जगद्गुरोः ॥६४॥
 विभक्तात्मा विश्रुतात्तामेकः कुक्षिप्वनेकवा ।
 उवास प्रतिमाचन्द्रः प्रसन्नानामपामिव ॥६५॥
 अथाप्यमहिषी राज्ञः प्रभृतिसमये सती ।
 पुत्रं तमोपहं लेभे नक्तं ज्योतिरिवौषधिः ॥६६॥
 राम इत्यभिरामेण यपुषा तस्य चोदितः ।
 नामधेयं गुरुश्रुते जगत्प्रथममङ्गलम् ॥६७॥
 रघुवंशप्रदीपेन तेनाप्रतिमतेजसा ।
 रत्नायूहगता दीपाः प्रत्यादिष्टा इवामबन् ॥६८॥
 शय्यागतेन रामेण माता शतोदरी बभौ ।
 सैकताभोजवलिना जाह्नवीव शरत्कृशा ॥६९॥

हमा गल्ल हनें भाकाहमे उटाकर से जा रहा है ॥६१॥ और यक्षस्वजपर कौस्तुभमणि पहने हुए सक्ती भी हाथन बगलका पंखा लेकर हमारी सेवा कर रही हैं ॥६२॥ इतना ही नहीं, आकाश-पक्षा ने स्नान करके सत्पति भी वेद-पाठ करते हुए हमारी ही उपासना कर रहे हैं ॥६३॥ जब रात्रिमें राजाको अपने ये स्वप्न सुनाए तब वे सब प्रसन्न हुए और उन्होंने समझ लिया कि अब ससारने मुझसे बड़कर कोई नहीं है क्योंकि मैं संसारके गुरु विष्णुजी का भी पिता बन रहा हूँ ॥६४॥ यद्यपि विष्णुका एक ही रूप है पर जैसे निर्मल जलमें चन्द्रमाके बहुतेरे प्रतिबिम्ब पड़ जाते हैं वैसे ही वे भी तीनों रात्रियोंके कर्मा में अलग-अलग निवास कर रहे थे ॥६५॥ जैसे पर्वतकी बहुतसी छुट्टियोंमें रातको छेंबेरा दूर करनेवाला प्रकाश भा जाता है वैसे ही राजाकी पटरानी कोमलाने तमोगुणको दूर करनेवाला पुत्र उत्पन्न किया ॥६६॥ उस बालकका मनोहर शरीर देखकर यक्षिणुजीने उनका ससारने सबसे अधिक मङ्गलकारी नाम 'राम' रख दिया ॥६७॥ रघुवशको उजागर करनेवाले उस बालकका इतना तेज था कि सोरी परके सब दीपको की ज्योति उसके सामने मन्द पड़ गई ॥६८॥ प्रसन्न से दुबली माता बौधत्या, नन्हेंगे रागको लिए हुए पसंग पर सेटी हुई ऐसी सुन्दर जान पड़ती थी जैसे शरद् ऋतुमें पतली पारवासी बग्गाओके तट पर किसीना चढ़ाया हुआ नीला कामल रसता

कैकेय्यास्तनयो जज्ञे भरतो नाम शीलवान् ।
 जनयित्रीमलंचक्रे यः प्रथ प इव श्रियम् ॥७०॥
 सुतो लक्ष्मणशुवुर्ध्नी सुमित्रा सुपुत्रे यमौ ।
 सम्यगाराधित्वा विश्वा प्रयोवनिनपायिन् ॥७१॥
 निर्दोषममरत्सर्वमारिष्कृतगुणं जगन् ।
 अन्यगादिव हि स्वर्गो गां गतं पुरुषोत्तमम् ॥७२॥
 तस्योदये चतुर्भुजैः पौलस्त्यचक्षिनेग्रगः ।
 विरजस्कर्त्तुमस्वद्विदिश उन्ध्रमिता इन् ॥७३॥
 कृशानुरपधूमत्यात्प्रसन्नत्वात्प्रभाकरः ।
 रचोनिप्रकृतागस्तामपरिद्वगुचायिन् ॥७४॥
 दशाननशिरीटेभ्यस्तत्त्वसंरावसश्रियः ।
 मखिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुनिन्दयः ॥७५॥
 पुत्रजन्मप्रवेशानां तृष्णां तस्य पुत्रिणः ।
 आरम्भं प्रथमं चन्द्रदेवदुन्दुभयो दिनि ॥७६॥
 मंतानकमयीं पृष्टिर्गवने चास्य पेतुपी ।
 मन्मद्गलोपचाराणां मैत्रादिरचनाभरन् ॥७७॥

कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः ।
 आनन्देनाग्रजेनेव समं ववृधिरे पितुः ॥७८॥
 स्वाभाविकं विनीतत्वं तेषां विनयकर्मणा ।
 मुमुञ्च्य सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजात् ॥७९॥
 परस्पराविरुद्धास्ते तद्रघोरनभं कृतम् ।
 अलमुद्द्योतयामासुर्देवास्त्वयमिवर्तवः ॥८०॥
 समानेऽपि हि सौभ्रात्रे यथोभौ रामलक्ष्मणौ ।
 तथा भरतशत्रुघ्नौ प्रीत्या इन्द्र पभूवतुः ॥८१॥
 तेषां द्वयोर्द्वयोरैक्यं विभिदे न कदाचन ।
 यथा वायुविभावस्वोर्यथा चन्द्रसमुद्रयोः ॥८२॥
 ते प्रज्ञानां प्रजानाथास्तेजसा प्रश्रयेण च ।
 मनो जहन्निदाधान्ते श्यामाभ्रा दिवसा इव ॥८३॥
 स चतुर्धा वमौ व्यस्तः अस्रवः पृथिवीपतेः ।
 धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवाङ्गभाक् ॥८४॥
 गुणैराराधयामासुस्ते गुरुं गुरुवत्सलाः ।
 तमेव चतुरन्तेशं रत्नैरिव महार्णवाः ॥८५॥

चुकने पर धायका रूप पी-पीवर जैसे-जैसे राजकुमार बढ़ने लगे वैसे ही वैसे राजा दशरथका आनन्द भी बढ़ने लगा गानो यह आनन्द उन चारों राजकुमारों का जोड़ा भाई हो ॥७८॥ जैसे भी मादि पढ़नेसे हवनकी प्रतिष्ठा स्वाभाविक लेव बढ़ जाता है वैसे ही शिक्षा पानसे उन चारों राजकुमारों भी स्वाभाविक तन्त्रता और भी अधिक बढ़ गई ॥७९॥ जैसे ऋतुर्गे सन्तवचनको बनका देती हैं वैसे ही परस्पर प्रेमसे उन चारों कुमारोंने पवित्र रघुनुलको उन्नगर कर दिया ॥८०॥ यद्यपि चारोंमें परस्पर बहुत प्रेम था, फिर भी विशेष प्रेमके कारण जैसे राम और लक्ष्मणको एक जोड़ हो गई वैसे ही भरत और शत्रुघ्नकी भी जोड़ हो गई ॥८१॥ जैसे बागु और शम्भिका तथा चन्द्रभा और समुद्रका जोड़ा कभी छलन नहीं होता वैसे ही राम और लक्ष्मणका तथा भरत और शत्रुघ्नका साथ कभी नहीं छूटा ॥८२॥ सब प्रजाने स्वामी राजकुमारोंने अपने तेज और तन्त्र व्यवहारसे अपनी प्रजाका मन उसी प्रकार हर लिया जैसे गमकें अतमे काले बादल लोभोके मन धाड़ष्ट कर लेते हैं ॥८३॥ राजाकी चारों संतानें ऐसी जोभा दे रही थी मानो, धर्म, धर्म, धर्म और मोक्ष चारोंने अवतार से लिया हो ॥८४॥ चारों पितृवक्त राजकुमारोंने राजा दशरथको अपने गुणोंसे उसी प्रकार प्रसन्न कर लिया जैसे चारों समुद्रोंने रत्न देकर चारों दिशाओंके स्वामी राजा दशरथ को

सुरगज इव दन्तैर्भग्नदैत्यासिधारै

र्नय इव पणबन्धव्यक्तयोगैरुपायैः ।

हरिरिव युगदीर्घैर्दोभिरंशैस्तदीयैः

पतिरवनिपतीनां तैश्चकाशे चतुर्भिः ॥८६॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवशे महाकाव्ये

रामावतारो नाम दशमः सर्गः ॥

प्रसन्न कर लिया था ॥८५॥ जैसे अयुरोकी तलवारोकी पार कुठ्ठा करनेवाले अपने चार दाँतोसे देरासत शोभा देता है, जैसे छाम, वाग, वण्ड और भेव इन चार उपायोसे राजनीति शोभा देती है और जैसे रथके लुएके समान अपनी लम्बी-लम्बी चार भुजाओसे विष्णु भगवाद् शोभा देते हैं वैसे ही राजा बदारम भी अपने चार सुयोग्य पुत्रोसे सुशोभित हुए ॥८६॥

महाकवि कालिदासके रचे हुए रघुवश महाकाव्यमे
रामावतार नाम का दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

॥ एकादशः सर्गः ॥

कौशिकेन स किल चित्तीक्षरो राममध्वरविषातशान्तये ।
 काकपक्षधरमेत्य याचितस्तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते ॥ १ ॥
 कृच्छ्रलब्धमपि लब्धवर्णभाक्तं दिदेश मुनये सलक्ष्मणम् ।
 अप्यमुप्रणयिनां रथोः कुले न व्यहन्यत कदाचिदर्थिता ॥ २ ॥
 यावदादिशति पार्थिवस्तयोर्निर्गमाय पुरमार्गसंस्त्रियाम् ।
 तावदाशु विदधे मरुत्सखैः सा सपुष्पजलवर्षिभिर्धनैः ॥ ३ ॥
 तौ निदेशकणोद्यतो पितुर्धन्विनौ चरणयोर्निपेततुः ।
 भूपतेरपि तयोः प्रवृत्त्यतोर्नम्रयोरुपरि वाष्पबिन्दवः ॥ ४ ॥
 तौ पितुर्नयनजेन वारिणा किञ्चिदुच्चितशिक्षण्डकायुभौ ।
 धन्विनौ तमृषिमन्त्रगच्छतां पौरदृष्टिकृतमार्गतोरणौ ॥ ५ ॥
 लक्ष्मणानुचरमेव राघवं नेतुमैच्छदपिरित्पमौ नृपः ।
 आशिषं प्रमुयुजे न बाहिनीं सा हि रचयविधौ तपोः धमा ॥ ६ ॥
 मातृवर्गचरणस्पृशौ मुनेस्त्री प्रपद्य पदर्यां महीजसः ।
 रैजतुर्गतिवशात्प्रवर्तिनौ भास्करस्य मधुमाधवाविव ॥ ७ ॥

ग्यारहवां सर्ग

एक दिन विराट्प्रभुजी राजा दशरथके पास आए और उन्होंने कहा कि मेरे यक्षजी राजाके
 तिये नाचपक्षपाती रामजी हमारे साथ भेज दीजिए । ठीक ही है, जो तेजस्वी होते हैं, उनके तिये
 यह नहीं विचार लिया जाता कि वे छोटे हैं या बड़े ॥१॥ मन्त्रि विदरप्रभुजीने राम और लक्ष्मणको
 बड़ी गरम्यासे वाया या घर के द्विद्वारोंके इतने मऊ थे कि उन्होंने नाराज राम-लक्ष्मणको पुनिके
 साथ भेज दिया क्योंकि रघुपुत्रजी राजाने यह सोचि रही है कि यदि कोई प्राण भी मारे तो उसे
 विभुज मरी छोड़ने ॥२॥ अभी राजा दशरथ उनकी विद्वान्के तिये बहुत राजानेकी आज्ञा अपने
 मेरकोंके दे ही रहे थे कि इनमेंसे याकुने पुन और जाटनोंके नम्र तावर लक्ष्मणके बरग ही हो
 दिये ॥३॥ विराट्जी आज्ञा मानन करनेकी प्रवृत्त होकर दोनों राजकुमार अपने पिताके चरणोंमें
 प्रणाम करनेकी छुट्टी हो थे कि दशरथजीकी आज्ञासे उन दोनों पर मन्त्रि टपक पड़े ॥४॥ और उन
 मातृवर्गों ने दोनों राजकुमारोंकी ओरिवां भोज गर्द । शिव गमय यन्त्र मेकर दोनों राजकुमार विराट्-
 विरथोंके पीछे-पीछे पाँच आ रहे थे उन गमय उन्हें देखते हुए पुरुषादिबोधों कोमें ऐसी आज पदजी
 की मानो मेरीकी बलपारों कीप ही गईं ॥५॥ विराट्प्रभुजीकेद्वय राम और लक्ष्मणकी ही मे
 जाता पद ॥ ६ ॥ अब, राजाने उनकी गतावगति । जे मन्त्रा पासीवर्ग ही दिया, मन्त्रा नहीं । क्योंकि
 राजा पासीवर्ग ही जाही मन्त्रा । जे पदोंका ॥६॥ आज्ञासे दशरथ राजा दोनों राजकुमार उन

वीचिलोलभुजयोस्तयोर्मतं शैशवाच्चपलमत्यशोभत ।
 तोयदागम इवोद्धथमिद्ययोर्नामधेयमदृशं विचेष्टितम् ॥ ८ ॥
 तौ घलातिवलयोः प्रभावतो विद्ययोः पथि मुनिप्रदिष्टयोः ।
 मम्लतुर्न मथिक्कुट्टिमोचितौ मातृपार्श्वपरिवर्तिनाविव ॥ ९ ॥
 पूर्ववृत्तकथितैः पुराविदः सालुजः पितृसखस्य राघवः ।
 उल्लमान इव बाहनोचितः पादचारमपि न व्यभावयत् ॥ १० ॥
 तौ सरांसि रसवद्भिरभ्युभिः कूजितैः श्रुतिसुखैः पतत्त्रिणः ।
 वायवः सुरभिपुष्परेणुभिस्त्रावया च जलदाः सिपेविरे ॥ ११ ॥
 नाम्भसां कमलशोभिनां तथा शास्त्रिणां च न परिश्रमश्छिदाम् ।
 दर्शनेन लघुना यथा तयोः प्रीतिमापुरुभयोस्तपस्विनः ॥ १२ ॥
 स्थाणुदग्धपुपस्तपोवनं प्राप्य दाशरथिरात्तकार्मुकः ।
 विग्रहेण मदनस्य चारुणा सोऽभवत्प्रतिनिधिर्न कर्मणा ॥ १३ ॥
 तौ सुकेतुसुतया खिलीकृते कीशिकाद्विदितशापया पथि ।
 निन्यतुः स्थलनिवेशिताटनी लीलयैव धनुषी अधिज्यताम् ॥ १४ ॥

तेजस्वी मुनिके पीछे चलते हुए ऐसे घोषित होते थे मानो सूर्यके पीछे-पीछे चैन और वैशाख मास चलते पा रहे हो ॥७॥ वचनके कारण सहरोके समान चलत बाहोवाले राजकुमारोका चुलबुलावन ऐसा सुन्दर लग रहा था मानो वहाँ शत्रुमे दोनों उदय्य और मित नदियो सह्यतो दलताती तटोको डाली हुई क्ली जा रही हो ॥८॥ [मालकक उन बालकोमे परते बाहर गो पैर रक्खा ही न था, इसलिये] मार्ग मे ही विश्वामित्रजीमे उन्हे बना और अतिबला नामकी दोनो बियाएँ मिला दी जिससे ऊध-छावट बनके मार्गमे चलते हुए उन्हे शपान नहीं हो रही थी और बँसा हो मुल हो रहा था जैसे वे मणिगो से जटे हुए अपने अपने मे अपनी माताके पासपास घूम रहे हो ॥९॥ जो राम और लक्ष्मण सदा विषय रघोपर चढ़कर चलते थे उन्हे तबिक भी पकावट नहीं हुई क्योंकि उनके पितादे मित्र विश्वामित्रजी उन्हे मार्गमे पुरानी कथाएँ सुनाते गले जा रहे थे ॥१०॥ सहरोरमे अपना मीठ वल पिलाकर, पक्षियोमे मधुर गीत सुनानर, वायुमे सुगन्धित पराग फैलाकर और बादलोमे शीतल छाया देवर मार्गमे उन दोनों की बड़ी सेवा की ॥११॥ कमलोमे बरे हुए सहरोर-तथा पकावट हरेवाले वृक्षोपो छायाको देखकर भी प्राथमके तपस्वी उतने प्रसन्न बभी नहो हुए थे जिताने इन दोनों राजकुमारोको देखकर प्रसन्न हुए ॥१२॥ जिस तपोवनमे शिवजीमे कामदेवकी भस्म निखा था वहाँ जब सुन्दर शरीरवाले राज धनुष उठाए हुए पहुँचे तब जान पडा मानो वे वहाँ कामदेवकी सुन्दरता के प्रतिनिधि बनकर आए हो, उनके बायों के नहीं ॥१३॥ वही मार्गमे उन्हे पद सुनेतु की कथा ताड़ना राक्षसी मिसी जिसने सारे मार्गको उखाड बना दिया था और जिसने शापकी कथा महीपि विश्वामित्रने पहले ही रामको सुना दी थी । उसे देखते ही उन दोनों माइयोने अपने-धनुषोको पृथ्वीपर

ज्यानिनादमथ गृह्णीत तपोः प्रादुरास बहुलचपाङ्गविः ।
 ताडका चलकपालकुण्डला कालिकेन निविष्टा वलाकिनी ॥१५॥
 तीव्रवेगधुतमार्गदृप्तया श्रेतचीवरवसा स्वनोग्रया ।
 अभ्यभावि भरताग्रजस्तया वात्ययेव पितृकाननोत्थया ॥१६॥
 उद्यतैकमुजयष्टिमायतीं श्रोणिलम्बिपुरुषान्त्रमेखलाम् ।
 तां विलोक्य वनितावधे धृष्टां पत्त्रिणा सह मुमोच राघवः ॥१७॥
 यच्चकार विवरं शिलाधने ताडकोरसि स रामसायकः ।
 अप्रविष्टविषयस्य रक्षसां द्वारतामगमदन्तकस्य तत् ॥१८॥
 पाणभिरुद्धदया निपेतुपी सा स्वकाननस्रुवं न केवलात् ।
 विष्टपत्रपराजयस्थिरां रावणश्रिपमपि व्यकम्पयत् ॥१९॥
 राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
 गन्धवद्गुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥२०॥
 नैश्वर्यतश्चमथ मन्त्रवन्मुनेः प्रापदस्त्रमवदानतोपितात् ।
 ज्योतिरिन्धननिपाति भास्करात्स्वर्यकान्त इव ताडकान्तकः ॥२१॥
 वामनाश्रमपदं ततः परं पावनं श्रुतमृषेरूपेयिवान् ।
 उन्मनाः प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नापि बभूव राघवः ॥२२॥

टेकवर शीर्षा घटातीं ॥१४॥ उन्ने घनुषकी डोरीकी टकार मुन्ने ही, धानेनि लटकी हुई मनुष्यकी
 खोपडिवाँला मुन्नेल हिसाती हुई धमाकतानी राखिने समान वाली बधूटी ताडका उन्ने भाले भावर
 दस प्रकार छोटी हो गई मानो बगुलांकी पानेनि भरी वाली बदली हो ॥१५॥ वदे वेगसे मार्गके धुलीकी
 छाती हुई प्रेतोंके वस्त्र पहने हुई, घोर भयकर गरजनेवाली तथा दमनामने चडे हुए सबहरने समान
 पाटुनि वाली ताडका, रामने ऊपर दूट पड़ी ॥१६॥ वृत्तकी सागरादे समान मपनी बाँह उठाती हुई
 घोर धमरने घाँतोकी लपटी (परधम) पहने हुई उस नाकबाको देगार समने श्रीको मारनेकी घुटा
 घोर बाग दोनों एक साथ छोड़े ॥१७॥ रामने उस बाणने रावणकी घट्टानके समान बटोर ताडकाकी
 धानीमें जो देद दिया यह मानो रासखोने उस देवमें समराजके प्रवेश करनेके लिये द्वार खोल दिया
 हो जहाँ लम्बीतक यह जा नहीं पाया था ॥१८॥ रामने बाणने ताडकाको समीप पट गई घोर बहु
 नीचे गिरी तब उसने गिरनेके बहु जङ्गल ही भरो भरत खीनो सोखोको जीतनेके पाई हुई रावणकी
 राजनक्षत्री भी बर्न उठी ॥१९॥ रामने बाणके विषवर दुर्गन्धधरे राखिने निपटी हुई ताडका इस
 प्रकार सोपे दमलोक जाती गई मानो बाभने बाणने पावस हुई कोई धमिलारिखा चन्दनका मेल
 करने करने मिलने पर जा चरी हो ॥२०॥ जेमे गुरुं, मरही नमानेवा तेज गुरुंवाल्न नगिनो दे
 देता है जेमे ही ताडकाके भरनेके मरनि विश्वामित्र इने प्रहल्ल हुए बि उन्नेने रामकी राजनीका
 सुहार जानेवाला दिव्य धर्म मन्त्र-महिर् दे दिया ॥२१॥ वरुनि रामचन्द्रकी वामनके लय पवित्र

आससाद मुनिरात्मनस्ततः शिष्यवर्गपरिकल्पितार्हणम् ।
 बद्धपल्लवपुटाल्लिङ्गं दर्शनोन्मुखमृगं तपोवनम् ॥२३॥
 तत्र दीक्षितमृषिं ररक्षतुर्विघ्नतो दशरथात्मजौ शरैः ।
 लोकमन्धतमसात्क्रमोदितौ ररिमगिः शशिविवाकराविव ॥२४॥
 वीक्ष्य वेदिमथ रक्तविन्दुभिर्विन्धुजीवपृथुभिः प्रदूषिताम् ।
 सभ्रमोऽभवदयोढकर्मणामृत्विजां च्युतविकटतस्तुचाम् ॥२५॥
 उन्मुखः सपदि लक्ष्मणाग्रजो पाणमाश्रयमुस्तात्समुदरम् ।
 रक्षसां बलमपश्यदम्बरे गृध्रपक्षपवनेरितध्वजम् ॥२६॥
 तत्र यावधिपती मरत्विषां तौ शरव्यमकरोस्त नेतरान् ।
 किं महोरगविसर्पिविक्रमो राजिलेषु गरुडः प्रवर्तते ॥२७॥
 सोऽस्त्रमुग्रजवमस्त्रकोविदः संदधे धनुषि चायुर्द्वैवतम् ।
 तेन शैलगुरुमप्यपातयत्पाण्डुपत्रमिव ताडकासुतम् ॥२८॥
 यः सुबाहुरिति राक्षसोऽपरस्तत्र तत्र विसर्प मायया ।
 तं क्षुरप्रशकलीकृतं कृती पत्त्रिणां व्यभजदाश्रमाद्बहिः ॥२९॥

आश्रममें गए जिसके विषयमें विष्वाग्निजीने जगहे सब बता दिया था । वहाँ अपने पूर्व जन्मके
 घामनाबतारकी सीसामौका ठीक-ठीक स्मरण न होनेपर भी वे कुछ उत्कण्ठितसे हो गए ॥२३॥
 वहाँसे मुनि अपने उस आश्रमपर पहुँचे जहाँ विष्वाग्ने ने पूजाकी सब सामग्री इकट्ठी कर रखी थी, जहाँ
 वृष भी अपने पत्नीकी मञ्जलि पाँपे जड़े थे और जहाँ मृग भी बड़ी उत्सुकतासे इन लोगोंको देख
 रहे थे ॥२४॥ जैसे सूर्य और चन्द्रमा बायी-बायीसे अपनी किरणोंसे पृथ्वीका प्रभेद कर करते हैं
 वैसे ही आश्रममें बायी-बायीसे राम और लक्ष्मण यज्ञ करनेवासे श्रृंगिके विघ्न कर रहे थे ॥२५॥
 इतनेमें ही मशहरी वेदीपर मृगजीव (दुपहरिया) के फूलके समान बड़ी-बड़ी राक्षसी घुँदें देखकर
 श्रृंगियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने यज्ञ करना बन्द करके अपने-अपने खरके सूँचे रख
 दिए ॥२६॥ उसी समय रामने अपने लृणोखे बाण निकाले और ऊपर मुँह करके आकाशकी ओर
 देखा कि गिद्धके पत्नीके समान हिलती हुई पञ्चाग्रीवासी राक्षसोंकी सेना बड़ी बड़ी है ॥२७॥
 रामने और सबको छोड़कर जन्ही दो राक्षसोंको बाण मारे जो उस सेनाके सेनानायक थे और जो
 यज्ञसे घृणा करते थे क्योंकि मूला बड़े-बड़े सर्पोंपर आक्रमण करनेवाला गरुड क्या कभी जलके
 छोटे-छोटे सौपीपर आक्रमण किया करता है ॥२८॥ दिव्य भस्त्र चलानेमें रामका हाथ ऐसा
 मधा हुआ था कि उन्होंने मूठ अपने धनुषपर पायव्य भस्त्र चढ़ाया और ध्वजसे भी बड़े ताडकाके
 धुप मारीचको उस बाणसे उड़ाकर बैसे ही दूर फेंक दिया जैसे कोई सूखा पत्ता उड़ा दिया हो ॥२९॥
 सुबाहु नामका जो दूसरा राक्षस अपनी मायासे इधर-उधर भ्रम रहा था उसे भी रामने अपने बाणोंसे
 टुकड़े-टुकड़े करने आश्रममें बाहर मार निराया जिते पक्षियोंन दण्ड भरमें बाँट धाया ॥२९॥

इत्यपास्तमखविघ्नयोस्तयोः सांयुशीनमभिनन्द्य विक्रमम् ।
 ऋत्विजः कुलपतेर्पथाक्रमं वाग्यतस्य निरवर्तयन्क्रियाः ॥३०॥
 तौ प्रणामचलकाकचक्रौ भ्रातराववसृथाप्नुतो मुनिः ।
 आशिषामनुपदं समस्पृशदर्शपाटिततलेन पाणिना ॥३१॥
 तं न्यमन्त्रयत संभृतक्रतुर्मेधिलः स मिथिलां व्रजन्वशी ।
 राघवावपि निनाय विभ्रतौ तद्वनुःश्रवणजं कुतूहलम् ॥३२॥
 तैः शिवेषु वमतिर्गताच्चभिः सायमाश्रमतर्ष्वगृह्यत ।
 येषु दीर्घतपसः परिग्रहो वागवक्ष्यकलत्रतां ययौ ॥३३॥
 प्रत्यपद्यत चिराय यत्पुनरचाक गौतमवधूः शिलामयी ।
 स्वं वपुः स किल किल्बिषच्छिद्रां रामपादरजसामनुग्रहः ॥३४॥
 राघवान्वितमुपस्थितं मुनिं तं निशम्य जनको जनेश्वरः ।
 अर्थकामसहितं सपर्यया देहवद्भूमिव धर्ममभ्यगात् ॥३५॥
 तौ विदेहनगरीनिवासिनां गां गताविद्य दिवः पुनर्वधू ।
 मन्यते स्म पिबतां विलोचनैः पद्मपातमपि वञ्चनां मनः ॥३६॥

जब यज्ञ करनेवाले ऋषिगोत्र देखा कि शोके ही समयमें रामने सब विघ्न दूर कर दिए तो उन्होंने
 राम और लक्ष्मणके पराक्रमकी बड़ी प्रशंसा की और गौतम धारण किए विश्वामित्रजीने विधिसे
 साय रातना यज्ञ पूरा कर लिया ॥३०॥ यज्ञ पूर्ण होने पर, स्नान, वस्त्र धारण गृहपति विश्वामित्रने जब
 राम और लक्ष्मणको बड़ा भागीवन्द दिया तबही सदैव प्रणाम करते समय झूल रही थी । ऋषिने
 कुशासे घिसी हुई प्रपत्ती हथेली उनके तिरपर रखकर ऊपर अपना बड़ा स्नेह दिखाया ॥३१॥
 उन्हीं दिनों राजा जनकने धनुष यज्ञ ठान रखता था जिसने उन्होंने मुनियोंको भी निमण्डल
 दिया था । धनुषयज्ञ की बात सुनकर दोनो राजकुमारोंको बड़ा कुतूहल हुआ, इसलिये विश्वामित्रजी
 ने दोनो की साथ लेकर मिथिलापुरीकी ओर चल दिये ॥३२॥ वे कुछ दूर चले ही कि
 साँझ हो गई और वे उस माथमके सुन्दर वृक्षोंके तले टिक गए वहाँ महातपस्वी गौतमजी
 श्री अहिंसा मोदी देरके तबसे इन्द्रकी पत्नी बन गई थी ॥३३॥ रामके घरवालों की धूल
 सब पापी को हरनेवालों की इसलिये उसने छूते ही पतिने छावसे पत्थर बनी हुई प्रहत्या को
 फिर दाने दिनों पादे वही महत्सेवाका सुन्दर सरीर मिल गया ॥३४॥ जब राजा जनकजीको
 यह समाचार मिला कि विश्वामित्रजीने साय रात और लक्ष्मण भी धाये हुए हैं तब
 वे पूजाकी सामग्री लेकर उनकी प्रणामाभीने भिये मिलने चले । जनकजीको वे ऐसे गये मानो
 धर्मके साथ धर्म और काम ही चले आए हो ॥३५॥ वे दोनो राजकुमारों के सुन्दर लग रहे थे
 मानो दो पुनर्जन्म नश्वर ही पूर्णपर उतर आये हो । जनकपुरमें निवासी ऐसे भयन होकर अपनी
 भाँगोंसे उनका रूप की रहे थे कि पत्नीया मिलना भी उन्हें बड़ा घगर रहा था ॥३६॥

यूपरत्यवसिते क्रियाविधौ कालवित्कुशिकवंशवर्द्धनः ।
 राममिध्वसनदर्शनोत्सुकं मैथिलाय कथयावभूव सः ॥३७॥
 तस्य धीचपललितं वपुः शिशोः पार्थिवः प्रथितवंशवन्मनः
 स्वं विचिन्त्य च धनुर्दुरानमपीडितो दुहितृशुल्कसंस्थया ॥३८॥
 अग्रधीच्य भगवन्मतज्ञैर्यद्वृहद्भिरपि कर्म दुष्करम् ।
 तत्र नाहमनुमन्तुमुत्सहे मोघवृत्ति क्लमस्य चेष्टितम् ॥३९॥
 हे पिता हि यहवो नरेस्वरास्तेन तात धनुषा धनुर्भूतः ।
 ज्यानिघातकठिनत्वचो भुजान्स्वान्विधूय धिगिति प्रतस्थिरे ॥४०॥
 प्रत्युषाच तमृषिर्निशम्यतां सारतोऽयमथवा गिरा कृतम् ।
 चाप एव भवतो भविष्यति व्यक्तशक्तिरशनिर्गिराविव ॥४१॥
 एवमाप्तवचनात्स पौरुष काकपक्षकधरेऽपि राघवे ।
 श्रद्धे त्रिदशगोपमात्रके दाहशक्तिमिव कृष्णवर्त्मनि ॥४२॥
 व्यादिदेश गणशोऽथ पार्श्वगान्कार्मुकामिदृशाय मैथिलः ।
 तैजसस्य धनुषः प्रवृत्तये सोयदानिव सहस्रलोचनः ॥४३॥
 तत्प्रसुप्तभुजगेन्द्रभीषणं धीचप दाशरथिराददे धनुः ।
 विद्रुतक्रतुमृगानुसारिणं येन बाणमसृजद्वृषपञ्चजः ॥४४॥

जब धनुषधारी सब क्रियाएँ समाप्त हो गईं तब ठीक अवसर समझकर विश्वामित्रजीने जनकजीसे कहा कि 'राम भी यह धनुष देखना चाहते हैं ॥३७॥ जब जनकजीने एक घोर प्रसिद्ध ब्रह्मे उत्पन्न हुए वासक रामके बोलन शरीरको देखा और दूसरी ओर अपने उस बड़ोर धनुषपर दृष्टि डाली जिसे बड़े-बड़े बीर भी नहीं मुका सके थे, तब उन्हें इस बातका क्या पछतावा हुआ कि मैंने अपनी पत्न्याके विवाहके लिये यह धनुष तोड़नेका अठगाना क्यों लगा दिया ॥३८॥ ये विश्वामित्रजीसे बोले—'हे भगवन्' जो कैसा बड़े बड़े मतवाले हाथी, गहरी बर सक्ते उसे हाथीके दण्डसे कराना व्यर्थका खेलवाड़ है । इसलिए मेरा मन तो नहीं चाहता कि इनसे धनुष उठवाया जाय ॥३९॥ इस धनुषके उठाने में बड़े-बड़े धनुषधारी राजा अपना-सा मुँह लेकर रह गए और अपनी उन भुजाओंकी थिकारते हुए चले गये जिनपर धनुषकी डोरीकी फटकारसे बड़े-बड़े घट्टे पड़े हुए थे ॥४०॥ यह सुनकर मुनि बोले—'राजन्' इनकी शक्ति मैं आपकी बतलाता हूँ । पर कहनेसे होछा क्या है । जैसे वक्की शक्तिकी परीक्षा पहारूपर होती है वैसे ही इनकी शक्तिकी परीक्षा धनुषपर ही हो जायगी, ॥४१॥ मुनिने कहनेसे जनकजीको कुछ कुछ विश्वास होने लगा कि जैसे बीरबहूटीके बराबर नहीं सी चिनचारीमें भी जवानोंकी शक्ति छिपी रहती है वैसे ही काकपक्षधारी राममें भी धनुष उठाने की शक्ति अवश्य होगी ॥४२॥ इसलिए जनकजीने अपने सेवकोंको उत्तमप्रकार धनुष चानेकी आज्ञा दी जैसे इन्द्र भगवाद् नादनोंको अपना धनुष प्रकट करने की आज्ञा देते हैं ॥४३॥ धनुष सामा गया । यह देता जान

आततज्यमकरोत्स संसदा विस्मयस्तिमितनेत्रमीक्षितः ।
 शैलसारमपि नातियत्नतः पुष्पचापमिव पेशलं स्मरः ॥४५॥
 भज्यमानमतिमानकर्षणाचेन वज्रपरुषस्वनं धनुः ।
 भार्गवाय दृढमन्यवे पुनः क्षत्रमुद्यतमिव न्यवेदयत् ॥४६॥
 दृष्टसारमय रुद्रकार्मुके वीर्यशुक्लमभिनन्द्य मैथिलः ।
 राघवाय तनयामयोनिजां रूपिणीं श्रियमिव न्यवेदयत् ॥४७॥
 मैथिलः सपदि सत्यसङ्करो राघवाय तनयामयोनिजाम् ।
 संनिधौ द्युतिमतस्तपोनिधेरग्निसाक्षिक इधातिसृष्टवान् ॥४८॥
 ग्राह्योच्च महितं महाद्युतिः कोशलाधिपतये पुरोधमम् ।
 भृत्यभावि दुहितुः परिग्रहादिश्यतां कुलमिदं निमेरिति ॥४९॥
 अन्वयेप सदृशीं स च स्नुषां प्राप चैनमनुकूलवाग्द्विजः ।
 सद्य एव सुकृतां हि पच्यते कल्पवृक्षफलधर्मि काङ्क्षितम् ॥५०॥
 तस्य कल्पितपुरस्क्रियाविधेः शुश्रुवान्वचनमग्रजन्मनः ।
 उचचाल यलभित्सखो वशी सैन्यरेणुमुपितार्कदीधितिः ॥५१॥

पढ़ता था मानो कोई बड़ा भारी धजधर सोया हुआ हो । रामने देयते देयते सङ्कुरजीने उस धनुषको
 उठा लिया जैसे हाथमें लेकर सङ्कुरजीने मृगवे रूपमें दीक्रीयाते यज्ञदेवताके ऊपर धारण छोड़े थे ॥४५॥
 यह देखकर १५ समासदोबो बड़ा आश्चर्य हुआ जब रामने उस पक्षंतके समान भारी धनुषपर बैसी ही
 सरलतासे डोरी चढ़ा दी जैसे कामदेव अपने पुरोवै धनुषपर डोरी चढ़ाता है ॥४६॥ रामने धनुषको
 दृष्टमा तान लिया कि यह बच्चे समान भयदूर शब्द करने इस प्रकार बड़ा होता हुआ दृढ़ गया,
 मानो उसने महाक्रोधी परशुरामको सूचना दे दी हो कि क्षामिने अब फिर फिर उठाना प्रारम्भ कर
 दिया है ॥४६॥ राजा जनकने जब देखा कि धनुष तोड़कर रामने अपराधराक्रम दिलता दिया
 है तब उन्होंने रामका बड़ा आदर किया और पृथ्वीसे उत्पन्न हुई अपनी वम्हा जामफी उठी प्रकार
 रामने हाथ सौंप दी मानो साक्षात् अपनी चढ़ी ही उन्हें दे डाली हो ॥४७॥ सत्य प्रतिज्ञा
 करनेवाले जनकने विदवागिपत्रीको ही विवाह का साक्षी धर्मि रामने लिया और तत्काल उन्होंने
 माने रामको सीता समर्पित कर दी ॥४८॥ तब महर्षिगस्त्री राजा जनकने अपने पूज्य पुरोहितसे
 दशरथजीने पास पढ़ाया भेजा कि मेरी पुत्री सीताको स्वीकार करके इस निमि जुनवर बैसी ही
 कृपा कीजिए जैसे आप अपने मेवलोंपर करते हैं ॥४९॥ अगर दशरथ यह विचार हीरे से कि योग्य
 पतोड़ हमारे घरमें साथे कि इतनेमें जनकजीने पुरोहित जी राजा दशरथजी को इच्छा पूरी होनेका
 समाचार लेकर जा ही तो पहुँच । और भी है, पुण्यवानोंकी कमिलाया बलवृक्षसे समान तत्काल वस
 देवेवालो होती भी है ॥५०॥ इन्द्रने मित्र, जितेन्द्रिय दशरथने पुरोहितजीका बड़ा सत्कार किया ।
 उनकी बातें सुनकर वे इतनी तेजा लेकर चले कि उसने उठे हुई धुपसे पूर्व भी ढक गया ॥५१॥

आससाद मिथलां स वेष्टयन्पीडितोपवनपादपां चलैः ।
 प्रीतिरोधमसहिष्ट सा पुरी स्त्रीव कान्तपरिभोगमायतम् ॥५२॥
 तौ समेत्य समये स्थिताबुभौ भूपती वरुणवासवोपमौ ।
 कन्यकातनयकौतुकक्रियां स्वप्रभावसदृशीं वितेनतुः ॥५३॥
 पार्थिवीमृदयहृद्घूढहो लक्ष्मणस्तदनुजामयोर्मिलाम् ।
 यौ तपोरवरजौ वरोजसौ तौ कुशध्वजसुते सुमध्यमे ॥५४॥
 ते चतुर्थसहितास्त्रयो वभुः सूनवो नववधूपरिग्रहाः ।
 सामदानविधिभेदनिग्रहाः सिद्धिमन्त इव तस्य भूपतेः ॥५५॥
 ता नराधिपसुता नृपात्मजैस्ते च तामिरगमनकृतार्थताम् ।
 सोऽभवद्वरवधूसमागमः प्रत्ययप्रकृतियोगसन्निभः ॥५६॥
 एवमात्तरतिरात्मसंभवांस्तान्निवेरय चतुरोऽपि तत्र तः ।
 अध्वसु त्रिषु विसृष्टमैथिलः स्वां पुरीं दशरथो न्यवर्तत ॥५७॥
 तस्य जातु मरुतः प्रतीपगा घल्मसु ध्वजतरुप्रमाथिनः ।
 चिक्लिशुर्भृशतया वरूथिनीमुत्तटा इव नदीरयाः स्थलीम् ॥५८॥
 सचपते स्म तदनन्तरं रविर्वद्भीमपरिवेपमण्डलः ।
 वैनतेयशमितस्य भोगिनो भोगवेष्टित इव च्युतो मणिः ॥५९॥

वे इस डाठ-जाटसे मिथिला पहुँचे मानो उसे घेरते हुए घाये हो । बाहर मिथिलाके उपवनको तो उनकी सेनाने रौंवे ही जाला । पर इस प्रेमने घेरको उस नवरीने उतों प्रकार सहज किया जैसे कोई स्त्री अपने प्रियतमको बठोर सभोगको सहज करती है ॥५२॥ वरुण और इन्द्रके समान उन दोनों प्रतापी राजाओंने मिलकर शास्त्रकी विधिसे अपने ऐश्वर्यके अनुकूल अपने पुत्रों और कन्याओंका विवाह कर दिया ॥५३॥ रामका सीतारो और लक्ष्मणका सीताजीकी छोटी बहन उमिलासे विवाह हुआ । भरत और वासुदेवः विवाह जमनजीके छोटे भाई कुतघरजकी माण्डवी और श्रुतिरीति नामकी कन्याओंसे हुआ ॥५४॥ वे चारों भाई नई यहुओंके साथ ऐसे सुगोभित हुए मानो राजा दशरथके साम, दाम, दण्ड और भेद, इन चारों उपायोंसे सिद्धियाँ मिल गई हों ॥५५॥ उन चारों राज-कुमारोंको पावन राजकन्याएँ और राजकन्याओंको पाकर राजकुमार निहाल हो गए । यह घर और वधुओंका मिलन ऐसा हुआ जैसे शरके मूल रूपसे प्रत्यक्ष जुड़ गए हों ॥५६॥ इस प्रकार दशरथने चारों पुत्रोंका विवाह करके तीन पदाय पहुँचकर बहोसे जनकजीको लौटा दिया और स्वयं बड़े प्रसन्न मनसे अयोध्याकी ओर बढ़े ॥५७॥ जैसे बड़ी हुई नदीकी धारा घास-गासकी भूमिों उजाड़ देती है वैसे ही एक दिन मार्गमें सेनाके चर्यारूनी वृक्षोंको अकभीवेगसे वापुने चारों सेनाको व्याप्त कर दिया ॥५८॥ उससे पूर्वके चारों ओर एक बड़ा भारी मण्डल बन गया और यह ऐसा सगने लगा जैसे गरदवे गाछ हुआ कोई साथ अपने छिस्ते गिरी हुई मलिके चारों ओर कुण्डली

रघेनपक्षपरिधूसरालकाः सांध्यमेषरधिरार्द्रवाससः ।
 अङ्गना इव रजस्यला दिशो नो बभ्रुस्वलोक्नक्षमाः ॥६०॥
 भास्करश्च दिशमध्युवाम यांतां श्रिताः प्रतिमयं वयासिरे ।
 क्षत्रशोणितपितृक्रियोचितं चोदयन्त्य इव भार्गवं शिवाः ॥६१॥
 तत्प्रतीपपयनादि वैकृतं ग्रेक्ष्य शान्तिमधिकृत्य कृत्यवित् ।
 ग्रन्थपुङ्क्त गुरुमीश्वरः क्षितेः स्वन्तमित्यलघयत्स तद्वयधाम् ॥६२॥
 तेजसः सपदि राशिरुत्थितः प्रादुरास क्लृप्त बाहिनीमुखे ।
 यः प्रमृज्य नयनानि सैनिकैर्लक्ष्मीयपुरपाकृतिश्रितात् ॥६३॥
 पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणं मातृकं च घनुरुर्जितं दधत् ।
 यः मसोम इव धर्मदोषितिः स द्विविह्व इव चन्दनद्रुमः ॥६४॥
 येन रोपपरुपात्मनः पितुः शासने स्थितिभिदोऽपि तस्मिन् ।
 वेपमानजननीशिरश्छिदा प्रागजीयत घृणा ततो सही ॥६५॥
 यक्षवीजवलयेन निर्वभौ दक्षिणश्रवणसंस्थितेन यः ।
 क्षत्रियान्तकरणैकविंशतेर्व्याजपूर्वगणनामिषोद्वहन् ॥६६॥

मारे पका हुआ हो ॥६६॥ जैसे रूखे, जैसे वालोवाली तथा रतसे लाल कपटोवाली रजस्वला स्त्री
 देलनेमें अच्छी नहीं लगती उसी प्रकार उस समय चारों ओरकी वे दिखाई नौ प्रौखोको नहीं सुहा
 रही थी जिनमें मटमले बाजोंके पक्ष इपर उपर उठ रहे थे और सन्ध्याके लाल बादल छाए हुए
 थे ॥६०॥ जिधर सूर्य था उधर ही तिमिरनिवा भयानक रूपसे रोने लगी मानी क्षत्रियों के रस्से
 अपने पिताका तर्पण करनेवाले परधुरानको वे पुकार-पुकारकर बुला रही हो ॥६१॥ विरोधी पक्षके
 चलने आदि अशक्त होने देखकर उसको क्षातिके लिये दक्षरथजीने अपने गुस्से प्रधा कि अथ क्या करना
 चाहिए । इस पर गुरुजीने कहा-निन्ताकी कोई बात नहीं है । इसका फल अच्छा ही होगा । यह सुनकर
 दक्षरथजीके मनमें कुछ ठाढ़स रँपा ॥६२॥ इसी बीच अचानक एक ऐसा प्रकाशका कुछ सेनाके
 प्रागे उड़ता दिखाई दिया जिसे देखकर सब सैनिकोंकी आँखें चौंधिया गई । प्रौखें मलकर
 क्षेपने पर वह प्रकाशका कुछ सासात् पुरुषके रूपमें दिखाई देने लगा ॥६३॥ उस तेजस्वी पुरुषके
 शरीरपर बाह्य पित्तके स्रवका सूचक यज्ञोपवीत शोभा दे रहा था और कन्धेपर क्षत्रिय माताका
 अग्रा मूर्धित करनेवाला घनुर लटक रहा था । इस वेशमें वे ऐसे जाव पड़ते थे जैसे सूर्यके साम
 चन्द्रमा हो या चन्दनके फलसे गाँप लिपटे हो ॥६४॥ उन्होंने बिध समय क्रोधसे कठोर
 हृदयवाले और उचित-अनुचितका विचार छोड़ देनेवाले अपने पिताकी आज्ञा मानकर अपनी नाँवती
 हुई माताका तिर काट लिया था उस समय उन्होंने पहले तो घृणाकी जोत लिया और फिर पृथ्वीको
 जीत लिया था ॥६५॥ उनके दाएँ वामपर इक्ष्मीस जानेकी रुझावकी मात्ता लटक रही थी मानो वह
 इक्ष्मीस बार क्षत्रियोंके नाथ करनेकी विनती करनेके लिये ही उन्होंने पहन रखी हो ॥६६॥

तं पितुर्वधभवेन मन्थुना राजवंशनिधनाय दीक्षितम् ।
 बालधनुरवलोक्य मार्गवं स्वां दशां च विपसाद पार्थिवः ॥६७॥
 नाम राम इति तुल्यमात्मजे वर्तमानमहिते च दारुणे ।
 हृद्यमस्य मयदायि चामवद्रस्रजातमिव हारसर्पयोः ॥६८॥
 अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः ।
 क्षत्रकोपदहनार्चिषं ततः संदधे दृशमुदग्रतारकाम् ॥६९॥
 तेन कार्मुकनिपक्तमुष्टिना राघवो विगतभीः पुरोगतः ।
 अङ्गुलीविषरचारिणं शरं कुर्वता निजगदे युयुत्सुना ॥७०॥
 क्षत्रजातमपकारचैरि मे तन्निहत्य बहुशः शमं गतः ।
 सुप्तसर्प इव दण्डघट्टनाद्रोपितोऽस्मि तव विक्रमश्रवात् ॥७१॥
 मैथिलस्य धनुरन्यपार्थिवैस्त्वं किलानमितपूर्वमज्ञयोः ।
 तन्निशम्य भवता समर्थये वीर्यभृद्भूमिव भग्नमात्मनः ॥७२॥
 अन्यदा जगति राम इत्ययं शब्द उच्चरित एव मामगात् ।
 ग्रीवमावहति मे स संप्रति व्यस्तवृत्तिरुदयोन्मुखे त्वयि ॥७३॥
 विभ्रतोऽस्त्रमचलेऽप्यकुण्ठितं द्वौ रिपू भम मती समागतौ ।
 धेनुवत्सहरणाच्च हैहयस्त्वं च कीर्त्तिमपहर्तुमुद्यतः ॥७४॥

जब दशरथजीने उन परशुरामजी को देखा जिन्होंने अपने पिताके मारे जानेपर जोधते क्षत्रियोंका नाश करने की प्रतिज्ञा कर ली थी तब दशरथजीको अपनी दशा देखकर बड़ी चिन्ता हुई क्योंकि उनके पुत्र अभी बच्चे ही थे ॥६७॥ उनके पुत्र और परशुराम दोनोंमें राम नाम था । इसलिये जैसे गणेश हार और सर्प दोनोंमें रहनेवाली मछि भानन्द भी देती है और भय भी, वैसे ही अपने पुत्र और परशुराम दोनोंमें आए हुए रामनामसे उन्हें भय भी हुआ और भानन्द भी ॥६८॥ दशरथजी अभी कहते ही यह था कि आपके सहकारके लिये यह अर्घ्य है, यह अर्घ्य है किन्तु परशुरामजीने उधर ध्यान भी न देकर क्षत्रियोंको जलानेवाली अपनी टेढ़ी चितवनसे रामको देखा ॥६९॥ युद्धके लिए सज्जत और मुट्टीमें धनुष पकड़कर रैंगलियोंमें बाण लठाते हुए परशुरामजीने अपने आगे निडर खड़े हुए रामसे कहा ॥७०॥ मेरे पितान् यय करने के क्षत्रियोंने मुझसे खजुता मोल ले ली है । उन्हें बहुत बार मारकर मुझे कुछ शान्ति मिली थी । पर जैसे ठठेसे छेव देनेपर चाँच पुष्पकार उठता है वैसे ही तुम्हारा पराक्रम सुनकर मेरे शरीरमें भी आग लग गई है ॥७१॥ जनकजीके जिस धनुषको कोई राजा झुका भी न सका उसीको तुमने तोड़ दिया है । यह युध्वर गेने यही समझा है कि आजतक जो मैं सबसे बढकर धनवान् रागभा जाता था वह दश मानो आज नष्ट हो गया हो ॥७२॥ पहले सवारमें राम कहनेसे लोग मुझे ही समझते थे पर ज्यो-ज्यो तुम ऊँचे चढते चले जा रहे हो त्यो-त्यो वह धर्म तुम्हारे नामके साथ लगता जा रहा है । यह सब देखकर मुझे लज्जा लगने लगी है ॥७३॥ जिस परशुरामके प्रसन्न

वत्त्रियान्तकणोऽपि विक्रमस्तेन मामवति नाजिते त्वयि ।
 पावकस्य महिमा स गण्यते क्ववज्ज्वलति सागरेऽपि यः ॥७५॥
 विद्धि चात्तवलमोजसा हरेरैश्वरं घनुरभाजि यच्चया ।
 सातमूलमनिलो नदीरयैः पातयत्यपि मृदुस्तटद्रुमम् ॥७६॥
 तन्मदीयमिदमाधुर्ध्वं ज्यया सङ्गमय्य सशरं विकृष्यताम् ।
 तिष्ठतु प्रधानमेवमप्यहं तुल्यबाहुतरसा जितस्त्वया ॥७७॥
 क्रातरोऽसि यदि बोद्धतार्चिषा तर्जितः परशुधारया मम ।
 ज्यानिघातकठिनाङ्गुलिर्दृष्टा बध्यतामभययाचनाञ्जलिः ॥७८॥
 एवमुक्तवति भीमदर्शने भार्गवे स्मितविकम्पिताधारः ।
 तदनुर्ध्वदृष्टमेष राघवः प्रत्यपद्यत समर्थमुत्तरम् ॥७९॥
 पूर्वजन्मधनुषा समागतः सोऽतिमात्रलघुदर्शनोऽभवत् ।
 केयलोऽपि सुभगो नवाम्बुदः किंपुनस्त्रिदशचापलाञ्छितः ॥८०॥
 तेन भूमिनिहितैककोटि तरकार्मुकं च वलिनाधिरोपितम् ।
 निम्नमश्च रिपुरास भूसृतां धूमशेष इव धूमकेतनः ॥८१॥

पहाडेंसि टपराकर भी फुटिठत नही होते उसके दो ही बहुत आजतब समान बपराय करनेवाले हुए हैं, उनमें पहला तो या सहजवाह जो मेरे पितासे कामधेनुका बछड़ा छीनकर ले गया था और दूसरे ही तुम, जो मेरी, कीर्ति छीननेपर तुले बैठे हो ॥७५॥ इसलिये क्षत्रियोका नाश करनेवाला मेरा पराक्रम सबताप मुझे अच्छा नहीं लगता जयतव मैं तुम्हें जीत न लूँ क्योंकि घनिना प्रताप ठीकी सराहनीय होता है जब वह समुद्रन भी बँधे ही भटकर जले जैसे सूखी भासके बेरमे, ॥७६॥ तुम्हें यह समझ रखना चाहिए कि दिवजीने जिस धनुषकी तोड़कर तुम ऐंठ रहे हो उसकी कठोरता तो बिम्बुबीने पहले ही हर ली थी । इसलिए उसे तोड़कर तुमने कोई बोरताना काम नहीं किया है, क्योंकि जिस वृक्षकी जड़ नदीकी प्रवण धाराने पहले ही खोखली कर दी हो उसे वातुके तनियसे झोंकने ही वह जानेमें क्या बर लगती है ॥७७॥ देवी राम ! युद्ध तो पीछे होगा, पहले तुम मेरे इस धनुषपर डोरी चढ़ाकर इसे बांधने साथ खींचो तो । यदि तुम इतना भी नर लोने तो मैं सपना कि तुम मेरे ही समान बनना हो और मैं इतनेमें ही हार मानकर बौट जाऊँगा ॥७८॥ और यदि तुम मेरे फरसे की चमकती हुई धारकी देतवर टर गए हो तो अपने उन हाथोंको जोडकर धमकी भिन्ना माँगो जिनकी उँवविषोमें धनुषकी डोरीकी पटकारने व्यर्थ ही पट्टे पट गए हैं ॥७९॥ मद्राष्ट्र बेचपारी परशुरामजीने जब यह कहा तो रामने हँसते-हँसते इस प्रकार वह धनुष हाथोंसे ले लिया मानो परशुरामजीने बचनोंका बड़ी ठीक उत्तर हो ॥८०॥ बँधे ही उन्होंने अपने पिछ्ने बनावाला वह धनुष हाथोंसे लिया क्योंकि उसकी छोमा और भी बड़ गई, क्योंकि एक तो गया बाबत था ही सुन्दर लगता है, फिर यदि उसमें द्वाद धनुष भी बन जाए सब तो उसकी छोमाका बढना ही क्या ॥८१॥ परामर्श रामने उस धनुषकी धन छोड़ पृथ्वीपर टेककर बैठे ही उसपर डोरी चढ़ाई बँधे ही क्षत्रियोंने दान

तावुभावपि परस्परस्थितौ वर्धमानपरिहीनतेजसौ ।
 पश्यति स्म जनता दिनात्यये पार्वशौ शशिदिवाकराविव ॥८२॥
 तं कुपाभृदुरवेच्य भार्गवं राघवः स्थलितवीर्यभात्मनि ।
 स्वं च संहितममोघमाशुगं न्याजहार हरसूनुसंनिभः ॥८३॥
 न प्रहर्तुमलमस्मि निर्दयं विप्र इत्यग्निमघत्यपि त्वयि ।
 शंस किं गतिमनेन पत्त्रिणा हन्मि लोकमुत ते मत्प्रार्जितम् ॥८४॥
 प्रत्युवाच तस्यपिर्न तत्त्वतस्त्वां न वेद्मि पुरुषं पुरातनम् ।
 गां गतस्य तव धाम वैष्णवं कोपितो ह्यसि मया दिदृक्षुषा ॥८५॥
 भस्मसात्कृतवतः पितृद्विपः पात्रसाच वसुधां ससागराम् ।
 आहितो जघविपर्ययोऽपि मे श्लाघ्य एव परमेष्ठिना त्वया ॥८६॥
 तद्वर्ति मतिमतां वरेप्सितां पुण्यतीर्थगमनाय रक्ष मे ।
 पीडयिष्यति न मां खिलीकृता स्वर्गपद्धतिरभोगलोलुपम् ॥८७॥
 प्रत्यपद्यत तथेति राघवः ग्राह्यमुखश्च विसर्ज सायकम् ।
 भार्गवस्य सुकृतोऽपि सोऽभवत्स्वर्गमार्गपरिघो दुरत्ययः ॥८८॥

परशुरामजी उसी क्षणिके समान निस्तेज हो गए जिसने केवल धुआँ भर रह गया हो ॥८१॥
 भ्रामने-सागने लगे हुए राम और परशुराममेसे एकरा तेज बढ गया और दूसरेका घट गया और
 इस प्रकार वे दोनों ऐसे जान पड़ने लगे जैसे वे सन्ध्या समयके चन्द्रमा और सूर्य हैं
 ॥८२॥ कार्तिकेयके समान तेजस्वी दवानु रामचन्द्रजीने एक बार निरतेज परशुरामजीको
 और फिर धनुषपर बडे हुए अपने प्रभूक बाणको देखा और बोले ॥८३॥—‘यद्यपि आपने हमारा
 भयमान किया है पर आप ब्राह्मण हैं, इसलिये मैं निर्दय होकर आपको मारूँगा नहीं। पर यह
 बताइए कि अब इस बाणसे मैं आपकी गति रोकूँ या आपका जन दिव्य शोकोगे पहुँचना रोक दूँ
 जो आपने यह वरके क्षीत लिए हैं ॥८४॥ यह सुनकर परशुरामजी बोले—‘यह बात नहीं है कि
 आपको देजते ही मैं पहचान न गया हूँ कि आप ही साक्षात् पुरातन पुरुष हैं, किन्तु मैंने यह जाननेके
 लिए आपको कष्ट दिया था कि देखूँ आप विष्णुका किन्तु तेज लेकर पृथ्वीपर उतरे हैं ॥८५॥
 पिताके समुद्रोत्थ नाश करनेवाले और सागरतक फैली हुई पृथ्वी ब्राह्मणोंको शान देनेवाले मुझ
 परशुरामके लिए आप परम पुरुषके हाथी हारना भी गौरवकी ही बात है ॥ ८६॥ इसलिये आप
 मेरी गति न रोकिए जिससे मैं पवित्र तीर्थोंमें जा सकूँ। मुझे भोग्यो तो इच्छा है नहीं इसलिये
 यदि मुझे स्वर्ग न भी मिले तो कुछ दुःख नहीं होगा’ ॥८७॥ रागने परशुरामजीका कहना जान
 लिया और प्रसन्नकी ओर मुँह करके बाण छोड दिया। यद्यपि परशुरामजीने बहुत पुण्य किए थे
 किन्तु वह बाण सदाके लिये परशुरामजीके स्वर्गना मार्ग रोककर पड़ा हो गया ॥८८॥ तब रागने

राघवोऽपि चरणौ तपोनिधेः क्षम्यतामिति वदन्समस्पृशत् ।
 निर्जितेषु तरसा तरस्विनां शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्तये ॥८६॥
 राजसत्क्षमवधूय मातृर्कं पित्र्यमस्मि शमितः शर्म यदा ।
 नन्दनिन्दितफलो मम त्वया निग्रहोऽप्ययमनुग्रहीकृतः ॥८७॥
 साधवाम्यहमविघ्नमस्तु ते देवकार्यमुपपादयिष्यतः ।
 छत्विवानिति वचः सलक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजमृषिस्तिरोदधे ॥८८॥
 तस्मिन्नाते विजयिनं परिरभ्य शमं स्नेहादमन्यत पिता पुनरेव जातम् ।
 तस्याभवत्कणशुचः परितोपलामः कक्षाग्निलङ्घिततरोरिव धृष्टिपातः ॥८९॥
 अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तस्म्योपकार्ये कतिचिदवनिपालः शर्वरीः शर्वकलपः ।
 पुरमविशदयोध्यां मैथिलीदर्शिनीनां कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानाम् ॥९०॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
 सीता विवाहवर्णनो नामकादशः सर्गः ॥

परशुरामजीसे क्षमा माँगते हुए उनके चरणोंमें प्रणाम किया; क्योंकि जब कोई पराक्रमी अपने बन्धु
 अपने शत्रुको भीत सेता है तब यदि वह नम्रता भी दिखावे तो उसकी कीर्ति ही बढ़ती है ॥८६॥
 परशुरामजी बोले—'मापने मुझे यह वक्ष्य केकर मेरा बड़ा भारी उपकार किया है । इससे मेरा बड़ा
 भारी लाभ हो यह हुआ कि आपने छत्रिय मातासे पाए हुए मेरे रजोगुणको दूर करके मुझे पिताका
 सत्वगुण प्रदान कर दिया ॥८७॥ मैं अब जाता हूँ । आप देवताओंका जो कार्य करनेके लिए आए हैं वह
 बिना विघ्नके पूरा हो । राम और लक्ष्मणसे यह सहचर परशुरामजी प्रत्यर्पण हो गए ॥८८॥ उनके
 पास जावेपर विजयी रामको दशरथजीने मत्से लगा लिया और वे स्नेहमें भरकर यह मन्त्राले लगे
 कि रामका दुःख जन्म हुआ है । इस बोली देखके दुःखके पञ्चाक्षुर्गन्धे ऐसा सतीव मिला जैसे जंगल
 की आगसे सुनके पेड़की बर्षाका जल मिल जाय ॥८९॥ तब जिसके समान राजा दशरथने कुछ
 रातों को उग माँगमें बिताई जहाँ उनके लिए सुन्दर डेरे बने हुए थे । फिर वे उन प्रयोध्या नगरीमें
 पहुँचे जहाँ सीताजीकी देखनेके लिए क्लृप्त, नगरकी सुन्दर स्त्रियोंकी आँखें करोड़ोंमें मयतके
 समान उत्तरी दिखाई पड़ रही थी ॥९०॥

महानरि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें सीताजीके विवाहका
 वर्णन नामका म्यारहवाँ सर्ग समान हुआ ।

॥ द्वादशः सर्गः ॥

निर्विष्टविषयस्नेहः स दशान्तमुपेयिवान् ।
 आसीदासन्ननिर्वाणः प्रदीपार्चिरिवोपसि ॥ १ ॥
 तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति ।
 कैकेयीशङ्कयेवाह पलितच्छन्नना जरा ॥ २ ॥
 सा पौरान्पौरकान्तस्य रामस्याभ्युदयश्रुतिः ।
 प्रत्येकं ह्लादयांचक्रे कुल्येवोद्यानपादपान् ॥ ३ ॥
 तस्याभियेकसंभारं कल्पितं क्रूरनिश्चया ।
 दूषयामास कैकेयी शोकोष्णैः पार्थिवश्रुभिः ॥ ४ ॥
 सा क्लृप्ताश्वासिता चण्डी भर्त्रा तत्संश्रुतौ वरौ ।
 उद्वहामेन्द्रसिक्ता भूर्बिलमज्ञावियोरगौ ॥ ५ ॥
 तपोश्रुतुर्दशैकेन रामं प्राज्ञाजयत्समाः ।
 द्वितीयेन सुप्तस्यैच्छद्वैधव्यैकफलां श्रियम् ॥ ६ ॥
 पित्रा दत्तां रुदन्नामः प्राह्महीं प्रत्यपद्यत ।
 पश्चाद्दनाय गच्छेति तदाज्ञा मुदितोऽग्रहीत् ॥ ७ ॥

चारहर्षा सर्ग

राजा दशरथने सत्सारेके सब सुख भोग लिए और बूढ़े हो चले । अब उनकी दशा प्रातः
 कालके उस दीपक जैसी हो गई थी जिसका तेल चुरा गया हो और बस वह चुनने ही वाला हो ॥१॥
 उनकी कनपड़ीके पास बाल पक गए थे मानो मुड़ापा भी कैकेयीसे सक्ति होकर राजाके बालके भाकर
 यह कह रहा हो कि अब रामको राज्य सौंप ही देना चाहिए ॥२॥ जैसे पानीपी गूलसे सिक्कर पूरे
 उद्यानके वृक्ष हरे-भरे हो जाते हैं वैसे ही नगरवासियोंके प्यारे रामके राज्याभिषेकका समाचार सुनकर
 मयोप्याके लोग फूले नहीं समाए ॥३॥ पर निठुर कैकेयीने ऐसा बक चुकाया कि राज्याभिषेकका
 सारा उत्सव शोकसे राखे हुए राजा दशरथके आँसुओंसे लिप गया ॥४॥ जब राजा दशरथने उस
 कठोर स्वभाववाली कैकेयीको बहुत मनाया तब उसने ये दो बार भाँति जिनके तिसरे राजा दशरथ पहलेसे
 ही वचन दे चुके थे । ये दो बार ऐसे ही थे जैसे वपस्त्रि भीमी हुई धृष्टके केदोमेरे दो सौं पक्कल
 पडे हो ॥५॥ कैकेयीने एक बार तो यह भाँगा कि चौदह वर्षके लिये राम वनमे चले जायें
 और दूसरा यह कि मेरे बेटे भरतको राज्य मिले । पर इस बार माँगनेवा एवमात्र चल यही निबला
 कि कैकेयी विधवा हो गई ॥६॥ जब दशरथजी रामको राजगद्दी दे रहे थे उस समय रामने आँसुभि
 यामु भरकर उठे स्वीकार किया था और जब उनसे कहा गया कि बन चले जाओ तब रामने इस

दधतो मङ्गलवीमे वसानस्य च वल्कले ।
 ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनाः ॥ ८ ॥
 स सीतालक्ष्मणसखः सत्पाद्गुरुमलोपयन् ।
 विवेश दण्डकारख्यं प्रत्येकं च सतां मनः ॥ ९ ॥
 राजाऽपि तद्वियोगार्तः स्मृत्वा शापं स्वकर्मजम् ।
 शरीरत्यागमात्रेण शुद्धिलाभममन्यत ॥ १० ॥
 विप्रोपितकुमारं तद्रान्यमस्तमितेश्वरम् ।
 रन्धान्वेषणदक्षाणां द्विषामामिषतां ययौ ॥ ११ ॥
 अथानाथाः प्रकृतयो मातृवन्धुनिवासिनम् ।
 मौलैरानाययामासुर्भरतं स्तम्भिताश्रुभिः ॥ १२ ॥
 श्रुत्वा तथाविधं मृत्युं कैकेयीतनयः पितुः ।
 मातुर्न केवलं स्वस्या त्रियोऽप्यासीत्पराङ्मुखः ॥ १३ ॥
 ससैन्यथान्वगाद्रामं दक्षितानाश्रमालयैः ।
 तस्य पश्यन्सतीमित्रेहृद्भुर्वसतिर्दुमान् ॥ १४ ॥
 चित्रकूटवनस्थं च कथितस्वर्गतिर्गुरोः ।
 लक्ष्म्या निमग्रयांचके तमंमुच्छिष्टसंपदा ॥ १५ ॥

मामारो हँलते-हँलते फिर माये पड़ा लिया ॥१॥ यह देतार सोचोकि धाम्रबंका दिपाना न रहा कि रामने मूर्खा भाव बैठा राज्याभिषेकके ऐसी बहाने पहनने तनय था ठीक बँधा हो वन जानेके लिये पेटकी छातके बदन पहनते समय भी था ॥२॥ भाने विनाके बचन नरय करनेके लिए ये छोटा और लदमराये साथ बैसत दण्डक वनमे ही नहीं बैठे बरतु भरने इस संख अरहाखे उन्होंने सखनोके मनमे भी पर पर लिया ॥३॥ उनके विषोगमे राजा दारुणको बड़ा दुःख हुआ । उन्हें मुनिरा पाप स्मरण हो माया और उन्होंने खगल लिया कि अब प्राण देकर हो मेरी मुक्ति होगी ॥४॥ दारुण-लोके जानु तो ऐसे भयकरकी ताकमे ही थे । जब उन्होंने देखा कि धर्मोप्यारे राजा स्वर्ग चरे गए और रात्रकुमार भी राजव छोड़कर चल दिए तो उन्होंने जट धर्मोप्यापर पावा बोन दिया ॥५॥ नर देतार धर्मोप्याकी धनय प्रजाने उन कुत-अन्धियारी भेदकर भरतको उनकी नजिहालमे युताया चिन्ती भाने धर्मू निजाने नहीं दिए थे ॥६॥ जब भरतको पाने पिताकी मृत्युका सब समाचार बिना तब से बैसत अपनी मणि हो नहीं बरतु धर्मोप्याकी राज-नरभोगे भी बडे बिड़ गए ॥७॥ उन्होंने अपने माय देता सी और रामकी दूँदने निजम पडे । जब मायके पापदशागिनी उर्दे के दूध शिगाए जिसके तरे राम और लक्ष्मण जति हुए टिके थे तो उनकी पीसोने धर्मू दारुण पाए ॥८॥ अब जिनो राम निजदूद-वनमे दूँदने थे । यहाँ नारा

स हि ग्रम तस्मिन्महत्तुश्रीपरिग्रहे ।
 परिवेत्तारमात्मानं मेने स्वीकरणाद्भुवः ॥१६॥
 तमशक्यमपाक्रष्टुं निदेशात्स्वर्गिणः पितुः ।
 ययाचे पादुके पश्चात् कर्तुं राज्याधिदेवते ॥१७॥
 स विसृष्टस्तथेत्युक्त्वा आत्रा नैवाविशत्पुरीम् ।
 नन्दिग्रामगतस्तस्य राज्यं न्यासमिवाभ्युनक् ॥१८॥
 दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे राज्यतृष्णापराद्मुखः ।
 मातुः पापस्य भरतः प्रायश्चित्तमिवाकरोत् ॥१९॥
 रामोऽपि सह वैदेद्या वने वन्येन वर्तयन् ।
 चचार सानुजः शान्तो वृद्धेच्छाकुव्रतं युवा ॥२०॥
 प्रभावस्तम्भितच्छायमाश्रितः स वनस्पतिम् ।
 कदाचिदङ्गे सीतायाः शिष्ये किंचिदिव भमात् ॥२१॥
 ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या विददार स्तनौ द्विजः ।
 प्रियोपभोगचिह्नेषु पौरोभाग्यमिवाचरन् ॥२२॥

भरतजीने उन्हे बहारबजीकी मृत्युका समाचार सुनाया और कहा कि भयोध्याकी राजलक्ष्मीकी मेने छुप्पा भी नहीं है, आप ही उसे बतकर रोमालिए ॥१६॥ क्योंकि जिस राज्यको बड़े भाईने स्वीकार नहीं किया उसे सेना में उलगा ही बड़ा पाप समझता हूँ जितना बड़े भाईने भविष्यहित रहनेपर छोटे भाईका विवाह कर सेना ॥१६॥ किन्तु राम अपने स्वर्गीय पिताकी आज्ञासे तनिक भी टकसे मस नहीं हुए । तब भरतजीने उनसे प्रार्थना की कि आप मुझे अपनी खटाऊँ दे दीजिए जिन्हे मैं आपके स्थानपर रखकर राज्यका काम चलाऊँ ॥१७॥ रामने अपनी खटाऊँ दे दी । उसे लेकर भरतजी लौटे तो सही पर भयोध्यामे नहीं पाए । उन्होंने नन्दिग्राममे डेरा बाला और वहीसे भयोध्याके राज्यकी सत्ती प्रचार रखा भीमाने अपने भाईकी परोहर सौभाल रहे हो ॥१८॥ इस प्रकार अपने बड़े भाईमे भक्ति निभाकर और राजपदकी टुकड़ाकर माने भरतजीने अपनी माताके पापका प्रामाणिक कर दाखा ॥१९॥ जबर राम भी सीता और लक्ष्मणके साथ कन्द मूल फल खाते हुए युवावस्थामे ही यह व्रत करने लगे जो इन्वानुवचवाले बुढापेमे किया करते हैं ॥२०॥ एक बार वे पके हुए सीताजीकी गोदीमे सिर रखे एक ऐसे वृषके नीचे लेटे हुए थे जिसकी छाया उन्होंने अपने भौतिक प्रभावसे बाँध दी थी ॥२१॥ इसी बीच इन्द्रका पुत्र जयन्त कौला बनकर आया और उसने अपने नखोंसे सीताजीके स्तनोपर ठूँस मारी माने वह सीताजीके स्तनोपर रामके हाथसे बने हुए नखोंकी प्रवट बर अपनी वह धान बतल रहा हो कि मेरा काम ही दूसरोंका दोष

तस्मिन्नास्थदिपीकास्त्रं रामो रामावबोधितः ।
 आत्मानं मुमुचे तस्मादेकनेत्रव्ययेन सः ॥२३॥
 रामस्त्वासन्नदेशत्वाद्भरतागमनं पुनः ।
 आशङ्क्योत्सुकसारङ्गां चित्रकूटस्थलीं जहौ ॥२४॥
 ग्रययावातिथेयेषु वसन् ऋषिकुलेषु सः ।
 दक्षिणां दिशमृत्तेषु वापिकेष्विव भास्करः ॥२५॥
 बभौ तमनुगच्छन्ती विदेहाधिपतेः सुता ।
 प्रतिपिद्वापि कैकेय्या लक्ष्मीरिव गुणोन्मुखी ॥२६॥
 अनसूयातिसृष्टेन पुण्यगन्धेन काननम् ।
 सा चकाराङ्गरागेण पुष्पोद्बलितपट्पटम् ॥२७॥
 संभ्याभ्रकपिशस्तस्य विराधो नाम राक्षसः ।
 अतिष्ठन्मार्गमावृत्य रामस्येन्दोरिव ग्रहः ॥२८॥
 स जहार तयोर्मध्ये मैथिलीं लोकशोषणः ।
 नभोनभस्ययोर्बुध्दिमवग्रह इवान्तरे ॥२९॥
 तं विनिष्पिष्य काकुत्स्थी पुरा दूषयति स्थलीम् ।
 गन्धेनाशुचिना चेति वसुधायां निचलन्तुः ॥३०॥

दूडगा है ॥२२॥ भट्ट सीताजीने रामको जयाया । तत्काल रामने उसपर शोकका बाण छोड़ा । उससे बचनेके लिये वह चौका बहुत दूधर-उधर चक्कर काटता रहा पर जबतक उसने अपनी एक प्राण नहीं दे दी तबतक उसे फूटकाया नहीं मिला ॥२३॥ मोठे दिनों पीछे ही रामने चित्रकूटका वह आश्रम छोड़ दिया जहाँके हरिण उनसे इतने हितमित्र बन गये कि दिन-रात उनके ही देखते रहते थे । रामने इस डरसे चित्रकूट छोड़ा कि अयोध्या पासमे ही है, ऐसा न हो कि भारत फिर यहाँ पहुँच जाय ॥२४॥ जैसे वपकि इस नक्षत्रमे उदरता हुआ सूर्य दक्षिणकी भूम जाता है वैसे ही अतिविश्रन्तार करनेवाले ऋषिकोके आश्रममे टिकते हुए राम भी दक्षिणकी ओर बढ़ जते ॥२५॥ यद्यपि कैकेयीने रामको रामसदसीसे हटा दिया था फिर भी उनके पीछे पीछे चलनेवाली सोता ऐसी जान पड़ती थी भागो चुगोके पीछे चलनेवाली साक्षात् लक्ष्मी ही हो । २६॥ अति श्रुतिके आश्रममे जब वे पहुँचे तब उनकी पत्नी अनसूयाजीने सीताजीके क्षीररूपे ऐसा सुगन्धित मङ्गराम लगाया कि उसकी पवित्र गन्ध पाकर और भी जगती फूलसे उज्ज्वलकर उधर हो हट पडे ॥२७॥ जैसे कन्दलाका मार्ग राहु रोक लेता है वैसे ही सन्ध्याके बादलक समान साध रागवाला विराध राक्षस भी रामका मार्ग रोककर खड़ा हो गया ॥२८॥ जैसे कोई छोटा ग्रह सावन और भादोक महीनोंके बीचसे वपांको ले बीतता है, वैसे ही उस राक्षसने राम और लक्ष्मणके बीचसे सीताजीको हर लिया ॥२९॥ पर राम-लक्ष्मणने उसे तत्काल मार डाला और यह सोचकर उसे पृथ्वीमे धाड़ दिया कि

पञ्चवत्यां ततो रामः शासनात्कुम्भजन्मनः ।
 अनपोढस्थितिस्तस्यौ किन्ध्याद्रिः प्रकृताविव ॥३१॥
 रावणावरजा तत्र राघवं मदनातुरा ।
 अभिपेदे निदाघार्ता व्यालीव मलयद्रुमम् ॥३२॥
 सा सीतासंनिधावेव तं वज्रे कथितान्वया ।
 अत्यारूढो हि नारीणामकालशो मनोभवः ॥३३॥
 फलप्रदानहं घाले कनीयांसं भजस्व मे ।
 इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कन्धः शशास ताम् ॥३४॥
 ज्येष्ठाभिगमनात्पूर्वं तेनाप्यनमिनन्दिता ।
 साभूद्रामाश्रयाभूयो नदीषोभयकूलभाक् ॥३५॥
 संरम्भं मैथिलीहासः चणुसीम्यां निनाय ताम् ।
 निघातस्तिमितां वेलीं चन्द्रोदय इवोदधेः ॥३६॥
 फलमस्योपहासस्य सद्यः प्राप्स्यसि पश्य माम् ।
 मृग्या परिमयो व्याघ्रयामित्यवेहित्वया कृतम् ॥३७॥

कहीं इसके दूरीरकी दुगन्धि इस देशमें न फैल जाय ॥३०॥ जैसे मयस्तयजीवी माझासे किन्ध्यावल
 भपनी मर्पादाने ही रह गया था वैसे ही राम भी मर्पादापूर्वक पञ्चवटीमें रहने लगे ॥३१॥ जैसे
 घूपसे पयटाकर कोई नागिन चन्दमने घेटने पास पहुँच गई हो वैसे ही कामसे पीड़ित रावणकी
 छोटी बहन दूर्णखाता रामसे पास था पहुँची ॥३२॥ पहले तो उसने अपने कुत्ता परित्यज दिया और
 फिर सीताजीके सामने ही रामसे बहने लगी कि मैं तुम्हें अपना पति मानती हूँ क्योंकि जिसका पण
 बहुत अधिक कामासक्त हो जाती है तब उन्हें इस बातका ध्यान हो नहीं रहता कि हमें किस
 समय क्या करना चाहिए क्या न करना चाहिए ॥३३॥ कामासक्त दूर्णखातापी यह बात सुनकर
 हाँकते-जैसे ज्येष्ठाभिगमनात् राम बोले—भाते ! मेरा तौ विवाह हो चुका है । तुम मेरे छोटे भाईके
 पास जाओ ॥३४॥ यह बात लक्ष्मणके पास पहुँची । लक्ष्मणने उसमें कहा—तू पहले मेरे यहाँ
 भाईके पास विवाहकी इच्छासे जा चुकी है इसलिये तू मेरी भातासे समान है । मैं तुमसे
 विवाह नहीं कर सकता । यह सुनकर वह फिर रामसे पास पहुँची । राम और लक्ष्मणके पास
 भाते-जाते उसकी दशा उस नदीसे समान हो गई जो नारी-नारीसे अपने दोनों तटोको छूती
 हुई बह रही हो ॥३५॥ जैसे वायुके रुने रहनेसे दान्त समुद्रपर लट चन्द्रमासे निजलनेपर हिलोरे
 खेने लगता है वैसे ही सीताजीको हँसते देखकर धाण-भरने लिये सुन्दर रूप धारण करनेवाली
 यह कुरूप दूर्णखाता भी एवढम बिगड खादी हुई ॥३६॥ और बोली—“अन्ध ! तुम्हें इस
 हँसीका पल ममी पटाती है । तुमने वैसे ही मेरा अपमान किया है जैसे कोई हरिणी किसी
 वाधिनका अपमान करे । समझी ! ॥३७॥ सीताजी तो यह सुनते ही डरने लगे रामकी

इत्युक्त्वा मैथिलीं भर्तुरङ्गेनिविशतीं भयात् ।
 रूपं शूर्पणखा नाम्नः सदृशं प्रत्यपद्यत ॥३८॥
 लक्ष्मणः प्रथमं श्रुत्वा कोकिलामञ्जुवादिनीम् ।
 शिवाघोरस्यनां पथाद्बुबुधे विकृतेति वाम् ॥३९॥
 पर्णशालामथ चित्रं विकृष्टासिः प्रविश्य सः ।
 वैरूप्यपौनरुक्त्येन भीषणां तामयोजयत् ॥४०॥
 सा वक्रनखाधारिण्या वेलुक्कर्कशपर्वया ।
 अङ्कुशाकारपाद्गुल्या तावतर्जयदम्यरे ॥४१॥
 प्राप्य चाशु जनस्थानं खरादिभ्यस्तथाविधम् ।
 रामोपक्रममाचख्यौ रक्षः परिभवं नवम् ॥४२॥
 मुरावयवल्लूनां तां नैर्ऋता यत्पुरो दधुः ।
 रामाभियायिनां तेषां तदेवाभूदमङ्गलम् ॥४३॥
 उदायुधानापततस्तान्दक्षान्प्रेक्ष्य राघवः ।
 निदधे विजयाशंसां चापे सीतां च लक्ष्मणे ॥४४॥
 एको दाशरथिः क्रमं यातुधाना सदस्रशः ।
 ते तु यावन्त एवाजौ तामोश्च ददशो स तैः ॥४५॥

हमे जा छिपी और शूर्पणखाने अपने नामके अनुसार [रूपके समान बड़े बड़े नखवाला]
 अपना भयङ्कर रूप प्रकट कर दिखाया ॥३८॥ जब लक्ष्मणने देखा कि अपनी तो यह कौयलके
 समान मधुर मोल रही थी और अब सिमारिके समान हुआ-हुआ कर रही है तब उन्होंने
 रामको लिया कि यह कौं यदी छोटी है ॥३९॥ और यह समझने ही के भट अपनी कुटियामें
 गए और वहाँसे लक्ष्मण साकर उन्होंने शूर्पणखाके नाक-कान काट लिए । नाक-कान कट जानेपर
 वह और भी अधिक कुम्प दिखाई देने लगी ॥४०॥ नन्दी-बूनी होकर वह प्राणालमें लगी और
 प्रभु-बैसी टेढ़े-टेढ़े नखवाली और चौहनेसे भड़े पीरोवाली अपनी सँपतिपों चमका-चमकाकर
 राम-लक्ष्मणको समझाने लगी ॥४१॥ वहाँसे लक्ष्मण वह उत्तम जनस्थानमें पहुँची और खर प्रादि
 रासालोंकी जमाह वि भाव पहली बार रामने इस प्रकार राक्षसोंका अपमान किया है ॥४२॥
 भागे-भागै नन्दी-बूनी शूर्पणखा और उसके पोछे पीछे से सब राक्षस आपसे लड़ने निवृत्त पड़े
 पर इस नन्दीकी भागे बरने सब लोगोंने पहले ही अपना सगुन बिगाड़ लिया ॥४३॥ रामने
 दूरसे देखा कि हमने सब लड़ने चमकी रासस भागे बड़े चले गए रहे हैं तो उन्हें विश्वास हो
 गया कि इन्हें तो हम अपनेसे अपने पनुषसे ही जीत लेंगे । इसलिये उन्होंने सीताकी रक्षाका
 भार लक्ष्मणको सौंप दिया ॥४४॥ राम अपनेसे ये और राक्षस सहजो से पर राम इस प्रकार
 लड़ रहे थे कि यहाँ जितने राक्षस थे उन्हें उतने ही राम दिखाई पड़ रहे थे ॥४५॥ जिस प्रकार

असञ्जनेन काकुत्स्थः प्रयुक्तमथ दूषणम् ।
 न चक्षमे शुभाचारः स दूषणमिवात्मनः ॥४६॥
 तं शरैः प्रतिजग्राह खरत्रिशिरसौ च सः ।
 क्रमशस्ते पुनस्तस्य चापात्सममिवोग्रसुः ॥४७॥
 तैस्त्रयाणां शितैर्नीलैर्यथापूर्वविशुद्धिभिः ।
 आयुर्देहातिगैः पीत रुधिरं तु पवत्रिभिः ॥४८॥
 तस्मिन्ममशरोत्कृचे बले महति रक्षसाम् ।
 उत्थितं ददृशेऽन्यच्च क्वन्धेभ्यो न किञ्चन ॥४९॥
 सा बाणघर्षिणं रामं योधयित्वा सुरद्विपाम् ।
 अप्रयोधाय सुष्वाप मृधञ्छाये वरुचिनी ॥५०॥
 राघवास्त्रविदीर्णानां राघवं प्रति रक्षसाम् ।
 तेषां शूर्पणखैर्वैका दुष्प्रवृत्तिहराऽभवत् ॥५१॥
 निग्रहात्स्वसुराप्तानां वधाच्च धनदानुजः ।
 रामेण निहितं मेने पदं दशसु मूर्धसु ॥५२॥
 रक्षसा मृगरूपेण वञ्चयित्वा स राघवी ।
 जहार सीतां पक्षीन्द्रप्रयासचक्षुर्विम्बितः ॥५३॥

राधाचारी पुरुष अपने ऊपर, नीच पुरुषों-द्वारा समाया हुआ दूषण या बलबू नहीं सह सकते
 बैठे ही राम भी मुझने दूषण रखसना आना नहीं सह सके ॥४६॥ उन्होंने दूषण, खर और
 विशिरापर मर्यापि एक एक करके बाण चलाए तथापि अत्यन्त हीघ्नतासे चलाए जानेके कारण
 वे बाण ऐसे जान पड़ते थे मानो वे एक साथ वनस्पति छूटे ही ॥४७॥ वे बाण उनके शरीरको
 छेद कर इतने वेगसे बाहर निकल गए कि उनमें रक्त भी नहीं लग सका, क्योंकि बाण तो उनकी
 प्रायु पीनेके लिये गये थे, उनका रक्त तो पिघा पलियोने ॥४८॥ रामने अपने बाणोंसे राक्षसोंकी
 पूरी सेनाको इस प्रकार बाट बना नि मुद्ध-भूमिमें राक्षसोंके पक्षोंको छोड़कर और कुछ भी नहीं
 दिखाई दे रहा था ॥४९॥ बाण बरसानेवाले रामसे लड़कर वह राक्षसोंकी सेना तो गिद्धों-
 के पक्षोंकी छायामें सदाके लिए खो गई ॥५०॥ और रामके मरुसे मारे हुए उन राक्षसोंकी मृत्पुत्रा
 समाचार रावणके पास पहुँचानेके लिये बकेली मूर्खलवा हो बच रही ॥५१॥ बहुतका प्रपमान और
 खर दूषण मारि मरने सम्बन्धियोंका बच, रावणको इतना प्रपमानजनक जान पड़ा मानो रामने
 उसके दसो सिरोंपर पैर रख दिया हो ॥५२॥ तब उसने भारीचक्षे माना-भृग बनाया और राम-
 सहमरणको भोखा देकर सीतानीको छुराकर सङ्ग्राम ले गया । मार्गमें मुद्धराज जटापु उलझे जटा भी

तौ सीतान्वेषिणौ गृध्रं खूनपक्ष्मपश्यताम् ।
 प्राणैर्दशरथप्रीतिरनृणं कण्ठवर्तिभिः ॥५४॥
 स रावणहृतां ताभ्यां वचसाचष्ट मैथिलीम् ।
 आत्मनः सुमहत्कर्म ग्रन्थैरावेद्य संस्थितः ॥५५॥
 तयोस्तस्मिन्नवीभूतपितृव्यापत्तिशोकयोः
 पितरीवाम्भिसंस्कारात्परा वधृतिरे क्रियाः ॥५६॥
 वधनिर्धूतशापस्य कवन्धस्योपदेशतः ।
 सुमूर्च्छं सख्यं रामस्य समानव्यसने हरौ ॥५७॥
 स हत्या बालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते ।
 धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत् ॥५८॥
 इतस्ततश्च वैदेहीमन्वेष्टुं मर्तृचोदिताः ।
 कपयश्चेहरार्तस्य रामस्येव मनोरथाः ॥५९॥
 प्रवृत्तावुपसङ्घायां तस्याः संपातिदर्शनात् ।
 मारुतिः सागरं तीर्थः संसारमिव निर्ममः ॥६०॥

पर वह कुछ कह न सका ॥५४॥ राम और लक्ष्मण जब सीताको ढूँढने निकले । उन्होंने मार्गमें जटा-
 युकी पड़े देखा जिसके पंख कट गए थे और जिसके प्राण बन्ध-तक बाधए थे । पर उसने सीताके खुरा ले
 जाने वाले रावणसे लड़कर अपने मित्र दशरथका श्मश्रु चुका दिया था ॥५५॥ वह राव-लक्ष्मणसे
 बोला कि सीताजीकी राखण ले गया है । जटायुके पाँवोंको ही देखकर वह स्पष्ट था कि वह कितने
 जी-जानसे रावणसे लड़ा था ॥५६॥ केवल इतना ही कह कर जटायु बेचारा चल बसा । उसके
 मरनेसे राम-लक्ष्मणकी उटना ही लोक हुआ जिसना उन्हें अपने पिताके मरनेपर हुआ था । उसका
 विधिबद्ध दाह-संस्कार करके उन्होंने उनका श्राद्ध आदि किया ॥५६॥ यहाँसे वे आगे बढ़े तो उन्हें
 बबन्ध मिला जो किसी ऋषिके शापसे राक्षस हो गया था । रामने उसकी माहे बाट डाली जिससे
 उसका शाप छूट गया और वह फिर देवता हो गया । उसने प्रसन्न होकर सुग्रीवका ठिकाना बताया ।
 इस सुग्रीवके राजम और उसकी स्त्रीको उसना बड़ा भाई भाति धीन ले गया था,
 इसलिये उसने स्वयंसे जिधुरे हुए रामसे सीध ही मित्रता कर ली ॥५७॥ पराक्रमी
 रामने बातोंको मारकर उसके सिंहासनपर सुग्रीवकी बेंसे ही बैठ दिया जैसे कोई बैठाकरण, निट्ट-
 पुट्ट आदि नगरोंमें भव् पातुके खदने भू पातुकी बैठ देता है ॥५८॥ सुग्रीवने जानकारोंको
 माना दो कि जानो और जानर सीताजीकी खोज लगाओ । जैसे बिरही रामका मन सीताजीकी
 खोजमें हृष्ट-उपर भटवता था वैसे ही जानर भी हृष्ट-उपर भूमपर सीताजीकी खोज करने लगे
 ॥५९॥ मार्गमें जटायुके भाई मय्यादीसे उनकी भेंट हुई । उनमें बातलाया कि समुद्र पार मरूटोपका
 राजा रावण सीताजीकी हर ले गया है । यह सुनकर हनुमानजी उसी प्रकार समुद्रको लाम गए जैसे

दृष्ट्वा विचिन्वता तेन लङ्कायां राक्षसीवृत्ता ;
 जानकी विषवल्लीभिः परीतेव महौषधिः ॥६१॥
 तस्यै भर्तुरभिज्ञानमद्भुतीयं ददौ कपिः ।
 प्रत्युद्गतमिवानुष्णैस्तदानन्दाश्रुविन्दुभिः ॥६२॥
 निर्वाप्य प्रियसंदेशैः सीतामचवधोद्धतः ।
 स ददाह पुरीं सङ्कां क्षणसोढारिनिग्रहः ॥६३॥
 प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायादर्शयत्कृती ।
 हृदयं स्वयमायात वैदेहा इव मूर्तिमत् ॥६४॥
 स प्राप हृदयन्यस्तमणिस्पर्शनिमीलितः ।
 अपयोधरसंसर्गा प्रियालिङ्गननिर्वसिम् ॥६५॥
 श्रुत्वा रामः प्रियोदन्तं मेने सत्सङ्गमोत्सुकः ।
 महार्षयपरिच्छेपं लङ्कायाः परिखा लघुम् ॥६६॥
 ॥ प्रतस्येऽरिनाशाय हरिसैन्यैरनुव्रतः ।
 न केवलं भुव पृष्ठे व्योम्नि सबाधवर्त्मभिः ॥६७॥
 निविष्टमुदधेः कृत्वा तं प्रपदे विभीषणः ।
 स्नेहाद्राक्षसलक्ष्म्येव बुद्धिमादिश्य चोदितः ॥६८॥

निर्गोही पुरुष सप्तार-सागरको गार गर जाता है ॥६०॥ सङ्कामे पहुँचकर हुँकते बाधते उन्होने एक स्थानपर सीताजीको देखा । चारों ओर राक्षसियोंसे घिरी हुई वे ऐसी लग रही थीं जैसे विषकी सताओके बीचमें सजीवनी बूटी हो ॥६१॥ उनके पास जानकर हनुमावजीने रामकी धौंठो उन्हु दी, जिसका स्वागत सीताजीने आनन्दसे ठण्डे हाँसुओसे किया ॥६२॥ पहले तो उन्होने राम-चन्द्रजीका प्यार-भरा सन्देश सुनाकर सीताजीको बहुत बँधास फिर रामजीके पुत्र मलयको सरा जाता और बोधी देर तक शत्रुओंके हाथ बन्दी रहकर उन्होने सङ्काम प्राप लगायी ॥६३॥ फिर सीताजीसे मिलनेकी पहचानके बिन्दे उनसे बूझासणि लेकर वे रामकी पास लौट आए, वह मणि पाकर रामजी बँसा ही आनन्द हुआ मानो साक्षात् सीताजीका हृदय ही स्वयं चला आया हो ॥६४॥ उस मणिकी हृदयसे लगावत वे सुख-सुख भुलकर मग्न हो गए । उन्हे उस समय बँसी ही प्रसन्नता हो रही थी मानो स्तनसे स्पर्शकी छोटकर सीताजी ही हृदयसे आ सयी हो ॥६५॥ प्रियाका सन्देश सुनकर राम उनसे मिलनेके लिये उतावले हो गए । इस उतावले उन्हे सङ्कामे चारों ओर का चौंटा ओर गहरा समुद्र फाड़ते भी कम चींझ जान पड़ने लगा ॥६६॥ वे जानरोकी अपार सेना लेकर धनुका सहार करने लगे । वह सेना इतनी अधिक थी कि पृथ्वीको कौन कहे, आकाशमें भी बड़ी कठिनाईसे चल पाती थी ॥६७॥ जब राम समुद्रसे उठपर पहुँचे तो रावणका भाई विभीषण उनसे मिलने आया मानो राक्षसोंकी राजसङ्गमीने उसकी बुद्धिमें पैठवर यह समझा

तस्मै निशाचरैश्वर्यं प्रतिशुश्राव राघवः ।
 काले खलु समारब्धाः फलं वध्नन्ति नीतयः ॥६६॥
 स सेतुं बन्धयामास प्लवगैर्लवणाम्मसि ।
 रसातलादियोन्मग्नं शेषं स्वप्नाय शार्ङ्गिण्यः ॥७०॥
 तेनोत्तीर्य पथा लङ्कां रोधयामास पिङ्गलैः ।
 द्वितीयं हेम प्राकारं कुर्वद्भिरिव वानरैः ॥७१॥
 रणः प्रचवृत्ते तत्र भीमः प्लवगरक्षसाम् ।
 दिग्विजम्भितकाकुत्स्थपौलस्त्यजयघोषणः ॥७२॥
 पादपाविद्वपरिचः शिलानिष्पिष्टमुद्गरः ।
 अतिशस्त्रनसन्न्यासः शैलरुण्यमर्तंगजः ॥७३॥
 अथ रामशिरश्छेददर्शनोद्भ्रान्तचेतनाम् ।
 सीतां मापेति शसन्ती विजटा समजीवयत् ॥७४॥
 कामं जीवति मे नाथ ऽति सा विजहौ शुचम् ।
 प्राह्मत्वा सत्यमस्यान्तं जीवितास्मीति लज्जिता ॥७५॥

दिया हो कि अब रामकी धरलमे जाने पर ही तुम्हारा बन्ध्याण होगा ॥६६॥ रामने भी
 उससे यह प्रतिज्ञा करली कि हम तुम्हे राक्षसीका राजा बना देंगे । ठीक भी है ।
 समयपर नाममे लाई हुई छूट नीति धागे बनकर प्रचल्य हो फल देती है ॥६६॥ रामने
 वानरो को लगाकर समुद्रपर जो पत्थरीक। पुस बैसवाया वह ऐसा जान पड़ता था भागो विष्णुको
 प्रपने ऊपर तुलानेके लिए स्वयं खेपताग ही उठर आए हो ॥७०॥ उस पुससे समुद्र पार
 परसे पीले-पीले वानरोंने लङ्काकी चारो ओरसे घेर लिया । उनसे चिरी हुई लङ्का ऐसी जान
 पड़ती थी भागो लङ्काने चारो ओर सोनेका एन दूसरा परसोटा बन गया हो ॥७१॥ वहाँ वानरो
 और राक्षसीका ऐसा भयङ्कर युद्ध होने लगा कि राम और राक्षसीकी जय-जयकारोसे दिसाए पड़ी
 पड़ रही थी ॥७२॥ उत युद्धमे वानर पड़ोसे भार-भारवर राक्षसीकी लोहेकी गदाएँ तोड़े
 डाल रहे थे, पत्थर बरसानर उनके मुँदर पीछे डाल रहे थे, प्रपने नलोसे ऐसे
 भयङ्कर पाव कर रहे थे कि राक्षसी भी बैठे पाव नहीं हो खने थे और लडाकू
 हाथियोके सिरोंपर बड़ी चट्टानें पटक-पटककर उनका मज्जुपर टिकात देते थे ॥७३॥
 उनी समय एन राक्षसे भागोसे रागका सिर बनानर सीताजीने भागे ला पड़ना । उसे देखते
 हो सीताजी मूर्छित होकर गिर पड़ी । पर जब विजटाने उन्हें समझाया कि यह सब राक्षसी भागा
 है तब सीताजीकी जानमे जान पाई ॥७४॥ यह जानवर उनका जोर तो छूट गया कि मेरे
 पतिरप जीवित हैं पर उन्हें हम वातनी नदी सन्ना हुई कि पानिमे मारे जानेका घयापार मुनवर भी

गस्डापातविश्लिष्टमेघनादास्त्रबन्धनः ।
 दाशरथ्योः क्षणक्लेशः स्वमवृत्तः ३वामवत् ॥७६॥
 ततो विभेदपौलस्त्यः शक्त्या वचसि लक्ष्मणम् ।
 रामस्त्वनाहतोऽप्यासीद्विदीर्णहृदयः शुचा ॥७७॥
 स मारुतिसमानोत्तमहौषधिहृतव्यथः ।
 लङ्कास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यकं शरैः ॥७८॥
 स नातं मेघनादस्य धनुश्चेन्द्रायुधप्रभम् ।
 मेघस्येव शरत्कालो न किञ्चित्पर्यशेषयत् ॥७९॥
 कुम्भकर्षः कपीन्द्रेण तुल्यावस्थः स्वसुः कृतः ।
 क्रोधं रामं शृङ्गीव दृक्छिन्नमनःशिलः ॥८०॥
 अकाले बोधितो भ्रात्रा प्रियस्वमो वृथा भवान् ।
 रामे पुभिरितीयासौ दीर्घनिद्रां प्रवेशितः ॥८१॥
 इतराण्यपि रचांसि पेतुर्वानरकोटिषु ।
 रजांसि समरोत्थानि तच्छोषितनदीष्विव ॥८२॥
 निर्ययावथ पौलस्त्यः पुनर्युद्धाय मन्दिरात् ।
 अराधयामरामं वा जगदघोति निश्चितः ॥८३॥

मैं जीवित रह गई, मरौ नहीं ॥७५॥ उसी समय मेघनादने राम और लक्ष्मणको मागपासने बांध लिया पर तभी मरने का वरक वहा कदा तुरत काट दिया, वास्तव में धनेवा वह क्षण भरका क्लेश भी उन दोनों भाइयोंको ऐसा जान पडा मानो स्वप्नमे हुआ हो ॥७६॥ तब मेघनादने क्षीयकार लक्ष्मणको छातीमे धक्ति-बाण मारा । लक्ष्मण गिर गए और उन्हें देखकर रामका हृदय झोकसे फटने लगा ॥७७॥ हनुमानजी तत्काल हिमालयसे जानकर सबीघनी घुटी ले आए, जिसके पिलाते ही लक्ष्मणकी सारी पीडा जाती रही और फिर उठकर उन्होंने अपने बाणोंसे अनगिनत राक्षसोंको मारकर लङ्कामे कुहराम मचा दिया ॥७८॥ जैसे शरद ऋतुने आनेपर न तो बादलका गर्जन रह पाता है न इन्द्रधनुष ही दिखाई देता है वैसे ही लक्ष्मण भी मेघनादके गर्जनको और इन्द्रधनुषके समान धनुषको क्षणभरमे ले बीते ॥७९॥ उधर सुग्रीवने कुम्भकर्णकी नाभ-काटकर उसे धूर्णकुलाके समान बना दिया था और वह रामका मार्ग रोककर उधरी प्रकार सदा हो गया जैसे टाँबीसे बटो हुई कोई मँवसिलकी चट्टान या गिरी हो ॥८०॥ रामने वाणोंसे घायल होकर वह गिरकर मर गया, मानो रामके वाणोने उसे यह बह-कर गहरी नींदमे घुसा दिया हो कि सुषको नींद बढी प्यारी है, तुम्हारे नाईने धर्म ही तुम्हे प्रसम-मे जगा दिया ॥८१॥ और भी बहुतसे राक्षस बरीबो बानरोंकी सेनाके बीचमे इस प्रकार गिर रहे थे मानो राक्षसोंके रक्षत्री गदीमे रखलेत्रसे उठी हुई पुल पड रही हो ॥८२॥ जब राजगने सब काण्ड गुना तब वह अपने राजभवनसे निकलकर रण-भूमिमे जाता आया । उसने मनमे ठान लिया था कि आज

तेन मन्त्रप्रयुक्तेन निमेषार्धादिपातयत् ।
 स रावणशिरः पङ्क्तिमज्ञातव्रणवेदनाम् ॥६६॥
 बालार्कप्रतिमेवाप्सु वीचिभिन्ना पतिप्यतः ।
 रराज रचःकायस्य कण्ठच्छेदपरम्परा ॥१००॥
 मरुतां पश्यतां तस्य शिरांसि पतितान्यपि ।

मनो नातिविश्रधास पुनः संधानशङ्किनाम् ॥१०१॥

अथ मदगुरुपदैर्लोकपालहिपानामनुगतमलिद्वन्दैर्गण्डभिर्चीर्षिहाय ।
 उपनतमण्डिबन्धे मूर्ध्नि पौलस्त्यशश्रोः सुरभि सुरविमुक्तं पुष्पवर्पं पपात ॥१०२॥
 यन्ता हरेः सपदि संहतकार्मुकज्यमापृच्छथ राघवमनुष्ठितदेवकार्यम् ।
 नामाङ्गरावणशराङ्कितकेतुयष्टिर्मूर्ध्वं रथं हरिसहस्रपुञ्जं निनाय ॥१०३॥

रघुपतिरपि जातवेदोविशुद्धां प्रगृह्य प्रियां
 प्रियसुहृदि विभीषणे संगमय्य श्रियवैरिणः ।

रघिसुतसहितेन तेनानुयातः ससौमित्रिणा

भुजविजितविमानरत्नाधिरुढःप्रनस्ये पुरीम् ॥१०४॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृता रघुवंशे महाकाव्ये

रावणवधो नाम द्वादशः सर्गः ॥

धमनीला गण्डत सिद्ध हुए दीपनाग ही उठर आए हो ॥६५॥ मन्त्रसे चलाए हुए उस ब्रह्माज्ञिते रामने रावणके दसो शिरोंको धामे पसने काटकर धृष्णीवर गिरा दिया जिससे रावणको तनिक भी बचन हुआ ॥६६॥ रावणके शिर गटगर गिरते हुए ऐसे मन्त्रसे लगते थे जैसे बधल सहरोमे प्रातःनालके सूर्यका प्रतिबिम्ब घोभा देता है ॥१००॥ रावणके कटे हुए शिरोंको देखकर भी देवताओंको विश्वास नहीं हुआ क्योंकि उन्हें यह डर था कि कहीं वे फिर न जुड़ जायें ॥१०१॥ जिस रामपर रावणोंकी विषेव का जल छिड़ना जालेबाधा था उन्हींके निरपरा देवताओंने वे कुछ बरसाए जिनकी मुगध पाकर मदसे भोगी हुई पाँलोंवाले भीरे दिनाघोंके हाथियोंके मद बहानेवाले कपोलोंको छोड़कर रत लेने उनसे पीछे पीछे पीठ पडे ॥१०२॥ रामने अनुपवी डोरी उतार दी क्योंकि उन्हीं देवताओंका नाम पूरा कर दिया था । इन्हीं सारथी मातसि उनसे आज्ञा लेकर अपना सहस्रों घोड़ोंवाला रथ लेकर स्वर्गमें चला गया । उस रथकी ध्वजापर धमनीतक रावणने नाम खुदे हुए बालोंने चिह्न पडे हुए थे ॥१०३॥ रामने रावणकी राज्यधी विभीषणको सौंप दी घोर फिर खोताबीबी पणिमें गुड़ करने मुषीय, विभीषण घोर लक्ष्मणके साथ अपने बाहुवत्तसे जीते हुए पुष्पव विमानपर चढ़कर अपोध्याकी घोर लोट पते ॥१०४॥

महाकवि श्रीकालिदासने रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें रावण-वध नामका

बारहवां सर्ग समाप्त हुआ ॥

॥ त्रयोदशः सर्गः ॥

प्रथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः ।
 रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः ॥ जायां रामाभिधानो हरिस्तिषुवाच ॥१॥
 वैदेहि पश्यामलयादिभक्त मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।
 छायापथेनेन शस्त्रप्रसन्नमाकाशमाधिष्कृतचारुतारम् ॥२॥
 गुरोरप्यक्षोः कपिलेन मेघ्ये रसातलं संक्रमिते तुरंगे ।
 सदर्थमुर्वीमयदारयङ्गिः पूर्वं किलायं परिवर्धितो नः ॥३॥
 गर्भं दधत्यर्कमरीचपोऽस्माद्विष्टुद्विमश्रास्नुवते वसन्ति ।
 अविन्धनं वह्निमसौ विभर्ति प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन ॥४॥
 तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थितं दश व्याप्य दिशो महिम्ना ।
 विष्णोर्विवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा ॥५॥
 नाभिप्ररुद्धाम्बुरुहाम्बनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।
 अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽभिषेते ॥६॥

तेरहवीं सर्ग

जिसका गुण शब्द है उस भावाशमे विमानपर चढ़े जाते हुए गुणी तथा राम कह-
 लानेवाले विष्णु भगवान्, समुद्रको देखकर सोताजीसे एकात्म्य बोले ॥१॥ हे सीते । इस फेनसे घरे
 हुए समुद्रको सी देखो जिते मेरे बनाए हुए पुलने समय पर्वततन दो भागोमें बँटे ही बाँट दिया
 है जैसे सुन्दर सारोसे भरे हुए खरद फलुके खुले आकाशको आकाशपङ्खा दो भागोमें बाँट देती
 है ॥२॥ [जागती हो समुद्र कैसे बना है ।] जब हमारे पुरसे भूराजका सगर अश्वमेध यज्ञ
 कर रहे थे तब कपिलजी उनका धोखा पाताल लोकमें घुरा ले गए । उस समय सगरजीके
 पुत्रोंने घोड़ेकी खीज करनेके लिये जो सारी पृथ्वी खोद डाली थी उसीसे यह इतना लम्बा-चौड़ा
 समुद्र बन गया है ॥३॥ [यह समुद्र है बड़े कामका ।] देखो इसीमेसे सूर्यको निरर्थक जल खींचती
 है और [पृथ्वीपर बरसाती है ।] इसीमे रत्न बढ़ते हैं, अपने धनु बरवानलको भी यह
 अपनी गोदमें पासता है और सुलकारी प्रकाशवाला चन्द्रमा भी इसीमेसे उत्पन्न हुआ है ॥४॥
 यह अपना रूप भी सदा बदलता रहता है और यह इतना बड़ा है कि सभी दिशाओंमें दूरतक
 फैला हुआ है । इसलिये जैसे विष्णु भगवान्को विषयमें नहीं बहल जा सकता कि वे ऐसे और
 इतने बड़े हैं जैसे ही इसके विषयमें भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह ऐसा है या इतना बड़ा
 है ॥५॥ जब प्रादियुरार विष्णु भगवान् तीनों लोकोंका सहार कर घुबते हैं तब यही पट्टेबकर
 योगनिद्रामें सोते हैं और इनकी नाभिसे निकले हुए वमलसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्माजी सदा

पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः शरण्यमेनं शतशो महीत्राः ।
 नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते ॥७॥
 रसातलादादिभवेन पुंसां भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः ।
 अस्याच्छमम्भः प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्तवक्त्राभरणं वभूव ॥८॥
 मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रमत्ताः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः ।
 अन्नन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धुः ॥९॥
 सप्तचमादाय नदीमुखाम्भः संमीलयन्तो विद्वताननत्वात् ।
 अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं विसृजन्ति जलप्रवाहान् ॥१०॥
 मातङ्गनक्रैः सहस्रोत्पतद्भिर्भिन्नान्द्रिवा पश्य समुद्रफेनान् ।
 कपोलसंसर्पितया य एषां व्रजन्ति कर्णचक्षुचामरत्वम् ॥११॥
 वेलानिलाय प्रसृता भुजङ्गा महोर्मिविस्फूर्जधुनिर्विशेषाः ।
 सूर्याशुसंपर्कसमृद्धरागैर्व्यज्यन्त एते मणिभिः कणस्थैः ॥१२॥
 तथाधरस्पधिषु बिद्रुमेषु पर्यस्तमेतत्सहस्रोर्मिवेगात् ।
 ऊर्ध्वाङ्गुरप्रोतमुखं कथंचित्क्लेशादपक्वमति शङ्खयूथम् ॥१३॥
 प्रवृत्तमात्रेण पयांसि पातुमावर्चवेगाद्भ्रमता घनेन ।
 आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः प्रमथ्यमानो गिरिणैव भूयः ॥१४॥

इनके गुण गाया करते हैं ॥६॥ जो अनुषोके उरसे राजा लोग किसी धर्मात्मा और तटस्थ
 राजाजी शरण लेते हैं वैसे ही उन सैकड़ों पहाड़ों के भी इसकी शरण ली थी जिनके पक्ष इन्द्रजि काट
 दिए थे और जिनका अभिमान इन्द्रने चूर कर दिया था ॥७॥ गृष्टिने प्रारम्भमें जब बराह भगवान्
 पृथ्वीको पातालसे ले जा रहे थे उस समय प्रलयसे बड़ा हुमा इसका स्वच्छ जल क्षण भरने लिये उनका
 पूँछ बल गया था ॥८॥ देखो ! दूसरे लोग केवल झिम्मे का प्रघरपान करते हैं, अपना अपर उन्हें
 नहीं पिलाते । पर समुद्र इस बातमें भी धोखेसे बचकर है क्योंकि जब गदियाँ बीठ होकर चुम्बनके
 लिये अपना मुख इसके सामने बढ़ाती हैं तब यह बड़ी चतुराईसे अपना तरङ्ग-रूपी अपर उन्हें पिलाता
 और उनका अपर स्वयं पीता है ॥९॥ यह देखो ये बड़े-बड़े मगरमच्छ अपना मुँह खोलकर मछलियों
 को लिए-दिए समुद्रका जल पी जाते हैं और फिर मुँह बन्द करते अपने सिरके छेदोंसे पानीकी जल-
 धाराएँ छोड़ने लगते हैं ॥१०॥ इन मगरमच्छों ने अचानक उठतेसे समुद्रकी फटी हुई फेनको तो
 देखी । इनका गलोपर क्षण भरके लिए सभी हुई यह फेन ऐसी दिसाई देती है मानो इनके कानोपर
 खँवर टंगे हुए हो ॥११॥ तटपर बड़ी बड़ी सहरोके जैसे दिसाई देने वाले ये सौँप हैं जो तटका
 चापु पीनेके लिए बाहर निकल आए हैं । पर जब सूर्यकी किरणोंसे इनके मणि चमक जाते हैं
 तब ये पहचानमें आ जाते हैं ॥१२॥ दसों, सहरोकी भौममें तुम्हारे श्वरोंसे समान लाल-लाल
 मृगेका चटानो टकल जानेसे इन जीवित दसों ने मुँह खिद गए हैं और उस पीडासे ये देवारे
 बड़ी बलियाँसे दूर-उपर चले पा रहे हैं ॥१३॥ गद देना ! बाले माने बाबल समुद्रका पानी

दूरादयश्चक्रनिमस्य तन्वी तमालतालीधनराजिनीला ।
 आभाति चेत्ता लवशाम्बुराशेर्घारानिवद्धेव फलद्वरेखा ॥१५॥
 वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते संभावयत्याननमायताक्षि ।
 मामक्षमं मण्डनकालहानेर्वेचीव बिम्बाधरबद्धतृष्णम् ॥१६॥
 एते ययं सैकतभिदाशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः ।
 प्राप्ता मुहूर्त्तेन विमानवेगात्कूलं फलाचलितपूगमालम् ॥१७॥
 कुरुष्व तावत्करभोरु पथान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि दृष्टिपातम् ।
 एषा विदूरीभवतः समुद्रात्सकानना निष्पततीव भूमिः ॥१८॥
 क्वचित्पथा संचरते सुराणां क्वचिद्धनानां पततां क्वचिच्च ।
 यथाविधो मे मनसोऽभिलापः प्रवर्तते पश्य तथा विमानम् ॥१९॥
 असौ महेन्द्रद्विपदानगन्धिस्त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः ।
 आकाशयापुर्दिनयौवनोत्थानाचामति स्वेदलवान्मुखे ते ॥२०॥
 करेण वातायनलम्बिते नस्पृष्टस्त्वया चरिष्ठ कुतूहलिन्या ।
 आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्रिन्नविद्युत्तपो घनस्ते ॥२१॥

लेने प्राप् है और समुद्रकी भँवरके साथ साथ बड़ी तीव्र गतिसे चक्कर काट रहे हैं । इस समय यह समुद्र ऐसा जाग पड़ रहा है मानो मन्दराचल फिर इसे मथे डाल रहा हो ॥१५॥ देखो ! दूर होनेसे पहिएकी हालतके समान बहुत पटला और ताड़ तथा तमाल आदि वृक्षोंके कारण नीला दिनाई देनेवाला समुद्र छट ऐसा जाग पड़ रहा है जैसे बलकी धारपर मुर्चा जग गया हो ॥१६॥ हे मुनीवर ! समुद्रतटवा वायु तुम्हारे मुसपर केतकीषा पराग छिड़क रहा है मानो यह वह जान गया है कि मैं तुम्हारे मधरोकी पूगने ही जाता हूँ और अब अधिक शृङ्गारकी बात नहीं देखूँगा ॥१७॥ यह देखो हन लोग विमानके तीव्र चलनेके कारण धूल भरने ही समुद्रके उस तटपर पहुँच गए जहाँ बादलपर सीढ़ीने फैल जानेसे गोती बिखरे पड़े हैं और फलोंके भारसे सुपारीके पड़ मुके लड़े हैं ॥१८॥ हे कबलीके समान बांधोबासी मृगनमनी ! पीछेकी ओर तो देखो ! दूर निकल मानेसे यह जंगलोंसे भरी हुई भूमि ऐसी दिनाई पड़ रही है मानो समुद्रमेसे अभी अचानक निकल पड़ी हो ॥१९॥ देखो ! मैं ज़िपर चाहता हूँ ऊपर हो यह विमान घूम जाता है । यह कभी तो देवताओंके मार्गमे उड़ता चलता है, कभी बादलोंके मार्गमे पहुँच जाता है और कभी पक्षियोंके मार्गमे उड़ने लगता है ॥२०॥ ऐरावतके मदकी गन्धमे बस हुआ और आकाशमङ्गलाकी लहरोसे ठण्डाया हुआ आकाशका वायु तुम्हारे मुसपर दोपहरकी गर्मिसे छाई हुई पसीनेकी बुँदोंको पीता चढ़ रहा है ॥२१॥ हे चण्डी ! जब तुम शैल खेलमे अपना हाथ विमायके बाहर निवालकर बादलको छू लेती हो तब तुम्हारे मणिवन्धने चारों ओर बिजली चौप खाती है । उस समय ऐसा जाग पड़ता है मानो बादल तुम्हारे हाथमे दूसरा कगन पटना रहे हो ॥२२॥ नीचे देखो ! रात्रि आदि गलतीने मारे जानेकी बात

पतच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः शरण्यमेनं शतसौ महीत्राः ।
 नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो धर्मोचरं मध्यममाश्रयन्ते ॥७॥
 रसातलादादिभवेन पुंसां भुवः प्रयुक्तोद्बहनक्रियायाः ।
 अस्याच्छ्रमम्भः प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्तवक्त्राभरणं वभूव ॥८॥
 मुरार्यशेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदत्तः ।
 अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिवत्यसौ पाययते च मिन्धुः ॥९॥
 सप्तश्वमादाय नदीमुखाम्भः संमीलयन्तो विष्टताननत्वात् ।
 अमी शिरोभित्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान् ॥१०॥
 मातङ्गनक्रैः सहस्रोत्पतद्भिर्भिन्नान्दिघा परथ समुद्रफेनान् ।
 कपोलसंसर्पितया य एषां व्रजन्ति कर्षक्षयचामरत्वम् ॥११॥
 वेलानिलाय प्रसृता भुजङ्गा महोर्मिस्फूर्जधुनिर्विशेषाः ।
 सूर्याशुसंपर्कसमृद्धरागैर्ध्वज्यन्त एते मणिभिः फणस्थैः ॥१२॥
 तवाधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत्सहस्रोर्मिवेगात् ।
 ऊर्ध्वाङ्गुरप्रोतमुखं कथंचित्क्लेशादपक्रामति शङ्खपूथम् ॥१३॥
 प्रवृत्तमात्रेण पयोसि पातुमावर्चवेगाद्भ्रमता घनेन ।
 आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः प्रमथ्यमानो गिरिखेव भूयः ॥१४॥

इनके गुण गाया करते हैं ॥६॥ जैसे समुद्रोके दरसे राजा लोग किसी धर्मात्मा और तदस्य राजाजी धारण लेते हैं वैसे ही उन सैन्धी पहाडोने भी इसकी सरण ली थी जिनमे पल इन्द्रने वाट दिए थे और जिनका अभिमान इन्द्रने बुरा कर दिया था ॥७॥ सृष्टिने धारम्भमे जब बराह भगवान् पृथ्वीको पातालसे ले जा रहा थे उस समय प्रलयसे बड़ा हुवा इसका स्वच्छ जल क्षण भरमे विये उनका घुंघट बन गया था ॥८॥ देखो ! कुसरे लोग केवल स्त्रियों का अपहरण करते हैं, अपना अपहर उर्ह नहीं पिलाते । पर समुद्र इस बातमे भी ओरोसे बढकर है क्योंकि जब मदिमी दीठ होकर पुम्बनक लिये अपना मुख इसके सामने बढाती हैं तब यह बड़ी बतुराईसे अपना तरङ्ग-रूपी अपहर उर्ह पिलाता और उनका अपहर स्वय पीता है ॥९॥ यह देखो ये बटे-बटे मगरमच्छ अपना मुंह खोलकर मछलियों को लिए-लिए समुद्रका जल पी जाते हैं और फिर मुंह बन्द करने अपने बिरके छेदोसे पानीकी जल-माराई छोडने लगते हैं ॥१०॥ इन मगरमच्छो के अचानक उठनेसे समुद्रकी फटी हुई केनको छी देखो । इनका मनोपर दाग भरन लिए सभी हुई यह केन ऐसी दिखाई देती है मानो इनके पानोपर चैवर टंगे हुए हों ॥११॥ तटपर बडी-बडी लहरोके जैसे दिखाई देने वाले ये साँव हैं जो तटका सागु पीनेके लिए बाहर निकल आए हैं । पर जब सूर्यकी किरणोसे इनके मणि चमक जाते हैं तब ये पहचानमे आ जाते हैं ॥१२॥ दक्षा, लहरोकी ओरमे तुम्हारे अपरोंके समान सात-सात मूँगेकी पट्टानले टकरा जानेसे इन जीवित दाखो ने मुंह खिद गए हैं और उस पीडासे ये बेचारे बडी बटिनाईम इसर-उपस चल पा रहे हैं ॥१३॥ बट देखो ! बाले बाले दादल समुद्रका पानी

दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला ।
 आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्वारानिवद्धेव कलङ्करेसा ॥१५॥
 वेलानिलः केतकरेणुमिस्ते संभावयत्याननमायताचि ।
 मामचमं मण्डनकालहानेर्वेचीव विम्बाधरबद्धतुण्डम् ॥१६॥
 एते वयं सैकतमिन्त्रशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः ।
 प्राप्ता मुहूर्त्तेन विमानवेगात्कूलं फलावर्जितपूगमालम् ॥१७॥
 कुरुष्व तावत्करभोरु पथान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि दृष्टिपातम् ।
 एषा विदूरीभवत्तः समुद्रात्सकानना निष्पततीव भूमिः ॥१८॥
 पञ्चचित्पथा संचरते सुराणां कचिद्धनानां पततां कचिच्च ।
 यथाविधो मे मनसोऽभिलाषः प्रवर्तते पश्य तथा विमानम् ॥१९॥
 असी महेन्द्रद्विपदानगन्धिस्त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः ।
 आकाशवायुर्दिनयौवनोत्थानाचामति स्वेदलयान्मुखे ते ॥२०॥
 करेण वातायनलम्बिते नस्पृष्टस्त्वया चरिषि कुतूहलिन्या ।
 आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो धनस्ते ॥२१॥

तेने भाए है और समुद्रकी भँवरके साथ साथ वही तीव्र गतिसे चक्कर बाट रहे हैं । इस समय यह समुद्र ऐसा जान पड़ रहा है मानो मन्दराचल फिर दूधे मधे डाल रहा हो ॥१५॥ देखो ! दूर होनेसे पहिलेही हालमें समान बहुत गतला और ताड़ तथा तमाल आदि वृक्षोंके कारण नीला दिखलाई देनेवाला समुद्र तब ऐसा जान पड़ रहा है जैसे पत्रकी भारपर मुर्चा जम गया हो ॥१६॥ हे गुलोजने ! समुद्रनटका बाबु तुम्हारे मुखपर केतकीरु । पराग छिन्नक रहा है मानो वह यह जान गया है कि मैं तुम्हारे अधरोक्तो घूमने ही वाला हूँ और प्रब्र शक्ति शृङ्गारकी बाट नहीं देखूँगा ॥१६॥ यह देखो हम लोग विमानसे तीव्र चलनेसे कारण क्षण भरमें ही समुद्रके उस तटपर पहुँच गए जहाँ बाबूपर सौवीरके फँस जानेसे मोती बिकरे पड़े हैं और चन्द्रोके भारसे सुपायीके पड़ चुके खड़े हैं ॥१७॥ हे कदलीके समान आँखोंवाली मृगनयनी ! पीछेकी ओर तो देखो ! दूर बिकल भातेसे यह जगलोत्ति भरी हुई भूमि ऐसी दिखाई पड़ रही है मानो समुद्रसेसे अभी शपानक निकल पड़ी हो ॥१८॥ देखो ! मैं जिधर चाहता हूँ उधर ही यह विमान घूम जाता है । यह कभी तो देवताओंके मार्गमें उड़ता चलता है, कभी बादलोंके मार्गमें पहुँच जाता है और कभी पक्षियोंके मार्गमें उड़ने लगता है ॥१९॥ ऐरावतके मदकी गन्धमें बरा हुआ और आनामनाका लहरोसे ठण्डाया हुआ आकाशका बाबु तुम्हारे मुखपर दोपहरकी गर्मीसे छाई हुई पत्तीनेकी बूंदोंकी पीता चल रहा है ॥२०॥ हे चण्डी ! जब तुम खेल-खेलमें अपना हाथ विमानसे बाहर निवालकर बादलोंको छू लेती हो तब तुम्हारे मणिकण्ठके चारों ओर बिजली गँध जाती है । उस समय ऐसा जान पड़ता है मानो बादल तुम्हारे हाथमें दूसरा कमल पहना रहे हो ॥२१॥ नीचे देखो ! राखण आदि गलसोके गारे जानेकी धात

अमी जनस्थानमपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि ।
 अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्जिम्रतान्याश्रममण्डलानि ॥२२॥
 सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां अष्टं मया नूपुरमेकमुप्यमि ।
 यद्वरपत त्वचरखारविन्दगिरिलेपदु स्तादिव बद्धमौनम् ॥२३॥
 त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता त मार्गमेताः कृपया लता मे ।
 अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शारखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥२४॥
 मृगयश्च दर्माङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तयागतिज्ञं समबोधयन्माम् ।
 व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पत्तमराजीनि विलोचनानि ॥२५॥
 एतद्गिरेर्महोदधवत्तः पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम् ।
 नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम् ॥२६॥
 गन्धश्च धाराहतपत्त्रलानां कादम्बमर्धेद्रितकेसरं च ।
 स्निग्धाश्च कैकाः शिशिनां बभूवुर्यस्मिन्नसखानि विना स्वया मे ॥२७॥
 पूर्वानुभूत स्मरता च यत्र कम्पोत्तरं भीरु तरोपगूढम् ।
 गुहाविसारीख्यतिराहितानि मया कथंचिद्धनगर्जितानि ॥२८॥
 आसारसिक्तचित्तिश्राप्पयोगान्मामन्निशोद्यत्र विभिन्नकोशैः ।
 निडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः ॥२९॥

चुनकर इन चीरपारी लपसिययो न समझ लिया है कि अब कोई खट्वा नहीं रहा और हतलिये वे नहीं कुटिया घना घनाकर, लगीवनमे तुलसे बसने लगे हैं ॥२२॥ देखो ! यह वही स्थान है जहाँ तुम्हें बूँदों हुए मैंने पृथ्वीपर पड़ा हुआ तुम्हारा विजुषा दखा था । चुपचाप पड़ा हुआ वह ऐसा लग रहा था मानो तुम्हारे चरणोंसे प्रलग हो जानेके दुःखसे चुप हो गया हो ॥२३॥ हू भीरु ! रावण तुम्हें जिस मार्गसे ले गया था उस मार्गकी खताईं मुझे बूझा करके तुम्हारे जानेका मार्ग बताया चाहती थी पर दोल न सनन के कारण उन्हीन प्रपत्नी पत्नीवासी आलियां ही उधर भुकाकर मुझे तुम्हारा टिपाना दिया था ॥२४॥ हरिलियोंने भी जब देखा कि मुझे तुम्हारे जानेके पापोंका ज्ञान नहीं है तब वे अपनी उठी हुई पल्लवोवाली आँखें बंदाख दियाकी ओर करने मुझे मार्ग समझाने लगी थी ॥२५॥ देखो ! वह जो प्रागे मात्स्यवाद् पर्वतकी ऊँची चोटी दिखाई देती है, यहाँ जब बादलोने नया जल बरसाना प्रारम्भ किया, उस समय तुम्हारे न रहनेसे मेरी आँखें भी जल बरसाने लगी थी ॥२६॥ उस समय वपवि पायण पोतारोमेख उठी हुई साथी कण, प्रपत्नीकी मर्त्यस्थोवाले नदम्बवे पूल और नीलैके मनीहर स्वर तुम्हारे बिना मुझे बड़े धरारे ॥२७॥ जब बादल बरबदे थे और गुफामोमे उसकी प्रतिध्वनि होने लगती थी तब मुझे वे दिन स्मरण हो आए तब बादलोने गर्जनसे धरर नुम मुझसे लिपट जाती थी । तुम समझ नहीं सगती कि मात्स्यवाद् पर्वतपर वे पादबने दिन मेंने जिनने गच्छे दिया ॥२८॥ अपनी कारण यहाँकी परकीले जो भाप निकली, उससे कदसियोंकी बलियां दित उठी और वही

उयान्तमानीरवनोपगूडान्मालक्ष्यपारिप्लवसारसानि ।
 दूरावतीर्णं पिपतीं खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः ॥३०॥
 श्रवावियुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदचोत्पल्लकेमराणि ।
 द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये तस्पृष्टमीक्षितानि ॥३१॥
 इमां तटाशोकलता च तन्वीं स्तनामिरामस्तनकाभिनवाम् ।
 त्वत्प्राप्तिमुद्रया परिरन्धुकामः सौमिनिष्ठा साश्रुरहं निषिद्धः ॥३२॥
 अमूर्तिमानान्तरलम्बिनीनां श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।
 प्रत्युद्यजन्तीव समुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम् ॥३३॥
 एषा त्वया पेशलमध्ययापि घटाम्युत्तर्धितमालचूता ।
 आनन्दयत्यनुमुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पपञ्चवटी मनो मे ॥३४॥
 श्रवानुगोदं मृगयानिष्टतस्तरंगघातेन विनीतसेदः ।
 रहस्त्वदुत्सङ्गनिपण्यमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुतः ॥३५॥
 भूभेदमात्रेण पदान्मघोनः प्रभ्रंशया यो नक्षुपं चकार ।
 तस्याविलाम्भः परिशुद्धिहेतोर्भासो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम् ॥३६॥

ही जाल जाल ही गई जैसे विवाहवे समय हयनका धुमा जगनेसे तुम्हारी भाँखे जाल ही गई थी । मत
 जगहे देखपर तुम्हारा स्मरणही मानेसे मैं बेचैन होजाता था ॥३०॥ देखो ! बहुत जेधेसे देखनेसे बारण
 घोर बेंतवे जगलोसे बने होनेसे बारण पम्पा शरीरवना जल ठीक ठीक दिखाई नहीं दे रहा है। फिर भी
 जलपर तैरते हुए सारस कुछ-कुछ दिखाई पड़जाते हैं ॥३१॥ हेप्रिये ! यहाँ जगना-जगबोके जोते एम
 दूसरेको प्रेमपूर्वक पगसका गेसर दिया करते थे, तुमसे दूतनी दूर होनेके बारण जगहे देख-देखकरगे यही
 सोचा करता था कि मुझे भी ये दिन कब देखनेकी मिलेंगे ॥३२॥ तुम्हारे विषयमे मैं ऐसा पागल हो
 गया था कि एक दिन स्तनके समान मुच्छोवाली इत पतली बसोके सताने केने यह समझकर गले
 लगाना चाहता था कि तुम ही हो । जैसे ही मैं उसे गले लगाने जाता तो मेरा यह पागलपन देखकर
 रोते हुए लक्ष्मणने मुझे बर्हासे हटा लिया ॥३३॥ यह देखो ! विमानके नीचे लटपती हुई सोनेकी
 किङ्किणीकी शब्द सुनकर गोदावरी नदीने सारसोकी पाँत ऊपर उठी चली आ रही है मानो ये
 तुम्हारी मगलानी करने आ रही हो ॥३४॥ आज बहुत दिनोंपर इस पञ्चवटीको देखकर मेरा जो
 खिल उठा है । यह देखो ! वहाँके मृष ऊपर सिर उठाकर विमानको देख रहे हैं । यहीपर तो तुमने
 अपनी पतली बगलपर धरे से लेकर ग्रामके वृक्षोकी छीनकर पाला-पोसा था ॥३५॥ मुझे ये दिन
 स्मरण हो रहे हैं जब मैं यहाँ एतान्ते- बेंतकी गोपकीमे तुम्हारी नादमे सिर रखकर सोया करता था
 और गोदावरीवा ठण्डा वायु मेरे घालेटकी बकाबट बिटाया करता था ॥३६॥ यह देखो ! आगे ही
 उन तपस्वी अगस्त्य श्रृषिका आश्रय है, जिन्होंने केवल गौहि वागकर ही राजा नहुषको इन्द्रने पदसे
 नीचे ढोल दिया था । ये ही जब उदय होते हैं तब वर्षाका सब भेदना जल स्वच्छ कर देते हैं ॥३६॥

त्रेताग्निधृमाग्रमनिन्द्यकीर्तस्त्वस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम् ।
 घ्रात्वा हविर्गन्धि रज्जोविमुक्तः सशनुमते मे लधिमानमात्मा ॥३७॥
 एतन्मुनेर्मानिनि शाक्तकर्मोः पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि ।
 आभाति पर्यन्तवर्नं विदूरान्मेघान्तरालस्यमिवेन्दुबिम्बम् ॥३८॥
 पुरा स दर्भाद्भुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघोना ।
 समाधिभीतेन किलोपनीतः पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम् ॥३९॥
 तस्यायमन्तर्हितमौधभाजः प्रनक्तसंगीतमृदङ्गघोषः ।
 वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः चणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति ॥४०॥
 हविर्भुजाभेधयतां चतुर्णां मध्ये ललार्तपसप्तसप्तिः ।
 असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्नामुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः ॥४१॥
 अमुं सहासप्रहितेक्ष्यानि व्याजार्धसंदर्शितमेखलानि ।
 नालं विकृतं जनितेन्द्रशङ्खं सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि ॥४२॥
 एषोऽक्षमालावलय मृगाणां कण्डयितारं कुशक्षचिलावम् ।
 सभाजने मे भुजमूर्ध्वाद्बाहुः सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुहते ॥४३॥
 वाचंयमत्वात्प्रणतिं ममैष कम्पेन किञ्चित्प्रतिगृह्य मूर्ध्नः ।
 दृष्टिं विमानव्यवधानमुक्तां पुनः सहस्राभिपि संनिधये ॥४४॥

वसी यरस्वी ऋषिणी, गार्हपत्य घोर आहवनीय अग्नियोगे हवन तपस्यीकी गन्धते मिला हुआ वह
 पुष्पा विमानके पासतक उड़न चला था रहा है जिसे सुंघते ही मेरा प्राप्ता पश्चिम हो गया है ॥३७॥
 हे भागिनी । यह भागे शागवर्णी ऋषिणा पञ्चाप्सर नामका कीटा-सरोवर है जो चारों घोर जाले-जाले
 जङ्गलसे मिरा हुआ दूरसे ऐसा दिखाई पड़ रहा है मानो वादलोंके बीचमें कुछ-कुछ दिखाई देनेवाले
 कण्डका हों ॥३८॥ पहले के महर्षि तपस्या करते समय मुगुंके साथ साथ करा करते थे । इनकी
 ऐसी तपस्या देखकर इन्द्रो यह भय हुआ कि नहीं ये हमारा इन्द्रासन न छीन लें, इसलिये इनका
 तप डिगानेके लिये इन्द्रने, एवं साथ पाँच अप्सराओंका आस इनपर फेंका और ये बेचारे फँस गए
 ॥३९॥ यह जो नाथ-नामा मुनाई वे रहा है यह जसने गीतर बने हुए उन्हीके गानका है । महर्षी
 मृदङ्गकी ध्वनि आवाजसे पुष्प-विमानकी छतरीसे टकराकर बूँब रही है ॥४०॥ यह जो चार
 अग्निपोंके बीचमें घोर ऊपर गुरुकी निरखोसे तपने हुए तपस्वी बैठे हैं इनका नाम तो सुतीक्ष्ण
 [धर्मात् बड़ा तीव्र] है पर ये हैं बड़े सीधे ॥४१॥ इनने तपने करकर इन्द्रने इनके पास भी
 अप्सराओंको भेजा । वे मुखर-मुखरकर इनपर तिरछी चितवन चलाती थीं और किसी न किसी
 बहाने अपनी सगरी भी उधाहर इन्हें दिखा देती थीं पर उनकी यह सब पटन-मटन इन्हें न सुभा
 राती ॥४२॥ देखो ! वे मुझे देगा इन्द्राणी माला बंधो हुई, मृगोंकी गहलानेवाली घोर कुछ
 उगादनेवाली पक्षी दाहिनी भुजा बलवर मेरा रवागत कर रहे हैं ॥४३॥ ये मौन रहते हैं इसलिये

अदः शरस्यं शरभङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः ।
 चिराय संतर्प्य समिद्धरिग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत् ॥४५॥
 छायाविनीताच्चपरिश्रमेण भूयिष्ठसंभाव्यफलेष्वमीषु ।
 तस्यातिथीनामधुना सपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु ॥४६॥
 धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गागलम्नाभ्युदवप्रपङ्कः ।
 वध्नाति मे वन्धुरगात्रि चक्षुर्दृष्टः कुकुब्रानिव चित्रकूटः ॥४७॥
 एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्धिदूरान्तरभावतन्वी ।
 मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावलीकण्ठगतैव भूमेः ॥४८॥
 अयं सुजातोऽनुगिरं तमालः प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य ।
 यवाद्दुरापाण्डुकपोलशोभी भयावतसः परिकल्पितस्ते ॥४९॥
 अग्निग्रहप्रासविनीतसच्यमपुष्पलिङ्गात्फलवन्धिवृक्षम् ।
 वनं तपःसाधनमेतदत्रैराविष्कृतोदग्रतरप्रभावम् ॥५०॥
 अग्राभिपेकाय तपोधनानां सप्तर्षिहस्तोद्धतहेमपद्मम् ।
 प्रवर्तयामास किलानस्रया त्रिस्रोतसं त्र्यम्बकमौलिमालाम् ॥५१॥

केवल चिर हिलाकर ही इन्होंने मेरे प्रणामको स्वीकार किया है । विमानके बीचमे आजायेरो जो इतनी दृष्टि सूर्यसे प्रसंग हो गई थी वह फिर इन्होंने सूर्यमे लगा ली है ॥४५॥ यह भागे शरस्यमातकी रक्षा करनेवाले अग्निहोत्री शरभङ्ग ऋषिका तपोवन है जिन्होंने बहुत दियोतक अग्निको समिधासे तृप्त करके अन्तमे अपना पवित्र शरीरभी उसमे हवन कर दिया था ॥४६॥ जैसे सुपुत्र अपने पिताके धर्मका पालन करते हैं वैसे ही अतिथि-सेवाका काम उनके बदले य आश्रमके वृक्ष करते हैं जिसकी छायासे बैठकर ऋषिक अपनी भकावट दूर करते हैं और विषये बड़े छोटे छोटे फल भी लगते हैं ॥४७॥ हे सुन्दरी । मस्त साँडके समान यह चित्रकूट पर्वत मुझे बड़ा मुहानवा लग रहा है । इसकी गुफा ही इसका मुख है, इससे निकलनेवाली जलकी धाराका शब्द ही साँडकी ठकार है, इसकी पीटी ही उसकी सीमें हैं और उसपर छाए हुए बादल ही मानो सींगेपर लगी हुई बीजट हैं ॥४८॥ यह लो मन्दाकिनी आ गई । इनका जल कैसा स्वच्छ और पीरे पीरे यह रहा है । दूर होनेके कारण मे कितनी परासी दिखाई दे रही हैं । चित्रकूट पर्वतके नीचे बहती हुई ये ऐसी जान पड़ती हैं मानो पृथ्वी-रूप नायिकाके गलेमे शोतियोकी माता पड़ी हुई हो ॥४९॥ पहाड़के ढालपर जो तमालका वृक्ष दिखाई दे रहा है यह वही है जिसकी गोपलका कर्णफूल बनाकर मैंने तुम्हारे कानमे पहनाया था और जो तुम्हारे ओके भकुरके समान पीले फालोपर सटकता हुआ बड़ा सुन्दर लगता था ॥५०॥ यह माने अग्नि मुनिका तपोवन है जहाँके सिंह आदि पशु बिना मारे-पीटे हो ऐसे सोये हो गए हैं कि किसीके गुप्त्र धोखे नहीं । यह तपोवन इतना प्रभावशाली है कि यहाँ बिना फूल आए ही वृक्षोमे फल लग जाते हैं ॥५१॥ अग्नि की पत्नी अनस्रयाजी ऋषिको स्थानके सिधे उन विषयका यज्ञाजीको यह!

वीरासनैर्घ्यानिजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः ।
 निवातनिष्कम्पतया विमान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि ॥५२॥
 त्वया पुरस्तादुपपाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः ।
 राशिर्मखीनामिव भारुहानां सपञ्चरागः फलितो विभाति ॥५३॥
 यवचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा ।
 अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरं ॥५४॥
 यवचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बमंसर्गवतीव पङ्क्तिः ।
 अन्यत्र कालागुरुदचपत्रा मक्तिर्भुवबन्दनरुक्पितेव ॥५५॥
 यवचित्प्रभा चान्द्रमसीतमोभिरज्जायाविलीनैः शबलीकृतेव ।
 अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विनालचपनमः प्रदेशा ॥५६॥
 यवचिच्च कृष्णोरगभूपशेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य ।
 पश्यानवघाङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनावरङ्गः ॥५७॥
 समुद्रत्प्योर्जलसंनिपाते पूतात्मनामत्र किलाभिपेकात् ।
 तत्त्वावयोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः ॥५८॥

ले आई हैं जिसमेसे सर्पपिणग स्वर्ण भगल चुना करते हैं और जो खिबजीके छिरपर मालाके समान
 सुन्दर लगती हैं ॥५२॥ इस आश्रमके वृक्षाके तले वैदियोपर तपस्वी लोग बीरासन लगा-लगाकर
 ध्यान करते हैं और यहकि वृक्ष भी वामुन चतनेके कारण ऐसे स्थिर खड़े हैं मानो वे भी योग साध
 रहे हो ॥५३॥ यह बाला-बाला वही बटका पेड़ है जिसकी तुमने बनोती मानी थी । इसमे जो
 माल-माल धव-वीपनिमां फली है उनसे यह पेड़ ऐसा लग रहा है जैसे नीलमके डेरमे बहुतसे साल
 भरे हो ॥५४॥ हे सुन्दरी ! देखो यमुनाकी साँवसी सहरोसे मिली हुई उज्जली लहरोवाली गङ्गाजी
 कौसी सुन्दर लग रही है । कही सो ये भगवन्नेवाली इन्द्रनील यष्टिधोसे गुंथी हुई माला-जैसी लगती
 है, वही, नीले और श्वेत कमलकी मिली हुई माला-जैसी दिखाई पड़ रही है ॥५५॥ वही साँवले
 रगवे हंसोंने मिले हुए उज्जले रगवे खजहंसोकी पाँके समान शोभा दे रही है, वही श्वेत चन्दनसे
 धोती हुई पृष्ठीपर बीच-बीचमे काले कमरसे धोती हुई-सी लग रही है ॥५६॥ वही वही ये
 वृक्षके नीचेकी उध पाँवनीके समान लगती हैं जिससे बीच-बीचमे पत्तोंकी छाया पड़े हो और वही
 वही पर चरद् ऋतुके उन उज्जले बादलोंके समान जान पड़ती हैं जिनके बीच-बीचमे नीला मानास
 भांक रहा हो ॥५७॥ और वहीपर मम्म पुते हुए निवजीके चरीरके समान दिखाई पड़ रही है जिसपर
 चरते-चले सर्व लिपटे हुए हो ॥५८॥ समुद्री इन दो पत्थियो धर्षात् यद्वा-यमुनावे सद्गममे
 जो स्नान करने पवित्र होते हैं वे तत्त्वज्ञानी न होनेपर भी ससारके बन्धनसे छूट जाते हैं ॥५८॥

पुर निपादाधिपतेरिदं नद्यस्मिन्मया मौलिमणिं विहाय ।
जटासु वद्धास्वस्वदत्सुमन्त्रः कैकेयि कामाः कालेतास्तवेति ॥५६॥
पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः ।
ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाध्यक्तमुदाहरन्ति ॥६०॥
जलानि या तीरनिखातयूषा बहत्ययोध्यामनु राजधानीम् ।
तुरंगमेधावभृथावतीरैरिच्छाकुभिः पुण्यवरीकृतानि ॥६१॥
यां सैकतोत्सङ्गसुरोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम् ।
सामान्यधात्रीमिव मानसं मे संभावयत्पुत्रकोशलानाम् ॥६२॥
सेयं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयुर्वियुक्ता ।
दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्मा तरंगहरस्तरुपगूहसीव ॥६३॥
विरक्तसंध्याकपिशं पुरस्ताद्यतो रजः पाथिंश्चमुज्जिहीते ।
शङ्के हनूमदकथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः सरैन्यः ॥६४॥
अद्वा धियं पालितसंगराय प्रत्यर्पयिष्यत्यनघां स साधुः ।
हत्वा निवृत्ताय मृधे सरादीन्सरचित्तां त्वामिव लक्ष्मणो मे ॥६५॥

यह भागें वही निपादराज गुह्य। नगर है जहाँ मैंने मुकुटमणि उत्तारकर प्रदा दी थी थी और जिसे देखकर सुमन्त्र यह कहकर रोने लगे थे कि हे कैकेयी ! तेरी इच्छा सफल हो गई ॥५६॥ जैसे अदि लोग कहते हैं कि अमृतसे [मर्वा प्रकृतिसे] बुद्धि उत्पन्न हुई जैसे ही यह सरयू नदी भी उस मानसरोवरसे निकली है, जिससे कपलीका पराग भस्मोकी छिर्वा प्रपने स्वर्गमे लगी है ॥६०॥ यह नदी इच्छाकुवशी राजधानी अयोध्यासे लगी बहती है । इतने तटपर जहाँ तहाँ यशोके लक्ष्मे गडे हुए हैं जिनमे बाँधकर पशुधोकी बलि दी जाती थी । अस्वमेव वरनेके अन्तमे सूर्यवशी राजासीने जो इतने रत्न विद्या विद्या है उससे इसना जल पवित्र हो गया है ॥६१॥ मैं इस नदीका घटा भावर करता हूँ योकि यह उत्तरकोलने राजाप्रोभी बाध है । इसीने बालूमे देन-देनपर ये रात्र पलते हैं और इसीका भीटा जल पीवर पुष्ट होते हैं ॥६२॥ माननीय महाराज अधरपरे विपुली हुई मेरी माताके ही समान यह सरयू प्रपने ठडे बाधवाले तरंग रूपी हाथ उठा रही है मानो इतने ऊँचे परसे ही मुझे गले लगाना चाहती हो ॥६३॥ देखो ! सात सन्ध्यावे समान जो धूल पृथ्वीसे उठ रही है उससे जान पड़ता है कि हनुमानजीसे मेरे भानेका समाचार सुनकर भरतजी सेना लेकर मेरा स्वागत करने आ रहे हैं ॥६४॥ सर-द्वय आदि राक्षसोकी मारकर मैं जब लौटा था उस समय जैसे लक्ष्मणने तुम्हे मेरे हाथ सुरक्षा रखे सोच दिया था वैसे ही अब मैं प्रवधि पूरा करने जो लौटा हूँ तो जान पड़ता है कि सन्धन भरत मुझे सुरक्षित राज्यतदमी सोच देगे ॥६५॥ और वहने, वेदक जलते हुए हाथमे पुकारी भाषणी किए मन्त्रियोंके

सौमित्रिणा तदनु संसृजे स चैनमुत्थाप्य नम्रशिरसं भृशमालिलिङ्ग ।
 रुन्देन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन किंस्वन्निवास्य भुजमध्यगुरःस्थलेन ॥७३॥
 रामाज्ञया हरिचमूपतयस्तदानीं कृत्वा मनुष्यवपुरारुहर्गजेन्द्रान् ।
 तेषु चरत्सु बहुधा मदवारिधाराः शैलाधिरोहणमुखान्युपलोभिरे ते ॥७४॥
 सानुस्रवः प्रभुरपि क्षणदाचराणां मेजे रथान्दशरथप्रभवानुशिष्टः ।
 मायाविकल्परचितैरपि ये तदीयैर्न स्पन्दनैस्तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः ॥७५॥
 भूयस्ततो रघुपतिर्विलसत्पताकमध्यास्त कामगति सावरजो विमानम् ।
 दोषातनं बुधवृहस्पतियोगदृश्यस्तारापतिस्तरलविद्युदिवाभट्टन्दम् ॥७६॥
 तत्रेश्वरेश जगतां प्रलयादिवोर्वा वर्षात्ययेन रुचमभ्रघनादिवेन्दोः ।
 रामेण मैपिलसुतां दशकण्ठकृच्छ्रात्प्रत्युद्धृतां धृतिमयीं भरतो वयन्दे ॥७७॥
 लङ्केध्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं तद्वन्द्यं युगं चरणयोजनकादमलायाः ।
 ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं च शिरोऽस्य साधोरन्योन्यपावनमभूदुभय समेत्य ॥७८॥

किया ॥७३॥ तब भरतजी लक्ष्मणसे मिले और प्रणामके लिये झुका हुआ लक्ष्मणका सिर उठाकर मैथनादके प्रहारसे नठोर हुई उनकी छातीकी अपनी भुजाधोसे रक्ताते हुए उन्हें अपनी छातीसे लगा दिया ॥७३॥ रामके कहनेसे वानरी और भालुभोंके सेनापति मनुष्योका वेश बना-
 वानावर हाथिगोबर चढ़ गए । उन हाथियोने मस्तकसे मदवी धारा गढ़ रही थी, इसलिये उनपर चढ़ते समय उनकी बही आनन्द गिला मानो भरतवाले पहारोपर ही चढ़े हुए हो ॥७४॥
 रामकी आज्ञासे विभीषण और उनके साथी भी रथोपर चढ़ गए । वे रथ बढाये मनुष्योंने बनाए थे फिर भी वे इतने सुन्दर थे कि राक्षसोंकी आंखासे बनाए हुए रथ भी उनकी सुन्दरताके भागे पानी भरते थे ॥७५॥ जैसे बुध और बृहस्पतिका साथ होनेसे विषेय दर्शनीय चन्द्रमा सन्ध्याको बिजलीवाले बादलोपर बैठता है वैसे ही रामकी भरत और लक्ष्मणने साथ पतङ्गाभोंसे सजे हुए और इच्छानुसार चलेनेवाले पुष्पक विमानपर चढ़ गए ॥७६॥ जैसे आदि वराहने प्रलयसे पृथ्वीको उधार लिया था, जैसे वर्षा बौतनेपर शरद ऋतु बादलोंसे चांदनी छीन लेती है वैसे ही रामने रावण-रूपी सद्गुहसे जिसे उधार लिया था उस विमानमे बैठे हुई सीताजीको भरतजीने बाकर प्रणाम किया ॥७७॥ सीताजीके जिन पवित्र चरणोंने रावणकी प्रणय-प्रायनाली हृदयपूर्वक छुकरा दिया था उनपर जब भरतजीने बड़े भारी शक्तिके फेरल बड़ी हुई जटावाला अपना सिर रक्ता हो इन दोनोंने आपसमे मिलकर एक दूसरेकी पवित्र कर दिया ॥७८॥ प्रागे-प्रागे त्रयोप्यानी जगता चल

क्रोशार्घ्यं प्रकृतिपुरःसरेण गत्वा काकुत्स्थः स्तिमितजवेन पुष्पकेषु ।
शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यमार्यः साकेतोपवनमुदारमध्युवास ॥७६॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतो रघुवंशे महाकाव्ये
दण्डकास्त्यागमनो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥

रही थी भीर पीछे-पीछे वह पुष्पक विभाग घीरे-घीरे चला जा रहा था जिसपर राम बँडे हुए थे ।
इस प्रकार आष कौत्सक चलकर उन्होंने प्रयोष्याके उस सुन्दर उपवनमें देखा जमाया जिसे पहलेसे
ही शत्रुघ्नने भली-भाँति सजा दिया था ॥७६॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें दण्डकवनसे लौटना
नामका तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

॥ चतुर्दशः सर्गः ॥

भर्तुः प्रणाश्यादथ शोचनीयं दशान्तरं तत्र ममं प्रदन्ने ।
 अयश्यतां दाशरथी जनन्यो छेदादिवोषध्नतरोर्व्रतर्त्या ॥१॥
 उमाबुभभ्यां प्रणतौ हतारी यथाक्रमं विक्रमशोभिनां तौ ।
 विस्पष्टमस्त्रान्धतया न दृष्टौ जातौ सुतस्पर्शमुगोपलम्भात् ॥२॥
 आनन्दजः शोकजमश्रु-शाम्पस्तयोरशीतं शिशिरो विभेद ।
 गङ्गासरज्ज्वर्जलमुष्णतप्तं हिमाद्रिनिस्पन्द इवावतीर्णः ॥३॥
 ते पुत्रयोर्नैश्चतशस्त्रमार्गानाट्रानिवाङ्गे सदयं स्पृशन्त्यौ ।
 अपीप्सितं चक्रकुलाङ्गनानां न वीरसुशब्दमकमयेताम् ॥४॥
 वल्लेशावहा भर्तुरत्तच्छणाहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्तो ।
 स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्वन्दे ॥५॥
 उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोऽयं पृचेन भर्ता शुचिना तवैष ।
 कृच्छ्रं महत्कीर्णं इति प्रियार्हा ताम्चतुस्ते प्रियमप्यभिभ्या ॥६॥
 अथाभिपेकं रघुर्वशकेतोः प्रारब्धमानन्दजलैर्जन्त्योः ।
 निर्वर्तयामासुरमात्यपृद्धास्तीर्थाहूतैः काशनकुम्भतोयैः ॥७॥

चौदहवां सर्ग

इस उपवनमे पहुँचकर राम अपने माताप्रेमि मित्रे जो उसी प्रकार उदात्त लग रहे। जो जैसे वृषाके बट जानेपर जवन सट्टारे चटी हुई तत्प्राएँ मुरझ जाती है ॥१॥ परावनी राम और सहमणने बारी बारीसे कीसत्या और सुमित्रानो प्रणाम किया। अपने पुत्रोंको देगौ ही दोनों माताप्रीकी माँलैमे माँसू छलछला माए इसलिये ये माँस बर उग्रे देत तो नही लयी पर पुत्रोंको धारते पुचकारते समय उन्हें पक्षान गई ॥२॥ जैसे गर्मीके दिनोमे हिमालयका शीतल जल गगा और सपूके गर्म जलको ठंडा कर देता है वैसे ही जल दोनों माँरिपोकी माँसोमे बहे हुए मानन्दके ठंडे माँसुमोने सोवने गरम माँसुमोको ठंडा कर दिया ॥३॥ पुत्रोंके लटोरने त्रिन अगोपर राधाचोंके लसोंके पाव बने ये वहाँ दोनों माताएँ इस प्रकार सहलाने लयी मानो पाव धनी रहे ही हों। इस समय अपने पुत्रोंकी बोटें देनकर ये इतनी व्याकुल हों गईं कि उन्हें और पुत्रोंकी माँ कहलाना भी अच्छा नही लगा ॥४॥ मैं ही पतिओ बट्ट देनेवाली बुलछाणा सीता हैं-यट्ट बट्टे हुए सीताजीने एव-भी माँतिले स्वर्गवाली समुखी दोनों ललियोंके चरखे हुए ॥५॥ माताप्रेमो सीताप्रीको उठाते हुए बड़ी प्यारी और मन्की बात कही-‘उठो बेटो ! तरे ही पालिअने प्रभावसे राम और लक्ष्मण इस बड़े माँरी सनटमे पार लू हैं ॥६॥ जिस राज्याभिषेकका आरम्भ माताप्रेमो हर्ष-मरे माँगुमोने हुषा या, उग माँरिपेरको सोनेके पटोमे बरे सीपनि काए हुए जलते लपकी

सरित्समुद्रान्सरसीथ गत्वा रक्षाःकपीन्द्रैरुपपादितानि ।
 तस्यापतन्मूर्ध्नि जलानि जिप्सोर्विन्ध्यस्य मेषप्रभवा इवपः ॥८॥
 तपस्विवेपक्रिययापि तावद्यः प्रेक्षणीयः सुतरां बभूव ।
 राजेन्द्रनेपथ्यविधानशोभा तस्योदिताऽऽसीन्पुनरुक्तदोषा ॥९॥
 समौलरक्षोहगिः ससैन्यस्त्यस्वनानन्दितयौरवर्गः ।
 विवेश सौधोद्गतलानवर्षामुत्तोरखामन्वयराजधानीम् ॥१०॥
 सौमित्रिणा सावरजेन मन्दमाधूतपाल्यजनी रथस्थः ।
 धृतातपत्रो भरतेन साक्षादुपायमघात इव प्रवृद्धः ॥११॥
 प्रासादकालागुरुधूमराजिस्तत्याः पुरो वायुवशेन भिक्षा ।
 वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन मृक्ता स्वयं वैशिरिवावभासे ॥१२॥
 श्वभूजनानुष्ठितचारुषेपां कर्णारिथस्यां रघुवीरपत्नीम् ।
 प्रासादवातायनदश्यवन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रयोधुः ॥१३॥
 स्फुरत्प्रभामण्डलमानुष्य सा विभ्रती शारवतमङ्गरागम् ।
 रराज शुद्धेति पुनः स्वपुत्र्यै संदर्शिता यद्विगतैव सर्वौ ॥१४॥

तद्दशमर ब्रूके मन्त्रियोने पूरा कर दिया ॥७॥ राक्षसी और वानरीके भायकोने तपियो, समुद्रो और तालोले जो जल सागर दिया वह मन्त्रियोके समय रामके शिरपर बैसे ही भरस रहा था जैसे विन्ध्यपर्वतकी चोटीपर बादलोका लामा हुआ जल बरसा करता है ॥८॥ जो राम तपस्वीके वेषमे भी बहुत सुन्दर लगते थे वे इस समय राजसी वस्त्र पहनकर और भी सुन्दर लगने लगे ॥९॥ बृद्ध मन्त्रियो, राक्षसी और वानरीकी साथ लेकर रामने अपनी सेनाके साथ उठा राजधानी धयोध्यामे गैर रक्ते जो पारो और वन्दनवारोसे सजाई गई थी, वहलिके श्वेत भवनोपरमे धानकी सीलें बरसा रही थी और जहाँके निवासी तुरही आदि बाजीको तुल तुलकर बने प्रसन्न हो रहे थे ॥१०॥ लक्ष्मण और शत्रुघ्न रामपर बंदर हुआ रहे थे और भरत शायमे छन लिए हुए थे । उस प्रकार जब राम अपने भाइयोके साथ धयोध्यामे प्रविष्ट हुए तब चारो भाई ऐसे जान पड़ रहे थे मानो धान, राम, हण्ड और भेद ये चारो उपाय इकट्ठे हो गए हो ॥११॥ भवनो के ऊपर बाधुसे छितराया हुआ जलने आगरका धुआँ ऐसा लग रहा था मानो वनसे सीटकर रामने धयोध्यापुरीका झंडा ही अपने हाथमे छोलकर छितरा दिया हो ॥१२॥ मन्त्रोके करोओमे हाथ बाँधे दिलाई पढ़नेवाली धयोध्याकी महिमाओने हाथ जोडकर उन सीताओको प्रणाम दिया जो उस समय पालकीपर बैठे चल रही थी और जिन्हें सीताओ आदि साधोने बड़े मनोहर जगते वस्त्र और आभूषणोंसे सजा रखा था ॥१३॥ सीताओके शरीरपर भव भी अमिट बान्तिवाला यङ्गराग लगा हुआ था जो अनमूयानीने उनसे शरीरसे लगा दिया था । उससे मन्त्रिके सपान प्रकाशमान उनका शरीर ऐसा विशाई पड़ रहा था मानो पुरवासियोको सीताओकी सुदृता दिखानेके लिये रामने उन्हें

वेशमानि रामः परिचर्हवन्ति विश्राण्य सौहार्दनिधिः सुहृद्भ्यः ।
 वाष्पायमाणो बलिमन्निकेतमालेख्यशेषस्य पितृविवेश ॥१५॥
 कृताञ्जलिस्तत्र यदभ्य सत्पान्नाभ्रंरयत स्वर्गफलाद्गुहर्नः ।
 तच्चिन्त्यमानं सुकृतं तवेति जहार लज्जं भरतस्य मातुः ॥१६॥
 तथैव सुग्रीवविभीषणादीनुपाचरत्कृत्रिमसंविधाभिः ।
 संकल्पमात्रोदितसिद्ध्यस्ते क्रान्ता यथा चेतसि विस्मयेन ॥१७॥
 समाजनायोपगतान्स दिव्यान्मुनीन्पुरस्कृत्य हतस्य शत्रोः ।
 शुभाय तेभ्यः प्रभवादि वृत्तं स्वधिक्रमे गौरवमादधानम् ॥१८॥
 प्रतिप्रयातेषु तपोवनेषु सुखादनिज्ञातगार्धमासान् ।
 सीतास्वहस्तोपहृताग्र्यपूजान् रघुःकपीन्द्रान्विससर्ज रामः ॥१९॥
 तथात्मचिन्तासुलभं विमानं हतं सुरारैः सह जीवितेन ।
 कैलासनाथोद्वहनाय भूयः पुष्पं दिवः पुष्पक्रमन्वमैस्त ॥२०॥
 पितृनिर्योगाद्भनवासमेधं निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः ।
 धर्मार्थकामेषु समां प्रपेदे यथा तथैवावरलेषु वृत्तिम् ॥२१॥

फिर अग्निमें बैठ डिया हो ॥१५॥ मित्र-प्रेमी रामने पहले तो सुग्रीव आदि मित्रोंको सब प्रकारकी सामग्रीसे सजे मनमोमे ढहराया और तब वे अपने पिताजीके पूजाचरमे गए । वहाँ दशरथजीका मन्त्रेला चित्र देखकर रामकी मोल्लोमे भौसु आ गए ॥१५॥ कँकेयी वहाँ उवाच बँठी हुई थी । रामने हाथ जोड़कर कँकेयीसे कहा—'माँ' तुम्हारे ही पुष्पके प्रतापसे हमारे पिताजी उस तल्पसे नहीं टिपे जिससे स्वर्ग मिलती है । यदि तुम उसके बरदान न माँगती तो उन्होंने जो तुम्हे बरदान देनेकी प्रतिज्ञा की थी वह झूठी हो जाती । यह मुनकर कँकेयीके मनमें जो आसमागलि भरी हुई थी कि राम मेरे लिये न जाने क्या सोचते होंगे और मैं उन्हें कँसे मूढ़ दिलाऊँगी, वह सब जाती रही ॥१६॥ वहाँसे आकर उन्होंने सुग्रीव और विभीषण आदि मित्रोंका भूमी-भूति स्वागत सरकार किया । उन लौगोंको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि हम जो कुछ चाहते हैं वह भट बिना कहे ही मिल जाता है ॥१७॥ तब रामने उन अगस्त्य आदि ऋषियोंका उत्कार किया जो उन्हें यथाई देने आये थे । फिर उन ऋषियोंसे उन्होंने अपने शत्रु रावणके जन्मसे मृत्यु तकका वह धृतांत सुना जो उन्होंने गौरव बढ़ाने वाला था ॥१८॥ ऋषियोंके चले जाने पर उन राक्षसों और दानव-रोनापतिमोंकी विदा किया जो यथोप्यामे इतने आनन्दसे रहे कि उन्हें वही न ज्ञात हो पाया कि आधा महीना कब बीत गया । चलते समय सीताजीने स्वयं अपने हाथोंसे उनकी पूजा की ॥१९॥ तब रामने उस स्वर्गके पूजके समान पुष्पवर्षिमाणकों भी कुबेरके पास जानेकी आज्ञा दे दी जो सदा इच्छा करते ही उनकी सेवाके लिये आ जाता था और जिसे उन्होंने रावणके प्राणके साथ-साथ उससे छीन लिया था ॥२०॥ इस प्रकार पिताकी आज्ञासे बनवासकी अवधि बताकर रामने अपने पिताका राज्य फिरसे पाया । जैसा वे धर्म, धर्म और कामके साथ समान व्यवहार करते थे उसी प्रकार वे अपने भाइयोंके साथ भी समान प्रेमका व्यवहार करते ॥२१॥ जैसे स्वामिकातिक्रिय

सर्वासु मातृष्वपि वत्सलत्वात्स निर्विशेषप्रतिपत्तिरासीत् ।
 पठाननापीतपयोधरासु नेता चमूनामिव कृत्तिकासु ॥२२॥
 तेनार्थवाँल्लोमपराङ्मुखेन तेन ध्वता विघ्नमयं क्रियावान् ।
 तेनास लोकः पितृमान्बिनेत्रा तेनैव शोकापनुदेन पुत्री ॥२३॥
 स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा ।
 उपस्थितश्चाक वपुस्तदीयं कृत्योपभोगोत्सुकयेव लक्ष्म्या ॥२४॥
 तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुपोः सन्नसु चित्रवत्सु ।
 प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन् ॥२५॥
 अथाधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपाण्डुरेण ।
 श्रानन्दयित्री परिणेतुरासीदनक्षरचर्यञ्जितदोहदेन ॥२६॥
 तामङ्कमारोप्य कुशाङ्गपटिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम् ।
 विलज्जमानां रहसि प्रतीतः पप्रच्छ रामां रमसोऽभिलापम् ॥२७॥
 सा दष्टनीधारवलीनि हिंस्रैः संश्रद्धवैखानसकन्यकानि ।
 इयेप भूयः कुशवन्ति गन्तुं मागीरयीतीरतपोवनानि ॥२८॥
 तस्यै प्रतिश्रुत्य रघुप्रवीरस्तदीप्सितं पार्श्वचरानुयातः ।
 आलोकयिष्यन्मुदितामयोध्यां प्रासादमभ्रंलिहमारुरोह ॥२९॥

अपने छ मुँहसे छप्पो इतिवाचीका स्तन पीकर समान रूपसे प्रेम दिखलते थे, भँसे ही रामचन्द्रजी भी सभी माताओंको बराबर प्यार करते थे ॥२२॥ वे निलोभ थे इसीलिए उन्होंने प्रजापर कोई कर नहीं लगाया । जब यह हुआ कि सोहे ही दिनेमि प्रजा पनी हो गई । वे बही भी बिघ्न घाने ही नहीं देते थे, इसलिये सब लोग प्रगल्भतासे यज्ञ आदि क्रियाएँ करने लगे । ये सबको ठीक मार्गपर पसाते थे इसलिये सब उन्हें पिताके समान मानते थे और बिपत्ति पडनेपर ये सबकी सहायता करते थे इसलिये ये प्रजाके पुत्र भी थे ॥२३॥ वे ठीक समक्षपर प्रजाका नाम देल-भालकर सीताजीके साथ रमण भी करते थे । ऐसा जान पडता था मानो राज्यलक्ष्मीने ही रामके साथ रमण करनेकी इच्छासे सीताका सुन्दर रूप घर लिया हो ॥२४॥ वे दोनों उस भवनमें इच्छाानुसार बिलान करते थे, जिसमें धनबासने समयके चित्र टेंगे हुए थे । उन चित्रोंको देखकर बनबासने कुलोका स्मरण करते भी उन्हें सुख ही 'भितता था ॥२५॥ पीरे पीरे सीताजीने नेत्रोंकी रोमा बटने लगी और उनका मुख पने सरपतके समान पीला पडने लगा । इन गर्भमें लक्षणोंको देखकर राम बड़े प्रसन्न हुए ॥२६॥ जब उन्हें पक्का बिदबास हो गया कि सीताजी कमिणी हैं तब वे दुपत्ती तथा बाली धुन्डीने सजोबाली सबीसी सीताजीको एवान्तमें गोदमें बँटाकर पृथ्थन लगे-बताओ, तुम्हें क्या-क्या चाहिए' ॥२७॥ सीताजी बोलीं—मैं गङ्गाजीके तटके उन उपवनोँ को देखना चाहती हूँ जहाँ हिंस्र वन्तु माँस व खाकर नीवार ही खाने हैं, जहाँ मेरी सखियाँ उपस्थियोंकी बन्नाएँ रहती हैं और जहाँ कुत्तों भोगियाँ चारों घोर गरी हैं ॥२८॥ रामचन्द्रजीने कहा—

ऋद्धापणं राजपथं स पश्यन्निगाह्यमानां सरयुं च नौभिः ।
 विलासिभिश्चाध्युषितानि पौरैः पुरोपक्वण्टोपवनानि रेमे ॥३०॥
 स किञ्चदन्तीं वदतां पुरोगः स्वट्टचमुदिरय विशुद्धवृत्तः ।
 सर्पाधिराजोरुभ्रुलोऽपसर्पं पप्रच्छ भद्रं विजितारिभद्रः ॥३१॥
 निर्यन्धपृष्ठः सजगाद सर्वं स्तुवन्ति पौरारचरितं त्वदीयम् ।
 अन्यत्र रघोर्भवनोपितायाः परिग्रहान्मानवदेव देव्याः ॥३२॥
 क्लृप्तनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहतं कीर्तिविपर्ययेषु
 अयोधनेनाप इवभातप्तं वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदग्धे ॥३३॥
 किमात्मनिर्वादकस्यामुपेक्षे जायामदोषामुत संत्यजामि ।
 इत्येकपक्षाश्रयविक्रवत्वादासीत्स दोलाचलचित्तवृत्तिः ॥३४॥
 निश्चित्य चानन्यनिष्ठचित्त-वाच्यं त्यागेन पत्न्याः परिमार्ष्टुमैच्छद् ।
 अपिस्वदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाधिशोधनानां हि यशो गरीयः ॥३५॥
 स संनिपात्यावरजान्हतौजास्तद्विक्रियादर्शनलुप्तदर्पान् ।
 कौलीनमात्माश्रयमाचचक्षे तेभ्यः पुनरचेदमुवाच वाक्यम् ॥३६॥

'मच्छी याव है । हम तुम्हें उस तपोवनमें अवश्य भेजेंगे ।' वहहि ठहर के अपने सचकने साथ
 गुन्वर मनोभ्यानी छटा निहारनेके लिये आनासके बावें करनेवाले अपने जैसे राजमवन-
 नी छतपर जा बडे ॥२८॥ वहहि जगहने देखा कि राजभाषंरी दुबानें पनपान्यके मरी हुई हैं,
 सरयूमें नावें चल रही हैं और मनोभ्याके उद्यानोव विलासों पुरवाओ प्रसन्न होकर निशान कर रहे
 हैं ॥३०॥ नगरीकी यह शोभा देखकर गुन्वर कोमनेवाले, सदाचारी और योगवापके समान बडो-
 बडी थाही और जांभीवाले जानुविनयी रामने अपने भद्र नामके दूतसे पूछा—'वहो भद्र ! हमारे विषय-
 में प्रभा क्या कहती है' ॥३१॥ पहले तो भद्र चुन रहा पर जब राम बार-बार उतने पूछने लगे
 तब वह बोला—'हे नरसिंह ! जनता आसकी सब बातोंकी प्रशंसा करती है, किन्तु आपने राक्षसके
 परमे रहनेवाली देवी सीताको फिरने ग्रहण कर लिया है, उसे लोग खण्ड नहीं समझते ॥३२॥
 अपनी पत्नीपर लगाए हुए इस भीषण वनझुको सुनकर सीतापति रामरा हृदय बंटे ही पट क्या जैसे
 पनरी चोटसे लपाया हुआ सोहा पट जाता है ॥३३॥ वे मनमें सोचने लगे कि सब ही हो उताप
 है । या तो मैं इस बातकी अनगुनी ही कर दूँ और टाक जाऊँ या फिर निर्दोष पत्नीको सदाके लिये
 छोड़ दूँ । उस समय उनका चित्त हिडोला बना हुआ था वे निश्चय ही नहीं कर पा रहे थे कि इन
 दोनोंमें क्या करना चाहिए क्या नहीं ॥३४॥ पर उस वनझुकी मिटावेका कोई दूसरा मार्ग नहीं
 था । इसलिये उन्होंने निश्चय कर लिया कि सीताको त्याग कर ही यह वनज मिटाना चाहिए क्यों
 कि पनदिवसोंको अपना यश अपने सरोरके भी अधिक खराब होता है फिर कौी पारि लोगकी
 बस्तुओं की तो बात ही क्या ॥३५॥ उदात्त बूढ़से रामने आश्विनो मुताप गो वे भी उनकी

राजपर्विवशस्य रविप्रसूतेरुपस्थितः पश्यत कीदृशोऽयम् ।
 मत्तः सदाचारशुचैः कलङ्कः पयोदवातादिव दर्पणस्य ॥३७॥
 पौरेषु सोऽहं बहुलीभवन्तमपां तरङ्गेष्विव तैलविन्दुम् ।
 सोऽहं न तत्पूर्वमवर्णमीशे आलानिकस्याणुमिव द्विपेन्द्रः ॥३८॥
 तस्यापनोदाय फलप्रवृत्तागुपस्थितायामपि निर्व्यपेयः ।
 त्यक्ष्यामि वैदेहसुतां पुरस्तात्समुद्रनेमिं पितुराज्ञयेव ॥३९॥
 आर्यैमि चैनामनयेति किंतु लोकापवादो बलान्मतो मे ।
 छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः ॥४०॥
 रक्षोऽनधान्तो न च मे प्रयासो व्यर्थः सर्वैरप्रतिमोचनाय ।
 अमर्षणः शोषितकाहत्या किं पदा स्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः ॥४१॥
 तदेव सर्गः करुणार्द्रचित्तैर्न मे भगद्भिः प्रतिषेधनीयः ।
 यद्यर्थिता निर्वृत्ताच्यशल्यान्प्राणान्मया धारयितुं चिरं वः ॥४२॥
 इत्युक्तवन्तं जनकात्मजायां नितान्तरुचाभिनिवेशमीशम् ।
 न कश्चन भ्रातृषु तेषु शक्तो निषेदुमासीदनुमोदि वार्तुं ॥४३॥

दया देखकर सन्न रह गए । अपने भाइयों से राम बोले— ॥३६॥ 'यद्यपि मैं सदाचारी होने के कारण पवित्र हूँ फिर भी जैसे आप बहने से स्वच्छ वर्षण भी धुँबना हो जाता है, वैसे ही देतो, मूर्खवर्गी राजपर्विवशि कुलमे मेरे कारण कैसा बसकू सा रहा है ॥३७॥ जैसे पानी की लहरों में ऊपर तैल की बूँद फैल जाती है वैसे ही इस समय घर-घर मेरी निन्दा फैल रही है । इस-तिमे जैसे हमारी अपने अमानते सीक कर उठे उताड़ने की चेष्टा करता है वैसे ही मैं भी अपने इस बलकू को मच नहीं यह सगता ॥३८॥ इस समय यद्यपि सीतानी पुत्र होनेवाला है तो भी अपने बलकू को मिटाने के निम्मे मैं सन मोह तोड़कर जने वैसे ही छोड़ दुँगा जैसे पितानी आज्ञा से मैंने राज्य छोड़ दिया था ॥३९॥ मैं जानता हूँ कि यह निर्दोष है पर बदनामी सत्यसे भी अधिक बल-वती होती है । देखो ! निर्बल पन्द्र विषय के ऊपर पड़ी हुई पृथ्वी की क्षायारी लोग चन्द्रमाना बलकू करते हैं घोर झूठ होने पर भी सारा समार इसे ही ठीक मानता है ॥४०॥ तुम यह कहोगे कि यदि ऐसा हो या तो राक्षसों को क्यों मारा । उनका उत्तर यह है कि सीतानी लुटाने के निम्मे मैंने जो राक्षसों को मारा वह मेरा प्रयत्न सीतानी निजाल देने से बेकार नहीं बड़ा जायगा क्योंकि यह तो मैंने अपनी ओर हारगवा उन राक्षसों से बदला लिया है । क्योंकि जब कोई सच पैरने नीचे दस जाता है तब यह रक्तो लोगन बाँधे ही डँकना है, वह तो बदला सेने के निम्मे ही देखता है ॥४१॥ इस निम्मे यदि तुम लोग इस बलकू के बाणों से मेरे हृदय में निजालकर मुझे जीवित रखना चाहते हो तो केवल सीतानी दगावर दसा करने समझा परा नेबर तुम मेरे इस निश्चय का विरोध मत करो ॥४२॥ जब भाइयों से देगा कि सखा इनकी निपुण्य करता चाहते ? तब भाइयों से मैं तो कोई उनका

स लक्ष्मणं लक्ष्मणपूर्वजन्मा विलोक्य लोकजयगीतकीर्तिः ।
 सौम्येति चामाप्य ययार्थभाषी स्थितं निदेशे पृथगादिदेश ॥४४॥
 प्रजावती दोहदशमिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेव ।
 स त्वं रथीत द्व्यपदेशनेयां प्रापय्य वात्सीकिपदं त्यजनाम् ॥४५॥
 स शुश्रुवान्मातङ्गि भार्गवेण पितृनियोगात्प्रहृतं द्विषद्वत् ।
 प्रत्यग्रहीदग्रजशामनं तदाज्ञा गुरूणां शविचारणीया ॥४६॥
 अधानुकूलश्रवणप्रतीतामत्रस्नुभिर्धुक्तधुरं तुरंगः ।
 रथं सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मिमारोप्य वैदेहसुतां प्रतस्थे ॥४७॥
 सा नीयमाना रुचिरान्प्रदेशान्प्रियंकरो मे प्रिय इत्यनन्दत् ।
 नायुद्ध कल्पद्रुमतां विहाय जातं तमात्मन्यमिषत्रवृत्तम् ॥४८॥
 जुगूह तस्याः पथिलक्ष्मणो यत्सच्येतरं स्फुरता तदच्छा ।
 आख्यातमस्य गुरु भावि दुःखमत्यन्तलुप्तप्रियदर्शनेन ॥४९॥
 सा दुर्निमिचोपगताद्विषादात्मयः परिस्तानमुत्तारविन्दा ।
 रात्रिः शिबं साधरजस्य भूयादित्याशशंसे करणैरवातः ॥५०॥

रामचन्द्र ही कर लक्ष्मण, न विरोध ही ॥४४॥ तीनों जोरोंसे प्रमिद्ध ययस्वी, अपनी बातने परने रामने जब देखा कि लक्ष्मण उनको आज्ञा माननेको उत्तर है तब ये लक्ष्मणने बहने लगे—‘लक्ष्मण ! तुम यहे क्यों हो ।’ और यह कहकर उन्हें उनका-तमे से गए और बोले—॥४५॥ ‘बुद्धारी गभिणी भाभी तपोवन बैलगा गाहती ही है इसलिये तुम उठने इनी बहानेते रथपर सेवारर वात्सीकिपदोंके आश्रम-तब पहुँचाकर छोड़ आओ’ ॥४६॥ लक्ष्मणने मुन ही खराब था कि पिताकी आज्ञा पाकर परगुलापत्रीने अपनी माताको बँधे हो निर्दयताके साथ मार डाला जैसे कोई अपने बन्धुको मारे । इसलिये उन्होंने पिताके सामान रामकी आज्ञा सिरे पड़ा थी, क्योंकि उन्होंने आज्ञाके भीन-मेन निरालाता डींग नहीं है ॥४६॥ सीताजी यह सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई कि लक्ष्मण हमें तपोवन दिगाने से आ रहे हैं । लक्ष्मणजी उधर गये रथपर चढ़ाकर ले चल जिन स्थल गुप्तन ही रहे थे और जिसके पीछे ऐसे लगे हुए थे कि रथन चले समस्त गभिणी सीताका ललित भी रूपक गरी लगने पारी थी ॥४७॥ मन्त्राहर प्रदोषसे रथपर जाती हुई सीताको यह सोचकर बड़ी प्रसन्न हुई कि मेरे आश्रयित सदा मेरे मन्त्री ही बन रहने हैं । ये क्या जानती थी कि इस समय ये मेरे लिये मनोरथ पूरा करनेवाले बन्धुसबने बहने लगे अभिपक्षने गुप्तने समान बहनायक ही गए हैं जिसके पने लक्ष्मणके समान फेंगे हो ॥४८॥ लक्ष्मणने सीताजीके माँगने कुछ भी नहीं मनाया कि लक्ष्मण क्या निमित्त जानेरानी है पर सीताजीके दाहिने नेत्रने पड़कर पाले जानेरने दुखारी मुखसे दे ही ले ॥४९॥ यह समझने होते ही उनका मुँह उदाम हो गया और ये मन ही मन मनाने लगी कि बादलों के साथ रात्रि सुगने रहे, उनपर कोई छाँव न आवे ॥५०॥ मार्गेन गङ्गाकी पड़ी । उनमें जो लहरें उठ रही थी वे बड़े भारी

गुरोर्नियोगाद्वनितान्नान्ते सार्धं सुमित्रातनयो विहास्यन् ।
 अवार्य तेषोत्थितवीचिहस्तैर्जहोर्दुहित्रा स्थितया पुरस्तात् ॥५१॥
 रथात्स यन्त्रा निगृहीतवाहात्तां भ्रातृजायां पुलिनेऽवतार्य ।
 गङ्गा निपादाहृतनौविशेषस्ततार संघामिव सत्यसंधः ॥५२॥
 अथ व्यवस्थापितवाक्कथंचित्सौमित्रिरन्तर्गतवाष्पकण्ठः ।
 औत्पातिको मेघ इचारमवर्ष महीपतेः शासनमुज्जगार ॥५३॥
 ततोऽभिपङ्गानिलविप्रविद्धा प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूता ।
 स्मृतिंलाभप्रकृतिं धरित्रीं स्तेद सीता सहसा जगाम ॥५४॥
 इक्ष्वाकुवंशप्रभवः कथं त्वां त्यजेदस्मात्पतिरार्यवृत्तः ।
 इति क्षितिः संशयितेव तस्यै ददौ प्रवेशं जननी न तावत् ॥५५॥
 सा लुप्तसंज्ञा न विचेद दुःखं प्रत्यागतासुः समवप्यतान्तः ।
 तस्याः सुमित्रात्मजयत्नलब्धो मोहादभूत्कण्ठतरः प्रबोधः ॥५६॥
 न चापदभ्रतुरवर्षमार्या निराकरिष्णोर्दृजिनाद्वेऽपि ।
 आत्मानमेव स्थिरदुःखभाजं पुनःपुनर्दुष्कृतिनं निनिन्द ॥५७॥
 आश्वास्य रामावरजःसतीं तामाख्यातवाल्मीकिनिकेतमार्गः ।
 निघ्नस्य मे मर्तुं निदेशरौप्यं देवि चमस्वेति बभूव नम्रः ॥५८॥

भाज्ञासे पतिप्रता सीताको बनमे छोडनेके लिये मे जाते हुए लक्ष्मणसे मानो हाथ हिलाकर कह रही थी कि ऐसा न करो, ऐसा न करो ॥५१॥ गङ्गाजीके तटपर पहुँचकर सारथीने रात सीध सी । सच्ची प्रतिज्ञा करनेवाले लक्ष्मणने सीताजीको रस्तीपर उतार लिया और केवटने पो नाव लाकर दी उसपर बैठकर सीताजीके साथ गङ्गाजीसे भी पार हो गए और अपनी उस प्रतिज्ञासे भी पार हो गए जो उन्होंने सीताको गङ्गापार छोडनेके लिये रामसे की थी ॥५२॥ पार पहुँचकर लक्ष्मणने माँसू रोककर, बँधे हुए गलेसे सीताजीको राजाकी आज्ञा इस प्रकार सुनाई जैसे कोई भयङ्कर बादल झोलि बरसा रहा हो ॥५३॥ जैसे तू लगनेके अताके फूल फट जाते है और यह सूझकर पृथ्वीपर गिर पड़ती है वैसे ही इस अवमानजनक बातको सुनकर सीताके आभूषण भी गिर पड़े और वे भी अपनी माँ पृथ्वीकी गोदमे गिर पड़ी ॥५४॥ उस समय पृथ्वीने सीताजीको मानो दुविधाके कारण अपनी गोदमे नहीं समा लिया कि इक्ष्वाणु-वंशी राजाचारी पति इस प्रकार सीताजीको अचानक क्यों छोड देगे ॥५५॥ मूर्छा या जानेके उन्हे उस समय तो कुछ नहीं हुआ पर जब वे मूर्छासे जगी तब उनके हृदयमे बड़ी व्याथा हुई । लक्ष्मणने प्रयत्न नरके जो उनकी मूर्छा दूर की यह बात उन्हे मूर्छासे भी अधिक बण्ट देनेवाली जान पड़ी ॥५६॥ वे इसी साध्वी थी कि निरपराध परनीको निकालनेवाले अपने पतिको उन्होने कुछ भी बुरा-भसा नहीं कहा बरन् बार-बार वे अपने भाग्यको ही कोसने लगी ॥५७॥ लक्ष्मणने उन्हे बहुत समझाया-बुझाया और वाल्मीनिका आश्रय दिखाकर कहा—देवि ! मैं पराधीन हूँ । इसलिये स्वामीकी आज्ञासे मैंने आपके साथ जो बडोर व्यवहार

सीता तमुत्थाप्य जगाद वाक्यं प्रीतास्मि ते सौम्य चिराय जीव ।
 विडौजसा विष्णुर्विवाग्रजेन भ्रात्रा यदित्थं परवानसि त्वम् ॥५६॥
 श्वश्रूजनं सर्वमनुक्रमेण विज्ञापय प्रापितमत्प्रणामः ।
 प्रजानिपेकं मयि वर्तमानं हनोरनुध्यायत चेतसेति ॥६०॥
 वाच्यस्त्वया मदचननात्म राजा बह्वी विशुद्धामपि यत्समक्षम् ।
 मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ॥६१॥
 कल्याणबुद्धेरथवा त्वार्यं न कामचारो मयि शङ्कनीयः ।
 ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जधुरप्रसङ्गः ॥६२॥
 उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः ।
 तदास्पदं प्राप्य तयातिरोपात्सोढास्मि न त्वद्गवने वसन्ती ॥६३॥
 निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां तपस्विनीनां भवतः प्रसादात् ।
 भूत्वा शरण्या शरणार्थमन्य कथं प्रपत्स्ये त्वयि दीप्यमाने ॥६४॥
 किंवा तात्पन्तवियोगमोवे कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन् ।
 स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेजस्त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः ॥६५॥
 साहं तपः सूर्यनिषिद्धदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेथरितुं यतिष्ये ।
 भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्यमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥६६॥

किया है उसे आप क्षमा कीजिए ॥५६॥ सीताजी उठी और लक्ष्मणसे बोली । मैं तुमपर प्रपन्न हूँ । तुम बहुत दिन तक जियो क्योकि जैसे इन्द्रके छोटे भाई विष्णु सदा अपने बड़े भाईकी आज्ञा मानते हैं वैसे ही तुम भी अपने बड़े भाईकी आज्ञा माननेवाले हो ॥५६॥ तुम जाकर सभी खासोंसे मेरा प्रणाम कहकर निवेदन करना कि मेरे गर्भमें आपने पुत्रका वंश है । इसलिये आप लोग हृदयसे उसकी कुशल मनाते रहिएगा ॥६०॥ और राजासे जाकर तुम मेरी ओरसे कहना कि आपने अपने सामने ही मुझे भूमिमें छुड़ पाया था इस समय भयजस्ये डरते जो आपने मुझे छोड़ दिया है वह क्या उस प्रसिद्ध कुलकी धोखा देता है जिससे आपने जन्म लिया है ॥६१॥ पर नहीं, आप ही सबकी मलाई करनेवाले हैं आप अपने मनसे हमारे साथ ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते । यह सब मेरे पूर्व जन्मके पापोंका ही फल है ॥६२॥ जान पड़ता है कि कुछ समय पहले आप जिस राजसूयकी का तिरकार करके मेरे साथ वनमें चले गए थे वह राज्यतपकी मुझसे श्रुत हो गई थी वह आपके घरमें मेरा प्रतिष्ठा-पूर्वक रहना देता नहीं सकी ॥६३॥ पिछली बार आपकी कृपासे मैंने वनवासके समय बहुतसी ऐसी तपस्विनियोंको अपने यहाँ आश्रय दिया था जिनके पतियोंकी राक्षसोंने सता रक्खा था । अब आप ही बताइये कि आपने रहते हुए मैं जिस मुँहसे उन्हीं तपस्विनियोंकी आश्रिता होकर रहूँगी ॥६४॥ यदि मेरे गर्भमें साया हुआ आपका वह तेज आपका न देता जिसकी रक्षा करना आवश्यक है, तो मैं आपसे सदाके लिये बिछुड़े हुए अपने प्राण भी छोड़ देती ॥६५॥ पर तुम ही जानेपर मैं मूर्खमें दृष्टि बाँधकर

नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्न एव धर्मो मनुना प्रणीतः ।
 निर्वासिताप्येवमतस्त्वयाहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया ॥६७॥
 तथेति तस्याः प्रतिगृह्य वाचं रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते ।
 सा मुक्तकण्ठं व्यसनातिभाराच्चक्रन्द विन्ना कुररीव भूयः ॥६८॥
 नृत्यं मयूराः कुसुमानि घृता दर्मानुपाचान्विजहृर्हरिण्यः ।
 तस्याः प्रपन्ने समदुःखमावमत्यन्तमागीदृष्टित वनेऽपि ॥६९॥
 तामभ्यगच्छद्रुदितानुमारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः ।
 निपादविद्वान्दण्डदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य श्लोकः ॥७०॥
 तमथु नैत्रायरखं प्रसृज्य सीता विलापाद्विगता वन्दे ।
 तस्यै मुनिर्दोहदलितदशी दाह्यान्सुपुत्राशिषमित्पुत्राच ॥७१॥
 जाने विसृष्टां प्रणिधानतस्त्वां मिथ्यापवादबुभितेन भर्त्रा ।
 तन्मा व्यधिष्टा विषयान्तरस्थं प्राप्तामि वैदेहि पितुर्निकेतम् ॥७२॥
 उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकल्पनेऽपि ।
 त्वां प्रत्यक्स्मात्कलुषप्रवृत्तावस्त्येव मनुर्भरताग्रजे मे ॥७३॥
 तपोरुकीर्तिः श्वशुरः सखा मे सतां भवोच्छेदकरः पिता ते ।
 धुरि स्थिता त्वं पतिदेवतानां किं तत्र येनामि समान्कम्प्या ॥७४॥

ऐसी तपस्या कहेंगी कि अपने जन्ममे भी माप ही मेरे पति हो, पापमे मुझे फलान न होना पड़े ॥६९॥
 मनुने कहा है—राजाप्रीत धर्म वहाँ और धार्मिकी रक्षा करना है इतलिये परते निकाल देन—
 पर भी माप यह समझकर मेरी देख-भाल करते रहिएगा कि सीता भी मापकी प्रजा और
 तपस्विनी है ॥६७॥ यह सुनकर सप्तमख बोले—‘मैं सब वह वृथा’ । यह कहकर ज्योंही वे बहल्लि
 चलकर झल्लि झोझल हुए कि विपत्तिके भारसे व्याकुल होकर सीताजी, दरी हुई कुररीने समान हाड
 मार-मारकर रोने लगी ॥६८॥ उनका रोना सुनकर गोरीने नाचना बन्द कर दिया, वृक्ष फूलके
 फाँस गिराने लगे और हरिणियोंने मूँहमे भरी हुई घासका कौर गिरा दिया । सीताजीके दुखसे दुखी
 होकर साधु जगल रोने लगा ॥६९॥ जिस महाकृपालु बाल्मीकि ऋषिना सोम व्याधके हाथसे मारे
 हुए कौशिकी देखकर श्लोक बलकर निक्कल पडा था वे उस समय कुछ उपाधने निकले थे । रोनेका
 शब्द सुनकर वे सीताजीकी ओर आए । उन्हें देखकर सीताजीने बाँसू गोदकर पुन-पुन उन्हें प्रणाम
 किया । ऋषिने गर्मके चिह्न देखकर उन्हें प्राणीवाद दिया कि तुम पुनवती हो । प्राणीवाद देकर
 वे बोले—॥७१॥ ‘देटी’ । मैंने योगबलसे जान लिया है कि तुम्हारे पतिने भूटे भयलसे डरकर तुम्हें
 परते निकाल दिया है । देटी ! यहाँ मैं तुम अपने पिताका ही घर समझे और शोक छोड दो ॥७२॥
 यद्यपि राम तीनों नोपेवा कुछ दूर करलेवाले हैं, अपनी प्रतिज्ञाने पत्रा हैं और अपने मूँहसे अपनी
 बडाई भी नहीं करते फिर भी तुम्हारे साथ जो उन्होंने यह भदा व्यवहार किया है इसे देखकर
 मुझे उनपर बडा क्रोध था रहा है । तुम्हारे बराबरी भयुरजी मेरे मित्र थे और तुम्हारे पिता

तपस्विसंसर्गविनीतसत्त्वे तपोवने धीतमया वसास्मिन् ।
 इतो भविष्यत्यनघप्रयत्नेरपत्यसंस्कारमयो विधिस्ते ॥७५॥
 अशून्यतीरां मुनिसंनिवेशैस्तमोपहन्त्री तमसां वगाह्य ।
 तत्सैकतोत्सङ्गबलिक्रियाभिः संपत्स्यते ते मनसः प्रसादः ॥७६॥
 पुष्पं फलं चार्तवमाहरन्त्यो बीजं च बालेयमकुरोहि ।
 विनोदगिष्यन्ति नवामिषङ्गाः सुदारवाचो मुनिकन्यकास्त्वाम् ॥७७॥
 पयोघटैराश्रमबालानुबान्संवर्षयन्ती स्वबलानुरूपैः ।
 असंशयं प्राकृतनयोपपत्तेः स्तनंधयग्रीविमवाप्स्यति त्वम् ॥७८॥
 अनुग्रहप्रत्यभिनन्दिनीं तां बाल्मीकिरादाय दयार्द्रचेताः ।
 सायं मृगाध्यासितवेदिपार्श्वं स्वमाश्रमं शान्तमृगं निनाय ॥७९॥
 तामर्पयामास च शोकदीनां तदाश्रमग्रीविषु तापसीषु ।
 निर्विष्टसारां पितृभिर्हिमांशोरन्त्यां कृतां दर्श इवौपधीषु ॥८०॥
 ता इद्गुदीस्नेहकृतप्रदीपमास्तीर्णमेध्याजिनतल्पमन्तः ।
 तस्यै सपर्याप्तुपदं दिनान्ते निवासहेतोरुदञ्चं वितेहः ॥८१॥

जनकाजी भी ज्ञानोपवेश देकर बहुतसे विद्वानोंको सत्कारके बंधनसे छुड़ाते रहते हैं, तुम स्वयं पतिव्रताभीमि
 सर्वश्रेष्ठ हो और फिर तुममें ऐसा योग हो बीन-सा है जो मैं तुम्हारे ऊपर कृपा न करूँ ॥७५॥
 देखो, तपस्विनीने साथ रहते-रहते यहोंने सब जीब बड़े खोपे हो गए हैं । ये किसीसे कुछ कहते सुनते
 नहीं । इसी आश्रममें तुम निर्भय होकर रहो । तुम्हारी पवित्र सत्ताके जातकर्म आदि सत्कार
 मैं यहीं करूँगा ॥७६॥ गाय मिटानेवाली जिस तपसाके निजारे तपस्वी लोग सदा सन्ध्या पूजा
 करते हैं उसमें स्नान करके तुम उसकी देतीपर देवताओंको बलि दिया करो, इससे तुम्हारा मन
 प्रसन्न रहेगा ॥७७॥ यहाँ की मुनि कन्याएँ तुम्हें सब ऋतुभोगे उत्पन्न होनेवाले फूल-फल और
 पूजाके योग्य प्रत्न लाकर रख दिया करेंगी और भीठी भीठी बात करके तुम्हारा मन भी बहलाया
 करेंगी ॥७८॥ जो जलके घड़े तुमसे उठ सकें उन्हें लेकर तुम धार्यरुके बोधोनी प्रेमसे सीखा करो ।
 इससे बड़ा भान यह होगा कि वधा होनेके पहले ही तुम यह सोच जाओगी कि बचोले कैसे प्रेम
 करना चाहिए ॥७९॥ सीताजीने जननी कृपावश बहुत सहारा और दयालु बाल्मीकिके साथ उनके
 आश्रममें चली गई । सौँझ हो जानेके कारण बहुतसे मृग यहाँ वेदीको घेरकर बँडे हुए थे और सिंह
 आदि जन्तु भी पुपचाप आँख मूँदे बडे थे ॥८०॥ जैसे मृगावास्या जहाँ बूटियों और लता-वृक्षोंकी
 पन्द्रमाणी वह सारहीन सन्निभ बचा सौँ देती है जिसवा प्रमृत पितर खोच लेते हैं, वैसे ही
 ऋषिने भी धोकरे व्याकुल सीताको आश्रमकी जन तपस्विनीयोंने हाथ खोप दिया जो सीताजीके
 वहाँ आ जानेसे बड़ी प्रसन्न हो गई थी ॥८०॥ पूजा हो चुकनेपर उन तपस्विनीयोंने सीताके रहनेके
 लिये एक पराकी कुटिया दे दी जिसमें ह्योठके तेलवा दीया जल रहा था और जिसमें नीने

तत्राभिपेक्षयता वसन्ती प्रयुक्तपूजा विधिनातिथिभ्यः ।
 वन्येन सा वल्कलिनी शरीरं पत्युः प्रजासंततये वभार ॥८२॥
 अपि प्रभुः सानुशयोऽधुना स्यात्किमुत्सुकः शक्रजितोऽपि हन्ता ।
 शशंस सीतापरिदेवनान्तमनुष्ठितं शासनमग्रजाय ॥८३॥
 वभूव रामः सहसा सत्राप्यस्तुषारवर्षां सहस्यचन्द्रः ।
 कौलीनर्भतेन गृहाभिरस्ता न तेन वैदेहमुता मनस्तः ॥८४॥
 निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान्वर्णाथमावेवक्षजागरुकः ।
 स भ्रातृसाधारणभोगमृद्धं राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास ॥८५॥
 तामेकभार्यां परिवादभीरोः सार्धमपि त्यक्तवतो नृपस्य ।
 वक्षस्यमण्डमुखं वसन्ती रंजे सपत्नीरहितेव लक्ष्मीः ॥८६॥
 सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयमे यदन्यां

तस्या एव प्रतिकृतिसखी यत्कतूनाजहार ।

वृत्तान्तेन श्वणघिषयप्रापिणा तेन भर्तुः

सा दुर्वारं कथमपि परित्यागदुःखं विप्रेहे ॥८७॥

इति महाकविश्रीकालिदामकृत्नो रघुवंशे महाकाव्ये

सीतापरिरयागो नाम चतुर्दशः सर्गः ॥

पञ्चदशः सर्गः

कृतसीतापरित्यागः स रत्नाकरमेखलाम् ।
 बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केरलाम् ॥१॥
 लवणेन विक्षुप्तेज्यास्तामित्तेषु तमभ्यगुः ।
 मृनयो यमुनामाजः शरण्यं शरस्थार्थिनः ॥२॥
 अवेक्ष्य रामं ते तस्मिन् प्रजह्नुः स्वतेजसा ।
 त्रासाभावे हि शापास्त्राः कुर्वन्ति तपसो व्ययम् ॥३॥
 प्रतिशुभाव काकुत्स्थस्तेभ्यो विघ्नप्रतिक्रियाम् ।
 धर्मसंरक्षणायैव प्रवृत्तिर्मुनि शार्ङ्गिणः ॥४॥
 ते रामाय वधोपायमाचक्षुर्विदुषद्विपः ।
 दुर्जयो लवणः शूली विशूलः प्रार्थयतामिति ॥५॥
 आदिदेशाथ शत्रुघ्नं तेषां क्षेमाय राघवः ।
 करिष्यन्निव नामास्य वधार्थमरिनिग्रहात् ॥६॥
 यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परंतपः ।
 अपवाद इवोत्सर्गं व्याप्यतिमुनीश्वरः ॥७॥

पञ्चहर्षा सर्ग

सीताजीको छोड़ देनेपर राजा रामचन्द्रजीने केवल समुद्रोत्ते धिरी हुई पृथ्वीका ही भोग दिया किन्ती दूसरी स्त्रीसे विवाह नहीं किया ॥१॥ इसी बीच एक दिन यमुना-तटपर रहनेवाले कुछ तपस्वी, शरणागतकरतल रामके पास सरल माँगने लागे, क्योंकि लवणानुर रामचन्द्रके कारण उनको वध आदि क्रियाएँ बन्द हो गई थी ॥२॥ वे तपस्वी यदि चाहते तो अपने तेजसेही लवणानुरको भस्म कर दासते किन्तु उन्होंने ऐसा करना ठीक नहीं समझा क्योंकि जिन सोमोंने दास देकर भस्म करनेकी शक्ति होती है वे तपस्यासे बढोरे हुए तेजको ऐसे कामसे खर्ची लगाते हैं, जब कोई दूसरा उनका रक्षक न हो ॥३॥ रामने उनके विघ्न दूर करनेकी प्रतिज्ञा की क्योंकि धर्मने रक्षाके लिये ही तो वे संसारमें अग्रतार लेते हैं ॥४॥ जब मुनियोंने रामको बताया कि जबतक लवणानुरने हममें भाला घुँसा लवण उसका हारना बठिन है इसलिये उसपर ऐसे समय प्राक्रमण करना चाहिए जब उसके हाथमें माला न हो ॥५॥ रामने उन मुनियोंकी रक्षाकर भार शत्रुघ्नको सीपा मानो शत्रुघ्नके हाथी शत्रुका संहार करकर उनका शत्रुघ्न नाम लक्षा कर देना चाहते हो ॥६॥ जैसे व्याकरणमें कोई भषादवाला शूद्र व्यापक नियमवाले मुखको भी जलट देता है वैसे ही रघुके वधना बन्धन-बन्धन इतना बलवान् होता था कि वह शत्रुको पछाद सबता था ॥७॥ जब शत्रुघ्न

अग्रजेन प्रयुक्ताशीस्ततो दाशरथी रथी ।
 ययौ वनस्वल्हीः पश्यन्पुष्पिताः सुरभीरभीः ॥८॥
 रामादेशादनुगता सेना तस्यार्थसिद्धये ।
 पश्चादध्ययनार्थस्य घातोरधिरिचामवत् ॥९॥
 आदिष्टवर्त्मा मुनिभिः स गच्छेत्तपतां वरः ।
 विरराज रथप्रष्ठैर्वालिखित्यैस्त्रिंशुमान् ॥१०॥
 तस्य मार्गवशादेका बभूव वसतिर्यतः ।
 रथस्वनोत्क्रएणमृगे वाल्मीकीये तपोवने ॥११॥
 तमृषिः पूजयामास कुमारं बलान्तवाहनम् ।
 तपःप्रभासिद्धाभिर्विशेषप्रतिपत्तिभिः ॥१२॥
 तस्यामेवास्य यामिन्यामन्तर्त्नी प्रजावती ।
 सुतावसूत मंपन्नौ कोशदण्डाविव चित्तिः ॥१३॥
 संतानश्रवणद्वातुः सौमित्रिः सौमनस्यवान् ।
 प्राञ्जलिर्मुनिमामन्थ्य प्रातर्युक्तरथो ययौ ॥१४॥
 स च प्राप मधूपध्नं कुम्भीनस्याथ कुचिवः ।
 घनात्करमिवादाय सस्वराशिमुपस्थितः ॥१५॥

निदर होकर रथपर चढ़े तब रामने उन्हें आशीर्वाद दिया और वे सुगन्धित वनोकी छटा
 निहाले हुए चल पड़े ॥८॥ रामकी आज्ञासे शत्रुघ्नके साथ जो सेना गई वह वैसे ही व्यर्थ थी जैसे
 अध्ययन शब्दमें 'इद्' मातृके साथ लगा हुआ 'अधि' उपसर्ग । [यद्यपि 'इद्' का ही अर्थ अध्ययन
 होता है, उसमें अधिक मोई विशेषता नहीं रहती ।] इसी प्रकार स्वर्णामुरको शत्रुघ्न प्रकले जीत
 सकते थे, भाड़े लगा जाती या न जाती ॥९॥ जैसे रथपर चढ़े हुए सूर्यको बाललित्य नामके
 ऋषि लोग मार्ग दिखाते चलते हैं वैसे ही रथपर चढ़े हुए शत्रुघ्नको भी मुनि लोग आगे-आगे मार्ग
 दिखाते चले ॥१०॥ मार्गमें जाते हुए उन्होंने पहली रात को वाल्मीकिजीके उस आश्रममें शिराई
 जहाँकि मृग उनके रथके शब्दको सुनकर चढ़े जावसे उधर देखन लगे थे ॥११॥ शत्रुघ्नजीके घोड़े
 भी एक मण थे इसलिये खना आवरण हो गया । तब वाल्मीकिजीने अपनी तपस्याके प्रभावसे
 प्रातिप्यकी सब सामग्री लुटाकर शत्रुघ्नका बड़ा सत्कार किया ॥१२॥ उसी रातको इनको गंगिणी
 माभी सीताने दो तेजस्वी पुत्रोंको उसी प्रकार जन्म दिया जैसे पृथ्वी अपने राजाके लिये धन और
 मंग्य उत्पन्न करती है ॥१३॥ माईने पुत्र होनेकी बात सुनकर शत्रुघ्नका जो सित गया और
 अगले दिन उसके ही के हाथ जोड़कर मुनिसे आज्ञा लेकर रथपर चढ़कर आगे बढ़े ॥१४॥ जिस
 समय वे मधूपध्न नगरमें पहुँचे, उसी समय रावणकी बहन कुम्भीनसेना बेटा नवगामुर बहुतसे

धूमधूम्रो वसागन्धी ज्वालाध्रुशिरोरुहः ।
 क्रव्याद्वर्णपरीवारश्चिताशिरिव अंगमः ॥१६॥
 अथशूल तमासाद्य लवणं लक्ष्मणाजुजः ।
 रुरोध ममुप्रीनो हि जपो रन्ध्रप्रहारिणाम् ॥१७॥
 नातिपर्याप्तमालक्ष्य मत्कुक्षेरथ भोजनम् ।
 दिष्टया त्वमसि मे घात्रा भीतेनोपपादितः ॥१८॥
 इति संतर्ज्य शत्रुघ्नं राक्षसस्तज्जिघांसया ।
 प्रांशुमुत्पाटयामास मुस्तास्तम्यमिव द्रुमम् ॥१९॥
 सौमित्रेर्निशितैर्वाशैरन्तरा शकलीकृतः ।
 गात्रं पुष्परजः प्राप न शास्त्री नैर्ऋतेरितः ॥२०॥
 विनाशात्तस्य वृक्षस्य रक्षस्तस्मै महोपलम् ।
 प्रजिघाय कृतान्तस्य मृष्टिं पृथगिव स्थितम् ॥२१॥
 पेन्द्रमस्रमुपादाय शत्रुघ्नेन स ताडितः ।
 सिकतात्वादपि परां प्रपेदे परमाणुताम् ॥२२॥

पशुमोको गारुडर बनसे इस प्रकार लौटा चला था रहा था मानो बनवे उसे यह सब भेड़मे दिया हो ॥१६॥ उसका रंग गुँद जैसा काला था, उसकी देहसे चर्बीकी गन्ध निकल रही थी, माणकी लपटोंने समान उसने बिजरे हुए बक के घोर मांस लानेवाले राक्षस उसके चारों घोर बन रहे थे । इस प्रकार यह उस चिताकी अग्निने समान लग रहा था जो धुँधले धुँपती हो, जिसमेंसे चर्बीकी गन्ध निकलती हो, जिसमें लपटें निकल रही हो घोर जिसके आसपास कूत्ते घोर पिङ्ग आदि सँस भक्षी पशु-पक्षी भूग रहे हो ॥१७॥ शत्रुघ्ने देखा कि यह प्रवसर ठीक है क्योंकि इसके हाथमें भाता नहीं है । यह भट्ट उन्हीने सवखानुरकी घेर लिया क्योंकि जो शत्रुके क्षत्तिहीन होनेपर प्रहार करता है वह अवश्य विजयी होता है ॥१८॥ शत्रुघ्नको देखकर सवखानुर गरज उठा—साज मेरे भोजनकी सामग्री कम थी, यह देखकर सल्लाने उठकर मेरा भोजन पूरा करनेके लिये तुम्हें यहाँ भेज दिया है ॥१९॥ यह कहकर उसने शत्रुघ्नकी आरनेके लिये एक बड़ा भारी पेठ एते धीरेसे उखाड़ लिया जैसे मोचा उखाड़ खिया जाता है ॥२०॥ सवखानुरने ज्योंही वह वृक्ष शत्रुघ्नपर फेंका त्योंही उन्हीने उसे बीचमें ही टुकड़े-टुकड़े कर डाला । इस प्रकार वह वृक्ष तो उनके शरीरतक नहीं पहुँच सका केवल उसके फूलोंका परागभर उतकन पहुँच पाया ॥२१॥ उस वृक्षसे टुक टुक हो जानेपर उस राक्षसने एक ऐसी भगचूर तिला उठाकर शत्रुघ्नपर फेंकी मानो वह यमराजकर भूता हो हो ॥२२॥ पर शत्रुघ्नने ऐ-इ अस्व चलाकर उसे चूर-चूर कर दिया ॥२३॥ सब यह राक्षस

तमुपाद्रवदुद्यम्य दक्षिणं दोर्निशाचरः ।
 एकताल इवोत्पातपवनप्रेरितो गिरिः ॥२३॥
 काष्ण्येन पत्रिणा शत्रुः स भिन्नहृदयः पतन् ।
 धानिनाय शुवः कम्पं जहाराश्रमवासिनाम् ॥२४॥
 वयसां पङ्क्तयः पेतुर्हृतस्योपरि विद्विषः ।
 तत्प्रतिद्वन्द्विनो मूर्ध्नि दिव्याः कुसुमकूटयः ॥२५॥
 स हत्वा लवणं वीरस्तदा मेने महौजसः ।
 आतुः सोदर्यमात्मानमिन्द्रविद्वधशोमिनः ॥२६॥
 तस्य संस्तूपमानस्य चरितार्थैस्तपस्विभिः ।
 शुशुमे विक्रमोदग्रं व्रीहयावनतं शिरः ॥२७॥
 उपकूलं स कालिन्ध्याः पुरीं पौरुषभूषणः ।
 निर्ममे निर्ममोऽर्थेषु मधुरां मधुराकृतिः ॥२८॥
 या सौराज्यप्रकाशाभिर्वभौ पौरविभूतिभिः ।
 स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वेवापनिवेशिता ॥२९॥
 तत्र सौधगतः पश्यन्पशुनां चक्रवाकिनीम् ।
 हेमभक्तिमतीं भूमेः प्रवेणीमेव पिप्रिये ॥३०॥
 सखा दशरथस्यापि जनकस्य च मन्त्रकृत् ।
 संनस्कारोभयप्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि ॥३१॥

अपना बाहिगा हाथ ऊपर उठाये हुए शत्रुघ्नकी ओर झपटा । उस समय वह ऐसा लगा मानो बवंडर
 से उठाया हुआ कोई ऐसा पहलू चला आ रहा हो जिसकी पीछीपर लाखों पेड़ लगे हो ॥२३॥
 बैष्णव बाण सगते ही वह राक्षस पृथ्वीपर जा गिरा । उसके गिरनेसे ऐसी धमक हुई कि घरती काँप
 उठी, पर ही, आश्रमवासियोंका कौनसा धूर हो गया ॥२४॥ मरे हुए शत्रुके ऊपर गिद्ध प्रादि पक्षी
 हूट पड़े और शत्रुघ्नके ऊपर स्वर्गसे फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥२५॥ शत्रुघ्नजी जब लवणासुरको
 मार चुके तब उन्हें यह सन्तोष हुआ कि अब मैं मेघनादको मारनेवाले तेजस्वी लक्ष्मणका सचमुच
 सगा भाई हूँ ॥२६॥ जब तपस्विभोग नाम पुरा हो गया तब वे शत्रुघ्नको बहाई करने लगे । अपनी
 प्रशंसा गुनकर शत्रुघ्नजी कीसके मारे सजा गए ॥२७॥ तब पराक्रमी, संयमी और सुन्दर शत्रुघ्नने
 यमुनाके किनारे मधुरा नामकी नगरी बसाई ॥२८॥ शत्रुघ्न राजा या जानेसे उस नगरीके लोग ऐसे
 धनी और सुखी हो गए मानो स्वर्गमें जनसंख्या बढ़ जानेके कारण वहाँके कुछ लोग यहाँ लाकर बसा
 दिए गए हो ॥२९॥ शत्रुघ्नने मधुराके एक ऊँचे भवनपर पत्थर उस नीचे जलवाली यमुनाको देखा
 जिसमें बहुतसे नक़्के चहचहा रहे थे । उस समय यमुना उन्हें ऐसी सुन्दर दिखाई पड़ी मानो वह
 गुनहरी पृन्दोयानी पृथ्वीकी पीछी हो ॥३०॥ इसपर मन्त्रद्रष्टा वाल्मीकिजीने दशरथ और जनक दोनोंके

न तौ दृजलये दृजलस्तेषां तदाव्यया ।
 वसिः दृजलशयेर चराचरं तन्नामनः ॥३२॥
 गाङ्गां च वेदमध्याप्य सिचिदुज्जानार्जगरी ।
 रयति गापराभाम इतिवामपदतिम् ॥३३॥
 रामभ्य मधुरं दध गापन्तौ मातुग्रतः ।
 तद्वियोग्यया सिचिन्निर्लिखिततुः मुतौ ॥३४॥
 इतरेऽपि रघोरन्याभ्यस्तोताम्रिनेभ्यः ।
 तत्रोगात्पतिरर्न्नापु पत्नीपानन्दितनयः ॥३५॥
 जनुषानिति जनुषः मुताली च बहुश्रुते ।
 मधुगविदिशे मन्त्रोर्निदधे प्रजोत्सुरः ॥३६॥
 मय्यग्नयोव्ययोमा मृडालमीकेरिति मौज्यगान ।
 मैथिलीतनयोद्रीतनिस्पन्दमृगमाश्रमम् ॥३७॥
 वशी रिपेज चायोध्या रथानंभ्यस्तोभिर्नाम् ।
 लक्ष्मणस्य यथान्तरंगीवितोऽस्त्यन्तर्गौरयम् ॥३८॥
 न ददर्श ममामर्ये ममात्रिन्पश्चिन्तम् ।
 रामं गीतापठित्यागादमामान्यपति भुवः ॥३९॥

तमम्यनन्दत्पराते लवणान्तकमग्नयः ।
 कालनेमिदधात्प्रीतस्तुरापाडिव शार्ङ्गिणम् ॥४०॥
 स पृष्टः सर्वतो वार्तमाख्यद्राजे न मंततिम् ।
 प्रत्यर्पयिष्यतः काले कवेराद्यस्य शासनात् ॥४१॥
 अथ जानपदो विग्रः शिशुमप्राप्तयीवनम् ।
 अवतार्याद्भुशय्यास्थं द्वारि चक्रन्द भूपतेः ॥४२॥
 शोचनीयामि वमुचे या त्वं दशरथाच्च्युता ।
 रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात्कष्टतरं गता ॥४३॥
 श्रुत्वा तस्य शुचो हेतुं गोप्ता जिहाय गपचः ।
 न राकालभवो मृत्युरित्त्वाकुषदमस्पृशद् ॥४४॥
 स मुहूर्तं क्षमस्वेति द्विजमाधास्य दुःखितम् ।
 यानं मस्मार कौवेरं धैवस्वतजिगीषया ॥४५॥
 आनशमस्तदध्यास्य प्रस्थितः न रघूदहः ।
 उच्चचार पुरस्तस्य गूढरूपा नरस्वती ॥४६॥
 राजन्प्रजागु ते कथिदपन्नाः प्रवर्धते ।
 तमन्दिष्य प्रशमयेर्भवितामि ततः कृती ॥४७॥

इत्याप्तवचनाद्रामो विनेष्यन्वर्णविक्रियाम् ।
 दिशः पपात पत्रेषु वेगानिष्कम्पकेतुना ॥४८॥
 अथ धूमाभिताम्राचं घृक्षशाखावलम्बिनम् ।
 ददर्श कचिर्दत्त्वाकस्तपस्यन्तमधोमुखम् ॥४९॥
 पृष्टनामान्वयो राज्ञा स किलाचष्ट धूमपः ।
 आत्मानं शम्बुर्कं नाम शूद्रं सुरपदार्थिनम् ॥५०॥
 तपस्यनधिकारित्वात्प्रजानां तमधावहम् ।
 शीर्षच्छेद्यं परिच्छेद्य नियन्ता शस्त्रमाददे ॥५१॥
 स तद्वक्त्रं हिमग्लिष्टकिञ्चलकमिव पङ्कजम् ।
 ज्योतिष्कणाहतश्मश्रु कण्ठनालादपातयत् ॥५२॥
 कृतदण्डः स्वयं राज्ञा लेभे शूद्रः सतां गतिम् ।
 तपसा दुश्चरेण्यपि न स्वमार्गविलसिना ॥५३॥
 रघुनाथोऽप्यगस्त्येन मार्गसंदर्शितात्मना ।
 महौजसा संयुयुजे शरत्काल इवेन्दुना ॥५४॥
 कुम्भयोनिरत्नकारं तस्मै दिव्यपरिश्रहम् ।
 ददौ दत्तं समुद्रेण पीतेनेवात्मनिष्कयम् ॥५५॥

गया है उसे छोड़कर दूर करो, तभी तुम्हारा उद्देश्य पूरा होगा ॥४८॥ इस विभास-भरे वचनको सुनकर वेगसे चलनेके कारण कौपती हुई ध्वजावाले पुष्पक विमानपर बसकर राम बड़े देशभक्ते तिमरे तप-विद्याओंमें बचकर काटने लगे कि क्या धर्ममें कहीं दोष आया है ॥४९॥ धूमके-धाममें एक स्थानपर राम क्या देखते हैं कि एक पेठकी छायापर उलटा सटका हुआ एक मनुष्य नीचे जलती हुई आगवा घुसी पी पीकर तप कर रहा है और घुसी लगतेले उसकी आँखें खाम हो गई हैं ॥४९॥ रामने उससे पूछा—‘आपका नाम क्या है और आप किस बंधन में हैं । वह तपस्वी बोलो—‘मैं देवपद पानेके लिये तप कर रहा हूँ । मेरा नाम शम्बुर्क है और मैं शूद्र हूँ ॥५०॥ शूद्रोंकी तप करनेका अधिकार नहीं है । इसी अनधिकार वामने करनेसे प्रजामें पाप फैल रहा था । इसलिये रामने निश्चय कर लिया कि इसका वप करना ही होगा । उन्होंने हाथमें शस्त्र उठा लिया ॥५१॥ और उसका सिर उठी प्रकार मते परसे काट दिया जैसे कमलकी डली परसे कमल उतार दिया गया हो । आगकी चिनगाएँमें भुलसो दाढ़ीवाला उमका सिर ऐसा नम रहा था जैसे पालेसे जली हुई केसरवाला कमलपट्टा हो ॥५२॥ राजासे दण्ड पानेने कारण शूद्रको वह सद्गति मिल गई जो वह अपने उस बडोर तपसे कभी न पाता जो वह अपने धर्म-धर्मका उत्तुङ्ग करने चाह रहा था ॥५३॥ जैसे चन्द्रमा सूर्य श्रुतेसे मिलता है वैसे ही रामको मार्गमें प्रगस्त्य श्रुति भी मिले ॥५४॥ श्रुतिने उन्हें वे सुन्दर आभूषण दिए जो उन्हें समुद्रने उस समय दण्डके रूपमें दिए थे, जब उन्होंने समुद्रको पी डाला था ॥५५॥ रामने

तं दधन्मैथिलीकण्ठनिर्व्यापारेण बाहुना ।
 पथान्निवृत्ते रामः प्राक्परासुद्विजात्मजः ॥५६॥
 तस्य पूर्वोदितां निन्दां द्विजः पुत्रममागतः ।
 स्तुत्या निवर्तयामास त्रातुर्वैवस्वतादपि ॥५७॥
 तमध्वराय मुक्ताश्वं रत्नःकपिनरेश्वराः ।
 मेघाः शस्यमिवाम्भोभिरभ्यवर्षन्नुपायनैः ॥५८॥
 दिग्भ्यो निमन्त्रिताश्चैनमभिजग्मुर्महर्षयः ।
 न भौमान्येव चिप्पयानि हित्वा ज्योतिर्मयान्यपि ॥५९॥
 उपशस्यनिविष्टैस्तैश्चतुर्द्वारमुखी बभौ ।
 अयोध्या सृष्टलोकेव सद्यः पैतामही तनुः ॥६०॥
 श्लाघ्यस्त्यागोऽपि वैदेखाः पत्युः प्राग्यशवासिनः ।
 अनन्यजानेः सैवासीद्यस्माज्जायाहिरण्ययी ॥६१॥
 विधेरधिकमंभारस्ततः प्रचवृत्ते मरुतः ।
 आसन्न्यत्र क्रियाविघ्ना राक्षसा एव रक्षिणः ॥६२॥
 अथ प्राचेतसोपह्वं रामायणमितस्ततः ।
 मैथिलेयौ कुशलयौ जगत्तुर्गुणोदितौ ॥६३॥

वे भानूपण केसर प्रपन्नी वन भुजाभोगे बीच लिये जो सीताजीके वन बने जानेसे सीताजीके कण्ठमें पटनेसे पणित हो रहे थे । जब राम अयोध्या लौटे तब उन्हें ज्ञात हुआ कि वनके घानेके पहले ही ब्राह्मणका पुत्र जी उठा था ॥५६॥ पुत्रके जी उठनेपर उस ब्राह्मणने रामकी बड़ी स्तुति की और पहले जो निन्दा की थी उसे अपनी स्तुतिसे भी डाला क्योंकि रागने उसने पुत्रको ममराजके हाथोंसे छुड़ाया था ॥५७॥ कुछ दिन बीते रामने अश्वमेध यज्ञके लिये घोड़ा छोड़ा । जैसे बादल घानेके छेतपर जल बरसाते हैं वैसे ही सुग्रीव-विभीषण आदिने धाकर रामके घाने मेंटके घनकी वर्षा कर दी ॥५८॥ यज्ञके लिये रामने तीनो लोकों के ऋषियोंकी धामन्त्रित किया था । वे ऋषि पृथ्वीसे ही नहीं, परन्तु सप्तभि-मण्डल आदि दिव्य स्थानोंसे भी रामने पास आए ॥५९॥ वे लोग धापर नगरने आस पासके देहातीमें टिने हुए थे । जब वे अयोध्याने चारो दारोंसे नगरमें पड़े तब चार दारोवाली यह अयोध्या ऐसी जान पड़ने लगी मानो तत्काल सृष्टि करनेवाले ब्रह्माकी चतुर्मुखी मूर्ति हो ॥६०॥ सीताने स्वयंसे रामकी एक यह भी प्रशंसा हुई कि रामने किसी दूसरी स्त्रीसे अपना विवाह नहीं किया । इसलिये यज्ञसे खोजी सीता बनारस रामने अपनी पत्नीके स्थानपर उसे बैठा दिया ॥६१॥ इस प्रकार वह श्रद्धि यज्ञ प्रारम्भ हुआ जिसमें भावश्यकतासे अधिक तो सामग्री इकट्ठी हुई थी और विधिपटा यह भी कि यज्ञ क्रियामें विघ्न करनेवाले राक्षस ही उगकी रखवाली कर रहे थे ॥६२॥ तब वात्सीकिजीजी आशसे सीताजीके पुत्र सब और कुछ जनवा बनाया हुआ

वृत्तं रामस्य वाल्मीकिः कृतिस्ती किन्नरस्वनी ।
 किं तथेन मनो हर्तुमलंस्यातां न शृण्वताम् ॥६४॥
 रूपे गीते च माधुर्यं तयोस्तज्जैनिवेदितम् ।
 ददर्श सानुजो रामः शुश्राव च कुतूहली ॥६५॥
 तद्गीतश्रवणंकाशा मंसदधुमुग्धी बभौ ।
 हिमनिष्यदिनी प्रातर्निर्वातेव वनस्थली ॥६६॥
 वयोरेपविमंवादी रामस्य च तयोस्तदा ।
 जनता प्रेक्ष्य सादर्यं नाचिकम्पं व्यतिष्ठित् ॥६७॥
 उभयोर्न तथा लोकः प्राचीष्यन् विशिष्यते ।
 नृपतेः प्रीतिदानेषु बीतसृष्टवया यथा ॥६८॥
 नेमे को नु विनेता वां कस्य चेयं कृतिः कवेः ।
 इति राज्ञा स्वयं पृष्टौ तौ वाल्मीकिमशंभताम् ॥६९॥
 अथ सावरजो रामः प्राचेतममुपेयिवान् ।
 ऊरीकृत्यारमनो देहं राज्यमस्मै न्यवेदयत् ॥७०॥
 स तावाग्याय रामाय मैथिलेर्षा तदान्मजौ ।
 क्षयिः कारुणिको बभे भीतायाः मंपरिग्रहम् ॥७१॥

ततः शुद्धा समर्च नः स्तुपा ते जातवेदसि ।
 दौरात्म्याद्भक्षस्तां तु नात्रत्याः श्रद्धुःप्रजाः ॥७२॥
 ताः स्वचारित्र्यमुद्दिश्य प्रत्याययतु मैथिली ।
 ततः पुत्रवतीमेनां प्रतिपत्स्ये त्वदक्षया ॥७३॥
 इति प्रतिश्रुते राज्ञा जानकीमाश्रमान्मुनिः ।
 शिष्यैरानाययामास स्वसिद्धिं नियमैरिव ॥७४॥
 अन्येद्युथ काकुत्स्थः संनिपात्य पुरौक्यः ।
 कविमाहाययामास प्रस्तुतप्रतिपत्तये ॥७५॥
 स्वरसंस्कारघत्थासौ पुत्राम्यामथ सीतया ।
 अष्टैवोदचिपं सूर्यं रामं मुनिरुपस्थितः ॥७६॥
 कापायपरिवीतेन स्वपदार्पितचक्षुषा ।
 अन्वमीयत शुद्धेति शान्तेन वपुषैव सा ॥७७॥
 जनास्तदालोकयथात्प्रतिमंहतचक्षुषः ।
 तस्युस्तेऽघाद्मुखाः सर्वे फलिता इव शालयः ॥७८॥
 तां दृष्ट्विषये भर्तुर्मुनिरास्थितविष्टरः ।
 कुरु निर्मशाय वरसे स्ववृषे लोकमित्यशात् ॥७९॥

सब तुम्हें बाहिए कि सीताजीको स्वीकार कर लो ॥७१॥ रामने कहा कि आपकी पत्नी ही सीता हमारे सामने ही घनिमे छुट हो चुकी है, पर रावणकी दुष्टताका विचार करते यहाँकी प्रजाको विश्वास नहीं होता ॥७२॥ इसलिये यदि सीता अपनी दुष्टताका प्रमाण देकर प्रजाको विश्वास दिलावें, तब मैं आपकी आज्ञासे पुत्रोंके साथ उन्हें प्रहृत्य कर लूँगा ॥७३॥ रामकी ऐसा प्रतिज्ञा सुनकर वाल्मीकिजीने शिष्योंको भेजकर सीताजीको इस प्रकार बुलाया मानो वे नियमोंके द्वारा अपनी सिद्धि बुला रहे हों ॥७४॥ दूसरे दिन रामने इस कामके लिये प्रजाको दण्डा मरके वाल्मीकिजीको बुलाया ॥७५॥ वाल्मीकिजी सब, कुछ और सीताजीको साथ लेकर रामके आगे उपस्थित हुए । पुत्रोंके साथ रामके पास जाती हुई सीताजी ऐसी समती थी मानो स्वर और सस्तरोंके साथ गायत्री, सूर्यके पास जा रही हो ॥७६॥ गेरए यज्ञ पहले और अपनी प्राँतें नीची किए हुए सीताजी अपने शान्त शरीरसे हो परिण दिलाई देती थी ॥७७॥ उन्हें देखते ही सब लोगोंने उसी प्रकार अपनी प्राँतें नीची कर लीं जैसे फले हुए फानवें बलम भुज जाते हैं क्योंकि उन्हें सज्जा समी कि हम लोगोंने धर्म ही इस माध्यमपर बलम लगाया ॥७८॥ आसपसरे बैठे हुए वाल्मीकिजीव सीताजीसे कहा—देता ! जनताके मनमें तुम्हारे धर्मके विषयमें जो सन्देह है वह मुझ परने पतिते धारें ही मिटा दो ॥७९॥ वाल्मीकिजीने निम्नवे पत्रिज नम सागर सीताजीको दिया और उगरा घावमन करने सीताजीने यह

अथ वाल्मीकिशिष्येण पुण्यमावर्जितं पयः ।
 आचम्योदीरयामास सीता सत्यां सरस्वतीम् ॥८०॥
 बाह्मनःकर्मभिः पत्यो व्यभिचारो यथा न मे ।
 तथा विश्वंभरे देवि मामन्वर्षातुमर्हसि ॥८१॥
 एषमुक्ते तथा साध्व्या रन्त्रात्सद्योभवादुवः ।
 शातहृदमिव ज्योतिः प्रमामण्डलमुद्ययौ ॥८२॥
 तत्र नागफलोत्सिप्तसिंहासननिपेदुषी ।
 समुद्ररशना साक्षात्प्रादुरासीद्भ्रतुंधरा ॥८३॥
 सा सीतामहमारोप्य मर्तृप्रणिहितेवशाम् ।
 मा मेति व्याहरत्येव तस्मिन्पातालमग्न्यात् ॥८४॥
 धरायां तस्य संरम्भं सीताप्रत्यर्पणैषिणः ।
 गुरुर्विधिवलापेन शमयामास धन्विनः ॥८५॥
 ऋषीन्विसृज्य यद्वास्ते सुहृदश्च पुरस्कृतान् ।
 रामः सीतागतं स्नेहं निदधे तदपत्ययोः ॥८६॥
 युधाजितश्च संदेशात्स देशं सिन्धुनामकम् ।
 ददौ दत्तप्रभावाय भरताय भृतप्रजः ॥८७॥
 भरतस्तत्र गन्धर्वान्पुधि निर्जित्य केवलम् ।
 आतोद्यं ग्राहयामास समत्याजयदायुधम् ॥८८॥

एतय वचन कहा ॥८०॥—यदि मैंने मन, वचन, कर्म किसी प्रकारसे भी अपनी पतिव्रत भङ्ग न किया हो तो दे भरती माता । तुम मुझे अपनी गोदमे ले लो ॥८१॥ पतिव्रता सीताके ऐसा कहते ही पृथ्वी घबराकर फट गई और उसमेंसे बिजलीके समान चमकीला एक तेजोमण्डल निकला ॥८२॥ उसमेंसे नागके पक्षपर रखे हुए सिंहासनपर बैठी हुई, समुद्रको लकड़ी पहने साक्षात् भरती माता प्रकट हुई ॥८३॥ उन्होंने उन सीताजीको अपनी गोदमे ले लिया जो रामजी और दत्तकी बाँधे थीं । राम कहते ही रह गए—हैं हे । यह क्या करती हो, यह क्या करती हो, पर वे सबके देखते-देखते पातालमें उभा गई ॥८४॥ रामकी पृथ्वीपर बड़ा श्रेष्ठ शायी और पृथ्वीसे सीताको लोटा लेनेके लिये उन्होंने अपना धनुष उठाया । पर ब्रह्माजी तो सब कुछ जानते ही थे, उन्होंने आकर रामको समझाया और उनका श्रेष्ठ शान्त किया ॥८५॥ किसी प्रकार यह समाप्त हुआ और यह हो जानेपर रामने ऋषियोंको छुट्टी दी । अब वे अपने पुत्रोंसे उतना ही प्रेम करने लगे जितना सीताजीसे करते थे ॥८६॥ प्रजापालक रामने भरतके मामा युधाजित्के गहनेपर सिन्धु देशका राज्य प्रभावशाली भरतको दे दिया ॥८७॥ भरतने गन्धर्वों को जीतकर उनके हाथमें वेगल बीणा तो रहने दी किन्तु

स तत्पुष्कलौ पुत्रौ राजधान्यास्तदाख्ययोः .
 अभिषिञ्च्यामिपेकार्हे रामान्तिकमगात्पुनः ॥८६॥
 अद्भुतं चन्द्रकेतुं च लक्ष्मणोऽप्यात्मसम्भवौ ।
 शासनाद्रघुनाथस्य चक्रे कारापथेश्वरी ॥८७॥
 इत्यारोपितपुत्रास्ते जननीनां जनेश्वराः ।
 भर्तृलोकप्रपन्नानां निवापान्विदधुः क्रमात् ॥८८॥
 उपेत्य मुनिवेषोऽथ कालः प्रोवाच राघवम् ।
 रहः संवादिनौ परयेदायां यस्तं त्यजेरिति ॥८९॥
 तथेति प्रतिपद्याय विवृतात्मा नृपाय सः ।
 आचख्यौ दिवमध्यास्य शामनात्परमेष्ठिनः ॥९०॥
 विद्वानपि तयोर्द्वाःस्थः समयं लक्ष्मणोऽभिनत ।
 भीतो दुर्वाससः शापाद्भ्रामर्मदर्शनार्थिनः ॥९१॥
 स गत्वा, सरयुतीरं देहत्यागेन योगवित् ।
 चक्रराक्षिषां ब्रातुः प्रतिज्ञां पूर्वजन्मनः ॥९२॥

घनपुत्र दुःखना दिया ॥८६॥ उन्होंने तब भीर पुष्कल नामक योग्य पुत्रोत्री, तब भीर पुष्कल राज-
 धान्योना राजा बना दिया भीर स्वयं रामके पास लोट आए ॥८६॥ रामकी आज्ञासे लक्ष्मणने
 अद्भुत भीर चन्द्रकेतु नामके अपने दोनों पुत्रोत्री कारापथना राजा बना दिया ॥८७॥ इस प्रकार
 पुत्रोत्री राम देवदत्त उन पारोने अपनी स्वर्गोना माताओंके धाढ आदि कस्कार दिए ॥८८॥ यह
 राय हो जानेपर एक दिन रामने पास मुनिवा वेष बनाकर बाल धारया भीर बोला—'मैं आपसे
 एवातमे कुछ बातें करना चाहता हूँ । जो भी कोई हम लोभोत्री बलके बीचमे पावे उसे आप देख-
 निजाना दे दीजिए ॥८९॥ रामने कहा—'बन्धो बात है ।' तब उमने अपना सच्चा रूप दिखाया
 भीर कहा कि प्रज्ञाकी आज्ञा है कि अब आप बलवर बंशुगठमे रह ॥९०॥ यह बात हो ही रही थी
 कि इसी बीच दुर्वासकी कहति आ गयने । उन्होंने डारकर बड़े हुए लक्ष्मणसे कहा कि अभी
 चार रामसे बड़ी कि मैं आया हूँ, नहीं तो तुम्हारे पुत्रोत्री अभी आपसे भस्म कर दूंगा । लक्ष्मण-
 जो जानने ही थे कि जो इस समय रामके पास आया उसे देह-निजाना होना फिर भी बातचीतके
 योगमे ही बरकरार उन्होंने ब्रह्मा दे दी ॥९१॥ यहि भीटकर योगमार्गके जानेवाले लक्ष्मणने
 गरुडे विजारे जगद गाय बलम गरीर छोडकर बड़े भारी प्रतिज्ञाकी रखा कर ली ॥९२॥ अपने-

तस्मिन्नात्मचतुर्गणे ग्राह्णाकमधितस्पृषि ।
 राघवः शिथिलं तस्यौ भुवि धर्मस्त्रिपादिव ॥६६॥
 स निवेश्य कुशावत्यां रिपुनागाङ्गुशं कुशम् ।
 शरावत्यां सतां सृक्कैर्जनिताश्रुलभं संनम् ॥६७॥
 उदक्प्रतस्थे स्थिरधीःसानुजोऽग्निपुरःसरः ।
 अन्विताः पतिवात्सल्याद्गृहवर्जमयोर्ष्यया ॥६८॥
 जगृहुस्तस्य चित्तज्ञाः पदवीं हरिरांशयाः ।
 कदम्बमुकुलस्थूलैरभिष्टुष्टां प्रजामुमिः ॥६९॥
 उपस्थितविमानेन तेन भक्तानुकम्पिना ।
 चक्रे त्रिदिवनिश्रेणिः सरयूरनुपायिनाम् ॥१००॥
 यद्गोप्रतरकक्षपोऽभूत्संमर्दस्तत्र मज्जताम् ।
 अतस्तदारुणया तीर्थं पावनं भुवि पप्रथे ॥१०१॥
 स विधुर्विधुषांशेषु प्रतिपन्नात्ममूर्तिषु ।
 त्रिदशीभूतपौराणां स्वर्गान्तरमकल्पयत् ॥१०२॥

चीमार्द्रं सप्त लक्ष्मणके स्वर्गं चले जानेपर राम उसी प्रकार छोले पड गए जैसे पृथ्वीपर भेता घुसने
 तीन पैरवाला धर्म छोला पड जाता है ॥६६॥ स्थिर बुद्धिवाले रागने कटु-रूपी हाथियोंके लिये
 मृकृषाके सपान भयनामक नुशको कुशावतीका राज्य दे दिया और अपने मधुर वचनसे सज्जनोकी
 भाँखोसे भ्रामूकी पार बहानेवाले सबको उन्होंने सरावतीका राजा बनाया ॥६७॥ फिर अग्नि-
 होत्रकी अग्नि प्रागे करके आइयोके साथ वे उत्तरकी ओर चले । जब सगोष्ठापासियोंने यह सुना
 तो रामके प्रेममे वे सब भी केवल अपने-अपने घर पीछे छोडकर उनके साथ हो लिए ॥६८॥
 रामके मगकी बात जाननेवाले बाबर और राजस भी उनके पीछे-पीछे चले । जिस मार्गसे राम चले
 जा रहे थे वह मार्ग रागके पीछे-पीछे जाने वाली जगताके भ्रांसुधोरो गीता हो चला ॥६९॥
 अक्तोपर कुपा करनेवाले राम विमानपर चढकर स्वर्ग चले गए और सरयूको उन्होंने अपने पीछे
 घानेवालोंके लिये स्वर्गकी सीढी बना दिया [अर्थात् जो सरयूमे स्नान करता था वह तुल्य स्वर्ग
 चला जाता था] ॥१००॥ वहाँ रत्नाज करनेवालोंकी बँसी ही भीड हुई जैसे घोषोकी पार कराते
 समय होती है, इसलिये उस पवित्र तीर्थका नामही ससारमे गोप्रतर प्रसिद्ध हो गया ॥१०१॥
 देवताओंके संशयारी रीति, जाननेने भी अपना देवद्वय पारख कर लिया इसलिये इतने लोग स्वर्गमे
 पहुँच गए कि सामर्थ्यवाली रामकी देवपद प्राप्त करनेवाले अयोध्यावासियोंके रहनेके लिये एक

निर्वर्त्यैवं दशमुत्तशिरस्त्रेदकार्यं सुराणाम्
 विष्वक्सेनः स्वतनुमविशत्मर्बलोकप्रतिष्ठाम् ।
 लङ्कानाथं पवनतनयं चोभयं स्थापयित्वा
 कीर्तिस्तम्भद्वयमिव गिरौ दक्षिणे चोत्तरे च ॥१०३॥

इति महाबलिधीवालिदासवृत्तौ रघुवंशे महाकाव्ये
 रामस्वर्गारोहणो नाम पञ्चदशः सर्गः ॥

हूयरा स्वर्गं यवन्ता पडा ॥१०३॥ विष्णु भगवान्ने हत प्रकार राखलवा वय करवे देवताओंका
 कार्य पूरा किया और उत्तरगिरि हिमालयपर हनुमानजीको तथा दक्षिणगिरि प्रह्लदार बिमोपलजीको
 अपने दो कीर्तिस्तम्भोंके रूपमें स्थापित करने लीनो तोकोको धारण करनेवाले गगनाय अपने चिराट्
 घरीरमें लीन हो गए ॥१०३॥

महाबलि कीर्तिदासने ऐसे हुए रघुवंश महाकाव्यमें रामरा स्वर्गारोहण
 नामका पन्द्रहवां सर्ग समाप्त हुआ ॥

॥ षोडशः सर्गः ॥

अथेतरे सप्त रघुप्रचीरा ज्येष्ठं पुरोजन्मतया गुणैश्च ।
 चक्रुः कुप्यां रत्नविशेषभाजं सौमित्रात्रमेपां हि कुलानुसारि ॥१॥
 ते सेतुपार्चांगजबन्धगुरुर्यैरभ्युच्छिताः कर्मभिरप्यबन्धैः ।
 अन्योन्यदेशप्रविभागसीमां वेलां समुद्राश्च न व्यतीयुः ॥२॥
 चतुर्भुजांशप्रभवः स तेषां दानप्रवृत्तेरनुपारतानाम् ।
 सुरद्विपानामिव सामयोनिभिन्नोऽष्टधा विप्रससार वंशः ॥३॥
 अथार्धरात्रे स्तिमितप्रदीपे शय्यागृहे सुप्तजने प्रयुद्धः ।
 कुशः प्रवासस्थकलत्रवेपामदृष्टपूर्वा वनितामपश्यत् ॥४॥
 सा साधुसाधारणपार्थिवजैः स्थित्वा पुरस्तात्पुरुहतभासः ।
 जेतुः परेषां जयशब्दपूर्व तस्याञ्जलि बन्धुमतो बबन्ध ॥५॥
 अधानषोढागर्गलमप्यगारं क्षायामिवादर्शतलं प्रविष्टाम् ।
 सविस्मयो दाशरथेस्तनूजः प्रोवाच पूर्वार्धविसृष्टरूप ॥६॥
 लब्धान्तरा सावरणेऽपि मेहे योगप्रभावो न च लक्ष्यते ते ।
 विभर्षि चाकारमनिर्घृतानां मृणालिनी हैममिबोपरागम् ॥७॥

सौलहर्षी सर्ग

अब आदि सात रघुवंशी कीरने अपने सबसे बड़े गार्ह कुशको अपना मुलिया बनाया क्योंकि
 धातुप्रेम तो जगने कुलका धर्म ही था ॥१॥ ये सभी गुल बांधो, कृपिको रक्षा करने और हाथियो
 को हनना करनेमे कुशल थे । फिर भी जैसे समुद्र अपने तटपा उलझन नहीं करता है, वैसे ही
 उनमेसे किसीने भी अपने राज्यकी सीमा लांघकर दूसरे भाईके राज्यकी सीमामे प्रवेश करनेका मत
 नहीं किया ॥२॥ जैसे सागवेदमे तुलसे उपमन्य मतवाले दिग्गजोका कुल छांट भागोमे बंट गया था
 वैसे ही निष्पुत्रके अन्धसे उत्पन्न हुए रामका दागी कुल भी छांट भागोमे फैला ॥३॥ एक दिन धात्री
 रातको, जब समय सुहृन्त दोष दिग्दिशा रहा था और सब लोग सोए हुएथे, कुशको एक स्त्री दिखाई
 दी । उसे कहोने पहले कभी नहीं देखा था पर उसका चेहरा देखनेसे जाग पडता था कि उसका पति
 परदेश चला गया है ॥४॥ अपनी सम्पत्तिसे सज्जकोवा उपहार करनेवाले, हमरे समान देवस्त्री
 और शत्रुओंको जीतनेपले कुलके घाते यह स्त्री हाथ जोडकर खड़ी हो गई ॥५॥ जैसे दण्डमे मूँह-
 का प्रतिबिम्ब पंड जाता है, वैसे ही द्वार बन्द रहनेपर भी यह स्त्री घरके भीतर घा गई थी । उसे देख
 पर कुशको बड़ा आश्चर्य हुआ । ये क्षमापर आये उठकर उससे बोले ॥६॥ तुम हमारे इस बन्द
 भवनमे कुछ तो माई हो, पर कुम्हार मे मुझसे यह नहीं प्रकट होता कि तुम योगिनी हो, क्योंकि तुम
 पांसेरो गारी हुई कमलिनीके समान उदास दिखाई दे रही हो ॥७॥ हे श्रुते ! तुम बोन हो । कुम्हार

का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किंवा मदम्यागमकारणं ते ।
 थाचक्ष मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥ ८ ॥
 तमववीत्सा शुरस्थानवद्या या नीतपौरा स्वपदोन्मुखेन ।
 तस्याः पुरः संग्रति वीतनाथां जानीहि राजन्नाधिदेवतां माम् ॥ ९ ॥
 वस्वौकसारामभिभूय साहं सौराज्यवद्धोत्सवया विभूत्या ।
 समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति प्रपन्ना करुणामवस्थाम् ॥ १० ॥
 विशीर्णतल्पादृशतो निवेशः पर्यस्तशालः प्रमुखा विना मे ।
 विहम्बयस्यस्तनिमग्नसूर्ये दिनान्तमुग्राभिलभिन्नमेवम् ॥ ११ ॥
 निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः संचरोऽभूदभिसारिकाणाम् ।
 नदन्मुखोल्लासिचित्तामिषाभिः स बाहते राजपथः शिवाभिः ॥ १२ ॥
 आस्फालितं येत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत् ।
 वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ॥ १३ ॥
 घृजेशया यष्टिनिवासमङ्गान्मृदङ्गशब्दापगमादस्तास्याः ।
 प्राप्ता दबोस्काहतशेषवर्हाः क्रीडामयूरा वनर्हिषात्म्यम् ॥ १४ ॥
 सोपानमार्गेषु च येषु रामां निविस्रवत्यश्वरथान् सरागान् ।
 सद्यो हतन्यङ्कुमिरत्तदिग्धं ध्याग्रैः पदैः तेषु निधीयते मे ॥ १५ ॥

पतिका क्या नाम है और मेरे पास जिस लिए आई हो । तुम वह समझतर मुंह खोलना कि रघु-
 र्विजयोका जिस पराई स्त्रीकी ओर कभी नहीं जाता ॥८॥ उस स्त्रीने उत्तर दिया-हे राजन् ! जब
 मेरा वीर राम बैठुच्छ जाने लगे, तब जिस निर्दोष अयोध्यापुरीके निवासियोंको वे अपने साथे लेते गए
 उन्हीं अनाथ अयोध्यापुरीकी मैं नगरदेवी हूँ ॥९॥ पहले अच्छा राज होनेके कारणों मैं इतनी वैभवसे
 शांतिनी हो गई थी कि मेरे आगे पुष्करणी अथवा पुरी की लीनी लगती थी आजकल तुम्हारे ऐसे प्रतापों
 राजमे रहते हुए भी मेरी बहुत मुठे दशा हो गई है ॥१०॥ स्वाधोकेन रहनेसे बोटे घंटारियोंके हूट
 जानेसे मेरी निवासभूमि अयोध्या ऐसी उदास लगती है जैसे सूर्यास्तके संगमणी वह सन्ध्या ।
 जिसमे मायुके वेगसे छपर-उपर छिनराण हुए बादल दिखाई देते हों ॥११॥ रातने समय पहले जिन
 सङ्कोपर बसवते हुए विदुषोंवाली अभिगारिकाएँ चलती थीं, उन्हींपर आजकल ऐसी निवारिलें घूमती
 हैं जिनके मुठते पिल्लाते समय जिनगारियाँ निवसती हैं ॥१२॥ नगरकी जिन खोखलियोंका जल पहले
 जनक्रीडा करनेवाली मुन्दरियोंके हाथके थोकेसे भूवज्जने समान गम्भीर गन्द करते था, वह संज्ञे-
 क्त जङ्गली भैरोंके तीनोंकी चोटोंके बान बोके डालता है ॥१३॥ घंटोंके हूट जानेसे मेहोंके
 ओर धब धधोंपर जाकर बैठने हैं और मृदङ्ग न बजनेके कारण उन्हींके नानना भी गन्द कर दिया है
 अब वे उन जगली भैरोंके समान लगते हैं, जिनकी पूछें बनरी आगमे जन पेई हों ॥१४॥ और
 क्या कहें, पहले जिन सोड़ियोंपर मुन्दरियाँ अपने महावर अपने आज-जगत परे रेश्मी
 पसली थी, उन्हींपर मृग पारनेवाले बाघ अपने रहते अपने पास पर रहते लगते हैं ॥१५॥

चित्रद्विपाः पञ्चवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृशालभङ्गाः ।
 नसाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः सर्व्वसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥१६॥
 स्तम्भेषु योषित्प्रतिपातनानामुत्क्रान्तवर्षक्रमधूसराणाम् ।
 स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्मिमुक्ताः ॥१७॥
 कालान्तरस्यामसुधेषु नक्तमितस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु ।
 त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्रपादाः ॥१८॥
 आवर्ज्य शाखाः सदयं च यात्रां पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभिः ।
 वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरैस्ताः किरयन्त उद्यानलता मदीयाः ॥१९॥
 रात्रावनाविष्कृतदीपभासः कान्तामुरगश्रीवियुता दिवापि ।
 तिरस्क्रियन्ते कृमिस्तन्तुबालैर्विच्छन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः ॥२०॥
 पलिक्रिपावर्जितसैकतानि स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति ।
 उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा शून्यानि दूये सरयूजलानि ॥२१॥
 तदर्हसीमां वसतिं विसृज्य मामभ्युपैतुं कुलराजधानीम् ।
 हित्वा तनुं कारणमात्रुर्षी तां यथा गुरुस्ते परमात्मभूतिम् ॥२२॥

जिन चित्रोमे ऐसा दिखाया गया था कि हाथी कमलने वालाभ उत्तर रहे हैं और हथिनियां उन्हें सूँझते मामलके बण्टल तोड़कर दे रही हैं, उन चित्रित हाथियोंके मस्तकोंको सहोमे सच्चे हाथीका मस्तक समझकर मनोसे फाट दिया है ॥१६॥ जिन बहुतसे खधोमे स्त्रियोंकी मूर्तियाँ बनी हुई थीं आजकल उन मूर्तियोंका रंग उठ गया है । उन खधोको चन्दमका कुछ समझकर जो ताँप उनसे लिपटे हैं उनकी वैचुल्य छूटकर उन मूर्तियोंसे सट गई हैं और वे ऐसी लगती हैं माती-लुम पत्थरकी जिनोने स्नान करनेके लिये कोई कपड़ा डाल लिया हो ॥१७॥ जिन मनोपर कभी-भीतीकी मालाके समान शुभ्र चाँदनी चमका करती थी उनपर अब चाँदनी भी नहीं चमकती क्योंकि बहुत दिनोंसे मरमदा म होनेके कारण कोठोके जूनेवा रंग बाला पड़ गया है और उसपर जहाँ तहाँ घास जम आई है ॥१८॥ पहले उद्यानको जिन लताओंको धीरेसे झुकाकर सुन्दरी जियाँ फूल बतारा करती थी उन मेंरी प्यारी लताओंको जमली म्लेच्छोंके समान उत्पत्ती बन्दर भगवदोरे डाल रहे हैं ॥१९॥ आजकल मटारियोंके करोखोसे न तो रावको दीपकोंकी चिरखें निकलती हैं न दिनमे सुन्दरियोंका मुख दिखाई देता है और न बहोसे धगरका धूँआ हो निकलता है । अब वे करोखे मकड़ियोंके जालोसे डब गए हैं ॥२०॥ मुझे यह देखकर बड़ा दुःख होता है कि अब न तो सरयूके पाटीपर देवताओंके सिमे बलि दी जाती है और न स्त्रियोंके स्नान करनेके समयसे भगराग धाविको, गण्य ही नियत रही है । सरयूके तटपर बनी हुई बरानी ओपटियाँ भी सूनी पड़ी रहती हैं ॥२१॥ इसलिय जैसे तुम्हारे पिता रामने रासखोको मारनेके लिये जो मनुष्य शरीर धारण किया था उसे छोड़कर परमात्माके पहुँच गए वैसे ही तुम भी, दुष्ट नई राजपाती कुशावतीको छोड़कर गपती कुल-

तथेति तस्याः प्रक्षयं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्प्राग्रहो रघून्नाम् ।
 पूरप्यभिव्यक्तमुखप्रसादा शरीरवन्धेन तिरोबभूव ॥२३॥
 तदद्भुतं संसदि रात्रिवृत्तं प्रातर्द्विजेभ्यो नृपतिः शशंस ।
 श्रुत्वा त एनं हुलराजधान्याः साचात्पतित्वे वृतमस्यनन्दन् ॥२४॥
 कुशावतीं श्रोत्रियसात्स कृत्वा यात्रानुकूलेऽहनि सावरोधः ।
 अनुद्भूतो वायुरिवाभ्रवृन्दैः सैन्यैरयोध्याभिमुखः प्रतस्थे ॥२५॥
 सा केतुमालोपवना बृहद्भिर्विहारशैलानुगतेव नार्गैः ।
 सेना रथोदारगृहा प्रपाथे तस्याभवज्जंगमराजधानी ॥२६॥
 तेनातपत्रामलमण्डलेन प्रस्थापितः पूर्वनिवासभूमिम् ।
 यभी पलौघः शशिनोदितेन चेलामुदन्वानिव नीयमानः ॥२७॥
 तस्य प्रपातस्य वरूथिनीनां पीडामपर्याप्तयतीव सोढुम् ।
 वसंधरा विष्णुपदं द्वितीयमध्याह्नरोहेव रजश्चलेन ॥२८॥
 उघच्छमाना गमनाय पश्चात्पुरो निवेशे पथि च व्रजन्ती ।
 सा यत्र सेना दृष्टो नृपस्य तत्रैव सामायमतिं चकार ॥२९॥
 तस्य द्विपानां मदचारिसंकातपुराभिषाताश्च तुरंगमायाम् ।
 रेणुः प्रपेदे पथि पङ्कभावं पद्मोऽपि रेणुत्वमियाय नेतुः ॥३०॥

परंपरायी राजधानी समीप्यामे चलकर रहो ॥२३॥ कुचने उधरी प्रार्थना स्वीकार करती भीर
 बहा—एसा ही करेग । यह मुनवर समीप्याकी मगरदेवी थी मन्तर्धान हो गई ॥२३॥ राजा
 रातकी यह मगरजभरी घटना प्रातःकाल सनामे ब्राह्मणोंसे बही । यह मुनवर ब्राह्मणोंनि कन
 यकी प्रसमा की कि बाप धन्य है, जिन्हें कुच-राजधानीके अपनी दरवाजे मपना पति पुना है ॥२४॥
 उन्होंने कुशावती को वेदपाठी ब्राह्मणोंकी सोच दी और जैसे वायुके पीछे-पीछे बादल चलते हैं
 ही पीछे चलनेवाली सेनाके साथ पुनः मृगोंमें समीप्याके सिधे प्रस्थान किया ॥२५॥ यात्राके समय
 चलती हुई कुचरी सेना चलती चिखतो राजधानीके समान लगती थी क्योंकि उधवा ध्वजाधोरासा
 भाग लगावाने डकनों जैसा लग रहा था, बड़े-बड़े हाथी बनावटी पर्वतों-जैसे जान पड़ते थे और
 रण जैसी-जैसी प्रहारियों-जैसे लग रहे थे ॥२६॥ जैसे पन्द्रहा उदित होकर समुद्रको तटगत
 शीघ्र जाता है, वैसे ही शीघ्र चलवाली कुच समीप्या के सेनाको रघुपुत्रकी पुरानी राजधानी समीप्याकी
 घोर से घने ॥२७॥ यन्त्रो समय कुचकी सेनाका आरंभ की मही मंगल सरी, इसीसिधे उदरी
 हुई पुनः देवी जान पड़ रही थी मानो वृषी विष्णुके दूने पद [पाद] के पड़ते गई हो । २८॥
 कुचानीके पर्वतों हुई या भाषेने पड़ाकर पड़ो हुई या भाषेने चलनेवाली नितनी थी कुचकी
 सेनाकी दुर्गमिनी थी, ये सब पूरी नेत्र हो प्रतीत होती थी ॥२९॥ कुचने हमीपोंने मदनसते

मार्गैपिखी सा कटकान्तरेषु वैन्ध्येषु सेना बहुधा विभिन्ना ।
 चकार रेवेव महाविरावा वद्धप्रतिश्रुन्ति गुहामुखानि ॥३१॥
 स धातुभेदाख्यायाननेमिः प्रभुः प्रयासध्वनिमिश्रतूर्यः ।
 व्यलङ्घ्यद्विन्ध्यमुपायनानि पश्यन्पुलिनैरुपपादितानि ॥३२॥
 तीर्थे तदीये गजसेतुवन्वातप्रतीपगामुचरतोऽस्य गङ्गाम् ।
 अयत्नवालव्यजनीवभूर्बुधसा नमोलह्ननलोलपङ्खाः ॥३३॥
 स पूर्वजानां कपिलेन रोपाङ्गस्मावशेषीकृतविग्रहायाम् ।
 सुराऽलयप्राप्तिनिमित्तमम्भस्त्रैस्तोतसं नौ लुलितं ववन्दे ॥३४॥
 इत्यध्वनः कैभिदहोभिरन्ते कूलं समासाद्य कुशः सरध्वाः ।
 वैदिप्रतिष्ठां विताध्वराणां यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम् ॥३५॥
 आधूय शाखाः कुसुमद्रुमाणां स्पृष्ट्वा च शीतान्तरयूतरङ्गान् ।
 तं प्लान्तसैर्न्य कूलराजधान्याः प्रत्युज्जगामोपवनान्तवायुः ॥३६॥
 अथोपशस्ये रिपुमग्नशस्यस्तस्याः पुरः पौरसखः स राजा ।
 कूलध्वजस्तानि चलध्वजानि निवेशयामास बली बलानि ॥३७॥
 तां शिल्पिसंघाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां संभृतसाधनत्वात् ।
 पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघा निदाघम्लपितामिवोर्ध्वान् ॥३८॥

मार्गकी घूल बीचड बन गई और बीचड भी बीरोकी टायोले धूल बन गई ॥३०॥ मार्ग भूल जावेके कारण वह सैना विध्यागलक आस-पास मार्ग ढूँढने लगी और कई भागोमें बँट गई । उस सेनाने समंदाके समान जो गम्भीर गर्जन किया उरसे पवंतकी गुफाएँ भी गूँज उठी ॥३१॥ गेरू प्रावि धातुप्रोते शिराके रथके पहिए सात हो गए थे और जिसकी चलती हुई सेनाके शब्दसे पुरहीके शब्द भी दब गए थे वह कुश विन्ध्याचलवासी किरातोके हाथसे पाई हुई भट की सामग्रियाँ देखते हुए प्राये बड़ चले ॥३२॥ वहाँ पाठ ही उलटी पश्चिमकी ओर बहनेवाली गङ्गाजीपर हावियोंका धूल बनावर वे पार उतरने लगे । उस समय आकाशमें जो घञ्जल पखोवावे हवा उरते थे वे कुशपर डुलते हुए चँवरके समान लग रहे थे ॥३३॥ कुशने नागोंने चलनेसे चञ्चल अस्त्रवाची गङ्गाजीकी प्रणाम किया क्योंकि नपितले कोपते चले हुए उनके पूर्वज सगरने गुज उसी जलकी कृपासे स्वर्ग पहुँचे थे ॥३४॥ इस प्रकार मार्गमें कुछ दिन बितकर कुश भी सरयूके किनारे पहुँचे । वहाँ उन्हें बड़े-बड़े यज्ञ करनेवाले रघुवशी राजाघोने गाढ़े हुए सँकटी यज्ञके लक्ष्मे दिखाई दिए ॥३५॥ अथोप्याके उपधर्मोंमें भूले हुए वृद्धोंकी टालियोंकी हिलाता हुआ तथा सरयूवे शीतल जलके स्पर्शसे ठण्डे बागुने प्रागे बढ़कर सेनाके हाथ चले हुए नुशवा स्थागत किया ॥३६॥ शत्रुविनाशक प्रजा-हर्तृपी राजाने पहुराती हुई ध्वजावाली अपनी सेनानों नगरके आस पासवे स्थानोंमें ठहरा दिया ॥३७॥ जैसे इन्द्रजी पाताले वादल, जल बरखाकर गरमोसे लगी हुई शृंखलोंकी हवा-मरा कर देते हैं, वैसे ही वृषवी

ततः सपर्या सपशूपहारां पुरः परार्ध्वप्रतिमागृहायाः ।
 उपोषितैर्वास्तुविधानविद्धिनिर्वर्तयामास रघुप्रवीरः ॥३६॥
 तस्याः स राजोपपदं निशान्तं कामीव कान्ताहृदयं प्रविश्य ।
 यथार्हमन्यैरनुजीविलोकं संभावयामास यथाप्रधानम् ॥३७॥
 सा मन्दुरासंश्रयिभिस्तुरंगैः शालाविधिस्तम्भगतैश्च नार्गैः ।
 पूरावभासे विपणिस्थपण्या सर्वाङ्गनद्धाभरणैव नारी ॥३८॥
 वसन्त तस्यां वसती रघूणां पुराणशोभामधिरोषितायाम् ।
 न मैथिलेयः स्पृहयांभू भवे दिवो नाप्यलकेधराय ॥३९॥
 अथास्य रत्नग्रथितोत्तरीयमेकान्तपाण्डुस्तनलग्नहारम् ।
 निःधासहार्याशुकमाजगाम धर्मः प्रियावेषमिवोपदेष्टुम् ॥४०॥
 अगस्त्यचिह्नादयनात्समीपं दिगुत्तरा मास्यति संनिष्टे ।
 आनन्दशीतामिव वाष्पघृष्टिं हिमस्रुतिं ह्रैमवतीं समर्ज ॥४१॥
 प्रघृद्धतापो दिवसोऽतिमात्रमत्यर्थमेव क्षणदा च तन्वी ।
 उभौ विरोचक्रियया विभिर्भौ जायापती सानुशपाविधास्ताम् ॥४२॥
 दिने दिने शैवलपन्त्यधस्तात्सोपानपवाणि विमुञ्चदम्भः ।
 उदण्डपद्मं गृह्णीषिक्काणां नारीनिवम्यद्वयमयंभूव ॥४३॥

मानासे बारीगरीने अपने धर्मोकी सहायनासे कनोप्याका बायापलट कर दिया ॥३६॥ फिर वह
 घोर उपवास करनेपाने बालु-विद्याके पण्डितोंने रघुवीर कुमारे धनमोल भूतिपांसे भरे परोंवाली
 कनोप्याका विपिपूर्वक नूतन कराया घोर अनुभोरा बलिदान भी कराया ॥३७॥ जैसे वामी पुर
 स्त्रीके हृदयमें पंड बना है वैसे ही कुरा भी कनोप्याके राजभवनमें प्रविष्ट हो गए घोर उन्होंने अपने
 मन्त्रियों को आदिसे रहनेके लिये दूसरे बहुतसे भवन दे दिए ॥३८॥ कनोप्याकी हाटीमें मुन्दर-मुन्दर
 बसुनों बिजनेकी मन्त्री हुई थीं, घुटभानमें पीके बेंडे हुए थे, हृन्गारोंके गम्भीर हाथी बेंडे हुए थे ।
 इस प्रकार वह नगरी ऐसी मुन्दर सगने लगी जैसे गारे घरीरपर गहना पहने हुए कोई स्त्री हो ॥३९॥
 कनोप्या फिर पहनें जैसी मुन्दर सगने लगी । उनमें त्रिजाल करके जानकीकोई पुत्र पुत्रको ऐसा
 मुग्न किया कि न तो उन्हें मुन्दर-मुन्दर कनराधोसे भरे स्वर्गके हाथी बनेकी दृष्टा रह गई और
 न मण्डप रत्नोंकी धनबाबुकी हो लेने की ॥४०॥ हाथमें सोव्य ऋषि पाई त्रिजाले मानो इन्हें
 अपनी उम्र त्रिजाल समस्त कर दिया त्रिजाली घोकुनोंमें रह गये हैं, त्रिजाले गोर-गोर रत्नोंपर
 मोतियोंका हार सज्जा हो घोर जो मौनमें उड़नेपाने गहिन करने पहने हुए हो ॥४१॥ गर्मीमें
 जो हिन सगने लगा रह देगा मज्जा या मानो दक्षिण दिशासे सूके कीट मानेकी प्रगल्भतामें उत्तर
 दिशासे मानकरके ठडे घागुनोंके समान लानेकी ठडी धारा हिवातमें बहाई हो ॥४२॥ मज्जन
 मानापने भरे दिन घोर कादम्ब छोटी राने, वे डोली उन पदपान हुए, दक्षिणकीसे उभाल दियाई
 देने लगे जो धाममें भगवा करने एक दूसरेके कः बडे हो ॥४३॥ गर्मीके बाग्य परकी दावदिया

वनेषु सायंतनमल्लिनां विलम्बसोऽन्विषु बुद्धमलेषु ।
 प्रत्येकनिक्षिप्तपदःसशब्दं संख्यामिषैषां भ्रमरश्चकार ॥४७॥
 स्वेदानुविद्धार्दनरत्नताङ्गे भूयिष्ठमंदशिरसं कपोले ।
 च्युतं न कर्णादपि कामिनीनां शिरीषपुष्पं सहसा पपात ॥४८॥
 यन्त्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान् रसेन धौतान्मलतोद्भवस्य ।
 शिलाविशेषानधिशय्य निन्धुर्धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः ॥४९॥
 सानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं विन्यस्तसार्यतनमल्लिकेषु ।
 कामो वसन्तात्पयमन्दवीर्यः केशेषु लेभे वलमङ्गनानाम् ॥५०॥
 आपिञ्जरा वद्धरजःकणत्वान्मङ्गर्जुदारा शुशुभेऽर्जुनस्य ।
 दग्ध्वापि देहं गिरिशेन रोपात्खण्डीकृता ज्येष्ठ मनीमयस्य ॥५१॥
 मनोज्ञगन्धं सहकारभङ्गं पुराणशीघ्रं नवपाटलां च ।
 संवध्मता कामिजनेषु दोषाः सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टाः ॥५२॥
 जनस्य तस्मिन्समये विगाढे बभूवहुर्द्वौ सविसेपकान्तौ ।
 तापापनोदत्तमग्रादसेवौ स चोदयस्थौ नृपतिः शशी च ॥५३॥
 अधोर्मिलोलोन्मदराजहंसे रोधोलतापुष्पवहे सरय्याः ।
 विहर्तुमिच्छा वनितासरस्य तस्याम्भसि ग्रीष्मसुखे बभूव ॥५४॥

भी सेवार जमी हुई सीधियोंको छोड़कर पीछे हटने लगी [भयार्ति उभय पानी सूखने लगा] जनम
 कमलकी उदियाँ दिताई देने लगी और पानी पटककर सिधियों कमर तक खड़े गया ॥४९॥ धर्ममि
 धमेसी रिल गई और उसकी सुगन्ध जारी और फैलने लगी । सन्ध्याको गुनगुनाते हुए और झुकते
 एक-एक फूल पर बैठकर मानो पूरोंकी गिनती करने लगे ॥४७॥ सिधियों पातोपर प्रियतमके
 हाथोंसे बने मलमलोर पर पसीनेकी बूँद फैल जाती थी और बानपर रखे हुए सिरसके फूलोंका वैचर
 झुकते सब पराङ्ग पर । इच्छाके जल के फूल राज पराङ्ग गिरते भी ये हो सङ्गा पृथ्वीपर नहीं गिर
 पाते थे ॥४८॥ पानी लीज गर्ममें ठही रहनेवासी जन विशेष प्रकारकी शिलाओपर सोबर दुपहरी
 धिताते थे जो पश्चिमसे गुली होती थी और जिनने पारों और जल पाराएँ छूटनी रहती थी ॥४९॥
 यशस्त कीत जानेके कारण जो कामदेव मन्द पद गया था वह स्थियोंके जन केरोंमें जाकर दग गया
 जो स्नान करनेपर रोल दिए जाते थे और जिसमें मुखसे सुगन्धित करने कामको पूनदेवासी धमेसीके
 सुगन्धित फूल दोस दिए जाते थे ॥५०॥ पराङ्गते मरी कुप पीली-नीली धर्जुनकी मञ्जरी ऐसी
 सगली थी मानो कामदेवका शरीर नष्ट करनेके पन्नाह दिवजोंके हाथसे तोड़ी हुई कामदेवके धनुषकी
 डोरी हो ॥५१॥ मनोहर गन्धवासी कामकी बीर, धुरानी मदिरा और नये पाटलके फूल तावर ग्रीष्म
 ऋतुने कामी पुरुषोंकी सब बगैरी पूरे कर दी ॥५२॥ उस कठिन ग्रीष्म समयमें उदित होकर दो ही तो
 प्रजाके बहुत ध्यारे हुए । एक तो मेवासे प्रसन्न होकर निर्वन्तता भादि सन्धाओंको दूर करनेवाले राजा
 कुन और दूसरे शीतल किरणों से गर्मियाँ ताप दूर करनेवाले पद्ममा ॥५३॥ एक दिन कुनकी

स तीरभूमौ विहितोपकार्यामानायिभिस्तामपकृष्टनक्राम् ।
 विगाहितुं श्रीमहिमानुरूपं प्रचक्रमे चक्रघरप्रभावः ॥५५॥
 सा तीरसोपानपथावतारादन्योन्यकेयूरविवाङ्मिनीभिः ।
 सनूपुरचोभपदाभिरासीदुद्विग्रहं सा सरिदङ्गनाभिः ॥५६॥
 परस्पराभ्युच्चसुतत्पराणां तासां नृपो मज्जनरामदर्शी ।
 नौसंश्रयः पार्व्वगतां किरातीमुपात्तवालव्यजनां वभासे ॥५७॥
 पश्चादरोधैः शतशो मदीयैर्विगाह्यमानो गलिताङ्गरामैः ।
 संध्योदयः साअ इवैष वर्षं पुष्पत्यनेकं सरयुप्रवाहः ॥५८॥
 विलुप्तमन्तःपुरसुन्दरीणां यदञ्जनं नौलुलिताभिरद्भिः ।
 तत्रध्वनीभिर्मदरागशोभां विलोचनेषु प्रतिमुक्तमाशाम् ॥५९॥
 एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुटोदुमशक्नुवत्पः ।
 गाढाङ्गदैर्वाहुभिरप्सु बालाः क्लेशोचरं रागवशात्प्लवन्ते ॥६०॥
 अमी शिरीषप्रसवावतंसाः प्रम्रंशिनी वारिविहारिणीनाम् ।
 पारिप्लवाः स्रोतसि निम्नगायाः शैवाललोलांश्चलपन्ति मीनान् ॥६१॥
 आसां जलास्फालनतत्पराणां मुक्ताफलस्पर्धिषु शीकरेषु ।
 पयोधरोत्सर्पिषु शीर्यमाणः संलक्ष्यते न च्छिद्रोऽपिहारः ॥६२॥

इच्छा हुई कि नहरोंके सहरानेसे मतपाने वगे हुए हवीबले, तटकी सतामोके कुलोकी बहानेवाले
 और गर्मि सुख देनेवाले सरयूके जलमे अपनी रानियोंके साथ बिहार करें ॥५५॥ यह निश्चय
 करके विष्णुवे समान प्रभाववाली कुल, सरयूके जलमे बिहार करने चले । सरयूके तटपर डेरें डाल
 दिये गए और मल्लाहोंने जास डालकर याह धावि सब जीव-जन्तु उसमेसे निकाल डाले ॥५६॥
 जब कुलाकी रानियां भीठियोंसे पानीमे उतरने लगी, उस समय उनके भुजबन्ध एक दूसरेसे रगड़
 खाने लगे, पैरोंके बिछुर बजने लगे और इन छन्दोंके सुन-सुनकर सरयूके हल मचल उठे ॥५७॥
 रानियां एक दूसरेपर जलके छींटे उड़ाने लगी । उन रानियोंके स्नानकी सोभा देखकर नामपर
 बैठे हुए राजा, पासमे खंवर सेवर दखी हुई बिरातिलेसे कहने लगे ॥५८॥ देख तो ! मेरे रजवास
 की सेंटो रानियोंके स्नान करनेसे और उनके शरीरसे धुले हुए धपारके मिल जानेसे सरयूकी
 भारा ऐसी रग-बिरंगी लगने लगी है जैसे बादलोंसे भरी सन्ध्या ॥५९॥ नावोंके चलनेसे
 जलमे जो नहरें उठती हैं उन्होने इन मुन्दरियोंकी घाँसोरा प्रञ्जन धो दिया है और उसके बदलेमे
 मत्पानने समयकी लाठी इनकी बाँधोंमे भरदी है ॥६०॥ भारी नितम्बों और स्तनोंके शरण
 ये रानियां अपनी भाँति तैर रही पार्श्वोंफिर भी खेलमे सम्मिलित होनेने बारख ये अपने मोटे-मोटे भुज
 बन्धोंवाली बाँहोंसे जलमे यकी कठिनाईसे तैर रही हैं ॥६१॥ इन जल-क्रोडा करनेवाली रानियोंके
 पानीसे किरने बरछूकल पिसकनर नदीमे गिरकर तैर रहे हैं । इनको देखकर महलियोंकी
 सेपारवा भ्रम हो रहा है और ये इनपर मुँह मारनेकी भाव रही हैं ॥६२॥ देख, जलक्रोडामें

अचर्तशोभा नतनाभिकान्तेर्भङ्गो भ्रुवां द्वन्द्वचराः स्तनानाम् ।
 जातानि रूपावयवोपमानान्यदूरवर्तीनि विलासिनीनाम् ॥६२॥
 तीरस्थलीवर्हि मिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकैरभिनन्दमानम् ।
 श्रोत्रेषु सम्पृच्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदङ्गवाद्यम् ॥६४॥
 संदष्टयस्त्रेप्यत्रलानितम्बेष्वित्दुग्रकाशान्तरितोद्भुतुल्याः ।
 अमी जलापूरितस्रग्मार्गा मौनं भजन्ते रशनाकलापाः ॥६५॥
 एताः करोत्पीडितवारिधारा दर्पात्सखीभिर्दनेषु सिक्ताः ।
 वक्त्रेतराग्रैरुत्कैस्तरुण्यश्रुत्सारुणान्वारिस्रवान्वमन्ति ॥६६॥
 उद्ग्रन्थकेशश्च्युतपत्रलेखो विरलेपिमुक्ताफलपत्रवेष्टः ।
 मनोज्ञ एष प्रमदामुखानामम्भोविहाराकुलितोऽपि वेषः ॥६७॥
 स नौविमानादवतीर्य रेमे विलोलहारः सह तामिरप्सु ।
 स्कन्धावलम्बोद्धृतपद्मनीफः करेणुभिर्वन्य इव द्विपेन्द्रः ॥६८॥
 ततो नृपेणानुभृताः स्त्रियस्ता आजिष्णुना सातिशयं विरेजुः
 प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामाः प्राप्येन्द्रनीलं किमुतोन्मयूखम् ॥६९॥

सगी हुई इन रानियोंकी यह भी नहीं गुप्त है कि हगारे हर दूट गए हैं और गोती बिलर गए हैं ।
 मोतियोंके समान बूंदोंकी ही गोती मानकर ये समझे बैठे हैं कि हर दूटा नहीं है ॥६२॥ देख,
 सुन्दरी स्त्रियोंके शरीरके अगोचरे समान जो वस्तुएँ सतारने प्रसिद्ध हैं वे सब इन सुन्दरियोंके
 प्राय पास छुट आई हैं । ये पानीकी बँवरें इनकी गहरी बाधिके समान हैं, सहर्ष इनकी भीड़के
 समान हैं और जबपा-पकवी इनके स्तनके समान है ॥६३॥ ये शान्ततर जो मृग वजानेके
 समान अपनी दे-देकर जल ठोक रही हैं उसे सुनकर बैठे हुए मोर अपनी पूँछ लठाकर और
 बोलकर उनका अभिनन्दन कर रहे हैं ॥६४॥ इन रानियोंके अपने निधम्बीपर ऐसे वस्त्र लपेट
 लिया है जिसके नीचे तगड़ीके पुँधुर ऐसे दिखाई देते हैं जैसे बौदनीके बने हुए तारे हो । तगड़ीके
 छोरोंमें जल भर जानेसे इन स्त्रियोंके इधरसे उधर झोड़नेपर भी ये बज नहीं रहे हैं ॥६५॥ जब
 इनकी राखियाँ इनके मुँहपर पानी डालती हैं और ये झुहवारसे अपनी सम्बियोंपर पानी उछालती हैं
 तब इनके सीधे लटने हुए बालोंके कुटुम्ब मिली हुई सात रबनी बूँद नूने लगती हैं ॥६६॥ यद्यपि
 स्नानके कारण जान सुल जानेसे, मुँह पर और स्तनोपर जो हुई चिचरातीये पुल जानेसे, तथा
 मोतियोंके बर्छाएँल जानेसे निवस जानेसे इन स्त्रियोंका वेध बेढगा हो गया है फिर भी देख, ये
 निवनी मनोहर लग रही हैं ॥६७॥ यह कहकर कुछ भी पानीमें उतर पड़े और जैसे कमबिनियोंकी
 उछाड़कर अपनेपर सटका कर हाथों अपनी हडिनियोंके साथ जलछोटा करता है जैसे ही वे भी उन
 स्त्रियोंके साथ जल बिहार करने लगे ॥६८॥ उस बान्तिमात्र राजाके साथ झोटा करती हुई वे
 रानियाँ पहलेसे भी यद्यपि सुन्दर लगने लगी क्योंकि मोती तो यों ही सुन्दर होना है और फिर

वणोदकैः काञ्चनशृङ्गमुक्तैस्तमायताक्ष्यः प्रणयादसिञ्चन् ।
 तयागतः सोऽतितरां वभासे सघातुनिष्पन्द इवादिराजः ॥७०॥
 तेनावरोधप्रमदासखेन विगाहमानेन सरिद्धरां ताम् ।
 आकाशगङ्गारतिरप्मरोभिर्वृतो मरुत्वाननुयातलीलः ॥७१॥
 यत्कुम्भयोनेरधिगम्य रामः कुशाय राज्येन समं दिदेश ।
 तदस्य जैत्रामरणां विहर्तुरज्ञातपातं सलिले ममज्ज ॥७२॥
 स्नात्वा यथाकाममसौ सदारस्तीरोपकार्या गतमात्र एव ।
 दिव्येन शून्यं बलयेन बाहुमपोदनेपथ्यविधिर्ददर्श ॥७३॥
 जयश्रियः संवननं यतस्तदमुक्तपूर्वं गुरुणा च यस्मात् ।
 सेहेऽस्य न भ्रंशमतो न लोभात्स तुल्यपुष्पाभरणो हि धीरः ॥७४॥
 ततः समाज्ञापयदाद्यु सर्वाणानापिनस्तद्विचये नदीप्लवान् ।
 बन्ध्यभ्रमास्ते सरयू विगाह्य तमूचुरम्लानमुखप्रसादाः ॥७५॥
 कृतः प्रयत्नो न च देव लब्धं भग्नं पयस्याभरणोचमं ते ।
 नागेन लौल्यात्कुमुदेन नूनमुपात्तमन्तर्हृदवासिना तत् ॥७६॥
 ततः स कृत्वा धनुराततज्यं धनुर्धरः कोपविलोहिताक्षः ।
 गारुडमत्तं तीरगतस्तरस्वी भुजंगनाशाय समाददेऽस्त्रम् ॥७७॥

यदि वह इन्द्र नीलमणिके साथ गुंभ दिया जाय तब तो कहना ही क्या ॥६९॥ ये स्थियाँ सोनेकी
 विनकारिणीएँ रंग छोट-छोटकर उन्हें भिरोने लगी । उस समय के ऐसे क्षणों लगे जैसे वर्षतराज
 हिमामय पड़ते गेल्ला करना फिर रहा हो ॥७०॥ निषोने साथ सरयूमें जल, क्रीडा करते समय
 कुत ऐसे लगते थे मानो देवराज इन्द्र अपाराधोनि साथ आकाशगङ्गामें जलक्रीडा कर रहे हो ॥७१॥
 रामकी परस्पर प्रद्विने जैत्र [मर्षात् सदा जितानेवासा] जो घाभूपण दिया था उसे रामने राज्यके
 साथ ही कुशको दे दिया था जल-क्रीडा करते समय वह घाभूपण पानीमें फिर पडा घोर किसीको
 दृष्टा मान भी नही हुआ ॥७२॥ रानिणीके साथ इच्छानुसार जल-क्रीडा करके जय कुत बाहर
 निकले घोर डेरमें गए तब कपडे बदलनेके पहले ही उन्होंने देखा कि मुलापर यह दिव्य घाभूपण
 नही है ॥७३॥ बुद्धिमान् राजा कुश, पूल घोर घाभूपण दोनोंको बराबर समझते थे । अब उन्हें
 उन घाभूपणने सोनेवा इमलिये कुछ नहीं था कि यह बहुमूल्य था, वरन् इमलिये कुछ हुआ कि वह
 घाभूपण विजय-यन्त्रों प्राप्त करनेवाला था घोर पिताया बिल्क था ॥७४॥ तब उन्होंने सब भीषणोंको
 घाभूपण दूँदनेकी आज्ञा दी । बहुत देरकर ता सोनेनि पानी क्रीडा कर उनका स्र परिश्रम
 व्यर्थ गया । वे कुजरे पास आकर बोले—॥७५॥ हे देव ! बहुत परिश्रम करनेपर भी हम लोग
 जलमें पडा हुआ घाभूपण घाभूपण नहीं पा गये । जान पड़ता है कि इस जलमें रहनेवाले कुछ
 मादके नागने सोभने उन्हें चुरा लिया है ॥७६॥ यह सुनने ही कुशकी धीनि कोपने माल ही गई

तस्मिन्हृदः संहितमात्र एव चोभात्समाविद्धतरङ्गहस्तः ।
 रोधांसि निघ्नन्नवपातमग्नः करीष वन्यः परुषं ररास ॥७८॥
 तस्मात्समुद्रादिव मध्यमानादुद्धृत्तनक्रात्ताहसोन्मज्ज ।
 लक्ष्म्येव सार्धं सुरराजवृच्चः कन्यां पुरस्कृत्य भुवंगराजः ॥७९॥
 विभषणप्रत्युपहारहस्तस्तमुपस्थितं वीक्ष्य विशापतिस्तम् ।
 सौर्षर्णमस्त्रे प्रतिसंजहार ग्रहोष्वनिर्वन्धरूपो हि रान्तः ॥८०॥
 त्रैलोक्यनाथप्रभवं प्रभावात्कुशं द्विपामङ्गुशमस्रविद्वान् ।
 मानोन्नतेनाप्यभिवन्द्य मूर्ध्ना मूर्ध्नाभिपिक्तं कुमुदो वभाषे ॥८१॥
 ध्रुवमि कार्यान्तरमानुषस्य विष्णोःसुताख्यामपरां तनुं त्वाम् ।
 सोऽहं कथं नाम तवाचरेयमाराधनीस्य धृतेर्विधातम् ॥८२॥
 कराभिघातोत्थितकन्दुकेपमालोक्य बालातिकृतहृत्सेन ।
 हृदास्पतज्ज्योतिरिवान्तरिक्षादादत्त जैत्राभरणं त्वदीयम् ॥८३॥
 तदेतदाज्ञानुबिलम्बिता ते ज्वाघातरेखाकिणलाञ्छनेन ।
 भुजेन रक्षापरिषेण भूमेरुपैतु योगं पुनरंसलेन ॥८४॥
 इमां स्वसारं च यवीयसीं मे कुमुद्वतीं नाहसि नानुमन्तुम् ।
 आत्मापराधं नुदतीं चिराय शुभ्रूपया पार्थिव पादयोस्ते ॥८५॥

और वही तटपर लड़े होकर उन्होंने मनुष्यो को ठीक किया और उसपर नागोरा भाव करनेवाला गारुडात्स चढ़ाया ॥७७॥ उनके मनुष्य नैदाते ही वहीका जल, खलबलाता हुआ, धवने सरग-कमी हाथ जोड़े हुए, तटको छोड़ता हुआ ऐसे बरबने लगा जैसे गर्दमे पड़ा हुआ कोई हाथी बिम्बाट रहा हो ॥७८॥ उस कसकी समुद्रके समान गया जाता देखकर चढ़ियाल घ्राषि जीव धमरा उठे । इसनेमे ही उस जलमेले भवानक एक कन्याको भागे किए हुए मातराज कुमुद इस प्रकार मिलने मानो लक्ष्मीको साथ लेकर कल्पवृक्ष निकल आया हो ॥७९॥ कुमुदे देखा कि कुमुदने हाथमे यही माभूपण है, इसलिये उन्होंने मनुष्यपरले गारुडात्स उतार लिया क्योंकि सगजन लोग उनपर शोध नहीं करते जो नष्ट होकर उनके भागे भाते है ॥८०॥ शिल्पेकीनाथ रामके पुत्र तथा समुद्रको प्रकृतके समान हुए देनेवाले राजा कुशके भागे मानसे उठा हुआ अपना सिर नग्नकर कुमुदने प्रणाम किया क्योंकि यह कुशके बालकी शक्ति मनी भीति जानता था । प्रणाम करके यह बोला — ॥८१॥ 'मैं यह जानता हूँ कि आप राजसोबा नाज करनेके लिये मनुष्यका लोचन पारण करनेवाले विष्णुके ही दूसरे रूप धर्मात् पुत्र हैं, इसलिये आप पूजनीय हैं । फिर मैं भला आपसे बंते कर कर रहता हूँ ॥८२॥ यह मेरी नग्या नंद खेल रही थी । इसकी गपनीसे नंद ऊपर उछल गई । उसे देखनेके लिये उठने जो ऊपर भाँखें उठाई तो देखा कि मातरासे गिरते हुए तारेके समान आपना माभूपण नीचे बसा सा रहा है । इसने झट उसे पकड़ लिया ॥८३॥ आप इसे लीजिए और अपनी उस मोटी और पुटनी तक सानी भुजामे फिर बाँध लीजिए जिसमे मनुष्यो को डोरीकी फटकारसे धट्टे पड़ गए हैं और जो मृत्वीको रक्षा करती है ॥८४॥ हे राजन् ! यह मेरी छोटी बहन कुमुद्वती

इत्यूचिधानुपहृताभरणः त्रितीशं

श्लाघ्यो, भवान्स्वजन इत्यनुभाषितारम् ।

संयोजयां विधिवदास समेतवन्धु,

कन्यामयेन कुमुदः कुलभूषणेन ॥८६॥

तस्याः स्पृष्टे मनुजपतिना साहचर्याय हस्ते,

माङ्गल्योर्णावलयिनि पुरः पावकस्योच्छ्रिखस्य ।

दिव्यस्तूर्यध्वनिरुदचरव्यूहनुवानो दिगन्तान्,

गन्धोदग्रं तदनु वज्रपुः पुष्पमाश्रयमेघाः ॥८७॥

इत्थं नागस्त्रिभुवनगुरोरौरसं मैथिलेयं,

लब्ध्वा वन्धुं तमपि च कुशः पंचमं तचकस्य ।

एकः शङ्कां पितृवधरिपोरस्यजद्वैनतेया,

च्छान्तव्यात्तामवनिमपरः पौरकान्तः शशास ॥८८॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये

कुमुदतोपरिणयो नाम षोडशः सर्गः ॥

जीवन भर आपकी सेवा करके प्रपना सपराम मिटाना चाहती है, इसलिये आप इसे अपनी पत्नीके रूपमें ग्रहण कर लीजिए ॥८६॥ यह कहकर कुमुदने बहू आभूषण कुशको दे दिया । कुश बोले—‘भाजसे आप मेरे मादरणीय सम्बन्धी हुए’ । यह सुनकर कुमुदने अपने कुटुम्बिकोंको बुलाया और बड़ी धूमधामसे अपनी कन्या कुशको ग्याह दी ॥८६॥ जब राजा कुशने प्राणिके प्राये उस कन्याका ऊनी कगल बेपा हुआ हाथ पकड़ा, उस समय तुरही प्रादि वाजोंकी ध्वनिले दिशाएँ पूँज लठी और विविध प्रकारके मेघोंने आकर आकाशसे सुगन्धित फूल बरसा दिए ॥८७॥ इस प्रकार नागराज कुमुदने त्रिलोकीनाथ विष्णु अर्थात् रामके सन्ने पुत्र कुशको प्रपना सम्वासी बनाकर गरुडसे उरना छोड़ दिया क्योंकि अब वह उसके सम्बन्धीके पितृाकर बहिन मान था । कुशने भी नागराज तदाकके पाँचवें पुत्र कुमुदको सम्बन्धी बना लिया जिससे सपं पान्त हो गए और कुश पृथ्वीपर भली भाँति राज करने लगे ॥८८॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें कुमुदतीका विवाह

नामका सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

सप्तदशः सर्गः

अतिथिं नाम वक्रकुत्स्थात्पुत्रं प्राप कुमुद्वती ।
 पश्चिमायामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना ॥१॥
 स पितुः पितृमान्दंशं मातृश्वानुपमद्युतिः ।
 श्रुत्वात्सवितेवोभौ मार्गावुत्तरदक्षिणौ ॥२॥
 तमादौ कुलावेद्यानामर्यमर्धविदां वरः ।
 पश्चात्पार्थिवकन्यानां पाणिमघ्राड्यत्पिता ॥३॥
 जात्यस्तेनाभिजातेन शूरः शौर्यवता कुशः ।
 अमन्यतैकमात्मानमनेकं वशिना वशी ॥४॥
 स कुलोन्नितमिन्द्रस्यसहायकमुपेयिषान् ।
 जवान् समरे दैत्यं दुर्जयं तेन चावधि ॥५॥
 तं स्वसः नागराजस्य कुमुदस्य कुमुद्वती ।
 श्रान्वगात्कुमुदानन्दं शशाङ्कमिव कौमुदी ॥६॥
 तयोर्दिवस्पतेरासीदेकः सिंहासनार्धमाक् ।
 द्वितीयापि सखी श्रुत्याः पारिजातांशभागिनी ॥७॥
 तदात्मसंभवं राज्ये मन्त्रिशृङ्गाः समादधुः ।
 स्मरन्तः पश्चिमामाज्ञां मर्तुः संग्रामयापिनः ॥८॥

ते तस्य कल्पयामासुरभिपेकाय शिल्पिभिः ।
 विमानं नवमुद्वेदि चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितम् ॥६॥
 तत्रैनं हेमकुम्भेषु संसृतैस्तीर्थवारिभिः ।
 उपतस्थुः प्रकृतयो मद्रपीठोपवेशितम् ॥१०॥
 नदद्भिः स्निग्धगम्भीरं तृप्यैराहतपुष्करैः ।
 अन्वमीयत कल्याणं तस्याविच्छिन्नसंततिः ॥११॥
 दूर्वायवाङ्कुरप्लवत्त्वगभिन्नपुटोत्तरान् ।
 ज्ञातिषुद्वैः प्रयुक्तान्स मेजे नीराजनाविधीन् ॥१२॥
 पुरोहितपुरोगास्तं जिप्सुं जैत्रैरथर्वभिः ।
 उपचक्रमिरे पूर्वमभिपेक्तुं द्विजातयः ॥१३॥
 तस्यौघमहती मूर्ध्नि निपतन्ती व्यरोचत ।
 सशब्दमभिपेकश्रीर्गङ्गेव त्रिपुरद्विपः ॥१४॥
 स्तूपमानः चण्डे तस्मिन्मलच्यत स वन्दिभिः ।
 प्रपृद्ध इव पर्जन्यः सारङ्गैरभिनन्दितः ॥१५॥
 तस्य सन्मन्त्रपूताभिः स्नानमद्भिः प्रतीच्छतः ।
 वष्टुषे वैद्युतस्याग्नेर्षष्टिसेकादिव द्युतिः ॥१६॥
 स तावदभिपेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु ।
 यावतैषां समाप्तेरन्यद्यः पर्याप्तदक्षिणाः ॥१७॥

अभिपेकाने उत्तरे अभिपेकाने त्रिपेकारीगराणि चार संभोजा नवा मठप बनवाया ॥६॥ प्रजाने
 मद्रपीठपरबैठे हुए राजा भतिथिनी सोने के चर्मों में बसे हुए तीर्थों में जलसे नहलाया ॥१०॥ पाप गहने
 पर मृदव आदि वाजोसे जो गीटा और गम्भीर शब्द बिरल रहा था वह यह मृचना के रहा था कि
 राजा भतिथिवा सदा कल्याण होया ॥११॥ दूब, जोके मयुर वस्त्री छात और मधु के फूल दोनोंमें
 रखकर मृत्तके वृद्धिने जो भारती थी, उसे राजा भतिथिने बड़े पादरने स्वीकार किया ॥१२॥
 तब पुरोहितजीको भागे करने आह्वाण आये और उन्होंने विजयी राजाको प्रयत्नदेकर उन मन्त्रोंको
 पदवर नहलाता प्रारम्भ किया जिससे विजय प्राप्त होनी है ॥१३॥ उनके तिरपर गिरती हुई
 अभिपेकने जलकी पारा ऐसी मुन्दर लगती थी मानो शिवजीने तिरपर मन्त्राजीकी पारा गिर
 रही हो ॥१४॥ उस समय आठ और चारख जव उनका विरद दराजने लगे तो ऐसा लगता था
 मानो बहाने पातक मिलकर बादलके मुख में रहे हो ॥१५॥ मन्त्रोंमें बलिष्ठ हुए जलने स्नान
 करते समय उनके शरीरका तेज नैन हो उस गथा जैसे वर्षाके जलमें बिजलीकी चमक बढ़
 जाती है ॥१६॥ अभिपेकाने पश्चात् उन्होंने यज्ञ करानेपाते आह्वाणोंको इतना धन दिया कि उस

ते ग्रीतमनसस्तस्मै यामाशिषमुर्दरयन् ।
 सा तस्य कर्मनिर्वृचैर्दरं पथात्कृता फलैः ॥१८॥
 बन्धच्छेदं स वद्भानां वधाह्वाणामवध्यताम् ।
 धुर्याणां च धुरो मोक्षमदोहं चादिशद्भवाम् ॥१९॥
 क्रीडापतत्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्थाः शुक्रादयः ।
 लब्धमोक्षास्तदादेशायवेष्टगतयोऽभवन् ॥२०॥
 ततः कल्पान्तरन्यस्तं गजदन्तासनं शुचिः ।
 सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय सः ॥२१॥
 तं धृपाद्यानकेशान्तं तोयनिर्षिक्तपाणयः ।
 आकल्पसाधनैस्तैस्तैरुपसेदुः प्रसाधकाः ॥२२॥
 तैःस्य मुक्तागुणोन्नतं मौलिमन्तर्गतस्रजम् ।
 प्रत्यूषुः पथरागेण प्रभामण्डलशोभिना ॥२३॥
 चन्दनेनाङ्गरागं च मृगनाभिसुगन्धिना ।
 समापय्य ततश्चक्रुः पथं विन्यस्तरोचनम् ॥२४॥
 आमुक्ताभरणः सज्जी हंसचिह्नदुकूलवान् ।
 आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यधीवधृवरः ॥२५॥

घनसे वै ह्यव गहरो वक्षिणा हे-देकर अपना एक-एक यज्ञ कर रखने से ॥१७॥ बाह्यएणोने
 प्रसन्न होकर उन्हें जो मासीर्वादिया उठा मासीर्वादियों फलोभूत होनेके निमित्त बहुत दिन देरने
 पडे क्योंकि मासीर्वादिये समय तो राजा मतिपिने अपने पूर्ण जन्मके सरकमी का ही फल भोग
 रहे थे, [मासीर्वादिका फल तो उक्त फलके समान होनेपर प्रारम्भ होता] ॥१८॥ राज्याभिषेककी
 प्रसन्नतासे मतिपिने आज्ञा दी कि बन्धियोंको छोड़ दिया जाय, मृत्यु-दण्ड पाए हुए मारे न
 जायें, बौद्ध होनेवाले पशुओंके बन्धेपरने कुछ उतार लिए जायें और गोघोषा दूध दध्दोकी
 बीनेके सिमे छोड़ दिया जाय ॥१९॥ उनकी आज्ञासे विजयके मुखे आदि पक्षी भी छोड़ दिए
 गए जो अपने मनसे इधर-उधर उड़ कर घूमने लगे ॥२०॥ तब वह अपना राजसी तैयार करानेके
 सिमे हाथी-दाँतके बने उक्त सिंहासनपर बैठा जो राज्यजनमें एक धोर रखता हुआ या धोर
 जिसपर विद्यावन जिज्ञा हुआ या ॥२१॥ मिशरिणोंने स्वच्छ हाथोंसे, धूपसे मुशपित बेसवाले
 राजा मतिपिने उग्र प्रकाशसे सजा दिया ॥२२॥ पून धोर मोतिबोली मालापोसे गुंथे हुए राजाके
 सिरपर उन्होंने यह वधराग मल्लि गोमा जिसकी सुन्दर चमक चारों धोर फैल गई ॥२३॥
 तब उन्होंने बरूरीमे बने हुए चन्दनका घमराग लगाकर गोरोचनसे राजाका मुँह पीठा
 ॥२४॥ आभूषण धोर माला पहने हुए, हंस घटा हुआ दुपट्टा ओढ़े हुए राजा मतिपि उग्र

नेपथ्यदर्शिनश्छाया तस्यादर्शे हिरण्यमे ।
 विरराजोदिते सूर्ये मेरौ कल्पतरोरिव ॥२६॥
 स राजकुन्दव्यग्रपाणिभिः पार्श्ववर्तिभिः ।
 ययावुदीरितालोकः सुधर्मान्वमां समाम् ॥२७॥
 पितामहसहितं तत्र भेजे पैतृकमासनम् ।
 बृहामणिभिर्हृष्टपादपीठं महीक्षिताम् ॥२८॥
 शुशुभे तेन चाक्रान्तं मङ्गलायतनं महत् ।
 श्रीवत्सलक्षणं वक्षः कौस्तुभेनेव कैशवम् ॥२९॥
 बभौ भूयः कुमारत्वादाधिराज्यमवाप्य सः ।
 रेखाभाषादुपारूढः सामग्र्यमिव चन्द्रमाः ॥३०॥
 प्रसन्नमुखरामं तं स्मितपूर्वाभिभाषिणम् ।
 मूर्तिमन्तममन्यन्त निस्वासमनुजीविनः ॥३१॥
 स पुरं पुरुहूतश्रीः कल्पद्रुमनिभध्वलाम् ।
 क्रममाणश्चक्रार धां नागैर्नैराशतौजसा ॥३२॥
 तस्यैकस्योच्छ्रितं छत्रं सूर्ध्वं तेनामलत्विषा ।
 पूर्णराजविषोमौष्यं कृत्स्नस्य जगतो हवम् ॥३३॥

समय ऐसे सुन्दर दिखाई देते थे मानो राजतन्त्रीरूपी बहूके दृष्टे हो ॥२५॥ सोनेके-चौलटेवाले
 वर्षणमे जब थे अपनी सजावट देखने लगे उस समय उनका प्रतिबिम्ब ऐसा बग रहा था मानो
 सूर्योदयके समय सूर्ये पर्वतपर कल्पवृक्षका प्रतिबिम्ब पठ रहा हो ॥२६॥ तब थे अपनी उस सभा-
 की भीर चले जो किसी भी प्रकार देवताओंकी समाने कम नहीं थी । उनके पीछे-पीछे बहुतसे सेपक
 हाथसे चैत्र हुलते भीर जव-जवकार करते चल रहे थे ॥२७॥ वहाँ बंदोबा लगे हुए अपने पूरे
 पुरखोंके सिंहासनपर थे सरकात जा बैठे । उनके पैरके नीचे रखी हुआ पीठा प्रणाम करनेवाले
 राजाओंके सिरखी मणिलोपी रगटसे पिछ गया ॥२८॥ जैसे भुजके चरखुनी चोटसे बने हुए श्रीवत्सकके
 बिज्जवाला बिज्जुना यज्ञ स्थल कौस्तुभ मणिसे चमक उठना है वैसे ही राजा प्रतिपिने बैठनेसे बहु
 सभा-भवन भी जगमगा उठा ॥२९॥ राजा प्रतिपिने मुखराज बननेका अवसर हो नहीं आया
 क्योंकि वे कुमार भगवाने पदचार्द सुन्त ही इस प्रकार महाराज हो गए मानो एक बलाबाले
 चन्द्रमामे लुप्त सोलहो बहारें आ गई हो ॥३०॥ उनका मुख सदा प्रसन्न रहता था और
 वे सचसे हँसकर बोलने से इच्छित थे उनके खेवक उन्हें सारा विचारने समान मानते थे
 ॥३१॥ इन्द्रने समान ऐश्वर्यछाती राजा प्रतिपि जब ऐरावतसे समान बलवान् हाथीपर
 चढ़कर घोषध्वनि प्रणम निजसे तब वस्त्रध्वने समान ध्वजामोवाली घोषध्वनी नगरी स्वर्गके
 समान लगने लगी ॥३२॥ यद्यपि राज-दर बैसत प्रतिपिने सिरपर ही लगा हुआ था पर

धृमादग्नेः शिखाः पश्चादुदयादंशवो रवेः ।
 सोऽतीत्य तेजसां वृत्तिं सममेवोत्थितो गुर्यैः ॥३४॥
 तं प्रीतिविशदैनैर्त्रैरन्वयुः पौरयोपितः ।
 शरत्प्रसन्नैर्ज्यातिर्मिर्विभावर्ष इव ध्रुवम् ॥३५॥
 अयोध्यादेवतारचैर्न प्रशस्तायतनार्चिताः ।
 अनुदधुरनुध्येयं सानिध्यैः प्रतिभागतैः ॥३६॥
 यावन्नाश्यायते वेदिरभिपेक्षजलाप्लुता ।
 तापदेमास्य बेलान्त प्रतापः प्राप दुःसहः ॥३७॥
 वशिष्ठस्य गुरोर्मन्त्राः सायकास्तस्य धन्विनः ।
 किं क्षत्साध्यं यदुभये साधयेयुर्न संगताः ॥३८॥
 स धर्मस्थसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम् ।
 ददर्श संशयच्छ्रेयान्ब्यवहारानतन्द्रितः ॥३९॥
 ततः परमभिव्यक्तसौमनस्यनिवेदितैः ।
 युयोज पाकाभिमुखैर्भृत्यान्विज्ञापनाफलैः ॥४०॥
 प्रजास्तदुगुरुणा नद्यो नभसेष विवर्णिताः ।
 तस्मिंस्तु भूयसीं पृथ्विं नभस्ये ता इवापयुः ॥४१॥

उस ध्वस्त रणके छानने तारे सत्तारके उस तापकी हूर कर दिया जो कुशके विषोपसे उत्पन्न हो गया था ॥३३॥ मागकी सपटें घुमी निकलनेवे पीछे उठती है और किरणें सूर्यके उदय होनेके पीछे दिखाई देती है पर अतिथिने इन तेजस्विनयोके नियमोको भी उलट दिया क्योंकि इनके गुरु उनके राजा जनके साथ साथ प्रकट हो गए ॥३४॥ जैसे शरद् ऋतुकी निर्मल रातीके तारे ध्रुवके चारों ओर घूमते हैं, वैसे ही नगरकी स्त्रियोंकी प्रेम-भरी भाँखें भी अतिथिपर लट्ठू हो गई ॥३५॥ अयोध्याके बड़े-बड़े मन्दिरोंमें त्रिन देवताओंकी पूजा की गई उन्होंने भयनी मूर्तिओमें पंठ-पंठकर छुपाने योग्य राजा अतिथिपर नदी कृपा की ॥३६॥ अभी अभिषेकके उत्सवे भोगी हुई वेदी सूखने भी न पाई थी कि उत्तका दुग्धह प्रताप समुद्रके तटतक पहुँच गया ॥३७॥ गुरु वशिष्ठके यज्ञ और धनुषचारी राजाके बाण दोनोंने, कोई ऐसा कार्य नहीं था जिसे मिलकर पूरा न कर सक्ता हो ॥३८॥ चर्मत्वाओके मित्र राजा अतिथि, घालस्य छोड़कर वारी-प्रतिपादियोंके चेचीदे गलबड़े स्वयं निपटाते थे ॥३९॥ जैसे वृक्षको फूला हुआ देखकर यह जान लिया जाता है कि इगळे इतने फल मित्तने वैसे ही राजा अतिथिके प्रसन्न मुखको देखकर ही उनने सेवक जान जाते थे कि हमे इतना धन मिलेगा ॥४०॥ कुशके समयमें जो प्रजा सायनक नदीके समान भरी-पूरी रहती थी वह फिर अतिथिके राज्यमें भादोकी नदीके समान और भी

यदुवाच न तन्मिथ्या यद्ददौ न जहार तत् ।
 सोभूद्भग्नव्रतः शत्रूनुद्धृत्य प्रतिरोपयन् ॥४२॥
 वयोरूपविभूतीनामेकैकं मदकारणम् ।
 तानि तस्मिन्समस्तानि न तस्योत्तिष्ठेयमनः ॥४३॥
 इत्थं जनितरागासु प्रकृतिष्वनुवासरम् ।
 यक्षोभ्यः स नवोऽप्यासीद्दृढमूल इव द्रुमः ॥४४॥
 अनित्याः शत्रवो बाह्या विप्रकृष्टाश्च ते यतः ।
 अतः सोऽप्यन्तराक्षित्यान्पदपूर्वमजयद्रिपून् ॥४५॥
 प्रसादाभिमुखे तस्मिंश्चपलापि स्वभावतः ।
 निकपे हेमरेखेव श्रीरासीदनपायिनी ॥४६॥
 कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं स्वापदचेष्टितम् ।
 अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्ययेप सः ॥४७॥
 न तस्य मण्डले राज्ञो न्यस्तप्रस्थिधिदीधितेः ।
 ग्रहप्टमभवत्किञ्चिद्वयधस्येव विषयतः ॥४८॥
 रात्रिदिवविभागेषु यदादिष्ट महीचिंताम् ।
 तत्सिपेवे नियोगेन स विफल्पपराङ्मुखः ॥४९॥

अधिक उत्तरने लगी ॥४१॥ राजा प्रतिभिने भूहले जो कह दिया उसे पूरा कर दिलाया, जिसे
 जो वे दिया उससे फिर लिया नहीं। पर हाँ, शत्रुघोषको उसादकर उन्हे फिर जमाते समय उन्होंने
 यह नियम तोट दिया था ॥४२॥ सोवन, सीमर्य और ऐश्वर्य, इनमेसे एक भी वस्तु जिसके पास
 होती है वह मतवाला हो जाता है, पर राजा प्रतिभिके पास ये सभी थे फिर भी उन्हें अनिमान
 सू तक न गया था ॥४३॥ इस प्रकार प्रजा उनसे दिनपर दिन अधिक प्रेम करने लगी और
 नये राजा होनेपर भी वे गहरी जटवाले वृक्षके समान अचल हो गए ॥४४॥ यह सोचकर कि
 बाहरी शत्रु तो सदा होते नहीं और होते भी हैं तो दूर रहते हैं, इसलिये उन्होंने शरीरने भीतर
 छुदा रहनेवाले उद्यो [बाम, क्लेष, मोम, मोह, मद, मत्सर] शत्रुघोषके पहले ही जीत लिया ॥४५॥
 स्वभावसे अचल समी जो प्रमत्त मुखवाले प्रतिभिके पास था और उसी प्रकार अचल होकर
 बैठ गई जैसे बरौंटीपर खनी हुई खोनेकी लकीर पक्की होकर बैठ जाती है ॥४६॥
 केवल वृटनीतिसे बाम लेना नाकरता है और मारवाटके जीतना हिसक पशुधोवा स्वभाव है,
 इसलिये उन्होंने वृटनीति और मारवाट दोनोंकी मिलाकर शत्रुघोषको जीता ॥४७॥ जैसे कुले
 आवाजमे सूर्यकी चिरणोंने फल जानेसे कुछ भा दिया नहीं रह जाता, वैसे ही प्रतिभिने
 चारों ओर इतना ऐसा जान बिथा दिया कि प्रजाकी कोई बात उनसे छिपी नहीं
 रह पाती थी ॥४८॥ आश्रमे राजाभिने लिए दिन और रातने जो बर्तव्य निर्धारित किए हैं

मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभिः ।
 स जातु^१ सेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते ॥५०॥
 परेषु स्वेषु च चिप्टैरविज्ञातपरस्परैः ।
 सोऽपसर्वैर्जवानार यथाकालं स्वपन्नापि ॥५१॥
 दुर्गाणि दुर्ग्रहाण्यासंस्तस्य रोद्धुरपि द्विषाम् ।
 न हि सिंहो गजास्कन्दी भवाद्भिरिगुहाशयः ॥५२॥
 भव्यमुत्प्याः समारम्भाः प्रत्यवेक्ष्या निरत्ययाः ।
 गर्भशालिसचमार्णस्तस्य गृहं विपेचिरे ॥५३॥
 अपथेन प्रवृत्ते न जातूपचितोऽपि सः ।
 वृद्धौ नदीमुखेनैव प्रस्थानं सवयाम्भसः ॥५४॥
 कामं प्रकृतिवैराग्यं सद्यः शमयितुं क्षमः ।
 कस्य कार्यः प्रतीकारः स तन्नेवोदपादयत् ॥५५॥
 शपयेन्वेवाभवधात्रा तस्य शक्तिमतः सतः ।
 समीरणसहायोऽपि नाम्भःप्रार्थी दवानलः ॥५६॥

उन सबको राजा पतिभि विश्वासमें साथ नियमपूर्वक पाते थे ॥५६॥ वे प्रतिदिन मन्त्रियोंके साथ राज्यकी बातें करते थे, पर वे बातें इतनी गुप्त रखी जाती थी कि प्रतिदिन व्यवहारमें जानेपर भी किसीकी जनता ज्ञान नहीं हो पाता था ॥५०॥ उन्होंने अपने बर्गवारियों तथा सन्तुष्टोंका भेद जाननेके लिये ऐसी चतुराईसे उनके पीछे दूत लगा रखे थे कि वे दूत भी धापरामे एक दूसरेको नहीं पहचान पाते थे । उन दूतोंके सत्र समाचार मिलते रहनेके कारण वे सोने हुए भी भानी जागते रहते थे ॥५१॥ यहाँवे वे मुठमें ही सन्तुष्टोंको घेरते थे फिर भी उन्होंने राजधानीके चारों ओर बहुत बड़े-बड़े दुर्ग बना दिये थे क्योंकि हाथियोंकी मारनेवासा सिंह गुफामें हाथियोंके भयसे नहीं सोता है परन्तु उसका रथभाव हाँ बँसा होता है ॥५२॥ वे जो काम करते थे सब बलवान्तराही होते थे । वे कोई काम करने परने उसपर प्रतीमांति विचार भी करते थे । इसलिए उसने किसी प्रकारकी घापा नहीं पड़ती थी । जैसे धानका दाना भीतर ही भीतर पर जाता है वैसे ही जनता काम भी गुप्त रूपसे ही धारण होकर पूरा हो जाता था ॥५३॥ ऐश्वर्यवासी होकर भी उन्होंने छोटे भागमें पर नहीं परा क्योंकि ज्वारके समय भी जब समुद्र बढ़ता है तब नदियोंके मार्गसे ही बढ़ता है दूसरे मार्गसे नहीं ॥५४॥ उनमें इतनी शक्ति थी कि प्राप्ति यदि किसी कारण प्रगल्भी हो तो उसे खण भरमें दूर कर दें पर उन्होंने प्रगल्भी कोई ऐसा प्रगल्भी उलान ही नहीं होने दिया जिसे दूर करने की आवश्यकता पड़े ॥५५॥ वे सत्तेमान थे इसलिए सत्तेमाओं राजापोर ही नगाई करते थे, दुबेनोदर नहीं क्योंकि साजुकी महारणा मिलने पर भी इनमें लगी

न धर्ममर्थकामाभ्यां ववाधे न च तेन तौ ।
 नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु ॥५७॥
 हीनान्यनुपकटृंशि प्रवृद्धानि विकुर्वते ।
 तेन मध्यमशक्तीनि मित्राणि स्थापितान्यतः ॥५८॥
 परात्मनोः परिच्छिद्य शतयादीनां बलाबलम् ।
 ययावेभिर्दलिष्ठश्चेत्परस्मादास्त सोऽन्यथा ॥५९॥
 कोशेनाश्रयणीयत्वमिति तस्यार्थसंग्रहः ।
 अभ्युगर्भो हि जीमूतधातकैरभिनन्द्यते ॥६०॥
 परकर्मापहः सोऽभूदुद्यतः स्वेषु कर्मसु ।
 आबृणोदात्मनोरन्ध्रं रन्ध्रेषु प्रहरन्निपून् ॥६१॥
 पित्रा संवर्धितो नित्यं कृताश्रुः सांपरायिकः ।
 तस्य दण्डवतो दण्डः स्वदेहाच्च व्यशिष्यत ॥६२॥
 सर्पस्येव शिरोरत्नं नास्य शक्तित्रयं परः ।
 स चर्कपं परस्माच्चदयस्कान्त इवायसम् ॥६३॥
 वापीष्विव स्रवन्तीषु वनेषूपवनेष्विव ।
 सार्थाः स्वैरं स्वकीयेषु चैर्वैश्वस्यस्त्रिषु ॥६४॥

हुई प्राण, कामी पानीको नहीं जलाती ॥५६॥ उन्होंने अर्थ और कामके लिये कमी परमकी नहीं छोड़ा
 और धर्मसे अंधकर अर्थ और कामकी नहीं छोड़ा और न अर्थके कारण कामको या कामके कारण
 धर्मको छोड़ा बरबस धर्म, अर्थ और काम तीनोंके साथ वे एक-सा व्यवहार करते थे ॥५७॥ यदि
 नीच मित्र मिल जाते हैं तो कुछ न कुछ लोट अवश्य करते हैं यदि धनी मिल जाते हैं तो कुछ न
 कुछ बाधा डालते हैं, इसलिए उन्होंने ऐसे लोगोंकी मित्र बनाया जो न नीच ही थे, न धनी ही
 थे ॥५८॥ बड़ाई करनेके पहले वे अपने और अपने शत्रुके बस और बूटिको भलीभाँति सील लेते थे ।
 जब शत्रुसे अपना बस अधिक देखते थे तभी उसपर आक्रमण करते थे नहीं तो चुप बैठ रहे थे ॥५९॥
 उन्होंने इसलिये पक्ष इकट्ठा किया कि एक तो इससे सावर होता है और दूसरे, दीन लोग आकर
 आश्रय लेते हैं क्योंकि चापक उन्हीं बादलाका स्वागत करते हैं जिनके पानी भरा होता है ॥६०॥
 शत्रुभोजन उद्योग नष्ट करके वे अपने उद्योगमें सब गए । उन्होंने शत्रुभोजनके दोषों का नाम उठाकर
 उन्हें नष्टकर दिया और अपने लोग दूर कर लिए ॥६१॥ युद्धके प्रयत्नसे ही बड़ी सलाख चलाना
 जाननेवाली और मुढ़ करनेमें समर्थ जो उनकी सेना थी उसे दण्डपर प्रतिधि अपने शरीरके समान
 सेनाल कर रखते थे ॥६२॥ जैसे सर्पके सिरसे मणि नहीं निकाली जा सकती वैसे ही शत्रु इनके
 प्रभाव, उत्साह और मन्त्र इन तीन शक्तियोंको अपनी ओर नहीं खींच सके । पर जैसे धूमक लोहेको
 अपनी ओर खींच लेता है वैसे ही उन्होंने शत्रुभोजन उन तीनों शक्तियोंको अपनी ओर खींच लिया
 ॥६३॥ अतिथिवा इतना प्रताप था कि व्यापारी लोग ऐसे वै-रोक-टोक व्यापार करते थे कि यदिमा

तपो रक्षन्स विघ्नेभ्यस्तस्करेभ्यश्च संपदः ।
यथास्वमाश्रमैश्चक्रे वशैरपि पटंशमाक् ॥६५॥
सुनिमिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्थं वर्नैर्गजान् ।
दिदेश क्षेत्रं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः ॥६६॥
स गुणानां बलानां च पक्ष्णां पण्डुसविक्रमः ।
वभूव विनियोगज्ञः साधनीयेषु वस्तुषु ॥६७॥
इति क्रमात्प्रमुञ्जानो राजनीतिं चतुर्विधाम् ।
आतीर्यादप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे ॥६८॥
कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि तस्मिन्सन्मार्गयोधिनि ।
भेजेऽभिसारिकावृत्तिं जयश्रीर्वीरगामिनी ॥६९॥
प्रायः प्रतापमग्नत्वादरीणां तस्य दुर्लभः ।
रथो गन्धद्विपस्येव गन्धभिन्नाल्पदन्तिनः ॥७०॥
प्रवृद्धौ हीयते चन्द्रः समुद्रोऽपि तथाविधः ।
स तु तत्समवृद्धिरच न चामूत्ताविव ज्वरी ॥७१॥

सन्धे के लिए बावर्जिये जैसी घरेलू यन्त्री भी उपाय जैसा सुलवर, तीर पहाव धरने भवन जैसा सुगम हो गये ॥६४॥ उन्होंने विघ्नोत्पत्ति तपस्वियों के तपनी रक्षा की, चोरों से प्रजा की सम्पत्तियों के बचाव और नारी आश्रमों तथा चारों वर्गों के उनके धन के अनुसार छटा भाग पाया ॥६५॥ किस प्रकार वे रक्षा कर रहे थे उसी प्रकार घृष्णी भी उन्हें ऐश्वर्य देती जा रही थी । खानों से रत्न दिए, क्षेत्रों में माल दिया और बनो में उन्हें हाथी दिए ॥६६॥ कार्तिकेय ने समान पराक्रमी राजा अतिथि यह भलीभाँति जानते थे कि [सन्धि, विग्रह, मान, आसन सत्य और वैरीभाव इन] छह राजगुणों को कैसे व्यवहार में लाना चाहिए तथा छह प्रकार की सेवाओं के साथ कृपा वर्तन करना चाहिए ॥६७॥ इस प्रकार साम, दाम, दण्ड, भेद इन चार उपायों के साथ राजनीति चलाते हुए उन्होंने मन्त्रियों आदि की सहायता से उन उपायों का निर्वहण फल पा लिया ॥६८॥ वे कट्ट मुद्र भी जानते थे पर मुद्रक्षेत्र में वे धर्म की सहाय ही सकते थे, इसलिये वीरों की सही विजय की सन्धे पास अभिचारिका के समान चुपके से पहुँच जाती थी ॥६९॥ मुद्र क्षेत्र में अतिथि को देखते ही शत्रुओं के छक्के छूट जाते थे और वे प्राण भेकर भाग पड़े होते थे, इसलिये जैसे बिना मदवाले हाथी, मतवाले हाथी से नहीं लड़ पाते वैसे ही प्रतापी राजा अतिथि से सन्देह का कोई साहस ही नहीं करता था ॥७०॥ पूरा वज्र बुलने पर बन्दगा घटने लबता है और समुद्र ने भी यही दया होती है, पर अतिथि के साथ बात चलती थी । वे चन्द्रमा और समुद्र ने समान बड़े हो सही पर उनसे समान घटे नहीं ॥७१॥

सन्तस्तस्यामिगमनादत्यर्थं महतः रुशः ।
 उद्धेरिव जीमता प्राप्नुदन्तित्वमर्थिनः ॥७२॥
 स्तूयमानः स विहाय स्तुत्यमेव समाचरन् ।
 तथापि बद्धे तस्य तत्कारिद्वेषिणो यशः ॥७३॥
 दुरितं दर्शनेन द्यौस्तत्त्वार्थेन नुदन्तमः ।
 प्रजाः स्वतन्त्रयांचक्रे शश्वत्सूर्य उवोदितः ॥७४॥
 इन्द्रोत्गतयः पद्मे सूर्यस्य कुमुदेऽश्वः ।
 गुणास्तस्य विपक्षेऽपि गुणिनो लेभिरेऽन्तरम् ॥७५॥
 पराभिर्मंधानपरं यद्यप्यस्य विचेष्टितम् ।
 जिगीषोरथमेधाय धर्ममेव यभूव तत् ॥७६॥
 एवमुद्यन्प्रभावेण शास्त्रनिर्दिष्टवर्त्मना ।
 धृपेव देवो देवानां राज्ञां राजा यभूव सः ॥७७॥
 पञ्चमं लोकपालानामृचुः साधर्म्ययोगतः ।
 भूतानां महतां पृष्ठमष्टमं कुलभूभृताम् ॥७८॥
 दूरापवर्जितच्छत्रैस्तस्याज्ञां शासनार्पिताम् ।
 दधुः शिरोभिर्भूपात्ता देवाः पौरंदरीमिव ॥७९॥

जैसे बिना पानीके मेष समुद्रके पास जाते हैं और वह उन्हें शम्भा जल दे देता है कि वे ससार भरको जल बाँटने लगते हैं, वैसे ही जो गृहस्थे निर्बल विद्वान् प्रतिधिके पास जाते हैं उन्हें वे इतना धन दे देते हैं कि वे विद्वान् स्वयं भी दूसरोंको दान देने लगते हैं ॥७२॥ उनके सभी काम प्रशस्त-
 के योग्य होते हैं परन्तु कोई उनकी प्रशस्त करता या तब वे शत्रुका जाते हैं पर प्रशस्तानी इच्छा न करनेपर भी उनका वश घटता ही गया ॥७३॥ जैसे निकलने हुए सूर्यके दर्शनसे पाप दूर हो जाते हैं वैसे ही उनके दर्शनसे पाप भाग जाते हैं । वे शम्भी भी वे इसलिये वे दूसरोंको तरब-ज्ञान सिखाकर भजानवा भँवरा भी मिटाते हैं । इसलिये उन्होंने प्रजाको सब प्रकारसे अपनी मुट्ठीमें भर लिया ॥७४॥ वन्द्यमानों विरहों कमसोम तथा सूर्यका विरहों कुमुदमें नहीं पड़ पाता, पर प्रतिधि-
 के गुणोंसे शत्रुओंके हृदयमें भी घर कर लिया और शत्रु भी उनके गुणोंका लोहा मानते हैं ॥७५॥ धृपमेघके लिए जब वे दिग्विजय करने निकले तब इन्का नाम यक्षिण शत्रुघोषों जिस-तिस प्रकार हराना ही था पर उस समय भी उन्होंने परमसे ही नाम लिया, नूतनीति ययवा जनसे नहीं ॥७६॥ इस प्रकार शास्त्रोंके अनुसार चलनेसे प्रतिधिया प्रभाव बढ़ गया और जैसे इन्द्र देवताओंके देवता हैं वैसे ही वे भी राजाओंके राजा हो गए ॥७७॥ इन्द्र आदि चारों लोकपालोंके समान पराक्रम होनेके कारण लोग उन्हें पाँचवाँ लोकपाल कहने लगे हैं [पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्राणवायु इत] पाँचों तत्वोंके समान सहाय होनेके कारण लोग उन्हें छत्र तत्त्व कहते हैं और हिमालय आदि साठ कुल पर्वतोंके समान विशाल होनेके कारण वे स्रष्टव-मुल पर्वत कहलाते हैं ॥७८॥ जैसे देवता लोग

ऋत्विजः स तथाऽऽनर्च दक्षिणामिर्महाक्रतो ।

यथा साधारणीभूतं नामास्य घनदस्य च ॥८०॥

इन्द्राद्दृष्टिर्नियमितगदोद्रेकवृत्तिर्यमोऽम्

द्यादोनाथः शिष्यजलपथः कर्मणे नौचराणाम् ।

पूर्वापेक्षी तदनु विदधे कोपवृद्धिं कुबेर

स्तस्मिन्दण्डोपनतचरितं मेजिरे लोकपालाः ॥८१॥

इति महाकविथीर्वाभिदासवृत्तौ रघुवक्त्रे महाकाव्ये

श्रुतिविवर्णनो नाम सप्तदशः सर्गः ॥

इन्द्रकी आज्ञा मानते है वैसे ही राजालोच भी अपने स्वयं उत्तारकर उनकी आज्ञा अपने सिर-धामे बताते थे ॥७९॥ प्रथममेकके समय जिन ब्राह्मणोंने वश कराया था उनका अतिथिने इतना सरबार किया कि लोग इन्हें भी दूसरा कुबेर कहने लगे ॥८०॥ इन्द्रनेउनसे साक्षात्पर्य रणार्थी, यमराजने रोगोका बढना रोक, वरुणने नाव चलानेवालोंके लिये उसके मार्ग खोज दिए और कुबेरने इनका राज-कोश भर दिया । इस प्रकार इन्द्र आदि लोगपाल माने इनके प्रतापसे ही डरकर इनकी सेवा कर रहे थे ॥८१॥

महाकवि थीर्वाभिदासके रचे हुए रघुवक्त्र महाकाव्यमे श्रुतिवि-वर्णन

नामका सप्तहर्षा सर्ग समाप्त हुआ ॥

॥ अष्टादशः सर्गः ॥

स नैषधस्यार्थपतेः सुतायामुत्पादयामास निषिद्धशत्रुः ।
 अनूनसारं निषधानगेन्द्रात्पुत्रं यमाहुर्निषधाख्यमेव ॥१॥
 तेनोरुचीर्येण पिता प्रजायै कल्पिष्यमाणेन ननन्द यूना ।
 सुवृष्टियोगादिषु जीवलोकः सस्येन संपत्तिफलोन्मुखेन ॥२॥
 शब्दादि निर्विषयं सुखं चिराय तस्मिन्प्रतिष्ठापितराजशब्दः ।
 कौमुद्वेपः कुमुदावदातैर्धार्मिर्जितां कर्मभिरारुरोह ॥३॥
 पौत्रः कुशास्यापि कुशेशयावः ससागरां सागरधीरचेताः ।
 एकातपत्रां भुवमेकधीरः पुरार्गलादीर्घभुजो बुभोज ॥४॥
 तस्यानलौजास्तनयस्तदन्ते वंशत्रियं प्राप नलामिधानः ।
 यो नट्यलानीव गजः परेषां बलान्पृष्ट्वालिनाभवक्त्रः ॥५॥
 नभश्चरैर्गीतपशाः स लेभे नमस्तलस्यामतनुं तनूजम् ।
 ख्यातं नभःशब्दमयेन नाम्ना कान्तं नभोमासमिव प्रजानाम् ॥६॥
 तस्मै विमृज्योत्तरकोशलानां धर्मोत्तरस्तत्प्रमये प्रभुत्वम् ।
 मृगैरज्यं जरसोपदिष्टमदेहधन्वाय पुनर्वयन्ध ॥७॥

अठारहवां सर्ग

शत्रुघोषा नाश करनेवाले राजा प्रतिविभी राणी निषध-राजकी पुत्री थी । उस राणीसे प्रतिपिने
 निषध पर्वतके समान बलवान् पुत्र उत्पन्न किया और उसका नाम भी निषध रखा ॥१॥ जैसे
 रामकी वपसि फले हुए अनाजके सेतीनी देखकर ससारके प्राणी प्रसन्न हो जाते हैं, वैसे ही भरत
 प्रतापी सुवराज निषधकी देखकर राजा प्रतिविभी भी प्रसन्न हुए ॥२॥ कुमुद्वेपके पुत्र प्रतिविने बहुत
 दिनोत्तक सुख भोग और फिर निषधकी राजपाट सीपकर अपने पुष्पके बलसे पाए हुए स्वर्गलोकमें
 सुख भोगने लगे गए ॥३॥ कमलके समान नेत्रवाले, समुद्रके समान सम्भीर बिलवाले और नगरके
 प्रधान फाटवनी भग्नाके समान बड़ी-बड़ी बाहोवाले अद्वितीय और निषधने भी सागरतक फैली हुई
 पृथ्वीका भोग किया ॥४॥ उनके पीछे उनके धर्मिके समान तेजस्वी पुत्र नल राजा हुए ।
 उस कमलके समान सुन्दर भुलवाले राजाने शत्रुघोषके बलकी वंशे ही तोड़ डाला जैसे हाथी
 गरकटके गर्दुकी तोड़ डालता है ॥५॥ वे इतने यशस्वी थे कि आकाशमें मन्त्रवं लोग उनका
 यश गाते थे । उन्हें धानाधके समान सारिला नभ नामका पुत्र उत्पन्न हुआ जो लोगोंको बैसा ही प्यारा
 लगा जैसे धायनका महीना ॥६॥ यमरिया मलने उस पुत्रको उत्तर कोशलका राज्य सौंप दिया
 और स्वयं बुद्धिपके कारण जगत्में जाकर मृत्योके साथ स्वर्गमें रहने लगे कि फिर ससारमें जन्म

तेन द्विपानामिव पुण्डरीको राज्ञामजस्र्योऽजनि पुण्डरीकः ।
 शान्ते पितर्याहृतपुण्डरीका यं पुण्डरीकाक्षमिव श्रिता श्रीः ॥८॥
 ॥ क्षेमघन्वानममोघधन्वा पुत्रं प्रजाक्षेमविधानदक्षम् ।
 क्षमां लम्भयित्वा क्षमयोपपन्नं वने तपः चान्ततरश्चर ॥९॥
 अनीकिनीनां समरेऽग्रयायी तस्यापि देवप्रतिमः सुतोऽभूत् ।
 व्यश्रूयतानीक्ष्यदावसान देवादि नाम त्रिदिकेषु यस्य ॥१०॥
 पिता समाराधनतत्परेण पुत्रेण पुत्री स यथैव तेन ।
 पुत्रस्तथैवात्मजवत्सलेन स तेन पित्रा पितृमान्यभूव ॥११॥
 पूर्वस्तपोरात्मसमे चिरोढामात्मोद्भवे वर्णचतुष्टयस्य ।
 पुरं निधायैकनिर्गुणानां जगाम यज्या यजमानलोकम् ॥१२॥
 वशी सुतस्तस्य वशंवदत्वात्स्वैपामिवासीद्विपतामपीष्टः ।
 सकृद्विविग्नानपि हि प्रयुक्तं माधुर्यमीष्टे हरिणान् ग्रहीतुम् ॥१३॥
 अहीनगुणाम स गां समग्रामहीनबाहुवृषिणः शशास ।
 यो हीनसंसर्गपराङ्मुखत्वाद्युवाप्यनर्थैर्व्यसनैर्विहीनः ॥१४॥
 गुरोः स चानन्तरमन्तरजः पुंसां पुमानाद्यश्चावतीर्षः ।
 उपक्रमैरखलितैरचतुर्भिश्चतुर्दिगीशश्चतुरो बभूव ॥१५॥

न तेना पक्षे ॥७॥ नमको पुण्डरीक नामका पुत्र हुआ और जैसे हाथियोंमें पुण्डरीक नामका हाथी सर्वश्रेष्ठ है वैसे ही उस समयके राजाप्रोमे के ही सर्वश्रेष्ठ थे । पिताके स्वर्ग गले जानेपर कमल धारण करनेवाली सक्ष्मीने उन्हे ही विष्णु मानकर बर सिखा ॥८॥ उस सप्त धनुषधारी पुण्डरीकने प्रजाका कल्याण करनेमें समर्थ और शास्त्र स्वभाववाले अपने पुत्र क्षेमघन्वाको राज सौंप दिया और स्वयं शान्त होकर जङ्गलमें तपस्या करने चले गए ॥९॥ उस क्षेमघन्वाको भी इन्द्रके एगाम पुत्र हुआ जो युद्धमें सेनाके आगे-आगे चलता था और जिसका देव शब्दसे प्रारम्भ होनेवाला और मनीषा शब्दसे अन्त होनेवाला देवातीक नाम स्वर्गमें भी प्रसिद्ध हो गया ॥१०॥ जैसे इस पितृभक्त पुत्रको पाकर क्षेमघन्वा सुपुत्रवान् हुए, वैसे ही पुत्रको प्यार करनेवाले पिताको पाकर देवातीक भी पितापाले हुए ॥११॥ बड़े-बड़े वृक्ष करनेवाले गुणी क्षेमघन्वा अपने हा समान तेजस्वी पुत्रको चारों बलोंकी रक्षाका भार सौंपकर स्वर्ग चले गए ॥१२॥ उनके विलेन्द्रिय पुत्र देवातीक इतना मधुर बोलते थे कि सन्तु भी उनका बेमा हो प्रार्थन करते थे जैसे मित्र । क्योंकि मधुर वचनमें ऐसा प्रभाव होता है कि एक बार बरपाए हुए हरिण भी धसने हो जाते हैं ॥१३॥ देवातीकके पुत्रका नाम ग्रहीनग था । उनकी बाँहि बड़ी शक्ति-शालिनी थी । उन्होंने कभी नीच लोगोंका साथ नहीं किया, इसलिये व्यसनीसे दूर रहकर युवास्थामे ही वे सारी पृथ्वीपर शासन करने लगे ॥१४॥ वे बड़े चतुर थे और सबके मनकी बाँटें जान लेते थे । पिताके पीछे राजा होकर वे सफलताके साथ साम-दाम-दंड भेदका प्रयोग करके शीघ्र ही विष्णुके समान चारों दिशाओंके

तस्मिन्प्रयाते परलोकयात्रां जेत्यरीणां तनयं तदीयम् ।
 उच्चैःशिरस्त्वाज्जितपारियात्रं लक्ष्मीःसिपेवे किल पारियात्रम् ॥१६॥
 तस्याभवत्तनुरुदारशीलः शिलाः शिलापट्टविशालवक्षाः ।
 जितारिणोऽपि शिलीमुखैर्यः शालीनतामव्रजदीव्यमानः ॥१७॥
 तमात्मसंपन्नमनिन्दितात्मा कृत्वा युवानं युवराजमेव ।
 सुखानि सोऽभ्युक्तं सुखोपरोधि वृत्तं हि राज्ञागुपकृद्वृत्तम् ॥१८॥
 तं रागवन्धिष्ववितृप्तमेव भोगेषु सौभाग्यविशेषभोग्यम् ।
 विलासिनीनामरतिक्षमापि जरा वृथा मत्सरिणी जहार ॥१९॥
 उन्नाभ इत्युद्भूतनामधेयस्तस्यायथार्थोन्नतनाभिरन्ध्रः ।
 सुतोऽभवत्पद्मजनामकल्पः कृत्स्नस्य नाभिर्नृपमण्डलस्य ॥२०॥
 ततः परं वज्रधरप्रभावस्तदात्मजः संयति वज्रधोपः ।
 बभूव वज्राकरभूषणायाः पतिः पृथिव्याः किल वज्रलाभः ॥२१॥
 तस्मिन्मते चां सुकृतोपलब्धां सत्संभवं शङ्खमर्षवान्ता ।
 उत्खातशत्रुं वसुधोपतस्थे रत्नोपहारैरुदितैः खनिभ्यः ॥२२॥
 तस्यावसाने हरिदश्वधामा पित्र्यं प्रपदे पदमधिरूपः ।
 वेलातटेपृषितसैनिकाश्वं पुराविदो यं व्युपिताश्वमाहुः ॥२३॥

स्वामी हो गए ॥१५॥ उस शत्रुविजयी राजाके स्वयं चले जानेपर भयोप्याकी राज लक्ष्मी उन
 प्रतापी पुत्र पारियात्रकी सेवा करने लगी जिन्होंने अपने सिरकी अँचाई पारियात्र पर्वतको ।
 नीचा बिला बिना था ॥१६॥ उन्हें धित नामका बड़ा क्षीलवात पुत्र हुआ जिसकी छाती वापर
 पाटी जैसी चौड़ी थी । यद्यपि उन्होंने बाखोंसे शत्रुको जीत लिया फिर भी स्वयं वे नम्र
 रहे ॥१७॥ कुछ चरित्रवाले पारियात्रने बुद्धिभाव जिसको युवराज बनानेपर ही मुल भोगना प्राप्त
 किया, क्योंकि राजा रहते हुए उन्हें इतने अधिक काम थे कि उन्हें सुख भोगनेवे लिये अवसर ही न
 मिलता था ॥१८॥ वे अपनी गोंगोंसे भर्षाए नहीं थे और गुन्दरी स्त्रियोंसे भोग कर ही रहे थे ।
 उन्हें उस वृद्धावस्थाने था जेरा जो स्वयं भोगने योग्य न होनेपर भी सुन्दरियोंसे ध्ययं हो ईक
 करती है ॥१९॥ धितको उन्नाभ नामका प्रशिद्ध पुत्र हुआ जिनकी नाभि पहरी थी और ।
 विष्णुके समान पराक्रमी होनेके कारण उसारके सभी राजाओंके मुखिया बन गए ॥२०॥
 उनवे पीछे उनके पुत्र पद्मनाभ, हीरेकी रानोका भूषण पहननेवाली पृथ्वीके स्वामी हुए । वे इन्द्र
 समान प्रभापतानी थे और मुदसेत्रम वज्रवे समान गरजते थे ॥२१॥ उन्होंने अपने पुष्प
 बलसे स्वयं प्राप्त किया और उनवे पीछे शरत्त नामका उनका शत्रुविनाशक पुत्र धारी पृथ्वी
 वासन हुआ ॥२२॥ उनके पीछे उनवे अस्तिनीकुमारके समान सुन्दर और सूर्यके समान तेजः
 पुत्र राजा हुए जिन्होंने सब देवोंको जीतकर अपनी मेना और पीढ़ीको समुद्रके तटपर ठहराया
 इसलिये उन्होंने उनका नाम व्युपिताश्व [अर्थात् बहुत दूरतक पीढ़ीको ले जानेवाला] रखा ॥२३॥

आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन चित्तेभिश्चसहो विजज्ञे ।
 पातुं सहो विश्वसहः समग्रां विश्वंमरामात्मजमूर्तिरात्मा ॥२४॥
 अंशे हिरण्याक्षरिपोः स जाते हिरण्यनामे तनये नपत्तुः ।
 द्विपामसह्यः सुतरां तस्तरां हिरण्यरेता इव सानिलोऽभूत् ॥२५॥
 पिता पितृणामनृणस्तमन्ते वयस्यनन्तानि सुप्तानि लिप्सुः ।
 राजानमाजानुविलम्बिबाहुं कृत्वा कृती वदकलगान्भूव ॥२६॥
 कौशक्ष्य इत्युत्तरकोशलानां पत्युः पतद्गान्धवभूषणस्य ।
 तस्यौरसः सोमसुतः सुतोऽभून्नेत्रोत्सवः सोम इव द्वितीयः ॥२७॥
 यशोभिराश्रयसमं प्रकाशः स ब्रह्मभूय गतिमाजगाम ।
 ब्रह्मिष्ठमाधाय निजेऽधिकारे ब्रह्मिष्ठमेव स्वतनुप्रसूतम् ॥२८॥
 तस्मिन्कुलापीडनिमे विपीडं सम्यङ्महीं शासति शासनाङ्गम् ।
 प्रजाक्षिरं सुप्रजसि प्रजेशे ननेन्दुरानन्दजलाविलाक्ष्यः ॥२९॥
 पाश्रीकृतात्मा गुरुसेवनेन स्पष्टाकृतिः पत्न्येन्द्रकेतोः ।
 तं पुत्रिणां पुष्करपत्रनेत्रः पुत्रः समारोपयदग्रसंख्याम् ॥३०॥
 वंशस्थितिं वंशकरेण तेन संभाव्य भावी स सखा भवोनः ।
 उपस्पृशन्स्पर्शनिवृत्तलौल्यस्त्रिपुष्करेण त्रिदशत्वमाय ॥३१॥

उन्होंने पाश्रीके विश्वेश्वरजी आराधना करने विश्वसह नामक पुत्र पाया जो सत्कारमे बड़े प्रिय हुए और जिन्होंने सारी पृथ्वीपर शासन किया ॥२४॥ उस नीतिज्ञ विश्वसहको हिरण्यनाम नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जो सहाय विष्णुका भय था । ऐसे पुत्रको पाकर विश्वसह समुपशान्ति के लिये ईश्वरको भयकर हो गए जैसे वायुकी सहायता पाकर वृक्षोंके लिये अग्नि भयकर हो उठती है ॥२५॥ भय के विनाशके श्रवणसे उन्मुख हो गए और बहुत सुख भोगकर वृद्धावस्थामें पुत्रको राज्य देकर स्वयं बलकन पहनकर घनमे चले गए ॥२६॥ उत्तर कोशलके स्वामी और सूर्यकुलके भूषण उन हिरण्यनामकी कौशक्ष्य नामका पुत्र हुआ, जो सखी पालनेको उसी प्रकार धान्य देनेवाला था मानो दूसरा चन्द्रमा ही हो ॥२७॥ कौशल्यका यह ब्रह्माजी तथा एक प्रतिद्वंद्वी गया । वृद्धावस्थामें उन्होंने ब्रह्मिष्ठ नामके अपने ब्रह्मजानी पुत्रको राज्य दे दिया और स्वयं ब्रह्म प्राप्तिके लिये वनमें उप करने चले गए ॥२८॥ भती सन्तानवाले ब्रह्मिष्ठ भी अपने कुलके शिरोमणि थे । उन्होंने बड़ी योग्यतासे शासन दिया । उनके सुन्दर शासनको देखकर प्रजाको धान्यन्दके आशु था जाते थे । उनके धान्यन्दमे प्रजा बहुत दिनोत्तक सुख भोगती रही ॥२९॥ उनमें सुपुत्रने उन्हें पुत्रधानीका शिरोमणि बना दिया । पिताजी सेबाधुधूपा करनेसे वे बड़े योग्य हो गए थे । वे शरद्वर्ष्यन विष्णुके समान सुन्दर थे और उन नमस्तोचननाम नाम भी पुत्र ही था ॥३०॥ विषय वासनाकोसे दूर रहकर दृढ़के भावी मित्र ब्रह्मिष्ठने अपनी कुल प्रतिष्ठा अपने पुत्र नामवाले पुत्रको सौंप दी और स्वयं त्रिपुष्कर क्षेत्रमें स्नान करने स्वर्ग चले गए ॥३१॥

तस्य प्रभानिर्जितपुष्परागं पौष्पां त्रिथौ पुष्पमध्वत पत्नी ।
 तस्मिन्पुष्पन्नुदिते, समग्रां पुष्टिं जनाः पुष्प इव द्वितीये, ॥३२॥
 महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा ।
 तस्मात्सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः ॥३३॥
 ततः परं तत्प्रभवः प्रपेदे ध्रुवोपमेयो ध्रुवसंधिर्वाम् ।
 यस्मिन्नभूज्यायसि सत्यसंधे संधिर्ध्रुवः संनमतमरीशाम् ॥३४॥
 सुते शिशावेव सुदर्शनाख्ये दशार्त्ययेन्दुप्रियदर्शने सः ।
 मृगायताक्षो मृगयाविहारी सिंहादवापद्विपदं नृसिंहः ॥३५॥
 स्वर्गाभिनस्तस्य तमैकमत्पादमात्यवर्गः कुलतन्तुमेकम् ।
 अनायदीनाः प्रकृतीरवेक्ष्य साकेतनाथं विधिवच्चकार ॥३६॥
 नवेन्दुना तन्ममसोपमेयं शार्वकसिंहेन च काननेन ।
 रघोः कुलं कुहमलपुष्करेण तोयेन चाप्रौढनरेन्द्रमासीत् ॥३७॥
 लोकेन भावी पितुरेव तुल्यः संभावितो मौलिपरिग्रहात्सः ।
 दृष्टो हि धृष्टवन्कलभप्रमाखोऽप्याशा, पुरोवातमवाप्य मेघ ॥३८॥
 तं राजवीथ्यामधिहस्ति यान्तमाधोरणालम्बितमः पवेषाम् ।
 पद्वर्षदेशीयमपि प्रमुत्थात्प्रैवन्त पौरा पितृगौरवेण ॥३९॥

राजा पुत्रकी पत्नीसे पूसकी पूर्णिमाके दिन बधराग मणिते भी अधिक कान्तिमान् पुष्प नामक पुत्र
 हुआ । उसके जन्म होनेसे प्रजा उसी प्रकार धन-धान्यसे भरपूर हो गई मानो पूसका पुष्प नक्षत्र ही
 निकल आया हो ॥३२॥ राजा पुत्र गढ़े उबार हृदयबलि थे । वे ससारसे फिर जन्म लेना नहीं चाहते
 थे इसीनिम्ने उन्होंने पुष्पकी भार अपने पुत्र पुष्पकी छोंप दिया और स्वयं जैमिनि ऋषिके शिष्य
 होकर उनसे योग सीखकर आवागमनसे मुक्त हो गए ॥३३॥ पुष्पके पीछे उनके ध्रुवके समान
 गिबल पुत्र ध्रुवसमि राजा हुए जिनसे डरकर शत्रुमणि सन्धि कर ली । उनका लिखा हुआ सन्धिपत्र
 पक्का होता था क्योंकि वे अपनी बातसे घटी थे ॥३४॥ उनके नेत्र भृगोकी भेनोके समान बड़े-बड़े
 थे और वे पुरुषोत्तमे सिंहके समान थे । एक दिन वे जगतसे घाबेट करते हुए मारे गए । उस समय-
 तक द्वितीयाके चन्द्रमाके समान सुन्दर लगनेवाला सुदर्शन नामका उनका पुत्र बालक ही था ॥३५॥
 उन स्वर्गाामी राजाके भन्निमने राजाके न होनेसे प्रजाकी दीनदशा देखकर सर्वसम्मतिसे उनके
 इकतीसे पुत्र सुदर्शनको विधिपूर्वक साकेतका स्वामी बना दिया ॥३६॥ इस बालकसे राजा रघुवा
 कुल वंश ही शोभा देने लगा जैसे द्वितीयाके चन्द्रमासे आवाज, सिंहके बच्चेसे धन और कमलकी
 पत्नीसे ताल शोभा देता है ॥३७॥ उस बालक सुदर्शनने जब सिरपर मुकुट धारण किया तभी
 प्रजाने ध्यान लिया कि यह पिताके समान ही तेजस्वी होगा, क्योंकि हाथीके बच्चेके समान छोटा
 दिखाई देनेवाला बादल भी पुरवा पवनका सहारा पाकर चारों दिशाओसे फैल जाता है ॥३८॥
 जब वे छह वर्षके छोड़े राजा हाथीपर चढ़कर राज-गमने निकलते थे तब हाथीवान उनके राजसी

कामं न सोऽकल्पत पैतृकस्य सिंहासनस्य प्रतिपूरणाय ।
 तेजोमहिम्ना पुनरावृतात्मा तटचाप चामीकरपिञ्जरेण ॥४०॥
 तस्मादधः किंचिदिवावतीर्णाविसंस्पृशन्तौ तपनीयपीठम् ।
 मालतकौ भूषतयः प्रसिद्धैर्वान्दिरे मौलिभिरस्य पादौ ॥४१॥
 मयौ महानील इति प्रभावादल्पप्रमाणेऽपि यथा न मिथ्या ।
 शब्दो महाराज इति प्रतीतस्तथैव तस्मिन्पुत्रजेऽर्भकेऽपि ॥४२॥
 पर्यन्तसंचारितचामरस्य कपोललोलोभयकाकपक्षात् ।
 तस्याननादुच्चरितो विवादश्चस्त्राल वेलास्वपि नार्शवानाम् ॥४३॥
 निर्धृचजाम्बूनदपद्मशोभे न्यस्तं ललाटे तिलकं दधानः ।
 तेनैव शून्यान्यरिसुन्दरीणां मुखानि स स्मेरमुखश्चकार ॥४४॥
 शिरीषपुष्पाधिकमौकुमार्यः खेदं स यायादपि भूषणेन ।
 नितान्तगुर्वमपि सोऽनुभावाद्धरं धरित्र्या विभराम्भूव ॥४५॥
 न्यस्ताक्षराम्बरभूमिकायां कात्स्नर्येन गृह्णाति लिपिं न यावत् ।
 सर्वाणि तावच्छ्रुतद्वययोगात्फलान्युपायुक्क स दण्डनीतिः ॥४६॥
 उरस्यपर्याप्तिनिवेशभागा प्रौढीभविष्यन्तमुदीक्षमाणा ।
 संजातलज्जेव तमातपश्चल्लयाच्छ्लेनोपजुगूह लक्ष्मीः ॥४७॥

बखोबे कोनेकी बाने रक्ता था कि कही ये बिर न पड़ । उस समय मो उन्ह देखकर जनता अपने पिताके समान ही उठका आदर करती थी ॥३६॥ ये छोटे ये इसलिये जब ये अपने पिताके सिंहासनपर बैठते थे तो वह पूरा भरता नहीं था । पर उनके धीरेसे जो मुखाने समान सेव निपलता था उसके वह सिंहासन भर सा ही जान पड़ता था ॥४०॥ उस सिंहासनसे उनके पैर लटकते रहते थे क्योंकि छोटे होनेके कारण पाद पीठतक पहुँच नहीं पाते थे पर राजा लोग अपने प्रसिद्ध मुकुटोंसे उन महावर समे पैरीया बादन करते रहते थे ॥४१॥ जैसे छोटा होनेपर भी मलिका महानील नाम निरपेक्ष नहीं होता, वैसे ही शालक राजा सुरजमलका महाराज नाम भी उन्ह पक्षा पक्षता था ॥४२॥ उनके धारा पाम बैपर जुलाए जाते थे और उनके गालोंपर लटें लटकती रहती थी । इस शालक अवस्थाम भी उन्होंने जो आज्ञाएँ दी उन्हे समुद्रके तटजामे लोपोने भी नहीं टाला, फिर पास रहनेवालोंकी तो बात ही क्या ॥४३॥ सोनेका पट्टा वैसे हुए अपने सलाहपर वे स्वयं तिलक लगाते थे और सदा हँसमुख रहते थे, पर सभाममे धनुषीको नष्ट करनेके उन्होंने धनुषीकी छिपोंके मुखपरका तिलक और उनकी मुस्कुराहट दोनों छीन भी ॥४४॥ वे सिरके फूलसे भी अधिप सुकुमार थे इसलिये यद्यपि उन्हे गहने पहननेसे भी कष्ट होता था फिर भी उनके यावत्तक इतनी थी कि उन्होंने पृथ्वीके मलयज भारी भारको संभाल लिया ॥४५॥ यही वे पटिपापर भली भाँति प्रक्षर भी लिखता नहीं सोच पाए थे कि किटानोंके समक्षसे वे दण्डनीति और राजनीतिकी सारी बातें जान गए ॥४६॥ बामन राजाने हृदयकी यही छोटा लक्षणकर लक्ष्मी

अनरनुदानेन युगोपमानमवद्वमौर्वीकिण्वलाञ्छनेन ।
 अस्पृष्टसङ्गत्सरुणापि नामीद्रक्षावती तस्य भुजेन भूमिः ॥४८॥
 न केवलं गच्छति तस्य क्षले ययुः शरीरावयवा विवृद्धेम् ।
 वंश्या गुणाः सुख्यपि लोककान्ताः प्रारम्भसूक्ष्माः प्रथिमानमापुः ॥४९॥
 स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः स्मरन्निवाक्लेशकरो गुरुणाम् ।
 तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्याः ॥५०॥
 व्यूह स्थितः किञ्चिदिवोचरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानुः ।
 आकर्णमाकृष्टसवाखधन्वा व्यरोचतास्त्रेषु विनीयमानः ॥५१॥

अथ मधु वनितानां नेत्रनिर्वेशनीयं मनसिजतरुपुष्पं रागरन्ध्रप्रवालम् ।
 अकृतकविधि सर्वाङ्गीणमाकल्पजातं विलसितपदमार्यं यौवनं स प्रपेदे ॥५२॥
 प्रतिकृतिरचनाभ्यो दृतिसंदर्शिताभ्यः समधिकतररूपाः शुद्धसंतानकामैः ।
 अधिविधिविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः प्रथमपरिगृहीते श्रीधुवौ राजकन्याः ॥५३॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाम्ये
 वंशानुक्रमो नागाष्टादशः सर्गः ॥

उनके मुखा होनेकी भासा जगाम बंटी थी पर बीच-बीचमें खसकी छाया बनकर जगवा भालिङ्गन पार
 हो लेती थीं मानो छोटा पति होनेके कारण उनसे गुलशर गले लगनेमें लजा रही हो ॥४७॥
 यद्यपि उनकी मुखा झुएके समान मोटी और लम्बी नहीं हुई थी, धनुषकी बोरी सीपनेसे बची भी नहीं
 हो पाई थी और सतवारकी मूठ भी नहीं लू सरी थी फिरभी उनके पृष्ठाकी रक्षा भली भाँति करली
 ॥४८॥ कुछ ही दिनोंमें केवल उनके चरीखे मात्र ही नहीं बड़े घरके वे यश परम्परावाले
 गुण भी बड़े तो पढ़ने छोटे ही थे और जो प्रजाती बहुत प्यारे सगे थे ॥४९॥ उन्होंने धर्म, धर्म
 और नाम कप देनेवाले पत्नी (तीनों वेद), धार्ता (इषि) और दण्डनीति तीनों विद्याओंकी हस्तनी
 सीपतले सीप विद्या जानी पूर्व जन्ममें ही वे उन्हें पढ़ चुके हो । साथ ही अपने पिताकी प्रजाकी भी
 उन्होंने अपने वशमें कर लिया ॥५०॥ जब वे धनुर्विद्या सीखते समय अपने शरीरका ऊपरी भाग
 कुछ मणि बड़ा देने में, धात ऊपर बाँध लेते थे, बाई जाँच कुछ कुरा लेने थे और बाण चढ़ाकर
 धनुषकी बोरी नानतन सीपते थे उस समय वे बड़े सुन्दर सगे थे ॥५१॥ तब मुद्रांजने शरीर में
 यह पक्षी भी भा गई जो त्रिवर्षी भाँखोनी मदिरा होनी है, शरीरकी स्वाभाविक रोमा होती है और
 विलासता महता मद्धा होता है ॥५२॥ दूसरी भिन्न-भिन्न राजधानियोंमें जाकर सुन्दर-सुन्दर
 राजकुमारियों का चित्र ले पाई और राजाकी सतान होनेकी इच्छासे त्रिवर्षीने बिजले बढ़कर सुन्दरी
 उन राजकुमारियोंका विवाह मृदाशत्रु मुद्रांजने करा दिया । विवाह हो जानेपर वे सब राजकुमारियाँ,
 राजाकी दत्ती राजसेनी, पृष्ठाकी और सततद्वीरी मोषी समान हो गई ॥५३॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें नवमोऽध्याय
 नामका अष्टादशो सर्ग समाप्त हुआ ॥

एकोनविंशः सर्गः

अग्निवर्णमभिषिच्य राघवः स्वे पदे तनयमग्निते जसम् ।
 शिश्रिये श्रुतवत्तामपश्चिमः पश्चिमे वपसि नैमिषं वशी ॥ १ ॥
 तत्र तीर्थसलिलेन दीर्घिकास्तल्पमन्तरितभूमिभिः कुशैः ।
 सौधवासमुदजेन विस्मृतः संचिकाय फलनिःस्पृहस्तपः ॥ २ ॥
 लब्धपालनविधौ न तत्सुतः रोदमाप गुरुणा हि मेदिनी ।
 भोक्तुमेव भुजनिर्जितद्रिषा न प्रसाधयितुमस्य कल्पिता ॥ ३ ॥
 सोऽधिकारमभिकः कुलोचितं काश्चन स्वयमवर्तयत्समाः ।
 संनिवेश्य सखिवेष्टतः परं स्त्रीविधेयनवयौवनोऽभयत ॥ ४ ॥
 कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदङ्गनादिषु ।
 ऋद्धिमन्तमधिकार्द्धकृत्तरः पूर्वमुत्सवमपोद्दुत्सवः ॥ ५ ॥
 इन्द्रियार्थपरिशन्यमक्षमः सोऽनुमेकमपि स वृथान्तरम् ।
 अन्तरेण विहरन्दिधानिशं न व्यपैक्षत समुत्सुकाः प्रजाः ॥ ६ ॥
 गौरवाद्यादपि जातु मन्त्रिणां दर्शनं प्रकृतिकाङ्क्षितं ददौ ।
 तदपाच्छिवरावलम्बिना केवलेन धरणेन कल्पितम् ॥ ७ ॥

उन्नीसवां सर्ग

विद्वान् राजा शुवर्चनने मुद्रापेमे अपने अग्निके अग्रज लेखस्वी पुत्र अग्निवर्णको राजा बना दिया और स्वयं नैमिषारण्यमें रहने लगे ॥१॥ वहाँ वे तीर्थ-जलके प्राये घरकी बावलिपोकों, भूमिपर बिछे हुए कुशके प्राये राजसी नल्लवको तथा कुटियाके प्राये बड़े-बड़े महलोंको भ्रम गये और पलंगी इच्छा छोड़कर तप करने लगे ॥२॥ पितृसिं पाई हुई पृथ्वीका पासन करनेमें अग्निवर्णको कोई कठिनाई नहीं हुई क्योंकि उनके पितृसिं अश्वघोषको पहने ही हरा दिया था । इसलिये दृष्टे तो केवल भोग करनेके लिये ही राज्य मिला था, राज्यके शत्रुघोषको मिटानेके लिये नहीं ॥३॥ इसका फल यह हुआ कि अग्निवर्ण कामुक हो गए । कुछ दिनोंतक तो उन्होंने स्वयं राजकाज देखा पर फिर अग्निवर्ण पर राज्यका भार डालकर जबानीका रस लेने लगे ॥४॥ वह कामी राजा मन्त्रिपोकों के साथ उन भवनों में दिन रात पड़ा रहने लगा जिसमें बराबर मृदंग बजते रहते थे और प्रतिदिन एकसे एक यक्षर ऐसे उत्सव होते रहते थे कि प्रत्येक दिनके उत्सवके धूम मचाके के प्राये पहले विचन उत्सव फीका पड़ जाता था ॥५॥ उसे ऐसा चक्का लग गया कि वह क्षण भर भी भोगविभाषने बिना नहीं रह सकता था । इसलिये वह सदा रनिवाहके भीतर रहकर ही विहार करने लगा । उसके दर्शनके लिये जनता मघीर रहती थी पर वह कभी जननी सुख नहीं लेता था ॥६॥ यदि कभी मन्त्रिपोकें कहने-सुननेसे वह प्रजाको दर्शन भी देता तो अब इतना ही कि गहरोसेसे एक पर बाहर सदका देता था ॥७॥

तं कृतप्रसूतयोऽनुजीविनः कोमलात्मनखरागरूपितम् ।
 भेजिरे नवदिवाकृतातपस्पृष्टपङ्कजतुलाधिरोहणम् ॥८॥
 यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घकाः ।
 गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यगाहत विगाढमन्मथः ॥९॥
 तत्र सेकहतलोचनाञ्जनैर्घांतरागपरिपाटलाधरैः ।
 अङ्गनास्तमधिकं व्यलोभयन्नर्पितप्रकृतकान्तिभिर्मुखैः ॥१०॥
 प्राणकान्तमधुगन्धकर्षिणीः पानभूमिरचनाः प्रियासखः ।
 अभ्यपद्यत स वासिताः पुष्पिता कमलिनीरिव द्विषः ॥११॥
 सातिरेकमदकारणं रहस्तेन दत्तमभिलेपुरङ्गनाः ।
 ताभिरप्युपहृतं मुखासत्रं सोऽपिवद्वकुलतुल्यदोहदः ॥१२॥
 अङ्गमङ्गपरिवर्तनोचिते तस्य निन्यतरशून्यतामुभे ।
 वल्लकी च हृदयङ्गमस्वना बल्लुवागपि च वामलोचना ॥१३॥
 स स्वयं ग्रहतपुष्करः कृती लोलमान्यवलयो हरन्मनः ।
 नर्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः पार्श्ववतिषु गुरुष्वलज्जयत् ॥१४॥
 चारु नृत्यनिगमे च तन्मुखं स्येदमिन्नतिलकं परिश्रमात् ।
 प्रेमदत्तवदनानिलः पित्रन्नत्यजीवदमरालकेधरी ॥१५॥

राजकर्मचारी उनके नसीबी सालीयाने उस घरलुका नमस्कार करके धारापना करते थे जो प्रभातकी
 लाल किरणोंमें भरे हुए कमलक समान था ॥८॥ यह महाबारी राजा उन वासतियोंमें सुन्दर स्त्रियों
 के साथ बिहार करता था जिनने किमोस-पर भी बने हुए थे । स्त्रियोंके ऊँचे-ऊँचे स्तन जब बायसीके
 कमलोसे टकराते थे तब ये कमल हिलने लगते थे ॥९॥ जसमे स्नाय करनेसे जब उन स्त्रियोंकी
 माँसोमा मीनन छूट जाता था और धोखेवर लगी हुई लाली धुल जानी थी तब उनकी स्वाभाविक
 सुन्दरताको देखकर वह और भी अधिक मोहित हो उठता था ॥१०॥ हाथी जैसे स्त्रियों हुई
 कमलिनीयोंकी गण्यसे भरे सरीसृपमें हंसियोंके साथ पेंटना है, वैसे ही अग्निवर्ण भी सुन्दरी स्त्रियोंके
 साथ मद्यके मधमे लसी हुई पानलाला या भदिराधरमे पहुँचता था ॥११॥ यहाँ ये स्त्रियाँ अग्निवर्णोंका
 जूठा गदबारी घासय बड़े प्रेमसे पीती थी । जैसे मोलसिरीका पेठ स्त्रियोंके मुखाका धाराय पानेको
 सरता करता है उसी प्रकार उन स्त्रियोंके मुखमे धासव पीनेकी इच्छा करनेवाला अग्निवर्ण भी उनके
 मुँहका धानय पिया करता था ॥१२॥ मोरमे बँडाने योग्य दो ही तो बस्तुएँ हैं—एक तो मनोहर
 गङ्गावली पीछा और दूसरी मधुर-भाषिणी वामिनी । इन दोनोंने उसको मोदको सदा भरपूर रसता
 ॥१३॥ जब नर्तनियोंमे भासते समय वह स्वयं नृदंश बनाने लगता था तब उसके गलेकी भासा
 हिल उठती थी । उस समय वह ऐसा सुन्दर लगता थाकि नर्तनियों मुख-बुध खोकर नाचना भी भूल
 पाती थी । दागा पन यह होता था कि उन्हें नाचना सिगानेपाने उनके जो मुख बहाँ बँडे रहते थे
 उनमे धागे के धपनी दस बावबर सजा जाती थी ॥१४॥ जब नृत्य समाप्त हो जाता था और

तस्य सावरखट्टसंघयः काम्यवस्तुषु नवेषु सङ्गिनः ।
 वल्लभाभिरुपसृत्य चक्रिरे सामिश्रुक्तविषयाः समागमाः ॥१६॥
 अङ्गुलीकिसलयप्राप्तर्जनं प्रविमङ्गकुटिलं च वीक्षितम् ।
 मेखलाभिरसकृच्च बन्धन बन्धयन्प्रणयिनीरवाप सः ॥१७॥
 तेन दत्तिविदित निषेदुया षष्ठतः सुरतवाररात्रिषु ।
 शुश्रुवे प्रियजनस्य कातरं विप्रलम्भपरिणाङ्गिनो वचः ॥१८॥
 सौन्यमेत्य गृहिणीपरिग्रहान्नर्तकीषुसुलभासु तद्वपुः ।
 वर्तते स्म स कथंचिदालिखन्नङ्गुलीक्षरसन्नवर्तिकः ॥१९॥
 प्रेमगर्वितविषयमत्सरदायताञ्च मदनान्महोक्षितम् ।
 निन्दुरुत्सवविधिच्छलेन तं देव्य उज्ज्वलरुपः कृतार्थताम् ॥२०॥
 प्रातरेत्यपरिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः ।
 प्राञ्जलिः प्रणयिनी प्रसादयन्तोऽधुनोत्प्रणयमन्तर पुन ॥२१॥

नाचनेके परिश्रमसे उनके मुखपर पसीनेकी बूँद छा जाती थी तब राजा धनिबर्ष प्रेमपूर्वक फूक मार-
मारकर उनके मुखको जूमने लगता था । उस समय वह समझता था कि मैं इन्द्र और दुबेरसे भी
बढकर सुखी और भाग्यवान् हूँ ॥१४॥ वह क्या नहीं नहीं भोगने सामग्रियाँ चाहता था । जिस
वस्तुसे उसका प्रिय वस्तु था उसे वह छोड देता था इसलिये क्षत्रियों समोगके समय राजाके
पिछे वह प्रा- ६ छोडी होती, गुरी नहीं । क्योंकि उन्हें घर था कि यदि राजा पूर्णरूपसे कृप्य
हो जाय एक बार ॥१५॥ नमी नमी जब वह राजा इस क्षणिकियोंको धोखा मार चकमा
दे जाता था ॥१६॥ अपनी मात-मात उँगलियाँ चमका-चमकाकर धमकाती थी, भीह सर्रेती
थी और राजाकी ॥१७॥ धनमीसे दाँव देती थी ॥१८॥ जिस दिन रातको उसे किसी स्त्रीसे समोग
करने जाना होता तो ॥१९॥ सब बातें बताकर वह पास ही छिपकर बैठ जाता । वह स्त्री जब घाती
और विप्रलम्भ नायिकाके समान कुत्तीसे बिरहकी (इस प्रकार) बात करन लगती [कि पता नहीं
वे कब घाबेंगे, अभीतक आए क्यो मही इत्यादि,] तब वह उन बातोंको छिप छिपे बचे प्रेमसे सुनता
था ॥२०॥ जब नमी उसे रात्रियाँ रोक लेती, तब नर्तकियोंके न मिकनेसे बिरह-वाटर हो जाता
और हाथम त्रस्तिका लेकर किसी नर्तकीका चित्र बनान लगता था । उस समय उसे वह नर्तकी स्मरण
हो जाती और सात्विक भावने कारण उसकी उँगलियोंमे पगोना घ्रा जाता और कूपी दिसल पड़ती
थी । इस प्रकार वह बडी कठिनाइसे चित्र बना पाता था ॥२१॥ यदि राजा किसी रानीसे प्रेम
करता तो वह नर्तकी फूली व समाती । यह देखकर उसकी सोते जल उठती थी और नामातुर हो
जाती थी और किसी तरहवका महान्ना करके राजाको अपने बहाने बुलाकर उधने साथ अपनी
तपन बुझाती थी ॥२२॥ रातमे बाहर किसी स्त्रीसे समोग करके जब राजा प्रातःकाल घर
लौटता था तब रातके भोगवाले सुन्दर चेहरे उसे देखकर उसकी प्रमिकाएँ राडिता
नायिकाके समान भाँसु बहान लगती थी और राजा हाथ जोडकर झुठ मना नेता था ।

स्वप्नकीर्तितविषयमद्भुताः प्रत्यभैत्सुरवदन्त्य एव तम् ।
 प्रच्छदान्तगलिताश्रुभिन्दुभिः क्रोधभिन्नवलपैर्विवर्तनैः ॥२२॥
 फलस्यपुष्पशयनल्लिताशृद्धानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः ।
 अन्यभूत्परिजनाङ्गनारत्नं सोऽवरोधमयवेपथूत्तरम् ॥२३॥
 नामवल्लमजनस्य ते मया प्राप्य भाग्यमपि तस्य काङ्क्ष्यते ।
 लोलुपं ननु मनो ममेति तं गोत्रपिस्त्रलितमृचुरङ्गनाः ॥२४॥
 चूर्णवश्रुलुलितस्रगाकुलं छिन्नमेखलमलककाङ्क्षितम् ।
 उत्थितस्य शयनं विलासिनस्तस्य विघ्नमरतान्यपापृणोत् ॥२५॥
 तस्य चरखरागमादधे योषितां न च तथा समाहितः ।
 लोभ्यमाननयनः श्लथांशुकैर्मण्डलागुणपदैर्नितम्बिभिः ॥२६॥
 चुम्बने निपरिवर्तिताधरं हस्तरोधि रशनाविघट्टने ।
 विधितेच्छमपि तस्य सर्वतो मन्मथेन्धनममूढधूरतम् ॥२७॥
 दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीर्नर्मपूर्वमनुपृष्टसंस्थितः ।
 छायाया स्मितमनोज्ञया वधूहीनिमीलितमुखोश्चकार सः ॥२८॥

पर जब रातकी पकावटके कारण वह जगसे भरपूर प्रेम नहीं करता था तो वे फिर व्याकुल हो
 उठती थी ॥२२॥ जब स्त्रियाँ देखती कि राजा स्वप्नमे बहबगते हुए किसी दूसरी स्त्रीकी बगई
 कर रहा है तब वे कामियाँ बिना बोले ही बिस्तारके कोनपर साँवु गिराती थीं, जोसे कौन तोड़
 कर उनसे पीठ फेरकर सी जाती थी और इस प्रकार उनसे स्पर्श जाती थी ॥२३॥ करते वे श्री हृषीकेश
 राजाको मार्ग दिखाती हुई उस स्थान पर ले जाती जहाँ सतामोंके बीचमे सम्मेलियोंके सुन्दरीका
 सेज बिछी रहती थी । उस समय उसे यह डर होता कि कहीं ये दासियाँ आकर जलनमांसि न कह
 दें । इसलिये दासियोंको धुससानेके लिये गट्ट जग दासियोंसे सम्मोष करके उन्हें प्रसन्न कर
 देता था ॥२४॥ कभी-कभी वह भ्रूषसे स्त्रियोंके आगे किसी बाहरी प्रेमिकाका नाम ले लेता ।
 उसे सुनकर वे स्त्रियाँ कहने लगती कि वरुण अच्छा हुआ जो आपने अपनी प्रेमिकाका नाम बता दिया ।
 अन्य है उसका भाग्य । पर क्या करें, हमारा भी तो लोभी मन नहीं मानता । आपको कैसे छोड़
 दें ? ॥२५॥ जब वह सोकर उठता तब उसका पलक, फेले हुए कैसरके पुराँसे सुनहरे दिखाई
 देता था । उसपर फूलोंकी मसली हुई मानाएँ और टूटी हुई तपकियाँ पड़ी रहती थी और जहाँ तहाँ
 महाबली छाप पड़ी रहती थी, जिसे देखकर प्रकट होता था कि वह कितना विलापी है ॥२६॥
 कभी कभी वह स्त्रियोंके पंरोमे स्वयं महाबल लगाने बैठ जाता । पर उसी समय उसकी दृष्टि स्त्रियोंके
 उन नितम्बापर पड़ जाती थी जिनपरसे अपका सरका हुआ रहता था । उन्हें देखकर वह ऐसा मुग्ध
 हो जाता कि भलीभाँति महाबल भी नहीं लगा पाता था ॥२७॥ सम्मोषके समय जब वह स्त्रियोंके
 घोट चूमने लगता तब वे मुँह फेर लेती थी और जब कमरका नाडा सोलने लगता तब हाथ घाम
 लेती । इस प्रकार वह जो कुछ करना चाहता, स्त्रियाँ कुछ भी नहीं करन दती थी, फिर भी उसका
 काम बढ़ता ही गया ॥२८॥ जब कभी स्त्रियाँ दर्पणके आगे खड़ी होकर दाँत नाटने या नूँटने आदि

कण्ठसक्तमृदुबाहुबन्धनं न्यस्तपादतलमग्रपादयोः ।
 प्रार्थयन्त शयनोत्थितं प्रियास्तं निशात्ययविसर्गचुम्बनम् ॥२६॥
 प्रेक्ष्य दर्पणतलस्थमात्मनो राजवेशमतिशकशोभिनम् ।
 विधिये न स तथा यथा शुभा व्यक्तलक्ष्म परिभोगमण्डनम् ॥३०॥
 भिन्नकृत्यमपदिश्य पार्श्वतः प्रस्थितं तमनवस्थित प्रियाः ।
 विच हे शठ पलायनञ्चलान्यञ्जसेति रुरुधुः कचग्रहैः ॥३१॥
 तस्य निर्दयरतिभ्रमात्मसाः कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः ।
 अध्वशेरत घृहङ्गुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम् ॥३२॥
 संगमाय निशि गूढचारिणं चारदृष्टिकथितं पुरोगताः ।
 बच्चयिष्यसि कुतस्तमोदृतः कामुकेति चक्रपुस्तमङ्गनाः ॥३३॥
 योषितामुदपतेरिवार्चिषां स्पर्शनिर्दृष्टिमसाववाप्नुवन् ।
 आरुरोह कुमुदाकरोपमां रात्रिजागरपरो दिवाशयः ॥३४॥
 वेष्टुना दशनपीडिताधरा वीर्या नखपदाङ्गितोरवः ।
 शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्वनयना व्यलोभयन् ॥३५॥

सभोगके चिल्लोको देखने लगती थी, तब राजा उनके पीछे चुपकेसे आकर सदा हो जाता और
 झुनकर देता । जब दर्पणमें उसका प्रतिबिम्ब दिखाई देता तब वे झेंपकर मूँह नीचा कर लेती
 थी ॥२६॥ जब वह प्रातः काल पलंगसे उठकर जाने लगता तब स्त्रियोंको इच्छा होती कि बिछुड़नेके
 पहले राजा एक बार गलेमें बाँधी डालकर घूम ले ॥२६॥ यह राजा इतनेके चलोसे भी मुन्दर
 अपने राजसी वस्त्रको दर्पणमें देखकर उठना प्रसन्न नहीं होता था जितना सभोगके चिल्लोको देखकर
 ॥३०॥ कभी कभी अपनी रानियोंके पास बैठे-बैठे उसके मनमें किसी प्रियतमके पास जानेकी
 इच्छा होती तो वह यह कहकर उठने लगता—अरे मुझे एक मित्रसे मिलने जाना है । यह सुनकर
 रानियाँ ताड़ जाती और कहने लगती कि हूँ भी भलीभाँति जानती है कि तुम किस मित्रके यहाँ
 जा रहे हो और फिर बात पकटकर उसे रोक लेती ॥३१॥ जब कभी उसके साथ बहुत देर तक सभोग
 करनेके कारण स्त्रियाँ थकसा जाती थी तब वे अपने मोटे थोड़े स्तनोंसे राजाकी छातीके चन्दनको
 पीछली हुई उसके पक्ष स्पलपर इस प्रकार खी जाती थी याने वे सभोगका वह कठपूत नामका भासन
 साज रही हो जिसमें स्त्रियाँ पठिके ऊपर खेकर अपने स्तनोंसे धीरे धीरे अपने प्रियतमकी छातीको
 अपने-पै हूँ कसकर छातीसे लिपट जाती हैं ॥३२॥ रातको यह सभोगकी इच्छासे झिपकर जब
 बाहर जानेकी होता था तो दृष्टियोंसे समाचार पाकर उसकी स्त्रियाँ उसके घाँवें घूँच जाती थी और
 यह कहते हुए खीच जाती थी कि कहिए कृपया देकर रातको बिचर पड़े ॥३३॥ स्त्रियोंके स्पर्शसे
 उसे वैसा ही आनन्द मिलता था जैसा चन्द्रमाकी किरणोंसे । अब वह चुम्बुकोके समान रातभर
 जागता रहता और दिनभर सोता रहता ॥३४॥ उसने जानेवाली स्त्रियोंके ओठोंपर अपने दाँतके और
 ऊपरी जाँघोंपर चूट-चूटकर नखोंसे ऐसे घाव कर दिए थे कि जब वे अपने अधरोपर जाँघुरी और

अङ्गमत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन् ।

स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः संजघर्ष सह मित्रसन्निवौ ॥३६॥

अंमलम्लिकुटजार्जुनस्रजस्तस्य नीपरज्याङ्गरागिणः ।

प्रावृषि प्रमदवर्हिणेष्वभृत्कृत्रिमाद्रिषु विहारविधमः ॥३७॥

विग्रहाञ्च शयने पराङ्मुखीर्नानुनेतुममलाः स तत्त्वरे ।

आचकाङ्घ्रि घनशब्दविज्वास्ता विवृत्य मिशतीर्भुजान्तरम् ॥३८॥

कार्त्तिकीषु सवितानहर्म्यभाग्यामिनीषु ललिताङ्गनासगः ।

अन्वभृङ्क्त सुरतश्रमापहां मेघमुक्तनिशदां न चन्द्रिकाम् ॥३९॥

सैफतं च सरयूं विवृण्वतीं श्रोणिविम्बमिव हंसमेखलम् ।

स्वप्रियाविलसितानुकारिणीं सौधजालविरैर्ध्वलोकपद् ॥४०॥

मर्मरैरगुरुधूपगन्धिभिर्व्यक्तहेमरशनैस्तमेकतः ।

जह्नु राग्रथनमोक्षलोलुपं हैमनैर्निवमनैः सुमध्यमाः ॥४१॥

अपितस्तिमितदीपदण्डयो गर्भवेश्मसु निवासकुक्षिषु ।

तस्य सर्वसुरतान्तरचमाः साचितां शिशिररागयो ययुः ॥४२॥

जायपर बीणा रसती तब ऊन्ह बडा कण्ट होता घोर बे टेडी भाँहासे राजाकी घोर देखने लगती थी [कि यह सब भागवतीही करतूत है ।] उनकी यह भावभगी देखकर राजा घोर भी रोभा उठना था ॥३५॥ इतना ही गही, जब वह एकान्तमें शिरीषो धागिक, यात्रिय घोर याचिक तीनों प्रकारका अभिनय तिलाकर अपने मित्रोंके आगे उनका प्रदर्शन करता था उस समय वह बड़े-बड़े नाट्यशास्त्रियोंके भी काम काटता था ॥३६॥ यहाँ श्रुत्ये वह मुटल घोर मर्बुकी माता गतेमें पहनकर तथा शरीरमें बदम्यके परागका प्रसरण लयानर, मतयाले मोरसे भरे हुए शीटा पर्बतोंपर बिहार किया करता था ॥३७॥ जब सर्गपर सौई हुई खिया रुठपर पीठ फेरकर सो जाती थी तब राजा ऊन्ह मताना नहीं चाहता था, करतू यह चाहता था कि निजी प्रवार बाधत गरज उठें जिससे डरकर ये मेरी छातीसे आ चिपटें ॥३८॥ कार्त्तिकी रातोंमें वह राजभवनके ऊपर नंदोबा लगवा देता था घोर सुन्दरियोंके साथ उस चाँदीका धानद सेता था जो समोदका थम दूर करती है घोर जो बादलोंके न रहनेसे बराबर फँसी रहती है ॥३९॥ वह अपने राजभवनके भरीसे से गरमूकी देखता था जिनके तटपर खले हवेली पातें बँटी रहती थी । वह हज्ज ऐसा दिखाई देना मानो समू, उन सुन्दरियोंका धनुकरण कर रही हो जिनके नितम्बोंपर लगदी पड़ी हो ॥४०॥ पलकी बमरगानी शिवाँ आयेके ऐसे कपड़े पहनती थी जो मादीब बारखु बरबरते में घोर जिनके नीचे भलबती हुई सोनकी लवटोंकी बाँधा घोर सोनेके सिध सासाधित रहोयाला यह राजा मोहित हो जाता था ॥४१॥ सब प्रकारकी समीप छोडा करने योग्य हेमन्त श्रुत्यो बड़ी बड़ी शान्ति गत शर प्रवर्ता भीनी कीठियोंमें बिहार किया करता था ॥४२॥ तब मादी बेचन

दक्षिणेन पवनेन संभृतं प्रेक्ष्य चूतकुसुमं सपल्लवम् ।
 अन्वनैपुरवधूतविग्रहास्तं दुरुत्सहवियोगमङ्गनाः ॥४३॥
 ताः स्वमङ्गधिरोष्ण दोलया प्रेक्ष्यन्परिजनापविद्रया ।
 मुक्तरज्जु निविडं भयच्छलात्कण्ठवन्धनमवाप बाहुभिः ॥४४॥
 त पयोधरनिपिक्तचन्दनैर्मौक्तिकग्रथितचारुभूषणैः ।
 ग्रीष्मवेपविधिभिः सिपेविरे श्रोणिलम्बिमणिभेरलैः प्रियाः ॥४५॥
 यत्स लङ्गसहकारमात्मवं रक्तपाटलसमागमं पयो ।
 तेन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नयः ॥४६॥
 एवमिन्द्रियसुरानि निर्विशान्न्यकार्यविमुखाः स पार्थिवः ।
 आत्मलक्ष्यनिवेदितामृतनृत्यवापयदनङ्गवाहितः ॥४७॥
 तं प्रमत्तमपि न प्रभाषतः शेकुराक्रमितुमन्यपार्थिवाः ।
 आमयस्तु रतिरागसंभवो दक्षशाप इव चन्द्रमक्षिणोत् ॥४८॥
 दृष्टदोषमपि तत्र सोऽत्यजत्सङ्गचस्तु मिपजामनाश्रयः ।
 स्वादुभिस्तु निपयैर्दृष्टस्ततो दुःखमिन्द्रियगणो निवार्यते ॥४९॥
 तस्य पाण्डुवदनान्पभूषणा सायलम्बगमना मृदुस्वना ।
 राज्यचमपरिहानिराययौ कामयानसमवस्थया तुलाम् ॥५०॥

दीप थे जो पायुके न घानेसे एगटक होकर सवनी देख रहे थे ॥४२॥ मलय पर्वतसे घाए हुए
 उए पवनसे घानेमे घोर छागए जिह्मे देखकर प्रेमिकायोने कामोन्मत्त होकर राजाके कठना
 ३ दिया घोर उगने विरहमे व्याकुल होकर स्वयं उन्हे डूँढने लगी ॥४३॥ उन स्मिमीकी गोदमे
 १कर वह उन भूलीमे भूलने लगा जिह्मे कौर कुला रहे थे । राजाके एक बार भूलेकी जो भट्ठना
 ११ तो उन क्षियोने भयका बहाना करके रस्सी छोड दी और राजाके गलेमे बँह बासकर उनसे
 रट गई ॥४४॥ प्रीतिन श्रुतमे स्तनीवर चन्दन लगाकर, मोतियोला घाभूषण पहनकर घोर
 ११५५॥ उस समय वह घामकी घोर घोर पाटसका सास फूल पागम लगाकर घासव पीता
 जिससे बसत बीतनेसे मर पडा हुया उसका काम फिर जाग उठता था ॥४६॥ इस प्रकार वह
 ११ राजा राग-वान छोडकर इन्द्रिय-भुलीका रस सेता हुया श्रुतुए बिचरने लगा । वह काम-
 ११५५॥ शने लिपे भिन्न भिन्न श्रुतुमे भे भिन्न-भिन्न प्रकारका वेग बलाया करता था, इसलिये उसने
 ११ जो देखकर ज्ञात हो जाता था कि किस समय कौनसी श्रुतु है ॥४७॥ इतना व्यसनमे लीन
 ११५५॥ पर भी दूसरे राजा उसके राज्यपर आक्रमण नही करते थे । फिर भी जैसे दशके पापसे चन्द्रमाकी
 ११ रोग हो गया था वैसे ही क्षयिक योग-विलास करनेसे उसे भी क्षय रोग हो गया घोर घीरे-घीरे
 ११ ने लगा ॥४८॥ बँदोके बार-बार रोवनेपर भी उसने कामकी जगानेवाली ये वस्तुएँ नही छोडी
 ११ कि जब इन्द्रियाँ एक बार विषयोमे फँस जाती है तब उन्हे रोकना कठिन हो जाता है ॥४९॥
 ११५५॥ घीरे उसका शरीर पीला पड गया, दुर्बलत्वाने कारण उसने घाभूषण पहनना भी छोड दिया,

प्योम पश्चिमकलास्थितेन्दु वा पङ्कशेषमिव धर्मपल्लवम् ।
 राज्ञि तत्कुलमभूत्त्वयातुरे धामनाचिरिव दीपभाजनम् ॥५१॥
 वाढमेव दिवसेषु पार्थिवः कर्म साधयति पुत्रजनने ।
 इत्यदर्शितरुजोऽस्य मन्त्रिणः शशदूचुरघशङ्किनीः प्रजाः ॥५२॥
 स त्यनेकवनितासखोऽपि सन्पावनीमनक्लोदय संततिम् ।
 वैद्ययत्नपरिभाविनं गदं न प्रदीप इव चायुमत्यगात् ॥५३॥
 तं गृहोपयन एव संगताः पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा ।
 रोगशान्तिमर्षदिश्य मन्त्रिणः संभृते शिशिनि गूढमादधुः ॥५४॥
 तैः कृतप्रकृतिगुल्यसंग्रहेराशु तस्य सहधर्मचारिणी ।
 साधु दृष्टशुभगर्मलक्षणा प्रत्यपघत नराधिपश्रियम् ॥५५॥

तस्यास्तथाविधनरेन्द्रविपक्षिशोका ।

दुष्पौर्विलोचनजलैः प्रथमाभितप्तः ।

निर्वापितः कनककुम्भमुखोज्ज्वलेन ।

वंशाभिपेक्षविधिना शिशिरेण गर्भः ॥५६॥

यहू मीनारोके कन्धेपर सहारा बेकर चलने लया, उसकी मोती चीनी पत्र गई और यक्ष्मा रोगसे
 सूतपर यह ठीक बिरहियोके समान दिखाई देने लगा ॥५०॥ राजाके शय रोगसे रोगी होनेपर
 पूर्वजुत ऐसा रह गया जैसे एक कला भर बचा हुआ कृष्ण पक्षकी चतुर्विंशतीका चन्द्रमा हो या
 कौण्ड-भर बचा हुआ गर्मकि दिनोंका ताप हो या सनिक-सी बची हुई बोपककी लो हो ॥५१॥
 जब प्रजा पूछती थी कि राजाको कोई भयानक रोग तो नहीं है, उस समय मन्त्री लोग प्रजाको यह
 कहकर समझते थे कि राजा इस समय पुनोत्पत्तिके लिये व्रत धारि कर रहे हैं, इसलिये दुर्बल होते
 जा रहे हैं । इस प्रकार वे लोग राजाके रोगकी बात जनतासे छिपा रहे थे ॥५२॥
 अनेक रात्रियोंके होने हुए भी यह राजा पुत्रका यह नहीं देख सका और वैद्य लोग राजाको भ्रष्ट
 नहीं कर सके । जैसे वायुके आगे दीपकका कुछ भी बल नहीं चलता वैसे ही राजा भी रोगसे
 नहीं बचाया जा सका ॥५३॥ अन्त्येष्टिकी विधि जाननेवाले पुरोहितसे मिलकर मन्त्रियोंने रोग
 शान्तिके बहानेसे राजाके शवको राजभवनके उपवनमें ही चुपचाप जलती अग्निमें रख दिया कि यही
 बाहर से जानते यह रोग प्रजामें न फैल जाय ॥५४॥ मन्त्रियोंने जोर ही प्रजाके नेताओंको इकट्ठा
 किया और उनकी सम्मतिसे राजाकी उस पटरानीकी सिंहासनपर बैठा दिया जिसमें गर्भके घुम बिन्दु
 दिखाई दे रहे थे ॥५५॥ राजाकी ऐसी दुःख मृत्युमें महाराजोंकी धाँकोंके परम-नरम धामुधामें
 तपे हुए गर्भपर जब कुल-नरनरोंके अनुसार होनेवाले अभिषेकके समय धीनेके धड़ेसे शीतल जल
 पड़ा तब यह गर्भ शीतल हो गया ॥५६॥ जैसे साननमें बोए हुए मुट्ठी भर बीजोंकी पृथ्वी छिपाए

तं भावार्थं प्रसवसमयः ज्ञाङ्क्षिणीनां प्रजाना ।
 मन्तर्गदं चित्तिरिव नभोबीजमुष्टिं दधाना ।
 मौलैः सार्धं स्थविरसचिवैर्होमसिंहासनस्था ।
 राज्ञी राज्यं विधिवदधिपद्भिरुत्प्राहताज्ञा ॥५७॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवशे महाकाव्ये
 अग्निवर्णशृङ्गारो नामैकोनविंशः सर्गः ॥
 ॥ इति रघुवंशम् ॥

रहती है वैसे ही महारानी भी अपनी उस प्रजापति जताईके लिये बर्ष धारण किये हुए भी
 जो पुत्र उत्पन्न होनेकी बात जोह रही थी । इस प्रकार जिसका कल्या कोई डाल नहीं सकता
 था वह गर्भवती महारानी बड़े मन्त्रियोंकी सम्पत्तिके धनुसार राज्यान परागे सर्गे ।

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यके अग्निवर्णका शृङ्गार
 नामका उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

॥ रघुवंश महाकाव्य समाप्त हुआ ॥

ॐ नमः शिवाय

॥ कुमारसम्भवम् ॥

॥ कुमारसम्भवम् ॥

॥ प्रथमः सर्गः ॥

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
 पूर्वापरौ तोषनिषीवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥१॥
 यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
 भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुर्धरित्रीम् ॥२॥
 अनन्तरत्नप्रभरस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
 एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्द्रोः किरणेष्विवाङ्कः ॥३॥
 पश्चात्परोविभ्रमएहनानां संपादयित्रीं शिखरैर्विमर्ति ।
 बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसंख्यामिव धातुमत्ताम् ॥४॥
 आमेखलं संचरतां घनानां क्षायामघःसानुगतां निषेव्य ।
 उद्वेजिता वृष्टिभिराभ्रयन्ते शृङ्गाणि यस्पातपवन्ति सिद्धाः ॥५॥

॥ पहला सर्ग ॥

भारतके उत्तरमे देवताने समान पूजनीय हिमालय श्रमण बड़ा भारी पहाड़ है । यह पूर्व और पश्चिमके समुद्रों तक फैला हुआ ऐसा लम्बा है मानो यह पृथ्वीको नापने तौलनका मापदण्ड हो ॥१॥ राजा पृथुके पहलेसे सब पर्यंतोंने मिलकर इसे बखड़ा बनाया और दुहनेमें चतुर मेघ एवं वकी पाला घनाकर पृथ्वी की गोसे चमकीले रत्न और जड़ी-बूटियाँ दुहर निकाल ली ॥२॥ अनगिनत रत्न उत्पन्न करनेवाले इस हिमालयकी शोभा हिमके कारण कुछ कम नहीं हुई क्योंकि जहाँ बड़से गुण हो वहाँ यदि एक प्राय अवगुण भी था जाय तो उसका बैसे ही पता नहीं पड़ता जैसे चन्द्रमाकी निरखीमे उसका कलक छिप जाता है ॥३॥ हिमालयकी कुछ चोटियोंपर मेघ आदि घातुओंकी अनेक रंग-बिरंगी चट्टानें हैं । इसलिये कभी कभी उन चट्टानोंके पास पहुँचे हुए बादलोंके ठुके उनके रंगकी छाया पड़नेसे सन्ध्याके बादलोंजैसे रंग बिरंगे दिखाई पड़ने लगते हैं । उन्हें देखकर सन्ध्या होनेके पहले ही वहाँकी आन्तराप्रोको यह भ्रम हो जाता है कि सन्ध्या हो गई और इस हृदयहीमे वे सायंकालके नाच-गानेके लिये अपना शृङ्गार करना प्रारम्भ कर देती हैं ॥४॥ इसकी कुछ चोटियाँ इसनी ऊँची उठी हैं कि मेघ भी उनके बीचोंबीच ही पहुँचकर रह जाते हैं, उनके ऊपरका भाग आग मेघोके ऊपर निकल रहा है । इसलिये निचले भागमें स्रग्धका आनन्द लेनेवाले सिद्ध लोग जब अधिक वर्षा होनेसे चपटा पड़ते हैं, तब वे बादलोंके ऊपर उठी हुई उन चोटियोंपर जाकर रहने लगते हैं जहाँ उस समय

पदं तुपारस्रतिधौतरक्तं यस्मिन्नदृष्ट्वापि इवद्विषानाम् ।
 विदन्ति मार्गं नपरन्त्रगुक्तैर्मुक्ताफलैः केमरिणां किराताः ॥६॥
 न्यस्ताचरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरविन्दुशोभाः ।
 व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेपक्रिययोपयोगम् ॥७॥
 यः पूरयन्कीचकरन्ध्रभागान्दरीश्वरोत्थेन ममीरणेन ।
 उद्गास्पतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥८॥
 कपोलकण्टः करिभिर्विनेतुं विघडितानां सरलद्रुमाणाम् ।
 यत्र स्रुतकीरतया प्रसृतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति ॥९॥
 घनेचराणां घनितामरानां दरीगृहोत्पङ्गनिपक्तभासः ।
 भवन्ति यत्रौपधयो रजन्पामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः ॥१०॥
 उद्वेजयत्यद्गुलिपाष्णिभागान्मार्गे शिलीभृतहिमेऽपि यत्र ।
 न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ताभिन्दन्ति मन्दां गतिमस्वमुख्यः ॥११॥
 दिवाकराद्रुचति यो गुह्यसु लीनं दिवाभीतमिगान्वकारम् ।
 क्षुद्रेऽपि नूनं शरणां प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसां सतीव ॥१२॥

पून बनी रहती है ॥११॥ यहाँके सिंह जब हाथियोंका मारकर चले जाते हैं तब रक्तमे लाल उनके पंजोंकी पंखों हुई छाव हिमकी धारासे धुन जाती है । फिर भी उन सिंहोंके नखोंसे गिरा हुई गज-मुक्तामोको देखकर ही यहाँके किरात जान लेते हैं कि सिंह बियर गए हैं ॥६॥ इस पर्वतपर उत्पन्न होनेवाले जिन भोज-पत्रोंपर लिखे हुए मगर हाथीकी सूँवर बनी हुई लाल बुँदबियो-जैसे बिसाई पड़ने हैं उन्हें निपाधारियाँ अपने प्रेम वन बिल्लनेके काममे साध करती हैं ॥७॥ इस पहाड़पर ऐसे देववाले बाँस बहुतायतसे होते हैं जो बामु भर जानेपर बजने लगते हैं । तब ऐसा जान पड़ता है मानो जँके स्वरसे मानेवाले विन्नरीके गीतोंके साथ वे सगत कर रहे हों ॥८॥ जब यहाँके हाथी अपनी कतपटी मुजसानेके लिये देवदाहने पेड़ोंमे साधा रमडते हैं तब उनसे ऐसा सुगन्धित रूप बहने लगता है कि उसकी महबसे इस पर्वतकी सभी चोटियाँ एक साथ गमक उठती हैं ॥९॥ यहाँकी गुफाओंमे रातको चमकनेवाली जड़ी-बूटियाँ भी बहुत होती हैं । इसलिये यहाँके निराज लोग जब अपनी-अपनी श्रियतमाओंके साथ जब गुफाओंमे विहार करने आते हैं तब वे चमकीली जड़ी बूटियाँ हों उनकी काम-क्रीडाने समय बिना लेलके दोषन बन जाती हैं ॥१०॥ यहाँकी विन्नरियाँ जब जमे हुए हिमने माथों पर चलती हैं तब उनकी उँगलियाँ और एडियाँ ढँक जाती हैं, पर वे नरें गया । अपने भारी नितम्बों और स्तनोंसे योग्ने मारे वे बेचारी सोझासे पल नहीं पाती और चाहने हुए भी वे अपनी स्वाभाविक मन्द गतिको छोड़ नहीं पाती ॥११॥ हिमालयकी सम्यो गुफाओंमे दिनमे भी संघेरा छाया रहता है । ऐसा लगता है मानो संघेरा भी दिनमे डरनवाले चतजूके सामान हलकी गहरी गुफाओंमे जानर दिनमे छिद्र जाता है और हिमालय उसे अपनी गोदमे धारण दे देता है क्योंकि जो महान् होते हैं वे अपनी पारखमे घाए हुए नीच योगाने भी बैसा हों अपनापन बनाए रहने हैं जैसा सज्जनोके साथ ॥१२॥

लाङ्गूलविच्छेपविसर्पिशोभैरितस्ततश्चन्द्रमरीचिमौरैः ।
यस्यार्थपुक्तं गिरिराजशब्दं कुर्वन्ति बालव्यजनैश्चमर्यः ॥१३॥
पत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किंपुरुषाङ्गनानाम् ।
दरीगृहद्वारविलम्बिविन्नास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति ॥१४॥
भागीरथीनिर्भरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः ।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते गिन्नाशिखण्डिद्वर्हः ॥१५॥
सप्तपिंहस्तावधितायशोपायघो विवस्वान्परिवर्तमानः ।
पद्मानि यस्याग्रसरोरुहाणि प्रबोधयत्पूर्वमुखैर्मयूखैः ॥१६॥
यज्ञाङ्गपोनित्वमवेक्ष्य यस्य सारं धरित्रीभरश्चर्म च ।
प्रजापतिः कल्पितयज्ञभागं शैलाधिपत्यं स्वयमन्यतिष्ठत् ॥१७॥
स मानसीं मेरुसखः पितृणां कन्यां कुलस्य रिधतये स्थितिजः ।
मेनां सुनीनामपि माननीयामान्मानुरूपां विधिनोपयेमे ॥१८॥
कालक्रमेणाथ तयोः प्रपृच्छे स्वरूपयोग्ये सुरतप्रसङ्गे ।
मनोरमं यौवनमुद्वहन्त्या गर्भोऽभवद्भूधरराजपत्न्याः ॥१९॥

जिन हिरण्यपोषी पूँछोके चँवर बधते है वे चमरी हरिणियाँ जब यहाँ चन्द्रमाकी किरणोंके समान झपती धौली पूँछोकी द्धपर-उपर घुमाती हुई चलती है तब ऐसा प्रतीत होता है मानो वे द्वा पर्वत-राजपर पूँछोके चँवर ठुलाकर इतना गिरिराज नाम सज्जा कर रही हो ॥१३॥ जब यहाँकी गुफा-घोमे विन्तरियाँ अपने अग्रतमके साथ काम क्रीडा करती रहती है उस समय जब वे शरीरपरसे बहम हट जानेके कारण सजाने लगती है तब बाबल उन गुफाघोके द्वारोपर घाँवर झीट करके प्रवेष्टा कर देते हैं ॥१४॥ गंगाजीके भरनोरी कुहारीसे लदा हुआ, बार-बार देवदारुके गूँसको कँपानेवाला घोर गिरातीकी देटीमे बंधे हुए गोरपखोको फरफराते वाला यहाँका शीतल-मद-सुगन्ध पवन जब किरातीकी शकाम मिटाता चलता है जो भृगोकी लोचने हिमालयपर द्धपर-उपर घूमते रहते हैं ॥१५॥ द्धतकी ऊँची चोटियोंपरके तातोमे खिलनेवाले कमसोकी स्थय सप्तपिण्ड पूजाके लिये अपने सप्तपि मण्डलके प्राकर तोड़ के जाया करती हैं । उनके घुमनेसे जो कपस बन रहते हैं उन्हें नीचे उड़य होनेवाला सूर्य अपनी किरणें ऊँची करके खिताया करता है ॥१६॥ यज्ञपत्र नाम प्राणेवाली सामप्रि-योको उत्पन्न करनेके कारण ^{पुन} मृध्वोकी लँगासे रखनेकी शक्ति होनेके कारण इस हिमालयको स्वयं प्रजाजीने इन पर्वतोंका स्वामी बना दिया जिन्हे यज्ञमे भाग पानेका अधिकार मिला हुआ है ॥१७॥ सुनेखे मित्र और मर्यादा जाननेवाले हिमालयमे अपना बस बसानेके लिये मेना नामकी उस पत्न्यासे शास्त्रे अनुसार विवाह किया जो पितरोंके गमते उत्पन्न हुई थी, जिसका भुजि लोग भी आदर करते हैं और जो हिमालयके समान ही ऊँचे कुब और सीलवासी थी ॥१८॥ विवाह हो जानेपर हिमालय और मेना दोनोंने मनचाहा भोग-विश्रास किया और कुछ दिनोंके हिमालयकी यह सुन्दर और सुखी पत्नी

महोभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम वृत्तिम् ।
 अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥२७॥
 प्रभामहत्या शिखयेर दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।
 संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तथा स पूतश्च विभूषितश्च ॥२८॥
 मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च ।
 रेमे मुहुर्मध्यगता सप्तोनां क्रीडारसं निर्विशतीव शाल्ये ॥२९॥
 तां हंसमालाः शरदीव गङ्गां महौपधिं नक्तमिवात्मभासः ।
 स्थिरोपदेशाद्युपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ॥३०॥
 असंभृतं मण्डनमङ्गयप्तेरनासवाख्यं करणं मदस्य ।
 कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं शल्पात्पर साध वयः प्रपेदे ॥३१॥
 उन्मीलितं तुलिकयेव चित्रं सूर्याशुभिर्मिन्नमिवारविन्दम् ।
 यभूव तस्यारचतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥३२॥
 अम्बुधताङ्गुणस्यप्रभाभिर्निसेपणाद्रागमिवोद्विरन्तौ ।
 भ्राजहतुस्तच्चरणी पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम् ॥३३॥

तबसे उनका नाम क्या पढ़ गया था ॥२६॥ जैसे भीरोकी गीते बसन्तके देरो कुलोको छोडकर
 मामरी मजरीखेपर ही मंडरातो रहलो हे जैसे ही अनेक सखानेके होले हुए भी हिमवानकी भाँसें
 पार्यतीपर ही मंडकी रहती थी ॥२७॥ जैसे अत्यंत प्रकाशमान लोको पाकर दीपक, मन्दाकिनीको पाया
 स्वर्णका मार्ग और व्याकरसके चुड़ काशी पाकर बिहारी लोच पवित्र और सुन्दर लगने लगते हैं ।
 जैसे ही पार्यतीजीको पाकर हिमवान् भी पवित्र और सुन्दर हो गए ॥२८॥ पार्यतीजी अपनी ससियों
 के साथ कभी तो गंगाजीके वजुए तटपर बैवियाँ बजाती थी, कभी पद सेतती थी और कभी गुडियाँ
 बना-बनावर सजाती थी । इस प्रकार खेल-बूझ उनका पुरा बचपन बीत गया ॥२९॥ जब
 अत्यन्त तीव्र बुद्धिवासी पार्यतीजीने पढ़ना प्रारम्भ किया उस समय पूर्वं जन्मकी सभी विद्याएँ
 उन्हें उसी प्रकार अपने आप स्मरण हो आईं जैसे सरब ऋतुके आजायेपर गंगाजीमे हल भा
 आते है या जैसे अपने भाप चमकनेवालो जड़ी वृद्धियोंमे रातको चमक भा जाती है ॥३०॥ इस
 प्रकार धीरे धीरे उनका बचपन बीत गया और उनके शरीरमे वह यौवन फूट पडा जो शरीरकी
 सताका स्वाभाविक सिगार है, जो मदिराके बिना ही मनको मत्वाला बना देता है और जो
 बामदेवता बिना कुलोवाला बाण है ॥३१॥ जैसे कुँबीसे ठोक-ठोक रंग भरनेपर चित्र खिल उठता है और
 सूर्यकी किरणोंका परस पाकर नमलका फूल हँस उठता है जैसे ही पार्यतीजीका शरीरभी गया
 यौवन पाकर बहुत खिल उठा ॥३२॥ जब ये चलती थी तब उनके स्वाभाविक लाल और गोमच
 पैरेके उठे हुए भौंछोके नखोंमे निपसनेवाली चमकके देखकर ऐसा आन पड़ता था मानो वे पैर
 ललाई उगल रहे हो और जब वे अपने इन चरणोंकी उठा उठाकर ग्यती चलती थी तब तो ऐसा

सा राजहंमैरिव संनताङ्गी गतेषु लीलाञ्चितविक्रमेण ।
 व्यनीयत प्रत्युपदेशलुब्धैरादित्सुभिर्नृपुर्मिञ्जितानि ॥३४॥
 वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जह्ने शुभे सृष्टवतस्तदीये ।
 शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्पाद्य इवास यतनः ॥३५॥
 नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात्कदलीविशेषाः ।
 लब्ध्यापि लोके परिग्राहि रूपं वातास्तद्वोरुपमानवाह्याः ॥३६॥
 एतावता नन्वनुमेयशोभि क्वाञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः ।
 आरोपितं यद्विरिसेन परचादनन्यनारीकमनीयमङ्गम् ॥३७॥
 तस्याः प्रनिष्ठा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवलोमराजिः ।
 नीवीमतिक्रम्य मितेतरस्य तन्मेखलामध्यमखेरिवाचिः ॥३८॥
 मध्येन ना वेदविलग्नमध्या बलित्रयं चारु वभार वाला ।
 आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् ॥३९॥
 अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम् ।
 मध्ये यथा श्यामप्लवस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरगम्पलम्पम् ॥४०॥

जान पड़ता था मानो वे पग पागर स्थल कमल उगाती चल रही हो ॥३३॥ यौवनके भारसे झुकी हुई जब वे हाव-भावसे चलती थी उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो उनके बिजुझोसे निकलनेवाली मधुर ध्वनिकी सीखनेके लिए ललचाये हुए राजहंसोंने अपनी हाव-भरी चाल उन्हें पहले ही जड़नेमें तिलादी हो ॥३४॥ उनके सपूने शरीरको सुन्दर बना देनेके लिये सुन्दरताकी जितनी सामग्रियाँ इकट्ठी की थी वे सब तो उनकी बड़ाव उत्तारवाली, गोल और ठीक मोटाईवाली जाँघोंके बनानेमें ही समाप्त हो गईं । इसलिये सेश भगोशे बनानेके लिये सुन्दरताकी और सामग्रियाँ फिर जुटानेमें ब्रह्माश्रीको बड़ा कष्ट उठाना पड़ा ॥३५॥ पार्वतीशे उन दोनों मोटी जाँघोंकी उपमा दो ही वस्तुओंसे दी जा सकती थी—एक तो हाथीके सूँडसे घोर दूधरे केलेके छन्नेसे । पर हाथीकी सूँड कड़ी होती है और केलेका पत्रा बड़ा ठण्डा होता है इसलिये पार्वतीशकी बड़ी बड़ी जाँघोंके गेटकी कोई भी ठीक वस्तु न मिल सकी ॥३६॥ उन धरमन्त सुन्दर भगोवातीने नितम्ब दितने सुन्दर रहे होंगे यह तो इतनी बातसे मान्य जा सक्ता है कि विवाह करनेपर स्वयं शिवजीने उन नितम्बोंको अपनी उस गोदमें रक्ता जहाँ उन पहुँचनेकी कोई घोर स्त्री साध भी नहीं कर सकती ॥३७॥ नाडेके ऊपर गहरी नाभितक पहुँची हुई घोर नये यौवनके आनेके कारण यानोशे जो नई उगी पतली रेखा बन गई थी उस देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो नाडेके ऊपर बँधी हुई उनकी उगबीने योयोवीष जटा हुमा नीलम चमक उठा हो ॥३८॥ उन पतली कमरवाली और नये यौवनवालीके पेटपर जो तीन बिजुझन भी रखाए पड़ी हुई थी उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेवकी ठार स्तन यदि भगोवन बड़ा लेजानेके लिये नये यौवन की सीढ़ी बनादी हो ॥३९॥ उन कमलने सनाब घौनोंवासी पार्वतीने, राँवकी पुडिमोवाके गारे गोरे दोनों स्तन बढ़कर आपसमें इतने सट गये थे कि उनमें योयमे इतना भी स्थान नहीं रह गया कि कमलकी नालया एव

शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः ।
 पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन ॥४१॥
 कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य ।
 अन्योन्यशोभाजननाद्धयूव साधारणो भूषणमूष्यभावः ॥४२॥
 चन्द्रं गता पद्मशुभाच्च मुहुक्तेष्वश्रिता चान्द्रमसीमभिर्याम् ।
 उमामुखं तु प्रतिपद्य लोलो द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥४३॥
 पुष्पं पद्मसोपहितं यदि रयान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।
 ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्णस्तकचः स्मितस्य ॥४४॥
 स्परेण तस्याममृतस्रुतेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि ।
 अप्यन्यपृष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव ताड्यमाना ॥४५॥
 प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
 तथा गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ॥४६॥
 तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेय फान्तिर्भूधोरायतलेखयोर्षा ।
 तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच ॥४७॥

सूत भी उत्तमे सत्ता सके ॥४०॥ मेरी समझमें पार्वतीजीकी मुजाएँ सिरसके फूलसे भी अधिक कोमल थी, इसीलिये तो फूलोंके बस्यवाले कामदेवने चित्रजीसे हार जानेपर उनके गलेमें हल्की मुजा-प्रोका फन्दा बनाकर डाल दिया था ॥४१॥ पार्वतीजीका पोस-पोस गला और उनके गले उनके ऊँचे स्तनोपर लटका हुआ गोख मौलियीना हार, दोनों एक दूसरेकी शोभा बढ़ा रहे थे । पार्वतीजीके कण्ठकी शोभा हार बढ़ा रहा था और उस हारकी शोभा उनका कण्ठ बढ़ा रहा था ॥४२॥ [जबतक वे उत्पन्न नहीं हुई थी तबतक] जबस शोभावाली लक्ष्मी बड़ी बुझिगामे पड़ी रहती थी क्योंकि राखी जय वे चन्द्रमामे पहुँचती थी तब उन्हें कमलका आनन्द नहीं मिल पाता था और जब दिनों के कदमों से आ जयती थी तब रातके चन्द्रमाका आनन्द उन्हें नहीं मिल पाता था । पर जबसे वे [चन्द्रमा और कमल दोनोंके गुणवाले] पार्वतीजीके मुखम आ बसी तबसे उन्हें [चन्द्रमा और कमल] दोनोंका आनन्द एक साथ मिलने लगा ॥४३॥ उनके लाल-लाल ओठोपर फँसी हुई उनकी मुस्कुराहटका उज्जवापन ऐसा सुन्दर लगता था जैसे सास चौपलमें कोई उज्जना फूल रखता हुआ हो या स्वर्ण्य मूँके बीचमें मोती जड़ा हुआ हो ॥४४॥ वे यथुर बालीवाली जब बोलने लगती थी तब गानो प्रभुत्वकी धारा फूट निकलती थी । उनकी छोटी बोलीके साथे कोमलकी बूब कागोको ऐसी कड़वी लगती थी जैसे किसी प्रनासीने अनमिली चीखाने नेबुरे तार छेड़ दिए हो ॥४५॥ उन बड़ी बड़ी आँखोवालीकी चितवन, आँखीसे हिलते हुए नीचे गल्लोके समान चलती थी । उसे देखकर यह पता ही नहीं चल पाता था कि यह क्या उन्होंने इच्छियोंने भोली थी या हरि-छियोंने ही उनसे रोली थी ॥४६॥ उनकी लकी और मनोहर मोँह ऐसी लगती थी जैसे किसी ने तूलिका बेकर बनाई हो । वे मोँह इतनी सुन्दर थी कि नामदेव भी अपने धनुषकी सुन्दरताका

लज्जा तिरश्चो यदि चेतसि स्वादमराय पर्वतराजपुत्र्याः ।
 तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युर्बालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः ॥४८॥
 सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाग्रदेशं विनिवेशतेन ।
 सा निर्मिता विश्वसृजा प्रवत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्ष्येव ॥४९॥
 तां नारदः कामचरः कदाचित्कन्यां किल प्रेक्ष्य पितुः समीपे ।
 समादिदेशैकवधूं भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्चहरां हरस्य ॥५०॥
 गुरुः प्रगल्भेऽपि वयस्यतोऽस्यास्तस्थौ निवृत्तान्पचराभिलाषः ।
 श्रुते कृशानोर्न हि मन्त्रपूतमर्हन्ति तेजोऽस्यपरायि हृष्यम् ॥५१॥
 श्रयाचितारं नहि देवदेवमद्रिः सुतां ग्राहयितुं शशाक ।
 श्रम्यर्थनामङ्गभयेन साधुर्माध्यस्थ्यमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे ॥५२॥
 यदैव पूर्वं जनने शरीरं सा दक्षरोपात्सुदती मसर्ज ।
 तदाप्रभृत्येव विमुक्तसङ्गः पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत् ॥५३॥

जो पमन्ड लिए फिरते थे वह इन नौहोने प्राये पूर पूर हो गया ॥४८॥ उनके बाल इतने सुन्दर
 थे कि यदि गधु-पक्षियों भी समुप्येक समान सज्जा हुआ करती तो अपने बालोंपर इतने प्राणों
 की हुरिगिया भी उनके बाल देखकर अपने धँवरोंपर हठसाया भूल जाती ॥४९॥ पार्वतीजीको
 देखकर ऐसा जान पड़ता था कि सत्तारकी बनादेवाने ब्रह्माजी पृथ्वीवरकी सारी सुन्दरता एक ही
 देवता पाहते थे । इसीलिये तो उन्होंने सुन्दर भक्तोंकी उपमासे धारणरती सब वस्तुओंकी जतनसे
 धटोरकर उगे सब भक्तोंपर वयास्वान मजाकर सुन्दरताकी मूर्ति पार्वतीजीको बनाया था ॥५०॥
 अपने भाँसे दूधर उपर धूमनेवाले नारदजी एक दिन धूमते पागले शिवलक्ष्मणे वहाँ पहुँचे तो क्या
 वेगले हैं कि हिमालयसे पाग उमगी बग्गा जी बैठे हुई है । उन्हें देखते ही नारदजीने यह भविष्य-
 वाणी कर दी कि यह बग्गा अपने देगले शिवजीके प्राये शरीरकी स्थापितो और उनकी धनेली
 पत्नी धनकर रहेगी ॥५१॥ यद्यपि पार्वतीजी सयानी होती चली रा रही थी पर नारदजीकी बातसे
 हिमालय इतने निश्चिन्त हो गए कि उन्होंने दूधरा वर सोनेकी बिना ही छोड़ दी क्योंकि
 जैसे भग्ने की हुई हवनकी सामग्री, अग्निकी छोड़कर और कोई नहीं ले सक्ता वैसे ही
 महादेवजीकी छोड़कर पार्वतीजीकी और प्रत्यक्ष ही नीन कर सक्ता था ॥५२॥ पर हिमालयने
 सोचा कि जबतक समय महादेवकी ही बग्गा मगिन नहीं जाते तबतक अपने प्राण उन्हें पन्ना देने
 जाना ठीक नहीं जैयता । इसीलिये जहाँ सगन सोनेकी निरादरता कर होता है वहाँ के धन
 काममें किसी दिनवर्दीने साथ के भेजे हैं ॥५३॥ इसर जबने सारा धन पित्त दसने हारों महा-
 देवजीका समान होकर छोड़ करके यज्ञकी अग्निके धनका धरीर छोड़ा था तभीसे महादेवजीने

स कृत्तिवासास्तपसे यथात्मा गङ्गाप्रवाहोवितदेवदारु ।
 प्रस्थं हिमाद्रेर्मृगनाभिगंधि किंचित्क्वणत्किंनरमध्वुवास ॥५४॥
 गणा नमोऽग्रसचावतंसा मूर्जत्तचः स्पर्शवतीर्दधानाः ।
 मनःशिलाविच्छुरिता निपेदुः शैलेयनद्वेषु शिलातलेषु ॥५५॥
 तुषारसंघातशिलाः सुराग्रैः समुल्लिखन्दर्यकस्तः ककुब्जान् ।
 दृष्टः कथंचिद्भवयैर्विविग्नैरसोढसिंहध्वनिरुन्ननाद ॥५६॥
 तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः ।
 स्वयं विधाता तपसः फलानां केनापि कामेन तपश्चचार ॥५७॥
 अन्ध्र्यमध्यंश्च तमद्विनायः स्वर्गोक्तसामर्चितमर्चयित्वा ।
 आराधनायास्य सखीसमेता समादिदेश प्रपसां तनूजाम् ॥५८॥
 प्रत्यर्धिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषभाणां गिरिशोऽनुमेने ।
 विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥५९॥

भी सय भोग-मिलास छोड़ दिए थे और दूसरा विवाह नहीं किया था ॥५३॥ इतना ही नहीं
 अपनी इन्द्रियोकी जीतनेवाले और घात छोड़नेवाले भगवान् चन्द्रबी बत्सूरीकी मन्थने वाली हुई
 हिमालयकी एक ऐसी मुन्दर चोटीपर जाकर तप करने लगे जहाँके देवदारुके घुसोको चणारीकी
 घाटा बराबर सीपसी थी और गन्धर्व दिन-रात गाते रहते थे ॥५४॥ उनके पास ही तिरपर
 नमैरके बोनल पुनोकी माता बाँधे, चारीपर मोक्षपत्र सपेटे और संकलितने रङ्गते अपने छरीर रंगे
 हुए उनके प्रमथ भादि गगन भोग शिताजीतने पुती हुई चट्टानोपर बँडे बहस देते रहते थे ॥५५॥
 उनके पास ही उनका गर्वीला नन्दी साँध भी रहता था जो परजते हुए मिहरी दहाकरी न सह
 सकनेके कारण जब अपने पुरोंते हिमकी चट्टानोको लुँदता हुआ डकार उठता था तब नीलगाई
 पदपाकर उठे देखाती रहे जाती थी कि यह सिंह-जंसा बरबनेवाला दूधरा बौन प्रा पहुँचा ॥५६॥
 उसी चोटीपर सब तपस्यापीना स्वयं फल देनेवाले शिवजीने अपना ही दूसरी मूर्ति भक्ति
 समिधाते जगावर न जाने किस फलकी इच्छाने तप करना प्रारम्भ कर दिया था ॥५७॥ शिव
 महादेवकी स्वयंसे देवता पूजते हैं, उनकी पूजाके लिये हिमालय अपनी पुत्रीके साथ महादेवकी-
 की सेवामें बहुमूल्य पुजाकी सामग्री लेकर पहुँचे । पहले उन्होंने स्वयं उनकी पूजा की और फिर
 अपनी बन्धुकी आज्ञा ही कि अपनी कृतिशोके साथ जाकर शिवजीने पूजा की ॥५८॥ यद्यपि
 पार्वतीजीके वहाँ रहतेसे शिवजीके तपसे बाधा पड़ सकती थी, फिर भी उन्होंने पार्वतीजीकी सेवा
 की, क्योंकि सन्ध्या और महारात्रा उन्हें ही सम्पन्नता चाहिये जिनका मन विचार उरकन करनेवालों

अवचितवलिपुष्पा वेदिसंमार्गदद्या
 नियमविधिविलानां बर्हिषां चोपनेत्री ।
 गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी
 नियमितपरिखेदा तच्छिरश्चन्द्रपादैः ॥६०॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृती कुमारसंभवे महाकाव्ये
 उद्योत्पत्तिर्नाम प्रथमः सर्गः ॥

यस्तुप्रोके बीच रहकर भी तिलभर न दिये ॥७६॥ सुन्दर दातोवासी पार्वतीजी वहाँ रहकर नियमसे प्रति-दिन पूजाके लिये कूल चुनकर बड़े अच्छे डबसे बेदीको धौ-पाँछकर और गिह्य वस्त्रोंके लिये जल और मुरा लाकर बिना धवाबट गाये उनको सेवा किया करती क्योंकि महादेवजीके माथेपर सँठे हुए चन्द्रमाकी ठण्डी किरणें पार्वतीजी चफान तथा मिटाती रहती थी ॥६०॥

महाकवि श्रीकालिदासके ऐसे हुए कुमारसंभव नामके महाकाव्यमे समाप्ता जन्म नामका पहला सर्ग समाप्त हुआ ।

॥ द्वितीयः सर्गः ॥

तस्मिन्विप्रकृताः काले तारकेण दिवौकसः ।
 तुरासाहं पुरोघाय धाम स्वार्पणं ययुः ॥१॥
 तेषामाविरभूद्ब्रह्मा परिम्लानमुखधियाम् ।
 सरसां सुप्तपद्मानां प्रातर्दीधितिमानिव ॥२॥
 अथ सर्वस्य धातारं ते सर्वे सर्वतोमुखम् ।
 वागीशं वाग्भिरभ्यर्च्यभिः प्रक्षिपत्योपसस्थिरे ॥३॥
 नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सप्तैः केवलात्मने ।
 गुणत्रयविभागाय पश्चान्द्वादमुपेयुषे ॥४॥
 यदमोघमयामन्तरूपं बीजमज त्वया ।
 अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य बीयसे ॥५॥
 तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन् ।
 प्रलयास्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः ॥६॥
 स्त्रीपुंसावात्मभागी ते भिन्नपूर्तेः तिसृचया ।
 प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेन पितरौ स्मृतौ ॥७॥

दूसरा सर्ग

उन्ही दिनों तारक नामके राक्षसने देवताओंको इसना सता रक्ता था कि वे छप इन्द्रको प्रागे करके ब्रह्माजीने पाठ पहुँचे ॥१॥ उदात्त मूर्त्याने देवताओंके सामने ब्रह्माजी उसी प्रकार आकर प्रवृत्त हो गए जैसे छालमें छोए नमस्त्रोने प्रागे प्रातःकालका सूर्य निकलता है ॥२॥ ब्रह्माजीको सामने देवता ही वे सब देवता आर मुहूर्ताके और सारे जगत्को बनानेवाले ब्रह्माजीको प्रणाम करके बड़े भेद-भरे वाक्योंमें यह स्तुति करने लगे ॥३॥ 'हे भगवन् ! सत्कारने रचनेके पहले एव ही रूपस रहनवाले और सत्कार करते समर्थ, सत्त्व, रज और तम तीन गुण उत्पन्न करने ब्रह्मा, विष्णु और महेश नामके तीन रूपके बन जान बाल आपकी प्रणाम है ॥४॥ हे ब्रह्मन् ! आपने सबसे पहले जस उत्पन्न करने उनमें ऐशा बीज बो दिया जो सभी ध्वारण नहीं जाता और जिसमें एव और वे पशु, पक्षी, मनुष्य आदि बसनेवाले जीव और दूसरी और वृक्ष, पहाड़ आदि न चलनेवाला जगत् उत्पन्न हुआ है । इसीलिए आपकी ही सब शोग सत्कारका उत्पन्न करनेवाला बताते हैं ॥५॥ आप ही शिव, विष्णु और द्विरूपयुक्त इन तीन रूपोंसे अपनी पत्ति प्रवृत्त करके सत्कारका नाम, पानन और उत्पादन करते हैं ॥६॥ आप ही जब स्त्री और पुरुषकी सृष्टि करने चलते हैं, उस समय आपने ही स्त्री और पुरुष दो रूप बन जाते हैं । वे ही दोनों रूप

स्वकालपरिमाणेन व्यस्तरात्रिन्दिवस्यते ।
 यौ तु स्वप्नावयोधौ तौ भूतानां प्रलयोदयौ ॥८॥
 जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः ।
 जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः ॥९॥
 आत्मानमात्मना वेत्ति सृजस्यात्मानमात्मना ।
 आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे ॥१०॥
 द्रवः संघातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः ।
 व्यक्तोव्यक्तेतरश्चासि प्राक्काम्यं ते विभूतिषु ॥११॥
 उद्धातः प्रखवो यासां न्यायैस्त्रिमिरुदीरणम् ।
 कर्म यज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो भिराम् ॥१२॥
 त्वामाभनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् ।
 तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥१३॥
 त्वं पितृणामपि पिता देवानामपि देवता ।
 परतोऽपि परश्चासि त्रिधाता वेद्यसामपि ॥१४॥
 त्वमेव हव्यं होता च भोज्यं भोक्ता च शाश्वतः ।
 वेद्यं च वेदिता चासि ध्याता ध्येयं च यत्परम् ॥१५॥

घारे ससारके माता-पिता कहे जाते हैं ॥७॥ आपने समयकी जो आप बना रखी है उसके अनुसार जो दिन और रात होते हैं, उसमें जब आप सोते हैं तब ससारका महाप्रलय हो जाता है और जब आप जागते हैं तब ससारकी सृष्टि होती है ॥८॥ ससारको आपने उत्पन्न किया है पर आपको किसीने उत्पन्न नहीं किया । आप ससारका अन्त करते हैं पर आपका कोई अन्त नहीं कर सकता । आपने ससारका प्रारम्भ किया है पर आपका अभी प्रारम्भ नहीं हुआ । आप ससारके स्वामी हैं पर आपका कोई स्वामी नहीं है ॥९॥ आप, अपनेको अपनेमें ही जानते हैं और अपने आप अपनेको उत्पन्न करते हैं और जब अपना काम पूरा कर चुकते हैं तब अपनेको अपनेमें ही लीन कर लेते हैं ॥१०॥ आप तरल भी हैं, कठोर भी, छोटे भी हैं, बड़े भी, छोटे भी हैं, बड़े भी, आप दिसाई भी देते हैं और नहीं भी दिसाई देते । इस प्रकार जितनी भी सिद्धियाँ हैं वे सब आपके हाथ में हैं । आप जैसा चाहें वैसा बन सकते हैं ॥११॥ आपने ही वेदकी वह याज्ञी उत्पन्न की है जिसका प्रारम्भ अन्धकारसे होता है, जिसका उच्चारण उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीनों स्वरोंसे होता है और जिससे मन्त्रोंसे यज्ञ करने लोग स्वर्ग प्राप्त कर लेते हैं ॥१२॥ आपकी ही धर्म, धर्म, काम और मोक्षने लिये मनुष्यको उन्नतनेवाली मूल प्रवृत्ति बहते हैं और आप ही उस प्रवृत्ति का दर्शन करनेवाले उदासीन पुरुष भी मान जाते हैं ॥१३॥ आप पितरोंके भी पिता, देव-ताओंके भी देवता, प्रच्छेदोंके भी प्रच्छेद और सृष्टि करनेवाले प्रजापतियोंकी भी सृष्टि करनेवाले हैं ॥१४॥ आप ही सदा हवनकी सामग्री भी हैं और आप ही हवन करनेवाले भी हैं । आप ही

इति तेभ्यः स्तुतीः श्रुत्वा यथार्था हृदयंगमाः ।
 प्रमादामिमुग्यो वेधाः प्रत्युवाच दिवौकसः ॥१६॥
 पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता ।
 प्रवृत्तिरासीञ्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी ॥१७॥
 स्वागतं स्वानधीकारान्प्रभावैरवलम्ब्य वः ।
 युगपद्युगवाहूम्यः प्राप्तेभ्यः प्राज्यविक्रमाः ॥१८॥
 किमिदं धृतिमात्मीयां न विप्रति यथा पुरा ।
 हिमव्रिष्टप्रकाशानि ज्योतींषीष मुरानि वः ॥१९॥
 प्रशमादचिंपामेतदनुद्गीर्णपुरापुष्पम् ।
 वृत्रस्य हन्तुः कुलिशं कुण्डिता श्रीव लक्ष्यते ॥२०॥
 किंचायमरिदुर्वारः पाण्डौ पाशः प्रचेतसः ।
 मात्रेण हतवीर्यस्य फलिनो दैन्यमाश्रितः ॥२१॥
 कुबेरस्य मनःशल्यं शंसतीष परामयम् ।
 अपविद्रुगदो बाहुर्मग्नशास इव द्रुमः ॥२२॥
 यमोऽपि विलिप्तभूमिं दंडेनास्तमितस्विपा ।
 कुरुतेऽस्मिन्नमोघेऽपि निर्वाणस्तात्कालवधम् ॥२३॥

भोगकी वस्तुएँ भी हैं और भाप ही भोग करने वाले भी हैं । भाप ही जाननेके योग्य हैं और भाप ही जाननेवाले हैं । भाप ही ध्यान करनेवाले हैं और भाप ही वह सर्वव्यापी हैं जिगवा ध्यान भी किया जाना चाहिए ॥१६॥ देवताओंसे सब्बी और मनभावकी स्तुति सुनकर दयालु ब्रह्माजी जिस समय देवताओं से बोझने लगे ॥१६॥ उस समय सबसे पुराने कवि ब्रह्माजीके चारों मुँहोंसे निचली हुई पाण्डोने अपना चार [परा, परमपती, पथ्यमा और बंसरी] रूपोबाला होना सूचना कर दिया ॥१७॥ ब्रह्माजी बोले - एव साथ मिलकर भाप हुए अपनी वक्तिके अपने-अपने अधिकारोंकी रक्षा करनेवाले और बड़ी-बड़ी चाहोवाले हे धर्तृधाली देवताओ । मैं भाप लोगोका स्वागत करता हूँ ॥१८॥ पर यह तो बताइए कि भाप लोगोके मुँहकी पहले वाली कान्ति कहाँ लगी गई । भाप लोग छुट्टेते हने हुए धुँवले तारेके समान उदास क्यों दिखाई दे रहे हैं ॥१९॥ वृत्रको मारने वाला और इन्द्रगनुषो समान चमकोला वज्र भी आज चमक खोकर कुण्डितवा क्यों दिखाई दे रहा है ॥२०॥ शत्रुभोको नाश करनेवाला यह बरखदेवके हथवा फन्दा बंधे हुए सोंपके सामान दखना बीन क्यों दिखाई दे रहा है ॥२१॥ कुबेरका यह बाहु भी गदाके चिला ऐसा क्यों लग रहा है जैसे बटी हुई धापायाला कृषाका सूट हो । यह बता रहा है कि किसी बड़े तगड़े शत्रुसे हार जानेका नाटा इनके हृदयमें गसक रहा है ॥२२॥ अपने निस्तेज दण्ड से पृथ्वीको कुरेदते हुए मनराज ऐसे क्यों सग रहे हैं मानो जनका बारा दण्ड भी सुखी हुई लक खंसा बेकाय हो गया है ॥२३॥

अमी च कथमादित्याः प्रतापप्रतिशीतलाः ।
 चित्रन्यस्ता इव गताः प्रकामालोकनीयताम् ॥२४॥
 पर्याकुलत्वान्मरुतां वेगमद्गोऽनुमीयते ।
 अम्भसामाघसंरोधः प्रतीपगमनादिव ॥२५॥
 आवर्जितजटामौलिबिलम्बिशशिकोटयः ।
 रुद्राणामपि भूर्धानः क्षतहुंकारशंसिनः ॥२६॥
 लब्धप्रतिष्ठाः प्रथमं यूयं किं बलमचरैः ।
 अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्याघ्रचयः परैः ॥२७॥
 तद्भूत वत्साः किमितः प्रार्थयध्वं समागताः ।
 मयि सृष्टिर्हि लोकानां रक्षा युष्मास्ववस्थिता ॥२८॥
 ततो मन्दानिलोद्धतकमलाकरशोभिना ।
 गुरुं नेत्रसहस्रेण नोदयामास वासवः ॥२९॥
 स द्विनेत्रं हरेरचक्षुः सहस्रनयनाधिकम् ।
 पाचस्पतिरुवाचेदं प्राञ्जलिर्बलवासनम् ॥३०॥
 एवं यदात्य भगवन्नामृष्टं नः परैः पदम् ।
 प्रत्येकं विनियुक्तात्मा कथं न ज्ञास्यसि प्रभो ॥३१॥

यह पारहू आदित्य भी अपना तेज गँवाकर ठण्डे पड़े हुए, ऐसे नित्र सिसे से और मदे क्यों दिखाई दे रहे हैं कि कोई भी जबतक चाहे उन्हें जीव गढ़ापर देवता रह जाय ॥२४॥ जैसे कँचिणी सोर बहनेवाले जलवा बहव धीमा पठ जाता है वैसे ही उनकासो पवन ऐसे क्यों दिखाई पड़ रहे हैं जैसे वे भी पवराहटवे मन्दे पड़ गये हो ॥२५॥ सुली जटामोमे सद्वती और हारके दु पसे भुरी हुई चन्द्रपतामोवाले ग्यारह पंक्ति मावे भी बता रहे हैं कि उनकी हुनार करनेकी शक्ति भी जाती रही है ॥२६॥ जैसे व्याकरण आदि शास्त्रोमे विभी व्यापक नियमको अपवादवाला नियम व्यर्थ कर देता है वैसे ही क्या आप लोग भी जिसो पराक्रमो पावुले अपना अपना अधिकार सुटवा बैठे है ॥२७॥ हे देवताओ ! मुझे बताइए कि आप लोग केरे पास द्रवृत् होकर क्या कहनेके लिये आए हैं, क्योंकि हमारा काम तो केवल सगारको सुष्टि करना भर है, उसकी रक्षा करना तो आप ही लोगोरे हममे है ॥२८॥ ब्रह्माजीकी यह बात सुनकर इन्द्रने अपने सहस्र नेत्रोको इस प्रकार चलाकर बृहस्पतिजीको बोलनेके लिये सनेत्र किया जिस मन्द पवनके चलनेपर कमलवा पन हिल उठता है ॥२९॥ जिनके दो नेत्रोमे ही इन्द्रने सहस्र नेत्रोमे की मज़बूर देनेकी शक्ति थी वे बृहस्पतिजी, हाथ जोड़कर ब्रह्माजीसे कहने लगे ॥३०॥ हे ब्रह्मन् ! आप जो कुछ कहते हैं यह सब सत्य है । हम लोगोमे सब स्थान पावुंछे अपने अपने हाथमे कर लिए हैं । आप, तो

भवल्लब्धवरोदीर्णस्तारकाख्या महासुरः ।
 उपस्रवाय लोकानां धूमकेतुरिवोत्थितः ॥३२॥
 पुरे तावन्तमेवास्थ तनोति रविरातपम् ।
 दीर्घिककमलोन्मेषो यावन्मात्रेण साध्यते ॥३३॥
 सर्वाभिः सर्वदा चन्द्रस्तं कलाभिर्निपेयते ।
 नादचे केवलां लेखां हरचूडामणीकृताम् ॥३४॥
 व्यावृत्तगतिरुधाने कुसुमस्तेपसाध्वसात् ।
 न नाति वायुस्त्वत्पारवै तालघृन्तानिलाधिकम् ॥३५॥
 पर्यायसेवामुत्सृज्य पुष्पसंभारतत्पराः ।
 उद्यानपालसामान्यमृतवस्तमुपासते ॥३६॥
 तस्योपायनयोग्यानि रत्नानि सरितांपतिः ।
 कथमप्यम्भसामन्तरानिष्पचेः प्रतीक्षते ॥३७॥
 ज्वलन्मणिशिखारचैर्न वासुकिप्रमुखा निशि ।
 स्थिरप्रदीपतामेत्य शुर्जंगाः पर्युपासते ॥३८॥
 तत्कृतानुग्रहापेक्षी तं मुहुर्दतहारिवैः ।
 अनुकूलयतीन्द्रोऽपि कल्पद्रुमविभूषणैः ॥३९॥

उसके घट-घटमे रमे हुए हैं, भला आपते कोई बात छिपी छोड़े रहती है ॥३१॥ हे भगवन् । आपका वरदान पाकर तारक नामका राक्षस ठीक उसी प्रकार सिर उठाता बला जा रहा है जैसे सतारका नाश करनेके लिये पुष्पस्रव (धूमकेतु) तारा निकल आया हो ॥३२॥ प्रचण्ड किरणोबाला सूर्य भी उससे इतना डरता है कि उसके नगरपर यह केवल उतनी हो किरणें फैलाता है किन्तु तालके कमल भर सिस उठे ॥३३॥ चन्द्रमा यहाँ पूरे महीने भर अपनी पूरी बला लेकर चमका करता है, केवल उस एक कलाको छोड़ देता है बिसे खिबकीने अपने मस्तकका मणि बना लिया है ॥३४॥ पवन भी उसके पास पक्षेके वायुसे अधिक वेगसे नहीं बढ़ता क्योंकि उसे डर है कि वही तारनागुरकी पुनवारोके फूल भङ्ग जायें और उसे चोरका दण्ड भोगना पड़े ॥३५॥ छद्मो गहगुण अपने समझा दिवार छोड़कर एक साथ गुलबारीकी मालिनीके समान एक दूसरी ऋतुने फूलोकी बिना छोड़े हुए अपने-अपने ऋतुने फूल उपजाकर तारकागुरकी सेवा करती हैं ॥३६॥ समुद्र भी उसके पास भँटके योग्य रत्न भेजनेके लिये तबतक उसके भीतर बाट जोड़ता रहता है जबतक कि ये रत्न ठीक वढ़ न जायें ॥३७॥ चमकते हुए मणिके मनवाले वासुकि आदि बड़े-बड़े साँप रातकी अपने मणियोंके न मुझनेवाले दीप ले-लेकर उसकी सेवा किया करते हैं ॥३८॥ इन्द्र भी उसकी कृपा पानेके लिये बार-बार अपने दूतोंने हाम कल्पवृक्षके सुन्दर रत्न उसके

इत्थमाप्याप्यमानोऽपि क्लिप्ताति भुवनत्रयम् ।
 शाम्प्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्बनः ॥४०॥
 तेनामरचधूहस्तैः सदयालूनपल्लवाः ।
 अभिन्नारधेदपातानां क्रियन्ते नन्दनद्रुमाः ॥४१॥
 वीज्यते स हि संसृप्तः श्वाससाधारणानिलैः ।
 चामरैः सुखन्दीनां वाष्पमीकरवर्षिभिः ॥४२॥
 उत्पाद्य मेरुशृङ्गाणि क्षुण्णानि हरितां सुरैः ।
 आक्रीडपर्वतास्तेन कल्पिताः स्वेषु चैरमसु ॥४३॥
 मन्दकिन्याः पयः शेषं दिग्धारणमदाविलम् ।
 हेमाभोरुहसस्यानां तद्वाप्यो धाम सांप्रतम् ॥४४॥
 भुवनालोकप्रतीतिः स्वर्गिभिर्नानुभूयते ।
 खिलीभूते विमानानां तदापातभयात्पथि ॥४५॥
 यजत्रभिः संभृतं हव्यं विततेष्वधरेषु सः ।
 जातवेदोमुत्थान्मायी मपतामाच्छिनत्ति नः ॥४६॥
 उच्चैरुच्चैःथवास्तेन ह्यरत्नमहारि च ।
 देहपद्ममिवेन्द्रस्य चिरकालार्जितं यशः ॥४७॥

पास भेजकर उसे प्रसन्न रखता करते हैं ॥४६॥ इसकी सेवा करनेपर भी वह असुर स्त्रीने भुवनोवो पीडा देखा जा रहा है क्योंकि सातके देवता बाठते नहीं मानते ॥४०॥ नन्दन वनके शिशु बृकोके कोमल पत्तोंकी देवताश्रीकी स्त्रियाँ बड़ी कोमलता के साथ अपने कलफूल बनानेके लिये तोडा करती थी ऊन्हीको वह राक्षस बड़ी निर्दयतासे काट-काटकर गिरा रहा है ॥४१॥ जब वह सोया करता है उस समय देवताश्रीकी बन्दी स्त्रियाँ गरम-गरम उससे लेती और धाँधू बहाती हुई ब्रह्मपर श्वेवर डुलाया करती है ॥४२॥ सूर्यके घोसेसे ढीली पड़ी हुई मेरुकी ओटियोंको उखाड-उखाडकर उसने अपने घरमे लेजा-लेजाकर खेलके पहाड बना डाले हैं ॥४३॥ मन्दकिनीके सोनहमस उखाड-उखाडकर उसने अपने घरकी आवसिमीमे लगा दिए है और इसीलिये मन्दाकिनीमे धाज-गल वेवल दिग्गवोके मद से गँदसा जल भर दिखाई दिया करता है ॥४४॥ पहले देवता लोग विमानोपर बैठकर इस लोकसे उस सोरमे घूमते फिरते थे, पर अब उसके प्राक्रमणके डरसे आवाशमे निकलना जो दुख हो गया है ॥४५॥ वह ऐसा भारी-छलिया है कि जब यशमे यजमान हूय लोगोको धावति देता है तब वह हूय ओवोके देखते देखते धमिके भूँहसे हवारा भाग छीन लेता है ॥४६॥ उसने ऊर्ध्व श्रवा नामका वह सुन्दर घोडा छीन लिया है जो बहुत दिनोंसे

तस्मिन्नुपायाः सर्वे न- क्रूरे प्रतिहतक्रियाः ।
 धीर्यवन्तपौषधानीव विकारे सान्निपातिके ॥४८॥
 जयाशा यत्र चास्माकं प्रतिघातोत्थिताचिंसा ।
 हरिचक्रेण तेनास्य कण्ठे निष्क्रमिवापितम् ॥४९॥
 तदीयास्तोयदेष्वद्य पुष्करावर्तकादिषु ।
 अभ्यस्यन्ति तटाघातं निर्जितैरावता गजाः ॥५०॥
 तदिच्छामो विमो स्रष्टुं सेनान्यं तस्य शान्तये ।
 कर्मबन्धच्छिदं धर्मं गरस्येव मुमुक्षुवः ॥५१॥
 गोप्सारं सुरसैन्यानां यं पुरस्कृत्य गोत्रभिद्वं ।
 प्रत्यानेष्यति शत्रुभ्यो घन्दीमिनजयभ्रियम् ॥५२॥
 वचस्यवसिते तस्मिन्सर्वं गिरमात्मभूः ।
 गर्जितानन्तरां शृष्टिं सौभाग्येन जिगाय सा ॥५३॥
 संपत्स्यते वः कामोऽयं कालः कश्चित्प्रतीक्ष्यताम् ।
 न त्वस्य सिद्धौ यास्यामि सर्गव्यापारमात्मना ॥५४॥
 इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम् ।
 विपवृक्षोऽपि संवर्ष्य स्वयं छेत्तुमसांश्रवम् ॥५५॥

दृष्टे किए हुए दम्भके मरके समान ही महान् वा ॥४८॥ जैसे सन्निपातने बड़ी-बड़ी शीपधिन
 को काम नहीं कर पाती उसी प्रकार हम भी उस पुष्टको मारनेके लिये जितने उपाय करते हैं वे सब
 व्यर्थ होते जा रहे हैं ॥४९॥ विष्णुके जिस चक्रपर हम लोग जीतपरी प्राप्त लगाए बैठे थे, वह भी
 जब उससे गलेपर जाकर टकराता है तब उससे निकली हुई चिमकारियाँ ऐसी काम पड़ती हैं
 मानी उस राजसूते गलेसे माता पहना दी गई है ॥५०॥ आज ऐरावतकी भी हरा देनेवाले उससे
 हारपी पुष्करावर्तन प्रादि वादलोके टक्कर ले-लेकर घबरा टीले काहनेवा सेलवाउ किया करते हैं ॥५१॥
 इसलिये हे प्रभो ! जिस प्रकार मोक्ष वागेकी इच्छा करनेवाले लोग जन्म मरत्यो छूटनेके लिये-कर्मों-
 बन्धनों को काटनेवाला उपाय खोजा करते हैं वैसे ही हम लोग भी उस राजसूतको नष्ट करनेके
 लिये एक ऐसा सेनापति उत्तान करना चाहते हैं ॥५२॥ जिसे देवताओंकी सेनाका रक्षक बनाकर
 और उसे सेनाके प्राणे करने भगवान् इन्द्र, समुद्रोंके हाथसे यन्त्रीने समान पदो हुई दिव्य श्रोकों
 लौटा मावे ॥५३॥ उनसे वह चुपनेपर बहानी ऐसी मधुर बाणी बोले जो वेदके दर्शनके पीछे
 होनेवाली वपवि समान मनी समती भी ॥५४॥ वे बोले प्राय लोगोकी इच्छा तो पूरी हो ही
 जायगी पर प्राय लोगोको थोड़े दिन और वाट जोहनी पड़ेगी क्योंकि तारकामुखको मारनेके लिये
 मैं स्वयं अवतार ले नहीं सकता ॥५५॥ क्योंकि उस राजसूतकी मैंने ही वृषदान दिया है
 इसलिये अपने हाथसे उसे मारना मुझे ठीक नहीं लगता । अपने हाथसे लगाए हुए विष्णुके

वृत्तं तेनेदमेव ग्राह्मया चास्मै प्रतिश्रुतम् ।
 वरेण शमितं लोकानलं दग्धं हि तत्तपः ॥५६॥
 संयुगे सांयुगीनं तमुद्यतं प्रसहेत कः ।
 अंशाद्वते निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः ॥५७॥
 स हि देवः परंन्योतिस्तमः पारे व्यवस्थितम् ।
 परिच्छिन्नप्रभाचर्द्दिर्न मया न च विष्णुना ॥५८॥
 उमारूपेण ते ध्रुवं संयमस्तिमितं मनः ।
 शंभोर्यतध्वमाक्रुद्गुमयस्कान्तेन लौहवत् ॥५९॥
 उमे एव क्षमे वोढुमुभयोर्बीजमाहितम् ।
 सा वा शंभोस्तदीया वा मूर्तिर्जलमयी मम ॥६०॥
 तस्यात्मा शितिकण्ठस्य सैनापत्यमुपेत्य वः ।
 मोक्ष्यते सुरवन्दीनां त्रेखीर्वीर्यविभूतिभिः ॥६१॥
 इति व्याहृत्य विषुधान्विध्वयोनिस्तिरोदधे ।
 मनस्याहितकर्तव्यास्तेऽपि देवा दिवं ययुः ॥६२॥
 तत्र निश्चित्य कन्दर्पमगमत्पाकशासनः ।
 मनसा कार्यसंसिद्धौ त्वराद्विगुणरंहसा ॥६३॥

पेटवो भी अपने ही हाथसे काटना ठीक नहीं होता ॥५६॥ उसने मुझसे उस समय जो
 बरदान मांगा था यदि मैं उसे न देता तो उसकी तपस्यासे सारा ससार जल उठता
 ॥५६॥ महादेवजीने वीर्यसे उत्पन्न होनेवाले पुत्रने प्रतिरिक्त उस मुष्ट-भूमिसे खड्गेवाले
 प्रसिद्ध लडाके शारङ्गाशुरका नाश घोर कोई दूसरा नहीं कर सकता ॥५७॥ क्योंकि शरद भगवान्
 अन्धकारने पार दहनेवाले वे परम तेज हैं जिन्हें प्रविष्टा छू नहीं पाती । इसलिये हम घोर विष्णु
 भी उनकी महिमाका ठिगना अवतक नहीं लगा पाए हैं ॥५८॥ अब थाप लोग कोई ऐसा जतन
 कीजिए कि जैसे चुम्बकसे लोहा लिये जाता है वैसे ही समाधि लगाए हुए शरदजीका मन भी
 पार्वतीजीने रूपको घोर धिक् धावे ॥५९॥ क्योंकि हमारे घोर शिवजीके वीर्यको धारण करना
 कोई हंसी-ठट्ठा नहीं है । शिवजीने वीर्यको केवल पार्वतीजी धारण कर सकती हैं घोर हमारे
 वीर्यको जलवा रूप धारण करनेवाली शिवजीकी मूर्ति धारण कर सकती है ॥६०॥ उन्ही पार्व-
 तीजीसे शरदजीका जो पुत्र होना वही थाप लोगोका सेनापति होकर अपने पराक्रमसे दयताश्रंकी
 बन्दी त्रियोरो पुढावर उनके उनके हुए बात सुनकर सनेवा ॥६१॥ ससारको उत्पन्न करनेवाले
 प्रह्लादो दत्ता वट्टर आदिसे प्रोम्ब हो गए और देवता योग भी धायेवा बाग सोन-विचारकर
 स्वर्गलोचने पते गए ॥६२॥ दत्तने स्वयंनोचने वट्टरर भवो भक्ति सोच विचारकर अपने नामके

अथ स ललितयोगिद्भ्रूलताचारुशृङ्गं

रतिवलयपदाङ्गे चापमासज्य कण्ठे ।

सहचरमधुहस्तन्यस्तचूताङ्कुरास्त्रः

शतमस्यमुपतस्थे प्राञ्जलिः पुष्पधन्वा ॥६४॥

इति महाकवियोकामिदासकृतौ कुमारसंज्ञे महाकाव्ये

ब्रह्मसाक्षात्कारो नाम द्वितीयः सर्गः ॥

मिये बेगसे बीड़ेबाने मनमें कामदेवकी स्मरण किया ॥६३॥ स्मरण करते ही रतिके कंगनकी छाप पड़े हुए गलेमें सुन्दर छीकी भीहोंके समान सुन्दर धनुष कंधेपर सटकाकर और धपते सापी बसन्तके हाथमें धामके बीरका बाण देकर, कामदेव हाथ जोड़कर इन्द्रके भागे धा खड़ा हुआ ॥६४॥

महाकवि योकामिदासके रचे हुए कुमारसंज्ञे महाकाव्यमें ब्रह्मसंज्ञे में

नामका ब्रह्मसंज्ञे समाप्त हुआ ॥

॥ तृतीयः सर्गः ॥

तस्मिन्मधोनिस्त्रिदशान्विहाय सहस्रमच्छां युगपत्पपात ।
 प्रयोजनापेक्षितया प्रभूणां प्रायश्चलं शौरवमाश्रितेषु ॥ १ ॥
 स वासवेनासनसंनिकृष्टमितो निपीदेति विसृष्टभूमिः ।
 भर्तुः प्रसादं प्रतिनन्द्य मूर्ध्ना ववतुं मिथः प्राक्रमतैवमेतम् ॥ २ ॥
 आज्ञापय ज्ञातविशेषं पुंसां लोकेषु यच्च करणीयमस्ति ।
 अनुग्रहं संस्मरन्प्रवृत्तमिच्छामि संवदितमाज्ञया ते ॥ ३ ॥
 केनाभ्यसूया पदकाटक्षित्वा ते नितान्तदीर्घैर्वनिता तपोभिः ।
 यावद्भवत्याहितसायकस्य मत्स्कार्मुकस्यास्य निदेशवती ॥ ४ ॥
 असम्मतः कस्तथ मुक्तिमार्गं पुनर्भवक्लेशभयात्प्रपद्यः ।
 बद्धधिरं त्रिष्टु सुन्दरीणामारेचितभ्रूचतुरैः कटाक्षैः ॥ ५ ॥
 श्रद्ध्यापितस्योरानसापि नीतिं प्रवृत्तरामप्रयिधिर्द्विषस्ते ।
 कस्यार्थधर्मो वद पीडयामि सिन्धोस्तटावधि इव प्रवृद्धः ॥ ६ ॥
 कामेकपत्नीयतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम् ।
 नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तललां कण्ठे स्वयंप्राहनिपत्क्याहुम् ॥ ७ ॥

तीसरा सर्ग

रामदेवके भाते ही इन्द्रकी रहली भाँखें देवताघोषरथे हटकर एक साथ आदरके साथ रामदेवकी ओर प्रेम गई क्योंकि प्राम. ऐसा होता है कि स्वामीकी अपने सेयकोसे जब जैसा नाम निकालना होगा है उसीके अनुसार वे उसका आदर भी किया करते हैं ॥१॥ इन्द्रने रामदेवके कहा—‘प्राप्तो यहाँ बैठो’ । यह कहकर उसे अपने पास ही बैठा लिया । उसने भी फिर झुमाकर इन्द्रकी कृपा स्वीकार करली और उनसे गुण-गुण बातचीत करने लगा ॥२॥ वह बोला—सबके गुणोंको पहचाननेवाले हे स्वामी । आप आज्ञा दीजिए, तीनों लोकोंमें ऐसा बोलता नाम है जो आप गुप्तो कराना चाहते हैं क्योंकि मुझे समझा करके आपने जो कृपा की है उसे मैं आपकी आज्ञाका पालन करने और भी बढ़ाना चाहता हूँ ॥३॥ कहिए तो ऐसा मीन पुरुष उत्पन्न हो गया है जिसने बहुत बड़ी-बड़ी तपस्याएँ करके आपने मनमें ईर्ष्या जगा दी है । आप मुझे उसका नाम भर बतला दीजिए फिर तो मैं सभी जाकर उसे अपने हथ बाएँ खड़े हुए पुत्रपते बातचीत बातने जीति लाता हूँ ॥४॥ बताइए तो ऐसा, जोन पुरुष है जो आपका शत्रु बनकर ससारके चक्षुओं से धराधर मोहारी घोर घल पश है । मैं उसे सभी उन सुन्दरियोंके नेत्रोंमें बहुत दिनोंके लिये फँसाए देता हूँ जो दाँधी नितवन चलाने में बड़ी चतुर है ॥५॥ आपका वह शत्रु यदि मुझाचार्य से भी नोतिधान्य पढ़कर आपका होगा तो भी असन्त भोगकी इच्छाकी ऐसा दूध बनाकर मैं उसके पास भेजता हूँ जो उसका घर्म घोर घर्म दोनों उमी प्रकार नाश कर देता जैसे बरखातमें बड़े हई गड़ीका गहान बोगो सड़ोको वह से जाता है ॥६॥ या जोन भी ऐसी

कयासि कामिन्सुरतापराधात्पादानतः कोपनयावधृतः ।
 तस्याः करिष्यामि दृढानुतापं अवालाशय्याशरक्षं शरीरम् ॥८॥
 प्रसीद विश्राम्यतु वीर वज्रं शरैर्मदीयैः कतमः सुरारिः ।
 विभेदु मोघीकृतनाहुवीर्यः स्त्रीभ्योऽपि कोपस्फुरिताऽधराम्यः ॥९॥
 तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा ।
 कुर्या हरस्यापि पिनाकपायोर्धैर्यच्युतिं के मम घन्विनोऽन्ये ॥१०॥
 अधोरुदेशादवतार्य पादमाक्रान्तिसंभावितपादपीठम् ।
 संकल्पितार्थं विधृतात्मशक्तिमाख्यडलः काममिदं वभाषे ॥११॥
 सर्वं सखे त्वय्युपपन्नमेतदुभे, ममास्त्रे कुलिरां भवौघ ।
 वज्रं तपोवीर्यमहत्सु कुण्डं त्वं सर्वतो गामि च साधकं च ॥१२॥
 अवैमि ते सारमत्तः खलु त्वां कार्ये गुरुपयात्मसमं नियोज्ये ।
 व्यादिश्यते भूधरतामवेक्ष्य कृष्णेन देहोद्ग्रहनाय शेषः ॥१३॥
 आशंसता मायगतिं वृषाङ्गे कार्ये त्वया नः प्रतिपन्नकल्पम् ।
 निघोष यद्वांशशुजामिदानीमुच्चैर्द्विषामीप्सितमेतदेव ॥१४॥

सुन्दरी और हठीली प्रतिवृत्ता आपके चञ्चल मनमें बैठ गई है। मैं अभी उस सुन्दरी-
 पर ऐसा बात पताता हूँ कि वह सब सान-सीत छोड़कर आपके यन्त्रों में जा लगे ॥८॥
 हे रामो ! ऐसी कील सी स्त्री है जो आपका समोच न जानेपर कोप करके आपके इतनी कठो
 बंदी है कि वैरोधर गिरकर मनानेपर भी अभी तक नहीं जाती है। मैं उसके मनमें ऐसा पछ-
 तावा उत्पन्न करता हूँ कि वह अपने आप आकर साल कोपनोंके ठगने विद्योनेपर बैठ जायगी ॥९॥
 हे वीर ! आप जितना छोड़कर अपने बखरी में विश्राम कर लेते हैं। मुझे बताइए
 वह कील-सा दैत्य है जो मेरे बाणोंकी मारसे ऐसा खिड़कीन हो जाना चाहता है कि कोपसे
 बचते हुए छोटी-सी गारी तक उसे डरा दें ॥१०॥ आपकी कृपा हो तो मैं केवल दशरथको
 अपने साथ लेकर अपने कुलके बाणोंसे ही पिनाक धारण करनेवाले स्वयं महादेवजीके धुरके
 पुत्र हूँ, फिर और दूसरे धनुषवाहियोंकी तो गिनती ही क्या ॥११॥ यह बात सुनकर इन्द्रजी
 मुख बाँडत हुआ और उन्होंने अपने पैर तोलकर पाँव पीठपर रखे और जिस कामदेवो
 उनके सोचे हुए काममें अपने आप इतना उत्साह दिखाया था उससे बोले—॥१२॥ हे मित्र !
 तुम सब कुछ कर सकते हो क्योंकि तुम और वज्र, ये ही तो मेरे दो घन हैं। पर इनमेंसे वज्र
 की धार तो शत्रुओं की तपस्थाने उत्तार दी है। अब तुम्हीं ऐसे बच रहे हो जो वैरोध-टोक सब
 ओर जा भी सकते हो और हमारा काम भी कर ला सकते हो ॥१३॥ मैं तुम्हारी शक्ति
 भली-भाँति जानता हूँ, इसलिये मैं तुम्हें अपने बँसा मानकर इस बड़े काममें लगाना चाहता
 हूँ। जानते हो, प्रलय होनेपर अपने सोनेके त्रिये भगवानने कोपनी ही अपनी दाय्या कपो बगाया
 या ? क्योंकि वे देव भूी थे कि कोपनाग जब पृथ्वीको धारण कर सकते हैं तो मेरा कोप भी
 सहलेंगे ॥१४॥ अभी-अभी तुमने कहा है कि हम अपने बाणोंसे शत्रुओंको भी बर्षा कर

॥ तृतीयः सर्गः ॥

तस्मिन्मघोनस्त्रिदशान्निहाय सहस्रमर्त्यां युगपत्पपात ।
 प्रयोजनापेक्षितया प्रभृणां प्रायश्चलं गौरवमाश्रितेषु ॥ १ ॥
 स वासवेनासनसंनिकृष्टमितो निपीदेति विसृष्टभूमिः ।
 भर्तुः प्रसादं प्रतिनन्द्य मूर्ध्ना यवतुं मिथः प्राक्रमतैवमेनम् ॥ २ ॥
 व्याज्ञायय ज्ञातविशेषं पुंसां लोकेषु यत्ते करणीयमस्ति ।
 धनुग्रहं संस्मरणप्रवृत्तमिच्छामि संवदितमाज्ञया ते ॥ ३ ॥
 केनाभ्यक्षया पदकाह्चिन्ता ते नितान्तदीर्घैर्जनिता तपोभिः ।
 याचञ्ज्वत्स्याहितसायकस्य भक्तार्मकस्यास्य निदेशवर्ती ॥ ४ ॥
 असम्मत्तः कस्तव मुक्तिमार्गं पुनर्भवक्लेशमयात्प्रपद्यः ।
 बद्धधिरं तिष्ठतु सुन्दरीषामारेचितभ्रूचतुरैः कटाक्षैः ॥ ५ ॥
 अप्यापितस्योशनसापि नीतिं त्रयुक्तरात्रप्रखिधिर्द्विषस्ते ।
 कस्यार्थधर्मौ वद पीडयामि सिन्धोस्तटावांघ्र इव प्रवृद्धः ॥ ६ ॥
 कामेकपत्नीव्रतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम् ।
 नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलजां कण्ठे स्वर्प्राहनिपक्तवाहुम् ॥ ७ ॥

तीसरा सर्ग

कामदेवके प्राप्ति ही इन्द्रकी सहस्रों प्राँसों देवताओंपरसे हटकर एक साथ प्रावरके साथ कामदेवकी ओर घूम गई क्योंकि प्रायः ऐसा होता है कि स्वामीकी अपने सेवकोंसे जब जैसा काम निकालना होता है उसीके अनुसार वे उनका प्रावर भी किया करते हैं ॥१॥ इन्द्रने कामदेवसे कहा—‘प्राप्ति यहाँ बैठो’ । यह कहकर उसे अपने पास ही बैठा लिया । उसने भी फिर झुकाकर इन्द्रकी कृपा स्वीकार करती और उनसे गुप-गुप बातचीत करने लगा ॥२॥ वह बोला—सबके गुणोंको पहचाननेवाले हे स्वामी ! आप प्राज्ञा दीजिए, तीनो लोकोंमें ऐसा कीनसा काम है जो प्राय मुझसे कराया जायें हैं क्योंकि मुझे स्मरण करके आपने वो कृपा की है उसे मैं आपकी प्राज्ञावा पातन करके और भी बढ़ाया चाहता हूँ ॥३॥ कहिए तो ऐसा कीन पुष्प बढ़पन हो गया है जिसने बहुत बड़ी-बड़ी तपस्यायें करके आपके मनमें ईर्ष्या जगा दी है । आप मुझे उसका नाम भर बतला दीजिए फिर तो मैं अभी जाकर उसे अपने इस पाण्डे पड़े हुए पुष्पमें बाँधकी बाँधके जीवित जाता हूँ ॥४॥ बताइए तो ऐसा कीन पुष्प है जो आपका धनु बनकर सन्सारके बट्टों से घबरकर मोक्षतो ओर चल पड़ा है । मैं उसे अभी उन सुन्दरियोंके नेत्रोंमें बहुत दिनोंसे किये छँटाए देता हूँ जो दाँवों विलंबन चलाने में बड़ी चतुर हैं ॥५॥ आपका वह धनु यदि मुक्ताचार्य से भी मोतिशास्त्र पढ़कर प्राया होता तो भी धर्यन्त भोगोंकी इच्छाकी ऐसा दृढ़ बनाकर मैं उसको पास भेजता हूँ जो उसका धर्म और धर्म दोनों उसी प्रकार नष्ट कर देगा जैसे सरगातमे वर्दः हुई नौका बहाव दोनों तटोंकी बड़ा ले जाता है ॥६॥ या कीन सी ऐसी

कयासि कामिन्सुरतापराधात्पादानतः कोपनयावधूतः ।
 तस्याः करिष्यामि दृढानुतापं प्रनालशय्याशरक्षं शरीरम् ॥८॥
 प्रसीद विश्राम्यतु वीर वज्रं शरैर्मदीयैः कृतमः सुरारिः ।
 त्रिमेतु मोघीकृतबाहुवीर्यः स्त्रीभ्योऽपि कोपस्फुरिताऽधराभ्यः ॥९॥
 तवे प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा ।
 कुर्या हरस्यापि पिनाकपाशेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये ॥१०॥
 अधोरुदेशादवतार्य पादमाक्रान्तिसंभावितपादपीठम् ।
 संकल्पितार्थे विघृतात्मशक्तिमास्रच्छलः काममिदं वभाषे ॥११॥
 सर्वं सखे त्वय्युपपन्नमेतद्गुणे ममास्त्रे कृतिसं भवार्थं ।
 वज्रं तपोवीर्यमहत्सु कुण्ठं त्वं सर्वतोगामि च साधकं च ॥१२॥
 अद्वैमि ते सारमतः खलु त्वां कार्ये गुरुय्यात्मसमं नियोक्ष्ये ।
 व्यादिश्यसे भूधरतामवेक्ष्य कुप्येन देहोद्धहनाय शेषः ॥१३॥
 आशंसता वाण्यगतिं वृषाङ्गे कार्यं त्वया नः प्रतिपन्नकल्पम् ।
 निबोध यज्ञाशुभाभिदानीमुच्चैर्द्विपामीप्सितमेतदेव ॥१४॥

गुन्दरी और हृदीनी प्रतिप्रता आपके पत्रल मनमे बैठ गई है । मैं अभी उस गुन्दरी-
 पर ऐसा बाण पताता हूँ कि वह सब जान-बिल छोड़कर आपके शरीर पर आ सके ॥८॥
 हे वीर ! ऐसी कौन सी छोटी है जो आपके सभोग न जानेपर कोप करके आपसे इसनी कटी
 बैठी है कि पैरोंपर गिरकर मनानेपर भी अभी तक नहीं मानी है । मैं उसके मनमे ऐसा पक्ष-
 तापा डालना करता हूँ कि वह अपने आप आकर खाल कोपको के ठण्डे बिछोनेपर लेट जायगी ॥९॥
 हे वीर ! आप पिन्धा छोड़कर अपने बखरी भी विश्राम कर लेने दें । मुझे यथावत्
 वह कौन-सा दंश्य है जो मेरे बाणोंकी मारसे ऐसा शक्तिहीन हो जाला चाहता है कि कोपसे
 बाँपते हुए मोठोवाली नारी तक उसे बरा दें ॥१०॥ आपकी कृपा हो तो मैं केवल बलवत्को
 आपने साथ लेकर अपने बूलके बाणोंसे ही पिनाक पारण करनेवाले स्वयं महादेवजीके छत्रके
 छुड़ा दूँ, फिर और दूसरे धनुषपारिणीकी तो गिनती ही क्या ॥१०॥ यह बात सुनकर इन्द्रको
 कुछ डाँडा हुआ और उन्होंने अपने पैर खींचकर पाँव पीठपर रखे और जिस कामदेवने
 उनके लीचे हुए काममे अपने आप इतना उत्साह दिखाया था उससे बोले—॥११॥ हे मित्र !
 तुम सब कुछ कर सकते हो क्योंकि तुम और वज्र, ये ही तो मेरे दो अस्त्र हैं । पर इनमेसे वज्र
 की धार तो धनुषी की तपस्याने उत्तार से है । अब तुम्हीं ऐसे बच रहे हो जो बेरोक-टोक सब
 ओर आ भी सकते हो और हमारा काम भी कर सा सकते हो ॥१२॥ मैं तुम्हारी शक्ति
 भली-भाँति जानता हूँ, इसलिये मैं तुम्हें अपने-जैसा मानकर इस बड़े काममे लगाना चाहता
 हूँ । जानते हो, प्रलय होनेपर अपने सोनेके सिंघे भगवानने शेषकी ही अपनी सम्पदा क्यों बनाया
 था ? क्योंकि वे देख चुके थे कि शेषनाभ जब पृथ्वीको पारण कर सकते हैं तो मेरा योद्धा भी
 सहस्ये ॥१३॥ अभी-अभी तुमने कहा है कि हम अपने बाणोंसे शंकरजीको भी बधने कर

अमी हि वीर्यप्रभवं भवस्य जयाय सेनान्यमुशन्ति देवाः ।
 स च त्वदेकेषु निपातसाध्यो ब्रह्माङ्गमूर्ध्वक्षणि योजितात्मा ॥१५॥
 तस्मै हिमाद्रेः प्रयतां तनूजां यतात्मने रोचयितुं यतस्व ।
 योपित्सु तद्वीर्यनिपेक्षमूभिः सैव च भेत्यात्मब्रुवोपदिष्टम् ॥१६॥
 गुरोर्नियोगाच्च न मेन्द्रकन्यास्थाणुं तपस्यन्तमधित्यकायाम् ।
 अन्यास्त इत्यप्सरसां मुखेभ्यः श्रुतं भया मत्प्रशिधिः स वर्गः ॥१७॥
 तद्रच्छ सिद्धैश्च कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरभाष्य एव ।
 अपेक्षते प्रत्ययसूचमं त्वां वीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवान्मः ॥१८॥
 अस्मिन्सुराणां विजयाभ्युपाये तवैव नामास्त्रगतिः कृती त्वम् ।
 अप्यप्रसिद्धं यशसे हि पुंसामनन्यसाधारणमेव कर्म ॥१९॥
 सुराः समभ्यर्थयितार एते कार्यं त्रयाणामपि विष्टपानाम् ।
 चापेन ते कर्म न चातिहिंस्रमहो बलासि स्पृहणीयवीर्यः ॥२०॥
 मधुघ्न ते मन्मथ साहचर्यादुसाचलुक्तोऽपि सहाय एव ।
 समीरणो नोदयिता भवेति व्यादिरयते केन ह्युताशनस्य ॥२१॥

सकते हैं। इसलिये एक प्रकारसे तुमने हमारा काम करनेका बीड़ा ही खड़ा लिया है। इसलिये समझ लो कि बलवान् शत्रुसे लड़ाए हुए धीर वरे हुए देवता तुमसे यही काम कराना चाहते हैं ॥१४॥ ये देवता लोग चाहते हैं कि शत्रुको जीतने के लिये शिवजी के धीरसे हमारा सेनापति उत्पन्न हो। इसलिये मनके बलसे ब्रह्मने ध्यान लगाए हुए महादेवजीकी समाधि तुम्ही अपने एक बाणसे तोड़ सकते हो ॥१५॥ अब तुम ऐसा जतन करो कि समाधिमें बैठे हुए महादेवजीके मनमें हिमालयकी कन्या पार्वतीके लिये प्रेम उत्पन्न हो जाय, क्योंकि ब्रह्माजीने स्वयं यह बात बताई है कि शिवजीने ये ही एक ऐसी हैं जो शिवजीका वीर्य पारण कर सकती हैं ॥१६॥ तुमचरका काम करनेवाली अपनी अप्सराओंके मूँहसे हमने सुना, है कि पार्वतीजी अपने पिताकी आज्ञासे हिमालय पहाड़पर तप करती हुए महादेवजीकी सेवा कर रही हैं ॥१७॥ इसलिये तुम जाओ धीर देवताओंका यह काम कर डालो क्योंकि इस काममें सब एक कारण भर चाहिए था। जैसे बीजको अकुर खननेके लिये जलकी आवश्यकता पड़ती है वैसे ही यह काम भी तुम्हारी सहायताके भरोसे ही खटका हुआ था ॥१८॥ देवताओंकी जीत तुम्हारे ही बाणसे ही बनती है। तुम सचमुच सबे भाग्यशाली हो क्योंकि सबारसे ऐसा बसाधारण काम करनेसे ही यश मिलता है जिसे कोई दूसरा कर न सके ॥१९॥ और फिर एक तो सब देवता लोग तुमसे इस कामके लिये भीख माँग रहे हैं दूसरे यह कार्य तीनों ही लोकदाताका है और तीसरी बात यह है कि यद्यपि इस काममें तुम्हारा अनुप काम आवेगा सही, पर इससे किसीकी हिंसा नहीं होगी। भाव तुम्हें 'वैश्वर' सबके मनमें यह दण्डा जग जड़ी है कि हमें भी तुम्हारी जैसी ही क्षति मिल जाय ॥२०॥ हे कामदेव! हमने तुम्हारी सहायताके लिये वसन्तका नाम इसलिये नहीं लिया कि यह तो तुम्हारा साथी है ही।

लम्बद्विरेफाञ्जनमक्तिचित्रं मुखे मधुश्रीस्तिलकं प्रकाश्य ।
 रामेण बालारुणकोमलेन चूतप्रवालोल्लसलचकार ॥३०॥
 मृगाः प्रियालङ्गममञ्जरीणां रजःकणैर्विघ्नितदृष्टिपाताः ।
 मदोद्धताः प्रत्यनिलाः विचेर्यनस्थलीर्मर्मरपत्रमोचाः ॥३१॥
 चूताङ्कुरास्वादकपायकण्ठः पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूल ।
 मनस्विनीमानविघातदत्तं तदेव जात वचनं स्मरस्य ॥३२॥
 हिमव्यपायाद्विशदाधराणामापाण्डुरीमृतसुरच्छवीनाम् ।
 स्वेदोद्गमः किम्पुरुषाङ्गनानां चक्रे पदं पत्रविशेषकेषु ॥३३॥
 सपस्विनः स्थाणुवनौकसस्तामाकालिकीं वीक्ष्य मधुप्रवृत्तिम् ।
 प्रयत्नसस्तम्भितविक्रियाणां कथंचिदीशा मनसां बभूवुः ॥३४॥
 तं देशमारोपितपुष्पचापे रतिद्वितीये मदने प्रपन्ने ।
 काष्ठागतस्नेहरसानुविद्धं द्वन्द्वानि भावं क्रियया विवद्मः ॥३५॥
 मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वागनुवर्चमानः ।
 शृङ्गेण चस्पर्शनिमीलितार्चीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥३६॥
 दपौ रसात्पङ्कजरेणुगन्धिं गजाय गण्डपञ्चलं करेणुः ।
 अर्द्धोपभुक्तेन विस्रेण जायां संभावयामास-नथाङ्गनामा ॥३७॥

बाल-बाल अधोलिटे टेपूके फूल धनभूमिमें फैले हुए ऐसे सप रहे ये मानो वसन्तमे वनस्पतियोंके
 साथ बिहार करके उनपर अपने नवोके नये चिह्न बना दिये हो ॥३०॥ वहाँ उठते हुए भौरे खिले
 हुए तिलकके फूल और प्रातः कासके सूर्यकी सात्तीसे चमकनेवासी कोपलों ऐसी लगती थी मानो
 यस्तन्वकी शोभा कपी स्त्रीने भौरे-कपी आंजनसे अपना मुँह चोंतकर, अपने माथेपर तिलकके फूलका
 तिलक लगाकर और प्रातः कासके सूर्यकी कोमल सात्तीसे चमकनेवासे चामकी कोपलोंसे अपने मोठ
 रन लिए हो ॥३०॥ आँखोंमें प्रियालके फूलोंके परागके उड़-उड़कर पड़नेसे जो मगवाने हरिण भस्मी-
 भौंति देखा नहीं पा रहे थे वे पवनसे भड़े हुए सूखे पत्तोंमें मर्मर करती हुई वनकी भूमिपर इधर-
 उधर दौड़ते फिर रहे थे ॥३१॥ आमकी मञ्जरीयाँ खा लेनेसे जिस कोकिलका कण्ठ गीटा हो गया
 था यह जड़, मीठे स्वरसे कूँक उठता था तब उसे सुन-सुनकर स्त्री हुई स्त्रियाँ अपना रुठना भी भूल
 जाती थी ॥३२॥ जाड़ेके बौछारे और गर्मियोंका जानेसे कोमल ओठों और सुन्दर गोंरे मुखोंवाली
 किन्नरियोंके मुखपर भीती हुई चित्रकारीपर पसीना आने लगा ॥३३॥ महादेवजीके साथ उस वनमें
 रहनेवाले लग्नी लोगोंने असमयमें वसन्तकी याया हुआ देखकर अपना मन बिकारोंसे हटाकर वही
 कठिनाईसे रोक रखी था ॥३४॥ फिर जब अपने फूलके धनुषपर बाण पड़कर रतिवो साथ लेकर
 कामदेव आया तब नर और अधरोंकी अत्यन्त बड़ी हुई सम्मोहकी इच्छा उनमें दिखाई देने लगी ॥३५॥
 गौरा अपनी व्यारी भीरीके साथ एक ही फूलकी कटोरीमें मकरन्द पीने लगा । वाता हरिण अपनी
 उस हरिणीको सींगसे चुनलाने लगा जो उसके सार्वाका सुख लेती हुई घाँस मुँदे बँठी थी ॥३६॥
 ह्यिनी बड़े प्रेमसे कनकके परागसे बसा हुआ सुगन्धित जल अपनी मुँडसे निकालकर अपने हाथोंको

गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैः किञ्चित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम् ।
 पुष्पासवाधूणितनेत्रशोभि प्रियामुखं किम्पुस्तपश्चतुम्ब ॥३८॥
 पर्याप्तपुष्पस्तवकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालौष्ठमनोहराभ्यः ।
 लतावधूम्यस्तरवोऽप्यवापुर्निमग्नशाखाभुजबन्धनानि ॥३९॥
 श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्महः प्रसङ्गानपरो बभूव ।
 आत्मेधराणां नहि जातु विघ्नाः समाधिमेदप्रभञ्जो भवन्ति ॥४०॥
 लतागृहद्वारगतोऽथ नन्दी वामप्रकोष्ठापितहेमवेनः ॥
 मुरारिपितैकादृगुलिसंज्ञयैव मा चापलायेति गणान्वयनैपीत् ॥४१॥
 निष्कम्पवृत्तं निभृतद्विरेफं सूक्ष्मलज्जं शान्तमृगप्रचारम् ।
 तच्छासनात्काननमेव सर्वं चित्रार्पितारम्भमिवावतस्थे ॥४२॥
 दृष्टिप्रपातं परिहृत्य तस्य कामः पुरः शुक्रमिव प्रयागे ।
 प्रान्तेषु संसक्तनमेरुशाखं ध्यानास्पदं भूतपतेर्षिवेश ॥४३॥
 स देवदारुमयेदिफायां शार्दूलचर्मन्यवधानवत्याम् ।
 आसीनमात्तन्नशरीरपातसियम्बकं सयमिनं ददर्श ॥४४॥
 पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं सन्नमितोभयांसम् ।
 उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात्प्रफुल्लराजीवमिवाङ्गमध्ये ॥४५॥

पिलाने सभी धीर चन्दा भी बापी कुठरी हुई कगलकी दाव लेकर बरवीकी भेंट करने लगा ॥३७॥ किन्नर लोग भीछोने बीचमे ही अपना प्रियाप्रोने के मुख चुपने लगे जिनपर वकावटके कारण पतीना छा गया था, जिनपर सीसी हुई चिककारी लिए गई थी धीर जिनके मैत्र फूलोकी मदिरासे मत्तवाले होनेके कारण बड़े सुभावने लग रहे थे ॥३८॥ वृक्ष भी अपनी सुखी हुई डालियोको फंसा फंसाकर उन लताप्रोसे लिपटने लगे जिनके बड़े-बड़े फूलोने मुच्छोके रूपमे रतन लटक रहे थे धीर पत्तोके रूपमे जिनके सुन्दर फोठ हिल रहे थे ॥३९॥ इसी बीच धन्सरानीने भी अपना नाच माना आरम्भ कर दिया पर महादेवजी दससे मत न हुए धीर अपने ध्यानमे ही गम्य रहे क्योंकि जो लोग अपना मन वचन वर सते है उनकी समाधि क्या भला कोई सुझा सकता है ॥४०॥ उस समय नन्दी अपने बाएँ हाथमे सोनेका डंडा लिए हुए लता-मध्यके द्वारपर बैठा गृहपर लंगरी रखकर सब वयोको सबेससे मना कर रहा था कि तुम लोग मतलपत डोढकर चुपचाप बैठो ॥४१॥ उसकी आज्ञा पाते ही वृक्षोने हिलना बन्द कर दिया, धीरोने गृहना बन्द कर दिया सब जीव-जन्तु चुप हो गए धीर गधु भी जहाँके तहाँ खड़े रह गए, यहाँ उन कि साया था उस एव ही सबेसमे ऐसा लगने लगा मानो जिनमे खिचा हुआ हो ॥४२॥ जैसे शय्या करनेके समय लोग सामनेके दुकरी दृष्टि बनाते हैं वैसे ही वामदेव भी नन्दीजी मालें बचावर नमेरवी राजाप्रोसे घिरे हुए उस स्थानमे जा चुका जहाँ महादेवजी समाधि लगाए बैठे थे ॥४३॥ धोकी ही देखते मृगुने गृहमे पहुँचनेवाला यह वामदेव बैसता क्या है कि देवदारुने पेशवी जड़ने पत्परवी पाटियोसे नगी हुई चोकोपर बागम्बर बिछा हुआ है धीर उसपर महादेवजी समाधि लगाए बैठे हुए हैं ॥४४॥ उन्हीने चोरासन लगा रखा है, अपना घट सीधा धीर मत्त

भुजंगमोन्नद्धबटाकलापं कण्विसक्तद्विगुणाचसूत्रम् ।
 कण्ठप्रभासद्गविशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम् ॥४६॥
 किञ्चित्प्रकाशस्तिमितोन्नतारैर्भ्रविप्रियायां विरतप्रसङ्गैः ।
 नेत्रैरविस्पन्दितपद्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूरैः ॥४७॥
 अष्टपिण्डमरम्भमिवाभ्युवाहमपामिवाधारमनुचरंगम् ।
 अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निर्वातनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ॥४८॥
 कपालनेत्रान्तरलब्धभागैर्ज्योतिःप्ररोहैरुदितैः शिरस्तः ।
 मृणालसूत्राधिकसौकुमार्यां बालस्य लक्ष्मीं ग्लपयन्तमिन्दोः ॥४९॥
 मनो नयद्वारनिपिद्धवृत्तिहृदि व्यवस्थाप्य समाधिवरयम् ।
 यमचरं क्षेत्रविदो विदुस्तस्मात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥५०॥
 स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रं परयन्न्दुरान्मनसाप्यशृण्वम् ।
 नालक्षयत्माध्ममसब्रह्मतः स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात् ॥५१॥
 निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं संपुञ्जयन्तीव वपुर्गुणेन ।
 अनुप्रयाता वनदेवताभ्यामदृश्यत स्थावरराजकन्या ॥५२॥
 अशोकनिर्मलितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिवर्णिकारम् ।
 मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥५३॥

कर लिया है और अपने दोनों कंधे झुकाकर अपनी गोदम कमलके समान दोनों हृदयलोकों को ऊपर किए थे बिना हिले-डुले बैठे हैं ॥४५॥ साँसें उनकी जटा बँधी हुई हैं। बाहिने जानवर दुहरी हवाक्षकी माला टँगी है और गलेकी नीली चमक से और भी अधिक साँवली दिखाई पड़नेवाली मृगछाया उनके शरीरपर गौड़ मारकर बची हुई हैं ॥४६॥ भीहूँ टाँककर कुछ कुछ प्रकाश बेनेवाली, निश्चल, उस तारोवाली और अपनी किरणों नीचे बालनेवाली आँखोंसे नाकके मगने भागपर दृष्टि जमाए वे बैठे हुए हैं ॥४७॥ और शरीरके भीतर चलनेवाले सब पक्षियोंको रोएकर वे ऐसे बचल हुए बैठे हैं जैसे न वरसनेवाला बादल हो, बिना सहरोवाला निश्चल बाल हो या पत्तल रहित स्थानमें खड़ी ली वाला दीपक हो ॥४८॥ उस समय उनके चिर और नेत्रोंसे जो तेज निकल रहा था उसके प्राये कमलके तन्तुसे भी अधिक कोमल बाल चन्द्रमाकी सोमा भी कुछ नहीं थी ॥४९॥ वहाँ समाधिमें बैठे हुए शवरजी अपने उस अविनाशी आत्माकी ज्योतिर्वी भयने भीतर देख रहे थे जिसे शानी लोग अपनी नवी इन्द्रियोंके द्वार रोवकर मनकी समाधिसे बरगने करने हृदय में रखकर जाने पाते हैं ॥५०॥ तीन क्षेत्रवाले शकरी का जो रूप बुद्धि और मनसे भी परे था उसी रूपको इतने पाससे देखाकर कामदेवके हाथ डरके मारे ऐसे झोले पड़ गए कि वह यह भी न जान सका कि मेरे हाथसे वपुष बाधु छूटकर फिर पड़ गए ॥५१॥ डरके मारे कामदेवकी सक्ति ली मल्ट हो गई थी पर जब उन्होंने मातिली और विजया नामकी वन-देवियोंके साथ श्रवण सुवरी पार्वतीवा मनोहर रूप देखा तब मानो उसकी सोई हुई सक्ति फिर जाग उठी ॥५२॥ उस समय

थावजिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो यसाना तत्स्थार्करागम् ।
 पर्याप्तगुण्यस्तवकावनम्रा ' संचारिणी पन्तविनी लतेव ॥५४॥
 सस्तां नितम्बादवलम्बमाना पुनः पुनः केसरदामकाशीम् ।
 न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेथ मौर्वीद्वितीयामिव कौर्मुकस्थ ॥५५॥
 सुगन्धिनिश्वासविष्टदृष्टं विम्बाधरामञ्जरं द्विरेफम् ।
 प्रतिचयं संभ्रमलोलदट्टिलालारविन्देन निवारयन्ती ॥५६॥
 तां वीक्ष्य सर्वावयवानवयां रतेरपि ह्रीपदमादधानाम् ।
 जितेन्द्रिये शूलिनि गुण्यचापः स्वकार्यमिद्धि पुनराशशंस ॥५७॥
 भविष्यतः पत्सुरुमा च शंभोः समाससाढ प्रतिहारभूमिम् ।
 योगास्त चान्तः परमात्मसंज्ञं दृष्ट्वा परं ज्योतिस्पातराम ॥५८॥
 ततो भुजंगाधिपतेः फणाग्रैरधः कथंचिद्रुतभूमिभागः ।
 शनैः कृतप्राणविमुक्तिगीशः पर्यङ्कनन्धं विनिहं विभेद ॥५९॥
 तस्मै शशंस प्रणिपत्य नन्दी शुश्रूषया शैलसुतामुपेताम् ।
 प्रवेशयामास च भर्तुरेनां भूक्षेपमात्रानुमतप्रवेशाम् ॥६०॥

पार्वतीजीने शरीरपर साल मलिको लज्जित करनेवाले प्रशोकने पत्तोके, योनेकी पगव को घटानेवासी
 पण्डितारने फूलोके और मोतियोपी मालावे समान उजले सिन्धुवारने बासन्ती फूलोके धाभूपण सने
 हुए थे ॥५३॥ स्तनोंके घोभले भुके हुए शरीरपर प्रात पालके सूर्यके समान लाल पपड़े पहने हुए
 थे ऐसी लम रही थी जैसे फूलोके गुच्छेके भारसे झुटी हुई नई लाल लाल बोलोवाली पल्लवी-
 फिरती लता हो ॥५४॥ उगनी पगवसे पड़ी हुई केसरके फूलोकी लवची (करधनी) जय-जय नितम्बसे
 नीचे जिसका घाली थी तब तब के छे भपने हाथके पकटकर ऊपर सरका लेती थी । वह लमबी ऐसी
 लगती थी मानो वहाँ गया पहनना चाहिए इस बातको जाननेवाले कामदेवने अपने हाथसे उनकी
 कमरसे भपने धनुषकी दूसरी डोरी पहना दी हो ॥५५॥ कामदेवने देखा कि उनकी गुणधित
 साँसपर ललके हुए नीरे जय-जय उनके लाल लाल छोटोके पास धाते हैं तब तब के पदराहटसे
 साँसें गपाती हुई छोटे-छोटे बगलोले गरजर उन्दे लगा देती है ॥५६॥ कामदेवने जब रतिको भी
 सजानेवासी, मयिन सुपर मनोवाली पार्वतीजीको देखा तब उससे मनम नितन्द्रिय महादेवजीको
 यज्ञमे परोकी भाशा फिर हरी हो उठी ॥५७॥ इसी बीच पार्वतीजी भी भपने भारी पति साकरजीके
 आश्रयके द्वारपर धा पहुँची । तीन सप्प महादेवजीन नी परमात्माकी परम ज्योतिष्वा
 दर्शन करके अपनी समाधि छोड़ी ॥५८॥ धाँसे लोलवर उन्नीके नीरे-छोटे साँसे लेना प्रारम्भ कर
 दिया और भपनी गठोर पलवी भी खोल दी । इसीलिये उनका वह शरीर जो समाधिसे समय बहुत
 हलका हो गया था अब इतना भारी हो गया कि उनके बँटोके नी भूमिसे छेप भयवान बड़ी बटिनाईसे
 भपने पणोपर, तँभाल पाए ॥५९॥ उनकी समाधि खुली देखकर नन्दीने जाकर उन्हे प्रणाम करके
 कहा कि आपकी सेवा करनेके लिये पार्वतीजी आई हुई हैं । महादेवजीने अपनी भौंहसे उन्हे

तस्याः सखीभ्यां प्रणिपातपूर्वं स्वहस्तलूनः शिशिरात्पयस्य ।
 व्यकीर्यत ज्यम्बकपादमूले पुष्पोच्चयः पल्लवमङ्गभिन्नः ॥६१॥
 उमापि नीलालङ्कमध्यशोभि विस्मंसयन्ती नवकणिकारम् ।
 चकार कर्णच्युतपल्लवेन मूर्ध्ना प्रणामं वृषभध्वजाय ॥६२॥
 अनन्यभाजं पतिमाप्नुहीति सा तथ्यमेवामिहिता मवेन ।
 न हीथरज्याहृतयः कदाचित्पुष्पान्ति लोके विपरीतमर्थम् ॥६३॥
 कामस्तु वाणावसरं प्रतीक्ष्य पतङ्गवद्वह्निमुखं विविक्षुः ।
 उमासमक्षं हरबद्धलक्ष्यः शरासनज्यां ह्यहुराममर्श ॥६४॥
 अथापनिन्ये गिरिशाय गौरी तपस्विने ताग्रुचा करेण ।
 विशोपितां मातुमतो मयूखैर्मन्दाकिनीपुष्करशीजमालाम् ॥६५॥
 प्रतिग्रहीतुं प्रणयिप्रियत्वात्त्रिलोचनस्तामुपपन्नकमे च ।
 संमोहनं नाम च पुष्पधन्वा घनुष्पमोचं समधत्त बाणम् ॥६६॥
 हरस्तु किञ्चित्परितुमर्धैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
 उमामुखे विम्बफलाघरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥६७॥

मुनानेका समेत किया और पार्वतीजीको नन्दी भीतर ले गए ॥६०॥ पहले पार्वतीजीकी दोनो सखियोंने शबरजीको प्रणाम किया और फिर अपने हाथसे चुने हुए, पत्तोंके टुकड़े मिले हुए बासन्ती फूलोंका ढेर उनके पंरोपर पड़ा दिया ॥६१॥ पार्वतीजीने भी शिवजीको प्रणाम करनेके लिये क्योंही अपना सिर झुकाया क्योंकि उनके कले-कामे वालोंमें मुँहे हुए कैणिकारके फूल और बातपर बरे हुए वस्त्रे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥६२॥ प्रणाम करती हुई पार्वतीजीको भगवान् तकरने वह सत्य प्राणीवाद दिया कि तुम्हें ऐसा पति मिले जो किसी भी स्त्रीको न भिन्न सका हो । ठीक ही है, ऐसे ऐश्वर्यशालियोंकी चाली कभी सूटी थोड़े ही होती है ॥६३॥ जैसे कोई पतवा आगमें जूढ़नेकी उतावला हो जैसे ही कामदेवने भी सोचा कि वह बाण छोटनेका यही ठीक अवसर है । वह वह पार्वतीजीके आगे बैठे हुए शिवजीपर ताक ताककर घनुष्पकी डोरी धीचने ही तो तथा ॥६४॥ उन्कर पार्वतीजीने प्रणाम करने समाधिसे जागे हुए शबरजीके गलेमें धूपमें सुताये हुए मन्दाकिनीके कमलने दोनोंकी माला अपने लाल लाल हाथोंसे पहना दी ॥६५॥ शिवजीने अन्तर प्रेम करनेके नाते पार्वतीजीकी वह माला पहनी ही थी कि कामदेवने भी सम्मोहन नामका अशुभ वाण अपने घनुष्प पर चढ़ा दिया ॥६६॥ जैसे चन्द्रमाके निकलनेपर समुद्रमें ज्वार आ जाता है वैसे ही पार्वतीजीको देखकर महादेवजीने हृदयमें भी कुछ हलचल-सी होने लगी और वे पार्वतीजीके विम्बाके समान नाम लान लोठेपर अपनी सलवाई छींते

विवृण्वती शैलमुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्भालकदम्बकल्पैः ।
 साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मृगेन पर्यस्तविलोचनेन ॥६८॥
 अथेन्द्रियक्षोभमधुग्मनेत्रः पुनर्वशित्वाद्वलवन्निगृह्य ।
 हेतुं स्वचेतोविकृतेर्दिदृक्षुर्दिशामुपान्तेषु ससर्ज दृष्टिम् ॥६९॥
 स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम् ।
 ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्षुमभ्युद्यतमात्मयोनिम् ॥७०॥
 तपःपरामर्शनिवृद्धमन्योर्भ्रमद्गुण्येक्ष्यमुपस्य तस्य ।
 स्फुरन्मुदचिः सहसा तृतीयादच्छाः कृशानुः किल निष्पपात ॥७१॥
 क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्भिरः खे मरुतां चरन्ति ।
 तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥७२॥
 तीव्राभिपङ्गप्रभवेण घृतिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
 अज्ञातमर्तुव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्वभूव ॥७३॥
 तमाशु विघ्नं तपसस्तपस्वी वनस्पतिं वज्र इवावभज्य ।
 स्त्रीसंनिकर्षं परिहर्तुमिच्छन्नन्तर्दधे भूतपतिः समूतः ॥७४॥

हालने लगे ॥६७॥ और पार्वतीजी भी कले हुए नये बदनके समान पुलकित भगतिप्रेम जलवाती हुई,
 लजीली भाँखेंछि भ्रमना अत्यन्त सुन्दर मुख कुछ तिरछा करके लड़ी रह गई ॥६८॥
 पर महादेवजी तरवाल संभल गए । उधमी होनेके कारण उन्होंने तत्काल इन्द्रियो की चपलताकी
 चलपूर्वक रोक लिया और यह देखनेके लिये चारों ओर दृष्टि डीछाई कि मेरे मनमें यह निवार माया
 कौन ॥६९॥ शक्करजी देखते क्या है कि भ्रमना पनुप क्षीतकर गोल गिये हुए, दाहिनी
 भाँखकी कोरलक चुटकीसे डोरी खींचे हुए, दाहिना कन्धा कुत्तारर वाले वीरना घुटमा मारे हुए
 कामदेव मुझपर बाण चलाते ही वाला है ॥७०॥ अपने तपमें माया जालोमारो कामदेवपर
 महादेवजीको इतना क्रोध था कि उनकी चड़ी भौंहेने बीच बाया जेब देता नहीं जाता था ।
 ऋत उनका वह तीसरा जेब खुला और उसमेंसे सहसा जलती हुई भागकी लपटे निकल पड़ी ॥७१॥
 यह देखते ही एक साथ सब देवता भावाश्रमे चित्ला उठे-ई, हैं, रोलिए रोलिए अपने क्रोधकी प्रभो ।
 पर इतनी देरने लो महादेवजीकी धौखोसे निवचनेवाली उस भावने कामदेवकी जलाकर राख
 ही पर डाला ॥७२॥ अपने शिरपर धाई हुई इस भारी विपत्तिको देवपर कामदेवकी
 स्त्री लो मूर्च्छित होकर गिर पड़ी, उसकी इन्द्रियो स्वन्ध हो गई और ऐसा बड़ा मालो भगवाणो
 शृणु करके उसकी देखने लिये पतिनी मृषुका जान हर पर उसे दुखसे बचाए रखा ॥७३॥ प्रेते
 विजयी किसी पेड़पर गिरकर जो लोड डालती है उसी प्रकार अपनी तपस्याको माया जालोमारो
 कामदेव को जलाकर शिवजी ने निश्रय किया कि स्त्रियो का साथ छोड़ देना चाहिए । इसलिये
 तपस्वी महादेवजी तत्काल अपने भूतोप्रेतोंको साथ लेकर समुत्तरी हो गए ॥७४॥

स्मरसि स्मर मेखलागुणैरुत गोत्रस्खलितेषु बन्धनम् ।
 च्युतकेशरदृषितेक्ष्णान्यवतंसोत्पलताडनानि वा ॥ ८ ॥
 हृदये वससीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम् ।
 'उपचारपदं न चेदिदं त्वमनङ्गः कथमचता रतिः ॥ ९ ॥
 परलोकनवप्रवासिनः प्रतिपत्स्ये पदवीमहं तव ।
 विधिना जन एष वञ्चितस्त्वदधीनं खलु देहिनां सुखम् ॥ १० ॥
 रजनीतिमिरावमुच्छिष्टे पुरमार्गे घनशब्दधिक्लवाः ।
 वसतिं प्रिय कामिनां प्रियास्त्वद्वत्ते प्रापयितुं क ईश्वरः ॥ ११ ॥
 नयनान्यरुणानि घूर्णयन्वचनानि स्खलयन्पदे पदे ।
 अस्सति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विहम्यना ॥ १२ ॥
 अवगम्य कथीकृतं वपुः प्रियवन्धोस्तत्र निष्कलोदयः ।
 बहुलेऽपि गते निशाकरस्तनुतां दुःखमनङ्ग मोक्षयति ॥ १३ ॥
 हरितारुणचारुबन्धनः कलपुंस्कोक्लिशब्दद्वयचितः ।
 यद संप्रति कस्य वाशतां नवचूतप्रसवो गमिष्यति ॥ १४ ॥

दासी । फिर बिना बातके ही मुझ विससती हुईको तुम दर्शन क्यों नहीं दे रहे हो ॥७॥ हे कामदेव । पहले एकबार जब भूलसे तुमने अपनी किसी दूसरी प्यारीका नामसे दासा या उदपर मैंने जो तुम्हें अपनी लगबीसे बाँध दिया था, क्या वही स्मरण करके तो तुम मुझसे नहीं रुठ बैठे हो ! या जब मैंने अपने वानमे पहले हुए वससे तुम्हें धोटा या उस समय उसका पराम पत्र जाने से जो तुम्हारी छाँवें छुलने लगी थी, क्या उससे स्मरण करके तो मुझने नहीं रुठ गए हो ॥८॥ तुम मुझने जो यह भीठी-भीठी बात बनाया करते थे कि तुम मेरे हृदयमे सदा रहती हो वह सब मेरी समझमे कूठ थी, क्योंकि यदि वह बात केवल मेरा मन रखने भरकी न होती तो तुम्हारे रख हो जानेपर तुम्हारी यह रति भला कैसे जीती बची रह जाती ॥९॥ तुम अभी-अभी स्वर्णको गए हो, मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे वही बली आ रही हूँ । ग्रहाने मुझे भुलित करके बसा धोखा दे दिया, नहीं तो मैं उसी समय तुम्हारे साथ चल देती क्योंकि मेरा ही नहीं वरन् सारे सत्कारक सुख वपु अपने साथ लिए चले गए हो ॥१०॥ बताओ प्यारे । अब क्योंकि दिनेमे रातकी घनी घोंघियारोसे भरे डरावने नगरके मार्गमे विजलीकी कड़कटाहटसे डर उठनेवाली कामिनियोंके उनके प्यारोके पर तुम्हारे बिना कौन पहुँचावेगा ॥११॥ अपने लाल-लाल नेत्र प्रभाती हुई और एक एक छन्दपर रुक-रुककर चलती हुई प्रमदाधोका मदिरा पीना अब तुम्हारे न रहनेपर भला किस कामका होगा ॥१२॥ हे मनव ! तुम चन्द्रमाके वडे प्यारे मित्र थे । अब उसे ज्ञात होगा कि तुम्हारा शरीर केवल कहानी भर रह गया है तब वह अनगरक उगा हृषा बन्द्या पुनत पक्षमे भी बड़ी कठिनाईसे अपना दुबलापन छोट पावेगा ॥१३॥ सुन्दर, हरे और लाल रंगमे बँधा हुआ और नीयतकी भीठी शूकसे गुँजा हुआ आगना नया बौर, बताओ अब जिसका वाख बना करेगा ॥१४॥

अलिपंक्तिरनेकशस्त्वया गुणकृत्ये धनुषो नियोजिता ।
 विस्तैः कुरुणस्वनैरिव गुरुशोकमसुरोदितो माम् ॥१५॥
 प्रतिपद्य मनोहरं वपुः पुनरप्यादिश तावदुत्थितः ।
 रतिदूतिपदेषु कोकिलां मधुरालापनिसर्गपण्डिताम् ॥१६॥
 शिरसा प्रणिपत्य याचितान्युपगृह्णानि सवेषश्रुति च ।
 सुरतानि च तानि ते रहः स्मरसंस्मृत्य न शान्तिरस्ति मे ॥१७॥
 रचित रतिपण्डित त्वया स्वयमङ्गेषु ममेदमार्तधम् ।
 श्रियते कुसुमप्रसाधनं तव तच्चारु वपुर्न दृश्यते ॥१८॥
 विचुर्चरति यस्य दारुणैरसमाप्ते परिकर्मणि स्मृतः ।
 तमिमं कुरु दक्षिणेतारं चरणं निर्मितरागमेहि मे ॥१९॥
 अहमेत्य पतङ्गचर्तना पुनरङ्गाश्रयणी भवामि ते ।
 चतुरैः सुरकामिनीजनैः प्रिय यावच्च विलोम्पसे दिवि ॥२०॥
 मदनेन पिनाकृता रतिः कणमात्रं किल जीवितेति मे ।
 वचनीयमिदं व्ययस्थितं रमण त्वामनुयामि यद्यपि ॥२१॥
 क्रियतां कथमन्त्यमण्डनं परलोकान्तरितस्य ते मया ।
 सममेव गतोऽस्यत्कितां गतिमङ्गेन च जीवितेन च ॥२२॥

जिम गीरोकी पीतोकी तुम अपने धनुषकी डोरी बना चुके हो उनकी कुलमरी गुहारमम ऐसी जान पड़ती है मानो ये भी मुझ बुलमे कितखती हुईके साथ साथ रो रही हो ॥१५॥ हे काम ! तुम अपने इस राखने खरीरकी छोड़कर पहले जैसा सुन्दर खरीर पारण करके स्वभावसे हो मधुर बोलनेसे चतुर इस बीयलको भासा दो कि यह अपनी मधुर कृपसे प्रेमियोको मिलनेका स्थान बताता प्रारम्भ कर दे ॥१६॥ हे कामदेव ! मुझ कठी हुईकी मनानेके लिये जब तुम मेरे पैरो पड़कर जाँपते हुए मुझे गलाकर गलेसे लगाया करते थे और फिर मेरे साथ अनेक प्रकारसे लज्जा किया करते थे, अब उन सातोंका स्मरण कर-करके मेरा जो फटा जाता है ॥१७॥ हे काम श्रीवामोम चतुर ! तुम अपने हाथोंसे मेरा जो बाँधती बिभार किया था वह तो अभी ज्योंका त्यों बना हुआ है पर तुम्हारा सुन्दर खरीर अब कहीं देखनेको नहीं मिल रहा ॥१८॥ अभी थोड़ी देर पहले जब तुम मेरे पैरोमें महावर धगाने बैठे थे और बेबल दाहिने पाँवमें हो गया पाए थे कि इसी बीच कठोर हृदयवाले देवताओंने तुम्हें अपने कामके लिये बुला भेजा था । अब आकर मेरे इस बाएँ पैरमें भी महावर क्यों नहीं लगा जाते ॥१९॥ हे प्यारे ! जबतक स्वर्गकी चतुर अप्याराएँ तुम्हें अपने रूपसे सुभावेँ उससे पहले ही मैं भागमे जलकर तुम्हारी गोदमें जा पहुँचती हूँ ॥२०॥ हे रमण ! वह तो निश्चय है कि मैं तुम्हारे पीछे पीछे आ रही हूँ, फिर भी मुझपर यह कबबचा टीका हो सके लिये लग ही गया कि कामदेवके न रहनेपर रति थोड़ी देर तक जीवी रह गई ॥२१॥ मुझे इसी बातका शोक है कि तुम अपना खरीर और प्राण दोनों एक साथ खेवर स्वर्ग चले गए अब मेरी सगळमें ही

ऋजुतां नयतः स्मरामि ते शरमुत्सङ्गनिपण्यध्वननः ।
 मधुना सह सस्मितां कथां नयनोपान्तविलोकितं च तत् ॥२३॥
 क्व नु ते हृदयङ्गमः सखा कुसुमायोजितकार्मुको मधुः ।
 न खलूग्ररुपा पिनाकिना गमितः सोऽपि सुहृद्गतां गतिम् ॥२४॥
 अथ तैः परिदेविताचरैर्हृदये दिग्भ्यश्चरैरिवाहतः ।
 रतिमभ्युपपत्तुमातुरां मधुरात्मानमदर्शयत्पुरः ॥२५॥
 तमवेक्ष्य रुरोह सा भृशं स्तनमंवाघमुरो जघान च ।
 स्वजनस्य हि दुःस्वमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते ॥२६॥
 इति चैनमुवाच दुःखिता सुहृदः परमं वमन्त किं स्थितम् ।
 तत्किं कणशो विकीर्यते पवनैर्मसम कपोतकनुरम् ॥२७॥
 अयि संप्रति देहि दर्शनं स्मर पर्युत्सुक एष माधवः ।
 दयितास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने ॥२८॥
 अमुना ननु पार्श्ववर्तिना जगदाज्ञां ससुरामूर्धं ख ।
 प्रिसतन्तुगुणस्य कारितं धनुषः पेलवपुष्पपत्त्रिणः ॥२९॥
 गत एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिलाहतः ।
 अहमस्य दशेव परमं मामविपक्षव्यसनेन धूमिताम् ॥३०॥

मही धा रहा है कि तुम्हारे परलोक चले जानेपर मैं तुम्हारे शरीरका अतिम सिंगार कैसे करूँ ॥२३॥
 तुम्हारा यह गीरमे धनुष रत्नकर बाण सीधा करना, वसन्तके साथ हँस हँसकर बातें करना और बीच
 बीचमे मेरी ओर तिरछी धितवनसे देखना मुझे भूलता नहीं है ॥२३॥ अब कहाँ गया वह तुम्हारे
 मित्रे क्लोवा धनुष धनानिवाला व्यास मित्र वसन्त । वही वह भी महादेवजीके तीखे क्रोधकी आगमे
 अपने मित्रके साथ साथ भस्म हो नहीं हो गया ॥२४॥ यह सुनते ही विलसती हुई दियोगिनी
 रतिकी डाढ़ल बंधनके लिये वसन्त वहाँ धा खड़ा हुआ । वह ऐसा दुःखी जान पड़ रहा था मानो
 उसने हृदयको रतिके विलापों बचनोके बाणोंनि बीच डाला हो ॥२५॥ वसन्तको देखकर वह और
 भी फूट-फूटकर और द्वाती पीट-पीटकर रोने लगी क्योंकि दुःखमे अपने स्वजनको देखते ही
 दुःख उसी प्रकार बढ़ जाता है जैसे स्त्री बस्तुकी बाहर निकालनेके लिये बड़ा भारी द्वार मित
 बाम ॥२६॥ बट रोती हुई वसन्तके बोली—हे वसन्त ! बताओ जो, तुम्हारे मित्रकी यह दशा
 कैसे हो गई । यह देखो ! तुम्हारा मित्र रात बना हुआ पड़ा है । और देखो ! बूतारके पतले समान
 चपने भूरी राखरी यह वन दूर-उधर बिलेर रहा है ॥२७॥ हे वामदेव ! तुम्हारा मित्र वसन्त
 तुम्हें देखनेके लिये बड़ा उतावला है, बाहर दूरे दर्जन जो दो । क्योंकि पुरम अपने स्वीते प्रेम
 करनेमे मते ही टिनाई कर दे पर अपने प्रेमी मित्रोमे तो उधका प्रेम घटन ही होता है ॥२८॥
 तुम्हारे इस साथी वसन्तके ही कारण तो ये सब देखता और राधाग तुम्हारे कमलकी हातुमे यकी हुई
 दोरीपाते डूबोके बाणपाते धनुषका सोहा माने थे ॥२९॥ हे वसन्त ! देखो तुम्हारा मित्र पवनके

विधिना कृतमर्द्धवैशसं ननु मां कामवधे विगुञ्चता ।
अनपायिनि संश्रयद्रुमे गजभङ्गे पतनाय बल्लरी ॥३१॥
तदिदं क्रियतामनन्तरं भवता बन्धुजनप्रयोजनम् ।
विधुरां ज्वलनातिसर्जनाच्च नु मां प्रापय पत्न्युरन्तिकम् ॥३२॥
शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तद्वित्प्रलीयते ।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपर्कं हि विचेतनैरपि ॥३३॥
अमुनैव कपायितस्तनी सुभगेन प्रियगात्रभस्मना ।
नवपञ्चलनसंस्तरे यथा रचयिष्यामि तनुं विभावसौ ॥३४॥
कुसुमास्तरणे सहायतां गृह्यः सौम्य गतस्त्वमावयोः ।
कुरु संप्रति तावदाशु मे प्रणिपातोज्ज्वलियाचितश्चिताम् ॥३५॥
तदनु ज्वलनं मदपितं त्वरयेद्विष्णवात्तबीजनैः ।
विदितं खलु ते यथा स्मरः क्षणमप्युत्ताहते न मां विना ॥३६॥
इति चापि विधाय दीपतां सलिलस्याञ्जलिरेक एव नौ ।
अग्निभज्य परत्र तं मया सहितः पास्यति ते स बान्धवः ॥३७॥

भोजन से भुके हुए दीपक के समान जाकर धब लौटता नहीं है । धब धलान्त दुख में भरी हुई मैं
 उध मुझे हुए दीपक की पृथग्भाती हुई वती भर वची रह गई है ॥३०॥ हे वरान्त ! क्या तुम
 समझते हो कि ब्रह्मार्पणं भूमेर्जीता लीटकर मेरे प्राणें भग कामदेवका बंध बरसे केवल धाया ही बंध
 बिधा है । उमने मुझे भी मार डाला है क्याकि तुम्ही बलाघी भला हाथीरी टकरसे वृक्ष के हूट जानेपर
 उसने सहारे ऋठी हुई लता क्या वची बची रह गयी है ॥३१॥ धब तुम बन्धु होनेके नाते मेरे
 लिये इतना तो दूर दो कि मेरा दाह करके मुझे मेरे पतिवै पाप पहुँचा दो ॥३२॥ देखो ! चाँदनी
 चन्द्रमाके प्राण चली जाती है, बिजली बादलके साथ ही क्षिप्त जाती है इसलिये पतिये साथ जाना तो
 पड़ोमे भी पाया जाता है फिर मैं चेतन होकर अपने पतिवै पाप क्यों न जाऊँ ॥३३॥ धब मैं
 अपने सामने पड़े हुए प्यारेके सरीरकी गुन्दर भरमसे अपने स्तनोका शृङ्गार करके पिताजी भाग्यो
 बढकर उसी प्रकार लोट रहूँगी जैसे कोई नई नई जाल कोपनीसे राजी हुई सेव पर जा सोये ॥३४॥
 हे वरान्त ! तुमने बहुत बार हम लोगोको फूलके बिछौने बनानेमें सह्ययता दी है धब मैं तुमसे हाथ
 ओढकर पंखी पङ्कज सह भीख माँगती हूँ कि तुम मेरे लिये शीघ्र ही बिदा रख डालो ॥३५॥
 शीघ्र फिर शीघ्रतसे दक्षिण पवनका पछा मारकर उसमें बची लपटें भी उड़ा दो जिससे मैं धलान्त
 शीघ्र जलभर राख हो जाऊँ, क्योंकि तुम जानते ही हो कि मेरा प्यारा वरमदेव मेरे बिना एक क्षण
 नहीं है ॥३६॥ शीघ्र जब मैं जल जाऊँ तब तुम हम दोनोंके लिये एक साथ जलसे
 तपण ॥ जिससे वरान्तने क्या हुमा तुम्हारा मित्र मेरे ही साथ जल पी खे ॥३७॥

ऋक्षतां नयतः स्मरामि ते शरमुत्सङ्गनिपण्णधन्वनः ।
 मधुना सह सस्मितां कयां नयनोपान्तविलोकितां च तत् ॥२३॥
 पय नु ते हृदयङ्गमः सखा कुसुमायोजितकामुर्को मधुः ।
 न खलूग्ररुपा पिनाकिना गमितः सोऽपि सुहृद्गतां गतिम् ॥२४॥
 अथ तैः परिदेविताचरैर्हृदये दिग्धशरैरिवाहतः ।
 रतिमभ्युपपत्तुमातुरां मधुरात्मानमदर्शयत्पुरः ॥२५॥
 तमवेचय रुरोद सा धृशं स्तनसंवाधमुरो बधान च ।
 स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते ॥२६॥
 इति चैनमुवाच दुःखिता सुहृदः पश्य वसन्त किं स्थितम् ।
 तदिदं कणशो विकीर्यते पवनैर्भस्म कपोतकुरुम् ॥२७॥
 अयि संप्रति देहि दर्शनं स्मर पर्युत्सुक एष माधव ।
 दयितास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृद्वने ॥२८॥
 अमुना ननु पार्श्वपतिना जगदाज्ञां ससुरासुरं तव ।
 विसतन्तुगुणस्य कारितं धनुषः पेल्लरपुष्पपत्त्रिणः ॥२९॥
 गत एव न ते निवर्त्तते स सखा दीप इवानिलाहतः ।
 अहमस्य दशैव पश्य मामविपद्यव्यसनेन धूमिताम् ॥३०॥

नहीं मा रहा है कि तुम्हारे परलोक चले जानेपर मैं तुम्हारे शरीरका प्रतिम सिंगार कैसे करूँ ॥२३॥
 तुम्हारा यह गोदमे धनुष रत्नकर वाण सीधा करना, वसन्तके साथ हँस हँसकर बातें करना और बीच
 बीचमें भेरी और तिरछी बितननवे देखना मुझे भूलता नहीं है ॥२३॥ अब कहाँ गया वह तुम्हारे
 लिये फूलोका धनुष बनानेवाला प्यारा मित्र वसन्त । कहीं वह भी महादेवजीने तोले कोधकी आगमें
 अपने मित्रके साथ साथ भस्म हो नहीं हो गया ॥२४॥ वह सुनते ही बिलखती हुई बिगोमिनी
 रतिको ढाड़त बँधानेके लिये वसन्त वहाँ भा खड़ा हुआ । वह ऐसा दुःखी जान पड़ रहा था मानो
 उसके हृदयकी रलिके बिलापके यकनोवे बाणों बौध जाता हूँ ॥२५॥ वसन्तको देखकर धृ और
 भी फूट-फूटकर और छाती पीट-पीटकर रोने लगी क्योंकि दुःखमें अपने स्वजनको देखते ही
 दुःख उसी प्रकार बढ़ जाता है जैसे रकी वस्तुको बाहर निकालनेके लिये बड़ा भारी दार मिल
 जाय ॥२६॥ वह रोती हुई वसन्तले बोली—हे वसन्त ! बताओ तो, तुम्हारे मित्रकी यह क्या
 कंठे हो गई । यह देखो ! तुम्हारा मित्र राख बना हुआ पड़ा है । और देखो ! कूतरने पक्षमें समाप्त
 उसकी भूरी राखको यह पवन दधर उधर बितेर रहा है ॥२७॥ हे मायदेव ! तुम्हारा मित्र वसन्त
 तुम्हें देखनेके लिये बड़ा उतावला है, आकर इसे दर्शन तो दो । क्योंकि पुरप अपनी स्त्रीसे प्रेम
 करनेमें भले ही बिलाई कर दे पर अपने प्रेमी मित्रसे तो उतना प्रेम घटल ही होता है ॥२८॥
 तुम्हारे इस साथी वसन्तने ही कारण तो ये सब देवता और राखस तुम्हारे कमलकी तातसे यही हुई
 छोटीवाले फूलोंमें बाणवाते धनुषका सोहा मानते थे ॥२९॥ हे वसन्त ! देखो तुम्हारा मित्र वसन्त

विधिना कृतमर्द्धवैशसं ननु मां कामवधे विमुञ्चता ।
 अन्नपायिनि संश्रयद्रुमे गजभङ्गे पतनाय वल्लरी ॥३१॥
 तदिदं क्रियतामनन्तरं भवता बन्धुजनप्रयोजनम् ।
 विधुरां ज्वलनातिसर्जनाच्च नु मां प्रापय पत्न्युरन्तिकम् ॥३२॥
 शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तद्धितप्रलीयते ।
 प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥३३॥
 अमुनैव कपापितस्तनी सुभगेन प्रियगात्रभस्मना ।
 नवपल्लवसंस्तरे यथा रचयिष्यामि तनुं विभावसौ ॥३४॥
 कुसुमास्तरणे सहायतां बहुशः सौम्य गतस्त्वमावयोः ।
 कुरु संप्रति तावदाशु मे प्रशिपातः जलियाचितश्चिताम् ॥३५॥
 तदनु ज्वलनं मदपिबं त्वरयैर्दक्षिणावसथीजनैः ।
 चिदितं खलु ते यथा स्मरः क्षणमप्युत्सहते न मां बिना ॥३६॥
 इति चापि विधाय दीयतां सलिलस्याञ्जलिरेक एव नौ ।
 अविभज्य परत्र तं मया सहितः पोस्यति ते स बान्धवः ॥३७॥

भोके से मुझे हुए दोषको समान जाकर मर जाँदता नहीं है । अब प्रत्यक्ष दुःख मेरी हुई मैं
 उस मुझे हुए दोषकी धृष्टतासे हुई बसो भर वषी रह गई हूँ ॥३०॥ हे दसन्त । क्या तुम
 समझते हो कि प्रकृति मुझे जीता छोड़कर मेरे साथे धर्म कामदेवका साथ करके बेबल प्राण ही पक्ष
 किया है । उमने मुझे भी मार डाला है क्योंकि तुम्ही बताओ बला हृषीकी टङ्करसे वृक्षके हट जानेपर
 उरके सहारे चला हुई सता क्या कभी बची रह पाती है ॥३१॥ अब तुम वस्तु होनेके नाते मेरे
 लिये इतना तो कर दो कि मेरा दाह करके मुझे मेरे पतिके पास पहुँचा दो ॥३२॥ देखो । खिनी
 चन्द्रमाके साथ बली जाती है, बिजली बादलके साथ ही छिप जाती है, इसलिये पतिके साथ जाना तो
 अबोमे भी पारा पारा है फिर मैं चेतन होकर अपने पतिके पास क्यों न जाऊँ ॥३३॥ अब मैं
 अपने सामने लगे हुए प्यारेके शरीरकी सुन्दर भस्मसे अपने स्तनोका शृङ्गार भरके बिताकी धागमे
 बँधकर उसी प्रकार लोट रहूँगी जैसे कोई नई-नई लाल कोयलोंने सजी हुई रेश पर जा सोये ॥३४॥
 हे दसन्त ! उमने बहुत बार हम लोगोको फूलके बिछोने बनानेमें सहायता दी है अब मैं तुमसे हाथ
 जोड़कर मैसा पड़कर यह भीख माँगती हूँ कि तुम मेरे लिये सीध ही निजा रज डालो ॥३५॥
 और फिर तीव्रतासे दर्शण पवनका पसा झनकर उससे बड़ी सपटे भी उठा दो जिससे मैं धरयन्त
 शोध जलकर राख हो जाऊँ, क्योंकि तुम जानते ही हो कि मेरा प्यारा नामदेव मेरे बिना एक क्षण
 नहीं रह सकता है ॥३६॥ और जब मैं जल जाऊँ तब तुम हम दोनोंके लिये एक साथ जलसे
 वर्षण करना जिससे परलोकमें गया हुआ तुम्हारा मित्र मेरे ही साथ जल पी सके ॥३७॥

परलोकविधौ च माधव स्मरमुदिष्य विलोलपल्लवाः ।
 निवपेः सहकारमञ्जरीः प्रियचूतप्रमवो हि ते सखा ॥३८॥
 इति देहविमुक्तये स्थितां रतिमाकाशमवा सरस्वती ।
 शफरीं हृदशोपविक्लानां प्रथमा वृष्टिरिवान्वकम्पयत् ॥३९॥
 कुसुमायुधपत्नि दुर्लभस्तव भर्ता न चिराद्भविष्यति ।
 शृणु येन स कर्मणा गतः शलभत्वं हरलोचनार्चिपि ॥४०॥
 अमिलापमुदीरितेन्द्रियः स्वसुतायामकरोत्प्रजापतिः ।
 अथ तेन निगृह्य विक्रियामभिशासः फलमेतदन्वभूत् ॥४१॥
 परिशेष्यति पार्वतीं यदा तपसा तत्प्रवर्णीकृतो हरः ।
 उपलब्धसुखस्तदा स्मरं वपुषा स्वेन नियोजयिष्यति ॥४२॥
 इति चाह स धर्मयाचितः स्मरशापावधिदां सरस्वतीम् ।
 अशनेरमृतस्य चोभयोर्वंशिनश्चाम्बुधराश्च योनयः ॥
 तदिदं परिरक्ष शोभने भवितव्यप्रियसंगमं वपुः ।
 रविपीतजला तपात्यये पुनरोवेन हि युज्यते नदी ।

हे वराह ! जब तुम कामदेवका आद्व करना सब उनके लिये पतौवाली आगकी मज ॥३८॥
 क्योंकि तुम्हारे भिन्नको कामकी मञ्जरी बहुत प्यारी थी ॥३८॥ जैसे अचानक बरस बीप
 पहली बूँदें मूलते हुए आलावकी आकुल मछलियोंको जिला देती हैं वैसे ही तुम्हारे
 पहलेवाली आकाशवाणीने भी प्राण छोड़नेको उताव रतिपर वह कृपाकी धाणी आगमे
 हे कामदेवकी पत्नी । तुम्हारा पति तुम्हें छोड़े ही दिनेमें मिल जायेगा । वह महादोगिनी
 ज्वालामें पतन बनकर कैसे जला यह सुनो ॥४०॥ ब्रह्माजीने सृष्टि करते समय मानो
 स्वप्न किया था उस समय कामदेवने उन्ने मनमें ऐसा पाप भर और
 सरस्वतीके रूपपर मोहित हो गए और उससे सभोग करनेकी इच्छा करने लगे ही
 ही वे कामदेवकी काली करजुत जान गए और उन्होंने अपने मनमें
 कामदेवकी शाप दिया कि जाओ, तुम धिवजीके तीसरे नेत्रको छिनसे अलगा
 जाओगे । उसीका यह सब पक्ष है ॥४१॥ पर जब धर्मने ब्रह्माजीसे सृष्टिकी ग
 कामदेवकी जिलानेकी श्रावना की सब ब्रह्माजीने कहा कि जब पार्वतीजीकी तपस्यासे प्र
 महादेवजी उनमें साथ विवाह कर लेंगे तब कामदेवको अपना सहायक समझकर
 जैसा शरीर दे दोगे और सभी ह्वाय शाप भी छूट जायेगा । सत्य है जैसे बादलों
 और जब दोनों शाप-शाप रहते हैं वैसे ही समयमें तोषिक मनमें क्रोध और समा द
 ही रहते हैं ॥४२-४३॥ इसलिये हे सुन्दरी । अपने प्यारेमें मिलनेके लिये तुम भ
 की रक्षा करो । देखो । जो नदियाँ गर्मि सुखकी निरखीकी अपना जल पिलाकर

इत्थं रतेः किमपि भूतमदृश्यरूपं
 मन्दीचकार मरणावपसायबुद्धिम् ॥
 तत्प्रत्ययाच्च कुमुमायुधबन्धुरेणा
 माधासयत्सुचरितार्थपदैर्बचोगिः ॥४५॥
 अथ मदनवधूरुपस्रवान्तं
 व्यसनकृशा परिपालयांबभूव ॥
 शशिन इव दिवातनस्य लेखा
 किरणपरिचितधूसरा अदोषम् ॥४६॥

इति महाकवि योकातिदासकृतो कुमारसंभवे महाकाव्ये
 रतिविज्ञापो नाम चतुर्थः सर्गः ॥

॥ पञ्चमः सर्गः ॥

तथा समक्षं दहता मनोमयं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती ।
 निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती त्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥ १ ॥
 इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।
 अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥ २ ॥
 निशम्य चैनां तपसे कृतोद्यमां सुतां गिरीशप्रतिसक्तमानसाम् ।
 उवाच मेना परिरम्य वक्षसा निवारयन्ती महतो मुनिव्रतात् ॥ ३ ॥
 मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवतास्तपः क्व वस्ते च तावत्कं वपुः ।
 पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतस्त्रिणः ॥ ४ ॥
 इति ध्रुवेच्छामनुशामती सुतां शशाक मेना न निपन्तुमुद्यमात् ।
 क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत् ॥ ५ ॥
 कदाचिदासन्नमस्तीमुत्प्रेन सा मनोरथज्ञं पितरं मनस्विनी ।
 अयाचतारण्यनिवासमात्मनः फलोदयान्ताय तपःसमाधये ॥ ६ ॥

पाँचवाँ सर्ग

महादेवजीने देखते-देखते कामदेवको भस्म कर डाला । यह देखकर पार्वतीजीभी सब भावार्थ भूलने लगी थी और वे भी भरकर अपनी सुन्दरताको कोसने लगी, क्योंकि जो सुन्दरता अपने प्यारेको ॥ रिझा सके उसका होना न होना दोनों बराबर है ॥१॥ यद्य उगहोने टास लिया कि जिसे मैं रूपसे नहीं रिझा सकी उसे अब सच्चे मनसे तपस्या करके पाऊँगी । बात भी ठीक है क्योंकि ऐसा निराला प्रेम और ऐसा निराला पति बिना तपस्याके भी नहीं मिलता करता है ॥२॥ अब उनकी माँ मेनाने गुना बि हमारी पुत्री शिवजीपर रीझकर उन्को सिधे तप करनेपर बुली हुई है तब पार्वतीजीको मनेसे लगाकर उन्हे इतनी बड़ी तपस्या करनेसे बरजती हुई वे बोली ॥३॥ वस्ते । तुम्हारे घरमें ही इतने बड़े-बड़े देवता हैं कि तुम जो पाही उनसे माँग लो । फिर तपस्या करना कोई हँसी खेल बोले ही है । बताओ, कहीं तो तरन्या और कहीं तुम्हारा पौमल जगेर । देखो ! तिरौणके पूनपर गीरे गले ही मानर बैठ जायें पर यदि कोई पत्नी जगपर धाकर बँटने लगे तब तो वह नहीं सा पून भङ हो जायगा ॥४॥ पर सब कुछ समझानेपर भी वे अपनी पुत्रीभी देव नहीं टास पाई क्योंकि अपनी बातसे घली लोभोहा मन और नीचे बिरते हुए पानीवा बेग जला गीत टास मचता है ॥५॥ हिमात्म्य हो पार्वतीजीके मनमें बात जानते हो थे । इसी बीच एव दिः पार्वतीजीने अपनी प्यारी सगीसे कटुतापर अपने पिताजीसे गुदराया कि तब मैं तप करने सिधे वनमे जाकर तपस्या कर सकती हूँ जबतक निजकी मुम्पर प्रगल्भ न हो जाय ॥६॥ अब हिमामयने समझ

अथानुरूपाभिनिवेशतोपिणा कृतान्यनुज्ञा मुख्या गरीयसा ।
 प्रजासु पश्चात्प्रथितं तदारूपया जगाम गौरीशिरः शिरःखिडमत् ॥ ७ ॥
 विमुच्य सा हारमहार्यनिधया विलोलयष्ट्रप्रविलुप्तचन्दनम् ।
 वमन्ध बालारुणवभ्रु वरकलं पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति ॥ ८ ॥
 यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम् ।
 न यद्वदध्रेलिभिरेव पद्मजं सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते ॥ ९ ॥
 प्रतिक्षणं या कृतरोमविक्रियां व्रताय मौञ्जीं त्रिगुणां वमार याम् ।
 अकारि तत्सूर्यनिबद्धया तथा सराममस्या रशनामुखास्पदम् ॥ १० ॥
 निस्तृष्टरागादधराश्वत्तिस्तस्तनाङ्गरागारुणिताञ्च कन्दुकात् ।
 कुशाङ्गरादानपरिचिताद्गुलि कृतोऽधस्तत्रप्रणयी तथा फरः ॥ ११ ॥
 महाहंशयापरिवर्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैरपि या स्म द्रुयते ।
 अशेष सा माहुलतोपधायिनी निपेदुषी स्थण्डिल एव केनले ॥ १२ ॥
 पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तथा द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम् ।
 सतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं विलोलदण्डं हरिणाङ्गनासु च ॥ १३ ॥

जिया कि पावतीजी अपनी सखी टेकते ठिगैनी नही जब उन्होंने पावतीजीको तप करने की माहा दे दी । अपने पूज्य पितासे आज्ञा पाकर वे हिमालयकी उस चोटीपर तप करने पहुँची जहाँपर बहुतसे मोर रहा करते थे और वीसे जिसका नाम उन्हीके नामपर गौरीशिरः पत्र गया ॥७॥ अपने टेकनी वही पावतीजीने अपना वह शूर उठार केवा जिसके सवा हिस्से रहनेसे उनकी छाती परका हरिचन्दन उससे पुख नर तथा हुधा था । उसके स्थानपर उन्होंने प्रायः पाँचके सूर्यके समान लाल लाल बल्कल सपेट लिया ॥८॥ जटा रख लेवेपर भी उनकी मुख बैसा ही ज्यारा लगता था जैसा पहले सभी हुई बैलियो से लगता था । क्योंकि केवल भीरोसे ही कमल अच्छा नही लगता वरन् सेवारसे निपटा होनेपर भी वह बैसा ही सजीला लगता है ॥९॥ उन्होंने तपस्याके लिये अपनी कमरसे जो मूँचकी तिहरी लगी थी रक्खी भी वह उनके लीगल शरीरपर इतनी जुझती थी कि उससे बड़ी पछी के कोप उठती थी और पहले पहले उसे पहननेसे उनकी सारी कमर लाल पड़ गई थी ॥१०॥ कहाँ तो वे अपने हाथोंसे थोड़ा रंगा करती थी और स्तनके अग्रभागसे लाल रंगी हुई गेद खेसा करती थी, वहाँ उन कोपन ज्योम उन्हीने पटावकी माला से ली और कुधाके पकुर उखावकर अपने उन्ही हाथोंसे जंभलियो से मार कर लिए ॥११॥ अपने पिताके घर पर ठाट बाटले राजे हुए पत्तणपर करवटें लेते समय अपने मातोसे भजे हुए मूलोके बनेसे जो पावतीजी से ली वर उठती थी वे ही अपने हाथोंका तबिया बगानर बिना बिधो हुई भूमिपर बँडो-बँडी से जाती थी ॥१२॥ तपके समय वे ऐसी खान्त हो गई थी मानो तप करनेसे समय तकके लिये उन्होंने अपना हाव भाव कोमल सतामोतो और अपनी चचल चितवन हरिलियोको धरोहर बनाकर दे दी हो ॥१३॥ यासस छोडकर उन्होंने वहाँके जिन छोटे-छोटे पौधोंको अपने

अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृत्तकान्घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत् ।
 गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनां न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति ॥१४॥
 अरस्यत्रीजास्तलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विश्वसुः ।
 यथा तदीयैर्नयनैः कुतूहलात्पुरः सखीनाममिमीत लोचने ॥१५॥
 कृताभिपेक्षां हुतजातवेदसं त्वगुत्तरासङ्गवतीमधीतिनीम् ।
 दिदृक्ष्वस्तामृषयोऽभ्युपागमन्न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते ॥१६॥
 विरोधिसन्धोर्जिह्वतर्प्यमत्सरं द्रुमैरभीष्टप्रसवाचिंतातिथि ।
 नवोदजाम्ब्यन्तरमंशृतानलं तपोवनं तच्च चम्बू पावनम् ॥१७॥
 यदा फलं पूर्वसपः समाधिना न तावता लम्ब्यममैस्त काङ्क्षितम् ।
 तदानपेक्ष्य स्वशरीरमार्दवं तपो महत्ता चरितुं प्रचक्रमे ॥१८॥
 क्लमं ययौ कन्दुकलीलयापि या तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत ।
 ध्रुवं यदुः काञ्चनपद्मनिर्मितं मृदु प्रकृत्या च समारमेव च ॥१९॥
 शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता मुमध्यमा ।
 विजित्य नेत्रप्रतिष्ठातिनीं प्रमामनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत ॥२०॥

स्तनां के जैसे बहोने जसते सोच-सोचकर पासा था उन्हें ये पुत्रोके समान इतना प्यार करती थी कि
 पीढ़े जब स्वामी काचित्तेववा जन्म हो गया तब भी उनका वात्सल्य प्रेम इन ग्रीवो पर कम नहीं
 हुआ ॥१४॥ वहने जिन हरिणोंको उन्होंने अपने हाथसे तिन्नीके जाने मिला मिलाकर पासा पोसा
 था वे इतने परव गये थे कि कभी-कभी मन बहलावने लिए अपनी सतियोंके भागे उन्हें लाकर वे उन
 हरिणोंके नेत्रोंमें अपने नेत्र माफा करती थी ॥१५॥ यद्यपि पार्वतीजी छोटी-सा ही थी फिर भी वे स्नान
 करते, हवन करते, यज्ञसर्वा श्रौतनां श्रोतुकर बड़ी पाठ पूजा किया करती थी, उस समय उन्हें देवोंके
 लिये दूर-दूरेसे यज्ञे-यज्ञे ऋषि-मुनि उनके पास आया करते थे। क्योंकि जो धर्मका जीवन वितानेमें
 यज्ञे चढ़े होते हैं उनसे लिए फिर वह नहीं देखा जाता कि वे छोटे हैं या बड़े ॥१६॥ उस तपोवनमें
 रहनेवाले सब पशु-पक्षियोंने अपना पिछवा भागसबका बंध छोड़ दिया था, यहीने वृष इतने पक्ष-पूतते
 लए गए थे कि आए हुए अनिमि जो चाहते थे वही उन्हें मिल जाता था और वही नई पशुपुत्रीके
 सदा हवनकी प्राप्ति जलती रहा करती थी। इन सब बातोंसे वह तपोवन बड़ा पवित्र हो गया था ॥१७॥
 पार्वतीजीने जब देखा कि इन प्रार्थनार्थ निबन्धोंके काम नहीं संघटा तब उन्होंने अपने शरीरको होम-
 सता या ध्यान छोड़कर बड़ी बड़ी तपस्या आरम्भ कर दी ॥१८॥ जो पार्वतीजी वहने सेंद
 सेनेमें भी पक्ष लाया करती थी उन्होंने ही जब मुनियोंका बंदोख बना ले लिया तब देखा जान
 पड़ने लगा मानो उनका शरीर सोनेके कमलोंके बना था, जो कमलमें बने होनेसे कारण स्वभावसे
 होमल भी था पर नाम ही नाम सोनेका बना होनेसे ऐसा पक्का भी था कि तपस्याके मन्त्रों न
 सके ॥१९॥ पतली कमरवाली हंसमुख पार्वतीजी घरभीने दिनोंमें अपने पारों पोर प्राग जमाकर
 उसीने सोच नहीं रहें सभी और पवाचीय करनेवाले मूर्खोंने प्रजापति भी जोनकर वे मूर्खों

तथात्तिष्ठं सवितुर्गमस्तिभिर्मुक्षं तदीयं कमलत्रियं दधौ ।
 अवाङ्मयोः केवलमस्य दीर्घयोः शनैः शनैः रयामिकया कृतं पदम् ॥२१॥
 अयाचितोपस्थितमम्बु केवलं रसात्मकस्योद्गतेश्च रश्मयः ।
 बभूव तस्याः क्लृप्ता पारणाविधिर्न वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः ॥२२॥
 निकामतप्ता विविधेन वह्निना नमश्चरेण्येन्धनसंभृतेन सा ।
 तपात्पये वारिभिरुक्षिता नवैर्मुवा सहोष्माश्चममुश्चर्ध्वगम् ॥२३॥
 स्थिताः क्षणं पद्ममु ताटिताधराः पयोधरोत्सेवनिपातचूषिताः ।
 बलीषु तस्याः स्थलिताः प्रपेदिरे चिरेण नार्भि प्रथमोद्विन्दवः ॥२४॥
 शिलाशयां तामनिकेतवासिनीं निरन्तरास्वन्तरवातवृष्टिषु ।
 व्यलोक्यन्मिपितैस्तडिन्मयैर्महातपः साध्य इव स्थिताः क्षपाः ॥२५॥
 निनाय सात्यन्तहिमोत्किरानिलाः सहस्यरात्रीतद्वासतत्परा ।
 परस्पराक्रन्दिनि चक्रवाकयोः पुरो विद्युक्ते मिथुने कृपावती ॥२६॥
 मृष्टेन सा पद्मसुगन्धिना निशि प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना ।
 तुषारवृष्टिस्तपन्नसंपदां सरोजसन्धानमिवाकरोदपाम् ॥२७॥

भोर एकटक होकर देखती रहने लगी ॥२०॥ इस प्रकार तप करते रहनेपर भी उनका मुख
 सूर्यकी चिरछोले तपकर कुम्हलाया नहीं बरन् कमलके समान खिल उठा । हाँ, इतना प्रपन्न
 हुआ कि उसकी बड़ी-बड़ी आँखोंकी कोरोंमें धीरे-धीरे कुछ साँवनापन आने लगा ॥२१॥ फिर
 वर्षाके दिनोंमें वे एक-दो दिनो गौंमें अपने आप बरसे हुए जलको पीकर और इनके भ्रूतले भरी
 चन्द्रमाकी चिरछोली पीकर ही रह जाती । यद्यपि यह समझ लीजिये कि उन दिनों पार्वतीजीका
 खाना पीना बड़ी या छोटी वृजोका होता है ॥२२॥ वर्षा होनेपर नहर तो गर्मसि तबो हुई पृथ्वीके
 भाग निकल उठी और इसर ईनकी आवाज तथा मूर्धनी गर्मसि सपे हुए पार्वतीजीके शरीरसे भाग
 निकल उठी ॥२३॥ उनमें सिर पर जो वर्षाका जल पड़ता था वह पलभर तो उनकी पलकोंमें
 टिकता था फिर बहसि कुलकर उनमें छोड़ोपर जा पड़ता था, वहाँमें उनके गठोर स्तनोपर
 गिरकर सूँद सूँद बरकर टिकता जाता था और फिर उनमें गेटपर यनी हुई सितुङ्गोम होता हुआ
 वह बड़ी देरमें नाभितक पहुँच पाता था ॥२४॥ जिन दिनों पनबोर वर्षा ताप-माघ रात-
 रातभर आँधियाँ खता करती थी उन दिनों भी ये खुले मैदानमें पत्थरकी पटियापर ही पड़ी
 रहा करती थी भोर खेंबेरो खानें अपनी दिवलीकी आँखें सोत-खोपकर इस प्रकार उन्हें
 देखा करती थी मानो वे उनके गठोर तपकी साक्षी हो ॥२५॥ दूसरी जिन रातोंमें बर्षा नालारता
 हुआ पवन चारो ओर हिम हो हिम बिखेरता खतता था, उन दिनों वे रात रातभर ताने बँधी निगा
 देती थी भोर उनमें सामने ही नकवे धीर चकवीना जो जोटा एक दूसरेसे चिपुटा हुआ चित्ताया
 करता था उन्हें वे डाढ़क बँयावा करती थी ॥२६॥ उन जाड़े की रातोंमें जबने ऊपर पार्वतीजीका
 मुँह भर दिखाई पड़ता था जावेमें उनमें मोठ काँते ये भोर उनकी छाँसे कमलकी गन्धने समान
 जो सुगन्ध निरता रही थी उसकी गमक चारो ओर फैल जाती थी । उस गमक जबने राठी हुई वे

स्वयं विशीर्षद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः ।
 तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपश्येति च तां पुराविदः ॥२८॥
 मृणालिकापेलवमेवमादिभिर्वतैः स्वमङ्गं ग्लपयन्त्यहर्निशम् ।
 तपः शरीरैः कठिनैरुपाजितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सा ॥२९॥
 अथाजिनापाटधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा ।
 विवेश कबिजटिलस्तपोवनं शरीरवद्भूतः प्रथमाश्रमो यथा ॥३०॥
 तमातिथेयी बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती ।
 भवन्ति साम्पेऽपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषैष्यतिगौरवाः क्रियाः ॥३१॥
 विधिप्रयुक्तां परिगृह्य सत्क्रियां परिश्रमं नाम विनीय च क्षणम् ।
 उमां स पश्यन्तृषुनैव चक्षुषा प्रचक्रमे वक्तुमनुज्झितक्रमः ॥३२॥
 अपि क्रियार्थं सुखमं समित्कुशं जलान्यपि स्नानविविक्तमाणि ते ।
 अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ॥३३॥
 अपि त्वदावर्जितवारिसंभृतं प्रवालमासामनुबन्धि वीरुधाम् ।
 चिरोज्झितालक्तकपाटलेन ते तुलां यदारोहसि दन्तवाससा ॥३४॥

ऐसी लगती थी मानो पालेते मारे हुए कमलके जल जानेपर उनके मुलके कमलने ही उस टालकी
 कमलवाला बनाए रखे हो ॥२८॥ अपने घाय भङ्गुर गिरे हुए पत्तोंकी खाकर रहना ही तपकी
 परकाष्ठा रागभी जाती है पर पार्वतीजीने पत्ते खाने भी छोड़ दिए, इसीलिए, मधुर भाविणी पार्व-
 तीजीको पण्डित लोग बोधे पत्ते न खानेवाणी धपराई भी कहने लगे ॥२९॥ कगलिनीके समान अपने
 कोमल धनुषको इस प्रकारकी तपस्यासे रस्त दिन सुखाकर पार्वतीने बडोर शरीरवाले तपस्वियोंकी भी
 लजा दिया ॥२९॥ इसी बीच एक दिन ब्रह्मचर्यके तेजसे बनकता हुआ-सा हिरण्मयी छाल मोटेघोर
 पलासका बंट हाथमे लिए हुए, गठीले शरीरवाला और चतुराईके माथ बोलनेवाला एक जटाधारी
 ब्रह्मचारी उत तपोवनमे आया । वह ऐसा जान पड़ता था मानो साक्षात् ब्रह्मचर्याश्रम ही उठा चला
 आ रहा हो ॥३०॥ यतिपिना सरकार करनेवाली पार्वतीजीने बड़े आदरसे आगे बढ़कर उसकी पूजा
 की, क्योंकि जिन्होंने अपने मनको जली प्रकार साथ लिया है वे यदि अपनी बराबरकी प्रयत्नवालाते
 तेजस्वी पुरुषसे भी मिलते हैं तो बड़े आदरसे मिलने हैं ॥३१॥ उस ब्रह्मचारीमे मंड-पूजा लेकर और
 पलभर अपनी पकानट बिटाकर पार्वतीजीकी ओर एकटक देखते हुए बिना रुके बोलना प्रारम्भ
 कर दिया ॥३२॥—कहिए, आपको इस तपोवनमे हवनके लिये समिधा, कुच और स्नान करने
 योग्य जल तो मिल जाता है न ! और अपने शरीरकी सत्तिके अनुसार ही तप कर रही हैं न ! क्यों
 कि देखिए ! धर्मके जितने काम हैं उनमे शरीरकी रक्षा करना सबसे पहला काम है ॥३३॥
 हाँ, आपके हाथसे सीजी हुई इन सताओमे कोमल लाल-साख पतिवोवानी वे कौनसे जो
 फूट साईं होगी आपके उन ओठोंसे होड़ करती होगी वो बहुत दिनोंसे महावस्त्र न रंगे
 जानेपर भी लाल हैं ॥३४॥ और हे कमलनयनी ! आपके हाथसे प्रेम्मे मुग्धा छीनकर खानेवाले

अपि प्रसन्नं हरिणेषु ते मनः कस्त्वदर्शप्रणयापहारिषु ।
य उत्पन्नाति प्रचलैर्विलोचनैस्तवाचिसादृश्यमिव प्रयुज्यते ॥३५॥
यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः ।
तथाहि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् ॥३६॥
विकीर्णसप्तपिबलिप्रहासिभिस्तथा न गाङ्गैः सलिलैर्दिवश्च्युतैः ।
यथा त्वदीयैश्चरितैरनाविलम्बहीधरः पावित एव सान्वयः ॥३७॥
अनेन धर्मैः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भाविनि ।
त्वया मनोनिर्विषयार्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते ॥३८॥
प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना न मां परं संप्रतिपत्तुमर्हसि ।
यतः सतां सत्पतमात्रि संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ॥३९॥
अतोऽत्र किञ्चिद्भूयतीं बहुसुमां द्विजातिभावादुपपन्नचापलः ।
आयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने न चेद्रहस्यं प्रतिपत्तुमर्हसि ॥४०॥
कुले प्रवृत्तिः प्रथमस्य वेषसलिलोकसौन्दर्यमिवोदितं वपुः ।
अमृग्यमैरपर्यसुखं नवं वयस्तपःफलं स्थास्किमतः परं वद ॥४१॥
भवत्यनिष्टादपि नाम दुःसहान्मनस्विनीनां प्रतिपत्तिरीदृशी ।
विचारमार्गप्रहितेन चेतसा न दृश्यते तच्च कुशोदरि त्वयि ॥४२॥

इन हरिणोंमें तो आपका मन बहता रहता है न, जिनकी भाँखें आपकी भाँखोंके समान हो चकल हैं ॥३५॥ हे पार्वतीजी ! यह ठीक ही कहा जाता है कि सुन्दरता पापकी भोर कभी नहीं छुटती, क्योंकि हे सुन्दरी ! आपका ही रहन-सहन देखें तो यह इतना सच्चा है कि मछे-बछे तपस्वी भी सबसे खोख से सकते हैं ॥३६॥ यो तो सत्पद्मपिण्डके हाथसे चढ़ाए हुए पूजाके फूल और धाकाससे ढवरी हुई गंगाकी पारधर्हि हिमालयपर गिरती है, पर इन सबसे भी हिमालय उतसा पवित्र नहीं हुआ जितना आपके पवित्र रहन-सहनसे हुआ है ॥३७॥ हे देवि ! आपके इस भाषणसे ही मैं समझ रहा हूँ कि धर्म, धर्म और काम 'इन तीनोंमें धर्म ही सबसे बढकर है क्योंकि आप धर्म और कामसे मरने मनको हटाकर शकेते धर्मका पक्षीय भाषण उत्तरी सेवा कर रही हैं ॥३८॥ हे सुन्दरी ! यह कहा जाता है कि सज्जन लोगोंकी पहुँची ही मँडमे उनकी मित्रता पक्की हो जाती है, इसलिये आपने भी मेरा सत्कार किया है उसीसे यह सिद्ध है कि आप मुझे कोई पराया नहीं समझती ॥३९॥ हे तपस्विनी ! यदि उसी अपनेपनके नाते मे आहारण होनेकी हिडाई करके आपसे कुछ ऐसी वैसे बातें पूछ 'बैठूँ तो आप बुरा न मानिएगा और यदि कोई क्षिपानेकी बात न हो तो आप कृपा करके उत्तर भी दे दीजिएगा ॥४०॥ मैं यही पूछना चाहता हूँ कि ब्रह्माके बशमे तो आपका जन्म, शरीर भी आपका ऐसा सुन्दर मानो तीनो लोकोंकी सुन्दरता आपमें ही लाकर भरी हो, मनका कुछ इतना कि कुछ पूछना हो नहीं और जबानी तो सभी फूट ही रही है, फिर वताइए कि आपकी तप करनेकी आवश्यकता क्या प्रा पड़ी ॥४१॥ हाँ, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अपने पंरोसे बदला लेनेके लिये भी भाजिनी स्त्रियाँ कठोर

अलभ्यशोकमिभवेयमाकृतिरिमानना सुभ्रु इतः पितुर्गृहे ।
 पराभिमर्शो न तवास्ति कः कर्ं प्रसारयेत्पन्नगरत्नमूचये ॥४३॥
 किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृतं त्वयावार्द्धकशोभिवत्कलम् ।
 वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभावरी यथरुणाय कल्पते ॥४४॥
 दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः ।
 अथोपयन्तारमलं समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥४५॥
 निवेदितं निधसितेन सोष्मणा मनस्तु मे संशयमेव गाहते ।
 न दृश्यते प्रार्थयितव्य एव ते भविष्यति प्रार्थितदुर्लभः कथम् ॥४६॥
 अहो स्थिरः कोऽपि तवेप्सितो युवाचिराय कर्णोत्पलशून्यतां गते ।
 उपेक्षते यः श्रुयलम्बिनीर्जटाः कपोलदेशे कलमाग्रपिङ्गलाः ॥४७॥
 मुनिव्रतैस्त्वामतिमात्रकशितां दिवाकरप्लुटविभूषणास्पदाम् ।
 शशाङ्कलेखामिव पश्यतो दिवा सचेतसः कस्य मनो न दृपते ॥४८॥

तपस्या कर बैठती है पर जहाँतक मैं समझता हूँ, ऐसी भी कोई बात आपके साथ नहीं है ॥४२॥
 क्योंकि हे सुन्दर मौहोवामी ! आपका रूप ही ऐसा है कि न तो आपपर कोई क्रोध ही कर सकता
 है न आपका निरादर । क्योंकि पिताके परम तो आपका निरादर करनेवाला कोई है नहीं,
 और यह भी नहीं हो सकता कि कोई जानूँ आकर आपका अपमान करे, क्योंकि ऐसा कौन माईका
 लाल जन्मा है जो सौपकी मणि लेके लिये उसपर हाथ बालेगा ॥४३॥ इसलिये हे गौरी ! आप
 यह तो बताइए कि इस गौरी जबानीमे आपने सुन्दर गहन रौंढकर मे मुझियोंवाले बल्कल
 क्यों पहन लिए हैं । बताइए भला बदती हुई रातकी सजावट खिने हुए चन्द्रमा और तारेंति होती
 है या खेरेरे सुर्खी लालीसे ? ॥४४॥ और यदि आप स्वर्ग पानेकी इच्छासे तप कर रही हो तब
 तो आपका सारा परिश्रम बकारब है क्योंकि आपने पिता हिमालय का जितना राज्य है उतनेमे ही तो
 सब देवता रहते हैं, और यदि आप अपने योग्य पति पाओगे लिये तपस्या करती हो तब भी
 तपस्या व्यर्थ है क्योंकि मणि किसीको खोजने नहीं जाता, उल्टे मणिको ही लोग खोजते फिरते
 हैं ॥४५॥ आपने जो सच्ची साँस ली है इससे मैं समझ रहा हूँ कि आप योग्य पति पानेके लिये ही तपस्या
 कर रही हैं, पर मेरे जेमे यह बला भारी सन्देह उठ खड़ा हुआ है कि भला आप जिसे चाहती हो वह
 आपको न मिले, वह बात हो वैसे खबती है, क्योंकि मुझे तो सखारप कोई ऐसा पुरुष नहीं जेंचता
 जिससे पीछे आपकी दोहना पड़े ॥४६॥ यह शचमुच बड़े अचरजकी बात है कि जिस सुवक्को
 आप चाहतीं हों वह ऐसा हूँ हो कि बहुत दिनोंसे बल्लूतसे गुने आपके बालोपर लटकी हुई दन
 पानके मालोंसे समान पीली जटामोनी देखकर भी न पिपसता हो ॥४७॥ ऐसा कौन जीता-जागता
 पुरुष होगा जिसका जो तपस्यासे श्रवन्त सूते हुए आपके इस घरीरको देखकर रो न पड़े जिसपर
 आभूषण पहनने से भ्रम सुर्खी विरल्लोसे मुन्नम गए हैं और जो दिनर चन्द्रमाकी लक्ष्मि समान
 उदास दिताई पड़ रहा है ॥४८॥ मैं समझता हूँ कि आप जिसे प्यार करती हैं वह अपनी
 सुन्दरताका भूटा यमण्ड लिए फिरता है नहीं तो उसे भयकर यहाँ आकर अपने मूँहको आपकी

अथैमि सौभाग्यमदेन वञ्चितं तव प्रियं यश्चतुरावलोकिनः ।
 करोति लक्ष्यं चिरमस्य चक्षुषो न वक्त्रमात्मीयमरालपद्मणः ॥४६॥
 कियच्चिरं श्राम्यसि गौरि विद्यते ममापि पूर्वाश्रमसंचितं तपः ।
 तद्द्वर्भागेन लभस्व काङ्क्षितं वरं तमिच्छामि च साधु वेदितुम् ॥४७॥
 इति प्रविश्यामिहिता डिङ्मना मनोमत्तं सा नशयाक शंसितुम् ।
 अथो वयस्यां परिपार्श्ववर्तिनीं विवर्तितानजननेत्रमैक्षत ॥४८॥
 सखी तदीया तमुवाच वणिनं निबोध साधो तव चेत्कृतहलम् ।
 यदर्धमम्भोजमिवोष्णवार्षां कृत तपः साधनमेतया वपुः ॥४९॥
 इयं महेन्द्रप्रभृतीनामिभिर्यथतुर्दिग्भीशानवमत्य मानिनी ।
 अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात्पिनाकपाणिं पतिमाप्नुमिच्छति ॥५०॥
 असदहङ्कारनिवर्तितः पुरा पुरारिमप्राप्तमुखः शिलीमुखः ।
 इमां हृदि व्यायसपातमक्षिणोद्दिशीर्षमूर्तेरपि पुष्पधन्वनः ॥५१॥
 तदाप्रभृत्युन्मदना पितुर्गृहे खलाटिकाचन्दनधूसरालका ।
 न जातु बाला लभते स्म निर्धृतिं तुपारसंघातशिलातलेष्वपि ॥५२॥

कड़ोसो भौहोबाले सुन्दर मनोवा लक्ष्य बनाना चाहिए वा ॥४६॥ अच्छा, यह तो बताइए गौरीजी !
 कि आप क्या तब यह तपस्या करती रहेंगी ? देखिए, ब्रह्मपर्यन्ती धवस्वामि मने
 बहुत तो तपस्या झगड़ोकर रखती है । उसका बाधा भाग आप से लीजिए और आपकी जो भी सार्थ
 हो, तब उनसे पूरी कर लीजिए । पर हाँ, इतना तो कमसे कम बता दीजिए कि वह है वीर ॥४७॥
 उस ब्राह्मणने इस वक़्त बातें बही माने पार्वतीजीके हृदयमे बैठकर सब बातें जान ली हों ।
 उन्हें सुनकर पार्वतीजी ऐसी सजा गई कि वे अपने मनकी बात भी अपने मुँहसे यह न पाई ।
 इसलिये अपने पिता राजल लगे मेघ पास बैठी हुई सखीकी ओर पुकारकर उन्होंने उसे धोतनेके
 लिये सचेत किया ॥४८॥ तब पार्वतीजीकी सखी उस ब्रह्मचारीसे बोली—हे साधो ! यदि आप
 सुनना ही चाहते हो तो मैं बताती हूँ कि कैसे कोई भूष बधानेके लिये कमतना छात लगा के
 बँधे ही इन्होंने भी अपना बोलबाला कर कठोर तपस्यामें क्यों लगा दिया ॥४९॥ महेन्द्र यदि
 सदैवदेव चारी दिग्पालीकी छोड़कर वे मानिनी उन महादेवजीसे विवाह करनेपर तुली हुई हैं जो
 धव नामदेवके नष्ट हो जानेपर केवल रूप दिखाकर नहीं रिखाए जा सकते ॥५०॥ उस समय
 कामदेवने त्रिपतीके ऊपर जो बाण चलाया था वह उस समय तो उनकी हुंकार सुनकर ही लौट
 गया पर उस जलबँद राख बने हुए कामदेवका वह बाण मेरी सखीके हृदयमें लगकर बड़ा भारी
 पाव कर गया है ॥५१॥ सखीसे ये बेचारी अपने पिताके घर इतनी प्रेयकी पीछासे व्याकुल
 हुई पड़ी रहती थी कि माथेपर पुते हुए अन्धनसे बात भर जानेपर भी और जमे हुए हिंगवो
 पट्टियोंपर लटे रहनेपर भी इन्हें ज्ञान नहीं मिलती थी ॥५२॥ अब ये महादेवजीके गीत माने

उपात्तवर्णं चरिते पिनाकिनः सवाष्पकण्ठस्त्रलितैः पदैरियम् ।
 अनेकशः किन्नरराजकन्यका वनान्तसंगीतसखीररोदयत् ॥५६॥
 त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं निमीन्य नेत्रे सहसा व्यवुध्यत ।
 क नीलकण्ठ ब्रजसौत्यलक्ष्यवामसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना ॥५७॥
 यदा बुधैः सर्वगतस्त्वमुच्यसे न वेत्ति भावस्थमिमं कथं जनम् ।
 इति स्वहस्तोन्मिलितस्त्वमुग्धया रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः ॥५८॥
 यदा च तस्याभिगमे जगत्पतेरपश्यदन्यं न त्रिधिं विचिन्वती ।
 तदा सहास्माभिरनुज्ञया गुरोरियं प्रपन्ना तपसे तपोवनम् ॥५९॥
 द्रुमेषु सख्या कृतजन्मसु स्वयं फलं तपःसाक्षिषु दृष्टमेव्यपि ।
 न च प्ररोहाभिमुखोऽपि दृश्यते मनोरथोऽस्याः शशिमौलिसंश्रयः ॥६०॥
 न चेन्नि स प्रार्थितदुर्लभः कदा सखीभिरसोचरमीक्षितमिमाम् ।
 तपःकृशामभ्युपपत्तस्यते सखीं वृषेव सीतां तद्वग्रहचक्षुषाम् ॥६१॥
 अगूढसद्भावमितीकृतज्ञया निवेदितो नैष्ठिकसुन्दरस्तया ।
 अयीदमेवं परिहास इत्युमामपृच्छदव्यजितहर्षलक्षयः ॥६२॥

सगती थी तब वे बगवासिनी किन्नरी राज-कुमारियाँ भी इनके वेषे हुए गलेसे निकले हुए शब्दोंकी
 सुन-सुनकार बहुत बार रो देती थी जो इनकी संगीतकी सखियाँ थी ॥५६॥ रातके पहले ही
 पहरमें सण भरके लिये बाँझ लगी नहीं कि बिना बातके ये चौंकर बरबराती हुई जाग उठती थी
 कि हे नीलकण्ठ ! तुम कहाँ जा रहे हो और उसी उपनेके धोखेमें ये अपने हाथ ऐसे फँसाती थी मागो
 शिवजीके गलेमें हाथ डालकर उन्हें रोक रही हो ॥५७॥ इस प्रकार नींदमें उठकर ये अपने
 हाथसे बनाए हुए शंकरजीके चित्रको ही खन्ने शंकरजी समझकर उन्हें यह कह कहकर उलाहना
 देने लगती थी कि आपने लिये पकित सोय तो कहते हैं कि आप घट-घटकी भाँटे जानते हैं फिर
 आप मेरे जीर्ण कलत्र क्यों नहीं जान पाते जो आपको खन्ने सकते प्यार करती है ॥५८॥
 जब इन संसारके स्वामी शिवजीको पानेका उन्हें कोई दूसरा उपाय न सूझा तो ये अपने पिताकी
 आज्ञा लेकर हम सोचके साथ तप करनेके लिये यहाँ तपोवनमें खसी आई ॥५९॥ हमारी
 सखीकी यहाँ उपस्था करके हुए इतने दिन हो गए कि इनके हाथके रोखे हुए जिन वृद्धोंने इनके
 तपको खदे-खदे देखा है वे भी फल गए पर महादेवजीको पानेकी जो इनकी साथ थी उसमें अभी
 शंकर भी नहीं फूट पाये ॥६०॥ तपने इन्हे ऐसा सुखा दिया है कि इन्हे देखकर हमारी सखियोंकी
 मौलें भी बड़बड़ा धाती हैं । इतने पर भी जिस दुर्लभ वरकी पानेके लिये ये इतनी साँसत मोग
 रही हैं यह देखें बच हमारी सखीपर उसी प्रकार कृपा बरसाता है जैसे जुती हुई होनेपर भी पानी
 न बरसनेसे सूखी हुई घरतीपर इन्द्र पानी सरसा देते हैं ॥६१॥ इस प्रकार पार्यतोने मनकी
 बात जाननेवाली राजोंने उपस्था करनेका ठीक-ठीक कारण बता दिया । यह सुनकर उस ब्रह्मचारी
 और सुन्दर पुरुषने अपने मुखपर प्रसन्नताकी एक रेखा भी नहीं पढ़ने दी और जलते पार्यतीजीसे

अयाग्रहस्ते मुकुलीकृताङ्गुलौ समर्पयन्ती स्फटिकाक्षमालिकाम् ।
 कथञ्चिदद्रेस्तनया मिताक्षरं चिरव्यवस्थापितवामभापत ॥६३॥
 यथा भूतं वेदविदां वर त्वया ज्योऽयमुच्चैः पदलङ्घनोत्सुकः ।
 तपः क्लिष्टं तदयाप्तिसाधनं मनोरथानामगतिर्न विद्यते ॥६४॥
 अथाह वर्यां विदितो महेश्वरस्तदर्थिनी त्वं पुनरेव वर्चसे ।
 समञ्जलाभ्यासरतिं विचिन्त्य त त्वानुष्टुचिं न च कर्तुमुत्सहे ॥६५॥
 अवस्तुनिर्ग्रन्थपरे कथं नु ते करोऽयमाप्तकविबाहकौतुकः ।
 करेण शमोर्बलयीकृताहिना सहिष्यते तत्प्रथमाग्लम्बनम् ॥६६॥
 स्वयेन तावत्परिचिन्त्य स्वयं कदाचिदेते यदि योगमर्हतः ।
 वधूदुर्गलं क्लृप्तहंसलक्ष्णं गजाजिनं शोणितरिन्दुवर्णं च ॥६७॥
 चतुष्कण्ठ्यपकरावकीर्णयोः परोऽपि को नाम तथानुमन्यते ।
 अस्तक्तक्राङ्गानि पदानि पाटयोरिर्कीर्णकेशास्तु परेतभूमिषु ॥६८॥
 अयुक्तरूपं किमतः परं यद् अग्निश्रवणः सुलभं तवापि यत् ।
 स्तनद्वयेऽस्मिन्हरिचन्दनास्पदे पदं चित्ताभस्मरजः करिष्यति ॥६९॥

पूछने लगा कि ये जो कुछ कह रही हैं यह क्या सत्य है, या ये हँसी कर रही हैं ॥६२॥
 बहुत देर तक तो पार्वतीजी साजधे पारण कुछ भी नहीं बोलीं पर उन्होंने अपनी अनुश्रुतिजो
 सनेदकर स्फटिककी माला हाथमें पहन ली और बड़े लगे तुले प्रसन्नो मेरे किसी किसी प्रकार बोलो
 ॥६३॥ हे देवके परम पति ! आपने जैसा मुना है मेरे मनमें वैसा ही ऊँचा पद पानेकी साध
 जग उठी है और यह तप भी मैं उन्हींकी पानेके लिये कर रही हूँ, क्योंकि मनुष्य-साध नहीं तक
 पहुँचती है इसका कोई ठिकाना तो है ही नहीं ॥६४॥ पार्वतीजीकी वाय सुनकर ब्रह्मचारी बोला
 कि जिसने पहले ही आपके प्यारको दुबारा दिया, उसके पानेके लिए क्या आपने मनमें अभी तप
 साध नहीं हुई है ? जब मैं उन भोले वैष्णवाले शिवजीका विचार करता हूँ तब मेरा मन तो
 नहीं करता कि आपको इसके लिये यत्नति दूँ ॥६५॥ पार्वतीजी ! आप भी जिस श्रेष्ठसे
 मेरा करने चली हैं । यथाइए तो, पालिशहल्लके समय विवाहके समय सूत्रसे राजा हुआ
 आपका यह हाथ राजाजीके साथ लिपटे हुए हाथको कैसे छू पावेगा ? ॥६६॥ आप स्वयं
 सोचिए कि यहाँ तो इस छोटी हुई पृथ्वी भोले हुए आप और नहीं रखती बूढ़ टपनती
 हुई महादेवजीके रूपपर पड़ी हुई हाथकी सास ! असा ये दोनों नहीं मेरा या सबतो है ॥६७॥
 आप अभी तक फूल बिछे हुए चौरमें चलती आई हैं । अब बताइए आप अपने
 महावरसे रंगे चौरको उस क्षमज्ञानकी भूमिमें कैसे रखेंगी जहाँ इपर उपर भूत प्रेतोंके
 बास बितरे पड़े होयें । यह बात तो आपका शत्रु भी आपसे लिये नहीं चाहेगा ॥६८॥ और
 बताइए, यदि शिवजी, आपको मिल भी जायें तो भी इससे बड़कर भदो और क्या बात होगी
 कि आपने जिन रत्नोपर हरिचन्द्रना पुता हुआ है तप पर चित्तानी अस्म -कर पोती जाय ॥६९॥
 और सबसे बड़ी हँसीकी बात तो यह होगी जब आप हाथी छोड़कर अपने बड़े रत्नपर चढ़कर अपनी

इयं च तेऽन्या पुरतो विहम्बना यद्व्या वारणराजहार्यया ।
 विलोक्य वृद्धोच्चमधिष्ठितं त्वया महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति ॥७०॥
 द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः ।
 कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥७१॥
 यपुर्विरूपाक्षमलच्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।
 वरेषु यद्वालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥७२॥
 निर्वर्तयात्सादसदीप्तितान्मनः क्व तद्विद्यस्त्वं क्व च पुण्यलक्षणा ।
 अपेक्षपते साधुजनेन वैदिकी रमशानशूलस्य न गूपसत्क्रिया ॥७३॥
 इति द्विजातौ प्रतिवृत्तवादिनि प्रवेपमानाधरलक्ष्यकोपया ।
 विकृश्वितभ्रूलतमाहिते तया विलोचने तिर्यगुपान्तलोहिते ॥७४॥
 उवाचचैत्रं परमार्थतो हरं न चेत्ति नूनं यत एवमास्थ माम् ।
 अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विपन्ति मन्दाधरितं महात्मनाम् ॥७५॥
 विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं निपेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा ।
 जगच्छरण्यस्य निराशिपः सतः किमेभिराशोपहृतात्मवृत्तिभिः ॥७६॥

समुदासको चर्छंगी और नगरके भलेमानुस सब आपकी देखकर तासियां बजावेगे ॥७०॥
 मैं तो समझता हूँ कि शिवजीको पासके घेरमे दोके भाप फूट गए, एक तो चन्द्रमाकी कक्षाके,
 जो उनके माथेपर है और दूसरे आपके जो तसारेके नेत्रोको सिलानेवाली हैं ॥७१॥
 और देखिए, तीन तो उनके आँख, जन्मया उनके कोई ठिठाना नहीं, और उनके सदा गये रहनेसे
 ही आप समझ सकती होगी कि उनके घरसे क्या होगा। इसलिये हे मृगके छीनेकी धाल जैसी
 धालवाली पार्वतीजी ! घरमे जो गुण सोजे जाते हैं उनमेसे एक भी तो महादेवजीमे नहीं है।
 [न कम है, न पुन है और न घन है] ॥७२॥ इसलिये आप अपने मनसे यह भीवी इच्छा हटा
 ही दीजिए। वहाँ तो महादेव और कहीं सुन्दर लक्षणोंवाली आप। देखिए, सूखी देनेके लिये
 कमजानने जो लमा गड़ा रहता है उससे जिस प्रकार सज्जन लोग उसके लमेका काम नहीं लेते
 हैं वैसे ही इन महादेवजीको पति बनाना भी आपकी सोचा नहीं देता ॥७३॥ उस प्राहाणको
 ऐसी जस्टी-सीमी बाँटे सुनकर पार्वतीजीके श्रोठ स्रोषते कांपने लगे, उनकी आँखें सात हो गईं
 और उन्होंने भीहँ सादकर उस भट्टाचारीकी ओर आँखें उदरेकर देखा ॥७४॥ और दोसरी—
 तब आप महादेवजीको भली प्रकार जानते ही नहीं जो मुमसे इस प्रकार यह रहे हैं। जो सोटे
 लोग होने ? वे उन महाभाषोके मनोसे गामोको बुझा बताते ही हैं जिन्हें पहचाननेकी उनमे
 योग्यता नहीं होती ॥ ७५ ॥ लोग जो गन्ध आदि मगन वस्तु नाममे जाते हैं उसका कारण
 यह है कि या तो वे समझा दूर करनेके लिये ऐसा करते हैं या फिर अपनी तटक-भटक दिसतानेके
 लिए पर जो तीनों लोकोनी रखा करनेवाले हैं और जिनके मनमे कोई इच्छा ही नहीं रहती
 वे संकरजी इन मरुधोको खबर करने ही क्या ? ॥ ७६ ॥ पासमे कुछ न होते हुए भी शारी

अकिञ्चनः सन्प्रभवः स सम्पदां त्रिलोकनाथः पितृसन्नगोचरः ।
 स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः ॥७७॥
 विभूषणोद्भासि पिनद्धमोगि वा गञ्जजिनालम्बि दुकूलधारि वा ।
 कपालि वा स्यादयकेन्दुशेखरं न विद्यमूर्तेरवधार्यते वपुः ॥७८॥
 तदङ्गसंसर्गमवाप्य कल्पते ध्रुवं गिताभस्म रजोविशुद्धये ।
 तथाहि नृत्याभिनयक्रियाच्युतं विलिप्यते मौलिभिरम्बरीकसाम् ॥७९॥
 असम्पदस्तस्य शृणुष्व गच्छतः प्रभिन्नदिग्दारुणवाहनो वृषा ।
 करोति पादावुपगम्य मौलिना विनिद्रमन्दाररजोरुणाङ्गुली ॥८०॥
 विवक्षता दोषमपि च्युतात्मना त्वयैकमीशं प्रति साधु भाषितम् ।
 यमामनन्त्यात्मभूयोऽपि कारणं कथं स लक्ष्यप्रभवो भविष्यति ॥८१॥
 अलं विवादेन यथा श्रुतस्त्वया तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः ।
 ममात्र भावैकरत्नं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ॥८२॥
 निवार्यतामालि किमप्ययं बहुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः ।
 न केवलं यो महताऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ॥८३॥

सम्पत्तियां उन्हीते उत्पन्न होती है, समझाने रहते हुए भी वे तीनों लोकीने स्वागी हैं और
 उदायने दिखाई देनेपर भी वे सवना कल्याण करनेवाले बड़े जाते हैं, इसलिये उनका सच्चा रूप
 ससारमें कोई ठीक ठीक समझ नहीं पाता है ॥७७॥ ससारमें जितने रूप दिखाई देते हैं
 वे सब उन्हीने होते हैं इसलिये उनका शरीर गहनेंवि अप्रकृत हो या संपत्ति लिपटा हुआ हो,
 हाथीवी टांग लटपाए हुए हो या बख्ख घोड़े हुए हो, नलेम खोपडियोंकी मरणा पहने हुए हो या
 माथेपर अम्बुजा राजाये हुए हो पर उत्तपर यह विचार नहीं किया जाता कि यह कैसा है कैसा
 नहीं ॥७८॥ उनमें शरीरमें लगकर चिताकी रास भी पवित्र हो जाती है इसलिये तो जब वे
 सादर नृत्य करने लगते हैं उस समय उनके शरीरमें भड़ी हुई भस्मकी देवता लोग बड़ी श्रद्धासे
 अपने भाषे चढ़ाते हैं ॥७९॥ जिन्हें आप दरिद्र बताते हैं वे जब अपने जैनपर चढ़कर चलने
 लगते हैं तब गलबाले ऐरावतपर अठनेवाला इन्द्र भी आकर उनके पैरोपर मस्तक नमामा करता
 है और पूजे हुए बल्लभूषणों परागसे उनमें पैरोंकी उमलियाँ रेंवा करता है ॥८०॥ आपने अपने
 हुए स्वभावसे कहते कहते कबसे कम एक बात तो उनके लिये ठीक वह दो नि जो प्रह्लाद तपस्वी
 उत्पन्न करनेवाला बताया जाता है उस ईश्वरने जन्म और मृत्युको कोई जानही कैसे करता है ॥८१॥
 इसलिये, अब यह भगवान् जाने बीजिए । आपन उन्हें जैसा सुना, वे बँटो हो पड़ी पर मेरा मन
 तो उन्हीमें रग गया है । जब किसीका मन किसीपर लग जाता है तब वह किसीके कहने सुननेपर
 ध्यान पीछे ही देता है ॥८२॥ इतनेमें उन्हीने देखा कि ब्रह्मचारी कुछ और बोलना चाहता है ।
 वह देखकर वे अपनी सत्तीसे बोली-देखो सत्ती ! हा ब्रह्मचारीके पीछे पड़ा रहे हैं । वे फिर
 कुछ कहना चाहते हैं । इनसे वह दो नि अब एक बात भी न बोलें क्योंकि जो बड़ो भी निन्दा

इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी चचाल बाला स्तनभिन्नवल्गुला ।
स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मितः समाललम्बे वृषराजकेतनः ॥८४॥

तं वीक्ष्य वेषधुमती सरसाङ्गयष्टि
निक्षेपस्थाय पदमुद्धृतमुद्धहन्ती ।

मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्यौ ॥८५॥

अथप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौली ।

अह्नाय सा नियमर्जं क्लममुत्ससर्ज
बलेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ॥८६॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतो कुमारसंभवे महाकव्ये
तपःफलोदयो नाम पञ्चमः सर्गः ॥

करता है केवल बही पापी नहीं होता चरन जो मुनता है उसे भी पाप लगता है ॥८३॥
या तो मैं ही यहूति उठकर बसी जाती हूँ । यह कहकर वे उठी । इस हृदयहीने उनके स्तनपर
पडा हुआ बल्कल फट गया और ज्योही उन्होंने धलनेको रंर बढ़ाया त्योही महादेवजीने अपना
राक्षा रूप धारण करके मुस्कुराते हुए उनका हाथ धाम लिया ॥८४॥ महादेवजीको देखते ही
पार्वतीजीके शरीरमे कँपकँपी छूट गई । वे पसीने-पसीने हो गई और आगे चलनेको उठाए हुए,
अपने पैरको उठोने जहाँका तहाँ रोका लिया । जैसे धाराके बीचमे पहाड पड जानेसे न तो नदी
आगे बढ पाती है न पीछे हट पाती है वैसे ही हिमालयकी कन्या भी न तो आगे ही बढ पाई
न खड़ी ही रह पाई ॥८५॥ शिवजी बोले—हे कोमल शरीरवाली ! आओ तुम मुझे तपसे
मोल लिये। तुम अपना दास समझे । इतना मुनता भर था कि तपस्यामे पार्वतीजीको जितना
कष्ट हुआ था वह सब जाता रहा क्योंकि अब काम पूरा हो जाता है तब उसके लिये किया हुआ
कष्ट फिर खटकता नहीं ॥८६॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमे तपः
पञ्च नामक पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

॥ पष्ठः सर्गः ॥

अथ विस्वात्मने गौरी संदिदेश मिथः सखीम् ।
 दाता मे भूसृतां नाथः प्रमाखीक्रियतामिति ॥१॥
 तथा व्याहृतसंदेशा सा वभौ निमृता प्रिये ।
 चूत यदिरिवाग्याशे मधौ परमृतोन्मुखी ॥२॥
 स तथेति प्रतिज्ञाय विसृज्य कथमप्युमाम् ।
 अपीञ्ज्योतिर्मयान्सप्त सस्मार स्मरशासनः ॥३॥
 ते प्रमामण्डलैर्व्योम द्योतयन्तस्तपोधनाः ।
 साहस्रतीकाः सपदि प्रादुरासन्पुरः प्रभोः ॥४॥
 आश्रुतास्तीरमन्दारकुसुमोत्किरषीचिषु ।
 व्योमगङ्गाप्रवाहेषु दिङ्नागमदगन्धिषु ॥५॥
 मुक्तायज्ञोपवीतानि बिभ्रतो हैमवल्कलाः ।
 रत्नाक्षुन्नाः प्रव्रज्यां कल्पवृक्षा इवाश्रिताः ॥६॥
 अधः प्रस्थापितास्त्वेन सभावजितकेतुना ।
 सहस्ररश्मिना साक्षात्सप्रमाणमुदीक्षिताः ॥७॥

छठा सर्ग

तब पार्वतीजीने, पठ पठते रमनेवाले शकरजीको अपनी सखीके मुंहसे धीरेसे कहनाया कि मेरा विवाह करने या न करनेवाले मेरे पिता हिमालय हैं, इसलिये यदि आप मुझसे विवाह करना चाहते हो तो पहले उन्हें जानकर मना लीजिए ॥१॥ प्रेमसे पयी हुई पार्वतीजी अपनी सखीसे मुंहसे महादेवजीको यह संदेश कहलाती हुई बैठी थी सुमोहित हुई जैसे कोपलकी बोलीसे भरतसे पाप अपना संदेश गेलती हुई आभकी दास सोमा देती है ॥२॥ महादेवजीने कहा — अच्छी बात है और उन्होने गौरी मनसे पार्वतीजीको किसी न किसी प्रकार घर जानेकी आज्ञा दी । पार्वतीजी के जाने पानेपर उन्हीने वेप्रसे अथमगानेवाले सप्त ऋषियोंको ऋषे स्वरण किया ॥३॥ स्मरण करते ही अपने सेजोमढलोटे उठाया करते हुए अरुघतीकी साथ लेकर तत्काल शकरजीके प्राये के साती तपस्वी आकर खड़े हो गए ॥४॥ उन्होने उस आकाश गगने स्थान कर रक्छा था जो अपने तीरपर विरे हुए कल्पवृक्षके फूलीको अपनी सहरोपर पड़ावती बसती है और जिसके जलमें दिग्गजोंके मक्की सुगन्ध आया करती है, ॥५॥ उनके कन्धोपर भीतीके यज्ञोपवीत लटक रहे थे, पीठपर सोनेके यत्कन पड़े हुए थे, हाथसे रत्नोकी सातारें थी और जो इस वेन में ऐसे जान पड़ते थे मानो कल्पवृक्षने सम्पाद के सिया हो ॥६॥ उनके समेसे जाया हुआ सूर्य अपने पीछे नीचे रोककर और भड़ी उठारकर बड़ी नम्रतासे उन्हे ऊपर धीरे उठाकर प्रणाम किया करता है ॥७॥

आसक्तबाहुलतया सार्धमुद्धृतया शुभा ।
 महावराहदंष्ट्रायां विश्रान्ताः प्रलयापदि ॥८॥
 सर्गशेषप्रणयनाद्विश्वयोनेरनन्तरम् ।
 पुरातनाः पुराविद्धिर्घातार इति कीर्तिताः ॥९॥
 प्राक्तनानां निशुद्धानां परिपाकशुपेयुषाम् ।
 तपसामुपभुञ्जानाः फलान्यपि तपस्विनः ॥१०॥
 तेषां मध्यगता साध्वी पत्युः पादापितेक्षणा ।
 साक्षादिष तपः सिद्धिर्बभासे बह्वरन्धती ॥११॥
 तामगौरवभेदेनमुनींश्चापश्यदीश्वरः ।
 स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम् ॥१२॥
 तद्दर्शनादभूच्छंभोर्भूपान्दारार्यमादरः ।
 क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम् ॥१३॥
 धर्मेणापि पदं शर्वे कारिते पार्वती प्रति ।
 पूर्वापराधभीतस्य कामस्योच्छ्वसितं मनः ॥१४॥
 अथ ते भुनयः सर्वे मानयित्वा जगद्गुरुम् ।
 इदमुचुरनूचानाः प्रीतिक्रण्टकितस्वचः ॥१५॥

जो प्रलयके समय बराह भगवानके जबदोसे उवारी हुई पृथ्वीके साथ अपना हाथ कपी
 लता लगाए रखनेके कारण पृथ्वीके साथ ही उनके जबदोसे विषय किया करते हैं उनके लिये
 लोग कहते हैं कि ब्रह्माके सृष्टि कर चुकनेपर इन्ही ऋषियोने ही सृष्टि की थी और इसीलिए उन्हें
 इतिहास जाननेवाले पुराने लोग विधाता कहा करते हैं ॥९॥ वे अपने पूर्व जन्मकी तपस्या
 और पुण्य कर्मों का फल भोगते रहनेपर भी श्रवतः तपस्या करते चले जाते हैं ॥१०॥ उनके
 बीचमे, अपने पति वशिष्ठजीके घरलोकी और निहारती हुई सती भरन्यती ऐसी लगती
 थी मानो क्षमातु तपकी विद्धि ही आकर खदी हो गई हो ॥११॥ शक्रजीने भ्रूचतीजीकी
 और ऋषियाकी बिना स्त्री-गुरुपके भेद भाव किए समान आदरसे देखा क्योंकि सज्जन
 लोगोंने व्यवहार करते समय यह नहीं देखा जाता कि यह पुरुष है या स्त्री, वरन् पत्नी-विचार
 किया जाता है कि इनका चरित्र कैसा है ॥१२॥ शिवजीने जब भ्रूचतीजीको देखा तब
 उनके मनमें यह बात और भी पक्की जम गई कि बिना पतिव्रता पत्नीसे विवाह किए पारमिक
 क्रियाएँ पूरी नहीं हो सकती ॥१३॥ शक्रजीके मनमे पार्वतीजीसे विवाह करनेकी इच्छा
 देखकर उस कामदेवने मनमें भी कुछ-कुछ डाढ़स होने लगा जो अभी तब अपने एक
 चारके लिए हुए झपराघते डरा बैठा था ॥१४॥ तब वेद-वेदाङ्गकी जाननेवाले और प्रेमसे पुलकित

यद्व्रह्म सम्यगात्मार्तं यदग्नौ विधिना हुतम् ।
 यच्च तप्तं तपस्तस्य विपक्वं फलमद्य नः ॥१६॥
 यदध्यक्षेण जगतां वप्रमारोषितास्त्वया ।
 मनोरथस्याविषयं मनोविषयमात्मनः ॥१७॥
 यस्य चेतसि वर्तेशाः स तावत्कृतिनां वरः ।
 किं पुनर्ब्रह्मोनेर्यस्तव चेतसि वर्तते ॥१८॥
 सत्यमर्काद्य सोमाद्य परमध्यात्महे पदम् ।
 अद्य तूच्चैस्त्वं ताभ्यां स्मरणानुग्रहाच्च ॥१९॥
 त्वत्संभावितमात्मानं बहुमन्यामहे वयम् ।
 प्रायः प्रत्ययमाधत्ते स्वगुणेषूचमादरः ॥२०॥
 या नः प्रीतिर्विरूपाद्य त्वदनुध्यानसंभवा ।
 सा किमावेद्यते तुभ्यमन्तरात्मासि देहिनाम् ॥२१॥
 साक्षाद्दृष्टोऽसि न पुनर्विघ्नस्त्वां वपमञ्जसा ।
 प्रसीद कथयात्मानं न विषां पथि वर्तसे ॥२२॥
 किं येन सृजसि व्यक्तमुत येन विमर्षि तत् ।
 अथ विश्वस्य संहर्ता भागः कृतम एष ते ॥२३॥

शरीरबाले सततद्विषयोने सबरजनीया पूजन करके उनसे कहा कि भली प्रकार वेद पढ़नेवा, विधिपूर्वक हुपन करनेका धीर रूप करनेवा जो कुछ भी कल हो सक्ता है वह सब प्राय हमें मिल गया ॥१६॥ क्योंकि आपके जिस मगलक निरीवी इच्छाएँ भी नहीं पहुँच सकती उसी मनसे आप साराके स्वामीने हम लोगोंको स्मरण किया ॥१७॥ जो तो आप जिसने मनमें बसते हैं वही सबसे बड़ा पुण्यात्मा है। पर जो आपके चित्तमें आकर बसता हो उसका तो फिर कहना ही क्या ॥१८॥ यद्यपि हम लोग सूर्य और चन्द्रमा दोनोंसे भी ही ऊपर रहते हैं पर आज आपने स्मरण करके हमें उनसे धीर भी ऊँचा पाड़ा दिया है ॥१९॥ आपके यह आदर पाकर हम अपने मनमें धूलें नहीं रामाते क्योंकि अपने गुणोपर लोगोंको तभी सन्धा विश्वास होता है जब सज्जन लोग उनके गुणोका आदर करें ॥२०॥ हे शिष्यो ! आपने हमको जो स्मरण किया है उससे हमारे मनमें आपके लिये जो प्रेम उत्पन्न हुआ है उसे हम अपने मुँहसे आपके आगे क्या कहे, क्योंकि आप तो घट-घटकी जाननेवाले हैं ॥२१॥ हे देव ! यद्यपि हम आपको अपनी प्रीतिके आगे खड़ा देख रहे हैं फिर भी हम आपका भेद ठीक-ठीक जान नहीं पा रहे हैं इसलिये आप कृपा करके अपना स्वरूप तो बताइए क्योंकि हमारी बुद्धि तो आप तक पहुँच नहीं पाती ॥२२॥ यह तो बताइए कि आपकी जो मूर्ति हम देरा रहे हैं, यह क्या कहो है जिससे आप सृष्टि उत्पन्न करते हैं, या वह है जिससे पावन करते

अथवा सुमहत्पेया प्रार्थना देव तिष्ठतु ।
 चिन्तितोपस्थितास्तावच्छाधि नः कृत्वाम किम् ॥२४॥
 अथ मौलिगतस्येन्दोर्विशदैर्दशनांशुभिः ।
 उपचिन्वन्ग्रामां तन्वीं प्रत्याह परमेधरः ॥२५॥
 विदितं वो यथा स्वार्था न मे काञ्चित्प्रवृत्तयः ।
 ननु मूर्तिभिरष्टाभिरित्यंभूतोऽस्मि ह्यचितः ॥२६॥
 सोऽहं तृष्णातुरैर्वृष्टिं विद्युत्त्वानिव चातकैः ।
 अरिविप्रकृतैर्देवैः प्रक्षतिं प्रति याचितः ॥२७॥
 अत आहर्तुमिच्छामि पार्वतीमात्मजन्मने ।
 उत्पत्तये हविर्मोक्षुर्यजमान इवारणिम् ॥२८॥
 तामस्मदर्थे युष्माभिर्याचितव्यो हिमालयः ।
 विक्रियायै न कल्पन्ते संवन्धाः सदनुष्ठिताः ॥२९॥
 उद्यतेन स्थितिमता धुरमुद्रहता भुवः ।
 तेन योजितसंवन्धं त्रिषु मामप्यवञ्चितम् ॥३०॥
 एवं वाच्यः स कन्यार्थमिति वो नोपदिश्यते ।
 भवत्प्रणीतमाचारमामनन्ति हि साधवः ॥३१॥

है वा वह है जिससे ससारका संहार करते हैं ॥२३॥ पर देव ! यह तो बड़ी लम्बी कथा है । इसे मनी पढ़ने दीजिए और पहले यह बताइए कि आपने हमें इस समय किस कामके लिये स्मरण किया है । कहिए, हमें क्या करना होगा ॥२४॥ अपनी मन्द हँसीके कारण चमकते हुए दाँतोकी दमकते सिरपर बँडे हुए बाल चन्द्रमाकी मन्दी चमकको बताते हुए महादेवजी उन छप्ताश्रुपिमोते बोले ॥२५॥ हे मुनियो ! आप लोग तो जानते ही हैं कि हम अपने लिये कुछ नहीं करते और हमारी माँगे मूर्तियाँ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र और होता—(हवन करनेवाले) इस बातके साक्षी भी हैं ॥२६॥ जैसे प्यासे चातक, वादलोंसे जलकी बुँदें माँगते हैं वैसे ही चतुर्मुख सताए हुए देवता लोग भी मुझसे पुत्र उत्पन्न कराना चाहते हैं ॥२७॥ इसलिये पुत्र उत्पन्न करने की इच्छासे मैं पार्वतीजीको उसी प्रकार, खाना चाहता हूँ जैसे अग्नि उत्पन्न करनेके लिये दजमान अरणि (रगड़कर भाग लगानेवाली लकड़ी) खाता है ॥२८॥ तो आप लोग मेरी ओरसे जाकर हिमालयसे पार्वतीजीको माँग लीजिए क्योंकि राज्ञस लोग बीचमें पड़कर जो सम्बन्ध करा देते हैं उसमें फिर किसी प्रकारकी रुकावट नहीं होती ॥२९॥ फिर ऐसी कौंची प्रतिष्ठावाले और पृथ्वीको धारण करनेवाले हिमालयसे सम्बन्ध करनेके मैं जो अपनेको धन्य समझूँगा ॥३०॥ आप लोगोंको यह तो समझाना नहीं है कि कन्याको माँगनेके लिये ऐसे कहिएगा । क्योंकि इस प्रकारके सिष्टाचारकी जो बातें दूसरे पण्डित लोग काममें ला रहे हैं वे सब आप ही लोगोंने तो बनाई हैं ॥३१॥

आर्याप्यरुन्धती तत्र व्यापारं कर्तुमर्हति ।
 प्रायेखैवंविधे कार्ये पुरंध्रोणां प्रगल्भता ॥३२॥
 तत्प्रयातौपधीप्रस्थं सिद्धये हिमवत्पुरम् ।
 महाकोशीप्रपातेऽस्मिन्संगमः पुनरेव नः ॥३३॥
 तस्मिन्संगमिनाभाधे जाते परिखयोन्मुखे ।
 जहः परिग्रहग्रीष्ठां प्राजापत्यास्तपस्विनः ॥३४॥
 ततः परममित्युक्त्वा प्रतस्थे । मुनिमण्डलम् ।
 भगवानपि संप्राप्तः प्रथमोद्दिष्टमास्पदम् ॥३५॥
 ते चाकाशमसिरयाममुत्पत्थ परमर्षयः ।
 आसेवुरोपधिप्रस्थं मनसा समरंहसः ॥३६॥
 अलकामतिवाहैव वसन्ति वसुसंपदाम् ।
 स्वर्गाभिष्यन्दधमनं कृत्वेषोपनिवेशितम् ॥३७॥
 गङ्गास्रोतः परिषिप्तं वप्रान्तर्ज्वलितौपधि ।
 बृहन्मणिशिलासालं गुप्तावपि मनोहरम् ॥३८॥
 जितसिंहगया नागा यत्राथा विलयोनयः ।
 यक्षाः किम्पुरुषाः पौरा योपितो वनदेवताः ॥३९॥

हा, भार्या महत्पत्नी भी इस काममें सहायता कर सकती है क्योंकि इन बातोंमें प्रायः क्षिप्रा अधिक चतुर होती हैं ॥३२॥ इसलिये अब प्रायः लोग हिमालयके औपविष्टल नगरमें जाकर काम बनाइए और वहसि लौटकर महाकोशी नदीके भरनेपर घागर प्रायः लोग मुझमें मिल लीजिएगा ॥३३॥ कायः सप्तः ऋषिर्गन्धि देवः त्रिः सुप्रसिद्धोऽयं श्रेष्ठः ऋषिर्गन्धिः ही जिवान्धे जित् १५५५ न्यावने है तब तब लोगोके मनमें बिबाहकी बातेंलि मिश्रक हुआ करती थी वह सब जाती रही ॥३४॥ अब ऋषि लोग ४५ कहकर चल दिए और भगवान् आकर भी वहाँ पहुँच गए जहाँ उन्होंने अधियोंके मिलनेको कहा था ॥ ५॥ मनमें सगान वेगसे चलनेवाले के वरग ऋषि लोग कृपाएने सभान मोले आकाशमें चढ़ते हुए औपविष्टल नगरमें पहुँच गए ॥३६॥ वह नगर ऐसा मरुपुरा था मानो उसने धन-गम्पतिसे भरी हुई धतकाको भी नीचा दिखा दिया हो और ऐसा जाग पड़ता था मानो स्वर्गाभा बड़ा हुआ धन निवालयन द्रुमों हो सा भय गया हो ॥३७॥ उस नगरके धारी और गयागोपी पाण्डे वही भी, चमकनेवाली जड़ी-झुटियाँ वहाँ प्रकाश करती थी और मणिवाले ऊँचे-ऊँचे परकोटोंमें दिपे रहने पर भी वह नगर बड़ा सुन्दर लग रहा था ॥३८॥ वहन्ति हाथी ऐसे लगते थे कि सिंहको भी पावें तो पछाड़ दें, और घोड़े तो सभी बिल जातिने थे । यहाँ नानाविध भी या तो यय थे या बिलर, और क्षिप्रा तो सब वनदेवियाँ ही थी ॥३९॥ इस नगरके धरोपर दिन-रात

शिखरासक्तमेघानां व्यज्यन्ते यत्र वेश्मनाम् ।
 अनुगर्जितसंदिग्धाः करणैर्भुरजस्वनाः ॥४०॥
 यत्र फल्गुद्रुमैरेव विलोलविटपांशुकैः ।
 गृहपन्त्रपताकाश्रीरपौरादरनिर्मिता ॥४१॥
 यत्र स्फटिकहर्म्येषु नक्तमापानभूमिषु ।
 ज्योतिषां प्रतिबिम्बानि प्राप्नुवन्त्युपहारताम् ॥४२॥
 यत्रौषधीप्रकाशेन नक्तं दर्शितसंचराः ।
 श्रनभिज्ञास्तमिस्राणां दुर्दिनेष्वभिसारिकाः ॥४३॥
 यौवनान्तं वयो यस्मिन्नान्तकः कुसुमाघुषात् ।
 रतिखेदसमुत्पन्ना निद्रा संज्ञाविपर्ययः ॥४४॥
 भ्रूमेदिभिः सकम्पोष्टैर्ललिताङ्गुलितवर्जनैः ।
 यत्र कोपैः कृताः स्त्रीषामाप्रसादार्थिनः प्रियाः ॥४५॥
 संतानकवल्कुलायासुस्तर्बितायस्राध्वगम् ।
 यस्य चोपवनं वाद्यं गन्धर्वद्रव्यरसादहनम् ॥४६॥
 अथ ते श्रुनयो दिव्याः प्रेक्ष्य हैमवतं पुरम् ।
 स्वर्गाभिसंधिसुकृतं वञ्चनामिव मेनिरे ॥४७॥

बावत छाए रहते थे और जब कभी उन घरोंमें मृदव बजने लगता था तब लोगोको पहले यही भ्रम
 होमे लगता था कि यह वादसौकी गरजकी गूँज है पर फिर उनकी तासते समझ जाते थे कि ये वादज
 नहीं गरजते बरन् मृदव बज रहे हैं ॥४०॥ कल्पवृक्षकी चञ्चल शाखाएँ ही उस नगरीकी ऋद्धियाँ
 थीं और यद्यपि उन्हें किसी नागरिक ने बनाया नहीं था फिर भी वे ऐसी लग रही थी मानी घरोंपर
 डहे लहे बरके उनमें ऋद्धियाँ बाँध दी गईं हो ॥४१॥ स्फटिकके भवनमें सजे हुए मदिरासमपर
 रातकी जब तारोकी परछाई पड़ती थी तब ऐसा जान पड़ता था मानो किसीने फूल बितेर दिए हो
 ॥४२॥ वरसातके दिनोंमें रातको चमकने वाली जड़ी-बूटियाँ ऐसा प्रकाश देती थी कि वहाँकी अभि-
 सारिकाओंको वरसातकी घनी ओंधियारोमें भी ओंधेरका पता नहीं चलता था ॥४३॥ वहाँके लोग
 सदा जवान थे, कामदेवकी छोरकर और कोई किसीको भारता नहीं था और रामोषकी यकावटसे जो
 नीद आती थी वही वहाँकी मूर्खा थी ॥४४॥ यो सो वहाँ कोई किसीको डाँटता-बपटता नहीं था पर
 हाँ, वहाँकी स्त्रियाँ भी बड़ा-बड़ाकर, मोठ कंथा-कंथाकर और सुन्दर जँगलियाँ चमका-चमकाकर
 अपने प्रेमियोको तवत्तक खवदस डौंटती थी जब तक वे प्रेमी भागेके लिये कान न पकड़ें ॥४५॥
 गन्धमादन नामका सुगन्धित पर्वत ही उस नगरके बाहरका उपवन था जिसने कल्प-वृक्षोकी छाया-
 में विद्याधर लोग चलते चलते थकनेपर नीद लेते थे ॥४६॥ हिमालयकी उस राजधानीको देखकर
 उन दिव्य मुनिगोने सोचा कि स्वर्गके लिए इतनी तपस्या बरके हम भोग ठीक ही गए ॥४७॥ चित्रमे

ते सन्ननि गिरेर्वेगादुन्मुखद्वाःस्थवीचिताः ।
 अबतेरुर्जटाभारैर्लिखितानलनिश्चलैः ॥४८॥
 गगनादवतीर्ण्य सा यथावृद्धपुरस्सरा ।
 तोयान्तर्भास्करालीव रेजे मुनिपरम्परा ॥४९॥
 तानर्घ्यानर्घ्यमादाय दूरात्प्रत्युद्ययौ गिरिः ।
 नमयन्सारगुरुभिः पादन्यासैर्वगुंभराम् ॥५०॥
 धातुताम्राधरः प्रांशुर्देवदारुपृष्ठ-द्रुजः ।
 प्रकृत्यैव शिलोरस्कः सुव्यक्तो हिमवानिति ॥५१॥
 विभिप्रयुक्तसत्कारैः स्वयं मार्गस्य दर्शकः ।
 स तैराक्रमयामास शुद्धान्तं शुद्धकर्मभिः ॥५२॥
 तत्र वेत्रासनासीनान्कृतासनपरिग्रहः ।
 इत्युवाचैश्वरान्याचं प्राज्ञलिर्भूधरेस्वरः ॥५३॥
 अपगेघोदयं वर्षमदृष्टकुसुमं फलम् ।
 अतर्कितोपपन्नं वो दर्शनं प्रतिभाति मे ॥५४॥
 सूदृढं पुद्गमिवात्मानं हैमीभूतमिवायसम् ।
 भूमेर्दिवमिवारूढं मन्ये भेददनुग्रहात् ॥५५॥

यानीं हुई प्राणकी मिश्रल लपटोंके समान धपनी जगाएँ सिध-विष् जब वे बड़े बेगसे हिमालयके भवन
 पर उतरे तब हिमालयके द्वार-रक्षक ऊपर मूँह उठा-उठाकर उन्हे अश्वरजके साथ देखने लगे ॥४८॥
 आकाशसे एण-एण बरके उतरते हुए ये मुनि ऐसे सोभा देते थे जैसे चलते हुए जलमे पड़ी हुई सूर्यकी
 बहुत सी परछाईयाँ हो ॥४९॥ उन्हे देखकर हाथमे ध्वज पाल लेकर दूरतो ही उनकी पूजा
 करनेके लिये जब हिमालय अपने टोप बोझीले पैर बढ़ाता हुआ चला तो उसके पैरोंकी धमकसे
 पृथ्वी भी पच-पचकर झुकती पली ॥५०॥ मुनियोंने देखते ही पहचान लिया कि यह वेद
 प्राप्ति प्राप्तियोंकी लाल चट्टानोंके से ओझोवाला, देवदारुके बड़े-बड़े वृक्षोंकी भुजाओंवाला और
 स्वभावसे ही पत्थरकी शिलाओंवाली चौड़ी और पक्की छातीवाला हिमालय ही है ॥५१॥ हिमा-
 लयने बड़ी विभिने साथ उन ऋषियोंकी पूजा की और उन सत्कर्म करनेवाले ऋषियोंको मार्ग
 दिखावा हुआ उन्हे अपने साथ रनिवास में लेगया ॥५२॥ हिमालयने इन ऋषियोंकी ब्रँतके
 आसनोपर बँठा दिया और फिर हाथ जोड़कर उनसे कहा ॥५३॥ आपना इस प्रकार प्रचानक
 माना मुझे ऐसा लग रहा है जैसे बिना वादलोंके वर्षा हो गई हो या बिना फूलने आए ही
 फल निष्पन्न आया हो ॥५४॥ मैं अपनेको मात्र ऐसा समझ रहा हूँ यानीं मुझ भूचक्रोंकी
 ज्ञान मिल गया हो, सोहेते खोना बन गया हूँ और पृथ्वीपर रहते हुए भी स्वर्गमे नढ़ गया

अथ प्रभृति भूतानामधिगम्योऽस्मि शुद्धये ।
 पदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते ॥५६॥
 अयमि भूतमात्मनं द्रयेनैव द्विजोचमाः ।
 मूर्ध्नि गङ्गाप्रपातेन धौतपादाम्भसा च वः ॥५७॥
 जङ्गमं ग्रैष्यभावे वः स्थावरं चरणाद्धितम् ।
 विभक्तानुग्रहं मन्ये द्विरूपमपि मे वपुः ॥५८॥
 भवत्संभावनोत्थाय परितोपाय मूर्च्छते ।
 अपि व्याप्तदिगन्तानि नाङ्गानि प्रभवन्ति मे ॥५९॥
 न केवलं दरीसंस्थं भास्वतां दर्शनेन वः ।
 अन्तर्गतमपास्तं मे रजसोऽपि परं तमः ॥६०॥
 कर्तव्यं वो न पश्यामि स्याच्चेत्किं नोपपद्यते ।
 मन्ये मत्पावनार्यैव प्रस्थानं भवतामिह ॥६१॥
 तथापि तावत्कस्मिन्निदाज्ञां मे दातुमर्हथ ।
 विनियोगप्रसादा हि किङ्कराः प्रभविष्णुषु ॥६२॥ -
 एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम् ।
 श्रुत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्वस्तुषु ॥६३॥

है ॥५५॥ मैं आनसे अपनेको ऐसा बड़ा भारी तीर्थ समझने लगा है जहाँ प्राते ही लोग
 घुब हो जायें, क्योंकि सज्जन लोग जहाँ आकर बस जायें वही तीर्थ हो जाता है ॥५६॥
 हे ब्रह्मन्दिपियो ! मैं अपने को दो प्रकार से पवित्र मानता हूँ, एक तो तिरस्पर गंगाजीकी धारा
 गिरनेसे, दूसरे आप लोगोंके चरणकी धोवन वा लेनेसे ॥५७॥ हे मुनियो ! मुझे ऐसा
 जान पड़ता है कि आप लोगोंके मेरे चल और बचल दोनों शरीरों पर प्रलय-प्रलय कृपा की
 है क्योंकि मेरे चल शरीरकी तो आपने अपना दास बना लिया है और मेरे चल शरीरपर आपने
 अपने पवित्र चरण परे हैं ॥५८॥ आप लोगोंके यहाँ आकर जो कृपा की है उससे मुझे इतनी
 प्रसन्नता हो रही है कि दूर दूर तक फँसे हुए अपने इन बड़े आङ्गोंमें भी मैं भूला नहीं गया
 रहा हूँ ॥५९॥ आप-जैसे तेजस्वियोंके दर्शनसे केवल मेरी शुष्कप्रोक्षा ही धँसेरा नहीं
 मिटा बरगु मेरे हृदयके अज्ञानका अंधेरा भी जाता रहा ॥६०॥ मेरी समझमें आप किसी
 कामसे तो परां आए नहीं होशे । क्योंकि आपमें तो स्वयं इतनी शक्ति है कि किसी भी
 कामको पावकी बातमें पूरा करलें । इसलिये मैं तो यही समझता हूँ कि भगवत् मुझको
 पवित्र करनेके लिये ही आप लोगोंके यहाँ आनेवा कष्ट किया है ॥६१॥ पर जब आप
 प्रा ही गये हैं तो मेरे लिए कोई सेवा बचाइए । स्वामीको सभी प्रसन्न समझता चाहिए जब
 वे सेवकरो कुछ काम करनेको कह ॥६२॥ यहाँ आपकी आज्ञानु पावन करनेके लिये

इत्युचिर्वोस्तमेवार्थगुह्यमुत्तविसर्पिणा ।
 द्विरिव प्रतिशब्देन व्याजहार हिमालयः ॥६४॥
 अथाङ्गिरसमग्रण्यमुदाहरणवस्तुषु ।
 ऋषयो नोदयामासुः प्रत्युवाच स भूषणम् ॥६५॥
 उपपन्नमिदं सर्वमतः परमपि त्वयि ।
 मनसः शिखराणां च सटशी ते समुत्पत्तिः ॥६६॥
 स्याने त्वां स्थावरात्मानं विष्णुमाहुस्तथा हि ते ।
 घराचराणां भूतानां कुक्षिराधारतां मतः ॥६७॥
 गामधास्यत्कथं नामो मृशालमृदुभिः फलैः ।
 आरसातलमूलाचमवालम्बित्यथा न चेत् ॥६८॥
 अञ्जिन्नामलसंतानाः समुद्रोर्म्यनिगारिताः ।
 पुनन्ति लोकान्पुण्यत्वात्कीर्तयः सरितश्च ते ॥६९॥
 यथैव श्लाघ्यते गङ्गा पादेन परमेष्ठिनः ।
 प्रभवेण द्वितीयेन तथैवोच्छ्रिता त्वया ॥७०॥

मैं आपको प्राप्ति लक्षा हो है, वे मेरी जियाँ हैं और यह मेरे घर भरकी प्यारी कन्या है ।
 इनमेसे जिससे भी आपका नाम पने उसे प्राप्ति दीजिए, क्योंकि धन-सम्पत्ति आदि जिसकी
 माहुरी वस्तुएँ हैं वे तो आपकी सेवाने लिये तुच्छ हैं इसलिये उनका नाम लेते हुए भी
 मुझे हिषक हो रही है ॥६३॥ हिमालयके यह बुकनेपर गुणाग्रमे से जो गूँघ निकली यह ऐसी
 जान पड़ती थी नामो हिमालयमे अपनी बात फिरसे दुहराती हो ॥६४॥ उस ऋषियोने
 महादेवजीका संदेश हिमालयसे कहनेके लिये अपनेमेसे उन अगिरा ऋषिको चकराया जो
 बालभीत करनेके बड़े बहुर मे । तब अगिरा ऋषिने हिमालयसे कहा ॥६५॥ हे हिमालय !
 जो कुछ आपने कहा है यह और उससे भी अधिक जो कुछ कहा जाय, सब आपको प्रोभा
 देता है । क्योंकि आपका मन बेठा हो ऊँचा है जैसी आपकी कोटियाँ ॥६६॥ आपको जो सब
 भयल पदार्थों का विष्णु कहा जाता है, वह ठीक ही है, क्योंकि घर और अघर सब आपको
 गोदते ही सहारा पति है, जितने स्त्व है वे सब आपकी गोदमे होते हैं और आपकी ही
 गोदसे निकली हुई नदियोसे प्रायवर्त भी रह है ॥६७॥ यदि आप पातालके नीचेतक
 पृथ्वीको अपने योभते न दबाए रहे तो बताइए अपना अपने लयलकी मालके समान कोमल
 फलोंपर पृथ्वीको कैसे संभालते ॥६८॥ जैसे आपने यहूति निकलती हुई, निरन्तर बहती हुई
 और समुद्रकी लहरसे भी टकरा लेनेवाली निर्मल भेदियाँ अपनी पवित्रतासे सारे उगारको पवित्र
 करती हैं वैसे ही आपकी नीति भी सब लोकोंको पवित्र करती है ॥६९॥ जैसे गंगाकी विष्णुके,
 घरणोसे निवतलपर अपनेको बहुत बड़ा मानती है उसी प्रकार आपके जिससे निवतलकर

तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च व्यापको महिमा हरेः ।
 त्रिविक्रमोद्यतस्यासीत्स तु स्वाभाविकस्तव ॥७१॥
 यज्ञभागभुजां मध्ये पदमातस्थुषा त्वया ।
 उच्चैर्हिरण्यमं शृङ्गं मुमेरोर्वितथीकृतम् ॥७२॥
 काठिन्यं स्थावरे काये भवता सर्वमर्पितम् ।
 इदं तु ते भक्तिप्रसन्नं सतामाराधनं वपुः ॥७३॥
 तदागमनकार्यं नः शृणु कार्यं तवैव तत् ।
 श्रेयसामुपदेशाच्च वयमप्रांशभागिनः ॥७४॥
 अणिमादि गुणोपेतंमसृष्टपुरुषान्तरम् ।
 शब्दमीश्वर इत्युच्चैः सार्द्धचन्द्रं विभक्तिं यः ॥७५॥
 कलितान्योन्यसामर्थ्यैः पृथिव्यादिभिरात्मभिः ।
 येनेदं प्रियते विश्वं धुर्यैर्गनिमिवाध्वनि ॥७६॥
 योगिनो यं विचिन्वन्ति चेशाम्यन्तरवर्तिनम् ।
 अनाद्युत्तिमं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः ॥७७॥
 स ते दुहितरं साक्षात्साक्षी विश्वस्य कर्मणाम् ।
 शृणुते वरदः शंभुरस्मत्संक्रामितैः पदैः ॥७८॥

पहलेमें भी ये अपनी बड़ाई ही समझती है ॥७०॥ भगवान् विष्णुकी महिमा सुनारमें तब
 कैसी जब उन्होंने ऊपर, नीचे और तिरछे वर रखकर वायन अवतार पारण करने तीन लोकोको
 माप डाला, पर आपकी महिमा तो पहलेसे ही तीनो लोकोंमें फैली हुई है ॥७१॥ यज्ञका भाग
 पानेवाले देवताओंमें स्थान वापर आपने सुमेरु पर्वतकी सुनहरी और ऊँची पोटियोंको भी मोटा
 दिया दिया ॥७२॥ आपने अपनी सारी बटीरता अपने अचल शरीरमें भर ली है । आपका यह
 चल शरीर भक्तिमें ऐसा मुका हुआ है कि सबदल लोग आ-आपके इश्वरी पूजा किया करते हैं
 ॥७३॥ इसलिये हम आपकी धानेका कारण बताते हैं और यह काम ऐसा है जिसमें आपकी
 ही अताई है और यह अनो जाय आपकी समझाने बहान हम लोकोको भी बोझी ही बताई जिस
 जादगी ॥७४॥ आप जो जानते ही होंगे कि यद्यपि आदि आठो विद्विषोंमें जो हमारे हैं, जिन्हें
 सोदकर दूसरा कोई ईश्वर कहना नहीं सकता, जिनके माथेपर आपा पन्द्रमा बना हुआ है, जो
 अपने पृथ्वी-जल आदि उन आठो शरीरोंमें पृथ्वीकी जिसाए रहते हैं जो एक दूसरेकी धक्ति
 बनायेवाले और सकारको इस प्रकार दोहरे बनानेवाले हैं जैसे छोटे भागमें रखने लोचमें बांधे
 रहने हैं, जिन्हें मोदी लोग अपनी शरीरमें भीतर बँटा हुआ पाते हैं और जिनके लिये विद्वानोंका
 कहना है कि ये अन्य-अरुणों बन्धनोंसे बाहर हो हैं, जहाँ सवार करने कामोंको देखेवाले
 और पर देखनेवाले पर-जोने हम लोकोके मुख्य पोटों में रखकर स्वयं अपने लिये आपकी

तमर्थमिव भारत्या सुतया योक्तुमर्हसि ।
 अशोभ्या हि पितुः कन्या सद्गुणवतिपादिता ॥७६॥
 यावन्त्येतानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
 मातरं कल्पयन्त्वेनामीशो हि जगतः पिता ॥८०॥
 प्रहस्य शितिकण्ठाय विबुधास्तदनन्तरम् ।
 'चरणौ रक्षयन्त्वस्याश्चूडामशिमरीचिभिः ॥८१॥
 उमा बधूर्भवान्दाता याचितार इमे वयम् ।
 वरः शंभुरलं ह्येष त्वत्कुलोद्भूतये विधिः ॥८२॥
 अस्तोतुः स्तूयमानस्य बन्धस्यानन्यवन्दिनः ।
 सुतासंन्यविधिना भव विश्वगुरोर्गुरुः ॥८३॥
 एष वादिनि देवर्षौ पार्ष्वे पितुरधोमुखी ।
 लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥८४॥
 शैलः संपूर्णकामोऽपि मेनामुखमुदैवत ।
 प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः ॥८५॥
 मेने मेनापि तत्सर्वं पत्युः कार्यममीप्सितम् ।
 भवन्त्यव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रताः ॥८६॥

पुत्री पार्वती मांभी है ॥७५-७६॥ इतलिये आप खिलजीते अपनी पुत्रीका बैसे ही बहुत सम्मान कर दीजिए जैसे कालीका भयसे हो गया है, क्योंकि अपने पतिसे कन्याका विवाह हो जाय तो पिताकी चिन्ता मिट जाती है ॥७६॥ आप यह समझ लीजिए कि महादेवजी ससारके पिता हैं इसलिये पार्वतीजी भी ससारके चर और अचर सब प्राणियोंकी माता बन जायेंगी और फिर इतनी पूजनीय हो जायेंगी कि देवता जोय महादेवजीको प्रणाम करके अपने घरपर घरे हुए शिशुओंकी किरणोंसे पार्वतीजीके ही चरण रेंवा करेंगे ॥८०-८१॥ और समझ लीजिए कि उमा हो बहू, आप हो कन्या दान करेवाले, हम हो विवाहके लिये कहनेवाले और महादेवजी हो वर । बताओ, सुम्हारे मुँहके लिये इससे बढकर और कीन-सी प्रतिष्ठाकी बात होगी ॥८२॥ और फिर, उनसे अपनी पुत्रीका विवाह करके आप उन महादेवजीके भी बने वन जाइए जो स्वयं किसी की स्तुति नहीं करते पर ससार जिनकी स्तुति करता है और जो स्वयं किसीकी कम्दना नहीं करते पर ससार जिनकी कम्दना करता है ॥८३॥ देखिए लोग जिस समय यह कह रहे थे उस समय पार्वतीजी अपने पिताके पास नीचा मुँह किए खिलीवेके कमलके पत्ते बैठी गिन रही थी ॥८४॥ यद्यपि हिमात्म्य स्वयं तो इससे बहुत अधिक है फिर भी उन्होंने इसका उत्तर पाने के लिये मेनाकी ओर देखा क्योंकि जब कभी कन्याके सम्बन्धकी कोई बात होती है तो गृहस्थ लोग अपनी जियेंसे ही सम्मति लिया करते हैं ॥८५॥ मेनाने भी अपने

इदमत्रोत्तरं न्याय्यमिति बुद्ध्या विमृश्य सः ।
 आददे वचसामन्ते मङ्गलालङ्कृतं सुताम् ॥८७॥
 एहि विस्वात्मने वत्से भिक्षासि परिकल्पता ।
 अर्थिनो मुनयः प्राप्तं गृहमेधिफलं मया ॥८८॥
 एतावदुक्त्वा तनयामृषीनाह महीधरः ।
 ह्यं नमति वः सर्वास्त्रिलोचनवधूरिति ॥८९॥
 ईप्सितार्थक्रियोदारं तेऽभिनन्द्य गिरैर्वचः ।
 आशीर्षिरेधयामासुः पुरःपाकामिरम्बिकाम् ॥९०॥
 तां प्रणामादरस्तज्जाम्बूनदवतंसकाम् ।
 अङ्गमारोपयामास लज्जमानामरुन्धती ॥९१॥
 तन्मातरं चाश्रुमुखीं दुहितृस्नेहनिक्लवाम् ।
 वरस्पादनन्यपूर्वस्य निशोक्तामकरोद्गुणैः ॥९२॥
 वैवाहिकीं तिथिं पृष्टास्तत्त्वयं हरयन्धुना ।
 ते अग्रहार्धमाख्याय चैरुक्षीरपरिग्रहाः ॥९३॥
 ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्राप्य च शूलिनम् ।
 सिद्धं चास्मै निवेदार्थं तद्विसृष्टाः समुद्रपुः ॥९४॥

वरिषी ही में हीं मितावर सब धातें पामती क्योंकि जो सती खिया हुषा भरती ॥
 ये विद्या भी दातमे वरिषे बाहर नही होती ॥८९॥ ऋषियोसे यह बुजनेपर हिनासपने
 गुन्दर नागतिव वस्त्रोमे सत्री हुई अपनी बन्धारी कुलाया धोर कहा-यही प्राप्ती वत्से !
 देगी, घट-गटमे रमनेवाले विवशीन मुझमे कुहूँ माया है और यह विद्या लेनेके लिये ये छतऋषि
 सांग प्राप् हुए हैं सबमुच पाव मुझे गृहस्थ होनेका सज्जा कम मिला है कि ऐसे मांगनेवाले
 मेरे द्वारपर पपारे ॥८७-८८॥ अपनी पुत्रोसे इतना कहकर ये ऋषियोसे बोले—
 यह महादेवजीकी वती आपकी प्रशाम भरती है ॥८९॥ अपना बाग पूरा हुषा देखकर
 सतऋषियोसे हिनामयकी प्रशाम की । उन्होने धम्बिवाबो ऐसे प्राप्तीकाद दिए जो तरनाम पल
 दोवाले ही ॥९०॥ ऋषियोकी प्रशाम करनेके लिए पार्वतीजी ज्योंही सज्जाली हुई मुर्खी कि उनके
 बालोसे सोनेका कुण्डल टिकाव गया धोर धरन्यजीवोने उन्हें घट उठाकर अपनी मोरमे बँठा
 लिया ॥९१॥ मेला धरती पुत्रोके स्नेहमे इतनी धधीर हो गई कि उनकी धातें खदखदा धारे पर
 धरन्यजीवोने उन्हें धनोने बरके पुण्य मुता मुकावर बदा मोरन बंधाया ॥९२॥ विवाहकी तिथि
 पूरे जानेपर सतऋषियो बजाया कि तीन दिन पीछे विवाह करना दोन रोगा यह कहकर ये सत
 ऋषि वरिषि बिदा हो गए । ॥९३॥ हिमालयमे बिदा होकर उन्होने महादेवजीके पाकर बताया कि

पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्राद्-

गमयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।

कमपरमवशं न विप्रदुर्यु

विश्रुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥६५॥

इति गहाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये

उमाप्रदानो नाम पष्ठ. सर्ग ॥



सब ठीक हो गया है और फिर उनसे आशा लेकर वे आवायमे लब गए ॥६५॥ पार्वतीजीसे मिसनेके लिये महादेवजी हलने लताबसे हो गए कि सोन दिग भी उन्होंने यकी यकी कठिनाईसे काटे । अताइए जब महादेवजी जैसोकी श्रममें यह खरा हो जाती हो तब भला दूसरे लोग अपने मनको कैसे संभाल सकते हैं ॥६५॥

गहाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसम्भव नामके महाकाव्यमे पार्वतीजीकी रँगनी नायक्य छठा सर्ग समाप्त हुआ ।



॥ समयः सर्गः ॥

अथौषधीनामधिपस्य वृद्धौ तिथौ च क्षामित्रगुणान्वितायाम् ।
 समेतबन्धुहिंसवान्सुताया विवाहदीक्षाविधिमन्वतिष्ठत् ॥ १ ॥
 वैवाहिकैः कौतुकसंविधानैर्गृहे गृहे व्यग्रपुरन्ध्रवर्गम् ।
 आसीत्पुरं सानुमतोऽनुरागादन्तःपुरं चैककुलोपमेयम् ॥ २ ॥
 संतानकाकीर्णमहापथं तक्षीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम् ।
 भासोज्ज्वलत्काञ्चनतोरणानां स्थानान्तरं स्वर्गं इवाब्रमासे ॥ ३ ॥
 एकैव सत्यामपि पुत्रपह्णौ चिरस्य दृष्टेव मृतोत्थितेव ।
 आसन्नपाणिग्रहणेति पित्रोरुमा विशेषोन्मत्तचित्तं बभूव ॥ ४ ॥
 अङ्गाघपावङ्गमुदीरिताशीः सा मण्डनान्मण्डनमन्वभुङ्क्त ।
 संबन्धिभिन्नोऽपि गिरेः कुलस्य स्नेहस्तदेकायतनं जगाय ॥ ५ ॥
 मैत्रे मुहूर्ते शशलाञ्छनेन योगं गतासूचरफलगुनीषु ।
 तस्याः शरीरे प्रतिकर्म चक्रुर्बन्धुस्त्रियो याः पतिपुत्रवत्यः ॥ ६ ॥
 सा गौरसिद्धार्थनिवेशवद्भिर्दूर्वाप्रघालैः प्रतिभिन्नशोभम् ।
 निर्नाभिं कौशेयमुपात्तवागमभ्यङ्गनेपथ्यमलञ्चकार ॥ ७ ॥

सातवां सर्गं

तीन दिन पीछे हिमालयने सज्जते सातवें घरमे पड़ी हुई दुःख पक्षकी शुभ तिथियो अपने भाई-
 बन्धुप्री को बुलाकर शकरजीने साथ अपनी पुत्रीका विवाह कर दिया ॥१॥ वहाँके सब लोग
 हिलासपसे ऐसा प्रेम करते थे कि उस नगरके घर-घरमे सब स्त्रियो बड़ी भूमिपासके साथ विवाहका
 जसब मना रही थी । घर घोर बाहरके लोग ऐसे हिलमिलकर काम कर रहे थे मानो सब एक
 ही कुलके हो ॥२॥ बड़ी-बड़ी सड़कीवर कल्प वृक्षके फूल बिछे हुए थे, दोनों घोर रेशमी झरियाँ
 पातीने टँगी हुई थीं और डार-डार पर सोनेके बन्दनवार बंधे हुए थे । इन सबकी जमपसे जलम-
 याता हुआ वह नगर ऐसा जान पड़ता था मानो स्वर्ग ही उतर कर वहाँ जता गया हो ॥३॥
 यद्यपि हिमालयके बहुतसे पुत्र थे फिर भी उस समय हिमालय घोर भेवा दोनों को पार्वतीजी ऐसी
 प्राणसे बदनर प्यारी लग रही थी मानो बहुत दिनोंपर मिली हो या यभी जी बर उठी हो क्योंकि
 विवाह हो जाने पर वे अभी बहसि चली जाने बाघी थी ॥४॥ सब बुद्धिबियोने पार्वतीजीकी घारी-
 वारीसे अपनी-अपनी गोदी मे बैठकर आशीर्वाद दिया और एक-से-एक मदकर गहने दिए । ऐसा
 जान पड़ता था मानो हिमालयने सब बुद्धिबियोका स्नेह पार्वतीजीमे ही धार कर भर गया हो ॥५॥
 सूर्य निकलनेके तीन मुहूर्त पीछे उत्तरा फल्गुनी नक्षत्रमे बुद्धिबकी सुहागिन घोर पुत्रवती स्त्रियो
 पार्वतीजी का सिंगार करने लगी ॥६॥ पहले दूबके मकुटों और सरसोंके बानोंसे उनका सिंगार
 किया गया फिर उन्हें नागिलक ऊँची रेशमी साड़ी पहना कर उसमे एण बाण सीत दिया गया ।

वभौ च संपर्कशुपेत्य बाला नवेव दीक्षाविधिसायकेन ।
 करेण भानोर्यहुलावसाने संधुक्ष्यमाणेव शशाङ्करेखा ॥८॥
 तां लोभ्रकन्केन हृताङ्गतैलामारयानकालेयकृताङ्गरागाम् ।
 वासो वसानामभिपेक्षयोर्म्य नार्यश्चतुष्काभिमुखं व्यनैषुः ॥९॥
 विन्यस्तवैर्दृश्यशिलातलेऽस्मिन्नावद्धमुक्ताफलमक्तिचित्रे ।
 व्यावर्जिताष्टापदकुम्भतोयैः सतूर्यमेनां स्तपयांभूषुः ॥१०॥
 सा मङ्गलस्तानविशुद्धभात्री गृहीतपत्युद्गमनीयवस्त्रा ।
 निर्यत्तपर्जन्यजलाभिषेका प्रफुल्लकाशा वसुधेव रेजे ॥११॥
 तस्मात्प्रदेशाच्च वितानवन्तं युक्तं मणिस्तम्भचतुष्टयेन ।
 पतिप्रताभिः परिगृह्य निन्ये क्लृप्तासनं कौतुकवेदिमध्यम् ॥१२॥
 तां प्राहमुखीं तत्र निवेश्य तन्वीं चर्णं व्यलम्बन्त पुरोनिपण्णाः ।
 भूतार्थशोभाह्वियमाणनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः ॥१३॥
 धूपोष्मणा त्पांजितमार्द्रभावं फेसान्तमन्तःकुसुमं तदीयम् ।
 पर्याक्षिपत्काचिदुदारचर्धं दूर्वायता पाण्डुमधूकदम्ना ॥१४॥
 विन्यस्तशुक्लागुरु चक्रुरङ्गं गोरोचनापत्रविभक्तमस्याः ।
 सा चक्रवाकाङ्कितसैकतापास्त्रिस्रोतसः कान्तिमतीत्य तस्थौ ॥१५॥

इस प्रकार सेव सवाकर सिंगार करनेकी सजावट पूरी हो गई ॥८॥ इस नवे विवाह का बाख़ बामरने लौचकर पार्वतीजी ऐसे चमकने लगी जैसा युक्त पक्षमे सूर्यकी किरण पाकर चन्द्रमा चमकने लगता है ॥९॥ यह सुहागिन क्षिप्ते उनके शरीरपर बने हुए तेलकी लीयकी चुकनीसे सुलाया और कुछ-कुछ घोषा गूनामिश्र लेप लेकर उनका शरीर रंगा । सब स्नान करनेका कपडा पहनाकर वे गङ्गे कीतीर स्नानपरमें लिका से गई ॥१०॥ उस स्नानपरमें नीलमणिपी एक सुन्दर चौकी बिछी हुई थी और चारों ओर रत्न विरगी मोतियोंकी माला सजी हुई थी उस चौकीपर उन क्षियोंने जनाकी बैठाया और गाते-बजाते हुए सोनेके भडोके जलसे पार्वतीजीको नहला दिया ॥११॥ भग्न स्नान करनेसे पार्वतीजीका शरीर अत्यन्त निर्मल हो गया और उन्होंने विवाहके वस्त्र पहन लिए । उस समय वे ऐसे लगने लगी भागो गरबते हुए बादलोंके जलसे धुली हुई और काँचके फूलोंसे भरी हुई परती घोषा दे रही हो ॥१२॥ वो नहला-धुनाकर वे सुहागिनी पतिप्रताएँ पार्वतीजीको सहारा देकर उस एवान्त भवनमें से गई जहाँ मणिलोके बगोपर चँदवा लगा हुआ था, बीचमें चबल-नेदी बनी हुई थी और उसपर सजा हुआ आसन बिछा हुआ था ॥१३॥ वहाँ उन्होंने पार्वतीजीको पूरवकी ओर मुँह करके बैठा दिया । सिंगारकी सब वस्तुएँ पासमें होनेपर भी वे सब पार्वतीजीकी स्वामाधिक शोभापर ही इतनी लट्ठ हो गई कि कुछ देरतक वो वे मुखवृण मूलकर उनकी ओर एकटक निहारती हुई बैठी रही ॥१४॥ फिर, क्षितीने तो चयर-चन्दनके घुँघरे उनके बाल सुलाकर कानोंमें फूल गूँथे और फिर हूबने पिरोई हुई पीसे महुएके फूलोंकी माला उनके जूबेमें लपेटो ॥१५॥ क्षितीने

॥ सप्तमः सर्गः ॥

अथौपधीनामधिपस्य वृद्धौ तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम् ।

समेतबन्धुहिंसवान्सुताया विवाहदीक्षाविधिमन्वतिष्ठत् ॥ १ ॥

वैवाहिकैः कौतुकसंविधानैर्गृहे गृहे व्यग्रपुरन्ध्रवर्गम् ।

आसीत्पुरं सानुमतोऽनुरागादन्तःपुरं चैककुलोपमेयम् ॥ २ ॥

संतानकाकीर्णमहापथं तच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमाश्रम् ।

भासोज्ज्वलत्काञ्चनसोरणानां स्थानान्तरं स्वर्गं इवावभासे ॥ ३ ॥

एकैव सत्यामपि पुत्रपद्वक्तौ चिरस्य दृष्टेव मृतोत्थितेव ।

आसन्नपाणिग्रहयेति पित्रोरुमा विशेषोच्छ्वसितं बभूव ॥ ४ ॥

अद्वाययत्नद्वसुदरिताशीः सा मण्डनान्मण्डनमन्थभृङ्क्त ।

संयन्धिभिन्नोऽपि गिरेः कुलस्य स्नेहस्तदेकायतनं जगाय ॥ ५ ॥

मैत्रे मुहूर्ते शशलान्छनेन योगं गताम्रचरकस्त्रगुनीषु ।

तस्याः शरीरे प्रतिकर्म चक्रुर्बन्धुस्त्रियो याः पतिपुत्रवत्यः ॥ ६ ॥

सा गौरसिद्धार्थनिवेशवज्रिर्दृषाप्रियालैः प्रतिभिन्नशोभम् ।

निनीभिः कीशेयमुपात्तवाणमभ्यङ्गनेपथ्यमलञ्चकार ॥ ७ ॥

सातवीं सर्तं

तीन दिन पीछे हिमालयने लम्बे सातवें पारने पडो हुई कुछ पक्षकी घुम ठिथियो अपने भाई-
बन्धुमो को बुलाकर शहरजीके साथ अपनी पुत्रीका विवाह कर दिया ॥१॥ वहाँके सब लोग
हिमालयके ऐसा प्रेय करते थे कि उस नगरके घर-घरके सब स्त्रियाँ बड़ी धूमधामके साथ विवाहका
उत्सव मना रही थी । पर और बाहरके लोग ऐसे हितवित्तवर नाम कर रहे थे मानो तब एक
ही बुलके हो ॥२॥ बड़ी-बड़ी सड़कोपर बत्त-बूतके दून बिछे हुए थे, दोनों ओर रेशमी झड़ियाँ
पातोंके टेंगी हुई थी और द्वार-द्वार पर सोनेके बन्दनदार बंधे हुए थे । इन सबकी जमके जपन-
पाता हुआ वह नगर ऐसा जान पड़ता था मानो स्वर्ग ही उतर कर वहाँ जला गया हो ॥३॥
यद्यपि हिमालयके बहुतने पुत्र थे फिर भी उस समय हिमालय और येना दोनों को पार्वतीजी ऐसी
प्राणते भङ्गकर प्यारी लग रही थी मानो बहुत दिनोंपर मिली हो या अभी की कर उठी हो क्योंकि
विवाह हो जाने पर वे सभी गहँते चली जाने वाली थी ॥४॥ सब कुटुम्बकोने पार्वतीजीको बारी-
बारीसे अपनी-अपनी गोदी में बैठाकर आनोर्बान दिया और धन-मे-पूज बढ़कर रहने दिए । ऐसा
जान पड़ता था मानो हिमालयके सब कुटुम्बकोना स्नेह पार्वतीजीमें हो जाकर भर गया हो ॥५॥
गुरुं निश्चलनेके तीन मुहूर्त पीछे उत्तरा पात्सुनी नक्षत्रने कुटुम्बकी मुहागिन और पुत्रवती स्त्रियाँ
पार्वतीजी का मियार करते सभी ॥६॥ पहले दूबके अक्षुरों और मखोंके दानोंमें उनका सियार
दिया गया फिर उन्हें नाभिलज ऊँची रेशमी सादी पहना कर उसमें एक वाण खाँसा दिया गया ।

वभौ च संपर्कमुपेत्य गाला नवेव दीक्षाविधिसायकेन ।
करेण भानोर्बहुलावसाने संधुत्त्वमाणेव शशाङ्कुरेखा ॥८॥
तां लोध्रकन्केत हृताङ्गितैलामारयानकालेयकृताङ्गरागाम् ।
वासो वसानामभिपेकयोग्यं नार्यश्चतुष्कामिमुखं व्यनैपुः ॥९॥
विन्यस्तवैर्दूर्यशिलातलेऽस्मिन्नावद्भुक्ताफलभक्तिचित्रे ।
आवर्जिताष्टापदकुम्भतोयैः सतूर्पमेनां स्नपयावभूवुः ॥१०॥
सा मङ्गलस्तानविशुद्धगात्री गृहीत्वपस्युद्गमनीयवस्त्रा ।
निर्वचपर्जन्यजलाभिपेका प्रफुल्लकाशा वसुधेव रजे ॥११॥
तस्मारप्रदेशाच्च वित्तानवन्तं युक्तं मणिस्तम्भचतुष्टयेन ।
पतिप्रताभिः परिगृह्य निन्ये क्लृप्तासजं कौतुकवेदिमध्यम् ॥१२॥
तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीं चयं व्यलम्बन्त पुरोनियण्णाः ।
भृतार्थशोभाद्विद्यमाखनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः ॥१३॥
धूपोष्मणा त्याजितमार्द्रभावं केशान्तमन्तःकुसुमं तदीयम् ।
पर्यादिपक्वाचिहुदारबन्धं दूर्वावता पाण्डुमधूकदाम्ना ॥१४॥
विन्यस्तशुक्लागुरु चक्रुरङ्गं गोरोचनापत्रविभक्तमस्याः ।
सा चक्रवाकाङ्कितसैकतायास्त्रिस्रोतसः कान्तिमतीत्य तस्थौ ॥१५॥

इस प्रकार तेल लगाकर सिंहार करनेकी सजावट पूरी हो गई ॥८॥ इस नये विवाह का बाण कगरमें जोतकर पार्वतीजी ऐसे चमकने लगी जैसे सुवस्त्र पहने सूर्यकी किरण परकर पद्मभा चमकने लगता है ॥९॥ तब सुहृदिनि क्षिप्रोंने उनके शरीरपर मते हुए तेलको सोपकी बुकनीसे सुवामा और कुछ-कुछ गीला सुगन्धित केप लेकर उनका शरीर रँगा । तब स्नान करनेका कपडा पहनाकर वे उठे चौबोद स्नानघरमें लीवा ले गई ॥१०॥ उस स्नानघरमें नीलमखिनी एवं सुन्दर पीकी चिखी हुई थी और चारो ओर रत्न द्विरी प्रोतिपोकी भासा खड़ी हुई थी उस चौबीपर ठन क्षिप्रोंने उपाको बैठायी और गाले-बज्जति हुए सोपके पथोके जलसे पार्वतीजीको महला दिया ॥१०॥ भगल स्नान करनेसे पार्वतीजीका शरीर धरमन्त निर्मल हो गया और उन्होंने विवाहमें वस्त्र पहन लिए । इस समय वे ऐसे लगने लगी शानो गरबते हुए बादलोके जलसे धुली हुई और काँधके फूलोसे भरी हुई घरती घोभा दे रही हो ॥११॥ वो महला-मुलतवर ये सुहृदिनी पतिप्रताएँ पार्वतीजीको सहारा देकर उस एकान्त भवनमें ले गई जहाँ मखिपोके खमोपर चँबवा तना हुषा था, बीचमें मयल-वेदी बनी हुई थी और उसपर सजा हुआ धारान विद्या हुषा था ॥१२॥ जहाँ उन्होंने पार्वतीजीको पूरवकी ओर मुँह करके बैठा दिया । सिंहारकी सब वस्तुएँ पासमें होनेपर भी ये सब पार्वतीजीकी स्वाभाविक घोभापर ही इतनी सट्टर हो गई कि कुछ देखकर वो ये सुगवुध भूलकर उनकी ओर एकटक निहारती हुई बैठी रही ॥१३॥ फिर, किसीने वो भगर-चन्दनके धुएँसे उनमें घाल सुघाकर दालमें फूल गुंधे और फिर दूबमें पियोई हुई पीसे महएके फूलोकी माला उनके जूधेमें सपेटी ॥१४॥ किसीने

अधाङ्गुलिभ्यां हरितालमात्रं माङ्गल्यमादाय मनःशिलां च ।
 कर्णाग्रमक्तामलदन्तपत्रं माता तदीयं मुखमुन्नमय ॥२३॥
 उमास्तनोद्भेदमनु प्रवृद्धो मनोरथो यः प्रथमं बभूव ।
 तमेव मेना दुहितुः कथंचिद्विवाहदीक्षातिलकं चकार ॥२४॥
 यवन्ध चास्त्राङ्गुलदृष्टिरस्याः स्थानान्तरे कल्पितसन्निवेशम् ।
 धाङ्गुलीभिः प्रतिसार्यमाणमृण्मयं कौतुकहस्तयत्रम् ॥२५॥
 क्षीरोदवेलेव सफेनपुञ्जा पर्याप्तचन्द्रेव शरस्त्रियामा ।
 नयं नवद्यौमनिवासिनी सा मूयो यमौ दर्पणमादधाना ॥२६॥
 तामर्चिताभ्यः कुलदेवताभ्यः कुलप्रतिष्ठां प्रणमय्य माता ।
 अकारयत्कारयितव्यदद्या क्रमेण पादग्रहणं सतीनाम् ॥२७॥
 अलङ्घितं प्रेम लभस्व पत्नुरित्युच्यते तामिहमा स्म नम्रा ।
 सया तु तस्यार्द्धनारीरमाजा पथात्कृताः स्निग्धजनादिषोऽपि ॥२८॥
 इच्छाविभूत्योरनुरूपमद्रिस्तस्याः कृती कृत्यमशेषयित्वा ।
 सम्पः ममायां सुहृदास्थितायां तस्यौ वृषाद्वागमनप्रतीक्षः ॥२९॥

तावद्भवस्यापि कुवेरशैले तत्पूर्वपाणिग्रहणानुरूपम् ।
 प्रसाधनं मातृभिराद्यताभिर्न्यस्तं पुरस्तात्पुरशासनस्य ॥३०॥
 तद्गौरवान्मङ्गलमण्डनश्रीः सा पस्पृशे केवलमीश्वरेण ।
 स एव वेषः परिणेतुरिष्टं भावान्तरं तस्य विभोः प्रपेदे ॥३१॥
 बभूव भस्मैव सिताङ्गरागः कपालमेवामलशेखरश्रीः ।
 उपान्तभागेषु च रोचनाङ्को गजाजिनस्यैव दुक्कलभावः ॥३२॥
 शङ्खान्तरद्योति विलोचनं यदन्तर्निविष्टमलपिङ्गितारम् ।
 सरभिष्ययत्ते हरितालमय्यास्तदेव जातं तिलकक्रियायाः ॥३३॥
 यथाप्रदेशं भुजगेश्वराणां करिष्यतामाभरणान्तरत्वम् ।
 शरीरमात्रं विकृतिं प्रपेदे तथैव तस्थुः फणरत्नशोभाः ॥३४॥
 दिवापि निष्कृतमरीचिभासा बाह्यादनाविष्कृतलाञ्छनेन ।
 चन्द्रेण नित्यं प्रतिभिन्नमीलेश्चूडामण्यः किं ग्रहणं हरस्य ॥३५॥
 इत्यद्भुतैकप्रभवः प्रभावात्प्रसिद्धनेपथ्यविधेर्विधाता ।
 आत्मानमासन्नगणोपनीते खड्गे निपक्तप्रतिमं ददर्श ॥३६॥
 स गोपतिं नन्दिभुजावलम्बी शार्दूलचर्मन्तरिवोरुपृष्ठम् ।
 तद्भक्तिसंक्षिप्तपृष्ठप्रमाणमारुह्य कैलासमिव प्रतस्थे ॥३७॥

विवाहमे काम माई दी ॥३०॥ जंगरजीने माताभोवा धावर करनेके लिये वे मङ्गल शृङ्गारकी
 सामग्रियाँ ॥ भर दी, पहनी गही । उन्होने अपनी शक्तिसे अपने ही वेषको विवाहके योग्य बना
 लिया ॥३१॥ अपने शरीरपर पुती हुई चिताकी भस्म उजला मगराव बन गई, कपाल ही गलेके
 सुन्दर घामूपण बन गए और हाथीका चर्म ही ऐसा रेशमी वस्त्र बन गया जिसने माँचलोपर गौरी-
 शनसे हंसके जोड़े छोटे हुए थे ॥३२॥ और उनके माथेमें पीली पुतलीवाला जो चमकता हुआ
 मैत्र था वही हरतालका सुन्दर तिलक बन गया ॥३३॥ उनके शरीरके चटुसके चंगोमे जो साँप
 निपटे हुए थे वे भी उन-उन प्रयोगों का भूषण बन गए पर उनके पङ्खोपर जो मणि थे वे ज्यो के ल्यो
 भजनते रह गए ॥३४॥ उनके मुकुटपर सदा रहनेवाला जो चन्द्रमा दिनों भी अपनी विराटें
 चमकता था और जिसके छोटे होनेके कारण उसमेका कमर दिखाई नहीं देता था वह चन्द्रमा ही
 उनका चूडामणि बन गया था इसलिये वे दूसरा चूडामणि लेकर चढ़ते ही गया ॥३५॥ अपनी
 शक्तिसे सत्कारके सभी शिखारकी बनाने वाले और सदा प्रयोग ही काम करनेवाले महादेवजी अपने
 पाठ बैठे हुए गलके खड्ग भँवार उल्टे अपना मुँह देता ॥३६॥ फिर बन्दोने हाथका हाथ
 लेकर वे अपने उस सन्ने पीछे डोल-डोलवाले बेलकी पीठपर चढ़े जिसपर सिंहकी सात बिल्ली हुई थी
 और जो ऐसा दिखाई पड़ता था मानो शरजकीं मणि रखनेके कारण बँतावने हो अपने चढ़े रूपको
 छोटा बना लिया ही ॥३७॥ अपने तेजोमयकी चमकने गोर-गोरे मुखवाली सुन्दर माताएँ जब

तं मातरो देवमनुयज्यन्त्यः स्ववाहनक्षोभचलावतंसाः ।
 मुखैः प्रभामण्डलरेणुगौरैः पद्माकरं चक्रुरिवान्तरीक्षम् ॥३८॥
 तासां च पश्चात्कल्कप्रभायां काली कपालामरणा चक्रासे ।
 यत्नाकिनी नीलपयोदराब्जी दूरं पुरःचित्रशतहृदेव ॥३९॥
 ततो मणैः शूलभृतः पुरोगैरुदीरितो मङ्गलतूर्यघोषः ।
 विमानभृङ्गाण्यवगाहमानः शशंस सेनावसरं सुरेभ्यः ॥४०॥
 उपाददे तस्य सहस्ररश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमासपत्रम् ।
 स तद्बहुलादविद्वरमौलिर्वभौ पतद्भङ्ग इवोत्तमाङ्गे ॥४१॥
 मूर्ते च गङ्गायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविपाताम् ।
 समुद्रगारूपविपर्ययेऽपि सहस्रपाते इव लक्ष्यमाणे ॥४२॥
 तमभ्यगच्छत्प्रथमो विधाता श्रीवत्सलक्ष्मा पुरुषश्च साक्षात् ।
 जयेति वाचा महिमानमस्य संबर्द्धयन्तौ हविषेव बद्धिम् ॥४३॥
 एकैव मूर्तिर्निर्मिदे त्रिधा सा सामान्यमेपां प्रथमावरत्नम् ।
 विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद्वेधास्तपोस्तावपि धातुराद्यौ ॥४४॥

अपने-अपने रथोंपर बैठकर पीछे पीछे जातीं तो रथोंके भट्ठोंके उनके कर्णपूत हिलने लगे ।
 उस समय उनके मूढ़ आकाशमें ऐसे लग रहे थे मानो किसी क्षात्रमें बहुतसे कमल खिल गए हों ।
 ॥३८॥ सोनेके समान अमकनेवाली उन गाताओंके पीछे पीछे लगेसे लक्ष्मीसे देह सजाए हुए
 मन्त्रवालीगी या रही थी जो ऐसी लग रही थी मानी यमुनासे भरी हुई और दूर तक चमकती
 हुई बिजलीवाली नीले बादलों की घटा जली या रही हो ॥३९॥ महादेवजीके प्रागे-प्रागे
 चलनेवाले गणोंने जो मङ्गल सुरही बजाई उसकी ध्वनिने देवताओंके विमानोंकी
 छतरियोंमें गूँगकर यह सूचना दी कि अब सबको अपने अपने काम में जुट जाना चाहिए
 ॥४०॥ ऋतु सुर्पने विश्वकर्मके हाथका बनाया हुआ मया छत्र लेकर विष्णुजी पर लया दिया ।
 उस समय शिवजीके निरके प्रास छत्रसे लटकता हुआ कपडा ऐसा जान पड़ता था माधो
 गंगाजीकी धारा ही गिर रही हो ॥४१॥ गंगा और यमुना भी अपना नदीका रूप छोड़कर
 महादेवजीपर चँवर डलाने लगीं । वे चँवर ऐसे सजते थे मानो हस उठ रहे हों ॥४२॥
 जैसे आगमें भी डालनेसे उसकी सफ़ट बड़ जाती है वैसे ही ब्रह्मा और विष्णु ने आकर
 उनकी जयप्रशंसा करके उनकी महिमा और भी बढ़ा दी ॥४३॥ सबों वात तो यह है कि
 ब्रह्मा, विष्णु और महेश एव ही मूर्तिके तीन रूप हो गए हैं और ये सब बराबर आपसमें
 एक दूसरेसे छोटे-बड़े हुआ ही करते हैं । सभी शिवजी विष्णुसे बढ जाते हैं, कभी ब्रह्मा इन
 दोनोंसे बढ जाते हैं और सभी ये दोनों ब्रह्ममें बढ जाते हैं ॥४४॥ वहाँ अपना राजसी टाट
 छोड़कर और विनीत बेश बनाकर इन्द्र प्रादि लोकपाल जब उनके दर्शन करनेवाले आए तो

तं लोकपालाः पुरुहूतमुखाः श्रीलक्ष्मोत्सर्गविनीतवेपाः ।
 दृष्टिप्रदाने कृतनन्दिसंज्ञास्तदर्शिताः प्राञ्जलयः प्रसेधुः ॥४५॥
 कम्पेन मूर्ध्नः शतपत्रयोनिं वाचा हरिं वृत्रहणं स्मितेन ।
 आलोकमात्रेण सुरानशेषान्सम्भावयामास यथा प्रधानम् ॥४६॥
 तस्मै जयाशीः ससृजे पुरस्तात्सप्तर्षिभिस्तांस्मितपूर्वमाह ।
 विवाहयज्ञे विततेऽत्र यूयमध्वर्यवः पूर्ववृता मयेति ॥४७॥
 विश्वावसुप्राग्रहरैः प्रवीणैः संगीयमानत्रिपुरावदानः ।
 अध्वानमध्वान्तविकारलक्ष्यस्तार ताराधिपस्त्रण्डधारी ॥४८॥
 खे खेलगामी तमुवाह वाहः सशब्दचामीकरकिंकिणीकः ।
 तटाभिघातादिव लग्नपङ्के धुन्वन्मृदुः प्रोतघने विपाणे ॥४९॥
 स प्रापदप्राप्तपराभियोगं नगेन्द्रमुप्तं नगरं मुहूर्तात् ॥
 पुरोयिलमैर्हरदृष्टिपातैः सुवर्णस्रगैरिव कृष्यमाशः ॥५०॥
 तस्योपकरणे घननीलकण्ठः कुतूहलादुन्मुखपौरदृष्टः ।
 स्वभाणचिह्नद्वितीयं मार्गादासन्नभृष्टमियाय देवः ॥५१॥

नन्दीने सकेतसे इन लोगोंने महादेवजीके दर्शन करा दिए और सब इन लोगोंने हाथ जोड़-
 कर शिवजीको प्रणाम किया ॥४५॥ शिवजीने ब्रह्माजीकी ओर सिर हिलाकर, विष्णुजीसे
 कुशल मंगल पूछकर, इन्द्रजी की ओर मुखराकर और वितते देवता ये उन सबको केवल देखकर
 जो जैसा वसा छोटा या बैसे ही सयका खादर किया ॥४६॥ फिर जब सप्तर्षियोंने जय कहकर
 उन्हें आशीर्वाद दिया, तब शिवजी उनसे बोले कि इस बड़े भारी विवाहके कागजे पुरोहितका
 काम मैंने पहलेसे ही आपके लिये रखा छोटा है ॥४७॥ सब विकारोंसे परे रहनेवाले
 महादेवजी जब चलने लगे उस समय उनके आगे-आगे विश्वावसु आदि प्रसिद्ध अध्वर्य्व
 गणोंने त्रिपुरासुरपर विजय पानेके वीर्य गाते चल रहे थे ॥४८॥ बड़ी मीठी चामसे चलनेवाला और
 अपने गलेमें लटकी हुई सोनेकी छोटी-छोटी घंटियोंको टनटनाता हुआ वह बस उन बादलोंको
 अपने सींगोंसे बार-बार झुंकारता हुआ बसा जा रहा था जो उसने धीमेसे इस प्रकार
 लगे हुए थे मानो नदीके तीर परने टीले दाते समय लगे कीचड़ लग गई हो ॥४९॥
 किसीसे भी नमी न हारनेवाला वह बस हिमालयके शोषविग्रह नामवाले नगरमें इस प्रकार
 शयन करने पहुँच गया मानो आगे पड़ती हुई शिवजीकी चितवनकी सोनेकी शोरियाँ उठी
 खिन्नी से गई हो ॥५०॥ उसी नगरमें पास बादलोंके समान नीचे पड़नेवाले महादेवजी
 उस भावावस्था में पृथ्वीपर उतरे जिसमें उन्होंने त्रिपुरासुरको मारते समय बहुतने बाएँ चलाने
 चिह्न बना दिए थे । वे जय उतार रहे थे तो बहने निवासी बड़े चावसे ऊपर मुँह उठाए
 हुए उन्हें देता रहे ॥५१॥ महादेवजीने आनेसे पूर्वतराज हिमालय बड़े प्रसन्न हुए और
 अपने उन घनी कुटुम्बियोंको हाथोंपर चढ़ा चढ़ाने शिवजीकी भगवानोंने सिधे से चले जो

तमृद्विमन्त्रन्धुलनाधिरुद्धैर्वृन्दैर्गजानां गिरिचक्रवर्ती ।
 प्रत्युल्लगामाभमनप्रतीतः प्रफुल्लपृष्ठैः कटकैरिव स्वैः ॥५२॥
 वर्गादुभौ देवमहीधराणां द्वारे पुरस्योद्धृष्टतापिधाने ।
 समीपतुर्दूरविसर्पिषोपौ भिन्नैकसेतु पयसामिवौपौ ॥५३॥
 ह्रीमानभूद्भूमिधरो हरेण त्रैलोक्यबन्धेन कृतप्रणामः ।
 पूर्वं महिम्ना स हि तस्य दूरमावर्जितं नात्मशिरो विवेद ॥५४॥
 स प्रतियोगाद्विकसन्मुखश्रीर्जामातुरग्रेसरतामुपेत्य ।
 प्रावेशयन्मन्दिरसूक्ष्मेनमागुल्फकीर्णापिषमार्गपुष्पम् ॥५५॥
 तस्मिन्मुहूर्ते पुरसुन्दरीखामीशानसंदर्शनलालसानाम् ।
 प्रासादमाशासु बभूवुरित्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥५६॥
 आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्घेष्टनवान्तमाश्रयः ।
 षट् न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥५७॥
 प्रसाधिकाऽऽलम्बितमग्रपादमालिष्य काचिद्द्वरागमेव ।
 उत्सृष्टलीलागतिरागवावादलक्तकाङ्क्षां पदवीं तवान ॥५८॥
 विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाष्य तडश्चितवामनेत्रा ।
 तथैव यातायनसन्निकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥५९॥

उसी प्रकार सुसज्जित थे जैसे हिमालयकी ढालपर फूलों से सजे हुए वृक्ष ॥५२॥ इन दोनों ही बलोंका हल्ला दूरतक सुनाई पड़ रहा था और वे जब हिमालयकी राक्षसानीके लुले फाटकके पाससे द्वारपर आकर मिले तो ऐसे लगने लगे मानो बाँध टूट जाने पर जलकी दो धाराएँ आकर आपसमें मिल गई हो ॥५३॥ सकरजीने जब पहले हिमालयको प्रणाम किया तो वह लाजसे बड़ गया, पर उसे यह नहीं पठा पला कि प्रणाम करनेसे पहले ही उसकी महिमासे ही उसका सिर झुक चुका था ॥५४॥ इस सुन्दर सम्बन्धसे हिमालय बड़े प्रसन्न थे । भोले-भाने बलकर के मल्लिके और बैलबटोरि सजे हुए अपने जामाताको उस मार्गसे ले गए जहाँ इतने फूल बिछे थे कि उन फूलोंमें पैर धँसे जा रहे थे ॥५५॥ उसी समय महादेवजीके दर्शनके लिये पावसे भरी हुई नगरकी सब सुन्दरियाँ अपनी अपनी सब काम बाज छोड़कर अपने भवनोंकी छतोंपर आ खड़ी हुई ॥५६॥ एक स्त्री ज्यों ही सिद्धकीकी ओर हटवडी में भागी कि उसने जूँसेमें क्यों हुई पूँसकी माला झुल गई और वह उसे अपने हाथसे पकड़े हुए ही चन दी उसे बाँधनेकी सुख न रही ॥५७॥ एक स्त्री अपने पैरों महावर लगवा रही थी कि उसे भूरा छोड़कर ही वह अटपट सिद्धकीके पासतक अपने महावर लगे पैरोंकी छाप बनाती हुई दौड़ गई ॥५८॥ एक राजा अपनी दाईं बाँहिमें सौ कानल लगा चुकी थी पर बाईं ओरसे दिना लगाए हाथमें सवाई लिए हुए ही सिद्धकीकी ओर अपनी ॥५९॥ एक स्त्री ज्योंही

जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिनां न ववन्ध नीवीम् ।
 नाभिप्रविष्टाभरसुप्रमेण हस्तेन तत्स्थाववलम्ब्य वासः ॥६०॥
 अर्द्धाचिता सत्वसमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमित्ते गलन्ती ।
 कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमद्गुग्मुलार्पितसूत्रशेषा ॥६१॥
 तासां मुखैरासवगन्धमर्मेव्याप्तान्तराः सान्द्रकृतहलानाम् ।
 बिलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥६२॥
 तावत्पताकाकुलमिन्दुमौलिरुचोरखं राजपथं प्रपेदे ।
 प्रासादमृङ्गाणि दिवापि कुर्वन्ज्योत्स्नामिपेकद्विगुणद्युतीनि ॥६३॥
 तमेकदृश्यं नयनैः पिवन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि ।
 तथाहि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चञ्चुरिव प्रविष्टा ॥६४॥
 स्थाने तपो दुश्चरमेतदर्धमपर्णया पेलनयापि तप्तम् ।
 या दास्यमप्यस्य लभेत नारी सा स्यात्कृतार्था किमुताङ्कशय्याम् ॥६५॥
 परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत् ।
 अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां विफलोऽभविष्यत् ॥६६॥

शिबकीकी जालियोमे जाकर भाँकने लगी कि उसकी बरकरा नाहा खुल गया और चिना
 बाँधे ही उसे हाथसे पकड़े जो सड़ी हुई तो उसके हाथके कंगनके रत्नकी धमपसे उसकी नाभि
 धमकती दिखाई देने लगी ॥६०॥ एक स्त्री कीरेमे मणि पियो रखी थी । इतनेमे ही शिबकीकी
 वपुतका हल्ला सुनकर वह हड़बड़ाकर उठी और शिबकीकी ओर दौड़ी । हुमा यह कि शिबकी
 तब पहुँचते-पहुँचते मल्लियोके दाने से सब बिसर गए पर वैरके भौंठेमे बैठा हुमा जोरा
 प्योका क्यों कैसा रह गया ॥६१॥ उन चावमरे-नैन-जालियोके पाससे महकते हुए और
 चपल नेत्रवाले मुल शिबनियंमि भाँकते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो शिबकीकीकी
 जालियोमे भौरंति भरे कमल टाँग दिए गये हो ॥६२॥ इतनेमे ही उन चूनेसे गुते हुए जगले
 भषनोके कपूरोके अपने सिरके चढ़वायी धाँदनीसे धीर भी अधिक धमकाते हुए महादेवजीने
 प्यजामो धीर पताकामोसे सजे हुए राजमार्गमे प्रवेश किया ॥६३॥ नगरकी स्त्रियाँ सब
 गुपगुप झूलकर इस प्रकार एगटक देखती हुई उन्हें अपने नेत्रोंसे पों रखी थी मानो उनकी
 सब इन्द्रियाँ धावर साँखोमे ही समा गई हो ॥६४॥ ये सोचने लगी कि ऐसे बरते
 लिये मुकुमार पार्वतीका तप करना ठीक ही या नही कि ये तो ऐसे सुन्दर है कि जो रनो
 इनकी दासी भी हो जाय वह भी धन्य हो जाय फिर जो इनकी सोदमे जाकर लेटे उसका
 तो बहना ही क्या है ॥६५॥ सुन्दरतामे एव दूखरेले बने चढ़े हुए इस जोड़ेका यदि दियाह
 न होता तो हम यही समझते कि ब्रह्माजीने इन दोनोंका रूप बड़नेमे जो परिश्रम किया वह सब
 धनारप ही था ॥६६॥ अब हमारी समझमे आ रहा है कि इन्होंने बामदेवको ओचवरते भरम

न नूनमारुद्धया शरीरमनेन दग्धं वसुमायुधस्य ।
 ग्रीहादमुं देवमुदीक्ष्य मन्ये संन्यस्तदेहः स्वयमेव कामः ॥६७॥
 अनेन संबन्धमुपेत्य दिष्टया मनोरथप्रार्थितमीश्वरेण ।
 मूर्धानमालि क्षितिधारणोच्चमुच्चैस्तरं वक्ष्यति शैलराजः ॥६८॥
 हस्तोपधिप्रस्थविलासिनीनां मृण्मन्त्राः श्रोत्रसुखास्त्रिनेत्रः ।
 कैयूरचूर्णकृतलाजमुष्टि हिमालयस्यालयमामसाद ॥६९॥
 तत्रावतीर्याच्युतदत्तहस्तः शरद्धनादीधितिमानिवोक्षः ।
 क्रान्तानि पूर्वं कमलासनेन कक्ष्यान्तराप्यद्रिपतेर्विवेश ॥७०॥
 तमन्यगिन्द्रप्रहुराश्च देवाः सप्तर्षिपूर्वाः परमर्षयश्च ।
 गत्याश्च गिर्यालयमभ्यगच्छन्प्रशस्तमारम्भमिवाचमार्याः ॥७१॥
 सप्रेश्वरो विष्टरभाग्यथावत्सरत्नमर्घ्यं मधुमञ्च गज्यम् ।
 नवे दुहले च नगोपनीतं प्रत्यग्रहीत्सवममन्त्रवर्जम् ॥७२॥
 दुहलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधदत्तैः ।
 बेलासमीपं स्फुटफेनराजिर्नैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ॥७३॥
 तया प्रवृद्धाननचन्द्रकान्त्या प्रफुल्लचक्षुः कुमुदः कुमार्या ।
 प्रसन्नचेतःसलिलः शियोऽभूत्संसञ्ज्यमानः शरदेव लोकः ॥७४॥

नही किया है परन्तु कामदेव ही इनकी सुन्दरता को देखकर होसबै मारे स्वयं जल मरा ॥६७॥
 हे सखी ! पक्षेदेवर हिमालय बड़े भागवान् हैं । एक तो पृथ्वी पारण करने से उनका तिर
 बँधे ही ऊँचा था उसपर अपने मनवाहे घर भगवान् शरदजीसे सम्बन्ध करने उनका तिर
 और भी ऊँचा हो जायगा ॥६८॥ ओपधिप्रस्थकी स्थियोकी ऐसी गोठी गोठी बातें सुनने हुए-महा-
 देवजी हिमालयके उस घरमें पहुँचे जहाँ इतनी नीह थी कि कुमारियोंके छापाए दिग्गजानेके
 लिये जो सीलें बिलौरी की वे जहाँके लोगोंने कुछबघोकी रमइसे हो विचरन गूणों का गई थीं
 ॥६९॥ वहाँ पहुँचनेपर विष्णुकी के हाथका सहारा बर महादेवजीकी इस प्रकार बँलसे उतार
 लिया मानो शरदे उजाले बादलोंसे सूर्यको उतार लिया हो । वहाँ से वे हिमालयके मवनकी
 उस भीतरकी बौडकीसे पहुँचे जहाँ ब्रह्माजी पहलेसे बँडे हुए थे ॥७०॥ उनके पीछे-पीछे इन्द्र
 आदि देवता कल्पविषोके साथ सर महर्षि और महादेवजीके मन्त्री गण हिमालयके घरमें उगी
 प्रकार पँडे जैसे किसी काम के होव-होव प्रारम्भ हो जानेपर हमने पीछे और भी बहुतने बड़े-बड़े
 काम साथ जाते हैं ॥७१॥ वहाँ आसनपर महादेवजीकी बँठाकर हिमालयके रत्न, धर्म, मधु,
 दही और नये दध, जो कुछ सावर दिए वे सब उज्ज्वल मन्त्रोंके साथ से लिए ॥७२॥
 देवानी वस्त्र पहने हुए महादेवजीकी रनिवासके सेरक उसी प्रकार पार्यतोत्रीके पास से गए
 जैसे पाटमाकी विरहो धनवासे समुद्रको तटतक पहुँचा देनी है ॥७३॥ जैसे शरदे आनेपर लोग
 प्रसन्न हो जाते हैं वैसे ही शरदगुप्त चमकते हुए पन्द्रमाके समान पुष्पाक्षी पार्यतोत्रीके देगडर

तयोः समापत्तिषु कातराणि किञ्चिद्वचस्वस्थापितसंहृतानि ।
 हीयन्त्रयां तत्क्षणमन्वभूयन्नन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥७५॥
 तस्याः करं शैलगुरुरूपनीतं वज्राह ताप्राह्गुलिमण्डमूर्तिः ।
 उमातनौ गूढतनोः स्मरस्य तच्छङ्खिनः पूर्वमिव प्ररोहम् ॥७६॥
 रोमोद्गमः प्रादुरमूढमायाः स्विन्नाह्गुलिः पुद्गवकेतुरासीत् ।
 वृत्तिस्तयोः पाणिसमागमेन समं विभक्तेव मनोभवस्य ॥७७॥
 प्रयुक्तपाणिग्रहणं यदन्यद्वधूषरं पुष्पति कान्तिमयाम् ।
 साभिध्ययोगादनयोस्तदानीं किं कथ्यते श्रीरुभयस्य तस्य ॥७८॥
 प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरदक्षिपस्तन्मिथुनं चक्रासे ।
 मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रिपामम् ॥७९॥
 तौ दंपती त्रिः परिशीय वह्निमन्योन्यसंस्पर्शनिभीलिताचौ ।
 स कारयामास वधू पुरोधास्तस्मिन्समिद्धार्चिषि लाजमोक्षम् ॥८०॥
 सा लाजधूमाञ्जलिमिष्टगन्धं गुरुपदेशाद्बदनं निनाय ।
 कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकृषोत्पलतां प्रपेदे ॥८१॥

शकरजीके नेत्ररूपी पुमुख खिल गए और उनकी भग जनके समान निर्मल हो गया ॥७५॥
 पार्वतीजीके और शकरजीके नेत्र बोधी देरके लिये मिलकर फिर हट जाते थे और इस प्रकार एक
 दूसरे को चाह भरी निरावन से देखकर उनके हृदयमें फिर बड़ी लज्जा भी आ जाती थी कि हमें
 देखकर दूसरे क्या कहते होंगे ॥ ७५ ॥ अब हिमालयके पुरोहितने पार्वतीजीका हाथ आगे बढ़ाकर
 शकरजीके हाथ पर रख दिया । पार्वतीजीका वह जान लाल जँगलियोंवाला हाथ ऐसा लगता
 था मानो महादेवजीके डरमें छिपे हुए कामदेवके अक्षुर पहले-पहल निकल रहे हो ॥ ७६ ॥ हाथ
 पकड़ते ही पार्वतीजीको भी रोमांच हो गया और महादेव जी की जँगलियोंसे भी पसीना छूटने
 लगा । ऐसा जान पड़ा मानो उन दोनों का हाथ मिलाकर कामदेवने दोनों को एक साथ अपने
 पक्षमें कर लिया हो ॥ ७७ ॥ जो गायत्री और शकर ससार भर में बिवाहके समय स्मरण किए
 जानेपर वह और दरोती शोभा बढ़ाते हैं उन्हीं पार्वती और शकरका जब स्वयं ही बिवाह हो रहा हो
 सब उनकी शोभाका तो कहना ही क्या है ॥ ७८ ॥ ईधनसे जली हुई अग्निवा फेरा देते समय
 पार्वती और शकरजी इस प्रकार सोचते हुए मानो रात और दिन दोनों मिलकर सुमेरु पर्वतका फेरा
 लगा रहे हो ॥ ७९ ॥ अब दूसरेको झूनेके कारण पार्वती और शकरजी पाँच मूँदकर आनन्द लेते
 हुए अग्निवा फेरा लगा रहे थे । अब तीन बार जलती हुई अग्निके फेरे हो गए तब पुरोहितजीने
 अग्नि में धानकी खीलाका हवन कराया ॥८०॥ पार्वतीजीने पुरोहितजीने कहनेसे उस खीलके होमसे
 उठे हुए सुगन्धित धुँएँको अपने हाथकी अग्रजलीसे सूँघा । वह धुँयाँ उनके गालों के पास पहुँचकर
 धए भरके लिये उनके कानोंमें कण्ठपूँस बन जाता था ॥८१॥ उस हवनके गरम धुँएँ से पार्वती-

तदीपदार्द्राक्षमण्डलेखमुच्छ्वासिकालान्जनरागमच्छयोः ।
 यधुमुत्तुं क्तान्तपचोवतंसमाचारधूमग्रहणाद्भूय ॥८२॥
 बधूं द्विजः प्राह तवैष वत्से बद्धिर्विवाहं प्रति कर्मसाक्षी ।
 शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या त्वया मुक्तविचारयेति ॥८३॥
 ध्यालोचनान्तं श्रवणे वितत्य पीवं गुरोस्तद्वचनं मवान्या ।
 निदाघकालोन्वयतापयेव माहेन्द्रमम्मः प्रथमं पृथिव्या ॥८४॥
 ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुवदर्शनाय प्रयुज्यमाना प्रियदर्शनेन ।
 सा हृष्ट इत्याननमुज्जमय्य ह्रीसन्नकण्ठी कथमप्युवाच ॥८५॥
 इत्थं विधिज्ञेन पुरोहितेन प्रयुक्तपाणिग्रहणोपचारौ ।
 प्रभोमतुस्तौ पितरौ प्रजानां पथासनस्थाय पितामहाय ॥८६॥
 वधूर्विधात्रा प्रतिनन्दते स्म कल्याणि वीरप्रसवा भवेति ।
 वाचस्पतिः सप्तपि सोऽष्टमूर्तो त्वाशास्यचिन्तास्तिमितो बभूव ॥८७॥
 क्लृप्तोपचारां चतुरस्रवेदीं तावेत्थ पथात्कनकासनस्थौ ।
 जायापती लौकिकमेपणीयमार्द्राक्षितारोपणमन्वभूताम् ॥८८॥
 पत्रान्तलङ्घैर्जलविन्दुजालैराकुण्ठमुक्ताफलजालशोभम् ।
 तयोरुपपर्यायतनालदडमाधच लक्ष्मीः कमलातपत्रम् ॥८९॥
 द्विधा प्रयुक्तेन च बाह्मयेन सरस्वती तन्मिधुनं जुनाय ।
 संस्कारपूतेन वरं चरेण्यं बधूं सुखग्राह्यनिबन्धनेन ॥९०॥

जीके पास कुछ सात हो गए, भूँह्वर पत्नीनेकी बूँद छा गई, आँखोंका काला भाँजन फैल गया और कानोंपर धरे हुए जमे भी पहुँचते पड़ गए ॥८२॥ तब पुरोहितजीने पार्वतीजीसे कहा कि हे बत्से ! यह बगिन लुम्हारे विवाहका साली है । आजसे तुम सब प्रकारकी धंका छोड़कर सदा शिपजीके साथ धर्मके काम करना ॥८३॥ आँखोंका अपने कान फैलाकर पार्वतीजीने पुरोहितजीकी बात बैसे ही धादरते सुनी जैसे गर्मीके तपी हुई घूँघो बर्षाकी पहली बूँदें ग्रहण करती है ॥८४॥ जब धंकरजीने कहा कि धूमकी ओर देखो तब पार्वतीजीने ऊपर भूँह उठाकर बहुत लजाते हुए किसी-किसी प्रकार इत्याना कहा—हाँ देख लिया ॥८५॥ इस प्रकार कर्माकाण्ड जाननेवाले पुरोहितजीने संसारसे माता-पिता पार्वती और शंकरजीका विवाह पुरा करा दिया । तब कमलके आसनपर बैठे हुए ब्रह्माजीको सोनोने प्रणाम किया ॥८६॥ ब्रह्माजीने बहूँको गो यह आशीर्वाद दे दिया कि हे कल्याणी ! तुम वीरपुत्रकी माता बनो, किन्तु बाणीके स्वामी होते हुए भी उनकी यह तपभूमे नहीं धामा कि अब इच्छाओते परे रहनेवाले शंकरजीको हम क्या आशीर्वाद दें ॥८७॥ बहूँसे महादेवजी और पार्वतीजी, पूतारो सजे हुए जोकमे लाए गए और सोनेके आसनपर बँध दिए गए । तब उनके ऊपर लौकिक विधिसे सोनोने पीले और पीले अक्षत छिड़के ॥८८॥ उस समय स्वयं लक्ष्मीजी, पत्तीके कोरोंपर लटकती हुई और मोक्षके लगान चमकती हुई जलकी बूँदोंसे भरे हुए लम्बी डोल-वाले कमलका छत्र उनके ऊपर लगाकर खड़ी हो गई ॥८९॥ और सरस्वतीजी भी सहित और

तौ सन्धिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम् ।
 व्यपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललिताङ्गहारम् ॥६१॥
 देवास्तदन्ते हरमूढमार्यं किरीटवद्वाञ्छलधो निपत्य ।
 शापावसाने प्रतिपन्नमूर्चेर्यपाचिरे पञ्चशरस्य सेवाम् ॥६२॥
 तस्यानुमेने भगवान्विमन्युर्व्यापारमात्मन्यपि सायकानाम् ।
 कालप्रयुक्ता खलु कार्पविक्षिर्विज्ञापना मर्तुषु सिद्धिमेति ॥६३॥
 अथ विषुधगणैस्तानिन्दुमौलिर्विमृज्य,
 चित्तिधरपतिकन्यामाददानः करेण ।
 कनककलशयुक्तं भक्तिशोभासनायं,
 चित्तिधरचितशय्यं कौतुकागारमागात् ॥६४॥
 नवपरिखयलज्जाभूषणं तत्र गौरीं,
 वेदनमपहरन्तीं तत्कृताक्षेपमीशः ।
 अपि शयनसखीभ्यो दत्तवाचं कथंचित्,
 प्रमथमुरविङ्कारैर्हमियाभास गूढम् ॥६५॥
 इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
 उमापरिणयो नाम उत्तमः सर्गः ॥

प्राकृत दोनों मायासेनि सिय और पार्वतीजीकी प्रशंसा करने लगीं । समुहमें तो उन्हेंनि प्रशंसनीय
 करकी और सल्लससे समझमें आनेवाली प्राकृत भाषामें उन्हेंनि बधुकी प्रशंसा की ॥६०॥ तब
 पार्वती और शररने शृङ्गार आदि रसोपात्ता और सुन्दर हाव-भावसे मरा और पाँचों सधियोंमें प्रलग
 प्रलग भाषा-शैलियोंसे सदा हुआ नाट्य बोझी देर तब देखा जो अप्सरामेनि रोता था ॥६१॥
 नाट्य समाप्त हो चुकनेपर इन्द्र आदि देवता विवाहिन शररजीके पास आए और अपने किरीट वींसे
 हुए तिरपर हाथ ओझवर यह प्रार्थना की कि आपका विवाह हो जानेसे आपका दिया हुआ शाप
 भी समाप्त हो गया, इसलिये आप आज्ञा दें तो कामदेव फिरसे जी उठे और आपकी सेवा करे ॥६२॥
 प्रसन्न मनवाले शररजीने कहा—अच्छी बात है, पर कामदेवसे कह दो कि वह जी शररर हमपर
 अपने आए बसवि । ठीक ही है, जो चतुरसेवक यह जानते हैं कि स्वामीसे यौनही बात बच बहनी
 चाहिए तो वे स्वामीसे जो प्रार्थना करते हैं वह अवश्य ही पूरी होती है ॥६३॥ तब शररजीने इन्द्र
 आदि सब देवताओंको बिदा किया और पार्वतीजीका हाथ अपने हाथमें लेकर उस शयन परने पहुँचे
 जहाँ सेज सिद्धी हुई थी, पुनर्जी मालार्थ राजी हुई थी और सोनेका वस्त्र मरा घरा था ॥६४॥
 नया विवाह होनेसे लक्ष्मीकी, महादेवजीके हाथोंसे आँचन खींचे जानेपर अपना मूँह दिशानेवाली और
 सधियोंकी सुदृक्कियोंका ऊँचो उतर देनेवाली पार्वतीजीके आगे शररर जब प्रमथ आदि गण
 अपने प्रसारके मूँह बनाने लगे तो पार्वतीजी भी मन ही मन हँस दी ॥६५॥

महान्वि धीवान्विदासरे रहे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमें पार्वतीजीके
 विवाह करने कावका सावरो गर्म समाप्त हुआ ।

॥ अष्टमः सर्गः ॥

पाणिपीडनविधेरनन्तरं शैलराजदुहितुर्हरं प्रति ।
 भावसाध्वरापरिश्रहादभूत्कामदोहदमनोहरं वपुः ॥१॥
 व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
 सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥२॥
 कैतवेन शयिते ब्रुतुहलात्पार्वती प्रतिमुखं निपातितम् ।
 चक्षुरुन्मिषति सस्मितं प्रिये विद्युताहतमिव न्यमीलयत् ॥३॥
 नाभिदेशनिहितः सकम्पया शंकरस्य रूढे तथा करः ।
 तदुहलमथ चाभवत्स्वयं दूरमुच्छ्वसितनीविमन्धनम् ॥४॥
 एवमालि निगृहीतसाध्वसं शंको रहति सेव्यतामिति ।
 सा सखीभिरुपदिष्टमाकुला नास्मरत्प्रभुरवर्तिनि प्रिये ॥५॥
 व्यप्यवस्तुनि कथाप्रवृत्तये प्रश्नतत्परमनङ्गशासनम् ।
 वीक्षितेन परिवीक्ष्य पार्वती भूर्धकम्पमपशुचरं ददौ ॥६॥
 शूलिनः करतलद्वयेन सा संनिरुध्य नयने हृतांशुका ।
 तस्य पश्यति ललाटलोचने मोघपत्नविधुरा रहस्पमूर् ॥७॥

आठवाँ सर्ग

बिवाह हो जानेपर पार्वतीजी यह तो चाहती ही थी कि शिवजीसे दूर न रहूँ पर साथ ही कुछ क्रिस्तकरी भी थी । उनके इस प्रेम और क्रिस्तके बारे सुन्दर सपनेको ही वेप देकर महादेवजी उन पर लट्टू हुए जा रहे थे ॥१॥ वे इसकी सजात थी कि शिवजी कुछ पूछते भी थे तो वे बोलती न थी, यदि वे इनका साँवल घाम लेते तो वे उठकर भागने लगती थी और साथ हीले समय भी वे दूसरी ओर मुँह करकर ही सोती थी । पर शिवजीको इन बातोंसे भी कम आनन्द नहीं मिलता था ॥२॥ जब कभी शिवजी सोनेका बहाना करके साँध मूँदकर सेट जाते तब पार्वतीजी उनकी ओर घूमकर उन्हें टपटपी माँघकर देखा करती । इतनेसे ही शिवजी मुस्कराकर साँधें खोल देते और मे घट इस पृथिति अपनी भाँलें भीच लेती माँगी बिजलीकी चकाचौपते माँलें मिन गई हो ॥३॥ जब चाकरजी अपने हाथ उनकी नाभिकी ओर बढ़ाते तब पार्वतीजी काँपते हुए उनका हाथ घाम लेती, पर न जाने कैसे इनकी शाहोकी बाँठ हीली पछकर अपने भाप खुल जाती ॥४॥ पार्वतीजीकी सखियाँ इन्हें सिखाया करती कि देखो सखी, तुम करना मत और जैसे-जैसे हम सिखाती हैं वैसे ही वैसे धकेले से चकरजीके पास रहना पर शिवजीके सामने पहुँचते ही वे इसकी पयरा भाँती कि सखियोंकी सब सोख इनके ध्यानसे उतर जाओ ॥५॥ जब कभी बात-बात में शिवजी ऊट पटाँच बातें छेड़ कर इनसे उतर माँगते तो वे अपने मुँहसे तो कुछ न कहतीं, बस अपनी भाँलें ऊपर उठाकर और छिर घुमानर यह जता देती कि मैं आपकी सम बातें मानती हूँ ॥६॥ जब कभी अपनेसे शिवजी इनके अपने तीथकर उन्हें उपाट देते तो वे अपनी दोनों हथेलियोंसे शिवजीके दोनों नेत्र बन्द कर लेती जिससे वे

चुम्बनेश्वधरदानवर्जितं सिन्नहस्तसदयोपगूहनम् ।
 क्लिष्टमन्मथमपि प्रियं प्रभोर्दुर्लभप्रतिकृतं बधूरतम् ॥८॥
 यन्मुरेणग्रहणमक्षताधरं दानमग्रणपदं नखस्य यत् ।
 यद्रतं च सदयं प्रियस्य तत्पार्वती निपहते स्म नेतरत् ॥९॥
 रात्रिवृत्तमनुयोक्तुं दत्तं सा प्रभातसमये सखीजनम् ।
 नाकरोदपटुहलं ह्रिया शंसितुं तु हृदयेन तत्तरे ॥१०॥
 दर्पणे च परिभोगदर्शिनीं पृष्ठतः प्रणयिनो निपेदुषः ।
 प्रेक्ष्य विस्मयुपविम्बमात्मनः कानि कानि न चकार लज्जया ॥११॥
 नीलकण्ठपरिशुक्तयौगतांतां विलोक्य जननी समाधसत् ।
 भर्तृवल्लभतया हि मानसीं मातुरस्यति शुचं वधुजनः ॥१२॥
 वासराणि कतिचित्कथञ्चन स्याणुना रतमकारि चानया ।
 ज्ञातमन्मथरसाशनैःशनैः सामुमोच रतिदुःखशीलताम् ॥१३॥
 सख्यजे प्रियमुरोनिपीडनं प्रार्थितं मुपमनेन नाहरत् ।
 मेखलाप्रणयलोलतां गत हस्तमस्य शिथिलं रुरोध सा ॥१४॥

देख न पावें । पर शिवजी भी ऐसे शुक थे कि भट अपना खींचता नेश खोल लेते और
 ये हार मानकर बैठ जाती ॥७॥ महादेवजी जब इन्हें पूजना चाहते तो ये प्रपना झोठ ही
 न बढ़ाती और जब ये इन्हें कसर छटा लगाता चाहते तो ये अपने हाथ तब न उठाती ।
 इस प्रकार बाधाभोगे साथ घबुरे रसके साथ भी शिवजीने पसुने साथ जो सभोग किया उसमें
 उन्हें भगवान् ही मिला ॥८॥ धीरे-धीरे पार्वतीजीकी भिन्न भिन्न पिटने लगी और इसलिये
 जब अभी महादेवजी इहे जूमते समय काटते नहीं थे, जूमते हुए पाप नहीं करते ये और बहुत
 धीरे-धीरे सभोग करते थे तो ये भगवान्की नहीं करती थी । पर जहाँ ये इससे प्रागे बटे कि ये घर
 उठती ॥९॥ पार्वतीजी इतनी लज्जाली थी कि जब इनकी सखियां इनसे रातकी रातें पूछने लगती
 तो ये चाहते हुए भी लज्जाके मारे उनगे बता नहीं पाती थी ॥१०॥ जब ये हाथमे दर्पण लेकर
 उसने अपने शरीरपर बने हुए सभोगके चिह्न बंटी देखती और उस समय वही पीछे छुपचाप
 शिवजी पक्षे जाते तो उनकी परछाहीं दर्पणमे पड़ते ही ये ऐसी लजा जाती कि भोंके मारे पशु-पशु
 नहीं करने लगती थी ॥११॥ भेदाकी यह देखकर बड़ा संजोष हुआ कि महादेवजी हमारी
 पत्नी के जीवनवा उपभोग कर रहे हैं, क्योंकि जब माया यह देख लेती है कि मेरी पत्नीका
 पति पत्नीको प्यार करता है तो उसका जी हन्ना हो जाता है ॥१२॥ कुछ दिनों तक तो महादेवजी
 ज्यो-र्यों करने पार्वतीजीसे सभोग करते रहे पर धीरे-धीरे जब पार्वतीजीकी भी सभोगका
 रस मिलने लगा तब इनकी भी भिन्न धीरे-धीरे जाती रहे ॥१३॥ और इसलिये जब
 महादेवजी इन्हें कसर छटासे लगाते तो ये भी उन्हें दोनों हाथोंसे बस लेती, जब ये
 जूमनेकी मूर्ह बढ़ाते तो ये अपना मूर्ह हटाती नहीं थी और जब घरकी इनकी

भावसूचितमदृष्टविप्रियं दार्ढ्यभाक्त्वणवियोगकातरम् ।
 कैश्चिदेव दिवसैस्तथा तपोः प्रेमगूढमितरेतराश्रयम् ॥१५॥
 तं यथात्मसदृशं वरं वधूरन्वरज्यत कस्तथैव ताम् ।
 सागरादनपमा हि जाह्नवी सोऽपि तन्मुखरसैकवृत्तिभाक् ॥१६॥
 शिष्यतां निधुवनोपदेशिनः शंकरस्य ररुसि प्रपन्नया ।
 शिक्षितं युवतिनैपुण्यं तथा यच्चदेव गुरुदक्षिणीकृतम् ॥१७॥
 ददमुक्तमधरोष्ठमम्बिका चेदनाविधुतहस्तपल्लवा ।
 शीतलेन निरबापयत्तत्तत्तं मौलिचन्द्रशक्लेन शूलिनः ॥१८॥
 चुम्बनादलक्षकचूर्णदूषितं शंकोऽपि नयनं ललाटजम् ।
 उच्छ्वसत्कमलगन्धये ददौ पार्वतीवदनगन्धवाहिने ॥१९॥
 एवमिन्द्रियसुखस्य वर्त्मनः सेवनादनुगृहीतमन्मथः ।
 शैलराजमवने सहोमया मासमात्रमवसद्वृषध्वजः ॥२०॥
 सोऽनुमान्य हिमवन्तमात्मभूरात्मजाविरहदुःखसेदितम् ।
 तत्र तत्र विजहार संपतन्नप्रेमपमतिना ककुभता ॥२१॥

तगड़ी पकड़कर खींचते तो वे माथे मगसे ही उनकी हाथ रोकती ॥१५॥ पोटो ही दिनोंमें दोनोकी घाल-ढालसे यह जान पड़ने लगा कि अब वे बहुत घुल-मिल गये हैं क्योंकि दोनों एक दूसरेकी बगईं करते प्रयासों में थे । और जो कही भ्रष्ट भरके सिधे भी एक दूसरेसे झगड़ा हुए कि भक्त लड़पने लगते ॥१६॥ जैसे—समुद्रके पास जाकर और मिलकर गंगाजी बहसि लीटनेका काम तक नहीं सेती और समुद्र भी उन्हीके मुसका जल से-नैकर बराबर उनके प्रेम किया करता है वैसे ही पार्वतीजी भी जैसे-जैसे अपने प्रियतमका मन बहलाती वैसे-वैसे महादेवजी भी उनके मनकी ही बातें किया करते थे ॥१७॥ पार्वतीजीने शंकर जीसे प्रेमसे जो काम-कलाकी शिक्षा ली थी उस कलाके अनुसार इन्होंने महादेवजीके साथ नई तर्जोसिधोकी घटक-मटकसे बरा जो सम्भोग किया वही भावो कला सोलनेकी गुरतोंसखा भी ॥१८॥ जब कभी पार्वतीजीका मोठ महादेवजी काट सेते तो वे पीडासे अपने हाथ भट-भटने लगती और फिर तत्काल महादेवजीके सिरपर गये हुए चन्द्रमापर ज्यो ही मोठ रखती र्यो ही उन्हें ऐसी ठडक मिलती कि उनकी सब पीडा जाती रहती ॥१९॥ इसी प्रकार चुम्बन सेते समय जब पार्वतीजीके केशोका चूर्ण झड़कर शिवजीके लीसरे नेत्रमें पड़ता तो वह नेत्र दुखने लगता । तब झिन्ने हुए कमलकी गंधवाले पार्वतीजीके मुंहकी फूंक पानेके सिधे वे अपना नेत्र उठाकर उनके मुंहतक पहुँचा देते ॥२०॥ इस प्रकार जयानीका रस लेकर महादेवजी ने कामदेवपर बड़ी कृपा की और हिमालयके परपर जमाने साथ रहते हुए उन्होंने एक महीना बिता दिया ॥२०॥ तब उन्होंने हिमालयके जानेकी आज्ञा भांगी । कन्याको अपनेसे अलग करनेमें हिमालयको दुःख तो बहुत हुआ पर उसने बिदा दे दी । वहाँसे अपने बेरोक

एष वृक्षशिखरे कृतास्पदो जातरूपरसगौरमण्डलम् ।
 हीयमानमहरत्ययातपं पीबरोरु पिबतीव बर्हिणः ॥३६॥
 पूर्वभागतिमिरप्रवृत्तिमिर्व्यक्तपङ्कमिव जातमेकतः ।
 खं हृतातपजलं विषस्वता भाति किञ्चिदिव शेषवत्सरः ॥३७॥
 आविशद्भिरुट्वाङ्गुलं मृगैर्मूलसेकसरसैरथ वृक्षकैः ।
 आश्रमाः प्रविशदग्रधेनवो विभ्रति त्रियमुदीरिताग्रयः ॥३८॥
 बद्धकोशमपि तिष्ठति चणं सायशेषविबरं कुशेशयम् ।
 पदपदाय वसतिं ग्रहीष्यते प्रीतिपूर्वमिव दातुमन्तरम् ॥३९॥
 दूरमग्रपरिमेयरश्मिना वारुणी दिगरूपेन भानुना ।
 भाति केसरवत्तेव मण्डिता बन्धुजीवतिलकेन कन्यका ॥४०॥
 सामभिः सहचराः सहस्रशः स्यन्दनाश्ववृद्धयङ्गमस्वनैः ।
 भानुमग्निपरिकीर्त्यतेजसं संस्तुवन्ति किरणोष्मपापिनः ॥४१॥
 सोऽयमानतशिरोधरैर्हयैः कर्षचामरविषङ्गितेजसैः ।
 अस्तमेति युगमृग्नकेसरैः सन्निधाय दिवसं महोदधौ ॥४२॥

हुए मोरकी पूँछसे बसी हुई गोल-गोच और सोनेके पानीके समान सुन्दरी अग्निकाग्रीको देखनेसे ऐसा लगता है भाभी मह बैठा हुआ राक्षसी सब धूप पीए खाए रहा हो और उसीसे दिन चलता जा रहा हो ॥३६॥ देखो ! सूर्यने आकाशसे धूपका पानी सींच लिया है इसलिये आकाश उस तालाबके समान दिखाई दे रहा है जिसमें पूर्वको ओर भँवरा बड़ घानेते यह जान पड़ता है कि उधर कीचड़ बचा रह गया है और पच्छिममें कुछ-कुछ जगाला रहनेसे ऐसा लग रहा है कि उधर अभी थोड़ा-थोड़ा पानी बचा रह गया है ॥३७॥ पर्या-कुटियोंके प्रांगणमें प्राते हुए हिरण्योके, सींचे हुए जड़बाने हरे-भरे पौधोंसे, सौटकर घाती हुई सुन्दुर हुआक गोमोसे और हवनकी जलती हुई अग्निसे ये आश्रम कैसे सुहावने लग रहे हैं ॥३८॥ बेलो ! ये कमल इस समय भुँद चले, फिर भी पल भरके लिये अपना मुँह थोड़ा-सा इसलिये खुला रखे हुए हैं कि जो भीरे बाहर रह गए हों उन्हें हम प्रेमसे भीतर बसा दें ॥३९॥ हे सुन्दरी ! बहुत दूरपर सूर्यकी हल्की-सी झलक दिखाई पड़नेसे पञ्चम्र दिशा उस कन्याके समान लग रही है जिसने अपने माथेपर केसरसे भरे बन्धुजीवके फूलका तिलक लगा रखा हो ॥४०॥ किरणोकी गर्मी भी जानेवाले और सहस्रोके भ्रुणमें रहनेवाले बालविलस्य आदि क्षुद्र इस समय सूर्यके रखेके थोड़ेकी भसा लगनेवाला सामवेद गा-भाकर उस सूर्यकी स्तुति कर रहे हैं जिन्होंने इस समय अपना तेज अग्निको सौंप दिया है ॥४१॥ दिनको समुद्रमें दुषोत्रर और अपने उन थोड़ेको लिए हुए सूर्य भस्माचक्षणी ओर जा रहे हैं जिनके तिर नौचेकी ओर उत्तरनेके कारण भुके हुए हैं, जिनके कानोंकी पीरिली रह-रहकर घाँसोंपर सुल जाती हैं और जिनके कंधेपर कंधेपर रखे हुए सूर्यसे सब-सगर्कर छितरा गए हैं ॥४२॥ सूर्यके छिपते ही गारा आकाश सोया

खं प्रसुप्तमिव संस्थिते स्वौ तेजसो महत ईदृशी गतिः ।
 तत्प्रकाशयति यावदुद्भूतं मीलनाय सल्ल तावतश्च्युतम् ॥४३॥
 संध्याप्यनुगतं रवेर्वर्षुर्वन्द्यमस्तशिखरे समर्पितम् ।
 येन पूर्वमुदये पुरस्कृता नाजुयास्यति कथं तमापदि ॥४४॥
 रक्तपीतकपिशः पयोमृचां कोटयः कुटिलकेशि मान्त्यमूः ।
 द्रक्ष्यसि त्वमिति संध्ययानया वर्तिकाभिरिव साधुमण्डिताः ॥४५॥
 सिंहकेसरतटासु भूसृतां पल्लवप्रसविषु द्रुमेषु च ।
 पश्य घातुशिखरेषु भानुना संविभक्तमिव सांध्यमातपम् ॥४६॥
 अद्विराजतनये तपस्विनः पावनाम्बुविहिताञ्जलिक्रियाः ।
 ब्रह्म गूढमभिसंध्यमादताः शुद्धये विधिविदो गृणन्त्यमी ॥४७॥
 तन्मुहूर्धमनुमन्तुमर्हसि प्रस्तुताय नियमाय मामपि ।
 त्वां विनोदनिपुणः सखीजनो वरगुवादिनि विनोदयिष्यति ॥४८॥
 निर्विण्णज्य दशनच्छदं ततो वाचि भर्तृश्वधीरणापरा ।
 शैलराजतनया समीपगामाललाप विजयामहेतुकम् ॥४९॥
 ईश्वरोऽपि दिक्सास्थयोचितं मन्त्रपूर्वमनुवस्थिषान्विधिम् ।
 पार्वतीमवचनानामूषया प्रत्युपेत्य पुनराह सस्मितम् ॥५०॥

हुमा-सा जान पड़ रहा है । देती । तेजस्वियोंकी ऐसी ही बात होती है कि वे जहाँ निकलते हैं वहाँ उजाला हो जाता है और जहाँ वे छिपते हैं वहाँ अंधेरा छा जाता है ॥४३॥ देखो ! पूजनीय सूर्य भस्मावतकी चले तो सन्ध्या भी उनके पीछे पीछे चल दी, क्योंकि तबके उदयके समय जो सूर्यके प्रागे-प्रागे रही वह सूर्यकी विपत्तिके समय अपना साथ भस्मा कंडे छोड़ दे ॥४४॥ हे धूमरासे बालोवाली ! ये सामने माल-पीले धीरे धीरे बादलके टुकड़े कंडे हुए ऐसे लग रहे हैं मानो सन्ध्याने उन्हें यह समझकार लुलिकासे रग दिया हो कि तुम उन्हें देखोगी ॥४५॥ हिमालयके सिंहके लाल-लाल नैसर्गकी, नये-नये पत्तोंके लगे हुए वृक्षोंकी और रसोन घातुवाली हिमालयकी बोटियोंकी देखनेसे ऐसा जान पड़ रहा है मानो भस्म होते हुए सूर्यने अपनी खाल धूप इन सबको बाँट दी है ॥४६॥ हे पार्वती ! सब क्रिया जाननेवाले ये तपस्वी, पवित्र असते सूर्यकी सन्ध्या समय आर्य देवर सबी चढ़ाके साथ अपनी आत्म-भुक्तिने लिये रहस्य भरे मायनी मन्त्रों को पढ़ रहे हैं ॥४७॥ हे मिठवांसी ! अब साँझ हो चली है, इसलिये तुम भी मुझे थोड़ी देरकी छुट्टी दो तो मैं सन्ध्या कर दूँगी । उसनी देर तक मन्त्रहस्तावके पामने चतुरगुणारी सखियाँ तुम्हारा मन बहलाती रहेंगी ॥४८॥ यह सुनकर पार्वतीजीने महादेवजीको बात मनसुतो-सी करके अपना मोठ बिचवा दिया और पास बैठी हुई विजयासे उम्होने इधर-उधरकी गेहिर-नैरकी बातें छेड़ दी ॥४९॥ मन्त्रोंके साथ अपनी सन्ध्या पूरी करके महादेवजी उन पार्वतीजीके पास पहुँचे जो पुष्पी सावनर रुठी हुई बैठी थी । महादेवजी उनसे मुस्कराते हुए बहने लगे ॥५०॥ बिना बातके क्रोध करने

मुञ्च कोपमनिमित्तकोपने संध्याया प्रणमितोऽस्मि नान्यथा ।
 किं न वेत्ति सहधर्मचारिणं चक्रवाकसमवृत्तिमात्मनः ॥५१॥
 निर्मितेषु पितृषु स्वयंभवा या तनुः सुतनुः पूर्वमुज्जिता ।
 सेयमस्तमुदयं च संवते तेन मानिनि ममात्र गौरवम् ॥५२॥
 तामिमां तिमिरवृद्धिपीडितां शैलराजतनयेऽधुना स्थिताम् ।
 एकतस्तटतमालमालिनीं परय घातुरसनिम्नगामिव ॥५३॥
 सान्ध्यमस्तमितशेषमातपं रक्तलोसमपरा विभर्ति दिक् ।
 सांपराययसुधासशोषितं मण्डलाग्रमिव तिर्यगुज्जितम् ॥५४॥
 यामिनीदिवससन्धिसम्भवे तेजसि व्यवहिते सुमेरुणा ।
 एतदन्धतमसं निरङ्कुशं दिक्षु दीर्घनयने बिजृम्भते ॥५५॥
 नोर्ध्वमीक्षणागतिर्न चाप्यथो नाभितो न पुरतो न पृष्ठतः ।
 लोफ एष तिमिरौषधेष्टितो गर्भवास इव वर्तते निशि ॥५६॥
 शुद्धमाविलमयस्थितं चलं वक्रमार्जवगुणान्वितं च यत् ।
 सर्वमेव तमसा समीकृतं धिङ्महत्त्वमसतां हृतान्तरम् ॥५७॥
 नूतमुन्नमति यज्वनां पतिः शार्ध्वस्य तमसो निषिद्धये ।
 पुण्डरीकमुखि पूर्वदिङ्मुखं केतकैरिव रजभिराहतम् ॥५८॥

वाली मानिनी ! देखो, शोध न करो ! मैं सन्ध्या करने ही तो गया था । सदा तुम्हारे ही साथ
 धर्मका पालन करनेवाले मुझको क्या तुम एकलके बंसा सच्चा प्रेमी नहीं समझती हो ॥५१॥
 देखो सुन्दरी ! ब्रह्माने जब पितरोन्नी रखा था उस समय उन्होंने अपनी एक छोटीसी मूर्ति
 बना छोड़ी थी । वही मूर्ति भूयोदय और सूर्यास्त के समय सन्ध्याके रूपमें पूजी जाती है । इसीलिए
 हे लड़नेवाली ! मैं भी सन्ध्याका हतना बादर करता हूँ ॥५२॥ हे पार्वती ! एक औरसे
 बहते हुए सन्ध्याकारके धिरी हुई सन्ध्या इस समय ऐसी जान पड़ रही है मानो पहले हुए गेरुकी
 धाराके एक किनारे समाप्तने पेड़ छाए हुए हो ॥५३॥ और दूसरी ओर अस्त होनेसे
 बचे हुए सन्ध्याके प्रकाशकी लाज रेखा पच्छिममें ऐसी दिखाई पड़ रही है मानो
 कुछ-भूमिमें टेढ़ी बनाई हुई सहस्ररी बरवास हो ॥५४॥ हे बड़ी-बड़ी प्राचीवाली !
 सूर्यास्त हो जानेसे रात और दिनका मेल करनेवाली साँझका सब प्रकाश तुम्हें पर्वतने
 नीचमें भा जानेसे जाता रहा और अब यह धीरे धीरे घनमाने ढगसे चारों ओर फैलता
 जा रहा है ॥५५॥ धीरे-धीरे फैल जानेसे न तो इस समय ऊपर कुछ दिखाई दे रहा है न नीचे,
 न पास-पास, न बाधे पीछे । इस रातने समय सारा सारा इस प्रकार धीरे-धीरे घिर गया है जैसे
 गर्भकी जिन्मीने लिपटा हुआ वास्तव पटा हो ॥५६॥ इस समय धीरे-धीरे, उबले और मँले, रात और
 पलने, सोये और टेडे सब एकसे हो गए हैं । नाहने जाय ऐसे दुष्टोका राज, जहाँ मले-धुरे एक पाट
 डगारे जाते हो ॥५७॥ हे वज्रके सनातन भुक्तवासी ! पूर्वं दिखाया प्रगल्भा भाग कुछ-कुछ ऐसा
 उज्ज्वल दिखाई पड़ रहा है मानो वेनवीके पुनका पराग ऊपर पँवा हुआ हो । इसीसे यह निश्चय

मन्दरान्तरितमूर्तिना निशा लक्ष्यते शशभृता सतारका ।
 त्वं मया प्रियसखीसमागता श्रोष्यतेव वचनानि शृणुतः ॥५६॥
 रुद्धनिर्गमनमादिनक्षयात्पूर्वदृष्टतनु चन्द्रिकास्मितम् ।
 एतदुद्गिरति चन्द्रमण्डलं दिग्दृश्यमिव रात्रिनोदितम् ॥५७॥
 पश्य पद्मफलिनीफलत्विषा विम्बलाञ्छितवियत्सरोम्भसा ।
 विप्रकृष्टविवरं हिमांशुना चक्रवाकमिश्रुनं विहग्न्यते ॥५८॥
 शक्यमोपधिपतेर्नवोदयाः कर्णपूरचनकृते तव ।
 अग्रगण्यवसुचिकोमलारच्छेत्तुमग्रनखसंस्पृष्टैः कराः ॥५९॥
 अङ्गुलीभिरिव केशसंचयं सच्चिगृह्य तिमिरं मरीचिभिः ।
 कृद्मलीकृतसरोजलोचनं शुश्रूषतीव रजनीमुखं शशी ॥६०॥
 पश्य पार्वति नवेन्दुरश्मिभिर्भिन्नसान्द्रतिमिरं नभस्तलम् ।
 लक्ष्यते द्विरदभोगदूषितं सप्रसादमिव मानसं सरः ॥६१॥
 रक्तभाषमपहाय चन्द्रमा जात एष परिशुद्धमण्डलः ।
 विक्रिया न खलु कालदोषजा निर्मलप्रकृतिषु स्थिरोदया ॥६२॥

जान पड़ रहा है कि रातका मंदिरा दूर करनेके लिये चन्द्रमा निकले बसे था रहे हो ॥५६॥ पद्यवि
 मानी चन्द्रोदय हुआ नहीं है पर भाग्यशामे तारे निकल आए हैं । इसलिये इस समय मन्दराक्षकके
 पीछे छिपे हुए चन्द्रमा इस तारोवाली राशमे ठीक ऐसे लगते हैं जैसे मैं मुन्हारे पीछे झाकर कुछ
 धोणोकी बात उस समय सुनता हूँ जब तुम अपनी सलियोंके साथ बैठकर बातें करती होती हो ॥५७॥
 जो चन्द्रमा दिनभर दिखाई नहीं देता था, वह इस समय निकला हुआ ऐसा लगता है मानो रातके
 कहनेसे यह चाँदनीके रूपमे मुस्कुराता हुआ पुनः दिखाके सब भेद जीते दे रहा हो ॥५८॥ हे
 पार्वती ! यह उदय होता हुआ चन्द्रमा इस समय पके हुए त्रियंगुके फलके समान जाल दिखाई पड़
 रहा है । इस समय भाकाशका चन्द्रमा घोर रातके पानीमे पड़ो हुई चन्द्रमाकी परछाई दोनों ऐसे
 लगते है मानो रात हैमिसे एकबी-एकमेवा जोड़ा दूर-दूर जा पड़ा हो ॥५९॥ चन्द्रमाकी निखरती
 हुई नई किरणों मे घोर कोमल बीके अँधुओंके समान गोमल हैं । तुम चाहो तो अपने बन्धुस
 मनानेके लिये अपने नखोंको नोचसे उन्हें तोड़ लो ॥६०॥ इस समय कमल मुँद गए हैं घोर
 चाँदनी फल जानेसे मंदिरा मिट गया है । इसलिये इस समय चन्द्रमा ऐसा लग रहा है मानो वह
 अपनी किरण-रूपी उग्नियोंसे रात-रूपी नायिकाके मुँहपर फँले हुए भँधेरे-रूपी बालोंको
 हटाकर उसका मुँह छुम रहा हो घोर रात भी उस चुम्बनका रस लेनेके लिये अपने
 कमल-रूपी नेत्र मुँदे बँठी हो ॥६१॥ हे पार्वती ! उठे हुए चन्द्रमाकी किरणोंसे
 पता मंदिरा मिट जानेपर भाग्यशामे ऐसा जान पड़ रहा है मानो हाथियोंकी जल-श्रीहाथे
 नैदला भावधरोवर निर्भय हो चला हो ॥६२॥ जब चन्द्रमाका चण्डल लताई छोड़कर पीरे-
 पीरे उजाता होने लगा है । ठीक जो है, क्योंकि जो निर्मल स्वभाववाले होते हैं उनमें यदि

उन्नतेषु शशिनः प्रभा स्थिता निम्रसंश्रयपरं निशातमः ।
 नूनमात्मसदृशी प्रकल्पिता वेधसा हि गुणदोषयोर्गतिः ॥६६॥
 चन्द्रपादजनितप्रवृत्तिमिथन्द्रकान्तजलविन्दुभिर्गिरिः ।
 मेखलातरुषु निद्रितानमून्बोधयत्पसमये शिखण्डिनः ॥६७॥
 कल्पवृक्षशिखरेषु संप्रति प्रस्फुरद्भिरिव पश्य सुन्दरि ।
 हारयष्टिरचनामिवांशुभिः कर्तुमागतकुतूहलः शशी ॥६८॥
 उन्नतावनतभाचवचया चन्द्रिका सतिमिरा गिरेरियम् ।
 भक्तिभिर्बहुविधाभिरर्पिता भाति भूतिरिव मच्चहस्तिनः ॥६९॥
 एतदुच्छ्वसितपीतमैन्दवं बोधुमक्षममिव प्रभारसम् ।
 मुक्तपदपदविरागमञ्जसा भियते कुमुदमानिवन्धनात् ॥७०॥
 पश्य कल्पतरुलम्बि शुद्धया ज्योत्स्नया जनितरूपसंशयम् ।
 मारुते चलति चण्डिके बलाद्वयज्यते विपरिवृत्तमंशुकम् ॥७१॥
 शक्यमङ्गुलिमिरुत्थितैरघः शाखिना पतितपुष्पपेशलैः ।
 पत्रजर्जरशशिप्रमालवैरेभिरुक्तनयितुं तबालकान् ॥७२॥

समयके करीबे सभी चोई दोप सा भी जाता है तो वह बहुत दिनोतक 'नहीं ठिक पाता ॥६५॥
 पर्वतोकी चोटियोंपर तो चांदनी फैल गई है पर घाटियों और खड्डोंमें सभी धँसेरा बना हुआ
 है । सपमुच ग्रहाने कुछ और होपकी कुछ जाल ही ऐसी बनाई है कि कुछ तो ऊँचे पर रहता
 है और दोप नीचेकी ओर बना जाता है ॥६६॥ चन्द्रमाकी किरण पड़नेके कारण हम पर्वतके
 चन्द्रवाग्न मणिकी चट्टानोंके जलकी बूँदें टपक रही हैं । इसलिये पर्वतकी शीतपर धूसीकी छायामें
 सोए हुए मोर, इन चूँदोंकी चर्पाकी बूँदें समनवर बिना चर्पा पाए ही जाग उठे हुए हैं ॥६७॥
 हे सुन्दरी ! इस समय कल्पवृक्षकी फूलगियोंपर चमकती हुई किरणोंको देखकर ऐसा जान पड़
 रहा है मानो चन्द्रमा अपनी किरणोंसे कल्पवृक्षोंमें चन्द्रहार बनाने या पहँचा हो ॥६८॥
 पहाड़ों ऊँच-नीचे होनेमें बड़ी लो चांदनी पड़ रही है और कहीं धँसेरा है । इसलिये वह ऐसा
 दिखाई पड़ रहा है मानो जिनकी भावाने हाथोंपर धनेक प्रकारकी विप्रकारी कर दी गई हो ॥६९॥
 वह जो भीरोंकी सूत्रने भरा हुआ कुमुद गिर रहा है, वह ऐसा सगवा है मानो सति से-सेकर
 इसने जो चण्डक चांदनी की लो लो उमे पचा म मचनेके कारण इसका पैठ फट गया हो और
 यह कराह रहा हो ॥७०॥ हे चण्डिके ! कल्पवृक्षमें सटके हुए चपड़ों और चन्द्रमाकी निर्मल
 किरणोंमें एक से होनेके कारण उनमें घोसा हो जाता है, पर वायुके चलनेपर जब चपड़े हिलने
 लगते हैं तब धपने साप पता चल जाता है कि यह चपड़ा हो है ॥७१॥ पत्तोंके चोपठे धनपर
 धरतीपर पड़नेवाली चांदनी ऐसी सुन्दर और मुदाबनी दिखाई दे रही है जैसे पेंडोंमें मड़े हुए
 फूल हो, इसलिये गुप्त भावों को फूलोंके समान दिखाई पड़नेवाले इन चांदनीके प्रयोग ही सुन्दर
 केत मूप दिए जायें ॥७२॥ जैसे नई-नई बट्ट पहनी बार मंभोगके टरने-वापती हुई माने पाँठके

एष चारुमुसि योग्यतारया युज्यते तरलविम्बया शशी ।
 साध्वसादुपगतप्रकम्पया कन्ययेव नवदीक्षया वरः ॥७३॥
 पाकमिन्नशरकाण्डगौरयोत्कृष्टसत्प्रकृतिजप्रसादयोः ।
 रोहतीव तव मण्डलेखयोश्चन्द्रविम्बनिहिताक्षि चन्द्रिका ॥७४॥
 लोहितार्कमणिभाजनापितं कल्पवृक्षमधु विश्रति स्वयम् ।
 त्वामियं स्थितिमतीमुपागता गन्धमादनवनाधिदेवता ॥७५॥
 आर्द्रकेसरसुगन्धि ते मुखं मत्तरक्तनयनं स्वभावतः ।
 अप्र सन्धवसतिर्गुणान्तरं किं विज्ञासिनि मदः करिष्यति ॥७६॥
 मान्यभक्तिरथवा सखीजनः सेव्यतामिदमनङ्गदीपनम् ।
 इत्युदारमभिधाय शंकरस्तामपाययत धानमम्बिकाम् ॥७७॥
 पार्ष्णीं तदुपयोगसम्भवां विक्रियामपि सतां मनोहराम् ।
 अप्रतर्क्यविधियोगनिर्मितामाप्रतेव सहकारतां ययौ ॥७८॥
 तत्क्षया विपरिवर्तितहियोर्नेप्पतोः शयनमिदरागयोः ।
 सा वभूय वशवर्तिनी द्वयोः शूलिनः सुवदना मदस्य च ॥७९॥
 धूर्णमाननयनं स्तलत्कथं स्वेदमिन्दु मदकारणस्मितम् ।
 आननेन न तु तावदीधरश्चक्षुषा चिरमुमामुखं पयौ ॥८०॥

पास जाती है बैसे ही है सुन्दरी ! मे टिमटिमाती हुई तरंगों भी कापती हुई चन्द्रमाके पास जा रही है ॥७३॥ हे सुन्दरी ! तुम जो चन्द्रमाकी घोर टकटकी लगाकर देख रही हो तो वैसे हुए छारकके समान गोरे-गोरे और अपनी स्वाभाविक प्रसन्नतासे खिले हुए तुम्हारे गाल ऐसे लप रहे हैं मावो बनपर चांदनी पड़ती सा रही हो ॥७४॥ ओ, तुम्हें यहाँ बँधी हुई देखकर लाख सूर्यकान्तामणिके प्यालेमें कल्पवृक्षकी मदिरा लिए हुए गन्धमादनकी बन्देकी अपने प्राण तुम्हारी आबमगत करने का पहुँची हैं ॥७५॥ तुम्हारी मतवाली भाँसें भी स्वभावसे ही लाल हैं इसलिये मदिरा पीनेसे भी तुमपर कोई विशेष प्रभाव तो पड़ेगा नहीं ॥७६॥ और फिर सखियोंका प्राग्रह दासता भी नहीं चाहिए, इसलिये ओ, यह कामको उक्ततासे जानो मदिरा पी ही ठामे । यद् जुभायनी बात कहकर छकरजोने घटी उदारतासे वह मदिरा पार्वतीजीको पिला दी ॥७७॥ जैसे वृषभसे प्रह्लादकी कृपासे मामका पेठ अधिक सुगन्धित होकर सहकार बन जाता है वैसे ही मदिरा पीनेसे पार्वतीजीका रूप कुछ ऐसा हो गया कि जननी स्वाभाविक सुन्दरता और भी बड़ गई ॥७८॥ मदिरा पीनेसे सुन्दर मुखवाली पार्वतीजी देखी मदमे खुर होकर छकरजीकी चोदने गिरी कि उनकी लाज जाती रही, उनकी काम बड़ गया और सबी दृष्टाने वे खयनापारमें पहुँच गई ॥७९॥ पार्वतीजीकी भाँसें चंचलतासे नाच रही थी मदके कारण झुँझे खोपी बोली नहीं निकल रही थी, मुँहपर पसीनेकी बूँद झलक रही थी और जिना बातके ही वे हँस-हँस पड़ रही थीं । पार्वतीजीके

तां, विलम्बितपनीयमेखलामुद्रद्वजघनभारदुर्वहाम् ।

॥ ध्यानसंभृतविभूतिरीश्वरः प्राविशन्मणिशिलागृहं रहः ॥८१॥

तत्र हंसधवलोत्तरच्छदं जाह्नवीपुलिनचारुदर्शनम् ।

॥ अध्वशेत् शयनं प्रियासखः शारदाभ्रमिव रोहिणीपतिः ॥८२॥

क्लिष्टकेशमवलुप्तचन्दनं व्यत्ययार्पितनखं समत्सरम् ।

॥ तस्य तच्छिदुरमेखलामुणं पार्वतीरतमभून्न तृष्ये ॥८३॥

केवलं प्रियतमादयालुना ज्योतिषामवनतासु पङ्क्तिषु ।

॥ तेन तत्प्रसिद्ध्यहीतवत्तसा नेत्रमीलनकुतूहलं कृतम् ॥८४॥

स व्यबुध्यत बुधस्तवोचितः शासकुम्भकमलाकरैः समम् ।

॥ मूर्च्छनापरिगृहीतकैशिकैः किञ्चरैरुपसि गीतमङ्गलः ॥८५॥

तौ शृणुं शिथिलितोपगूहनौ दम्पती चलितमानसोर्मयः ।

॥ पद्ममेदपिशुनाः सिपेधिरे गन्धमादनवनान्तमारुताः ॥८६॥

ऊरुमूलनखमार्गराजिभिस्तत्पशुं हतविलोचनो हरः ।

॥ वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वती प्रियतमामवारयत् ॥८७॥

उस मुखकी भगवान् शंकरने अपने मुँहसे चूमा नहीं, वरन् बहुत देर तक अपनी पालिते ही उनकी सुन्दरताकी पीते रहे ॥८०॥ सोनेकी करघनी लटकाकर अपने भारी नितम्बोंके बोझसे धीरे-धीरे चलनेवाली पार्वतीकी लिए हुए भगवान् शिव, मणिशिलाके गये हुए उस सुवसान घरमें पहुँचे जहाँ मुखकी सभी सामग्रियाँ उनके सोचने भरसे उत्पन्न हो गई थी ॥८१॥ जैसे रोहिणीके पति यश्रमा जगले बादलोंमें किशम करते-ये जान पड़ते हैं वैसे ही उस रातभारमें हंसके समान जगली चारदरवाले और गंगातीरके समान मनोहर दिखाई देनेवाले पलंगपर भगवान् शंकर अपनी प्रियतमाके साथ लेट गए ॥८२॥ दोनों एक दूसरेकी हृदयके लिए तुले हुए थे, इसलिये दोनों और शंकरजीने ऐसा संभोग किया कि दोनोंके केश छिन्न हो गए, चन्दन गुच्छ गया, मल-विह्वल भी हथके हथर हो गए और पार्वतीजीकी करघनी भी टूट गई फिर भी पार्वतीजीके साथ संभोग करके शंकरजीका जी नहीं गया ॥८३॥ पर रातके पिछले पहरमें जब तारे छिपने जा रहे थे तब केवल अपनी प्रियतमापर दया करके शंकरजीने उपाके हाथोंमें बंधे-बंधे ही सोनेके लिये अपनी पालि मँद ली ॥८४॥ और जब सुनहले कमल खिलने लगे और बोझा-वारी गन्धर्व मलाप मारो हुए शंकरजीका रंगस-मान करने लगे, उस उपा-कालमें देवताओंके पूज्य सिवजी जाग उठे ॥८५॥ उस समय गन्धमादन वनका जो पवन मानसरीवरसे सहारियाँ उड़ाता हुआ मन्द-मन्द बह रहा था और जिसे छू जानेसे ही मानो कमल खिलते जा रहे थे, उस वायुका उन दोनोंने बोझी देर तक मलग होकर ध्यानन्द लिया ॥८६॥ वायुके झोंकेसे बपड़ा हट जानेसे पार्वतीकी नंगी जाँघोंपर जो नखोंके निन्होंकी पीत दिखाई दे रही थी उसे सिवजी एकटक होकर देखा रहे थे और जब अपने ऊपड़े हुए कपड़ेको पार्वतीजी ठीक करने लगी तो सिवजीने उनका

स प्रजागरकषायलोचनं गाढदन्तपरिताडिताधरम् ।
 आकुलालकमरैस्त रामवान्प्रेक्ष्य भिन्नतिलकं प्रियासुरम् ॥८८॥
 तेन भिन्नविषयोत्तरच्छदं मध्यपिण्डितविस्रममेखलम् ।
 निर्मलेऽपि शयन निशात्यये नोज्झितं चरखरागलाञ्छितम् ॥८९॥
 स प्रियासुरसं दिवानिशं हर्षष्टुद्धिजननं सिपेविषुः ।
 दर्शनप्रणयिनामदृश्यतामालयाम विजयानिवेदनात् ॥९०॥
 समदिवसनिशीथं सञ्चिनस्तत्र शंभोः

शतमगमदत्तनां साप्रमेका निशेव ।
 न तु सुरतमुखेभ्यस्त्रिभूषणो यभूव
 ज्वलन इव समुद्रान्तर्गतस्तज्जलौघैः ॥९१॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतो कुमारसम्भवे महाकाव्ये
 उमासुरतवर्णनं नामाष्टमः सर्गः ॥

हाथ नाम लिया ॥८७॥ रातभर जाननेसे पारंगतीजीकी बाँलें साव हो रही थी, मोड़ोपर छिबनीके दाँवोंके घाव भरें पड़े थे, छँकारे हुए केश इपर-उपर छितरा गये थे और उनका तिलक भी धुँझ गया था । सपनी प्रियतमाके ऐसे मुसको देखकर प्रेमी भगवान् खँकर मगत हो चढ़े ॥८८॥ जिस पलंगपर वे सोए थे उसकी चादरमें सतवटें पड़ गई थी, बिना डोरीवाली दूटी भरपनी उसपर एकट्ठी हुई पड़ी थी और उसपर कहीं-वहीं पाँवके महावरकी छाप भी जहाँ-तहाँ लगी हुई थी । यह पलंग महादेवजीकी ऐसा ध्यारा हो गया था कि दिन निकल जानेपर भी उन्होंने पलंग छोड़नेका नाम न लिया ॥८९॥ प्रियतमाके मुख बढानेवांसे श्रीछोक २४ दिन-रात पीनेकी इच्छा करलेवाले शिवजीकी यह दशा हो गई कि यदि कोई उनके दर्शनको पाता तो निजवांसे पूजना पाने पर भी वे इतने तेजस्वकी इच्छा न निकलते ॥९०॥ तबसे तबसे इतना ही प्रियतमा पारंगतीजीके साथ समीप रहते हुए सँकड़ो वर्ष ऐसे बिता दिए मानो एक रात हो । पर भगवान् धरकरजीका भी इतने समीपसे भी उसी प्रकार नहीं भरा जैसे समुद्रके जलमें रहनेपर भी बड़वानलकी प्यास नहीं बुझ पाती ॥९१॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसम्भव महाकाव्यमें उमा-पारंगतीजीकी
 नाम-छोटा वर्णन नामका धाँवनी सधें समाप्त हुआ ।

॥ नवमः सर्गः ॥

तथाविधेऽनङ्गरसप्रसङ्गे मुखारविन्दे मधुपः प्रियायाः ।
 संभोगवेश्म प्रविशन्तमन्तर्ददर्श पारावत्तमेकमीशः ॥१॥
 सुकान्तकान्तामणितानुकारं कूजन्तमाधूर्णितरक्तनेत्रम् ।
 प्रस्फारितोन्नम्रयिनम्रकण्ठं मुहुर्मुहुर्न्यञ्चितचारुपुच्छम् ॥२॥
 विमृह्य पक्षतिपुग्ममीपद्धानमानन्दगतिं मदेन ।
 शुभ्रांशुवर्णं जटिलाग्रपादमितस्ततो मण्डलकैश्चरन्तम् ॥३॥
 रतिद्वितीयेन मनोमयेन हृदात्सुधायाः प्रविगाह्यमानात् ।
 तं वीक्ष्य फेनस्य चयं नवोत्थमिवाभ्यनन्दत्क्षणमिन्दमौलिः ॥४॥
 तस्याकृतिं कामपि वीक्ष्य दिव्यामन्तर्गवरत्नप्रविहंगमग्निम् ।
 विधित्तयन्तंसंविधिदे स देवो भ्रूमङ्गमीमश्च रुषा बभूव ॥५॥
 स्वरूपमास्थाय ततो हुताशस्त्रसन्वलत्कम्पकृताञ्जलिः सन् ।
 प्रप्रेषमानो नितरां स्मरारिमिदं बचो व्यक्तमथाध्वुवाच ॥६॥
 असि त्वमेको जगतामधीशः स्वर्गोक्तं त्वं विपदो निहंसि ।
 ततः सुरेन्द्रप्रमुखाः प्रभो त्वामुपासते दैत्यवरैर्विधूताः ॥७॥

नवमः सर्गः ,

जिन विगो पारंवीजीके मुख-कमलपर मीरेके समान चट्टू होकर शिवजी संभोग कर रहे थे
 उन्होंने दिनों एक बार शिवजी केलेते क्या है कि जिस घरमें वे संभोग कर रहे थे उसीमें एक कबूतर
 पुच भाया है ॥१॥ यह कबूतर बंसा ही मीठा बोल रहा था जैसे संभोगके समय सुन्दरियां बोलती
 हैं । उसकी लाल-लाल भालें इधर-उधर नाच रही थीं, वह कभी घपना कठ ऊंचा कर लेता था, कभी
 झुका लेता था और बार-बार अपनी पूंछ सिकोड़ता जाता था ॥२॥ चन्द्रबाके समान उजले
 रंगवाला कबूतर अपने पंखे समेटे हुए दोनों पक्ष सोले मस्तीका घानन्द लेता हुआ इधर-उधर उड़ता
 हुआ चक्कर लगा रहा था ॥३॥ उस कबूतरको देखकर शिवजी बड़े प्रसन्न हुए क्योंकि वह उन्हें
 ऐसा दिखाई दे रहा था मानो वह उस भ्रष्ट कुच्छकी गई फेनका पिह हो जिसमें कामदेवने रतिवे
 साप डुनकी लगा-लगाकर नहाया हो ॥४॥ पर जब गंगवानु झकरोने उसका रंग-रंग कुछ देवताओं
 का-सा देखा तो उनकी भाषा उनका और ध्यान लगाते ही वे समझ गए कि यज्जि ही यह कपट वेदा
 बनाकर भाया है । यह देखते ही ओषधे उनकी टेढ़ी भौंहें डरावनी बनकर तन गई ॥५॥
 शिवजीका यह रूप देखकर पत्निने घपना सज्जा रूप बनाकर, दोनों काँपते हुए हाथ जोड़कर, डरते
 घबराते घबराते हुए, सब बातें सच्ची-सच्ची कह सुनाई—॥६॥ गगबन् ! उसारके भाप ही तो
 एक स्वामी हैं । प्राप ही स्वयंमें रहनेवाले देवताओंकी विपत्तियोंकी मिटानेवाले हैं । हे प्रभो ! इगोलिए

त्वया प्रियाप्रेमवशंवदेन शतं व्यतीये सुरतादृतनाम् ।
 रहःस्थितेन त्वदवीक्षणार्तो दैन्यं परं प्राप सुरैः सुरेन्द्रः ॥ ८ ॥
 त्वदीयसेवावसरप्रतीक्षैरभ्यर्धितः शक्रमुखैः सुरैस्त्वाम् ।
 उपागतोऽन्वेष्टुमहं विहंगरूपेण विद्वन्समयोचितेन ॥ ९ ॥
 इति प्रभो चेतसि संप्रधार्य तवोऽपराधं भगवन्धमस्व ।
 पराभिभूता वद किं क्षमन्ते कालातिपातं शरणाधिनीऽमी ॥ १० ॥
 प्रभो प्रसीदाशु सृजात्मपुत्रं यं प्राप्य सेनान्यमसौ सुरेन्द्रः ।
 स्वर्लोकलक्ष्मीप्रभृतामवाप्य जगत्त्रयं पाति, तव प्रसादात् ॥ ११ ॥
 स शंकरस्तामिति जातवेदोविज्ञापनामर्थवतीं निश्रम्य ।
 अभूत्प्रसन्नः परितोषयन्ति भीर्भिर्गिरीशा रुचिराभिरीशम् ॥ १२ ॥
 प्रसन्नचेता मदनान्तकारः स तारकारेर्जयिनो भवाय ।
 शक्रस्य सेनाधिपतेर्जयाय व्यचिन्तयञ्चेतसि भावि किंचित् ॥ १३ ॥
 पुगान्तकालाग्निमिवाविप्लां परिच्युतं मन्मथरत्नभङ्गात् ।
 रसान्तरेतः स हिरण्यरेतस्यथोर्ध्वरेतास्तदमोघमाधात् ॥ १४ ॥
 अधोऽक्षवाण्यानिलदूषितान्तर्विशुद्धमादर्शमिवात्मदेहम् ।
 बभार भूम्ना सहसा पुरारिरेतः परिचेपकुवर्षमग्निः ॥ १५ ॥

मादि देवता जब-जब दैतोके हारते हे तब-तब वे आपकी ही शरणमें आते हैं ॥७॥ आपने
 तो प्रियाने प्रेमाने तो कर्ण तो सभोग में ही बिता दिए और आप यही ऐसे मनमें रखने लगे
 आपका दर्शन ॥ पाते हैं इन्द्र और दूसरे देवता लोग सब बड़े धराने लगे थे ॥८॥ हे भगवन् !
 अब इन्द्र मादि देवता अब आपके दर्शनके लिये बैठे घाट जोह रहे हैं । उन्हींके कहनेसे मैं आप-
 र्दूतने निपत्ता पा । मैंने मही जानकर वहीबा रूप बना लिया कि आप इस समय सभोग कर
 होगे ॥९॥ इसलिये हे प्रभो ! आप मेरा अपराध क्षमा कीजिए । आप ही लोग देखिए कि
 मोक्ष होकर और भवमागित होकर आपकी शरणमें आए हुए देवता लोग मला कितने दिनोत्तक
 मारे बैठे रह सकते थे ॥१०॥ इसलिये हे प्रभो ! आप प्रसन्न होकर खीझ ही अपने योगसे एक
 पुत्र उत्पन्न कीजिए जिसे सेनापति बनाकर इन्द्र भगवान् फिरसे स्वर्ग-लोकके स्वामी बनकर
 की कृपासे लोगो लोकोक पालन करें ॥११॥ अग्निकी ठीक-ठीक बात सुनकर शंकरजीका क्रोध
 ॥ रहा । क्योंकि जिन्हे बात करनेका डङ्ग आता है वे अपनी बातोंसे अपने स्वामियोंको प्रसन्न
 ही लेते हैं ॥१२॥ तब कामदेवकी बलानेवाले हँसमुख शंकरजीने ऐसा पुत्र उत्पन्न करनेका
 ार किया जो तारक राक्षसको जीत लके और सेनापति बनकर इन्द्रको जिता लके ॥१३॥ अपने
 को ऊपर खीच सबनेवाले शंकरजीका बहुत बोर्ये जो प्रलयवी घागके समान विद्योते सदा न पर
 नेवाला था, संयोगके अन्तमें निकल पड़ा उसे शंकरजीने अग्निमें दे दिया ॥१४॥ उसे लेते ही

त्वं सर्वभक्षो भव भीमकर्मा कुष्ठाभिभूतोऽनलधूमगर्भः ।
 इत्थं शशापाद्रिसुता हुताशं रुष्टा रत्नानन्दसुखस्य भङ्गात् ॥१६॥
 दक्षस्य शापेन शशी चयीव प्लुप्तो हिमेनेव सरोजकोशः ।
 वह्निरूपं वपुरुग्ररेतश्चयेन वह्निः किल निर्जगाम ॥१७॥
 स पावकालोकस्या विलवां स्मरत्रपास्मेरचिनम्रवक्राम् ।
 विनोदपामास गिरीन्द्रपुत्रीं शृङ्गारगर्भैर्मधुरैर्वचोभिः ॥१८॥
 हरो विकीर्णं घनघर्मतोयैर्नेत्राब्जनाङ्गं हृदयप्रियायाः ।
 द्वितीयकौपीनचलाञ्चलेनाहरन्मुखेन्दोरफलङ्गिनोऽस्याः ॥१९॥
 मन्देन स्थिताद्गुलिना करेण कम्पेन तस्या वदनारविन्दात् ।
 परामृशन्घर्मजलं ज्वहार हरः सहेलं व्यजनानिलेन ॥२०॥
 रतिश्लथं तत्कवरीकलापमंसावसक्तं विगलतप्रघ्ननम् ।
 स पारिजातोद्भवपुष्पमय्या स्रज्वा वयन्धामृतमूर्तिमौलिः ॥२१॥
 कपोलपाव्यां मृगनामिचित्रपत्रावलीमिन्दुमुखः सुमुख्याः ।
 स्मरस्य सिद्धस्य जगद्विमोहमन्त्रावरत्रेणिवोल्लिलेख ॥२२॥

अग्निना उज्जता शरीर एवम् ऐसा मृगता पद गया जैश मूहरी आपसे वषण धुंधला पद जाता है ॥१६॥ उधर समीपके मुखम इस प्रकार थाया पद जानेसे पार्वतीजी भी आगब-झुल हो उठी और उन्हें अग्निनी शाप दिया-जामो, तुम प्राणसे पवित्र प्रपवित्र सब वस्तुएं छात्रो और राताली वस्तुओं को जतानेका प्रयत्नव काम करो, जोड़ी हो जामो और सदा धुरेंगे मरे रहो ॥१७॥ महादेवजीका बीच लैनेसे अग्निना रूप ऐसा मिष्ट गया जैश दक्षने आपसे दाय रोषवाले चन्द्रमाका रूप, या पालेये मारे हुए कमलके बोझका रूप । वही रूप लेकर अग्नि वह्नि वाहर निकले ॥१८॥ अग्निने प्रचानक समीपके समय ही उन्हें देस दिया था इसीलिये पार्वतीजी कोषके मारे प्राप्ते वाहर हो गई । बाम और दाहिने मारे अपनी भैंस मुखराहुदमे दिखाती हुई और नीचा मुंह किए दिगड़ी चंडी हुई पार्वतीजीको प्रेम मरे भीठे वषांमि शरर भगवान् बट्वाव लमे ॥१९॥ पने पत्नीनेकी धुंदाके कारण पार्वतीजीकी आँखोरा आँखन जलने मूहपर दपर उधर फेंक गया था । शररजीकी प्राण-प्रियाये मुखादपर वे आँखनने मिन्दू ऐसे लग रहे थे मानो वे चन्द्रमाके बचन हो । महादेवजीने फेंका हुआ आँखन मरने मरनेये रोपीनगे पीछ जाता ॥२०॥ धरती माँ-री धँगुनियो बाले हाथोरो पधेरे समान भवकर मित्रजीने धीरे-धीरे पार्वतीने मुख कमलका मव पत्नीना मुता दिया ॥२१॥ मसीपने मवप झुका मुख जांछि पार्वतीजीने बाम वरोंपर फेंक गए थे धीरे दूडेमें लगे हुए सब पुन भी निरन मर वे । उस दूडेको महादेवजीने फिरसे पारिजातो फूलोनी मातासे वाप दिया ॥२२॥ चन्द्रे समान मुखरने दाहरजीने सुन्दर मुखवापी पार्वतीजीके गाल कम्पूरीने लेपके पीत रंग । उगे देगरर पद जान पडा मानो वह निजारी भी मिष्ट कामदेवने हाथोने लगे हुए थे

रथस्य कर्णविभि तन्मुखस्य ताटङ्कचक्रद्वितयं न्यभ्रात्सः ।
जगज्जिगीषुर्विषमेषुरेप ध्रुवं यमारोहति पुष्पचापः ॥२३॥
तस्याः स कण्ठे विहितस्तनाग्रां न्यधत् मुक्ताफलहारवल्लीम् ।
या प्राप मेरुद्वितयस्य मूर्ध्नि स्थितस्य गाङ्गाधसुगस्य लक्ष्मीम् ॥२४॥
नखत्रणश्रेणिधरे बबन्ध नितम्बविम्बे रशनाफलापम् ।
चलस्यचेतोभृग्वन्धनाय मनोमुवः पाशमिव स्मरारिः ॥२५॥
भालेक्षणश्रौ स्वयमञ्जनं स गङ्क्त्वा दृशोः साधु निवेश्य तस्याः ।
नवोत्पलाक्षयाः पुलकोपगूढे कण्ठे विनीलेऽङ्गुलिमुज्ज्वर्ष ॥२६॥
श्रलक्तकं पादसरोरुहाग्रे सरोरुहाच्याः किल संनिवेश्य ।
स्वमौलिगङ्गासलिलेन हस्तारुखत्वमसालयदिन्दुचूडः ॥२७॥
भस्मानुलिप्ते वपुषि स्वकीये सहेलमादर्शतलं विमृज्य ।
नेपथ्यलक्ष्म्याः परिभावनार्थमदर्शयक्षीबितवल्लभां सः ॥२८॥
प्रियेण दत्ते मणिदर्पणे सा संभोगचिह्नं स्ववपुर्विभाव्य ।
त्रपावती तत्र घनाञ्जुरामं रोमाश्रदम्भेन बहिर्बभार ॥२९॥

मम हों जिनसे वह ससारको बन्धन कर लिया करता है ॥२३॥ शहरजीने पार्वतीजीके दोनों बानो मे दो मोल ननकूल पहना दिए । उनसे इनका मुख ऐसा सुन्दर दिखाई देने लगा मानो यह बामदेवता ऐसा रथ हो जिसपर बैठकर वह तीनों लोकोंको जीतने निकला हो और वे दोनों कनकूल उठा रथके दोनों पहिए हो ॥२४॥ शहरजीने पार्वतीके गलेमें श्री मोतिधोका छार पहनाया वह उनसे रतनीवी घुड़ियोंकी छूवर छातीपर लटका हुआ ऐसा जान पड़ता था मानो दो सुमेध पर्वतोंकी चोटियोंसे बगलकी दो धाराएँ गिर रही हो ॥२५॥ शहरजीने पार्वतीजीके उन नितम्बीपर वरपत्री पहना दी जिनपर उनके हाथोंसे बने हुए मणोंके चिह्न धमक रहे थे । वह करघनी ऐसी सजती थी मानो कामदेवने अपने चञ्चल बिल रूपी मृगको बाँधने के लिये काँस लगाया हो ॥२६॥ उन्होंने अपने सजावटमे जलनेवाले मेथन स्वयं प्रजित पारपाद मये कमल जँझी भाँडोवाली पार्वतीजीके गयामे नानजन लपटा दिया और फिर उँगली मे लगा हुआ प्राँजन पोछनेके लिए वह जँझी अपने भीने कठमे रगड़ ली ॥२६॥ तब उन कमलगमनी पार्वतीजीके चरणवर्मनके पजोमे शहरजीने महावर लगाकर अपने तिरपर बहती हुई गंगाकी धारामे अपने हाथका रथ भी डाला ॥२७॥ यह सब करने में मगन होकर उन्होंने अपने मरम बने हुए धारीपर वर्षण रगड़कर पोछा और फिर अपने प्राणु-प्यारीकी सिंगारकी सजावट दिखानेके लिये वह दर्पण उनके बाने कर दिया ॥२८॥ शहरजीने हाथसे दिलाए हुए उरा वर्णामे अपने धारीपर बने हुए सभोगके चिह्न देखनेसे उन्हें सखनके मारे वो रोमान हो प्राया इसीसे उन्होंने जतला दिया कि हम शहरजीसे कितना प्रेम करती हैं ॥२९॥ अपने प्यारे

नेपथ्यलक्ष्मीं दयितोपकल्पतां सस्मेरमादर्शित्वे विलोक्य ।
 अमस्त सौभाग्यवतीषु धुर्यामात्मानमुद्धूतविलक्षभावा ॥३०॥
 अन्तः प्रविश्यावसरेऽथ तत्र स्निग्धे वयस्ये विजया जया च ।
 सुसंपदोपाचरतां कलानामङ्गे स्थितां तां शशिखण्डमौलेः ॥३१॥
 व्यधुर्वहिर्यङ्गलगानमुच्चैर्वैतालिकाश्चित्रचरित्रचारु ।
 जगुश्च गन्धर्वगणाः सशह्रस्वनं प्रमोदाय पिनाकपाणेः ॥३२॥
 ततः स्वसेवावसरे सुराणां गणैस्त्वदालोकनतत्परायाम् ।
 द्वारि प्रविश्य प्रणतोऽथ नन्दी निवेदयामास कृताञ्जलिः सन् ॥३३॥
 महेश्वरो मानसराजहर्मी करे दधानस्तनपां हिमाद्रेः ।
 संभोगलीलालयतः सहेलं हरो वहिस्तानमि निर्जगाम ॥३४॥
 क्रमान्महेन्द्रप्रमुखाः प्रणोम्युः शिरोनिबद्धाञ्जलयो गहेशम् ।
 प्रालेपशैलाधिपतेस्तनूजां देवीं च लोकत्रयमातर ते ॥३५॥
 यथार्तं तान्निघुधान्सिञ्ज्य प्रसाद्य मानक्रियया प्रतस्ये ।
 स नन्दिना दत्तभुजोऽधिकुल्य वृषं घृषाङ्कः सह शैलपुत्र्या ॥३६॥
 मनोतिवेगेन फकुञ्जता स प्रतिष्ठमानो गगनाध्वनोऽन्तः ।
 वैमानिकैः साञ्जलिभिर्वन्दे विहारहेलागतिभिर्गिरीशः ॥३७॥

पक्षिने हाथसे किए हुए सिंगारकी गोभा जब उन्होंने दर्पणमें देखी तो वे मुस्कुड़ा दी और तब क्रोध
 छोड़कर ऐसी प्रसन्न हो गई कि वे अपनेकी ससाराखी सब गोभाग्यवती क्रियांमें सबसे बड़कर
 समझने लगी ॥३०॥ तब जया और विजया नामकी मत्सियोंने देखा कि सब ठीक भयसर है । वे
 भट भीतर गई और राकरजीकी गोदमें बैठी हुई पार्वतीजीका श्रृङ्गार करने लगी ॥३१॥ उसी समय
 रांकरजीकी प्रमत्त करने के लिये चारणोंने उनके सुन्दर चरित्रके मनोहर मगस कीत गाने प्रारम्भ कर
 दिए और गन्धर्व लोग भी दास बजा-बजाकर गाने लगे ॥३२॥ महादेवजीकी सेवा करनेका डीक
 प्रपन्न जानकर गन्दी भी भीतर आ पहुँचे और उन्होंने रांकरजीसे प्रार्थना की देवता लोग धापके
 दर्शनके लिये बाहर आए खड़े हैं ॥३३॥ यह सुनकर अपनी प्राण-प्यारीके हाथमें हाथ डाले
 भगवान् रांकर देवताप्रति मिलनेके लिये उस समीप-चरके बाहर निरगत आए ॥३४॥ प्राते ही
 इन्द्र प्रादि देवताओंने धीरे-धीरे बारी-बारीके शिवजीको नया तीनों खोनोंकी माता पार्वतीजीको हाथ
 जोड़कर और तिर नयाकर प्रणाम किया ॥३५॥ रांकरजीने सब देवताओंका सम्मान करके उन्हें
 प्रसन्न किया और विदा दिया । तब नन्दीके हाथसे सहारे पार्वतीजीके साथ बैलपर चढ़कर वे स्वयं
 वहाँमें जा रहे ॥३६॥ मनने भी अचिन्त वेगने चलनेगाने उस बैलपर चढ़कर जब वे भावाप्त-
 मार्गमें जा रहे थे तब समय जो देवता भोग अपने-अपने विधानोंपर चढ़कर भावाप्तमें प्रभु रहे थे,

स्वर्वाहिनीवारिविहारचारी रत्नान्तनारीश्रमशान्तिकारी ।
 तौ पारिजातप्रसवप्रसङ्गो मरुत्सिपेवे गिरिजामिरीशौ ॥३८॥
 पिनाकिनापि स्फटिकचलेन्द्रः वैलासनामा कलिताम्वरांशः ।
 धृतर्द्धसोमोऽद्भुतभोगिभोगो विभूतिधारी स्व इव प्रपेदे ॥३९॥
 पिलोक्य यत्र स्फटिकस्य भित्तौ सिद्धाङ्गनाः स्वं प्रतिविम्बमारात् ।
 भ्रान्त्या परस्या विमुरीभवन्ति प्रियेषु मानग्रहिला नमस्तु ॥४०॥
 सुविभ्रितस्य स्फटिकांशुगुप्तेश्चन्द्रस्य चिह्नप्रकरः करोति ।
 गौर्यापितस्येव रसेन यत्र कस्तूरिकापाः शकलस्य लीलाम् ॥४१॥
 यदीयभित्तौ प्रतिविम्बिताङ्गमात्मानमालोक्य रुषा करीन्द्राः ।
 भ्रान्त्यनुभूतिभ्रमतोऽतिभीमदन्ताभिघातव्यसर्न बहन्ति ॥४२॥
 निशासु यत्र प्रतिविम्बितानि ताराकुलानि स्फटिकालयेषु ।
 दृष्ट्वा रत्नान्तच्युततारहारमुक्ताभ्रमं विभ्रति सिद्धवध्वः ॥४३॥

उन समये शिवजीकी हाथ जोड़कर प्रणाम किया ॥३७॥ उस समय प्राचास पहाके जलकी कुहारीति सीतल, पारिजातके फूलोंमें बसे हुए और सभोग करके यकी हुई मारीकी पञ्चाषट् मिटानेवाले पवनमें आकर शम्बरजी और पावतीजीकी बड़ी सेवा की ॥३८॥ यो चलते चलते भगवान् शकर स्फटिकके बने हुए पर्वतोंमें श्रेष्ठ कंठाक्षर आ पहुँचे । यह पहाड़ शम्बरजीके समान ही जगता या पयोकि अपने चटपटसे लकरजी सारे आकाशमें व्याप्त हैं और कंठाक्षरके भी चारों ओर प्राचास है । इसलिये दोनों ही प्राचाससे सजे हैं । सोम कहलानेवाले भगवान् शकरजी इस पर्वतपर रहते हैं और सोम कहलानेवाला चन्द्रमा महादेवजीके माथेपर रहता है । इसीलिये दोनों ही सोमकी धारणा करनेवाले हैं । इस पर्वतपर भोगी या कामी अद्भुत सभोग करते हैं और महादेवजीपर भोगी (प्रसिद्ध चाँप) भनूटे बगैले निपटे रहते हैं । इसलिये दोनों ही चनूटे भोगीवासे हैं । इस पर्वतपर बहुत विभूति (प्रसिद्ध रत्नमणि) आवि पाए जाते हैं और महादेवजीके शरीरपर विभूति (प्रसिद्ध भस्म) है । इसलिये दोनों ही विभूतिवाले भी हैं ॥३९॥ जब सिद्धोवी त्रिपर्णा अपने पतियोंके साथ कंठास पर्वतकी स्फटिककी दीवारोंके पास पहुँचकर अपनी परछाई देखती हैं तो उन्हें यह धोखा हो जाता है कि हवाके पति किसी दूसरी स्त्रीको तो साथ नहीं लिए हुए हैं । फल यह होता है कि अपने पतियोंके मनाते रहनेपर भी वे रुखी ही रहती हैं ॥४०॥ जब उस स्फटिकके बने हुए कंठाक्षर चन्द्रमाकी सुन्दर परछाई पड़ती है उस चन्द्रमाके कलभकी छाया तो दिखाई पड़ती है पर चन्द्रको छाया उसीमें मिल जाती है । वह कलभकी छाया ऐसी लगती है मानो पावतीजीने कस्तूरी पोसकर और उसकी चिड़ी बचाकर यहाँ छाप दी हो ॥४१॥ इसी पर्वतकी भीतोपर अपने अद्भुतकी छाया देखकर मतवाले हाथी उसे दूसरा मतवाला हाथी समझ बैठते हैं । इसलिये श्लेषमें भरकर अपने बाँतेसे ऊपर करारी दूँधों लेने लगते हैं ॥४२॥ यहाँवे स्फटिकके बने हुए गगनोपर जब तारोंकी परछाई पड़ती है तो सिद्धोकी त्रिपर्णाको यह धोखा हो जाता है कि वे नहीं सभोगके समय छूटकर गिरे हुए मोतियोंके दाने तो

नमथरीमएहनदर्पश्रीः सुधानिधिर्भूर्द्वनि यस्य तिष्ठन् ।
 अन्धर्षचूडामणितामुपैति शैलाधिनाथस्य शिवालयस्य ॥४४॥
 समीपिवांसो रहसि स्मरार्ता रिरंसवो यत्र सुराः प्रियाभिः ।
 एकाकिनोऽपि प्रतिविम्बभाजो विमान्ति मूयोभिरिवान्विताः स्वैः ॥४५॥
 देवोऽपि गौर्या सह चन्द्रमौलिर्यदृच्छया स्फाटिकशैलशृङ्गे ।
 शृङ्गारचेष्टाभिरनारताभिर्मनोहराभिर्व्यहरचिराय ॥४६॥
 देवस्य तस्य स्मरसुदनस्य हस्तं समालिङ्ग्य सुविभ्रमश्रीः ।
 सा नन्दिना येत्रभृतोपदिष्टमार्गा पुरोगेय कलं चचाल ॥४७॥
 चलच्छिखाग्रो विकटाङ्गभङ्गः सुदन्तुरः शुक्लसुतीक्ष्णतुण्डः ।
 अब्रवोपदिष्टः स तु शंकरेण तस्या चिनोदाय ननर्त भृङ्गी ॥४८॥
 कण्ठस्थलीलोलकपालमाला दंष्ट्राकरालाननमभ्यनृत्यत् ।
 प्रीतेन तेन प्रमुखा नियुक्ता काली कलत्रस्य मृदे प्रियस्य ॥४९॥
 भयङ्करी तौ विफटं नदन्तौ विलोक्य वाला भयविह्वलाङ्गी ।
 सरागमुत्सङ्गमनङ्गशशोर्गाढं प्रसङ्ग स्वयमालिलिङ्ग ॥५०॥
 उचुङ्गपीनस्तनपिण्डपीडं ससंभ्रमं तत्परिरम्भमीशः ।
 प्रपद्य सद्यः पुलकोपगूढः स्मरेण रुढप्रमदो ममाद ॥५१॥

गद्दी है ॥४३॥ अन्तराश्रमे के दर्पणके समान सुन्दर सगनेवाला चन्द्रमा जब इस बँलासपी चोटीपर
 भा पहुँचता है तब यह उस हिमालयका घनमोक्ष चूडामणि-सा लगने लगता है जिसपर शिवजी
 निवास करते हैं ॥४४॥ कामसे प्रीति देवता लोग अपनी-अपनी स्त्रियोंको साथ लेकर जब वहाँ
 एकान्तमें विहार करने आते हैं तब स्वर्ग अकेले होनेपर भी अनेक परछाईयाँ पत्थरके कारण उन्हें
 ऐसा जान पड़ता है मानो हमारे बहुतसे रूप हो गए हों ॥४५॥ उसी सुन्दर बँलासकी स्फटिककी
 चोटीपर शंकरजीने भी पार्वतीजीके साथ बहुत दिनोंतक समाचार जी भरकर अनेक प्रकारकी काम-
 लोटाएँ की ॥४६॥ अपनी रसीली चटन-मटकसे जो सुमानेवाली पार्वतीजी भी शंकरजीके हाथसे
 हाथ दिए हुए उन पक्षोपर घूमा करती थी वहाँ हाथमें बैठकर दण्ड लिए हुए नन्दी प्रागे-
 प्रागे मार्ग बताता चलता था ॥४७॥ शंकरजीकी भौंहोका सनेत पावर बड़े-बड़े दाँवोवाले,
 लहराती हुई चोटीवाले, टेढ़े-मेढ़े शरीरवाले धीरे उजले शेरके मुँहवाले भृगोने पार्वतीजीपा
 मन बहलानेके लिये कड़ा नाच दिलाया ॥४८॥ हँसमुख दिखाई देने वाले शंकरजीकी आज्ञा
 पाकर हिलती हुई ओपधियोंकी माता कण्ठमें पहननेवाली कानिवाले भी अपने डरावने दाँवोवाला
 मुँह बना-बनाकर अपने स्वाामीकी व्यातीका मन बहलानेके लिये नाच दिलाया ॥४९॥ इस प्रकार
 विपट रूपसे भयकर शब्द करते हुए भृंगी और बालीको देखते ही पार्वतीजीकी इस परराष्ट्रमें उनके

इति गिरितनुवाविलासलीला

विविधविभक्तिभिरेव तोषितः सन् ।

अमृतकरशिरोमणिर्गिरीन्द्रे

कृतवसतिर्विशिभिर्गणैर्नन्द ॥५२॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतो कुमारसम्भवे महाकाव्ये
कैलासगमनो नाम नवमः सर्गः ॥

उठे हुए घोर मोटे-मोटे स्तम्भोंके अपनी छातीपर लगते ही शकरजी भगव ही उठे घोर उनमें मनमें
इतना काम उत्पन्न हो गया कि वे प्रेममें मगलवाले हो उठे ॥५१॥ इस प्रकार श्री पार्वतीजीकी
अनेक हाव-भाव भरी लीलाओं घोर अनेक प्रकारके सभोगसे सन्तुष्ट होकर भगवान् शकरजी अपने
साथ कैलासपर रहनेवाले गणोंके साथ बड़े प्रसन्न हुए ॥५२॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसम्भव महाकाव्यमें कैलास गमन
नामका नवमं समाप्त हुआ ॥

॥ दशमः सर्गः ॥

आससाद सुनासीरं सदसि त्रिदशैः सह ।
 एष त्रैयम्भकं तीव्रं वहन्वह्निर्महन्महः ॥१॥
 सहस्रेण दशामीशः कुत्सिताङ्गं च सादरम् ।
 दुर्दर्शनं ददर्शाग्निं धूम्रधूमितमण्डलम् ॥२॥
 दृष्ट्वा तथाविधं वह्निमिन्द्रः क्षुब्धेन चेतसा ।
 व्यचिन्तयच्चिरं किञ्चित्कन्दर्पद्वेपिरोजसम् ॥३॥
 स विलक्ष्यमुखैर्देवैर्वीक्ष्यमाणः क्षणं क्षणम् ।
 उपाविशत्सुरेन्द्रेणादिष्टं सादरमासनम् ॥४॥
 हव्यवाह त्वयासादि दुर्दर्शयं दृष्ट्वा कुतः ।
 इति पृष्टः सुरेन्द्रेण स निःश्वस्य वनोऽवदत् ॥५॥
 अततिक्रमणीयाचे शासनात्सुरनायक ।
 पारावत वपुः प्राप्य वेपमानोऽविसाध्वसात् ॥६॥
 अभिगौरि रतासक्तं जगामाह महेश्वरम् ।
 कालस्येव स्मरारातेः स्व रूपमहमासदम् ॥७॥
 दृष्ट्वा छन्ननिहङ्गं मां सुज्ञो विन्नाय जम्भभित् ।
 ज्वलन्नालानले होतुं कोपतो माममन्यत ॥८॥

दशमो सर्गः

शक्रजीके उस जसते हुए वीर्यको लेकर अग्नि उस समाम पहुँचे, जहाँ इन्द्र भगवान् देवतामा
 के साथ बैठे हुए थे ॥१॥ इन्द्रने बड़े आदरके साथ अपनी सहस्रो आँखोंसे उन अग्निकी ओर देखा
 जिनके स्रग वेष्टे भड़े शीर भुँसे कैसे पट गए थे ॥२॥ अग्निका यह रूप दत्तकर इन्द्र बड़े दुखी
 हुए और बोला देर सोचते ही ये समझ गए कि शक्रजीके श्लेषसे ही अग्निकी यह दशा हुई है ॥३॥
 जिन अग्निकी ओर सब देवता बड़े दुखी होकर बराबर देख रहे थे उन्हें इन्द्रने सवेतसे एक आसनपर
 बैठा दिया ॥४॥ और उन्होंने अग्निदेवसे पूछा—'वह्नि ! आपकी यह दुर्दशा कैसे हो गई ?' तब तभी
 साँस लेकर अग्निदेव कहने लगे—॥५॥ 'हे देवेन्द्र ! आपकी भटल आश्रितों में कबूतर वनक
 बड़ा डरता डरता महादेवजीके पास पहुँचा । उस समय ये पार्वतीजीके साथ समीप कर रहे थे ।
 मुझे पहचानते ही जब वे श्लेषके मारे महाशयके समान भयभर हो गए, तब मैंने कबूतरका
 रूप छोड़कर बरके मारे अपना सच्चा रूप बना लिया ॥ ६-७ ॥ हे इन्द्र ! मुझे पक्षीके रूप
 वेष देखकर अब कुछ जाननेवाले शक्रजीनो ऐसा क्रोध आया कि वे मुझे अपने जलाटनी

वचोभिर्मधुरैः सार्धैर्विनम्रेण मया स्तुतः ।
 प्रीतिमानभवद्देवः स्तोत्रं कस्य न तुष्टये ॥६॥
 शरण्यः सकलवाता मामवापन्न शंकरः ।
 क्रोधाग्नेर्ज्वलतो आसात्त्रासतो दुर्निवारतः ॥१०॥
 परिहृत्य परीरम्भरभमं दुहितुर्गिरेः ।
 कामकेलिरसोस्तेऽक्राद्व्रीडया विरराम तः ॥११॥
 रङ्गमङ्गच्युतं रेतस्तदामोघं सुदुर्बलम् ।
 त्रिजगदाहकं सयो मद्विग्रहमधि न्यघात् ॥१२॥
 दुर्विपक्षेण तेनार्हं तेजसा दहनारम्भना ।
 निर्दग्धमात्मनो देहं दुर्वहं वोढुमद्यमः ॥१३॥
 रौद्रेण दहमानस्य महसाविमहीयसा ।
 मम प्राणपरिवाणप्रगुणो भव वामव ॥१४॥
 इति श्रुत्वा वचो बह्वैः परितापोपशान्तये ।
 हेतुं विचिन्तयामास मनसा विमुषेधरः ॥१५॥
 तेजोदग्धानि गात्राणि पाणिनास्य परामृशन् ।
 किञ्चित्कृपीटयोनिं तं दिवस्पतिरमापत ॥१६॥

जलती हुई आगमें लीम ही देते ॥ ६ ॥ पर मैंने बहुत निहविडाकर बड़े समय-भरे मीठे शब्दोंमें उसकी बड़ी स्तुति की तो वे विपन्न गए, क्योंकि अपनी प्रसन्नता भला विदुषी नहीं धक्की लगती ॥ ६ ॥ यह तो आप जानते ही है कि शकरजीकी शरलमें जो पहुँच जाता है उसकी ओर सारे जगतकी वे रता करते ही हैं । इसलिए उनके कोपकी जलती हुई गिर घाएँ कोई बच नहीं सकता उसकी आहुति बनते-बनते में बन गया ॥ १० ॥ उन्होंने भक्त पार्वतीजीके कसपर बँधे हुए हाथोंसे खपनेको छुड़ा लिया और लज्जामें कारण, सम्भोगके सुखकी इच्छा छोड़कर वे हट गए ॥ ११ ॥ सम्भोगवे बीचमें ही खपे भव होनेसे उनका जो तानों लोकोको जलानेवाला और निसीसे भी सहा न जा खपनेवाला अचूक बीचें निकला, वह उन्होंने मेरे शरीरमें डाल दिया ॥ १२ ॥ भव में उस भस्म जलने हुए देखते इतना जला जा रहा है कि मुझे अपना शरीर भी भारी हो रहा है ॥ १३ ॥ हे हन्त्र ! महादेवजीके इस अत्यन्त भयानक तेजसे मेरा तारा शरीर जला जा रहा है इसलिए अब आप निसी भी प्रकार मेरे प्राण बचानेवा पदा कीजिए ॥ १४ ॥ अग्निजी मे वातें सुनकर देवराज इन्द्र खपने मनमें बोई ऐसा उपाम सोचने लगे जिससे अग्निजी जलन बंद जाय ॥ १५ ॥ महादेवजीके तेजसे जलते हुए अग्निवे भगोपर

ग्रीतः स्वाहास्वधाहन्तकारैः ग्रीण्यसे स्वयम् ।
 देवान्पितॄन्मनुष्यांस्त्वमेकस्तेषां भुम्भ्वं यतः ॥१७॥
 त्वयि जुहति होतारो हवींषि ध्वस्तकल्मषाः ।
 भुञ्जन्ति स्वर्गमेकस्त्वं स्वर्गप्राप्तौ हि कारणम् ॥१८॥
 हवींषि मन्त्रपूतानि हुताग्ने त्वयि जुहति ।
 तपस्विनस्तपःसिद्धिं यान्ति त्वं तपसां प्रभुः ॥१९॥
 निधत्से हुतमर्काय स पर्जन्योऽभिषर्पति ।
 ततोऽन्नानि प्रजास्तेभ्यस्तेनासि जगतः पिता ॥२०॥
 अन्तधरोऽसि भूतानां तानि त्वत्तो भवन्ति च ।
 ततो जीवितभूतस्त्वं जगतः प्राणदोऽसि च ॥२१॥
 जगतः सफलस्यास्य त्वमेकोऽस्युपकारकृत ।
 कार्योपपादने तत्र त्वत्तोऽन्यः कः प्रगल्भते ॥२२॥
 अग्नीषां सुरसंधानां त्वमेकोऽर्थसमर्थने ।
 विपत्तिरपि संश्लाघ्योपकारव्रतिनोऽनल ॥२३॥
 देवी भागीरथी पूर्वं भक्त्यास्माभिः प्रतोषिता ।
 निमज्जतस्तबोदीर्घं तामं निर्वपयिष्यति ॥२४॥

हाथ फेरते हुए इन्द्र बोले—॥ १६ ॥ हे अग्नि ! देखो, जब हवन करनेवाले होता लोग स्वाहा, स्वधा और षण्ण कहकर हवन करते हैं उस समय तुम प्रसन्न होकर देवों, पितरों और मनुष्यों को प्रसन्न करते हो, क्योंकि तुम्हारे ही मुखसे तो सबको भयना भयना भाग मिलता है ॥ १७॥ होता लोग तुमसे हवन करके पापसे छूटकर स्वर्गलोकमें जाकर सुख भोगते हैं । वे एव तुम्हारे ही सहारे तो स्वर्गतक पहुँच पाते हैं ॥ १८ ॥ हे अग्नि ! यज्ञ करनेवाले तपस्वी लोग मन्त्र पढ़कर जो तुम्हें माहुति देते हैं उससे वे अपनी तपस्याका पूरा फल पा जाते हैं क्योंकि तपके देवता भी तो तुम्हीं हो ॥ १९॥ सूर्यके लिये जो माहुति दी जाती है उसे तुम धरोहरकी भाँति लेकर जगह दे देते हो । भुम्भ्वे उसे बादल बनाकर वरखा देते हैं, जिससे अन्न पैदा होता है और फिर उसी अन्नसे ससारके प्राणियोंका पेट पलता है । इस प्रकार सारे ससारके पिता भी तुम्हीं हो ॥ २०॥ हे अग्नि ! सब प्राणियोंके भीतर तुम्हीं तो रहते हो और वे सब तुम्हींसे उत्पन्न होते हैं । इसलिये तुम्हीं ससारके जीवन और प्राण देनेवाले हो ॥ २१ ॥ इस समूचे ससारका भला करनेवाले एक तुम्हीं तो हो, इसलिए ऐसी रासिका काम तुम्हें छोड़कर और सहन ही भोग कर सकता है ॥ २२॥ हे अग्नि ! तुम्हीं तो एक ऐसे हो जो देवताओंका नाम साध सकते हो । देखो ! जो दूसरोंकी मलाई करनेका बीड़ा उठाते हैं वे जो कष्ट सहते हैं यह भी सबे गौरव और बड़ाईकी बात होती है ॥ २३॥ देखो !

गङ्गा तद्वच्च मा कार्पाविलम्बं हव्यवाहन ।
 कार्येष्ववश्यकार्येषु सिद्धये विप्रकारिता ॥२५॥
 शंभोरम्भोमयी मूर्तिः मैव देवी सुरासगा ।
 त्यक्तः स्मरद्विपो बीजं दुर्घरं धारयिष्यति ॥२६॥
 इत्पुदीर्य शुनासीरो विरराम स चानलः ।
 तद्विपुष्टस्तमापृच्छथ प्रतस्थे स्वर्धुनीमभि ॥२७॥
 हिरण्यरेतसा तेन देवी स्वर्गतरङ्गिणी ।
 तीर्थाध्वना प्रपेदे सा निःशेषक्लेशनाशिनी ॥२८॥
 स्वर्गारोहणनिःशेषमोक्षमार्गाधिदेवता ।
 उदारदुरितोद्धारहारिणी दुर्गतारिणी ॥२९॥
 महेश्वरजटाजूटवासिनी पापनाशिनी ।
 सगरान्वयनिर्वाणकारिणी धर्मधारिणी ॥३०॥
 विष्णुपादोदकोद्भूता ब्रह्मलोकादुपागता ।
 त्रिभिः ह्योतोभिरश्रान्तं पुनाना भुवनत्रयम् ॥३१॥
 जातवेदसमायान्तमूर्मिहरतैः ममृत्थितैः ।
 आजुहावार्थसिद्धयै तं सुप्रसादधरेव सा ॥३२॥

वहिरार्ता युगान्ताग्नेस्तप्तानीव शिखाशतैः ।
 हित्योष्णानि जलान्यस्या निर्वग्मूर्जलजन्तवः ॥४१॥
 तेजसा तेन रौद्रेण तप्तानि सलिलान्यपि ।
 समुदञ्चन्ति चण्डानि दुर्धराणि धमार सा ॥४२॥
 जगच्चक्षुषि चण्डांशौ किञ्चिदम्युदयोन्मुखे ।
 जस्रः पट् कृत्तिका भाघे भासि स्नातुं सुरापगाम् ॥४३॥
 शुभ्रैरभ्रकपैरुमिश्रितैः स्वर्गनिवासिनाम् ।
 कथयन्तीमिवालोपगवाहाचमनादिकम् ॥४४॥
 सुस्नातानां शुनीन्द्राणां वलिकर्मोचितैरलम् ।
 वहिः पुष्पोत्करैः कीर्षतीरां दूर्वावतान्वितैः ॥४५॥
 ब्रह्मध्यानपरैर्योगपरैर्ब्रह्मासनस्थितैः ।
 योगनिद्रागतैर्योगपट्टबन्धैरुपाश्रिताम् ॥४६॥
 पादाद्गुह्याग्रभूमिस्थैः सूर्यसंवद्धदृष्टिभिः ।
 ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म मृण्डिरुपसेविताम् ॥४७॥
 अथ दिव्यां नदीं देवीमभ्यनन्दन्विलोक्य ताः ।
 कं नाभिनन्दयत्येषा दृष्टा पीयूषवाहिनी ॥४८॥

जैसे प्रलयकी धायकी सैकड़ों लपेटोंके तपे हुए परम जलको छोड़कर जलके जीव पानीसे बाहर निकल आते हैं वैसे ही गंगाजीके तपते हुए जलको छोड़कर सब जीव भी पबराकर बाहर निकल आए ॥४१॥ इसके उस भयानक तेजसे जब वह जल घट्यन्त तप चला तब वह भयकर जल उबलकर ऐसा गरम हो गया कि छुमा तक नहीं जा सकता था, फिर भी गंगाजी उबे लिये ही रही ॥४२॥ एक दिन भाग्यके महीनेमें जब सप्तराके तेज रूप प्रपञ्च विरल्योवाले भगवान् सूर्य घोड़े-घोड़े निकल रहे थे उस समय क्षत्री कृत्तिकाएँ नहानेके लिये गंगाजीके तीरपर आईं ॥४३॥ उस समय गंगाजीकी उजली और चाकस भूमनेवाली सैकड़ों तरंगें उबल-उबलकर मानो यह बता रही थी कि स्वर्गमें रहनेवाले देवता लोग यही आकर दर्शन, स्नान और आचमन किया करते हैं ॥४४॥ वहाँ तीरपर फूल, दूब, घसल आदि वे सब पूजाकी सामग्री पिसरी पड़ी थी जो भुनियोने भली प्रकार स्नान पूजा करके यहाँ चढ़ा रखी थी ॥४५॥ उसी तीरपर कुशने वासनीपर पद्मासन बाँधकर ब्रह्माका ध्यान करते हुए और समाधि लगाए हुए ऋषि लोग कमरसे घुटने तक कपड़े छोड़े सदा बैठे रहते हैं ॥४६॥ और वहींपर पर्वने खँबूठेपर सटे होकर सूर्यकी ओर झाल लगाए हुए ब्रह्मर्षि परम ब्रह्माका ध्यान किया करते हैं ॥४७॥ ऐसी दिव्य गदीकी उन क्षत्री कृत्तिकाओने प्रणाम किया । भला ऐसी धमृत्की धारावाली गंगाजीको देखकर कौन नहीं

चन्द्रचूडामणिर्देवो यामुद्रहति मूर्धनि ।
 यस्या विलोकनं पुण्यं श्रद्धयुक्ता मुदा हृदि ॥४६॥
 दिव्यां विष्णुपर्दीं देवीं निर्वाणपददेशिनीम् ।
 निर्धूतकल्मषां मूर्ध्ना सुग्रहास्ता ववन्दिरे ॥४७॥
 सौभाग्यैः खलु सुप्रापां मोक्षप्रतिभुवं सतीम् ।
 भक्त्यात्र तृप्त्युक्तां ताः श्रद्धाया दिव्योष्णीम् ॥४८॥
 मुक्तिस्त्रीसङ्गदृष्ट्यज्ञैस्तत्र ता विमलैर्जलैः ।
 प्रक्षालितमलाः सस्तुः सुस्नातास्तपसान्विताः ॥४९॥
 स्नात्वा तत्र सुलभ्यायां माग्यैः परिपचेलिमैः ।
 चरितार्थं स्वमात्मानं बहु ता मेनिरे मुदा ॥५०॥
 कुशानुरेतसां रेतस्तासामभिकलेवरम् ।
 श्रमोर्धं संचचाराथ सद्यो गङ्गावगाहनात् ॥५१॥
 रौद्रं सुदुर्द्धरं धाम दधाना दहनात्मकम् ।
 परितापमवापुस्ता मग्ना इव विषाम्बुधौ ॥५२॥
 अक्षमा दुर्बहं षोडशम्बुनो बहिरातुराः ।
 धाम्नि ज्वलन्तमन्तस्ता दधाना इव निर्ययुः ॥५३॥

मुग्ध हो जायगा ॥४६॥ स्वयं भगवान् शनर, जिन गंगाजीकी भक्तकपर रखते हैं, जिनके दर्शन करनेसे ही पुण्य होता है उन गंगाजीकी देखकर छद्मो कृत्तिकार्दे मनमें बड़ी प्रसन्न हुई और उनके मगने गंगाजीके लिये बड़ी श्रद्धा पाप उठी ॥४७॥ उन कृत्तिकामोने मुक्ति देनेवाली, विष्णुके चरणोंके निवसनेवाली और पार्ष्णीका माया करनेवाली गंगाजीकी बड़ी भक्तिये बन्दना की ॥४८॥ जिनका बड़े सौभाग्यसे दर्शन होता है और जो साक्षात् मोक्ष हो है उन गंगाजीकी स्तुति कृत्तिकामोने बड़ी भक्तिये साथ की ॥४९॥ और तब उन तपस्विनी कृत्तिकामोने जी भर मलमलकर गंगाजीके उस निर्मल जलमें स्नान किया जो ऐसा समता था मानो भुक्तिके पास ही पहुँचा रहा हो ॥५०॥ जिन गंगाजीमें पिछले जन्मके पुण्यवान् लोग ही स्नान करपाते हैं उन गंगाजीमें बड़े प्राणन्द के साथ स्नान करके उन कृत्तिकामोने अपने भाम्यकी बड़ा सराहा ॥५१॥ जब वे गंगाजीमें स्नान कर रही थी उस समय शकरबीजा बचूक बीर्य गंगाजीसे निकलकर उन कृत्तिकामोने शरीरमें पेट गया ॥५२॥ तब तपस्विनीके उस भयकर प्रसङ्ग अग्निके समान बीर्यके धारानेसे वे बहुत तप्त हो उठी और उन्हें ऐसा जान पड़ा मानो हम विषके समुद्रमें हो हुए गई हैं ॥५३॥ निदान उस प्रसङ्ग तेजको बहुत देर तक न सह सकनेके कारण वे भीतर ही भीतर जलती हुई उस तेजको लिए

अमोघं शोभवं वीजं सद्यो नद्योज्झितं महत् ।
 तासामभ्युदरं दीप्तं स्थितं गर्भत्वमागमत ॥५७॥
 सुज्ञा विज्ञाय ता गर्भाभूतं तद्बोद्धुमन्मताः ।
 विषादमदधुः सद्यो गाढं भव्मभिया हिया ॥५८॥
 अकामकरणं जानककाण्डे भाविनोऽर्थतः ।
 संभूयान्योन्यमात्मानं शुश्रूषुस्तास्तदाविलम् ॥५९॥
 ततः शरवणे सार्धं भयेन ग्रीहया च ताः ।
 तद्गर्भजातमुत्सृज्य स्वान्गृहानभिनिर्गयुः ॥६०॥

ताभिस्तत्रामृतकरकलाकोमलं भासमानं
 तद्विदिप्तं वृणमभिनभोगर्भमभ्युज्जिहानैः ।
 स्वैस्तेजोमिर्दिनपतिशतस्पर्धमानैरमानै
 र्वक्त्रैः षड्भिः स्मरहरगुरुस्पर्धयेवाञ्जनीव ॥६१॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृती कुमारसभवे महाकाव्ये
 कुमारोत्पत्तिर्नाम दशमः सर्गः ॥

जलते पादर निमली ॥५६॥ शकरजीका वह भवता हूमा मन्त्रक वीर्यं यवाजीते छूट जानेपर
 उन कृत्ति काभोके पैदने पहुँचकर गर्भ धन गया ॥५७॥ जब उन कृत्तिकामोने देखा कि वह तेज तो
 गर्भ धन गया है तोर हमसे सँमाने नहो सँभलेगा तब वे बुद्धिमती कृत्तिकाएँ अपने-अपने पतिमोके
 डरसे श्रीर लाजके मारे मजी दुखी हो गई ॥५८॥ होनहार बाले उस अनिच्छित जनवसरके गर्भकी
 उन छोटी कृत्तिकामोने परस्पर मिलकर सेवा की ॥५९॥ श्रीर तब उस लज्जा और भयके कारण वे
 एक सरपतके जगलमे अपने-अपने गर्भ छोड़कर अपने-अपने घर लौट गई ॥६०॥ कृत्तिकामोने उस
 सरपतके जगलमे जो चन्द्रमानी फिरशोके रागान कोमल और शेजस्वी गर्भ छोड़े वे वे ऐसे तेजस्वी
 बन गए कि उनका तेज उदय होते हुए सँकड़ों सूर्यों से भी होठ करता था और अपने छ मुसोसे
 वे बार मुलपाले प्राणको भी मानो चुनोती दे रहे थे ॥६१॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसभवे महाकाव्यमे
 कुमार का जन्म वखन नामक दसवीं सर्ग समाप्त हुआ ।

चन्द्रचूडामणिर्देवो यामुद्वहति मूर्धनि ।
 यस्या विलोकनं पुण्यं श्रद्धयुक्ता मुदा हृदि ॥४६॥
 दिव्यां विष्णुपदीं देवीं निर्वाणपददेशिनीम् ।
 निर्धूतकल्मषां मूर्ध्ना सुप्रहास्ता ववन्दिरे ॥४७॥
 सौभाग्यैः खलु सुप्राणां मोक्षप्रतिश्रुतं सतीम् ।
 भक्त्यात्र तपुद्वुक्तां ताः श्रद्धाया दियोधुनीम् ॥४८॥
 हृत्किस्त्रीगद्गदस्पर्शस्तत्र ता विमलैर्जलैः ।
 प्रक्षालितमलाः सस्तुः गुस्तातास्तपसान्विताः ॥४९॥
 स्नात्वा तत्र मुलम्पायां मार्ग्यैः परिपचेलिमैः ।
 शरितार्थं स्वमात्मानं बहु ता मेनिरे मुदा ॥५०॥
 पुशानुरेतमा रेतस्तासामभिकलेररम् ।
 शमोषं मंचचाराध सद्यो गद्गावगाहनात् ॥५१॥
 रीदं मुदुर्दरं धाम दधाना दहनात्मकम् ।
 परितापमवापुस्ता मग्ना इव विषाम्युधौ ॥५२॥
 अक्षमा दुर्बलं वोढुमम्युनो बहिरातुराः ।
 अग्निं ज्वलन्तमन्तस्ता दधाना इव निर्ययुः ॥५३॥

मुनि हो जायता ॥४६॥ स्वयं भयमात्र शरत्, जिन गंगात्रीकी मस्तकपर रखी है, जिनके दर्शन करनेमें ही पुण्य होता है उस गंगात्रीकी देगलर लक्ष्मी कृतिर्दाई मनमें बड़ी प्रशंसा हुई और तारी लक्ष्मी गंगात्रीके चिते बड़ी बड़ा बाग उठी ॥४६॥ उन इतिहासमें, मुनि देवेवाणी, विष्णुके चरणोंमें निजगनेपाणी और पादोच साध करदेवाणी मगार्थ की बड़ी भक्तिमें बन्दना की ॥४७॥ शिवदा बड़े सौभाग्यमें दर्शन होता है और जो माया मोक्ष हो है उस गंगात्रीकी मुक्ति इतिहासमें बड़ी भक्तिमें साध की ॥४८॥ और जब उन मणिकों कृतिर्दाधोन जो भर मन्मथर गंगात्रीके जग निमेष जगमें लक्ष विषा जो ऐसा मग्ना या मानो मुक्ति के धाम ही पहुँचा जा हो ॥४९॥ जिन मागर्थ में विपरीत जगमें पुनर्जात मोक्ष हो स्नान करपाये है उस गंगात्रीमें बड़े मागर्थ के लक्ष स्नान करने उन इतिहासमें माने मागर्थों बड़ा मग्ना ॥५०॥ जब वे गंगात्रीमें स्नान कर रही थीं उस समय इन्द्रकीश इन्द्र की बड़ी गंगात्रीमें निजगने जा इतिहासों सारीमें देह लक्ष ॥५१॥ तब निजकी वे जग मन्मथ मग्ना धमिके मग्ना मोक्ष के मागर्थ में बड़ा हो रही और उनके लक्ष जा बड़ा मागर्थ इतिहास में बड़ा हो ॥५२॥ निज जग मन्मथ मग्ना बड़ा देह लक्ष मग्ना मग्ना के मागर्थ हो और जग में बड़ा हो ॥५३॥

अमोघं शंभवं वीजं सद्यो नद्योज्झितं महत् ।
 तासामभ्युदरं दीप्तं स्थितं गर्भत्वमागमत् ॥१७॥
 मुञ्चा विज्ञाय ता गर्भीभूतं तदोद्धमचमाः ।
 विषादमदधुः सद्यो माहं भर्तृमिया हिया ॥१८॥
 अकामकरणं ज्ञानमकाण्डे भाविनोऽर्थतः ।
 संभूयान्योन्यमात्मानं शुश्रुवुस्तास्तदाविलम् ॥१९॥
 ततः शरवणे सार्धं भयेन व्रीहया च ताः ।
 तद्गर्भजातमुत्सृज्य स्वान्गृहानभिनिर्गम्युः ॥२०॥

ताभिस्तत्रामृतकरकलाकोमलं भासमानं
 तद्विचिप्तं चक्षुमभिनमोगर्भमभ्युज्झितानैः ।
 स्वैस्तेजोभिर्दिनपतिशतस्पर्धमानैरमानै
 र्वक्तैः पटुभिः स्मरहरगुरुस्पर्धयेवाञ्जनीव ॥२१॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारतभये महाकाव्ये
 कुमारोत्पत्तिर्नाम दशमः सर्गः ॥

जलसे बरहर निवली ॥१७॥ चकरजीका यह गर्भगता हुआ झरूक वीर्य धनाजीसे छूट जानेपर
 उस वृत्तिज्ञाप्रोके गेटके पहुँचकर गर्भ बन गया ॥१७॥ जब उस कृतिकाप्रोके देखा कि यह तेज तो
 गर्भ बन गया है और हमसे सँभाने गहो सँभलेया उस ने बुझिबती कृतिकाएँ अपने अपने पतिप्रोके
 चरते और लाजके मारे बड़ी दुखी हो गई ॥१८॥ होनहार वाले उस अविच्छिन्न धनवत्तरके गर्भकी
 उन छोटी वृत्तिज्ञाप्रोके परस्पर मिलकर सेवा की ॥१९॥ और तब उस लज्जा और भयके कारण वे
 हुए स्रपतके जगलम जो चन्द्रमानी निरणोके सवान कोमल और तेजस्वी गर्भ छोड़े थे वे ऐसे तेजस्वी
 बन गए कि उसका तेज उदय होते हुए सँवडो सूर्यो से भी होड़ करता था और अपने छ मुर्खोसे
 वे चार मुसफाले ब्रह्मको भी मानो चुनौती दे रहे थे ॥२०॥

महानवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंगद महाकाव्यमे
 कुमार वा जन्म वर्णन नामका दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

॥ एकादशः सर्गः ॥

अभ्यर्च्यमाना विबुधैः समग्रैः प्रह्वैः सुरेन्द्रप्रमुखैरुपेत्य ।
 तं पाययामास सुधातिपूर्णं सुरापगा स्वं स्तनमाशु मूर्ता ॥ १ ॥
 पिवन्स तस्याः स्तनयोः सुधौघं क्षणं क्षणं साधु समेषमानः ।
 प्रापाकृतिं कामपि पद्भिरेत्य निषेव्यमाणाः खलु कृत्तिकामिः ॥ २ ॥
 भागीरथीपावककृत्तिकानामानन्दवाग्पाकुललोचनानाम् ।
 तं नन्दनं दिव्यमुपाचुमासीत्परस्परं प्रौढतरो विवादः ॥ ३ ॥
 अत्रान्तरे पर्वतराजपुत्र्या समं शिवः स्वैरविहारहेतोः ।
 नभो विमानेन विगाहमानो मनोतिवेगेन जगाम तत्र ॥ ४ ॥
 निसर्गवात्सल्यवशाद्विपुलचेतःप्रमोदौ गलदश्रुनेत्रौ ।
 अपश्यतां तं गिरिजानिरीशौ पद्माननं पद्मदिनजातमात्रम् ॥ ५ ॥
 अधाह देवी शशिखण्डमौलिं कोऽयं शिशुर्दिव्यवपुः पुरस्तात् ।
 कस्याथवा धन्यतमस्य पुंसो मातास्य का भाम्यवतीषु धुर्या ॥ ६ ॥
 स्वर्गापगासावनलोऽयमेताः पट्कृत्तिकाः किं क्लृप्तायमानाः ।
 पुत्रो ममायं न तदायमित्थं मिथ्येति वैलक्ष्यमुदाहरन्ते ॥ ७ ॥

व्याारहर्षां सर्ग

इन्द्र प्रादि सब देवताओंमें जब गङ्गाजीके पास आकर बड़ी गम्मतसे प्रार्थना की तब ये स्त्रीका रूप धारण करके अपना प्रभुत्वसे मरा हुआ स्तन उस आत्माको पिलाने लगी ॥१॥ यह छ. मुक्तो वाला बासक प्रभुत्वकी धारा बी-बीकर पल-पलमें वेगसे बहने लगी और जब छोटी कृत्तिकारण भी आकर उसकी देशभान करने लगी तब तो उसका स्तन-रस कुछ धनोषे ही बगसे सुन्दर हो उठा ॥२॥ उस दिव्य रूपवाले बालकको देखकर, गंगाजी, अग्नि और छोटी कृत्तिकारण सब आँखोंमें प्रेमके भाँसू भरकर उस बालकको अपना-अपना पुत्र बनानेके लिये आपसमें बड़ा झगडा करने लगी ॥३॥ इसी बीच शिवजी भी पार्वतीजीके साथ यो ही घुमते-घुमते उनके समान वेगसे पलनेवाले विमानपर चढ़े हुए आकाशमें उड़ते हुए यहाँ आ पहुँचे ॥४॥ यह दोनोंके उस छह मुँहवाले बालकको देखते ही शिवजी और पार्वतीजीकी आँखें स्वाभाविक पुत्र-प्रेमसे प्रसन्नताके भारे छलछला उठी ॥५॥ और संकरजीसे पार्वतीजी पूछने लगी कि यह सामने दिव्य शरीरवाला बालक भौन है ? किसे बहमागीका पुत्र है और कौन सबसे बहमागी स्त्री इसको माता है ? ॥६॥ ये बातें, गङ्गा और छोटी कृत्तिकारण सब आपसमें यह कह-कहकर क्यों झगडा कर रही हैं कि यह मेरा पुत्र है, तुम्हारा नहीं । ये इस प्रकारकी बेतुकी और झूठी-झूठी बातें क्यों बक रही हैं ॥७॥ हे ईश ! यह तीनों दोनोंमें त्रिखनके समान सबका छिरपौर सुन्दर आसक दन तीनोंमेंसे

एतेषु कस्येदमपत्यमीशाखिलत्रिलोकीविलकायमानम् ।
 अन्यस्य कस्याप्यथ देवदैत्यगन्धर्वमिन्द्रोत्तराक्षसेषु ॥८॥
 श्रुत्वेति वाक्यं हृदयप्रियायाः कीदृहलिन्या विमलस्मितश्रीः ।
 सान्द्रप्रमोदोदयसौख्यहेतुभूतं वचोऽवोचत चन्द्रचूडः ॥९॥
 जगत्प्रयानन्दन एष धीरः प्रवीरमातुस्तव नन्दनोऽस्ति ।
 कल्याणि कल्याणकरः सुराणां त्वचोऽपरस्याः कथमेव सर्गः ॥१०॥
 देवि त्वमेवास्य निदानमासीः सर्गे जगन्मङ्गलगानहेतोः ।
 सस्यं त्वमेवेति विचारयस्व रत्नाकरे युज्यत एव रत्नम् ॥११॥
 अतः शृणुष्वान्वहितेन वृषं धीजं यदग्नौ निहितं मया तत् ।
 संक्रान्तमन्तस्त्रिदशापगायां ततोऽवगाहे सति कृत्तिकासु ॥१२॥
 गर्भत्यमाप्तं तदमोघमेतत्ताभिः शरस्तम्बमधि न्यधायि ।
 बभूव तत्रायमभूतपूर्वो महोत्सवोऽशेषचराचरस्य ॥१३॥
 अशेषविश्वप्रियदर्शनेन ध्रुवां त्वमेतेन सुपुत्रिणीनाम् ।
 अतं विलम्ब्याचलराजपुत्रि स्वपुत्रमुत्सङ्गवले निधेहि ॥१४॥
 अथेति वादिन्यमृतांशुमौली शैलेन्द्रपुत्री रमसेन सद्यः ।
 सान्द्रप्रमोदेन सुपीनगात्री धात्री समस्तस्य चराचरस्य ॥१५॥

सचमुच किसका पुत्र है ? या यह इनकी छोडकर किसी और ही देव, दैत्य, गन्धर्व, सिद्ध, नाग या राक्षसका पुत्र है ॥८॥ अपनी प्राणधारी पार्वतीकी यह चावभरी बात सुनकर निर्मल वामिनी कलानेवाली मुक्तराहुके साथ अकरजीने बड़ी ध्यारी बात कही—॥९॥ सीनो जोनोंको आनन्द देने-वाला यह बालक तुम कीर माताया ही धीर पुत्र है । हे कल्याणी ! तुम्हे छोडकर देवताप्रोक्त करमाग करनेवाला ऐसा पुत्र धीन उत्पन्न कर सकता है ॥१०॥ हे देवी ! ससार भरके मंगलके कामोम जिस बाणवली बीति गई जागगी वह तुम्हारा यही पुत्र है । तुम्ही टीक-डीक विचारकर देख लो कि रत्न तो रत्नाकरसे ही निकल सकता है ॥११॥ हे पार्वती ! सावधान होकर इस बालकके उत्पन्न होनेकी कथा सुनो । देखो ! मैने अपना जो अचूक वीर्य धनिमे रख दिया था, उसे धनिमे गंगाजीने छोड दिया और यह फिर स्नान करती हुई छपी कृत्तिवासोके नेटम पहुँचकर गभ जन गया और तब उस अचूक वीर्यको कृत्तिवासोने सरपखने जगलमे ढाल दिया । उसी गर्भत बर और प्रकर प्राणियोंको हर्ष देनेवाला यह मनोमोहा बालक जन्मा है ॥१२—१३॥ हे पार्वती ! सारे ससारमे प्यारे इस बालक की माता होनेसे तुम अपनेको राख पुत्रवती स्त्रियोम श्रेष्ठ समजो । अब देर न करो और अपने पुत्रको उठाकर गोदमे ले लो ॥१४॥ अकरजीका यह बात सुनकर सारे ससारकी माता पार्वतीकी हर्षसे पूली न समाई और अच विमानसे उतरकर उस पुत्र रत्नको गोदम लेनके लिये धीर हो उठी । उम समय आराधने श्रद्धा आदि देवता सोच अपने मुकुटोपर हाथ जोडकर और फिर

किरीटवद्भाञ्जलिभिर्निभःस्वैर्नभस्कृता सत्वरनाकिलोकैः ।
 विमानतोऽचातरदात्मजं तं ग्रहीतुमुत्कण्ठितमानसाभूत् ॥१६॥
 स्वर्गापगापावककृत्तिकादीन्कृताञ्जलीनानमतोऽपि भूयः ।
 हित्वोत्सुका तं सुतमाससाद पुत्रोत्सवे माद्यति का न हर्षात् ॥१७॥
 प्रमोदवाप्पाकुललोचना सा न तं ददर्श क्षणग्रतोऽपि ।
 परिस्पृशन्ती करकुङ्कुमलेन सुखान्तरं प्राप किमप्यपूर्वम् ॥१८॥
 सुविस्मयानन्दविकस्वरायाः शिशुर्गलद्वाप्पतरंगितायाः ।
 पिष्टद्वधात्सत्परसोत्तराया देव्या दृशोर्गोचरतां जगाम ॥१९॥
 तमीक्षमाणा क्षणमीक्षणानां सहस्रमाप्तुं विनिमेषमैच्छत् ।
 सा नन्दनालोकनमङ्गलेषु क्षणं क्षणं दृष्यति कस्य चेतः ॥२०॥
 धिनम्रदेवासुरपृष्ठगाम्यामादाय तं पाणिसरोरुहाभ्याम् ।
 नवोदयं दार्धणचन्द्रचारुं गौरी स्वमुत्सङ्गत्तलं निनाय ॥२१॥
 स्वमङ्गमारोप्य सुधानिधानमिवात्मनो नन्दनमिन्दुवक्त्रा ।
 तमेकमेपा जगदेकवीरं बभूव पूज्या धुरि पुत्रिणीनाम् ॥२२॥
 निसर्गावात्सल्यरसौघसिक्ता सान्द्रप्रमोदामृतपूरपूर्णा ।
 तमेकपुत्रं जगदेकमाताम्युत्सङ्गिनं प्रसन्निशी वैभूव ॥२३॥

भुवनावर उन्हें प्रणाम करने लगे ॥१५-१६॥ गया, घग्नि घोर वृत्तिकारों सभी बार-बार झुक-
 झुक कर उन्हें प्रणाम कर रही थी पर पार्वतीजीका ध्यान उधर गयाही नहीं घोर उन्हेंति दई
 पायसे उस पुत्रको अपनी गोदमें उठा लिया । भला वीर ऐसी माता होगी जो अपने पुत्रको प्रेममें
 सुध-सुध न सो बँधती हो ॥१७॥ मातामें मानन्दने माँसू रदन धागेसे वे मोड़ी देरतक तो
 अपने पुत्रको देख ही न पाई और बच्चीके समान अपने वीरस हाथसे ही पुत्रको सहलाने भरसे
 वे मनीसा मुस मेती रही ॥१८॥ उन्हें वह मनोहर बालक गम दियाई दिया । जब उनकी माँसें
 पचरज घोर मानन्दमें डिली जा रही थी, थी समझा पड़ रहा था, माँसू घड़े जा रहे थे घोर
 बागलकमाद रोम-रोममें डरका पड़ रहा था ॥१९॥ उन बच्चेकी घोर एकदम देवकी हुई पार्वती-
 जी सोचने लगी कि यदि इस समय मुझे एक महल माँसें मिल जातो तो मिलना अच्छा होता ।
 भला पुत्र रत्नके समय दिया जा जता है ॥२०॥ प्रणाम करनेके समय मुने हुए देवताओं
 घोर देवीकी पीठपर अपने जो हाथ रगार वे आसीध दिया करती थी उन्हें हाथों पार्वतीजीने
 दुर्गाके चरमाने समान अपने मुन्दर पुत्रको अपनी गोदमें बिठा लिया ॥२१॥ चन्द्रमाके समान मुखवाली
 पार्वतीजीने सगारमें सबसे श्रेष्ठ अपने उन धातोके वीरपुत्रकी गोदमें इन प्रकार ले लिया मानो
 मनुष्य रत्न गोदमें रत्न लिया हो । उन समय के पुत्रनिर्घा में गरम श्रेष्ठ पुत्रनीय हो
 उठी ॥२२॥ सगारकी माता पार्वतीजीने जब उठ धनोके पुत्रकी गोदमें उठा लिया तो
 बागलक रङ्गी स्वाभाविक बास जाके रोम-रोममें चमक पड़ी, हरेने मनुष्यकी दाद या गई

अशेषलोकत्रयमातुरस्याः पाशमातुरः स्तन्यसुधामघासीत् ।
 सुरस्रगन्त्याः किल कृत्तिकाभिर्मुहुर्मुहुः सस्पृहमीक्ष्यमासुः ॥२४॥
 सुखाश्रुपूर्णेन मृगाङ्गमौलेः कलत्रमेकेन मुखाम्बुजेन ।
 तस्यैकनालोद्गतपञ्चपलक्ष्मीं क्रमात्पद्मदनीं चुचुम्बे ॥२५॥
 हैमी फलं हेमगिरेर्लतेव विकस्वरं नाकनदीषु पद्मम् ।
 पूर्वैव दिद्मूतनमिन्दुमाभाषं पार्वती नन्दनमादधाना ॥२६॥
 ग्रीवात्मना सा प्रयतेन दत्तहस्तावलम्बा शशिशोखरेण ।
 कुमारमुत्सङ्गतले दधाना विमानमभ्रसिंहमारुरोह ॥२७॥
 महेश्वरोऽपि प्रमदप्ररूढरोमोद्गमो भूधरनन्दनायाः ।
 अङ्गादुपादत्त तदङ्गः सा तस्यास्तु सोऽप्यात्मजवत्सलत्वात् ॥२८॥
 दधानया नेत्रसुवैकसत्रं पुत्रं पवित्रं सुतया तपात्रेः ।
 संश्लिष्यमासुः शशिसखलधारी विमानवेगेन गृहाञ्जगाम ॥२९॥
 अधिष्ठितः स्फाटिकशैलशृङ्गे तुङ्गे निजं धाम निकामरम्यम् ।
 महोत्सवाय प्रमथप्रमुख्यान्पृन्धूनाणाञ्चाभ्युदयान्निदेश ॥३०॥
 पृथुप्रमोदः प्रगुणो भगवानां गणः समग्रो पृथगाहनस्य ।
 गिरीन्द्रपुत्र्यास्तनयस्य जन्मन्यधोत्सवं सपश्यते विधातुम् ॥३१॥

श्रीप उतवे स्तनोसे वृषकी धारा बह चसी ॥२३॥ जब कृतिकेयजी खब सोपोंकी माता पार्वती-
 जीके स्तनोना प्रसूत पीने भगे तय गंगाजी भीर कृतिकाएँ बड़े बाहुसे उनकी भीर बार-बार
 देखने लगी ॥२४॥ शकरजीकी प्यारी पार्वतीजीने हृदयके प्रांत बहते हुए अपने कमलके समान
 एक मुखसे उस पुत्रके उन छोटी मुँहकी चूमा जो ऐसे लगते थे मानो कमलकी एक छलमे पान
 सुन्दर कमल निकल आये हो और उन पाँचोंके बीचमे उन कमलकी ही सोभा छटा कमल बनकर
 निपन आई हो ॥२५॥ मोदमे सुन्दर पुत्र लिए हुए पार्वतीजी ऐसी सुन्दर लग रही थीं मानो
 सोनेके सुमेरु पर्यंतपर उत्पन्न होनेवाली सुनहली सत्तामे फल निकल आया हो या प्राकाशमयामे
 कमल धिल उठा हो या पूर्व दिशामे चन्द्रमा निकल आया हो ॥२६॥ पुत्रकी गोदमे लिए हुए
 सुखी मनसे पार्वतीजी शकरजीके हाथका सहारा लेकर भगवत् चूमेनेवाले जँचे विमानपर बह
 गई ॥२७॥ ये दोनों पुत्र-प्रेममे इतने मगन हो गए थे कि कभी तो पार्वतीजीकी गोदसे शकरजी
 उस पुत्रको ले लेते थे और कभी उनकी गोदसे उसे पार्वतीजी ने लेती थीं । इस प्रकार पुत्र-
 प्रेममे भरे हुए दोनों उसे खिला रहे थे ॥२८॥ दाँवोंको अमृतके समान सुख देनेवाले इस परम
 पवित्र पुत्रकी मोदमे लिए और अपनी छातीसे सिलटी हुई पार्वतीजीको बाप लेकर भगवान् शकर
 वेगसे चलनेवाले विमानपर पदपर बैसास चोट आए ॥२९॥ स्फटिकके बने हुए उध पल्लवके
 जँचे शिखरपर अपने सुन्दर अकनमे बैठकर शकरजीने अपने मुख्य-मुख्य प्रमथ यादि गणोंको आज्ञा
 दी कि पुत्र उत्पन्न होनेवा उत्पन्न भगवो ॥३०॥ बड़े छानन्द और जानसे सभी गुणवान् गण

स्फुरन्मरीचिच्छुरिताम्बराणि सतानशास्त्रिप्रसन्नाश्रितानि ।
 उच्चिच्छिपुः काञ्चनतोरणानि गणा वराणि स्फटिकालयेषु ॥३२॥
 दिक्षु प्रसर्पस्तदधीश्वराणांमथामराणामिव मध्यलोके ।
 महोत्सवं शंसितुमाहोऽन्यैर्दधान धीरः पटहः पटीयान् ॥३३॥
 महोत्सवे तत्र समागतानां गन्धर्वविद्याधरसुन्दरीणाम् ।
 संभाषितानां गिरिराजपुत्र्या शृङ्गेयवन्मङ्गलगीतकानि ॥३४॥
 सुमङ्गलोपायनपात्रहस्तास्त मातरो मातृवदभ्युपेताः ।
 विधाय द्वाञ्चतकानि मूर्ध्नि निन्युः स्वमङ्गं गिरिजातनूजम् ॥३५॥
 ध्वनत्सु तूर्येषु सुमन्द्रमङ्गघालिङ्गयोर्ध्वकेष्वप्सरसो रसेन ।
 सुसन्धिवन्धं ननृतुः सुवृत्तगीतानुगं भावरसानुविद्धम् ॥३६॥
 याता वधुः मौम्यकराः प्रसेदुराशा विधुमो हुतभुद्रिदीपे ।
 जलान्यभूवन्ममलानि तत्रोत्सवेऽन्तरिक्षं प्रसस्ताः सद्यः ॥३७॥
 गम्भीरशब्दध्वनिमिश्रमुच्चैर्गृहोद्भवा दुन्दुभयः प्रयोदुः ।
 दिवौकसां व्योम्नि विमानसंघा विमुच्य पुष्पप्रचयान्प्रसस्तुः ॥३८॥
 इत्थं महेशाद्रिसुतासुतस्य जन्मोत्सवे संमदयांचकार ।
 चराचरं विश्वमशेषमेतत्परं चक्रम्ये किल तारकश्रीः ॥३९॥

सोम पार्वतीजी और शबरजीके पुत्रजन्मके उपलक्ष्यन महोत्सव मनायके जुट गए ॥३२॥ कुछ गए
 तो स्फटिकके चमकती हुई मिरछोके पट्टये रंग रिरके रिसाई देवताके कपडोके और कल्पवृक्षके
 फूलों और पत्तोंके घनाए हुए सुनहरे सुन्दर बन्दनबारीके घण्टे स्फटिकके भजन सबाने लगे ॥३२॥
 और कुछ गणोंके भी लगादे बनाए उमरी गभीर ध्वनि जब दसों दिशाओंमें फैली तो परती से उठी
 हुई उसकी घमघ मानो यह बताने लगी कि दिशाओं और देवताओंके लोकके समान ही यहाँ
 भी पुनोत्सव मनाया जा रहा है ॥३३॥ इस महोत्सवके उपलक्ष्यके गन्धर्वों और मिथ्याधरी
 सुन्दरिजों पर घण्टर वर्षण गाई और पार्वतीजीने उन सबकी वही प्रावणपत्त की ॥३४॥
 प्राणी यदि माताएँ भी बधावेकी शायरी लेकर बालबच्चे पास लगीं भाई और उनके शिरपर
 दूब, मधन द्विद्वन्द्वर सड़ उठे घबनी-घपनी मोदोंमें लेत लगी ॥३५॥ वहाँ धन्य, प्रसिद्ध
 और ऊर्ज्व नामकी अनेक प्रकारकी सुरहिषों मोठी-मोठी बज उठीं और गाव तथा रत्न भरे
 मन्दे मन्दे घण्टोंमें बँधे हुए गले गाड़ी हुई अम्बरार्द, बड़े हाथ-भावसे भाचने लगी ॥३६॥
 गुग देवताना भज करने लगा, दिसाएँ छिन्न उठो, पुष्पाँ मिट जानने चाय नमक उठो और जब
 निर्मल हो गया, यहाँ तक कि उस उत्सवमें प्राणा भी उत्सास मूक गया ॥३७॥ पाराजी गम्भीर
 ध्वनिसे गाव गाव भर-भरके छोट छोटे बजादे भी बजने लगे । देवता लोग भी घण्टाघने घण्ट
 विनागोंने दून बरसा और चम जाते ॥३८॥ इस प्रकार शबरजी और पार्वतीजीके पुत्रके
 जन्मोत्सवके सवारण सधो चर और चवर प्राणी तो हँसे पून उठे पर तारक राक्षसी राज-नक्षत्री

ततः कुमारः स मुदां निदानैः स बाललीलाचरितैर्विचित्रैः ।
 गिरीशगौर्योर्हृदयं जहार मुदे न हृद्या किमु बालकेलिः ॥४०॥
 महेश्वरः शैलसुता च हर्षात्सतर्पमेवेन मुखेन गाढम् ।
 अवातदन्तानि मुखानि सलोर्मनोहराणि क्रमतरचुचुम्ब ॥४१॥
 क्वचित्स्पर्शलङ्घिः क्वचिदस्वलङ्घिः क्वचित्प्रकम्पैः क्वचिदप्रकम्पैः ।
 बालः स लीलापलनप्रयोगैस्तयोर्मुदं वर्धयति स्म पित्रोः ॥४२॥
 अहेतुहासच्छ्रिताननेन्दुर्गुहाङ्गुलीडनधूलिधूम्रः ।
 मुहुर्बदन्किञ्चिदलक्षितार्थं मुदं तयोरङ्गुगतस्ततान ॥४३॥
 शुद्धनिपात्ये हरवाहनस्य स्पृशन्नुमाकेमरिणं सलीलम् ।
 स भुङ्गिष्यः सूक्ष्मतरं शिखाग्रं कर्पन्वभूव प्रमदाय पित्रोः ॥४४॥
 एको नव द्वी दश पञ्च सप्तेत्यजीमशजात्ममुखं प्रसार्य ।
 महेशकण्ठोरगदन्तपट्टक्तिः तदङ्गुः शैशवमौग्ध्यमैशिः ॥४५॥
 कपदिक्कण्ठान्तकपालदाम्नोऽङ्गुलिः प्रवेश्याननकोटरेषु ।
 दन्तानुपाचुं रभसी यभूव मुक्ताफलभ्रान्तिकरः कुमारः ॥४६॥
 शंभोः शिरोऽन्तः सरितस्तरंगान्विगाह गाढं शिशिराप्रसेन ।
 म जातजाड्यं निजपाणिपद्मतापयद्भालविलोचनाम्नी ॥४७॥

नाग उठी ॥३६॥ पीरे-पीरे वह बालन अपनी मनोहर घीर धनोधी बाल-लीलाभोजे शकरजी और पापलीजीको आनन्द देने लगा ॥४०॥ वे हृषीके मतवाले होकर अपने पुत्रके गोपसे और मनोहर मुलीकी बार बार बड़े भापसे चूमा करते थे ॥४१॥ कभी सतराशता हुआ घीर कभी सीमे जलता हुआ मही कापता सा और कभी तना हुआ-या वह बालक अपनी खिलवाह मरी बालोंसे उनका जी चुभाते लगा ॥४२॥ अपने माता-पिताकी गोदमें बैठा हुआ वह बालक, प्रत्येक प्रकारसे उनका जी चुभाता करता था । कभी तो उसका मुखपट्ट बिना किसी बातके हो हँसीसे चगक उठता था, कभी घरेके सींगनमें खेलतेसे उसका धीर धूमसे भर जाता था कभी वह बार बार तोलनी बोली बोल-घरेके सींगनमें खेलतेसे उसका धीर धूमसे भर जाता था कभी तो यह शकरजीके बैठके सींग पकड़ता, कभी पारंगतीजीके लिहके केसर सहलाता और कभी भ्रङ्गीकी चोटोके महीन बाल सींचने लगता । यह सब देखकर उसके माता-पिता हर्षसे फूले न समाते ॥४३-४४॥ कभी-कभी वह शकरजीके कण्ठमें पड़ी हुई मुँडगात्राके मुखोप जैंगली डालकर उनसे दाँतोंकी भीखी समझकर उन्हें निवाहने लग जाता था ॥४५॥ कभी वह पनरबीजे धिरपर रहनेवाली गवाजीकी सहरोमें अपना हाथ डाल देता पर जब बहुत ठंड लगनेसे उसके हाथ सुन्न हो जाते तब वह अपना जमल या गोमल हाथ शिवजीके भापेपर जलते हुए सीतरे नेत्रने धागे से जाकर सँक सेता ॥४६-४७॥ जब वह देखता कि शिवजीका कन्या लनिक नीचा हो रहा है और उनसे जटा-जूट झुक रहे हैं तब वह जटाके साथ नीचे सटकनेवाले उनके

किंचित्कलं भङ्गुरकंधरस्य नमजटाजूटधरस्य शंभोः ।
 प्रलम्बमानं किल कौतुकेन चिरं चुचुम्बे मुकुटेन्दुखण्डम् ॥४८॥
 इत्थं शिशोः शैशवकेलिवृत्तैर्मनोभिरामैर्गिरिजागिरीशौ ।
 मनोविनोदैकरसप्रसक्तौ दिवानिशं नाविदतां कदाचित् ॥४९॥
 इति बहुविधं बालक्रीडाविचित्रविचेष्टिं

ललितललितं सान्द्रानन्दं मनोहरमाचरन् ।

अलमत परां बुद्धिं पण्ठे दिने नवयौवनं

स किल सकलं शास्त्रं शस्त्रं विवेद विभुर्यया ॥५०॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
 कुमारबाललोलावर्णनं नामकादस्यः सर्गः ॥

बिरपरने चन्द्रमाकी हो बड़ी देर तक घूमता रहता ॥४८॥ इन प्रकार पुत्रकी मनोहर और
 बिलबाड़ये भरी बाल-लीलाओंमें आनन्द लेते हुए संकरकी घोर पावंतीजी इतने मग्न हो गए कि
 उन्हें यहाँ सुष नहीं रह गई कि पाँच दिन बड़ा और कब रात आई ॥४९॥ यों घनेक प्रकारकी
 मन-मुभावनी और बड़ी सुहावनी बाल-भीलाएँ करते हुए वह बालक छठे दिन बड़ा बुद्धिमान और
 जवान हो गया और छह ही दिनोंमें उसे सब शास्त्र और शस्त्र-विद्याएँ सभी प्रकार प्यो गई ॥५०॥

महान्वि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमें
 कुमारजी बाललीलावर्णन नामका चारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

॥ द्वादशः सर्गः ॥

अथ प्रपेदे त्रिदशैरशेषैः क्ररासुरोपप्लवदुस्त्रितात्मा ।
 पुलोमपुत्रीदयितोऽन्धकारिं पत्रावि तृष्णातुरितः पयोदम् ॥१॥
 दृष्टारिसंत्रासगिलीकृतात्स कथंचिदम्बोदविहारमार्गात् ।
 अवाततारामि गिरिं गिरीशगौरीपदन्यासविशुद्धमिन्द्रः ॥२॥
 संक्रन्दनः स्पन्दनतोऽप्यतीर्य मेघात्मनो मातलिदत्तहस्तः ।
 पिनाकिनोऽद्यालयमुच्चाल शुचौ विपासाकुलितो यधाम्भः ॥३॥
 इतस्ततोऽथ प्रतिनिम्बभाजं विलोकमानः स्फटिकश्रिभूमौ ।
 आत्मानमप्येकमनेकथा स ब्रजन्विमोरास्पदमाससाद ॥४॥
 विचित्रचञ्चलमिभङ्गिसङ्गं सौवर्णदण्डं दधतातिचण्डम् ।
 स नन्दिनाधिष्ठितमप्यतिष्ठत्सौघाङ्गणद्वारमनङ्गशत्रोः ॥५॥
 ततः स कक्षाहितहेमदण्डो नन्दी सुरेन्द्रं प्रतिपद्य सद्यः ।
 प्रतोपयामास सुगौरवेण गत्वा शशंस स्वयमीश्वरस्य ॥६॥
 भ्रूसृष्टयानेन कृतान्धनुजः सुरेश्वरं वं जगदीश्वरेण ।
 प्रवेशयामास सुरैः पुरोगः समं स नन्दी सदनं सदस्य ॥७॥
 स चण्डिभृङ्गिप्रमुखैर्गिरिपटैर्गणैरनेकैर्विविधस्वरूपैः ।
 अधिष्ठितं संसदि रत्नमय्यां सहस्रनेत्रः शिवमालुलोके ॥८॥

बारहवां सर्ग

जैसे प्यास लगनेपर पपीहा वादलकी तरफ़ खोजता है, वैसे ही धर्माचारी तारनके उदरवर्गेमें दुखी इन्द्र भी, सब देवताओंको साथ लेकर शहरजीके पास जा पहुँचे ॥१॥ उन घण्टी घन्नु तारन के भयले, देवता सौम किसी भी मागते भा जा नहीं सकते थे । इसलिये इन्द्र भी वादलोत पीनसे छिपते-छिपाते किसी प्रकार उस कंसाखुर जा उतरे जो धकर और पारबंकोबीके चरण पड़नेसे पवित्र हो गया था ॥२॥ वहाँ मातङ्गिने हाथका सहारा लेकर इन्द्र भी वादलके रथसे उतरे और शहरजीके भवनकी ओर उसी प्रकार अचटकर बड़े जैसे गर्मिसे बोई प्याना मनुष्य पानीकी ओर बोडे ॥३॥ स्पन्दनसे बने हुए कंसाखुर चारो पार धपनी बहुतसी परछाईयाँ देगते हुए वे शहरजीके भवनपर जा पहुँचे ॥४॥ शहरजीके भवनकी देहलीपर पहुँचकर इन्द्र रुक गए । वहाँ रप-दिरने मणियोंको पच्चीवारी की हुई थी और एक बडा-सा सोनेका डडा हाथमें लिए हुए नन्दी वहाँ बैठे थे ॥५॥ अपने सोनेके डडेको एक कोनेमें रखकर नन्दीन चटते प्रागे बटकर घायमगत करने इन्द्रका स्वागत किया और स्वयं भीतर जाकर महादेवजीको उतने आनेकी सूचना दी ॥६॥ शहरजीने भीहेम ही उन्हें भीतर लानेका संकेत किया और उनकी भासा पाकर नन्दीने भाषे-भाषे मार्ग दिखाते हुए इन्द्र और देवताओंको शहरजीके पास पहुँचाया ॥७॥ इन्द्रने देखा कि वहाँ रत्न-बडे तथा गण्डपमें षण्डी, भृङ्गो आदि अनेक रूप-रगवाले यक्षसे बड़े बड़े गणोंमें घिरे हुए शिवजी बैठे हुए हैं ॥८॥

कपर्दमुद्रद्वमहीनमूर्ध्वरत्नांशुभिर्भासुरमुल्लसद्भिः ।
 दधानमुच्चैस्तरमिद्वधातोः सुमेरुशृङ्गस्य समत्वमाप्तम् ॥६॥
 विभ्राणमुत्तुङ्गतरङ्गमालां गङ्गां जटाजूटतटे भवन्तीम् ।
 गौरीं तदुत्सङ्गजुषं हसन्तीमिव स्वफेनैः शरदप्रशुभ्रैः ॥१०॥
 गङ्गातरङ्गप्रतिबिम्बितैः स्वैर्वह्मवन्तं शिरसा सुधांशुम् ।
 चलन्मरीचिप्रचयैस्तुपारगौरैर्हिमवोतितमुद्रहन्तम् ॥११॥
 भालस्थले लोचनमेधमानधामाधरीभूतरवीन्दुनेत्रम् ।
 युगान्तकालोचितहव्यबाहं मीनध्वजप्लोपणमादधानम् ॥१२॥
 महाह्वरत्नाश्रितयोरुदारं स्फुरत्प्रभामण्डलयोः समन्तात् ।
 कर्णस्थिताभ्यां शशिभास्कराभ्यामुपासितं वृण्डलयोरुल्लेन ॥१३॥
 स्वयद्भया कण्ठकयेव नीलमाणिक्यमय्या कुतुकेन गौर्याः ।
 नीलस्य कण्ठस्य परिस्फुरन्त्या कान्त्या महत्पासुविराजमानम् ॥१४॥
 कालादितानां त्रिदशासुराणां चितारजोभिः परिपाण्डुराङ्गम् ।
 महन्महेभाजिनमुद्रताम्रप्रालेपशैलधियमुद्रहन्तम् ॥१५॥
 पाणिस्थितव्रक्षकपालपार्श्व वैकुण्ठभाजापि निपेक्ष्यमाणम् ।
 नरास्यस्यण्डाभरणं रणान्तमूल त्रिशूलं कल्पन्तमुच्चैः ॥१६॥

पाँसि लिपटा हुआ शिवजीके सिरका जटा-जूट वामुकि आदि बड़े साँपोके पत्तीके बगियाकी
 किरनोसे चमकता हुआ सुमेरु पर्वतकी चोटीके समान दिखाई पड़ रहा था ॥६॥ शिवजीके जटा-
 जूटके मगले भागम बसी हुई ऊँची-ऊँची तरङ्गोवासी गंगाजी, शरदके बादलोंके समान छजली केन
 उद्गाल-उद्गालपर गानो चकरजीकी गोदमे बैठी पार्वताकी हँसी उठा रही थी कि देखो हाग तो
 शिवजीके सिरपर बसी हुई है ॥१०॥ शिवजीके सिरके चन्द्रमाली हिम-जैसी उजली निरखोकी जो
 परछाई गंगाजीकी तरंगोंम बहुत रूपोंमे नाच रही थी वह ऐसी जान पड़ती थी गानो उस एक
 चन्द्रमाके बहुतसे चन्द्रमा बन गए हो ॥११॥ उनके माथेपर कामदेवको जलबेबाला, प्रलयकी अग्निके
 समान गहू लीसरा नेत्र चमक रहा था जिसके बढते हुए तेजसे माथे प्रलयके सूर्य और चन्द्रहवी
 नेत्र भी भौं जलते हैं ॥१२॥ उनके कानोंमे निरखोके घेरने धिरे हुए अनमोल रत्नोंसे जड़े दो
 चुण्डल ऐसे लटप रहे थे गानो इनके बलाने सूर्य और चन्द्र ही चकरजीके दोनों कानोंपर उनकी सेवा
 कर रहे हो ॥१३॥ उनका नीला कठ छीक बँगा ही चमकता था जैसा अभी अभी खिलवाड़मे
 नीलमवा हार पहन लेनेपर पार्वतीजीका गला चमक उठता है ॥१४॥ मर हुगू दब दानयोनी
 चितारजोकी भ्रम पुते हुए अपने उजले शगपर हाथोंकी गाल छोड़े हुए थे ऐसे दिखाई देते थे
 गानो बारसँसे फिरा हुआ विद्यान हियामल हो ॥१५॥ उनके एक हाथमे ब्रह्म बपालका पात्र था,
 गानेमे मरे हुओंकी हड्डियोंके टुकड़ोंके गहो थे और दूसरे हाथम मुद्र लगात करनेवाला

पुरातनीं ब्रह्मकपालमालां कण्ठे वहन्तं पुनराश्रयन्तीम् ।
 उद्रीतवेदां मुकुटेन्दुवर्षत्सुधाभरौघाप्तवल्ग्वसंज्ञाम् ॥१७॥
 सलीलमङ्गस्थितया गिरीन्द्रपुत्र्या नवाष्टापदचल्लिभासा ।
 विराजमानं शरदभ्रखण्डं परिस्फुरन्त्याचिररोचिवेव ॥१८॥
 दृप्तान्धकप्राखहरं पिनाकं महामुरस्तीविधवात्वहेतुम् ।
 करेण गृह्णन्तमगृह्यमन्यैः पुरा स्मरप्लोपणकेलिकारम् ॥१९॥
 भद्रासनं काञ्चनपादपीठं महार्हमाश्लिष्यविभङ्गिचित्रम् ।
 अधिष्ठितं चन्द्रमरीचिगौरैरुद्वीज्यमानं चमरैर्गङ्गाभ्याम् ॥२०॥
 शतश्लिषिद्याभ्यसनैकमक्ते सविस्मयैरेत्य गणैः सुदृष्टे ।
 नीराज्यमाने स्फटिकाचलेन सानन्दनिर्दिष्टदृशं कुमारे ॥२१॥
 तथाविधं शैलसुताधिनाथं पुलोमपुत्रीदयितो निरीक्ष्य ।
 आसीत्तदर्थं बौभरो नु कस्य मनो न हि ह्रुभ्यति धामधाम्नि ॥२२॥
 पिकस्वराभ्भोजवनधिया तं दृशां सहस्रेण निरीक्षमाखः ।
 रोमालिभिः स्वर्गपतिर्धमासे पुष्पोत्कराकीर्णं श्वाग्रशाखी ॥२३॥
 दृष्ट्वा सहस्रेण दृशां महेशमभूत्कृतार्थोऽतितरां महेन्द्रः ।
 सर्वाङ्गजातं तदथो विरूपमिव प्रियाकोपकरं विषेद ॥२४॥

ऊपर उठा हुआ विरूप था । इस ऊटपटांग रूपमें होनेपर भी वैकुण्ठवासी विष्णु उनकी सेवा कर रहे थे ॥१६॥ उनके गलेमें ब्रह्म-कपालोपी एक पुरानी माला पकी थी जो सिरपर बसे हुए चन्द्रमासे बरसी हुई अमृतकी बूंदें पी-पीकर जीवित-सी हो होकर वेद का रही थी ॥१७॥ सोनेकी गई सताके समान सुन्दर पार्वतीजीकी अपनी गोदमें बैठाए हुए थे ऐसे दिखाई पड़ते थे मानो चमकती हुई बिजलीवाला कोई शरद का बादल हो ॥१८॥ उनके हाथमें वह पिनाक धनुष था जिसने अश्वक नामके मत्तवाले देवके प्राण ले लिए थे, बड़े बड़े दावबोनो मारकर उनकी क्लियोंकी बिपदा बना दिया था, कामदेवकी जलाकर खन कर दिया था और जिसे दूसरा कोई उठा भी नहीं सकता था ॥१९॥ अतमोल मोती और मणिषोकी शबाबटसे रग-रिचमें दिखाई देनेवाले उस सिंहासनपर वे बैठे हुए थे जिसके नीचे सोतेका पंर-मोटा रक्ता हुआ था और दोनों ओरसे दो गए उनपर चन्द्रकी किरणोंके समान उजले चँवर हुआ रहे थे ॥२०॥ वे बैठे हुए बड़े चावसे उन कुमार वासिनेपकी शस्त्र-विद्या और शस्त्र-विद्याका अभ्यास देख रहे थे, जिन्हें शकरजीके गए भी बड़े आश्चर्यसे देख रहे थे और यह स्फटिकका पर्वत भी जिनकी धारती उतार रहा था ॥२१॥ ऐसे शकरजीको देखकर मोठी देरके लिये इन्द्रका मन भी लजब उठा क्योंकि अभ्यास इतनी सुख-सम्पत्ति इतनी देखकर भला किसका मन नहीं लजब उठेगा ॥२२॥ खिले हुए कमलके समान अपने सुन्दर सहस्रो नेत्रोंके शकरजीको देखते हुए इन्द्र, उस आत्मके पैड़के समान सुन्दर लगने लगे जो नीचेसे ऊपर तक गजारियोंके लहा हुआ हो ॥२३॥ अपनी सहस्रो आँखोंसे शकरजीको

ततः कुमारं कनकाद्रिसारं पुरंदरः प्रेक्ष्य श्रुतास्तशस्तम् ।
 महेश्वरोपान्तिक्वर्तमानं शशोर्जयाशां मनसा बबन्ध ॥२५॥
 श्रीनीलकण्ठ द्युपतिः पुणोऽस्ति त्वयि प्रणामावसरं प्रतीच्छन् ।
 सहस्रनेत्रेऽग्र भव त्रिनेत्र दृष्ट्वा प्रसादप्रमुखो महेश ॥२६॥
 इति प्रचद्वाञ्जलिरेत्य नन्दी निधाय कक्षामगि हेमवेत्रम् ।
 प्रमादपात्रं पुरतो भविष्युरथ स्मरारातिमुवाच वाचम् ॥२७॥
 पुरा सुरेन्द्रं सुरसहस्रेभ्यं त्रिलोकसेव्यस्त्रिपुराचुरारिः ।
 प्रीत्या सुधासारनिधारिण्येव ततोऽनुजग्राह विलोकेन ॥२८॥
 किरीटकोटिच्युतपारिजातपुष्पोत्करेणानमितेन मूर्ध्ना ।
 स्वर्गैकबन्धो जगदेकबन्धं तं देवदेवं प्रणनाम देवः ॥२९॥
 अनेकलोकैकनमस्कियाहं महेश्वरं तं त्रिदशेश्वरः मः ।
 भक्त्या नमस्कृत्य कृतार्थतायाः पात्रं पवित्रं परमं बभूव ॥३०॥
 शुभक्तिमाजामधिपादपीठं प्रान्तपिति नम्रतरैः शिरोभिः ।
 ततः प्रणमुः पुरतो गणानां गणाः सुराणां क्रमतः पुरारिम् ॥३१॥
 गणोपनीतं प्रमुखोपदिष्टः शुभासने हेममये पुरस्तात् ।
 प्रापोपविश्य प्रमुदं सुरेन्द्रः प्रमुप्रसादो हि मुदे न कस्य ॥३२॥

देवदर इन्द्रने भवता यथा भाव्य सत्ताहं गर इसते उनके शरीर भरने जो रोमाश हो प्राप्ता उते
 देवदर उन्हें यह डर हुआ कि नहीं इन्द्राणी यह न समझ बैठे कि बिना दूगरो सुन्दरीको देवनेने
 रोमाश हो प्राप्ता इनपर यह मोतिया साह करने रुठ न बैठे ॥२४॥ इन्ने पश्चात् चक्षुःकर्णे
 शरद्रीके पाग बैठे हुए, मुँहको समान बनयावे और शरद्री-शरीर पुष्पावली देता तो उक्त
 मन्त्रे यह प्राप्ता होने सभी कि अब हम शत्रुको सबस्य जीत लेंगे ॥२५॥ इतनेमें अपने सोनेका राज
 एक मोनेमें रत्नाद, प्रागे बड़कर और हाथ जोड़कर, शरद्रीकी दृष्टि पानेकी इच्छासे मन्त्रिने
 शरद्रीके जागर कहा कि हे नीलकण्ठ ! देवताओंके स्वामी इन्द्रदेव प्राप्तासे प्रणाम करने की बात
 जोते हुए वहाँ सते हुए हैं, इतानिसे दृष्टा करते इनकी ओर भी अपनी दृष्टि उठा लीजिएगा
 ॥२६-२७॥ यह सुनकर त्रिपुर राजावरा नाम करनेवाले, गवाराके पुत्रनीय शरद्री भगवादी
 देवताओंके पुत्रनीय इन्द्रको अपनी समस्तकी प्राप्ता करवाता हुंरं भी हठिथ देगापर पशुद्वीप
 दिया ॥२८॥ स्वर्गमें त्रिदशकी मन्त्र पुष्पा परोते हैं, वे देवराज इन्द्र, अब सारे मन्त्रादे एक साथ
 पुत्रनीय और देवताओंके देवता महादेवजीको प्रणाम करनेसे त्रिने मुने तो उनके मन्त्रादे त्रिनेदरी
 ओरने प्राप्ताजने बलने पुत्र निरदर बिगर गए ॥२९॥ सब सोचते हुए मात्र पुत्रनीय
 भवता शरद्रीके भक्तिसे प्राप्ता प्रणाम करते स्वर्गमें स्वामी इन्द्रने अपनी ओर परम पवित्र और अन्य
 समस्त ॥३०॥ और दूसरे देवताओं की प्रमथ भादि मन्त्रोंके दृष्टि-२९१ बड़ी नमिने
 शरद्रीके पर रत्नोंके पीछेसे प्राप्ता शरद्रीके प्राप्ता देवदर शरीर-शरीरके चक्षुः प्रणाम दिया ॥३१॥
 पर मन्त्र हो श्रुतेकर शरद्रीकी प्राप्ता पाकर एक मात्र जागर एक भवता उक्त प्राप्ता त्रिनेदर

क्रमेण चान्येऽपि विलोकनेन संभाविताः सस्मितमीश्वरेण ।
 उपाविशंस्तोषविशेषमाप्ता दम्नोचरे तस्य सुराः समग्राः ॥३३॥
 अथाह देवो बलवैरिमुख्यान्गीर्वाणवर्गान्करुणाद्रैचेताः ।
 कृताञ्जलीकानसुराभिभूतान्ध्वस्तश्रियः श्रान्तमुत्थानवेद्य ॥३४॥
 ग्रहो यतानन्तपराक्रमाणां दिवौकसो वीरवरायुधानाम् ।
 हिमोदविन्दुग्लपितस्य किं वः पथस्य दैन्यं दधते मुखानि ॥३५॥
 स्वर्गौकसः स्वर्गपरिच्युताः किं स्वपुण्यपराशौ सुमहत्तमेऽपि ।
 चिह्नं चिरोढं न तु यूयमेते निजाधिपत्यस्य परित्यजध्वम् ॥३६॥
 दिवौकसो देवगृहं विहाय मनुष्यसाधारणतामवाप्ताः ।
 यूयं कुतः कारणतत्परध्वं महीतले मानभृतो महान्तः ॥३७॥
 श्रनन्यमाधारणसिद्धमुच्चैस्तदैवतं धाम निकामरम्यम् ।
 कस्मादकस्माभिरगाद्भवद्भयधिरार्जितं पुण्यमिवापचारात् ॥३८॥
 दिवौकसो वो हृदयस्य कस्मात्तथाविधं धैर्यमहार्यमार्याः ।
 अगादगाधस्य जलाशयस्य ग्रीष्मातितापादिवशादिवाम्भः ॥३९॥
 सुराः सुराधीशपुराःपराक्षां समीयुषां वः सममातुराणाम् ।
 तद्वद्भूत लोकपयजित्वरार्त्तिकं महामुरात्तारकतो विरुद्धम् ॥४०॥

बैठकर इन्द्रको यथा आनन्द हुआ । भला शकरबीजा प्रसाद वाकर बीज अपनेको पाय गही मानेगा ॥३३॥ सब देवताओंकी ओर बारी-बारीसे मुस्कराते हुए देखकर शकरजीने सब सबका गी सम्मान किया । इससे ये सब भी यद्ये प्रसन्न होकर उनही आशोक के सामने ही बैठ गए ॥३३॥ इन्द्र आदि जो देवता हम जोने माने बैठे हुए ये ओर देखते हुए आनेके कारण जिनके पूर्व उदात्त ओर मुरझाए-से दिखाई गइ रहे ये उनही ओर देखकर कबलाते पिघले हुए हृदयवाले तिबजो बोले— ॥३४॥ हे देवताओ ! इतने बड़े-बड़े वीर होकर, एकसे एक बढ़कर पक्ष सखीसे सखसखर ओर स्वर्गमें रहकर भी आप लोगोंने कुछ पाता मारे हुए कपड़ोंके समान उदात्त कपड़े दिखाई दे रहे हैं ॥३५॥ हे देवताओ ! इतने बड़े पुण्य करनेपर भी आप लोग स्वर्गमें निजल कैसे पाए । आप लोग इतने दिनोंसे जो द्रव्य ज्वर आदि राज-बिह्व साध रखते आ रहे ये उन्हें आप लोग कभी छोड़िए मत ॥३६॥ आप लोग इतने गनखो, महिमाधानी ओर स्वर्ग निवासो होकर भी स्वर्ग छोड़कर साधारण मनुष्योंके समान पृथ्वी सतपर हमर-उधर कपड़े मारे-मारे फिर रहे हैं ॥३७॥ जैसे आप करनेसे बहुत दिनोंसे इन्द्रा बिया हुआ पुण्य हाथसे निकल जाता है, वैसे ही बड़ी बड़ी सिद्धियोंसे भरा हुआ बड़ा सुन्दर स्वर्ग भी आप लोगोंने हाथसे अचानक कैसे निकल गया ॥३८॥ हे देवताओ ! जैसे बहुत गर्मी पड़नेसे गरम जलाना भी सूख जाता है, वैसे ही आप लोगोंने हृदयमें रहनेवाला वह बड़ा भारी अटल धीरज कहीं चला गया ॥३९॥ आज व्याकुल होकर एक साथ आए हुये इन्द्र आदि देवताओ ! आप यह वो बताइए कि आप लोगोंने लीने लीने-

परामर्शं तस्य महासुरस्य निपेद्बुमेकोऽहमलं भविष्युः ।
 दावानलप्लोषविषचिमन्यो महाम्बुदार्तिकं हरते वनानाम् ॥४१॥
 इतीरिते मन्मथमर्दनेन मुराः सुरेन्द्रप्रमुखा मुत्सेषु ।
 सान्द्रप्रमोदाश्रुतरङ्गितेषु दधुः श्रियं सत्त्वरमाश्रमन्तः ॥४२॥
 ततो गिरीशस्य गिरां विरामे जगाद लब्धावसरः सुरेन्द्रः ।
 भविन्त वाचोऽवयरे प्रयुक्ता ध्रुवं फलाविष्टमहोदयाय ॥४३॥
 ज्ञानप्रदीपेन तमोपहेनाविनधरेणास्तलितप्रमेण ।
 मृतं भवद्भावि च यच्च किञ्चित्सर्वज्ञ सर्वं तव गोचरं तत् ॥४४॥
 दुर्वारदोरुधमदुःमहेन यचारकेणामरधस्मरेण ।
 तदीशतामाप्तता निरस्ता वयं दिवोऽमी वट किं न वेत्ति ॥४५॥
 विधेरमोघं न धरप्रमादमासाद्य सद्यस्त्रिजगज्जिगीषुः ।
 मुरानशेषानहकप्रसृस्यान्दोर्दण्डचण्डो मनुते तृणाय ॥४६॥
 स्तुत्या पुरास्माभिरुपासितेन पितामहेनेति निरूपितं नः ।
 सेनापतिः संपति दैत्यमेतं पुरः स्मरारातिसुतो निहन्ति ॥४७॥
 अहो ततोऽनन्तरमध्यायात्मुदुःसहां तस्य परामर्शार्तिम् ।
 विपेहिरे हन्त हृदन्तशान्यमात्रानिवेशं त्रिदिवौकसोऽमी ॥४८॥

वो जीतनेवाले दरबार जारकते भगवा तो मोस नही ले लिया है ॥४०॥ देखिए, उस महा-
 दैत्यने भाप सोगोंवा जो अपमान किया है उसका बदला देखत मैं ही ले सकता हूँ क्योंकि जगत्सो-
 मे लगी हुई भाप बारसोंकी बड़ी घटावों छोटपर और तीन बुझा सकता है ॥४१॥ दानरजी-
 ने ऐसा बहनेपर हन्द्र आदि सभी देवताओंकी आँतोमे धमन्त आनन्दके प्राप्ति छलछापा भाप
 और जब जगत् यह काइस दे दिया क्या कि अब भाप सोगोंकी प्रशस्ति-रस हो जायगी तो ये सब
 तिन उठे ॥४२॥ भगवान् अवश्य कह चुकनेपर टीक भगवर जाववर हन्तने कृता धारम्भ
 किया, क्योंकि भवसारर बड़ी हुई आनका अवश्य ही टीक वस मिलता है—॥४३॥ हे प्रभु !
 भाप पट-पटकी जाननेवाले है, भाप प्रसादनकी मित्रानेवाले है, भापका कभी नाश नहीं होता,
 और भपने कभी न बुझनेवाले आगे प्रकाशने भाप भगवत्के भूत, भविष्य और वर्तमान इन
 तीनों कालोंकी सब बातें जान जाते हैं ॥४४॥ इसलिए हे नाथ ! यह तो भाप जानने ही होने
 कि करने बटोर बाहुरनके पराक्रमने भावाला होकर, देवताओंकी पोषा देवाता तारक प्रगुर
 रगोंवा भाविन बन बैठा है और उसने हम सबको स्वर्गमे निवास प्रदाया है ॥४५॥ यह तारक
 धमुर जगति प्रगुर करदान वाकर अपनी प्रजापति यमके तुरत तीन सोचोंकी जीत लेना
 पाहता है और मुझे तथा दूसरे बड़े बड़े देवताओंकी भी तिनके बराबर तुम्हें समझता है ॥४६॥
 हे मन्तर ! हम सोचने बहने जब ब्रह्माजीकी स्तुति की थी सब उन्होंने प्रगल्भ होकर हमें
 बनाया था कि जब भगवत्की सब देवताओंका सेनापति बनकर जगमे सबेदा सभी यह देख मारा
 जायगा ॥४७॥ तबने आनन्द मय देवता लोग तारक धमुरके शान्ते हरनेकी कथन और

निदाघधामकमविकलवानां नवीनमम्भोदमिवौपधीनाम् ।
 सुनन्दनं नन्दनमात्मनो नः सेवान्यमेतं स्वयमादिश त्वम् ॥४६॥
 त्रैलोक्यपलक्ष्मीहृदयैकशल्पं समूलमुत्खाय महासुरं तम् ।
 अस्माकमेपां पुरतो गवन्सन्दुःखापहारं युधि यो विधत्ते ॥४७॥
 महाहवेनाथ तवास्य सनोः शस्त्रैः शितैः कृच्छशिरोधराणाम् ।
 महासुराणां रमणीविलापैर्दिशो दर्शता मुखरीभवन्तु ॥४८॥
 महारणक्षोण्णपशूपहारीकृतोऽमुरे तत्र सवात्मजेन ।
 चन्दिस्थितानां सुदृशां करोतु वेणीप्रमोहं सुरलोक एषः ॥४९॥
 इत्थं सुरेन्द्रे वदति स्मरारिः सुरारिदुश्चेष्टितजातरोपः ।
 कृतानुकम्पस्त्रिदशेषु तेषु भूयोऽपि भूताधिपतिर्बभावे ॥५०॥
 अहो अहो देवगणाः सुरेन्द्रमुख्याः शृणुध्वं वचनं ममैत् ।
 विचेष्टते शंकर एष देवकार्याय सज्जो भवतां सुतायैः ॥५१॥
 पुरा मयाकारि गिरीन्द्रपुत्र्याः प्रतिग्रहोऽयं निपतात्मनापि ।
 तत्रैष हेतुः खलु तद्भवेन वीरेण यद्वध्यत एव शत्रुः ॥५२॥
 अत्रोपपन्नं तदमी नियुज्य कुमारमेनं पृथनापतित्वे ।
 निघ्नन्तु शत्रुं सुरलोकमेव धुनक्तु भूयोऽपि सुरैः सहेन्द्रः ॥५३॥

हृदयमे पुगे हुए गायके समान कसनेवासी उसकी भाताका अपमान सहते बले आ रहे है ॥४६॥ इसलिये हे भगवन् ! जैसे गर्मके सूर्यकी तपनसे बले हुए लता-वृक्षोंकी नये धावल हरा बार बने हैं वैसे हो मपने इस आनन्द-दायक पुत्रकी हत्यारे सेनापति बननेकी भासा देकर आप भी हमे जिला लीजिए ॥४७॥ तीनो लोनोंके हृदयमे कटिके समान चुमनेवाले इस महा-हृदयकी जब आपके ये पुत्र मुझमे आगे बढ़कर भार टालेंगे तभी हमारा दुःख मिट पावेगा ॥४८॥ हे नाथ ! ऐसा कीजिए कि जब इस महासन्नाममे आपके पुत्रके नुकीले बाणोंसे महादशरोके सिर फट-कटकर गिरें तब उन बैलोंकी स्त्रियोंके बिलापसे दसो दिशाएँ गुँज उठें ॥४९॥ और जब आपके पुत्र उस महासमर-भूमिमे उन देशीकी शिपार आदि जन्तुओंकी भेंट कराएँ तब स्वर्गमे बन्दी बनी हुई अपनी सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्रियोंकी उमझी हुई एनतही बाली ओटियोंकी ये देवता लोग जानकर लोसे ॥५०॥ इस प्रकार इन्द्रके मुँहसे सारकका अत्याचार सुनकर भूतपति शंकरजी क्रोधसे लाल हो उठे और उन देवताओंपर ह्मसा करते हुए ये फिर बोले ॥५१॥ हे इन्द्र आदि देवताओ ! आप लोग मेरी बातें सुनिए । अब मैं शंकर अपने पुत्रको लेकर तुम्हारा काम करनेके लिये तैयार हो गया है ॥५२॥ हे देवो ! समाधिमे लगे होनेपर भी मैंने पार्वतीके साथ इसीलिये विवाह किया था कि इसका पुत्र सारकको मार डाले ॥५३॥ इसलिये आपका काम करनेवाले इस कुमारको सेनापति बनाकर आप शत्रुका नाश कीजिए और इन्द्रके साथ फिर स्वर्गका आनन्द लीजिए ॥५४॥ इसका कहकर शंकरजीने उस घोर संज्ञामकी एक महोत्सव मानकर उसके लिये

इत्युदीर्य भगवाँस्तमात्मजं घोरसंगरमहोत्सवोत्सुकम् ।
 नन्दनं हि जडं देवविद्धिपं संयतीति निजगाद शकरः ॥५७॥
 शामनं पशुपतेः स कुमारः स्वीचकार शिरसावनतेन ।
 सर्वथैव पितृभक्तिरतानामेष एव परमः खलु धर्मः ॥५८॥
 असुरमुद्विधौ विबुधेश्वरे पशुपतौ वदतीति तमात्मजम् ।
 गिरिजया मुमुदे सुतविक्रमे सति न नन्दति का खलु वीरधः ॥५९॥
 सुरपरिवृढः प्रौढं वीरं कुमारमुमापते,
 रत्नवदभरारातिस्त्रीणां दृगञ्जनमञ्जनम् ।
 जगदभयदं सद्यः प्राप्य प्रमोदपरोऽभवद्-
 ध्रुवमभिमते पूर्णे को वा मुदान हि मायति ॥६०॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतो कुमारसंभवे महाकाव्ये
 कुमारसंज्ञापत्यवर्णनं नाम द्वादशः सर्गः ॥

अपने पुत्रसे पता—हे पुत्र ! तुम जाकर देवताओंके पास तारण समुद्रकी मुदभूमिमें मार मारो ॥५७॥
 कुमार पाछिनेपने फिर मुवावरक्षनरजीवी आशा स्वीकार करली । क्योंकि पिताके भक्त पुत्रको यही
 लक्षणा धर्म है कि पिताकी आज्ञा मान लें ॥५८॥ यह देवताओंके स्वामी शिवजी जब अपने पुत्रको
 देखते हैं मुद बदनेरी बात समझने लगे तो पार्वतीजीकी छाती दूनी हो गई क्योंकि ऐसी भला बौन
 घोर माता होती जो अपने पुत्रकी बीरताकी दातसे प्रमत्त न हो ॥५९॥ बलवान् देवोंकी स्त्रियोंकी
 दलावर उनका प्रांगुले उनका आँखोंका आँखन मिटानेवाले तथा सगारकी अभय दान देनेवाले परग
 पराक्रमी कुमार पाछिनेपको पाकर दृढ़ भयवान् सामन्तोंके लिये उठे, क्योंकि सगारमें ऐसा वीर है
 जो अपनी इच्छा पूरी हो जानेपर आनन्दके पावन न हो उठता हो ॥६०॥

महाकवि श्रीकालिदासके ऐसे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमें कुमारके वनापति
 होनेका वर्णन नामका चारद्वी गण समाप्त हुआ ॥

॥ त्रयोदशः सर्गः ॥

प्रस्थानकालोचितचारुवेणः स स्वर्गिवर्गैरनुगम्यमानः ।
 ततः कुमारः शिरसा नतेन त्रैलोक्यभर्तुः प्रणनाम पादौ ॥१॥
 जहीन्द्रशत्रुं समरेऽमरेशपदं स्थिरत्वं नय वीर वत्स ।
 इत्याशिषा तं प्रणमन्तमीशो मूर्द्धन्युपाधाय हृदाम्बनन्दत् ॥२॥
 ग्रहीभवजप्रतरेण मूर्ध्ना नमश्चकाराङ्घ्रियुगं स्वमातुः ।
 तस्याः प्रमोदाश्रुपयःप्रवृष्टिस्तस्याभवद्वीरवरामिपैकः ॥३॥
 तमङ्गमारोप्य मुता हिमाद्रेरारिलप्य गाढं सुतवत्सला सा ।
 शिरस्युपाधाय जगाद शत्रुं जित्वा कृतार्थीकुरु वीरसूं माम् ॥४॥
 उदामदैत्येशविपत्तिहेतुः श्रद्धालुचेताः समरोत्सवस्य ।
 आपृच्छथ भक्त्या गिरिजामिरीशौ ततः प्रतस्थेऽभिदिवं कुमारः ॥५॥
 देवं महेशं गिरिजां च देवीं ततः प्रणम्य त्रिदिवौक्तोऽपि ।
 प्रदक्षिणीकृत्य च नाफनायपूर्वाः समस्तास्तमथानुजग्मुः ॥६॥
 अथ प्रजन्निस्त्रिदशैरशेषैः स्फुरत्प्रभाभासुरमण्डलैस्तैः ।
 नभो बभासे परितो विकीर्णं दिवापि नवत्रगणैरिवोग्रैः ॥७॥

लेखनी सर्ग

सहायका धाना पहनकर और सब देवताओंके प्राये होकर कुमारने चलते समय तीनो लोकोंके स्वामी शिवजीके घरछोमे प्रणाम किया ॥१॥ प्रणाम करते हुए पुत्रको उठाकर और बसना सिर सँभर शिवजीने यह माशीर्वाद देते हुए कुमारको उत्साहित किया कि हे वीर पुत्र ! जानो मुझसे दूसरे शत्रुको मारी और दूसरे नरके बदल करिसे अपनी भाँति बैठ हो ॥२॥ जिस समय कुमार अपने पिताजीके दोनों घरछोमे भुक्तमर माथा टेके हुए प्रणाम कर रहे थे उस समय शिवजीको भाँसोसे बरसे हुए प्रेमके मीसुओंके जलसे ही मानो सेनापति पदमे लिए कुमारका अभिषेक हो गया ॥३॥ अपने पुत्रका सादृश्यकर करनेवाली पार्वतीजीने कुमारको गोदमे लेकर बसकर अपने हृदयसे लगा लिया और उसका माथा सँभकर माशीर्वाद दिया—हे पुत्र ! सहायके शत्रुको जीतकर यह बात सच्ची कर दो कि मैं वीरको माता हूँ ॥४॥ तब उस बलवान् दैत्यराज को मारने और सन्नामस्वी उत्सव मनानेके लिये उठावले बने हुए कुमार वही भविष्य अपने माता पितासे प्राप्त लेकर स्वर्गको घोर चल पड़े ॥५॥ इन्द्र आदि सब देवता भी भगवान् पाकर और भगवती पार्वतीजी को प्रणाम करते और उनकी प्रदक्षिणा करने कुमारके पीछे-पीछे चल गये ॥६॥ तब चारों ओर फँसे हुई वाष्पिपाने सब सब देवताओंके एक साथ चलनेसे आकाश ऐसा जान पड़ने लगा मानो दिनमे चमकनेवाले बड़े बड़े तारे चारों ओर निकल आए हों ॥७॥ आकाशमे चलते हुए देवताओंके

रराज तेषां व्रजतां सुराणां मध्ये कुमारोऽधिकवृत्तिकान्तः
 नक्षत्रताराग्रहमण्डलानामिव त्रियामारमणो नभोन्ते ॥८॥
 गिरीशगौरीतनयेन सार्धं पुलोमपुत्रीदयितादयस्ते ।
 उत्तीर्य नवव्रपथं मुहूर्तात्प्रप्रेदिरे लोकमथात्मनीनम् ॥९॥
 ते स्वर्गलोकं चिरकालदृष्टं महासुरत्रासवशंवदत्वात् ।
 सद्यः प्रवेष्टुं न विप्रेहिरे तत्क्षणं व्यलम्बन्त सुराः समग्राः ॥१०॥
 पुरो भव त्वं न पुरो भवामि नाहं पुरोगोऽस्मि पुरःसरस्त्वम् ।
 इत्थं सुरास्तत्क्षणमेव भीताः स्वर्गं प्रवेष्टुं कलहं वितेनुः ॥११॥
 सुरालयालोकनकौतुकेन मुदा शुचिस्मेरविलोचनास्ते ।
 दधुः कुमारस्य मृत्पारचिन्दे दृष्टिं द्विपत्साध्वसकातरान्ताम् ॥१२॥
 सहेलहासच्छुरिताननेन्दुस्ततः कुमारः पुरतो भविष्युः ।
 स तारकापातमपेक्षमाणो रणप्रवीरो हि सुरानवोचत् ॥१३॥
 भीत्यालमद्य त्रिदिग्वैकसोऽमी स्वर्गं भवन्तः प्रविशन्तु सद्यः ।
 मर्त्रैव मे ह्यपथमेतु शत्रुर्महासुरो वः खलु दृष्टपूर्वं ॥१४॥
 स्फूर्तोल्लसन्तीकचकर्पशाया दोर्मण्डलं वरगति यस्य चण्डम् ।
 इहैव तच्छोषितपानफेलिमद्वाप कुर्वन्तु शरा ममैते ॥१५॥

बीचने अपनी मरपत्त चमकते सुन्दर दिखाई पड़नेवाले कुमार काचित्केय ऐसे, सुन्दर लगते थे मानो
 नक्षत्र और तारोंके बीचमें चन्द्रमा चले जा रहे हो ॥८॥ कुमारके पीछे पीछे इन्द्र प्रादि देवता भीही
 देर में आकाश पार करके स्वर्गलोक जा पहुँचे ॥९॥ इत्येतां तारकके डरसे देवता स्वर्गमें जा नहीं
 पा रहे थे इसलिये वे क्रिष्णके कारण एकदम भीतर न जा सके, थोड़ी देर ठिठके रहे ॥१०॥ उस
 समय वे सब डरे हुए देवता आपसमें एक दूसरेको धकेलते हुए यह भयम्बर करने लगे—तुम बलौ
 भागे । मैं भागे नहीं चर्खूँगा । मैं क्यों भागे चर्खूँ ? सुम्हीने भागे-भागे जलना चाहिए ॥११॥
 उस समय स्वर्गको सामने देखकर मगन हो उठनेवाले जब देवताथोकी भाँधे आनन्दसे खिल गईं
 पर शत्रुके डरसे उनको भीलों कातर होकर कुमारके मुख कमल पर जा पड़ी ॥१२॥ उस समय
 कुमारका मुख पन्द्र खिलवाट-भरी हँसीसे खिल उठा और तारकके धावेकी बाट जोहते हुए रणवीर
 कुमार नाचियेयते भाँधे होकर देवताओंसे कहा—॥१३॥ ह देवो ! अब करनेकी कोई बात
 नहीं है । आप लोग निडर होकर स्वर्गमें भुक्त चलिए । मैं चाहता हूँ कि अपने जिस पौर शत्रु
 तारकको आप लोग देख चुके हैं वह यही मेरे भागे आ जाय ॥१४॥ मैं तो चाहता हूँ कि जिस
 तारक शत्रुकी भुजाएँ, बलपूर्वक लड़गीके बाल पकड़कर उन्हें दुर्दशा करने हुए खींचने लिये मचली
 रहती हैं, उसका सग्न पीनेवाला आनन्द मेरे बाखीकी भठसे यहीपर मिल जाय ॥१५॥ और यह
 भयमनेवाली, प्रत्यन्त तेजस्विनी, प्रतापशालिनी और स्वर्गतोषकी राजमहमोका कट्ट दूर करनेवाली

शक्तिर्ममासावहतप्रचारा प्रभावसारा सुमहःप्रसारा ।
 स्वर्लोकलक्ष्म्या विषदावहारेः शिरो हरन्ती दिशतामृदं वः ॥१६॥
 इत्यन्धकारातिसुतस्य दैत्यवधाय युद्धोत्सुकमानसस्य ।
 सर्वं शुचिस्मेरमुत्सारविन्दं गीर्वाणवृन्दं वचसा ननन्द ॥१७॥
 तान्द्रप्रमोदात्पुलकोपगूढः सर्वाद्विसंकुल्लसदहस्तनेत्रः ।
 तत्स्योत्तरीयेण निजाम्बरेण निस्ञ्जनं चारुचकार शक्रः ॥१८॥
 घनप्रमोदाश्रुतरंगिताक्षैर्मुखैश्चतुर्भिः प्रसुरप्रसादैः ।
 अथो अशुम्भद्विधिरादिवृद्धः पठाननं पदसु शिरःसु चित्रम् ॥१९॥
 तं साधु साधित्यभितः प्रशस्य मुदा कुमारं त्रिपुरासुरारेः ।
 आनन्दयन्वीर जयेति वाचा गन्धर्वविद्याधरसिद्धसंघाः ॥२०॥
 दिव्यपर्वयः शत्रुविजेष्यमाणं तमस्यनन्दन्किल नारदाद्याः ।
 निस्ञ्जनं चक्रुथोत्तरीयैश्वाभीकरीपैर्निजबलकलैश्च ॥२१॥
 ततः सुराः शक्तिधरस्य तस्यावष्टम्भतः साध्वसमुत्सृजन्तः ।
 उत्सेहिरे स्वर्गमनन्तशक्तेर्गन्तुं वनं यूथपतेरिवेभाः ॥२२॥
 अथाभिपृष्ठं गिरिजासुतस्य पुरंदरारातिवधं चिकीर्षोः ।
 सुरा निरीयुस्त्रिपुरं दिधक्षोरिव स्मरारेः प्रमथाः समन्तात् ॥२३॥

मेरी शक्ति यहीपर बाधुका गिर काटकर आप लोगोंको आनन्द दे ॥१६॥ दैत्योका
 राग करनेकी इच्छासे लड़ाई करनेपर उतार होने वाले उन कुमारकी ये बातें सुनकर
 देवताओंके सुन्दर मुख कमल खिल उठ, और वे सभी प्रसन्न हो उठ ॥१७॥ अत्यन्त आनन्दके
 कारण इन्द्र भी इतने पुलकित हो उठे कि उनके शरीरकी सब शक्तिं खिल उठी । तब इन्द्र भी
 कुमारके आपसमें एक दूसरेसे उत्तरीय बद्ध बन्धन अपनी मित्रता पक्की करती ॥१८॥
 देवताओंमें सबसे बड़े ब्रह्माकी शक्ति भी अत्यधिक आनन्दसे बढ़ते हुए आँसुओंकी लहरोसे छल-
 छला आई । उनमें पापों मुक्त प्रसन्नतासे खिल उठे और उन्होंने अपने बारों मुँहोंसे
 कुमारके लक्ष्य मुलोक बड़े विचित्र ढङ्गसे पुञ्जन किया ॥१९॥ उस समय गन्धर्व, विद्याधर और
 सिद्धोंने कुमारको 'साधु साधु' कह कर बड़े आनन्दके साथ उनकी बड़ाई करते हुए यह
 कहकर उन्हें आनन्दित किया कि हे बोर ! तुम्हारी जय हो ॥२०॥ देवर्षि नारद आदिने भी
 शत्रुपों जीतनेवाले कुमारकी प्रशंसा की और उनके सुहृदों उत्तरीय आदि बल्लोंसे अपने
 बल्लस घटककर उनसे आईयका भाता जोड़ लिया ॥२१॥ हममें शक्ति लिए हुए कुमारका
 इस प्रकार सहारा पाकर, देवता लोग निडर हो गए और वे सभी उतारहले स्वर्गमें पैठ गए जैसे
 किसी शक्तिशाली बड़े हाथीका सहारा पाकर छोटे हाथी भी जगत्तम घुस पड़ते हैं ॥२२॥
 जैसे त्रिपुरासुरको बलानेके लिये जाते समय शक्रदेवीने पीछे धक्के प्रपञ्च आदि गए पले ये वैसे
 ही तारकों मारनेकी इच्छा करनेवाले कुमारके पीछे पीछे देवता लोग भी स्वर्गमें घुस पड़े ॥२३॥

सुराङ्गणानां जलकेलिभाजां प्रचालितैः संततमङ्गरागैः ।
 प्रपेदिरे पिञ्जस्वारिपरां स्वर्गोक्तसः स्वर्गधुनीं पुरस्तात् ॥२४॥
 दिग्दन्तिनां चारिविहारभाजां कराहृतैर्भीमतरैस्तरंगैः ।
 आप्लावयन्तीं मुहुरालवालश्रेणि तरुणां निजतीरजानाम् ॥२५॥
 लीलारसाभिः सुरकन्यकाभिर्हिरण्मयीभिः सिक्ताभिरुच्चैः ।
 माणिक्यगर्भाभिरुपाहिताभिः प्रकीर्णतीरां वरवेदिकाभिः ॥२६॥
 सौरभ्यलुब्धभ्रमरोपगीतैर्हिरण्यहंसावलिकेलिलोलैः ।
 चामीकरीयैः कमलैर्विनिद्रैश्च्युतैः परागैः परिपिङ्गतोयाम् ॥२७॥
 इतूहलाद्द्रुमुपागतामिस्तीरस्थिताभिः सुरसुन्दरीभिः ।
 अभ्यूर्मिराजिप्रतिविम्बिताभिर्मुदं दिशन्तीं व्रजतां वनानाम् ॥२८॥
 ननन्द सद्यश्चिरकालदृष्टां विलोक्य शक्रः सुरदीर्घिकां ताम् ।
 अवश्यं त्सादरमद्रिपुत्रीमहेशपुत्राय ततः पुरोगः ॥२९॥
 स कार्तिकेयः पुरतः परीतः सुरैः समस्तैः सुरनिम्नगां ताम् ।
 अपूर्वदृष्टामवलोकमानः सविस्मयः स्मेरविलोचनोऽभूत् ॥३०॥
 उपेत्य तां तत्र किरीटकोटिन्यस्ताञ्जलिर्मकिपरः कुमारः ।
 गीर्वाणघृन्दैः प्रणुतां प्रणुत्य नग्रेण मूर्ध्ना मुदितो बबन्दे ॥३१॥

पहले पहल उन्हें वह आनन्ददायका दिखाई दी जिसका जल, जल-विहार करनेवाली मत्सराप्रोके
 घुले हुए मङ्गोष्ठि छुटे हुए अङ्गरानसे रग जाया करता है, जिसके जलमें विहार करते समय
 शिपालोके हाथी, सहरोवर अपनी सूंड पटक करते हैं और जिसकी सहरोके जलमें तीरपर झड़े
 हुए पेड़ोंके पाँवले सदा शिथिल रहते हैं, जहाँ खेल खेलनेके लिये झाई हुई देवताप्रोके हाथोंकी
 धनी हुई सुनहले बालूकी वे ऊँची-ऊँची वेदिकाएँ दूर-दूर तक बनी हुई थी जो उद्भूति बीच-बीचमें
 मणि डाल-डालकर अपने लेंसके लिये बना रखी थी, जहाँ सुगन्धके लोभी भरी सदा गुनगुनाते
 रहते और सुनहले इस किलोल करते रहते हैं, जहाँ ऐसे सोनेके कमल खिले रहते हैं जिनके गिरे हुए
 परागसे यहाँवा जल भी पीला हो उठता है, जहाँ देवताप्रोकी सुन्दरियाँ मन बहलावके लिये
 आ-आकर तटपर बैठती हैं और तरङ्गोंमें गडती हुई जिनकी परछाईं उपरसे धाने-जानेवाले
 पक्षियोंकी भी भी लुभाती रहती है ॥२४-२८॥ इतन दिनोंपर उस देव-नदीको देखकर इन्द्र सुरन्त
 प्रसन्न हो उठे और आगे बढ़कर आदरसे साथ उद्भूति कुमारकी भी वह नदी दिखाई ॥२९॥
 सब देवताप्रोके घिरे हुए कार्तिकेयकी इस नई नदीको सामने देखकर बड़ा अचरज हुआ और प्रसन्नता
 से उनकी घाँसें सिल गई ॥३०॥ जिस नदीकी सब देवता स्तुति करते हैं, उस मरुकिनीके तटपर
 आकर कुमार कार्तिकेयने धिर झुकाकर अपने निरोटके निरेपर हाथ जोड़कर बड़ी मत्सिसे प्रसन्न
 होकर उन्हें प्रणाम किया और उनकी वन्दना की ॥३१॥ उस समय, खिले हुए कमलोंकी

प्रश्रुतितस्मेरसरोजराजिः पुरः परीरम्ममिलुन्महोर्मिः ।
 कपोलपान्निभ्रमवारिहारि मेजे गुहं तं सतिः गमीरः ॥३२॥
 ततो ब्रजन्नन्दननामधेयं लीलावनं जन्मजितः पुरस्तात् ।
 विभिन्नभद्रोद्धृतशालसंघं प्रेक्षांचकार स्मरशत्रुघ्ननुः ॥३३॥
 सुरद्विपोपप्लुतमेवमेतद्भनं बलस्य द्विपतो गतश्चि ।
 इत्थं विचिन्त्यारुणलोचनोऽभूद्भ्रमद्भुम्भेच्यमुखाः स कोपात् ॥३४॥
 निर्लूनलीलोपवनामपश्यद्ऽसंचरीभूतविमानमार्गाम् ।
 विध्वस्तसौधप्रचयां कुमारो विश्वैकसाराममरावतीं सः ॥३५॥
 गतश्रियं वैरिवरामिभृतां दशां सुदीनामभितो दधानाम् ।
 नारीमघीरामिष तामवेक्ष्य स बाढमन्तः करुणापरोऽभूत् ॥३६॥
 दुश्चेष्टिते देवरिपौ सरोपस्तस्याविषण्णः समराय चोत्फः ।
 तथाविधां तां स विवेश पश्यन्सुरैः सुराधीश्वरराजधानीम् ॥३७॥
 दैत्येयदन्त्यावलिदन्तघातैः घुण्णान्तराः स्फाटिकहर्म्यपङ्कतीः ।
 महाहिनिर्मोकपिण्डजालाः स वीक्ष्य तस्यां विपसाद सद्यः ॥३८॥
 उत्कीर्णधामीकरपङ्कजानां दिग्दन्तिदानववदपितानाम् ।
 हिरण्यहंसमजराजितानां विदीर्णवैद्यमहाशिलानाम् ॥३९॥

मचानवाले तारपोष गले मिलकर घननेपाले और शातोके पसीनेकी सुलानेपाले मयाकिनीके मन्द पवनने बहो धाए हुए कुमारकी सेवा की ॥३२॥ बहोसे चक्कर कात्तिकेयने इन्द्रके बिलासके तन्त्रेन उपवनकी देला । वहाँसे सब सासके पैर था हो तोड़ डाले गए थे या जड़ते ही उखाड़ डाले गए थे ॥३३॥ कात्तिकेयने समझ लिया कि तारकासुरके धत्याचारसे ही इन्द्रके इस सुन्दर वनकी यह सोभा बिगड़ो है । यह सोचते ही मारे क्रोधने उनका मुँह तमतमा उठा, मोहि तन गई और घाँसे लात हो उठी ॥३४॥ बहोसे और धागे बड़कर कुमारने विश्वकी सर्वभष्ट नगरी प्रमरावतीको देला जिसने सीता-उपवन तहस नहस कर डाले गए थे, ऊँचे-ऊँचे भवन गिरा दिए गए थे और सब ऐसा उजाड़ हो गया था कि ऊपर विमानपर चक्कर जानेकी भी किसीका भी नहीं करता था ॥३५॥ शारवणे हाथो उखाड़ी हुई उस नष्ट-भष्ट और सुनसान नगरीको देखकर कात्तिकेयकी इसी प्रकार बड़ी दया भाई जैसे किसी नपुंसकी स्त्रीको देखकर दया घाती है ॥३६॥ धमरावतीकी यह दुर्बला देखते ही कुमार उस दुर्गवासी दैत्यपर बड़े क्रुद्ध हो उठे और युद्धके लिये बड़े उतावलेसे होकर वे देवतामोची राजधानीमें घुसे ॥३७॥ वहाँके स्फटिकके बने हुए बड़े-बड़े भवन दैत्योके हाथियोने दातोनी टनकरसे तटव गए थे और जहाँ तहाँ बड़े बड़े साँपोकी केतुलियाँ छुटी पड़ी थी । यह सब देखकर कुमारको बड़ा दुःख हुआ ॥३८॥ उन्होंने देला कि देवतायोके बिलास-परोमे बनी हुई धावसियोमेसे सोनेके कमल उखाड़ डाले गए थे, दिग्गजोंके मखे उनका जल गदवा हो गया था, मुतहरे हस वहाँसे उठ गए थे, पन्नोकी बनी-बडी पट्टिँ भी टूट-फूट गई थी और चारों ओर

आविर्भवद्भालवृणाश्रितानां तदीयलीलागृहदीर्घिकाणाम् ।

स दुर्दशां वीक्ष्य विरोधिजानां विषादवैलक्ष्यभरं वभार ॥४०॥

तदन्तिदन्तचतहेममिचि सुतन्तुजालाकुलरत्नजालाम् ।

निन्ये सुरेन्द्रेण पुरोगतेन स वैजयन्ताभिधमात्ममौघम् ॥४१॥

निर्दिष्टवर्त्मा विबुधेधरेण सुरैः ममग्रैरनुगम्यमानः ।

स प्राविशच्च विविधास्मरश्मिच्छिन्नेन मोपानपधेन सौधम् ॥४२॥

निसर्गकषपद्रुमतोरुं तं स पारिजातप्रसवस्रगाढम् ।

दिग्यैः कृतस्वस्त्ययनं मुनीन्द्रैरन्तःप्रविष्टप्रमदं प्रपेदे ॥४३॥

पादौ महर्षेः किल करपपस्य कुलादिशृङ्गस्य सुरासुराणाम् ।

प्रदक्षिणीकृत्य कृताञ्जलिः सन्यङ्गमिः शिरोमिः स नतैर्ध्वजन्दे ॥४४॥

स देवमातुर्जगदेकबन्धौ पादौ तयैव प्रखनाम कामम् ।

मुनेः कलत्रस्य च तस्य मक्त्या प्रह्वीभज्यैलसुतातनूजः ॥४५॥

स करपपः सा जननी सुराणां तमेधयामासतुराशिषा द्वौ ।

तया यया नैकजगज्जिगीषुं जेता मृधे तारकमुग्रपीर्यम् ॥४६॥

स्वदर्शनार्थं समुपेयुषीणां सुदेवतानामदितिश्रितानाम् ।

पादौ वयन्दे पतिदेवतास्तमाशीर्यचोभिः पुनरभ्यनन्दन् ॥४७॥

छोटी-छोटी पास उग आई थी, समुद्रांकि हाथों वहाँकी यह दुर्दशा देखकर उनका मन दु खले मारी हो उठा ॥४०॥ तब इन्द्र मगवानु कुमारकी प्रपत्नी उस वैजयन्त नामके भवनमें ले गए जहाँकी मुनहत्ती दीवारें बैद्योंके हाथियोंके दाँतोंकी टङ्कुरें पट गई थी और जहाँ मर्कटियोंने जाते तान दिए थे ॥४१॥ घाघे-घाघे इन्द्र चल रहे थे और पीछे पीछे सब देवता चले आ रहे थे । इस प्रकार रत्नोंकी बमकलें घुहावनी मगनेवाली छीटियोंपर खडकर कुमार उस भवनमें गए ॥४२॥ और सब लोग भी उस गुम्बर भवनमें पहुँचे जहाँ कल्पवृक्ष ही स्वयं शम्भुनवार बना हुआ था, जहाँ डेरके डेर पारिजातके फूल बिल्लरे पड़े थे, जहाँ देवपिथोंने स्वस्ति-पाठ किया था और जहाँ एकसे एक बबकर अम्बराएँ रहते थे ॥४३॥ वहाँपर देव-शानव बरके सबसे बड़े नुदे महर्षि कश्यपके चरणोंकी प्रदक्षिणा करके कुंभारने ध्रुवने छोटी सिरेंसे उगहँ प्रणाम किया ॥४४॥ कुमारने बड़ी भक्ति से कश्यपकी पत्नी और देवोंकी मादि माता पदितिके उन चरणोंके भी मती भक्ति प्रणाम किया बिन्दु सारा ससारा पूजता है ॥४५॥ तब कश्यप और देव-माता पदितिके कुमारकी यह घाघीर्वाह देवर उनका साहस बढ़ाया कि तीनों लोकोंके जीतनेवाले इस शक्तिशाली तारक प्रसुरकी तुम युद्धमें अवश्य हराओगे ॥४६॥ वहाँ पदितिके यहाँ और जो देवाङ्गनाएँ रहती थी वे भी कुमारकी देखनेके लिए आ पहुँची । कुमारने उन सबकी प्रणाम किया और उन सब पतिव्रता स्त्रियोंने बुधवारकी मात्तीर्वाह देकर उनका बड़ा मान बढ़ाया ॥४७॥ तब कुमारने इन्द्रकी पत्नी सतीकी प्रणाम किया और उन्होंने भी घाघीय देवर इनका मान बढ़ाया

पुलोमपुत्रीं विबुधाधिभर्तुस्ततः शचीं नाम कलत्रमेव ।
 नमश्चकार स्मरशत्रुसुनुस्वमाशिषा सा समुपाचरन् ॥४८॥
 यथादितीन्द्रप्रमदाः समेतास्ता मातरः सप्त धनप्रमोदाः ।
 उपेत्य मक्त्वा नमते महेशपुत्राय तस्मै ददुराशिषः प्राक् ॥४९॥
 समेत्य सर्वेऽपि मुदं दधाना महेन्द्रमुख्यासिद्धिदिवीकसोऽय ।
 आनन्दकल्लोलितमानसं तं समभ्यपिञ्चन्पृतनाधिपत्ये ॥५०॥
 सकलविबुधलोकः सस्तनिःशेषशोकः,
 कृतरिपुविजयाशः प्राप्तयुद्धावकाशः ।
 अजनि हरसुतेनानन्तवीर्येण तेना,
 खिलविबुधचमूनां प्राप्य लक्ष्मीमनुनाम् ॥५१॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसमये महाकाव्ये
 कुमारसंन्यासख्याभिषेको नाम त्रयोदशः सर्गः ॥

॥४८॥ तब कुमारने कदम्बजीवी उन सातो पत्निबोवे पाव जाकर बडी मत्तिसे प्रणाम दिया जो बडे
 आनन्दसे भरी वही इकट्ठी बैठी हुई थी । उन्होने प्रणाम करकेसे पहले ही कुमारको विजय पायेका
 प्राणीर्षदि दे दिया था ॥४९॥ उस समय इन्द्र प्रादि सभी देवताओने आनन्दके साथ इकट्ठे होकर
 हैसमुख कुमार कालिकेयको अपना सेनापति बना दिया ॥५०॥ इस प्रकार जब अनन्त दक्षि-
 नासी कुमार कालिकेय, देवताओकी समूची सेनाके सेनापति हो गए तो देवताओकी विस्वास हो
 गया कि अब हम लोग युद्धमे खत्रुओको खरबसे जीत लेंगे और यह सम्भ्रमकर उनका सब शोक भी
 जाता रहा ॥५१॥

महाकवि श्रीकालिदासने रचे हुए कुमारसम्भव महाकाव्यमे सेनापतिका
 अभिषेक नामका छेरहवां सर्ग समाप्त हुआ ।

॥ चतुर्दशः सर्गः ॥

रणोत्सुकेनान्धकशत्रुसन्नुना समं प्रसुक्तैस्त्रिदशैर्जिगीषुणा ।
 महासुरं तारकसंज्ञकं द्विषं प्रसह्य हन्तुं समनद्यत द्रुतम् ॥ १ ॥
 स दुर्निवारं मनसोऽतिवेगिनं जयश्रियः सचयनं सुदुःसहम् ।
 विजित्वरं नाम तदा महारथं धनुर्धरः शक्तिधरोऽध्यरोदयत् ॥ २ ॥
 सुरालयश्रीविषदां निवारणं सुरारिसंपत्पारितापकारणम् ।
 केनापि दध्रेऽस्य विरोधिदास्यं सुचारुचामीकरधर्मवारणम् ॥ ३ ॥
 शरशरचन्द्रमरीचिपाण्डुरैः स बीज्यमानो वरचारुचामरैः ।
 पुरःसरैः किन्नरसिद्धचारुणै रणोच्छुरस्तूयत वाग्भिरुत्तमैः ॥ ४ ॥
 प्रयाणकालोचितचारुषेपभृद्भजं वहन्यर्वतपद्मदारणम् ।
 ऐरावतं स्फाटिकशैलसोदरं ततोऽभिरुह्य द्युपतिस्तमन्वगात् ॥ ५ ॥
 तमन्वगच्छद्भिरिभृद्भसोदरं मदोद्धतं मेघमधिष्ठितः शिखी ।
 विरोधिविद्वेषरुपाधिकं ज्वलन्महोमहीयस्तरमायुधं दधत् ॥ ६ ॥
 अथेन्द्रनीलाचलचण्डविग्रहं विपाणविध्यस्तमहापयोधरम् ।
 अधिष्ठितः कासरगुद्धरं मुदा वैधस्वतो दण्डधरस्तमन्वगात् ॥ ७ ॥

चौदहवां सर्ग

विषयकी इच्छासे लड़नेके लिये उताऊ कुमार वातिवेगसे कहनेसे सब देवता मिलकर दल-
 पूर्वक तारकको नार डालनेके लिये भस्म छत्र बाँधने लगे ॥१॥ तब चतुर्पारी शक्तिशाली कुमार
 अपने 'विजित्वर' नामके उत बड़े भारी रथपर चढ़ गए जो मन्त्र भी अधिक वेगसे चलता था, जो
 किसीके रीते दबता नहीं था और जिसपर चढ़कर लड़नेसे सारा विजय मिलती ही है ॥२॥ बसी
 सगद किसीने ऊपर सोनेका वह धनु-नासक छत्र साकर लगा दिया जो स्वर्णकी लक्ष्मीकी सुखदेने-
 वाला और दैत्योकी संपत्ति उखाड़ देनेवाला था ॥३॥ कुमारके दोनों और शरदके चन्द्रमाकी
 निरालंकि समान उज्जले सुन्दर शरद हुल रहे थे और उनके आगे बड़े-बड़े मखाटिए विग्रह, सिद्ध और
 चारण उन युद्ध प्रेमी कुमारकी बढाईके गीत गति चल रहे थे ॥४॥ युद्धका ठाट सजाकर और पर्वतो
 ने पक्ष काटनवाला दण्ड लेकर इन्द्र भी स्फटिकके पर्वतके समान उज्जले और ऊँचे ऐरावत हाथीपर
 चढ़कर उनके पीछे पीछे हो लिए ॥५॥ आयुधर कोषके मारे और भी अधिक जलते हुए अग्निदेव भी,
 पर्वतकी चोटीके समान ऊँचे और बिगडेल भेंडेपर चढ़कर और बड़ा भयकर दहलाता हुआ शस्त्र हाथमे
 लेकर कुमारके पीछे-पीछे चल दिए ॥६॥ हाथमे दण्ड लेकर यमराज भी अपने नीलमके पहाड़ जैसे ऊँचे
 और बलूटे जग भेंडेपर चढ़कर कुमारके पीछे चलदिए जो अपने सींगसे पादलोंकी धाती चीरता चलता
 था ॥७॥ नैर्ऋत्य दिशाका स्वामी नैर्ऋत राखल भी तारकसे चिड़कर बड़ा भयावह हो गया और शत्रुसे

मदोद्धतं प्रेतमथाधिरूढवैस्तमन्धकद्वेषितनृजमन्वगात् ।
महासुरद्वेषविशेषभीषणः सुरांषणश्चरुहरणाय नैर्ऋतः ॥८॥
नवोद्यदम्भोधरघोरदर्शने युद्धाय रुढो मकरे महचरे ।
दुर्वारपाशो वरुणो रणोत्थस्तमन्वियाथ त्रिपुरान्तकात्मजम् ॥९॥
दिगम्बराधिक्रमणोत्थं चक्षान्मृगं महीयांसमरुद्धविक्रमम् ।
अधिष्ठितः संगरकेलिलालसो मरुन्महेशात्मजमन्वगाद्दुतम् ॥१०॥
विरोधिनां शोषितपारणैपिणीं गदामनूनां नरवाहनो वहन् ।
महाहवाम्भोधिबिगाहनोद्धतं यियासुमन्वागमदीशनन्दनम् ॥११॥
महाहिनिर्यद्वजटाकलापिनो ज्वलत्त्रिशूलप्रवलायुधा युधे ।
रुद्रस्तुपाराद्रिसस्य महावृषं ततोऽधिरूढास्तमयुः पिनाकिनः ॥१२॥
अन्येऽपि सनत् महारणोत्सवभद्राक्षवः स्वर्गिगणास्तमन्वयुः ।
स्वबाहनानि भ्रमलान्यधिष्ठिताः प्रमोदविस्मेरमुखाम्बुजश्रियः ॥१३॥
उदयद्वहेमध्यजदण्डसंकुलाश्चद्विचित्रातपवारयोज्ज्वलाः ।
चलद्गनस्पन्दनघोषभीषणाः करीन्द्रघण्टारवचण्डचीकृताः ॥१४॥
स्फुरद्विचित्रायुधकान्तिमण्डलैरुद्योतिताशावलयाम्बरान्तराः ।
दिवौकसां सोऽनुबहन्महाचमूः पिनाकपाणोस्तनयस्ततो ययौ ॥१५॥

लड़नेके लिये मतवाले प्रेतपर चढ़कर कुमारके पीछे चल दिया ॥८॥ अपनी मण्डक फाँस लिए हुए वड़े बलवाद् बण्णदेव अपने उस बड़े भारी घड़ियालपर बैठकर युद्धके लिये कुमारके पीछे चले जो ठोड़ी हुई घटाके समान एकदम फाला था ॥९॥ पवनदेव सदाईकी इच्छासे क्षण भरमें अपने उस पराक्रमी घड़ियालपर बैठकर कुमारके पीछे चल दिए जो पृथ्वी और आकाशमें सब बड़ी बिना दके चौबड़ी भरता उड़ता चलता था ॥१०॥ जो गदा क्षत्रप्रोक्ता सह पीर ही युद्धका व्रत सोढती थी, वह भारी गदा लेकर युद्धे उस बालकीपर बढपर कुमारके पीछे चले जिसे मनुष्य डी रहे थे ॥११॥ अपने अपने हाथमें पिनाक घण्ट और जलते हुए त्रिशूल लेकर और अपने अपने गदा सूटीकी घड़े-घड़े साथी से कलकर हिमालयके समान बजने बँबोपर चढपर ग्यारही द्रु कुमारके पीछे पीछे ही लिए ॥१२॥ महायुद्धके इस उत्साहमें रुधि रत्नेवाले हस्ते सब देवता भी अपने-अपने तमड़े बाहनोपर चढकर मानन्दसे हँस-हँसकर अपना मुख-कमल खिलाते हुए काँतिवैभवे साथ चल पड़े ॥१३॥ इस प्रकार सब टाढोसे सबी हुई, मग्नित्त सोनेके डडे ऊपर उठाकर चलती हुई, चमचमाते हुए रग-विरग रत्न अनकातो हुई, युद्धके भुञ्ज चसनेवाले रघोनी चनपनाहटसे भयपर लगती हुई मतवाले हथिपौरों पटोकी टन टन और सबकी चिंग्याहोसे वान फाडती हुई, अनेक प्रकारके भिन्नमिलाते हुए मल सज्जोकी चमकते चारों दिशाओं और आकाशको चमकाती हुई उस देवताप्रोवी महसिनाको लिए हुए वीर कुमार चले ॥१४-१५॥ उछलते-कूदते चलनेवाले देवताओंके हल्लेसे और उस बड़ी भारी सेनाकी ऊँची-ऊँची और बड़ी-बड़ी ध्वजाधोस, दलों दिवारों आकाश और

कोलाहलेनोच्चलतां दिवौकसां महाचमूनां गुरुमिर्ध्वजव्रजैः ।
 घनैर्निरुच्छ्वासमभूदनन्तरं दिङ्मण्डलव्योमतलं महीतलम् ॥१६॥
 सुरारिलक्ष्मीपरिकम्पहेतवो दिक्चक्रवालप्रतिनादमेदुराः ।
 नभोन्तकुक्षिमरयो घनाः स्वना निहन्यमानैः पटहैर्वितेनिरे ॥१७॥
 प्रमथ्यमानाम्बुधिगर्जितर्जनैः सुरारिनारीगणगर्भपातनैः ।
 नमथमृधूलिकुलैरिवाकुलं ररास गाढं पटहप्रतिस्वनैः ॥१८॥
 क्षुण्णं रयैर्वाजिभिराहतं सुरैः करीन्द्रकर्णैः परितः प्रसारितम् ।
 धृतं ध्वजैः काञ्चनशैलजं रत्नो वासैर्हतं व्योम समारुहस्क्रमात् ॥१९॥
 सातं सुरै रथ्यतुरङ्गपुङ्गवैरुपेत्यकाहाटकमेदिनीरजः ।
 गतं दिगन्तान्मुखरैः समीरणैः सुविभ्रमं भूरि वभार भूयसा ॥२०॥
 अधस्तथोर्ध्वं पुरतोऽथ पृष्ठतोऽभितोऽपि चामीकरैश्शुरुक्षकैः ।
 चमूपु सर्पन्मरुदाहतोऽहरन्नवीनस्यर्षस्य च कान्तिर्चैभवम् ॥२१॥
 पलोद्भूतं काञ्चनभूमिजं रजो वमौ दिगन्तेषु नमःस्थले स्थितम् ।
 अकालमन्यधाघनरागपिङ्गलं घनं घनानामिव बृन्दमुद्यतम् ॥२२॥
 हेमावनीषु प्रतिविम्यमात्मनो मृदुर्विलोक्याभिमुखं महागजाः ।
 रसातलोत्तीर्णगजभ्रमास्क्रुधा दन्तप्रकाण्डप्रहृतानि तेनिरे ॥२३॥

पृथ्वी सब एक ते दिखाई पड़ने लगे ॥१६॥ उनके नगाडोंकी धोर ध्वनिकी गूँज चारों ओर सुनकर
 दैत्योंकी राज लक्ष्मी भी कांप उठी ॥१७॥ सेनाके चलनेसे उठी हुई धूलसे जरा हुआ आकाश
 ऐसा लगता था मानो मघनेके समय समुद्रके गर्जनसे भी अधिक डरावनी ध्वनिवाले और दैत्योंकी
 खियोंके गर्भ गिरानेवाले नगाडोंकी धमक सुनकर आकाश से उठा हो ॥१८॥ वहाँ सुमेरु पर्वतकी धूल
 इस उगरे आकाशमें पहुँची कि पहलेतो रथोंने वहाँकी मिट्टी उखाड़ी, फिर घोड़ोंने अपने सुनोँते जूँद-जूँद-
 कर उसे महीन कर दिया, तब हाथियोंने अपने कान हिल हिलाकर उसे चारों ओर फैला दिया, तब
 सहाराती हुई ऋषियोंने उस धूलको और भी ऊपर ऊपर बिखेर दिया और फिर वायु उसे आकाशमें
 उठा ले गया ॥१९॥ इतना ही नहीं, सुमेरुकी उलहटीसे उठी हुई वह सुनहरी धूल रथ
 सीपनेवाले बड़िया घोड़ोंके सुँरोसे मिसकर, हरहराते हुए पवनने सहारे सभी दिशाओंमें फैलकर
 बमक उठी ॥२०॥ पवनके सहारेसे सेनाके ऊपर-नीचे, धागे-पीछे और चारों ओर फैली हुई वह
 सुनहरी धूल ऐसी सुन्दर लगती थी कि निकलते हुए भूयँकी सुनहरी धूप भी उससे माने पानी
 भरती थी ॥२१॥ सेनाके चलनेसे उठी हुई सुनहरी धूल सभी दिशाओं और आकाशमें भरकर
 ऐसी सुन्दर दिखाई पड़ने लगी मानो सप्पा हुए बिना ही सुनहल बादलोंने भुटने भुट उगड़कर
 आकाशमें छा गए हों ॥२२॥ सेनाके साथ चलते हुए हाथियोंने वहाँकी सुनहली धरतीमें अपनी
 परछाईं देखी तो वे समझे कि वे पातालसे निकलते हुए बड़े-बड़े हाथी हैं और इसीलिए बहुत

मुजातसिन्दूरपरागपिञ्जरैः कलं चलद्भिः सुरसैन्यसिन्धुरैः ।
 शुद्धासु चामीकरशैलभूमिषु नाट्यस्यत्त स्वं प्रतिबिम्बमग्रतः ॥२४॥
 इति क्रमेणामरराजवाहिनी महाहवाम्मोधिविलासलालसा ।
 अघातस्काञ्चनशैलतो द्रुतं कोलाहलाक्रान्तविधूतक्रन्दरा ॥२५॥
 महाचभूस्पन्दनचण्डचीत्कृतैर्विलोलघण्टेमपतेषु वृंहितैः ।
 सुरेन्द्रशैलेन्द्रमहागुहाशयाः सिंहा महत्स्वप्नसुखं न तत्पशुः ॥२६॥
 गम्भीरमेरिष्वनितैर्भयंकरैर्महागुहान्तप्रतिनादभेदुरैः ।
 महारथानां गुरुनेमिनिःस्वनैरनाङ्गलैस्तैर्मृगज्जताजनि ॥२७॥
 सप्तुत्थितेन त्रिदिवौकसां महाचभूरवेषाद्रितटान्तदारिणा ।
 प्रपेदिरे केसरिणोऽधिकं मर्दं स्ववीर्यलक्ष्मीभृगराजतावशात् ॥२८॥
 भिया सुरानीकविमर्दजन्मना विदुद्रुवुर्दरतरं द्रुतं मृगाः ।
 गुहागृहान्ताद्रहिरेत्य हेलया तस्थुर्विशङ्कं नितरां मृगाधिपाः ॥२९॥
 विलोकिताः कौतुकिनामरावतीजनेन जुष्टप्रमदेन दूरतः ।
 सुराचलप्रान्तभ्रुवः प्रपेदिरे सुविस्तृतायाः प्रसरं सुसैनिकाः ॥३०॥

विगडपर वे उस परछाहीहोपर ही अपने बड़े-बड़े दाँतोंसे टक्कर भारने लगे ॥२९॥ बहिया सिन्दूरकी चुकनीसे रंगे हुए और धीरे-धीरे चलनेवाले उन देवताओंकी सेनाके हाथियोंको सुमेरु गिरि की चमकदार चोतेकी परछाीपर भी अपनी परछाही डींग डींग नहीं दिखाई पड़ती थी, क्योंकि दोनोवा रंग एक-सा था ॥२४॥ इस प्रकार मुटके सपुटमे सैरनेको उतार देवराजको सेना अपने हल्लेसे गुफाओंको गुंजा-नी हुई सुमेरु पर्वतसे बड़े वेगसे नीचे उतरा ॥२५॥ देवताओंकी इस बड़ी भारी सेनाके रथोंको और घरघराहट और बजते हुए घंटो और बड़े बड़े हाथियोंकी चिंगाओंकी दस्तमो ध्वनि होती हुए भी सुमेरु पर्वतकी लकी लकी गुफाओंमे सोनेवाले सिंहोंने अपनी नींदके सपनोंका सुप्त नहीं छोडा, वे सोए ही पड़े रहे ॥२६॥ गुफाओंमे गुंजते हुए नयावोंकी मगीर और भयकर ध्वनि और बड़े-बड़े रथोंके पहियोंकी घटघटाहट गुफाओंसे टकराकर दूमी होकर गुंज रही थी, फिर भी वहाँके सिंह ज्योंके त्यों बैठे रहे और इस प्रकार उन्होंने यह विद्वं कर दिया कि हम सचमुच मृगोंके राजा हैं ॥२७॥ सुमेरुकी चोटियोंको फोड़नेवाली उस देवोंकी महासेनाके चलनेसे जो हल्ला हो रहा था, उसे सुन-सुनकर वे सब सिंह और भी भतवाले हो उठे जो अपनी शक्तिके बलपर सब पशुओंके राजा बने हुए थे ॥२८॥ वहाँ जितने हरिण थे वे सब तो इस डरसे चौकटी भरकर दूर भाग गए कि कहीं देवताओंकी सेना हमे मार न डाले, पर जितने सिंह थे, वे अपनी गुफाओंके बाहर निडर होकर मस्तीसे साथ निकल निकलकर खड़े हो गए ॥२९॥ जब वे संविच उस ऊँचे सुमेरु पर्वतकी तसहटीमे उठे, उस समय अमरावतीमे रहनेवाले स्त्री-पुरुष सब उन्हे बड़े चावसे देख रहे थे ॥३०॥ सुमेरु पर्वतकी पीली, नीली, लाल और उबकी बहानोसे उठी

पीतासितारक्तसितैः सुराचलप्रान्तस्थितैर्धातुरजोभिरम्बरम् ।
 अयत्नगन्धर्वपुरोदयभ्रमं वमार भूमनोत्पतितैरितस्ततः ॥३१॥
 महास्वनः सैन्यविमर्दसंभवः कर्णान्तकूलंकपतामुपेयिवान् ।
 पयोनिधेः क्षुब्धतरस्य वर्धनो बभूव भूमना ध्रुवनोदरम्भरिः ॥३२॥
 महागजानां गुरु वृंहितैस्ततैः सुहेपितैर्धोरतरैश्च वाजिनाम् ।
 घनैरथानां गुरुचण्डचीत्कृतैस्तिरोहितोऽभूत्पटहस्य निःस्वनः ॥३३॥
 महासुराणामवरोधयोपितां कचाक्षिपस्मस्तनमण्डलेषु च ।
 ध्वजेषु नागेषु रथेषु वाजिषु चरणेन तस्थौ सुरसैन्यजं रजः ॥३४॥
 घनैर्विलोक्य स्थगितार्कमण्डलैश्चमूरजोमिनिर्निचितं नभःस्थलम् ।
 अयायि हंसैरभिमानसं घनभ्रमेण सानन्दमनतिं केकिभिः ॥३५॥
 सान्त्रैः सुरानीकरजोभिरम्बरे नवाभ्युदानीकनिर्भरभिभ्रिते ।
 चकाशिरे स्वर्णमया महाध्वजाः परिस्फुरन्तस्तडितां गणा इव ॥३६॥
 विलोक्य धृतीपटलैर्मृशं मृतं द्यावापृथिव्योरलमन्तरं महत् ।
 किमूर्ध्वतोऽथः किमधस्त ऊर्ध्वतो रजोऽभ्युपैतीति जनैरतर्क्यत ॥३७॥
 नोर्ध्वं न चाधो न पुरो न पृष्ठतो न पार्श्वतोऽभूत्खलु चक्षुषोर्गतिः ।
 सूच्यग्रमेधैः पृतनारजश्चयैराच्छादिता प्राणिगणस्य सर्वतः ॥३८॥

हुई धूलसे भरा हुआ आकाश ऐसा लगने लगा मानो बिना परिधमने ही वह अनेक रक्तोत्त भरा।
 गन्धर्वपुर बन गया हो ॥३१॥ कानेंकि परदोकी फाटनेवाला देवसेनाका वह उमड़ा हुआ घोर शब्द
 हड़भडाते हुए समुद्रकी कोलाहलसे भी अधिक बढ़कर सारे ब्रह्माण्ड में खूबने लगा ॥३२॥ यहाँ तक
 कि मलबाले हाथियोंकी भारी बिम्बाड चारों ओर घोड़ोंकी हिनहिनाहट और चलते हुए रथोंकी घोर
 भरभराहटमें गम्भीर और कान फाटनेवाली गणायोंकी ध्वनि एवढम दब गई ॥३३॥ और अणु-भरमें
 ही देवसेनामें चलनेसे उठी हुई वह धूल धीरे-धीरे देवोंकी शिपोंके बालों, उनकी आँखों, घालकी और
 स्तभोंपर बैठती हुई फिर उनकी पताकाओं, हाथियों, रथों और घोड़ोंपर जाकर जमने लगी ॥३४॥
 जब सेना की घनी धूल सूर्यको ढककर आकाशमें छा गई तो हृदय समझे कि ये बादल हैं और घरघरात
 जागकार वे मानसरोवरकी ओर उड़ चले और ओरमस्तीसे नाचने लगे ॥३५॥ सेनाके चलनेसे
 उठी हुई घनी धूल तो आनाशमें नये बादलोंकी पाँतो-जैसी दिखाई देने लगी और सुगहरी
 पताकाएँ, चमकती हुई बिजलीकी लहरो-सी चमकने लगी ॥३६॥ आकाश और पृथ्वीके ठीक बीचों
 बीच छाई हुई उस धूलको देखकर लोग यही सोचते रह गए कि यह धूल, ऊपरसे नीचे उतर रही
 है या नीचेसे ऊपरकी उड़ रही है ॥३७॥ सेनामें चलनेसे उठी हुई धूल ऐसी छा गई थी कि सूर्यकी
 नोकमें बराबर स्थान भी छुला न रह गया था इसलिये सबकी आँखोंके आगे ऐसा धँधरा छा गया
 कि किसी की भी नीचे ऊपर, आगे-पीछे, इधर-उधर कहीं कुछ भी नहीं दिखाई देता था ॥३८॥

दिगन्तदन्त्यावलिदानहारिभिर्विमानरन्ध्रप्रतिदानमेदुरैः ।
 अनेकवाद्यध्वनितैस्नारतैर्जगज्ज गाढं गुरुभिर्नभस्तलम् ॥३६॥
 भुवं विगाह्य प्रययौ महाचमूः कचिच्च मान्ती महतीर्दिवं सलु ।
 सुसंकलायामपि तत्र निर्भरात्किं कान्दिशीकत्वमवाप नाकुला ॥३७॥
 उद्दामदानद्विपवृन्दवृंहितैर्नितान्तमुचुक्षुस्तुरङ्गहेपितैः ।
 चलद्भनस्पन्दननेमिनिःस्वनैरभून्निरुच्छ्वासमिवाकुलं जगत् ॥३८॥
 महागजानां गुरुभिस्तु गर्जितैर्विलोलघण्टारणितै रसोद्वयैः ।
 वीरप्रणादैः प्रमदप्रमेदुरैर्वाचालतामादधिरेतरां दिशः ॥३९॥
 दन्तीन्द्रदानद्रव्यवारिवीचिमिः सद्योऽपि नद्यो बहुधा पुपरिरे ।
 धारारजोभिस्तुरगैः चतैर्भृता याः यङ्कतामेत्य रथैः स्थलीकृताः ॥४०॥
 निम्नाः प्रदेशाः स्थलतामुपागमन्निम्नत्वमुच्चैरपि सर्वतथ तै ।
 तुरंगमाणां व्रजतां सुरैः चता रथैर्गजेन्द्रैः परितः समीकृताः ॥४१॥
 नभोदिगन्तप्रतिघोषभीषणैर्महामहीमुत्तदारसोन्वयैः ।
 पयोधिनिर्धुननकोलिभिर्जगद्भूष भरीध्वनितैः समाकुलम् ॥४२॥
 इतस्ततो वातविधृतचञ्चलैर्नारन्निप्रताशागमनै र्पर्याजशुफैः ।
 लघैः कण्टकाञ्चनकिङ्किणीकुलैरमजि धूली-जलधौ नमोगते ॥४३॥

संगमे ऐसे बहुतसे बाजे निरन्तर बज रहे थे जिनकी घोर ध्वनि सुनकर मतवाले हाथियोंका मद भी मूख जाता था घोर जिनकी ध्वनि विमानोंकी छतरीयोंमे टकराकर घोर भी हुनो वृज उठती थी । उगड़े सुन-सुनकर ऐसा लगता था मानो आकाश ही पगधोर गरज रहा हो ॥३६॥ बेवताभोरी यह महासेना पहले तो धरती मे भर गई, पर वहाँ न समा सकनेके कारण आकाश मे जा पहुँची घोर जब वहाँ भी न समा सकी तो मानो यह यह समस्तकर पकड़ा डठी कि अब गहति वहाँ पला जाय ॥३७॥ ऊँचे-ऊँचे मतवाले हाथियोंकी चिमपाठी से, अत्यन्त ऊँचे पोटो की हिनहिनाहटोमे घोर नलनेवाले रसो की पड़-पड़ाहटसे सब ऐसे पकड़ा डठे मानो सबकी साँत फुटी जा रही हो ॥३८॥ बड़े-बड़े हाथियोंकी घोर चिमपाड, उनके हिलते हुए मुँहके पोटोकी टन-टन घोर मतवाले बीरोकी ललकार बारी घोर कैसी हुई ऐसी लगती थी मानो दसों दिशाएँ कीलाहत मचा रही हो ॥३९॥ यड़े यड़े हाथियोंका इतना मद बहा कि सूखी हुई नदियोंमे तुरन्त बाढ छा गई । घोर फिर पोटोके मुमोकी खँदते छठी हुई मूलमर जानेसे उन नदियोंमे गोपड़ ही पीपड़ हो गया घोर फिर रसोके पहियोंसे बबबर बड़ी फिर ज्योंकी त्यों धरती निवत्त भाई ॥४०॥ नलते हुए पोटोके सुरोसि रोँदो जानेपर घोर रसों तथा हाथियोंके चलनेसे दब जानेपर नीचे स्थान ऊँचे हो गए घोर ऊँचे स्थान नीचे हो गए ॥४१॥ बड़े-बड़े पहाड़ोंको पोट देनेवाली घोर समुद्रमे हलचल मचा देनेवाली वह नगाडेकी ध्वनि निक्कनवर आकाश घोर शिशाग्रोंमे गूँजी तो उनकी घोर भी भयानक ध्वनि सुनकर राय उत्तार पकड़ा उठा ॥४२॥ बस सेनारी टन-टनाते हुए घुंघरुप्रोवाली साखो झडियो जो सारे आकाश मे भरकर सब मार्ग रोके हुए थापूने

घण्टारवै रौद्रतरैर्निरन्तरं विसृत्वैर्गर्जरवैः सुभैरवैः ।
 मत्तद्विषानां प्रथयांभविरे न बाहिनीनां पटहस्य निःस्वनाः ॥४७॥
 करालवाचालमुखाश्चमूस्वनैर्ध्वस्ताम्बरा वीच्य दिशो रजस्वलाः ।
 तिरोवभूवे गहनैर्दिनेश्वरो रजोन्धकारैः परितः कुतोप्यसौ ॥४८॥
 आक्रान्तपूर्वा रभसेन सैनैर्दिगङ्गना व्योमरजोभिदृषिता ।
 भेरीरवाणां प्रतिशब्दितैर्भनैर्जगर्ज गाढं घनमत्सरादिव ॥४९॥
 गुरुसमीरसमीरित भूधरा इव गजा गगनं विजगाहिरे ।
 गुरुतरा इव वारिधरा रथा भुवमितीह विवर्च इवाभवत् ॥५०॥
 पल्लमदसुरलोकानल्पकल्पान्तकाले

निरवधय इवाम्भोराशयो घोरघापाः ।

गुरुतरपरिमज्जद्भूतो देवसेना

वधूधुरपि सुपूर्णा व्योमभूम्यन्तराले ॥५१॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृती कुमारसंभवे महाकाव्ये
 देवसेनाप्रयाण नाम चतुर्दशः सर्गः ॥

भोकोने फरफरा रही थी । वे भी उस सेनाके चलनेसे सड़ी हुई धुलके समुद्रमें डूब गई ॥४९॥
 मतवाले हाथियोंकी गूँजती हुई चिप्पाट घीर पक्ष पक्षमें भयकर होकर दबती हुई पण्टेकी ध्वनिके
 साथे सेनाके नगाड़ोंका शब्द सुनाई हो नहीं पड़ रहा था ॥४७॥ जैसे किसी हल्का मत्तानेपानी
 नगी रजस्वलाओं देखकर सज्जन लोग धाड़ कर लेते हैं वैसे ही सेनाके सन्ध्यासे घोर कोलाहल
 करती हुई घीर आकाश-रूपी वस्त्रकी गाढवर रजसे भरी हुई विशा-रूपी नादिकाको देखकर
 फैले हुए धूलके घने भँवरेकी धोट करके अपनेकी छिपा लिया ॥४८॥ वहाँ जो नगाड़े दज रहे वे
 सनकी ध्वनि ऐसी लग रही थी मानो आकाश रूपी नायक पूलसे भरी हुई अपनी विशारूपी
 रजस्वला नायिका पर सैनिकोंका इतना बड़ा घावा देखकर घोर ईर्ष्या से गरज उठ हो ॥४९॥
 बड़े बड़े हाथी आकाश में द्रुत प्रकार इधर-उधर घूम रहे थे जैसे किसी बड़ी भारी धोपी से
 पहाड़की चट्टानों ऊपर उठ रही हो । भूमिपर रथ इस प्रकार चल रहे थे मानो बड़े-बड़े बादल
 चल रहे हो । इस युद्धमें ऐसा जान पड़ता था मानो पृथ्वीके पहाड़ जो आकाशमें उठने लगे हो
 घीर आकाशमें चलने लगे बादल पृथ्वी पर चलने लगे हो ॥५०॥ घोर कोलाहल मचाती हुई
 बड़े-बड़े राजाओं से भरी यह देखतेना सारी प्रकार चारों ओर भरी होने पर भी घीर अधिक
 बढ़ने लगी । इसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो बसवान् धनुषोंके इस महाप्रलयके समय
 घोर रूपसे गरजता हुआ महासागर उमड़ा चला जा रहा हो ॥५१॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमें
 देवसेनावा प्रस्थान नामका चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

॥ पञ्चदशः सर्गः ॥

सेनापतिं नन्दनमन्थकद्विपो युधे पुरस्कृत्य बलस्य शात्रवः ।
 सैन्यैरुपैतीति सुरद्विपां पुरोऽभूर्तिकवदन्वी हृदयप्रकम्पिनी ॥ १ ॥
 चयूत्रभुं मन्मथमर्दनात्मजं विजित्वरीभिर्विजयश्रियाश्रितम् ।
 श्रुत्वा सुराणां घृतनाभिरागतं चित्ते चिरं चुल्लुभिरेमहासुराः ॥ २ ॥
 समेत्य दैत्याधिपतेः पुरे स्थिताः किरीटचद्मान्बल्लयः प्रशम्पते ।
 न्यवेदयन्मन्मथशत्रुखनुना युयुत्सुना जन्मजितं सहागतम् ॥ ३ ॥
 दासीकृताशेषजगत्त्रयं मां जिगाय युद्धे कतिशः शचीपतिः ।
 गिरीशपुत्रस्य बलेन साम्प्रतं ध्रुवं विजेतेति स काकुतोऽहसत् ॥ ४ ॥
 ततः क्रुधा विस्फुरिताधराधरः स तारको दर्पितदोर्वलौहत्तान् ।
 युधे त्रिलोकीजयकेलिलालसः सेनापतीन्सम्बहनार्थमादिशत् ॥ ५ ॥
 महाचमूनामधिपाः समन्ततः सञ्चरन् सयः सुतरामुदायुधाः ।
 तस्थुर्धिनम्रक्षितिपालसंकुले तदङ्गनद्वारवरप्रकोष्ठके ॥ ६ ॥
 स द्वारपालेन पुरः प्रदर्शितान्कृतानतीन्बाहुवरानधिष्ठितान् ।
 महाहवाम्भोधिविधूनोद्धतान्ददर्श राजा घृतनाधिपान्यहून् ॥ ७ ॥

पन्द्रहवां सर्ग

उधर जब दैत्योके नगरमे यह हत्ला मचा कि खरबीके पुत्र कातिकेयको सेनापति
 बनावर और देवतायोकी सेना साथ लेकर दैत्योके सन् इन्द्र यहाँ युद्ध करके लिये चले भा रहे
 हैं तो दैत्योके बड़ी सैन्यकी मच गई ॥१॥ और जब उन्होंने यह जान लिया कि जयलक्ष्मीके साथ
 देवतायोकी सेना लेकर विजयी कातिकेय सचमुच सेनापति बनकर आए हैं तब वो दैत्योके नगरके
 रहनेवाले बहुत देरतक ऐसे घबराए बैठे रहे मानो उन्हें काठ पार पया हो ॥२॥ दैत्योके राजा
 तारककी नगरीमे रहनेवाले सब दैत्य मिलकर तारकके पास पहुँचे और उनके प्रागे बिर भुकाकर
 प्रणाम करके कहने लगे कि युद्ध करनेको उत्तम कुमारकी साथ लेकर इन्द्र भा पहुँचे हैं ॥३॥
 यह सुनकर तारकने बड़े तावके साथ हँसते हुए कहा—पिछले कई युद्धोंमे तो मुझ प्रेमीपय-विजयी
 को इन्द्र जीत गही सका अब कुमारके मरोसे लड़ने चला है तो भला क्या जीतेगा ॥४॥ यह कहते ही
 सीनो लोकोकी सेल ही खेलमे जीतनेकी क्षति रहनेवाले तारकके मोठ पाने लगे और उसने
 अपने उन बलाहिके सेनापतियोकी युद्धके लिये रखने की आज्ञा दी जिन्हे अपने बाहुबल पर बड़ा
 भरोसा था ॥५॥ अब अस्त्र-शस्त्र बाँधकर बड़े-बड़े दैत्य सेनापति तुरत तारकके उभ भारी पादक
 वाले भाँगमे भा खड़े हुए जहाँ बहुतसे आज्ञाकारी राजा पहलेसे ही पूँछ दबाए खड़े थे ॥६॥
 द्वारपर पहुँचकर वो जो प्रणाम करते जाते थे उनकी बड़ी-बड़ी मुद्राओं बाने बीरोको
 सेना-सेनाकर द्वारपाल भी तारकापुरके सामने लड़ा करता जाऊ था । दैत्यराजने

वली यलारातिवलातिशातनं दिग्दन्तिनादद्रवनाशनस्वनम् ।
 महीधराम्भोधिनयारितक्रमं ययौ स्थं घोरमथाधिरुह सः ॥ ८ ॥
 युगक्षयक्षुब्धपयोधिनःस्वनाथैल्लत्पताकाकुलवारितातपाः ।
 धरारजोग्रस्तदिगन्तभास्कराः पतिं प्रयान्तं पृथनास्तमन्वयुः ॥ ९ ॥
 चमूरजः प्राप दिगन्तदन्तिनां महासुरस्याभिसुरं प्रसर्पिणः ।
 दन्तप्रकाण्डेषु सितेषु शुभ्रतां कुम्भेषु दानाम्बुधनेषु पङ्कताम् ॥ १० ॥
 महीभृतां कन्दरदारणोन्वयैस्तद्वाहिनीनां पटहस्वनैर्धनैः ।
 उद्वेलिताश्चुम्बिरे महार्णवा नभःस्रवन्ती सहसाम्भवर्धत ॥ ११ ॥
 सुरारिनाथस्य महाचमूस्वनैर्विगाह्यमाना तुमुलैः सुरापगा ।
 अभ्युच्छ्रितैरुर्मिशतैश्च वारिसैरद्यालयभाकनिकेतनावलीम् ॥ १२ ॥
 अथ प्रयाणाभिमुखस्य नाकिनां क्षिपः पुरस्तादशुभोपदेशिनी ।
 अगाधदुःखाम्बुधिमध्यमञ्जनं पश्य चोत्पातपरम्परा तव ॥ १३ ॥
 आगामिदैत्याशनकेलिकाटिच्छयी कुपक्षिणां घोरतरा परम्परा ।
 दधौ पदं ध्योमिनि सुरारिवाहिनीरुष्युर्पयैत्यनिवारितातपा ॥ १४ ॥

देखा कि वे प्रमगिनरी सेनापति, महामुद्रके हलमय बनानेसे एकसे एक बढकर हैं ॥७॥
 सब वह दलवान् देश भी स्वयं उस भयकर रणपर बढकर सब पडा जो प्रकेला ही इन्द्रकी
 सेनाको तहस-नहस कर सवता था, जिसकी चरघराहट सुनकर दिग्गजोका चित्पावगा घोर नद
 बहाना दग्ध हो जाता था और जो पर्वत और समुद्रमे कहीं भी बेरोक टोक चला जा सकता था
 ॥८॥ पृथ्वीसे उठी हुई धूलसे सब दिशाओ और आकाशको ढकती हुई दैत्योको वह सेना भी
 अपने सेनापति तारकानुरके पीछे पीछे चल पडी, जो प्रलय कालके हूहूडाते हुए समुद्रके समान
 घोर हुल्ला मचा रही थी और जिसमें इतनी पताकाएँ हिस रही थी कि उनसे धूम तक रुक गई
 थी ॥९॥ जब देवताओसे लड़नेके लिये महादैत्य तारककी सेना चलो तो उसके चरनेसे उठी हुई
 धूल दिग्गजोके लजले दाँतोपर बढकर उजली हो उठती थी और जब उनके मग बहते हुए गानो
 पर पड़ती थी सब कीचड़ बन जाती थी ॥१०॥ उसकी सेनाके गगादोरीओ जो गगनोर चरनि
 पहाडोकी नन्दराओकी भी फोड सकती थी उसे सुनकर समुद्र भी हिलोरे लेकर अपने लटके
 ऊपर उठ माया और आकाशमयामे भी अचानक नाड जा गई ॥११॥ दैत्यराजकी बडी भारी
 सेनाका भयकर हुल्ला जो आकाशमयामे पूँचा तो उसमेसे छड़ीरे हुई सुन्दर कमलसे भरी
 संकडो लहरोंने वहाँके सबल धो डाले ॥१२॥ जब वह दैत्यराज लड़नेके लिये चला तो उसके
 भागे ऐसे घुरे-घुरे ब्रह्मगुन होने लगे जिनमे यह जान पडता था कि वह दैत्य किसी भारी विपत्तिके
 समुद्रमे डूबनेवाला है ॥१३॥ उसी समय दैत्योका भाँस पानेकी टोहमे बहुतेसे गिद्ध, शोवे आदि
 भयकर जीव-जन्तु पति वाँच-वाँचकर दैत्योकी सेनाके ऊपर ठीक इस प्रकार मँडराने लगे कि

सुहृविभग्नातपवारखण्डजथलद्वराधूलिकलाकुलेक्षयः ।
 धृतः स्वमातङ्गमहारथाकरानवेक्ष्योऽभूत्प्रसभं प्रमञ्जनः ॥१५॥
 सद्यो विभिन्नाञ्जनपुञ्जतेजसो मुखैर्विपान्नि विकिरन्त उचकैः ।
 पुरः पथोऽतोत्प महाभुजङ्गमा भयङ्कराकारभृतो भृशं ययुः ॥१६॥
 मिलन्महाभीमभुजङ्गमीपणां प्रभुर्दिनानां परिवेषमादधौ ।
 महासुरस्य द्विपतोऽतिमत्सरादिवान्तमाक्षयितुं भयङ्करः ॥१७॥
 त्विषामधीशस्य पुरोऽविमण्डलं शिवाः समेताः परुषं ववाशिरै ।
 मुरारिराजस्य रणान्तशोषितं प्रसङ्ग पातुं द्रुतमुत्सुका इव ॥१८॥
 दिवापि तारस्तरलास्तरस्विनीः परापतन्तीः परितोऽथ वाहिनीः ।
 विलोक्य लोको मनसा व्यचिन्तयत्प्राणव्ययान्तं व्यसनं मुरद्विषः ॥१९॥
 ज्वलद्भिरुच्चैरभितः प्रभाभरैरुद्भासिताशेषदिगन्तराम्बरम् ।
 रवेण रौद्रेण हृदन्तदारुणं पपात वज्रं नमसो निरम्बुदात् ॥२०॥
 ज्वलद्भिरङ्गारचयैर्नमस्तलं वषर्ष गाढं सह शोणितास्थिभिः ।
 धूमं ज्वलन्तो व्यसृजन्मुखै रजो दधुर्दिशो रासमकण्ठबूसरम् ॥२१॥
 निर्घातघोषो गिरिशृङ्गशातनो घनोऽम्बराशाकुहरोदरम्भरिः ।
 धमूय भृम्ना श्रुतिभित्तिभेदनः प्रकोपिकालार्जितमर्जितर्जनः ॥२२॥

उनकी छाया भी नीचे नहीं पड़ती थी ॥१४॥ आकाशमें बार-बार होती झंझियाँ उठने लगी कि धन-धन, पत्ताकाएँ, सब टूट ब फूट गई, वृक्ष डब-डबकर सबकी छाँवोंमें भर गई और घोड़े, हाथी, रथ सबको उन झंझियोंमें झकझोर डाला ॥१५॥ तुरन्त पारे हुए नागलमें टूटकर गिरे हुए दुगडोंके समान कामे धीरे धिप-भरी घागकी कँची-कँची सबदें उगलने-वाले बड़े लपकर डोल-डोलपाते सँप, सेनाना मार्ग फाट-फाटकर रागमेंसे निकलने लगे ॥१६॥ धीरे बँदके कारख ही मानो सूर्यमें भयकर सँवोकी बुध्दलीके समान बड़ा सा मजल पाये धीरे डाल लिया था जो यह बता रहा था कि देवताओंके सन्त तारक भनुरके दिन पूरे हो चले हैं ॥१७॥ युद्धमें तारक भनुरका सङ्घ पीनेकी उतावलीमें शिवाग्निनी सूर्य-गण्डलके चारो ओर घा-घाकर बड़े डरावने स्वरमें रोने लगी ॥१८॥ दिनमें निकले हुए तारे उस सेनाके चारो ओर बड़े वेगसे टूट-टूटकर गिरने लगे और सोचोको विश्वास हो गया कि ये सब लपट तारकके नाशके लिये ही हो रहे हैं ॥१९॥ अपनी ओर ओर भयंकर तड़पड़े हृदय फाट देनेवाली धीरे अपनी बलती हुई कमकसे सारी दिशाओं ओर आकाशको चमका देनेवाली बिजली भी दिवा दादसके ही आकाशसे टूट-टूटकर गिर रही थी ॥२०॥ आकाशमें पचकते हुए घणारोकी लहसी मोर हड्डियोंकी पतधोर वर्षा हो रही थी और दसो दिशाएँ चबेके गलेके रब-नेसा भूरा-भूरा धुमा उगल रही थी ॥२१॥ चारो ओर आकाशमें घोर दसो दिशाओंमें ऐसा भयकर हल्ला हो रहा था जो लौधमें भरे हुए काजकी मरजके समान कपोंके पदें फाड़े डाल रहा था और

स्खलन्महेमं प्रपतचुरद्भ्रमं परस्पराश्लिष्टजनं समन्ततः ।
 प्रचुम्पदम्भोदिविभिन्नभूधराद्भ्रलं द्विपोऽभूदवनिप्रकम्पात् ॥२३॥
 ऊर्ध्वाकृतास्या रविदत्तदृष्टयः समेत्य सर्वे सुरविद्विषः पुरः ।
 श्वानः स्वरेण श्रवणान्तशातिना मिथो रुदन्तः करुणेन निर्ययुः ॥२४॥
 अपीति पश्यन्परिणामदारुणां महत्तमां गाढमरिष्टसन्ततिम् ।
 दुर्दैवदष्टो न खलु न्यवर्तत क्रुधा प्रयाणव्यवसायतोऽसुरः ॥२५॥
 अरिष्टमाशङ्क्य विपाकदारुणं निवार्यमाणोऽपि युधैर्महासुरः ।
 पुरः प्रतस्थे महतां वृथा भवेदसद्ग्रहान्धस्य हितोपदेशनम् ॥२६॥
 क्षितौ निरस्तं प्रतिकूलवायुना तदीयन्नामीकरधर्मवारणम् ।
 रराज मृत्योरिव पारणाविधौ प्रकम्पितं हाटकभाजनं महत् ॥२७॥
 विजानता भापिशिरोनिकृन्तनं प्रज्ञेन शोकादिव तस्य मौलिना ।
 मुहुर्गलङ्घिस्तरलैरलन्तरामरोदि युक्ताफलवाष्पदिन्दुभिः ॥२८॥
 निवार्यमाणैरभितोऽनुयायिभिर्ग्रहीतुकामैरिव तं मुहुर्मुहुः ।
 अपाति गृध्रैरभिमौलिमाकुलैर्भविष्यदेतन्मरणोपदेशिभिः ॥२९॥
 सद्यो निकृत्ताञ्जनसोदरयुतिं फलामखिप्रज्वलदं शुभ्रमङ्गलम् ।
 निर्यद्विपोऽरानलग्नमर्भकृत्कृतं ध्वजे जनस्तस्य महाहिमेक्षत ॥३०॥

जिसकी यूँजो पहाड़ी की चोटियाँ भी पटी पड़ रही थी ॥२२॥ इतनेमें ही ऐसा भूडोल आया
 कि उनुत्र क्षितोरें लगे लगा, पहाड़ोंमें दरारें पड़ गईं, तारकके चैनिक एक दूसरेकी एकदकर
 निपट गए, मड़े-मड़े हाथी लटखटाने लगे और पीदे जहाँ उहाँ पड़पड़ गिरने लगे ॥२३॥
 सूर्यकी भीर देखते हुए मूँह उठाकर एक साथ बहुतसे कुत्ते रोते हुए और घुरे वगैरे भूकते हुए
 छारणके सामने निबल आए ॥२४॥ इस प्रकारके घुरे-घुरे टकावने घसगुन देखकर भी दुर्भाग्यव
 मारे उन देखने लगेपडे लडाईमें जानेसे मूँह नहीं मोटा ॥२५॥ ऐसे वडे, टटावने और घुरे
 घसगुन देखकर विद्वानोंने उम महादैत्यको बहुत घोरना चाहा पर वह भागे दबता ही गया ।
 जो लोग हठमें पड़े हो जाते हैं उन्हें बड़े-बूढ़ो वा लपेटा भी धक्का नहीं लगता ॥२६॥
 इतनेमें ही लपटे बहते हुए बाबुबा ऐसा भोका भाया कि सुनहरा राजध्वज भी भूमिमें घोंपा
 जा गया और ऐसा सगने सगा मानो उसकी मृत्युने अपना इस लोहनेके समय भोजन करनेके
 लिये घर मोनेरा पान खा रखा हो ॥२७॥ तारकके चिरीटने दूट-दूटकर गिरते हुए मोती ऐसे
 खग रहे थे मानो तारकरा खिर गटनेकी बान पहलेमें जाननेवाला वह ममभरार मुहुट अपने
 मोतीने घोंगू बार-बार बरगाकर रो रहा हो ॥२८॥ उसके खिरपर मँडराते हुए गिडोने उसके
 रोयन बराबर मगा रहे थे फिर भी वे गिड ब्याकुलताके साथ खिरपर ही गिरकर मानो यह
 दता रहे थे कि घर गुम्हारे दिन पूरे हो चले हैं ॥२९॥ इतनेमें लोगोंने देखा कि उमने भडेपर
 लुरन पारे हुए गानसने समान पाया, अपने परगरी मखिबी बिरखोंने प्रवागसे चमकते हुए

रथाश्वकेशावलिकर्णचामरं ददाह बाखासनवाखाणधीन् ।
 अफाण्डतश्चण्डतरो हुताशनस्तस्यातनुस्यन्दनधुर्यगोचरः ॥३१॥
 इत्याद्यरिष्टैरशुभोपदेशिभिर्विहन्त्यमानोऽप्युमुरः पुनः पुनः ।
 यदा मदान्धो न गतान्यवर्तताम्बराचदाभून्मरुतां सरस्वती ॥३२॥
 मदान्ध मा गा मृजदण्डचण्डिमावलेपतो मन्मथहन्तृषुनुना ।
 सुरैः सनाथेन पुरन्दरादिभिः समं समन्तात्समरं विजित्वरैः ॥३३॥
 गुहाऽसुरैः षड्दिन जातमात्रको निदाषधामेव निशातमोभरैः ।
 विपक्षते नाभिमुखो हि सगरे कुतस्त्वया तस्य समं विरोधिता ॥३४॥
 अघ्नंलिहैः मृद्गशतैः समन्तो दिक्चक्र्यालैः स्थगितस्यभूभृतः ।
 क्रौञ्चस्य रन्ध्रं विशिखेन निर्ममे येनाहवस्तस्य सह त्वया कुतः ॥३५॥
 लब्ध्वा धनुर्वेदमनङ्गविद्विपस्त्रिसप्तकृत्वः समरे महीभुजाम् ।
 कृत्याभिपेकं रुधिराम्बुभिर्धनैः स्वक्रोभवहिं शमयावभूव यः ॥३६॥
 न जामदग्न्यः चयकालरात्रिकृत्स चत्रियाणां समराय वसगति ।
 येन त्रिलोकीमुभटेन तेन कुतोऽवकाशः सह विग्रहग्रहे ॥३७॥
 त्यजाशु गर्वं मदमूढ मा स्म गाः स्मरारिसुनोर्वरशक्तिगोचरम् ।
 तमेव नूनं शरणं ब्रजोधुना जगत्सुवीर स चिराय जीव तत् ॥३८॥

फनोवाला और भयानक विष-भरी आगकी कुँवार छोड़नेवाला एक बड़ा भारी सौप जा लिपटा है ॥३०॥ इसने मे भयानक उसने रणके पुरसे आगकी ऐसी भारी सपट उठी कि रणके पोबोने वाल, बान और नीरिमीं भुनस गई और तारकके धनुष, बाण और तूखीर भी जल उठे ॥३१॥ बार-बार ऐसा धुरे धुरे प्रसंग होनेपर भी जब यह समझने शुरू होय स लौटा, तब आकाशसे यह देववाणी सुनाई वी ॥३२॥ —हे समझने पूर दैत्य तू अपने भुजदरो पर प्रमद करके उन कारातकेयजीसे युद्ध करने न जा, जिनके साथ इन्द्र और विजयो देवता चले प्रा रहे हैं ॥३३॥ हे मत्तपति दैत्य सह दिनके बालक कुमारके आगे युद्धमे दैत्योकी यही दुर्दशा होगी जो सूर्यके आगे रातके अंधेरेकी होती है । अता तू उनसे क्या सट पावेगा ॥३४॥ हे तारक ! जिस क्रोच पर्वतकी संधो चौटियो आकाश भूमती हैं और वो दसो दिशाओमे फैल हुआ है उसे भी जिसने आणोने देष डाला है, उनके साथ तू क्या सट पावेगा ॥३५॥ जिन परशुरामजीने पररजीसे धनुर्विद्या सीलकर इक्कीस बार युद्धमे राजाओके भाते रक्तमे स्नान करके अपना क्रोध ठण्डा किया है ऐसे क्षत्रियोने नाकी कातरात्रि मुसानेवाले परशुराम भी जिनसे लड़नेमे पचढाते हैं, उन त्रिभुवन प्रसिद्ध महायोद्धासे लड़नेका तुममे दम कहाँ है ॥३६-३७॥ अरे समझते मन्वे दैत्य तू अपना प्रमद छोडकर कुछ ऐसा उपाय कर कि जिससे तू कुमारकी शक्तिके आगे न आ सके । इस समय उद्धीर्ण धरलुमे जानेसे ही तेरे प्राण बचे रहेंगे ॥३८॥ अपने क्रोधसे

श्रुत्वेति वामं वियतो गरीयसीं क्रोधादहंकारपरो महासुरः ।
 प्रकम्पिताशेषजगत्त्रयोऽपि सन्नकम्पतोच्चैर्दिवमम्बधाच्च सः ॥३६॥
 किं ब्रूथ रे व्योमचरा महासुराः स्मरारिसुनुप्रतिपन्नवर्त्तिनः ।
 मदीयघाणग्रन्थवेदना हि साऽधुना कथं विस्मृतिगोचरीकृता ॥४०॥
 फट्स्वरैः प्रालम्पथाम्बरस्थिताः शिशोर्वलात्पट्टिदन्वातकस्य किम् ।
 श्वानः प्रमत्ता इव कार्तिके निशि स्वैरं वनान्ते मृगधूर्चका इव ॥४१॥
 सङ्गेन धो गर्भतपस्विनः शिशुर्वराक एषोऽन्तमवाप्स्यति ध्रुवम् ।
 अतस्करस्तस्करसङ्गतो यथा तद्वो निहन्मि प्रथमं ततोऽप्यगुम् ॥४२॥
 इतीरयन्पुनरुत्तरं महासुरे महाकृपाणं कलपत्यलं क्रुधा ।
 परस्परोत्पीडितबानवो मयात्रमथरा दूरतरं विदुर्ध्रुवः ॥४३॥
 ततोऽघलेपाद्रिफटं विद्वस्य स व्यधच्च क्रोशादसिमुचम बहिः ।
 रथं द्रुतं प्रापय वासवान्तिकं नन्वित्यवोचन्निजसारथिं रथी ॥४४॥
 मनोतिवेगेन रथेन सारथिप्रणोदितेन प्रचलन्महासुरः ।
 ततः प्रपेदे सुरसैन्यसागरं भयह्वराकारमपारमग्रतः ॥४५॥
 पुरः सुराणां पृथ्वाणां प्रथीयसीं विलोक्य वीरः पुलकं प्रमोदजम् ।
 यभार भूम्नाथ स बाहुदण्डयोः प्रचण्डयोः सङ्गरकेलिकौतुकी ॥४६॥

पीनो खोकोको कैपानेवाला यह पनडी दैत्य भी ऐसी आकाश बाणी सुनकर एक बार स्वयं
 कोप उठा, पर फिर संभल कर आकाशवी भोर मूह करके गरजवर बोला—॥३६॥ भरे
 कार्तिकेयकी बड़ाई करनेवाले आकाशमे धूमनेवाले देवताओ । क्या आज तुम्हे मेरे बाखों
 धाबोकी पीडा भूल गई जो इस प्रकार बड़-बक किए जा रहे हो ॥४०॥ भरे देवताओ ।
 कार्तिकेय महीमेम जैसे पागल गुत्ते भूँका करते हैं और रातको वनमे विचार, लोमड़ी आदि
 धूर्त पशु बोला करते हैं वैसे ही तुम लोग भी आकाशमे चक्कर उस छह दिनके बच्चे कुमारके
 बलकी क्या रिरिखा-रिरिखाकर झूठी शांन बघार रहे हो ॥४१॥ भरे देवताओ ।
 तुम लोगोमे साथ बढेसे यह बेचारा तपस्वी नासक मार्त्तिकेय भी तुम खोपोमे साथ वैसे ही मारा
 जायगा जैसे चोरका साथ देने वाला भी बड़ भोगता है ॥४२॥ यह कहकर उस महासुरे जो पनना
 भारी भोर बडा मयावना रुपाख, उठाया तो आकाशमे खडे हुए सब देवताओमे भगदड़ मच
 गई ॥४३॥ तब बडे यमदसे विषट हँसो हँसकर उसने म्यानसे प्रपनी बरखाल बाहर निकाली
 भोर प्रपने सारथीसे कहा कि रथ बढाकर भटपट इन्द्रके सामने पहुँचाओ ॥४४॥ मनते
 भी अधिप वेगसे चलनेवाले जिस रथको सारथी बडाए तिध चला जा रहा था उसपर
 बैठा हुआ वह महादैत्य देवताओकी उस सेनाके प्राप्ते जा पहुँचा जो मयाह समुद्रके समान मयकर
 दिखाई दे रही थी ॥४५॥ देवताओकी बड़ी भारी सेना सामने देखकर उस युद्धके लिये उठावले

ततो महेन्द्रस्य चराश्चमूचरा रणान्तलीलारभसेन भूयसा ।
 पुरः प्रचेत्तुर्मनसोऽतिवेगिनां युयुत्सुभिः किं समरे विलम्ब्यते ॥४७॥
 पुरःस्थितं देवरिपोश्चमूचरा बलद्विपः सैन्यसमुद्रमभ्ययुः ।
 धूर्ज समुत्तिष्ठप्य परेभ्य आत्मनोऽभिधानमुच्चैरभितो न्यवेदयन् ॥४८॥
 पुरोगतं दैत्यचमूमहार्षं दृष्ट्वा परं जुलुभिरे महासुराः ।
 पूरारिघ्नोर्नयनैककोणके ममुर्मटास्तस्य रणेऽवहेलया ॥४९॥
 द्विपद्वलत्रासविभीषिताश्चमूर्दिवौकसामन्धकशत्रुनन्दनः ।
 अपरयदुद्दिश्य महारथोत्सवं प्रसादपीयूषधरेण चक्षुषा ॥५०॥
 उत्साहिताः शक्तिधरस्य दर्शनान्मृधे महेन्द्रप्रमुखा मखाशनाः ।
 अहं मृधे जेतुमरीनरीरमन्त्र कस्य धीर्यापि वरस्य संगतिः ॥५१॥
 परस्परं वज्रधरस्य सैनिका द्विपोऽपि योद्धं स्वकरोद्ध्वायुधाः ।
 वैतालिकश्राविततारविक्रमाभिधानमीधुर्विजयैपिणो रणे ॥५२॥

धीरके भारी भुजदण्डोंके रोएँ सजे हो गए और उसके हृदयमें युद्धका उत्साह उमड़ उठा ॥४६॥
 राज इन्द्रके बड़े-बड़े रणबाहुरे और युद्धके लिये सज्ज हुए सैनिक, मनसे भी अधिक वेगसे बँधी
 सेनापर दृढ़ पड़े । सच है, जो लड़ाईके प्वासे होते हैं वे प्रवसर आनेपर भागर पीछा छोड़े
 ही देखते हैं ? ॥४७॥ और फिर दैत्य-सेनाके सैनिक भी भागे छापी हुई इन्द्रकी सेनाके
 समुद्रपर दृढ़ पड़े और वे चारी ओर भुजाएँ उठा चलाकर सलकार सलकारकर अपना अपना
 काम शत्रुमीकी मुकाबे लगे ॥४८॥ अपने-आपे समुद्रके समान हिमोदों जैसी हुई उस दैत्य-
 सेनाको देखकर बड़े-बड़े देवताओंके भी उनके झूट गए, पर उस चारी दैत्य सेनाको एक कनसीसे
 सेलकार ही निटर कार्तिकेयने समझ लिया कि इस सेनामें कुछ घरा नहीं है ॥४९॥ दैत्योंकी
 सेनाके करते पदचालें हुई देवसेनाकी ओर अपने आनन्दके प्रभृतसे भूले हुए नेत्रोंसे देखकर
 कुमारने सकेत किया कि ठरो मत, युद्ध किए जाओ । जब देवताओंने रणमें सत्सिवाली कार्तिकेयका
 दर्शन किया तो सनका उत्साह बढ गया और इन्द्र आदि सभी यज्ञ फड़कर प्रगल्भतासे उछलने
 कूदने लगे कि मैं शत्रुओंकी युद्धमें जीत लूँगा । ठीक है, मले सोनोका सग करनेसे किचना
 बल नहीं पड़ता ॥५०-५१॥ अपने-अपने शस्त्र उठा-उठाकर देवताओं और दैत्योंके सैनिक
 अपने-अपने चारों ओर गए हुए अपने नामवाले वराक्रमके गीत सुनते हुए विजयकी दृष्टांसे समरमें
 धा जुटे ॥५२॥ जैसे प्रलय करनेके लिये अपनी मर्यादा तोड़कर चारों ओर फैले हुए और तारे

॥ पोटशः सर्गः ॥

अथान्योन्यं विमुक्तास्त्रशस्त्रजालैर्मयंकरैः ।
 युद्धमासीत्सुनासीरसुरारिबलयोर्महत ॥ १ ॥
 पतिः पचिमभीयाय रणाय रथिनं रथी ।
 तुरंगस्थं तुरंगस्थो दन्तिस्थं दन्तिनि स्थितः ॥ २ ॥
 युद्धाय धावतां धीरं वीराणामितरेतरम् ।
 बैतालिकाः कुलाधीशा नामान्यलसुदाहरन् ॥ ३ ॥
 पठतां वन्दिदृन्दानां प्रवीरा विक्रमावलीम् ।
 क्षणं विलम्ब्य चिचानि ददुर्घुद्धोत्सुकाःपुरः ॥ ४ ॥
 संग्रामानन्दवर्धिष्णौ विग्रहे पुलकाश्रिते ।
 आसीत्कञ्चविच्छेदो वीराणां मिलतां मिथः ॥ ५ ॥
 निर्दय सङ्गमिच्छेम्यः क्वचेभ्यः समुत्थितैः ।
 आसन्न्योमदिशस्तूलैः पलितैरिव पाण्डुराः ॥ ६ ॥
 खड्गा रुधिरसंलिप्ताश्चण्डांशुकभासुराः ।
 इतस्ततोऽपि वीराणां विघृता वैभवं दधुः ॥ ७ ॥

सोलहवां सर्ग

शब्द इन्द्र और तारकजी सेनाएँ एक दूसरेपर भयङ्कर अस्त्र-प्रत्यस्त्र बरसा बरसाकर घोर युद्ध करने लगी ॥१॥ पैदलसे पैदल जा भिड़े, रथवालोसे रथवाले जा उसको, घुड़सवारोसे घुड़सवार जा लूके और हापीसवार हापीसवारोसे भिड़ गए ॥२॥ जो सैनिक मिडर होकर बैरियोपर चोट कर रहे थे उन्हें सड़नेकी उमाहनेके लिये दोनो घोरके चारख लोम उस बीरोको कुलके उमागर बसा-भसाकर उनकी बड़ाई करते जा रहे थे ॥३॥ पर वे भीर युद्धमे ऐसे भी जानते लड़ते थे कि उन्हें इतना भयकाश ही कहाँ था कि चारखीके भुँह अपने पराक्रमके नीचे मुन सकें इसलिये जब वे दीप दीपमे कभी लणभर रुक जाते थे तो चारखीके नीचे भी मुन लेते थे ॥४॥ उन्हें लड़ाईमे ऐसा ध्यानन्द आ रहा था कि उनके रोहँ-रोहँ उत्साहसे फरफरा उठे थे और जब उनकी मापसमे मिश्रन्त हो जाती थी तो उनके कवचोके टाँके तक मुन जाते थे ॥५॥ वहाँ सैनिक लोग इतने कस कसकर करवाल लसा रहे थे कि कवचोके टूटनेसे उनके नीचे बँधी हुई रई साकाश घोर दिशाघोमे उड़ उड़कर ऐसी फौल गई कि सब दिशाएँ बूढ़के बासी जैसी धोली हो गई ॥६॥ वहाँ उहाँ सूर्यकी किरणें पड़नेसे लहूसे रंगी करवाते विजवीने सुभाव चमक उठती थीं ॥७॥

विसृजन्तो मुखैर्ज्वाला भीमा इव भुजंगमाः ।
 विसृष्टाः सुभटै रुष्टैर्व्योम व्यानशिरे शराः ॥ ८ ॥
 वाटं वपुषि निर्भिद्य धन्विनां निघ्नतां मिथः ।
 अशोषितमुखा भूमिं प्राविशन्दूरमाशुगाः ॥ ९ ॥
 निर्भिद्य दन्तिनः पूर्वं पातयामासुराशुगाः ।
 पेतुः प्रवरयोधानां प्रीतानामाहवोत्सवे ॥ १० ॥
 ज्वलदग्निमुखैर्वाणैर्नीरन्ध्रैरितरेतरम् ।
 उन्चैर्वैमानिका व्योम्नि कीर्णैर्द्रुमपातरन् ॥ ११ ॥
 विभिन्नं धन्विनां वाणैर्व्यथार्तमिव विह्वलम् ।
 ररास विस्रंसं व्योम रथेनप्रतिरवच्छलात् ॥ १२ ॥
 चापैराकर्णमाकृष्टैर्विमुक्ता दूरमाशुगाः ।
 अथावन्कधिरास्त्रादलुब्धा इव रणैपिणाम् ॥ १३ ॥
 गृहीताः पाणिभिर्वीरैर्विकोशाः खट्वमराजपः ।
 कान्तिजालच्छलादानौ व्यहसन्संमदादिव ॥ १४ ॥
 खट्वाः शोणितसंदिग्धा नृत्पन्तो वीरपाणिषु ।
 रजोधने रणेऽनन्ते विद्युतां वैभवं दधुः ॥ १५ ॥

प्रोपमें भर-भरकर बीरोने जो प्राग उमसते हुए अयंकर सांपोके समान विपने बाण छोड़े उनसे
 साण भाकाण छा गया ॥८॥ ये एक दूसरेपर दूरसे जो बाण चला रहे ये वे दूसरी ओरके
 अनुपमारियोंने शरीरको ऐसी कुतसि बेघते हुए पार निकलकर पृथ्वीमें जा बैठते
 ये कि जगमें लहूतक नहीं लग पाता था ॥९॥ उस मुटके उत्सवमें जो बड़े-बड़े योद्धा जो लोतकर
 लड़ रहे ये वे हृदिमारोंपर ऐसे करारे बाण चला रहे ये कि ह्रायियोका तिर तो पहले
 कटकर गिर जाता था, बाण पीछे गिरता था. ॥१०॥ जब प्राक्पथमें चलती हुई सपटोंवाले
 बाणोकी घनी पातें भर गईं तो विमानोंपर चढ़े हुए देवता वहाँसे दूर हट गए कि नहीं हम न इनकी
 लपेटमें भा जायें ॥११॥ अनुपपारी सैनिकोंने इधने बाण छोड़े कि आकाशकी छाती चलनी हो गई
 और इसीलिए वह भी पीडासे व्याकुल होकर बाज पक्षीके डरावने शब्दोमे रने लगा ॥१२॥ लडाकू
 योद्धाओंने अपने कानो तक बीच-बीचकर जो बाण छोड़े ये मानो खपिर पीनेके सोमस ही सतनी
 दूरतक दौड़े चले जा रहे हों ॥१३॥ संघाममे बीरोके हाथोकी नगी करवाले मतवाली हो-होकर
 मानो अपनी पारवी चमकमे ही हँस रही हो ॥१४॥ बीरोके हाथोंमे भाचनेवाली सट्टसे लपपप
 गखाते, गूतसे पड़े हुए उस दूरतक फैले हुए मुट क्षेत्रमे बिजलीके समान चमक उठती थी ॥१५॥

कुन्ताथक्काशिरे चण्डमुल्लसन्तो रणार्थिनाम् ।
जिह्वाभोगा यमस्येव लेलिहाना रणाङ्गणे ॥१६॥
प्रज्वलत्कान्तिचक्राणि चक्राणि वरचक्रिणाम् ।
चण्डांशुमण्डलश्रीणि रणज्योमनि वज्रमुः ॥१७॥
केचिद्धीरैः प्रणादैश्च धीराणामभ्युपेयुषाम् ।
निपेतुः क्षोभतो बाहादयरे मृदुहर्मदात् ॥१८॥
कथिदम्यागते धीरे जिघांसौ मृदमादधौ ।
परावृत्त्य गते धुब्धे विपसादाहवप्रियः ॥१९॥
बहुभिः सह युद्ध्या वा परिभ्रम्य रणोत्सव्याः ।
उद्दिश्य तानुपेयुः केऽपि ये पूर्ववृत्ता रणे ॥२०॥
अभितोऽम्यागन्योर्दुः वीरान्तराक्षमदोदृप्तान् ।
प्रत्यनन्दन्मुजादरुहरोमोद्गमभृतो भटाः ॥२१॥
शस्त्रभिन्नेभकुम्भेभ्यो मौक्तिकानि व्युतान्यधः ।
अध्याह्नवक्षेत्रमुपकीर्तिवीजाङ्कुरभियम् ॥२२॥
वीराणां विपमैर्षोर्षिद्रुता वारणा रणे ।
शास्यमाना अपि त्रासाद्भेजुर्बृताङ्कुशा दिशः ॥२३॥

युद्धमें लड़नेवालोंके समकक्ष हुए भयंकर भाते यमराजकी लपलपाती बीम बैसे बिलार्द दे रहे थे ॥१६॥ चकाचाँध करनेवाली चमकते भिरे हुए और प्रचंड सूर्य-मण्डलके समान चमकवाले चक्रधारी धीरोंके धक, उस युद्ध-क्षपी आकाशमें चारों ओर खबर सभा रहे थे ॥१७॥ जब कोई धीर सामने आकर पञ्जकर ललकार उठता था तो बहुतसे थोड़ा उस ललकारको सुनकर ही पोंबीसे कीचे फिर प्रकट थे और बहुतसे हृदयके सारे ही हूँसित होकर फिर प्रकट थे ॥१८॥ कोई कोई धीर ऐसे थे कि जब कोई उन्हें मारनेके लिये सामने आता तो वे प्रसन्न हो उठते थे कि जगो इसीसे दो दो हाथ हो जायें, पर जब वह धक्काकर लौट जाता था तब उन्हें इस बातपर बड़ा दुःख होता कि हाथ, लड न पाए ॥१९॥ कुछ ऐसे भी रण बाँकुरे थे जो बहुतोंके साथ लड़-भिड़कर और इधर-उधर घूम-घामकर उन धीरोंके पास पहुँच जाते थे, जिनसे लड़नेके लिये उन्होंने पहले ही सोच रक्खा था ॥२०॥ जब सन्ने थोड़ाघो ने देखा कि युद्धके लिये मतवाले और लड़नेके लिये फरफराती बाहोवाले धीर चारों ओर आ गए हैं तो वे बड़े प्रसन्न हुए कि अब जो भरकर लड़ा तो जायगा ॥२१॥ शस्त्रोंके कटे हुए ह्राविर्षोंके मस्तकोंके भड़े हुए भीती वहाँ बिखरे हुए ऐसे गोमा दे रहे थे जैसे रथके खेतमें बोए हुए मक्के के धकुर फूट निकले हो ॥२२॥ रणमें धीरोंकी अमानक ललकारोंसे आगे हुए हाथी, हाथीवालोंके प्रकुच ला-

रणे वाणगणैर्मित्रा अमन्तो भिन्नयोधिनः ।

निममज्जुर्मिलद्रक्तनिम्नगासु महागजाः ॥२४॥

अपारेऽसृक्सरित्पूरे रथेपूच्चैस्तरेष्वपि ।

रथिनोऽभिरिपुं क्रुद्धा हुंकृतैर्व्यसृजञ्शरान् ॥२५॥

खड्गनिर्लूनमूर्ध्नानो ध्यापतन्तोऽपि वाजिनः ।

प्रथमं पातयामासुरसिना दारितानरीन् ॥२६॥

वीराणां शस्त्रभिन्नानि शिरांसि निपतन्त्यपि ।

अधावन्दन्तदष्टोष्ठभीमान्यभिरिपुं क्रुधा ॥२७॥

शिरांसि वरयोधानामर्द्धचन्द्रहृतान्यलम् ।

आददाना भृशं पादैः स्येना ध्यानशिरे नभः ॥२८॥

क्रोधादस्यापतद्वन्तिदन्तारूढाः पदातयः ।

अश्वारोहा गजारोहप्रास्थान्प्रासैरपाहरन् ॥२९॥

शस्त्रछिन्नगजारोहा विभ्रमन्त इतस्ततः ।

युगान्तघातचलिताः शैला इव गजा बभुः ॥३०॥

मिलितेषु मिथो योद्धुं दन्तिषु प्रसभं भटाः ।

अगृह्णन्पृथ्व्यमानाश्च शस्त्रैः प्राणान्परस्परम् ॥३१॥

रूपा मिथो मिलदन्तिदन्तसंघर्षजोऽनलः ।

योधाश्चांस्त्रहतप्राणानदहत्सहस्रारिभिः ॥३२॥

आकर जियर-उपर बाग निकसते थे ॥२१॥ जिन हाथियोंके हाथीवाज बुझने लक्ष्मणके बाणोंसे मार पाते गए थे, वे हाथी मनमाने घूमते हुए लक्ष्मणकी नदीमें लान हो उठे ॥२४॥ बड़े ऊँचे रथोंपर बड़े हुए सैनिक, लक्ष्मणकी नदीकी अपार मारा में डूबते रहनेपर भी क्रुद्ध होकर बलकारते हुए धनुके ऊपर बाण छोड़ रहे थे ॥२५॥ बहुतेके ऐसे वीर भी थे कि धनुके बरवालेसे सिर कट जानेपर जब वे अपने थोड़ोसे नीचे गिरते थे तो गिरते-गिरते भी अपने करवालेसे धनुका सिर काट लिया करते थे ॥२६॥ सखोंके कटकर गिरे हुए वीरोंके सिर कोपसे दाँव पीसते हुए धनुकी धोर पीड़ रहे थे ॥२७॥ प्रपचन्दे बाणोंने जो सिर काट दिए थे और जिन्हें बाज अपने पंखोंमें उड़ा ले गए उन बड़े-बड़े वीरोंके सिरोंसे सारा आकाश भर उठा ॥२८॥ पैदल और घुड़गावार सैनिकोंके कोपसे पागल होकर समने पड़नेवाले हाथियोंके दाँतोपर चढ़-चढ़कर हाथी सवार सैनिकोंकी माले से छेद खाता ॥२९॥ हाथी सवारोंके मार डाले जानेपर उनके मनमाने घूमनेवाले हाथी ऐसे घूम रहे थे जंम प्रथम की आँखोंसे पहाड़ हपर-उपर उड़ रहे हो ॥३०॥ जब दो हाथी लड़नेके लिये भिड़ते थे तो उनपर चढ़े हुए मोटा आबलमें लटकर बलपूर्वक एक दूसरेकी मार डालते थे ॥३१॥ क्रोधसे परस्पर टक्कर मनेवाले हाथियोंके दाँतोंकी पीटसे ऐसी आग उठती थी कि धनुके घस्त्रोंसे

आचिप्ता अपि दन्तीन्त्रैः कोपनैः पत्तयः परम् ।
 तदधनहरन्खड्गघातैः स्वस्य पुरः प्रभोः ॥३३॥
 उत्क्षिप्य करिभिर्दूरान्मुक्तानां योधिनां दिवि ।
 शापि जीवात्मभिर्दिव्या गतिर्वा विग्रहैर्मही ॥३४॥
 खड्गैर्धवलधारालैर्निहत्य करिणां करान् ।
 तैर्भुवापि ममं विद्वान्संतोषं न मदा ययुः ॥३५॥
 आचिप्याभिदिष्वं नीताः पत्तयः करिभिः करैः ।
 दिव्याङ्गनाभिराढातुं रक्ताभिर्द्रुतमोपिरे ॥३६॥
 धन्विनस्तुरगारूढा गजारोहाञ्चरैः क्षतान् ।
 प्रत्येच्छन्मूर्च्छितान्भूयो योद्धुमाद्यसतश्चिरम् ॥३७॥
 क्रुद्धस्य दन्तिनः पक्षिर्जिघृक्षोरसिना करम् ।
 निर्भिद्य दन्तमुसलावारुरोह जिघृक्षया ॥३८॥
 खड्गेन भूलतो हत्वा दन्तिनो रदनद्वयम् ।
 प्रातिपक्ष्ये प्रविष्टोऽपि पदातिर्निरगाद्वृक्षम् ॥३९॥
 करेण करिणा धीरः सुगृहीतोऽपि कोपिना ।
 असिनाऽस्रजहारशु तस्यैव स्वयमद्वतः ॥४०॥

मारे हुए सैनिक अचानक जल उठते थे ॥३२॥ पंदल सैनिक ऐसे खड रहे थे कि यदि उन्हें अत्यन्त
 क्रुद्ध हाथी अपनी सूँडसे उठाकर उछाल भी देते थे तो वे अपने स्वामीके देखते-देखते उसकी सूँड
 अपने करवालके काट डालते थे ॥३३॥ जिस वीरको हाथियोने उठाकर ऊपर उछाल दिया था,
 उनके प्राण तो स्वर्गमें चले गए और उगहे दिव्य गति मिल गई, वेदन्त उनके शरीर पृथ्वीपर
 धा गिरे ॥३४॥ यद्यपि पौड्या सौम उजली बारवाले अपने करवालसे हाथियोकी सूँड ऐसे फटके से
 फाट रहे थे कि उनके करवाल पृथ्वीमें धा धँसते थे, फिर भी उनका जी नहीं भर रहा था ॥३५॥
 जिस वीरने हाथियोकी सूँडसे उछलते जानेपर धीर गति पाई थी, उन स्वर्गमें पहुँचे हुए सैनिकोंको
 फटपट प्रेमसे अपनी धेनी बनायेके लिये देवाङ्गनाएँ उतारली हो उठती थी ॥३६॥ जब कोई युद्धसवार
 अनुपकारी सैनिक अपने काष्ठोसे किसी हाथी-सवारको बाख मारकर भुक्ति कर देता था तब वह
 बहुत डेरतब दूरा बाटमे खड़ा रह जाता था कि वह फिर उठे तो उसके युद्ध करें, क्योंकि
 जो भुक्ति हो जाता था उसे वे नहीं मारते थे ॥३७॥ एक बिगड़ल हाथी एक पंदल सैनिकको
 अपनी सूँडसे लपेटना चाहता था, इतनेमें उसने कहा किया कि पहले करवालका एक हाथ जमा-
 कर उसकी सूँड फाट डाली और फिर उसके दाँत उखाडनेके लिये उसके सम्बन्धमें दाँतोपर
 चढ़कर बैठ गया ॥३८॥ एक दूसरा पंदल सैनिक, अपनी सेनामें कुछ और अपने
 करवालसे एक हाथीके दोषों दिति जब तक काटकर फट अपनी सेनामें छोड धाया ॥३९॥

तुरंगी तुरगारूढं प्राप्तेनाहत्य वचसि ।
 पततस्तस्य नाज्ञासीत्प्रासघातं स्वके हृदि ॥४१॥
 द्विषा प्रासद्वत्प्राणो वाजिपृष्ठद्व्यासनः ।
 हस्तोद्धृतमहाप्रासो भुवि जीवन्निवाग्रमत् ॥४२॥
 तुरंगसादिनं शस्त्रहृतप्राणं मतं भुवि ।
 अत्रद्वोऽपि महाबाजी न साश्रनयनोऽत्यजत् ॥४३॥
 भस्तेन शितधारेण भिन्नोऽपि रिपुणाश्रयः ।
 नामूर्च्छितकोपतो हन्तुमियेष प्रपतन्नपि ॥४४॥
 मिथः प्रासाहतौ वाजिच्युतौ भूमिगतौ रुपा ।
 शस्त्र्या युयुधतुः कौचित्केशाकेशि भुजाभुजि ॥४५॥
 रथिनो रथिभिर्नार्णैर्हृतप्राणा दृढासनाः ।
 क्षतकर्णकंसंधानाः सप्राणा इव मेनिरे ॥४६॥
 न रथी रथिनं भूयः प्राहरच्छस्त्रमूर्च्छितम् ।
 प्रत्याश्रमन्तमन्विच्छन्नातिष्ठयुधि लोभतः ॥४७॥
 अन्योन्यं रथिनीं कौचिद्वत्प्राणौ दिवं गतौ ।
 एकामप्सरसं प्राप्य युयुधाते वरायुधौ ॥४८॥

श्रेय मे भरे हुए हाथीकी सूँठमे बसकर लिपट जानेपर भी एक बीर अपनी तलवारसे हाथीकी
 मारकर जीता जागता निकल आया ॥४०॥ एक घुड़खवार दूसरेकी छातीमे आना मारकर
 ऐसा प्रसन्न हुआ कि जब उस घोड़ेसे गिरते हुए सैनिकने उतटकर जगपर आना
 पतापा तो उसे यह भी जान न पडा कि मुझे थोटा सही है ॥४१॥ मारनेके लिये हाथमे
 भारी आबा उठाकर घोड़ेकी पीठपर कमर बँटा हुआ एक सैनिक छान्के आनेसे मारे जानेपर
 भी ऐसा लग रहा था मानो यह अभी जीता जागता हो हो ॥४२॥ दाग्रकी चोटसे जो
 घुड़खवार घृणीपर मरा पड़ा था, उसका बडा सा थोडा टुकड़ाई हुई धाँगमे अपने स्वामीकी
 देखा हुआ वहाँ सरा रहा, हटा नहीं ॥४३॥ छान्के लोथे आनेका पाव सागर एक घुड़खवार
 सटपटाता हुआ भी छोपने मारे मूर्तिन नहीं होता था घोर बाहता था कि शत्रु मिले तो उसे अभी
 मार दामू ॥४४॥ दो घुड़खवार धायगमे एक दूसरेके आनेको थोटा सागर भूमिमे गिरे हुए भी
 छोपने मारे एक दूसरेके आन पचकर नुरयमगुला होकर छूरीसे सट रहे थे ॥४५॥ एक रथवाने
 मोडाकी दूरे रथवाने मार डाला था, फिर भी वह अपना हटा हुआ धनुष भी लीके हुए मरा हुआ
 रथवर ऐसा जगकर बँटा हुआ था मानो अभी जीता जागता हो ॥४६॥ एक रथवार सैनिक दूसरे
 रथकी दाग्रसे मूर्तिन करने जगपर बार न करने यह बात जोहने लगा कि यह उधेड हो तो दमले
 तडा जाय ॥४७॥ दो रथखवार घोर द्येह सम्पत्ती मोडा एक दूसरेकी मारकर जब स्वयमे वृथे

मियोऽर्द्धचन्द्रनिर्लूनमूर्धानी रधिनी रुचा ।

सेचरौ भुवि नृत्यन्तौ स्वकवन्धावपरयताम् ॥४८॥

रसाङ्गणे शोणितपद्मपिच्छले

कथं कथञ्चिन्नृतुर्धृताधुधाः ।

नदत्सु तूर्येषु परेतयोपितां

गणेषु भापत्सु कवन्धराजपः ॥४९॥

इति सुररिपुर्धृते शुद्धे सुरासुरसैन्ययो

रुधिरसरितां मञ्जदन्तिव्रजेपुतटेऽप्यलम् ।

अरुणनयनः क्रोधाग्नीमभ्रमद्भुवुटीमुखः

सपदि ककुभामीशानम्पास्रगरस ध्रुवस्मया ॥५०॥

इति महाकाव्यश्रीकालिदासकृतो कुमारसंमवे महाकाव्ये

सुरासुरसैन्यसंश्रामवर्णनं नाम वोदसः सर्गः ॥

तय वे दोनो वहाँ एव अम्भराके तिये धापयमें लड़ाई करने लगे ॥४८॥ अर्धचन्द्र धालीगे एक
दूधरेवा सिर काटकर दो रथो स्वर्गमें जा पहुँचे और कहति ये धपने जन यहाँवा तेन देगने रहे धी
बहुत देरतक हाथमे लम्बवार लिए मुद्ध-भूमिमें नाच रहे थे ॥४९॥ उच मुद्ध-सैन्यमें जहाँ-तहाँ
मगाके घन रहे थे और मूढ-प्रेतोवी शिखां गीत गा रही थीं । वहाँ मुद्धभूमिमें लड़ने लीयवगे इननी
फियलन हो गई थी कि बाण निग हुए पीरोके घट दडी बठिनाईये नाच पा रहे थे ॥५०॥ इस
प्रकार जब देव-दानवोका मुद्ध आरम्भ हो गया और लहरी बरीके पीरवर ही वे दूधने तने ठव बट
देवतामोश शत्रु टारक ओषके मारे भीहें नचाकर और लान-लान धावें करने मुद्ध करैये लिए
सुरत हट्ट धादि दिग्वालोने बागे आ दटा ॥५१॥

महाकाव्य श्रीकालिदासके रहे हुए कुमारसंमवे महाकाव्यमे देवताओं और दैत्योंकी
सेनाओंमें मुद्धका वर्णन नामका गोत्रहवीं गर्व गम्यात हुआ ।

॥ सप्तदशः सर्गः ॥

दृष्ट्वाभ्युपेतमथ दैत्यपतिं पुरस्तात्प्रग्रामकेलिकुतुकेन घनप्रमोदम् ।
 योद्धुं मदेन मिमिलुः ककुभामघीशा वायान्वकारितदिग्म्वरगर्भमेत्य ॥ १ ॥
 देवद्विपां परिष्टुहो विफटं विहस्य वाणावलीभिरमरान्विकटान्ववर्ष ।
 शैलानिव प्रवरवारिधरो गरिष्ठानद्भिः पराभिरथ गाढमनारताभिः ॥ २ ॥
 जम्भद्विपत्प्रभृतिदिक्पतिचापमुक्ता वाणाः शिता वनुजनायकवाणसङ्घान् ।
 शङ्काय तार्च्यनिग्रहा इव नागपूगन्सद्यो विचिच्छिदुरलं कणशो रणान्ते ॥ ३ ॥
 तान्प्रज्वलत्फलमुलंविपमैः सुरारिर्नामाद्रितैः पिहितदिग्गगनान्तरालैः ।
 आच्छादितस्तृणचयानिव हृष्यवाहश्चिच्छेद सोऽपि सुरसैन्यशराञ्छरौघैः ॥ ४ ॥
 दैत्येश्वरो ज्वालितरोपविशेषभीमः सद्यो मुमोच युधि यान्विशिखान्महेतुः ।
 ते प्रापुस्त्रुटभुजंगमभीममाधं गाढं ववन्धुरपि तौस्त्रिदशेन्द्रमुख्यान् ॥ ५ ॥
 ते नागपाशविशिखैरसुरेण यद्वाः आसानिलाकुलमुखा विमुखा रणस्य ।
 दिङ्नायका बलरिपुप्रमुखाः स्मरारिखनोः समोपमगमन्विपदन्तहेतोः ॥ ६ ॥
 दृष्टिप्रपातयशतोऽपि पुरारिखनोस्ते नागपाशघनबन्धविपत्तिदुःखान् ।
 इन्द्रादयो मुमुचिरे स्वयमस्य देवाः सेवां व्यघुर्निफटमेत्य महाजिगीषोः ॥ ७ ॥

सप्तहर्षां सर्ग

जिस दैत्यराजके रोग-रोग सदाईके चाबते फरफरा रहे थे और जिसने पुर्मापार बाण बरसाकर धरती-भाकास सचमे जैसा कर दिया था, उसे घाते हुए देवकर सब दिग्पाल, रणमे गतवाले होकर एक साथ उससे जोड़ा लेनेके लिये आ जुटे ॥ १ ॥ जैसे सायन-भादोनी पत्नी घटाएँ सगातार जल बरसाकर बड़े बड़े पहाड़ोंकी नीपिछे ऊपरतक गिरी देती हैं वैसे ही यह देवताओंका शत्रु तारक भी बड़ी बराबरी हैसी हँसता हुआ देवताओंपर भयकर रूपसे पुर्मापार बाण बरसाने लगा ॥ २ ॥ उस रण-क्षेत्रमे इन्द्र आदि दिग्पाल जो तीखे-तीखे बाण छोड़ते थे उन्हें चुन-चुनकर दैत्यराजके बाण वैसी ही फुटैसि फाटते चले आ रहे थे जैसे बहुतसे गरुड मिनकर साँपोके कुण्ड फाटते चले जा रहे हैं ॥ ३ ॥ देवताओंने उसपर जो बाणोंकी फड़ी लगाई उसे उसने अपने नाम खुदे हुए, आगवै समान जलते हुए तीखे फलवाने और सब दिशाओं और भाकाशको पाट देनेवाले बाणोंसे उसी प्रकार उहड़-नहस कर डाला जैसे अपने ऊपर छाप हुए पाश-फूलको धपकती हुई आग जला डालती है ॥ ४ ॥ जोधसे लाल स्रग्भयकर दैत्यराजने उस मुटुको कुल न समभने हुए जो बाण छोड़े थे तुरत साँपोकी भाँति गमकर वगकर इन्द्र आदि देवताओंके गलोमे गमकर लिपट गए ॥ ५ ॥ उस दैत्यके बाणोंकी फाँसी गलेमे पड जानेपर सब देवताओंकी साँसें फुटने लगी और वे सदाना-भिरना छोड़-छोड़कर इस विपदासे छुटकारा पानेके लिये कार्तिकेयके पास दौड पड़े ॥ ६ ॥ कार्तिकेयने जनरी और घाँस भर देस ही दिया कि इन्द्र आदि देवताओंके गलेमे कसे हुए वे नाग-फाँसके फन्दे अपने आप खुल

उदीतकोपदहनोऽथ सुरेन्द्रशत्रुरह्याय मारयिमवोचत चण्डबाहुः ।
 पद्मा मया सुरपतिप्रभुराः प्रसन्न बालस्य घूर्जटिसुतस्य निरीक्षणेन ॥ ८ ॥
 मुक्ता बभूवुरधुना तदिमान्विहाय कर्तास्म्यमुं समरभूमिपशूपहारम् ।
 तत्स्पन्दनं सपदि बाहय शंभुसूनुं द्रष्टास्मि दर्पितस्रजबलमाहवाय ॥ ९ ॥
 तत्स्पन्दनः सपदि मारयिसम्प्रशुचः प्रचुम्बवारिधरधीरगभीरघोषः ।
 चण्डध्वचाल दलिनाखिलशत्रुसैन्यमांसास्थिशोणितविपद्द विलुप्तचक्रः ॥ १० ॥
 दृष्ट्वा रथं प्रलयवातचलद्विरीन्द्रकल्पं दलद्वलविरावविशेषरौद्रम् ।
 अभ्यागतं सुररिपोः सुरराजसैन्यं चोर्ध्वं जगाम परमं भयवैपमानम् ॥ ११ ॥
 प्रकुम्भमाशमयलोक्य दिगीशसैन्यं शंभोः सुतं कलहकेलिवृत्तहलोत्कम् ।
 उक्षामदोः कलितकर्मुक्कटण्डचण्डः प्रोवाच वाचमुपमम्य स कार्तिकेयम् ॥ १२ ॥
 रे शंभुतापसशिशो घत मुञ्च मुञ्च दोर्दर्पमग्न विरम त्रिदिवेन्द्रकार्यात् ।
 शास्त्रैः किमत्र भवतोऽनुचितैरतीव बालस्वकोमलभुजातुलमारभूतैः ॥ १३ ॥

गए और उव वे सब देवता उन कार्तिकेयके पास जा-बाकर उनकी बढाई करने लगे जो देवताकी जीतनेके लिये कमर ही बसे हुए थे ॥१०॥ जब उस बड़ी बड़ी भुजाभीले तारकने यह सब देखा तब यह कोपसे चल मरा और उसने तुरन्त अपने सारथीको धात्ता दी कि मैंने जिन हन्त प्रादि बड़े-बड़े देवताओंको कंधेने बाँध लिया था, वे सब कार्तिकेयके देखने भरते छुटकारा पा गए हैं इसलिये इन सब देवताओंकी छोड़कर मैं पहले इसीको गिद्ध-सिंहार प्रादिकी भेंट करता हूँ । वो तुम ऋतपट रथ बढाकर उस शकरजीके पुत्रके पास तुम्हें पहुँचाओ जिससे मैं भी तो देखूँ कि तुम्हें सज्जनेके लिये वह अपनी किन भुजाओंके बलपर इतना दँड रहा है ॥११॥ उत्कास सारथीने इस बेगसे रथ चलाया कि वह रथ प्रलयके समाने हुए बादलोंके समान पड़घड़ाता हुआ भयकर बेगसे चल पड़ा । वहाँ इतने शत्रु संनिध बढकर गिरे हुए थे कि उनके माँस, हड्डी और लहूँके कीचड़में उस रथके पहिए सब छिप गए ॥१२॥ वह रथ चलता हुआ ऐसा लगता था मानो प्रलयकी आँधीमें हिमालय उड़ा चला जा रहा हो । उसके नीचे देवताओंकी सेनाके जो सैनिक पड़े जा रहे थे उनके हाहाकारसे वह और भी बढ़कर हो गया था और सब वह रथ देवताओंके एकदम पास आ गया सब तो उठे देखकर देवताओंकी सेनाके प्राण ही सूत गए ॥१३॥ उस देवताओंकी बढाई हुई सेनाको देखने हुए और अपनी बड़ी भारी भुजाओंमें धनुषकी लकड़ों पकड़े हुए तारक । उन कार्तिकेयके पास पहुँचा जो ऐसे लगते थे मानो सज्जनेके लिये सपौर हो रहे हो । वहाँ पहुँचकर तारकने का - केयजीसे कहा—॥१२॥ हे तपस्वी शकरके पुत्र ! तुम अपनी भुजाओंके बलपर मत ऐंठो और छोड़ो इन देवताओंका साथ । वताओ कहीं तो तुम्हारी ये छोटी-छोटी बबूबानी कोमल भुजाएँ और नहीं वे भारी-भारी बल । ये तुम्हारे हाथमें नहीं जँजने ॥१३॥ तुम पारवती और

एवं त्वमेव तनयोऽसि गिरीशगौर्योः किं यासि कालविषयं विषमैः शरैर्मै ।
 संग्रामतोऽपसर जीव पितुर्बन्धन्यास्तूर्णं प्रविश्य वरमङ्कतलं विधेहि ॥१४॥
 सम्पदस्वयं किल विमृश्य गिरीशपुत्र जम्भद्विपोऽस्य जहिहि प्रतिपद्यमाशु ।
 एष स्वयं पयसि मज्जति दुर्विगाहोऽपायान्नौरिव निमज्जयते पुरा त्वाम् ॥१५॥
 इत्थं निशम्य वचनं-पुषि तारकस्य कम्पाधरो विकचकोकनदारुणाक्षः ।
 क्षोभात्त्रिलोचनसुतो घनुरीक्षमाणः प्रोवाच वाचमुचितां परिमृश्य शक्तिम् ॥१६॥
 दैत्याधिराज भवता यदयादि गर्वाच्चत्सर्बमप्युचितमेव सर्व्वं किं तु ।
 द्रष्टास्मि ते प्रवरबाहुबलं वरिष्ठं शस्त्रं शूहाय कुरु-कार्मुकमाततज्यम् ॥१७॥
 इत्युक्तवन्तमवदत्तिपुरारिपुत्रं दैत्यः क्रुधौष्ठमधरं किल निर्विभिद्य ।
 पुद्गार्थमुद्धतञ्ज्वायलदर्पितोऽसि वाणान्सहस्रं मम सादितशत्रुपृष्ठान् ॥१८॥
 दुष्प्रेक्षणीयमरिभिर्धनुराततज्यं सद्यो विधाय विषमान्विशिखान्यध्वज ।
 स क्रोधमीमञ्जुजगेन्द्रनिभं-स्वचापं-चण्ड प्रपञ्चयति जैत्रशरैः कुमारे ॥१९॥
 कर्णान्तमेत्य दितिजेन विकृप्यमाणं कोदण्डमेतदभितः सुपुत्रे शरौघान् ।
 व्योमाङ्ग्यो लिपिकरान्किरणप्ररोहैः सान्द्रैरशेषक्रुमां पलितं करिष्णान् ॥२०॥

१. तारके इकलौते पुत्र होकर मेरे तीसरे बालोंसे विषकर क्यों कल के गालमें जाना चाहते हो ।
 जामो, यहँसे भागकर अपने प्राण बचाओ और भटसे आकर अपने माता-पिताकी गोदमें
 दिए जाओ ॥१४॥ हे कार्तिकेय ! तुम स्वयं अपना भस्त्र-बुरा सोचकर इन्द्रका साथ छोड़कर
 दलगत हो जाओ क्योंकि जब मैं इसपर बाण बरसाऊँगा, तब पत्थरकी नावके-समान-यह
 तो अपने प्राप एहरे जनमें डूबेगा ही, साथ ही तुम्हें भी ले डूबेगा ॥१५॥ तारककी ऐसी
 बातें सुनकर कार्तिकेयके पीठ कीबसे बाँपने लगे और खिले हुए बाल कमलके समान उनकी
 मयानक सात-सात पल्लों-क्रीड से नाच उठी । बड़े-क्रीडसे अपने घनुषकी ओर-देखते हुए अपने
 रत्नको रामभट्टर उम्होंने तारकको-यह भूँहूँहूँ उत्तर दिया—॥१६॥ हे दैत्यराज ! धमडमे
 कूट होकर तुमने जो कुछ कहा है यह तुम्हें कहना ही चाहिए था, पर भाग मुझे भी तुम्हारी
 इन बड़ी-बड़ी मुजामोंके बलकी-याह लेनेका मन कर आया है । इसलिये उठाओ अपने शस्त्र
 और चढाओ अपने घनुषकी डोरी ॥१७॥ यह-सुनकर तारकने क्रुद्ध होकर कार्तिकेयपर दौल
 पीसकर शोर बाँतेखे पीठ चवाते हुए कहा—‘यदि तुम्हें युद्धके-बिदे अपनी इन प्रचण्ड
 मुजामोंका पमण्ड है तो बाधो-और घनुषकी पीठकी चलनी बना देनेवाले’ मेरे बाणोंकी
 चोट-रखो तो ॥१८॥ बँधे साँप-क्रीडसे पागल हो जाता है वैसे ही क्रुद्ध होकर कुमार अपने
 घनुषपर अपना जीतनेवाला भयङ्कर बाण चढा ही रहे थे इतनेमें तारकने वह बाण चढाया
 जिसकी ओर देखनेमें भी घनु बचराते थे ॥१९॥ अपनी धमकसे सायबसको जगमगा देनेवाले
 और सब दिशाओंकी चमक देनेवाले बाण अपने घनुषपर चढा-चढाकर और घनुषकी कानतक

वाणैः सुरारिधनुषः प्रसृतैरनन्तैर्निर्घोषभीषितमटो लसदंशुजालैः ।
 अन्धीकृताखिलसुरेश्वरसैन्य ईशस्रजुः कृतोऽपि विषयं न जगाम दृष्टेः ॥२१॥
 देवेन मन्मथरिपोस्तनयेन गाढमाकर्षकृष्टममितो धनुराततज्यम् ।
 बाणानम्रत निशितान्युधि यान्सुजैवास्तैः सायका विगिदेरे सहसा सुरारेः ॥२२॥
 रेजे सुरारिशरदुर्दिनके निरस्ते सद्यस्तरां निखिलसेचरस्तेदहेतौ ।
 देवः प्रभाप्रभुरिव स्मरशत्रुस्रजुः प्रथोतनः सुषनर्द्धरधमधामा ॥२३॥
 तन्नाथ दुःसहतरं समरे तरस्वौ धामाधिकं दधति धीरतरं कुमारं ।
 मायामय समरमाशु महासुरेन्द्रो मायाप्रचारचतुरो रचयाञ्चकार ॥२४॥
 अह्वाय कोपकलुपो विकटं विहस्य व्यर्था समर्थ्य वरशस्त्रधुषं कुमारं ।
 जिष्णुर्जगाद्विजयदुर्ललितः सहेलं धावन्ममस्रमसुरो धनुषि न्यधत् ॥२५॥
 संधानमात्रमपि यस्य पुगान्तफालभूतभ्रमं परुषभीषणघोरधोपः ।
 उद्धूतधूलिपटलैः पिहिताभ्यराशः प्रच्छन्नचण्डकिरणो व्यसरत्समीरः ॥२६॥
 कुन्दोज्ज्वलानि सकलात्पवारणानि धृतानि तेन भरता सुरमैनिकानाम् ।
 उड्डीयामनकलहंसकुलोपमानि मेघामधूलिमलिने नभसि प्रससृत् ॥२७॥

तान-तानपर तारक बाण छोड़ने लगा ॥२०॥ उसके धनुषसे छूटे हुए नमचमानेवाले धनमिनत बाणोंकी भयकर सनसनाहट देखकर सब सैनिक बाँध उड़े, सब देवताओंकी पाँखोंके आगे झेंधेवा छा गया स्वयं कार्तिकेयकी भी सोयी देरतक कुछ न दिलाई दिया ॥२१॥ तब कार्तिकेयजीने भी पूरे बलके साथ धनुषकी खोरी कानतक खींच खींचकर अपने तीधे धीर जीतनेवाले बाण बरसा-बरसाकर तारकके बाणोंके धुरें उड़ा दिए ॥२२॥ सब देवताओंकी दुल देनेवाली तारकके बाणोंकी घटा फट जानेपर शकरजीके पुत्र कार्तिकेयजी प्रपन्न पने और प्रपार तेजके बरदण सूर्यके समान जलकते हुए जोधा देने लगे ॥२३॥ बुद्धने कार्तिकेयका ऐसा प्रसन्न प्रताप यदता हुमा देखकर छत्रविद्यासे युद्ध करनेमें चतुर और बलवान् तारकने तुरन्त मायाका युद्ध करना आरम्भ कर दिया ॥२४॥ जिस विजयी तारकने सारे सत्कारको धुँडीमें कर दिया था उसने जब यह समझ लिया कि धीर धम्ब नेकर कुमारके साथ लड़नेमें जीत न पाऊँगा तब उसने बड़े कोपके साथ किसीकी कुछ न समझते हुए अन्धध चलातेवाला धावण नामका बाल अपने धनुषपर चढ़ाया ॥२५॥ उस बाणके धनुषपर चढ़ाते ही ऐसे बेगसे गथकर घटघटाती हुई धाँसी चलने लगी कि सोच समझने लगे वल प्रलय छा गया । उसकी धूलसे सब आनाश और दिखाएँ भर गई और प्रचण्ड किरणोंवाले सूर्य भी क्षिप्त गए ॥२६॥ देवताओंके संहिकोने जो मुन्दनके फूलके समान लजने छत्र में उन्ह उस भयकर अन्धधने ऐसा भ्रूभ्रोर कर उठा दिया कि ये धूलसे भरे हुए आनाशमें उड़ते हुए ऐसे दिखाई देने लगे मानो बादल छाए हुए आनाशमें राजहंस उड़े पते जा रहे हो ॥२७॥ उस अन्धधने देवताओंकी सेनाजी सब

विध्वंस्य तेन सुरसैन्यमहापताका नीता नमस्थलमलं नवमन्त्रिकाभाः ।
 स्वर्गापिगाजलमहौघसहस्रलीलां ध्यातेनिरे दिवि सिताम्बरकैतवेन ॥२८॥
 धृतानि तेन सुरसैन्यमहागजानां सयः शतानि विधुराणि दलत्कुथानि ।
 पेतुः क्षितौ कुपितवासवजलून-पक्षस्य भूधरकुलस्य तुलां वहन्ति ॥२९॥
 तास्ताः खरेण मरुता रथराजयोऽपि दोषूयमाननिपतिष्णुतुरंगमाश्च ।
 विस्रस्तसारथिकुलप्रवराः समन्ताद्गथाघृत्य पेतुरवनौ सुरवाहिनीनाम् ॥३०॥
 हित्वायुधानि सुरसैन्यतुरङ्गवाहा वातेन तेन विधुराः सुरसैन्यमध्ये ।
 शस्त्राभिघातमनवाप्य निपेतुरुर्न्या स्वीयेषु बाहनवरेषु पतत्सु सत्सु ॥३१॥
 तेनाहतास्त्रिदशसैन्यपदातयोऽपि सस्तायुधाः सुविधुराः परुषं रसन्तः ।
 वात्याविध्वर्तदलशृङ्गममेत्य दूरं निपेतुरम्बरतलाद्गुधातलेऽस्मिन् ॥३२॥
 इत्थं विलोक्य सुरसैन्यमथो अशेषं दैत्येखरेण विधुरीकृतमस्त्रयोगात् ।
 स्थलौकनाथक्रमलाकुशलैकहेतुर्दिव्यं प्रभावमतनोदतनुः स देवः ॥३३॥
 तेनोज्झितं सकलमेध सुरेन्द्रसैन्यं स्नास्व्यं प्रपद्य पुनरेव युधि प्रवृत्तम् ।
 दृष्ट्वासृजदहनदैवतमस्त्रमिदृमुदीप्तकोपदहनः सहसा सुरारिः ॥३४॥

घनजामो और पताकाभोको गये खिले हुए चमेलीके फूलके समान चौड-फोडकर आकाशमे उडा दिया और वे आकाशमें उड़ती हुई उड़ने वल्लकी पताकाएँ ऐसी दिखाई दी मानो उस ग्रन्थकी आकाश गवामी उड़लही हुई सहस्रो सहस्रियाँ आकाशमें फैला दी हो ॥२८॥ इस भयकर अँधठके भौकेमे पड़ी हुई देवसेनाके जो बहुतसे बड़े-बड़े हाथी अपनी भूर्से भरवले हुए देखते-देखते लड-लडाकर गिरते हुए ऐसे दिखाई पड़ते थे मानो इन्द्रके वज्रसे पल कट जानेपर बहुतसे पहाड पुष्पीपर लुडकते चले जा रहे हों ॥२९॥ उस प्रचण्ड ग्रन्थकी सपेटमे आकर देवसेनाके रथोके भगगिनय घोडे लड लडाकर गिरने लगे, सारथी भी इधर-उधर फेका गए और उसके रथ भी उस घुड़-भूमिमे इधर-उधर उलट-उलटकर गिर गए ॥३०॥ उसी भयकर ग्रन्थकी शक्तोरेँ खानर देवसेनाके घुड़गवार इतने धक्का उठे कि वे अपने अरध-अरध वही देव सेनापर फेंकने लगे और बिना किसी शस्त्रमे चोट खाए ही अपने उन घोडोकी पीठसे गिरने लगे जो ग्रन्थकी शक्तोरेँ लुडकते चले जा रहे थे ॥३१॥ उस वायव्य ग्रन्थसे देवसेनाके पैदल सैनिक भी इतने धक्का उठे कि सब अपने-अपने शस्त्र डालकर व्याकुल होकर रोने बिछाने लगे और बवण्डरकी भाँति घुमनी खाते हुए दूरतक आकाशमें उड-उडकर घरतीपर गिरने लगे ॥३२॥ देखराज तारवने जो वायव्य अरध चलाया था उससे देवसेनाको दस प्रकार तहस-नहस होते देखकर स्वर्गकी राजसदमीकी नाव चतुराईसे सेनेवाले बाजिकेवन अपना अनोखा और बडा भारी वस्त्रव दिखाना प्रारम्भ कर दिया ॥३३॥ उन्होंने कुछ ऐसा जाडू फेरा कि देवसेनापर छाया हुआ प्रचण्ड दूर हो गया और सारी सेना हरी-भरी और नई सी होकर फिर लड़ने लगी ।

वर्षातिकालजलदयुतयो नमोन्ते गाढान्धकारितदिशो घनधूमसंधाः ।
 सयः प्रसुप्तुरसितोत्पलदामशासो दृग्गोचरत्वमखिलं न हि सन्नयन्तः ॥३५॥
 दिक्चक्रवालगिलनैर्मलिनैस्तमोभिलिप्तं नभः स्थलमलं घनवृन्दसान्द्रैः ।
 धूमैर्विलोक्य मुदिताः खलु राजहंसा गन्तुं सरः सपदि मानसमीपुरुचैः ॥३६॥
 जज्वाल घट्टिरतुलः सुरसैनिकेषु कल्पान्तकालदहनप्रतिगः समन्तात् ।
 आशामुखानि विमलान्यसिलानि कीलाजालैरलं कपिलयन्तकलं नभोऽपि ॥३७॥
 उज्जागरस्य दहनेन निर्गलस्य ज्वालावलीभिरतुलाभिरनारताभिः ।
 कीर्णं पयोदनिवहैरिव घमसंधैर्व्योमाभ्यलक्ष्यत कुलैस्तडितामिधोऽर्चैः ॥३८॥
 गाढाद्भयाद्रियति विद्रुतसेचरेण दीप्तेन तेन दहनेन सुदुःसहेन ।
 दन्दद्वयमानमखिलं सुरराजसैन्यमत्याकुलं शिवसुतस्य समीपमाप ॥३९॥
 इत्यग्निना घनतरेण ततोऽभिभूतं तदेवसैन्यमखिलं विकलं विलोक्य ।
 सस्मेरवप्रक्रमलोऽन्धकशत्रुसुजुषासासनेन समध्वं स वारुणास्त्रम् ॥४०॥
 घोरान्धकारनिकरप्रतिमो युगान्तकालानलप्रबलधूमनिमो नमोन्ते ।
 गजार्धैर्विषटपन्नघनीधराणां शृङ्गाणि मेघनिवहो घनधुज्जगाम ॥४१॥

यह देखकर, तो तारकके करीरमें आग सी लग गई और इस बार उसने अपना सपा हुआ भाग बरसानेवाला प्रणिवाण बताया ॥३५॥ उसके बताते ही बरसातके काले-काले बादलोंके समान और नीले बमलोकके झुण्डके समान काला काला घना धूमां चारो ओर ऐसा छा गया कि कहीं कुछ सुझाई नही पड़ता था ॥३५॥ जब उस घने बादलोंके समान काले-काले धुएँसे तारा प्राकाश भर गया तो राजहंसोकी यह भ्रम हुआ कि बरसात आ गई और वे प्रसन्न होकर मानसरोवरकी ओर चलनेकी तैयारी करने लगे ॥३६॥ इतनेमें ही देवसेनाके भीतर प्रलय शालयी आगके समान ऐसी भयानक आग उठी कि उसकी लपटोंसे स्वच्छ प्राकाश और दिशाई भी बीनी पड़ गई ॥३७॥ बिना रुके हुए धधक-धधककर जलती हुई आगकी बड़ी-बड़ी लगातार उठती हुई लपटोंसे ऊपर फैले हुए काले-काले धुएँसे भरा हुआ प्राकाश ऐसा दिशाई पड़ता था मानो वह ऊँचे ऊँचे बादलों और जिलदियोंसे भरा हुआ हो ॥३८॥ सब लोग आकाशमें फैली हुई इस घटकती आगकी मारमें झुलसकर इधर-उधर नागने लगे और बार-बार झुलसी हुई सारी देवसेना बहुत पबराकर फिर कार्तिकेयके पास जा पहुँची ॥३९॥ उस मथकर आगसे झुलसी हुई सारी देवसेनाकी देखकर कार्तिकेयने हँसते हुए अपने धनुषपर वह वारुणास्त्र चढ़ाया जिससे पीनी बरसता था ॥४०॥ उसके बताते ही भयंकर गंधेरा करती हुई प्रलयकी आगसे उठे हुए धुएँके समान काली काली घटाएँ प्राकाशमें लपट आई जिनकी मारसे पहाड़ोंकी चोटियों तकमें दरारें पड़ गई ॥४१॥ इन बादलोंमें से बड़ी भयानक

विद्युल्लता विपति वारिदधुन्दमध्ये गम्भीरमीपखरवैः कपिशिकृताशा ।
 घोरा युगान्तचलितस्य भयंकराथ कालस्य लोलरसनेव चमच्चकार ॥४२॥
 कादम्बिनी विरुरुचे विवर्णितकामिरुचालकालरजनीजलदावलीभिः ।
 व्योम्न्युच्चकैरचिररूपपरिदीपितांशा दृष्टिच्छदा विषमघोषविभीषणा च ॥४३॥
 व्योमस्तलं पिदधतां ककुभां मुखानि गर्जरिवैरविरतैस्तुदतां मनांसि ।
 अभ्रभोभृतामतितरामनशीयसीभिर्धारावलीभिरभितो वयूपे समूहैः ॥४४॥
 घोराब्धकारपटलैः पिहिताम्बराणां गम्भीरगर्जनरवैर्व्यथितासुराणाम् ।
 दृष्ट्या तथा जलमुचां वरुणास्त्रजानां विश्वोदरम्भरिरपि प्रशशाम धृष्टिः ॥४५॥
 दैत्योऽपि रोपकलुषो निशितैः क्षुरप्रैराकर्णकृष्टधनुरुत्पतितैः स भीमैः ।
 तङ्गीतिविद्रुतसमस्तसुरेन्द्रसैन्यो गाढं जघान मकरध्वजशत्रुघ्ननुम् ॥४६॥
 दैत्योऽपि दैत्यविशिष्टप्रकर्षं सचापं वायुैश्चकर्त कणशो रणकैलिकारी ।
 योगीव योगविधिगुणमना यमाद्यैः सांसारिकं विषयसंघममोघवीर्यम् ॥४७॥
 भ्रूमङ्गभीषणमुखोऽसुरचक्रवर्ती संदीप्तकोपदहनोऽथ रथं विहाय ।
 क्रीडत्करालकरवालयकोऽसुरेन्द्रस्तं प्रत्यघातदमितस्त्रिपुरारिबुधुम् ॥४८॥

धडपडाहटके साथ भयंकर बिजली तटपी और उसकी चमकसे सब दिसाएँ पीली पड़ गई। उस समय बूढ़-ऐसी लपती भी मानो प्रलय कालमें कालकी लपलपाती हुई भयंकर भीम हो ॥४२॥ अपनी बिजलीकी चमकसे सब दिसापीमें लकाबीच कर देनेवाली और भयंकर गर्जनसे भरी अत्यन्त भयंकर प्रलयके बादलके समान अत्यन्त काली और जलसे भरी हुई घटाएँ ऊपर आकाशमें इस प्रकार अँधेरा करके छा गई कि आँखोंसे कुछ भी दिखाई नहीं देता था ॥४३॥ आकाशमें छाई हुई लगातार गरज-गरजकर लीलाका भी कँपाती हुई वे घटाएँ चारों ओर भूसलाधार पानी बरसाने लगी ॥४४॥ कार्तिकेयके चलाए हुए वारुणास्त्रसे अँधेरा गुप्प करके आकाशको छिपा देनेवाले और अपनी बलकसे दैत्योको कँगा देनेवाले जो बादल छा गए थे उनकी वपंसे तारामें फैली हुई सय भाग तत्काल टुक गई ॥४५॥ तब तारकने भी ओषधे साथ होकर कान्तन खींच खींचकर पने और चमचमाते हुए छुरीवाले भयंकर बाण बरसाकर देवसेनाको डराकर तितर-बितर कर दिया और कार्तिकेयपर भी बड़ा बड़ा प्रहार किया ॥४६॥ कार्तिकेयजीने भी तारकके धनुष और बाण एक एक करके खेल खेलते हो इस प्रकार वाट कर गिरा दिए जैसे योगी लोग मम, नियम आदि साधनकर अपने मनको सब सांसारिक इच्छाएँ मिटा डालते हैं ॥४७॥ यह देखकर ईश्वरराज तात्कना क्रोध और भी बढ़क उठा। अपनी तनी हुई भीड़के वारण और भी भयंकर दिखाई देनेवाला वह दैत्य रण छोड़कर हाथमें लपलपाती हुई भयंकर तलवार लेकर कार्तिकेयपर दूट पड़ा ॥४८॥ जब कार्तिकेयने देखा कि ऐसे भयंकर रूपवाला तारक

अभ्यापतन्तमसुराधिपमीशपुत्रो दुर्वाचाहुविभवं सुरसैतिकैस्तम् ।
 दृष्ट्वा युगान्तदहनप्रतिमां मुमोच शक्तिं प्रमोदविकसद्दहनारविन्दः ॥४६॥
 उद्द्योतिताम्बरदिगन्तरमंशुजालैः शक्तिः पपात हृदि तस्य महासुरस्य ।
 हर्षाश्रुभिः सह समस्तदिगोचराणां शोकोष्णवाष्पसलिलैः सह दानवानाम् ॥४७॥
 शतशो हृतासुमसुरेश्वरमापतन्तं कल्यान्तवाक्कृतमिन्नमिवाद्रिगृहम् ।
 दृष्ट्वा प्ररुद्धपुलकाश्रितचारुदेहा देवाः प्रमोदमगमँस्त्रिदशेन्द्रमुख्याः ॥४८॥
 यत्रापतत्स दनुजाधियतिः परासुः संवर्तकालनिपतन्निखरोन्द्रतुल्यः ।
 तत्रादधात्कण्ठिपतिर्धरणीं कणाभिस्तद्भूरिमारविधुराभिरधो अब्रन्तीम् ॥४९॥
 स्वर्गापगासलिलसीकरिणी समन्तात्सौरभ्यलुब्धमधुपात्रलिसेव्यमाना ।
 कल्पद्रुमप्रसववृष्टिरभून्नभस्तः शमोः सुतस्य शिरसि त्रिदशारिशत्रोः ॥५०॥
 पुलकभरविभिन्नवारमाणा भुजविभवं बहु तारकस्य शत्रोः ।
 सकलसुरगणा महेन्द्रमुख्याः प्रमदमुखच्छत्रिसंपदोऽभ्यनन्दन् ॥५१॥

भुक्तपर भगवत् रहा है और देवताओंके सैनिकोंसे हराए, तभी हार रहा है तब उन्होंने हूँकर अपने प्रसवकी अग्निके समान भयकर आला लक्षपर केंद्र कर मारा ॥४६॥ अगनी बनकसे सब विद्याओंको घमनाती हुई वह शक्ति ठीक तारकके हृदयमें जाकर लगी और उसने लगे ही देवताओंकी आँखोंमें हृषिके आँसू और रेतोंकी आँखोंसे शोकके आँसू साप-साप बह चले ॥४७॥ उस आँखोंकी थोड़े मरकर गिरा हुआ तारक ऐसा जान पड़ता था मानों प्रसवकी आँखोंसे हूँकर गिरी हुई पहलकी चोटी हो । ज्यों ही इन्द्र आदि देवताओंने उस तारक रेतोंको गिरा हुआ देखा कि वे सब हृषिके उछल पड़े और उनके रोम-रोम काँकड़ा उठे ॥४८॥ जब वह दैत्यराज तारक प्रलय आसको आँखोंसे हूँकर गिरे हुए पहलके समान मरकर गिरा तो उसके भारी योभने धँपकर जो पृथ्वी नीचेकी पँती तो जागराज वासुकीने उसे अपने पल्लवपर किसी किसी प्रकार संभाला ॥४९॥ उस समय कार्तिकेयके छिर पर आकाश गगाने जनको पुहारोसे भरे हुए और गन्धके लोभी भीरोसे घिरे हुए कल्पवृक्षके फूल आकाशसे बरसने लगे ॥५०॥ भानन्दके मारे देवताओंके मुँह लिल उठे और वे मुससे दूतने फूल उठे कि उनकी छावियोंपर बसे हुए कवच भी लड़ाकू दूतने लगे । इस प्रकार भानन्दके भूमते हुए इन्द्र आदि सब देवता बाह बाहर तारकको मारनेवाले कुमारजी मुनाओंके बलकी बढ़ाई करते लगे ॥५१॥ इस प्रकार विजयी

इति विपमशरारेः सलुना जिष्णुनाजौ
 त्रिभुवनवरशल्ये प्रोद्धृते दानवेन्द्रे ।
 बलरिपुरथ नाकस्याधिपत्यं प्रपद्य
 व्यजयत सुरचूडारत्नघृष्टाग्रपादः ॥५५॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
 तारकासुरवधो नाम सप्तदशः सर्गः ॥

॥ इति कुमारसंभवम् ॥

कात्तिकेयने जब तीनों लोकोंके हृदयमें कटिके समान खटकनेवाले उस तारक राक्षसको मार डाला
 तब इन्द्र फिर स्वर्गके स्वामी बन गए और उन्हें अपनेमें सबसे श्रेष्ठ समझकर सब देवता भोग
 अपने-अपने मुकुटके मणियों सहित अपने भिर उनके चरणोंमें रखकर प्रणाम करने लगे ॥५५॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमें तारक राक्षसका
 वध नामका सप्तहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

कुमारसंभव समाप्त हुआ ।

॥ श्री ॥

❀ मेघदूतम् ❀

॥ पूर्वमेघः ॥

कथितकान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारः प्रपन्नः
शापेनास्त्वं गमितमहिमा वर्षमोग्येण भर्तुः ।
यक्षध्वजे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्मिन्धच्छायातत्पु वसति रामगिर्याश्रमेषु ॥१॥
तस्मिन्मद्रौ कतिचिद्वलाधिप्रयुक्तः स कर्मा
नीत्या मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः ।
आपादस्य प्रथमदिपसे मेघमारिल्लसन्तु
घप्रक्रीडापरिश्रितगजप्रेषणीयं ददर्श ॥२॥
तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतो
रन्तर्वाप्यधिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ ।
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेत्
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरतस्थे ॥३॥

पूर्वमेघ

[प्रसक्तदुरीमे कुवेरके वहाँ एक मक्ष प्रतिदिन मानसरोवर से स्वर्णकमल लानेके कामपर लगामा गया था, पर वह दिन-रात अपनी स्त्रीके पीछे ही पागल रहता था। इसी बेसुधीमें एक बार उसका अपने काममें कुछ दिनाई कर दी। उस कुवेरने भत्ताकर उसे यह कहकर देश निकाला दे दिया कि अब एक वर्षतक तू अपनी पत्नीसे नहीं मिलने पायगा।] इस शापसे उसका सारा राग-रग जाता रहा और उसके दिन काटनेके लिये उसने रामगिरिमें उन आश्रमोंमें जाकर देखा दाखा जहाँके बूँडो तात्तानों और नावडिबोना जल थीजानकीजीने स्नानसे पवित्र हो गया था और जहाँ अपनी छायावाले मनुष्यसे मृत्यु वहाँ-वहाँ सहजहा रहे थे ॥१॥ अपनी पत्नीके बिना जो एक क्षण नहीं रह पाता था, वह मक्ष अपनी पत्नीसे बिजुदनेपर सूखकर काँटा हो गया। उसके हाँपके सोनेके मगन भी डीले होकर निकल गए और जो ही रोजे कलपते उसने कुछ महीने तो उस पहाड़ीपर जंगे तंगे काट दिए। पर अन्ततःके पहल ही दिन वह देखता गया है कि सामने बादलोंसे लिपटी हुई पहाड़ीकी चोटी ऐसी चम रही है मानो कोई हाथी अपने माथेकी टङ्करस मिट्टीके टोलेको दहानेका खेल कर रहा हो ॥२॥ मगधे प्रेम उवसानेवाले उन बादलोंको देखकर महाराज

॥ श्री. ॥

❀ मेघदूतम् ❀

॥ पूर्वमेघः ॥

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
 शपेतास्त्वंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ।
 यच्चक्षत्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
 स्निग्धच्छायातत्पु वसति रामगिर्याश्रमेषु ॥१॥
 तस्मिन्नश्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
 नीत्या मासान्कनकवलयग्रंशरिक्तप्रकोष्ठः ।
 आपादस्य प्रथमदिवसे मेघमारिल्लसत्तनुं
 वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥२॥
 तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतो
 रन्तर्वाष्पधिरमनुचरो राजराजस्य दध्मौ ।
 मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः
 कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥३॥

पूर्वमेघ

[मलकपुरीमे कुबेरके यहाँ एक वन प्रतिविम मानसरोवर से स्वर्णकवच लानेके कामपर लगाया गया था, पर वह दिन-रात अपनी स्त्रीके पीछे ही पायल रहता था। इसी बेसुकीमे एक बार उसने अपने काममे कुछ दिनाई कर दी। बस कुबेरने भुत्ताकर उसे यह कहकर देश-निकास दे दिया कि मय एक वर्षतक तू अपनी पत्नीसे नहीं मिलने पायगा।] इस शपथसे उसका सारा राम-रंग जाता रहा और आपके दिन काटनेके लिये उसने रामगिरिके उस प्राथम्यमे जाकर बैरा डाला जहाँके कुंडो, तालानो और बावडियोना जल श्रीजानकीजीके स्नानसे पवित्र हो गया था और जहाँ अपनी स्त्रियावाले बहुतसे वृक्ष वहाँ-तहाँ लहलहा रहे थे ॥१॥ अपनी पत्नीके बिना जो एक क्षण नहीं रह पाता था, वह वन अपनी पत्नीसे बिबुधमेपर भूखकर काँटा हो गया। उसके हाथके सोनेके कमन भी ढीले होकर निकल गए और यो ही रोने-झलपते उसने कुछ महीने तो उस पहाड़ीपर जैसे तैसे काट दिए। पर भसाबके पहले ही दिन वह देखाता था है कि सामने बादलोंसे लिपटी हुई पहाड़ीकी चोटी ऐसी लग रही है मानो कोई हाथी अपने माथेकी टङ्करसे मिट्टीके टीलेको व्हानेका खेल कर रहा हो ॥२॥ सबसे प्रेम उकसानेवाले उन बादलोंको देखकर महाराज

प्रत्यासन्ने नमसि दयिताजीवितालम्बनार्थी
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम् ।
स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घ्याय तस्मै
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥४॥

धूमज्ज्योतिःमलिलमस्तां संनिपातः क्व मेघः
सन्दर्शयार्थाः क्व पटुकरणैः प्रस्थिमिः प्रापणीयाः ।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्पुद्गकस्तं ययाचे
कामार्चा हि प्रकृतिकृपणारचेतनाचेतनेषु ॥५॥

जातं वंशं भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः ।
तेनार्थित्वं त्वयि रिधिवशाद्दूरवन्धुर्मतोऽहं
याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाघमे लब्धकामा ॥६॥

दुपेरवा यह मेघन मांगू रोके ज्यो-रयो लडा हुवा बहुत देरतक सोचता ही रह गया, क्योंकि
यादलोंको देतकर जब सुखी लोनोंका मन भी झोल जाता है तब उस रिघोहीका तो कहना ही
क्या, जो दूर देतमे गया हुआ अपनी प्यारीके गले सगनेके लिये दिन-रात लडप रहा हो ॥३॥
यादलकी देखते ही उठे बगान भाया कि असाढ़ बीतते ही सावन भी मा आगया और उस समय
मेरी बोनल प्रिया सगनेकी संभास न पावेगी । इसलिये उसने सोचा कि अपनी प्यारीको डाइस
बैधानके लिये और उसने प्राण अचातेके लिये क्यों न इन यादलोंके हाथ ही अपना कुशल-
समाचार भेज दूं ! यह ध्यान प्राते ही बह गयन हो उठा । उसने भट कुटजके छिले हुए पून
उतारकर पहने तो मेनकी पूका भी और फिर कुशल-मनस पुष्पार उमका स्वागत किया ॥४॥
भला बनाइए, कहाँ तो धुरें, धनि, जल और बागुने मेसमे बना हुआ यादल और कहाँ
सदेनेकी ये बातें, जिन्हें छिडे बागु लोग हो नाया पहुँचा सजने हैं । पर यलकी अपने लन-जनकी
तो गुप भी तो नही, फिर भला उरका ध्यान यहाँउर पहुँच कैसे पाउ । इमीलिये यह यल
अनरा सोदेना भेजनेके लिये यादलके प्राये विरगिडाने लगा । सब है, प्रेमियोंकी मट जागनेकी
मुप हो कहाँ रहनी है कि कौन जब है और कौन चेता ॥५॥ यादलकी बसाई करते हुए मश
बहने लगा—'ह मेघ ! नगरमे पुष्पार और आयर्तन नामके जो यादलोंके दो प्रगिट और ऊँचे
कुन हैं, उहीमे तुमने जन्म निरा है । मैं यह भी जानता हूँ कि तुन दन्दके दूत हो और जंगा
बाहो रंगा अन्तरा न्य भी बना गवते हो, इमीलिये अपनी प्यारीके दलकी दूर सागर पटवा टूपा
मैं अभावा मुटाने ही पाते हाथ बनाए रहा हूँ, क्यों कि मुट्टीके प्राये हाथ पंना-नर रीते
हाथों मोट आता अण्ड है, पर नीचमे सगनेज्झा हो जाना भी अण्डा नही ॥६॥ अनेके मुट्टी तो

संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः
सन्देशं मे हर धनपतिकोधरिश्लेषितस्य ।
गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
वाधोधानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥७॥

त्वामारूढ यवनपदवीमुद्गृहीताल्लान्ताः
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकनिताः प्रत्ययादाश्चसन्त्यः ।
कः संनद्धे विरहशिघुरां त्र्यशुषेक्षत जायां
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥८॥

तां चाधर्यं दिवसमणनातत्परामेरुपरनी
मव्यापत्रामविहतगतिर्द्रव्यसि भावजायाम् ।

आशानन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो हृदयना
सद्यःपाति प्रणपि हृदयं विप्रयोगे रुणादि ॥९॥

मन्दं मन्दं नुदति पवनशानुकूलो यथा त्वां
वामशायं नदति मधुरं चातकृस्ते समन्धः ।

गर्भाधानचक्षुपरिचयान्नुनमावद्धमालाः

सेविष्यन्ते नयनसुभगं ये भवन्तं वलारूढः ॥१०॥

सत्तारमे तपे हुए प्राणियोंकी उडक देनेवाले हो, इसलिये हे मेव । कुदरेके कोपले मिलते हुए घोर भयनी ध्यायेते हुए पटके हुए मुझ दिव्योदीका सदेश भी तुम्ही मेरी ध्यायेके पाल पहुँचा मामो । देखो ! यह सदेश लेकर तुम्हें बड़े ठाठ याटो रहनेवाले यदोकी बलका नामकी उस बस्तोको जाया होगा, जहाँने भयनीमे, बस्तोके बाहरवाले उद्यानमे बने हुई शिखरीकी भूतिके तिरपर जड़ी हुई चन्द्रिकासे सदा उजाला रहा करता है ॥७॥ जब तुम वायुपर पौर रक्षक ऊपर चढ़ोगे तब परदेसियोंकी छियाँ छपती बलक ऊपर उठा-उठाकर पड़े धरोरेसे डाँडस पागर तुम्हारी घोर एकटक देखती, नवोकि मुझ-जैसे वराधीनको छोडकर घोर भीम ऐसा निर्दयी होगा जो तुम्हें उमड़ा हुमा देतार भी विछोहमे तडपनेवासी भयनी पलीसे मिलनेकी उतापता न हो सटे ॥८॥ हे मेव ! ऐसा रोई स्थान नहीं है जहाँ तुम्हारी पहुँच न हो, इसलिये तुम भयनी उस पतिवता गामीकी भयस्य ही वा आधोमे जो बँटी मेरे सोटने के दिन गिन रही होगी । नवोकि देखो, प्रेमियोंका कूल जैसा कोमल हृदय, बस मिलनेकी आशा पर ही घटका रहता है । इसलिये छियोने जो हृदय अपने प्रेमियोंके विदुदनेपर एक क्षण नहीं टिने रह सगते, वे इसी आशाने सहारे उन स्थियोंको बिलाए रखते हैं ॥९॥ देखो ! सगुन भी सब प्रच्छे ही रहे हैं तुम्हारा साथी वायु घीरे घीरे तुम्हें आगे बढा रहा है । इतर भयनी घानना पयवा यह घानना भी वाई घोर भयनी मोठी मोली बोल रहा है । यभी मोदी ही देरम तुम्हारा यह मोलीकी

प्रत्यासन्ने नमसि दयिताजीवितालम्बनार्थी
जीमूतेन स्वकुशलमयी हारयिष्यन्प्रवृत्तिम् ।
स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घ्याय तस्मै
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥४॥

धूमज्ज्योतिःसलिलमरुतां संनिपातः क मेघः
सन्देशार्थाः क पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः ।
इत्यौत्सुन्यादपरिगणयन्मुखकस्तं ययाचे
कामार्चा हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥५॥

जातं वंशं भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मयोनः ।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्भूवन्धुर्गतोऽहं
याश्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥६॥

कुवेरका वह सेवक प्राप्ति रोके ज्योत्सो गया हुआ बहुत देरतक सोचता ही रह गया, क्योंकि बादलोको देखकर जब मुझी सोचोका मन भी झेल जाता है तब उस विक्रोहीका तो कहना ही क्या, जो दूर देशमें पड़ा हुआ अपनी प्यारीके गले लगानेके लिये दिन-रात तप रहा हो ॥५॥ बादलको देखते ही उसे ध्यान आया कि असाह्य होतते ही सावन भी था जायगा और उस समय मेरी बीमल प्रिया अपनेकी सँभाल न पावेगी । इसलिये उसने सोचा कि अपनी प्यारीको हावस सँभालनेके लिये और उसके प्राण बचावके लिये मी न इन बादलोके हाथ ही अपना कुशल-समाचार भेज दूँ । यह ध्यान प्राते ही वह गगन ही उठा । उसने झट कुटजके सिले हुए फूल बतारकर पहले तो मेघकी पूजा की और फिर कुशल मगल पूछकर उसका स्वागत किया ॥४॥ भला बताइए, वहाँ तो पुष्प, अग्नि, जल और धामुके मेलसे क्या हुआ बादल और कहाँ सदेशकी वे बातें, जिन्हें बड़े अतुर लोग ही साया पहुँचा सकते हैं । पर यथावत अपने उन मदनी को कुछ भी ही नहीं, फिर भला उसका ध्यान यहाँतक पहुँच कैसे पाता । इसीलिये वह यह अपना संदेश भेजनेके लिये बादनके प्रागे विदगिदाने लगा । सब है, प्रेमियोंको यह जाननेकी मुझ ही वहाँ रहती है कि कौन जब है और कौन चेतन ॥५॥ बादलको बताई करते हुए यह कहने लगा—हे मेघ ! मत्तारके पुष्पर और भावतक नागवे जो बादलोके दो प्रसिद्ध और ऊँच पुत्र हैं, उन्हींमें तुमने जन्म लिया है । मैं यह भी जानता हूँ कि तुम इन्द्रके दूत हो और जैसा चाहो वैसा अपना रूप भी बना सकते हो, इसीलिये अपनी प्यारीके इतनी दूर लाकर पढ़ाया हुआ मैं धमका तुम्हारे ही प्रागे हाथ पसार रहा हूँ, क्योंकि मुझीके प्रागे हाथ फैलाकर रीते हाथो तोट भाना अच्छा है, पर नीचसे सपनेच्छा हो जाना भी अच्छा नहीं ॥६॥ भवेले तुम्हीं तो

संतप्तानां त्वममि शरणं तत्पयोद प्रियायाः
सन्देशं मे हर घनपतिक्रोधविरलेपितस्य ।
गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
याद्वोद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥७॥

त्वामारूढ पवनपदवीमृदुगृहीतालम्बिताः
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्रयसन्त्यः ।
क्रः संनद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥८॥

तां चावश्यं दिवमगणनातत्परामेकपत्नी
मन्यापभ्रामविहृतगतिर्द्रव्यसि आतृज्जायाम् ।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ब्रजजनानां
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रूषद्धि ॥९॥

मन्दं मन्दं नुदति पवनशानुकूलो यथा त्वां
यामधायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः ।

गर्भाधानचक्षुपरिचयान्नूनमावद्धमालाः
सेविष्यन्ते नयनसुभगं स्ते भवन्तं वलाकाः ॥१०॥

सहारे के तपे हुए प्राणियों की ठंडक देनेवाले हो, इसलिये हे मेघ ! कुबेर के कोपरो निकले हुए क्षीर
मयनी प्यारीसे दूर पडते हुए मुझ विछोहीका सदेसा भी तुम्ही मेरी प्यारीके पास पहुँचा आओ ।
बेखो ! यह सदेसा लेकर तुम्हें बड़े ठाठ-बाटसे रहनेवाले यक्षोंकी झलका नामकी उस बस्तीको
जाना होगा, जहाँके भवनीमे, बस्तीके बाहरवाले उद्यानमे बनी हुई शिवजीकी मूर्तिके
चिरपर जड़ी हुई चन्द्रिकासे सदा बजावा रहा करता है ॥७॥ जब तुम बाधुवर
दूर रखकर ऊपर चढ़ोगे तब परदेसियोंकी खिर्चा भषी झलकें ऊपर बड़ा-बड़ापर घड़े
धरोरेसे डाइस पावर तुम्हारी क्षीर एकटक देखेंगी, क्योंकि मुझ-जैसे परापीनको छोडकर क्षीर
कीन ऐसा निर्दयी होगा जो तुम्हें समझा हुआ देखकर भी विछोहगे तडपनेवाली मयनी पत्नीसे
मिलनेकी बचावला न हो उठे ॥८॥ हे मेघ ! ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ तुम्हारी पहुँच
न हो, इसलिये तुम मयनी उस पतिव्रता आमीको प्रवश्य ही पा जाओगे जो बँठी मेरे जोटने के दिन
गिन रही होगी । क्योंकि देखो, प्रेमियोंका फूल जंसा कोमल हृदय, उस मिलनेकी आशा
पर ही भटका रहता है । इसलिये स्त्रियोंके जो हृदय अपने प्रेमियोंसे बिछुडनेपर एक क्षण नहीं
टिके रह सकते, वे इसी आशाके सहारे उन स्त्रियोंको जिनाए रखते हैं ॥९॥ देखो ! सगुन भी सब
अच्छे ही रहे हैं तुम्हारा साथी बाधु धीरे-धीरे तुम्हें आने बजा रहा है । इधर अपनी झानका पक्का
मह चानच भी बाई क्षीर मयनी पीठे बोली बोख रहा है । अभी थोथे ही देखो तुम्हारा यह प्राँसोको

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्यां ।
 तच्छ्रुत्वा ते ध्वगसुमेगं गर्जितं मानसोत्काः ।
 आर्कलासाद्रिसकिसलपञ्छेदपाथेयवन्तः ।
 सपत्स्यन्ते नमसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥११॥
 आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं ।
 बन्धैः पुसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु ।
 काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य ।
 स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मृश्वतो वाप्यमृष्णम् ॥१२॥
 मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपं ।
 संदेशं मे तदनु जलद श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम् ।
 खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र ।
 क्षीणः क्षीणः परिलघुपथः स्रोतसां चोपभृज्य ॥१३॥
 अत्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभिः ।
 ईष्टोत्ताहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः ।
 स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं ।
 दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान् ॥१४॥

सुहृन्नेवासा रूप देखकर अगुतिर्था भी समझ लेंगी कि हमारे गर्म धारण करनेका समय आ गया है और वे पाँच बाँध-बाँधवर अपने पक्षीतो तुम्हे पता भ्रमनेके धिये अबसम ही भाकाशमे उड़-उड़कर पानी आ रही होगी ॥१०॥ तुम्हारे जिस गर्जनसे कुकुरमुत्ते निकल आते हैं और परती उपजाऊ हो जाती है, वही बानीको भला लगनेवाला तुम्हारा गरजना सुनकर, मानसरोवर जानेको उतावले राजहंस अपनी कोचोमे कमलकी झगली डठस लिए कंलास पर्वततक तुम्हारे साथ-साथ भाकाशमें उड़ते हुए आयेगे ॥११॥ हे मेघ ! जिस पहाडवर तुम लिपटे हुए हो, इसकी ढालो-पर भगवान् रामचन्द्रजीके सन परोकी छाया जहाँ-जहाँ पड़ी है, जिन्हे सारा सारा पूजता है, और जय-जय तुम इससे मिलते आते हो, तब-तब यह भी बहुत दिनोंपर मिलनेके कारण तुम्हारे साथ अपने चरम-चरम आँसु बहाकर अपना प्रेम प्रकट करता है । इसलिये अपने इस प्यारे मित्र पहाडको चोटोसे जो-भर गले मिलकर इससे विदा ले लो ॥१२॥ अच्छा, पहले मैं तुम्हें वह मार्ग समझ दूँ जिसपर जानेमें तुम्हें कोई कष्ट नहीं होगा । मार्ग समझ देनेपर मैं अपना प्यारा संदेश भी बता दूँगा । देखो ! मार्गमें चलते हुए जब कभी अपने लगे, तो मार्गमें पड़ती हुई पर्वतकी चोटियोपर ठहरते जाना, और जय-जय तुम पानीकी पानीसे दुबले पड़ने लगे तब-तब भरनोका हल्क-हल्का जल पीते हुए जाना ॥१३॥ महलही बँतोसे लदी हुई इस पहाडोसे जब तुम ऊपर उठते तब तुम्हारा उड़ना देखकर सिद्धोकी भोली-

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ता
 डन्मीक्रात्रभनति धनुःसण्डमापण्डलस्य ।
 येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
 वर्तेशेव स्फुरितरुचिना गोपवेपस्य विष्णोः ॥१५॥
 त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति श्रूयित्वासानमिज्ञैः
 प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवपुलोचनैः पीयमानः ।
 सद्यः सीरोत्कण्ठसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
 किंचित्पथाद्ग्रजलघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥१६॥
 स्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना
 वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाप्रकूटः ।
 न चुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संभयाप
 प्राप्ते मित्रे भनति विमुक्तः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ॥१७॥
 छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाग्नौ
 स्त्वय्यारूढे शिरसरमचलः स्निग्धवेषीसवर्णः ।
 नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थाम्
 मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥१८॥

माली कियौ मालें पाठ काठकर तुम्हारी ओर देखती हुई सोचेंगी कि कहीं पहाड़की चोटीको ही
 तो पदम मही उड़ाए लिए चला जा रहा है ? इस प्रकार ठाढ़े उठते हुए तुम दिग्गजोकी
 मोटी सूँडोकी फटकारोको धकेलते हुए उत्तरकी ओर घुम जाना ॥१५॥ देखो ! वहाँ सामने
 बाँझीके ऊपर उड़ा हुआ इन्द्रगुफका एक टुकड़ा ऐसा सुन्दर बिसाई पद रहा है मानो बहुतसे
 रत्नोंकी जमना, एक साथ वहाँ सानर इनट्टी कर ली गई हो । इस इन्द्र भनुपरो राजा हुआ
 तुम्हारा सौवला शरीर ऐसा सुन्दर लगने लगा है जैसे मोरमुकुट पहने हुए खालेका वेश बनाए
 हुए श्रीकृष्णजी ही पावर खड़े हो गए हो ॥१६॥ देखो ! खेतीका होना न होता भी सब तुम्हारे ही
 प्ररोसे है, इनलिये किसानोकी बे जोली माली मित्रयाँ भी तुम्हें बड़े प्रेय और आदरसे देखेंगी,
 जिन्हें भी बलावर रिक्तावा नहीं आता है । वहाँ तुम माल देखने उठ खेतोपर बरत जाना
 जहाँ अभी ओते जानैके कारण सोबी-सोबी सुगन्ध निबल रही हो । बहति छोड़ा पन्चिम-
 की ओर घूमकर फिर अटपट उत्तरकी ओर बढ जाना ॥१६॥ जब तुम भूखलाघार पानी बरसाकर
 घासकूट पहाड़के जंगलोकी माग बुझाओगे तो वह तुम्हारा उपकार मानकर और तुम्हें धरा हुआ
 समझकर, बड़े प्रेमसे तुम्हें मित्र बनावर अपनी गोटीपर आदरसे खान ठहरावेगा, क्योंकि जब
 दरिद्र लोग भी आए हुए मित्रके उपकारका ध्यान करने उसका सत्कार करनेमें नहीं चूकते तब
 आसकूट जैसे ऊँचोना तो बहना ही क्या ॥१७॥ देखो ! पके हुए फलोंसे लदे घामके वृक्षोंसे
 घिरा हुआ आसकूट पर्वत पीला सा हो गया होगा । उसकी चोटीपर जब तुम कोषल

अध्वयलान्तं प्रतिमुखगतं सानुमानाप्रकूट
 स्तुब्धेन त्वां वलद शिरसा वच्यति श्लाघ्यगानः ।
 आसारेण त्वमपि शमयेस्तस्य नैदाघमग्नि
 सद्भावाद्वार्धः फलति न चिरेषोपकारो महत्सु ॥१६॥
 स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधूमुक्तकुञ्जे मुहूर्तं
 सोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्थः ।
 रेवां द्रव्यस्युपलविपमे विन्ध्यपादे विशीर्णा
 मक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥२०॥
 तस्यास्तित्तैर्नगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टिं
 र्जम्बुकुञ्जप्रतिहतरयं सोयमादाय गच्छेः ।
 अन्तःसारं धन तुल्यितुं नानिलः शक्यति त्वां
 रिक्तः सर्वा भवति हि लघुः पूर्यता गौरवाय ॥२१॥
 नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केगरीरुद्धं
 राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीशानुकञ्चम् ।
 जग्ध्वारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाग्राय चोर्व्याः
 सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ॥२२॥

वालोंके जूबेके समान साँबला रंग लेकर पड़ोगे, तब वह पर्वत, देखाओंके सम्प्रतिशोकों द्वारा
 ऐसा दिलाई देगा मानो वह पृथ्वीका उठा हुआ ऐसा स्तन हो, जिसके बीचमे काला हो और
 चारों ओर पीला हो ॥१६॥ हे भेष ! जब तुम बहकर आश्रकूट पर्वतपर पहुँचोगे, तब वह
 प्रसन्ननीय आश्रकूट पर्वत तुम्हे अपनी ऊँची थोड़ीपर भली भाँति ठहरावेगा । उस समय तुम भी जल
 बरसाकर उसके जगलोंमे लगी हुई घाँस की घाँस बुझा देगा क्योंकि यदि सच्चे मनसे बड़ोपर उप-
 कार किया जाय तो ये अपने ऊपर भलाई करनेवालेका सादर करनेमे देर नहीं लगाते ॥१६॥
 उस आश्रकूटके जिन गुह्योमे जगली दिग्गयाँ घूमा करती हैं, वहाँ थोड़ी ही देर ठहरना और फिर
 ढग बढ़ाकर चल देना, क्योंकि जल बरसा देनेसे तुम्हारी देहका भारीपन भी दूर हो जायगा
 और तुम्हारी चाल भी बढ जायगी । वहाँ से आगे चलनेपर तुम्हे विन्ध्याचलके ऊबड़-खाबड़ पठारपर
 बहुत सी पायामो मे फँसी हुई रेवा नदी मिलेगी, जो तुम्हे ऊपरसे ऐसी दिलाई देगी मानो
 किमीने बड़ेसे हाथीका शरीर भ्रमसे चीत दिया हो ॥२०॥ देखो ! वहाँ जल बरसा चुको, तो
 जगली हाथियोंके सुगन्धित मलमे बसा हुआ और जामुनकी गुह्योमे बहता हुआ रेवाका जल पीकर
 तब प्राप्ति बढना । जल पीकर जब तुम भारी हो जाओगे तो वायु तुम्हे इधर-उधर भुजा नहीं
 सकेगा । देखो ! जिसके हाथ रीते होते हैं उसीने सब दुरदुराते हैं, और जो भरा-पूरा होता
 है, उसका सभी सादर करते हैं ॥२१॥ देखो ! जिस समय तुम जल बरसाते चले जा रहे होगे

अम्भोविन्दुग्रहयचतुरांशतफान्वीचमाशाः
 श्रेणीभूताः परिगणनया निर्दिशन्तो बलाक्राः ।
 त्वाभासाद्य स्तनितसमये मानयिष्यन्ति सिद्धाः
 सोत्कम्पानि प्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि ॥२३॥
 उत्पश्यामि द्रुवमपि सखे मत्प्रियार्थं विद्यामोः
 कालक्षेपं ककुभसुरमौ पर्वते पर्वते ते ।
 शुक्लापाङ्गैः सज्जलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः
 प्रत्युधातः कथमपि मवान्गन्तुमाशु व्यवस्येत् ॥२४॥
 प्राण्डुच्छायोपवनवृक्षयः केतकैः स्रचिभिश्चै
 नौडाग्म्भैर्गृहवलिभुजामाकुलप्रागचैरपाः ।
 त्ययासन्ने परिखतफलरयामजम्पूवनान्ताः
 संपत्स्वन्ते फलिपयदिनस्यायिहंसा दशार्थाः ॥२५॥
 तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालवशां राजधानीं
 गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा ।
 तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वाद् यस्मात्
 मञ्जूमङ्गं मुखमिव पयो वेद्यवत्पाशलोमिं ॥२६॥

सब समय घघपकै हरे-पीते कदम्बके फूलोपर भँडराते हुए भीरे, दलदलोंमें बहई फूलों हुई मन्दश्रीकी
 पतिघोषों बरते हुए हरिण मीर जगली घरतीका तीखा गन्ध सँपते हुए हाथी, तुम्हे मार्ग
 बताते चलेंगे ॥२३॥ ऊपर ही ऊपर बूँदें बूँटते हुए पातकी जो देखनेवाले, मीर पाँत बाँधकर
 खबती हुई बगुलियोंको एक-एक करके गिननेवाले सिद्धोंकी प्यारी छिपाई जब तुम्हारा गर्जन सुनकर
 भटते सबराकर उनके गले लग जायँगी, तब ये सिद्ध लोग तुम्हारा बड़ा भसा मनायेंगे ॥२४॥ मित्र
 यह तो मैं जानता हूँ कि तुम भरे कागजे लिये बिना छके झटपट जाता चाहोगे फिर भी मैं रामभक्ता
 हूँ कि झुटलने फूलोंसे लदे हुए उन सुगन्धित पहाड़ोंपर तुम्हे खहरते ही जाना होगा, जहाँके मीर,
 नेत्रोंमें आनन्दके भाँसू भरकर झपकी बूँसे तुम्हारा स्वागत कर रहे होंगे । पर मुझे आशा है कि
 तुम वहाँसे जैसे भी होगा झटपट बन दोगे ॥२४॥ हे मेघ ! जब तुम दशाणं देशके पास
 पहुँचोगे तब फूले हुए नेत्रोंके कारण वहाँके फूले हुए जगनों की धाँट उजली दिखाई देगी,
 गवियों मन्दिर, पीछो आदि पक्षियोंके घोंसलोंसे भरे मिलेंगे, वहाँके जगल, पकी हुई काली
 जामुनोंसे सदे मिलेंगे मीर हूँ भी वहाँ पर कुछ दिनोंके लिये आ बसे होंगे ॥२५॥ दशाणं देशकी
 विदिशा नामकी प्रसिद्ध राजधानीमें पहुँचते ही तुम्हे बिलासकी सब सामग्री मिल जायगी
 क्योंकि जब तुम वहाँकी मुहावली, मनभावनी और नाचती हुई सहरोवाली क्षेत्रवती नदीके
 तीरपर गर्जन करके उत्सवा जोड़ा जल पीओगे तब तुम्हे ऐसा लगेगा मानो तुम किसी पट्टीकी

नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतो
 स्त्वत्संपर्कात्पुलकितमिव-प्रौढपुष्पैः कदम्बैः ।
 यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणां
 मुहामानि प्रथयति शिलावेशमभिर्यौवनानि ॥२७॥
 विश्रान्तः सन्त्रज वननदीतीरजातानि मिश्र
 न्नुद्यानानां नवजलकणैर्यथिकाबालकानि ।
 गण्डस्वेदापनपनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां
 छायादानात्तृणपरिचितः पुष्पलाव्रीमुखानाम् ॥२८॥
 वक्रःपन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
 मौघोत्सङ्गप्रणपविमुखो मा स्म भूरुजपिन्याः ।
 विद्युदामस्फुरितचकिन्नैस्तत्र पौराङ्गनानां
 लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ॥२९॥
 वीचिदोभस्तनितविहगश्रेष्ठिकाश्चीगुणायाः
 संसर्पन्त्याः स्थलितसुभगं दर्शितावर्तनामेः ।
 निर्विन्ध्यायाः पथि भवरसाभ्यन्तरःसन्निपत्य
 स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभमो हि प्रियेषु ॥३०॥

भीहोवाती कामिनीके झोठोका रख भी रहे हो ॥२६॥ वहाँ पहुँचकर तुम 'नीच' नामकी पहाड़ी-
 पर धकावट मिटानके लिये उत्तर जाना । वहाँपर फूले हुए कदवके वृक्षोको देखकर ऐसा जान
 पड़ेगा मानो तुमसे मँड करलेके बारख उनके रोम-रोम पहरा उडे हो । उसी पहाड़ीकी गुफाओमेसे
 उन सुगन्धित पदार्थों की गंध निकल रही होगी जो वहाँके छिने बेसाधोके साथ रति करनेके समय
 काममे जाते हैं । इससे तुम्हें यह भी ज्ञात हो जायगा कि वहाँके नागरिक कितना सुलभ-सुलभा
 यौवनवा रख लेते हैं ॥२७॥ वहाँ धकावट मिटानकर, तुम जगली नदियोंने तीरीपर उषदनने लियी
 हुई जूहीकी कलियोंको अपने जलकी फूहारोसे सींधते हुए और यहाँकी फूल उठारनेवाली उन मालि-
 नोके मुँहपर छाया करके मोड़ीसी जान-पहचान बढ़ाते हुए भागे बढ जाना, जिनके कानोंमे लटके
 हुए कमलकी पंखडियोंके वनफूल उनने गालोपर बहते हुए पसीनेसे लप लपकर भेंगे हो गए होंगे
 ॥२८॥ उत्तरकी ओर जानेमे यद्यपि उज्जयिनीवाला मार्ग कुछ टेढ़ा पड़ेगा, फिर भी तुम उस नगरके
 राजमवनोको देखना न भुलना । तुम्हारी बिजलीकी चमकसे डरकर यहाँकी स्त्रियाँ जो चल चितवन
 बतावेंगी उनपर यदि तुम न रीझे, तो सम्भवतो नि तुम्हारा जन्म भ्रमण्य हो गया ॥२९॥ उज्जयिनी-
 की ओर जाते हुए तुम उत्तरपर उस निर्विन्ध्या नदीका भी रख ले-लेना जिसकी उछलती हुई लहरों-
 पर पलियोंकी चहचहाती हुई पाँते ही बरपनी भी दिखाई देंगी और जो इस सुन्दर जगसे एक
 एककर बह रही होगी नि उधने पडे हुई भँवर तुम्हें उसकी नाभि जैसी दिखाई देगी, क्योंकि दिश्यों

वेणीभूतप्रतनुसलिलाऽसावतीतस्य सिन्धुः
 पाण्डुच्छाया तटरुहतरुम्र'शिभिर्जीर्णपत्नैः ।
 सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
 काश्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥३१॥
 प्राप्तायन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्
 पूर्वादिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालाम् विशालाम् ।
 स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
 शेषैः पुण्यैर्हृतमिवादिवः कान्तिमस्त्यसहमेकम् ॥३२॥
 दीर्घाकुर्वन्महु मदकलं कूजितं सारसानां
 प्रत्यूपेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकपायः ।
 यत्र स्त्रीणां हरति सुरतम्लानिमग्नानुकूलः
 शिप्राघातः प्रियतम प्रार्थनाचातुकारः ॥३३॥
 हाराँस्ताराँस्तरलगुटिकान्कोटिशः शङ्खशुक्तीः
 शण्डश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान् ।
 दृष्ट्वा यस्या विपश्चिरचितान्विद्रुमाणां च भङ्गाम्
 संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः ॥३४॥

घटक-मटक थिटाकर ही अपने प्रेमियोंको अपने प्रेमकी बात कह देती है ॥३०॥ देखो ! निदिग्ध्या
 नदीकी धारा तुम्हारे बिलोहमे मोटीके समान पतली हो गई होगी और तीरके वृक्षोंके पीले पत्तोंके झड़-
 झड़कर गिरनेसे उसका रंग भी पीला पड़ गया होगा । इस प्रकार, हे बड़भागी मेघ ! अपनी यह
 बिलोहकी दशा दिखाकर वह यही बता रही होगी कि मैं तुम्हारे वियोगमें सूखी जा रही हूँ । देखो
 तुम ऐसा उपाय करना कि उस बेचारीका दुबलापन दूर हो जाय [यर्षाद् जल बरसाकर उसे भर
 देना] ॥३१॥ प्रवृत्ति देखने पहुँचकर तुम धम-धान्यसे भरी हुई उस विशाला नगरीकी ओर पले
 जाना जिसकी चर्चा मैं पहलेही कर चुका हूँ और जहाँ गाँवके बड़े बड़े सोय, महाराजा उदयकी
 कथा भली-प्रकार जानते-सुनते हैं । वह नगरी ऐसी लगती है माने स्वर्गमें अपने पुण्योवा पल
 भोगनेवाले पुण्यात्मा लोग अपने पुण्य समाप्त होनेसे पहले ही, अपने बचे हुए पुण्यसे बदले, स्वर्गका कोई
 कमकीर्ता भाग लेकर उसे अपने साथ घरतीपर उतार लाए हो ॥३२॥ उस नगरीमें, मतवाले
 सारसोंकी मीठी मोकीकी झुर-झुरखक फंताता हुआ, तटके लिये हुए नयनोंकी गण्यमे यहा हुआ
 और शरीरकी मुहावेवाला शिप्रावा पावु, स्त्रियोंकी सभोगनी बनाबटनों उसी प्रकार दूर कर रहा होगा
 जैसे चतुर प्रेमी, मीठी-मीठी बातें बनाकर, पुनेस सुंघाकर और पत्ता भरकर सभोगसे यहाँ हुई अपने
 प्यारीकी यकाबट दूर कर देता है ॥३३॥ [उज्जयिनीकी हाटोमें तुम्हें बहो तो करोड़ों मोतियोंकी
 ऐसी गल्लाएँ सजी हुई दिखाई देंगी जिनके बीच-बीचमें बड़े बड़े खन गूँघे हुए होंगे, वही करोड़ों शत

प्रद्योतस्थ प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्मे
 द्वैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः ।
 अत्राद्भ्रान्तः किल नलगेरिः स्तम्भमुत्पाद्य
 दर्पादित्यागन्तूनमयति जनो यत्र बन्धूनभिन्नः ॥३५॥
 जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशमंस्कारधूपै
 र्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः ।
 हृन्मयस्याः क्लृप्तमसुरमिष्यष्यसेदं नयेथा
 लक्ष्मीं पर्यञ्जलितवनितापादरागाद्वितेपु ॥३६॥
 भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
 पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीधरस्य ।
 धृतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या
 स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥३७॥
 अप्यन्यस्मिजलधर महाकालमासाद्य कालो
 स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति मानुः ।
 कुर्वन्संध्यायलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया
 मामन्द्राणां फलमधिकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥३८॥

और तीपियां रानी हुई मिलीं। और कहीपर नई पासके समान बीजे और चमकीले नीलम दिछे
 दिखाई देंगे । उन्हें देखकर यही जान पड़ेगा कि रत्न तो सब यहाँ निवासकर धा रखे गए हैं और
 समुद्रमे केवल पानी ही पानी बना छोड़ दिया गया है] ॥३५॥ [वहाँके जानकर लोग, यह कथा
 सुना-सुनाकर बाहरसे आए हुए अपने सब-बिबोका मन बहसा रहे होंगे कि यहाँपर यस्त देशके राजा
 उदयनने लज्जयिनीके महाराज प्रद्योतकी प्यारी कन्या पासवदत्ताकी हरा था, यही उनका बनाया हुआ
 लक्ष्मीके पैरोंका सुनहरा उपवन था और यहीपर मदन भर हुआ नलपिरि नामका हाथी, लूँटा उपाड़
 कर हथर-हथर पावल होकर धूमता फिरता था] ॥३६॥ वहाँकी स्त्रियोंके वालोंको सुगंधित करके,
 अगरकी पुष्पा जो घुमाँ करोलोके निकलता होना उससे तुम्हारा शरीर बढेगाही और तुम्हें अपना सारा
 समझकर, वहाँके पालतू और भी नाच-नाचकर तुम्हारा सत्कार करेंगे । तब तुम फूलोंके गन्धसे महबूते
 हुए वहाँके उन भवनोंकी सजावट देखकर अपनी थकावट दूर कर सेना जिनमे सुन्दरियोंके चरणोंमे
 लगी हुई महाधरते लाल-पैरोंकी स्थापनी हुई होगी ॥३६॥ यहाँसे तुम तीनों लोकोंके स्वामी और
 पृथ्वीके पति महानालके पवित्र मन्दिरको और चले जाना । वहाँ शिवजीके घर, तुम्हें अपने स्वामी
 शिवजीके कठके समान ही मौला देखकर, तुम्हें बड़े आदरसे निहारेंगे । वहाँ शल-विहार करनेवाली
 युवतियोंके स्नान करनेसे महकता हुआ और कमलने गधने बसी हुई मधवती नदीकी औरसे आनेवाला
 पवन, हम मन्दिरके उपवनकी बार-बार सुना रहा होगा ॥३७॥ हे मेघ ! यदि तुम महापालके

पादन्ध्यामैः कणितमशनास्तत्र लीलावधूतैः
 रत्नच्छायापुञ्चितमलिभिश्चामरैः क्लृप्तान्तद्वन्ताः ।
 वेश्यास्त्वचो नरपदसुपान्नाप्य वर्षाप्रविन्दु
 नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटावान् ॥३६॥
 पश्चादुच्चैर्भुजतरवनं मण्डलेनाभिलीनः
 सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्पकं दधानः ।
 नृत्तारम्भे हर पशुपतेगर्दनागाभिनेच्छा
 शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टमन्तिर्भवान्या ॥३७॥
 गच्छन्तीनां रमणवसतिं योपितां तत्र नक्तं
 रुद्धालाफे नरपतिपथे सुचिमेयैस्तमोभिः ।
 सीदामन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वी
 तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो भा स्म भूर्विक्लावास्ताः ॥३८॥
 तां कस्यांचिद्भवनरत्नमौ सुमपारातरतायां
 नीत्वा रात्रिं चिरचित्तमनात्प्रिभविद्युत्फलजः ।
 दृष्टे सूर्ये पुनरपि मवान्याद्वेदध्वशेषं
 मन्दापन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥३९॥

मन्दिरमें सीमा होनेसे पहले पहुँच जाओ तो वहाँ सबतरङ्ग डहर जाता सबतरङ्ग सूर्य मनी प्रहार आँगोंमें
 प्रीमिल न हो जाय और जब महादेवजीकी सभिनी मुहावनी धारती होने लगे तब तुम भी अपने
 गर्जनका मत्वा। मजाने लगना । तुम्हें अपने सब गवीर गर्जनका पूरा-पूरा फल मिल जायगा ॥३६॥
 क्लृप्ताकी साथमें वेशीपर धिरवती हुई जिन वेश्याओंकी बरघनीव धंधल वने भीटे-भीटे दान रहे होने
 प्रीत जिनके हाथ, कमनने नगीकी चमकसे दमकते हुए डहोवाले चेर दुलाते-दुलाते पद गए भोगे,
 उन वेश्याओंके सत-सतोंपर जब मुम्हारी ठडी-ठडी बूँदें बहेगी तब वे सबे प्रमते अपनी सीरीकी
 पाँतीके समान बरो-बरो चितवन सुमपर डालेंगी ॥३६॥ सीजकी पूजा हो चुकनेपर जब महाबास
 तान्दव गुप्त करने लगे, उस समय तुम सीजकी ससाईं लेकर उन नृतीपर छा जाता जो उनकी ऊँची
 सठी हुई बाँटने समान खड़े होंगे । ऐसा करनेसे शिवजीके मनमें जो हाथीकी साथ घोड़नेकी इच्छा
 होगी वह भी पूरी हो जायगी । यह देखकर पहले तो पावती डर जायेंगी कि वह हाथीकी साथ
 भा कहति गई, पर फिर तुम्हें पहचानकर उनका डर दूर हो जायगा और वे एबटब होकर शिवजीमें
 मुम्हारी दतनी मति देगयी रह जायेंगी ॥३७॥ बटोंपर जो स्थिर अपने प्यारोंके मिमनेके लिए
 ऐसी पनी सीधेरी रातमें बिजनी होगी, उन्हें जब सबकोपर सीधेने मारे हुए भी न सूझता होगा,
 तब तुम बघौटीमें मोनेके समान दमकनेवाली घरनी बिजनी चमकाने उन्हें टोक टोक मार्ग दिना
 देना, पर देतो ! तुम परबल-बरमना पन । नहीं तो वे चमका उठेंगी ॥३८॥ बहुत देरतक
 चमकने-चमकने पकी हुई घरती प्यारी बिजनीकी नेवर तुम दियो ऐसे मकावे दग्नेपर रात बिज

तस्मिन्काले नयनसलिलं योपितां - संहितानां
 शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु ।
 प्रालेयासं कमलवदनात्सोऽपि हतुं नलिन्याः
 प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाम्यसूयः ॥४३॥

गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
 छायात्माऽपि प्रकृतिसुमगो लप्स्यते ते प्रवेशम् ।
 तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्या
 न्मोषीकृतुं चदुलशफ्रोद्धर्तनप्रेषितानि ॥४४॥

तस्याः किञ्चित्कृतवृत्तमिव प्राप्तवानीरशाखं
 हत्वा नील सलिलवसनं मुक्तगेधोनितम्बम् ।
 प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
 ज्ञातास्यादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ॥४५॥

त्यक्निप्पन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः
 स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुमगं दन्तिभिः पीयमानः ।
 नीर्नर्वास्यत्युपजिगमिपोद्वचपूर्वं गिरिं ते
 शीतो वायुः परिरुमयिता काननोदुम्यराणाम् ॥४६॥

देना जिसमे कबूतर सोए हुए हो और फिर दिन निकलते ही वहाँसे चल देना, क्योंकि जो अपने मित्रोंका काम करनेका बीड़ा उठाता है, वह प्रसन्न नहीं किया करता ॥४३॥ देखो ! उस समय बहुतसे प्रेमी लोग अपनी उन प्यारियोंके प्राप्ति पौछ रहे होंगे जिन्हें रातको प्रकैसी छोटकार मे नहीं दूसरी ठोरपर रहे होगे । इसलिये उस समय तुम सूर्यको भी मत ढकना क्योंकि वे भी उस समय अपनी प्यारी कमलिनीके मुख-कमलपर पड़ी हुई प्रीतकी बूँदें पोछनेके सिधे जा गए होगे । तुम इनके हाथ न रोब बैठना, नहीं तो वे बुरा मान जायेंगे ॥४४॥ हे मेघ ! तुम्हारे सहज-मालोने घरीरकी परछाहीं गभीरा नदीके उस जघने अवश्य दिखाई देगी, जो चित्त जैसा निर्मल है । उसमे विलोमें करती हुई कुमुदके समान जजनी मधुसिंधोकी देलकर तुम यही समझना कि वह नदी तुम्हारी और अपनी प्रेम-भरी चंचल चितवन चला रही है । कहीं तुम अपनी रखाईसे उसके प्रेमका गिरावर न कर बैठना ॥४५॥ जब तुम गभीरा नदीका जल पी लोंगे तो उसका जल कम हो जायगा और उसने दोनो तट नीचेतक दिखाई देने लगेंगे । उस समय जसमे भुकी हुई बँसकी लताओंको देवनेसे ऐसा जान पड़ेगा मानो गभीरा नदी अपने तटरूपी निगम्योपरसे अपने जलके वस्त्र सितक जानेपर, लज्जासे अपनी बँसकी लताओंके हाथोंसे अपने जलका वस्त्र धामे हुए है । यह सब देखकर भया मेघ ! उसपर भुके हुए तुम वहाँसे जा न पाओगे, क्योंकि ज्वानीका रक्त ते चुकनेवाला ऐसा वीर रगीना होगा जो कामिनीकी सुनी हुई जाँघोंको देखकर उसका रक्त लिए बिना ही वहाँसे चल दे ॥४६॥ वहाँसे चलकर जब तुम देखगिरि पहाडकी ओर जाओगे तब वहाँ धीरे-धीरे चला हुआ यह

तस्मिन्काले नयनसलिलं योपितां खंडितानां
 शान्तिं नेयं प्रणयिमिरतो वर्त्म भानोस्त्यज्वाशु ।
 प्रालेयासं कमलवदनत्सोऽपि हर्तुं नलिन्याः
 प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ॥४३॥

गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
 छायात्माऽपि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम् ।
 तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हमि त्वं न घेयां
 न्योधीवर्तुं चदुलशफरोवर्तनप्रेक्षितानि ॥४४॥

तस्याः किंचित्करघृतमिव प्राप्तवानोरशाखं
 हृत्वा नील सलिलवसनं मुक्तगेधोनितम्बम् ।
 प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्पमानस्य भावि
 ज्ञातास्यादो विवृत्तजघनां को विहातुं समर्थः ॥४५॥

त्वन्निष्पन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः
 स्रोतोरेन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः ।
 नीनैर्वास्त्युपजिगमिपोर्देवपूर्वं गिरिं ते
 शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ॥४६॥

देगा जिसमें कबूतर सीए हुए हों और फिर दिन निकलते ही बहसि चल देता, क्योंकि जो अपने मित्रोंका काम करनेका बीड़ा उठाता है, वह घलसेट नहीं रिया करता ॥४३॥ देखो । उस समय बहुतसे प्रेमी लोग अपनी उन प्यारियोंके पास पोछ रहे होंगे जिन्हें रातकी अकेली झोडकर वे कहीं दूखरी ठीकर रहे होंगे । इसलिए उस समय तुम सूर्यको भी मत डकना क्योंकि वे भी उस समय अपनी प्यारी कमलसीके मुख कमलपर पड़ी हुई आसकी बूँदें पोछनेके लिये आ गए होंगे । तुम उनके हाथ न रोक बैठना, नहीं तो वे बुरा मान जायेंगे ॥४४॥ हे मेघ ! तुम्हारे सहज-तालीने बाँधकी परछाही गभीरा नदीके उस जलमें अवश्य दिखाई देगी, जो चित्त जैसा निर्मल है । उसमें किलोर्ल करती हुई कुमुदके समान जलकी मल्लजियोंको देखकर तुम नहीं समझना कि वह नदी तुम्हारी ओर अपनी प्रेम-भरी चंचल चितवन चला रही है । कहीं तुम अपनी रुखाँसे उसके प्रेमका निरादर न कर बैठना ॥४५॥ अब तुम गभीरा नदीका जल पी लोगे तो उसका जल कम हो जायगा और उसने दोनों तट नीकेतक दिखाई देने लगेंगे । उस समय जलमें भुकी हुई बेंतकी लताओंकी देखनेसे ऐसा जान पड़ेगा मानो गभीरा नदी अपने तटरूपी नितम्बोपरसे अपने जलके वस्त्र खिन्नक जानेपर लज्जारी अपनी बेंतकी लताओंक हाथसे अपने जमका वस्त्र धाये हुए है । यह सब देखकर मेघा मेघ ! उसपर भुके हुए तुम नहीं जा न पाओगे, क्योंकि जबानीका उस ने पुननेवाला ऐसा कौन रगीला होगा जो कामिनीकी सुखी हुई जाँघोंको देखकर उसका रस लिए बिना ही बहसि चल दे ॥४६॥ बहसि चलकर अब तुम देगगिरि पहाडकी ओर जाओगे तब वहाँ पीरे-पीरे बहता हुआ वह

तत्र स्कन्दं नियतवमतिं पुष्पमेधीकृतात्मा
 पुष्पासारैः स्नपयन्तु भवान्योमगद्गाजलाद्रैः ।
 रचाहेतोर्नवशशिश्रुता वासवीनां चमूना
 मत्पादित्यं हुत्तवहमुत्से संभृतं तद्धि तेजः ॥४७॥
 ज्योतिर्लंखावलयि गलितं यस्य बहै भवानी
 पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति ।
 धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूर
 पश्चाद्विग्रहगुरुभिर्गजितैर्नर्तयेथाः ॥४८॥
 आराध्यैर्न शरवणभवं देवमुल्लसिताध्वा
 सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीथिभिर्मुक्तमार्गः ।
 व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्बजां मानयिष्यन्
 स्रोतोमूर्त्यां सुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥४९॥
 त्वग्यादातुं जलमयनते शाङ्गिणो वर्षाचौरे
 तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरमायात्प्रवाहम् ।
 प्रेषिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्यं दृष्टी
 रेकं मुक्तागुणमिष भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥५०॥

शीतल पवन तुम्हारी सेवा किया करेगा जिसमें तुम्हारे वरसाए हुए जलसे मानवकी सौत लीती हुई वरसीकी गंध भरी रहेगी, जिसे बिग्याकते हुए हापी अपनी बूंदोसे पी रहे होंगे और जिसके चलनेसे पनके गूलर पकने लग गए होंगे ॥४६॥ उसी देवगिरि पर्वतपर स्कन्द भगवान् भी सदा निवास करते हैं । इसभिधे वहाँ पहुँचकर तुम फूल वरसानेवाले बादल यन्त्र वनपर घाघाश-गगाके चलते भीगे हुए फूल वरसाकर उन्हें स्नान करा देना । देती ! स्कन्द भगवान् की तुम ऐसी-वैसा देवता न समझना । इन्द्रकी सेनाओंको बचानेके लिये विश्वजीने सूर्यस भी बदलर जलता हुआ अपना जो तेज अग्निमें टाँसकर इकट्ठा किया था, उसी तेजसे स्कन्दका जन्म हुआ है ॥४७॥ महाँ पहुँचनेपर तुम अपनी गरजसे पर्वतकी गुफाघाको गूँबा देना जैसे तुमवर स्वामी नात्तिकेपका बहु मोर भाव उठेगा जिसके मैनोंके कोने सदा खिदबीके तिरपर घरे हुए चन्द्राकी चमकसे दपकते रहते हैं । उस मोरके भूँडे हुए उन पल्लोसे चमकीली किरणें निकल रही होंगी, जिन्हें पार्वतीजी, पुत्रपर प्रेम दिलानेके लिये अपने उन कानोपर सजा लेती हैं, जिनपर वे कमलकी पंखड़ी सजाया करती थी ॥४८॥ स्कन्द भगवान् की पूजा करके जब तुम धागे बढोगे तो हाथोंमें बीणा लिए हुए अपनी स्त्रियोंके साथ वे सिद्ध लोग तुम्हें मिलेंगे जो अपनी बीणा भीतर फिगड जानेके डरसे तुमसे दूर हो दूर रहने । तब तुम कुछ दूर जाकर उस चर्मप्यती नदीका बाँदर करनेके लिये नीचे उतर जाना जो राजा रन्तिदेवके पक्षालम मश करनेकी कीर्ति वनवर वरसीपर बह रही है ॥४९॥ हे मेव ! जब तुम बिजु भगवान् का मानता रूप छुकर

तस्मिन्काले नयनसलिलं योषितां खंडितानां
 शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु ।
 प्रालेयासं कमलवदनात्सोऽपि हर्तुं नलिन्याः
 प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यस्रयः ॥४३॥
 गम्भीरायाः पयसि भरितश्चेतसीव प्रसन्ने
 छायात्माऽपि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम् ।
 तस्मादस्याः कुमुदविशदान्पह्निमि त्वं न ध्वेया
 न्मोधीकतुं चटुलशफरोद्धर्तनप्रेक्षितानि ॥४४॥
 तस्याः किञ्चित्करघृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
 हृत्वा नील सलिलवमनं मुक्तगोधोनितम्बम् ।
 प्रस्थानं ते कथमपि सखे लभ्यमानस्य भावि
 ज्ञातास्वाढो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ॥४५॥
 त्वद्विष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः
 स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः ।
 नीमैर्वास्यस्त्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते
 शीतो वायुः परिश्रमयिता काननोदुस्वराणाम् ॥४६॥

देवा जियमे कटूतर होए हुए हो और फिर दिन निकलते ही बहसि चल देना, क्योंकि जो अपने मित्रोंका काम करनेका धोखा उठाता है, वह प्रसन्न नहीं किया करता ॥४२॥ देखो ! उस समय बहुतसे प्रेमी लोग अपनी उन प्यारियोंके आसु पीछे रहे होंगे जिन्हें रातको अकेली खोदकर वे कहीं दूधारी छोरपर रमे होंगे । इसलिये उस समय तुम सूर्यको भी मत ढकना क्योंकि वे भी उस समय अपनी प्यारी कमलिनीके मुल-कमलपर पड़ी हुई ओसकी बूँदें पीनेके लिये पा गए होंगे । तुम उनके हाथ न रोक बैठना, नहीं तो वे बुरा मान जायेंगे ॥४३॥ हे मेघ ! तुम्हारे चहज-सलोने घरीरकी परछाही गंगोरा नदीके उस अपने अवयव दिखाई देनी, जो बिल जंगल निमल है । उसमें किलोर्लें करती हुई कुमुदके समान उजली मछलियोंको देखकर तुम यही समझना कि वह नदी तुम्हारी और अपनी प्रेम-भरी वनज चितवन बना रही है । कहीं तुम अपनी रसादसे उसके प्रेमका निरादर न कर बैठना ॥४४॥ अब तुम गम्भीरा नदीजब उस भी सोगे तो उसका जल कम हो जायगा और उससे दोनो घट नीचेतक दिखाई देने लगेंगे । उस समय जलमें भुकी हुई बेंतकी सताओको देखनेसे ऐसा जान पड़ेगा गाली गम्भीरा नदी अपने तटरूपी तिनम्बोपरसे अपने जलके बल जिसक जानेपर, लज्जासे अपनी बेंतकी सताओंके हाथसे अपने जलका बल बामे हुए है । यह सब देखकर भैया मेघ ! उसपर भुने हुए तुम बहसि जा न पाओगे, क्योंकि जवानोंका रस से चुकनेवाला ऐसा मोन रगोला होगा जो नाभिनीवी खुली हुई जाँघोंको देखकर उठना रस लिए बिना ही बहसि चल दे ॥४५॥ बहसि चलकर जब तुम देवगिरि पहाड़की ओर जाओगे तब वहाँ धीरे-धीरे बहता हुआ वह

तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेधीकृतात्मा
 पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्योमगङ्गाजलाद्रैः ।
 रचाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना
 मत्स्यादित्यं हुतवहस्रुसे संभृतं तद्धि तेजः ॥४७॥
 ज्योतिर्लेखावलपि गलितं यस्य बर्हं भवानी
 पुत्रप्रेम्णा कुचलयदलप्रापि कर्षो करोति ।
 धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूर
 पश्चादद्रिग्रहलगुरुभिर्गजैर्नर्तयेथाः ॥४८॥
 आराध्यैर्न शरषणभवं देवमुद्गृह्णित्वाध्वा
 सिद्धद्वन्द्वैर्जलकवाभयाद्दीप्तिभिर्मुक्तमार्गः ।
 ध्यातव्येभ्यः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
 स्तोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥४९॥
 त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्षाचौरे
 तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम् ।
 प्रेक्षिष्यन्ते मग्नमगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी
 रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥५०॥

धीतस पवन तुम्हारी सेवा किया करेगा जिसमे तुम्हारे बरसाए हुए जलसे आनन्दकी साँस लेती
 हुई भरतीकी गंध भरी रहेगी, जिसे चिम्मावते हुए हाथी अपनी सूँझसे पी रहे होंगे और जिसके
 चलनेसे वनके झुलहर पनने लग गए होंगे ॥४७॥ उठी देवगिरि पर्वतपर स्कन्द भगवान् भी सदा
 निवास करते हैं । इसलिये वहाँ पहुँचकर तुम पूरा बरसानेवाले गायल वनपर उनपर आकाश-
 गगाके जलसे भीगे हुए फूल बरसाकर उन्हें स्नान करा देना । देखो ! स्कन्द भगवान्की तुम ऐशान-
 र्चमा देवता न समझना । इंद्रकी मेनकाकी वचनेसे जिसे मित्रजीने मूर्खसे भी बाधकर जलता
 हुआ अपना जो तेज अग्निमे डालकर दकट्टा किया था, उसी तेजसे स्कन्दका जन्म हुआ है
 ॥४८॥ यहाँ पहुँचनेपर तुम अपनी बरबसे पर्वतकी गुफाओंकी सँजा देना उसे सुनकर
 स्वामी वासिकेयका वह मोर नाच उठेगा जिससे नेत्रोंके नीचे सरस शिबजीके सिरपर घरे हुए
 चन्द्रमाकी चमकसे शमकते रहते हैं । उस मोरसे भड़े हुए उन पक्षीमे अपनीकी किरणें निवल
 रही होगी, जिन्हें पार्वतीजी, गुप्तापर प्रेम दिखानेके लिये अपने उत बानोपर राजा लेती
 है, जिनपर वे कमलको पेंसली राजाया करती थी ॥४९॥ स्कन्द भगवान्की पूजा करने जय
 तुम पाये वहीमे भी हाथीमे वीणा लिए हुए अपनी जियोके साथ वे सिद्ध लोग तुम्हें मिलेंगे जो
 अपनी वीणा भीजकर विषड जावेगे दरसे तुमसे दूर ही दूर रहेंगे । सब तुम कुछ दूर जाकर उस
 चर्मप्यंती नदीका धादर करनेके लिये नीचे उतर जाना जो राजा रन्तिदेवके पक्षिम यज्ञ परोजी
 कीर्ति वनपर परबोपर बह रही है ॥५०॥ हे मेघ ! जब तुम विष्णु भगवान्का माँवला रूप पुरावर

तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
 पद्मोत्प्लेषादुपरि विलम्बकृष्णशारप्रभाणाम् ।
 कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीगुणामात्मविभ्रं
 पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥५१॥
 ब्रह्मावर्त जनपदमथ च्छायया गाहमानः
 क्षेत्रं चत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेयाः ।
 राजन्यानां सितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा
 धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखाणि ॥५२॥
 हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्गां
 वन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः मिपेये ।
 कृत्वा तासामभिगममणां सौम्य सारस्वतीना
 मन्तः शुद्धस्त्वमपि भविता वर्षमात्रेणकुण्डः ॥५३॥
 तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्ण
 जह्मोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम् ।
 गौरीवयत्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
 शंभोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलम्बोर्मिहस्ता ॥५४॥

पद्मोत्प्लेषात्ताम्रलोके तिष्ठे भ्रुकुटि, उस समय आकाशमे विनश्येवासे सिद्ध, गन्धर्व आदिको
 दूरसे पतली दिसाई देनेवासी उस नदीकी चौड़ी धाराके बीचमे तुम ऐसे-दिसाई दोगे मागो पृथ्वीके
 गतेसे बड़े हुए एकनखे हारके बीचमे एक बड़ी मोटी सी इन्द्रनीलमणि धोइ दी गई हो ॥५०॥
 ब्रह्मावर्त नदी पार करके तुम दशपुरकी घोर बढ जाना घोर धपना रूप विस्त्राकर वहाँकी उन
 रमणियोंकी रिझना, जिनकी कान्ही काली कँटीली भीहि ऐसी जान पड़ेगी माने उन्होंने कुन्दके फूलोपर
 मँटरानेवाले भीरोवी चमक चुरा ली हो ॥५१॥ वहाँसे चलकर ब्रह्मावर्त देशपर छाया बरसे हुए तुम
 उस कुण्डोपर चले जाना जो-भीरवी घोर पाण्डवोंकी धरेखू सडाईके कारण आजतक बदनम है घोर
 जहाँ पाण्डोवधारी भर्जुने अपने शत्रु राजाओंके मुखोपर उगी प्रकार अनगिनत बाण बरसाए थे जैरे
 कमलोपर तुम अपनी जलधारा बरसाते हो ॥५२॥ देखो ! क्रौरव घोर पाण्डव दोनोपर एक-सा प्रेम
 करनेवाले जो बलरामजी, महाभारतके युद्धमे जिझोनी औरसे भी नहीं लड़े, वे अपनी प्यारी रेवतीके
 नेत्रोंकी छाया पड़ी हुई प्यारी भदिराजी छोटकर जिस सरस्वती नदीका जल पीते थे, वही जल यदि
 तुम भी पी लोगे तो बाहरसे फाले होनेपर भी तुम्हारा मन उजला हो जायगा ॥५३॥ कुण्डोपरसे
 चलकर तुम बनसल पहुँच जाना । वहाँ तुम्हें हिमाक्षकी पाटियोंमे उतरी हुई वे मगाजी मिलेंगी
 जिन्होंने सीढ़ी धननर सगरके पुत्रोंको स्वर्ग पहुँचा दिया और जिनकी उजली फेन ऐसी लगती है
 मानो वे दस फेनकी हँसीसे खिलती उड़ाती हुई उन पार्वतीजीका निरादर कर रही हो जो सीतिया

तस्याः पातुं सुरगल इव ज्योमि पथाद्दलम्भी
 त्वं चेदच्छस्फटिकविशवं तर्कयेस्तिर्यग्मन्मः ।
 संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसि च्छाययाऽसौ
 स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेवाभिरामा ॥५५॥
 आसीनानां सुरभितशिलं नाभिमन्वैर्मृगाणां
 तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुपारैः ।
 वक्ष्यस्यध्यश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निपत्यः
 शोभां शुभ्रप्रिनयनवृषोत्प्लातपङ्कोपमेयाम् ॥५६॥
 तं चेड्यायौ सरति सरलस्यन्धसंघट्टजन्मा
 बाधेतोत्काक्षपितचमरीबालमारो दवाग्निः ।
 अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारसहस्रै
 रापभ्रातिप्रशमनफलाः संपदो ह्यचमानाम् ॥५७॥
 ये संरम्भोत्पतनरमयाः स्वाङ्गभङ्गाय तस्मिन्
 मुक्ताध्वानं सपदि शरभा लङ्घयेयुर्मवन्तम् ।
 तान्कुर्वीथास्तुमुलशरकावृष्टिपातावकीर्णान्
 के वा न स्युः परिभयपदं निष्कसारम्भयत्नाः ॥५८॥

बाहूसे गंगाजीपर भीहि तरेर रही हो, और घपनी सहरोके हाथ चञ्चलापर देवकर
 शिवजीके केश पकड़कर पावतीजीको यह बता रही हो कि तुमसे बड़कर शिवजी गैरी मुह्रीमे हैं
 ॥५४॥ यदि वहाँ पहुँचकर तुम दिग्गजोंके समान अपनी विजला भाग ऊपर उठाकर और प्रागेका
 भाग झुकाकर, गंगाजीका स्फटिकसे समान उज्जला जल तिरछे होकर पीना चाहोगे तब तुम्हारी बलती
 हुई छाया गंगाजीकी धाराम पकड़कर ऐसी सुन्दर लगेगी मावो प्रयाग पहुँचनेसे पहले ही गंगाजीसे
 समुताजी मिल गई हों ॥५५॥ वहल्लि चलकर जब तुम हिमालयकी उध हिमसे दबी चोटीपर
 बैठकर बकावट मिटाओगे जहाँसे गंगाजी निकसी हैं और जिसकी सिजार्ह गस्तूरी हरिणोंके तथा
 बैठनेसे महकती रहती हैं, तब उस चोटीपर बैठे हुए तुम वैसे ही दिखताई दोगे जैसे महादेव-
 जीने उजले साँझके सींगोपर मिट्टीके टीलोपर टकुर भारसेही कीचड़ जम गया हो ॥५६॥ है मेघ
 भयङ्क चलनेपर देवदारके वृक्षोंके धावधम रखनेसे जब जगसने प्राग लग जाय और उधने उठते
 हुए अगारे, सुरागापने छबे लगे रोएँ चलाने लगे, तब तुम घुर्घाधार बाबी बरसाकर उसे बुझा देना
 क्योंकि भले सींगोके पास जो कुछ भी होता है वह चीन-बुलियोका दुख मिटानेसे लिये ही तो होता
 है ॥५७॥ देखो ! हिमालयपर जब शरभ जातिके हरिण तुम्हारे दूर होनेपर भी तुमपर बिगड़कर
 उधलनेके लिये मचलें और अपने हाथ पैर लुढ़कानेसे लिये तुमपर सींग चलानेको भयपडेँ, तब तुम
 उनके ऊपर घुर्घाधार ओले बरसाकर उन्हें तितर बितर कर देना । क्योंकि जो बेकामका काम करने

तामुत्तीर्य ब्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
 पद्मोत्पेपादुपरि विलम्बकृष्णशारप्रभाणाम् ।
 कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुपामात्मविम्बं
 पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥५१॥
 ब्रह्मावर्त जनपदमथ च्छायया गाहमानः
 क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भलेयाः ।
 राजन्यानां मितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा
 धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि ॥५२॥
 हित्वा दालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्गां
 वन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः मियेवे ।
 कृत्वा तामामभिगममपां सौम्य सारस्वतीना
 मन्तः शुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेणकृष्णः ॥५३॥
 तस्माद्रन्ध्रेरनुकनरालं शैलराजावतीर्णा
 जहोः कन्यां मगरतनयस्वर्गमोपानपङ्क्तिम् ।
 गौरीवक्त्रप्रभुदिरचनां या विहस्येव फेनैः
 शंभोः केशप्रदण्डमकरोदिन्दुलम्बोर्मिहस्ता ॥५४॥

धर्मपत्नीका जल पानेके लिये झुकोगे, उग समय पावताम विपरनेवासे सिद्ध, गन्धर्व प्रादिको
 दूरमे पाली दिवाई देनेवाली उग नदीकी छोटी भागवे बीचम तुम ऐगे-दिवाई दोगे मागो पृथ्वीके
 गलेमे पड़े हुए एषमडे हारों बीचमे एक बही मोटी सी इन्द्रनीलमणि पोहू दो गई हो ॥५०॥
 धर्मपत्नी नदी पार करवे तुम दणपुरकी घोर घट जाना घोर क्षपणा रूप दिवावर यहाँकी उग
 रमखियोकी रिमाना, जिनकी पानी-पानी बँटीसी अहिं ऐसी जाग पढ़ेकी गानो उगने कुन्दके पूर्वोपर
 मँबरानेयाने भोरोरी कमज बुरा सी हो ॥५१॥ वहाँमे जनवर ब्रह्मावर्त देवावर दाया करवे हुए तुम
 उग कुन्दोपर चने जाना जो कौरवों घोर पाण्डवोंकी परेखु सहाईके कारण शात्रतक बदनाम है घोर
 नही गाण्डीवधारी धर्जुने अपो सखु राजाधोने मुग्धोपर उठी प्रवार सनगिनन बाणु बरणाए थे जंगे
 कमलोपर तुम क्षपणी जनधारा बरसाने हो ॥५२॥ देमो ! कौरव घोर पाण्डव दोनोंपर एक गा प्रेन
 करनेवाले जो धर्मरामजी, महाभारतके मुख्य विमोकी धोरने भी नहीं सके, वे क्षपणी प्यारी रेवतीके
 नेत्रोंकी दाया पटो हुई प्यारी मदिराका शोढकर जिस भरस्वकी नसीबा जन पीने से, यही जल यदि
 तुम भी पी सोगे तो बाह्यसे बाने होगेपर भी तुम्हारा मन उजल हो जायगा ॥५३॥ कुरक्षेत्रमे
 पलवर तुम जनगर पड़ेय जाना । यहाँ तुम्हें हिमालयकी प्रादिकोमे जनकी हुई वे पतात्री गिरोंकी
 जिनमे सीरी कमवर मगरके कुचोंके स्पर्श पड़ेया दिया घोर जिनकी डाँतो पैन ऐसी सपनी है
 मागो दे हम पैनकी हँसीमे निम्नी उराठी हुई उग पार्वतीकीका निरादर कर रही ऐं यो तीव्रता

तस्याः पातुं सुरगज इव ज्योमि पश्चार्द्धलम्बी
 त्वं चेदञ्छस्फटिकविशदं तर्क्येस्तिर्यग्गम्भः ।
 संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसि च्छाययाऽसौ
 स्पादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेवाभिरामा ॥५५॥
 आसीनानां सुरमिताशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां
 तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः ।
 यक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निपण्णः
 शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् ॥५६॥
 तं चेद्वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा
 बाधेतोत्काक्षपितचमरीशालमारो द्वाग्निः ।
 अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रै
 रापन्मार्तिप्रशमनकलाः संपदो ह्युचमानाम् ॥५७॥
 ये संरम्भोत्पतनरमसाः स्वाङ्गभङ्गाय तस्मिन्
 मुक्ताध्वानं सपदि शरमा लक्ष्येयुर्मवन्तम् ।
 तान्कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्
 के वा न स्युः परिभयपदं निष्फलारम्भपरनाः ॥५८॥

बाहसे गंगाजीपर जोहि तरेर रही हो, और अपनी सहरीके हाथ चन्द्रमापर टैककर
 शिवजीके केश पकड़कर पार्वतीजीको यह बतार रही हो कि तुमसे बढ़कर शिवजी मेरी मुट्ठीमें हैं
 ॥५४॥ यदि वहाँ पहुँचकर तुम हिमालयके समान बनना पछिसा भाव ऊपर उठाकर और प्रागेका
 भाग झुकाकर, गंगाजीका स्फटिकके समान उजला जल तिरछे होकर पीना चाहोगे, तब तुम्हारी चसती
 हुई छाया, गंगाजीकी धारामे पड़कर ऐसी सुन्दर सगेगी मानो प्रयाग पहुँचनेके पहले ही गंगाजीसे
 यमुनाजी मिल गई हो ॥५५॥ शृङ्गि पतकर जब तुम हिमालयकी उस हिमसे लकी चोटीपर
 बैठकर मकाबट मिटाओगे जहाँसे गंगाजी निबली हैं और जिसकी खिलाएँ बस्तूरी हरिणीके सदा
 बैठनेसे मद्धकती रहती है, तब उस चोटीपर बैठे हुए तुम वैसे ही दिसलाई होगे जैसे महादेव-
 जीके उजले सौंठके सोंगेपर मिट्टीके टीसोंपर टकुर मारनेसे कोचट जग गया हो ॥५६॥ हे मेघ
 प्रपङ्क चत्तनेपर देवदारके वृक्षोंके छापसमे रगठनेसे जब जगलमे आग लग जाय और उसके उड़ते
 हुए मगारि, सुरगायके लंवे-लवे रोएँ जलाने लगें, तब तुम धुर्पाधार पानी बरसाकर उसे बुझा देना
 क्योंकि भले लोचोंके पास जो कुछ भी होता है वह दीन-दुखियोका दुःख मिटानेके लिये ही तो होता
 है ॥५७॥ देखो ! हिमालयपर जब शरभ जातिके हरिण तुम्हारे दूर होनेपर भी तुमपर दियड़कर
 उड़लनेके लिये मचलें और अपने हाथ-पैर तुझानेके लिये तुमपर गींग चलानेकी भपटें, तब तुम
 उनके ऊपर धुर्पाधार धोले बरसाकर उन्हें तितर-बितर कर देना । क्योंकि जो कामका काम करने

तत्र व्यक्तं दृषदि चरखन्यासमर्धेन्दुमौलेः
 शश्वतिसद्वैरुपचितवलिं मक्तिनम्रः परीयाः ।
 यस्मिन् दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः
 कल्पिष्यन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्धधानाः ॥५६॥
 शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
 संमक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किञ्चरीभिः ।
 निर्हादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्
 संगीतार्यो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥६०॥
 प्रालेपाद्वैरुपतटमतिक्रम्य तौस्तान्विशेषान्
 हंमद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्कौश्वरन्ध्रम् ।
 तेनोदीचीं दिशमनुसरेस्तिर्यगायामशोभी
 श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः ॥६१॥
 गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसंधेः
 कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः ।
 गृह्णोच्छ्वायैः हुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः स
 राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्यादृष्टासः ॥६२॥

लगते हैं, उन्हें ऐसे ही ठीक करना चाहिए ॥५८॥ वहीं हिमालय पर्वतकी एक शिखार तुम्हें
 शिवजीके पैरकी छाप बनी हुई मिलेगी जिसपर भिन्न लोग बराबर पूजा पढ़ावा करते हैं, तुम भी मक्ति-
 नावते हुए पर उठकी प्रदक्षिणा कर लेना क्योंकि अन्ध-भरे सोमोरा वाय उसने दर्शनमें ही गुल जाता
 है और वे गरीर त्याग करनेपर सदाके लिये शिवजीके भग हो जाते हैं ॥५९॥ हे मेघ ! वहाँके
 पोले पत्तोंमें जय वायु भरने लगता है तब उनमेंसे पीछे-पीछे स्वर निकलने लगते हैं और किन्नरोंकी
 झ्रियाँ भी स्वर मिलाकर निपुर विजयवा गीत गाने लगती हैं । उस समय यदि तुम भी गरजकर
 पहाड़की ओहोकी मृजाकर मृदगके समान धब्ब कर दोगे तो शिवजीके सगेतने सब धंग पूरे हो
 जायेंगे ॥६०॥ हिमालय पर्वतके छाप-पास जितने मुद्गबने स्थान हैं, उन सबको देखकर तुम उस कोश
 रघमेंसे होते हुए उत्तरकी ओर निकल जाना जिसमेंसे होकर हनु भी मानसरोवरकी ओर जाते हैं और
 जिन पर घुरासत्रोंने अपने बागमें देखकर अपना नाम धमर कर लिया है । उस नक्षत्रे मार्गमें तुम धंसेगे
 सवे ओर तिरछे होकर जाना जंगे बलिकी धननेके समय भगवान् विष्णुका मीसना करण तथा ओर
 तिरछा हो गया पा ॥६१॥ वहाँमें ऊपर उठकर तुम उस कैलास पर्वतपर पहुँच जाओगे जिनकी ओटियों
 के ओर-ओर रागमें बाहुओंमें हिमा डाले थे, जिनमें देवताओंकी झ्रियाँ धारा मूँ देना जाती हैं
 और जितनी हुमुद जैसी उजमी ओटियाँ आकाशमें इस प्रकार पड़ी हुई हैं मागो वह दिन-दिन

उत्परयामि त्वयि तटयते स्निग्धमिच्छाञ्जनामे
सद्यः कृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य ।
शोभामद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री
मंसन्यस्ते सति हलमृतो मेचके वासगीव ॥६३॥
हित्वा तस्मिन्मुञ्जवलयं शंभुना दचहस्ता
क्रीडाशैले यदि न विचरेत्पादचारेण गौरी ।
भङ्गी भक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलीवः
मोपानत्वं कुरु मंशितटारोहसायाग्रयायी ॥६४॥
तत्रावरणं यत्पङ्कजनिशोद्धनोद्गीर्णतोयं
नेप्यन्ति त्वां सुरधुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम् ।
ताभ्यो मोक्षस्तव यदि सखे धर्मलब्धस्य न स्यात्
क्रीडालोलाः श्वनखपरुषैर्गलितैर्भीषयेस्ताः ॥६५॥
हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः
कुर्वन्कामं क्षणमुत्पटप्रीतिमैरावतस्य ।
धुन्वन्कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव वातै
नानाषेष्टैर्जलद, ललितैर्निर्दिशेत्वं नमेन्द्रम् ॥६६॥

बनद्वार विषा वृषा शिवजीका बहुज्ञात हो ॥६२॥ हे मेघ ! तुम तो हो चिकने घुटे हुए मीनके समान काले, और कैलास है तुरत काटे हुए हाथी दाँतके समान गोरा । इसलिये जब तुम कैलासके ऊपर पहुँचोवे उस समय तुम वैरी समग्रमें इतरामके कधीपर पड़े हुए चटकीले चखके समान ऐसे मनोहर लगोगे कि आँखें एकटक तुम्हें ही देखती रह जायें ॥६३॥ उस कैलासपर जब पार्वतीजी उन महादेवजीके हाथमें हाथ डाले टहल रही हो जिन्होंने पार्वतीजीके डरसे अपने साँपोंके कड़े हाथके छतार बिंद होये और वे ममिष्ठ जिसरोपर पड़ रही हो, उस समय तुम बरसना मत, बरद धागे बटवर सीटीके समान वन जाना जिससे जगहें ऊपर चढ़नेमें सुविधा हो ॥६४॥ हे मित्र ! उस पर्वतपर बहुत-सी प्रपनारएँ अपने नव-जड़े कमलोंकी भोर कुम्हारों की छरीमें चुभोकर कुम्हारों की छरीमें लज-पाटाएँ निकाल सेंगी और तुम्हें फुहारका धर बना डालेंगी । उस समय यदि वे अपने गर्म शरीरोंकी ठंडक मिलानेके कारण तुम्हें न छोड़ें तो तुम उस सिलाही देवप्रपनारोंसे छुटकारा पानेके लिये काम पादनेवाला प्रपना गर्जन सुनाकर उन्हें डरा देना ॥६५॥ देखो ! वहाँ पहुँचकर पहले तो तुम उस मानसरोवरका जल पीना जिसमें सुनहरे नमन मिठा करते हैं । ऐरावतके मूँदपर थोड़ी देर कपड़े-सा ढाँकर छाका मन बहुसा देना, फिर आकर कल्पद्रुमके नीचल पत्तोंकी महीन कपड़ेकी भाँति हिला देना । ऐसे ऐसे बहुत-से खेल करते हुए तुम कैलास पर्वतपर जो भरकर

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगंगादुकूलां
 न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकं जास्पसे कामचारिन् ।
 या वः काले वहति सलिलोद्गारमुर्च्यन्मिमाणा
 मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाग्नवृन्दम् ॥६७॥

॥इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ मेघदूते काव्ये पूर्वमेघः समाप्तः॥

पूमान् ॥६६॥ उसी कंलास पर्वतकी गोदमें सलवापुरी बंसे हो बसी हुई है जैसे अपने प्यारेकी गोदमें कोई कामिनी बंठी हो घोर वृत्ति निजली हुई गंगाजीकी धारा ऐसी लगती है मानो उस कामिनीके शरीरपरसे सरकी हुई उसकी छाडी हो। यह गहो हो सनता कि ऐसी सलवाको देखकर तुम पहचान न पाओ। ऊँचे-ऊँचे भयनोशती सलवापर यहाँके निर्मोहे बरसते हुए बादल ऐसे छाए रहते हैं जैसे कामनिर्मोके शिरपर मोती गुंथे हुए लूहे ॥६७॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके बनाए हुए मेघदूत काव्यमें पूर्वमेघ समाप्त हुआ ॥

॥ उत्तरमेघः ॥

विद्युत्पन्नं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
 संगीताय ग्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ।
 अन्तस्तोयं मणिमयमुवस्तुद्रमभ्रंलिहाग्राः
 प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तेस्तैर्विशेषैः ॥१॥
 हस्ते लीलाकमलमलके बालमुन्दानुविद्धं
 नीतलोभप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः ।
 चूडापाशे नवकुरवकं चारु कर्णे शिरीषं
 सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥२॥
 [यत्रोन्मचभ्रमरमुखराः पादपा नित्यपुष्पा
 हंसश्रेणीरचितरशना नित्यपद्मा नलिन्यः ।
 कैकोत्कण्ठा भवनशिशिनो नित्यभास्वत्फलापा
 नित्यज्योत्स्नाः प्रतिहतसमोदृचिरम्याः प्रदोषाः] ॥३॥
 आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै-
 रनन्यस्तापः कुसुमशरजादिएसंयोगसाध्यात् ।
 नाप्यन्यस्मात्प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति-
 विज्ञेयानां न च खलु ययो यौवनादन्यदस्ति ॥४॥

उत्तरमेघ

हे मेघ ! प्रलकापुरीके ऊँचे-ऊँचे मदन सब बातोंमें तुम्हारे जैसे ही हैं । यदि तुम्हारे पास विजली है तो उन मयनोंमें भी बटकीसी बारियाँ हैं, यदि तुम्हारे पास इन्द्रपद्म है तो उन मयनोंमें भी राग-द्विरे बिज सटके हुए हैं । यदि तुम मृदु-गम्भीर गर्जन कर सक्ते हो तो वहाँ भी संगीतके साथ मृदग बजते हैं, यदि तुम्हारे भीतर नीला जल है तो उनकी धरती भी नीलनसे जड़ी हुई है और यदि तुम ऊँचे चढ़े हुए हो तो उनकी सटावियाँ भी घागास घूमती हैं ॥१॥ देखो ! वहाँकी कुलवधुएँ हाथोंमें नगलने बाभूपण पहनती हैं, अपनी सोटियोंमें नये लिले हुए कुन्दके फूल सूँघती हैं, अपने मूँहकी सोझने फूलोंवा पटाप मतकर मोरा बहती हैं, अपने कूँडेमें नये कुरवकके फूल खोसती हैं, अपने बालोंपर हिरणके फूल रखती हैं और वपमिं फूल उठनेवाले बदनके फूलोंमें अपनी माँग सँवार करती हैं ॥२॥ वहाँपर मदा फूलनेवाले ऐसे बहुतने वृक्ष मिलेंगे, जिनपर मतवाले पोरि मुनमुनाते होंगे । वहाँ बारहमासी बगल और बगलिनियोंकी हगोकी पत्तें घेरे रहती हैं । वहाँ मदा चमकीले पत्तोंवाले नामनू मोर ऊँचा धिर धिए हुए रात दिन चोन्ने रहते हैं और वहाँकी रातें मदा चाँदनी रहनेसे बड़ी उजली और मनभावनी होती हैं ॥३॥ वहाँ रहनेवाले बजोरी घाँगोंमें केवल पावनदे ही मौजू

यस्यां यत्नाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
 ज्योतिस्त्रयाकुसुमरचितान्युचमस्त्रीसहायाः ।
 आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसृतं
 त्वद्गम्भीरघ्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥५॥
 मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भि-
 र्मन्दाराणामनुतटरुहां छाद्यया वारितोष्णाः ।
 ध्रुवेष्वेष्टैः कनकसिक्तामुष्टिनिषेपगूढैः
 मंकीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः ॥६॥
 नीवीयन्धोच्छ्वसितशिशलं यत्र विम्याघराणां
 क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु ।
 अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्
 ह्रीमूढानां भवति निफलप्रेरया चूर्णमुष्टिः ॥७॥
 नेशा नीताः सतगतिना यद्विमानाग्रभूमि-
 रालेख्यानां नवजलकषैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः ।
 शङ्कास्पृष्टा इव जलमृचस्त्यादृशा जालमार्गै-
 र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥८॥

माते हैं। प्यारेके मिलनेसे दूर हो जानेवाली विरहको जलनकी छोड़कर और किसी प्रकारकी जलन
 वहाँ नहीं होती। प्रेमसे छूटनेको छोड़कर और कभी किसीका बिनासे बिछोह नहीं होता और जबानी-
 की व्यवस्थाको छोड़कर दूसरी व्यवस्था वहाँ नहीं पाई जाती ॥४॥ वहाँके यश अपनी शलधेसी स्त्रियोंको
 लेकर स्फटिक मणिके बने हुए अपने उन अपनीपर बैठते हैं जिनकी पचरर पड़ी हुई तारोंकी छाया
 ऐसी जान पड़ती है मागो फूल टँके हुए हो। वहाँ बैठकर वे लोग कामदेवको उभारनेवाला वह मधु
 भी रहे होवे जो उन बाजोंके मन्द-मन्द बजनेपर कल्पवृक्षसे निजलता है तो तुम्हारे गभीर
 गर्जनके समान ही गूँगा करते हैं ॥५॥ वहाँकी कन्याएँ इतनी सुन्दर हैं कि देवता भी उन्हें पामेवे
 लिये तरसते हैं। वे कन्याएँ, मन्दाकिनीके जलकी पुहारसे ठंडाए हुए पवनसे, तटपर खड़े हुए वरुण-
 वृक्षोंकी छायामें अपनी छपन मिटाती हुई, अपनी मुठ्ठियोंमें रत्न लेकर उनकी मुंहसे बाजने डालकर
 छिपाने और डूँढ़नेका खेल खेलती हैं ॥६॥ वहाँके प्रेमी लोग सयोगके लिये अपने धवल हाथोंसे
 अपनी प्यारियोंकी कमरकी गाँठें खोलकर जब उनकी डोली छादियोंकी हटाने लगते हैं तब वे लाजसे
 हतनी सटुवा जाती हैं कि वे और कुछ न पाकर मुझमें गुनाह भरकर ही अबमगाते हुए रत्न दीपों-
 पर फेंकने लगती हैं, पर उनका गुनाह फेंकना सब प्रकारम ही जाता है ॥७॥ हे मेघ ! तुम्हारे जैसे
 बहुतसे यादल, वायुके भोवने से साथ बहाने सत राते नवनोने अपनी पक्षोंमें पुगकर भीतपर टँगे
 हुए विधियोंके पदमें जलकषोंमें विधियोंके मिटा दते हैं और फिर, वे धुँढ़ना रूप बनानेमें पतुर
 दादल, हरने मारे ऋतसे ऋतोंकी जातियोंमें छिद्रा-द्विजराजकर निजस भागते हैं ॥८॥ वहाँ

यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजासिङ्गनोच्छ्वासिताना-
मद्गन्तानि सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बाः ।
त्वत्मंरोधापगमविशदैश्चन्द्रपादैर्निशीये
न्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः ॥६॥
अक्षयान्तर्भवनिघणः प्रत्यहं रक्तकण्ठै-
रुद्गायद्विर्धनपतिपशः किन्नरैर्यत्र सार्धम् ।
वैभ्राजास्यं विभुषयनिवाहारमुख्यामहाया
बद्धास्तापा बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति ॥१०॥
गत्पुत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिमिश्र ।
मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै-
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूर्यते कामिनीनाम् ॥११॥
पासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदत्तं
पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान् ।
लाघारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या-
मेकः सते सकलमवलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥१२॥

भाषी रातके रागम, सुती चाँदनीमे, भासरीमे लटके हुए बन्दकान्त मलियौसे दपकता हुमा जल उन खिलौकी बकावट दूर परता है जिनके शरीर प्रियतमकी भुजाभोग कसे रहनेसे डीले पड़ जाते हैं ॥६॥ वहाँ मघाह सपत्तिवाले कामी लोग अम्बरामो के साथ बातें करते हुए धीरे जैसे घरमें भीठे गलीसे दुबेरका पत्र मानेवाले गिल्लरोके साथ बँटे हुए वैभ्राज नामके बाहरी उपवनमें रात-दिन बिहार किया करते हैं ॥१०॥ वहाँ की कामिनी झिझा जब रात को अपने प्रेमियोंके पास बरुदी-जल्दी पैर बढ़ाकर जाने लगती हैं, उस समय उनकी चाँदनीमे बुंधे हुए कल्पवृक्षके फूल और पत्ते लिसकर निकल जाते हैं, कामोपर घरे हुए सोनेके कमल गिर जाते हैं और हारोसे टूटे हुए मोड़ी भी इपर-उपर बिसर जाते हैं । दिन निकलने पर इन वस्तुओंको मागने बिलटा हुमा देखकर लोग समझ लेते हैं कि ये कामिनी झिझा निधर-किधरते होकर अपने प्रेमियों के प्राय पहुँची होगी ॥११॥ वहाँ रग-बिरसे वस्त्र, नेत्रोमे बाँकापन बढ़ानेवाली मँदिरा, कोमल पत्ते और फूल, दप-उपने प्राभुपण, पैरोमें लगानेका महावर आदि स्त्रियोंके सिंगारकी जितनी वस्तुएँ हैं सब अपने-कल्पवृक्षसे ही मिल जाती है ॥१२॥ पत्तेके सुगन्ध सौन्दे बहूँके बोझे अपने रग और अपनी चालमें धूँके मोहोको भी कुछ नहीं लगभते । यहूद जैसे ऊँचे-ऊँचे डील-डोलवाले वहाँके हाथी वैसे ही मद मरखाते हैं जैसे गुप्त पानी बरसाते हो और वहाँ के लटकने अपने सब प्राभुपण छोड़कर बस उन पावोंके चिह्नोको ही प्राभुपण समझते हैं जो उन्होंने रागएते सटते

पत्रस्यामा दिनकरहयस्पर्धिनो यत्र वाहाः

शैलोदग्रास्त्वमिव करिणो वृष्टिमन्तः प्रभेदात् ।

योधाग्रण्यः प्रतिदशमुखं मंयुगे तस्थिवांसः

प्रत्यादिष्टामरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणाङ्कैः ॥१३॥

मत्स्या देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं

प्रायश्चार्यं न वहति भयान्मन्मथः पट्पदज्यम् ।

सभ्रभंगप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोचै-

स्तस्पास्मश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः ॥१४॥

तत्रागारं धनपतिगृहानुचरेणास्मदीयं

दूरान्तलक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तीरखेन ।

यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे

हस्तप्राप्यस्तत्रकनामतो बालमन्दारवृक्षः ॥१५॥

वापी चास्मिन्मरकतशिलावद्धसोपानमार्गा

ह्रैमैश्छा विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः ।

यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं संनिगुप्यं

नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः ॥१६॥

तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः

क्रीडाशैलः कनकदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः ।

मद्गोहिन्याः प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण

प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥१७॥

हुए वसती चन्द्रहास नामकी बरयामरी खाए मे ॥१३॥ वहींपर कुयेरके मिय शिवजी भी रत्ना भरते हैं इनलिये बरने मारे वामदेव धनता भीरीकी लीरीवाला धनुष वही नहीं पडाता परन्तु वहीकी धनोनी धनुर क्षिपी जो धनने प्रेमियोकी धीर बाँकी चितवन चसाती है उसीसे वामदेव धनता धनुषका वाम निवाल लेता है ॥१४॥ वही कुयेरके मयनसे उत्तरकी धीर इन्द्रधनुषके समान सुन्दर गोल पाटकावाला हमारा घर तुम्हें दूरसे ही दिखाई पडेगा । उसीके पास एक छोटा सा वल्लवृक्ष है जिसे मेरी स्त्रीने पुत्रके समान पास रक्ता है । वह पुराने मुण्डोसे इतना मुका हुआ होगा कि नीके गटे लहे ही ये गुण्डे हाथसे लोहे जैसा सजते हैं ॥१५॥ भीषण परमे जानेपर तुम्हें एक वापसी मिलेगी शिखरी मीड़ियोंपर नीलम नका हुआ है धीर जिससे बिबने खेदूधं मणिकी कण्ठवाले बहुतसे गुनहारे बसल मिले हुए होंगे । उसने जन्ममें बसे हुए हम इतने गुनी है कि मानसरोवर-ने इतने पास लगे हुए भी तुम्हें देखकर ये वही नहीं जाना चाहेंगे ॥१६॥ उत बावटीके तीरपर एक बनावटी पहाक है, जिसकी बाटी नीलमणिकी बनी हुई है धीर जो चारों ओरसे लोनेके बेलों

रक्ताशोकथलकिसलयः केसरथात्र कान्तः

प्रत्यासन्नौ कुरचकवृत्तेर्माधवीमण्डपस्य ।

एकः सख्यास्तव सह मया वामपादामिलायी

कादृक्षत्यन्यो वदनमदितां दोहदच्छन्ननास्याः ॥१८॥

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-

मूर्त्ते बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः ।

तालैः शिञ्जावलथसुभगेर्नर्तितः कान्तया मे

यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुदृढः ॥१९॥

एभिः साधो ! हृदयनिहितैर्लक्ष्मैर्लक्षयेथा

द्वारोपान्ते लिखितचपुषी शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा ।

सामच्छायं भवनमधुना मद्वियोगेन नूनं

द्वयापाये न खलु कमलं पुष्पति स्वामयिख्याम् ॥२०॥

गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसंपातहेतोः

क्रीडाशौले प्रथमकथिते रम्यसानी निपण्णः ।

अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमत्पारुषभासं

उद्योतास्तीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ॥२१॥

से घिरा होनेके कारण देखते ही घबराता है । देखो मित्र ! जबत मेरी घरवाली को बड़ा प्यारा है इसलिये जय में तुम्हें बिजलीके साथ देखता हूँ तब मेरा मन झकेतर होनेसे उदास हो जाता है और वह पहाड़ मेरी आँखों के आगे नचने लगता है ॥१७॥ उस बनावटी पर्वतपर कुरचनके वृक्षोंसे घिरे हुए मापकी मकपने पास ही एक ती बचल पत्तीवाला लाल मसोबका बुझ लवा है और दूसरा नीलतिरीका पेड़ है । जैसे मैं तुम्हारी सखीके पैरकी ओवर खानेके निय तरत रहा हूँ जैसे ही वह मसोक भी फूलनेका बहाना लेकर मेरी पत्तीके बाएँ पैरकी ओकर खानेके लिए तरत रहा होगा और दूसरा नीलतिरीका पेड़ भी उसके मुँहसे निकले हुए मदिराके छोटे पाना चाहता होगा ॥१८॥ उन दोनों वृक्षोंके गये दाँतके समान चमकीले मखियोसे बनी हुई एक चौकी है, जिसके ऊपर स्फटिककी एक चौकीपर पटिया रखी हुई है । उस पटियापर बसी हुई एक सोनेकी छहपर तुम्हारा मित्र मोर निज सम्झी धानार बंठा करता है और मेरी स्त्री उसे अपने घुँवखदार बजेवाले हाथोंसे तालिमो बजा-अजावर नचाया करती है ॥१९॥ हे साधु ! यदि तुम मेरे बताए हुए ये चिह्न भली भाँति स्मरण रखोगे और मेरे द्वारपर खल और पक्षके चित्र देख लोगे तो तुम मेरा घर अवश्य पहचान लोगे । मेरे बिना वह भवन बड़ा सूना-सूना-सा और उदास-सा दिखाई देता होगा क्योंकि सूर्यके क्षिप्त जानेपर तो बमल उदाग हो ही जाता है ॥२०॥ देखो ! यदि तुम्हें मेरे घरके अटने गठना हो तो चटते हाथीके बच्चे जैसे छोटे बनकर परमे खेलके लिए बनाई हुई पहाड़ीकी मुहावनी बोटीपर जा

तन्वी श्यामा शिखरिदशना एकविम्बाधरोष्ठी

मध्ये चामा चकितहरिणीप्रेक्षया निम्ननाभिः ।

श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां

या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव घातुः ॥२२॥

तां जनीयाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं

दूरीभूते मयि सहचरे चकवाकीमिवैकाम् ।

गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां

जातां मन्ये शिशिरमयितां पविनीं धान्यरूपाम् ॥२३॥

नूनं तस्याः प्रवलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया

निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम् ।

हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-

दिन्दोर्देन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्विभर्ति ॥२४॥

आल्लोके ते निपतति पुरा सा बलिप्याकुला वा

मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती ।

पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां

कश्चिद्भर्तुः स्मरति रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ॥२५॥

बंठना और फिर अपनी विजलीकी भाँसें जुगनुभोके समान बोड़ी-बोड़ी-सी कमबान्तर मेरे परके भीतर भाँकना ॥२१॥ वहाँ जो दुबली-पतली, नन्हें-नन्हें दाँतोंवाली, पके हुए बिबाफलके समान लाल भोठोंवाली, पतली कमरवाली, ठरी हुई हरिणी समान घोंघोवाली, गहरी नाभियाली, मिताभोंके बोझले पीरे-पीरे घननेवाली और स्तनोंके भारसे कुछ घायेको झुकी हुई गुवती तुम्हें दिखाई दे वही मेरी पत्नी होगी । उसकी सुन्दरता देखकर यही जान पड़ेगा मानो ब्रह्माकी सबसे बढ़िया बारीगरी बही हो ॥२२॥ अपने छापीले बिछुरी हुई चकवीके समान भवेली रङ्गनेवाली और कम बोलनेवाली उस सुन्दरीको देखकर ही तुम समझ जाँगे कि वह मेरा दूतच प्राप्त ही है । बिरहके कठोर दिन बड़ी उतावलीसे बिताते-बिताते उसका रूप भी बदल गया होगा और जो देवकर तुम्हें यह धोखा हो सकता है कि यह कोई बाला है या पानेने मारी हुई कोई कमलिनो है ॥२३॥ देगो मेघ ! मेरे बिछोहने रोते-रोते मेरी प्यारीकी घाँसें सूज गई होंगी, गर्म साँतोमे समके भोठोंका रंग पीला पड़ गया होगा, चिन्ताके बरसण माँतोपर हाथ भरनेसे और बातोंके मूँहपर घा जानेसे उसका चपूरा दिखाई देनेवाला मूँह मेघने ढके हुए पन्द्रमाके समान घुंघता और उदास दिखाई दे रहा होगा ॥२४॥ देगो मेघ ! या तो वह तुम्हें वहाँ देखताघोरो पूजा पड़ाती मिलेगी या अपनी बन्तनामे मेरे हम बिरहने दुबले धरोरवा चिन्त बनाती मिलेगी या पित्रदेमैं बँटी हुई मिठवीकी बँताने यह पूछनी मिलेगी कि हँ बँता ! तुम घरने जिन पानिबी प्यारी हो, उमे भी कभी स्मरण करनी हो ? ॥२५॥ या भैया ! यह मैंने कहीं पढ़ने हुए,

उत्सङ्गे वा भलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
 मद्रोवाङ्गं विरचितपदं गेष्ममुद्रातुक्कमा ।
 तन्त्रीमाद्री नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचि-
 द्भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥२६॥
 शेषन्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
 विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीटचपुष्पैः ।
 मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
 प्रायेस्यैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः ॥२७॥
 सव्यापारामहनि न तथा पीडयेन्मद्वियोगः
 शङ्के रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखीं ते ।
 मत्संदेष्टीः सुखयितुमलं पश्य साध्वीं निशीथे
 तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः ॥२८॥
 स्निग्धाः सख्यः कथमपि दिवा तां न मोक्षयन्ति तन्वी-
 मेकप्रस्था भवति हि जगत्पञ्जनानां प्रवृत्तिः ।
 स त्वं रात्रौ जलद शयनासन्नवातायनस्थः
 कान्तां सुप्ते सति परिजने वीतनिद्रामुपेयाः ॥२९॥

गोदमे वीणा लिए, जैसे स्वरसे मेरे नाथवाने गीत गाती मिलेगी । उस समय वह अपनी झालीके भाँसुघोरे भीगी हुई वीणाको तो जैसे लेंगे पीछे लेगी पर मेरा स्वरए आ जानेसे वह ऐसी मेघुप हो जायगी कि अपने सचे हुए स्वरीके उताड़ बड़ावको भी वह बारबार झूलती जा रही होगी ॥२६॥ या मेरे बिरहक दिनसे ही यह देहलीपर जो पून निश्च रखती चली है उन्हे भरतीपर फँसाकर गिन रही होमी कि घण बिरहसे कितने महीने बच गए हैं । या फिर वह मेरे साथ किए हुए सम्भोगके आनादका मन हो मन रख लेती हुई बँठी होगी, क्योंकि अपने प्यारीके बिछोहसे खियाँ प्राय ऐसी ही बलीम अपने दिन काटती है ॥२७॥ हे मित्र ! तुम्हारी सखीके इन कामोने सने रहनेके कारण दिनमे तो उसे मेरा शिषोह कुछ नहीं सताता होगा पर मुझे डर है कि रातके लिये कुछ नाम न होनेसे उनकी रात बड़े कष्टसे बीतती होगी । इसलिये मेरा सदैव सुनाकर उसे सुख देनेके लिये तुम झाली रातको मेरे मकानसे झरोखेपर बैठकर उसे देलना, क्योंकि उस समय वह तुम्हे भरतीपर उनीदी सी पड़ी मिलेगी ॥२८॥ देखो ! उसरी प्यारी सखियाँ, उस कोमल देहवालीको दिनमे कभी झकेली नही छेड़ेंगी, क्योंकि ससारसे सजी खियाँ, अपनी सलियोंके दु समें कभी उनका साम नहीं छोड़ती । इसलिये तुम उसके पलपके पासवाली बिडकीपर बैठकर मोटी डेर परसना भीर जब ये सलियाँ तो जायँ तब रातको मेरी जायती हुई प्यारीके पास पहुँच जाना ॥२९॥ धीर वहाँ तुम मेरी प्यारीको ढूँढ लेना, जो वही कही भरतीपर एक क्षणट पड़ी होगी । उसक पास पास मौलियोंने हारके टूटे हुए टुकड़ोने समान धाँसू बिखरे हुए होने धीर वह अपने बड़े हुए नलीवाले हाथव अपना उस दनहरी थोडोने उन रखे धीर जलमे हुए

अन्वेष्टव्यामवनिशयने सन्निकीर्णैकपार्श्व

तत्पर्यङ्कप्रगलितनयैश्छिन्नहारैरिवासैः ।

भूपो भूयः कठिनविपमां सादयन्तीं कपोला-

दामाक्तव्यामयमितनखेनैकवेर्षीं करेण ॥३०॥

आधिदामां विरहशयने संनिपण्णैकपार्श्व

प्राचीमूले तनुमिव क्लामात्रशेषां हिमांशोः ।

नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या

तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥३१॥

पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टा-

न्पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिष्टुचं तथैव ।

चक्षुः खेदात्सलिलगुरुभिः पद्मभिरुद्धादयन्तीं

साम्रेऽह्नीवस्थलकमलिनीं न प्रयुद्धां न सुप्ताम् ॥३२॥

निःश्वासेनाधरकिमलयक्लेशिना विनिपन्तीं

शुद्धस्नानात्परुपमलकं नूनमागण्डलम्बम् ।

मत्संभोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-

भाकाद्द्वन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् ॥३३॥

शालीको अपने गालोपरसे बार-बार हटा रही होगी जो अब उसके घीसनेपर ही मुसझाए जा सकेंगे ॥३०॥ देखो ! जो प्यारी, मेरे साम की भरबर सभोग करके पूरी रात दाख भरके समान बिता देती थी वही आज पिछोहकी बिन्तासे सूखी हुई और सूने पर्यंगपर एक करघट लेटी हुई पुरबके खिचिलपर पहुँचे हुए एक कल्ला भर बने हुए चन्द्रमाके समान दुबली होकर अपनी रातें धर्म प्राप्त बहान्यहाकर बिता रही होगी ॥३१॥ जानियोगेसे छनकर जो चन्द्रमाकी किरणें आ रही होंगी उन्हें वह समझती होगी कि पहले सुखके दिनोंमें वे जैसी प्रयुक्तके समान ठण्डी थी वैसे ही अब भी होगी और वही समझकर वह उन किरणोंकी ओर मुँह करेगी परकिर विरहके बारण जप के किरणें उसे जलाने लगेंगी तब वह अपनी आँसू-नारी आँखें पलकोंसे ढक लेगी । उस समय मेरी प्यारी ऐसी दिखाई देगी जैसे बदलीके दिन धरतीपर खिलनेवाली कोई अधखिली नमलिनो हो ॥३२॥ मेरे विरहमें वह आनन्दन कोरे जलसे ही नहाती होगी इसलिये उसने अपने ओर बिना धोवारे हुए बाल, उसके गालोपर सटककर उसके पतले ओठोंको उपानेवासी साँससे छिल रहे होंगे । वह बारबार यह सोचकर अपनी आँखोंमें नींद बुला रही होगी कि किसी प्रकार स्वप्नमे ही प्यारेते सभोग हो पाय पर भाँगोते लगातार बहते हुए आँसू, उसकी आँखें भी नहीं लगने देते होंगे ॥३३॥ विद्युत्के दिन्ते ही उसने अपने लूबकी माता सोसकर जो वह दबहरी छोटी बाँध ली थी जिसे छूनेमें भी उसे पीटा होती है और जिसे घायल करने पर मैं ही गुलसे खोलकर बाँधूँगा, उसी उलझी और बिसरी हुई रुखी मोटीको वह अपने बड़े हुए बसोंवाले हाथोंमें अपने बड़े हुए गालों परसे बार-बार

आद्ये वद्धा विरहदिषसे या शिखा दाम हित्वा
 शापस्यान्ते विमलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयाम् ।
 स्पर्शकिलष्टामयमितनखेनासकृत्सारयन्तीं
 गण्डाभोगात्कठिनविपगामेकवेणीं करेण ॥३४॥
 सा संन्यस्ताभरणमवला पेशलं धारयन्ती
 शय्यात्सङ्गे निहितमसकृदुःखदुःखेन गात्रम् ।
 त्वामप्यसं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
 प्रायः सर्वो भवति करुणावृचिराद्रान्तरात्मा ॥३५॥
 जाने सख्यास्तव मयि मनः संभृतस्नेहमस्मा-
 दित्यंभूतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि ।
 वाचालं मां न खलु सुमगम्मन्यभावः करोति
 प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद्दृशातर्कतं मया यत् ॥३६॥
 रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं
 प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतम्रबिलासम् ।
 त्वय्यासजे नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या
 भीनचोभाचलकुवलयभीतुलामेष्यतीति ॥३७॥
 वामश्वास्याः कररुहपदैर्मुच्यमानो मदीयै-
 र्मुक्ताजाल चिरपरिचितं त्याजितो दैवमत्मा ।

हुआ रही होगी ॥३४॥ जब तुम देखोगे कि वह बेकारी बार-बार दु खले पड़ाउ जा-जाकर पलंगके पास पड़ी हुई, किसी-किसी प्रकार मगने बिना आभूषणोंवाले कोमल शरीरको सँभाले हुए है तब तुम भी उसकी दृष्टापर अपने नये जसके भाँसू बहाए बिना न रह सकोगे क्योंकि दूसरीका दु ख देख-
 कर कौन ऐसा कोमल हृदयवाला है जो पसीज न जाय ॥३५॥ मैं जानता हूँ कि तुम्हारी सखी मुझे जो भरकर प्यार करती है इसीलिये मैं सोचता हूँ कि वह इस पहले पहलेके बिलोद्वेष्टे दुबली हो गई होगी । यह न समझो कि ऐसी पतिव्रता स्त्रीका पति होनेके सोभाग्यसे मैं इतना बड़-बड़कर बोल रहा हूँ वरन् भैया ! मैंने जो कुछ कहा है वह सब तुम्हारी आँसोंके सापने ही सा जायगा ॥३६॥
 जब तुम उसके पास पहुँचोगे तब उस मृगनयनीकी यह वाई आँख फटक उठेगी जिसपर बाल फैले हुए होंगे, जो भीनन लगनेसे रुंधी हो गई होगी और जो बहुत दिनोंसे मदिरा न पीनेके कारण भीड़े पलाना भी भूल गई होगी । उस समय पड़वती हुई वह वाई आँख उस नीले कमल-
 जंसी सुन्दर दिखाई देगी जो मछलियोंके इधर-उधर घाने-जानेले कौप उठा करता है ॥३७॥
 तुम्हारे पहुँचते ही, नये फैलेके खमेके सपान उसगी यह गोरी-गोरी वाई आँख भी पशव उठेगी जिसे मैं सभोग कर चुकनेपर अपने हाथसे दबाया जरूज था । उस जाँघपर न तो तुम्हें मेरे हाथके नख-

संभोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनां
 यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम् ॥३८॥
 तस्मिन्काले जलद यदि सा लब्धनिद्रासुरा स्या-
 दन्वास्यैनां स्तनितविमुखो याममात्रं सहस्र ।
 माभूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वप्रलब्धे कथंचि-
 त्सद्यःकस्त्युतमुज्ज्वलताग्रन्थि गाढोपगूढम् ॥३९॥
 , तामुत्थाप्य स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन
 प्रस्थाप्यस्तां सममभिनववर्जालकैर्मालतीनाम् ।
 विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाधे गवाक्षे
 वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मार्निनीं प्रक्रमेथाः ॥४०॥
 भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहं
 तत्संदेशैर्हृदयेनिहितैरागतं त्वत्समीपम् ।
 यो वृन्दानि त्वरयति पथि भ्राम्यतां प्रोपितानां
 मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेशिभोचोत्सुकानि ॥४१॥
 इत्याख्यते पवनतनयं मैथिलीधोन्मुखी सा
 त्वामुत्कण्ठच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य संभाव्य चैवम् ।
 शोभ्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य सीमन्तिनीनां
 कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमार्त्तिकचिदूनः ॥४२॥

चिह्न हो बने मिलने धीर न दुर्भाग्यवत्ता उसपर वह मोक्षियों की करघनी ही पटी मिलेगी जिते वह
 बहुत दिनोंसे पहनती चली या रही थी ॥३८॥ हे मेघ ! तुम्हारे पहुँचनेपर यदि उरी कुछ नींद
 माने लगे तो तुम उसके पीछे चुपचाप एक पहर ठहर रहना जिससे यदि मेरी प्यारी कहीं स्वप्नमे
 मुझसे बचकर लिपटी हुई हो तो मेरे कठम पड़ी हुई उसकी मुजाएँ भयानक नींद दृष्टनेरो सूट न
 पड़े ॥३९॥ एक पहर ठहरनेपर भी वह धीलों न शोल तो तुम मावतीये नये दूरीके समान
 गोमल मेरी प्यापीकी, अपने जसकी कुहासेसे ठण्ढा किया हुआ धातु चलाकर, जगा देना । धीलों
 सोलनेपर जब वह करोमेसे तुम्हारी धीर एकदम होकर देगे तो तुम अपनी विजलीकी छिया लेना
 धीर अपने पीमे पत्रनेसे दास्तामें डम मानिनीसे बात-चीत चला देना ॥४०॥ उससे कहना—
 हे सोभाग्यवती ! मैं तुम्हें यह बता दूँ कि मैं तुम्हारे पतिवा प्रिय मित्र मेघ, तुम्हारे पास उनका
 सदेश लेकर आया हूँ । मैं अपनी धोमी और सीटी घरजसे डम गने हुए बटोहियों से मनमे भी घर
 लीटनेकी हृदयवी मचा देता हूँ जो अपनी छियोंकी उलभी हुई इषहरी चोटियाँ गुलमानेके तिये
 उतापले रहो है ॥४१॥ यह गुनवर मेरी प्यारी तुम्हारी धीर मुँह करने बड़े चावसे, बड़े स्तिने
 हुए जोमे धीर बड़े धादरने जान सपाकर तुम्हारा सज गइस उमी प्रवार सुनपी जंसे सीताजीमे

तामायुष्मन्मम च वचनादात्मनश्चोपकृतं
 ब्रूयादेवं तव सचहरो रामगिर्याश्रमस्थः ।
 अन्वापन्नः कुशलमवले पृच्छति त्वां विमुक्तः
 पूर्वाभाष्यं सुलभविषदां प्राशिनामेतदेव ॥४३॥
 अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढवप्तेन तप्तं
 साक्षेशाशुद्रुतमविरचितोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन ।
 उभयोच्छ्वासे समाधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
 संकल्पैस्तेविंशति विधिना वैरिणा रुद्रमार्गः ॥४४॥
 शद्राकुर्येयं यदपि किल ते यः सखीनां पुरस्ता-
 त्कर्णं लोलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात् ।
 सोऽतिक्रांतः श्रयणविषयं लोचनाभ्यामट्ट-
 स्त्वामुत्कण्ठ्याविरचितपदं मन्मथेनेदमाह ॥४५॥
 श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेतशे दृष्टिपातं
 वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
 उत्पस्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रविलासान्
 हतैकस्मिन्कषिदपि न ते चक्षिहे सादृश्यमस्ति ॥४६॥

हुनुमानवीची घातें तुनी थी । हे भैया ! जिनके मुँहसे पतिका सदेश पाकर जियोको मरने प्रियके मिलनसे कुछ काम सुख सोये ही मिलता है ? ॥४३॥ हे धायुष्मन् ! तुम मेरे कहनेसे और बूझरेकी भलाई पारनेवा पुण्य लेनेके निधे उतसे जाकर कहता—हे भवभा ! तुम्हारा विमुक्त हुमा सावी रामविरिके आश्रममें कुशलसे है और तुम्हारी कुशल जानना चाहता है क्योंकि देखो ! जिन सौगोंवर मन्मथक विपत्ति आ गई हो, उनसे पहले-पहल यही पुण्या ठीक होता है ॥४४॥ तबसे कहता—
 दूर बैठे हुए प्यारे साथीका मार्ग तो बँटी बह्या रोके बँडा है, इसलिये वह तुमसे मिल जते ही न सके, फिर भी वह अपने दुबलेपन, तपन, लगातार बहते हुए धीरे, मिलनेका चाव और गर्म उछाँतो को देख-देखकर ही मनमें समझ जाता है कि तुम भी वैसे ही जिझोहमे दुबली हो गई होगी, किरहसे तप रही होगी, आँखोंसे भर-भर आँसू बहा रही होगी, मिलनेको जतावली होगी और दिन-रात सबी सबी गर्म उछाँतें ले रही होगी ॥४५॥ हे भवभा ! तुम्हारे प्यारेको अब तुमसे कोई ऐसी भी बात कहनी-होती थी जो तुम्हारी सखियोंके धामे ऊँचे स्वरसे कही जा सकती थी तब भी वह तुम्हारा मुँह धूमनेके लोमसे तुम्हारे कानमें ही कहनेको तुला रहता था । अब तुम अपने उस प्यारेकी न तो जानचीत ही भुव सकती हो और न उसे आँख भर देख ही सक्ती हो, इसलिये उसने बड़े चावसे मेरे मुँहसे यह कहला भेजा है ॥४५॥ कि— हे प्यारी ! मैं यहाँ बँडा, जियगुजी लतामे तुम्हारा शरीर, दरी हुई हरिणीकी आँखोंमे तुम्हारी बितवन, चन्द्रगामे तुम्हारा मुख, मोरीके पल्लोमे तुम्हारे दात और नदीकी छोटी-छोटी सहरियोंमे तुम्हारी कटीसी गोहि देखा करता हूँ । तो भी है

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-

मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि वर्तुम् ।

अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे

क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते मंगमं नौ कृतान्तः ॥४७॥

[धारासिक्तस्थलसुरभिणस्त्वन्मुखस्यास्य बाले

दूरीभूतं प्रतनुमपि मां पञ्चवाणः क्षिणोति ।

धर्मान्तेऽस्मिन्निगणय कथं वासराणि ब्रजेयु-

र्दिकसंसक्तप्रविततधनव्यस्तसूर्यातपानि] ॥४८॥

मामाकाशप्रखिहितशुभं निर्दयाश्लेषहेतो-

र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु ।

पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्यलीदेवतानां

मुक्तास्थूलास्तरुक्सिलपेप्पश्रुलेशाः पतन्ति ॥४९॥

भिस्त्वा सद्यः किमलयपुटान्देवदारुद्रुमाणां

ये तत्क्षीरसुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः ।

आलिङ्गयन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः

पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥५०॥

बण्डी ! मुझे दुःख है कि इनमें से कोई एक यो घूरे दगसे तुम्हारी बराबरी नहीं कर पाता ॥
जब मैं पत्थरकी पटियापर बैठते तुम्हारी खड़ी हुई मूर्तिका चित्र खींचकर यह बनाना चाहता हूँ कि
तुम्हें मनानेके लिये मैं तुम्हारे पैरो पड़ा हूँ उस समय आसू ऐसे उबड़े पड़ने हैं कि मर भीख देखने
भी नहीं देते । निर्दयी कामकी हमारा चित्रने मिसना भी नहीं सुहाता ॥४७॥ हे बाता ! एक
तो मैं यो ही तुम्हारे उर मुखसे दूर रहनेके कारण सुखा वा रहा हूँ जिसमेसे ऐसी सोपी गब घाती
है जैसे पानी पड़नेपर धरतीमेसे आती है, उसपर यह पान बाखोयाना कामदेव मुझे धीरे भी
सताए जा रहा है । अब तुम्हीं सोच लो कि गर्मके बीतनेपर जब चारो ओर उमड़ी हुई धने
बादलोकी घटा सूर्यपर छा जायगी उस समय मैं किसके सहारे अपने दिन काट पाऊँगा ॥४८॥ जब
बनो मैं स्वप्नमे तुम्हे देखकर बसकर छातोसे लगावेगें लिये अपने हाथ ऊपर फैलाता हूँ, उस समय
वनके देवता भी मेरी दशापर तरस साकर अपने मोतीके समान बड़े-बड़े घाँघू वृक्षोंके कोमल पत्तोपर
बहुधा दुसकाया करते हैं ॥४९॥ हे गुणवती ! देवदारके कोमल पत्तोको अपने ओकोसे तत्काल तोड-
कर ओर उसके रसगी गब लेकर हिमाचयके जो पवन दक्षिणकी ओर चले आ रहे हैं उन्हें मैं यही
समझकर अपने हृदयसे लगा रहा हूँ कि ये उधरसे तुम्हारा शरीर छूकर छा रहे होंगे ॥५०॥

सचिप्येत चय इव कथं दीर्घयामा त्रियामा
 सर्वाविस्थास्वहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात् ।
 इत्थं चेत्तदुल्लसयने दुर्लभप्रार्थनं मे
 गाढोष्माभिः कृतमशरथं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥५१॥
 नन्वात्मानं बहु विगमयन्नात्मनैवावलम्बे
 तत्कल्याणि त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम् ।
 कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
 नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥५२॥
 शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणी
 शेषान्मासान्गमय चतुरो लोचने मीलपित्वा ।
 पद्मादायां विरहगुणितं सं तमात्माभिलाषं
 निर्वेक्ष्याथः परिशतशरचन्द्रिकासु क्षपासु ॥५३॥
 भूयश्चाहं त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे
 निद्रां गत्वा किमपि स्तुती सस्वनं विप्रबुद्धा ।
 सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतरश्च त्वया मे
 दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन्कामपि त्वं मयेति ॥५४॥

हे चक्षुष ननोवाली ! मैं मगने लगी मनाया करता हूँ कि किसी प्रकार रातके लगे लगे सीम बहुर
 दाएँ भरवे समान छोटे हो जायँ और दिनकी तपन भी किसी प्रकार सदाके लिये जाती रहे । पर मेरी
 यह दुर्लभ प्रार्थना मेकार ही जाती है । उनपर इस तिल तिल अलानवाली विद्योहरी अलनसे ली
 मेरा ली बैठा जा रहा है ॥५१॥ पर हे कस्याणी ! बहुत बूझ सोच विचारकर मैं अपने मनको अपने
 से ही काटकर बेधा लेता हूँ, दूसरिलिये सुख और बहुत दुखी मत होकर । देखो ! कुछ या कुछ किसी-
 पर तदा वही रहा करते । ये लो पहिलेके चक्रके समान बधा नीचे कभी ऊपर यो ही घायल-जाया
 करते हैं ॥५२॥ देखो ! भगनी देवउठनी एकदशीको जब विष्णु भगवान् दीपनामकी शय्यासे उठेगे
 उसी दिन मेरा छाव भी नीत जायगा । इसलिये इन लगे हुए बार गही-गही भी किसी-किसी प्रकार
 प्राण मूँदकर बिता डालो । फिर तो हम दोनों, विद्योहरी दिनोंमे लोको हई अपने मनको सब सार्थ
 परदवी गुहावनी चाँदनी रातमे पूरी कर हो डालेंगे ॥५३॥ हे भवसा ! तुम्हारे प्यारेने यह भी
 कहसाया है कि एक बार जब तुम मेरे लगेसे लगी हई मेरे पलंगपर लो रही थी, उस समय तुम
 प्रचानक चित्माकर लोली हई जाग लगी थी और जब मैंने बार-बार तुमसे रोना-बारण पूछा तब
 तुमने मोठी मुसकानके साथ उत्तर दिया था कि हे छली ! मैंने स्वप्नमे देखा कि तुम किसी दूसरी
 स्त्रीके साथ रमण कर रहे हो, इसीलिये मैं रो लगी थी ॥५४॥ हे वाली वासोवाली ! इस पहचानसे

एतस्मान्मां कुशलिनमभिधानदानाद्विदित्वा

भा कौलीनाचकितनयने मय्यविधासिनी भूः ।

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-

दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥५५॥

आश्वास्यैवं प्रथमविरहोदग्रशोकां सर्पां ते

शैलादाशु त्रिनयनवृषोत्खातकूटान्निवृत्तः ।

सामिज्ञानप्रहितकुशलैस्तद्वचोभिर्ममापि

प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः ॥५६॥

कञ्चित्मौम्य व्यवमितमिदं पन्धुकृत्पं त्वया मे

प्रत्यादेशाच्च सलु भवतो धीरतां कल्पयामि ।

निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः

प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥५७॥

एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे

सौहार्दाद्वा विधुर इति यामय्यलुकोशशुद्धया ।

ऽष्टान्देशाञ्जलद विचर प्रापृषा संभृत्यी-

र्मा भूदेर्य क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥५८॥

ही तुम समझ सेना कि मैं कुशलसे हूँ । लोगोंके कहनेसे तुम मेरे प्रेमसे सदेह न कर बैठना । न जाने लोग यह क्यों कह कर रहे हैं कि विरहसे प्रेम कम हो जाता है । सच्ची बात तो यह है कि जब चाही हुई वस्तुएं नहीं मिलती तभी उन्हें पानेके लिये प्यास बढ़ जाती है और तेरे प्रेम पाकर इकट्ठा हो जाता है ॥५५॥ देखो मेम ! पहली बारके विछोहसे कुछ अपनी माँमीको इस प्रकार डाँटस बेपानर उससे कुशल समाचार पाकर और पहचान लेकर तुम मेरे पास जल्दी ही उस भँसास पर्वतसे नीट घावा जिसकी थोटीयाँ महादेवजीके साँठने लछाह दी है । और फिर यहाँ भाकर प्रातःकाल खिल हुए कुन्दके फूलके समान नू पड़नेवाले मेरे प्राणोंको रसा करना ॥५६॥ क्यों मेम ! तुमने मेरा यह प्यारा काम करनेकी छान ली है या नहीं ? इस पूछनेसे यह न समझ बैठना कि मैं तुमसे हुकारी भरवानेपर ही तुम्हें इस कामके योग्य समझूँगा । तुम्हें मैं जानता हूँ कि जब कभीहे तुमसे जल माँगते हैं, जब तुम बिना उत्तर दिए उन्हें जल दे देते हो । सज्जनोकी रीति ही यह है कि जब कोई उनसे कुछ माँगे तो वे भूँहरे मुख न कहकर, काम पूरा करके ही उत्तर दे डालते हैं ॥५७॥ हे मेम ! मैंने जो तुमसे काम यठाया है यह तुमसे कराना बड़ी ढिंङ्गई होगी, पर चाहे भिन्नताये नाते, चाहे मुझ विछोही पर तरस लाकर तुम पहले मेरा प्यारा काम कर देना और फिर अपना क्षणमाती रूप लेकर जहाँ मन चाहे वहाँ घूमना । मैं यहाँ मनाता " प्यारी विजलीसे एक दूँ " " मी तुम्हारा येसा विप्रयोग

[तस्मादद्रेर्निगदितमथो शीघ्रमेत्यालकायां
यचामारं विगलितनिभं दृष्टिचिन्हैर्विदित्वा ।
मत्संदिष्टं प्रणयमधुरं गुहाकेन प्रपत्नात्
तद्गोहिन्या सकलमवदत्कामरूपी पयोदः ॥५६॥
इत्यारूपाभे सुरपतिसखः शैलकुन्यापुरीषु
रिभत्वा स्थित्वा धनपतिपुरीं वासरैः कैश्चिदाप ,
मत्प्रामारं कनकरुचिरं लक्ष्यैः पूर्वमुक्तैः
तस्योत्संगे चितितलग्नां तां च दीनां ददर्श ॥६०॥
तं संदेशं जलधरचरो दिव्यवाचाचचचे
प्राणैस्तस्या जनहितरतो रचितुं यच्चवध्वाः ।
प्राप्योदन्तं प्रमुदितमना सापि तस्वौ स्वभर्तुः
केयां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युच्येत् ॥६१॥
श्रुत्वा यातार्तं जलदकथितां तां धनेशोऽपि सद्यः
शापस्यान्तं सद्यहृदयः संविधायास्तकोपः ।
संयोज्यैतौ विगलितशुचौ दंपती हृष्टचिचौ
मोगानिष्ठानधिरत्मुखं भोजयामास शरत् ॥६२॥

न हो, जैसा मैं भोग रहा हूँ ॥५८॥ यलकी ये बातें सुनकर, मनचहा रूप धारण करनेवाला वह बादल, रागभिरिगे चलकर जनका पहुँच गया और बताए हुए बिहूँको देखकर उसने मलका वह भवन पहुँचान लिया जिसकी सब शोभा फीकी पड़ गई थी । वहाँ उसने यलकी प्यारीसे वह प्यार-भरा मधुर संदेश सुनाया, जिसे यलने बड़े बतनसे भेजा था ॥५९॥ यह सुनकर बादल वहाँसे चलबिवा और कभी पहाड़ियों पर, कभी नदियोंके पास और कभी नगरमें उड़ता हुआ बोड़े ही दिनोंमें कुवेरकी राजधानी अलकामें पहुँच गया । वहाँ अपने मित्रके बताए बिहूँसे उसमें बियोगी यलका, सीनेके समान पमपरा हुआ भवन पहुँचान लिया और उसने वहाँ देखा कि यलकी स्त्री बेचारी उस भवनमें धरतीपर पड़ी हुई है ॥६०॥ वहाँ पहुँचकर सबका भला करनेवाले उस भले भेयने देवी शन्दोमें यलकी स्त्रीके प्राण बचानेके लिये सब संदेश सुना लाला । यलकी स्त्री भी, अपने प्यारेका कुशल-समाचार पाकर फूली न समझी । सच है, अच्छे सोचोसे कोई काम करनेको कहा जाय तो वह भवश्य पूरा होता ही है ॥६१॥ जब कुवेरने यह बात सुनी कि बादलने यलकी स्त्रीको ऐसा संदेश दिया है तब उनके मनमें बड़ी दया आई, उनका स्नेह उत्तर गया और उन्होंने अपना शाप लौटाकर उन दोनों पति-पत्नी को फिर जिवा दिया । इस मिलनेसे उनका सब दुख जाता रहा और वे फिर बड़े प्रसन्न हो गए । कुवेरने उन दोनोंके लिये ऐसे मुख चूटनेवा प्रबन्ध कर दिया कि उन्हें फिर कभी

इत्थंभूतं सुरचितपदं मेघदूताभिधानं
 कामक्रीडाविरहितजने विप्रयुक्ते विनोदः ।
 मेघस्यास्मिन्नतिनिपुणता बुद्धिभावः कवीनां
 नत्वार्यायारचरणकमलं कालिदासश्चकर ॥६३॥

॥ इति महाकविश्रीकालिदासकृती मेघदूते काव्ये उत्तरमेघ. समाप्तः ॥

हुझ मिला हो नहीं ॥६२॥ नवि कालिदासने आर्यदेवो कालीदे चरण-कमलो मे प्रणाम करके सुन्दरतासे सजाए हुए शब्दोंमे यह ऊपर वही हुई मेघदूत नामकी कविता रची है। यह कविता विप्लवके समय इन लोगोका भी मन बहुतोसे जिन्हें विलास मिला ही नहीं सरस ही इसमे मेघकी प्रायन्त चतुराईका और कवियोंकी कल्पनाका परिचय भी मिल जायगा ॥६३॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए मेघदूत काव्यमे उत्तरमेघ समाप्त हुआ ।

❀ ऋतुसंहारम् ❀

❀ ऋतुसंहारम् ❀

॥ प्रथमः सर्गः ॥

ग्रीष्मवर्णनम्

प्रचण्डसूर्यः स्पृहणीयचन्द्रमाः सदाधगाहवत्वारिसञ्चयः ।
दिनान्तरम्योऽभ्युपशान्तमन्मथो निदाघकालोऽयमुपगतः प्रिये ॥१॥
निशाः शशाङ्कतनीलराज्यः क्वचिद्विचित्रं जलयन्त्रमन्दिरम् ।
मणिप्रफाराः सरमं च चन्दनं शुचौ प्रिये यान्ति जनस्य सेव्यताम् ॥२॥
सुवासितं हर्म्यतलं मनोहरं प्रियामुखोच्छ्वामविकम्पितं मधु ।
सुतन्त्रिगीतं मदनस्य दीपनं शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः ॥३॥
नितम्यविम्वैः सदुकूलमेतलैः स्तनैः सहाराभरणैः सचन्दनैः ।
शिरोरुहैः स्नानकपायवासितैः स्त्रियो निदाघं शमयन्ति कामिनाम् ॥४॥
नितान्तलाक्षारसरागरञ्जितैर्नितम्बिनीनां चरणैः सनूपुरैः ।
पदे पदे हंसरुतानुकारिभिर्जनस्य चिचं क्रियते समन्मथम् ॥५॥

पयोधराश्चन्दनपङ्कचर्चितास्तुपासगीराः पित्तहारशेखराः ।
 नितम्बदेशाश्च महाममेखलाः प्रकुर्वते कस्य मनो न सौत्सुकम् ॥६॥
 समुद्रतस्वेदचिताङ्गमधयो विमुच्य वासांसि गुरुणि साम्प्रतम् ।
 स्तनेषु तन्वंशुकमुच्चतस्तना निवेशयन्ति प्रमदाः सयौवनाः ॥७॥
 तच्चन्दनाम्बुच्यजनोद्भवानिलैः सहारयष्टिस्तनमण्डलार्पणैः ।
 सवल्लकीकाकलिगीतनिस्वनैर्विचोच्यते सुप्त इवाद्य मन्मथः ॥८॥
 सितेषु हर्म्येषु निशासु योपितां सुखप्रसुप्तानि मुग्धानि चन्द्रमाः ।
 विलोक्य नूनं भृशमुत्सुकश्चिरं निशाद्ये याति ह्रियैव पाण्डुताम् ॥९॥
 असह्यथातोद्धतरेणुमण्डला प्रचण्डसूर्यात्पतापिता मही ।
 न शक्यते द्रष्टुमपि प्रवासिभिः प्रियावियोगानलदग्धमानसैः ॥१०॥
 मृगाः प्रचण्डात्पतापिता भृशं तृषा महत्या परिशुष्कतालवः ।
 वनान्तरे तोयमिति प्रधाविता निरीक्ष्य भिन्नाज्ञनसन्निभं नमः ॥११॥
 सविभ्रमैः सस्मितजिह्ववीक्षितैर्विलासवत्यो मनसि प्रवासिनाम् ।
 अनङ्गसंदीपनमाशु कुर्वते यथा प्रदोषाः शशिचारुभूषणाः ॥१२॥

इन दिनों जिनके हिमके समान उजले और झूठे हारसे सजे हुए चन्दन पुते स्तन देखकर और सुनहरी करघनीसे बंधे हुए नितम्ब देखकर मजा किसका मन नहीं सतच उठेगा ॥६॥ ऊँचे-ऊँचे स्तनोवासी जिन युवतियोंके धमके जोड़ जोड़से गर्मीके भारे पसीना सूटा करता है वे भी इस गर्मीमें अपने मोटे बक उतारकर पतले पतले कपड़े पहनने लगी हैं ॥७॥ आजकल लोग कामदेवकी उसी प्रवार जगाया करते हैं जैसे कोई स्त्री, अपने सोए हुए प्रेमीकी चन्दनमें घसे हुए ठठे जलसे भीगे हुए पल्लोकी ठडी बयार झूबकर या मोतियोंके हारोकी सटकती हुई भातरोंसे सजे हुए अपने गोल गोल स्तन प्रेमीकी छातीपर रखकर, या खीलाके साथ अपने मोठे गलेसे गीत गा-गाकर जगाया करती है ॥८॥ रातके समय उजले अपनेमें गुलसे, सोई हुई युवतीका मुख दिखानेके उतावला रहनेवाला चन्द्रमा जब बहुत देरतक उनका मूँह देख चुकता है तो लाजके भारे वह रातके पिल्ले पहरे उदास हो जाता है ॥९॥ परदेसमें गये हुए जिन प्रेमियोंका हृदय अपनी प्रेमिकाके विछोहकी तपनसे झुलस गया है, वे शोधोके भोकेसे उठी हुई धूलके बबठरोवाली और कही धूपकी लपटोसे तपी हुई, गरतीकी ओर देखते हैं तो उनसे देखा नहीं जाता ॥१०॥ जलते हुए सूर्यकी किरणोंसे झुनसे हुए जिन जगली पशुओंकी जोष प्याससे बहुत गूल गई है वे भीमेसे उन जगलीकी ओर बोले जा रहे हैं जहाँके आँजनके समान नीले आकाशकी ही वे पानी समक बँडे हैं ॥११॥ चमकते हुए चन्द्रमानाली साँके समान जो सुन्दरियाँ चन्द्रमाके समान उजले चन्द्रहार आदि आभूषणोंसे उजो हुई बढी प्यारी लग रही हैं वे बडी चटक मटक और मुस्काराहटके साथ अपनी चितवन चलाकर परदेसियोंके मनमें भटसे कामदेव

रघेर्ममुखैरभितापितो भृशं विदह्यमानः पयि तत्सपांसुभिः ।
 अवाङ्मुखो जिलगतिः स्वसन्मुहुः फली मयूरस्य तले निपीदति ॥१३॥
 तथा महत्या इतविक्रमोद्यमः स्वसन्मुहुर्दूरविदारिताननः ।
 न हन्त्यद्रेऽपि गजान्मृगेधरो विलोलजिह्वश्लिताग्रकेसरः ॥१४॥
 विशुष्ककण्ठोद्रतसीकराम्भसो गगन्स्तिमिर्गान्धुमतोऽनुतापिताः ।
 प्रवृद्धतृणोपहता जलार्थिनो न दन्तिनः केसरिण्योऽपि विभ्यति ॥१५॥
 हुताग्निफलैः सवितुर्गमस्तिभिः कलापिनः क्लान्तशरीरचेतसः ।
 न भोगिनं ध्नन्ति समीपवर्तिनं कलापचक्रेषु निवेशिताननम् ॥१६॥
 सभद्रमुस्तं परिशुष्ककर्दमं सरः खनन्नायतपोत्तमखलैः ।
 रघेर्ममुखैरभितापितो भृशं वराहयूथो विशतीव भूतलम् ॥१७॥
 विवस्वता तीक्ष्णतरांशुमालिना सपङ्क्तोयात्सरसोऽभितापितः ।
 उत्प्लुत्य मेकस्तृपितस्य भोगिनः फलातपशस्य तले निपीदति ॥१८॥
 समृद्धताशेषमृशालजालकं विपन्नमीनं द्रुतमीवसारसम् ।
 परस्परोत्पीडनसंहतैर्गजैः कृतं सरः सान्द्रविमर्दकर्मम् ॥१९॥

जगज्ज्योतिः ॥१२॥ देखो ! धूपसे एकदम तगा हुआ और केँकेली गर्म भूलसे झुलसा हुआ यह सर्प अपना मुँह ताँचे छिपाकर बार-बार फुफ्फुसता हुआ औरकी छायामें कुडल मारे बैठा हुआ है पर और भी गर्मीके मारे उसे कुछ नहीं कह रहा है ॥१३॥ देखो ! हाथियोंके पास होनेपर भी यह सिंह उन्हें डार नहीं रहा है क्योंकि गर्मी इतनी बढ़ रही है कि बहुत प्यासके मारे इसका सब साहस उठा पड़ गया है, अपना पूरा मुँह खोलकर यह बार-बार हाँक रहा है, अपनी जीभसे अपने मोठ चाटता जा रहा है और हाँकतेसे इसके कंधेके बाज हिलते जा रहे हैं ॥१४॥ जो हाथी धूप और प्याससे बेचैन होकर अपने सुये मेंहसे भ्रम केकैसे हुए पानीकी खोजमें इधर-उधर घूम रहे हैं वे इस समय सिन्हे की नहीं डर रहे हैं ॥१५॥ हवनकी अग्निसे समान जलते हुए शूयंकी किरणोंसे जिन सोरोके शरीर और सब दोनो सुस्त पड़ गए हैं, वे अपने पाम कुडल मारकर बैठे हुए साँपोंकी भी नहीं मारते बरन् उल्टे धूपसे अपना मुँह घवानेके लिये अपना गला उनकी पूँछकी नुडममें डालते छुप-चाप बैठे हुए हैं ॥१६॥ धूपसे एकदम कुलसा हुआ यह जगती सुमरोका मुँह अपने लवे-लवे धूपनोते नामरनीधेमें भरे हुए बिना कीचडवाले गड्ढेकी खोदता हुआ ऐसा लगता है मालो परतोमें घुसा जा रहा हो ॥१७॥ धूपसे तपे हुए मेढक, बँदले बलवाले पीछरेमें बाहर निकल निकलकर प्यासे साँपोंके फनकी छातीके नीचे घा-भाकर बँठ रहे हैं ॥१८॥ यह देखो, यहाँपर हाथियोंमें इकट्ठे होकर आपसमें लड़-भिडकर इस तालके सब रुखल उखाड़ डाले, मछलियोंकी रौं डाला और सब साराजोको डबाकर भगा दिया है ॥१९॥ जिस प्यासे साँपकी गरिष्ठ सूर्यकी बनवसे और भी

रविप्रभोद्भिन्नशिरोमणिप्रभो विलोलजिह्वाद्वयनीढमारुतः ।
 विषाग्निस्त्रयीतपतापितः फणी न हन्ति मण्डककुल तृपाकुलः ॥२०॥
 सफेनलालावृतयस्त्रसंप्लुतं विनिःसृतालोहितजिह्वमुन्मृगम् ।
 तृपाकुलं निःसृतमद्रिगह्वरादवेक्षमाणं महिपीतुलं जलम् ॥२१॥
 पङ्कतरदवदाहोच्छुष्कसस्यप्ररोहाः परुषपवनवेगोत्थितमंशुष्कपर्णाः ।
 दिनकरपरितापक्षीणतोयाः समन्ताद्विदधति भयमुच्चैर्बोध्यमाणा वनान्ताः ॥२२॥
 श्रस्तिनि विहगवर्गः शीर्षपर्णद्रुमस्यः कपिकुलमुपपाति वलान्तमद्रेर्निकुञ्जम् ।
 भ्रमति गवययूथः सर्वतस्तोयमिच्छञ्छारमकुलमजिह्वं प्रोद्धरत्यम्बु कृपात् ॥२३॥
 विकचनवक्त्रसुम्भस्वच्छसिन्दूरभासा प्रचलपवनवेगोद्भूतवेगेन तूर्णम् ।
 तटविटपलताग्रालिङ्गनप्याबुलेन दिशि दिशि परिदग्धा भूमयः पावकेन ॥२४॥
 ज्वलति पवनवृद्धः पर्वतानां दरीषु स्फुटति पङ्क्तिनादः शुष्कवंशस्थलीषु ।
 प्रसरति तृणमध्ये लब्धवृद्धिः क्षणेन ग्लपयति मृगवर्गं ग्रान्तलम्बो दद्याग्निः ॥२५॥
 बहुतर इव जातः शालमलीनां वनेषु स्फुरति कनकगौरः कोटरेषु द्रुमाणाम् ।
 परिणतदलशाखानुत्पतन्प्रांशुवृचान्भ्रमति पवनधृतः सर्वतोऽग्निर्नान्ते ॥२६॥

समन उठो है यह घपनी लपलपाती हुई दोनों जीभीसे पवन पीता जा रहा है और धूपकी लपटें और अपने विषयी आरसे जलनेके कारण मेढकोकी नहीं मार रहा है ॥२०॥ जुगली करनेसे जिन मैलोंके मूँहसे भाग निकल रही है और सार बह रही है वे घपना मूँह खोलकर घपनी लाल-लाल जीभें बाहर निभाते हुए प्यासके मारे ऊपर मूँह उठाए पहाडकी गुफासे निकल निचलकर जलकी ओर लपकी बली जा रही हैं ॥२१॥ आजकल वन तो और भी डरावने लगने लगत हैं क्योंकि वहाँ जगल-की भागनी नहीं-बड़ी लपटोंके सर वृक्षोंकी टहनियाँ झुनग गई हैं, प्रपटम पछपर सूते हुए पत्तों ऊपर उड़े जा रहे हैं और मूर्ख की गर्मि पाये औरका जल सूख गया है ॥२२॥ जिन वृक्षोंके पत्तों झड़ गए हैं उनपर बैठी हुई सभी चिड़ियाँ हौफ खी हैं, उदास मदरोंके झुड़ पहाडकी गुफाओंमें घुमे जा रहे हैं, पशुओं के झुड़ चारों ओर पानीकी खोजमें भ्रम रहे हैं और झाँट पेंरोंवाले शरभोंका झुड़ एक ठुपेंसे गटागट पानी पीता जा रहा है ॥२३॥ पूरे सिले हुए भय कुसुम्भी फूलके समान और स्वच्छ सिन्दूरके समान सास-लाल भयवनेषाली, छाँधीसे और भी घपन उठनवाली और तीरपर गडे हुए वृक्षों और लताओंकी पुनर्विधोंको जूमता जानवाली जगलकी आलमे जहाँ-तहाँ घरती जल गई है ॥२४॥ वनके बाह्ये उठती हुई और वाजुमे और भी भडकी हुई भग्निकी लपट, पहाडकी पाटियोंमें फँगतो हुई सभी पशुओंकी जसाए डाल रही है सूने जीमोंमें चटपटा रही है और दाण भरके आगे बढ़कर पाण पकड़ ले रही है ॥२५॥ पवनग भडवाई हुई और येमरके वृक्षोंके पशुओंमें फँबी हुई भाग वृक्षके लोंसनोंमें घपना मुनहला पीता प्रवास जमजाती हुई और जँजे वृक्षोंपर उछलती हुई वनके चारों ओर भ्रम रही है जिनकी टासियोंके पत्ते बहुत गर्मी पकनेमें पक-जपकर झटके जा रहे

गजगवयमृगेन्द्रा वह्निसंतप्तदेहा सुहृद इव समेता इन्द्रभावं विहाय ।
ह्रुतवहपरिखेदादाद्यु निर्गत्य कक्षाद्विपुलपुलिनदेशां निम्नगां संविशन्ति ॥२७॥

कमलचनचिताम्बुः पाटलामोदरम्यः

सुखसलिलनिपेकः सैन्यचन्द्रांशुहारः ।

अनतु तव निदाघः कामिनीभिः समेतो

निशि पुल्लितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन ॥२८॥

इति महाकविभोक्तृकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे श्रीष्ववर्णन नाम प्रथम सर्गः ॥

हैं ॥२६॥ भागने घरराग हुए और झुलसे हुए हाथों, बेल और सिंह, धान मित्र बनकर साथ-साथ
इकट्ठे होकर घासके जगलसे अटपट निकल आए हैं और नदीके बोड़े और बलुए तीरपर भाकर विश्राम
कर रहे हैं ॥२७॥ जिस गर्मीकी ऋतुमें कमबोसे भरे हुए और सिमे हुए पाटलकी गपमें बने हुए
जलमे स्नान करना बहुत मुहाता है और जिन दिनों चन्द्रमाकी चाँदनी और मोतीके हार बहुत सुज
ते हैं, वह ऋतु भापकी ऐसी बीते कि रातको धाव भपने घरकी छतपर सेटे हो, कुल्हियाँ भापकी
पेटे बँधी हो और मनोहर संगीत छिन्न हुआ हो ॥२८॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए ऋतुसंहार नामके महाकाव्यमें
गर्मीका वर्णन नामका पहला सर्ग समाप्त हुआ ।

द्वितीयः सर्गः

प्रावृत्तवर्णनम्

समीकराग्धो धरमचक्रुः स्तब्धित्पताकोऽशनिशब्दमर्दलः ।
 समागतो राजवदुद्धतद्यतिर्धनागमः कमिजनप्रियः प्रिये ॥१॥
 नितान्तनीलोत्पलपत्रकान्तिभिः कचित्प्रभिन्नाञ्जनराशिर्मनिभैः ।
 कचित्मगर्भप्रमदास्त्वनप्रभैः समाचितं व्योम धनैः समन्ततः ॥२॥
 वृषाकुलैश्चातकपचिर्णा कुलैः प्रयाचितास्तोयभरावलम्बिनः ।
 प्रयान्ति मन्दं पशुधारवर्षिणो बलाइकाः श्रोत्रमनोहरस्यनाः ॥३॥
 पलायकाश्चाशनिशब्दमर्दलाः सुरेन्द्रचापं दधतस्त्वडिद्वगुणम् ।
 सुतीक्ष्णधारापतनोप्रसायकैस्तुदन्ति चेतः प्रमर्भं प्रवासिनाम् ॥४॥
 प्रभिन्नवैदूर्यनिभैस्तृणाङ्कुरैः समाचिता प्रोत्थितरुन्दलीदलैः ।
 विमासि शुक्लेतररत्नभूषिता वराङ्गनेव चित्तिरिन्द्रगोपकैः ॥५॥
 नदा मनोर्षं स्वनदुत्सवोत्सुकं विकीर्णविस्तीर्णकलापिशोभितम् ।
 समभ्रमालिङ्गनचुम्बनाकुलं प्रवृत्तवृत्त्य कुलमद्य बर्हिणाम् ॥६॥

दूसरा सर्ग

वर्षाका वर्णन

देखो प्यारी ! जलकी पुहारोके भरे हुए बादलीके मठवाले हाथीपर चढ़ा हुआ, चमकती हुई विजयिनीकी झड्डियोंकी फहराया हुआ और बादलोंकी गरजके नगाड़े बजाता हुआ यह कामियोंका प्यारा पास प्यारा मोका सा ठाट-बाट बनाकर भा पहुँचा है ॥१॥ वहाँ तो सत्यन्त नीले कमलकी पखली जैसे नीले, वहाँ गर्मियोंके स्तनोंके समान पीले और वही घुटे हुए आज्ञाकारी डेरीके समान बाले-बाले बादन प्राणमाने इधर-उधर घाए हुए है ॥२॥ देखो ! जिन बादलोंके पंखोंके पिच्छ-पिच्छ करने वाली माँग रहे हैं, ऐसे बानीके भारते नीचे झुके हुए घुर्घाकार पानी बरसानेवाले और बानोंकी भली समझनेवाली गरमागरम गरजें हुए बादल घोंरे घोंरे फिरते चले जा रहे हैं ॥३॥ मृदगके समान गरमागरम परदेसमें पहुँचे हुए सोमोंका मन बसमसा रहे हैं ॥४॥ छितराई हुई पंखोंमणिके समान बरघाबर परदेसमें पहुँचे हुए सोमोंका मन बसमसा रहे हैं ॥५॥ छितराई हुई पंखोंमणिके समान घोर घोरघोरघोर घाई हुई बरती उस नायिका जैसे दिखाई दे रही है जो पीने रत्नको छोटकर घोर घोर रंगने रत्नोंसे भाभूषणोंके सजी हुई हो ॥६॥ देखो ! सदा मीठी बोली बोलनेवाले, गरजते हुए बादलोंकी सोमापर सोमापर धमन हो उठनेवाले और अपने पक्ष खोजकर फैलानेसे सुहावने लगनेवाले वे मोरोंके झुण्ड, झण्ड झण्ड प्यारी मोरोंकी गले लगाते हुए और घूमते हुए आज नाच उठे हैं ॥६॥ जैसे कुनटा क्षिप्रा प्रेममें अपनी हीन्तर बिना मोचे विचारें अपने को सो बँटती है,

निपातयन्त्यः परितस्तटद्रुमान्प्रवृद्धवेगैः सलिलैरनिर्मलैः ।
 स्त्रियः सुदृष्टा इव जातिविग्रमाः प्रयान्ति नद्यस्त्वरितं पयोनिधिम् ॥ ७ ॥
 तृणोत्फरैरुद्गतकोमलाङ्कुरैर्यितानि नीलेर्दरिणीमुखचतैः ।
 वनानि वैन्ध्यानि हरन्ति मानसं विभूषितान्युद्गतपल्लवैर्द्रुमैः ॥ ८ ॥
 विलोलनेत्रोत्पलशोभिताननैर्मृगैः समन्तादुपजातसाध्यैः ।
 समाचिता सैकृतिनी वनस्थली समुत्सुकत्वं प्रकरोति चेतसः ॥ ९ ॥
 अभीक्ष्णमुन्मैर्ध्वनता पयोमुखा धनान्धकारीकृतशर्वरीप्यपि ।
 तद्विध्वभादर्शितमार्गभूमयः प्रयान्ति रागादभिसारिकाः स्त्रियः ॥ १० ॥
 पयोधरैर्भीमगभीरनिस्वनैस्तद्विद्विरुद्धैर्जितचेतसो भृशम् ।
 कृतापराधानपि योषितः प्रियान्परिष्वजन्ते शयने निरन्तरम् ॥ ११ ॥
 विलोचनेन्द्रीवरवारिचिन्दुभिर्निपिक्तविम्बाधरचारुपल्लवाः ।
 निरस्तमान्पाभरणानुलेपनाः स्थिता निराशाः प्रमदाः प्रवासिनाम् ॥ १२ ॥
 विषाण्डुरं कीटरजस्तृणान्वितं भुजंगवद्वक्रगतिप्रसर्पितम् ।
 ससाध्यसैर्भैरुकुलैर्निरीक्षितं प्रयाति निम्नाभिमुखं नवोदकम् ॥ १३ ॥
 विषग्रपुष्पां नलिनीं समुत्सुका विहाय भृङ्गाः श्रुतिहारिनिस्वनाः ।
 पतन्ति मृदाः शिखिनां प्रनृत्यतां कलापचक्रेषु नवोत्पलाशया ॥ १४ ॥

वैसे ही वे नवियाँ भी अपने मटमले पानीकी बाढसे वहाँ-तहाँ अपने झिलपरे के वृक्षोंकी लहाती हुई वेगसे बीबी हुई समुद्रकी ओर चली जा रही है ॥७॥ हरिणियोंके झुंकी कुतरी हुई हरी-हरी पाखी घोर बई कोपनीवाले वृक्षोंसे छाप हुए विन्ध्यापलके जंगल बिसका मन नहीं खुभा सके ॥८॥ कमलवै समान सुहावनी ज्वल आँखोंके कारण पुन्दर मुखवाले बरे हुए हरिणोंसे भरा हुमा रेतीला जंगल हृदयको भरवस खींचे लिए जा रहा है ॥९॥ देखो ! लुक-छिपकर अपने प्यारेके पास प्रेमसे जानेवाली कामिनिर्मा, सरजते हुए दाढीसे घिरी हुई इस बनी अंधेरी रातमें भी बिजलीकी भमबसे प्रागेका मार्ग देखती हुई चली जा रही है ॥१०॥ बाढलीकी घोर बजक सुनकर और बिजलीकी तड़पनसे बीबी हुई स्त्रियाँ सोते समय अपने दोपी प्रेमियोंसे भी लिपटी जाती है ॥११॥ नरदेसमें गए हुए लोगोकी स्त्रियाँ अपने बियाफल जमे चावल और बई कोमलो जैसे कोमल होठोंपर अपनी कमल जैसी आँखोंसे मोझू बरसाती हुई, अपनी माता, आग्रूपण, ऐन, फुलेज, उषटन आदि सब कुछ छोडकर गलपर हाथ बरे जंटी है ॥१२॥ छोटे-छोटे कीडे, फूल और पाखी बहाता हुमा मटमला बरसाती पानी, साँपके समान टेढा-मेढा धूमता हुमा, जानसे बहा आ रहा है और वेपारे मेढक जैसे साँप समझकर देख-देखकर बरे जा रहे हैं ॥१३॥ कानोंको सुहानेपासी मोठी तानें लेकर गुंजते हुए भौरे, उस कमलकी छोड़-छोडकर चले जा रहे हैं जिसके पल और फूल भङ गए हैं । वे भौरे हड़बड़ीसे मुलसे, नाचते हुए मोरोंके मुल पेलोंको बने कमल समझकर जन्हीवर हटे

वनद्विपानां नववारिदस्वनैर्मदान्वितानां ध्वनतां मुहुर्मुहुः ।
 कपोलदेशा विमलोत्पलप्रभाः समृद्ध्युर्थैर्मदवारिभिधिताः ॥१५॥
 सितोत्पलामाम्बुदचुम्बितोपलाः समाचिताः प्रस्रवणैः समन्ततः ।
 प्रपृत्तनृत्यैः शिबिभिः समाकुलाः ममृतमुकत्वं जनयन्ति भूधराः ॥१६॥
 कदम्बसर्जार्जुनकेतकीवनं विकम्पयँस्तत्कुसुमाधिवासितः ।
 तसीकराम्भोधरसङ्गशीतलः ममीरणः कं न करोति सोत्सुकम् ॥१७॥
 शिरोरुहैः श्रोणितटावलम्बिभिः कृतावतंसैः कुसुमैः सुगन्धिभिः ।
 स्तनैः महारैर्धदनैः तसीधुभिः स्त्रियो रतिं संजनयन्ति कामिनाम् ॥१८॥
 वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति व्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्रयन्ति ।
 नद्यो घना मत्तगजा बनान्ताः प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवङ्गाः ॥१९॥
 तद्धिल्लाशाशक्रधनुर्विभूषिताः पयोधरास्तोपमरावलम्बिनः ।
 स्त्रियश्च काश्चीमखिकुण्डलोज्ज्वला हरन्ति चेतो युगपत्प्रवासिनाम् ॥२०॥
 मालाः कदम्बनयकेमरकेतकीभिरायोजिताः शिरसि विभ्रति योमितोऽद्य ।
 कर्णान्तरेषु ककुभद्रममञ्जरीभिरिच्छानुकूलरचितानवतंसकाँश्च ॥२१॥

पद रहे है ॥१४॥ नये-नये बादलोंके गरजनेसे जब वर्तने लगे हो जाते हैं और उनके माथेसे
 चरते हुए मक्खर भीरे आकर लिपट जाते हैं, उस समय उन हाथियोंके माथे स्वच्छ नीले कमल जैसे
 दिखार केने लगते है ॥१५॥ घोसे कमलके समान उनसे बादल बिन पहाड़ी चट्टानोंको घूमते
 चलते है और जिनपर मोर गगन रहे हैं उन चट्टानोंपरसे चढ़ेवाले सेवटो भरनौको देखकर प्रेमियोंके
 मनमे हलचल मच जाती है ॥१६॥ कदम्ब, सर्ज, अर्जुन और वैतलीसे भरे हुए जंगलको बाँपाता
 हुआ और उन वृक्षोंके फूलोंकी सुगन्धमे बना हुआ और चन्द्रमाकी किरणोंन तथा बादलोंसे ढका
 होकर चढ़ेवाला दामु किने मरुत मही कर देता ॥१७॥ घाजवल मित्रों, अपने भारी-भारी निहम्बोंपर
 केश लटकाकर, अपने नारंगि सुगन्धित फूलोंके बनपूत पहनकर, छातीपर माला ढालकर और मदिश
 पीकर अपने प्रेमियोंके मनमे प्रेम उकसा रहो है ॥१८॥ बरसातमे नदियाँ बहती हैं, बादल सरसते
 हैं, मत्त हागी किग्राहते हैं, जंगल हरे-भरे हो जाते हैं, अपने प्यारीसे बिछुटी हुई स्त्रियाँ रोती-बल-
 पती हैं, मोर नाचने हैं, और बन्दर छुप मारकर गुप्ताधोमे जा छिपते हैं ॥१९॥ एक और तो इन्द्र-
 धनुष और बिजलीके समानने हुए औरपतने पागोंसे सजी हुई और पानीमे चारते कुली हुई वाली-वाली
 पटाएँ मोर दंगरी मोर करपनो तथा रत्न बडे बुद्धलसे सजी हुई स्त्रियाँ, ये दोनो हो परदेममे बँडे
 हुए लोगोता मन एक साथ हर सेती है ॥२०॥ इन दिनों नई बेगर, बेतकी और नदयके नये
 फूलोंकी मालाएँ मूषकर स्त्रियाँ अपने छूटोमे बांधतो हैं, और ककुभके फूलोंके मनचाहे उपसे बनाए
 हुए बख्शूत अपने बानोंमे पहनतो है ॥२१॥ जिन स्त्रियोंके अगोपर अघर-मिला पन्दन लगा

कालागुरुप्रचुरचन्दनचर्चिताङ्गयः पुष्पावतंससुरभीकृतकेशपाशाः ।
 श्रुत्वा ध्वनिं जलमुच्चं त्वरितं प्रदोषे शय्यागृहं गुरुगृहात्प्रविशन्ति नार्यः ॥२२॥
 कुवलयदलनीलैरुन्नतैस्तोयनम्रैर्मृदुपवनविधृतैर्मन्दमन्दं चलद्भिः ।
 अपहृतमिव चेतस्तोयदैः सेन्द्रचापैः पथिकजनवधूनां तद्वियोगाकुलानाम् ॥२३॥
 मुदित इव कदम्बैर्जातपुष्पैः समन्तात्पवनचलितशाखैः शास्त्रिभिर्नृत्यतीव ।
 हमितमिव विधत्ते मृचिभिः केतकीनां नवसलिलनिपेकच्छिन्नतापो वनान्तः ॥२४॥
 शिरसि वकुलमालां मालतीभिः समेतां विकसितनवपुष्पैर्यथिकाकुड्मलैश्च ।
 विकचनवकदम्बैः कर्णपूरं वधूनां रचयति जलदीपः कान्तवरकाल एव ॥२५॥
 दधति वरकुचाग्रैरुन्नतैर्हारपाटिं प्रतनुसितकुलान्यापयतेः श्रोणिबिम्बैः ।
 नवजलक्षणसेफादुद्रतां रोमराजीं ललितवलिविभङ्गैर्मध्यदेशैश्च नार्यः ॥२६॥
 नवजलक्षणसङ्गाच्छीततामादधानः कुसुमभरनतानां लासकः पादपानाम् ।
 जनितरुचिरगन्धः केतकीनां रजोभिः परिहरति नभस्वान्प्रोपितानां मनांसि ॥२७॥
 जलभरनमितानामाश्रयोऽस्माकमुच्चैरयमिति जलसेकैस्तोयदास्तोयनज्राः ।
 अतिशयपरुषाभिर्ग्रीष्मवह्नेः शिखाभिः समुपजनिततापं ह्लादयन्तीव बिन्ध्यम् ॥२८॥

हुआ है, जिनके बाल फूलोंके गुच्छोंसे मँहक रहे हैं, वे बावलोकी गडगडाहुट सुनकर भट्ट अपने घरके बड़े हुडोने पातले उठकर लड़ी साँझकी ही अपने छायनघरमें पुत जाती हैं ॥२२॥ कमलके पत्तोंके समान साँवले, पानीके भारसे झुक जानेके कारण बहुत मोड़ी ऊँचाईपर ही छाए हुए घोर भीमे-भीमे पवनके सहारे धीरे-धीरे चलनेवाले जिन बादलोंमें इन्द्रधनुष निबस आया है उन्होंने गरदसमें गए हुए सोमोकी उत सितियोंकी सब सुध बुध हर ली है जो प्यारोंके विद्योदमें व्यापुस हुई बँटी है ॥२३॥ वनमें पारों घोर सिके हुए कदम्बके फूल ऐसे लग रहे हैं मानो वर्षाके नये जलसे गर्मी बूर हो जानेपर जगल मगन हो उठ्य हो । पवनसे कूमती हुई शाखाओंको देखकर ऐसा लगता है मानो पुराका पुरा जगल अपने हाथ मटका-मटकाकर नाच रहा हो । घोर केतकीकी उजली कलियोंकी देखकर ऐसा लगता है मानो जगल खिलखिलाकर हँस रहा हो ॥२४॥ जैसे कोई प्रेमी अपनी प्यारी के लिये ढग-ढगके फूलोंके शायूपस बनाये बैसे ही वर्षा काव भी ऐसा लगता है मानो वह अपनी प्रेमिकाके लिये जूहीवी नई-नई कलियों तथा मासली और मोलसियोंके फूलोंके माला गूथ रहा हो और उनके कानोंके लिये शिले हुए नये कदम्बके फूलोंके कर्णफूल बना रहा हो ॥२५॥ इन दिनों शिशुओं, अपने लड़े-लड़े मोल-मोल उठे हुए सुन्दर स्तनोपर मोतीकी मालाएँ पहनती हैं और अपने भारी-भारी मोल-मोल निम्नोपर महीन उजली रेखामो साडी पहनती हैं । उनके गेटपर दिखाई पडनेवाली सुन्दर लिहरी सिकुड़ोपर जब वर्षाकी नई फुहार पडती है तो वहाँके नन्हे-नन्हे रोएँ खड़े हो जाते हैं ॥२६॥ वर्षाके नये जलकी पुहाणोसे ठंडा बना हुआ पवन, फूलोंके मोसले झुके हुए पेड़ोंको मचा रहा है, केतकीके फूलोंवा पराग लेकर चारो ओर मनभावकी सुगंध फैला रहा है और परदेस गए हुए

बहुगुणरमणीयः कामिनीचिह्नहारी

तरुचिटपलतानां वान्धवो निर्विकारः ।

जलदसमय एष प्राणिनां प्राणभूतो

दिशसु तव हितानि प्रायशो वाञ्छितानि ॥२६॥

।। इति महाकविश्रीकालिदासकृतो ऋतुसंहारे प्रावृद्धवर्णनं नाम द्वितीयः सर्गः ॥

प्रेमियोंके मन पुरा रहा है ॥२७॥ ये पानीके बौझसे झुके हुए बादल, गरमीकी आगकी लपटोंसे झुलते हुए बिग्याचलकी तपन अपने ठंडे जलकी फुहारसे मानो यह समझकर बुझा रहे हैं कि अब हवा पानीके बौझसे तबकर आते हैं तो यही हमें सहारा देता है ॥२८॥ अपने बहुतसे सुन्दर गुणोंसे मुहाबनी लगनेवाली, खिलोका जी तितलानेवाली, पेड़ोंकी टहनियों और बैलोंकी सन्धी सखी तमा जीबोंका प्राण बनती हुई वह वर्षा ऋतु प्राणने मनकी आशं पूरी करे ॥२९॥

महाकवि कालिदासके रचे हुए ऋतुसंहार नामके काव्यका दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ।

तृतीयः सर्गः

शरद्वर्णनम्

काशांशुका विकचपद्मनाञ्जवक्त्रा सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या ।
 आपकशालिरुचिरान्तगात्रयष्टिः प्राप्ता शरच्चवधुरिव रूपरम्या ॥१॥
 काशैर्मही शिशिरदीधितिना रजन्यो हसैर्बलानि सरितां कुमुदैः सरांसि ।
 मत्तच्छदैः कुसुमभारनतैर्वनान्ताः शुक्लीकृतान्युपवनानि च मालतीभिः ॥२॥
 चञ्चल्मनोज्ञशफरीरसनाकलापाः पर्यन्तसंस्थितसितायहजपहिक्कहाराः ।
 नद्यो विशालपुलिनान्तनितम्बविम्बा मन्दं प्रयान्ति समदाः प्रमदा इवाद्य ॥३॥
 व्योम क्वचिद्रजतशङ्खसृगालगौरैस्त्यक्ताम्बुभिर्लघुतया शतशः प्रयातैः ।
 संलक्ष्यते पवनवेगचलैः ययोदै राजेव चामरशतैरुपवीज्यमानः ॥४॥
 भिक्षाञ्जनप्रचयकान्ति नभो मनोज्ञं बन्धूकपुष्परजसाऽरुणिता च भूमिः ।
 वप्राश्च पद्मकलमावृतभूमिभागाः प्रोत्कथयन्ति न मनो भुवि कस्य यूनः ॥५॥
 मन्दानिलाकुलितचारुतराग्रशाखः पुष्पोद्गमप्रचयकोमलपल्लवाग्रः ।
 मत्तद्विरेफपरिपीतमधुप्रसेकश्चित् विदारयति कस्य न कोविदारः ॥६॥

तीसरा सर्ग

शरद् का वर्णन

फुले हुए फाँसके लम्बे गहने, मस्त हलौकी कोलीके मुहावने बिछुरे पहने, पके हुए पानसे मनोहर शरीरवाली और सिके हुए कमलके समान सुन्दर मुखवाली शरद् ऋतु, मई व्याही हुई कपवती बहूके समान मज्जा भा पहुँची है ॥१॥ काँचकी भ्राष्ट्रियोने घरतीकी, चन्द्रमाने राठोकी, हलौने नदियोंके जलकी, कमलाने छालावोकी, फूलोके बोझसे भुने हुए छलिवनके वृक्षोने खगलकी और माछतीके फूलोने फूलवारियोंको उजला बना जाता है ॥२॥ इस मधुमे नदियाँ भी उसी प्रकार धीरे-धीरे बहने जा रही हैं, जैसे करघाने और माछा पहने हुए बड़े-बड़े नितम्बोवाली कामिनियाँ पली जा रही हों क्योंकि सख्तती हुई सुन्दर सख्तियाँ ही सख्त नदियोंकी करघाने हैं, तीरपर बँठी हुई उजली चिड़ियोंकी पंक्ति ही उनकी मालाएँ हैं और जँचे-जँचे रेतोने दीले ही उनके गोम नितम्ब हैं ॥३॥ चाँदी, खस और कमलके समान उजले जो सहस्रो बादल पानी बरसनेसे हलके होकर, पवनके सहारे धुल-धुल घूम रहे हैं, उनसे भरा हुआ आकाश वही-वही ऐसा सगने लगता है मानो किसी राजा पर सेब-छों-खँवर डुलाए जा रहे हो ॥४॥ घुटे हुए घाँऊनकी पिछो-जँसा नीला सुन्दर आकाश, दुपहरियाके फूलोसे लास वनी हुई घरती और पके हुए धानसे सते हुए सुन्दर खेत, इस ससारमे किस मुबकका मज्जा खाँदोने नही कर देते ॥५॥ जिसकी आखावोकी सुन्दर फुनियोवो धीमा-धीमा पवन सुना रहा है, जिसपर बहुतसे फूल सिले हुए हैं, जिसकी पत्तियाँ बडो कोपल हैं और जिसमेसे बहते हुए मधुकी चारको मस्त भौरे धीरे-धीरे

तारागणप्रवरभूषणमुद्वहन्ती मेघावरोधपरिमुक्तशशङ्कवत्रा ।
 ज्योत्स्नादुकूलममलं रजनी दधाना वृद्धिं प्रयात्यनुदिनं प्रमदेव बाला ॥७॥
 कारणद्वाननविघटितवीचिमालाः कादम्बसारमकुलाकुलवीरदेशाः ।
 कुर्वन्ति हंसविरुतैः परितो जनस्य प्रीतिं सरारुहरवोरुणितास्तटिन्यः ॥८॥
 नेत्रोत्सवो हृदयहारिमरीचिमालः प्रहादकः शिशिरसीकरवारिवर्षा ।
 पत्युर्विपयोगविषदम्भशरस्रतानां चन्द्रो दहत्यतितरां तनुमङ्गनानाम् ॥९॥
 आक्रम्यपन्फलभरानतशालिजालान्यानर्तयैस्तत्त्वराङ्कुसुमावनप्रान् ।
 उरकुलपङ्कजवनां नलिनीं विधुन्वन्पूनां मनश्चलयति प्रसमं नमस्त्रान् ॥१०॥
 सौन्मादहंसमिधुनैरुपशोभितानि स्वच्छप्रफुल्लकमलोत्पलभूषितानि ।
 मन्दप्रभातपवनोद्गतवीचिमालान्युत्फण्टयन्ति सहसा हृदयं सरांसि ॥११॥
 नष्टं धनुर्वलभिदो जलदोदरेषु सौदामिनी स्फुरति नाय वियत्पताका ।
 धुन्वन्ति पञ्चपवनैर्न नभो बलाकाः पश्यन्ति नोन्नतपुखा गगनं मयूराः ॥१२॥

बूत रहे है, ऐमा कोबिबारेका मुख किसका हृदय टुकड़े टुकड़े नहीं कर देता ॥६॥ बादल हटे हुए
 जगन्नाथके मुंहवाली घाजबलकी रात भी तारोंके मुहावने रहनी वाली और बादलोंकी उजली लाली
 वाली घलघलेली छोकरीके उमान दिन-दिन बढ़ती जाती जा रही है ॥७॥ जिन नवियोंका जल
 कमलके परागसे साल हो गया है, जिनपर हंस घूम रहे हैं, जिनकी सहर्ष जल-पक्षियोंकी चोंचोंसे
 टकराती जा रही हैं, और जिनके छीरपर कदम्ब और सारस पक्षियोंके मुण्ड घूम रहे हैं, वे नवियाँ
 लोनोंकी बड़ी मुहावनी लगती हैं ॥८॥ सबकी आँखोंको भला सपनेवाले जिस चन्द्रमाकी किरणों
 मनकी बरदस अपनी ओर लीख लेती हैं, वही मुहावना और ठण्डी फुहार बरसानेवाला चन्द्रमा, उन
 स्त्रियोंके घन बहुत भूने डाल रहा है जो अपने पतियोंके बिछोहके विष कुम्हे बाणोंसे आघात हुई
 धरोमे पड़ी पड़ी बलप रही हैं ॥९॥ घन बरी हुई वालियोंके मुँके पानके पौधोंकी बौपाता
 हुषा पूलोंसे जड़े हुए सुन्दर वृक्षोंकी नचाठा हुषा और झिले हुए कमलोंसे भरे तालोंकी
 कमलनियोंकी हिलाता हुषा धीतल बाधु मुखकोका मन मरुभोरे डाल रहा है ॥१०॥ जिन तालोंके
 छीरपर मस्त हसोके जोड़े घूम रहे हैं, जिनमें स्वच्छ खिले हुए उबले और नीले कमल घोमा दे
 रहे हैं और जिनमें प्रातः पालके पीमे-पीमे पयगसे सहर्ष छठ रहते हैं, वे ताल, प्रानाज हृदयको
 मस्त बनाए डाल रहे हैं ॥११॥ आजपज न तो बादलोंमें इन्द्रधनुष रह गए हैं, न
 बगले ही अपने पंख हिला-हिलाकर आकाशको पता कर रहे हैं और न मोरीने मुण्ड
 ही मुँह उठाकर आकाशकी ओर देख रहे हैं ॥१२॥ जिन मोरीने नाचना छोड़ दिया
 है उन्हें छोड़कर अब नामदेव उन हसोने पास पहुँच गया है जो बड़ी मोठी बोली में
 रनमुन रनमुन कर रहे हैं । पूलों की सुंदरता भी कदम्ब, कुटब, धर्दुन, सर्ज और

नृत्यप्रयोगरहिताञ्छिखिनो-विहाय हंसानुपैति मदनो मधुरप्रगीतान् ।
 मुक्त्वा कदम्बकुटजार्जुनसर्जनीपान्ममच्छदानुपमता कुसुमोद्गमश्रीः ॥१३॥
 शेफालिकाकुसुमगन्धमनोहराणि स्वस्थस्थितारुह्यकुलप्रतिनादितानि ।
 पर्यन्तसंस्थितमृगीनयनोत्पलानि प्रोत्कण्ठयन्त्युपवनानि मनोसि पुंसाम् ॥१४॥
 कङ्कारपद्मकुमुदानि मुहुर्विधुन्वन्स्तत्संगमादधिकशीघ्रतामुपेतः ।
 उत्कण्ठयस्यतितरां पवनः प्रभाते पत्रान्दलमृतुहिनाम्बुविधूयमानः ॥१५॥
 संपन्नशालिनिचयाधृतभूतलानि स्वस्थस्थितपञ्चुरगोकुलशोभितानि ।
 हंसैः ममारमकुलैः प्रतिनादितानि सीमान्तराणि जनयन्ति नृणां प्रमोदम् ॥१६॥
 हंसैर्जिता सुललिता गतिरङ्गनानामम्भोरुहैर्विकसितैर्मुखचन्द्रकान्तिः ।
 नीलोत्पलैर्मदकलानि विलोचनानि अविभ्रामाश्च रुचिराम्बुभिस्तरङ्गैः ॥१७॥
 श्यामा लताः कुसुमभारनतप्रवालाः स्त्रीणां हरिन्ति धृतमूषणबाहुकान्तिम् ।
 दन्तायभासविशदस्मितचन्द्रकान्तिं कङ्कलिपुष्परुचिरा नमालती च ॥१८॥
 केशाभितान्वधननीलविकृश्वताग्रानाश्रयन्ति दन्तिता नवमालतीभिः ।
 कर्णेषु च प्रवरकाञ्चनकुण्डलेषु नीलोत्पलानि विविधानि निवेशयन्ति ॥१९॥

मधोवने पृथोकी छोड़कर छलिवनके पेड़पर जा गयी है ॥१३॥ जिन उपवनोमें शेफालिवाने फूलोंकी मनभावनी गुणगंध फैली हुई है, जिनमें निश्चिन्त बंड़ी हुई चिड़ियोंकी सहजहाइट चारों ओर गूँज रही है, जिनमें कमल-जैसी मीसोंवाणी हरिणियाँ जहाँ वहाँ वैठी पगुरा रखी है, उन्हीं वन-देखकर लोगोमें मन हाससे निकल-निकल आते हैं ॥१४॥ प्रातःकाल पक्षोपर पड़ी हुई श्रोतकी बूँदें झिलझिल हुआ और चौकायेत, कमल तथा कुमुदते छून्छूकर ठठक मेलता हुआ जो पवन धीमे-धीमे मधु उड़ा है वह किसे सात लड़ी बरत देता ॥१५॥ जहाँके छेड़ोमें अरपूर घाटके शोधे सहजहा रहे हो सही घातमें नैदानमें बहुतसी गीर्ँ बर रही हो, जहाँ बहुतसे चारों ओर हंसोंके चोटे श्यामी मीठी मोली मोल रहे हो, ऐसे श्याम लोगोको आनकस पड़े अच्छे लगते हैं ॥१६॥ इन दिनों हंसोंने सुन्दरियोंकी मनभावनी चाखकी, कमलिनीयोने उनके चंद्रमुखकी चमककी नीचे बसलोने उनकी मदमरी शीशोंको और छोटी सह्रियोंने उनकी सीहोंकी सुन्दर मटककी हरा दिया है ॥१७॥ जिन हरी बेनोकी टहिनियाँ फूलोंके बीचमें भुज गई हैं, उनकी सुन्दरताने स्त्रियोंकी सहनोरे सजी हुई बांहोंकी सुन्दरता छीन ली है और बकेलि तथा मई शासतीकी सुन्दर फूलोंने दाँतोंकी चमकसे बिल उठने-वाली स्त्रियोंकी मुक्कुराइटकी चमककी सजा दिया है ॥१८॥ स्त्रियाँ अपने मनो भुँपराकी काली लटोमें नये मालतीके फूल गूँज रही हैं और अपने जिन कामोमें वे सोनेके यड़िया कुण्डल पहना करती थी, उनमें उन्हीने मनेक प्रहारसे नीले चमक लटका दिए हैं ॥१९॥ आनकल स्त्रियाँ बड़ी उमरसे अपने स्तनोपर मोलियोंके हार पहनती और चन्दन पोतती हैं, अपने भारी-भारी निहम्नोपर

हारैः मचन्दनरसैः स्तनमण्डलानि श्रोणीतटं सुविपुलं रसनाकलापैः ।
 पादाम्बुजानि कलनूपुरशेखरैश्च नार्यः ग्रहृष्टमनमोऽद्य विभूषयन्ति ॥२०॥
 स्फुटकुमुदचितानां राजहंसाश्रितानां मरकतमणिभामा वारिष्ठा भूपितानाम् ।
 श्रियमतिशयरूपां व्योम तोयाशयानां वहति विगतमेघं चन्द्रतारावकीर्णम् ॥२१॥
 शरदि कुमुदमद्गाढापचो यान्ति शीता विगतजलदृष्टा दिग्भिभामा मनोहाः ।
 विगतस्त्रुपमम्भः श्यानपङ्का वरित्री तिमलकिरणचन्द्रं व्योम तारानिचित्रम् ॥२२॥
 करफलमनोज्ञाः कान्तमंसक्तहस्ता वदनविलितचन्द्राः काश्चिदन्यास्तदृश्यः ।
 रचितकुसुमगन्धि प्रायशो यान्ति वेरम प्ररुलमदनहेतोस्त्यक्तसंगीतरागाः ॥२३॥
 सुरतरमविलामाः सत्सखीभिः समेता असमशरविनोदं सूचयन्ति प्रकामम् ।
 अनुपमसुखरागा रात्रिमध्ये विनोदं शरदि तरुणकान्ताः सूचयन्ति प्रमोदान् ॥२४॥
 दिव्यकरमयूरैर्वाध्यमानं प्रभाते वरसुवतिमुखामं पङ्कजं जृम्भतेऽद्य ।
 कुमुदमपि गतेऽस्तं लीयते चन्द्रनिम्बे हमितमिव बभूनां प्रोपितेषु प्रियेषु ॥२५॥
 असितनयनलक्ष्मीं लज्जयित्योत्पलेषु क्षणितकनककक्षीं मत्तहंसस्यनेषु ।
 अधररुत्तिरशोभां वन्द्युज्जीवे प्रियाणां पथिकजनद्वानीं रोदिति भ्रान्तचित्तः ॥२६॥

वरपत्नी कोपती है और अपने कमल-जैसे वीरन सुन्दर-पेरोंमें एक-एक बजनेवाले बिलुए पहनती हैं ॥२०॥ तिनमें हुए चन्द्रमा और छिदने हुए तारोंमें भरा हुआ मानवका सुना माना उन तालोंमें समान दिगाई पड़ रहा है जिनमें नीलमने समान कमलका हुआ जल भरा हुआ हो, जिनमें एक-एक राजदल-पंटा हुआ हो और जिनमें यहाँ-वहाँ बहुतसे कुमुद सिले हुए हो ॥२१॥ मानवज कमलोंको घूना हुआ शीतल वसन वह रहा है, बादलों वह जानेसे चारों ओर सब गूहाकार दिखाई दे रहा है, पानीवा मँडलापन दूर हो गया है, धरतीपरवा चारा बीजद मूस गया है और प्राणाक्षी स्वप्न विरणोवाला चन्द्रमा और तारे भिन्न-भिन्न हुए हैं ॥२२॥ चन्द्रमासे भी प्रिय नुन्दर सुलवाली सुवर्तिनी अपना गह दाता-बज्जता छोड़कर अत्यन्त कामातुर होकर अपने सुन्दर वसन जैसे हाथ अपने प्रेमीके हाथोंमें कामकर उन परोंमें लगी जा रही है जिनमें सुगन्धित फूलोंकी सेज बिछी हुई है ॥२३॥ चन्द्रमं मनोहरा एक सेनेवाली और धनुं प्रवारण मूँह रंगनेवाली सुवर्तिनी जब अपने गरिबोंके साथ बैठती है तो आपसमें एक दूसरीको साथ बाँते बता दाता है कि रातमें बी-जैसे मानव दूटा गया ॥२४॥ बात बात जब सुने अपने चारोंमें कमलको जगाता है सब वह बना सुन्दरी सुवर्तीने सुनने गमान सित उठता है और जैसे प्रियके परदेन बने जागेर त्रिवोंकी मुन्कराहट बना जाती है वैसे ही चन्द्रमाके छिद जानवर बीड़ की सहाय जाती है ॥२५॥ जब परदेनमें गए हुए कोष नीचे कमलाम अपने प्रियभाई वाली क्षीणोंकी सुन्दरता देखते हैं, मत्त हठोकी व्यनिय उनकी सुवर्ती वरपत्नीकी स्तब्धन मुनो है और वन्द्युजीवनमें फूलोंमें उनके पिणों कीलोंकी कमलकी हुई सुन्दरताकी कमल पाते हैं, सब को वे बेचारे सब गुण-बुध

स्त्रीणां विदाय वदनेषु शशाङ्कलक्ष्मीं

काम्यं च हंसवचनं मखिन्पुरेषु ।

बन्धूकक्रान्तिमघरेषु मनोदरेषु

फापि प्रयाति सुभगा शरदाममश्रीः ॥२७॥

विकचकमलवक्त्रा कुल्लनीलोत्पलाक्षी

विकासितनवकाशरचेतवासो वसाना ।

कुमुदरुचिरक्रान्तिः कामिनीवोन्मदेयं

प्रतिदिशतु शरदरचेतसः प्रीतिमडयाम् ॥२८॥

इति महाकविश्रीकानिदासकृती ऋतुसंहारे शरदखण्डेन नाम तृतीयः सर्गः ।

भूलकर रीमे ही लग जाते हैं ॥२६॥ शरदकी सुन्दर सोया कही तो बग़दाकी बमबाकी छोडकर
झिमाके मुँहपर पहुँच गई है, कही हलोकी मोठी मोली छोडकर नदेखियो के रतन-जड़े बिछुओमे
बली गई है और कही बग़ूक फूलोंकी लालीको छोडकर उनके बिचले मोठोमे जा बडी ॥२७॥
भगवान् करें, यह खिले हुए उजले कमलके मुलवाली, फूले हुए नीले कमलकी माँझवाली कोईके
गुनवर शरीरवाली और फूले हुए काँचकी साड़ी पहननेवाली यह कामिनीके समान गस्त शरद् ऋतु
साय लोकोके मनमे नई नई उमंगें बरे ॥२८॥

महाकवि श्रीकानिदासके रचे हुए ऋतुसंहार काम्यमे शरदका बख़्त नामका तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ।

॥ चतुर्थः सर्गः ॥

हेमन्तवर्णनम्

नवप्रवालोल्लसस्परम्यः प्रफुल्ललोधः परिपक्वशालिः ।
 विलीनपद्मः प्रपतचुपारो हेमन्तकालः समुपागतोऽयम् ॥१॥
 मनोहरैश्चन्दनरागगौरैस्तुपारकुन्देन्दुनिभैश्च हारैः ।
 विलासिनीनां स्तनशालिनीनां नालंक्रियन्ते स्तनमण्डलानि ॥२॥
 न बाहुयुग्मेषु विलासिनीनां प्रयान्ति सङ्गं बलयाङ्गदानि ।
 नितम्बपिम्बेषु नवं दुकूलं तन्त्रशुकं पीनपयोधरेषु ॥३॥
 काञ्चीगुणैः काञ्चनरत्नचित्रैर्नो भूषयन्ति प्रमदा नितम्बान् ।
 न नूपुरैर्हंसरुतं भजद्भिः पादाम्बुजान्यम्बुजकान्तिभाजि ॥४॥
 गात्राणि कालीयकचर्चितानि सपत्रलेखानि मुक्ताम्बुजानि ।
 शिरांसि कालागुरुभूषितानि कुर्वन्ति नार्यः सुरतोत्सवाय ॥५॥
 रतिभ्रमल्लामयिपाण्डुवस्त्राः संप्राप्तहर्षाम्बुदयास्तरुष्यः ।
 हसन्ति नोच्चैर्दशनाग्रभिन्नान्गपीडयमानानधरानवेक्ष्य ॥६॥

चौथा सर्ग

हेमन्त वर्णन

देखो ! यह वाला गिराती हुई हेमन्त ऋतु का गई है, जिसमें गेहूं जो आदिके मये मये
 अङ्गुरोने निकल आनेसे पारो और मुहावना दिलाई देने लगा है, कोचके पेड़ फूलोंसे सज गए हैं,
 धान पत्र चला है और कमल दिखाई नहीं देते ॥१॥ इन दिनों झलकेली छियां अपने यक-वक गोल-
 गोल स्तनोपर हिम, कोई और चन्द्रमाके समान उजले और कुकुमके रंगमें रंगे हुए मनोहर हार
 नहीं पहनती हैं ॥२॥ आनकल न सो ये कमिनियां अपनी दोहो बुझायोपर कगन और मुजबन्ध
 ही पहनती हैं, न अपने गोल-गोल नितम्बोंपर गये रेशमी वस्त्र ही सपेटती हैं और न अपने मोटे-मोटे
 स्तनोपर महीन कपड़े ही बाँधती हैं ॥३॥ न ये अपने नितम्बोंपर सोने और रत्नोंसे
 जड़ी हुई करपनी पहनती हैं और न अपने कमल-जैसे गुन्दर पंखोंमें हलके समान ध्वनि करनेवाले
 विष्णु ही डालती हैं ॥४॥ आनकल अपने पतिते सम्भोगकी संयारीमें सुवर्तियां,
 अपने सरीरपर चन्दन मसती हैं, अपने कमल-जैसे मूर्खपर अनेक प्रकारके बेल-बूटे बनाती हैं और
 वालामुहमा रूप देकर अपने बेल सुपन्धित करती हैं ॥५॥ सम्भोगकी यकानसे पीले और
 मुरभाए हुए मुयोवालो सुवर्तियां, हंसनेकी बातपर जो यह समझकर मुँह खोलकर नहीं हँसती बि-
 रही प्यारेके पीने दाँतोंसे काट हुए थोड़ा दुखने न लगे ॥६॥ प्राप्तकल आनकर पंजी हुई
 मोतारी बूंदोंको देखकर ऐसा सगता है मानो सुवर्तियोंमें मोटे-मोटे स्तनोको सनकी छविओं-

पीनस्तनोरःस्वलभागशोभामासाद्य तत्पीडनजातखेदः ।
 वृथागलमैस्तुहिनैः पतद्भिराक्रन्दतीवोपसि शीतकालः ॥७॥
 प्रभूतशालिप्रसवैश्चितानि मृगाङ्गनायूथविभूषितानि ।
 मनोहरकौञ्चनिनादितानि सीमान्तराण्युत्सुक्यन्ति चेतः ॥८॥
 प्रफुल्लनीलोत्पलशोभितानि सोन्मादकादम्बविभूषितानि ।
 प्रसन्नतोयानि सुशीतलानि सरांसि चेतांसि हरन्ति पुंसाम् ॥९॥
 मार्गं समीच्यातिनिरस्तनीरं प्रवाससिन्धुं पतिमुद्वहन्त्यः ।
 अवेक्ष्यमाणा हरिखेदखाद्यः प्रषोषयन्तीव मनोरथानि ॥१०॥
 पार्श्वं व्रजन्ती हिमजातशीतैराधूयमाना सततं मरुद्भिः ।
 प्रिये प्रियङ्गुः प्रियचिप्रयुक्ता विपाण्डुतां यानि विस्तृप्तिनीव ॥११॥
 पुष्पासवामोदसुगन्धिधवक्रो निःश्वासवार्तः सुरभीकृताङ्गः ।
 परस्पराङ्गव्यतिपद्मशायी शैले जनः कामरसानुविद्धः ॥१२॥
 दन्तच्छदैः सत्रणदन्तचिह्नैः स्तनैश्च पाण्यप्रकृताभिलेखैः ।
 संयुज्यते निर्दयमङ्गनानां रतोपभोगो नवयौवनानाम् ॥१३॥
 काचिद्विभूषयति दर्पणसक्तदस्ता घालातपेषु वनिता वदनारविन्दम् ।
 दन्तच्छदं प्रियतमेन निषीत सारं दन्ताग्रभिन्नमवकुप्य निरीक्षते च ॥१४॥

पर देखकर घुसपानेपाया हेमन्त, उन स्तनोगो प्रेमियोंके हाथोंसे मने जाते देखकर बुझी होकर भाँसू बहा रहा हो ॥७॥ गाँवके बाहर जिन खेतोंमें भरपूर धान सहस्रहा रहा है, हरिणियोंके भुषणें भुङ्ग चीन्हादिवाँ भर रहे हैं और सारस बोल रहे हैं, उन खेतोंको देखकर मन हावले निमल पड़ता है ॥८॥ जिन गालोंमें खिले हुए नीले कमल फँले हुए हैं, मस्त कलहच इपर-उपर लहर रहे हैं और ठंडा निर्गम जल भरा हुआ है, उन्हें देखकर शोभोबा जी झिल चढता है ॥९॥ जिनके पति घरदेख जले गए हैं, वे मृगजयनी स्त्रियाँ जब मुखे झुप गाँवको देखती हैं तो घरदेखमें पड़े हुए अपने बुझी पतिवशोंसे धानेकी खाट जीहती हुई यह सोचती हैं कि जब हमारे पति पावेंगे, तब हम यो मिलेंगी, यो वार्ते करेंगी और यो रुठेगी ॥१०॥ हे प्यारी ! पालेगी भरे ठंडे वायुसे हिंसती हुई यह पत्नी हुई प्रियङ्गुकी लता, बँसी ही पौसी पद गई है जैसे अपने पतिसे प्रलग होनेपर मुक्ती पौसी पट जाती है ॥११॥ फूलोंमें शयनी भीनी और मीठी सुपधवाले मुहसे मुँह जगावर और एक दूसरेकी खाँटोसे सुगन्धित अंगोंसे घब गिलाकर सब स्त्री-पुरुष एवं दूसरेसे लिपटकर संगोष करते हुए सोते हैं ॥१२॥ इस समय प्यारोने नवयुवतियोंके ओठोंपर दाँतों पाप कर दिने हैं और सबके स्तनोपर अपने चूँतोंसे चिन्ह बना दिए हैं इससे यह जान पड़ रहा है कि उनके प्यारे उनका जी-जानसे संगोष कर रहे हैं ॥१३॥ देखो एक स्त्री, हाथमें दर्पण लिए हुए घात-वालकी धूपमें बँठी अपने कमल जैसे मुखका सिंगार कर रही है और

अन्या प्रकामसुरतथमखिन्नदेहा रात्रिप्रजागरविपाटलनेत्रपद्मा ।
 स्रस्तांसदेशलुलिताकुलकेशपाशा निद्रां प्रयाति मृदुस्यकराभितप्ता ॥१५॥
 निर्माल्यदाम परिभुक्तमनोज्ञगन्धं मूर्ध्नोऽपनीय घननीलशिरोरुहान्ताः ।
 पीनोन्नतस्तनभरानतगात्रयष्टयः कुर्वन्ति केशरचनामपरास्तरुण्यः ॥१६॥
 अन्या प्रियेण परिभुक्तमवेक्ष्य गात्रं हर्षान्विता विरचिताधरचारुशोभा ।
 कूर्पाभकं परिदधाति नखचताङ्गी व्यालम्बिनीलललितालङ्कृश्रिताङ्गी ॥१७॥
 अन्याक्षिरं सुरतकेलिपरिश्रमेण खेदं गताः प्रशिथिलीकृतगात्रयष्टयः ।
 संहृन्पनाणपुलकोरूपयोधरान्ता अम्यञ्जनं विदधति प्रमदाः सुशोभाः ॥१८॥
 बहुगुणरमणीयो योपितां चित्तहारी

परिणतबहुशालिष्याकुलग्रामसीमा ।

विनिपतिततुषारः क्रौञ्चनादोपगीतः

प्रदिशतु हिमयुक्तः काल एषः सुखं वः ॥१९॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृती ऋतुसंहारे हेमन्तवर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥

घरने जिन झोड़ीरा प्यारेने रस पी लिया है और जिनपर प्यारेके दाँतोके घाव बने हुए हैं, उन झोड़ीकी खीच-खीचकर देख रही है ॥१४॥ घरान्त संयोगसे सब जानेके कारण एक दूसरी खीची कमल-जैमी घातों रातभर आगनेसे जाल हो गई हैं, उसके बड़े झूल गये हैं, उसने यात दधर-उपर बिखर गए हैं और वह प्रातःकालके सूर्यकी नीमल किरणोंने घूँप खाती हुई सौ गई है ॥१५॥ लम्बे, बाले और गले केसोवाली जिन लियोंने लरीर, मोटे और ऊँचे स्तनोंके कारण झुक गए हैं, ये अपने सिरने वह मुरझाई हुई माता उतार रही हैं जिसकी मधुर सुगन्धका आनन्द रातने ले चुकनेपर सोने के तिरने अपने वालोंकी बँवार रही है ॥१६॥ गलोंके घावोंके भरे हुए मगोवाली और लटकनी हुई मुग्धर भगवँनि डरी हुई झोंगोवाली एक दूसरी स्त्री, अपने प्यारेसे उदयोग किए हुए लरीरकी देख-देखकर बड़ी मगन होती हुई अपने घरवाँकी फिर घरनेकी नाईं सुन्दर दवाकर अपनी बोली पहनने लगी है ॥१७॥ इसी प्रकार बहुत देखत-समीप करते-करते जो युवतिदाँ घक गई है, जिनके नीमन और मधारीने लरीर डीले पड़ गए हैं और जिनकी जाँघो और स्तनोंपर रोमाञ्च हो भापा है, ये युवतिदाँ बँडी अपने सरीरपर लेल मगन रही है ॥१८॥ भगवान् करे यह हेमन्त ऋतु भापकी मुख दे जो घनेव गुणोंमे मनकी मुग्ध करनेवाली और लियोंने चित्तकी मुग्धनेवाली है, जिसमें गाँवने पास-पास बने हुए घरोंने गेठ सहलहने हैं, पाना गिरता है और धारन बोलते हैं ॥१९॥

महाकवि श्रीकालिदासने रचे हुए ऋतुसंहार काव्यमें हेमन्त वर्णन नामका चौथा सर्ग समाप्त हुआ ।

॥ पञ्चमः सर्गः ॥

शिशिरवर्षनम्

प्ररुद्धशालीलुचयावृतचित्तिं कचित्स्थितकौञ्चनिनादराजितम् ।
 प्रकामकामं प्रमदाजनप्रियं वरोरु कालं शिशिराह्वयं शृणु ॥१॥
 निरुद्धवातायनमन्दिरोदरं हुताशनो भानुमतो गमस्तपः ।
 गुरुणि वासांस्पन्दलाः सपौवनाः प्रयान्ति कालेऽत्र जनस्य सेव्यताम् ॥२॥
 न चन्दनं चन्द्रमरीचशीतलं न हर्म्यपृष्ठं शरदिन्दुनिर्मलम् ।
 न वापवः सान्द्रतुषारशीतला जनस्य चिचं रमयन्ति संप्रतम् ॥३॥
 तुषारसंघातनिपातशीतलाः शशाङ्कभाभिः शिशिरीकृताः पुनः ।
 विषाण्डुतारागणधारभूषणा जनस्य सेव्या न भवन्ति रात्रयः ॥४॥
 गृहीतवाम्बूलविलेपनस्रजः पुष्पासवामोदितवक्त्रपङ्कजाः ।
 प्रकामकालागुरुधूपवासितं विशन्ति शय्यागृहमुत्सुकाः स्त्रियः ॥५॥
 कृतापराधान्यहुशोऽमितविज्ञानसवेपथून्साध्यसल्लसचेतसः ।
 निरीक्ष्य भवत्सुरताभिलाषिणः स्त्रियोऽपराधान्समदा विसस्मरुः ॥६॥

पाँचवाँ सर्ग

शिशिरका वर्णन

हे सुन्दर जाँघोंवाली ! सुनो जिस ऋतुमें शान और ईश्वर के सेत मर जाते हैं, जिसमें कभी-कभी सारसकी दोली भी गूँज जाती है और शाम भी बहुत बढ़ जाता है, वह स्त्रियोंकी प्यारी शिशिर ऋतु का पट्टीकी है ॥१॥ आजकल लोग अपने परोके भीतर शिशिकी गन्ध करके, घाग तापकर, धूप खाकर, मोटे-मोटे कपड़े पहनकर और सुबकी स्त्रियोंसे लिपटकर दिन बिताते हैं ॥२॥ इन दिनों न किसीकी चन्द्रमाकी किरणोंसे ठढाया हुआ पन्धन ही मन्ध्या लगता है न शरदके चन्द्रमाके समान निर्मल स्रों सुहाती हैं, न घनी ओससे ठढा बना हुआ वामु ही मनको भाता है ॥३॥ इन दिनों घने पालेसे कलकड़ाते जाड़ोवाली, चन्द्रमाकी किरणोंसे घोर भी ठडी मनी हुई और पीले-पीले जाड़ोवाली रातोंमें कोई भी लहर नहीं निकलता ॥४॥ कुन्नीके घासमें पीनेसे बिजवा कमल जैसा मुँह सुगन्धित हो गया है वे स्त्रियाँ पाल खाकर, फुलेल लगाकर और मालाएँ पहनकर, वाले शगरके पुईसे महकनेवाले अपने जयन्-चरोमें बड़े जावते चली जा रहो हैं ॥५॥ मदमाती स्त्रियोंमें अपने दिन पतियोंको छपराध करनेपर डीठा-फटकारा पद, वे जब काँपते हुए और डरते भवराएँ उनके पास संभोग करनेके लिये भाते हैं तो उन्हें देखते ही वे स्त्रियाँ उनका सब अपराध भूलकर उनसे संभोग करने लगती हैं ॥६॥ जिन नवयुव-स्त्रियोंमें युवकोंके साथ आजकलकी लम्बी रातोंमें बहुत देरतक जी भरकर और रसकर संभोगका

प्रकामकामैर्धुवभिः सुनिर्दयं निशासु दीर्घास्वभिरामिताधिरम् ।
 भ्रमन्ति मन्दं श्रमखेदितोरवः क्षपावसाने नवयौवनाः स्त्रियः ॥७॥
 मनोज्ञकृपासकपीडितस्तनाः सरागकौशेयकभूपितोरवः ।
 निवेशितान्तः कुसुमैः शिरोरुहैर्विभूषयन्तीव हिमागमं स्त्रियः ॥८॥
 पयोधरैः कुंकुमरागपिञ्जरैः सुखोपसेव्यैर्नवयौवनोष्मभिः ।
 विलासिनीभिः परिपीडितोरवः स्वपन्ति शीतं परिभूय कामिनः ॥९॥
 सुगन्धिभिः श्वासविकम्पितोरपलं मनोहरं कामरतिप्रबोधकम् ।
 निशासु हृष्टा सह कामिभिः स्त्रियः पिवन्ति मधं मदनीयमुत्तमम् ॥१०॥
 अपगतमदरागा योषिदेका प्रभाते कृतनिविडकुचाशा पत्सुरालिङ्गनेन ।
 प्रियतमपरिश्रुक्तं वीक्षमाशा स्वदेहं व्रजति शयनवासाद्वासमन्यं हसन्ती ॥११॥
 अगुरुसुरभिधूपामोदितं केशपाशं
 गलितकुसुममालं कुञ्चिताग्रं वहन्ती ।
 त्यजति गुरुनितम्बा निम्ननाभिः सुमध्या
 उपसि शयनमन्या कामिनी चारुशोभा ॥१२॥
 कनककमलकान्तैश्चारुताम्राधरोष्ठैः श्रवणतटनिपक्तैः पाटलोपान्तनेत्रैः ।
 उपसि वदनविम्बैरसंसक्तकेशैः श्रिय इव गृहमध्ये संस्थिता योषितोऽद्या ॥१३॥

मानन्द लुटा है, वे स्त्रियाँ, रातके परिधमने दुलती हुई जापोके कारख ज्ञात पाल बड़े धीरे-धीरे चल रही हैं ॥७॥ सुन्दर जोनियोसे अपने स्तन कैसे हुए, जापोपर रेसमी कपड़े पहने हुए और मालोमे फूल गुंधे हुए स्त्रियाँ ऐसी लग रही हैं मानो जाड़ेके स्वागतका उत्सव मनावेके लिये सिंगार कर रही हों ॥८॥ इन दिनों प्रेमी लोग केशरसे रंगे हुए माल स्तनोवासी और सुकसे लूटी जानेवाली जवानोंकी गर्जति गरी हुई कमनियोंको कसकर छातीसे लिपटाए हुए खाड़ा भगाकर सोते हैं ॥९॥ इन दिनों जिम्मी पड़े हर्षसे अपने प्रेमियोंके साथ रातकी, रुबिकर, बडिया, मद बहानेवासी और काम-व्यामना जगानेवाली यह मदिरा पीती है, जिसमें पड़े हुए कमल, डल कामिनियोंकी सुगंधित लसते यरावर हिलते रहते हैं ॥१०॥ देखो ! श्राव-काल होनेपर एक स्त्री अपने प्रियतमसे उपमोद किए हुए अपने घरीरको देवती हुई अपने शयन-घरसे दूसरे घरमें चली जा रही है । इस समय इसके मुखपर मदगी नासी भी नहीं रह गई है और पतिकी श्रुतीमे लगे रहनेके कारण उसके स्तनोंकी धुल्लियाँ भी बची हो गई हैं ॥११॥ एक दूसरी भारी नितम्बवाली, पहरी, नाभिवाली, लचकदार कमरवाली और मनभावनी सुन्दरतावाली स्त्री अगरके छुएमे बसी हुई अपनी बिना मालावाली घनी धूपरासी लट्टे हाथमे घामे प्राप्त बाल पलंग छोड़कर उठ रही है ॥१२॥ इन दिनों प्रातःकालके समय स्त्रियोने सुन्दर लाल-लाल मोठोबासे, लाल बोरोसे खनी हुई बड़ी-बड़ी मौँवाँवासे, कंजोपर फंसे हुए दातोवासे और मुनहूसे कमलने समान कमलनेवासे गोल-गोल मुखोंको देखकर ऐसा लगता है मानो घर-घरमें लक्ष्मी या बच्ची हो ॥१३॥ अपने मोटे नितम्बोंके बीचसे दुली, अपने स्तनोंके

पृथुवधनभरार्ताः किंचिदानम्रमध्याः स्तनमरपरिस्त्रेदान्मन्दमन्दं व्रजन्त्यः ।
सुरतसमयवेषं नेशमाश्रु प्रहाय दधति दिवसयोग्यं वेशमन्यास्तरुण्यः ॥१४॥
नखपदचित्तभागान्वीक्षमाणाः स्तनान्तानधरकिसलयार्द्रं दन्तभिन्नं स्पृशन्त्यः ।
अभिमततरतवेषं भन्दयन्त्यस्तरुण्यः सवितुरुदयकाले भूषयन्त्याननानि ॥१५॥

प्रचुरगुडनिकारः स्वादुशालीचुरभ्यः

प्रवलसुरतकेलिर्जातकन्दर्पदर्पः ।

प्रियजनरहितानां चित्तसंतापहेतुः

शिशिरसमय एष श्रेयसे वोऽस्तु नित्यम् ॥१६॥

इति महाकविश्रीकालिदासविरचिते ऋतुसंहारकाव्ये शिशिरपर्युषणं नाम पञ्चमः सर्गः ॥

बोझने झुकी हुई कमरवाली और बकनेके कारण बहुत धीरे-धीरे चलनेवाली बहुत-सी स्त्रियाँ रातके सयोगकाले वस्त्र उतार उतारकर दिनेमें गहकनेके कपड़े पहन रही हैं ॥१४॥ अपने प्यारेके नखीके पावोंसे घरी अपनी छाती देखती हुई, प्यारेके हाँथोंसे काटे हुए अपने कोपसोंके समान बौमल अधरोको धूती हुई और इस प्रकार अपने मनवाहे सयोगके वेशपर खिलखिलाती हुई स्त्रियाँ प्रातः काल अपने मुँह सजा रही हैं ॥१५॥ जिस शिशिर ऋतुमें मिठाईयाँ बहुतायतसे मिलती हैं, स्वाद लगनेवाले चादल और ईँछ चारों ओर मुझते हैं, लोच बहुत सजीव करते हैं, कागदेय भी पूरे वेगसे बड़ जाता है और प्यारोके मिला सकेले दिन काटनेवाले लोग मन भरोसकर रह जाते हैं वह शिशिर ऋतु आप लोगोका मना करे ॥१६॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए ऋतुसंहार काव्यमें शिशिर ऋतुका
पर्युषणं नामका पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

॥ पष्ठः सर्गः ॥

वसन्तवर्षणम्

प्रकुलचूताद्भ्रुतीक्ष्णसायको द्विरेफमालाविलम्बदुर्गुणः ।
 मनांसि मेतुं सुरतप्रसङ्गिनां वसन्तयोद्धा समुपागतः प्रिये ॥१॥
 द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपत्रं स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः ।
 सुराः प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः सर्वे प्रिये चारुतरं वसन्ते ॥२॥
 ईषत्पारैः कृतशीतहर्म्यः सुवासितं चारु शिरश्च चम्पकैः ।
 कुर्वन्ति नार्याऽपि वसन्तकाले स्ननं सहारं कुसुमैर्मनोहरैः ॥३॥
 वापीजलानां मखिमेलानां शशाङ्गभासां प्रमदाजनानाम् ।
 चूतद्रुमाणां कुसुमान्वितानां ददाति सौभाग्यमयं वसन्तः ॥४॥
 कुसुम्भरागारुषितैर्दुर्कूलैर्जितम्बविम्बानि विलाभिनीनाम् ।
 तन्वंशुकैः कुङ्कुमरागगौरैरलंक्रियन्ते स्ननमण्डलानि ॥५॥
 क्षणेषु योग्यं नवकारिणकारं चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकम् ।
 पुष्पं च कुल्लं नवमल्लिकायाः प्रयान्ति कान्तिं प्रमदाजनानाम् ॥६॥
 स्तनेषु हाराः सितचन्दनार्द्रा भ्रुवेषु सङ्गं वलयार्द्रदानि ।
 प्रयान्त्यनङ्गातुरमानसानां नितम्बिनीनां जघनेषु काञ्चयः ॥७॥

छठा सर्ग

वसन्तका वरुण

तो प्यारी ! कूले हुए धामनी गङ्गवरिणीके बने बाण लेकर और अपने अनुपपर भीरोकी पोतोनी डोरी चडाकर भीर वसन्त समीप—करनेवाले रसिकोको बेपने मा पहुँचा है ॥१॥ देखो प्यारी ! वसन्तके प्राते ही सय वृक्ष फूलोंसे सज गए हैं, जलमे कमल खिल गए हैं, स्त्रियाँ मत्तवाली हो गई हैं, शायने सुगन्ध प्राप्ति सभी है, सर्गों सुहावनी हो जाती है और दिन सुभावने हो गए हैं । सपुष्प सुन्दर वसन्तमे सब कुछ सुहावना लगने ही लगता है ॥२॥ वसन्तमे परोकी छतोपर ठडी मोत छा गई है, धम्येके फूलोंसे सबके बूटे महकने लगे हैं और स्त्रियाँ भी धपन^{पुष्प}स्त्रीनोपर मनोहर फूलोंकी मालाएँ पहनने लगी हैं ॥३॥ वसन्तके प्रातेसे नार्याऽपि^{पुष्प}का जल, नारिणीसे जडी नरपनियाँ चाँदनी, स्त्रियाँ और मङ्गरीसे लदी धामनीकी बालें सब और भी सुहावने लगने लगी हैं ॥४॥ नारिणियोंने अपने गोल-गोल नितम्बोंपर कुसुमके लाल फूलोंसे रंगी रेसमी साडी पहन ली है और स्तनोंपर बेतारले रंगी हुई महीन नपटेनी पोली पहन ली है ॥५॥ स्त्रियोंके कानोंमे लटके हुए कनीके बनेखे फूल बडे सुहावने दिखाने पड रहे हैं और उनको बचल, बाली, धुंवराली लटकोंमें प्रमोदने पून और नव मल्लिकाभी खिली हुई नस्त्रियाँ बडे सुहावनी लगने लगी हैं ॥६॥ अपने प्रेमोसे संघोर्षकरनेको उठावली नारियोंने अपने स्तनोंपर गोल चन्दनके भीग हुए मोतीके

सपत्रलेखेषु विलासिनीनां षक्त्रेषु हेमाम्बुरुहीपमेषु ।
 रत्नान्तरे मौक्तिकसङ्गरम्यः स्वेदागमो विस्तरतामुपैति ॥ ८ ॥
 उच्छ्वासायन्त्यः श्लथबन्धनानि गात्राणि कदर्पसमाकुलानि ।
 समीपवर्तिष्वधुना प्रियेषु समुत्सुका एष भवन्ति नार्यः ॥ ९ ॥
 तनूनि पाण्डूनि मदालसानि मुहुर्मुहुर्वृश्मण्यतत्पराणि ।
 अह्लान्यनङ्गः प्रमदाजनस्य करोति लावण्यससंभ्रमाणि ॥ १० ॥
 छायां जनः समभिवाञ्छति पादपानां नक्तं तथेच्छति पुनः किरणं सुधांशोः ।
 हर्म्यं प्रयाति शयितुं सुपशीतलं च कान्तां च गाढमुपगूहति शीतलत्वाद् ॥ ११ ॥
 नेत्रेषु लोलो मदिरालसेषु गण्डेषु पाण्डुः कठिनः स्तनेषु ।
 मध्येषु निम्नो जघनेषु पीनः स्त्रीणामनङ्गो बहुधा स्थितोऽय ॥ १२ ॥
 अह्लानि निद्रालसविभ्रमाणि वाक्यानि किञ्चिन्मदिरालसानि ।
 भ्रूचपजिह्वानि च वीक्षितानि चक्षर कामः प्रमदाब्जनाम ॥ १३ ॥
 प्रियङ्गुकालीयककुङ्कुमाक्तं स्तनेषु गौरेषु विलासिनीभिः ।
 आलिप्यते चन्दनमङ्गनाभिर्मदालसाभिर्मृगनाभिषुक्तम् ॥ १४ ॥

हार पहन लिए हैं हाथोंमें मुलकमय ग्रीव कगल झल लिए हैं और अपने चित्तबौद्धिक चरमनी बांध ली है ॥८॥ सुनहरे कमलके समान सुहावने और बेलबूटे चोटे हुए स्त्रियोंके धुलोपर फैली हुई पसीनेकी बूँद ऐसी दिखाई पड़ती हैं मानो अनेक प्रकारके रत्नोंके बीच बहुतसे मोती जड़ दिए गए हो ॥९॥ कामवासनासे पीड़ित स्त्रियाँ अपने प्रेमियोंके सामने अपने अंग-उपार्द्धों की हई-उई खलचा भी रही हैं और अपनी अशीरता भी दिखा रही हैं ॥१०॥ इन दिनों स्त्रियोंमें इतनी काम-वासना भर जाती है कि उनके अंग दुबसे पड़ते और पीने पड़ जाते हैं, वे मदसे भलसाईं सी हो जाती हैं धार-धार जैसाहवाँ सेती हैं और उनके सारे शरीरमें कुछ झनझना हो रहीलापन आ जाता है ॥११॥ इन दिनों लोग दिनमें तो वृर्त्तोंकी शीतल छायामें रहना चाहते हैं, रातमें चन्द्रमाकी किरलौका आनन्द सेना चाहते हैं, सोनेके लिये सुहावनी ठंडी कोठोमें पहुँच जाती हैं और थोड़ी थोड़ी ठंड पड़नेके कारण अपनी प्यारियोंको कसकर छातीसे लिपटाए रखते हैं ॥१२॥ इन दिनों कामदेव भी स्त्रियोंकी मदमाती भाँसोम चञ्चलता, उनके गालोंमें पीलापन, स्तनोंमें बढोरता कामरसे गहरापन और चित्तबौद्धिक मोटापा बनकर आबैठता है ॥१३॥ कामसे स्त्रियाँ भलसा जाती हैं, मदसे उनके खलचा झनझना भी कठिन हो जाता है और टेढ़े भाँहोंमें उनकी चितवन बड़ी कैटीली जान पड़ने लगती है ॥१४॥ मदसे भलसाईं हुई रतीली स्त्रियाँ प्रियङ्गु,

गुरुणि वासांसि विहाय तूर्णं तनूनि लाघारसरञ्जितानि ।
 मुगन्धिकालागुरुभूषितानि धत्ते जनः काममदालसाङ्गः ॥१५॥
 पुंस्कोकिलरचूतरसासवेन मत्तः प्रियां चुम्बति रागहृष्टः ।
 कूजद्विरेफाऽप्ययमम्बुजस्यः प्रियं प्रियायाः प्रकरोति चाटु ॥१६॥
 ताम्रप्रवालस्तवकावनम्राश्चूतद्रुमाः पुष्पितचारुशाखाः ।
 कुर्वन्ति कामं पयनावधूताः पर्युत्सुकं मानसमङ्गनानाम् ॥१७॥
 ध्रामूलतो विद्रुमरागताम्रं सपल्लवाः पुष्पचयं दधानाः ।
 कुर्वन्त्यशोका हृदयं सशोकनिरीक्ष्यमाणा नवयौवनानाम् ॥१८॥
 मत्तद्विरेफपरिचुम्बितचारुपुष्पा

मन्दानिलाकुलितनम्रमृदुप्रवालाः ।

कुर्वन्ति काममनसां सहसोत्सुकत्वं

वालाविमुक्तलतिकाः समवेक्ष्यमाणाः ॥१९॥

कान्तासुखयुतिलुपामचिरोद्गतानां

शोभां परां कुरवकद्रुममञ्जरीणाम् ।

दृष्ट्वा प्रिये सहृदयस्य भवेन्न कस्य

कंदर्पवाणपतनव्यथितं हि चेतः ॥२०॥

कालीयक भीर केसरके धोलने कस्तुरी मितानर अपने गोरे-गोरे स्तनोपर चन्दनको लेपे कर रही है ॥१५॥ इन बिना कामदेवके मदने धलसाई हुई जियाँ अपने मोठे बहन उत्तारकर महावरसे रंगे हुए भीर पालागुरुके घुँघरे मुगन्धित किए हुए गहरीन कपडे पहनती है ॥१६॥ देखो ! यह नर कोयल कामकी मञ्जरियोंके रसमें मद मस्त होकर अपनी प्यारीकी बड़े प्रेमस प्रसन्न होकर चूम रहा है । कमलपर बैठकर गुनगुनाता हुआ यह भीरा भी अपनी प्यारीका मनचाहा काम कर रहा है ॥१७॥ लाल-लाल कोयलके गुच्छोस झुके हुए भीर सुन्दर मञ्जरियोंसे सरी हुई मातामो-सगले है ॥१७॥ मसोकने जिन वृक्षोंके कोपलें फूट निबली हैं भीर जिनमें यूँ जैसे लाल-लाल फूल भीचेले ऊपरतक खिल आए हैं, उन वृक्षोंके वृक्षोंके देखते ही नवयुवतियोंके हृदयमें शोक होने लगता है ॥१८॥ जिन छोटी-छोटी बलिमुक्त मतामोके फूलोंकी मतवाले भौरे चूम रहे हैं भीर जिनके गये कोमल पत्तों मन्द-मन्द पवनमें झूँन रह हैं, उन्हें देख देखकर पाणिनिपीना मन प्रचानक टोपाटोल हो जाता है ॥१९॥ हे प्यारी ! अभी खिले हुए भीर जियाँके मुखके सपान सुन्दर

आदीप्तवह्निसदृशैर्मरुताऽवधृतैः

सर्वत्र किंशुकवनैः कुसुमावनम्रैः ।

सद्यो वसन्तसमयेन समाचितेयं

रक्तांशुका नववधूरिव याति भूमिः ॥२१॥

किंशुकैः शुक्लमुखच्छविभिर्न मिश्रं

किं कर्णिकारकुसुमैर्न कृतं नु दग्धम् ।

यत्कोकिलः पुनरयं मधुरैर्वचोमि-

र्यूनां मनः सुवदनानिहितं निहन्ति ॥२२॥

पुंस्फोफिलैः क्लृप्तवचोभिरुपाचर्यैः

कृज्जङ्गिरुन्मदकलानि वचांसि भृङ्गैः ।

लज्जान्वितं सविनयं हृदयं चक्षेन

पर्याकुलं कुलगृहेऽपि कृतं वधूनाम् ॥२३॥

आकम्पयन्कुसुमिताः सहकारशास्त्रा

विस्तारयन्परभृतस्य वचांसि दिक्षु ।

वायुर्विवाति हृदयानि हरश्रराणां

नीहारपातविगमात्सुभगो वसन्ते ॥२४॥

सगर्जनाई कुरवकर्कः फूलोर्ची अनीर्ली धोभा बँलकर किस रसिकका मन कामर्दबके बाणसे पावस नहीं हो जाता ॥२०॥ वसन्तके दिनोमे पवनके ओकेसे हिलती हुई भिन्न पत्तापके धूलोकी फूली हुई धाखार्ण जसती हुई धागकी लपटोके समान बिछाई देती है, ऐसे पत्तापके जगन्तोसे ठकी हुई पृथ्वी ऐसी लग रही है मानो सात साढ़ी पहने हुए कोई मई जुलहिन हो ॥२१॥ अपनी प्यारियोके मुखहोपर रीके हुए प्रेमियोके हृदयको सुग्गेकी ठोरके समान सात टेपुके फूलोने ही कुछ कम टुक-टुक कर रक्ता या या कनैरके फूलोने ही कुछ कम जसा खन्ना या कि यह कोपल भी अपनी भीटी ब्रूक सुवा सुनाकर उन्हे धीर धार डालनेपर उतरा हो रहो है ॥२२॥ गवन होकर मोठे स्वरमे कूफनेवासे नर नौजतोने और मस्तीसे गूँजते हुए धीरोने सती स्त्रियोके चाल धीर मर्वादा-भरे हृद-धोवो भी थोड़ी देरके लिये अपनी कर दिया है ॥२३॥ वसन्तमे वाला हो पड़ता नहीं है, इसलिए आश्चर्य नजरियोसे सदी धागकी डालोको हिसानेवाला और कौबलके सदेखोको चारों ओर

कुन्दैः सविश्रमवधूहसितावदातै-

रुदयोचितान्युपवनानि मनोहराणि ।

चिचं मुनेरपि हरिन्त निवृत्तरागं

प्रागेव रागमलिनानि मनांसि यूनाम् ॥२५॥

आलम्बिहेमरसनाः स्तनसक्तहाराः

कंदर्पदर्पशिथिलीकृतगात्रवप्यः ।

मासे मधौ मधुरकोकिलमृगनादै-

नर्या हरन्ति हृदयं प्रसभं नराणाम् ॥२६॥

नानामनोज्ञकुसुमद्रुमभूषितान्ता-

नृष्टान्मयपुष्टनिनदाकुलसानुदेशान् ।

शैलेयज्जालपरिणद्धशिलातलान्ता-

नृष्टा नतः पितिभृतो मुदमेति सर्वः ॥२७॥

नेत्रे निमीलयति रोदिति याति शोकं

प्राणं करेण विरुणद्धि विरौति चोच्चैः ।

कान्तावियोगपरिस्तेदितचिचवृत्ति-

र्दृष्टाऽध्वगः

कुसुमितान्सहकारवृक्षान् ॥२८॥

- १ फैलानेवासा सुन्दर वसन्ती पवन सोंगोवा मन हरता हुआ वह रहा है ॥२५॥ कामिनीयोकी महतानी हँसीके समान उल्लसते पुष्पके फूलोंके पमकते हुए मनोहर उपवन जब मोह-मायासे दूर रहनेवाले मुनियों तथा मन हर लेते हैं तब नवयुवकोंके प्रेमी हृदयकी वो बात ही क्या ? ॥२५॥ चतुर्थे जब कोयलकी चूक सुनाई देने लगती है, भरी गुँजने लगते हैं, उक्त समय वनरके छोटेरी करपनी बाँधे, स्तनोपर मोतीके दार मटकाए और-बामकी-उल्लेखनासे-छोले छोरवाली स्त्रियाँ वनपूर्वक सोवोंका मन अपनी ओर खींच लेती हैं ॥२६॥ जिन पर्वतोंकी चोटियोंके ओर-ओरपर सुन्दर फूलोंके पेठ लगे हैं, जिनपर कोयलकी चूक और मोरोरी गुंज सुनाई दे रही है और जिनपर चट्टानें फेंकी हुई हैं, उन चट्टानोंसे पहाड़ोंको देख-देखकर सबको ध्यानन्द मिलता है ॥२७॥ धिपनी स्त्रियोंके दूर रहनेके कारण जिनका जो वैचल्य हो रहा है वे यात्री जब मञ्जरियोंके लगे हुए फामने पेड़ोंको देखते हैं तब अपनी धाँध बन्द करने रोते हैं, पछताते हैं, अपनी नाक बन्द कर लेते हैं कि वही मञ्जरियोंकी भाँती-बीती महष नामके पक्षीचर स्त्रीकी याद न दितादे और

समदमधुकराणां कोकिलानां च नादैः

कुसुमितसहकारैः कर्णिकारैश्च रम्यः ।

इषुभिरिव सुतीक्ष्णैर्मनसं मानिनीनां

तुदति कुसुममासो मन्मथोदीपनाय ॥२६॥

रुचिरकनककान्तीन्मुखैश्च

पुष्पराशी-

न्मृदुपवनविधृतान्पुष्पितारवूतदृष्टान् ।

अभिमुखमभिषीक्ष्य वामदेहोऽपि मार्गे

मदनशरनिघातैर्मोहमेति प्रवासी ॥३०॥

परभृतकलगीतैर्हादिभिः

सङ्घांसि

स्मितदशनमयूखान्कुन्दपुष्पप्रभाभिः ।

वरकिसलयकान्तिं

पल्लवैर्विद्रुमाभै

रुपहसति वसन्तः कामिनीनाभिदानीम् ॥३१॥

फलकमलकान्तेराननैः

पाण्डुरगण्डै-

रुपरिनिहितहारैश्चन्दनार्द्रैः स्तनान्तैः ।

मदजनितविलासैर्दृष्टिपातैर्मुनीन्द्रा-

न्स्तनभरनतनार्यः कामयन्ति प्रशान्तान् ॥३२॥

पूत फूटकर रीते लगते हैं ॥२६॥ कोकिल और मधुमाते भीरीके स्वरसे गुंजनेवाले और हुए आमके पेड़ोंसे भरा हुआ और मनीहर कर्नरके फूलोंवाले अपने बने बाणोंसे यह वसन्त मानिनी स्त्रियोंके मन हसलिये बीध रहा है कि उनमें प्रेम जग जाय ॥२६॥ परदेसमें पया हुआ यात्री एक तो बो ही बिछोहसे दुःखता पतला हुआ रहता है तिसपर जब यह मन्मद मन्द बहनेवाले पवनके झोपेसे हिलते हुए और सुन्दर सुनहले और गिरानेवाले, वीरे हुए आमके गूदोंकी अपने सामने मार्गमें देखता है तो वह कामदेवके बाणोंकी चोट खाकर भूलित होकर गिर पड़ता है ॥३०॥ इस समय जी दुलसानेवाले कोकिलने गीत सुना सुनाकर यह वसन्त, सुन्दरियोंकी रसमयी बातोंकी चित्तो जटा रहा है । अपने कुन्दके फूलोंकी चमक दिखाकर यह वसन्त स्त्रियोंकी मुसकानपर चमक उठनेवाले दाँतोंकी दमककी हँसी उठा रहा है और मूंगे जैसी लाल लाल कोमल पत्तोंकी ललाई दिखाकर उन कामिनियोंकी ओपलो जैसी कोमल और लाल हृदयियोंकी जला रहा है ॥३१॥ स्तनोंके धोकसे मुकी हुई स्त्रियाँ अपने स्वयं कमलके समान सुनहरे गालोंवाले मुँहसे, पीने चन्दनसे पुते और मोतियोंके हार पड़े

कुन्दैः सविभ्रमवधूहसितावदातै-

रुद्योतितान्युपवनानि मनोहराणि ।

चिचं मुनेरपि हरिन्ति निवृत्तरागं

प्रागेव रागमलिनानि मनांसि यूनाम् ॥२५॥

आलम्बिहेमरसनाः स्तनसक्तहाराः

कंदर्पदर्पशिथिलीकृतगात्रयष्टयः ।

मासे मघौ मधुरकोकिलभृङ्गनादै-

नार्या हरन्ति हृदयं प्रसन्नं नराणाम् ॥२६॥

नानामनोज्ञकुसुमद्रुमभूषितान्ता-

नृष्टान्यपुष्टनिनदाङ्गुलसानुवेशान् ।

शैलेयज्जालपरिणद्धशिलातलान्ता-

नृष्टा नतः चितिमृतो मुदमेति सर्वः ॥२७॥

नेत्रे निमीलयति रोदिति याति शोकं

प्राणं करेण विरुणद्धि विरैति चोच्चैः ।

फान्तावियोगपरिखेदितचित्तवृत्ति-

र्हृष्टाऽप्यगः कुसुमितान्सहकारवृक्षान् ॥२८॥

। फलानेवासा सुन्दर पक्ष्मी पवन सोगोवा मन हरता हुआ वह रहा है ॥२५॥ कामिनिवीकी महतानी हँसीके समान उनसे पुन्दके फूलोंके समकते हुए मनोहर उपवन जब मोह-मायासे दूर रहनेवाले मुनियो तथाका मन हर लेते हैं तब कवयुवकोंके प्रेमी हृदयकी तो दात ही क्या ? ॥२५॥ यत्तमे जब कोमलकी नूक सुनाई देने लगती है, और गुँजे लगते हैं, उस समय कभरमे सोनेकी बरधनी बाँधे, रजनीपर मोतोने हार लटकाए धीरे-धामकी-जतेजमासे-हीले शरीरवासी छिपावलपूर्वक सोनेका मन अपनी धीरे सींचे लेती है ॥२६॥ जिन पर्वतोंकी पोटियोंके धीरे-धीरेपर सुन्दर फूलोंके पेठ खडे हैं, जिनपर बोलसोकी नूक धीरे धीरेकी गुँज सुनाई दे रही है धीरे जिनपर चट्टानें फँसी हुई हैं, उन पथरीने पहाड़ोंको देख-देखकर सबको मानन्द मिलता है ॥२७॥ जिनकी छिपोंके दूर रहनेके कारण जिनका जो बेचैन हो रहा है वे यानी जब मञ्जरियोंके तले हुए घासने पेड़ोंको देखते हैं तब अपनी प्राँत धन्द करने लेते हैं, पढ़ताते हैं, अपनी नाव बन्द कर लेते हैं कि वही मञ्जरियोंकी नीली-नीली सहज भावमे पढ़ेकर स्त्रीकी याद न दिलादे और

समदमधुकराणां कोकिलानां च नादैः

कुसुमितसहकारैः कर्णिकारैश्च रम्यः ।

इषुभिरिव सुतीक्ष्णैर्मनिसं मानिनीनां

तुदति कुसुममासो मन्मथोद्दीपनाय ॥२६॥

रुचिरकनककान्तीन्मुञ्चत

पुष्पराशी-

नृदुपवनविधूतान्पुष्पितांश्चूतवृक्षान् ।

अभिमुखमभिवीक्ष्य क्षामदेहोऽपि मामे

मदनशरनिपातैर्मोहमेति श्रवासी ॥३०॥

परभृतफलगीतैर्हार्दिभिः

सद्वचांसि

स्मितदशनमयूखान्कुन्दपुष्पप्रभाभिः ।

करकिसलयफान्ति

पल्लवैर्विद्रुमाभै

रुपहसति वसन्तः कामिनीनामिदानीम् ॥३१॥

कनककमलकान्तैराननैः

पाण्डुरगण्डै-

रुपरिनिहितहारैश्चन्दनार्द्रैः स्तनान्तैः ।

मदजनितविलासैर्दृष्टिपातैर्धुनीन्द्रा-

न्स्तनभरनतनार्यः क्षामपन्ति प्रशान्तात् ॥३२॥

फूट-फूटकर रोने लगते हैं ॥२६॥ कोकिल और मदनमाले औरोंके स्वरोंसे भूँजनेवाले और हुए धागके पैद्योसे भरा हुआ और मगोहर कर्णरके फूलोवाले अपने पंने बाणोसे यह वसन्त मानिनी लियोके मन हसलिये बीष रहा है कि उनमे प्रेम जय जाय ॥२६॥ परदेतमे पछा हुआ धानी एक तो यो ही बिद्योहले दुबला पतला हुआ रहता है तिसपर जय यह मन्द मन्द बहनेवाले पवनके झोकेसे झिलते हुए और सुन्दर सुनहले और मिरानेवाले, बोरें हुए धामके वृक्षोकी धपने सामने मार्गमें देखता है तो यह कामदेवके बाणोकी मोट छाजद झूँझत होकर गिर पड़ता है ॥३०॥ इस समय जी हलसानेवाले कोकिलके गीत सुना सुनाकर यह वसन्त, सुन्दरियोकी रसमयी बातोकी खिल्ली उड़ा रहा है । अपने पुन्दके धूलोकी शमक दिखाकर यह वसन्त स्त्रियोकी गुसलानपर भजन छठनेवाले दोतोकी दयवकी हँसी उड़ा रहा है और भूगे जैसी साल-साल थोमस पत्तोकी जलाई दिखाकर उग कामिनियोकी कोपनी जैसी सोमल और लाल हवेलियोकी जला रहा है ॥३१॥ स्तनोके बोझसे भुकी हुई स्त्रियाँ अपने स्वयं शमलके समान-युनहरे भावोवाले मुँहसे, गीले चन्दनसे पुते और मोतियोके हाट पडे

मधुसुरभि मुखान्नं लोचने लोभ्रतात्रे
 नवकुरकपूर्णाः केशपाशो मनोज्ञः ।
 गुरुतरकुचगुग्मं श्रोत्रिविम्बं तथैव
 न भवति किमिदानीं योपितां मन्मथाय ॥३३॥
 आफम्पितानि हृदयानि मनस्विनीनां
 चार्तैः प्रफुल्लसहकारकृताधिवासैः ।
 उत्कृजितैः परभृतस्य मदाकुलस्य
 श्रोत्रप्रियैर्मधुकरस्य च गीतनादैः ॥३४॥
 रम्यः प्रदोषसमयः स्फुटचन्द्रभासः
 पुंस्फोफिलस्य विरुतं पवनः सुगन्धिः ।
 मचालियूथविरुतं निशि सीधुपानं
 सर्वं रसायनमिदं कुसुमायुधस्य ॥३५॥
 रक्ताशोकविकल्पिताधरमधुर्मच्छिरेफस्वनः
 कुन्दापीडविशुद्धदन्तनिकरः प्रोत्फुल्लपमाननः ।
 चूतामोदसुगन्धिमन्दपवनः शृङ्गारदीचसुरः
 कल्पान्तं मदनप्रियो दिशतु यः पुष्पागमो मङ्गलम् ॥३६॥

हुए स्तनसे और मठवानी जवमला बरी चितवनसे, शास्त्र चितवासे तवस्वियेका मन भी दिया
 देती है ॥३३॥ भासवसे महबता हुआ शिथोका फमलने समान मुख उनकी शेष-जैती लाल-लाल
 भाँके, तए कुरकके पुनोरो राजे हुए उनके कुन्धर लूटे उनके बड़े-बड़े गोल गोल स्तन और बँते ही
 बड़े बड़े गोल-गोल नितम्ब तथा लोभोके मनम कामदेवको नहीं जवा रहे हैं ॥३३॥
 बोरे हुए धामने पेटीम बसे हुए पवनसे मदमस्त जोबिलकी फूकसे और मोरोकी मन-
 भावनी गुजारोसे मनस्विनी स्त्रियोके मन भी दिया जाते ॥३४॥ सुजावनी साँके, छिटकी
 जाँदनी, जोममको कूक सुगन्धित पवन, मठवासे मोरोकी गुजार और रातमें घासव पोना, ये सब
 कामदेवको जगाए रखनेवाले रसायन ही हैं ॥३५॥ अमृत-भरे घण्टोके समान लाल धातुके मठ-
 वाले मोरोकी गुंजते, दाँतोकी जमवती हुई चाँतो जैसे जबसे कुन्दके हारोसे भलीभाँति मिले हुए
 कमलके समान मुताँते और धामने मोरोकी सुगन्धमे बसे हुए मन्द-मन्द पवनसे यह भू गारकी दिसा

मलयपवनविद्धः

कोकिलालापपरम्पः

सुरभिमधुनिपेकाल्लब्धमन्धप्रबन्धः ।

विविधमधुपयुर्थैर्वेष्टयमानः

समन्ता-

ऋवतु तव वसन्तः थेष्टकालः सुखाय ॥३७॥

आग्नी मञ्जुलमल्लरी वरशरः सत्किञ्चुकं यदनु-

भ्यां यस्यालिकुलं कलङ्करहितं छत्रं सितांशुः सितम् ।

मत्सेभो मलयानिलः परमृत्ता यद्गन्दिनो लोकजि-

त्सोऽयं वो वितरीतरीतु वितनुर्मद्रं वसन्तान्वितः ॥३८॥

इति महाकविश्रीकालिदासविरचिते ऋतुसंहार काव्ये वसन्तवर्णनं नाम पष्ठः सर्गः ॥

देनेवाला और कामका मित्र वसन्त भाप सोमोका सदा प्रसन्न रखे ॥३९॥ मलयके बागुबासा, कोकिलकी कूकसे जी सुमानेवाला, तथा सुगन्धित मधु बरसानेवाला और चारों ओर भीरेसे घिरा हुआ वसन्त भापको सुखी और प्रसन्न रखे ॥३७॥ जिसके शरीरके चारों ओर ही बाण हैं, देस ही धनुष है, भीरोकी पीठ डोरी है, मलयपवनके आवाज हुआ पवन ही भतबाला हाथी है, कोयल ही गायक है और शरीर न रहते हुए भी जिसने ससारको जीत लिया है वह कामदेव वसन्तके साथ भापका कल्याण करे ॥३८॥

स्मिन्

महाकवि श्रीकालिदासका रचा हुआ ऋतुसंहार काव्य में वसन्त-वर्णन नामका-छठा सर्ग पूर्ण हुआ

॥ ऋतुसंहार काव्य पूर्ण हुआ ॥

पात्र-परिचयः

पुरुषाः

सूत्रधारः—नाटकस्य प्रबन्धकर्त्ता ।

दुष्यन्तः—हस्तिनापुरस्य सम्राट् ।

भद्रसेनः—सेनापतिः ।

मातङ्ग्यः—विदूषकः ।

सर्वदमनः—दुष्यन्तस्य पुत्रः (भरतः) ।

शोमराजः—राजः धर्मगुरुः ।

रैवतकः—दीवारिकः ।

करभकः—राजसेवकः ।

पार्वतायनः—कञ्चुकी ।

वैतालिको—राजचारणौ ।

वैशानसः, शाङ्ग'रवः
सारदत्तः, हारीशः, गौतमः } कण्व ऋषेरन्तेवासिनः ।

श्यामलः—दुष्यन्तस्य श्यामलः, प्रधान राज-
पुरपः ।

धीवरः—मत्स्यग्राही ।

सूचरः, बाहुवः—राजपुरपौ ।

मातङ्गिः—दुष्यन्तस्य सारथिः ।

मारीचः—(कश्यपः) प्रजापतिः ।

दुर्गमा—ऋषिः ।

स्त्रियः

मटी—सूत्रधारस्य पत्नी ।

शकुन्तला—कण्वस्य पालिता कन्या ।

अनसूया, प्रियंवदा—शकुन्तलायाः सख्यौ ।

यौमती—एका तृपदिवनी ।

चतुरिका

परश्रुतिका

मधुस्यारिका

} राजसेविका ।

प्रतिहारी, यवनी—परिचारिके ।

सानुमती—एका अम्बरा ।

अविधिः—कश्यपस्य पत्नी ।

॥ श्रीः ॥

॥ अभिज्ञानशाकुन्तलम् ॥

प्रथमोऽङ्कः

या सृष्टिः स्रग्दुराद्या वहति विधिद्रुतं या हविर्पाद-दीप्री

ये द्वे कालं विभक्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।

यामाहुः सर्वमीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः

प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरिशः ॥ १ ॥

[मान्यन्ते]

सूत्रधार — मलमतिविस्तरेण । (नेपथ्याभिमुखमवलोच्य) धार्ये । यदि नेपथ्यविमाननयसितम्
इतरतावताम्यताम् ।

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

प्रथम अङ्कः

शिवजी उस जनके रूपमे हुये प्रपन्न दिखाई देते हैं जिसे ब्रह्माने सबसे पहले बनाया, उस धर्मिने ऊपर दिखाई देते हैं जो विधिके शास्त्र की हुई हवन-कारणो ग्रहण करती है, उल होताके रूपमे दिखाई देते हैं जिसे मग करनेका काम मिला है, इन पद्म और सूर्यके रूपमे दिखाई देते हैं जो दिन और रातका समय निश्चित करते हैं, उस प्राकाशके रूपमे दिखाई देते हैं जिसका गुण शब्द है और जो सुधार घरमे रखा हुआ है, उस पृथ्वीके रूपमे दिखाई देते हैं जो सब जीवोको उपपन्न करनेवाली बताई जाती है, और उस वायुके रूपमे दिखाई देते हैं जिसके कारण सब जीव जी रहे हैं । जन, धर्मि, होता, सूर्य, चन्द्र, प्राकाश, पृथ्वी और वायुके इन पाठ प्रत्यक्ष रूपमे जो मगवान् शिव सबको दिखाई देते हैं वे आप लोगोका कल्याण करें ॥१॥

[मगतावरण हो चुकनेपर]

सूत्रधार — अब बहुत विस्तार करना ठीक नहीं है । [नेपथ्यकी ओर देखकर] धार्ये । यदि शृङ्गार हो चुका हो तो इधर आ जाना ।

पात्र-परिचयः

पुरुषाः

- सूत्रधारः—नाटकस्य प्रबन्धकर्त्ता ।
 दुष्यन्तः—हस्तिनापुरस्य सम्राट् ।
 भद्रसेनः—सेनापतिः ।
 मादव्यः—विदूषकः ।
 सर्वदमनः—दुष्यन्तस्य पुत्रः (भरतः)
 तोमराजः—राजः धर्मशुरुः ।
 रैवतकः—दौवारिकः ।
 करभवाः—राजशेवकः ।
 पार्यतामनः—कञ्जुकी ।
 पंतानिकी—राजचारणी ।
 वैशानसः, चाङ्गैरवः
 चारदत्तः, हारीशः, गौतमः } कण्व ऋषेरन्तेवासिनः ।
 श्यामन्तः—दुष्यन्तस्य क्यालः, प्रथम राज-
 पुरुषः ।
 धीवरः—मत्स्यग्राही ।
 शूषवः, जामुवः—राजपुरुषौ ।
 मातलिः—इन्द्रस्य सारथिः ।
 मारीचः—(कश्यपः) प्रजापतिः ।
 दुर्वाभा—ऋषिः ।

स्त्रियः

- नटी—सूत्रधारस्य पत्नी ।
 शकुन्तला—कण्वस्य पालिता कन्या ।
 मनसूया, प्रियंवदा—शकुन्तलायाः सहयो ।
 गौमती—एका तृपस्विनी ।
 चतुरिका
 परभृत्तिका
 मधुकारिका } राजसेविका ।
 प्रतिहारी, यवनी—परिवारिके ।
 सानुमती—एका अन्सरा ।
 यशितिः—कश्यपस्य पत्नी ।

॥ श्रीः ॥

॥ अभिज्ञानशाकुन्तलम् ॥

प्रथमोऽङ्कः

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्याद-दीप्री

ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुह्या या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।

यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राण्यन्तः

प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥ १ ॥

[नाट्यान्ते]

सूत्रधार — भलमतिविस्तरेण । (नेपथ्याभिसुप्तमयसोवच) प्राप्ये । यदि नेपथ्यविधानमवसितम्
इत्यस्तावदापम्पताम् ।

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

प्रथम प्रकृ

शिवजी उस जलके रूपमे हमे प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं जिसे बहाने सबसे पहले यमाद्या; उस शक्तिके रूपमे दिखाई देते हैं जो विधिके साथ ही हुई हस्त-रक्षणारी इच्छा करती है; उस होताके रूपमे दिखाई देते हैं जिसे यज्ञ करनेका काम भिन्ना है, उन चन्द्र और सूर्यके रूपमे दिखाई देते हैं जो दिन और रातका समय निश्चित करते हैं, उस आकाशके रूपमे दिखाई देते हैं जिसका गुरु शब्द है और जो सत्कार भरमे रमा हुआ है, उन पृथ्वीके रूपमे दिखाई देते हैं जो सब बीजोंको उत्पन्न करनेवाली बताई जाती है, और उस वायुके रूपमे दिखाई देते हैं जिसके कारण सब जीव जी रहे हैं । जल, अग्नि, होता, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायुके इन आठ प्रत्यक्ष रूपोंमे जो भगवान् शिव सबको दिखाई देते हैं वे आप लोगोंका कल्याण करें ॥१॥

[भगवान् शिव हो चुकनेपर]

सूत्रधार.—अब बहुत विस्तार करना ठीक नहीं है । [नेपथ्यकी ओर देखकर] प्राप्ये । यदि
शृङ्गार हो चुका हो तो दृष्टि आ जाय ।

[प्रविश्य]

नटी—अजबत इधं मिह । आणवेहु अओ को लिखोओ अशुचिद्विघ्नवृत्ति ।

(आयेपुन इयमस्मि । आज्ञापयतु आर्यः को निमोषोऽनुदीयतामिति ।)

सूत्रधारः—आर्ये इयं हि रसभावविशेषदोषानुदोषकभाविस्वस्याभिरूपभूयिष्ठा परिपत् ।

अस्याश्च कानिदासप्रपितपस्तुनाभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यस्ममाभिः ।

तदप्रतिपाद्यमाधोदतरं यत्नः ।

नटी—सुविहितप्रयोगदाए अजस्त ए किं वि परिहृविस्तदि ।

(सुविहितप्रयोगताऽप्यस्य न किमपि परिहृपमिष्यते ।

सूत्रधारः—[वस्मिन्तम्] आर्ये ! कययामि ते भूतार्थम्—

आ परितोपाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।

यत्नवदपि शिवितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥ २ ॥

नटी—[वस्मिन्तम्] अज एव एवम् । अन्तरकरदस्मिन् दाव अओ आणवेहु ।

(आर्य एवमेतत् । अनन्तरकरणीय तावदायं आज्ञापयतु ।)

सूत्रधारः—आर्ये स्मिन्यदस्याः परिपद्यः श्रुतिप्रमोवहेतोर्गोतात्करणीयमस्ति ।

नटी—अज कबमं उण उहुं अघिकरिअ गाइस्तम् ।

(अथ कतमं पुनजुंत्तुं अघिकृत्य तास्यामि ।)

[आकर]

नटी—आ गई आयेपुन ! आज्ञा कोजिए कौन-सा नाटक खेला जाय ।

सूत्रधार—आर्ये ! रस और भावका चमत्कार दिखानेवाले कलाकारोंके आभयदाता महाराज विक्रमादित्यको इस सभाको आज विशेष रूप से बड़े-बड़े विद्वानोंने सुतोभित किया है इसलिये इन्हें कानिदासका नया रस दृष्टा अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक ही दिखाना चाहिए । तो जाकर सब पात्रोंको ठोक कर टांकी ।

नटी—आपने तो पहलेसे ही ऐसा अशब्दा मिलाकर पकड़ा कर दिया है कि कोई उँगली नहीं उठा सकता ।

सूत्रधार—[मुसकराकर] आर्ये ! सच्ची बात बताता हूँ कि जबतक विद्वान् लोग न मान लें कि नाटक बढिया है तबतक मैं नाटकको सफल नहीं समझता क्योंकि पात्रोंको जाहे जिसने भी अच्छे बंगड़े सिखाया जाय फिर भी मनको खन्तोप नहीं होता ॥२॥

नटी—[विनयके साथ] हाँ, यह तो ठीक है । आर्य ! तो आप जो आज्ञा दें वही भव दिया जाय ।

सूत्रधार—आर्ये ! इस सभाके सदस्योंके कानोंकी ध्यान-देनेवाला बढिया गीत छेड़नेसे बढ़कर और क्या होगा ।

नटी—तो जिस ऋतुपर गीत छेड़ा जाय ।

सूत्रधारः—घायें नखिभमेव तावरचिरप्रवृत्तनुपभोगक्षमं प्रीप्सुतमममधिकृत्य गीयताम्।
सम्प्रति हि—

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गिसुरभिवनवाताः ।
प्रच्छाद्यसुलभनिद्रा दिवसाः परिश्रामरमणीयाः ॥३॥

नटी—तह । (एषा) [इति गायति]

ईसीसिचुंविआई भमरेहिं सुउमारदरकेसरसिहाई ।
ओदेसंभति दञ्जमाणा पमदाथो सिरीसकुसुमाई ॥४॥
(ईपदोपचुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारतरकेसरसिखानि ।
अवतसमन्ति दञ्जमाणा, प्रमदा, शिरीषकुसुमानि ॥)

सूत्रधारः—घायें ! साधु गीतम् । अहो रागनिविष्टचितकृतिरतिश्रित इव सर्वतो रङ्गः ।
सविधानी कतमं प्रयोगभाभित्येनभाराधयामः ।

नटी—एवं अञ्जमिरसेहिं १४मं पुञ्ज आसत्तं अहिण्णासत्ताज्ज्वलं एताव अणुत्वं एतावत् पमोए
अधिकरीअसति ।

(नट्यार्थमिभिः प्रथममेवाज्ञतमभिज्ञानशाकुन्तल नामापूर्वं नाटक प्रयोगेऽभिक्रियतामिति ।)

सूत्रधारः—घायें सम्भगनुधोभितोऽस्मि । ननु अस्मिन्नाले चिन्तुत्वं लभु मया । कुतः—

तयास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभ हृतः ।

सूत्रधारः—प्रीप्सु अभी-प्रभी घादै ही है और बड़ी सुहावनी भी लगती है । इस-
लिये इस समय प्रीप्सु अणुपर ही कोई राग देखो । देखो—

इस दिनों लहानेमे जल बड़ा सुहावा है, पाटलमे बसा हुआ यनका पवन भी बड़ा
प्रच्छा लगता है वृक्षोंकी पत्ती श्यामे नींद भी अच्छी आती है और आंजकलकी सम्पदा
तो इतनी सुहावनी होती है कि प्रेक्षा ही क्या ॥३॥

नटी—ठीक है । [गायती है]

जिन शिरीष-सुमनोंके कोमल केसर-दलकी मधुर शिखारें ।

भूम-भूमकर रसमय औरे फिर-फिर बँठ-बँठ उठ जाएँ ।

दया भावसे लवको चुनकर सहृदयतासे लेकर सत्वर ।

कर्णकुल रचकर कानोमे पहल रही समको प्रगटारें ॥४॥

सूत्रधारः—वाह गायें ! बहुत ही अच्छा गाय । देखो ! सुम्हारे रागसे लोग ऐसे
वैशुध हो गए हैं कि पारी रंजनाला चिच-लिली-सी जान पड़ती है । तो अब कौन-सा नाटक
दिखाकर इनका मन बहुलाया जाय ।

नटी—घायने अभी-प्रभी कहा था न कि अभिज्ञानशाकुन्तल नामका नया नाटक
सेता जाय ।

सूत्रधारः—ओह ठीक स्मरण दिलाया घायें ! मैं तो सुन ही गया था । सुम्हारे पीतके मनो-
हर रागने मेरे मनको बचपूर्वक बँधे ही खीच लिया—

सूतः—आयुष्मन् उद्धातिनी भूमिरिति मया रश्मिसंयमनादयस्य मन्दोद्धतो वेगः । तेन मृग एव विप्रकृष्टान्तरः संवृतः । संप्रति समवेशयतिनस्ते न दुरासवो भविष्यति ।

राजा—तेन हि मुच्यन्तामगोषयः ।

सूतः—यदाज्ञापयत्तायुष्मान् [रथवेगं निरूप्य] आयुष्मन् पश्य पश्य ।

मुक्तेषु रश्मिषु निरापतपूर्वकाया निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः ।

आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलङ्घनीया धावन्तपर्मा मृगज्वात्सममेव रथ्याः ॥८॥

राजा—[सहपंम्] पूनमतोत्य हरितो हरिश्च पतन्ते प्राजिनः । तथा हि—

यदालोके सूक्ष्मं ब्रजति सहसा तद्विपुलतां

यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसंधानमिव तत् ।

प्रकृत्वा यद्वक्रं तदपि समरेखं नयनयो-

न मे दरे किञ्चित्क्षणमपि न पार्श्वे रथज्वात् ॥९॥

सूत पश्यन् अपापायमानम् । [इति धारसंधानं नादयति ।]

[नेपथ्ये]

भी भी राजन् ! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः ।

सारथी—आयुष्मन् ! ऊँची-नीची भूमि होनेके कारण मैंने रास खींचकर रथका वेग कम कर दिया था, इसीलिये मृग बहुत दूर निकल गया है । पर आगे समयस है, अब आप उसे हाथसे आपा ही समझिए ।

राजा—वो रास डीली करो ।

सारथी—जैसी आयुष्मायुकी आज्ञा । [रथका वेग देखकर] देखिए, देखिए आयुष्मन्—
राज डीलते ही अपने आगेका शरीर फैलाकर और पायकी चोरी सीधी सड़ी करके ये पीछे हलते वेगसे दौड़ रहे हैं कि इनकी टांगेंसे उठी हुई धूम भी इन्हे नहीं छू पा रही है । ऐसा जान पड़ता है मानो हरिणकी बीइये ये होट कर रहे हों ॥८॥

राजा—[प्रसन्न होकर] सबकुछ इन घोड़ोंने तो सूखे घोर इन्धके घोड़ोंको भी बीइये पछाड़ डाला है नयोंकि जो वस्तु दूरसे पतली दिखाई देती थी वह गुरस्त मोटी हो जाती है ओ बीचसे कटी जान पड़ती थी वह मट्ट ऐसी जान पड़ने लगती है मानो उसे किसीने जोड़ दिया हो और जो स्वभावतः टेढ़ी वस्तुएँ हैं वे सीधेको सीधी-सी दिखाई देती हैं । रथ इतने वेगसे दौड़ रहा है कि कोई वस्तु न धी मुझसे दूर हो रह पाती है न समीप ही ॥९॥

सारथी ! तो, हरिणको मारता हूँ ।

[बाण चढ़ानेका अभिनय करता है ।]

[नेपथ्यमे]

है ! है ! राजन् ! यह आश्रमका मृग है । इसे नहीं मारना चाहिए ! नहीं मारना चाहिए ।

मृत—[आश्चर्यपूर्वक] आयुष्मन् ! अयम् सन्तु ते आणुपातितः कृष्णसारस्यान्तरे
तपस्विन उपस्थिताः ।

राजा—[पश्यन्] तेन हि प्रगृह्यन्तां राजिनः ।

मृत—तथा । [इति रथ दयापवति ।]

[ततः प्रविशत्यात्मना तृतीयो वैश्वानरः]

वैश्वानरः—[हस्तमुद्धृत्य] राजन् । आपमपृणोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः ।

न खलु न खलु वाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्

मृदुनि मृगशरीरे त्वराशाविब्रामिः ।

क वत हरिणकानां जीवितश्चातिलोर्ल

क च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते ॥१०॥

तस्मापुकुनमंधानं प्रतिमंहर सायकम् ।

स्मार्तश्रापाय यः शस्त्रं न प्रदत्तुमनागति ॥११॥

राजा—एष प्रतिहतः [इति यथोक्तं करोति ।]

वैश्वानरः—तदुत्प्रेतस्युपवर्तमानोपाय भवतः ।

जन्म यस्य पुरोरंशे युक्तरूपमिदं तव ।

पुनमेवं युगोपेतं चकवर्तिनमाप्नुहि ॥१२॥

तारपी—[मुनिरुपवीर देवदेव] आयुष्मन् ! त्विन् कामं हरिणवर आर धर्मो बाण
बाण रहे है उसके मोहमे तारपी मोह का मरे हुए है ।

राजा—[वदतः] तो रोव मो मोहोरो ।

तारपी—प्रगती बाण है [रथ बाण कर लेता है ।]

[दो द्विपोंके माध वैश्वानर (तारपी) का प्रवेशः]

वैश्वानर—[हाथ उठाकर] राजन् । यह आश्रयका नृप है । इसे नहीं मारना चाहिए ।
यही मारना चाहिए ।]

हजार वर्षी बाण न अपादयताः । आरका बाण इसके बीचमें तारपीके निचे बैठा ही
बदकर है जैसे कईके कट्टीके निचे धरि । अपादय, कहीं तो बेधारे हरिणोः बीचमें बाण
घोर वही बचके ममान बहोर आरके मोहोमे बाण ॥१०॥ इननिचे यह जो आरने
लाकर बाण मारता है इसे उगार बाणिए । करोकि आरके रथ तो कीर्तिनीटी रताके
निचे है निरारापीतो मारके देते नहीं ॥११॥

राजा—भीकिन् उगार लेता है । [बाण उगारता है ।]

वैश्वानर—आर जैसे वृषभके पीरवर्षी मही मोहता देता है ।

रिगने पुरवर्तने मय निरा है उसके निचे नहीं उचित है । बदवान् कने आरको लेते ही
पुनोऽप्ययं चकवर्तिनमाप्नुहि ॥१२॥

इतरो—[हस्तमुद्यम्य] सर्वेषां चक्रवर्तिनं पुत्रमाप्नुहि ।

राजा—[सप्रणामम्] प्रतिगृहीतम् ।

वैतानसः—राजन् ! सविवाहदशायां प्रस्थिता वयम् । एष सन्तु कञ्चन कुतश्चेत्तनुमातिनी-
तोरमाधमो हस्यते । न चेदग्यकार्योत्तिपातः सत्प्रयत्न्य प्रतिगृह्यतामातिथेयः सत्वारः ।
अपि च—

रम्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नः क्रियाः समवलोक्य ।

ज्ञास्यसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाद् इति ॥१३॥

राजा—अपि संनिहितोऽत्र कुतपतिः ।

वैतानसः—इदानीमेव कुक्षितरं सकुलतापतिभिस्तत्वारस्य विपुल्य वैवमस्याः प्रतिकूलं
शमयितुं सौमतीर्थं गतः ।

राजा—भवतु सामेव ब्रह्मणि । तां सन्तु विदितभक्तिं मां भर्तुः करिष्यति ।

वैतानसः—साध्यामस्तावत् । [इति सविप्यो निष्क्रान्तः ।]

राजा—सूत ! तूर्णं घोषणायां । पुण्याधमवर्जनेन साध्याममानं पुनीतम् ।

सूतः—पदास्तपस्यप्राप्नुयात् । [इति भूपो रथवेगं निरूपयति ।]

मौर्वी विप्य - [हाथ उठाकर] निश्चय ही चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त हो ।

राजा—[प्रणाम करके] आपका प्राप्तीर्वाद सिरमाये ।

वैतानसः—राजन् ! हम लोग सविद्या सेवे निवृत्ते हैं । यह साधने मातिनी नदी पर
कुतपति बन्धना साधन है । यदि आपके बाप-काजमे सङ्कलन न हो तो पनकर सविधि-सत्वार
बहुल बीजिण्या । घोर फिर—

वही जय आप देखेंगे कि ऋषि लोग निविघ्न होकर सब शिषार्थ कर रहे हैं सब आप
जान भी जानेंगे कि अनुपकी छोटीकी पटकारसे बने धड़ोकासी साधनी बुझा कही-बही ठर
पट्टेबकर रक्षा कर रही है ॥१३॥

राजा—क्या कुतपति जी यहाँ हैं ?

वैतानसः—मभी मोहो देर पहुँचे अपनी पुत्री सुकुलतापो सविधि-सत्वारना नाम सोप-
कर उनके सोटे प्रदोषी चान्तिके सिधे सोपतीर्थ बने गए हैं ।

राजा—मन्त्री बात है । मैं उसीसे मिल सूँझ । यही महिर्विरो बता देगी कि मेरी उनमें
बिठनी भक्ति है ।

वैतानसः—तो हम लोग चलने हैं । [सिप्योवे साप प्रस्थान]

राजा—सारणी ! पोढ़े बड़ाधो । चलें, पवित्र साध्यके दर्शनने साध्या ही पवित्र करें ।

सारणी—जैसी साध्यापुत्री साक्षा । [फिर रथको वेगसे दोरता है ।]

राजा—[समन्तादवलोक्य] सुत ! अकपितोऽपि ज्ञायत एव कथाश्रमाभनाभोगस्तपोवन-
स्मेति ।

सुतः—कथमिव ।

राजा—किं न वदन्ति भवान् । इह हि—

नीतिराः शुक्रमर्गकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः

प्रस्निग्धाः कचिर्दिगुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः ।

विश्वसोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-

स्तोयाधारपथाभ वल्कलशिखानिप्यन्दरेखाङ्किताः ॥१४॥

अपि च

कुल्याम्भोभिः प्रसृतिचपलैः शाखिनो धौतमूलाः

गिन्नोरागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्वगमेन ।

एते चार्वागुपवनभुविच्छिन्नदर्माङ्कुरायां

नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति ॥१५॥

सुतः—तर्जमुपपन्नम् ।

राजा—[स्तोत्रमन्त्र गत्वा] तपोवननिवासिनामुपरोधो माभूत् । एतावत्प्रेय रथं स्थापय
मायवपत्तराणि ।

सूतः—धृताः प्रवृत्ताः अथतरायामुन्मात् ।

राजा—[चारों ओर देखकर] देखो सारथी ! बिना बताए ही जान पड़ता है कि हम
प्राथमिक तपोवनमें पहुँच गए हैं ।

सारथी—जी, कैसे ?

राजा—देख नहीं रहे हो ? यही—

कहीं तो वृक्षोंके सने सुगीके घोंसलोमें बिरे हुए तिल्लोके दाने बिलदे पड़े हैं, कहीं
झपर-तपर पड़े हुए निकले पत्तार बता रहे हैं कि इनपर द्विपोटके फल गूटे गए हैं, कहीं
निडर पड़े हुए मृग विष्ठासे रथ का शब्द सुन रहे हैं कि प्राथमिक कोई हने दिखेगा
नहीं और कहीं नदी-तलाशोंपर धाने-जानेकी मटियाघोंमि मुनियोंके बकलोसे टपते हुए जलकी
रेखाएँ बनी हुई हैं ॥१४॥ और देखो ! बागुके चारण सहारे लेनेवाली पानीकी मूलोसे
यहाँके वृक्षोंकी जड़ें घुम गई हैं, धीके घुएँसे नई जमनीकी ओपनोरा रंग धँधला पड़ गया
है और जहाँ-जहाँ उपवनसे मुझा उपाव ली गई है वहाँ मृग-छोने निडर होकर घीरे-घीरे
चर रहे हैं ॥१५॥

सारथी जी हाँ, यह सब तो है ।

राजा—[कुछ आगे बढ़कर] यही हम लोगोंके ध्यानेसे तपोवन-निवासियोंको दृष्ट न
हो, इसलिये रथ यहीं रोक लो । मैं उतर जाता हूँ ।

सारथी—संज्ञिए मैंने रास रोप ली है । मायुन्मात् उतर जायें ।

राजा—[भवतीर्य] सूत विनीतवेष्टेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि वामः । इदं तावत्
गृह्यताम् । [इति सूतस्याश्रमस्थानि गन्तुञ्चोपनीवार्ययति ।] सूत यावदाश्रमवासिनः प्रत्यवेक्ष्या-
हमुपाधत्ते तावदात्रैवृष्टाः क्रियन्तां यानिनः ।

सूतः—तथा । [इति निष्क्रान्तः ।]

राजा—[परिक्रम्यावलोक्य च] दृष्टमाश्रमद्वारम् यावत्प्रविशामि ।

[प्रविश्य निमित्तं मुपवत्]

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य ।

अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥१६॥

[निपत्ये] इवो इवो सहोमो । [इत इतः वक्ष्यो]

राजा—[वर्यं दृष्ट्वा] अये ! इतिहोमं वृक्षवाटिकाभाताय इव भूयते । आबद्धं गच्छामि ।
[परिक्रम्यावलोक्य च] अये ! एतास्तपस्विकायकाः स्वप्रमात्नानुरूपैः सेवनमर्तव्यतावपेयः पयो
वातुमित्तेष्वभिवर्तन्ते । [निपुण निपत्य] अहो मधुरमात्रां वर्तनम्—

शुद्धान्तर्दुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।

दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥ १७ ॥

राजा—[उत्तरकर] देखो सारथी ! आश्रममें सीधे छान्द वेष्टसे ही जाना चाहिए ।
इसलिये जब तक ये सब यहीं रहजो । [अपने आभूषण और घन्य उतारकर सारथीको देते हुए]
और देखो सारथी ! जबतक हम आश्रम-वासियोंके मिलकर खोदते हैं तबतक हम नी पोटोको
ढका कर रहजो ।

सारथी—जी, मच्छा । [प्रस्थान]

राजा—[घूमकर और देखकर] यही तो आश्रमका द्वार जान पड़ता है । इसीसे
भीतर चला जाय । [प्रवेश करके अन्धे अकुन होमै की सूचना देते हुए]—इस छात्र तपोवनकी
भूमिमें मेरी दाहिनी भुजा क्यों कड़क रही है । यहाँ बना क्या मिसने-कुलने वाला है ।
पर हाँ, जो होनी होती है (वह तो कहीं भी होकर रहती है) उसके द्वार सब बंदी होते हैं ॥१६॥

[निपत्ये]

इधर आओ सखियों, इधर आओ ।

राजा—[सुनकर] अरे ! कुलवारीके दाहिनी ओर किसीकी बागचोत-जैसी गुनाई
पड़ रही है । उधर ही जनता हैं । [घूमकर और देखकर] आ हाँ ! ये तपस्विमोक्षी बन्ध्याएँ
अपने-अपने मेलके पड़े ते-लेकर खोटे-खोटे पाँवोंको सीपनेके लिये इधर ही चली आ रही हैं ।
[ध्यान से देखकर] ओ हो ! ये तो बड़ी सुन्दर दिखाई पड़ती हैं ।—रत्निकाकी रत्नियोंमें
भी जो सुन्दरता कठिमाई से देखने को मिलती है वह यदि इन आश्रमवासिनी बन्ध्याओंकी
मिली है । तो यही समझना चाहिये कि बंगलकी सताओं ने अपने गुणों से उद्यानकी सताओं
को भी सजा दिया है ॥ १७॥ अच्छा, इनके आनेतक मैं यहीं खोदते खड़ा हो रहता हूँ ।
[देखता हुआ सड़ा रहता है ।]

पावविमां ध्यायामाश्रित्य प्रतिपालयामि । [इति विलोकयति स्फुटम् ।]

[सतः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह यथोभ्यां शकुन्तला ।]

शकुन्तला—इदो इदो सहोभ्यो । [इत इत सस्यौ]

धनमूया—हला सतः दले तुयस्ते वि तावकण्यस्स भस्समल्लखन्ना विम्वरेति तवकेमि जेरा एणोमालिभ्माकुमुमपेलवा तुम वि एदाए भान्नावालपूरणे स्थिउत्ता ।

[हला शकुन्तले स्वतोऽग्रि तावकण्यस्याधमवृत्तना प्रियतरा इति तर्कयामि येन नवमासिका-कुमुमपेलवा स्वमप्येतेषामालवात्पूरणे निमुत्ता ।]

शकुन्तला—ए केवल तावलिभोभो एवम् । अस्मि मे सोदरसहोहो वि एवेमु ।

[न केवल तावनिदोभ एव । अस्ति मे सोदरस्तेहोऽप्येतेषु ।]

[इति वृत्तवेपन रूपयति ।]

राजा—कवमिव सा कण्वकुहिता । अस्मादुदार्तो ससु तत्रमवान् कण्व य इमामाधमवर्णं निमुत्ते ।

इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःकर्म साधयितुं य इच्छसि ।

ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलता छेदुमृपिर्व्यवस्यति ॥१८॥

भवतु । वादवाग्तहित एव विवक्ष्य तावकेनां पस्यामि । [इति तथा करोति ।]

तो यही समझना चाहिये कि जगत्की सत्तामेने अपने पुणोंसे उद्यानकी सत्ताओंको भी बना दिया है ॥१७॥ प्रणय, हमने मानेसक हैं यही मोटमे लडा हो रहता हैं । देखता हुआ खडा रहता है ।]

[अपनी सखियोंसे साथ पीधोको सींचती हुई शकुन्तलाका प्रवेश ।]

शकुन्तला—इधर मामो सखियो, इधर मामो ।

धनमूया—मरी शकुन्तला ! मैं समझती हूँ कि पिता कण्व इन आश्रमके पीधोको तुमसे अधिक प्यार करते हैं, नहीं तो भग्न चमेलीकी बली जैसे कीमत् अलवासी तुमको ये पीधो भरने वा काम क्यों सींच जाते ।

शकुन्तला—मैं केवल पिताजीकी आज्ञासे हो रहा नहीं सींचती हूँ, मैं स्वयं भी इनकी माने से जेदा प्यार करती हूँ ।

[पीधामे पानी देन वा नाट्य करती है ।]

राजा—बधा यही कण्व ऋषिकी गया है । पूज्य कण्वकी यह बात खचमुच ठीक नहीं लगती कि इनो भी उन्होंने आश्रमके नामसे ओत दिया है । जो ऋषि इन सहजगुदर शरीरकी तपस्यासे विने साधना चाह रहे हैं व खचमुच नीसे कमलकी पलश्रीकी पारसे शमीका पेड काटने पर उतारू हुए हैं ॥ १८ ॥ अच्छा तब तक निश्चित होकर वृणोंकी मोटोरे इगे पीधामर दस ता लू ।

[ऐसा ही करता है ।]

शकुन्तला—सहि प्रलस्युष । अविपिण्डेण वक्रतेण दिग्बन्धाय सिद्धान्तिर हि । सिद्धिलेहि वयं ए ।

(सति घनसूत्रे) प्रतिपिण्डेन वल्कलेन प्रियवदया निबन्धिताऽस्मि । सिधिसय तावदेतत् ।)

घनसूत्रा—तह । (तथा) [इति सिधिसयति ।]

प्रियवदा—[सहस्रम्] एव पद्मेहरविस्तारदत्तं सत्तलो जोध्वणं उवाचह । मं कि उवाचमेति । (यत्र पयोधरविस्तारवित्तु भात्मको यौवनमुपावमस्य । मा किमुपावमसे ।)

राजा—काममनुरूपमस्या वपुषो वल्कलं न पुनरसंकारधियं न पुष्यति कुतः ।

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।

इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥१६॥

शकुन्तला—[समतोऽप्यतोऽप्य] एते वादेरित्यस्तवामृतीहि मुकुरेति विप्र मं केसर-
रत्नसौ । जाव एं संभावेति । (एव वादेरित्यस्तवामृतीनिस्त्वरम्यतीव मा केसरवृक्षकः । यावदेनं
संभावयामि) [इति परिक्रमति ।]

प्रियवदा—हता राजन्ते । एवम एव वयं मुहूर्तं विदुः आद्य तुए उवाचवाए तवासलाहो
विप्र घनं केसररत्नसौ गडिभावि ।

(हता शकुन्तले ! अत्रैव तावन्मुहूर्तं तिष्ठ यावत्स्वयं पश्यतां तताशलाय इवाय केसरवृक्षकः
प्रतिभाति ।)

शकुन्तला—घरी वलु विप्रवदा सि मुषं (यत वलु प्रियवदाऽसि त्वम् ।)

राजा—प्रियमपि तप्यमाह शकुन्तलां प्रियवदा । अस्याः वलु—

शकुन्तला—सखी घनसूत्रा ! इस प्रियवदान ऐसा बयकर वल्कल बांध दिया है कि मैं
हिलकुल नहीं पा रही हूँ । भाकर इसे ढीला सोकर दे ।

घनसूत्रा—प्रच्छ । [ढीला करती है ।]

प्रियवदा—[हँसते हुए ।] मुझे क्या उताहना देती ही । अपने उस पौधमको क्यों नहीं
घोप देती जो मुझारे स्तनोको इतना बढ़ाता पला जा रहा है ।

राजा—यद्यपि हमका कोमल शरीर वल्कलके योग्य नहीं है, फिर भी ये इसके शरीरको
प्रलवारो के समान ही सुशोभित कर रहे हैं । यथोक्ति—जैसे सेवारसे घिरा होनेपर भी कमल
सुन्दर लगता है और वन्द्यमाने पड़ा हुआ कमल भी चतकी खोभा ही बढ़ाता है वैसे ही
यह सुन्दरी भी वल्कल पहने हुए बड़ी मली दिखाई पड़ रही है । सच्ची बात तो यह
है कि सुन्दर शरीरपर अभी कुछ खोभा देने लगता है ॥१६॥

शकुन्तला—[सामने देखकर ।] यह केसरका वृक्ष पवनके झोको से हिलती हुई पतियोंकी
जंगलियोसे मुझे बुला रहा है । जाऊँ इसका भी मन रख लूँ । [उपर गुपती है ।]

प्रियवदा—घरी शकुन्तला, बाहर वहाँ खड़ी तो रह जा । जब तू वेदसे लगकर खड़ी
होती है तब यह केसरका वृक्ष ऐसा लगता है जैसे उससे कोई चला चिपटी हुई हो ।

शकुन्तला—इन्ही सब बातों से तो लेश बाम प्रियवदा पड़ा है ।

राजा—प्रियवदाने शकुन्तलासे घरी प्यारी और सखी ही बात तो कही है, सचमुच—

अधरः किमलयरामः कोमलविटपानुकारिणौ वाह ।

कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु मन्दम् ॥२०॥

अनगूया—हृता सज्ज्वले । इमं समयपरवह्वात् सत्तत्प्राप्तं तु यं विदलामहेषा वलनो-
त्तिष्ठति लोभातिष्ठ । ए विमुमरिदा ति ।

(हृता मनुजने । इयं रजयवत्त्वधू वासगहवारस्य स्वया कृत्तनामयेषा मनज्योत्स्नेति
नयमासिवा एतां विस्मृतामि ।)

समुत्तना—तदा अत्ताशं वि विमुमरिरसं । [सत्तामुपेत्यावलोचय च] हृता रमणीए वलु
वाले इमत्ता लदापावपमिदुल्लस्त यहमरो संवुत्तो । एवमुत्तुमनोव्यला वलजोत्तिणी बद्ध-
कलदाए जयभोमनयो सहमरो ।

तदा धारमाणमपि विस्मरिष्यामि । हृता रमणीये वलु वाले एतस्य सत्तापावपमिदुल्लस्य व्यति-
रः संवुत्ता । नयवुगुगयोवना वनज्योत्स्नो वद्धकलतयोवभोगक्षम. सहकारः ।) [इति वदयन्ती
तिष्ठति ।]

प्रियवदा—[सस्मिन्मम्] अलमूए । आलसि वि एलिमत्तं सज्ज्वलता वलजोत्तिणी अविमत्तं
वेरपदिता ?

(अत्यूदे ! जानाति वि निमित्तं पावुत्तना वनज्योत्स्नामतिमात्रं प्रेक्षत इति ?)

अनगूया—ए वलु विभावेमि । बहेहि । [न शतु विभावेयामि । वयस ।]

प्रियवदा—ए वलजोत्तिणी मनुस्तेल पावयेल संवत्ता अवि एतम एवम् अहं
विमत्ताली मनुस्तेल वरं सहेमति । (वया वनज्योत्स्ना मनुस्तेल पावयेल गगता अवि वानेवगहम-
न्यारमनोऽङ्गुपर पर लभेयेति ।)

इतरे साल-साल मोठ लताको कोपसी-जैने सवरे है, सोनो मुन्नाए कोमल-पाटापो-जैसी
जान पडती है धीर इनके अर्गोमि लिया हुआ गया यौवन मुन्नावने फूलके समान बिसाई
दे रहा है ॥२०॥

अनगूया—सकुन्तला, यह मही नई धमेसी है न, जितने कामके बूझते स्वयंवर कर
लिया है धीर जितना नाम शूने वनज्योत्स्ना (वनकी चाँदनी) रस छोड़ा है । इतने तो शू
शूने ही बली या रही थी ।

सकुन्तला—वाह इमे भूमृषी तब तो मैं अपने को भी भूष बाँझी, [सत्ताए पास जाकर
धीर देखकर] मणी, मयमुख इन मता धीर कृष्ण मेन बडे घबड़े दिमोमि हुआ है । इपर
मह पाज्योत्स्ना गिने हुए पृथ मेकर नवगीवा हुई है, उपर फलमे मदी हुई भाखाओं वाला
माणवा फूल भी उझार पर भावा हुआ है ।

[उमे देखते हुई चली रह जाती है ।]

प्रियवदा—[मुग्धगजर] अनगूया । जानते हो यह सकुन्तला इतनी मयम होकर
पाज्योत्स्नाको बडी देन रही है ?

अनगूया—मणी मणी । मैं तो नहीं जानती शू ही बता दाय ।

प्रियवदा—देखो यह मोच गयी है कि जैने यह वनज्योत्स्ना अपने मोठ वृक्षते निपट
रई है सोने की मुठे भी मेरे मोच कर दिन जाय ।

सकुन्तला—एसी खूणं दुह भ्रातृपदो मखोछहो । (एष नूनं तवात्मजस्य मनोरथः) [इति कलशमावर्जयति ।]

राजा—अपि नाम कुलपतेरप्यमस्यखण्डेप्रसन्नया स्यात् । अथवा कृतं संदेहेन ।

असंशयं सत्रपरिग्रहक्षमा यदार्थमस्यामभिलाषि मे मनः ।

सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाद्यमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥ २१ ॥

तथापि तस्मै पनामुपलभ्ये ।

सकुन्तला—[सतां प्रसन्नम्] भगवन् । तस्मिन्नेवमर्षमनुष्णयो लोभात्तिर्ष उज्जिह्व मया मे मधुघरो ग्रहिहृद् । (भगवन् ! तस्मिन्नेवमर्षमनुष्णयो भवमानिवाभुजिह्वत्वा वरुणं मे मधुघरोऽभि-
पत्ति ।) [इति भगवन्वासा रूपयति ।]

राजा—[असृग्दम्]

चलापाङ्ग दृष्टः स्पृशसि बहुशो वेपथुमती

रहस्याख्यायीव स्वनसि श्रुतु कर्णान्तिनचरः ।

फरी व्याधुन्यत्वाः पिपसि रक्षितार्थस्वमधरं

वर्षं तत्त्वान्वेषान्मधुकर इतास्त्वं खलु कृती ॥ २२ ॥

सकुन्तला—ए एसी दुहो मिरमदि । भगवन्तो ममिस्सं [पदान्तरे विषावा सहृष्टिबोवन्]
कहं इरो वि भ्रातृपदवि । हला परितामह भं इमिला दुग्धलोदेण मधुघरेण ग्रहिहृममाणं ।

सकुन्तला—यह तो तू सपने ममकी बात कह रही है ।

[घनेका जल पेढकी जड़ने छोड़ती है ।]

राजा—मह लुपिकी कम्पा कही दूसरे मर्णकी स्त्रोरो तो बही उत्पन्न हुई है । पर
सन्देह किया ही क्यों जाय । क्योंकि जब मेरा सुट मन भी इस पर रीक उठा है तब यह
निश्चय है कि इसका शत्रिपक्ष विवाह हो सकता है । क्योंकि सग्नकोके मन्त्रे जिस पाठपर बांका
हो वही जो कुछ उनका मन कहे वही ठीक गान मेला चाहिए ॥२१॥ फिर भी मैं इससे
ठीक-ठीक जानने का प्रयत्न करता हूँ ।

सकुन्तला—[धवराकर] भरे रे, जस पढते से धवराकर उछा हुआ यह भीरा
बनेलोकी छोड़र बार-बार मेरे ही मुँहपर मँवराने मया है । [भीरेसे वीहित होने का नाट्य
करती है ।]

राजा—[लसकता हुआ ।] भरे भीरे, तुम सचमुच बड़े भाग्यवान् हो । दूसरे हम
तो सच्ची बातकी खोजने ही सुट गए, तबसे तुम इसकी पक्षत वितवनेसे इसे जाते हुए इस
बाँपली हुई जालानी बार-बार सूँधी जा रहे हो, उसके कानोंके पास जाकर ऐसे भीरे-भीरे पुनपुना
रहे हो मानो कोई बड़े भेदकी बात उसे सुनाना चाहते हो और बार-बार उसके हाथों से भटके
जाने पर भी तुम उसके रस-भरे अघरीको रस पीते ही जा रहे हो ॥२२॥

सकुन्तला—भरे यह कुछ गाना ही नहीं है । चर्चुं वहाँ और हट जाऊँ । [दूसरे स्थानपर

(न एष दुष्टो विरमति । भगवतो वयिष्यामि । कथमितोऽप्यगच्छति । हता परित्रायेषा
मामनेन दुर्विनोतेन मधुकरेण धमिभूयमानाम् ।)

उभे—[संस्मितम्] या वध परित्रावु । दुस्तन्व एव्य अह्नुन् । राजपरिषदद्वयार्थं तयोवशाद्
एवम् ।

(ये यावा परित्रावु । दुष्यन्तमेवाह्नुन् । राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम ।)

राजा—अवसरोऽप्यमात्मानं प्रकाशयितुम् । न भेतष्य न भेतष्यम्—(इत्यर्थोक्ते स्वगतम्)
राजनादस्तत्प्रतिज्ञातो भवेत् । अयत्तु एव तत्त्वदमिषास्ये ।

शकुन्तला—[यदा तरे स्थित्वा सहृदित्वेणम्] कह इदोषि न अशुसरति ।

(कथमितोऽपि मामनुसरति)

राजा—[सारवभुषकृत्य] आ ।

फः पौरुषे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम् ।

अपमाचरत्ययिनयं सुगंधासु तपस्विन्यकासु ॥२३॥

[सर्वा राजान दृष्ट्वा किंप्रदिश सभ्राता ।]

मनमूमा—आज ए वसु किंवि अग्याह्नि । इम खो पिमसही ह्नु महुमरेण अहिह-
अमाणा वावरीभूवा । (भार्य न शकुन्तलायाहित । इय नो श्रियतवी बुद्धमधुकरेणामिभूयमाना
कातरीभूवा ।) [इति शकुन्तला दर्शयति ।]

राजा—[शकुन्तलामिमुखो भूत्वा] अपि तपो वदंते ।

[शकुन्तला साध्वसावनतमुखी तिष्ठति ।]

जागर भोर हृष्टि केरवर ।] भरे, क्या यहाँ भी था पहुँचा ? अब क्या करे ? भरी सलियो !
बचाओ ! बचाओ इस दुष्ट भोरेसे । इसने तो मुझे बड़ा तग कर डाला है ।

दोनो—[मुस्कराकर ।] हम कीन हीकी हैं बचानेवाली ! दुष्यन्तकी क्या मही पुकारती
हो ! भरी ! तपोवनकी रक्षा करना तो राजाका काम है न !

राजा—अपना परिधम देनेका यह प्रस्ताव भवसर है । डरो मत ! डरो मत ! [भार्या
बात कहकर फिर मन ही मन ।] किन्तु इससे तो य सबअ जायेंगी कि मैं राजा हूँ । अज्या,
तो मैं फिर यों कहता हूँ ।

शकुन्तला—[बोली बुर जाकर लड़ी होकर फिर हृष्टि केरती है ।] क्या करे ? यह तो
महीं भी मेरा पीछा नहीं छोड़ता ।

राजा—[भरोसे प्रकट होकर ।] ओह ! जबतक दुष्टोंको दह देनेकासा पुरवशी दुष्यन्त
पृथ्वीपर राज्य कर रहा है तबतक मैंन ऐसा है जो भोली-भासी ऋषि-वन्द्याओं से
छेदछाड़ करे ॥२३॥

[राजाको देखकर सब सचपत्ता जाती है ।]

मनमूमा—आर्य, ऐसी कोई बड़ी गारी विपत्ति नहीं है । हमारी इस प्यारी सखीको भोरे
ने तग कर रक्का था, इसीसे यह कुछ भवरा भी गई है । [शकुन्तलाकी ओर सनेत करती है ।]

राजा—[शकुन्तलाके सामन जाकर] भार्या तपस्या तो सफल हो रही है न ? [शकुन्तला
भीषा मूँह करने श्रुत रह जाती है ।]

मनसूया—शान्ति भविहि विसेसलाहेर ! हला सज्जन्ते ! मच्छ उद्भय फलमिहस प्रथ
उवहर, इव पावोवन्न भविस्सवि ।

(इदानीमतिथिविशेषताभेन । हला सकुन्तले ! गच्छोदय फलमिधमर्घ्यमुपहर । इदं
पावोदक भविष्यति)

राजा—भयतीनां मूर्खतयेव मिरा कृतमातिथ्यम् ।

प्रियवदा—तेरा हि इमस्सि दाय पञ्चापसीभलाए सत्तपण्णवेदिमाए मुहुत्तम उवधि-
सिन्न परिस्समविलोव करेबु अज्जो ।

(तेन ह्लास्यां तावत् प्रच्छापसीतलाया सत्तपण्णवेदिकाया मुहुत्तमुपविश्य परिधनमिमोद
करोत्वार्थम् ।)

राजा—नूनं मृगमप्यनेन कर्त्तव्या परिधाता ।

मनसूया—हला सज्जन्ते ! उद्भय शो पञ्चुवात्तए भविहीर ! ता एहि एव उवविसम्ह ।

(हला सकुन्तले ! उचित न पशुप्राप्तनमतिषोभाम् । तदेहि अत्रोपविशाम् ।) इति सर्वे
उपविशन्ति ।)

सकुन्तला—[भारतगतम्] किं एषु केषु इन अल्ल पेन्सिन्न तपोवनविरोहिणो विभ्रा
रस्त ममसीमन्नि सवुत्ता । (किं नु सन्निभम् जन प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनां विकारस्य गमनीयाऽस्मि
सवुत्ता ।)

राजा—[सर्वा विलोक्य] अहो रामधोकपरमराष्ट्रीय भवतीनां सीहार्दम् ।

प्रियवदा—[जताम्लकम्] अणुसूए ! को एषु केषु एत्तो अवरपम्मीरकिरी मठुर मिर
आलब-दो पहावचन्तो विव लक्ष्मीमदि । (मनसूये ' को नु अवरप चतुरपम्मीराकृतिर्मधुर
प्रियमात्स्य-प्रभाववानिव लक्ष्मी ।)

मनसूया—जी हाँ, आप जैसे अगुठे अतिथिके या जाने से तपस्या सकल ही समझिए । अच्छा
सकुन्तला ! जा कुटीसे कुछ फल फूलके साथ अर्घ्य तो ले या । चरख धोनेका जल यही
मिल जायगा ।

राजा—आपकी मीठी मीठी यातोले ही मेरा अतिथि सत्कार हो गया ।

प्रियवदा—तो अर्घ्य ! बसिए पनी छायाबाले अतिथिके तले जी शोचत शोचता है, वही
अणुभर बैठकर अपनी चकान मिटाइए ।

राजा—आप सब भी तो काम करते करते एक गर्द होयी ।

प्रियवदा—सकुन्तला ! अतिथिकी बात तो रसनी ही होयी । भाषो, चलो बैठ जाय ।

सकुन्तला—[भन ही भन] उन्हें देखकर मेरे मनमें न जाने क्यों ऐसी उधल-धुलल हो
रही है जैसी तपोवनके निवासियोंके मनमें नहीं होनी चाहिए ।

राजा—[सबको देखाकर] आप लोग एक ही रूपवासी और अवस्थावासी हैं । आप
सोगोका भावसका प्रेम मुझे बड़ा प्यारा लगता है ।

प्रियवदा—[धोरछे] मनसूया, ये चतुर और गम्भीर दिखार्द देनेवाने तथा प्रिय और
मधुर बोलनेवाने कोई बड़े भारी व्यक्ति जान पड़ते हैं ।

मनसूया—महि मम वि अतिष कोदूहलं । पुच्छितं दाव स्वं [प्रकाशम्] अज्जस्स मत्तुरात्तापज्जणितो योसम्भो मं मन्तावेदि कदमो अज्जेण राएत्तिणो वसो मत्तं करीअवि कदमो वा विरहपणुत्तमुज्जखो किदो वेसो । किण्णिमित्तं वा सुउमारदरो वि तयोवण्णमण-परिस्समस्स अत्ता पदं उवखीवो ।

(सयि ममग्यस्ति कौतूहलम् । पुच्छामि तावदेतम् । आर्यस्य मधुरात्तापजनितो विश्वम्भो मा मन्त्रयते इतम धार्येण राजपर्वेशोऽप्लव्यते कतमो वा विरहपणुत्तमुज्जखन् इतो देश किनिमित्तं वा सुकुमारतरोऽपि तपोवनगमनपरिष्मत्प्राप्ता पदमुपवीत ।)

शकुन्तला—[आरमभतम्] हिअम मा उत्तम्म । एता तुए चिन्तिदाअं मणसूया मन्तेदि । (हृदय मा उत्ताम्य । एषा स्वया चिन्तिताम्यनसूया मन्त्रयते ।)

राजा—[आरमभतम्] कयमिदानीमास्मान् निवेदयामि कथं वा आत्मापहारं करोमि । मन्त्रु एवं तावदेता वक्ष्ये—[प्रकाशम्] भवति यः पौरवेण राजा धर्माधिकारे नियुक्तः सोऽहमाश्रमिणामक्षिणक्षिपेवत्तम्भाय धर्मारण्यमिदमायात ।

मनसूया—सखाहा दाहि मम्मआरिखो । (सनाया इदानी धर्मचारिण) [शकुन्तला शृङ्गारलज्जा कथयति]

ससमी—[उभयोरागार विधिरा जनान्तिकम्] हुता सज्ज्वले जइ एत्थ अज्ज तावो तण्हिदो नये । (हला शकुन्तले यचनाय तात सनिहितो भवेत् ।)

शकुन्तला—तवो कि भवे । (ततः कि भवेत् ।)

मनसूया—[श्रियवदासे धीरे सै] सखी, मुझे भी जानने की वशी उत्कण्ठा है । बली इन्ही से पूछें । [प्रकट] धार्यं । आपकी मीठी यातोस जो हमे आपसे विव्वास उत्पन्न हो गया है वह हमे आपसे यह प्रश्ननेकी उकता रहा है कि धार्यने किस राजवशको सुशोभित किया है, जिस देशकी प्रजाको अपने विरहसे व्याकुल करके धार्य यहाँ पधारे है और ऐसा कीन-सा काम था पडा है जिसने आपके इस सुकुमार शरीरको इस तपोवन तक लाने का कष्ट दिया है ।

शकुन्तला—[मन ही मन] हृदय, उतावले मत बनो ! तुम्हारे ही मनकी बात मनसूया पूछ रही है ।

राजा—[मन ही मन] भय अपना क्या परिचय दूँ और कैसे अपनेकी शिवाई ? अथवा मैं इनसे यह कहता हूँ । [पण्ट] भद्रे पुण्डरी राजाने मुझे अपने राज्यकी धूमिमि क्षियायो की देय-मानना काम सौंप रक्खा है । इसलिये मैं यह देखने आया हूँ कि आश्रममे रहनेवाले सपत्नियोंके धार्यमे कोई विघ्न तो नहीं पड़ता ।

मनसूया—धार्यं । धर्म-क्षिया करनेवाले लोगोंपर आपने बड़ी कृपा की है ।

[शकुन्तला प्रेम और सज्जाका नाट्य करती है]

दीनो—[शकुन्तला और दुप्यन्तके मनकी बात ताककर पीरेके] शकुन्तला । यदि आज पिताजी घर होने—

शकुन्तला—तो क्या होता ।

सखी—इस जीवितसर्वस्वसे कि बिना बिनासे करिस्तदि । इस जीवितसर्वस्वेनाप्यतिविशेष कृतार्थ करिष्यति ।)

राकुलता—तुम्हे भवेय । कि बि बिना करिष्य वन्तेय । ए यो यथं सुखिस्त । (सुदामपतेम् । किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रवेये । न सुवयोर्वचनं धोष्यामि ।)

राजा—वयमपि तावदुपत्योः सखीमस्तं किञ्चित् पृच्छामः ।

सखी—अज्ज अनुग्रहे विम इयं अकमलया । (आयं अनुग्रह इवेयमम्यमंवा ।)

राजा भयकान्तायः आश्रिते ब्रह्मणि स्थित इति प्रकाशः । इयं च वः सखी तद्वानमैति कथमेतत् ।

मनसूया—सुखायु अज्जो । अस्मि को बि कोसिओसि गोत्तलामहेओ महाप्यहायो राएत्ती । (भुलोभायं । अस्ति कोसि कोसिक इति गोचनामयैको महाप्रभाको राजपि ।)

राजा—अस्ति भूमते ।

मनसूया—मं एो विप्रतहीए पव्वं अकमल । उज्जिमपाए सरीरसंवद्धतादिहि तावकएओ से पिता । (तमावयोः प्रियतस्याः प्रभवमवगच्छ । उज्जिमपायाः शरीरसंवर्धनादिभिस्तत्तत्कण्ठोऽस्याः पिता ।)

राजा—उज्जिमपायेन जनिता मे कीतुहलम् । आप्तासाध्वीसुमिष्यामि ।

दोनी—इत मनुटे अतिथिको मपने जीवनका सर्वस्य देकर भी इन्हे निहाल कर देते ।

राकुलता—चलो हटो, तुम लोग न जाने क्या-क्या मनये लेकर बोलती हो । मझ में तुम्हारी बातें सुनूंगी ही नहीं ।

राजा—[मनसूया और प्रियवदाते] हव भी आपकी सखीके विषयमे कुछ पूछना चाहते हैं ।

दोनी—पूछिए आर्य, यह तो आपकी कृपा ही है ।

राजा—हमने तो सुन रक्खा था कि महर्षि कण्व जन्मसे ही ब्रह्मचारी है, फिर आपकी ये सखी उनकी कन्या कैसे हो गई ?

मनसूया—मैं बताती हूँ आर्य ! कौशिक भोत्रके एक बड़े प्रतापी राजपि है न ।

राजा—हाँ, हाँ हैं, मैंने सुना है ।

मनसूया—तो बस यही सबझिए कि हमारी सखी कहींकी कन्या है । इसकी माता इसे छोड़कर चल दी तो कण्व अधिपति हो इसे पात-पोसकर बड़ा किया । इसीलिये ये इसके पिता कहलाते हैं ।

राजा—छोड़कर चल देनेको बात सुनकर तो मेरी उत्कंठा और भी बढ़ गई है । मैं इसकी पूरी क्या सुनना चाहता हूँ ।

मनसूया—सुराहु अग्नी । गोदमीतीरे पुरा किल तस्य राक्षसिणो जग्मे तवनि वट्टमा-
 र्णस्त किञ्च सादराकुर्वेहि देवेहि मेरुभ्या खाम अचक्षरा वेसिदा लिघ्नमविघ्नकातिणी ।
 (शृणोस्वायं गोदमीतीरे पुरा किञ्च तस्य राजर्षेण तपसि वतमानस्य किमपि जातकृद्देवैर्मनका
 नाम अप्सराः प्रेषिता नियमविघ्नकारिणी ।)

राजा—अस्त्येतदन्यसमाधिभीरुत्वं देवानाम् ।

मनसूया—तयो वसन्तोदारसमम् से उम्मादइतमं ह्वं वेक्षिष्य—(ततो वसन्तोदारसमये
 तस्या उम्मादमितु प्रेक्ष्य—) [इत्यर्धोक्ते सज्जया विरजति ।]

राजा—परस्ताज्जायत एव । सर्वथा अप्सराः सभर्षया ।

मनसूया—यह हं । (अथकिम् ।)

राजा—उपपद्यते

मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः ।

न प्रभातरत्नं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥२४॥

(शकुन्तला पधोमुखी तिष्ठति ।)

राजा—[आरामगतम्] हन्त सग्यामकान्तो मे मनोरथः । किन्तु सख्याः परिहासीदाहुतां
 यत्प्रार्थनां कृत्वा धतुर्द्वयोभावकातरं मे मनः ।

प्रियवदा—[स्मित्वा शकुन्तला विलोच्य नायकाभिमुखी भूया] पुत्रो हि यत्कृकामो
 विम अग्नी । (पुनरपि वसुधाम इवार्थः ।)

[शकुन्तला सतीमद्गुण्या तर्जयति ।]

मनसूया—तो सुनिष्ट धार्यं । बहुत दिनोंकी बात है । गौतमी (गोदावरी) के तटपर बैठे
 हुए वे राजपति एक बार घोर उपस्था कर रहे थे । ऐसा कहा जाता है कि उनके तपसे कुछकर
 देवताओंने उनका रूप बिगानेके लिये मेनका नामकी अप्सरा भेजी ।

राजा—हाँ, यह तो है ही । धीरोंकी तपस्या देखकर देवता लोग गुड़ा ही करते हैं ।

मनसूया—तो वसन्तके आरम्भमें उसका मदभरा शीघ्र देखकर [आया कहकर ही
 सजा जाती है ।]

राजा—वस-वस प्राप्ते मे सज्ज यथा । तो मे सचमुच अप्सराकी बग्या हैं ।

मनसूया—जी हाँ ।

राजा—ठीक भी है । नहीं तो मनुष्योंमें क्या ऐसा रूप नहीं मिल पाता है । चन्द्र
 अमरवासी बिजली पृथीतलसे थोड़े ही निकला करती है ॥२४॥

[शकुन्तला फिर मुका सेती है ।]

राजा—[मन ही मन] अभी, मेरे मनोरथको कुछ सहारा तो मिला । पर इसकी सखी
 प्रियवदाने हँसी-हँसीमें कुछ इसके घर मिलनेकी भी बात कही थी । इसीसे मेरा मन अभी
 दुःखियोंमें ही पड़ा हुआ है ।

प्रियवदा—[मुत्तराकर पहले शकुन्तलाकी ओर फिर राजाकी ओर देखकर ।] क्या
 धार्य कुछ और भी पूछना चाहते हैं ?

[शकुन्तला गम्भीरी उमसीमें तरजती है ।]

राजा—सम्यगुपलक्षितं यवत्या । अस्ति नः सञ्चितधनवानुमादन्यदपि प्रष्टव्यम् ।

त्रियंबदा—अतं विचार्यम् । अस्ति सन्तानाञ्जलीसो तवस्तिप्रहो राम । (अतं विचार्य
अनिदन्प्रणानुयोषस्तपस्विजनो नाम ।)

राजा—हृति सखीं ते ज्ञातुमिच्छामि—

वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद्ब्यापारोधि मदनस्य निषेवितव्यम् ।

अत्यन्तमेव मदिरैश्चखवन्लभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः ॥२५॥

त्रियंबदा—अहम् ! धर्माचारणे नि परवतो अहम् जलो । मुण्डो जल से अलकवदरम-
वालो संकल्पो । (आर्य ! धर्मचरखेअपि परवतोऽहम् जलः । गुरोः पुनररथा अनुकूपवरप्रवाते संकल्पः ।)

राजा—[आत्मवतम्] न गुरवाप्येवं खलु आर्यना ।

अयं हृदय सामित्यार्थं संग्रति संदेहनिर्णयो जातः ।

आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शवमं रत्नम् ॥२६॥

राकुन्तला—[शरीरपिप] अलसम् गमिस्त्वं महम् । (अन्वये ! गमिष्याम्यहम् ।)

अनसूया—किं निमित्तं । (किं निमित्तम् ।)

राकुन्तला—इमं अतंबद्वत्तापिणि पिप्रववं अजायुं योवनीयुं छिमेवत्स ।

(इनामसमद्वत्तापिनी त्रियंबदाचार्यं गोतम्यं निवेदयिष्यामि ।)

राजा—आपने हमारे मनकी बात ठीक साहू ली है । इनकी सुन्दर कथा सुननेके लोभसे
हम कुछ धीर धूमना चाहते हैं ।

त्रियंबदा—तो सकोच न कीजिए ! तपस्विगोसे तो आप बिना अभिन्नके कुछ भी पूछ
सकते हैं ।

राजा—आपकी सबीके सम्बन्धमें हम यह जानना चाहते हैं कि—इन्होंने, कामदेवकी
मत्तकी रोकनेवाला यह जो तपस्विगोका-सा नामा बनाया है यह विवाह हीनेतक ही रहेगा,
अथवा ये अपना सारा जीवन, मदभरी आँसोके कारण प्यारी लगनेवाली हरिणियोंके बीचमें
रहकर जो ही बिता देंगेगी ॥२५॥

त्रियंबदा—आर्य ! आपके काम भी यह अपने मनमें नहीं कर सकती । फिर भी पिताजी
का एकत्व है कि यदि इसके योग्य घर मिल जायगा तो विवाह कर देंगे ।

राजा—[मुन ही मन] इस सद्गुणका पुरा होना तो कठिन नहीं है । हृदय, तू भासा
न छोड़ । जो दुविधा थी वह तो जाती रहती, क्योंकि जिसे तू अग्नि समझकर धूनेसे दूरता था
वह तो धूनेके योग्य रत्न निकल आया ॥२६॥

राकुन्तला—[सोझकर] अनसूया, मैं चली जा रही हूँ ।

अनसूया—क्यों ! क्यों !

राकुन्तला—इस घटपट बकनेवाली त्रियंबदाकी सारी बातें जानकर आर्य गोतमीसे कहे
जाते हैं ।

अनगुण—महि ए जुतं घससयवामिलो अविदसङ्कारं अविहिषितोर्म वितस्मिन्न
गम्भीरयो गमलं । (गमि न पुनमहृन्मत्तारमतिविदोष विमृश्य स्वपद्मदत्तो गमनम् ।)

[शकुन्तला न विविदुषा अभिषेय ।]

राजा—[ररमतम्] धाः क्वं गच्छति । [ग्रहोत्तुमिच्छन्निष्प्रहारात्मनम्]

अनुपाम्यन्मृगितनयां मदना विनयेन चारितप्रसरः ।

स्थानादनुचलन्नपि गन्धेव पुनः प्रतिनिवृत्तः ॥२७॥

प्रियंवदा—[शकुन्तला निगच्छ] हता ए दे जुतं गतं । (इवा न ते पुनं गमुम् ।)

शकुन्तला—[मधुमद्भम्] किं शिमुतिं । [किं निमित्तम् ।]

प्रियंवदा—एततोमलो मुखे धारित मे । एहि जाव घसलं मोचयित्त ततो गमिस्सति ।

(शकुन्तले द्वेधारयति मे । एहि तावत् धारमानं मोचयित्त ततो गमिष्यति ।)

[इति दवादेनाभिवर्णयति]

राजा—भट्टे ! कुलोचनादेव परिधानाभयमवर्णी राजये । अथा ह्यस्याः—

मम्यागावतिमाश्रितोऽस्मिन्नतलौ बाहू घटोरक्षेपणा-

दद्यापि स्तनवेपथुं जनयति द्रवामः प्रमाणाधिकः ।

यद्दं कर्णशिरीषगेपि वदने चर्माभ्रमां जालकं,

बन्धे मंगिनि चैकदन्तवमिताः पर्यावृत्ता मूर्धनाः ॥२८॥

तद्वर्णोऽस्मिन्नतलौ करोमि । [इत्यंगुलीयं दातुमिच्छति ।]

[उभे माममुद्रातस्तज्जुवाप्य गत्स्वरमपलोचयतः ।]

अनगुण—गमी, ऐसे बड़े मतिविदा गत्तार विग बिना उम्हे मोहकर घँटले खले जाना
अभाज मही है ।

[शकुन्तला बिना उत्तर दिए गमनेको प्रस्तुत होती है ।]

राजा—[एन ही जन] घटे, जानी क्यों हो ? [उभे रोकेनेको घटते हैं फिर घमनेको
रोक लेते हैं ।] इस मुनि वरदाने गीले जाने-जाने गत्तारे बाग्य में गहगा दा गया हैं घोर
ददनि मैं दाने खानेके हिया मर मही टिग भी मुझे देना मर रहा है मानो मैं कुछ दूर अमर
मोह जाया होऊँ ॥२८॥

विदवा—[शकुन्तलाको रोकर] गमी मुद्राया इस प्रकार खल देना दीव मही है ।

शकुन्तला—[ओर कहाकर] क्यों ?

विदवा—करोड़ गुन अभी रो गोधे घोर गोधे का बाध मुझे हार चुकी हो अथवा
कुछ बिना ही जाया ।

राजा—भट्टे, रोकोको गोधेदेने हो तो दावको गमी यकी हुई दिगाई मर रही है ।

करोड़—यह उम्हे-उम्हे करके क्यों रोते रह जाते हैं, हरेनिदा मारा हो गई है, इनके
बाग्य-बाग्य में हृदय मर गया रहे है कि अमरको इन्को गोधे घोर गई है, जानीये खाने हृदय
मिरावने गुन भी मही हिया रहे है करोड़ करोड़ को दूरीये उन्को यमदिवसी दापोरार बिगन गई
है लीन दूरीये गुन अनेके के अन्को दिगारी हुई मरें गुन जावने बिधे बिधे प्रकार भेदाय या
रही है । ॥२८॥ इति एव मोक्षि इवका अन्त में अन्त देना है । [अन्तो अन्तो देना बाह्या
है । अन्त-अन्त मर घँटले मर मर मही है मर मुन्तलीको देवकी है ।]

राजा—शक्तिमानन्याया संभाव्य । राज्ञः परिग्रहोऽस्मिन्नि राजपुरुषं मामशयच्छ्वय ।
 प्रियपदा—तेषां हि एषारिहृदि एवं अगुनीभ्रमं संगुतिविमोर्धं । भ्रमस्त यमरोए
 मरिहिरिमा दासि एसा । [किञ्चिद्ब्रूय] हवा सज्जले मोदवर्त्ति अशुभ्रन्दिता प्रज्जेए
 प्रहवा महाराएए । यच्छ दासि । [तेन हि नार्हयेतदगुलीयकमगुतिविमोर्धम् । भाषेत्य वचनेना-
 वृत्ता इदानीमेवा । हवा शकुन्तले ! भोजितास्वनुकम्पिना भाष्येण भयना महाराजेन । गन्देदानीम् ।)
 शकुन्तला—[आत्मगतम्] जइ भतसो पव्वित्त [प्रकथम्] का तुमं वित्तज्जित्तवत्त
 वन्निभद्वत्त भा । [यथात्मन प्रवविध्यामि । का त्व वित्तजित्तवत्त रोद्धवत्त वा ।]

राजा—[शकुन्तला विलोक्य आत्मगतम्] किं नु खलु यथा वचनस्याभेदमिदमप्यस्मान्प्रति
 स्पात् । अथवा तत्प्रत्यकाशा मे प्रार्थना । कुतः ।

वार्त्तं न मिथयति यद्यपि महचोभिः कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे ।
 कामं न तिष्ठति मदाननसंमुखीना भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः ॥२६॥
 [नेपथ्ये]

भी भोस्तपरिषयः संहितास्तपोवनतत्त्वरभावे भवत । प्रत्यासन्नः किल मृगयाबिहारी
 पार्थिवो दुष्यन्तः ।

तुरगसुरहवस्तथा हि रेणुर्विंटपनिपक्तजलाद्रवत्कलेषु ।

पतति परितारुणप्रकाशः शलभसमूह इवाश्रमद्रुमेषु ॥३०॥

राजा—मुझे आप कोई और न समझ बैठिएगा । यह घण्टी मुझे राजासे गुरकारने
 मिली है । मुझे आप लोग राज-पुरुष ही समझिए ।

प्रियवदा—तब तो इस घण्टीको आपकी उँगलीसे धक्का करना ठीक नहीं है । आपके
 कहने ही मरते इसका भाए चुकता हो गया । शकुन्तला ! इनकी या यी कहो कि महा-
 राजकी छापसे तुम ज़रूर मुक्त हो गई हो । अब जा सकती हो ।

शकुन्तला—[मन ही मन ।] अपना मन हाथमे हो तब तो जाऊँ । [प्रकट ।] मुझे
 जाने देनेवाली या रोकनेवाली तुम होती कीन हो ?

राजा—[शकुन्तलाको देखकर आपही आप] कही यह भी यी हमपर कैसे ही नहीं रोक
 गई है जैसे हम इसपर रोकें हैं ? या फिर जान पड़ता है कि हमारे मनोरथोंके फलनेके
 दिन था गए । क्योंकि—यद्यपि यह स्वयं मुझसे बातचीत नहीं करती फिर भी जब मैं बोलने
 लगता हूँ तब कान लगाकर मेरी बातें सुनने लगती है और यद्यपि मेरे सामने यह मुँह करके
 नहीं बैठती फिर भी इसकी आँखें मुझपर ही लगी रहती हैं ।

[नेपथ्यमे]

हे तपस्विनी ! आकर तपोवनके प्राणियोंको बचाओ । आलेखका प्रेमी राजा दुष्यन्त
 पास ही था पहुँचा है । उसके घोड़ोंकी टापोंसे उठी हुई और सौमंती सच्चाईके समान ताल-ताल
 मूल टिड्डी दसके समान उड़कर आश्रमके उन वृक्षोंपर फँती पड़ रही है जिनकी शाखाओंपर
 गोले वरकालके मल्ल फँसाए हुए हैं ॥३०॥

प्रति च—

तीव्राघातप्रतिहततरुः स्फुन्धलग्नैकदन्तः

पादाकृष्टव्रततिवलयसङ्गसंजातपाशः ।

मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्न सारङ्गयूथो

धर्मारण्यं प्रविशति गजः स्पन्दनालोकभीतः ॥३१॥

[सर्वाः कर्णं दत्त्वा विविदिषुः सञ्जाताः ।]

राजा—[आश्चर्यम्] अहो विद् ! संनिका अस्मदन्वेषिणस्तपोवनमुपस्थापित ।
भवतु । प्रतिपदिष्यामस्तथायम् ।

सख्यो—अरज इमिणा आरण्याप्रवृत्तमेव परजाडलम् । सद्युजासीहि एवो उदभ्रम-
खत्ता । (धार्यं धर्मभारण्यववृत्ताम्वेन पर्याकुलाः स्युः । अनुजासीहि न उदजयमनाय ।)

राज—[सतंभ्रमम्] नष्टदन्तु भवत्यः । अघमप्याधमपीडा यया न भवति तथा प्रयति-
ष्यामहे ।

[सर्वे उत्तिष्ठन्ति ।]

सख्यो—अरज धर्मभवाविदप्रविष्टिभ्रारं भूयो वि देवदत्तलिप्तमितं सज्जमेवो अरजं
विण्णविद् ।

(धार्यं धर्मनामितातिविस्तारं भूयोऽपि प्रेषणमितं सज्जमेवो धार्यं विज्ञापयितुम् ।)

राजा—ना मेवम् । दर्शनेनैव भवतीनां पुरस्कृतोऽस्मि ।

[शकुन्तला राजानमवलोकयन्ती सध्याज विनम्य सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता ।]

घोर देशो—राजाके रमछे डरा हुआ यह जंगली हाथी हमारी सपत्नीके लिये शांताद
विघ्न बना हुआ हरिखोके झुडकी तितर-बितर करता हुआ तपोवनमें घुसा घसा भा रहा है ।
इतने घपपी करारो टहलते एक वृक्ष उखाड़ लिया है जिसमें उलका एक दाँत फँसा हुआ है ।
घोर हठी हुई लताएँ फटके समान चलने पंरोंमें समझी हुई हैं ॥३१॥

[सर कुमारियाँ गुनकर ब्रूख घबरा जाती हैं ।]

राजा—[मन ही मन] अरे, धिक्कार है इन मंत्रिजनों । जान पड़ता है हमें हुँडनेके
लिये ये तपोवनको रौंटे जान रहे हैं । अब हमें उधर चलना हो चाहिए ।

दोनों—धार्य ! इस जंगली हाथीकी बात गुनकर हम लोग डर गई हैं । हमें पुटीमें
जायेंगी भासा देंगिए ।

राजा—[क्षीप्रतासे] धाप लोग चलो । मैं भी प्रयाण करता हूँ कि तपोवनमें
विघ्न न हो ।

दोनों—धार्य ! हम सोचेंगे धापर कुछ भी सरकार नहीं किया दूँगिलिये—[सब उठती
है ।] धार्यगे यह प्रार्थना करते हुए बड़ा सरोच हो रहा है कि हमें फिर दर्शन दें ।

राजा—नहीं, नहीं ऐसा न कहिए । धाप लोगोंके दर्शनमें ही हमारा सारा हो गया ।

[शकुन्तला राजा को देखती हुई घुसा घुमने घोर जागरण बोली फँसनेका सहाना करने
बोझा दबती है और फिर सगिरीके साथ चल देती है ।]

राजा—मन्त्रीसुखयोऽस्मि नगरभवनं प्रति यायदनुयात्रिकान्समेत्य नातिदूरे तपोवनस्य निवेशयेयम् । न खलु शपनोमि शकुन्तलाप्यपारादात्मानं निर्वर्तयितुम् । मम हि—

गच्छति पुरः शरीरं धावति पथादसंस्तुतं चेतः ।

चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य ॥३२॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।]

इति प्रथमोऽङ्कः ।

राजा—नगरमें जाकेका सारा हुलास ठका बढ गया है । इसलिये भायमके पास ही सैनिकोंके साथ डेरा डाले देता हूँ । जान पड़ता है कि शकुन्तलाके इस प्रेम-व्यवहारसे मैं छुटकारा न पा सकूँगा । भयोवि—जैसे पथनके सामने मग्धा से चलनेपर उसकी रेशमी लण्डी पीछे की पह्हराती चलती है वैसे ही ज्यो-ज्यो मेरा शरीर आगे बढ़ता है त्यों-त्यों मेरा पैछल मन पीछे की दौड़ता चलता है ।

[सनका प्रस्थान ।]

पह्ला अंक समाप्त

द्वितीयोऽङ्कः

[उक्तः प्रविशति विपण्णो विद्रूपकः ।]

विद्रूपकः—[निःश्वस्य] ओ दिव्दु एदस्स भग्गमासीलस्स रण्णो वधस्सभावेण शिखि-
ण्णो ण्हि । अयं भग्गो अयं वराहो अयं सत्त्वूलोति मज्झण्णे वि मिण्हविरमपामवच्छामासु वणराईसु
अहिण्डीअदि अटवोदो अटवो । एतत्तंकरकत्ताआई कहुआई गिरिण्डीअत्ताई पीअन्ति अणिअववेत्तं
सुत्तमंसंभूइद्वो आहारो । अहोअदि सुरगाण्णायसकण्डिदत्तंधिखो रत्तिम्मि यि शिकामं सट्ठण्णं
एण्णि । तवो महन्ते एण्ण पण्णसे दासीएणुत्तेहि सउत्तिमुत्तएहि वणम्महणकोत्ताहलेण पडिबोधिदो
ण्हि । एतएण वरिण यि पोडा एण शिखकमदि । तवो गण्डत्त उवरि विण्डमा संवुत्तो । हिमो
क्किअम्वेसु ओहोएणु तत्तहोदो मग्गसुत्तारेण अस्समपदं पयिट्ठस्स तापसकण्णमा सउत्तत्ता
मम अयण्णदाए ईत्तिता । संवरं शुभ्ररपमणस्स अयं कहुं वि एण करेदि । अज्ज वि से तं एण्ण
चित्तमत्तस्स अक्खीसु वभादं भासि । का गवी । जाव एणं किदाचारपरिकमं वेक्खामि । [इति
परिक्रम्यावलीक्य च] एतो आणसत्तएहयाहि अवलीहि वणपुक्कमात्ताभारिणीहि पडिबुवो इवो
एण्ण आअवधरि निअवमत्तो । होवु । अज्जअज्जविमलो विअ भविअ चिट्ठिस्सं । जह एण्णं वि
एणम धित्तमं सहेअं ।

[ओ इष्टम् । एतस्य मृगयासीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निविण्णोऽस्मि । अयं मृगोऽयं वराहोऽयं
शार्दूल इति मग्गान्हुं इति शीघ्रमविरतपादपद्यायाम् वनराजोष्माहिण्यत्वेऽवलीतोऽवली । वनसंकरक-
थायाणि वदन्ति गिरिद्वीअत्ताणि पीअन्ते । अमियतवेत्तं सुत्तमासमुत्तिष्ठ आहारो दुप्पत्ते । सुरगामुद्यावन-

द्वितीय अङ्क

[उदास मन ये विद्रूपकका प्रवेश ।]

विद्रूपक—[लम्बी साँस भरता हुआ] बस देख लिया । इस अहेरी राजाकी मित्रतासे तो
जी बचता हूँ ! मेरी दुपहरीमे भी एक वनसे दूसरे वनमे भटकते हुए इन जंगली प्रदेसोमे
होकर वनना पड़ता है जहाँ गर्मीके कारण पेड़ोमे छाँह तक नहीं रह गई है और दिन-रात यही हल्का
कान फोड़े हालता है—यह गुप्त भाषा, वह सूझर निकता, वह रहा सिंह । फिर, सड़े हुए पत्तोंसे
मिले हुए अलबालो नदियोंका जलसा और बहुतवा पानी पीना पड़ता है और धवेर-सवेर लोहेकी
सीधोपर बुना हुआ भाँस खानेको मिलता है । पीनेके पीछे दोड़ते-दोड़ते शरीरके जोड़-जोड़ ऐसे
जोते पड़ गए हैं कि रातमें साँस भी ठीक नहीं लग पाती । तिसपर ये दासी-पुत्र चिड़ीमार
तटके-तटके पत्तो वनको, पत्तो वनको—फिल्ला-फिल्लाकर ऐसा हल्का मचाते हैं कि भाई-भवाई
नींद उभट जाती है । अभी यह विपत्ति टली नहीं थी कि ऊपर पोखेके ऊपर मृगसीके समान दूसरी
विपत्ति आ पमची है । मुझे है कि हम लोपोका साथ छूट जानेपर मृगया पीछा करते-करते
राजा भी तपस्विपति आश्रममे जा पहुँचे । वहाँ मेरे दुर्भाग्यसे उन्हें मुनि-कन्या शपुन्तला दियाई
दे गई । अब किसी भी प्रकार उनका मन नबर मोटने की करता ही नहीं । आज भी रातभर

कण्ठितसधे रात्रावपि विधामं शयितव्य नास्ति । ततो महत्स्येयं प्रत्युपे दास्याः पुनैः, शकुनिमुष्कर्वकं-
प्रहणकोताह्नेन प्रतिबोधितोऽस्मि । इमदेवानीमपि धोडा न निष्कामति । ततो गण्डस्योपरि
पिण्डकः सवृत्तः । इह, किलास्यास्मन्हीनेषु तत्रभवतो मृगानुसारेणाश्रमपदं प्रविष्टस्य तापसकन्यका
शकुन्तला ममाश्रम्यतया दक्षिता । साप्रतं नवरश्मयस्य मनः कथमपि न करोति । अद्यापि तस्य
तमिषं पिन्वत्यतोऽरुखोः प्रभातमासीत् । का नतिः । यावत् कृताचारपरिक्रमं पश्यामि । एष
वास्यासनहस्ताभिर्यंघनीभिर्यंघनपुष्पावाधारिणीभिः परिवृत इत एवावच्छ्रितं प्रियवयस्यः । भवद्
यङ्गमङ्गविकल इव भूत्या स्वास्यामि । यत्नेवमपि नाम विधामं तमेव ।)

[इति दण्डकाण्डमवसानं स्थितः ।]

[ततः प्रविर्गतिं यथानिर्दिष्टपरिपाटी राजा ।]

राजा—

कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भाषदर्शनाश्वासि ।

अकृतार्थेऽपि मनसिजे, रतिमुभयप्रार्थनां कुरुते ॥१॥

[स्मितं ह्रस्वा] एवमात्मनाभिप्रायसंभावितेष्टजनविराजितः प्रवर्षिता विदम्ब्यते ।

तथा हि—

स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेरयन्त्या तथा

यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव ।

मा गा इत्युपकृष्टया यदपि सा साध्यमुक्ता सखी

सर्वे तत्किंल मत्परायस्महो कामी स्वतां पश्यति ॥२॥

सखीकी चित्ताने जागते हुए उनकी माँलोगे सवेरा कर दिया । क्या कहे । पसूँ, वे नित्य-कर्म
कर चुके हों तो कससे दो बातें कहे । [घूमकर धीरे देखकर ।] भरे, मेरे बिच तो हमर ही
कते या रहे हैं जिनके साथ हाथ मे बनप लिए और गलेमे जवली फूलोकी माता पहने हुए बहुत
सी यवनी सेविकाएँ भी बसी या रही हैं । अच्छी बात है, मैं भी लुज-पुज-सा बनकर सखा हो
जाता हूँ । पौन जाने इसी प्रकार थोडा विधाय मिल जाय । [साठी टेककर सखा हो जाता है ।]

[जैसा ऊपर कहा गया है, उस प्रकारकी सेविकाओं के साथ राजाका प्रवेश ।]

राजा—यद्यपि प्यारीका मिलना है तो वहा कठिन पर उसकी चाल-ढालसे मनको बड़ा
सहारा मिल रहा है । हम दोनोंका मिलन भले ही न हो पर इतना तो सन्तोष है कि मिलनेका चाव
दोनों और एक सा है ॥१॥ [मुसकराकर] वो प्रेमी अपनी प्रियतमाके मनको अपने भगने
परखता है वह इसी प्रकार थोडा खाता है । और देखो—जब वह भाँखें पुमावी धो तब मैं
समझता था कि उसने मुझपर ही प्यार-मरो चितवन डाली है । नितम्बोंके मारी होनेके कारण
जब वह धीरे-धीरे चलती थी तब मैं समझता था कि वह मुझे अपनी चटक-मटक भरी चाल
दिखा रही है । जब उसकी सलियोंने उसे जामेले तोय उस समय अपनी सखियोंपर जो वह
चाल-पीली हुई तब मैं समझा कि यह सब मेरे ही प्रेमके लिये हो रहा है । माह, कामीको सब
बातें अपने ही मनकी दिखाई पडती है ॥२॥

विदूषक—[उवाचिष्यत एव] भो वयस्य ए मे हृत्पपात्रा पसरन्ति । ता वामामेतरेण जई करीषसि । जेदु जेदु भवं (भो वयस्य । न मे हस्तपादा प्रसरन्ति । तद् वाचामानेण जयीक्रियते । जयतु जयतु मवान् ।)

राजा—कुतोऽयं गात्रोपपातः ।

विदूषक—कुतो कितं सधं घञ्जो पाउल्लोकरिष्य अस्सुकारणं शुद्धोसि । (कुतः कितं स्वयमस्याकुनीकृत्याश्रुकारणं पृच्छसि ।)

राजा—न सत्यवयवच्छादिमि ।

विदूषक—भो वयस्य ज वेदसो कुञ्जलीलं विज्जेहि तं किं अत्तसो महावेण जइ एहिमेसस । (भो वयस्य । यदेतत्त कुञ्जलीला विजम्बयति तत्किमात्मनः प्रमावेण उत्त मदीवेगस्य ।)

राजा—मदीवेगस्तत्र कारस्यम् ।

विदूषक—मम वि भवं । (ममापि मवान् ।)

राजा—कथमिव ।

विदूषक—एवं राजकञ्जाणि उज्जिम्भ तारिते पाउल्लप्यदेसे मल्लकरजुत्तिणा सुए होवध्य । जं सचच्चं पचहं साज्जवत्तमुच्छारणेहि ससोहिषसपिबन्पाणं मय गत्ताणं अशीतो भिहं सजुत्तो । तां पमादइस्सं विसज्जिज्जुं मं एक्काहं वि दाव विस्सविदुं । (एव राजकार्याण्यु-ज्जिम्भत्वा तादृशो मातुलप्रदेसे वनचरवृत्तिना स्वया भवितव्यम् । परस्य प्रत्यहं आपदसमुत्सारणैः ससोभितसपिबन्पाणा मय गात्राणामनोद्धोऽस्ति सवृत्तः । तत्प्रसादविष्यामि विसज्जितुं नामेकाहमपि सावद्विषमितुम् ।)

विदूषक—[उसी भुझमें सदा हुआ] मेरे हाथ-पैर सो खुल नहीं रहे हैं, इसलिये मैं केवल मुँहसे ही प्राणकी जय-अजयकार मनाता हूँ । प्राणकी जय हो ।

राजा—यह अज-मग कैसे हो गया ?

विदूषक—कैसे क्या ? घाँसेमें उँवली कोबकर पूछ रहे हैं कि घाँसू कहाँ से आए ?

राजा—मैं तो कुछ भी नहीं समझ पाया ।

विदूषक—अच्छा मित्र, यह तो बताइए कि नदीमें जो बेंतकी लता कुपड़ी धनी लगी रहती है वह अपने मनसे बँसी रहती है या नदीके वेगके कारण ?

राजा—नदीका वेग ही उसका कारण है ।

विदूषक—तो मेरे भ्रम-मयके भी साथ ही कारण हैं ।

राजा—कैसे ?

विदूषक—घास तो सब राज्य-कार्य छोड़कर इस वीहट प्रदेशमें जंगलियोंके समान घूम रहे हैं, यहाँ जगली जन्तुघोंका पीछा करते-करते मेरे शरीरने जोड़ ऐसे टूट गए हैं कि हिला भी करके मुझे तो कमसे एक दिन विषाम करनेकी आज्ञा दे ही

राजा—[स्वगतम्] अयं चैवमाह । ममापि कण्ठस्तुतामनुस्मृत्य मृगयापिबतयं वेतः ।
कुतः—

न नमयितुमधिज्यमस्मि शक्तो घञुरिदमाहितसायकं मृगेषु ।

सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः कृत इव मृग्धविलोकितोपदेशः ॥३॥

विदूषकः—[राज्ञो मुखं विलोचय] अस्तमयं किं वि हिमए करिअ मत्सेवि । अरण्ये मए
वरिअं प्राति । (अत्रप्रधानिकमपि हृदये मृत्वा मन्त्रयते । अरण्ये मया खदितमासीत् ।)

राजा—[सविमत्प] किमयत् अन्तर्गतमखीयं मे मुहृदमपमिति निपतोऽस्मि ।

विदूषकः—चिरं जीव । (चिरं जीव ।) [इति मन्त्रुमिच्छति ।]

राजा—वयस्य तिष्ठ । सावधेयं मे वचः ।

विदूषकः—आखण्डे भयं (आशापयतु मयम् ।)

राजा—विधान्तेषु भवता यमाप्यमायासे कर्मणि सहायेन भयितव्यम् ।

विदूषकः—किं मोदघण्डिकाए । तैल हि अत्रं पुनहीयो लखी । (किं मोदकसम्बिकायाम् ।

तेन ह्यमं मुपुहीतः अणुः ।)

राजा—अयं वक्ष्यामि । कः कीदृश भोः ।

(प्रविश्य)

दीवार्कि—[प्रणम्य] आखण्डे भयम् । (आशापयतु भयम् ।)

राजा—रैवतक ! सेनापतितावदाहृतम् ।

राजा—[मन ही मन] इधर यह भी कह रहा है, उधर नन्दकी कन्याका ध्यान करते
करते मेरा मन भी साँसेटसे ऊब-सा चला है । दीवार्कि—जिब झरिखीमे अकुन्तलाके साथ रहकर
उसे मोदी चितवन सिखाई है कन्हे मारनेके लिए यह बाण चढ़ाया हुआ अनुप मुझसे लीचते ही
नही बनता ॥३॥

विदूषकः—[राजाका भुँद देसकर] भाव तो न जाने क्या मन ही मन बटवहा रहे है ।
मैं इतना सब क्या जगलमे ही रोता रहा ?

राजा—[मुसकराकर] नहीं, नहीं, मैं भी यही सोच रहा था कि मित्रकी बात टालनी
नहीं चाहिए । इसीलिये मैं चुप हो गया ।

विदूषक—जीते रहिए । [जाना चाहता है ।]

राजा—उहरो मित्र, अभी मेरी बात पूरी कहाँ हुई है ?

विदूषक—यह भी कह टालिए, महाराज ।

राजा—देखो, विधाम कर चुकी तो यावर मेरे भी एक काममे सहमता देना जिसमें
मुझे कही माना-जाना नहीं पड़ेगा ।

विदूषक—यमा सङ्ग खाने हैं ? उसके लिए इससे बढ़कर और कोन सा ठीक व्यवहार
होगा ।

राजा—उहरो, बताता हूँ । भरे, कोन है ?

दीवार्कि—[भाकर प्रणाम करके ।] आज्ञा कीजिए स्वामी ।

राजा—भरे रैवतक ! सेनापतिकी मुसा सामो ।

शोकारिक—तह । [इति विप्रश्न्य सेनापतिना सह पुनः प्रविश्य] एसो भण्णावधु-
कण्ठो भट्टा इवो विष्णुविट्ठी एव चिट्ठिदि । उवसप्पु भण्णो । (तथा । एवमाज्ञा वचनोत्कण्ठो
भर्ता इतो दत्तदृष्टिरेव तिष्ठति । उपसर्पत्वार्यः ।)

सेनापतिः—[राजानमवलोक्य स्वगतम्] दृष्टदोषाप्रपि स्वात्मनि मृगया केवलं गुण एव
संबुत्ता । तथा हि वेदः—

अनवरतधनुज्यस्फालनकूपूर्वं रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम् ।
अपचितमपि गात्रं व्यास्यतस्वादलक्ष्यं गिरिचर इव नामः प्राणसारं विभर्ति ॥४॥

[उपरेय] लक्ष्ये जगत्तु त्वामो गृहीतवापदमरणम् । किमद्याप्यवस्थीयते ।

राजा—मण्डोत्साहः कृतोऽस्मि मृगधापवादिना माद्व्येव ।

सेनापतिः—[जनागितकम्] सखे स्थिरप्रतिबन्धो भव । ग्रहं तावत्स्वामिनश्चित्तवृत्तिमनु-
वर्तित्वे । [प्रकाशम्] प्रसप्तत्वेय संशयः । मनु प्रभुपेव निदर्शनम् ।

मेदरछेदकशोदरं तपु मवत्युत्थानयोग्यं वपुः

सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिपश्चिर्च मयक्रोधपोः ।

उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषयः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले

मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगायामीदृश्विनोदः कुतः ॥५॥

शोकारिक—अच्छ । [बाहर जाकर सेनापतिको साथ लिए कीट घाटा है ।] यह सामने
दपर दृष्टि किए हुए स्वामी बैठे हैं और कुछ माछा देने ही वाले हैं । घागे भट चलिए दार्य !

सेनापति—[राजा को देखकर, मन ही मन] लोप आखेट को इतना बुरा बताते हैं, पर
स्वामीको तो इसमें बड़ा लाभ हुआ है । क्योंकि—पहाडोंमें घूमनेवाले हाथीके समान इनके
बसपाव शरीरके आगेका भाग निरन्तर घनुपकी बोरी खींचनेसे ऐसा कड़ा हो गया है कि उसपर
न तो घुपका ही प्रभाव पड़ता है और न पसीना ही सूटता है । बहुत दौड़-घुपते यद्यपि ये
दुबले पड़ गए हैं पर घुट्टोंके पक्के होनेके कारण इनका दुबलापन दिखाई नहीं पड़ता ॥४॥
[पास आकर] स्वामीकी जय हो । हमने आखेटके पशुधोको वनमें घेर लिया है । अब दिलाव
किसाविये है ?

राजा—इस आखेटके निन्दक माद्व्येव मेरा सारा जस्ताह उछा कर दिया है ।

सेनापति—[असल विदूषकसे] अच्छा भिय, करो मुम भो भटकर विरोध, और मैं भी
देखो रयामोके मनकी कंसे पलटे देता हूँ । [प्रवट] इस मूलको बकने दीजिए महाराज !
स्वामी हो स्वयं देस रहे हैं कि—आखेटसे पर्वो पट जाती है, तोंद छट जाती है, शरीर हलका
और कुर्तिला हो जाता है, मनुष्यकी मुहपर जो मय और ओष दिखाई देता है उसका ज्ञान हो
जाता है और चलते हुए लक्ष्योपर बाण बसानेमें हाथ सग जाते हैं, जो घनुपचारियोंके लिये बड़े
गोरवकी बात है । लोप भूठ-भूठ ही आखेटको बुरा बताते हैं, नहीं तो इतना मन-बहसाव
और मिल कहां सकता है ॥५॥

विदूषक.—मयेहि रे उत्साहेतुम् अतर्भवं किंदि प्राप्त्यो । तुमं दाव घटवोदो
घटवीं प्राहिम्बन्तो खररासिमातोनुवरस जिष्णुरिच्छस्त कस्त वि मुहे पडिस्तति ।
(मयेहि रे उत्साहेतुम् अतर्भवान्प्रकृतिमावध । त्व दावदटवीवोऽप्यीमाहिम्बमानो
तरतासिकातोनुपस्य जीणुंशंस्य कस्यापि मुहे पतिप्पसि ।)

राजा—मद्र सेनापते आद्यमसनिहृष्टे सिपताः स्मः । अतस्ते यवो नाभिनन्दामि । अथ
तावत्—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गेर्मुहस्ताडितं
छायावदकदम्बकं भृङ्गकुलं रोमन्धमभ्यस्पृत् ।
विभ्रक्यं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताधतिः पन्वले
विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्यायन्धमस्मद्धनुः ॥६॥

सेनापति—यत्प्रभविष्णवे रोचते ।

राजा—तेन हि निश्चयं पूर्वगतान्धनप्राहितः । यथा न वे संनिवास्तपोवनमुपस्थापित
तथा निवेद्यताः । वय—

शमप्रधानेषु तपोधनेषु गृहं हि दाहात्मकमस्ति तेजः ।

स्पर्शान्निहृता इव ध्वर्यान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्गमन्ति ॥७॥

सेनापति—यथाज्ञापयति स्वामी ।

विदूषक—भंसदु वे उच्छाहसुस्ततो । (भ्यगतो वे उरगाहवृक्षान्त ।)

विदूषक—मरे चल-चल खरसाह दिखानेवाले ! अब महाराज फिर मनुष्य बन गए हैं ।
मुझे ती एक दिन इसी प्रकार इस वनसे उठ बनमें भूम-भूमकर साठेद चरते-चरते कमी न कमी
मनुष्यकी भाँके लोभी किसी घूँसे भाँके मुँहमें पकना ही है ।

राजा—मद्र सेनापति ! देखो, हम लोग तपोवनमें पाए उधरे हुए हैं । इसलिये तुम्हारी
बात इस समय मुझे जँच लगी रही है । आज तो—जँतोकी छोड़ दो कि वे अपनी सीमाँति
पानीकी हिलोरते हुए तालोंमें तँरें, हरिणोंके मुण्ड पेड़ोंकी पनी छायामें घेरा बनाकर बँटे जुवाली
करें, बड़े-बड़े सूखर निडर होकर छिछले तालोंमें नागरमोथेकी जठें लोढ़ें सीर मेरे मनुष्यकी
कीली बोरी भी कुछ देर बिसाम कर ले ॥६॥

सेनापति—जँती महाराजकी इच्छा ।

राजा—तो जिन हँसकोंकी छाये भेज दिया है उन्हें सीढ़ा ली सीर छिनकोंकी समझा
देना कि कोई ऐसा काम न कर जँतें जिससे तपोवनके बाधमें बाधा पड़े । देखो—भूम-कान्तपणि
मैं तो छूनेमें ठण्डी लगी है पर जब सूर्य उगपर अपनी प्रकाश झलता है तब वह भी प्राय
उगलने लगती है । उसी प्रकार श्रृषि लोग यद्यपि बड़े दान्त होते हैं पर उनमें इनका तेज भी
होता है कि यदि कोई उन्हें चूट दे तो उसे बसाकर भस्म भी कर दें ॥७॥

सेनापति—जँती स्वामीकी आज्ञा ।

विदूषक—नाच हो तुम्हारी उत्साहकी यातना ।

[निष्क्रान्तः सेनापतिः ।]

राजा—[परिजनं विलोक्य] अपनयन्तु भवन्तो मृगयावेयम् । रैवतक ! त्वमपि त्वं नियोगमशून्यं कुरु ।

परिजनः—जं देवो आसन्नवेदि । (यद्देव आज्ञापयति) । [इति निष्क्रान्तः ।]

विदूषकः—किं भवदा शिम्मचिद्वर्षं संपवं एवैस्स पादवच्छामाए विरहदलवायिदाएदं-सली आसले शिसीददु भवं जाव अहं वि सुहासीलो होमि । (कृतं भवता निर्मक्षिकम् । सांप्रतमे-तस्यां पादपञ्चापाया विरचिततत्तावितानवर्षंनोयायामासने । नपीदनु भवाम् यावदहमपि सुहासीनो नवामि ।)

राजा—गच्छापतिः ।

विदूषकः—एतु भवं । (एतु मयाम् ।)

[इत्युनो परिक्रम्योपविष्टी ।]

राजा—माधव ! अनवातचञ्चुःकलोऽसि येन स्वया दर्शनीय न वृद्धम् ।

विदूषकः—एवं भवं धनारो मे वृद्धि । (ननु मवानप्रती मे वर्तते ।)

राजा—सर्वः एतु कान्तमात्मानं पश्यति । अहं तु सामाधमत्ततामभूतां शाकुन्तलामधि-कृत्य पशामि ।

विदूषकः—[स्वगतम्] हीहु । ते अचसरं एव वाइस्सं । [प्रकाशम्] भो यस्स ते तावत्त-कण्णमा अमत्त्वलीभा बीसदि । (भवतु) अस्यावसरं न वास्ये । भो वयस्य ते तापसकण्ण-काऽभ्यर्पणीया वस्यते ।)

[सेनापति जाता जाता है ।]

राजा—[अपने देवकोंको देखकर] अब तुम लोग भी अपने माखेडके कपड़े उतार डालो । और रैवतक ! जाओ, तुम भी अपना काम देखो ।

देवक—जैसी देवकी आज्ञा । [सब जाते हैं ।]

विदूषक—अनी अच्छा किया जो सब गविष्यां भया दी आपने । अब जलिये, बुझोंकी धनी धामावाले सता-मण्डपके नीचे सुन्दर आसनपर आप भी बसकर बैठिए, और मैं भी सुस्ता लेता हूँ ।

राजा—अच्छा, चलो धागे-धागे ।

विदूषक—धाप भी बाइए ।

[दोनों धूमकर बैठते हैं ।]

राजा—माठव्य ! यदि तुमने देखनेके योग्य वस्तुएँ नहीं देखीं तो प्रास होनेसे तुम्हें लाभ ही क्या हुआ ?

विदूषक—धाप जो मेरी भाँसोंवे आये रहते हैं न !

राजा—अपनेकी तो सभी सुन्दर समझते हैं, पर इस समय तो मैं शाकुन्तलाकी बात कह रहा हूँ जो सब आपमकी सोमा है ।

विदूषक—[धाप हो धाप] अच्छा, मैं इस बातको यही बाटे देता हूँ [प्रकट] क्यों मित्र, जान पड़ता है कि सब सपस्वीकी कन्यापर धाप सट्ट हो गए हैं ।

राजा—सखे न परिहृयें वस्तुनि औरकारी मनः प्रवर्तते ।

सुरयुवतिसंभवं किल मुनेरपत्यं तदुज्ज्वलाधिगतम् ।

अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम् ॥ ८ ॥

विदूषक—[विहस्य] जह कस्त वि पिण्डजन्मुरेह उम्येनिवस्त तित्तिणीए महिलासो भवे सह इतिप्रभारप्रत्यपरिभाषिणी भवेदो इयं प्रकम्पयता (यथा कस्यापि पिण्डजन्मुरेह-जितस्य तित्तिण्यामगिलापो भवेत् तथा स्त्रीरत्नपरिभाषिणी भवत इयमभ्यर्थना ।)

राजा—न तापदेनो पयसि येनैवमवासीः ।

विदूषक—तं वपु रमसिज्जं जं भवदो विहृयं उपादेवि (तच्छत्रु रमणीयं यद्भवतोऽपि विस्मयमुत्पादयति ।)

राजा—वपस्य किं वदता ।

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा रूपोचयेन मनसा विधिना कृता नु ।

स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥ ९ ॥

विदूषक—जह इयं पचादेसो दासि कववदीर्घा ।

(पद्येवम् प्रत्यादेश इदानीं कल्पतोनाम् ।)

राजा—इयं च मे मनसि वर्तते—

अनाघातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-

रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्यादितरसम् ।

राजा—मित्र ! पुद्गलशोका मन कुपवकी और बढता हो नहीं है—मुना है, उसकी भी कोई पत्तरा भी । वह जब इसे पनमे छोडकर खली गई तब कण मुनि इसे उठा साए । यह ठीक ऐसा ही तुम मानो नवमलिकाका फूल प्रपनो डालीसे चुकर सवारपर भा गिरा हो ॥ १० ॥

विदूषक—[हँसकर] जैसे कोई मीठा छुहाए खाते-खाते ऊबकर हमनीपर दूट पड़े वैसे हो भाप भी रनिवातकी एक-दो-एक बढ़कर सुन्दरियोंको भुसाकर हसपर लड्डू हो उठे हैं ।

राजा—तुमने अभी उसे देखा नहीं है म, इसीसिमे ऐसा कह रहे हो ।

विदूषक—वो ठीक है । जब भाप भी उसे देखकर मुम-मुम भूते बैठे हैं तब वह तबमुच कपवती होगी ।

राजा—मित्र ! और तो क्या कहूँ । तुम नरत यही समझ लो कि—ब्रह्माने जब उसे बनाया होगा तब पहले उसका चित्र बनाकर या मनमे सत्कारकी सभी सुन्दरियोंके रूपोंको दृष्ट करके उनमे प्राण डाले होंगे । क्योंकि ब्रह्माकी कुसलता और समुन्तताकी सुन्दरता दोनोपर बार-बार विचार करनेसे यही जान पडता है कि यह कोई निरासे हो दगकी सुन्दरी उन्होंने गढी है ॥ ११ ॥

विदूषक—ऐसी बात है तब तो इसने सभी सुन्दरियोंको पसारत कर दिया ।

राजा—मेरी समझमे लो उसका रूप कैसा हो पवित्र है कैसा बिना मूँचा हुआ फूल,

अतस्तु पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनर्थं

न जाने भोक्तारं कमिदं समुपस्थास्यति विधिः ॥१०॥

विदूषकः—हेतुः हि सद्यः परितापयुः स भवं । मा वस्तुवि त्वत्तिष्ठो इदं पुदोतेस्तमित-
विदूषणीस्तस्य दारण्यमस्त हृत्वे पठितदि । (तेन हि सद्यः परितापयतामेतां भवान् । मा
वस्तुपि तपस्विन इदं पुदोतेतमिथचिक्कण्योर्मस्य हस्ते पठिष्यति ।)

राजा—परपत्नीं यन्तु तत्र भवती । न च सन्निहितोऽथ गुरुजनः ।

विदूषकः—अस्तन्यक्त भन्तरेण बोधितो से विद्विषाग्रोः । (अथ वन्द्यमन्तरेण कीदृशस्तस्या
दृष्टिरागः ।)

राजा—वयस्यः । नितागदिवा प्रमत्तस्तपस्विन्यवयवम् । तथापि तु—

अभिद्युते मयि मंहतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम् ।

यिनपवारितपृच्छिरतस्तया न विष्टतो मदनो न च मंष्टतः ॥११॥

विदूषकः—[विदूष्य] ए वसु विदुमेतरां तुह अक तमारोहवि । (न सद्यः दृष्टमापस्य
तवारुं तमारोहति ।)

राजा—मियः प्रापाने पुनः क्षामीनतमात्रं वामताविष्टतो भावस्तत्र भवत्यपि ।
तथा हि—

दमोद्गुरेण चरणः घत इत्यकाण्डे

तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।

आसीद्विवृत्तवदना च विमोचपन्थी

शास्त्रासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमायाम् ॥ १२ ॥

विदूषकः—तेरा हि यहीनपाधेयो होहि । किंव तुए जववलो तबोवरणं ति देखामि ।
(तेन हि गृहीतपाधेयो भय । वृत्त त्वयोपवनं उपोक्तामिति पश्यामि ।)

राजा—सते तपस्विभिः कंभ्रत्परिज्ञातोऽस्मि । चिन्तय तावत्केमापदेशेन सकृदप्याभमेन वसामः ।

विदूषकः—को भवरो भवदेसो तुह रसलो । लीवारच्छुभासनं भस्मभ्रं उपहरन्तु ति ।
(कोऽपरोऽनवेशस्तथ राज्ञः । नीवारपटुभागमस्माकमुपहरन्तिवति ।)

राजा—सुखं भग्यद्वारापधेयमेतेषां रसलो निपतति यत्रतनरासीनपि विहायानिगतम् ।
पदम्—

यदुत्तिष्ठति वरुण्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम् ।

तपःपद्मभागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः ॥ १३ ॥

[गैर्ये]

हस्त सिद्धार्थी स्वः ।

राजा—[कहीं दस्ता] भये धीरप्रज्ञानस्वरैस्तपस्विभिर्भविष्यत् ।

[प्रविश्य]

कही उसभा नहीं था फिर भी धीरे-धीरे बल्कल सुलझानेका सहाना करके वह मेरी घोर देखती हुई कुछ देर खड़ी रह गई ॥ १२ ॥

विदूषक—तब भाप अपना सान-समाज सब यही भंगा सोचिए, क्योंकि मैं देख रहा हूँ कि भाप इस तपोवनको एकदम प्रमोदवन बनाए डाल रहे हैं ।

राजा—भिम ! कुछ श्रमि मुझे पहचान गए हैं । अब सोच-विचारकर कोई ऐसा उपाय बताओ कि कमसे कम एक बार तो किसी बहाने आश्रममें हो पाऊँ ।

विदूषक—भाप राजाओंके विषये कोई बहाना बनानेकी क्या आवश्यकता है ? जाकर यही कहिए कि भाप योग राज-करके रूपमें हमें तिन्नी का छठा भाग दे हाविए ।

राजा—तू तो एकदम मूर्ख है । भरे, इन श्रमियोंकी रक्षाके बदले तो हमें ऐसा मजूका कर मिलता है कि उसके साथे रत्नोक्त देर भी तुच्छ है । देखो—नारों जहाँके राजाओंको भी कर मिलता है उतका फल तो नष्ट हो जाता है वर ये कन्यासी श्रमि सोप अपने तपका वो छठा भाग हमें देते हैं वह कभी नष्ट नहीं होता ॥ १३ ॥

[नेपथ्यमें]

अहा, इन लोगोंके सब काम पूरे हो गए ।

राजा—[काम समाकर] भरे, यह बम्पीर धीरे शान्त स्वर तो श्रमियोंका-सा जान पड़ता है ।

[प्रवेश करके]

असुरं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं

न जाने मोक्षारं क्वमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥१०॥

विदूषकः—तेन हि सद्यः परित्याग्युः खं भवं । मा वस्तुवि तवस्तिष्ठो इदंशुबोवेत्तमिस्त-
चिद्रूपतोस्तस्य आरम्भस्य हस्त्ये पदितदि । (तेन हि समु परिभावतामेना भवान् । मा
वस्त्यानि तपस्विन इदंशुबोवेत्तमिस्तचिद्रूपतोस्तस्य हस्त्ये पदितप्यति ।)

राजा—परमहो तसु तवभयतो । न च सविहितोऽयं मुदजनः ।

विदूषकः—प्रतभयन्तं अन्तरेण शोदितो से दिद्विरागो । (यमभयान्तमन्तरेण कीदृशस्तस्या
द्विरागः ।)

राजा—वयस्य । निमग्नदियाप्रपन्नस्तपस्विन्याजनः । तथापि तु—

अभिमुखे मयि संदृष्टमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम् ।

विनयवारितशृत्तिरतस्तथा न विष्टतो मदनो न च संश्रुतः ॥११॥

विदूषकः—[विहस्य] एं वसु दिद्विमेतस्त सुह भ्रंशं समारोहति । (न सद्यु इष्टमाशस्य
सवादुं समारोहति ।)

राजा—मित्रः प्रत्यागो पुनः शालीनतयाऽपि काममादिष्टतो भावस्तमभवत्या ।
तथा हि—

दमोदुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे

तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।

आशंसन्ते सुरयुवतयो वद्वैरा हि दैत्यै-

रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वजे ॥ १५ ॥

उमो—[उपगम्य] विजयस्य राजन् ।

राजा—[आसनादुत्थाय] अभिवादन्ये भवन्ती ।

उमो—स्वस्ति भक्ते । [इति कसान्धुपहरत् ।]

राजा—[समणामं परिगृह्य] आस्तापयितुमिच्छामि ।

उमो—विविधो भवानाभसतेष्टानिहृत्स्व । तेन भवन्तं प्रार्थयन्ते ।

राजा—किमास्तापयति ।

उमो—तत्रभवतः कश्यपस्य बहुर्वैरतांनिभ्याद्वास्तासि न हृष्टिविभ्रमुत्पादयन्ति । तत्कति-
पमरात्रं तापविहितोयेन भवता सनाथोक्थितायाध्वन इति ।

राजा—धनुगृहीतोऽस्मि ।

विदूषकः—[प्रवर्धते] एसा बाणि सचुक्रता ते 'अभमत्परा । (एपेदानीमनुकुसा
हेऽभ्यर्चना ।)

राजा - [द्विगतं कृत्वा] रैवतक ! मधुघनातुष्यतो सारथिः सवाशासमं रथमुपस्थापयेति ।

दोवारिकः—[न क्षेपो आणवेति । (यदेव याज्ञापयति) [इति निष्क्रान्तः ।]

उमो—[सहपंथं]—

अनुकारिणि पूर्वेषां पुक्तरूपमिदं त्वयि ।

शासन करते हैं, और दैत्योसे बँर बांधनेवाली, देवताघोरी त्रिशूला इन्हीं के चढ़े हुए धनुष
और इन्द्रके वज्रपर धपने विजयकी भाशा बांधे रखती हैं ॥१५॥

उमो—[पास जाकर] राजन्, आपकी क्या हो ।

राजा—[आसनसे उठकर] आप लोगोकी प्रणाम करता हूँ ।

उमो—आपका कसमाण हो । [फल भेंट करते हैं ।]

राजा—[प्रणाम करके फल लेकर] आज्ञा कीजिए ।

उमो—सब आध्यक्षवासी जान गए हैं कि आप यहाँ ठहरे हुए हैं । इसलिए उनकी
प्रार्थना है ।

राजा—क्या आज्ञा है उनकी ।

उमो—उन्होंने कहाया है कि आदरयोग्य बहुरिपु क्षत्रके न रहने के कारण राजाजीव हमारे
पक्ष में बढ़ा धिक्क डाल रहे हैं । इसलिये आप धपने सारथीके साथ यहाँ पुछ रातें बिताकर
इस आध्यक्षकी सलाह करें ।

राजा—बड़ी कृपा है उनकी ।

विदूषक—[सतत] यही तो आप चाहते भी थे ।

राजा—[मुस्कराकर] रैवतक ! सारथी से कहना कि रथ और धनुष-बाण लेत्रा लावे ।

द्वारपाल—[ओ आज्ञा महाशय की । [प्रस्थान]

उमो—[प्रसन्न होकर] राजन् ! आप यही कर रहे हैं जो आपने पूर्वक करते आये हैं ।

आशंसन्ते सुरपुत्रयो बद्धवैरा हि दैत्यै-

रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे ॥ १५ ॥

उभौ—[उपगम्य] विश्वस्य राजन् ।

राजा—[पातनादुत्थाय] अभिधात्रये भवन्तौ ।

उभौ—स्पर्शित भवते । [इति फलाम्बुपहरत् ।]

राजा—[सप्रणामं परिगृह्य] आज्ञापयितुमिच्छामि ।

उभौ—विहितो भवानाश्रमसंज्ञामिहस्य । तेन भवन्तं प्रार्थयन्ते ।

राजा—किमाज्ञापयन्ति ।

उभौ—तत्रभवतः कथस्य महर्षेरत्तानिष्पन्नास्मांति न इष्टिबिम्बमुत्पादयन्ति । तावन्ति-
पयस्वत् सारपिण्डिनीयेन भयता सनाथोऽस्मिन्मायाम इति ।

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि ।

विदूषक—[अपवार्धं] एता दाहिं प्रपूज्या ते 'भवभूतपणा । [एवेदानीमनुपुसा
हेऽन्यथा ।]

राजा—[स्मितं कृत्वा] रक्षक ! भद्रघनादुभयतां सारथिः सञ्चालयन् रथमुत्पापयेति ।

बोद्धारिफ.—न बेचो भाखुवेहि । [यदेव प्राप्तावयति] [इति निष्क्रान्तः ।]

उभौ—[सहस्रं]—

अनुकारिणि पूर्वेषां युक्तरूपमिदं त्वयि ।

सायन करते हैं, घोर दैत्योंति बंद बांधनेवासी, देवताओंकी रिश्या इन्हीं के बंदे हुए धनुष
घोर इन्द्रके वस्त्रपर अपने विजयकी धागा बांधे रखती हैं ॥१५॥

दोनों—[पाह जाकर] राजन्, आपकी जय हो ।

राजा—[आसनसे उठकर] आप दोनोंकी प्रणाम करता हूँ ।

दोनों—आपका कल्याण हो । [फल भेंट करते हैं ।]

राजा—[प्रणाम करके फल लेकर] आज्ञा कीजिए ।

दोनों—सन धारमवासी आज्ञा गए हैं कि आप यहीं उठे हुए हैं । इसलिये उनकी
प्रार्थना है ।

राजा—क्या आज्ञा है उनकी ।

दोनों—उन्होंने कहाथा है कि आदराखीय महर्षि बन्धने से रहने के कारण राक्षस लोग हमारे
पक्ष में यथा विरत ठान रहे हैं । इसलिये आप अपने सारथीके साथ यहाँ कुछ रातें बिताकर
इस धारमकी सेवा करें ।

राजा—बड़ी कृपा है उनकी ।

विदूषक—[समय] यही तो आप चाहते थी थे ।

राजा—[मुखदाकर] रक्षक ! सारथी से कहना कि रथ घोर धनुष-बारु सेवा घाने ।

दासपाम—जो आज्ञा महाराज की । [प्रस्थान]

दोनों—[प्रणम होकर] राजन् ! आप यही कर रहे हैं जो आपका दुर्जन करते घाने है ।

आपन्नामयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः ॥ १६ ॥

राजा—[सप्रणामम्] वच्छतां दुरो भयन्तो । ग्रहमप्यनुपदमागत एव ।

उभौ—विश्वस्य । [इति निष्कान्तौ]

राजा—मादण्ड्यः । आप्यस्ति शाकुन्तलावर्तने क्रुतुहलम् ।

विदूषकः—परमं सपरीवाहं क्षतिं दासि रक्षसतनुत्तन्त्रैश्चिन्नु वि लायसेतियो (अपमं सपरीवाहमासीत् । इदानीं राक्षसवृत्तान्तेन चिन्दुरपि नावक्षेपितः ।)

राजा—ना भयोः । ननु मासमोषे वर्तिष्यसे ।

विदूषकः—एष रक्षससादो रक्षिज्यो न्हि (एष राजसन्निहितोऽस्मि ।)

[प्रविश्य]

दीवारिणः—सज्जो रघो भट्टिगो मित्रमप्यत्यासं भवेत्तदि । एष खलु शुभरादो देवीणं प्राप्नुहिहरप्रो वरभक्तो प्राप्यतो । (मज्जो रघो भर्तुर्विजयप्रस्थानमपेक्षते । एष पुनर्नगरादेवी-मामाप्नुहिहरः वरभक्तः आगतः ।)

राजा—[सादरम्] निमग्नाभिः प्रेषितः ।

दीवारिणः—ग्रह ई । [पथं विम् ।]

राजा—ननु प्रवेदयताम् ।

दीवारिणः—तह । [इति निष्क्रम्य वरभक्तेषु सह प्रविश्य] एतो भट्ट । उपसप्य । (सथा । एष भर्ता । उपसर्प ।)

प्राथमिकी रक्षा करजा तो घायवा घर्म हो है क्योंकि यह बात सभी जानते हैं कि बारसुमें घाये हुएमीको भयभयान देने में घुटवमी कभी भीदे नहीं हटते ॥१६॥

राजा—घाय लोग पतिए । मैं भी घा रहा हूँ ।

दोनों—घायकी विश्रय हो । [प्रस्थान]

राजा—मादण्ड्य ! क्या शाकुन्तलाकी रीतने की कुछ दृष्ट्या है ?

विदूषक—गृही तो दृष्ट्या की बात आनई थी, पर जयसे राक्षसोंका नाम सुना तबसे बृंद नर भी जली रू रू है ।

राजा—अरे मत । तुम्हें हम अपने साथ रक्खेंगे ।

विदूषक—हाँ, तब ही राक्षसोंमें प्राण अने रहेंगे ।

शरणा—[प्रवेश करते] महाराज ! रघु नेगर है और घायकी विश्रय-यात्राके लिये पत्तनेकी प्रतीक्षा कर रहा है । और ही, राजमाता की छात्रा सेवर नगर में करमव भी पाया है ।

राजा—[सादरके साथ] क्या माता जी में बेजा है ?

शरणा—जी हाँ ।

राजा—तो उसे यहाँ से घायो ।

शरणा—जी छात्रा । [प्रस्थान । वरभक्तकी साथ सेवर फिर प्रवेश ।] महाराज में बैठे हैं । घाये पर जाओ ।

करमकः—जेहु भट्टा ! देवी आशुवेदि—आशुगिणि घटत्यदिघहे पञ्चत्पारखे मे उववासो भविस्सदि । तहि दोहाउला भवस्सं संभाविदध्वा त्ति । (जयतु गता । देव्याभापयति—
प्रणामिनि चतुर्धदिवसे प्रवृत्तपारखो मे उववासो भविष्यति । तत्र दीर्घमुपाश्रयं संभावितयेति ।)

राजा—इतस्तपस्विकार्यम् इतो मुकुन्तता । द्वयमप्यनतिरमाश्रीयम् । किमत्र प्रतिविधेयम् ।

विदूषकः—तिमाङ्क विध अन्तराले चिद्ध । (त्रिषड्भुरितान्तराले तिष्ठ ।)

राजा—सत्यपाकुन्तोभूतोऽस्मि—

कृत्ययोर्विन्नदेशत्वाद्भ्रूध्रीभवति मे मनः ।

पुरः प्रतिदत्तं शैले स्रोतः स्रोतोवहो यथा ॥१७॥

[विचित्र] सत्ते त्यगन्त्या पुत्र इति प्रतिगृहीतः । असौ भवानितः प्रतिनिवृत्य तपस्वि-
तापेऽप्यप्रमाणं माभावेष्ट तत्रभवतीनां पुत्रकृत्यमनुष्ठातुमर्हति ।

विदूषकः—ए सयु मे रक्षसोभोरमं यत्तेसि । (न सयु मा रक्षोभोरक गणयति ।)

राजा—[सन्मिष्टम्] कथमेतद्भवति संभाव्यते ।

विदूषकः—अहं रामाशुएरा भगव्य सह गच्छामि । (यथा राखानुजेन गन्तव्यं तथा भवामि ।)

राजा—मनु तपोवनोपरोयः परिहरणोय इति सर्वानानुयात्रिकास्तवैव सह प्रत्यापयामि ।

करमक—महाराजकी पित्रव हो । माताजी के कहलाया है कि आकसे चौदे दिन मेरे
जतका पारण होगा । उस अवसरपर चिरञ्जीव भी भगव्य उपस्थित रहे ।

राजा—इधर तो श्रमियोका काम, उधर यदोकी आज्ञा । दोनों ही नहीं टाले जा सकते ।
क्या करूँ ?

विदूषक—त्रिशकुले समान बीचमें सटक जाओ ।

राजा—मैं तो सचमुच बड़ी उलझने पड़ गया हूँ । क्या बताऊँ ? दोनों कार्य ही भग-
वन्सग स्थानोमे पड़ रहे हैं । इसलिये इस समय दुविधामे पड़े हुए मेरे मनकी वही दशा हो रही
है जो पहाड़के रक्षी हुई नदीकी घाटाकी होती है ॥१७॥ [सोचकर] मित्र ! बेली ! माताजी
मुझे भी पुत्रके ही समान मानती हैं । इसलिये तुम जाओ और माताजीसे कह देना कि मैं
श्रमियोकी रक्षामें लगा हुआ हूँ । और वहाँ जो कुछ मेरे करेका काम हो सब तुम्हीं कर
दासना ।

विदूषक—यह न समझिए कि मैं राखसोसे डरता हूँ ।

राजा—[मुस्कराकर] जला तुम्हारे विषयमे क्या कभी ऐसा सोचा भी जा सकता है ।

विदूषक—तो मैं कैसे ही ठाट-बाटसे आऊँगा जैसे राजाका छोटा भाई जाता है ।

राजा—ठीक है । नहानाक हो तपोवनसे सब बसेदा दूर ही रखना चाहिए । इसलिये
सेनाको भी तुम्हारे ही साथ भेजे देना है ।

विदूषकः—[उच्यते] तेण हि जुवराओ भिह बाणि सबुत्तो । [तेन हि युवराजोऽस्मोदानी
सबुत्त ।]

राजा—[स्वगतम्] जयलोअय बट्टः । कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्त्रपुरेभ्यः कथयेत् । मवतु ।
एनमेवं वडये—[विदूषक हस्ते शुद्धोत्था प्रकाशम्] ययस्य ऋणियोरयावाधमं गच्छामि । न सत्तु
सत्यमेव तापसकन्यकामः ममाभिलाषः । पश्य—

एकं वयं च परोक्षमन्मथो मृगशार्ङ्गः सममेधितो जनः ।

परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न शृङ्खतां वचः ॥१८॥

विदूषकः—अहं हं । (मय किम् ।)

[इति निष्क्रान्ता. सर्वे ।]

इति द्वितीयोऽङ्कः ।

विदूषकः—सब तो इस समय मैं युवराज ही मन गया हूँ ।

राजा—[मन ही मन] यह आह्वान बड़ा मटकट है । कहीं यह रनिवासने जाकर मेरी
सब बातें न कह डाले । अच्छा, इसे भी समझता हूँ—[विदूषकका हाथ पकड़कर । प्रकट]
मित्र, मैं ऋषियोंका बड़ा आदर करता हूँ इसीलिए उनके आश्रममें जाया करता हूँ । श्रीरघु
आदिकर्माके लिये तो मेरे मनमें समिक भी प्रेम नहीं है । क्योंकि—कहाँ तो हम, श्रीर कहाँ
प्रेमकी बातोंसे एतदम अनजान, मृगशार्ङ्गके साथ पसी हुई यह कथा । मित्र, हमने हेँहीमे जो
इतनी बातें तुमसे कही हैं उन्हें तुम सत्य न समझ बैठना ॥१८॥

विदूषकः—नहीं, नहीं, ठीक है ।

[सब चले जाते हैं ।]

दूसरा अंक समाप्त

तृतीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति कुशानादाय यजमानश्चिध्वः ।]

शिष्यः—ग्रहो महानुभावः पार्थिवो दुष्कृतः प्रविष्टमात्रे एवाभम तवभवति राजनि
विरुपद्रवाणि नः कर्मणि प्रवृत्ताणि भवन्ति ।

का कथा वाणसंधाने ज्याशन्देनैव दूरतः ।

हुंकारेणैव धनुषः स हि विघ्नानपोहति ॥ १ ॥

मायदिमान्मेदिर्वस्तरणार्थं दर्शनंतिवाम्य उपनयामि [परिक्रम्यावलोक्य न आकाशे]
प्रियंभवे कस्येदमुशीरानुतेषं घृणस्तवन्ति घ मतितीक्ष्णानि नीयन्ते । [आकर्ष्य] कि
मधीयि । आतपलङ्घनाद्वसवदस्यस्या शकुन्तला तस्याः शरीरनिर्वाणामेति । तर्हि स्वरितं
गम्यताम् । सा फलु भगवतः कण्ठस्य कुलपतेरक्षुवसितम् । अहमपि तावद्वैतानिकं शान्त्युपक-
मस्य गीतमीहते विसर्गमिष्यामि । [इति निष्क्रान्तः ।]

विष्कम्भकः ।

तृतीय अङ्क

[हाथमे कुशा लिए हुए कण्वके शिष्यका प्रवेश ।]

शिष्यः—महाराज दुष्कृतका प्रताप तो देखिए कि जयसे वे आश्रममे पधारे हैं तभीसे
हमारे मन्त्र काम बेरोक-थोक होते चले जा रहे हैं—वाण्य पठनेकी ये बात ही क्या, केवल
बाने धनुषकी टकारसे ही वे विध्वोको दूर भगा देते हैं । ॥ १ ॥ तो यस्तु भविष्योके लिये
वैदीपर विज्ञानकी कुशा ले आकर पहुँचा भाजें । [धूमकर आकाशकी ओर देखते हुए ।]
शरी प्रियवरा, ये टठलवाने कमलके पत्ते और लव मित्रा हुआ तेष किसके लिये ले जा
रही हो । [सुनतेका नाट्य करते हुए] क्या बह्य कि धनुन्तला सू लव जानेसे बड़ी वेचन हो
गई है, उसके शरीरकी ठठक पहुँचानेके लिये हो यह सब ले जा रही हूँ । तो तुरन्त जाओ
क्योंकि यह भगवान् कुलपति नन्धके प्राणके समान है । मैं भी तबतक उसके लिये गीतमीके
हाथ मक्का शान्ति-जस भेजता हूँ । [प्रस्थान]

विष्कम्भकः ।

[ततः प्रविशति वामवमानावस्थो राजा ।]

राजा—[सचिन्त नि स्वस्थ]

ज्ञाने तपसो वीर्यं सा बाला परवनीति मे विदितम् ।

अलमस्मि ततो हृदयं तथापि नेदं निवर्तयितुम् ॥ २ ॥

[मदनशपा निरूप्य] भयवन्कुसुमाग्र्य ! त्वया चन्द्रमसा च विश्वसनीयान्यामति-
तपोयते कामिजनसायं : । कुत —

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मिस्त्वभिन्दोर्द्वयमिदमयथार्थदृश्यते मद्बिधेषु ।

विस्तृजति क्षिप्रमैरग्निमिन्दुर्मयूखैस्त्वमपि कुसुमयाशान्वज्रसारीकरोपि ॥ ३ ॥

अथवा

अनिशमपि मकरकेतुर्मनसो रुजमावहन्नभिमतो मे ।

यदि मदिरापतनयनां तामधिकृत्य प्रहरतीति ॥ ४ ॥

[सल्लेह परिक्रम्य] क्व तु सलु सस्थिते कर्मणि सत्स्वरजुसातः श्रमवशान्तमात्मानं
विनीदयामि । [नि स्वस्थ] किं तु सलु मे प्रियत्वरसाहते शरणमन्यत् । यावदेनामन्यिष्यामि ।
[सूर्यमवलोक्य] इमामुप्रातर्वेला प्रापेरुततावलयस्तु मासिनीतीरेषु सप्तसीजना शकुन्तला
गमयति । तत्रैव तावद्गच्छामि [परिक्रम्य सत्पथं रूपयित्वा] अहो प्रवातसुभगोऽयमुद्दिताः ।

[कामसे पोडित अवस्थामे राजा दुष्प्रवृत्त्या प्रवेष्टा ।]

राजा—[उत्तमं भरकर ।] मैं तपस्वियोंकी शक्ति भली भाँति पहचानता हूँ, इसलिये
मैं उसे हरकर भी नहीं ले जा सकता और यह भी जानता हूँ कि विवाह करना न
करना उस कुमारोके हाथमें नहीं है इसलिये वह स्वयं भी मेरे साथ नहीं जा सकती । फिर
भी न जाने क्या बात है कि मैं अपना मन उत्तरसे इटा ही नहीं पा रहा हूँ ॥ ३ ॥ [काम
पोडाका नाट्य करते हुए]—हे पूणोंके पतुप-बाण पारख करनेवाले कामदेव ! तुमने और
चन्द्रमसे उन सब कामियोंको बड़ा धोखा दिया है जो तुमपर विश्वास किए बैठे थे ।
क्योंकि—तुम्हारा पूणोंके बाणवाला कहा जाना और चन्द्रमाका ठण्डी किरणोंवाला कहा
जाना, ये दोनों बातें मुझ-जैस बिरहिणोंको झूठी ही जान पड़ती हैं, क्योंकि चन्द्रमा तो
अपनी ठण्डी किरणोंसे प्राग वरसा रहा है और तुमने भी अपने फूलके बाणोंसे वज्रकी
वठीरता भर ली है ॥ ३ ॥ पर यदि तुम मदमरी और बड़ी-बड़ी माँसोवाली उस शकुन्तलाके
बारण मेरा जी बार बार दुछाए जा रहे हो तो तुम ठीक ही कर रहे हो ॥ ४ ॥ [दुखी होकर
पूमता हुआ] यज्ञ-पूखें हो जानेपर जब ऋषि लोग मुझे बिदा कर देंगे तब मैं अपने दुखी प्राण
सेवर वहाँ मन बहनाऊँगा । [ठण्डी साँस भरकर] प्रियाका दर्शन छोटकर भव और दूसरा
सहारा क्या है । चलूँ अपनी ओर हूँ । [सूर्यको देखकर] ऐसी भरी दुपहरीमें शकुन्तला
अपनी सन्धियोंके साथ मानिनीके लट्ठपर बने सतामण्डपोंमें ही जाकर प्रायः बैठा करती
है । तो यही पतन है । [पूमकर और वायुका स्पर्श होनेका अभिव्यक्ति करता हुआ] याह, यहाँ

शक्यमरविन्दसुरभिः कथवाही मालिनीतरङ्गाभ्याम् ।

अद्वैतनङ्गतप्तैरविरलमालिङ्गितुं

पवनः ॥ ५ ॥

[परिक्रम्यावसोभय च] अस्मिन्वेतसपरिक्षिप्ते सतामण्डपे संनिहितया शकुन्तलया भवितव्यम् । तथा [प्रथो विसोष्य]—

अश्विमुन्नता पुरस्तादवगाढा अधनगौरवात्पश्चात् ।

द्वारेऽस्य पायडुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिजवा ॥ ६ ॥

माधाद्विदमान्तरेणावलोकयामि । [परिक्रम्य मया कृत्वा । सहर्षम्] अये कर्षं मेनन्निर्वाणम् । एषा मे ममोरपप्रियतमा सुकुन्तलस्तत्तलं शिलापट्टमपिश्यायामा सखीभ्यामप्यारयते । भवतु । श्रोत्राम्बासां विलम्बकथितामि ।] इति विलोकयन् प्रियतः ।]

[ततः प्रविशति यद्योत्पन्नपात्रा सह सखीभ्यां शकुन्तला ।]

सखी—[उपवीज्य सस्नेहम्] हसा सज्जन्ते । अवि सुहेदि दे खसिखीपत्तबावो । [हसा शकुन्तले अपि सुखयति ते मलिनोपमवातः ।]

शकुन्तला—किं बीजसमि भं सखीयो । [किं बीजयतो मां सखी ।]

[सखी विपारं नाटयित्वा परस्परमवलोकयतः ।]

राजा—अतववस्यस्मत्परीरा शकुन्तला दृश्यते । [सवितकम्] सत्किमप्यमातपवोपः त्पात्त मया मे मयसि तर्तसे [साभिलाप निर्बन्ध] अथवा कृतं शब्देहेन ।

कसा मण्डा गवन बहु रहा है ।—कमलमे बसा हुआ और मालिनीकी सहरोकी कुहारीसे लदा हुआ यह पवन, कम से तपे हुए मंगीकी मडा सुहावना लग रहा है ॥५॥ [धूमकर मोर देखकर] बँतोसे दिरे हुए इस सतामण्डपमें ही कहीं शकुन्तला बैठी होगी चाहिए । क्योंकि [नीचे देखकर] इस कुण्डके द्वार पर पीली देतीमें भारी जितववाली सखियों के नौरोके गवे पडे हुए बिछु दिसाई दे रहे हैं जो गूँधीकी ओर गहरे ओर बागैकी ओर उडे हुए हैं ॥६॥ मण्डा ! इन पृथ्वीकी ओटसे देखता हूँ । [धूमकर मोर प्रगल्भ होकर] बाह ! मेरी आँखें टपडे हो गईं । मेरी प्यारी यहाँ सुन्दर कुँजोके विछोमैवाली पतवारकी पटियापर लेटी हुई है और दोनो सखियाँ इसकी सेवा कर रही हैं । मण्डा ! अब सुनूँ तो कि ये धापसमे गया बातें करती हैं । [लडा होकर सुनता है ।]

[जैसा ऊपर कहा गया है उस दशामे शकुन्तलाके साथ सखियाँ दिसाई देती हैं ।]

सखियाँ—[बडे प्यारसे पह्ना ऋलती हुईं] अबी सखी शकुन्तला ? कमलके पत्तीके माननेये कुण्ड टण्डल मिल रही है ?

शकुन्तला—सखियों ! क्या तुम मुझे पह्ना ऋल रही थी ?

[एजिमां दुखी होनेवा फमिनय करती हुई एक दूसरीकी देखती है ।]

राजा—शकुन्तला तो वही बेचैन दिसाई पड रही है । [खीनकर] क्या इसे खू लग गई है ? या कहूँ ऐसा न हो कि जो दशा मेरे मन की हो रही है वही इसके मन की भी हो । [लतचाई आँखोंसे देखता हुआ] पर सन्देह किया ही क्यों जाय । क्योंकि—

राजा—अनसूयामय्यजुक्तो मदीयस्त्वर्कः । न हि स्वाभिप्रायेण मे दर्शनम् ।

सकुन्तला—[आत्मगतम्] यत्तत्तं क्लृप्ते मे महिषिणेति । दासि वि सहेता एतत्तं एतं सहेतोमि
स्त्रिवेदिम् । (यत्तत्तं क्लृप्ते मे प्रीतिनिवेद्यः । इदानीमपि सहस्रतयोनं स्वर्गोमि निवेदयितुम् ।)

प्रियंवदा—सहि सज्जते ! सुहृद् एता भगवति किं भक्तयो प्राप्तुं उच्यते । प्रपन्नप्रहं
कलु परिहृयति अङ्गे हि । केवलं साधनमर्हत्तं द्वापा तुम् एतं मुञ्चति । (सति उक्तते ! सुहृद् एता
भगवति । किपात्मनः प्राप्तुमुच्यते । अनुदिवध कलु परिहृयतेऽङ्गः । केवलं साधनमपि द्वापा
त्वा न मुञ्चति ।)

राजा—अथितयमाह प्रियंवदा तवा हि—

छामसामकपोलमाननमुरः कठिन्यमुक्तस्तनं

मध्यः पलान्ततरः प्रक्षामयित्तत्तत्तौ हविः पापदुरा ।

शोच्या च प्रियदर्शना च मदनपिल्लटेयमालक्ष्यते

पत्राणामिव शोषणेन भरता स्पृष्टा सता माधवी ॥८॥

सकुन्तला—सहि कस्तका अणुस्तं कहस्वत् । आभासवत्तिता दासि वो भविस्तं ।
(सति कल्प पात्रयस्य कल्पित्यामि । आभासवत्तिता दासि वो भविस्तं ।)

समे—अथो एव कलु शिष्यमो । शिष्यमजलसंविभक्तं हि पुष्पं सज्जयेदत्तं होदि (यत्त एव
(यत्त एव कलु निर्वाच्यः । शिष्यजनसंविभक्तं हि पुष्पः सज्जयेदत्तं भवति ।)

राजा—मैं जो बात समझ रहा था वही अनसूया भी सोच रही है । तो मैंने जो कुछ
सोचा था वह केवल मेरे मनकी ही बात नहीं थी ।

सकुन्तला—[मन ही मन] सबकुछ मेरा जेब बहुत बाने तक बढ़ गया है और मुझमें एकाएक
कुछ कहते नहीं बन रहा है ।

प्रियंवदा—सखी सकुन्तला ! अनसूया ठीक कह रही है । तुम क्यों अपना रोग बढ़ाती
या रही हो । दिन पर दिन तुम इतनी सुलती बली जा रही हो कि तुम्हारे शरीर पर बस
सुन्दरताकी भक्तक भर बची रह गई है ।

राजा—प्रियंवदा सब कहती है । क्योंकि—इसके पास भुरभ्य गए हैं, मुँह सूख गया है,
रक्तों की कठोरता जाती रही है, कपूर और भी पतली हो गई है, बन्धे मुक्त गए हैं और देह
पोसी पड़ गई है । चापुके परसते मुखझाई हुई वतियोंवाली माथपी सता के समान यह सुन्दर
भी लगती है और इसपर क्या भी घाती है ॥८॥

सकुन्तला—तुमसे न कहूँगी तो किसने कहूँगी ? सखी ! अब खुश लोगोंको मेरे दिलमें
कष्ट करना ही पड़ेगा ।

दोनी—इसीलिये हम तुमसे इतना आग्रह कर रही हैं । देखो, अपने स्नेहियोंके दुःख को
यह कम हो ही जाता है ।

स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलितमृणालैक्यलयं

प्रियायाः सावार्धं किमपि कमनीयं वपुर्दिम् ।

समस्तापः कामं मननिजनिदाघप्रसरयो-

र्न तु ग्रीष्मस्यैव मुमगमपराद्धं युवतिषु ॥ ७ ॥

प्रियंवदा—[अनामिकायम् ।] अलमुए तास राएविलो वडमवंसएणवो धारहिण वज्जुसुमा विम ताज्जता । किं शु वपु ते तप्पिमित्तो पप्पं भातद्धो भवे । (मनगूये तस्य राज्ञ्यैः प्रणमदत्तनाधारण्य पर्व्वेयुषेव शकुन्तला । किं न तसु हस्वास्तनिमित्तोऽपमावद्धो भवेत् ।)

धनगूया—ताहि मम वि ईदितो पातद्धा हिमघस्तः होतुः पुच्छित्तं दाव हां । [प्रकाशम्] महि पुत्तात्तपपि किं पि । यत्तवं वपु दे संदावो । (महि मयापीदृश्यातद्धा हृदय । भवतु । प्रहसामि तापदेनाम् । तपि प्रष्टव्यामि किमपि । इत्यनान्यपु ते संतापः ।)

शकुन्तला—[पूर्व्वार्थेन तापमादुरण्य] हता किं वत्तुकाभाति । (हता किं वत्तुकाभाति ।)

धनगूया—हमा मज्जवने ! अलममनरा वपु धम्हे मवत्तपदता वुत्ततास्त । किं शु जादितो इतितात्तपपि वपु मममात्तात्तं अवरता वुत्तोमदि तादितो दे वेवपामि । वहेहि विहिमित्तं संदावो । विघारं वपु वरमावतो अजातिस अलारम्यो वद्विमारस्त । (हता शकुन्तले ! धन-
म्यगरे तन्वायां मदनमवत्त वृत्तान्तम् । किं शु यादतो इतिहासनिबन्धेयु वामयमानानामवत्ता श्रुवतो तादृशी ये वत्तामि । वपय विनिमित्तं ते संतापः । विघारं तसु वरमावतः अजातवाऽनारम्यः प्रतीकारण्य ।)

इसके राजावर ममका मेरा सारा हुआ है और एक हाथसे बचकर हीसा कंगन बंधा हुआ है । पर इसकी केर्षन होनेपर भी इसका धीरेर कुछ कम सुन्दर नहीं लग रहा है । यद्यपि मैं लगने धीरे प्रेमसे परनेपर केर्षनी एव भी हो रही है किन्तु मैं लग जानेपर सुवर्तिमोंसे इसकी सुन्दरता गयी रह जाती ॥३॥

प्रियंवदा—[धनगूया] धनगूया ! अबसे शकुन्तलाने उस राजाके देगा है तभीसे यह जनर मर्द हो गई है । बीज जाने यह केर्षनी करीबे बारम्बार हो ।

धनगूया—मयी ! मैं भी कुछ देखी हो बात सोचती हूँ । अन्ता ! इसीसे कुछ देखती हूँ । [प्रकाशम्] मयी, मैं सुझने कुछ सुझा जाती हूँ । देखो, गुम्हारी केर्षनी बहुत बड़ पयो है ।

शकुन्तला—[बिजोनेपर पायी उदका] क्या सुझता जाती हो मयी ?

धनगूया—शकुन्तला ! हम सोचनेको जाने तो कुछ जानती नहीं है फिर भी क्या-
कामिनेसे हमने देखीकी जो बातें सुनी है, सोच बंधी हो क्या सुझती भी दिगाई पड़ रही है । जो क्या-सी सुन दिखने निदे हमनी केर्षन हो । क्योंकि अबक मंदरा क्या न पले तावक
उदका उदक बंधे बिना भा लकता है ?

राजा—अनसूयामप्यनुगतो मदीयस्तर्कः । न हि स्वामिप्रायेण मे दर्शनम् ।

शकुन्तला—[आरमभयम्] यत्नं बहु मे अहिंसिवेत् । दासि वि सहसा एवाहं ए सङ्कलामि
स्मिधेर्दिदं । [वत्तवान्स्तु मेधमनिवेशः । इदानीमपि सहस्रंयोनं शक्नोमि निवेदयितुम् ।]

प्रियंवदा—तहि सज्जते । मुहुः एषा भस्मादि किं अस्तस्यो मातङ्गं उवेवसति । अशुविमहं
बहु परिहिमसि प्रह्नेहि । केवसं चावप्यस्यईं दाम्ना सुगं ए भुञ्जति । [सखि शकुन्तले ! मुहुः एषा
मस्यति । किमायन मातङ्गमुपेक्षते । अनुदिनं बहु पच्छीयतेऽङ्गः । केवलं तावद्वयमयी दाम्ना
एव न भुञ्जति ।]

राजा—प्रदत्तयमाह प्रियंवदा तथा हि—

शाम्भामकपोलमाननमुरः कठिन्यमुक्तस्तनं

मध्यः पलान्ततरः प्रकामयित्तायंसौ छविः पाण्डुरा ।

शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते

पत्राणामिव शोपणेन महता स्पृष्टा लता माधवी ॥८॥

शकुन्तला—तहि कस्यया अण्णस्य कहदसं । आमासवतिथार दासि भो भविस्सं ।
[सखि कस्य काऽण्णस्य नयविष्णामि । मायाउपिनीदामी वां भविष्णामि ।]

उभे—अदो एव बहु शिखन्थो । शिरिणज्जण्णसंविभसं हि बुद्धं सज्जवेवणं होमि [प्रत एव
[प्रत एव सत्तु निर्दण्णः । शिखण्णमसविमक्त हि दुष्णः सहावेदनं ययति ।]

राजा—मैं जो बात समझ रहा था वही अनसूया भी खोज रही है । तो मैंने जो कुछ
सोचा था वह वेचल मेरे मनकी ही बात नहीं थी ।

शकुन्तला—[यस ही मन] सचमुच मेरा प्रेम बहुत भारी तक यह गया है और मुझसे एकाएक
कुछ कहते नहीं मन रहा है ।

प्रियंवदा—सखी शकुन्तला ! अनसूया ठीक कह रही है । तुम अभी अपना रोम बढाती
जा रही हो । दिन भर दिन तुम इतनी सुखती बनी जा रही हो कि मुझ्झारे सरीर पर मा
मुन्दरताकी झलक भर बनी रह गई है ।

राजा—प्रियंवदा सब कहती है । क्योंकि—इतके गाल मुरझ गए हैं, मुँह सूख गया है,
स्तनो भी कजोरता जाती रही है, कमर और भी पतली हो गई है, कन्धे झुक गए हैं और चेह
पीली पड़ गई है । बायुके परससे मुरझाई हुई पछिगोवासी माधवी लता के समान यह मुन्दर
भी लगती है और इसपर क्या भी जाती है ॥८॥

शकुन्तला—तुमसे न कहूँगी तो किससे कहूँगी ? सखी ! भव तुम दोनोंको मेरे लिये कुछ
कष्ट करना ही पड़ेगा ।

दोनों—इसीलिये हम तुमसे इतना आग्रह कर रही हैं । देखो, अपने स्नेहियोंसे कुछ बाँटलेपर
वह कम हो ही जाता है ।

पृष्टा तनेन समदुःखसुखेन बाला ।

नेयं न वदयति मनोगतमाधिहेतुम् ।

दृष्टो विवृत्य बहुशोऽप्यनया सतृष्ण ।

मत्रान्तरे श्रवणकातरतां गतोऽस्मि ॥ ६ ॥

शकुन्तला—सहि जदो पटुहि मम दसलण्णं धाअदो सो उवोवहारस्सिखा राएत्ती तदो धारहिअ
सगदेण अहितासेण एतदवस्यमिह संवुत्ता (सति यतः प्रभृति मम दर्शनपथपागतः स उपोवनरक्षितः
राजपि, ततः प्रारभ्य तदगतेनाभिभाषेणैतदवस्थाऽस्मि सवृत्ता ।)

राजा—[सहर्षम्] भूतं श्रोतव्यम् ।

स्मर एव तापहेतुर्निर्वापयिता स एव मे जातः ।

दिक्षत इवार्धरयामस्तपात्यये जीवलोकस्य ॥ १० ॥

शकुन्तला—सं जइ यो अणुमदं । ता तहबहुह जइ तस्स राएसिलो अणुअणुएज्जा होमि ।
अणुहा प्रयत्तं सिअअ मे तिलोदरं । (तद्यदि बामनुमतम् तदा तथा यन्वेषाम् यथा तस्य राजपरेणु-
कम्पनीया भवामि । अन्यथा अथर्वं सिञ्चत मे तिलोदकम् ।)

राजा—संशयकद्वेहि वचनम् ।

प्रियवदा—[अनातिक्रमम्] अणुसूए पूराअममहा अवलमा इअं कात्तहरणस्स । जस्सि
बद्धभावा एता सो कलाममुदो पोरवात्तं । ता भुत्तं से अहितासो अहिणुमिदं । (अनपूरे । पूराअ-
मानया अक्षयेवं कात्तहरणस्य । अस्मिन् यद्यन्यथा न सनामभुवः वीरकाणाम् । तद्युक्तमस्या
अमितापोऽग्निनिदिधुम् ।)

राजा—हुल-गुल मे साथ देवैवासी अपनी इन शक्तियोंके पृथक्पथ तो यह बाला अवश्य ही
अपने मनकी बात बता देगी । यद्यपि शकुन्तलाने उस समय बड़े प्यार से बार-बार मेरी ओर
सलवाई माँझीमे देखा था, फिर भी मेरे जीमे बड़ी घुस्घुत्ती हो रही है कि कित्ना यह अपनी
बेईजोबद क्या कारण बताती है ॥६॥

शकुन्तला—सती, आधमयी राजा करनेवाले के राजपि जबसे मेरी माँझीमे सनाए हैं तभीसे
जहाँके प्रेममे मेरी यह दया हो गई है ।

राजा—[हर्षमे] मही तो मैं सुनना चाहता था । जो कामदेव मुझे पीड़ा दे रहा था उसीने
मुझे इस प्रकार जिता लिया जैसे यहाँवा दिन पहले तो जीर्णोष्ण व्याकुल कर देता है पर दिन
उल जाने पर वही सबका जो हरा भी कर देता है ॥१०॥

शकुन्तला—यदि तुम दोनों ठीक समझो तो कोई ऐसा उपाय करो कि उन राजपि की
मुझपर दया हो जाय । नहीं तो मुझे जिताऊँ देने के लिये तैयार हो जाओ ।

राजा—[मन हो मन] बस, यह बात सुनकर सब मन्देह जाता रहा ।

प्रियवदा—[अनभूषाये अथवा] सती, इसकी प्रेम-व्यथा इतनी बढ़ गई है कि कोई उपाय
तीव्र ही करना चाहिए । सबकुछ इस बातकी तो सराहना करनी ही पड़ेगी कि शकुन्तलाने प्रेम
विया तो पुनर्वसरे भ्रष्टा दुष्मन मे हो ।

अनसूया—तह जह मरगसि । (उवा यथा मरगसि ।)

प्रियवदा—[प्रकाशम् ' सहि दिहिष्ठा भयुरूपो दे भहिणियेसो । साधरं उज्जिष्ठा कहिं या महाणई सोदरद को दाणि सहस्रारं भन्तरेण भदिमुत्तरं पल्लविं सहिदि । (सति दिष्टपाप्मरूपस्तेऽभिनिवेशः । सागरमुज्जिष्ठा वा कुत्र वा महानयनतराणि न इदानीं सहस्रारमन्तरेणातिमुत्तलता पल्लविता सहते ।)

राजा—किमत्र चित्रं यदि विज्ञाये ज्ञानाद्भूलेषामनुवर्तेते ।

अनसूया—को उल उवाधो भवे जेह भवितम्बियं लिहियं अ सहीए मगोरहं संवादेम्ह । (कः पुनरुवाया भवेतेनाविस्तमित निभृत च सख्या मगोरय भगवदाव ।)

प्रियवदा—लिहियं त्रि विन्तलिहिय भये । तिर्पं त्रि सुमर । (निभृतमिति चित्तानीयं भवेत् । शीघ्रमिति सुकरम् ।)

अनसूया—रहं धिप । (कथमिव ।)

प्रियवदा—तुं सो राएसी इमांसि तिलिहिविहीए सुदवाहिलातो इमाई विमहाई पत्राम-राकिसो लवलीभदि । (ननु स राजधिरस्य स्निग्धहृदया सूचिताभिनाप एतादिवसात् प्रजागरकृतो लक्ष्यते ।)

राजा—सत्यमित्थंभूत एवास्मि । तथा हि

इदमशिशिरैरन्तस्तापाद्विवर्णमणीकृतं ।
निशि निशि भुजन्त्यस्तापाद्गप्रसारिभिरश्रुभिः ।
अनभिलुलितज्याघाताङ्गं मृदुमेशिवन्धना ।
कनकवलयं स्रस्तंस्रस्तं मया प्रविसार्यते ॥११॥

अनसूया—हां, यह तो है ।

प्रियवदा—[प्रकट] सखी, तू चली सोभाग्यजालिनी है कि ऐसे योग्य पुरुष से तुझे प्रेम किया । क्या तो, भला सागरको छोड़कर महानदी और कहाँ जायगी ? सागरके वृक्षों को छोड़कर नये पत्तोंवाली माघवी भला और किसका सहारा लेकर चलेगी ?

राजा—यदि विज्ञायाके दोनो नक्षत्र चन्द्रकलाके पीछे-पीछे चलें तो प्रादयं ही क्या ?

अनसूया—तो कोई ऐसा उपाय बताओ कि इसकी इच्छा भी तुरन्त पूरी हो जाय और कोई जान भी न पावे ।

प्रियवदा—तुरन्त-वाला उपाय तो हो सकता है, पर बात खिपी रहे, इसीके लिये थोड़ा सोचना पड़ेगा ।

अनसूया—क्यों ?

प्रियवदा—राज्य की बात तो यह है कि राजपति भी अफुन्तसासे प्रेम करते हैं । सभी तो दिन-रात जागते रहनेके कारण इधर वे कुछ दुबलेसे दिखाई पड़ने लगे हैं ।

राजा—उच्चमूच मेरी दशा ऐसी ही हो गई है । मैं दतना दुबसा हो गया हूँ कि हिरके तले लगी हुई भुजापर बैठा हुआ, रात-रात मर मरो बाँझोंकी फोरोसे छन छनकर गिरे हुए गरम धाँसुओं से मैंने रस्तीवाला, यह सोनेका भुजबन्ध दतना ढीला पड़ गया है कि बार-बार ऊपर सरवाते रहनेपर भी यह गद्देपर बिस्तर जाता है और धनुषकी टोरीकी फटकारसे पड़े हुए पट्टेपर भी नहीं बहर पाता ॥ ११ ॥

प्रियवदा—[विचिन्त्य] हता मध्वलेहो से करोधदु । इमं देवप्रसादस्सावदेसेण सुमनो-
गोदिव करिअ से हृत्पत्र पावदस्सं । (हता मदनतेसोअस्य क्रियताम् । इमं देवप्रसादस्सावदेसेन
सुमनोगोविन्द इत्या तस्य हस्तं प्रापयिष्यामि ।)

धनगूया—रोधद मे सुउमारो पाधोधो । किं वा सउन्दता भण्णादि । (रोचते मे सुकुमारः
प्रयोगः । किं व शकुन्तला भगति ।)

शकुन्तला—को लिधोओ विरप्पोमदि । (को नियोगो विनित्यते ।)

प्रियवदा—तेण हि अत्तलो उवण्णासपुण्यं चिन्तेहि दाध सत्तिअपदयण्यणं । (तेन ह्यात्मन
उपन्यासपुण्यं चिन्त्य तावत्तनित्यपदवधनम् ।)

शकुन्तला—हता चिन्तेमि अहं । अथहीरण्णोरुमं पुणो वेणद मे हिममं । (हता चिन्त-
याम्यहम् । अथहीरण्णोरुमं पुनर्येषे मे हृदयम् ।)

राजा—[सहस्रम्]—

अयं स तिष्ठति संगमोत्सुको विशङ्कसे मीरु पतोऽवधीरणाम् ।

समेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं श्रिया दुरापः कयमीप्सितो भवेत् ॥१२॥

सखी—असगुलाअमानिणि को बाणि सतेरणिअवावत्तिमं सारविअं जोसिणि
पडतेण वारेदि । (आत्मगुलाअमानिनि ! क इदानीं शरीरनिर्वाहविधिं शारदीं प्योस्ता पटान्तेन
वाच्यति ।)

शकुन्तला—[सस्मितम्] लिओइआ दाहि मिह । (निराश्रितेदानीमस्मि ।) [इत्युपविष्टा
चिन्तयति ।]

प्रियवदा—[सोचकर] सखी ! इससे एक प्रेम-मन्त्र बिलबाया जाय और उसे कृजोमे
छिपाकर देवताका प्रसाद कहकर जगह दे दिया जाय ।

धनगूया—यह उपाय तो मुझे भी बड़ा सुन्दर जैसा । पर शकुन्तलागे भी तो पूछ लो ।

शकुन्तला—तुम्हारी बातमे जला मैं क्या भीन-मेस निकाल सकती हूँ ।

प्रियवदा—तब अपनी इच्छावा बर्णन करते हुए एक सुन्दर-सी कविता बना डालो ।

शकुन्तला—कविता तो मैं बना लूँगी । पर मेरा हृदय यही सोच-सोचकर बाँध उठता है कि
कहाँ वे अस्वोदार न कर बैठें ।

राजा—[हसते] तुम जिससे निरादरकी घाघना कर रही हो वह तुमसे भिन्ननेको स्वयं
उपावला हुआ खरा है । जो सखीको पाना चाहता हो उसे सखी मले हो न मिले पर
जिसे स्वयं सखी चाहे वह सखीको न मिले, यह कैसे हो सकता है ॥ १२ ॥

दोनों—तू अपनेकी इतना बुरा क्यों समझे बैठी है । मला मला तो ऐसा कीन मूसं होगा
जो शरीरकी शान्ति देनेवाली शरत्की भाँडनीको रोक्नेके लिये सिरपर बधवा तान ले ।

शकुन्तला—[मुस्कराकर] भण्डा, जो कहती हो वही कहती हूँ । [यह कहकर बैठी हुई
॥ १३ ॥]

राजा—स्वप्ने सखु विस्मृतविषयेषु सखुया प्रियागमनोक्त्यानि । यतः—

उन्नमितैकभूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः ।

कष्टकितेन प्रययति मय्यनुरागं कपोलेन ॥ १३ ॥

शकुन्तला—हृता चिन्तिहं मए गीतवस्तु । ए सखु सम्पिण्हिवाणि उख तेहसताहसणि ।
(हृता चिन्तिहं मया गीतवस्तु । स खलु संनिहितानि पुनर्मेखनसाधनानि ।)

प्रियवदा—इमस्ति शुभोदरसुखमारे खतिखोपले खहेहिं हिनिखतवणं करेहि । (पतस्मि-
ञ्जुकोदरसुखमारे भलिनीपने बलेनिखितवणं कुव ।)

शकुन्तला—[ययोक्त कथयित्वा] हृता सुखद शणि संयवत्वं ए वेति । (हृता श्रुत्युत्तमिवानी
संगतायं न वेति ।)

उभे—भवहिदे भू । (भवहिते स्वः ।)

शकुन्तला—[पापयति]—

तुज्झ ख आणे हिअअं मम उख कामो दिवाणि रत्तिम्मि ।

यिग्घिख तवइ बलीअं तुइ बुत्तमखोरहाई अङ्गाई ॥ १४ ॥

(तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवादि रात्रिमपि ।

निर्धुंख । तपति पत्नीवस्त्वपि वृत्तपनोरव्याप्यङ्गानि ॥)

राजा—[मम ही मन] प्यारीयो ग्राहजनर देखनेका यह सख्या भवसर मिला है, क्योंकि—
सताके समान पड़ी हुई एक भीहवाला झोर हयेंसे पुलकित गालोंवाला इस गीत मनानेवाली का
मुख ही बताए बात रहा है कि यह मुझे कितना प्यार करती है ॥१३॥

शकुन्तला—सखी ! गीत तो मैंने सोच लिया है पर लिखनेकी सामग्री तो यहाँ कुछ भी
नहीं है ।

प्रियवदा—तुमकी छातीके समान कोयल दल कमलिनीके पत्तेपर अपने बलोंसे ही लिख
जाओ ।

शकुन्तला—[ऐसा ही करती हुई] सखी ! मन तुमो, यह ठीक भी बन जाया है या नहीं ।

शेनी—हाँ, हम तुम रही हैं ।

शकुन्तला—[बोचती है ।]—

हे तिर्यं ! मैं नहीं जानती, तेरे मनकी भाषा ॥

पर तेरे ही प्रेम-वाक्यों से डरकर यह फल पाया ।

कामदेव दिन-रात सपाटा मेरी कोयल बाया ॥१४॥

राजा—[सहसोपमृत्यु]

तपति तनुगात्रि मदनस्तामनिशं मां पुनर्दहत्येव ।

ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वर्ती दिवसः ॥१५॥

सख्यो—[सहसं] साम्रवं अविलम्बितो मणोरहस्य । (स्वागतमविलम्बितो मनोरमस्य ।)
[शकुन्तलाऽम्बुस्यातुमिच्छति ।]

राजा—प्रसन्नमलमायासेन ।

संदष्टकुसुमशयनान्याश्रुवत्तान्तत्रिसभङ्गसुरभीणि ।

गुरुपरितापानि न ते गात्राण्युपचारमर्हन्ति ॥१६॥

मनसुया—इदोक्षितान्तलेङ्कृतं भलंकरेदु व अस्यो । (इतः क्षितान्तर्ले कदेवमलकरोतु वपस्य ।)
[राजोपविशति । शकुन्तला सत्तम्या विप्लति ।]

प्रियवदा—कुवेरां छ वो मय्योष्णासुराधो यन्वमस्यो । सहीसिणोहो मं पुण्यवर्तवारिणि
करेदि । (इदोर्गंतु युवयोर्मन्योण्यानुरागः प्रत्यक्ष । सखीदनेहो मा पुनस्तवदिनीं करोति ।)

राजा—भग्नं नैतत्परिहर्षमेषु । विवक्षितं ह्यनुक्तमनुतापं जनयति ।

राजा—[सोम्रतासे भागे बहुर ।] हे कुमरी ! तुम्हें तो कामदेव सताता भर है पर यहाँ
तो यह निरन्तर जलाह ही बाल रहा है । क्योंकि दिन निकलने पर कुमुदिनी उठनी नहीं कुम्हलाती
जितना जलमा कुम्हला जाता है ॥१५॥

सखिया—[हर्षते] स्वागत है भावना ! हम लोग अभी आपके दर्शनकी बात छोड़ ही रही
थी कि भाव स्वयं ही आ गए ।

[शकुन्तला उठना चाहती है ।]

राजा—बच्य करने की आवश्यकता नहीं । फिरहूँ परमन्त तापसे तुमने जलके दिग्गजिनपर
जो इश-उपर करवटे की की उल्लव कारण जलकी बद्धिही कुम्हारे शरीरमें कसीनेसे सिपट
गई है । तुमने कमलकी मालके जो आभूषण पहन रखे हैं वे भी भुरका गए हैं । इससे जान
पड़ता है कि तुम्हारा शरीर अभी बहुत बिगल है और तुम इस योग्य नहीं हो पाई हो कि उठकर
बादर ताककर कर सको ॥१६॥

मनसुया—[राजाते] प्रिय ! भाव भी इसी परस्परकी पाटोके एक कोनेको सुजोमित कोजिए ।

[राजा बैठ जाते हैं । शकुन्तला सजुपा जाती है ।]

प्रियवदा—मर्दान यह बात तो प्रत्यक्ष है कि भाव दोनों एक दूसरेसे प्रेम करते हैं, फिर भी
मनो लजोके प्रेमके नाते से भावने कुछ कहना चाहती हैं ।

राजा—भटे ! यवन मनरो बात कह दासिए । क्योंकि मनमे आई हुई बात यदि मनमें
ही रह जाती है तो बोधे क्या पछाना होता है ।

प्रियंवदा—आपणस्त विराजसि धातिशो जलस्त अतिहरेण शय्या होदध्यं ति एको यो प्रभो । (आपणस्त विराजनिवासिनो जलस्यातिहरेण राजा भविष्यमित्येष युष्माकं धर्मः ।)

राजा—नास्मात्परम् ।

प्रियंवदा—तेण हि दधं शो विभ्रतहो तुमं उद्दिशसि इमं अवस्थान्तरं भगवता ममलोण भारोविवा । ता भरहसि शब्दमुल्लसोए ओधिदं से भवसम्बिदुं । (तेन हीनं नो श्रियतया स्वाधुदिरयेदमवस्थान्तरं भगवता मदनेनारोविता । तदर्थंस्वामुपपत्त्या जीविनं तस्या भवसम्बिदुम् ।)

राजा—भद्रे सामारलोप्यं प्रत्ययः सर्वपाशुगृहीतोऽस्मि ।

लकुन्तला—[प्रियंवदागमनोक्त्यं] हता कि घनेरवरिरहणनुस्तुमस्त राएकिलो जयरो हेण । (हता किमस्त.पुनरवरिरहणयुस्तुमस्त राजर्षेरोपेन ।)

राजा—सुन्दरि !

हृदमनन्यपरायणमन्यथा हृदयसंनिहिते हृदयं मम ।

यदि समर्थयसे मदिरेशणे मदनबाणहतोऽस्मि हतः पुनः ॥१७॥

मनसूया—यमस्त बहुवल्गहा राजोलोमुखी सन्ति । जह शो विभ्रतहो श्मश्रुमणतोम शिगजा ए होइ तह शिप्यतोहि । (यस्य बहुवल्गवा राजातः भूयते । यथा नो प्रियसखी श्मश्रुजमशोषनीया न भवति तथा निर्दोषम् ।)

राजा—भद्रे कि कहुना ।

परिग्रहपहुत्वेऽपि द्वै प्रतिष्ठे फलस्य मे ।

समुद्रवसना चोर्ध्वं सखीं च युवयोरियम् ॥ १८ ॥

प्रियंवदा—राजा होकर आपका यह धर्म है कि अपने राजधर्म रहनेवाले लोभोका कष्ट दूर करें ।

राजा—मैं कहीं इससे दृढ़ता हूँ ।

प्रियंवदा—तो भगवाए कामदेवने आपके ही कारण हमारी सखीकी यह दया कर दी है । अब आप ही दया करें तो उसके प्राण बचें ।

राजा—भद्रे ! यह तो आपकी बड़ी कृपा है क्योंकि मेरी भी यहाँ यही दया है ।

लकुन्तला—[प्रियंवदाकी देलकर] सखी ! ये राजाधि तो रनिवासकी रानियोंके विरहमे व्याकुल हो रहे होंगे, इन्हें इस फेरमे क्यों बास रही हो ।

राजा—सुन्दरी ! मेरा हृदय मुझे झोठकर घोर विद्वीकी प्यार नहीं करता । फिर भी हे भदमरी चितवनवासी हृदयेन्द्रिय ! यदि तुम इसका विन्यास नहीं करती तो मैं यही समझूँगा कि कामदेवके बाणोंसे एक बार घायल हुएकी तुम दुबारा घायल कर रही हो । ॥१७॥

मनसूया—वयस्य ! सुनते हैं कि राजाओंके बहुतसी रानियाँ होती हैं । तो हमारी प्यारी सखीके सिधे मुख ऐसा प्रबन्ध कीजिएगा कि हम सगे-साथियोंकी फिर पछताना न पड़े ।

राजा—भद्रे ! मैं और तो क्या कहूँ । इतना ही कह देता हूँ कि—रनिवासकी इतनी रानियोंके होते हुए जो मेरे दुश्मने दो ही बड़ी समझी जायँगी—एक तो सागरसे घिरी हुई पृथ्वी, और दूसरी सुम्हारी सखी लकुन्तला ॥ १८ ॥

उभे—लिखद रह । (निवृत्ते स्व. ।)

प्रियवदा—[सहृष्टिपम्] अणसूए । जह एसो इहो दिण्णदिट्ठो उत्तुप्पो मिअपोदओ मादरं अण्णेरहि । एहि । संजोएम हं । (अणसूए । यथंय इतो दत्तहट्ठिररमुको भृगपोतको मातरम्-
निष्पत्ति । एहि । राबोजयाव एमम् ।) [इत्युभे प्रस्थिते ।]

शकुन्तला—हला अतरण मिह । अण्णदरा वो भायच्छह । (हला अतरणाऽस्ति । अन्य-
तरा युवयोरामप्यस्तु ।)

उभे—पुहपोए जो सहणं सो ॥ समीये बट्ठ । (पृथिव्या यः धरणं स तत्र समीये वर्तते ।)

[इति निष्क्रान्ते ।]

शकुन्तला—बहं गदाओ एव । (बध गते एव ।)

राजा—अतमायेयेम । अन्यथमाराधयित्वा जनस्ताव समीये वर्तते ।

किं शीतलैः क्लमयिनोदिभिरार्द्रवाता-

न्संचारयामि नलिनीदलतालघृन्तैः ।

अट्टे निधाय करभोरु यथासुखं ते

मंवाहयामि चरणाशुस पद्मताम्री ॥ १६ ॥

शकुन्तला—ए माणणीएसु अत्ताणं अवराहइस्सं । (न मालनीयेष्वात्मानमपराधयिष्ये ।)

[इत्युत्थाय गन्तुमिच्छति ।]

दीनी—तए हमें सन्तोष है ।

प्रियवदा—[बाहर देलबर] अणसूया ! देख, बह भृगुछोना इपर देलता हुपा अयनी
माँको बूँद रहा है । बल, इसे इसकी माँके पास पहुँचा आवें ।

[चतनेकी वयत]

शकुन्तला—प्रती पतियो ! मुझे किसके सहारे छोड़ वा रहो हो ! दोनोंमें से एक हो
ठहरो ।

दीनी—गारी पूम्बीकी सहारा देनेवाला सो मेरे पास ही बैठा है ।

[प्रस्थान ।]

शकुन्तला—घरे क्या बसो गर्द ?

राजा—पवराठी क्यों हो ? तुम्हारी सेवा करनेवाला यह सेवक तो यहाँ बैठा हो है । हाथी
की सुँदने समान ठगवाँ जायँवाला । इस समय जो तुम्हें मुहाता हो, मैं बही करनेकी उत्तर
हूँ । बहो हो इन पचावट दूर करनेवाले ठके कमतिनीके पत्तोके पट्टा अट्टे या बहो तुम्हारे मात
कमलो जंत दोनों अइणोंको घरनी मोदमें रखकर पीरे-पीरे देवाळें ॥ १६ ॥

शकुन्तला—पूज्य कोमोति सेवा बगबर मैं अपने सिर पाप नहीं लूँगी ।

[उठकर जाया चाहती है ।]

राजा—गुदरी ! अनिर्वालो विषयः इयं च ते प्रतीतावस्था ।

उत्सृज्य कुसुमशयनं नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम् ।

कथमातपो गमिष्यसि परिचाषपेलचैरङ्गैः ॥२०॥

[इति वनादेनां निगतेति ।]

राजुन्मता—घोरम् ! एषः अविश्रामं । मधुसूतं तावत् एषः सु अस्मिन् । (घोरम् ।
रक्षाविनयम् । मदनसंतप्ताऽपि न सत्वात्मनः प्रभवामि ।)

राजा—भीष । अस्मं गुदजनभयेन । दृष्ट्वा ते विविक्षयान् तत्रभवतन्नाम कोऽयं प्रहोष्यन्ति कुत-
पतिः । वयम्—

गान्धर्वेभ्य विवाहेन बहुयो राजर्षिकन्यकाः ।

भूयन्ते परिणीतास्ताः पिठमिरचामिनन्दिताः ॥२१॥

राजुन्मता—मुञ्च बाध मं । भूमो वि तद्दिनसं मनुष्यासहस्रं । (मुञ्च तावन्माम् ।
भूयोऽपि समीपमनुमानविधौ ।)

राजा—भवतु मोक्षयामि ।

राजुन्मता—वहा । (वहा)

राजा—गुदरी ! अभी दिम भी नहीं बता है और इधर तुम्हारे लारीखी भी वह
बता है । इस दुपहरीमें कुर्छोना मिस्तर छोड़कर और कमलके पत्तोंके मग्न डरकर, बिरहमें
तपे हुये अपने दुर्बल अशरीरों से वर तुम वहाँ जाओगी ? ॥२०॥

[राजुन्मता का हाथ पकड़कर उसे रोका जाता है ।]

राजुन्मता—घोरम् । कुछ तो सोच जा ध्यान रखो । प्रेमी व्याकुल होने पर भी मैं
अपने मनके कुछ नहीं कर सकती ।

राजा—अरी डरपोक ! गुदजनोके डरनेकी तो कोई बात ही नहीं है । पूज्य कुनवति
धर्म की असी दांति जानते हैं । यदि वे सब बातें जान भी लेंगे तब भी इसे बुरा नहीं कहेंगे ।
देखो—बहुत से राजपियों की बन्ध्याओंने गान्धर्व विवाह किया है और यह भी मुना जाता है
कि उनके पिताओंने उनका समर्थन ही किया ॥२१॥

राजुन्मता—अच्छा, अभी तो मुझे छोड़ दीजिये । मैं कम से कम मतिपोंके तो
पूछ लूँ ।

राजा—अच्छा, छोड़ दुंगा ।

राजुन्मता—वहा ।

राजा—

अपरितोषकोमलस्य यावत्कुसुमस्यैव नवस्य पट्पदेन ।

अथरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि गृह्यते रसोऽस्य ॥२२॥

[इति मुसपस्या समुत्पन्नकितुमिच्छति । शकुन्तला परिहरति नाट्येन ।]

[नेपथ्ये]

चक्रवाक्यद्वयं आमन्तेहि सहकर । उर्वहृष्मा रमणी (चक्रवाक्यद्वये सामान्यस्व सहचरम् । स्थिता रजनी ।

शकुन्तला—[सप्तभ्रमम्] पोरव ! अससख मम सरीरवृत्तान्तोपलम्भस्ता अज्ज्ञा गोतमी इवो य आश्रयच्छदि ता विद्वत्सरिबो होहि । {पोरव ! अससख मम अरीरवृत्तान्तोपलम्भायामा तमीत् एवावच्छति तद्विद्वत्सरिबो भव । }

राजा—तथा । [इत्यात्मनोऽप्युत्थितं लिखति]

[सतः प्रविशति पामहस्ता गोतमी सखी च ।]

सखी—इवो इवो अज्ज्ञा गोतमी । (इत इत धार्या गोतमी ।)

गोतमी—[शकुन्तलामुपेत्य] जादे ! अवि लङ्घ्यवावाहं रे अङ्गारहं । (जाते ! अवि लङ्घ्यता-मि तेऽङ्गानि ।)

शकुन्तला—अज्ज्ञे ! अरिषि मे चितोसो । (प्राये ! अस्ति मे विषेय ।)

गोतमी—इमिणा वज्रोदण्डा निराश्रय एव रे सरीर अविस्सिदि [निरसि शकुन्तलामनुत्थ्य] अज्ज्ञे ! परिणवो विमहो । एहि । उडज एव यच्छम्ह । (यत्नेन वज्रोदकेन निराश्रयमेव ते सरीर विष्यति । वत्से परिणतो दिवस । एहि । उडजमेव यच्छाम ।)

[इति प्रस्थिता]

१ ५

राजा—जसे नये कोमल कुलवा रस भीरा वदे पावसे पीता है वैसे ही जन मुझ प्यासे हो तुम्हारे कामल मधरीका रस पीनेको मिल जायगा तब छोड़ दूँगा ॥२२॥

[ऐसा कहकर उसका मुँह ऊपर उठाना चाहता है । शकुन्तला रोनेलगा अभिनय करती है ।]

[नेपथ्यम्]

अरी नकची ! यपने प्यारेसे विदा स । राजा आ पहुँची है ।

शकुन्तला—[सिरगटाकर] पोरव ! जान पड़ता है मेरे सरीरकी क्या जाननेके लिये भार्या गोतमी यही आ रही हैं । इसलिये धाप जाकर इस वृषाकी घोटमें छिप जाइए ।

राजा—अच्छा । [छिप जाता है ।]

[क्षणम् एक पात्र लिये हुये दोनो सखियोंके साथ गोतमीका प्रवेश ।]

सखियाँ—इपर भादए भार्या गोतमी दधर ।

गोतमी—[शकुन्तलामे पास जाकर ।] वत्से ! तुम्हारे सरीर का साथ कुछ कम हुआ ?

शकुन्तला—हाँ, अब तो कुछ ठीक है ।

गोतमी—तो, इस बुझाके बसते तुम अच्छी हो जाओगी । [शकुन्तलाके सिर पर जल छिड़कती है ।] वत्से ! किम उल गया है । प्राप्नो वषो, कुटोमें चलो । [जाती है ।]

समुत्पत्ता—[आत्मगतम्] हिमम् । १४४ एवमुद्बोधने मणोरहे फादरभावः ॥ मुञ्चति ।
साक्षुस्तमविहृतिश्चरत् कृत् ॥ सपद सदायी [पदान्तरे स्थित्वा प्रभासम्] सदायत्तम सदावहारम्
धामन्तेमि सुव भूयो यि परिभोगस्त [हृदयम्] प्रपद्यते सुसोपनते मनोरथे नातरभाव न मुञ्चति ।
सानुनायविषदितस्य भव ते सागत सताप । सतागस्य सतावहारम् धामन्तम् त्वा भूयोऽपि
परिभोगाय) [इति दुःखेन निष्क्रान्ता समुत्पत्ता सहेतराणि ।]

राजा—[पूर्वस्थानमुपेत्य समिन्ध्यायम्] बहो विष्णवस्य प्राशितार्थमिच्छय । मया हि—

मृष्टरङ्गुलिसंपृताधरोष्ठं प्रतिपेवाचरविस्लगाभिरामम् ।

मुरसंसंविर्ति पद्मलाद्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ॥२३॥

यद न फलु सप्रति सपद्यामि । अथवा इहैव प्रियापरिभुक्तमुक्ते सतावसरे मुहूर्तं त्वास्मामि ।
[सर्वतोऽभिलाषम्]

तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता गय्या शिलापामिर्ध

फलान्तो मन्मथलेख यप नलिनीपत्रे नखैरपितः ।

हस्ताद्भ्रष्टमिदं विसाभरणमित्यासज्वसानेथयो

निर्गन्तुंसहसा न वेतसगृहान्छ्वनोमि शून्यादपि ॥ २४ ॥

[आकाशे]

समुत्पत्ता—[मन ही मन] हृदयम् । बह तुम्हारा प्यारा धपने धाप या पहुँचा या सब तो
सुम डरपोक बने रहे । मन पछताते हुए विस्मय जानेपर भयो इतना रो-न-लप रहे हो । [कुछ पन
भलती है, फिर बड़ी होकर, मकट] हे सन्ताप हरनेवाले सतापूज । विहारने लिय मैं मुन्हे फिर
निमग्नण दे जाती हूँ । [दुःखके साथ समुत्पत्तावा प्रस्थान ।]

राजा—[पहलेके स्थानपर पहुँचाकर आह भरकर] आह ! मनकी साथें पूरी होमके किताबी
धापाएँ या फूटती हैं । बयौकि—सुन्दर पलकीवाली समुत्पत्तावा उस चुम्बको उठाकर मैं चूम भी
नहीं पाया जिसके मोठकी यह बार-बार धपनी उँगलियोंसे बंधतो जा रही थी ओ बार-बार
मही-मही कहते हुए बड़ा सुन्दर सब रहा या और जिसे वह बार-बार धपन बन्धेकी ओर मोहती
जा रही थी ॥२३॥ अब वहाँ जाऊँ ? अच्छा इसी लता-कुन्ने छोटी देर ठहर जाता हूँ जहाँ
प्यारी इतनी देर रहकर पसी गई है । [चारों ओर देखकर] इस पटिपापर उसने पशोरके
मसला हुआ यह फूलोंवा बिछावन पड़ा है । कमलिनीने पक्षेपर नछोये तिला हुआ मोर
मुरझाया हुआ यह प्रेम पत्र या रखवा हुआ है । उसने हाथोंसे सूतकर धिरे हुए न बमलनालके
धामुपण भी बिखरे हुए हैं । इसलिये धपने नेत्रोंकी उसमनेवाली इतनी वामुघोरे होते हुए
देंतोंसे धिरे हुए इस सुने सता-महपको इतनी शीघ्र छोड़कर मैं बहो मो जा नहीं पा
रहा हूँ ॥२४॥

[आवाजम्]

राजन् !

सायंतने सवनकर्मणि संग्रवृचे वेदी हुताशनवर्ती परितः प्रपस्ताः ।
छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः संध्यापयोदकपिशाः पिशिताशनानाम् ॥२५॥

राजा—अयमयमायच्छामि । [इति निष्क्रान्तः ।]

इति तृतीयोऽङ्कः ।

राजन्—सायन्तने यज्ञ कर्मके प्रारम्भ होते ही जलती हुई अग्निवासी वेदियोंके चारों ओर सर्पोंके बावलोंके समान काले-काले और लाल-लाल डरावने राक्षस इधर-उधर घूमने लगे हैं ॥२५॥

राजा—मैं जाता हूँ । [प्रस्थान ।]

तीसरा अंक समाप्त ।

चतुर्थोऽङ्कः

[ततः प्रविशत कुसुमावधय नाट्यन्त्यो सकृपो ।]

अनसूया—प्रियंवदे जह वि गन्धर्व्येण विहितं शिष्यवृत्तान्तराण्य सङ्गदला अशुभ्य-
भक्तुगामिणी संवृत्तेति शिष्युदं मे हिमम् तह वि पृत्तिर्धं चिन्तयिष्ये । (प्रियंवदे दद्यापि गान्ध-
र्व्येण विधिना निवृत्तकल्पाणां तदुन्वत्ताङ्गुल्यवर्तुगामिनी संवृत्तेति मे हृदय तदाप्येतावन्वि-
स्तनीयम् ।)

प्रियंवदा—कह विप्र । (कण्ठमिव ।)

अनसूया—अज स्रो राएतो इट्टि परित्तमाविम इत्तीहि पित्तगिज्जो अत्तलो एमरं पवि-
सिअ अत्तेउरसमागवो इवोगवं धुत्तन्तं सुमरवि वा ए वेति । (अथ स राजपिरिट्ठि परित्त-
माप्य ऋपिमिविसजित आत्थको अजरं प्रविश्यामि पुरसमागत इतोवत्तं वृत्तात्तं स्मरति वा न वेति ।)

प्रियंवदा—योजडा होहि । ए तादिसा आकिदिविसेसा गुणविरोहिणी होमि । तादी
वाएण इमं धुत्तन्तं सुमिअ ए आणे कि पडिअजिस्तवि सि । (विस्मया भय । न तादिसा
आहुतिविदेया गुणविरोधिनी भवन्ति । अह इदानीमपि धुत्तन्तं धृत्वा न जाने किं प्रतिपश्यत इति ।)

अनसूया—अह अहं देवतामि तह तत्त अशुभव भवे । (यथाऽहं पश्यामि तथा
तस्यानुगत भवेत् ।)

प्रियंवदा—कह विप्र । (कण्ठमिव ।)

चतुर्थ अङ्क

[फूल चुननेका अभिनय करती हुई दोनों सखियोंका प्रवेश]

अनसूया—प्रियंवदा ! इस बातसे तो कीकी बड़ा सजोय हुआ कि तनुस्तताका माध्वर्ष
विवाह हो गया और उसे योग्य पति भी मिल गया, पर यही बड़ी चिन्ता है ।—

प्रियंवदा—क्या ?

अनसूया—यही कि आज यज्ञ हो चुकनेपर जब ऋषियोंने विद्या लेकर ये राजा पयने
भारके रनिवासमे पहुँच जायेंगे तब यहाँकी सुष उन्हें रह भी पावेगी या नहीं ?

प्रियंवदा—इसकी चिन्ता न कर । क्योंकि ऐसी पात-दानके सोप नपटी नहीं हुआ
करते । पर ये सब बातें सुनकर न जाने पिताजी क्या करेंगे ?

अनसूया—गी कहाँ तक समझती हूँ, ये इसका सभर्यन हो करेंगे ।

प्रियंवदा—क्यों ?

अनसूया—गुणवत्त्वे कण्वस्य पट्टिवादणुज्येति अर्थं दातुं पद्मसौ संकम्पी । तं जइ वेत्तं
एव संवादेवि एं अण्वस्येति किदन्तो गुरुप्रसो । (गुणवत्त्वे कण्वस्य प्रतिपादनीयेत्यर्थं तावत्-
प्रथमः संकल्पः ।) [यदि देवमेव सरादवति नन्वप्रयागेन कृतार्थो गुरुजनः ।]

प्रियवदा—[पुष्पभाजनं विलोक्य] सहि अवददाई मलिकम्मपज्जत्ताई कुसुमाई ।
(सहि अदचित्तानि बालकमोपर्याप्तानि कुसुमानि ।)

अनसूया—एवं सहोए सउन्दलाए सोहण्यदेवसा अण्वसोसा । (ननु सक्याः साकुन्तलायाः
सौभाग्यदेवताऽवेनीयाः ।)

प्रियवदा—तुअदि । (युज्यते ।) [इति तदेव कर्मारभते ।]
[नेपथ्ये]

असहं भीः ।

अनसूया—[कणं दत्त्वा] सहि अदिपीएँ विअ सिवेदिदं । (सहि प्रतिघोनामिव
निवेदितम् ।)

प्रियवदा—एँ उअजससिहिद्वा सउन्त्वा । [भारमवतम्] अज्ज उअहिअएए अस-
सिहिवा । (नवूतज समिहिता तपुस्तताः) अय पुतहँदयेवासमिहिता ।)

अनसूया—होडु । अलं एसिएहि कुसुमेहि । (अथतु । अतमेवावद्भिः कुसुमैः ।)

[इति प्रस्थिते]
[नेपथ्ये]

अनसूया—क्योंकि उनका तो संकल्प ही था कि कोई योग्य घर मिल जायगा तो इतका
बिवाह कर देंगे और जब वह काम देने ही पूरा कर दिया है अब तो बिना परिश्रमके
ही उनका काम बन गया ।

प्रियवदा—[कूर्त्तवीं पिटापी देखकर] सखी, मलिकम्मके लिये इतने फूल तो बहुत
होंगे न ।

अनसूया—क्यों ? अभी शकुन्तलाके भीभाग्य-देवताकी भी तो पूजा करनी है ।

प्रियवदा—हाँ, हाँ, ठीक कहती हो । [फूल चुनने लग जाती है]

[नेपथ्यमें]

अरे ! मैं माया हुआ हूँ ।

अनसूया—[बाग लगाकर] यह तो निम्नी प्रतिघिरी होती जान पड़ती है ।

प्रियवदा—शकुन्तला को भुटोमे है ही । [मन ही मन] पर आज वह कुछ मनमनी-
सी हो रही है ।

अनसूया—सखी, जाने कूर्त्तसे काम हो जायगा । [प्रस्थान]

[नेपथ्यमें]

मा. प्रतिधि परिभाषित ।

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्ति न मामुपस्थितम् ।

स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतमिव ॥१॥

प्रियवदा—हृदो हृदो । अल्पिन्न एव्य सयुक्त । कस्ति पि प्रमाहे प्रवरदा सुण्हिप्रमा सवन्दसा । [पुरोऽपसोषम्] ए ह जस्ति कस्ति पि । एतो बुद्धातो मुत्तहकोवो महेत्तो तह सविम येमयलुक्कुत्ताए दुव्वाराए वईए पडिणिपुत्तो । को अण्णो ह्वदवहावो महिदु महववि । (हा विक् हा चिक् । अप्रियमेव सधूतम् । कस्मिन्पि भूमाहेऽपरादा सुण्हदया सकुत्तता । न छलु यस्मिन् कस्मिन्पि । एप दुवांसा सुनमकोवो महविस्तवा सप्पवा वेगवसोक्कुत्तया दुव्वारया गत्वा प्रतिनिवृत्त । कोऽप्यो ह्वदवहाएम्पु प्रचवति ।)

अनसूया—अच्छ पावेषु परामिष एवक्तेहि ए ज्ञात मह अण्णोवम अण्णयेमि । (अच्छ पावयो प्रणम्प निवर्तयैमम् । वाक्वहमधोवकमुपकल्पयामि ।)

प्रियवदा—तह । (तथा) [इति निष्क्रान्ता ।]

अनसूया—[पदान्तरे स्तुतित निरूप्य] अच्छो आनेसवसतिवाए वईए पकभट्ट मे अण्णहमावो पुक्कमाभए । (पहो भावेगरसानितवा गत्वा अन्नष्ट मयाप्रहस्तापुण्यमाजगम् ।) [इति पुण्योपचय रूपमति ।]

(प्रविश्य)

प्रियवदा—तहि पकिविपद्दो तो कस्त अण्णएम पडिणेप्पदि । किं पि जण्ण साण्हकोतो गिण्णो । (सहि प्रकृतिपक्क स वत्सानुनय प्रविष्टुमिति । किमपि पुन खानुलोष कुव ।)

परी माँ, प्रतिधिका अपमान करनेवाली । जिसने ध्यानमें इतनी खान होकर तू मुझ जैसे तपस्वीके धानकी भी सुभ नहीं ले रही है वह बहुत स्मरण दितानेपर भी तुझे उसी प्रकार भूल जायगा जैसे पागल मनुष्य अपनी पिछली बात भूल जाता है ॥१॥

प्रियवदा—हाय हाय ! यह तो बड़ा बुरा हुआ । खान पटता है कि अपने बेटुघरमें सकुत्तलाने किसी पुत्रनीय महात्माका अपमान कर दिया है । [सामने देखकर] और वह भी किसी ऐसे-वैसेका नहीं । ये तो तनिकतो बातपर बिगड सके होने वाले महर्षि दुर्वासा ही हैं जो साप देकर ओपसे काँपते हुए पंरीसे वेचसे लींटे चने खा रहे हैं । क्या भागकी छोड़कर ज्ञानेका काम और कोन करेगा ?

अनसूया—जा, उनके पैरों चढ़कर उन्हें सोटा ला । तबतक मैं अर्घ्यका जल ले आती हूँ ।

प्रियवदा—अच्छी बात है । [प्रस्थान]

अनसूया—[शे एक पक्ष चमकर ठोकर खा आती है ।] हाय हाय ! भपटकर चलनेसे ऐसी ठोकर लग गई कि हाथ से पूतकी पिटारी ही छूट पड़ी । [पूत चुननेका अभिनय करती है ।]

प्रियवदा—[प्रवेश करके] रखी, ये तो बड़े टेढ़े व्यक्ति हैं । वे क्या किसीकी सुनते हैं ? फिर भी मैंने उन्हें किसी प्रकार मोटा बहुत मना लिया है ।

अनमूया—[सस्मितम्] तस्मिं बहु एव पि । नहोहि । [तस्मिन्बद्धेतदपि । कथम् ।]

प्रियवदा—अत्रा स्तित्तिदं एव इच्छन्ति तदा विष्णोविदो मय । भग्नय पठमं त्ति वेदिस्य
अविष्णोदतवपहावस्य दुहितुजनस्य भग्नयदा एषको अवरगहो भरिसिदध्यो त्ति । [यदा निर्वातितु
वेच्छति तदा विज्ञापितो मया । भगवन् प्रथम इति प्रेक्ष्य अविज्ञाततप प्रभावस्य दुहितुजनस्य भगवते-
कोऽवराधो मर्यादितम् इति ।]

अनमूया—तदो तदो । [सतस्ततः]

प्रियवदा—ततो एव मे यमस्य अण्डहावविदु अरिहृदि किन्तु अहिण्डहाभरणदंसरौण साधो
रिणवित्ससदि त्ति मन्तमन्तो सय मन्तरिहदो । [ततो न मे वचनमप्यप्राप्तितुमर्हति किंविभिज्ञाना-
भरणदंसनेन साधो निर्वातित्यते इति मन्तमन्तवयमन्तहित ।]

अनमूया—सकं दासि अस्तसिदु अस्त्य तेण रासिण्डा सप्रस्थिबेण सणामहेमन्दिमं
प्रंणुलीममं सुमरणीमं त्ति सधं पिण्डं । तस्मिं साहीखोयामा सज्जदता भविस्संवि । [अन्यमिदा-
नीमाश्रितितुम् । अस्ति तेन राजपिण्डा सप्रस्थितेन स्वनामधेयाद्विदुतमदुणुलीयकं स्मरणीयमिति
इयं पिण्डम् । तस्मिंस्कापीनोपाया साकुन्तला भविष्यति ।]

प्रियवदा—सहि एहि देवकज्जं दाय ते सिण्डसेम्ह । [सहि एहि देवकार्यं दावदस्या
निर्वर्तमाय ।]

[इति परिश्रमस्य ।]

प्रियवदा—[दिलोक्य] मयासुए वेणु सव । कामहस्योबहिदवमणा आलिहिदा बिभ्र
पिभ्रसहो । मत्तुगदाए चिन्ताए अत्ताए पि एव एसा विमोर्धेवि किं उल्ल भाधनुमं । [अनमूये मय
तावत् । कामहस्योपवृत्तवदनाऽऽसितितेव प्रियवदो । भर्तृगतया चिन्तयाऽऽजमानमपि नया
विभाषयति किं पुनरागन्तुकम् ।]

अनमूया—[मुत्कराकर] इतना भी क्या कम है । बहो क्या किया ?

प्रियवदा—जब वे किसी प्रकार भी लौटनेको तैयार न हुए तब मैंने प्रार्थना की कि भगवद् !
एक तो साकुन्तलाका यह पहला ही भरण है, फिर वह भाषके तेजका प्रभाव भी नहीं पहचानती
है, इसलिये मैंने कम इस बार तो उसे क्षमा कर ही दीजिए ।

अनमूया—तब ?

प्रियवदा—तब वे इतना ही कहकर अन्तर्धान हो गए कि मेरा बचन तो मूठ हो नहीं सकता ।
हाँ, इतना ही सकता है कि यदि यह कन्या अपने प्रेमीको कोई पहचानना आनूपण दिखला दे
तो मेरा साध छूट जायगा ।

अनमूया—यहो, कुछ सो जी इतना दुष्ठा क्योंकि उस राजपिने जतने समय अपने नामवाली
संगूठी दी थी । यत यह संगूठी ही साकुन्तला के साधका सहज उपाय है ।

प्रियवदा—नभी । यही सबतब देव-पूजनका काम पूरा कर दानें । [धूमतो हैं ।]

प्रियवदा—[देखकर] देखो तो, बाएँ हाथपर गाँस रखे हुए प्यारी सरी सँखी चित्र-निखी
को दिखाई दे रही है । पतिकी चिन्तामें जब यह अपनी ही सुष-नुष सो बैठी है, तब फिर
अनिधि की नीम पड़े ।

अनन्या—प्रियवदे दुयेहं मन्व ए सो मुहे एसो मुत्ततो चिट्ठु । रविधवदा वल्लु पकिदिपेलवा पिअरहो । (प्रियवदे द्वयोरेव ननु नो मुख एव वृत्ता-वस्तिष्ठतु । रक्षितव्या वल्लु प्रवृत्तिपेलवा प्रियवसो ।)

प्रियवदा—को एवम उण्होदएण सोमातिमं सिञ्चेदि । (को नामोपगोदकेन नवमासिका सिञ्चति ।)

[इत्युभे निष्क्रान्ते]

॥ विष्कम्भकः ॥

[ततः प्रविशति सुसोरिमल शिष्य ।]

शिष्य—वेतोपतक्षरत्वार्यमादिष्टोऽस्मि तत्रभवता प्रयासादुपायुत्तेन वण्येन । प्रकाश निर्गतस्तावद-
वल्लोकयामि कियदवशिष्टं रजःमय इति । [परिष्कन्यावलोचय च] हन्त प्रयातम् । तथा हि—

यात्येकतोऽस्तशिरः पतिरोपधीना-

भाचिष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः ।

तेजो ह्यस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां

लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥ २ ॥

अपि च—

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुदती मे दृष्टिं न बन्दयति संस्मरणीयशोभा ।

हृष्टप्रवासजनितान्यमलाजनस्य दुःखानि नूनमविभाशतुदुःसहानि ॥ ३ ॥

अनन्या—प्रियवदा ! देखो यह बात हमारे कुम्हारे पास तक ही रहे । क्योंकि लकुन्तला वहे कीमल स्वभावकी है । उसकी रक्षा तो करनी ही होगी ।

प्रियवदा—हाँ हाँ, यह तो है ही । नवमस्तिकाकी सहस्रहाती सतायी खोलते हुए पानीसे भला कौन पीयेगा । [प्रत्यान ।]

॥ विष्कम्भकः ॥

[लोकर उठे हुए एक शिष्यका प्रवेष्ट ।]

शिष्य—बाहरसे अभी सोटे हुए पूज्य कवचने मुझे यह देखनेको कहा है कि अभी रात कितनी रह गई है । इसलिये चतुर् बाहर चलाकर देखूँ । [इधर-उधर घूमकर धीरे धाकाशकी धीरे देखकर ।] भरे यद् तो दिन निकल आया । क्योंकि—एक धीरे धीरे-धीरे पति चन्द्रमा अस्ताचलको चले जा रहे हैं धीरे दूसरी धीरे अपने सारकी मरुतुको धाये किए हुए सूर्य निकल रहे हैं । इन दो तेजस्विनियोंके एक साथ उदय और अस्ताको देखकर समारको यही खिन्ना मिलती है कि दुखके पीछे सुख धीरे सुखके पीछे दुःख गया ही रहता है ॥२॥

धीरे भी देखो—चन्द्रमाने अस्त हो जाने पर अब कुम्भुदिनी धाम्निनेकी नहीं भाती । उसकी शोभा केवल कल्पनामे ही रह गई है । सबमुख जिन स्त्रियोंके पति परदेस चले जाते हैं वे विवोगका दुःख कैसे सह पाती होगी ॥३॥

[प्रविश्यापटीक्षेपेण]

अनसूया—जइ बि लाम विसभपरम्मुहस बि जइसस एह ए बिदिम तह बि तेण रण्णा सउन्दलाए अण्णज भामरिह । (यवधि नाम विषयपरह्मुसस्यापिजनस्यैतन्न विदित तयापि तेन राजा शकुन्तलायामनार्यमाचरितम् ।)

शिष्य — दावदुपत्तियता होयवेला गुरवे निवेदयामि । [इति निष्क्रान्त]

अनसूया—पठिबुद्धा बि कि करिसस । ए मे उइवेसु बि लिअकरलिअजेसु हस्यपाभा पसरति । कामो दांसि सकामो होहु जेण असम्भससे जसो अण्णहिअमा सही पव कारिवा । अहवा बुवासतो कोबो एसो विघारेवि । अण्णहा कह सो राएतो तारितालिअमन्तिअ एतिअसस कालस्य लेहमेस पि ए किसिअजेदि ता इवो अहिण्णएण अनुतोअम से पिसअजेम । बुवअसोले सवसिसजएँ को अमरस्योअहु । ए सहीयामी दोसो ति व्यवसिवा बि ए पारेम पवासपडिअिउत्तसस तावकण्णसस नुससन्तपरिसीह आअण्णसस सउम्भस सिवेदिहु । इत्यगए अम्हेहि कि करणिअ । (प्रतिबुद्धाअपि कि करिष्ये । न मे उचितेष्वपि निजकार्येषु हस्तपाद प्रसरति । काम इदानीं सवामी भवतु येनासत्यसंघे जने अनन्वहृदया सखी पव कारिता । ममया दुर्वासस कोप एव विकारमति । अथवा कम स राजपिस्त्राहवानि मन्त्रपितृवैतापरकासस्य लेखमात्रमपि न विवृजति । सदृशीअभिज्ञानमह्मुनीयक सस्य विसृज्य । दुःखशीले सपत्विजनै कोअम्यर्थात् । ननु सखीयामी दोष इति व्यवसिताअपि न पारयामि प्रयासप्रतिनिवृत्तस्य तातकण्वस्य दुष्प्रसन्नपरिणोतामापन्नसत्त्वा शकुन्तला निवेदयितुम् । इत्यगतेअस्माभि कि करणोयम् ।)

[प्रविश्य]

[परदेको भटवेसे उठानर अनसूया प्राती है ।]

अनसूया—[आव ही आव] यद्यपि मैं प्रेयसी बातें कुछ भी नहीं जानती फिर भी इतना तो अवश्य कह सकती हूँ कि उस राजाने शकुन्तलाके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया ।

शिष्य—बनूँ गुरुजीसे बसकर बताऊँ कि हुनका समय हो गया है । [प्रस्थान]

अनसूया—जाग तो गई हूँ, पर क्या बताऊँ, यहाँ अपने नित्यक कामके लिये मैं हाथ-पैर नहीं उठ रहे हैं । अब कामदेवका जो तो भर गया होगा कि मेरी सच्ची सखी उब भूठका इतना दिरवाग कर बेंटी । या कौन जाने दुर्गाबाबे सापका ही फल हो, नहीं तो येसी भीठी-भीठी बातें करनेवाला वह राजपि इतने दिन बीत जाने पर भी क्या एक पक्ष उब न लिख भेजता । अब उसे कुछ दितामैंने लिये उसने पाग भेगूठी भेजनी ही पड़ेगी । पर कठोर जीवन बिताने-वाले दन तपस्विपोंमिसे किससे भेगूठी पहुँचानेको कहा जाय । बाहरसे छोटे हुए तात कण्वसे मैं सभीके अपराधकी बात तो कह सकती हूँ पर उनसे यह नहीं कह पाऊँगी कि शकुन्तलाका राजा दुष्प्रान्तमें विवाह हो गया है और उसे गर्भ भी है । अब क्या कहे ?

[आकर]

प्रियवदा—[सहर्षम्] सहि तुवर तुवर सज्जन्ताए फपाणकोहुमं लिख्यतिहुं । (सखि स्वरस्य स्वरस्य शकुन्तलायाः प्रस्थानकौतुक निर्वर्तयितुम् ।)

मनसूया—सहि कहं एवं । (सखि कथमेतत्) ।

प्रियवदा—सुसाहि । दासि सुहसद्वनपुच्छिमा सज्जन्तासमासं गदमिह । (शृणु । इदानीं मुलशयनपृच्छिका शकुन्तलासमाश्रय गताऽस्मि ।)

मनसूया—तरो तरो । (ततस्तत्) ।

प्रियवदा—तरो आस एसां सज्जन्तासमाश्रयपुच्छिमा परितस्तज्जिमा तादकण्ठेस एवमं सहितान्दरं—
विद्विषा धूमजानिर्विद्विषो वि जगन्माणसस माणए एव्य भाहुदी पडिहा । मज्जे सुतिस्स परिणिण्ण विज्जा विम पत्तोमलिज्जा सवुत्ता । अज्ज एव्य इतिरविज्जदं तुमं भत्तुणो सप्पासं विसज्जेमि सि । (ततो यावदेता सज्जन्तासमाश्रय परितः सज्जन्तासमाश्रयमभिनन्दितम्-दिष्टया धूमा-
मुत्तितवष्टेरपि मज्जमाजस्य पायक एवाहुतिः पठिता ।) वरुणे सुगिष्यपरिदसा विद्येज्जासोचनीया सवुत्ता । मर्येव ऋदिरसिता त्वा भर्तुं सज्जन्तासमाश्रयमिणीति ।)

मनसूया—मह केस सुहरो तादकण्ठसस तुतन्तो । (अथ केन सुचितस्तातकण्ठस्य वृत्तान्तः ।)

प्रियवदा—मगिसरस पविहुस्स सरीरं विणा ज्जन्दोमदए वासिमाए । (मगिसरणं प्रविष्टस्य सरीरं विना ज्जन्दोमया वाण्या ।)

मनसूया—[सविस्मयम्] कहं विम । (कथमिव ।)

प्रियवदा—[हर्षते] तली ! तलो भण्टकर । शकुन्तलाकी बिबाईका प्रबन्ध करना होगा ।

मनसूया—तली ! यह सब कैसे हो गया ।

प्रियवदा—सुन ! मैं अभी शकुन्तलाके पास पहुँचे गई थी कि तू रातको सुखते सोई है या नहीं ।

मनसूया—तब-तब ?

प्रियवदा—तबतक तात कण्ठ मा पहुँचे और आजमे वही शकुन्तलाको गलेसे लगाकर यह मानवकी शाय बोले—बस्ते ! आज जोसोमे खुशी भर जानेपर भी सोमायसे यजमानकी धाहुति ठीक मगिके बीचमे हो पड़ी । इसनिचे जैसे योग्य लिख्यको बिदा देनेसे मनमे दुःख नहीं होता जैसे ही तुम्हे भी योग्य पछिके हाथमे देते हुए मुम्हे भी दुःख नहीं है मैं आज ही तुम्हे ऋषियोके साथ तेरे शतिके पास भेज दूँगा ।

मनसूया—और तात कण्ठको यह बताया किसने !

प्रियवदा—जैसे ही तात कण्ठ यज्ञशालामे पहुँचे जैसे ही छन्दसे बँधी यह आकाश-वाणी सुनाई दी—

मनसूया—[आश्चर्यसे] क्या ?

प्रियवदा—[संस्कृतमाश्रित्य]

दुष्पन्तेनाहितं तेजो दधानां भृतये भुवः ।

अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भा शमीमिव ॥४॥

अनगूया—[प्रियवदाभाषितम्] सहि विप्र मे । किन्तु अन्न एव सत्प्रदता सोमदि त्ति अन्नं दाताहारणं परितोम अस्तुमेमि । (गति प्रिय मे । किं स्वयं शकुन्तला नोपत इत्युत्कण्ठा-
साधारण परितोदमनुभवामि ।

प्रियवदा—सहि वन्न वाव उह्मं क विणोदहस्तामो । सा सवस्तिणी एतद्भुवा होतु । (सति
माया तावदुत्कण्ठा विमोदयिष्याव । सा तपस्विनी नियुक्ता भवतु ।)

अनगूया—तेण हि एवस्ति ब्रह्मताहावत्तन्विदे एतत्प्रसमुगणं एतन्निमित्त एव
कालगतरक्षमा एतन्निमित्त मय केसरमासिमा । सा इमं हृत्यसिंहिदं करेहि जाय अहं पि
ते ममलोमण तित्पमित्तम् दुष्पत्तिस्तवमाणि त्ति भगवत्प्रमातम्भराणि विरएमि । (तेन
एतस्मिन्मृगयायावत्तन्विदे नारिकेतसमुदभव एतन्निमित्तमेव ब्रह्मन्तरक्षमा निधिप्ता मया केसर-
मासिमा । तदिमा हस्ततनिहता वृद्ध यावदहमपि तस्य भृत्योचना शीर्षभृतिना दुष्पत्तिस्तवमाणीति
भगवत्प्रमातम्भनानि विरचयामि ।)

प्रियवदा—तह करोमनु । (तथा क्रियताम् ।)

[अनगूया निष्क्रान्ता । प्रियवदा नाट्येव गुप्तगो गृह्णाति ।]

[नेपथ्ये]

प्रियवदा—[उद्यतमे मोचती है ।]

जैसे हमो मृगके भीतर होता है यावत्ता-वास ।

मैंने ब्रह्मन् । इस ब्रह्ममे जग-हित वीरव-तेज विदात ॥४॥

अनगूया—[प्रियवदाके गले लगाकर ।] उसो ! मैं तो पूछी नहीं आती । पर इन हृदये
दुःखी यात इतनी ही है कि शकुन्तला आज ही यही जायगी ।

प्रियवदा—हम सोच तो भवने मनको ज्यों त्यों समझा लेंगे, पर यह बेचारी तो किसी
प्रकार मुगी रहे ।

अनगूया—वह जो घामकी शानीवर नारियल मटका रहा है उसमे मैंने बहुत दिनोंतक
मुग्ध-पण रहनेवाली शकुन्तली माना था उसके ही निचे रण छोटी है । उसे उबार तो ले था ।
उबतर मैं मोचोवन, शीर्षकी पिट्टी, बोमम दूरके अगुवे आदि भगव-सामग्रियों जुटाए
जाती हैं ।

प्रियवदा—अच्छा यही करो । [अनगूया जाती है । प्रियवदा मात्र उठारलेला नाट्य
करती है ।]

[नेपथ्ये]

गौतमी ! आदिशयन्तां आदर्शरवमिथा शकुन्तलानमनाय ।

प्रियवदा—[वक्ष्ये वत्सा] अणसूय तुवर सुवर । एदे वधु हस्तिनापुरगामिनो इतीओ सहायोअन्ति । (अनसूय स्वरस्व स्वरस्व एतै खलु हस्तिनापुरगामिन ऋषय शब्दापयन्ते ।)

[प्रविश्य समागतमनहस्ता ।]

अनसूया—साहि ! एहि गच्छम्ह ।। सखि ! एहि गच्छम्ह ।।

[इति परिश्रमयत ।]

प्रियवदा—[विलोक्य] एसा सुजबोवण एव सिहानगिणवा पबिज्जिवणोपारहत्वाहि सोत्थिवाअणकाहि तावत्तोहि अहिखन्धीअभाला सडन्दला विट्ठह । उवसम्हण ए । (एवा सुखोदय एव विज्ञानजिज्ञासा प्रतिष्ठितभोवारहस्ताभि स्वस्तिवाचनिकाभिस्तापसीभिरभिनन्द्यमाना शकुन्तला तिष्ठति । उपसर्पति एनाम् ।)

[हस्तुपसर्पत ।]

[ततः प्रविधति यथोद्दिष्टव्यापाराऽऽसुनेत्या शकुन्तला ।]

सापत्नीनामन्यतमा—[शकुन्तला प्रति] जाये अत्तुणो बहुभाणसुखम महावेईणव सहैहि । (जाते भर्तृवैहुमानसूचय महदेवीशब्द अभव ।)

द्वितीया—वच्छे वोरप्पसविणो होहि । (वत्से वोरप्रसविनी भव ।)

तृतीया—वच्छे अत्तुणो बहुगवा होहि । (वत्से भर्तृवैहुमत भव ।)

[इत्यादिषो इत्वा गौतमीवर्षं निष्कृन्ताः ।]

सख्यो—[उपसृत्य] सहि सुहमज्जल दे होहु । (सखि सुखमज्जल दे भवतु ।)

शकुन्तला—साम्भ मे सहोण । इवो खिणोवह । (स्वागत मे सख्यो । इतो निधीयतम् ।)

गौतमी । शाङ्करव आदिश कहो कि शकुन्तलाको पहुँचा जानेके लिये तैयार हो जाय ।

प्रियवदा—[कान लगाकर] अनसूया ! बसो बसो, हस्तिनापुर जानेवाले ऋषियोंकी बुलाहट हो रही है ।

[हापने सामथी लिए हुए अनसूयाका प्रवेश ।]

अनसूया—मायो सखी, चलें । [दोनों धूमती हैं]

प्रियवदा—[देखकर] यह लो । शकुन्तला तो दिन निकले ही नहा धोकर बैठती है और ये सब उपस्थितियाँ हाथमे स्निग्धोके जाने लेकर उठे आधीबर्द दे रही हैं । जसो हय नी वही चलें । [आगे बढ़ती हैं ।]

[जैसा ऊपर कहा गया है उस रूपमे शकुन्तला दिसाई देती है ।]

पहली उपस्थिती—[शकुन्तला] वत्से ! तुम पत्तिसे आदर पानेवाली पटरानी बनो ।

दूसरी उपस्थिती—वत्से ! तुम वीर बुजकी माता बनो ।

तीसरी उपस्थिती—वत्से ! तू पत्तिकी प्यारी हो ।

[यह आधीबर्द देकर गौतमीको छाडकर धीरे धीरे चली जाती हैं ।]

दोनों सखियाँ—[शकुन्तलाके पास जाकर] सखी ! तुम्हारा नहावा धोना पने फूले ।

शकुन्तला—मायो सखियो ! स्वागत करती हूँ । मायो बैठ जाओ ।

उभे—[मङ्गलपात्राण्यादाय उपविश्य] हुता सज्जा होहि जाव दे मङ्गलसामानम्भरणं
विरणम् । (हुता सज्जा भव, यावत्ते मङ्गलसामानम्भन विरचयावः ।)

शकुन्तला—इदं पि बहु मन्तव्यं दुल्लहं वासि मे सहोमण्डलं भविस्सदि ति । (इदमपि
बहु मन्तव्यं दुर्लभमिदानी मे ससोमण्डन भविष्यतीति ।)] इति वाण्य विवृजति ।]

उभे—सहि उइधं ए वे मङ्गलकाले रोइइं । (सधि ! उचितं न ते मङ्गलकाले रोदिषुम् ।)
[इत्ययूणि प्रमुच्य नाट्येन प्रसाधयतः ।]

प्रियवदा—आहरणोइदं रुचं अस्तमसुलहेहि पसाहणं हि विष्णुमारोअदि । (आभरणोचितं
रूपमाश्रमसुलभैः प्रसाधनैर्विप्रकाशयेत् ।)

[प्रविशद्योपायनहस्तावृष्टिकुमारको ।]

समी—इदमनंकरणम् । अलं प्रियतामत्रभवती ।

[सर्वा बिलोक्य विस्मिता ।]

गौमती—अद्य एारअ कुदो एवं । (यत्त नारद कुत एतद् ।)

प्रथमः—तातकण्यप्रभावात् ।

गौमती—किं नाणसो सिद्धी । (किं मानसी सिद्धिः ।)

द्वितीयः—न खलु । भूयताम् । तमभवता जयमाज्ञताः शकुन्तलाहेतोर्वनस्पतिभ्यः कुसुमा-
न्याहरणेति । तत्र इदानीं —

दोनी—[मंगल-पात्र लिए हुए बैठती है ।] अञ्छा सखी ! तैयार हो जाओ । अब हम
कुम्हारों मंगल-भूझार करेंगी ।

शकुन्तला—यह तो बड़े सोभाग्यकी बात है, क्योंकि सखियोंके हाथका सिंगार अब
मुझे भला मिल यहाँ पावेगा । [सिसकने लगती है ।]

दोनी—सखी ! ऐसे शुभ अवसरपर रोया नहीं जाता ।

[आँसू धोखकर उसे सजानेका नाट्य करती हैं ।]

प्रियवदा—सखी ! कुम्हारों आपके लिये तो और अच्छे-अच्छे आभूषण होने चाहिये
थे । आभ्रमसे डुटाई हुई इन सिंगारोंकी सामग्रियोंसे तो तुम अच्छी नहीं लगती हो ।

[हाथीमे उपहार लिए हुए दो ऋषि-कुमारोंका प्रवेश ।]

दोनी ऋषिकुमार—यह लीजिए, आभूषण, देवीको इनसे सजाइए ।

[देखकर सब चकित होती हैं ।]

गौमती—क्यों बरद नारद ! यह सब तुम कहाँ ला गए !

पहला—पिता अच्छे प्रभावसे ।

गौमती—यमा जनने तपके बलसे ?

दूसरा—नहीं जी ! सुनिए तो मही । पूज्य कण्ठसे हुगे आज्ञा दो यो कि शकुन्तलाके लिये
सजा-भूषणोंसे फूल-पत्तों से आघो । दसपर—

चौमं केनचिदिन्दुपायद्वतरया माङ्गल्यमाविष्कृतं

निष्ठयूतधरयोपभोगसुलभो लावारसः केनचित् ।

अन्येभ्यो

वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-

र्दत्तान्यामरगानि तत्किमलपोद्धेदप्रतिद्विन्द्विमिः ॥५॥

प्रियंवदा—[सकुन्तला विनोदय] हवा इमाय अम्भुवन्तीए सुदया दे भक्तुलो नेहे अल्ल-
होदया रामलन्धिति । [हवा अगयाऽम्भुपवरया मूर्चिता ते गर्भहेम्भुवदितया राजसदगीरिति ।]

[सकुन्तला धौडा रूपयति ।]

प्रथमः—गोतम एह्येहि अमिदेहोत्तीर्णाय कण्पाय वनस्पतितेय्यो निवेदयायः ।

द्वितीयः—तथा ।

[इति निष्प्रान्ती]

राज्यो—अए अल्लवकुत्तभूतलो अर्थ अलो । चित्तकम्पपरिअएल अल्लेसु दे आहरणयिलिभोअं
करेम्ह । [अदे अदुरवुकभूपलोऽय जन । विमरमपरिचयेवाङ्गो ने आभरणाभिनियोग कुम् ।]

सकुन्तला—जाणे पो खेडलं । [जाने वा मंगुणम् ।]

[उभे माद्वेनालकुप्ल ।]

[सत प्रविशति स्नानोत्तीर्णं कृत्वाः ।]

विभी वृक्षने शुभ मागसिक वस्त्र दे दिवा, किमीने परमं सजानेकी महार देदी घोर वन-
देविभीने तो वीपलोवे होड वरके वृत्तोमसे वनाईतब यक्षो हाय विराजवर दहयसे आभूषण
दे आले हैं ॥५॥

प्रियंवदा—[सकुन्तलाको देखकर] सखी ! ये सज्जन यथा गते हैं विं बतिये परमं सुग राज-
सखी वनवर सुत श्रीगोत्री ।

[सकुन्तला सजानेका वाग्य करती है ।]

वहना—यसो, गोतम ! स्नान करने मुखी आ गए हैंवे । इन वेड-वोपेदे वो भक्तुए दी हैं
इसका समाधार उन्हें भी सुना भायें ।

द्वयरा—यसो । [दोनोका प्रस्थान ।]

दोनो लयिमाँ—सखी ! हमने तो कभी आभूषण पत्र नहीं है, पर विभीम जेता देता घोर
सीखा है उठी दगवे मुहारे दारीरवर भी आभूषण पहना देनी हैं ।

सकुन्तला—मैं सुन दोनोंकी चतुरता यकी नाति जानती हूँ ।

[दोनो आभूषण पहनायेक माट्य करती हैं ।]

[स्नान करके लौटे हुए कपरा प्रवेग ।]

कण्वः—

यास्यत्ययः शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया

कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृच्चिकलुपश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।

वैकल्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः

पीडयन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥६॥

[इति परिक्रामति]

सखी—हला सज्जते ! अवसिदमम्बरानि परिपेहि संपदं सोमयुग्मम् । (हला शकुन्तले अवसितमण्डनाति । परिपरस्पर्शप्राप्तं सोमयुग्मम् ।)

[शकुन्तलोत्थाय परिपत्ते]

गौतमी—जावे ! एतो वे आणन्दपरिवाहिला बल्लुणा परिस्सज्जतो भिन्नं पुक्कं उवह्विओ ।

आमारं दाव पञ्चिज्जत्तस्स । (जाते एष ते आनन्दपरिवाहिला बल्लुणा परिप्लवणाय इव मुदत्तपस्थितः । आचारं तावत्प्रतिपद्यस्व ।)

शकुन्तला—[सखीकम्] ताव वन्दामि । (तात वन्दे ।)

कण्वः—प्राप्ते !

ययातेरिव शर्मिष्ठा मर्तुर्वहुमता भव ।

सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि ॥७॥

गौतमी—भगवन् भरो क्खु एसो ए आसिस्स । (भगवन् वरः सत्येवः । नाक्षीः ।)

कण्वः—आज शकुन्तला चली जावगी, यह सोचते ही जी मैं बड़ा बुरा रहा है । मांगुषोंकी रोकनेसे एला इतना बुरा गया है कि मुझे सब नही निकल रहे हैं और इसी चिन्तामे मेरी आँखें भी धूँसनी पड़ गई हैं । जब मुझ-जैसे जनजातीको इतनी व्यथा हो रही है तब उन बेचारे बृहस्पतिओ किनारा कण्ट होना होगा जो पहले-पहल अपनी कन्याको मिया करते होंगे ॥६॥

[पूजते हैं ।]

सखियाँ—शकुन्तला ! तुम्हारा तयार तो पूरा हो गया । लो, अब यह रेसमी वस्त्रोंका जोड़ा भी पहन लो ।

[शकुन्तला उठकर पहनती है ।]

गौतमी—वन्दे ! तात कण्व द्यार ही था रहे हैं । आनन्दके मांगुषोंसे दलकती हुई उनकी माँतोंको देखकर जान पड़ता है मानो वे अपनी आँखोंसे ही तुम्हें गले लगा रहे हों । उन्हें प्रणाम तो करो ।

शकुन्तला—[सज्जती हुई] प्रणाम करती हूँ पिताजी !

कण्वः—वन्दे ! जैसे ययाति अपनी पत्नी शर्मिष्ठाका आदर करते थे वैसे ही तेरे पति भी तेरा आदर करें और शर्मिष्ठाके पुत्र पुत्रके समान ही तुम्हें सकलतों पुत्र भी प्राप्त हो ॥७॥

गौतमी—भगवन् ! यह तो आपने वरदान दिया है, आसोवाँद नहीं ।

कण्वः—यत्ते ! इतः सद्योदुताग्नौग्भवसिण्णोकुकण्वः ।

[सर्वे परिणामन्ति ।]

कण्वः—[अन्धधन्दाऽऽस्तास्ते ।]—

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्धन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्माः ।

अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर्वैतानास्त्वां बह्वपः पावयन्तु ॥८॥

प्रतिष्ठस्वेवानीम् । [सट्टित्सेपम्] एव से आङ्गैरवमिथाः ।

[प्रविशतः]

शिष्यः—भयमाप् इमे रमाः ।

कण्वः—धर्मिन्यास्ते मार्गमावैश्याः ।

शाङ्गैरवः—इत इतो भवती ।

[सर्वे परिणमन्ति ।]

कण्वः—ओ भोः संग्रहितवेधतास्तपोधनतरवः ।

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या

नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या प्लुतवम् ।

आद्ये यः कुसुमप्रसृतिसमये यस्या भवत्युत्सवः

सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञापताम् ॥ ९ ॥

कण्वः—यत्ते ! यत्ते, यत्तिने यत्ती धातुति पड़ी है, बलकर उछकी प्रदक्षिणा कर ली ।

[सब प्रदक्षिणा करते हैं ।]

कण्वः—[आग्नेदेने छन्दसे प्राणीवाँद देते हैं ।]

गिरी भुजासे बसास्वान घेदीपर लमिधाले जलतो ।

हव्य गन्धकी गन्धधरी करवें पवित्र ये अग्नि तुम्हे ॥८॥

बब बलो । [इधर-उधर देखकर] धरे ! ये सब शाङ्गैरव आदि कही है ?

शिष्यः—[प्रवेश करके] भगवन् ! ये हैं हम लोग ।

कण्वः—ताओ ! अपनी बहनकी पहुँचा आओ ।

शाङ्गैरवः—दधरसे आओ देवी, दधरसे ।

[सब घुमते हैं]

कण्वः—मन-देवताधर्मि भरे हुए सपीवन्ने वृद्धो !—ओ बहने तुम्हें पिलाए बिना स्वयं जल नहीं पीती थी, ओ प्राणूयण पहलनेका प्रेम होने पर भी, तुम्हारे स्नेहके कारण तुम्हारे कौमल पत्तीकी हाथ नहीं बगाली थी, ओ तुम्हारी नई कलियौंओ देल देल कर फूली नहीं समाती थी, वही शकुन्तला आज अपने पतिके घर जा रही है । तुम सब इसे प्रेम से बिदा लो दो ॥९॥

कण्वः—

यास्यत्ययः शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया

कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुपश्चिन्ताजलं दर्शनम् ।

वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्याकृतः

पीडयन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविरलेपदुःखैर्नवैः ॥६॥

[इति परिक्रान्तिः]

सत्यो—हता सज्ज्वले ! अक्षतिसमग्दृशासि परिवेहि संपदं सोमयुगलम् । (हता शकुन्तले प्रदक्षितमग्दृशासि । परिचर्य स्नेहं साधनं सोमयुगलम् ।)

[शकुन्तला-उत्थाय परिवर्त्ते]

गीतमी—आरे ! एतौ द्वे आत्मन्परिवाहिणौ चक्षुषा परिस्सज्जन्तो विभ्रं गृहं ज्वलितौ । आभारं वाचं पडिबज्जसत । (आते एष ते आत्मन्परिवाहिणौ चक्षुषा परिस्सज्जन्तौ इव गुरुत्वास्पितः । आचारं तावत्प्रतिपद्यस्व ।)

शकुन्तला—[सखीकम्] ताव वन्दामि । (ताव वन्दे ।)

कण्वः—वरसे !

ययातेरिच शर्मिष्ठा भर्तुर्वहुमता भव ।

सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि ॥७॥

गीतमी—भयं करो वय एतौ एव प्राप्तौ । (भयवत् वरः सत्स्वैवः । नास्ती ।)

कण्वः—आज शकुन्तला चली जायगी, यह सोचते ही जी बँठा जा रहा है । माँमुमोको रोजनेसे लला इतना दब गया है कि मूँहसे शब्द नहीं निकल रहे हैं और इसी चिन्तामें मेरी घालें भी धुँपनी पड़ गई हैं । जब मुझ-जैसे जनबासीको इतनी श्वासा हो रही है तब उन बेचारे गृहस्थोंको किमना कष्ट होना होगा जो पहले-पहल अपनी कम्माको विदा करते होंगे ॥६॥

[धूमते हैं ।]

सनिवाँ—शकुन्तला ! तुम्हारा शिवाग् तो पूरा हो गया । लो, धय यह रेशमी कलशोंका जोड़ा भी पहन लो ।

[शकुन्तला उठकर पहनती है ।]

गीतमी—वरसे ! ताव वच्च इयर हो धा रहे हैं । आत्मन्के माँमुमोसे अतकती हुई उनकी माँमुमोको देखकर जान पड़ता है मानो वे अपनी माँमुमोसे ही तुम्हें गले लगा रहे हों । उन्हें प्रणाम तो करो ।

शकुन्तला—[लज्जानी हुई] प्रणाम करती हूँ पिताजी !

कण्वः—नलो ! जैसे ययाति अपनी पत्नी समिष्ठाका आदर करते थे वैसे ही तेरे पति भी तेरा आदर करे और समिष्ठाके पुत्र पुत्रने समान ही तुम्हें पकवर्ती पुत्र भी प्राप्त हो ॥७॥

गीतमी—भयवत् ! यह तो आपने वरदान दिया है, आशीर्वाद नहीं ।

कण्वः—यहसे ! इतः सद्योदुताम्नोन्प्रवक्षिणीकुलम् ।

[सर्वे परिक्रामन्ति ।]

कण्वः—[शृण्वन्मनसाऽऽयासते ।]—

अग्नी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्धन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः ।

‘अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धर्वैस्तानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु ॥८॥

प्रतिवस्तेवानीम् । [सट्पिष्टोपम्] स्व ते शाङ्गैरवभिभाः ।

[प्रविश्य]

शिष्यः—आवायम् इमे स्मः ।

कण्वः—भगिन्पास्ते मार्गमावेशय ।

शाङ्गैरवः—इत इतो भवतां ।

[सर्वे परिक्रामन्ति ।]

कण्वः—भो भोः संनिहितदेवतास्तपोवनतरवः ।

पार्तुं न प्रथमं व्यधस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या

नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।

आधे वः कुसुमप्रसृतिसमये यस्या भवत्युत्सवः

सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥ ६ ॥

कण्वः—यहसे ! बसो, समिद्धे अग्नी आहुति पड़ी है, खलकर उसकी प्रवक्षिणा कर लो ।

[सब प्रवक्षिणा करते हैं ।]

कण्वः—[शृण्वेदके अण्डमे आसीर्षाद देते हैं ।]

गिरी कुशासे मघास्वान वेदीपर समिधासे जलती ।

हव्य गन्धर्वी गन्धर्वी करदें पवित्र ये अग्नि तुम्हें ॥८॥

अथ बसो । [इपर-उपर देलकर] अरे ! ये सब शाङ्गैरव आदि कहाँ हैं ?

शिष्यः—[प्रवेश करके] भगवन् ! ये हैं हम लोग ।

कण्वः—जामो ! अपनी बहनको पहुँचा आओ ।

शाङ्गैरवः—इपरसे आओ देवी, इपरसे ।

[सब भूमते हैं]

कण्वः—यन-देवताओंसे भरे हुए तपोवनके वृक्षों !—जो पहले तुम्हें पिलाए बिना स्वयं जल नहीं पीती थी, जो आभूषण पहननेका प्रेम होने पर भी, तुम्हारे स्नेहके कारण तुम्हारे वीमल पत्तोंको हाथ नहीं लगाती थी, जो तुम्हारी नई कलियोंको देख-देख कर झूलती नहीं तमाती थी, वही शकुन्तला आज अपने पतिके घर जा रही है । तुम सब इसे प्रेम से बिदा लो दो ॥९॥

कण्वः—

यास्यत्यय शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया

कण्ठः स्तम्भितवाष्पघृचिकलुपथिन्ताजलं दर्शनम् ।

वैश्वल्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्याकृतः

पीडयन्ते गृहिण्यः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥६॥

[इति परिणामति]

सखी—हृता सठन्दे ! प्रसतिरमण्डसाति पत्तिवेहि संपदं सोमशुभलं । (हृता शकुन्तले प्रसतितमण्डनादि । परिपत्त्य सांप्रत क्षीमवुषमम् ।)

[शकुन्तलोत्थाय परिषत्ते]

गीतमी— जावे ! इसी वे आरामपरिवाहिला चक्षुषा परिसलन्ती विघ्न गुरु उन्निहो ।

आमारं वाच पडिचउत्त । (जाते एव ते आरामपरिवाहिला चक्षुषा परित्वजनाय इमं गुरुवस्थितः । आचारं तावत्प्रतिपद्यस्व ।)

शकुन्तला—[संग्रीहम्] ताद क्वाणि । (वात बन्दे ।)

कण्व—बरो !

यमातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्वहुमता भव ।

सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि ॥७॥

गीतमी—भमर्च बरो बकु एसो लु आसिजा । (भगवन् वरः उत्त्थेयः । नाटीः ।)

कण्व—आज शकुन्तला बली जायगी, यह सोचते ही जी बँठा जा रहा है । चांगुलीकी रोबनेसे गला इतना दब गया है कि भूँहते सब्र नहीं निकल रहे हैं और इसी भिन्तामें मेरी मोर्छें भी धूँबनी पड़ गई हैं । जब मुझ-जैसे बगवासीको इतनी व्यथा हो रही है तब उन बेचारे गृहस्थोंको किना कष्ट होगा होगा जो पहले-पहल अपनी कम्थाको बिना करते होंगे ॥६॥

[धूमते हैं ।]

सखी—शकुन्तला ! तुम्हारा बिगार तो पूरा हो गया । लो, अब यह रेशमी बल्मीका जोडा भी पहन लो ।

[शकुन्तला उठकर पहनती है ।]

गीतमी—कसे ? तात बण दवर ही आ रहे हैं । आनन्दके भाँसुपोंसे लसकती हुई उगकी चांगुलीके देलजर जान पहता है मानो वे अपनी भाँसोंसे ही तुम्हें गले लगा रहे हों । उन्हें प्रणाम तो करो ।

शकुन्तला—[स गती हुई] प्रणाम करती हूँ पिताजी !

कण्व—बरो ! जैसे अमाति अपनी पत्नी समिष्ठाना आदर करते थे वैसे ही तेरे पति भी तेरा आदर करें और समिष्ठाने पुत्र पुरुषके समान हो तुम्हें भक्त्यर्थी पुत्र भी प्राप्त हो ॥७॥

गीतमी—अबबु ! यह तो आश्वे बरदान दिया है, भाजीबाद नहीं ।

कण्वः—यत्ने ! इतः सखीतुताम्योऽग्रदक्षिणीकुसुमम् ।

[सर्वे परिष्कामन्ति ।]

कण्वः—[शृङ्खलान्दत्ताऽऽधास्ते ।]—

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्धन्तः श्रान्तसंस्तीर्यदर्भाः ।

अपध्नन्तो दुरितं हव्यमन्धैर्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु ॥८॥

प्रतिहस्तेदानीम् । [सहृष्टिस्तोत्रम्] श्व ते शाङ्गैरवनिधाः ।

[प्रविशन्ति]

शिष्यः—भगवाम् इमे स्मः ।

कण्वः—भविष्यास्ते मार्गमादेशय ।

शाङ्गैरवः—इत इतो भवतो ।

[सर्वे परिष्कामन्ति ।]

कण्वः—भो भोः संनिहितवेधतास्तपोऽनतरम् ।

पातुं न ग्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या

नादये प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या प्लवम् ।

आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः

सैव याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥ ६ ॥

कण्वः—यत्ने ! यत्ने, अग्निमे अमी पावृति पड़ी है, चलकर उसकी प्रशिक्षणा कर ली ।

[सब प्रदक्षिणा करते हैं ।]

कण्वः—[आग्नेवके अग्नये आसीर्वाय वेते हैं ।]

बिरी कुशासे अयास्मान वेदीपर सविधासे जलती ।

हव्य मन्धकी मन्धकी करदें पवित्र ये अग्नि तुम्हें ॥८॥

अथ यतो । [इधर-उपर देखकर] अरे ! ये सब शाङ्गैरव आदि कहाँ हैं ?

शिष्यः—[प्रवेश करके] भगवन् ! ये हैं हम लोग ।

कण्वः—जानी ! अपनी बहनको पहुँचा मागो ।

शाङ्गैरवः—इधरसे आओ देवी, इधरसे ।

[सब धूमते हैं]

कण्वः—वन-देवताओंसे अरे हुए तपोवनके वृक्षों !—जो पहले तुम्हें पिलाए बिना स्वयं जल नहीं पीती थी, जो भाङ्गुपत्र पहननेका प्रेम होने पर भी, तुम्हारे स्नेहके कारण तुम्हारे कोमल पत्तीको हाथ नहीं सजाती थी, जो तुम्हारी गई कलियोंको देख-देख कर झूलती नहीं समाती थी, नहीं शकुन्तला आज अपने पतिने घर जा रही है । तुम सब इसे प्रेम से बिदा तो दो ॥६॥

[कोकिलरव सूचयित्वा]

अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवामवन्धुभिः ।

• परभृतधिरतं कलं यथा प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम् ॥१०॥

[आकाशे]

रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभि-

रुद्रायाद्रुमैर्नियमितार्कभयूखतापः ।

भूयात्कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः

शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः ॥११॥

[सर्वे सविस्मयमाकर्णयन्ति ।]

गीतमी—जादे । क्वादिजलसिणिङ्गाहिं भस्कुण्ठावगमरुणसिं तवोदणदेवदाहि । पणम भमवदोणं । (जाते । तातिजननिग्घामिरपुजातगमनाऽसिं तपोवनदेवताभिः । प्रणत मगवतीः ।)

शकुन्तला—[सप्रणाम परिक्रम्य जयान्तिवम्] हला पिप्रवदे । एवं राजजस्रसंस्तुस्तुभ्राए वि भस्तमपर्व परिक्रमणीए दुरतेण मे वसतण । पुरवो पवट्ठसि । (हला प्रियवदे । भन्वाचं पुनर्दश- मोस्तुजाया भय्याध्रमपद परित्यजन्त्या दुःखेन मे चरणो पुरत प्रवर्तते ।)

प्रियवदा—ए केवलं तवोदणद्विरहकवदरा सही एव तुए उवट्ठिदविमोभस्त तवोदणस्त वि दाध समवत्था बीसइ । पेवस—

[कोयल की दूक सुनाई पड़ती है । उसकी ओर सकेत करके] शकुन्तलाके वनके साथी वृक्षोंने कोयलके शब्दोंमें उसे जानेकी आज्ञा दे दी है ॥१०॥ [आकाशमें] कल्याणमय ही इस शकुन्तलाकी यात्रा । इसके मार्गमें बीच बीचमें नीली कमलियोंसे भरे हुए ताल हों, नियमसे पोड़ी-पोड़ी दूरीपर सगे हुए, धूपसे बचानेवासी घनी छाँहवाले वृक्ष हों, धूलमें कमलके परागकी कीमलता हो और मार्ग भर सुख देनेवाला पवन बहता चले ॥११॥

[सब प्राश्नयसे सुनते हैं ।]

गीतमी—धरसे । जो वन-देवियाँ तुम्हें सगे-सम्बन्धियोंके समान प्यारी हैं वे तुम्हें प्राणीवर्ग दे रही हैं । इन्हे प्रणाम तो कर ले ।

शकुन्तला—[प्रणाम करते हुई भूगवर, अलग प्रियवदासे] सखी प्रियवदा । यद्यपि इस समय मैं ' ' ' दर्शनकी बड़ी उता ' ' ' हो रही हूँ, फिर भी प्राश्नयको छोड़ते हुए मेरे पर प्राण

~ तपोवनके वि
~ तपोवन की

~ हों । ज्यों ज्यों तुम्हारी बिदाईकी बड़ी पड़ता जा रहा है । देखो—

उगलितदध्मकवला मिया परिच्चतक्षक्षणा मोर ।

ओमरिअपखुपचा मुअन्ति अस्स विअ लदाओ ॥१२॥

(न केवल लरोदनविरहकातरा सखेव स्वयंप्रियताविशेषस्य तपावनस्यापि तावन्तमवस्था
दृश्यते ।) पश्य—

{उदगतितदध्मकवला मया परित्यक्तनर्तना मधुरा ।

मपसृतपाण्डुपना मुञ्चन्मभूखीव सदा ॥}

राकुन्तला—[स्मृत्वा] ताव लदावहिलिअ वल्लभोत्तिअ दाव आनन्तद्वरस (तात लता-
भगिनी वनज्योत्स्ना तावदावगन्त्रिष्ये ।)

कण्व—आवेमि ते तस्या सोवसेस्नेहम् । इम तावहिलिअ ।

राकुन्तला—[वपेत् सतायातिङ्गप] वल्लभोत्तिअ । वृद्धसगता वि व पद्यालिङ्ग इदोवदाहि
साहाय्याहाहि । अन्नप्यहुवि दूरपरिवत्खी वे खलु भविस्स । (वनज्योत्स्ने । पुनर्मगतादि मा
प्रत्यातिङ्ग इतो गताभि साहाय्याहुमि ।) अन्नप्रकृति दूरपरिवर्तिनी ते खलु भविष्यामि ।)

कण्व—

संकल्पितं प्रथममेव मया त्वार्थे

भर्तारिमात्ममदर्शं सुकृतैर्गता त्वम् ।

भूतेन संश्रितवती नवमालिकैय-

मस्यामहं त्वयि च संप्रति वीतचिन्तः ॥१३॥

इतः पश्याम प्रतिपद्यसे ।

राकुन्तला—[सक्यो प्रति] हुला एता दुवेअ वो हत्थे शिरसेवो । (इहा एता द्वयोर्दुग्धो-
हस्ते निधेय ।)

हरिणियाँ बवाई हुई मुझने कोर उभर रहो है, मोरोने नखवा छोड़ दिया है और सभामो-
रो पीले-पीले पत्ते इस प्रकार भट रह हैं मानी उनके आंगु धिर रह हो ॥१२॥

राकुन्तला—[स्मरण करव] तात ! मैं अपनी बहुत वन-ज्योत्स्ना सदासे भी मिल लेना
चाहती हूँ ।

कण्व—मैं जानता हूँ कि तू उसे सगी बहुत जेता प्यार करती है । यह है वह, दाहिनी ओर ।

राकुन्तला—[सताके पास जाकर घोर उससे निपटकर] प्यारी वनज्योत्स्ना ! तू घामके
वृक्षसे लिपटी होनेपर भी अपनी इधर फँसी हुई घालागी बाँहोसे मुझसे मँट तो ल, क्योंकि
आजसे तो मैं तुझने बहुत दूर जा पहुँची ।

कण्व—मैंने तेरे छिपे जैसे पतिका संकल्प किया था, तूने भरने पुष्प-अमरवत्ते बँसा प्रति
पा लिया है और इस वन-ज्योत्स्नावा भी आमतार ठोक सहारा मिल गया है । अब मैं तुम
दोनोंकी चिन्तासे छूट गया हूँ ॥१३॥ इधरसे बनी घामो ।

राकुन्तला—[सतिषोषे] सतिषो ! इस वन ज्योत्स्नाको मैं तुम दोनोंर हाथ सोने
जाती हूँ ।

सखी—अब जखो कस्त हूये समप्पिबो । (धय जनः कस्य हस्ते समपितः ।) [इति वाष्पं विसृजतः ।]

कण्व—अनमूये अलं ददित्वा । ननु भवतीन्ध्यामेव स्थिरीकर्तव्या शाकुन्तला ।

[सर्वे परिक्रामन्ति ।]

शाकुन्तला—ताव एसा उदजपज्जन्तवारिणी गणमन्धरा मघबहू जबा अराधप्परावा होइ तवा मे कपि पिप्रणियेदइसभ विसज्जइसह । (तात एपोटजपमन्तवारिणी मर्ममन्धरा मृगवसूयंवाजयसवा भवति तवा मह्यं कपि प्रियनिवेदयितुक विसर्जयिष्ये ।)

कण्वः—नैदं विस्मरिष्यामः ।

शाकुन्तला—[सतिभङ्गं रूपमिस्था] को शु बबु एसो एिबसणे मे सज्जइ । (को नु सस्वेष निवसने मे सज्जरो ।) [इति परावर्तते ।]

कण्वः—वाते !

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यपिच्यत मुखे कुशस्रचिविद्धे ।

श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥१४॥

बोनी—भीर हन सोमोनी किसके हाथ सँपि जा रही हो ?

[रोने लगती है ।]

कण्व—रोमी मत घनमूया ! उलटा मुन्हें तो चाहिए कि शकुन्तलानो भीर भीरज बँधाओ ।

[सब घूमते हैं ।]

शाकुन्तला—तात ! आश्रममें चारों ओर गर्भके भारसे घलसाती हुई चलनेवाली इस हरिणीकी जब मुँहसे बच्चा ही जाय तब किसीके हाथ यह प्यारा सनाभार मेरे पास भिजवा दीजिएगा ।

कण्व—यह नहीं यूँसे ।

शाकुन्तला—[चलनेमें रुकावटका अनुभव करती हुई—सी ।] धरे ! यह कौन मेरा घबल पकड़ार पीने जा रहा है ?

[पीछे घूमकर देखती है ।]

कण्व—यतो ! बुजाके बाँटेने दिदे हुए जिसके मुँहकी चप्पड़ा बरनेके लिये तू उसपर शिरोटका तेन मगाया करतो सो वही तेरे लम्बे दिग् हुए मुट्ठी भर सँविके दानोंसे पला हुआ तेरा पुत्रमे समान प्यारा हरिण भग्न रोके बचा है ॥१४॥

शकुन्तला—यच्छ किं सहवासपरिषादसि मं अलुत्तरसि । अनिरप्यसूवाए जल्पलोए
बिरहा बसिद्धो एवम् । दासि पि मए बिरहिहं जुमं तादी चिन्तयस्सदि । एवसेहि दाव ।
(वत्स ! किं सहवासपरिषादिनी यामनुत्तरसि । अनिरप्यसूवाए जनन्या विना परिषत एव । इदानीमपि
मया बिरहितं त्वो वातभ्रान्तमिष्यति । निवर्तस्व तावत् ।) [इति स्वदी प्रस्थिता ।]

कथः—

उत्पद्मस्योर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं

वाष्पं कुरु स्थितया विहसानुबन्धम् ।

अस्मिन्नलक्षितनवोन्नतभूमिभागे

मार्गे पदानि खलु ते विपरीतभवन्ति ॥ १५ ॥

शाङ्गदेव—ममकं मोदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुबन्धव्य इति श्रूयते । तविरं सरस्तीरम् ।
मम संदिश्य प्रतिगन्तुमर्हसि ।

कथः—तेन हीमां शीरवृक्षप्रक्षायामाश्रयामः ।

[शब्दं परिक्रम्य स्थिताः ।]

! कथः—[आत्मगतम्] किं नु खलु तत्रभवतो दुष्यन्तस्य युक्कल्पमस्मानिः संदिश्यम् ।
[इति चिन्तयति ।]

शाकुन्तला—[जमान्तिपम्] हला वैषल । खलिलोपस्तम्भिरिं वि सहमर्ं प्रवेशयन्ती
मातुरा पयकवाहं प्रारब्धं दुष्करं ग्रहं करोमिति लक्ष्येति । (हला पश्य । नतिनीपत्रास्तस्मिन्मपि
सहचरमपश्यन्मातुरा लक्ष्मणवारटति दुष्करग्रहं करोमीति लक्ष्येति ।)

शकुन्तला—वत्स ! मुझ साथ छोड़कर जानेवालीके पीछे-पीछे तू यहाँ जा रहा है ?
तेरी माँ जब मुझे जन्म देकर मर गई थी उस समय मैंने तुझे पास-पड़ोस पर क्या किया
था । मम मेरे पीछे पिताजी तेरी देख-भाल करेंगे । जा, लौट जा । [रोती हुई आगे
बढ़ती है ।]

कथः—वत्से ! भीरज धरकर अपने भाँसू पोछ हास । इन क्षीणियोंके कारण तेरी उठती
हुई बरीमिदोवाली माँसे ठीकसे खेल नहीं पा रही है । इसलिये यहाँको ज्येष्ठ-जाबड़ परती-
पर तेरे पैर चलते-सीमे पड़ते जा रहे हैं ॥ १५ ॥

शाङ्गदेव—भगवद् ! सुना है कि त्रियम्बकोको बिदा देते समय अलासवतक पहुँचाकर लौट
जाना चाहिए । मम सरोवरका तट था गया है इसलिये जो कुछ सन्देश कहलाना हो वह
यही बताकर आप लोग आपसको लौट जायें ।

कथः—तो चलो, इस बीचको छापामे थोड़ा बँठ लिया जाय ।

[सब घूमकर बँठ जाते हैं ।]

कथः—[अपने ही आप] माननीय राजा दुष्यन्तके पास कौन-सा सन्देश भेजना ठीक
होगा [सोचते हैं ।]

शकुन्तला—[सखीसे अलग] सखी ! देख जो । कमलिनिके पत्तेकी ओटमे छिपे हुए
अपने चक्केको न देख सकनेसे यह चक्को कैसी पचराकर चिल्ला रही है । इसलिये मैं
जिस कामसे जा रही हूँ वह पूरा होता नहीं दिसाई देता ।

अनसूया—सहि ! मा एष्वं मन्तेहि ।

ऐसा बि पिण्ण विखा गमेइ रअणिं विसाअदीहअरं ।

गरुअं पि विरहदुक्खं आसावन्धो सहावेदि ॥ १६ ॥

(हलि ! भवं मन्त्रयस्व ।

एषाऽपि त्रिवेण विना गमयति रजनी विषाददीर्घतराम् ।

गुर्वपि विरहदुःखामासावन्धः साहयति ॥)

कण्व—शाङ्ग'रव ! इति स्वया भद्रघनात्स राजा अकुन्तला पुरस्कृत्य वक्तव्यः ।

शाङ्ग'रवः—आत्तापणु भवान् ।

कण्वः—

अस्मान्साधु विचित्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन-

स्त्वय्यस्याः कथमप्यवान्धवकुलां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम् ।

सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारंषु दृश्या त्वया

भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूवन्धुभिः ॥ १७ ॥

शाङ्ग'रवः—गृहीतः सवेतः ।

कण्वः—घाते । स्वनिदानीमनुयासनीयासि । वनीकसोर्षपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम् ।

शाङ्ग'रवः—न खलु भीमतां कश्चिद्विषयो नाम ।

कण्वः—सा श्रमिताः पतिकुलं प्राप्य—

अनसूया—सखी ! ऐसा नहीं सोचना चाहिए । जानती हो, यह बकबी विरहकी लंबी रातोंको पतिके दिना सकेजी फाट देती है, क्योंकि विरहके समय भी इसे वह भाषा बनी रहती है कि प्रातःकाल तो मिलन हो हो जायगा ॥ १६ ॥

कण्व—शाङ्ग'रव ! शकुन्तलाको दुष्मन्तके हाथमे सीपते हुए मेरी ओरसे कहना—

शाङ्ग'रवः—जी हाँ, भाता कीजिए ।

कण्व—कहना कि—राजन् । कहां तो हम लोग सीधे-सीधे संयमी तपस्वी और कहां भाव ऊँचे पारनेके राजा । फिर भी आपने अपने आप इस बन्नासे विवाह कर लिया है । इन सब बातोंका ध्यान करके आप वमसे कम दूसरी रानियोंके समान तो शकुन्तलाका धादर भवइय कीजिएगा । इससे बढ़कर इसे जो सोचाम्य मिले वह इसके भाग्यकी बात है । उसको सिधे हम बन्नाके वाग्वय लोग भसा क्या कह सकते हैं ॥ १७ ॥

शाङ्ग'रव—जी हाँ सन्देह समझ गया ।

कण्व—बरसे ! भायो ! तुम्हे कुछ सोच देनी है । देखो, वनमे रहते हुए भी पारितरिक व्यवहार हम लोग यही भाँति जानते हैं ।

शाङ्ग'रव—ऐसी कोन-सी बात है जिसे विद्वान् लोग न जानते हों ।

कण्व—देखो ! गृहिमे पतिके घर पहुँचकर घरके सब बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करना । अपनी

शुश्रूषस्व गुरुङ्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने

पत्युर्विप्रकृताऽपि रोषस्तया मा स्म श्रवीर्यं गमः ।

भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने माग्येष्वनुत्सेकिनी

यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥१८॥

कथं वा गौतमी मन्थते ।

गौतमी—एतिथी बहुतखतर है उबदेसी । जादे ! एवं कबु सर्वं सोमारोहि । (एतावाप्यधूजन-
स्थोपदेशः । जाते । एतत्तत्तु धर्मवधवारय ।)

कथं—बहो । करिबजस्य मां एतौजनम् ।

शकुन्तला—साह ! इबो एव कि प्रियंवदाभलसूत्राओ सहीओ शिजसित्समि । (साह ! एत
एव कि प्रियंवदानसूत्रे सधयो मिजसित्थेते ।)

कथं—बहो ! इमे अपि प्रदेये । न पुस्तमनयोस्तान् गन्तुम् । त्वया सह गौतमी यास्यति ।

शकुन्तला—[विशरमाश्लिष्य] गहं दारिण तादस्य भद्रावो परिब्रमृता भलघनवधूतिमा
धाम्दरासदा विभ हेतनारे भीविमं पारश्चस्ते । (कथं भिदानी तादस्याङ्गात्परिब्रमृता भलघनवधूतिमा
पादनसमेव देशान्तरे भीवितं पारयिष्यामि ।)

कथं—बहो ! किमेवं कातरति ।

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे

विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिचक्ष्माकुला ।

सौतेले सलियो-मंता प्रेम रखता । पति निरादर भी कर्दे तो छोड़ करके उनसे भगवां गत कर
बैठना । दास-दासियोंको बड़े प्यारसे रखता और अपने सौभाग्यवर बहुत दैठना मग । भी
स्थिमां घरमे इस प्रकार चलती हैं वे ही सच्ची गृहिणी होती हैं और जो हलका डलटा करती है
वे कोटी स्थिमां तो अपने कुलकी नाशिम होती हैं ॥१८॥ क्यों गौतमी ! ठीक है न ।

गौतमी—कुमारधूमोके लिये इससे बढकर और क्या उपदेश होगा । अस्तो ! ये सब बातें
गौतमी को ।

कथं—बहो ! सधो, मुझी और अपनी रक्षिणीसे बले लो मिल लो ।

शकुन्तला—साह ! क्या प्रियंवदा आदि सलियां यहीसे चोट जायेंगी ?

कथं—बहो ! इनका भी लो निवाह करना है । इसलिये इनका महीं वाधा दीक नहीं है ।
तेरे साथ गौतमी लो जा ही रही हैं ।

शकुन्तला—[पितासे बले लगकर] पिताजीकी योगसे भलम होकर भलम पर्वतमे ससाडे हुए
हए पन्दनके पीपेके समान मैं परदेशमे पहुँचकर कैसे सुख पाऊँगी ?

कथं—बहो ! इतनी क्यों अधोर हो रही हो । जब तुम जेब कुलवासे पतिकी पटरानी होकर
उनके घरके काममे दिन-रात लैसी रहोगी और, जैसे पूर्वं दिशा सूर्यको उपजन्म करती है वैसे

तनयमचिरात्प्राचीवार्कं प्रक्षय च पावनं

मम त्रिरहत्वा न त्वं वत्से शुच गणयिष्यमि ॥१६॥

[शकुन्तला पितु पादयो पतति ।]

कण्व — यदिच्छामि ते तदस्तु ।

शकुन्तला — [सख्याभ्युपेत्य] हुआ बुझे बि म तम एव परित्तगह (हवा द्वे अपि मा सममेव परिप्लवणाय ।)

सखी — [तया कृत्वा] सहि जह खान सो राजा पन्तहिष्णामग्गरो भवे तदी रो इम अत्तलामहेअभिच्छिप्य अगुत्तिमम इत्तेहि । (सति । यदि नाम स राजा प्रत्यभिज्ञानमपरो भवेत्त-
स्तस्येदमात्मनामधेयाद्वृत्तमगुत्तोय्य दत्तय ।)

शकुन्तला — इमिहा संदेहेण वो आरम्भितमिह (ममैव संदेहेन यामाकम्पितास्मि ।)

सखी — मा भाषाहि । सिंगेहो पावसद्धो । (मा भैषी । स्नेह पावसद्धो ।)

शाकुन्तल — पुगात्तरमादय सखिता । स्वरतामनभवती ।

शकुन्तला — [प्राश्नमाभिमुली स्थित्वा] तार कदा ॥ धूमो तबोवस्य पेषितस्स (तात कदा नु भूयस्तपोवन प्रेक्षिष्ये ।)

कण्व — धूमतोष —

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीमपत्नी

दीप्यन्तिमप्रतिरथं तनय निवेश्य ।

मत्रां तदर्पितदुःस्वप्नमरेण सार्धं

शान्ते परिप्यसि पदं पुनराथमेऽस्मिन् ॥२०॥

ही पवित्र पुत्र उत्पन्न करोगी, उस समय तुम मृगमे विपुद्गेव। सब दुःख भूल प्राप्तीगी ॥१६॥

[शकुन्तला पिताके पैरों में पड़ती है ।]

कण्व — तुम्हारे लिये मैं जो जो चाहता हूँ वह तुम्हें मिले ।

शकुन्तला — [सन्निवेशे पास जाकर] सखियों ! आओ तुम दोनों एक साथ मेरे गले छन जाओ ।

सखी — [एक एक कर] सखी, दखी । यदि वे राजा तुम्हें पहचानने में भूल करें तो वह उनसे नामवाली घंटी तुम उन्हें दिला दया ।

शकुन्तला — तुम्हारी इस संदेह मरी बातने मेरे भी मैं खटवा डाल दिया है ।

सखी — नहीं नहीं, करो मत । प्रेममें तो खटवा हुआ ही करता है ।

शाकुन्तल — दखी ! दिन बहुत बढ़ धाया है । अब गोपता करनी चाहिए ।

शकुन्तला — [आधमकी घाट मुँह करके] तान । अब धायमके फिर जब दर्शन हो सकेंगे ?

कण्व — भूय । बहुत दिनोंतक इस पृथ्वीकी स्रोत जनकर घोर सने अद्वितीय घोर पुत्रकी राग्य घोर दुःस्वप्नका भार लौटकर जब तुम अपने पवित्र साथ प्राप्तीगी तब इस शांत प्राथममें मृगमे रहना ॥२०॥

गीतमी—जादे ! परिहोयवि गमखवेला । निवतेहि पितरं । अहय्य चिरेण वि पुणो पुणो एसा एय्यं सन्तद्वसवि शिपत्ततु भवं । (जाते ! परिहोयते गमनवेला । निवतंथ पितरम् । ययथा चिरेखावि पुनः पुनरेयंयं मन्थयिष्यते । निवतंता भवान् ।)

कण्वः—घत्तो ! उषरूप्यते तपोऽनुष्ठानम् ।

राकुन्तला—[भूषः पितर्यास्तित्व] तवसकण्णपीडितं तादसरोरंता मा अविमेलं मम विदे पङ्कण्डिबुम् । (तपश्चरणपीडितं तातसरीरम् सम्प्राप्रतिमानं मम कुत उरकण्डिबुम् ।)

कण्वः—[सनिःस्वासम्]—

शममेव्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम् ।

उदज्जहारविहटं नीवारयलि विलोकयतः ॥२१॥

गण्ड शिवास्ते पन्थानः सन्तु ।

[निष्क्रान्ता राकुन्तला सहृदयितश्च ।]

सक्यो—[राकुन्तलां विमोचय] हट्ठो हट्ठो अन्तलिहिवा सज्जदला वत्तराईए । (हा यिक् हा यिक् अन्तहिवा राकुन्तला वनराज्या ।)

कण्वः—[सनिःस्वासम्] अनसुये यतयतो यो सहपमंचारिणी । निगूह्य शोकमनुगच्छन् मी प्रस्थितम् ।

उभे—साह सज्जदसाविरहिहं गुणं विम सवीर्यं क्कं पवित्तवो । (तात राकुन्तलाविरहितं शून्यमिव सधोवनं कथं प्रविशायः ।)

गीतमी—बहसे ! बिदाकी घटी बीतती जा रही है । जाने दो पिताजी को । [अन्तर में] माय अब लौट जायें नहीं तो यह बहुत देर तक यो ही कुछ न-कुछ बहती ही रहेंगी ।

कण्व—बाबे ! अब जाओ । हमारे आपके बामोमे देर हो रही है ।

राकुन्तला—[पितासे फिर भेंट करके] माय तो यी ही आपके बारगु बहुत दुबले हो गए हैं इसलिये माय मेरी बहुत अधिक चिन्ता न कीजिएगा ।

कण्व—[लम्बी साँस लेकर] वत्से ! तुमने बलिके भिये जो तिथीके घान छोटे थे उनके संभुर जबतक घुटीके दारपर दिखाई देते रहेंगे तबतक मेरा शोक कैसे कम होगा ॥२१॥ जाओ ! तुम्हारा मायें मंगलमय हो ।

[सायियोंके साथ राकुन्तला जाती है ।]

दोनों रुझियाँ—[राकुन्तलाको देखकर] हाय, हाय । राकुन्तला तो वृक्षोंकी मोटमें मोमल हो गई ।

कण्व—[लम्बी साँस लेकर] अनसूया ! तुम्हारी सखी तो चली गई । अब यह रोना-पोना छोड़ो घोर मेरे साथ लौट चलो ।

दोनों—हाय राकुन्तलाके बिना मुझे माथम में हथ कैसे पवेंगी ।

कण्वः—स्नेहप्रवृत्तिरेवंदंशनी । [सविमर्शं परिक्रम्य] हन्त भोः शकुन्तलां पतिकुलं विसृज्य
सख्यमिदानीं स्वात्म्यम् । कुतः ।

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः ।

जातो ममायं विशदः प्रकाशं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥२२॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।]

इति चतुर्थोऽङ्कः ।

कण्वः—प्रेमसे ऐसा ही होता है । [कुछ विचारते हुए घूमकर] ओह ! शकुन्तलाको
पतिके घर भेजकर अब मेरे मनबो छुट्टी मिली । क्योंकि—कन्या सचमुच पराई सम्पत्ति ही
होती है । आज उसे पतिके घर भेजकर मेरा मन यैसे ही निरिचल हो गया है जैसे किसीकी
घरोहर मोटा दी हो ॥२२॥

[सब जाते हैं ।]

चौथा अंक समाप्त ।

पञ्चमोऽङ्कः

[ततः प्रविशत्यासनस्थो राजा विदूषकश्च]

विदूषक—[कुलं दत्वा] भो पद्मस्त सगीतशास्त्रान्तरे प्रथमाह देहि । कस्तविमुद्राए गीतोए सरसजोभो मुलीअदि । जालो तसहोदी हसपदिआ यण्णपरिअम करोविसि । भो वयस्य सगीतशास्त्रान्तरेऽवधान देहि । कनविमुद्राया गीते स्वरनयोव भूवते । जाने सयमवती हसपदिका यण्णपरिअम करोतोसि ।)

राजा—तूण्णो भव थायवाकल्लंमामि ।

[आकाशे गीयते ।]

अद्विणरमहुलोलुषो भवं तद् परिचुम्भिम चूअमल्लरिं ।

कमलरसमेतखिण्णुदो महुअर विल्लरियो सि खं कहं ॥१॥

(अभिनयमधुनोत्तुपो भर्तास्तथा परिहृष्य वृत्तमञ्जरीम् ।

कमलवसतिगात्रमिहूँतो मधुकर विस्मृतोऽप्येवा वयम् ॥)

राजा—अहो रागपरिवाहिनो गीति ।

विदूषक—किं दाव भोदोए प्रथमभो कमलरस्यो (किं तावद्गीत्या प्रथमतोऽभिरार्थे ।)

पञ्चम अङ्क

[राजा आसनपर बैठे हैं और पास ही विदूषक भी बैठा हुआ है ।]

विदूषक—[कान लगाकर] सुनो वयस्य ! सगीत-शास्त्राकी धोर वाम लगाकर तो सुनो । कोई बड़े सय-शास्त्रसे प्रथमतः मोटे स्वरसे गीत गा रहा है । जान पड़ता है महारानी हस-पदिका स्वर साथ रही हैं ।

राजा—अच्छ ठूँप हो जाओ तो सुनूँ ।

[निष्पन्थे गीत]

नये नये मधुके तोभी भो मधुकर ।

एक बार ही रसावकी मधुर मजरी छूँप गए तुम ।

बयो विवास कर कमल कोखमे मुक्त मूनवर भूम गए तुम ॥

नये नये मधुके तोभी भो मधुकर ॥१॥

राजा—साह, गीत मे कौसी प्रेमकी पाप यह रही है ?

विदूषक—पर इस गीतमें जो चोट की गई है, वह भी समझ पाए हो ?

राजा—[स्मित भ्रूत्वा] सकुलकृतप्रणयोज्य जन । तदस्या देवीवसुमतीमन्तरेण मधुपा-
सम्भगगतोऽस्मि । सखे मादृष्य ! भद्रधनमुच्यता हसपदिका—निपुणमुपालब्धोऽस्मीति ।

विदूषक—ज भव आणवेदि । [उत्थाय] भो वयस्स ! गृहीदस्स ताए परकीएहि हत्थेहि
सिहणए ताओअमास्सस्स अण्णराए वोदराअस्स विअ खण्णि दाएि मे मोक्खो । (मञ्जूषा-
नाज्ञापयति । भो वयस्य ! गृहीतस्य तथा परकीर्यहस्त्वं धिक्खण्णके ताडयमानस्याप्सरसा
वोदरागस्येव नास्तोदानो मे मोक्ष ।)

राजा—मच्छ ! माघरिकवृत्ता सत्तापर्यन्ताम् ।

विदूषक—या गई । (का गति ।) [इति निष्पन्नन्तः ।]

राजा—[प्रातमगतम्] किं नु सप्तु गीतार्पमाकण्ठ्येऽजनविद्वद्वाहतेऽपि बलवद्भुरकण्ठितोऽ-
स्मि । अथवा—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्पर्युत्सुकीभ्रमति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसीहृदानि ॥२॥

[इति पर्याकुलस्तिष्ठति ।]

[ततः प्रविशति कञ्चुकी ।]

कञ्चुकी—अहो नु कल्योदसीमयस्यां प्रतिभग्नोऽस्मि ।

आचार इत्यवहितेन मया गृहीता या चैत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः ।

काले गते बहुतिथे मम सैव जाता प्रस्थानविकलवगतेरवलम्बनार्था ॥३॥

राजा—[मुसकराते हुए] हाँ, हाँ मैं समझ गया । मैंने रानीसे केवल एक ही बार प्रेम
किया है, इसलिये आजकल जो देवी वसुमतीसे मैं प्रेम करने लगा हूँ उसीपर मे छोटे बसे
जा रहे हैं । मित्र मादृष्य ! मेरी धोरसे हसपदिकासे जाकर कहना कि तुमने बड़ी मीठी
नुटकी ली है ।

विदूषक—जैसे घायली प्राज्ञा ! [सटा होकर] पर वयस्य ! जैसे अष्टराग्निके हाथोंमें
मटकर बड़े-उड़े निरागी ऋषि नहीं छूट पाते हैं वैसे ही जब घायली रातिमोसे मेरी चोटी
पकड़याकर वे मुझे पीटने लगेंगी उस समय उनसे छुटकरा पावा मेरे लिये भी कठिन
हो जायगा ।

राजा—जामो, घतुराईके साथ सम्येत्त देना ।

विदूषक—घाय कह रहे हैं सो जाना हो पड़ेगा । [बना जाता है ।]

राजा—[मन ही मन] मेरे सभी सने-प्यारे मेरे पास हो हैं फिर भी दण गीतकी मुन-
वर मैं न जाने क्यों इतना धनमना-सा हो उठा हूँ या —

गुन्दर वस्तुएँ देसकर धीरे पीठे सव्य मुनवर जब सुली सोप भी उरख हो जाय तब यही
समझा चाहिए कि उनके मनमें पिछोने जन्मवे प्रेयियोंने जो सस्कार बँटे हुए हैं वे ही अपने घाय
जाग उठे हैं ॥२॥ [यह सोचकर ध्यातुस हो उठता है ।]

कञ्चुकी—भाट, मेरी भी क्या दाता हो बनी है ।—जिध बँतकी छड़ीकी कभी मैं रनिवासके
झारपासका निदम समझकर हाथम लिए रहा करता था वही मय इन मुदापमे

भी: कामं धर्मकार्यमनतिपातार्थं देवस्य । तथाशीतानीमेव धर्मात्तनाहुस्मिताय पुनरपरो-
पकारि कण्वशिष्यागमनस्य नोताहे निवेदिषुम् । अथवाप्रविधमोऽयं सोऽतन्नापिकारः ।
कुतः ।

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिर्दिवं गन्धवहः प्रयाति ।

शेषः सदैवाहितभूमिभारः पष्ठांशश्चेरपि धर्म एषः ॥ ४ ॥

यायन्मियोगमनुतिष्ठामि । [परिक्रम्यावलोक्य च] एष देवः

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा निषेवते शान्तमना विविक्तम् ।

यूयानि संचार्य रविप्रतप्तः शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः ॥ ५ ॥

[उपगम्य] जयतु जयतु देवः । एते शत्रु हिमविरेकपथकारभ्यवातिनः कृष्णसंहार-
मायाय सद्योकात्तपस्विनः संप्राप्तः । श्रुत्वा वैषः प्रमाणम् ।

राजा—[सादरम्] किं कण्वसंदेशहार्दितः ।

कञ्चुकी—मय किम् ।

राजा—तेन हि मनुचनान्विश्राप्यतामुपाध्यायः सोमरातः । अमुनाभनवातिनः धीर्मान
यिधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हतीति । अहमप्येतस्त्वपस्विवर्गमोचिते प्रदेदे स्थितः
प्रतिपालयामि ।

कञ्चुकी—प्रवासापयति देवः । [हृति निष्क्रान्तः ।]

मुक्त सङ्कटाति पैरोंबालिका सहारा धन गई है ॥ ३ ॥ यह तो ठीक है कि महाराजको धर्म-
कार्य करना चाहिए । फिर भी धर्म-धर्म न्यायासनसे उठकर गए हैं । अब उन्हें फिरसे
कष्ट देनेके लिये जो ये कण्वके शिष्य या धर्मके हैं, इनकी गूचना पहुँचावेगी मेरा तो जी
नहीं करता । पर प्रजाके शासनके काममें विधाम नहीं । क्योंकि—सूर्य एक ही बार अपने
घोड़े जीतकर सदातक बना जा रहा है, वजन भी रात दिन बढ़ता ही रहता है और सप-
नाम भी इस पुष्पीके भारसे अपने ऊपर सदा भारण ही किए रहते हैं । ठीक यही दशा
अपजका छटा बंदा मेनेवाले राजाकी भी है ॥ ४ ॥ इसलिये अब मैं भी अपना बर्तव्य
पालन करूँ । [दक्षर ऊपर देखकर] ये महाराज अपने सन्तान-जैसी प्रजाका काम करने,
यक जागेवर यही एकात्मसे उसी प्रकार विधाम कर रहे हैं जैसे दिवनी धूपमें तवा हुआ
गजराज हाथियोंक भुङ्गकी चरनेके लिये छोटकर स्वयं ठंडे स्थानमें विधाय लेता है ॥ ५ ॥
[वात जाकर] महाराजकी अथ हो । हिमालयकी तराईमें रहनेवाले कुछ लपरकी लोग
कण्वका सन्देश लेकर सिन्धुके साथ गए हुए हैं । अब जैसा देव ठीक सपके ।

राजा—[आदरसे] क्या महर्षि कण्वका सन्देश लेकर आए हैं ?

कञ्चुकी—जी हाँ !

राजा—तो कृत-पुरोहित सोमरातजीको कहना दो कि ये इन आचमयामियोंका वैदिक
रीतिसे सत्कार करके इन्हे अपने ही साथ लिया जाए । मैं भी तबतक ऊपर चलकर बैठना
हूँ जहाँ श्रुतिपंडित बैठनी जाती है ।

कञ्चुकी—जैसी महाराजको आज्ञा । [प्रस्थान]

राजा—[उत्थाय] वेप्रवति ! अग्निशरणागार्वादेशय ।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो । (एत इतो देवः ।)

राजा—[परिश्रमति । अधिकारखेद निरूप्य] सर्वः प्राञ्चितमर्चमधिगम्य सुखो संपद्यते
मनुः । राजा तु चरितार्पिता दुःखान्तरय ।

औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा

नितिश्राति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव ।

नातिश्रमापनयनाय च श्रमाय

राज्यं स्वहस्तदृढदण्डमिवातपत्रम् ॥ ६ ॥

[नेपथ्ये]

वैतालिकी—विजयता देवः ।

प्रथमः—

स्वसुखनिरभिलापः स्थितसे लोकहेतोः

प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवविधैव ।

अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीग्रमुष्णं

शमयति परितपं छायाया संश्रितानाम् ॥ ७ ॥

द्वितीयः—

नियमपसि विमार्गप्रस्थातानाच्छदण्डः

प्रशमपसि विवादं कल्पसे रचणाय ।

राजा—[उठकर] वेप्रवती ! चलो हमे मन्त्रालया तक पहुँचा दो ।

प्रतीहारी—दमरूते आये महाराज, इधरसे ।

राजा—[घुमता है । राजकाजका दुःख बताते हुए] अपने मनकी रात्र पूरी हो जानेपर और तब जीवोंकी तो सुख मिसता है पर हम लोगोकी रात्र चलनेकी इच्छा जब पूरी हो जाती है तब बहुत ही कष्ट हाथ लगता है । राजा बनकर बड़ी प्रतिष्ठा या सेनेसे मनकी उर्गण तो पूरी हो जाती है पर जब राज्यका पालन करना पड़ता है तब छोटीका रूप मान प्रा प्राया है । इसलिये राज्य उस छलरीके समान है जिसकी मूठ अपने हाथसे ले लेनेसे बकायद ही अधिक होती है, विनाम कम मिसता है ॥ ६ ॥

[नेपथ्ये]

दो वैतालिक—महाराजकी जय हो ।

पट्टा—अपने मुखकी इच्छा छोड़कर आप प्रेजाकी अनाहिम से रहते हैं । या यों कहना चाहिए कि इस प्रकार आप अपना धर्म ही पात्र रहे हैं, क्योंकि मृश, अपने तिरपर तो कड़ी धृग सहता है, पर अपने तने बँटे हुए जीवोंकी छाया ही देता रहता है ॥ ७ ॥

दूरदा—दुष्टोंको आप अपने राजदण्डसे डीन करते हैं और तबके आपसी भयसे

अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम

त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम् ॥८॥

राजा—एते वसन्तमनसः पुनर्नन्दोकृताः स्मः । [इति परिष्कापति ।]

प्रतीहारी—मृतो अग्निहोमसम्मन्त्रणसस्मिरीयो सन्निहितहोमघेयुः अग्निहोमसन्निधौ ।
आरोहन् देवो । (एष अग्निहोमसन्निधौ सन्निहितहोमघेयुः अग्निहोमसन्निधौ । आरोहन् देवः ।)

राजा—[आहूय परिजनासायलम्बी तिष्ठति] वेचवति । किमुहिदय भयवता कथेन मर्यादुः-
सृष्यः प्रेषिताः स्युः ।

किं तावद्भूतिमाश्रुपोहतपसां बिभ्रन्स्वपो दूषितं
धर्मास्त्रचरेषु केनचिदुत प्राणिषु सञ्चेष्टितम् ।

आहोस्वितप्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधा-

मित्याकृष्टपुत्रतर्कमपरिच्छेदाकुलं मे मनः ॥९॥

प्रतीहारी—गुचरिवरुविषो इतोघो वेचं समाजद्वं आधरेति तत्कथं । (गुचरितमग्निहो-
मघेयो देव समाजयितुमायता इति तत्कथं ।)

[सप्तः प्रविशन्ति गीतमीसहिता शकुन्तला पुरस्कृत्य मुनयः । पुरस्कृत्य कञ्जुकी पुरोहितम् ।]

कञ्जुकी—इत इतो भयन्तः ।

गिदाकर भाव प्रजाको रक्षा करते हैं । प्रजामें जो घटी सीज है उनके सो बहुतसे सगे सम्बन्धी हो सकते हैं पर साधारण प्रजाके तो माँ-बाप-भाई सब कुछ पाप ही हैं ॥८॥

राजा—मेरा उदास मन इनकी बातें सुनकर फिर दृढ़ हो गया ।

[चारों ओर भ्रमते हैं]

प्रतीहारी—यह रही आह-बुहारकर सुन्दर की हुई यमशासकी बैठक जहाँ पास ही हवनके तिमि धी-धूम देनेवाली गौ भी बँधी है । इसीमें यह जाय महाराज ।

राजा—[यहकर परिचारकोके कन्धोके सहारे खड़ा होता है ।] वेचवती । भागवान् कथने अग्निहोमको मरता मेरे पास किस तिमि भेजा होता ? कही उपद्रवी राजसोमे बहुत प्रकारकी उपद्रवा करनेवाले इन अग्निहोमके तिमि तो बाधा नहीं दास दी है । या कहीं कोई तपोवनके प्राणियोंको तो नहीं सता बँटा है । या कहीं मेरे पापोंके कारण तपोवनकी जलधरो घोर वृक्षोंका फलना-फूलना तो नहीं रुक गया है । मेरे मनमें यनेक प्रकारकी ऐसी बुरी-बुरी घातकार्य उठ रही हैं कि कुछ ठीक-ठीक समझ न जानेसे मेरे जो मे ललबसी मच गई है ॥९॥

प्रतीहारी—देव ! मैं तो समझती हूँ कि ये अग्नि सोच महाराजके सन्ने कामोसे प्रसन्न होकर बपाई देने आए होये ।

[शकुन्तलाको आगे किए हुए गीतमोके साथ अग्निहोम प्रवेश । आगे-आगे कञ्जुकी ओर पुरोहित ।]

कञ्जुकी—दरसे आहूय भाव सोय, दधरसे ।

शाङ्ग'रवः—शारद्वत ।

महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ

न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते ।

तथापीदं शशत्परिचितविविक्तेन मनसा

जनाकीर्णं मन्ये हुतवदपरीतं शृद्धमिव ॥१०॥

शारद्वतः—स्वाने भवान्पुरप्रवेशादित्यञ्जितः संवृतः । आहमपि—

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रयुद्ध इव सुप्तम् ।

बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमपैमि ॥११॥

शकुन्तला—[निमित्त सूचयित्वा] अन्तर्है कि मे पावेवरं समस्त विष्कुरति । (महो कि मे बानेतरं नयन विस्फुरति ।)

गौतमी—जादे पविहवं अभज्जनं सुहावं हे भक्तकुलदेवदाप्रो वितरन्तु । [जाते प्रतिहृतमञ्जलम् । सुतामि ते भर्तुकुलदेवताः वितरन्तु ।]

[इति परिक्रमसि ।]

पुरोहितः—[रालानं निर्दिश्य] भो जोस्तपस्विनः प्रसाधनभवात्कर्णार्थभाणां रक्षिता प्राप्तेव मुक्तासनो वः प्रतिपालयति । पश्यतेनम् ।

शाङ्ग'रवः—भो महासाह्वण ! कामभेतवमिन्द्रनीचं तयापि ययमत्र मध्यस्थाः । कुतः ।

शाङ्ग'रवः—शारद्वत ! यह मैं मानता हूँ कि ये राजा इतने धर्मिया हैं कि कभी गर्ववाला चलपन नहीं करते और इनके राज्यमें जो नीच-से-नीच वर्णके लोग हैं, वे भी कभी कोई अपमान का काम नहीं करते, पर इतने लोगोसे भरे हुए सबकी देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो यहाँ भागकी छपटें उठी हुई हों । मेरा अकेलेसे रमनेवाला मन तो ऐसा करता है कि यहाँसे भाग खड़ा होके ॥१०॥

शारद्वत—नगरमें पावेवर ऐसा ही भजता है । मैं भी साधारण भोगमें पड़े हुए यहाँके लोगोको बैठा ही हीन समझता हूँ जैसे महारा हुआ व्यक्ति उस लगाए हुएको, पवित्र व्यक्ति भगवन्की, जागता हुआ व्यक्ति सोते हुए का समझता है ॥११॥

शकुन्तला—[बुरा शकुन बताकर] है ! यह मेरी बाहिनी माँव क्यों फड़कने लगी ?

गौतमी—तेरे घराबुन दूर हो, पुत्री ! तेरे पति-कुलके देवता सब भला ही करें ।

[धूमती है]

पुरोहित—[राजाको दिखलाकर] तपस्विनो ! देखिए, नरुप्यमन्य पावन करनेवाले महाराज पहनेसे ही प्रासन छोड़कर खड़े हुए आप लोगोके आनेकी वाट देख रहे हैं । इन्हें देखिए तो ।

शाङ्ग'रवः—हे राजपुरोहित ! माना कि ये प्रजताके योग्य हैं पर हम इसे कोई नई बात

भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैर्नम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः ।

अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥१२॥

प्रतिहारी—देव यत्तुल्यमुहूर्त्तना दीप्तान्ति । जानामि विप्रद्वन्द्वजा इतोमो । (देव प्रसन्नमुखवर्णी दृश्यन्ते । जानामि विप्रद्वन्द्वकार्या श्रुतम् ।)

राजा—[सकुन्तला दृष्ट्वा] अथाप्रभवतो—

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या ।

मध्ये तपोधनानां किमल्यमिव पाण्डुपश्रामाम् ॥१३॥

प्रतिहारी—देव कुतूहलजनोपहिषी ए मे लज्जो पसरति । एवं वंत्तोष्ठा उवा से का किं लवकोष्ठादि । (देवकुतूहलजनोपहितो न मे लज्जो पसरति । मनु दर्शनीया पुनरस्या भावविर्लस्यते ।)

राजा—भवतु । अनिर्वाणनीयं परकलत्रम् ।

सकुन्तला—[सूक्तमुरलि कृत्वा भारगलत्रम्] हिमम् कि एवम् वेदति । अग्नयस्तस्य भाव मोहारिण धीरं बाधं होहि । (हृदय किंवेधं वेपते । धार्यपुत्रस्य भाग्यवन्तयार्थं धीरं शत्रुञ्ज्व ।)

पुरोहितः—[पुरो गत्वा] एते विधिवद्विज्ञास्तपस्विनः । कश्चिदप्यनुपाप्मासदृशः । तं देव श्रोतुमर्हति ।

राजा—अवहितोऽग्निः ।

मही समझते । क्योंकि—फल लगनेपर ऐस कुतूह हो हैं, नये वससे भरे हुए पादल नीचे झुक हो जाते हैं और सज्जन लोग घन पाकर नम्र होते ही हैं । यह जो परोपकारियोंका स्वभाव हो होता है, इसमें नई बात क्या है ॥१२॥

प्रतिहारी—महाराज ! श्रुति लोग प्रसन्न दिखाई पड़ रहे हैं । इसलिये मैं समझती हूँ कि ये लोग किसी अच्छे कामसे ही आए होंगे ।

राजा—[सकुन्तलाको देखकर] ये कौन देवी हैं ।—इन तपस्वियोंके बीचमें पीले पत्तोंमें भरी जोपलके लगान दिखाई देतेआली यह कौन से मन्त्री है जिसकी मुहरता, घुंगटके कारण ठीक-ठीक सुन नहीं पा रही है ॥१३॥

प्रतिहारी—महाराज ! मैं भी यही जाननेकी उत्तमन्त्री हो रही हूँ पर ठीक ठीक समझ नहीं पा रही हूँ । फिर भी, जान पड़ता है कि यह है नयी सुन्दर ।

राजा—हुआ करे । वरदाँ स्त्रीपर धौल नहीं टासनी चाहिए ।

सकुन्तला—[हृदयपर हाथ रखकर मन ही मन] इस प्रकार क्यों क्यों रहे हो, मेरे हृदय ! धार्यपुत्रके प्रेमका श्रान्त करके धीरज तो धरो ।

पुरोहित—[भागे बढ़कर] महाराज ! इन तपस्वियोंका ठीक विधिसे आदर-मरफार हो चुका है । ये अपने मुण्डनोंका कोई खन्नेस आए हैं, उसे देव सुन लें ।

राजा—हाँ, हाँ, कहे आप लोग मैं सुन रहा हूँ ।

शृणुयः—[हस्तानुसंग्य] विजयस्व राजन् ।

राजा—सर्वानभिवाद्ये ।

शृणुयः—द्वष्टेन मुख्यस्व ।

राजा—अपि निविघ्नतपसो मुनयः ।

शृणुयः—

कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रचितरिं त्वयि ।

समस्तपति धर्माशौ कथमाविर्भविष्यति ॥१४॥

राजा—अर्थशास्त्रज्ञ मे राजप्राद्वः । अथ भगवन्तोऽकानुग्रहाय कुशलो कण्वः ।

शृणुयः—स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः । ॥ भवन्तमनाममग्रतः-पूर्वकमिदमाह ।

राजा—किमातापयति भगवान् ।

शङ्कर—यन्मिथः समयादिनां मत्तोषां दुहितरं भवानुपायस्त तन्मया प्रीतिमत्ता
पुत्रपोरनुतातन् कुतः ।

त्वमर्हतां प्राग्रसरः स्मृतोऽसि नः शकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया ।

समानयंस्तुल्यगुणं वधूवरं चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः ॥१५॥

तद्विधानीमापन्नसत्त्वेयं प्रतिगृह्यतां सहस्रमंथरलापेति ।

शृपि लोग—[हाथ उठाकर] महाराजकी जय हो ।

राज—मैं आप लोगोंको प्रणाम करता हूँ ।

शृपि लोग—आपका मनोरम पुरा हो ।

राजा—कहिमे, शृपियोंकी तपस्यामे कोई विघ्न तो नहीं आत रहा है ?

शृपि लोग—जहाँ आप जैसे राजा पृथ्वीकी रक्षा कर रहे हो वहाँ सज्जनोके धर्म-
कार्योंमे भला कोई विघ्न आत सकता है ? सूर्यके चमकते रहनेपर भला कहीं धँसेरा भी
रह पा सकता है ॥१४॥

राजा—भान मेरा राजा कहलाना सकल हुआ । अफस यह तो बताइए कि संसारका
कल्याण करनेवाले भगवान् कण्व तो कुशलसे हैं न ।

शृपि लोग—कुशलता तो ऐसे सिद्ध पुरुषोंके हाथमे रहती है । उन्होंने आपका कुशल
पूछते हुए यह कहलाया है—

राजा—हाँ, भगवान् कण्वने क्या आशा जो है ?

शङ्कर—उन्होंने कहलाया है कि आपने जो मेरी कन्यासे गुप्तगुप्त विवाह कर लिया है
उसे मैं प्रसन्न होकर स्वीकार करता हूँ । क्योंकि—आदरणीय व्यक्तिओमे आप सबसे
प्रधान हैं और शकुन्तला पुष्पक्रियाकी साक्षात् मूर्ति है । आज बहुत दिनोंपर प्रह्लादे एक
जैसे गुणवाले चर-यज्ञ की जोड़ी रखकर अपनेको दोषी कहलायेसे बना लिया है ॥१५॥
अब आप इस गर्भवतीको अपनी धर्मपत्नी बनाकर ग्रहण कर लीजिए ।

गीतमी—**प्रभ** किं पि यत्तु कामाप्सिम् । न मे यथनावसरोऽस्ति । कथमिति ।

शावेभिस्तयो गुरुयशो इमा ए तुष्ट पुच्छिदो ए बन्धुयशो ।

एकमेव चरिष्य मणामि किं एकमेकस्त ॥१६॥

(**प्रभ** किं पि यत्तु कामाप्सिम् । न मे यथनावसरोऽस्ति । कथमिति ।

नापेक्षितो गुरुजनोऽन्या त्वया गृष्टो न बन्धुजन ।

एकमेव चरिष्ये मणामि किमेकमेकस्त ॥)

राजकुमारी—[आत्मगतम्] किं एव क्व भव्यवत्तो भणामि । (किं तु सत्कार्यपुत्री भणति ।)

राजा—किमिदमुपन्यस्तम् ।

राजकुमारी—[आत्मगतम्] नावधो क्व वमलोपगताः । (नावधः सल्लु वचनोपगताः ।)

शाकुन्तला—कवचित् नाव भवत्त एव सुतरा लोकावृत्तानिष्कृताः ।

सतीमपि ज्ञातिकुलैकमश्रयां जनोऽन्यथा मर्त्यमतीं विशङ्कते ।

अतः समीपे परिणतुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः ॥१७॥

राजा—किं चाप्रमदते मया परिणतपुत्रः ।

राजकुमारी—[वनिताम् । आत्मगतम्] हिमन्तः सख्यं दे शतशतम् । (हृदयं साप्रय ते प्रासादाः ।)

गीतमी—**प्रभ** ! मैं भी कुछ कहना चाहती हूँ । यद्यपि मुझे प्रायः लोगोंके बीचमें कुछ भी बोलना नहीं चाहिए मगोकि—न तो इसीने अपने बचोसे कुछ कहा-सुना, न प्रायने ही इसके सगे सम्बन्धियोंके कोई पूछ-ताछ की । इसलिये जब प्रायः लोगोंने प्रायसने ही सब कुछ कर डाला है तब मैं प्रायः दोनोंसे भला कहूँ क्या ॥ १६ ॥

राजकुमारी—[ममही मन] देखें, इस बातपर आश्चर्य क्या कहते हैं ?

राजा—प्रायः लोग यह कह क्या रहे हैं ?

राजकुमारी—[मन ही मन] इन्होंने बातका आरम्भ क्या किया है कि प्रायः डगल रहे हैं ।

शाकुन्तला—प्रायः तो लोकाचारकी सभी बातें जानते हैं फिर ऐसा क्यों कह रहे हैं । जो सुहागिन यही अपने पिताके घर रहती है वह चाहे जितनी भी पतिव्रता हो फिर भी उसके सम्बन्धोंमें लोग बड़ी उल्टी-सीधी बातें उठा दिया करते हैं । इसलिये वह पुत्रपुत्री चाहे सबकी दुलारी ही क्यों न हो, पर उसके आई-वन्धु लोग तो यही चाहते हैं कि वह अपने पतिके ही पास रहे ॥ १७ ॥

राजा—क्या इस देवीसे कभी पहले मेरा विवाह हो चुका है ?

राजकुमारी—[दुखी होकर मन ही मन] हृदय ! तुम्हें जो सत्य हो रहा था वह प्रायः भा रहा है ।

शाङ्ग'रवः—

किं कृतकार्यद्वेषो धर्मं प्रति विमुखता कृतावज्ञा ।

राजा—वृत्तोऽयमसत्कल्पनाप्रसन्नः ।

शाङ्ग'रवः—

मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेसैश्वर्यमचेषु ॥ १८ ॥

राजा—पिप्पलेणापि क्षितोऽस्मि ।

गौतमी जावे मुहुतष मा सज्ज । धवणइत्तं बाव वे ओउण्णलं । तवो तुमं भट्टा
महिजाणिस्सदि । (जाते मुहुतं मा सज्जस्व । अपनेआपमें सावतेअगुठनम् । ततस्त्वा भर्ताप्रिभ-
शास्यति ।) [इति यथोक्त करोति ।]

राजा—[शकुन्तला निर्बन्धे आत्मगतम्]

इदमुपनतमेव रूपमविलष्टकान्ति प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न चेत्यव्यवस्पन् ।

अमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुपारं न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम् ॥ १९ ॥

(इति विचारयन्त्यतः ।)

प्रतीहारी—[रवगतम्] महो धर्मावेविलष्या भट्टियो । ईदिस एताम पुहीवण्णं कय
देविपम को मण्णो विचारयेदि । (महो धर्मावेविलषता भवतुः । ईदृशं माम् पुछोपनत कय इष्ट्वा
कोऽन्यो विचारयति ।)

शाङ्ग'रवः—आपको अपने किए पर पछतावा हो रहा है, या आप अपने कर्तव्यसे भाग रहे हैं या जान-बूझकर अपने किए हुएको थुला देना चाहते हैं ?

राजा—आपने यह वहीकी बेसिर-पंरकी बातें छेद दी हैं ?

शाङ्ग'रवः—[क्रोधम्] जो ऐस्यवसे भतयाने हो जाते हैं वे ऐसे ही छोटे काम किया करते हैं ॥ १८ ॥

गौतमी—दासे ! योही देखके लिये लाज-सकीच छोड़ दो । मामो मैं तुम्हारा भूषट उठा हूँ, जिससे तुम्हारे प्रति तुम्हें पहचान तो से ।

[पुषट हटा देती है ।]

राजा—[शकुन्तलानो ध्यावते देखकर मन ही मन] मैं टीक-टीक निरवय ही नहीं कर पा रहा हूँ कि यह जो अत्यन्त योभावाली सुन्दरी यही अपने आप या पहुँची है, इसने साथ मैंने पहले कभी दिकाह किया भी है या नहीं । और इसीलिये, जैसे प्राप्त कालको सोस पड़े हुए सुन्दर पूलपर भीरा न तो धँसता हो है न उसे छोड़कर ही जाता है, वैसे ही मैं भी, न तो इसे पहचान ही कर पा रहा हूँ न छोड़ ही पा रहा हूँ ॥ १९ ॥

[राजा सोचता रह जाता है ।]

प्रतीहारी—[मन ही मन] हमारे महाराज धर्मका कितना ध्यान रखते हैं । नहीं तो, अपने आप आप हुए ऐसे रूपको पाकर भला कौन इतना ध्या-वीछ छोपेगा ।

शाङ्कर्यः—भो राजन् किमिति ज्ञेयमास्थते ।

राजा—भोस्तपोधनाः चिन्तयप्रणि न जनु स्वीकरस्ममप्रसवत्याः स्मरामि । तत्कर्ममिमा मभिव्यक्तस्तत्त्वतःशरां प्रत्यात्मानं श्रेत्रिणमाश्रुमानः प्रतिपत्त्ये ।

शकुन्तला—[अपवायं] अगस्त परिरूप एव सदेहो । कुनो बाणि मे दुराधिरौहिणी प्राप्ता । (आरंभ परिरूप एव सदेहः । कुत इदानी मे दुराधिरौहिण्यात्ता ।)

शाङ्कर्यः—मा तावत्—

कृताभिमर्शमनुमन्यमानः सुतां स्वया नाम मुनिर्विमान्यः ।

मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन ॥ २० ॥

भारद्वाजः—शाङ्कर्य ! विदम त्वमिवागोम् । जनुस्तस्य वक्तव्यमुक्तमस्माभिः । सोऽयमत्र भवानेवमाह । वीयतामस्मै प्रत्ययप्रतिषधनम् ।

शकुन्तला—[अपवायं] इमं अवस्थान्तरं गते तारिसे अशुराय कि वा सुमराविदेह । अत्ता बाणि मे सोप्राणीषो ति ववतिहं एहं । [प्रकाशम्] अगस्त [इत्यर्थोवते] संसद्दे बाणि ए एषो समुदाधारो । पोरव ए कुतं खाम दे तह दुरा अस्तमपदे सहापुस्तालहिमर्भ इमं जलं समप्रपुष्यं पतारिष ईदितेहि अवजरेहि पथाचक्षिदुम् । (इवमवस्थान्तरं गते आहवेज्जुराणे कि वा स्मारितेन । आमेदानी मे शोचनीय इति व्यवसितमेतत् । आरंभम् ।

शाङ्कर्यः—क्यो महाराज ! आप कुछ क्यो हो गए ?

राजा—तपस्विन्यो ! बार-बार स्मरण करनेपर मो इस देवीके साथ विवाह करनेकी बात मुझे स्मरण ही नहीं आ रही है, तब बताया है कि इस गर्भवतीके स्पष्ट वधाशोचाली देवीको स्वीकार करके दूसरेसे गर्भ धारण करनेवाली स्त्रीका पति कहलामेका अप्रबल मैं क्यो हूँ ।

शकुन्तला—[असन्ध] आरंभपुत्रको जब विवाहमे ही सन्देह हो रहा है तब मैंने और जो बड़ी-बड़ी आचार्यें साथ रखी थी उनका तो फिर डिकामा ही कहाँ है ।

शाङ्कर्यः—हाँ-हाँ, मत करो स्वीकार । तुमको आपिका अपमान करवा ही चाहिए क्योंकि चाहोमे तुम्हारे साथ यह भगवतसाहच की है न, कि उनकी जिस कन्याको हमने छलसे हथित कर दिया है उसे वे तुम्हें योग्य पात्र समझकर उची प्रकार रख रहे हैं जैसे कोई अपनी चोरी गई हुई वस्तु मिलनेपर फिर चोर को ही सौटा दे ॥ २० ॥

भारद्वाजः—अगस्त शाङ्कर्य ! अब तुम कुछ ही जानो । [शकुन्तला से] देखो शकुन्तला ! हमें जो कुछ कहना था, कह चुके । इसपर राजा भी ऐसी बातें कर रहे हैं । अब तुम्हीं इन्हे विद्वान्स दिजामो ।

शकुन्तला—[मन ही मन] जब बात वहाँतक चढ़ चुकी है तब मैं उस प्रेमान्नी कुछ दिनाकर ही क्या करूँगी । अब तो मुझे अपने भाग्यको कोसना ही भर रह गया है । [प्रकट] आरंभपुत्र ! [आधा कहकर रुक जाती है ।] पर जब इन्हे विवाहमे ही सन्देह हो रहा है तब इस प्रकार सम्बोधन ही करना ठीक नहीं है । हे पौरव ! मुझ भोजी-भालीको आग्रहमें अपनी मीठी-

संयमित ददमी नैव समुदाधारः पीत्य ! न युक्तं नाम ते तथा पुराऽऽथमपदे स्वभावोत्तानहृदयमिमं
जनं समपपूर्वं प्रतापेहो रक्षारैः प्रत्याख्यातुम् ।)

राजा—[वरुणो पिपाय] ज्ञान्त पापम् ।

अपदेशमाबिलियितुं किमीहसे जनमिमं च पातयितुम् ।

कूलकपेव सिन्धुः प्रसन्नमग्मस्तटतर्हं च ॥२१॥

राकुन्ता—होतु ! जइ परमत्पती परपरिग्रहसिद्धिना तुए एय्यं वत्तुं पठत्तं ता अहिण्णा-
एण इमिणा तुह पातकुं अवलदस्सं । (भवतु ! यदि परमापंतः परपरिग्रहसिद्धिना स्वयं वत्तुं
प्रवृत्त तदभिमानेनानेन तद्वानं वामपनेप्यामि ।

राजा—उवाच वत्सः ।

राकुन्ता—[मुदास्वानं परामृश्य ।] हृदो हृदो अहंभुलोमममुण्या मे अंगुली । (हा धिक्
हा धिक् अंगुलीयवत्तुया मेऽंगुलिः ।) [इति सविपादं गीतमीमवेसते ।]

गीतमी—तूणं हे सङ्गावदारम्भनारे सपोत्तरपत्तत्तितं वन्दमानाया एवमहं अंगुलीममं
(नूनं ते सङ्गावदारम्भनारे सपोत्तरपत्तत्तित वन्दमानायाः प्रप्लवंगुलीयवत् ।)

राजा—[सस्मितम्] इदं ताम्रपुत्रसमन्त्रि स्त्रंणमिति यदुच्यते ।

राकुन्ता—एतम् दास विहित्वा वंतिहं पठुत्तणं । अवरं हे कहिस्सं । (अत्र तावद्विधिना
दण्डित प्रभुत्वम् । अवरं ते वक्ष्यामि ।)

राजा—अतप्यमिदानीं संवृत्तम् ।

मीटी बातोंके आलमे कोशकर सब इस प्रकार मेरा निरादर करना आपकी सोचा नहीं
देता ।

शकुन्तला—तु एककस्ति दिग्गहे खोगालिभाषण्डे एतिलोपत्तमाभरणम् उभयं तुह हत्ये सलिहिर आसि । (नन्वेकस्मिन्दिवसे नयमालिवापण्डे मन्त्रिनीपत्रमाजगत्तमुदकं तय हन्ते समिहितमासीत् ।)

राजा—मृण्मस्तावत् ।

शकुन्तला—तवजल सो मे पुतकिवयो दीहापङ्को खाम निमबोदयो उवट्ठिथो । तुए अयं दाथ पदम दिग्गहं ति अणुप्रमिण्णं उवच्छ्रदिथो उअएणु । एउए दे अपरिचमाओ हत्यभास उयगदो । पण्णा तस्सि एव्व मए गहिदे सन्तिरेण्णं किंओ पण्णो । तद्वा तुम इत्थं पण्हिदो सि । सण्को सगग्गेसु पिस्सतिदि । नुवेवि एव्व भारणुमासि । (तस्मिन् स मे पुनश्चतको दीर्घापाङ्को नाम मृषघोतक उपस्थित । त्वया मय सायत्नयम विपरित्यक्तकम्पिनी-पञ्चन्दित उदकेन । न पुनस्ते वयिरिचयाद्वस्ताभ्यासमुपपत् । पश्चात्तस्मिन्नेव मया गृहीते सन्तिरेण्णं कृतं प्रणयम् । सदा त्वमिरयं प्रहसितोऽसि । सव सगग्गेषु किञ्चित्ति । शाक्यभारण्यवाविति ।)

राजा—एवमादिभिरात्मकार्यनिवर्तिनीनामवृत्तमयथाऽपुमिराकृत्यते विप्रमिण्णम् ।

गौतमी—सहाभाष त्वं अहन्ति एव्व अन्तिहु । तवोवणुसवदिमदो अणुभिण्णो अयं बाणो कइवयस्स । (महाभाग माहस्येव मन्त्रयितुम् । तपोवनसवपितोऽनभिज्ञोऽयं जन कृतवश्यम् ।)

राजा—सापत्तपुदे ।

स्त्रीणामशिक्षितपदुत्वममानुषीषु संदृश्यते स्मिन्नु याः प्रतिगोघवत्यः ।

प्रागन्तरिचगमनात्स्वमपत्यजातमन्यैर्द्विजैः परमृताः सन्तु पोषयन्ति ॥ २२ ॥

शकुन्तला—आपको स्मरण होगा कि एक दिन आप नयमालिवावे कुञ्जमें अपने हाथम पासीसे भरा कमलके पत्तोंका पोना लिए हुए थे ।

राजा—बहुतीं पलिए । मैं सब भुन रहा हूँ ।

शकुन्तला—इतनेमे ही वहाँ मेरा पुतके समान पाता हुआ दीर्घापांश नामका मृष दोना भी था पहुँचा । आपने उसपर दया करके कहा—पहले इसे जब भी लेने दो । यह कहकर आप उठे जल पिलाने लगे । पर परिचित न होनेके कारण वह आपसे पास नया ही नहीं । तब मैंने आपसे हाथसे दोना ले लिया और वह मेरे हाथसे जल पीने लगा । उस समय आपने ईँसकर कहा था कि अपने सबे-सम्बन्धियोंकी सभी पहचानते हैं । तुम दोनों ही बनवासी ही न ।

राजा—अपना काम साधनेवासी स्त्रियोंकी ऐसी झूठी और भीठी-भीठी बातोंम कामी शोध हो फैलते हैं । सबझी ।

गौतमी—महाराज ! आपकी ऐसी बातें नहीं कहनी चाहिये । तपोवनमें पत्नी हुई क्या भला सत्त वतकी बातें क्या जाने ।

राजा—बूढ़ी तस्मिन्नीजो ! जो मानवी स्त्रियाँ नहीं हैं वे भी बिना शिक्षा पड़ाए बड़ो पतुर हो जाती हैं फिर इन सबझत्तासी स्त्रियोंका तो पूछना ही क्या । जानती हो ! जब-तक कोमलके बच्चे उठना नहीं सीख जाते तबतक वह दूसरे पथियोंसे ही उनका पालन कराती हैं ॥ २२ ॥

शकुन्तला—[सरोपम्] अलखन ! अतलो हिमप्राणुमारोण वेवतति । को दासि
अण्णो धम्मस्सुत्तुपपवेत्तिसो तिसुच्छप्पणकुबोवमस्स तत्र अणुकिदिं पठिबवित्तादि ।
अनार्य ! आतानो हृदयानुमानेन प्रेक्षसे । क इदानीमन्यो धर्मकञ्जुत्तप्रवेदिनस्तृणच्छन्नरूपोप-
पद्य तवानुक्तिं प्रतिपत्त्यने ।]

राजा—[आत्मधत्तम्] संक्षिप्यबुद्धि मां कुर्वन्नकंतव इवास्याः कोपी तप्यते । तथा
हृदया—

मय्येव विस्मरणादास्यचित्तवृत्तौ वृत्तं रहः प्रणयमश्रुतिपद्यमाने ।
भेदाद्भ्रुवो कृदित्थयोरतिलोहिताच्या भग्नं शरामनमिवातिरूपा स्मरस्य ॥ २३ ॥

[प्रकाशम्] भजे श्रियते दुप्यन्तस्यस्य चरितम् । तयापोदं न सज्जये ।

शकुन्तला—मुट्टु बाध अत्त सत्तद्धन्वधारिणी निदम्हि जा अह् इमस्स पुत्तवंसम्पच्चण्ण
मुहमहणो हिमपट्टिअविसम्मा हृदयवभास उवपसा । (मुट्टु खावदण स्वच्छन्दवारिणी कृतास्मि
याअहमस्य पुत्तवसप्रसवयेन मुत्तमपोहं दयस्थितवियस्य हस्ताभ्याममुपपत्ता । [इति पदान्तेन
मुत्तमावृत्त्य रोषिति ।

शाङ्कर्य—इत्यमात्मवृत्तं प्रतिहृतं चापलं बहुति ।

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्मगतं रहः ।

अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥ २४ ॥

शकुन्तला—[शोषसे] अनार्य ! तुम सबके हृदयको घापने ही हृदयके समान छोटा
समझते हो । मुझे छोड़कर और कोन ऐसा नीच होगा जो घाव-पूतसे ढँके हुए कुर्से
समान धर्मका डोंग रखकर ऐसा लोटा बाम कर सके ।

राजा—[मन ही मन] इसके शोषसे सचाई दिखाई पड़ रही है, इसीलिये मेरा मन
और भी सन्नेहमें पड़ता जा रहा है । ठीक स्मरण न आनेसे अनेकमें किए हुए प्रेमकी जो
मैंने इतनी कठोरतासे अस्वीकार कर दिया है, उसपर लाख-लाख धर्मि करके अत्यन्त
शोषसे शकुन्तलामें जो नीहें खड़ा भी हैं उन्होंने इस समय कामदेवके अनुपपत्ती की दो टूक
कर दासा है । ॥ २३ ॥ [प्रकट] भजे ! दुप्यन्तके बामोको सारा ससार जानता है । पर ऐसी
यात ही आज्ञातक नहीं मुनी गई ।

शकुन्तला—तुमने ठीक ही किया जो मुझे कुबानी स्त्री बना दासा, क्योंकि जेवें तुमके
पोसेमें भाकर ऐसे नीचके हाथमें जा पड़ी जिसके मुँहमें मधु और हृदयमें विष भरा हुआ
है । [आँगलसे मुह ढँककर रोने लगती है ।]

शाङ्कर्य—बिना सोचे-समझे जो काम किया जाता है उसमें ऐसा ही दुःख मिला करता
है । इसलिये गुप्त प्रेम बहुत खोज-विचारकर करना चाहिये क्योंकि बिना जाने-बूझे स्वभाव-
वालेके हाथ जो मित्रता की जाती है वह एव न एक दिन शत्रुता बनकर ही रहती
है ॥ २४ ॥

राजा—प्रिय भोः किमत्रभवतीप्रत्ययादेवास्मान्तं धृतवीषाक्षरेण विप्रसुतः ।

शाङ्करवः—[सासृज्य] क्षुतं भवन्निरुधरोत्तरम् ।

आजन्मनः शास्त्रमशिक्षितो यस्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य ।

परातिसंधानमधीयते यैर्विद्येति ते सन्तु क्लृप्तात्तवाचः ॥ २५ ॥

राजा—भोः सत्यवादिन् प्रभुपुपगतं तावदस्माभिरवम् । किं पुनरिमां प्रतिबंधाम लभ्यते ।

शाङ्करवः—विनिपातः ।

राजा—विनिपातः वीरवैः प्रार्थयत इति न दृश्येत् ।

शास्त्रतः—शाङ्करव ! किमुत्तरेण । प्रमुष्टितो गुरोः संदेशः । प्रतिनिपतमिहे पश्य ।

[राजानं प्रति]—

तदेषा भवतः कान्ता रयव वैनं गृहाण वा ।

उपपन्ना हि दारेषु प्रभृता सर्वतोमुखी ॥ २६ ॥

गीतमि ! गच्छाप्रतः ।

[इति प्रस्थिताः ।]

शकुन्तला—कहं इमिहा किदवेण विप्रलब्धिम् । मुझे वि मं परिष्वस्यम् । [कपमनेन कितवेन विप्रलब्धास्तिम् । भूयमपि मा परित्यज्यम् ।] [इत्यनुप्रतिष्ठते ।]

गीतमी—[स्विच्छा] पञ्च सङ्करव । अस्मिन्निधि इमं वधु सो कवणपरिवेष्टिनी

राजा—मुनिए तो ! इस देवीकी बातका निश्वास करके प्राप उठती-सीधी बातें कह-कहकर हमपर क्यों दोष लगा रहे हैं ?

शाङ्करव—[भयने छाथिपोंसे ढोवते] आपने सुनी इनकी उल्टी बातें । जिसने जगसे लेकर भव तक छलका नाम भी न सुना हो, उसकी बातें झूठ समझी जायें और जिह्मीने दूसरोंकी धोखा देनेकी चालें बिछाके समान सीसी हो, वे सत्यवादी समझे जायें ॥ २५ ॥

राजा—प्रच्छा सत्यवादीजी ! भाग लीजिए, हम ऐसे हो हैं । पर यह तो बताइए कि इसे छलकर हमें मिल क्या जायगा ?

शाङ्करव—पतन ।

राजा—मैं इस बातकी नहीं मानता कि भुलवंधी पतनकी ओर जाना चाहेंगे ।

शास्त्रतः—शाङ्करव ! इस कहा-सुनीसे लाभ क्या है । भुलवंधीका संदेश हम इन्हें दे हो चुके । चलो, भव छोट चला जाए । [राजासे] राजव ! यह आपकी पत्नी है । इसे बाहे रखिए, बाहे निकालिए । क्योंकि पतिका अपनी स्त्रियोंपर गुरा अधिकार होता है ॥ २६ ॥ चलो गीतमी, प्राप्ति-प्राप्ति चलो । [चसते हैं ।]

शकुन्तला—एक भूतने तो मुझे ख्वा हो है, भव क्या प्राप क्षीय भी मुझे छोड़कर चले जा रहे हैं ? [उनके पीछे-पीछे जाती है ।]

गीतमी—[खड़ी होकर] वरम शाङ्करव ! यह शकुन्तला रोती हुई हम लोगों के पीछे-

सजन्दता । पञ्चादेशपरुषे भक्तुहि किं वा मे पुत्रिमा करोतु । [वत्स शाङ्ग'रव ! द्रनुगच्छतीमं
तलु नः कक्षपरिदेविनी प्रकुन्तता । प्रत्यादेशपरुषे भर्तोरि किं वा मे पुत्रिका करोतु ।]

शाङ्ग'रवः—[सरोपं निवृत्त्य] किं पुरोभाषे स्वातन्त्र्यमवलम्बसे ।

[शकुन्तला भीता वेष्टते]

शाङ्ग'रवः - शकुन्तले ।

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा त्वमसि किं पितुरुत्कुलया ।

अथ तु चेत्सि शुचित्रतमात्मनः पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् ॥ २७ ॥

तिष्ठ । सापयामो वयम् ।

राजा—भोस्तपस्विन् किमन्नमवर्तो विप्रसमसे ।

कुमुदान्पेव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्पेव ।

वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः ॥ २८ ॥

शाङ्ग'रवः—यथा तु पूर्ववृत्तमन्यसङ्गाद्विस्मृतो भवतिस्तथा कथमयमभीष्टः ।

राजा—भवन्तमेवात्र पुस्ताप्यं पृच्छामि ।

मूढः स्यामहमेवा ॥ वदेन्मिथ्येति संशये ।

दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शापांशुलः ॥ २९ ॥

पुरोहितः—[विचार्य] यदि तावदेवं क्रियताम् ।

पीछे बसी मा. रही है । बतानी, अब ऐसे निर्दोषी ठुकराई हुई मेरी बचो भला
क्या माय ?

शाङ्ग'रव—[झोपटे लोटकर] गवौरी दुष्टे ! क्या तू अपनी सवधानी करना चाहती
है । [शकुन्तला भयसे कांप उठती है ।] सुन शकुन्तला ! यदि राजाको बात सत्य है तो तुझ
जैसी कुल-वर्जितिका पिताके घर कोई काम नहीं है और यदि तू अपनीकी पवित्र सम्पत्ती
है तो तुझे बाही बनकर भी अपने पतिके ही घरमें रहना चाहिए ॥ २७ ॥ अब यही रहे,
हम पावे हैं ।

राजा—तपस्वी ! आप इसे क्यों झूठ-झूठ बोलते डाल रहे हैं—क्योंकि जैसे बग़दा
बैचल पुगुटोंकी ही सिखाता है और सूर्य केवस कमलकी ही सिखाता है वैसे ही जितेन्द्रिय
मोग भी पराई स्त्रीकी छूनेकी इच्छातक नहीं करते ॥ २८ ॥

शाङ्ग'रव—जब तुम अपनी दूसरी रानियोंके पास आकर अपनी पिछली बात भूल
उरते हो तब तुम्हें अथर्वसे क्या डर है ।

राजा—[पुरोहितके] अब मैं आपसे हो पूछता हूँ कि ऐसी दुर्बिधायी मैं क्या करूँ क्योंकि
या तो मैं भूल गया हूँ या ये झूठ कह रहे रहो हैं । अब मैं अपनी पत्नीको छोड़नेका पाप
करूँ या पराई स्त्रीकी छूनेका पाप गिरपर लूँ ॥ २९ ॥

पुरोहित—[बोचकर] अब ऐसी दुर्बिधा है तो आप एक काम कीजिए ।

राजा—धनशास्तु भां भवान् ।

पुरोहितः—अत्रभवतो तावदाप्रसयादस्मदगृहे तिष्ठतु । कृत इवमुच्यत इति चेत् । त्वं साधुभिर्दृष्टः प्रदमनेष चक्रवर्तिनं पुत्रं जनयिष्यसीति । ता चेन्मुनिदोहित्रस्तस्तशशोपपन्नो भविष्यति अभिनन्द्य शुद्धान्तमेनां प्रवेशयिष्यसि । विषये ॥ पितुरस्याः समोपनयनमवस्थितमेव ।

राजा—यथा शुभम्बो रोचते ।

पुरोहितः—वस्ते ! अनुमध्य माम् ।

शकुन्तला—भगवति वसुहे ! देहि मे विवरं । (भगवति वसुहे ! देहि मे विवरम्) [इति वदती प्रसिता । निष्कान्ता सह पुरोधसा तपस्विभिश्च ।]

[राजा सावध्यवहितस्मृतिः शकुन्तलावस्येव चिन्तयति ।]

[नेपथ्ये]

आश्रयं माश्रयम् ।

राजा—[माकर्णं] किं नु तल्लु स्वाम् ।

[प्रविश्य]

पुरोहितः—[उचिस्मयम्] देव अमुभुतं अल्लु संवृतम् ।

राजा—किञ्च ।

राजा—हाँ, हाँ, वतसाइए ।

पुरोहित—पुत्र उत्पन्न होनेके समयतक मे मेरे घरपर रहे । आप पूछे क्यों ? तो इसलिये कि आपकी ऋपियोने पहले ही आशीर्वाद दे दिया है कि आपके चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न होगा । यदि कब मुनिके मातोमे चक्रवर्तिके लक्षण मिल जायें तब तो इन्हे आश्वरके साथ अनिवासमे रख लीजिएगा और यदि लक्षण न मिलें तो इन्हे इनके पिताके पास भेज दिया जायगा ।

राजा—जैसा मुझी ठीक समझें ।

पुरोहित—वसो ! आओ मेरे साथ वसी आओ ।

शकुन्तला—भगवती वसुधारे ! तू कह जा और मुझे सीखे से मे ।

[रीती हुई शकुन्तला पुरोहित और ऋपियोके पीछे पीछे चली जाती है ।]

[शापके कारण भूला हुआ राजा शकुन्तलाके सम्बन्धमें विचार करता है ।]

[नेपथ्यमें]

आश्रयं है ! आश्रयं है !

राजा—[सुनते हुए] धरे, क्या हुआ !

[पुरोहित का प्रवेश]

पुरोहित—[आश्रयंसे] महाराज, बड़े आश्रयंकी बात हो गई है ।

राजा—क्या हुआ ?

पुरोहितः—देव ! परावृत्तेषु कण्वशिष्येषु—

सा निन्दन्तीं स्वानि माग्यानि बाला बाह्वक्षेपं क्रन्दितुं च प्रवृत्ता ।

राजा—किं च ।

पुरोहितः—

स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारोदुत्तिष्यैनां ज्योतिरेकं जगाम ॥ ३० ॥

[सर्वे विस्मय रूपान्ति ।]

राजा—भगवद् प्रापयि सोऽस्माभिरर्थः प्रत्यादिष्ट एव । किं वृथा तर्कणान्विष्यते ।

विश्वामित्र उवाच ।

पुरोहितः—[विस्मय] विश्वप्रभ । [इति निष्क्रान्तः ।]

राजा—वेदवती ! पर्याकुलोग्नि । शयनश्रुतिमार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—इहो इहो देवो । (इह इहो देव ।) [इति प्रस्थिता ।]

राजा—कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम् ।

बलवत् दयमानं प्रत्याययतीव मे हृदयम् ॥ ३१ ॥

[इति निष्क्रान्तः सर्वे ।]

इति पञ्चमोऽङ्कः ।

पुरोहितः—महाराज ! कण्वके शिष्योके पक्षे जानेपर यह ऋषिकन्या, ज्यो ही अपने मायवो कोसती हुई बहि गसर कर रोने लगी—

राजा—तब क्या हुआ ?

पुरोहितः—यही स्त्रीके जेसो एक ज्योति आई थीर उसे अपनी गोदमे बठाकर अप्सरा-सीरकी सीर पती गई ॥३०॥

[सब आश्चर्य प्रवट करने हैं ।]

राजा—हमने तो उसे पहले ही छोड़ दिया है इसलिये उसपर सोचना-विचारना व्यर्थ है । अब आप भी जाकर विश्राम करें ।

पुरोहितः—[देनकर] महाराजकी जय हो । [जाता है ।]

राजा—वेदवती ! मैं कुछ धनमना सा हो गया हूँ । मुझे शयनपर पहुँचा दो तो ।

प्रतीहारी—इपरसे आइए महाराज, इपरसे । [पसती है ।]

राजा—यद्यपि बिदाहकी शुभ न होनेसे मैंने उसका भत्तन्त तिरस्कार कर दिया है फिर भी मेरा ध्यान बचकता हुआ हृदय न जाने क्यों रह-रह कर उसकी बातोंमें विस्वास करनेकी मचल रहा है ॥३१॥

[सब चले जाते हैं ।]

पाँचवां अंक समाप्त ।

षष्ठोऽङ्कः

[ततः प्रविष्टति नागरिक एवाचः पञ्चाङ्गद्वयं पुष्पमादाय रक्षितो च ।]

रक्षितो—[वाचयित्वा] भले कुम्भीतथा कहेहि कहि सुए एउ मणिबन्धन^१ किमलामहेए सामकोए अंगुलीअए शमाआदिह । (धरे कुम्भीरक वचन कुन त्थयैतन्मणिबन्धनोकीछांनमकेय राजकीयमंगुलीयक समासादितथ ।)

पुष्पः—[भीतिनाटितकेन] पशौदन्तु भावमिहो । हने छ ईदियकम्मकासी । (प्रपौदन्तु भावमिध्या अहं नेहस कर्मकारी ।)

प्रथमः—कि शोइछे बगहरोति कलिभ रज्जा पडिगहे विण्णे । (कि शोभनो प्राह्मण इति कलमित्वा राजा प्रतिग्रहो दत्त ।)

पुष्पः—सुएअ रारिए । हने बङ्गावशासन्मन्तरासवासी बीबले । (नृगुतेवानोम् । अहं राजावशासन्मन्तरासवासी बीवरः ।)

द्वितीयः—पाइचल । कि अहेहि जावी पुच्छिआ । (पाटचर । किमस्माभिर्जाति पृष्टा ।)

इवाचः—सूचअ कहेहु बाब्ब अछुक्रमेए । सा छं अन्तरा पडिबन्धह । (सूचक कथयतु सर्वमनुक्रमेण । नैतममहारा प्रतिदन्धय ।)

तृतीयः—ज मायुते भासवेवि । कहेहि । (यदायुक्त याज्ञाचर्यति । कथय ।)

पुष्पः—अहंके आनुगाताबिहि मच्छयभणोयाएहि कुट्टुअभललं कलेमि । (अहं जासोदपामा-दिभिर्मोचयगनोपायैः कुट्टुअवरण करोमि ।)

पष्ठ अङ्क

[राजाका साक्षात् अगर-रक्षक धीरे उसके पीछे-पीछे दो रक्षकसे एक पुष्पकी बाँधे हुए प्रवेश करते हैं ।]

दोनों—[बन्दीको पीटते हुए] बीस रे बीस ! यह राजाके नामवासी रतन-नयी सौंप्रौड़ी तुझे कहाँसे हाथ लगी ?

पुष्प—[हानेका नाट्य करता हुआ] क्या करो महाराज । मैं ऐसा काम कभी नहीं करता । पहली—तो क्या तुम्हें कोई सुपात्र ब्राह्मण समझकर राजासे यह राखमे दे जाती है ।

पुष्प—सुनिए छे । मैं सक्ताबतार मौजेके पास रहनेवाला एक मछुआ हूँ ।

दूसरा—अरे बीस ! हमने क्या तेरी जाति पूछी थी ?

दयाल—सूचक ! इसे सब धातों छीनके कहने दो, बीचमे दोनो मत ।

दोनों—जैसी आपकी आज्ञा । हाँ, मत्ता रे ।

पुष्प—मैं जाल, कंटिया और बसो डालकर मछलियों कोताया करता हूँ और उसीसे अपने बाल-बच्चोंका पेट पासता हूँ ।

ध्यातः—[विहस्य] विशुद्धो हाणि आजीवो (विशुद्ध इदानीमाजीवः ।)

पुरुषः—भट्टा मा एवम् भय ।

राहजे किल जे विधिन्दिए ए हु दे कम्म विवज्जणीअए ।

पशुमालसकम्मदालुणे अणुकम्पामिदु एव शोचिए ॥१॥

(भर्तः मैवम् भय ।)

राहजं किल यदिनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम् ।

पशुमारण्यकर्मदारुणोऽणुकम्पागृह्यरेव श्रोत्रियः ॥

ध्यातः—तबो तबो (ततस्ततः ।)

पुरुषः—एकदिन रक्षसे खण्डशो सोरहितप्रच्छेद अए कपिदे । जाव तइत उदलभग्नले एदं लक्ष्मणशुलं शृंगुलीप्रभं देविसस्य पण्ड्या प्रहृष्टो जे विवकप्राप्त दंशप्रणते गहिबे भायमिहोहि । मालेहि वा कुञ्चिबेहि वा । प्रभं जे साममवृत्तान्ते । (एकस्मिन्निवसे खण्डशो रोहितमस्त्यो नया कश्चित्तो यावत् तत्सोदराम्यन्तर इदं रत्नभासुरमङ्गुलीयकं दृष्ट्वा पश्चादहं तस्य विक्रयार्थं दर्शयाम्युहीतो भावमिदं । मारयत वा मुञ्चत वा । प्रथमस्यागमवृत्तान्तः ।)

ध्यातः—जाह्नप वित्तगन्धो गोदाधो मञ्जवन्धो एव्य सिस्संसभं । शृंगुलीप्रभवंतणं जे विमरितितवधं । रामजलं एव्य गण्डायमो । (जानुक वित्तगन्धो गोदाधो मत्स्यबन्ध एव निःसंगायम् । मङ्गुलीयकदर्शनमस्य विमर्शयितव्यम् । राजकुलमेव गण्डायमः ।)

रक्षिणो—तह । गच्छ मते गण्डनेधम (तथा । गच्छ परे गण्डभेदक ।)

[सब परिक्रानन्ति ।]

ध्यातः—[हँसकर] बड़ा काम ले रक्खा है ।

पुरुष—ऐसा न कहिए, स्वामी !—जिस जातिको भगवान्ने जो घुरा-मला काम दे दिया है, वह छोड़ा मोड़े ही जाता है । देखिए पशुपोको मारना है तो बड़ा घुरा काम, पर बड़े-बड़े दयावादु घोर देव जाननेवाले आहूण भी मत्तके लिये पशुपोको मारते ही हैं ॥१॥

ध्यातः—मच्छा, मच्छा माये बला क्या हुआ ?

पुरुष—एक दिन ज्योही मैं एक रोहू मछली काट रहा था ज्योही उसमें यह रत्न-जड़ी पमबीली भंगूठी दिखाई पड़ गई । उसे बेचनेके लिये नाकर मैं दिखावा ही रहा था कि मापने मुझे बाप लिया । पड़े तो इस भंगूठीके मिलनेकी क्या है । अब आहो माप मुझे मारिए, चाहें छोड़िए ।

ध्यातः—जानुव । इसमें तो शन्देह नहीं कि यह गोह धानेवाला मछुमा ही है क्योंकि इसके चरीरमें कच्चे गोतरी दुर्गन्ध था रही है । यह जो भंगूठी मिलनेकी बात बता रहा है उसकी पतकर ठीक ठीक जाँच कर लेनी चाहिए । इसलिये चलो, राजाके पास बसा जाय ।

दोनों - बहुत मच्छा । रे गँडाटे ! पत ।

[उब घूमते हैं ।]

श्यालः—सूत्रम ! इमं गोपुरद्वारे अन्धमत्ता पङ्क्तिमात्रं ज्ञान इमं संशुलीममं जहाय-
माणं भट्टिहो शिपेदिम तवो सासलं पङ्क्तिममं शिपुमामि । (सूत्रक ! इमं गोपुरद्वारेऽन्धमत्ता
प्रतिपालयतं यावदिदमद्भुलीयकं यथाऽऽमन अर्हनिवेद्य ततः प्राप्तं प्रतीक्ष्य निष्क्रामि ।)

उमो—पवित्रं अमुते शर्मिष्यामस्त । (प्रविशत्वामुता स्वामिप्रसादाय ।)

[इति निष्क्रान्तः श्यालः ।]

प्रथमः—आलुप्र ! विलासवि श्नु आमुते । (जानुक ! चिरायते सत्वामुतः ।)

द्वितीयः—एषं प्रवशन्तेवशम्पणीमा ताम्राणो । (नन्ववसरोपसर्पणीया राजानः ।)

प्रथमः—आलुप्र ! कुलमिति मे हृत्वा इमश्च वृहस्त शुभला पितृदुम् । (जानुक ! प्रस्फुरतो
मम हस्तावस्य वधस्य सुमनसः पितृदुम् [इति पुष्पं निविशति ।]

पुष्पः—एष अलुहृदि भावे अयानलमासलं बबिहु । (नाहृति भावोऽकारणमारणो भवितुम् ।)

द्वितीयः—[पितृपय] एते सम्हालं जामो पतङ्गये कामजात्रलं पङ्क्तिममं इवोमुहे
वैपलीमदि । गिद्धवली भविष्यति, तुलो मुहं वा देविचरति । (एष वो स्वामो पत्रहृत्तो
राजघासनं प्रतीक्षेतीमुलो इवयते । पुष्पवतिर्भविष्यति शुचो मुल वा द्रक्ष्यति ।)

[प्रविश्य]

श्यालः—सूत्रम मुञ्जेतु ऐतो आतोप्रजीवो । उववणो श्नु संशुलीममस्य आममो ।
(सूत्रक ! मुच्यतामिष आतोप्रजीवी उपपन्नः सत्वामुलीयकस्वागमः ।)

सूत्रकः—अहं आमुते भलादि । यथाऽऽमुतो भवति ।)

श्याल—सूत्रक ! जबतक मैं महाराजकी जूँगी मिलनेका समाचार सुनाकर और
उनकी आज्ञा लेकर सौद न खाऊँ तबतक तुम दोनों नगरके फाटकपर खड़ावकर इसकी
बीकरी करना ।

दोनों—हाँ, हाँ, जाइए जाइए, स्वामीकी कृपा पाइए ।

[श्याल जाता है ।]

पहला—जानुक ! बड़ी देर लगा दी उन्होंने तो ।

दूसरा—धरे भाई ! राजाके पास सबसुर देखकर ही तो पहुँचा जाता है ।

पहला—जानुक ! इसे मारनेके लिये लाख फुलोंकी भाजा पहनानेको मेरे हाथ बड़े छुजला
रहे हैं । [मसुएकी ओर संकेत करता है ।]

पुष्प—भाई, बिना पाउके मुझे क्यों मारने पर उठाऊ ही रहे ही ?

दूसरा—[देखकर] अहं देखो ! हमारे स्वामी हाथमें राजाका आज्ञा-पत्र लिए चले जा
रहे हैं । अब या तो तु गिद्धोका भोजन बनेगा या कुत्तोसे भोजन जायगा ।

[श्यालका प्रवेश]

श्याल—सूत्रक ! छोड़ दो इस मसुएको । जूँगी मिलनेका ठीक विवरण मिल गया ।

सूत्रक—जैसी स्वामीकी आज्ञा ।

द्वितीय—एसे जमनाबाल पवित्रिध पडिरिगुते । (एष यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृत्तः ।)
[इमिं पुरुषं परिमुक्तबन्धने करोमि ।]

पुरुषः—[दयालं प्रणम्य] भट्टा ! ग्रह कीलिये मे आजीवे । (भर्तुः ! अथ कीदृशो मे आजीवे ।)

दयालः—एसे भट्टिया घंगुलीप्रभमुस्तसन्मिरो पसावो यि बाविदो । (एष भगवद्गु-
डोपकमूल्यसंमितः प्रसादोऽपि दायितः ।) [इति पुरुषाय स्वं प्रयच्छति ।]

पुरुषः—[सप्रणामं प्रतिश्राव्य] भट्टा ! अणुगहीदस्मि । (भर्तुः ! अणुगहीदोऽस्मि ।)
सूचकः—एसे एखम अनुगहे जे गुलावो अबदातिअ हृत्पिकम्बे पडिदुविदे । (एष
नानानुपहो यच्छ्लादवसायं हृत्पिकम्बे प्रतिष्ठापितः ।)

जानुकः—आनुत्त ! पतिवोशं कहेहि तेख घंगुलप्रण ए भट्टियो जन्मवेख होख्यं ।
(आनुत्त परितोषं कथ्य तेनाङ्गुलीयकेन गर्भः संमतेन अनित्यम् ।)

दयालः—ए तस्ति महाबह् रवरं भट्टियो बहुमवं तितककेमि । तस्स बीरणेए भट्टियो
अभिभवो अखो सुमराविदो । मुहुत्तमं पकिरिपभीरो वि पजुस्सुअणप्रणो प्राप्ति । (त
सस्मिन्महाहं रत्नं महर्बहुमसमित तर्कवानि । तस्य वक्षनेन मर्तुरभिमतो जनस्मारितः । मुहुत्तं
प्रकृतिगम्भीरोऽपि पर्पुस्सुकानयन आसीत् ।)

सूचकः—कैविबं एखम आनुत्तेख । (सेवितं नामानुत्तेन ।)

जानुकः—ए भट्टाहि इमअ कए भट्टिआभत्तुलोति । (अनु भण अस्स हते मात्थियक-
भत्तुरिति ।) [इति पुरुषमसूचया पश्यति ।]

दूतरा—मरे, यह तो यमराजके घर पहुँचकर सीट घाया ।

[उसका बन्धन छीसता है ।]

पुरुष—[दयालको प्रणाम करके] कहिए स्वामी ! मेरा काम कैसा निकसा ?

दयाल—ले ! महाराजने इस भँगूठीके मोलके बराबर धन भी तुम्हें प्रसादमें दिया है ।

[मण्डूकी धन देता है ।]

पुरुष—[हाथ जोड़कर धन लेता है ।] बड़ी दया है भावकी, स्वामी !

सूचक—एकमुद दया तो इसीका नाम है कि धूसीसे उठारकर हाथीकी पीठपर
बैठा दिया है ।

जानुक—स्वामी ! इसे प्रसाद नहीं, पारितोषिक कहिए । क्योंकि धान पड़ता है कि यह
भँगूठी स्वामीको बड़ी अच्छी जैची है ।

दयाल—इस भँगूठीके रखीके नजरख महाराजने लक्ष्मी पादर नहीं किया वरन् उसे
देखते ही उन्हें अपने किसी प्यारेका स्मरण हो आया । क्योंकि यद्यपि स्वामी स्वभावसे
ही बड़े गम्भीर है फिर भी भँगूठीको देखकर वे सोचो देखे बिने धनमने-से हो गए थे ।

सूचक—तब तो सपष्ट धानने राजाका बड़ा काम किया है ।

जानुक—वो कहो कि इस मण्डूके राजाका नाम दिया है । [मण्डूकी ईर्ष्याकी दृष्टिसे
देखता है ।]

पुष्पः—महाराज ! इसी सड़ चुम्हारणं तुमखोमुत्सं होतु । (भट्टारक ! इतोअं मुष्मार्कं तुमखो-
मूत्सं भवतु ।)

जानुकः—एसके जुजई । (एतावत्तुज्यते ।)

दयालः—धीवर ! महत्तरो तुमं विषयधरसधो वालि मे संवुतो । कादम्बरीसविषधं
धम्हारणं पदमसोहिबं इच्छोअवि । ता सोविद्धाएणं एव्य गच्छामो । (धीवर ! महत्तरत्तवं
प्रियदयस्यक इदानीं मे संवृत्तः कादम्बरीसाक्षिकमस्माकं प्रपमसोहृदमिष्यते । तच्छोविद्धकणएणमेव
गच्छामः ।)

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।]

॥ प्रवेशकः ॥

[पद्यः प्रविशत्याकाशवागेन सामुपति साम्प्रहारः ।]

सामुपती—एवम्बुद्धिं नए वक्काअएव्वसएव्वं अच्चरातिरवत्तएव्वं जाव साहुज-
एव्वत अविसेधकासो सि । एव्वं इमस्स राएसिणो उदत्तं वक्कवज्जोकरिस्सं । मेव्वमात्तंअयेण
सरीरभूषा मे सज्जयता । ताए म इडिडुलिमिर्त्तं मादिट्टपूव्वहि । [समस्तादवलोचय] कि
ए वत्तु उल्लुल्लुधै वि एव्वअवारम्भं विम रामवत्तं सीत्तइ । अरिय मे विहुवो पणिएाएण
सम्भं परिणएावुं । कि तु सहीए आचरो मए भाएइव्वय होतु । इमारणं एव्व उज्जालपासि-
भाएणं तिरवत्तरिणीपडिच्छएणा पारसवत्तिणी भविष उवत्तहिस्सं । (निर्बलितं मया पयोध-
निर्बलनीयमपारस्त्रीयसाधिव्यं वापरासायुक्तनगानिवेककात् इति । साम्प्रतगत्स्य राजपदेदत्तं प्रत्यक्षी-
करिष्यामि । मेवकाद्यम्भवेन सरीरभूता मे लकुम्भता । तथा च इडिडुनिमित्तमादिट्टपूव्वोअस्मि । कि
तु वत्तु अतूत्तवेअपि निहत्तवार्म्भविध राजकुल इत्यते । अरिय मे विमवः प्रणिपावेव सर्वं परिशानुम् ।

मधुमा—स्वाधी ! इनमे से माया आप अपने पान-फूलके लिये ले लीजिए ।

जानुक—यह तो इनका पद ही है ।

दयाल—मधुए ! आजसे तुम हमारे बड़े प्यारे मित्र हो गए । चलो, हम-दुम चलें और
मदिराके मागे अपनी विभता बचरी कर लें । चलो, मदिराघरमें चला जाय ।

[सब जाते हैं ।]

॥ प्रवेशकः ॥

[आकाशमें विमानपर चढ़े हुई सामुपती अप्यराक प्रवेशः ।]

सामुपती—सामुपनोके राजाके समय अप्यरातीबकी देख-भात करनेकी आज मेरी
कारी थी । वह काम तो कर चुकी । चर्खू धब चलकर आपकी सालोंसे उस राजपिकी
दशा तो देख लू क्योंकि मेनकाकी कन्या होनेके नाते समुज्जवा भी मेरी कन्या ही हुई ।
उसी मेनकाने अपनी कन्याके लिये कुछ उपाय करनेको मुझे बहुत पहलेसे ही कह रखा
है । [चारो ओर देखकर] अरे ! अस्तके उत्सवका दिन आ पहुँचा और यहाँ राज-मगवनों

किं तु सख्या धादरोपया मानयितव्यः । भवतु धनयोरेवोद्यानपात्रिकयोस्तिरस्करणी प्रतिच्छन्नाच्छन्ना
पात्रं वतिनी भूखोपलप्स्ये ।) [इति नाट्येनावतीर्यस्थिता ।]

[सतः प्रविशति चूतानुरमथसोकयन्ती चेतो । अपरा च पृष्ठतस्तरयाः ।]

प्रथमा—

आतम्महरिअपण्डुर जीविदसर्वं वसन्तमासस्स ।

दिट्ठो मि चूदकोरअ उदुमङ्गल तुमं पसाएमि ॥ २ ॥

[आताम्रहरितपाण्डुर जीवितसर्वं वसन्तमासस्य ।

दृष्टोऽस्ति चूतकोरकः शत्रुमङ्गल इवा प्रसादयामि ॥]

द्वितीया—गण्डुविण्णि किं एयादएणी मन्नेसि । (परभृतिके विमेषाकिकी मग्नपसे ।)

प्रथमा—मण्डुपरिण्णि चूदकलियं देविदस्य उन्नतिमा परण्डुदिआ होसि । (मण्डुकरिके चूत-
कलिका दृष्टोन्मत्ता परभृतिका भवति ।)

द्वितीया—[सहर्षं स्वरयोग्यम्] कहां उवड्हिदो महुमासो । (कथमुपस्थितो महुमासः ।)

प्रथमा—मण्डुपरिण्णि तव हाणि वासो एसो मदविग्गमगीवाए । (मण्डुकरिके तवेदानी काल
एव मदविभ्रमगीतानाम् ।)

द्वितीया—एहि अणसम्भ मं जाव अणपादिट्ठिआ भविअ चूदकलियं नेहिम्भ कामदे-
वण्णएणं करेमि । (सति अणसम्भस्य मा यावदणपादस्थिता भूत्वा चूतकलिकां पृष्टीत्वा कामदेवाचनं
करोमि ।)

एकदेन सम्राटा ! यद्यपि दिव्य दृष्टिसे मैं सब कुछ जान सकती हूँ, फिर भी अपनी सखीकी
याद तो रखनी ही होगी । मन्त्रा, तिरस्करिणी विद्यासे अपनेको छिपाकर इन मालिनीके
साध-साध बलकर दर्शाता सब समाचार लिए लेती है ।

[विमानसे उतरनेवा नाट्य करके नीचे खड़ी हो जाती है ।]

[भामकी बीर देखती हुई एक परिचारिका आती है । उसके पीछे दूसरी परिचारिका है ।]

पहली—हे वसन्त शत्रुदे जीवन सर्वस्व ! वसन्तके भग्न स्वरूप ! हे साल, हरे, पीले
रंगवाले बीर ! भान पहले-पहल तुम्हारा दर्शन हो रहा है । तुम हमपर प्रसन्न हो जाओ
जिससे हम सोनीवा वसन्त सुखसे मीते ॥२॥

दूसरी—भरी परभृतिवा (बीर) ! तु मनेले-मनेले क्यों क्रूर रही है ?

पहली—मण्डुकरिका (भौरी) ! भामकी बीर देखकर परभृतिवा (बीर) तो मतवाली
हो ही जाती है ।

दूसरी—[उत्प्राणसे भरी हुई सीधतसे पास जाती है] क्या वसन्त आ गया ?

पहली—मण्डुकरिका (भौरी) ! तेरे भी तो मस्तोने पीत मानेके ये ही दिन है ।

दूसरी—उली ! मुझे सफरा ये तो पञ्जोकि बस सटो होकर पुजाये लिये भामकी बीर
उतार नू ।

प्रथमा—जइ भम बि बलु अईं भन्धसुफतस्त । (यदि ममापि सत्त्ववर्माचर्चनफलस्य ।)

द्वितीय—अकहिये बि एवं संपन्नइ जदो एवई एव्य खो जीविदं बुधाद्विदं सरोरं ।
[सखीमवलम्ब्य स्थिता चूताकुरं गृह्णाति] अयं अम्भडिबुद्धो वि धुदण्यतवो एव्य बन्धसमञ्ज-
सुरभी होदि । [ददि कपोतहस्तकं कुरवा]—

तुमं सि मए चूदंकुर दिएसो कामस्म महिदधसुयस्स ।

पहियजखुवइलसखो पञ्चम्महिओ सरो दोही ॥ ३ ॥

(मरुपित्तोऽप्येतासंपद्यते मरु एकमेव नो जोजितम् द्विधा स्थित शरीरम् । मये मप्रतिबुद्धीऽपि
चूतमसवोऽथ बाधनमङ्कुराभिर्भवति ।

रयमसि मया चूताकुर ! दत्त-कामाय गृहीतधनुषे ।

पथिकजनपुत्रतिलदय-पञ्चाम्यधिकः शरीरं यव ॥)

[इति चूताकुरं क्षिपति ।]

[अविरमापरीक्षेपेण पुनितः]

मंजुकी—मा तावत् । अनामजे देवेन प्रतिपिडे बरगतोत्सवे त्यमात्रकलिकामङ्ग किमारभसे ।

वने—[मोते] पतोवहु अञ्जो । अम्भहोबत्याभो वरं । (प्रवीयत्वार्यः । मगृहीतार्यं
मावाम् ।)

पहली—पूजनका माया का मुझे भी मिले तो सहारा दूँ ।

दूसरी—यह तो बिना कहे ही मिला जाता क्योंकि हम तुम को ही शरीर और एक प्राण हैं ।
[सखीके सहारेसे आमकी और उतारती है ।] बाह ! यद्यपि धारी और खिल नहीं पाई है फिर भी
हालसे चौकड़े ही कैंसी सुगन्ध कटी पड़ रही है । [अञ्जली बांधकर] भरी आमकी मञ्जरी !
मैं तुम्हें धनुष-धारी कामदेवके लिये भेंट करती हूँ । परदेवसे गए हुए लोचोकी मुवली स्त्रियोको
काम-पीड़ा देनेके लिये तुम कामदेवके पाँचों बाखोमे सबसे अधिक फेंकी चल जाओ ॥३॥

[आमकी मञ्जरी बाल देती है ।]

[परदा झटककर कञ्जुकीका प्रवेश]

तृतीय—[स्तब्ध होकर] हे, हे ! यह क्या कर रही हो नासमझ छोकरीयो ! जब रावाने
इस वन बरगतीसब रोक दिया है तब तुम लोग आमकी मञ्जरीको क्यों खेड़े जा रही हो ?

चौथी—[डरी हुई-सी] क्षमा कीजिए भाव्य ! हमें इसका ज्ञान नहीं था ।

कंचुकी—न कित् खुतं युवाभ्यां यदासन्तिकस्तर्हभिरपि देवस्य दासर्न प्रमाणीकृतं तदाश्वदिभिः
पत्रिभिश्च । तपा हि—

चूतानां चिरनिर्गताऽपि कलिका वध्नाति स्वं रजः

संनद्धं यदपि स्थितं कुरवकं तत्कोरकावस्थया ।

कपटेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुँस्कोकिलानां हतं

शङ्के संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूषार्धकृष्टं शरम् ॥४॥

सानुमती—एतपि सदेहो । महापण्यहामो राणसी । (नास्ति सदेहः । महाप्रमादो राजपिः ।)

प्रथमा—अथ कति दिवहाइ अन्हामं मितावमुणा रट्टिएण भट्टिणीपाममूलं पेतिवाणं
एय अ एणो पमदवणस्स पातकण्ठं समपिण्ठं । ता पामन्नुमदाए अस्तुवपुग्गो अन्होहि एसो
वुत्तन्तो । (धार्यं ! कति दिवसान्यानयोमिमावमुणा रट्टिणेण भट्टिनीपादपूतप्रेपितयोः प्रथमं न
नो प्रमदवनस्य पालनकर्म समपितम् । तदागन्तुकृतपाञ्चतुपूर्वं प्रावाभ्यामेव वृत्तान्तः ।)

कंचुकी—अथयु । न पुनरेषं प्रवर्तितव्यम् ।

द्वितीया—अथ ! कोतूहलं खो । अइ इमिणा लण्णेण सोवण्णं कहेतुं अरजो किणिमितं भट्टिणा
वसन्तुत्तसो पडिसिद्धो । (धार्यं ! कोतूहलं नो । यद्येन वनेन श्रोतव्यं कथयत्वार्यः किं निमित्तं
अर्था वसन्तोत्सवः प्रतिपिद्धः ।)

सानुमती—उत्सवपिप्पसा वसु मच्छता । शुद्धणा कारणेण होवण्णं । (उत्सवमियाः क्षतुः
मनुष्याः । शुद्धणा कारणेन अभितव्यम् ।)

कंचुकी—क्या तुम सोचोने नहीं मुना कि वसन्तमें फूलने-फलनेवाले वृक्षोंमें और जगपर
वस्तेरा सेनेवाले पक्षियोंमें भी महाराजकी आशा थात सी है । देखो—धामके और बहुत पहले
फूल भाए थे, पर वनमें पराग अभी तक नहीं आ पाया है । कुरवका फूल खिलना हो चाहता
था, पर अभी ज्यों-का-त्यों बंधा पड़ा रह गया है । जाड़ा बीत जाने पर भी कीमतकी कूक
उसके गले तक आकर ही दक गई है । कामवेव भी अपने तूखीरते बाण निकालता है पर
डरकर फिर उसीमें रख लेता है, छोड़ नहीं पाता ॥४॥

सानुमती—इसमें क्या सन्देह है ! राजपिका बड़ा भारी प्रताप है ।

पहली—धार्य ! नगर-रसक मित्रावमुने हम लोगोंको सभी थोड़े दिने पहले ही महाराजकी
सेवामें प्रमद-वनकी रसवासी करनेके लिये भेजा है । इसलिये नई होनेके कारण हम लोगोंको
इस बातका पता ही नहीं था ।

कंचुकी—अच्छा, फिर कभी ऐसा काय न करना ।

दोनी—धार्य ! हम भी यह बात सुनना चाहती हैं । यदि सुनानेमें थड़चन न हो तो कृपाकर
बतला दीजिए कि महाराजने वसन्तोत्सव क्यों रोक दिया है ।

सानुमती—मनुष्योंकी तो भेले-उत्सवकेका बड़ा चाव होता है, इसलिये उत्सव रोक देनेवा
कोई वजन भी उठाना पड़ता है ।

कचुकी—यह तो श्रुतमेतर्क न कथ्यते । किमप्रभवत्यो. कस्यप्य नापातं शकुन्तलाप्रत्या-
देशकोत्तमम् ।

उभे—मुर रट्टिमप्रहासो जाय अन्तोममवस्थस्य । (श्रुत राष्ट्रियमुखावावदमुत्तीयकदशनम् ।)

कचुकी—तेन ह्यस्य कथयितव्यम् । यदेव खलु त्वां पुनोयकवर्धनानुसृत देवेन सत्यमूढपूर्वा
मे तत्रभवती रहति शकुन्तला मोहात्कथाविष्टेति । तत्रा प्रभुत्वेन पश्चात्तापमृगतो देवः ।
तथा हि—

रस्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिमिर्न प्रत्यहं सेच्यते
शाय्याप्रान्तविवर्तनेर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः ।
दाहिसयेन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा
शोत्रेषु स्मृतितस्तदा भवति च ग्रीडाविलक्ष्मिरम् ॥५॥

सानुवती—विशं मे । (प्रियं मे ।)

कचुकी—अस्मादिप्रभवतो बंमनस्याहुस्तथ. प्रायाक्षपातः ।

उभे—मुग्धम् । (मुग्धते ।)

[निपथ्ये]

पुनः पुनः भयः । (एतु एतु भवाय ।)

कचुकी—अध्या, यह बात जब चारो घोर सँभल गई है तब मैं भी कहे डालता हूँ । क्या
शकुन्तलाके छोड़े जानेकी बात तुम लोगोंके कानमे गड़ी पड़ी है ?

दोनों—हाँ, राजाकी सँभली गिलने तककी बात तो मगर-रसकके मुँहसे हम सुन चुकी हैं ।

कचुकी—तब तो शोका ही गुनावा रह गया है । उस सँभलीको देखते ही महाराजको स्मरण
हो उठा कि मैंने शकुन्तलाके एकान्तमे विवाह किया था और भूलसे उसका निरादर कर दिया ।
उसीसे उन्हें बड़ा पछतावा हो रहा है और उनके मनकी व तो अब कोई सुन्दर वस्तु ही भाती है
और न वे पहले के समान मन्त्रियोंके ही साथ निरपेक्ष बैठते हैं । सर्वेगपर करवट बदलते हुए वे पूरी
रात जाग-जागकर बिता देते हैं । जब रनिवासकी रात्रियाँ उनसे हठ करके इस उदासीका कारण
पूछती हैं तब भोंकने उनके मुँहसे शकुन्तलाका नाम निकल जाता है और वे बड़ी देर तक खचाप
रह जाते हैं ॥५॥

सानुवती—यहो तो मैं सुनना चाहती थी ।

कचुकी—बस, इसी दु राके फारस वसन्तोत्सव रोक दिया गया है ।

दोनों—उस तो ठीक ही है ।

[निपथ्यमे]

माइए महाराज, माइए ।

कञ्जुकी—[कण्ठ दत्वा] भये । इत एवाभिवर्तते देवः । स्वकर्मनुष्णोपवाण् ।

सभे—सह । [तथा ।] [इति निष्क्रान्ते]

[ततः प्रविशति पञ्चात्तरिपसदृशवेधो राजा विद्रूपकः प्रतीहारी च ।]

कञ्जुकी—[राजानमवलोक्य] ग्रहो सर्वास्ववस्थानु रमस्वोयत्वमकृतिविज्ञेयाणाम् । एवमुत्सु-
कोऽपि प्रियवशान्तो देवः । तथा हि—

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिवामप्रकोष्ठापितं

विअस्काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः ।

चिन्तालागरसुप्रतान्तनयनस्तेजोगुखादात्मनः

संस्कारोल्लिखितो महामखिरिव शीणोऽपिनालक्ष्यते ॥६॥

सानुमती—[राजानं दृष्ट्वा] ठाणें वणु पञ्चादेतविमाखिदा वि इमस्त किदे सज्जदला
किलम्मदि ति । [स्थाने वणु प्रत्यादेशविमानित्वाञ्ज्यस्य कृते शकुन्तला क्वाभ्यसीति ।]

राजा—[व्यानमन्द परिक्रम्य]—

प्रथमं सारङ्गाच्या प्रियया प्रतिशोध्यमानमपि सुप्तम् ।

अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं संप्रति विबुद्धम् ॥७॥

कञ्जुकी—[कान्त लगाकर] अरे ! महाराज तो इधर ही चले जा रहे हैं । अब जाओ, तुम
खोग भयना-भयना काम देलो ।

दोनो—बहुत अच्छा । [दोनो जाती हैं ।]

[विद्रूपक और प्रतीहारीके साथ पछताते हुए राजा भाते हैं ।]

कञ्जुकी—[राजाको देखकर] घहा ! जो सुन्दर होते हैं वे सभी दत्तात्रीमें भज्ये लगते हैं ।
देखो, उदास होते हुए भी महाराज कैसे भज्ये लग रहे हैं । क्योंकि—केवल बाएँ हाथ परके सोनेके
एक मुण्डमयनी छोड़कर उन्होंने सोभा बढ़ानेवाले सभी पहने उतार डाले हैं, उनकी उमासीमें
नीकेका छोट भी लाल हो गया है और चिन्ताके कारण रातभर जागनेसे उनकी धाँसें भी घलघल
पई हैं । पर इस प्रकार दुःखी होनेपर भी वे उसी प्रकार दुपते नहीं लगते जैसे खरादकर काटा
हुआ वह महामणि, जो छोटा हो जाने पर भी अपनी चमकके कारण खोटा नहीं लगता ॥६॥

सानुमती—[राजाको देखकर] यद्यपि शकुन्तलाको छोड़कर इन्होंने सबका बड़ा भारी भयमान
क्रिया है जिसपर भी शकुन्तलाका इनके लिये ठठपना ठीक ही वैयता है ।

राजा—[चिन्तामें धूमता हुआ] उस समय जब वह मृगके समान झल्लोवाली मेरी प्यारी
शकुन्तला बार-बार मुझे सम्भला रही थी तब तो मेरी धाँसें सुनो नहीं, अब केवल पछतावेका
दुःख सहनेके लिये मेरा वह भ्रमणा हृदय जाग उठा है ॥७॥

शानुमतौ—एवं ईदिसासि तपस्विस्त्रयो मासहेतुसि । (नन्वीदृशानि तपस्विभ्या भाग-
येयानि ।)

विदूषकः—[वपमात्रं] संधिदो एतो भूषो वि सउन्दलावाहिना । एत घातो कर्हं
चिकित्स्नियवथो भवितरि ति । (सङ्कित एष भूषोऽपि शकुन्तलाव्याधिना । न जाने कथं चिकि-
त्सितव्यो भविष्यतीति ।)

कपुनी—[उपरम्य] जयतु जयतु देवः । महाराज ! प्रत्यवेक्षितः प्रभववर्गभूमयः । यथा-
 कात्मम्यास्तां विनोदधानानि महाराजः ।

राजा—वैश्वसि ! मनुजनात्मनात्ममार्गं विजुगं ब्रूहि । विद्वज्ज्ञेयान् संभावितमस्माभिरप्य
धर्मात्मनात्मसिद्धि । यस्तत्त्ववेक्षितं यौक्त्यमार्गैश्च सत्प्रकारान् द्योयतामिति ।

प्रतीहारी—जं क्षेत्रे माणवेदि । (यद्देव माज्ञापयति । [इति निष्क्रान्तः ।]

राजा—यातायतः स्वमपि ह्यं नियोगमशुभ्यं कुरु ।

कंचुकी—यदाहापयति शेषः । [इति मिथ्यामताः ।]

विदूषक—किं भवता शिष्यमभिरुचं । शृण्वे तत्तिरासवज्ज्योत्तरमणीए इमस्मि पमद-
 वद्वह्से वसताए रमद्वस्तति । (कृतं भवता निर्मलिकम् । सांप्रतं शितिरासवज्ज्योत्तरमणीपेतिमप्र-
 मदवदोद्देशे भारमानं रमयिष्यति ।)

सानुमति—क्या करें, बेचारी शकुन्तलाके माथ ही ऐसे हैं ?

बिदूषक—[मलय] भोह ! राकुण्ठात्मके रोषने इन्हे फिर भा घेरा है । न जाने यह रोग जायगा कैसे ?

कश्यपुकी—[पास जाकर] महाराजकी अय हो । प्रसद-वनकी भूमि भाट-बुहारकर ठीक कर दी गई है । पर्य पर्य स्वयंकर स्वयंकर जाहें स्वयंकर नमः स्वयंकराजकी भूमिमें विद्याम करें ।

राजा—श्रुतीहारी ! जगद मेरी घोरसे अमात्य चारुपिण्डके कहना कि पात्र मैं देखे उठा हूँ, इसलिये स्थाय करनेके सिधे समा-भयनमे नहीं पहुँच जाऊँगा । प्रजारा जो कुछ भी काम हो वह भाप सिद्धकर मेरे पास भिजवा दीजिएगा । समझी ।

प्रतीहारों—जैसी महाराजकी आज्ञा । { जाती है । }

राजा—जाधो साहायन ! तुम भी अपना काम देखो ।

कञ्चुकी—बेंसी देरकी भासा [जाता है ।]

विदूषक—मन्त्रा किया जो सब मन्त्रियाँ उठा दी। सब घाय बलकर उस प्रभुदत्तमें मन बहाड़ा जहाँ न तो बाइकों ठंठक ही है न यमीकी लपन ही।

कंचुकी—[कण दत्वा] भये । इत एवाभिषत्ति देवः । स्वकर्मानुष्ठीयताम् ।

उभे—सह । [तथा ।] [इति निष्क्रान्ते]

[ततः प्रविशति पञ्चात्तमसदृशवेधो राजा विदुषकः प्रतीहारी च ।]

कंचुकी—[राजानमवलोक्य] महो सर्वस्ववत्प्राप्तु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम् । एवमुत्सु-
कोऽपि त्रिपर्वानो देवः । तथा हि—

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठार्पितं

विभ्रत्काञ्चनमेकमेव बलयं श्वासोपरक्ताधरः ।

चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनस्तेजोगुणादात्मनः

संस्कारोल्लिखितो महामयिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते ॥६॥

शकुन्ती—[राजानं हृष्ट्वा] ठाणो क्यु पञ्चादेसविमालिवा वि इमस्स किं सउम्हला
किलस्महि सि । [स्वाधे शत्रु प्रायादेशविमानिताज्यस्य कृते शकुन्तला क्लाम्पतीति ।]

राजा—[आनन्दं परिक्रम्य]—

प्रथमं सारङ्गाध्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम् ।

अनुशपदुःखायेदं हतहृदयं संप्रति विबुद्धम् ॥७॥

कञ्चुकी—[काम लगाकर] भरे । महाराज तो हृषर ही चले पा रहे हैं । अब जाओ, तुम
लोग अपना-अपना काम देखो ।

दोनों—बहुत अच्छा । [दोनों जाती हैं ।]

[विदुषक और प्रतीहारीके साथ पछताते हुए राजा आते हैं ।]

कञ्चुकी—[राजाको देखकर] महा ! जो सुन्दर होते हैं वे सभी दरबारोंमें अच्छे लगते हैं ।
देखो, बदास होते हुए भी महाराज कैसे अच्छे लग रहे हैं । क्योंकि—केवल बाएँ हाथ परके सोनेके
एक मुण्डमन्त्री छोड़कर उन्होंने सोना बढानेवाले सभी गहने उतार दिये हैं, उनकी सर्रासोंमें
नीबेका मोठ भी सात हो गया है और चिन्ताके कारण रातभर जागनेसे उनकी आँखें भी बलवा
गई हैं । पर इस प्रकार दुःखी होनेपर भी वे उसी प्रकार दुबले नहीं लगते जैसे छरादकर काटा
हुआ वह महामणि, जो छोटा हो जाने का भी अपनी कमकके कारण छोटा नहीं लगता ॥६॥

शकुन्ती—[राजाको देखकर] यद्यपि शकुन्तलाको छोड़कर इन्होंने उसका बहुत भारी प्रणाम
किया है तबपर भी शकुन्तलाका इनके लिये वक्षणा ठीक ही जैसा है ।

राजा—[चिन्तामें घुमता हुआ] उस समय जब वह मृगके समान घाँसोंवाली मेरी प्यारी
शकुन्तला बार-बार मुझे सम्झा रही थी तब तो मेरी आँखें खुली नहीं, अब केवल पछतावेका
दुःख सहनेके लिये मेरा यह प्रणामा हृदय जाग रहा है ॥७॥

साधुमती—एवं ईदृशाणि तवस्तिस्त्रीषु भाग्यहेमाणि । (नन्वीदृशानि तपस्विन्या भाग-
धेयानि ।)

विदूषकः—[अपवायं] संधिबो एतो मुग्धो सत्त्वन्वत्तावाहिषः । ए भाग्ये बहं
चिकिचिद्वयस्यो भविस्सति ति । (ललित एष भूयोऽपि अकृन्तताम्यामिषा । न जाने कथं चिकि-
त्सितस्यो नविष्यतीति ।)

कञ्चुकी—[उपवश्य] जयतु जयतु देवः । महाराज ! प्रत्ययेक्षितः प्रमदवनभूमयः । मया-
काममस्यास्तां विमोहस्थानानि महाराजः ।

राजा—वेप्रवति ! महत्तनात्मस्यमार्गेषुपुनं ब्रूहि । चित्प्रबोधनात्म संभावितमस्माभिरष्ट
धर्मात्ममभ्यासितु । धर्मप्रत्यवेक्षितं धीरकार्यंमार्गेषु सत्प्रमारीप्येयं दीयतामिति ।

प्रतीहारी—जं देवो भाग्यवेदि । (यहं व भाग्यपयति । [इति निष्क्रान्तः ।]

राजा—वातायन । त्वमपि त्वं नियोगमभ्युत्थं कुव ।

कञ्चुकी—पराप्तामयति देवः । [इति निष्क्रान्तः ।]

विदूषक—किं भवता स्मिन्मच्छिद्यं । संपवं सितिरातवच्छेदमरमलीए इमस्ति पमद-
वयुहेसे मत्ताए रमद्वसति । (इत्वं भवता निर्देशकम् । साप्रतं शितिरातवच्छेदमरमलीएस्मिन्म-
दवयुहेसे मत्ताए रमद्वसति ।)

साधुमति—क्या करें, बेचारी शकुन्तलाके भाग्य ही ऐसे हैं ?

विदूषक—[अलग] मोह ! शकुन्तलाके रोवने इन्हे फिर मा चेष्ट है । न जाने यह रोग
जायगा कैसे ?

कञ्चुकी—[वास जागर] महाराजकी जय हो । प्रमद-वनकी भूमि आह-बुहारकर ठीक
कर बी गई है । अब आप चलकर जबतक जाईं तबतक उस मनमहतायकी भूमिमें
विश्राम करें ।

राजा—प्रतीहारी ! जाकर मेरी धीरसे अमात्य धर्मपिपुतसे कहना कि आज मैं देरसे
उठा हूँ, इसलिये स्थाय करनेके लिये सधा-मवनमें नहीं पहुँच पाऊँगा । प्रजाका जो कुछ भी
काम हो वह आप लिखकर मेरे पास भिजवा दीजिएगा । समझी ।

प्रतीहारी—जैसी महाराजकी आज्ञा । [जाती है ।]

राजा—जाओ वातायन ! तुम भी अपना काम देखो ।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा [जाता है ।]

विदूषक—अच्छा किया जो सब मन्त्रिणां उठा दीं । अब आप चलकर उस प्रमदवनमें मन
महताए जहाँ न तो जाइकी ठठक ही है न गर्वकी लपट ही ।

राजा—धनस्य बहुच्यते रघोर्निपातिमोऽन्या इति तदप्यभिचारि वच युत ।

मुनिसुताप्रणयसूत्रिरोधिना मम च मुक्तमिदं तमसा मनः ।

मनमिजेन सखे प्रहरिष्यता धनुषि चृतशरश्च निवेशितः ॥ ८ ॥

विदूषक—विद्व दास । इमिहा दण्डकट्टेस कदप्यबासु खासदस्स । (तिष्ठ तावत् । अनेन दण्डकाष्टन कदपबासु नासपिप्यामि ।) [इति दण्डकाष्टमुत्तम्य वृत्ताकुर पातयितुमिच्छति ।]

राजा—[स्तम्भितम्] भवतु दृष्टं ब्रह्मवचसम् । सखे ! क्वोपविष्ट प्रियाया किमिदं नुका रिणीषु जतासु दृष्टं विलोभयामि ।

विदूषक—एष आसन्नपरिचारिका चतुरिधा भवता सदिष्टा माह्वारमणने इमं वेत्तं अविवाहितम् । तर्हि मे चित्तकलभगद सहस्यसिंहिव तत्तहोदोए सउदलाए पत्रिकिदि आणेहिं सि । (नवाहस्यपरिचारिका चतुरिधा भगता सदिष्टा माधवीमण्डप इमा वेत्तामतिदाह-
मिये । तम मे विप्रकलकगता श्वहस्तेमिजिता तनमवस्था ककुभलाया प्रतिकृतिमाश्रयति ।)

राजा—ईदृशं दृष्टमविनोदमस्थानम् । तत्तमेव मार्गसावेशम् ।

विदूषक—इदो इवो मय । (इत इतो गवान् ।)

[उभौ परिक्रामत । सानुगस्यनुगच्छति ।]

राज—अयस्य ! किसीने बहुत ठीक कहा है कि विपत्ति सदा अदसरणी क्षणमें रहकरती है । देखो—अभी मेरे मनसे बहुतसागरी युता देखासा मोह उतरा ही नहीं था कि मुझे मारनेके लिय अपने धनुषपर आमके औरसा यह तर्ज आण खड़ाकर कामदेव भी था घमका ॥ ८ ॥

विदूषक—अच्छा फिर । मैं अभी अपने कहेसे कामदेव शाखनी सोढे डालता हूँ न । [अपना डंडा उठाकर चोर फाँटना चाहता है ।]

राजा—[हँसते हुए] अच्छा अच्छा, रहने दो । देख लिया तुम्हारा बहुरेज । अब खली मिय, कोई ऐसा स्थान अताभी जहाँ बँटवर प्रियासे कुछकुछ मिलती जुलती लताओंको देखकर अपनी आँखें ठण्डी की जायें ।

विदूषक—पर आपने तो अभी रनियासनी दासी चतुरिबाकी कहा है न, कि हम माधवी-मण्डप जाकर ली बहलाते हैं और तुम हमारे हाथका खीना हुआ शकुन्तलाका पिय वहाँ लती आना ।

राजा—हाँ वह स्थान तो है मनवहलायका । तो उधर ही स खनो ।

विदूषक—तो इधरसे धाड़ महरान, इधर से ।

[दोनों मुह्वे हैं, सानुमती पीछ हो लेती है ।]

विदूषक.—एतो मणिशिलापट्टकसत्ताहो माह्वीमण्डवो जवभाररमणिजवाए शिस्त्रसम
सामदेए विध र्णो पडिण्णदि । ता पविस्त्रिध सितीण्डु भव । (एव मणिशिलापट्टकसत्ताया
मापवीमण्डप उपचाररणीयतया नि ससय स्वागतनेव नो प्रतीच्छति । तत्प्रविश्य निपीदतु गवान् ।)

[जसौ प्रवेश कृत्वा पविष्टौ ।]

सानुमती—सवासरिसवा वेसिलस्सं दस्य सहेए पडिण्णदि । तवो से भत्तुखो वहुभुई
अणुराय शिवेददरस । (सत्तासधिता प्रख्यामि सावत्सक्या प्रतिकृतिम् । ततोऽस्या भर्तृबहुमुख-
मनुदाय तिबेदयिष्यामि ।) [इति सत्ता कृत्वा स्थिता ।]

राजा—सहे सर्वमिबानी रमराणि शकुन्तलाया प्रथमवृत्तान्तम् । कथितवानस्मि भवते
ष । स भवान्प्रत्यदेशवेत्तायां मत्समोपगतो नासौषु । पूर्वमपि न त्वया वदाचित्तकीर्तित
तत्रभवत्या नाम । कश्चिदहमिष विस्मृतवानसि त्वम् ।

विदूषक—ए विमुमराणि । किन्तु सव्य कहिण्ण अथत्ताए उल्लुए परिहासविम्वमो
एतो ए भूदायो ति आकाविसव । मए वि मिप्पिण्डबुड्डिया वह एव गहीष । अहवा
भविष्यावा षण्ण वत्तववी । (न विस्मरामि । किन्तु सर्व कथयि वाञ्छसाने पुनस्तथा परिहास-
विजल्प एव न भूतायै हस्यकावतम् । अयमपि मृत्पिण्डबुड्डिना तयैव गृहीतम् । मथवा भवितव्यता
सल्लु वत्तववी ।)

सानुमती एवम् खेव । (एव नु पतत् ।)

राजा [ध्यात्वा] सहे । प्रामस्य माम् ।

विदूषक—देखिए ! फूलोंसे सजी हुई मणिशिलाबी सुन्दर बोली बिछाकर यह मापवीकी
कुज मामी आपका स्वागत करनेकी बात देर रही है । इसलिये वही पत्तकर बैठा जाय ।

[दोनों प्रवेश करने बैठते हैं ।]

सानुमती—अच्छा सबक मैं सत्ताकी बोझते देखती हूँ कि मेरी सतीया बिना कंसा था है ।
तनी ही मैं जाकर उससे बात सक्की कि सुन्दारे पति तुमपर कितने प्रकारते प्रेम दिता रहे हैं ।
[बैसा करती है ।]

राजा—यस्य । अब शकुन्तलाकी सभी बातें स्मरण था रही हैं और तुमने लो रे नर का-
शुका हैं । अब मैंने शकुन्तलाको पहचि लीटाया था उस समय न तो तुम रे ही मेरे य तुम रे
बाव बातें ही स्मरण दिताई । जान पडता है मेरे ही समान तुम भी म्भ रते रे ।

विदूषक—भूला तो नहीं था । पर अब कुछ कह चुकनेपर दूसरे म्भे वर नद वर नद
मि मे सब बातें ही मैंने हँसीसे नहीं बो सब मेरी म्भुकी दिखरने से नद रे वर नद
बैठी । या वो कहिए कि वो होवेवासा होया है वद होकर ही रत्न है ।

सानुमती—यही बात है ।

राजा—[सोचकर] नयामो मुझे मित्र ।

विदूषक—भो कि एवं । अणुवचण्णं कस्य ईदिसं तुह । कवा वि सप्पुरिसा सोधवत्तया
एणं होन्ति । एणं मवादे वि लिक्कम्पा गिरीधो । (भो, किमेतत् । अनुपपन्नं धत्तोदशं त्वयि ।
कदापि सत्पुरुषं सोऽनुवचण्णं न भवति । ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा विरगः ।)

राजा—वयस्य ! निराकारलविकलवायाः प्रियाया समवस्थामनुसृष्टम् बलवदशरथोऽस्मि ।
सा हि—

इतः प्रत्यादेशात्स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
स्थिता सिण्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे ।

पुनर्दष्टिं वाग्यप्रसरकक्षुपामर्षितवती

मयि क्रूरे यत्तत्सविपमिव शन्यं दहति माम् ॥६॥

सानुमती—अन्महे । ईदिसी स्वकज्जपरत्ता इमस्स सत्तावेणं वाहं रमामि । (महो !
ईदिसी स्वकार्यपरत्ता । अस्य सत्तावेनाहं रमे ।)

विदूषक—भो अस्मि मे त्थो केण वि सत्तोहोदी चापासवारिणा खोदे ति । (भोः
प्रति मे तर्क, केनापि समभवती आकाशवारिणा मोतेति ।)

राजा—कः पतिवेत्ताभ्यः परामर्शमुत्तहेत । मेनका कितं सत्त्वारते जागप्रतिष्ठेति
श्रुतवानस्मि । तत्सहचारिणोभिः एको ते हतेति मे हृदयमाशङ्कते ।

सानुमती—सामोहो कस्य विण्णसिण्णो खं पडिबोहो । (समोहः कस्य विस्मयनीयो न
प्रतिमोषः ।)

विदूषक—अरे आप यह क्या कर रहे हैं ? यह आपकी सोच नहीं देता । सज्जन सोच कभी
ऐसे दुखी नहीं होते । देखिए, आधी रात पर भी पहलू नहीं हिला करते ।

राजा—मित्र ! जिस समय मैंने प्यारीकी यहाँसे लौटाया उस समय उगकी जो दशा थी उसे
स्मरण करते मैं प्राये मे नहीं रह पाता । क्योंकि, उस समय वह—यह यहाँसे लौटा दी गई और
अपने साधियोंके पीछे चलने लगी उस मुझे समान भूख भुग सिध्दोने उसे डाँटकर कहा कि तुम
यही रही । वह लड़ी हो गई । उस समय भाँसोंमे मौसू भरकर मुझ निष्ठुरकी ओर उठने जो
देश था वह मुझे ऐसी पीडा दे रहा है जैसे किसीने विषसे मुझे हुए चरुके मेरे शरीरमे पाव
कर दिया हो ॥६॥

सानुमती—अरे ! अपने विष्पर इतना पछतावा ! इनके दुखको देखकर मेरे जी को बड़ा
सन्तोष मिश्र रहा है ।

विदूषक—महाराज ! मैं सोचता हूँ कि देवी शकुन्तलाको कोई स्वर्गीय दूत उठा ले गया होगा ।

राजा—अरे, उस पंडितताको दूसरा छू क्यों सकेगा । पर मुना है कि उधकी माँ मेनका है ।
मुझे डर है कि कहीं उसकी ससियाँ हो उसे न उठा ले गई हों !

सानुमती—इस समय राजाकी जो इसनी आँखें स्मरण हो रही हैं उन्हें सुनकर मुझे इतना
अचरज नहीं होता जितना इस बातपर कि उस समय वे भ्रूष कैसे गए थे ।

विदूषकः—जइ एव्यं घटिय बलु समाप्रभो कालेण तसहोवीए । (पठेनम् अस्ति सलु समाप्रभः कालेन तत्रभवत्या ।)

राजा—कथमिध ।

विदूषकः—ए बलु मातापितरा भतुविप्रोभ्रुविषयं दुहितरं चिरं देविगदुं पारेन्ति । (न बलु मातापितरो भतुवियोगदुःखितां दुहितरं चिरं द्रष्टुं पारयतः ।)

राजा—अथस्य ।

स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु क्लिष्टं नु तथित्फलमेव पुण्यम् ।

असंनिवृत्तयै तदतीक्ष्णमेते मनोस्थानामतटप्रपाताः ॥१०॥

विदूषकः—मा एव्यं । अंगुलीभ्रमं एव्य एव्यं सत्तुं अक्षरसंभाषी अक्षितितुभ्रो सामाप्रभो होरि ति । (संवद् । नन्यद्गुनीयक्रमेव निदर्यनमवस्यंभाष्यचिन्तनोप. समापमो भवतीति ।)

राजा—[अंगुलीभ्रम विनीय] अये इदं तावदंगुलमस्यानघंति शोचनीयम् ।

तव सुचरितमङ्गुलीय नूनं प्रतनु ममेव विभाज्यते फलेन ।

अरुणनखमनोहरासु तस्याभ्युत्पत्ति लब्धपदं यदङ्गुलीषु ॥११॥

शानुमती—जइ अण्णहत्थगं मये सत्थं एव्य शोचत्थिगं भवे । (यद्यप्यहत्तगं भवेद् सप्तमेव शोचनीयं भवेत् ।)

विदूषकः—यदि उसकी सखियाँ ही बदा ले गईं होयों तब तो उसे थोड़े दिनोंमें मिला ही साममिल ।

राजा—क्यों ?

विदूषकः—यदिसे बिछुड़ी हुई अपनी कन्याका दुःख माता-पिता अधिक दिनों तक नहीं देत सकते ।

राजा—मित्र ! मैं ठीक-ठीक समझ ही नहीं पा रहा हूँ कि शकुन्तलाका यह मित्राप सपना था, या जादू था, या भ्रम था, या किसी ऐसे पुण्यका फल या जिसका भोग पूरा हो चला था । सबकुछ इन बातोंसे मेरी समीक्षाओंको लगे पड़ावे गिराकर चूर-चूर कर बाँसा है ॥१०॥

विदूषकः—देखा न कहिए : यह घण्टी ही बतला रही है कि उससे भेंट बदरव होयी ।

राजा—[घण्टी देखकर] हाय ! इसपर भी मुझे क्या खरब लगावे कि इतने सुन्दर स्थानपर पहुँचकर भी यह निजसंकर कैसे बिर पड़ी । अरे घण्टी ! तेरी इस दगावे ही जान हो जाता है कि मेरे ही समान तेरे पुण्यों का भी भोग पूरा हो चला था । नहीं तो शकुन्तलाके साथ नहींवाली भँडुलियोंसे असा तू क्यों निजसंकर गिरती ॥११॥

शानुमती—हाँ, यदि यह किसी दूसरेके हाथ नग गई होती तब तो सबकुछ इसपर दगा पाती ।

विदूषक—भो इमं खाममुद्रा केस उग्धादेस ततहोदिए हत्याग्भास पाबिदा । (भो इय नाममुद्रा केनोद्धातेन तत्रभवत्या हस्ताभ्याञ्च प्रापिता ।)

सानुमती—मम वि कोदूहलेस अघारिदो एतो । (ममापि कौतूहलेनाकारिता एष ।)

राजा—श्रूतयाम् । स्वनगराय प्रस्थित मया त्रिषा सवाण्यनाह—किञ्चिदेष्टार्यपुत्र, प्रतिवर्ति दास्यतीति ।

विदूषक—तदो तदो । (ततस्ततः ।)

राजा—यश्चादिमा मुद्रा तदङ्गुली निवेशयता मया प्रत्यभिहिता—

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं

नामाचरं गणय गच्छति यादन्तम् ।

तावत्प्रिये मद्वरोधगृहप्रवेशं

नेता जनस्तत्र समीपमुपैष्यतीति ॥१२॥

सद्यः दाहणागमा मया मोहापानुद्धितम् ।

सानुमती—रमणीयो कणु अथहो बिहिसा विववादिदो । (रमणीय खल्ववधिर्विधिता विववादि ।)

विदूषक—अथ कह धीपलकर्मिअस्त लोहिममच्छस्त उदतगभन्ते प्राति । (अथ मय धीवरकल्पितस्य रोहितमत्स्यस्योदराभ्यन्तरं प्रासीत् ।)

राज—शचीतीर्थं वन्दमानाया सस्यास्ते हस्ताङ्गुलीतति परिभ्रष्टम् ।

विदूषक—अच्छा, यह तो बताइए कि धावको यह भँगूठी देवी शकुन्तलाके पास पहुँच कैसे गई ?

सानुमती—इसके मनमे भी इस बातको जाननेका बँसा ही चाव है जैसा मेरे मनमे है ।

राजा—अच्छा सुनो । जब मैं वनसे अपनी राजधानीकी ओट रहा था उस समय प्यारीने धौलोम माँसू भर कर पूछा था—अब कितनों दिनोंमें सुभ लीजिएगा ।

विदूषक—तब-तब ।

राजा—तब उसकी उँगनीमे यह भँगूठी पहनाते हुए मैंने कहा था—प्यारी ! इस भँगूठीपर सिते हुए मेरे नामके प्रत्येक प्रतियोगि निवर्ती रहना । जब सभी अघार भिन्न जुवोगी तब रमिलासका कोई सेवक तुम्हें बुलानेके लिये यहाँ था पहुँचिगा ॥१२॥ पर मुझ बढोर हृदयमे ऐसा करते न बन पडा ।

सानुमती—बात ठी वटा अच्छी थी पर दँवने सब चौपट कर दिया ।

विदूषक—अच्छा तो उस मजदूरे जिस रोहू मछलीकी काटा था उसके गेटमें वह भँगूठी कहाँ से पहुँच गई ?

राजा—जय शकुन्तला शचीतीर्थको हाथ जोड़कर प्रणाम कर रही थी उसी समय वह भँगूठी उँगनीमे निकलकर मगजोकी थारामे आ गयी ।

विदूषकः—कुबजह ! (कुबजते ।)

सानुमती—अबो एव्य तवस्सिरणीए सजन्दलाए अयम्पमोरखो इमस्स राएसिखो परिणए सदेहो भासि । अहवा ईदिमो अलुराओ अहिण्णएणं अवेक्खवि । कहं विअ एवं । (प्रत एव सपरिक्वयाः शकुन्तलाया अयमंभोरोरस्य राजपैः परिणमे सन्देह भासोत् । अकवेहशोऽनुरागोऽभिमान-मपेक्षते । कथमिवेतत् ।)

राजा—उनालएमे तावदिअमइ गुसीयक्खम् ।

विदूषकः—[आशमगतम्] गहोवो खेण पन्था उम्मत्तमासम् । (गृहीतोऽनेन पन्था उम्मत्तमासम् ।)

राजा—

कथं नु तं वन्धुरकोमलाङ्गुलिं करं विहायासि निमग्नसम्भसि ।

अथवा—

अचेतनं नाम गुणं न लब्धयेन्मर्षेव कस्मादवधीरिता प्रिया ॥१३॥

विदूषकः—[आशमगतम्] अहं खलु कुमुत्थाए आविअससि । (अहं खलु कुमुत्ताया आवि-सस्य इति ।)

राजा—अकारणपरिमामानुशयतस्सहृदयस्तपवनुकम्पतामयं जनः पुनर्दर्शनेन ।

[प्रविश्यापटीलेपेण चित्रफलकहस्ता]

चतुरिका—इमं चित्तगदा भट्टिणी । (इमं चित्रगता भट्टिनी ।)

[इति चित्रफलकं दर्शयति ।]

विदूषकः—अच्छा, यह बात है ।

सानुमती—जान पड़ता है कि इसीलिये इस राजपिने अयमंके उरसे बेचारी शकुन्तलाके साथ विवाह होनेको माओमे सदेह किया था । नहीं तो भला ऐसे प्रेयमे क्या किसी पहुचानवी भाबरमकता पड़ती है ।

राजा—मैं अभी इस भँगूठीको डाँटता हूँ न ।

विदूषकः—[आश ही आश] अरे, ये तो अब अगस्त हो चले है ।

राजा—भरी भँगूठी ! उन सुन्दर उँगलियोंको छोड़कर तू क्या जलमें डूबने गई ! पर भँगूठीमे तो जीव नहीं था इसलिये उतने मुलुकी परत न की हो तो ठीक है, पर मैंने मनुष्य होकर उसका कंसे निरादर कर डाँटा ॥१३॥

विदूषकः—[भाप ही भाप] यदि बोही देर धोर इनकी यही क्या रही तब तो मेरी भूल मुझे क्षमा हो चलेगी ।

राजा—हे प्यारी ! तुम्हें बिना कारण छोड़ देनेकी अजबबख्त मैं जला जा रहा हूँ । मुझे अपना दर्शन देकर दया करके जिला तो लो ।

[परदा उठाकर चित्रफलक लिए प्रवेश करके]

चतुरिका—यह रहा देवीका बिज । [चित्रफलक दिखाती है ।]

विदूषक — साहू बघरत । मन्त्रराज्याखरसखिगजो भावाणुप्येसो । एतदि विम मे दिद्वी
 रिण्णुणुमण्णदेसेसु । (साधु बघरत । मधुसूदनस्यानन्दसौम्यो भावानुप्रवेश । स्वलतीव मे
 दृष्टिनिम्नोन्नतप्रदेशेषु ।)

सानुमती—अम्हो एसा राखिसो छिउखदा । जाले सहो अगदी मे बहदि ति । (महो
 एसा राजप्रेनिपुणता । जाले सखप्रता मे बर्तत इति ।)

राजा—

यद्यस्ताधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा ।
 तथापि तस्या लाज्यं रंजया किंचिदन्वितम् ॥१४॥

सानुमती—सरिस एव पञ्चाशायगुदछो तिलोहस्य प्रलवनेपरत अ । (सदृशमेतत्पञ्चाशाय-
 गुरो स्नेहस्थानागमेवमप्य अ ।)

विदूषक—भो हाखि तिणिगुमो सतहोवोमो दोसमि । सखायो अ बहालीमाधो ।
 बबमा एव तसहोवी सडहसा । (मो हदानी तिलस्तत्रमवरो हयन्ते । सर्वाश्च वशनीयाः ।
 वतामऽत्र समसवती शकुन्तला ।)

सानुमती—अणभिल्लो वधु ईदिसस दयस मोहदिद्वी अघ जालो । (भनमिश सखी-
 हयस रूपस्य मोदहृष्टिरय जन ।)

राजा—एव तावत्तमां तपयति ।

विदूषक—वाह, वयस । वाह । हमके मन मन चाहने ऐसे सुन्दर बना दिए हैं कि
 हमने मनच भावतन ठीक ठीक उतर माए हैं । मरी मायें तो इस पित्रम बने हुए अंभे-
 भीषे स्वर्गोम जैसे ठोकरें खाती रह जाती हैं ।

सानुमती—भरे ! राजावि तो बड़े बहुर बिचकार हैं । बिन ऐसा जान पड़ता है बानो
 सखो शकुन्तला चाहने ही करी हो ।

राजा—यद्यपि मैंने इस बिकके सब धोष ठीक कर दिए हैं फिर भी इन रंजामोंमें
 दवाही गुदरता बहुत पाशखी हो उतर पाई है ॥१५॥

सानुमती—एव पदछावे घोर नम्रताव भरे प्रमीको एसा हो बहना सोमा देता है ।

विदूषक—क्या ! इस पित्रमें तो तीन तीन दगियां दिगाई पट रही हैं घोर छोनो एरुवे
 एव मङ्गल पटकोमो हैं । बनाया तो, इनमें दवा शकुन्तला बोन-सी है ?

सानुमती—एव मन्त्रको सुदरतामी छनिक भी परत नहीं है ।

राजा—अच्छ, तुम इनमें कियको शकुन्तला समझ रह हो ?

विदूषक—साधकेमि जा भूवा सिद्धितकेसमन्यशुवन्तकुसुमेस केसन्तेण उभिनणस्यो-
मविन्दुण यणणेण विसेसदो भोसरिआहि बाहहि भवसेअसिणिउतउणपल्लवसस धूपपा-
अवसस पासे इतिपरिस्तन्ता विअ आसिहिदा सा सउन्दता । इदराओ सहोमो ति । (तर्क-
यामि मंया शिधिलकेअन्यनोडा-तकुसुमेन केआन्तेनोडिन्तस्येदभिन्दुता वदनेन विशेषतोअमृताम्या
बाहुन्माभवेत्तेकिअमृतरसपल्लवसस नूतपादपस्य भासं ईपपरिधान्तेवाविधिदा सा अकुन्तता ।
इतरे सख्याविमि ।)

राजा—निपुणो भवान् । अस्तय मे भागविद्वान् ।

स्विन्नाङ्गुलिनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः ।

अथ च कपोलपतितं दृश्यमिदं वर्तिकोऽङ्गवासात् ॥ १५ ॥

वतुरिके ! अर्पितलिमैतद्विधोवत्पानम् । गच्छ । अतिरा तावदानय ।

वतुरिका—आर्य मादव्य ! अवलम्ब चित्तकलम जाअ आप्रच्छामि । (आर्य मादव्य ! अव-
लम्बस्य चित्रफलकम् दावदागच्छामि ।

राजा—अहमेवैतदवलम्बे । [इति वयोक्त करोति ।]

[निष्क्रान्ता येटी ।]

राजा—[नि स्वस्य] मह हि—

साक्षात्प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं चित्रार्पितां पुनरिमां बहुमन्यमानः ।

स्त्रोतोवहां पथि निकामललामतीत्य जातः सखे प्रथयवान्मृगशृङ्गिकायाम् ॥ १६ ॥

विदूषक—मैं तो समझता हूँ कि बाकीके छिडकावसे जो यह घामका पैदा बमक रहा है उसीसे सटकर कुछ बची हुई सी जो खड़ी दिखाई देती है वही शकुन्तला है, जिसके डीले जूड़ोंसे फूल गिर रहे हैं, मुहपर पसीनेकी बूँदें भरक रही हैं और दोनों कन्धे झुके हुए हैं । इसके साथ बाकी में दोमो इसकी सजिया होगी ।

राजा—तुम संक्षुब्ध वतुर हो । यहाँ मेरे प्रेमने चिह्न भी बने हुए हैं । चित्रकी कीरोवर मेरी पसीबी हुई अंगुलियोंके काने धब्बे पड़ गए हैं और मेरी आँखोंसे जो आँसू टपका, उससे शकुन्तलाके गाल परका रंग उभर आया है ॥ १५ ॥ धरी वतुरिका ! अभी इस विनोद स्थानका चित्र पूरा नहीं बन पाया है ; जा, चित्र बनानेकी कूचियाँ लो लेती आ ।

वतुरिका—आर्य मादव्य ! इस चित्रपटको थोड़ा थामे लो उड़िए, मैं अभी आती हूँ ।

राजा—मैं ही इसे थामे रहता हूँ ।

[चित्र फलक ले लेता है ।]

[येटी जाती है ।]

राजा—[उसीस मरकर] चित्र ! मेरी दशा तो देखो कि जब यह स्वयं मेरे पास आई थी तब तो मैंने उसे निरादर करके छोटा दिया और अब उसने चित्रपर इतना प्रेम दिखाने चला है । यह तो ऐसा ही है जैसे कोई मरी हुई नवोको छोटकर मृगशृङ्गाकी ओर सपके ॥ १६ ॥

विदूषकः—[आत्मगतम्] एखो अत्तअवं रुदि अदिक्किमिअ मिअत्तिणिहर्मा संकन्तो ।
[प्रकाशम्] ओ अवरं कि एत्थ तिहिदब्बं । (एयोऽथमवान्मदीमत्तिकम्प मृगवृष्णिकां संक्रान्तः ।
ओः अवरं किमत्र निश्चितव्यम् ।)

शानुमती—जो जो पदेओ सहोए मे अहिस्वो तं तं आनिहिदुक्कामो अवे । (यो यः प्रदेशः
सस्या मेऽभिरूपस्तं तमाविशितुकामो अवेए ।)

राजा—अभ्युत्पत्—

कार्यं सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निपण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
मृक्ले कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्ठ्यमानां मृगीम् ॥ १७ ॥

विदूषकः—[आत्मगतम्] जह् जह् वेक्कामि पुरिदब्बं खेस चित्तफज्जं सम्मधुआणं
तापसाणां कदम्बेहि । (यथाऽहं यस्यामि पुरितम्पमनेन चित्रफलकं लम्बकूर्वाणां तापसानां कदम्बैः ।)

राजा—यस्य अभ्युत्पत् । शकुन्तलायाः प्रसादनमभिप्रेतमत्रविस्तृतमस्माभिः ।

विदूषकः—किं विप्र । (किमिष ।)

शानुमती—यएवासरत्त सोउमारत्त अ जं सरित्तं भविस्सदि । (वनवासस्य सीकुमार्यस्य
प शरत्तर्हत् भविष्यति ।)

विदूषक—[आप ही आप] यहाँ महाराज तो नदीको छोड़कर मृगवृष्णाके पीछे दौड़
पड़ रहे हैं । [प्रकट] बहो मित्र ! मय इस दिनमें घोर क्या बनाना रह गया है ?

शानुमती—मैं सोचती हूँ कि राजा जब चित्र के स्थापन करनेके लिये मेरी छछीको बहुत
प्यारे थे ।

राजा—शुनो ! अभी मामिनी नदी बनानी है जिसकी रेखायें हुंसके ओष्ठ बँटे हों । उसके
दोनों ओर हिमासम्पकी वह लम्हटी बिछानी है जहाँ हृषिण बँटे हुए हों । मैं एक ऐसा पैद भी
छीवना चाहता हूँ जिसपर अस्मत्के वस्त्र टँगे हुए हों और जिसके नीचे एक हरिणी घपनी बाईं
पाँव काते हरिणकी सींगसे खड़कर चुबता रही हो ॥ १७ ॥

विदूषक—[आप ही आप] मेरी बात मानिए तो आप इस चित्रको लम्बी-लम्बी दाढ़ी
वाले लपटियोंसे भर दायिए ।

राजा—बस ! घोर अभी तो मैं शकुन्तलाको जो आभूषण पहनाना चाहता था वे ही
बनाना भूल गया हूँ ।

विदूषक—वे कौन कौनसे ?

शानुमती—वे ही जो उसके जेबी मुकुमारो वनवासिनी कुमारियाँ पहना करती हैं ।

राजा—

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे शिरीषमामण्डविलम्बिकेसरम् ।

न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥१८॥

विदूषक—भो कि ॥ ततहोवी रत्नकुवसपत्तलवसोहिता अगहस्येख मुह ओवारिअ बइद-
पइदा बिअ द्विमा । [सावधान निरूप्य दृष्ट्वा] या एखे दसोयपुत्तो कुसुमरसपाठञ्चरो ततहोवीए
अअए अहिलजघेदि महुअरो । (भो कि मु सनमवती रत्नकुवसपत्तलवसोभिनाअहस्तेन मुलमपपार्थ
अकितवकितेव स्थिता । या एय दास्या पुत्र कुसुमरसपाठञ्चरस्तनमवस्या वदनमभिशङ्कति
मधुकर ।

राजा—ननु क्षयंतामेव धृष्टः ।

विदूषक—सब एख अखिलीबाल सासिदा इमस्त बारखे कहिस्तसि । (भवानेदाबिनीवाना
सासिताअय बारखे प्रमविध्वति ।)

राजा—पुत्रपते । अहि भो कुसुमसत्ताप्रियातिथे । किमत्र परिपतनतेवमनुभवति ।

एषा कुसुमनिपयणा वृषिताऽपि सती मयन्तमचुरक्ता ।

प्रतिपालयति मधुऊरी न खलु मधु बिना त्वया पिवति ॥१९॥

सानुमती—अगए बि अभिजाव बहु एखे बारिदो । (अद्याव्यभिजात खन्नेय बारित ।)

विदूषक—पडिल्लिआ बि बामा एसा जावो । (प्रविष्टिआऽपि यामेवा जाति ।)

राजा—वरूप, अभी तो मैं वह तिरसका फूल भी नहीं बना पाया जिसकी डठल उसने
कानीपर पर रखी थी और जिसका पराग उसके थालीपर कना हुआ था । और अभी तो उसके
हस्तोंके बीचसे चन्द्रमाकी तिरसके समान पतले कमलके तन्तुओंकी मासा भी नहीं बनाई ॥१८॥

विदूषक—क्यों मित्र ! देखी अपनी कमलकी पलखीके समान कोमल और साज हथेलियोंसे
भरना मुँह ठके बहुत ठरी हुई सी बाँधी क्यों दिखाई दे रही हैं । [व्यानते देखकर] अरे ! देखिए,
यह कल्लोके रसका कोर बीच थोड़ा दूरीके मुँहपर आकर बैठेराए जा रहा है ।

राजा—गयाओ तो इस डीठको ।

विदूषक—दुष्टोंको दण्ड देना तो आपका काम है इसलिये अब भाव ही इसे भगाए ।

राजा—सच्ची बात है । ओ रे फूल और लताओंके व्यारे प्रतिधि ! तू क्यों इसके मुँहपर
भँवरानेका कण्ट कर रहा है । तेरे प्रेयकी व्यासी और तेरी ओर आँख लगाए फूलपर बँधी हुई है
और तेरे बिना मकरन्द नहीं पी रही है ॥१९॥

सानुमती—इस अवस्थामे भी ये किन्तों कोमलतासे औरिको चूसे जानेके लिये कह रहे हैं ।

विदूषक—देखे छोटे सोच रहनेसे बोड़े ही मानते हैं ।

राजा—एवं भो न मे शासने तिष्ठसि । श्रूयतां तर्हि संप्रति—

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोमनीयं पीतं मया सद्यमेव रतोत्सवेषु ।
विम्बाधरं स्पृशसि चेद्भ्रमर प्रियायास्त्वां कारयामि कमलोदरवन्धनस्थम् ॥२०॥

विदूषकः—एष्यं तिवस्यदण्डस्त किं स्यादस्तिदि । [ग्रहस्य आत्मगतम्] एतो दाब उम्मत्तो ।
अहं ॥ एदस्त संतेण ईदिसवण्णो विष संवुत्तो । [प्रकाशम्] भो चित्तं क्खु एवं (एवं तीक्ष्णदण्डस्य
किं न भेष्यति । एष तावदुन्मत्तः । अहमप्येतस्य सङ्गेनेदृशवणं इव संवृत्तः । भोः चित्रं सत्वेवम् ।)

राजा—अयं चित्रम् ।

सानुमती—अहं पि वारिणं अन्नवदत्था । किं उणं जहातिहिवाञ्छमायो एतो (ग्रहमपीदानीमव-
गतार्था । किं पुनर्वंशातिश्रितानुनाञ्छेपः ।)

राजा—वयस्य किमिवमनुष्ठितं पौरोभाग्यम् ।

दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन ।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ॥२१॥

[इति वार्ष्णेयं विहरति ।]

सानुमती—पुष्पाक्षरविरोही मनुष्यो एतो विरहमायो । (पूर्वाक्षरविरोध्यपूर्वं एष विरहमागः ।)

राजा—अरे ! तू मेरा कहना नहीं मानता । तो अब सुन—मेरी प्यारीका जो मोठ घसूते
मन्हें पीपेकी कोमल कोमलोंके समान ताल है और जिसे मैंने रतिके समय भी बहुत बचा-बचाकर
पिया था । उसे यदि तूने छुमा तो मुझे कमलके कोखमें बालर वन्दी कण दूँगा ॥२०॥

विदूषक—क्या तू ऐसे कठोर दण्ड देनेवालेसे भी नहीं डरता ? [हँसकर आप ही आप] अरे,
ये तो पागल हो ही गए हैं । अब इनके साथ रहनेसे मैं भी कुछ-कुछ बैसा ही हो चला हूँ । [प्रकट]
अरे महाराज ! यह तो निश्चय है ।

राजा—अरे । क्या निश्चय है ?

सानुमती—स्वर्ग में ही अब सपक वा रही हैं कि यह चित्र है, फिर मला उसका तो पूछना
ही क्या जिसने शकुन्तलामें तल्लीन होकर उसका चित्र बनाया है ।

राजा—यह तुमने क्या दुष्कर्म कर खासा मित्र ! मैं तो वहा भजन होकर सामने सदी हुई
शकुन्तलामें दर्शनका आनन्द ले रहा था । पर तुमने स्मरण दिलाकर मेरी प्यारीको चित्र ही
बना राला ॥२१॥

[ऐसा कहकर धाँसू बहाने लगता है ।]

सानुमती—यह तो विरहका निराला ही बग देस रही हैं कि जिसमें रहने कुछ था, अब कुछ
भीर ही है ।

राजा—वयस्य ! कथमेवमविधान्तु समनुमतामि ।

प्रजागरात्सिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः ।

वाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥२२॥

सानुमती—सम्बन्ध ! कथमेवमविधान्तु समनुमतामि । (सर्वथा प्रमादित तथा प्रत्यादेशतु ख सकुन्तलाया ।)

[प्रविश्य]

चतुरिका—केतु केतु भट्टा ! वट्टिप्रालरुद्धम केहिम् इवेमुह परिषद म्हि । (जयतु जयतु मर्ता । वट्टिकाकरुद्धक मृहोरवेतोमुत्त प्रस्थिताऽस्मि ।)

राजा—किं च ।

चतुरिका—तो मे हस्तादो भग्नरा तरलिकापुटीयाए देवीए वसुमवीए भह एष्य भग्न-उत्तरा उषणइरस ति राजमङ्गार महोरो । (य मे हस्तादन्तरा तरलिकाद्वितीयया देव्या वसु-मवाऽह्मेवार्थपुनस्फोपनेपायीति समसाःकार बुद्धि ।)

विदूषक—विट्टिमा तुम मुक्ता । (विट्टिमा एव मुक्ता ।)

चतुरिका—जाय देवीए विट्टवत्तम उत्तरीय तरलिका मोषेदि ताव भए तिग्मवाहरो प्रता । (पावदेव्या विट्टवत्तममुत्तरीय तरलिका मोषयति तावत्तमया निर्वाहित पाःवा ।)

राजा—वयस्य उपस्थिता देवो यद्गुणगर्भिता च । भवानिमां प्रतिकुर्वत रक्षतु ।

राजा—वयस्य ! जानते हो, इस समय मेरे हृदयपर क्या बीत रही है ? नींद न लगनेके कारण मैं उससे स्वप्नम भी नहीं मिल पाता और सदा बहुते रहनेवाले वे धाँसू उसे चित्रमें भी नहीं देखते हैं ॥ २२ ॥

सानुमती—तुमने सकुन्तलाको छोड़कर हम लीगोके मनमें जो कसक भर दी थी वह आज तुमने सब धो बाली ।

[प्रवेश करके]

चतुरिका—जय हो, महाराजकी जय हो ! बिना सामग्रीका इन्वा लिए हुए मैं इधर ही चली आ रही थी कि—

राजा—तो क्या हुआ ?

चतुरिका—जीवमे ही तरलिकाके साथ भागी हुई महाराजनी वसुमतीने यह कहकर गुम्फे यक्षपूर्वक वह दृग्वा छीन लिया कि मैं स्वयं द्रो घायपुत्रके पास पहुँचा जाती हूँ ।

विदूषक—धनरा बडा माप समझ कि तू उनके हाथसे बिना पिये बचकर निकल भाई ।

चतुरिका—उपर तरलिका वृक्षकी छाँची मे उत्तमी हुई महाराजकी भोदनी छुड़ानेमे लगी, इधर मैं चुपचाप लिसक भाई ।

राजा—जान पड़ता है महाराजनी बडा मुँह फलाए इधर हो चली आ रही हैं इसलिये भव इस चित्रको जे वाकर कही धिसा रखयो ।

विदूषकः—प्रतापं ति भस्माहि । [चित्रकलकमादायोत्थाय च] जह भवं अन्तेऽरकाल-
कूडादो मुञ्च्योऽपि तदो भं मेहृष्यद्विच्छन्दे पासादे सद्भावेहि । (आत्मानमिति भण । यदि
भवानन्त पुरवालकूटान्मोक्ष्यते तदा मा मेषप्रतिच्छन्दे प्रसादे शब्दापय) [इति द्रुतपद निष्क्रान्तः ।]
सानुमती—अणुसंक्रान्तहिमश्रीर्वि पदभसंभावयं प्रवेक्षति । अदितिदिलसोहदो दासि एतो ।
(अन्यसक्रान्तहृदयोऽपि प्रथमसंभावनामपेक्षते । प्रतिशिविसीहार्थं इदानीमेव ।)

[प्रविश्य पत्रहस्ता]

प्रतीहारी—जेडु जेडु देवो । (जयतु जयतु देव ।)

राजा—देववति ! न खल्वन्तरा दृष्टा त्वया देवी ।

प्रतीहारी—अहं इं । पत्रहस्त्य भं देखिअ पडिगिउत्ता । (भय किम् । पत्रहस्ता मा प्रेक्ष्य
प्रतिनिवृत्ता ।)

राजा—कार्यता कायोपरोपं मे परिहरति ।

प्रतीहारी—देव अमन्त्रो विष्णुपेदो—अत्यजावस्व गणेशावहुलबाण एहं एव पोरकर्म
अपविष्य तं देवो पत्ताएवं पक्षरत्नीकरेडु ति । (देव अमात्यो विज्ञापयति—मयं जातस्य
गणेशावहुलतायैकमेव पोरकार्यमवेक्षित तदेव पत्रार्कं प्रत्यक्षीकरोत्विति ।)

राजा—इतः पत्रिकां दर्शय । [प्रतीहार्मुनयति ।]

विदूषक—यह क्यों नहीं कहते कि हमे ही छिपा लो ? [चित्रपट लेकर उठकर]
अच्छा, जब आपकी रनिवासके चगुलसे छुटकारा मिल जाय तो मेषप्रतिच्छन्द भवनमे
मुझे पुकार लीजिएगा ।

[अमटक निकल जाता है]

सानुमती—इन्होंने दूसरेको हृदय से बाधा है सही, पर ये अपनी पहली रानीके प्रेमको
भी ठेस नहीं लगने देना चाहते । पर सच्ची बात तो यह है कि राजाके मनमे रानीके लिये
कुछ भी प्रेम बचा नहीं रह पाया है ।

[हाथमे पत्र लिए हुए प्रतीहारीका प्रवेश ।]

प्रतीहारी—जय हो, महाराजकी जय हो ।

राजा—देववती ! तुम्हें थोभमे महारानी तो नहीं मिली थी ?

प्रतीहारी—जी हाँ, मिली थी । पर मेरे हाथमे यह पत्र देखकर अभी उलटे पाँवों लौट
गई हूँ ।

राजा—वे समय असमय यहूनावती है इसीलिये मेरे काममे बाधा नहीं बनना चाहती
होगी ।

प्रतीहारी—महाराज ! अमात्यने कहाया है कि ध्यानका सारा दिन कई विभागोंको
रूपे-पंसेना जोड़ लगानेमें ही बीत गया । इसलिये प्रजाका केवल एक ही काम में देख पाया
है । उसे पत्रमे पढ़कर ही देव समझ लें ।

राजा—तामो, पत्र इपर खो ।

[प्रतीहारी पत्र से जापर देती है ।]

राजा—[अनुवाच्य] कथम् । समुद्रव्यवहारी शायकालो घनमिश्रो नाम नौप्रसन्ने विपन्नः । मनपत्यश्च किल तपस्वी । राजवानो तस्याप्यसंचय इत्येतदभात्येन तिसितम् । कष्टं सत्यनपत्यता । वेत्रयति । बहुपनत्याद्वहृत्पत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम् । विचीयतां यदि कश्चिदापन्नसत्त्वा तस्य भार्यामु स्मात् ।

प्रतीहारी—देव दारिण एव्य साकेदसस्त सेद्विखो दुहिमा खिन्वुत्तपुंसवरा आमा ॥ सुराीप्रदि ।
(देव इदानीमेव साकेतस्य येष्ठिनो दुहिता निवृत्तपुंसवरा जायाऽप्य भूयते ।)

राजा—ननु गर्भः पित्र्यं रिचयमर्हति । यच्छ । एवममातयं ब्रूहि ।

प्रतीहारी—जं देवो भ्रातृवेदी (यद्वेदेव मामापयति ।) [इति प्रस्थिता ।]

राजा—एहि सावत् ।

प्रतीहारी—इमग्निः । (इवमस्ति ।)

राजा—किमनेन संततिरस्ति नास्तीति ।

येन येन विपुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना ।

स स पापाद्वे तासां दुष्पन्त इति धुम्पताम् ॥२३॥

प्रतीहारी—एवं एवम घोतइदम्यं । [निष्कष्य पुनः प्रविश्य] काले पशुदुं विप्र ग्रहिणमिदं देवस्त सासलम् । (एवं नाम घोषितव्यम् । काले प्रवृष्टमिवाभिनवितं देवस्य शासनम् ।)

राजा—[बोधकर] अरे ! क्या समुद्रके व्यापारी घनमिश्रकी नाव डूबनेसे मृत्यु हो गई । देवारेके कोई राजान भी नहीं था । और प्रधान मंत्रीजी सिलसे हैं कि उसका सब धन राज-कोषमें आ जाना चाहिए । मिःसन्तान होना भी कितना कष्टदायक होता है । मच्छा वेत्रवती । सेठजीके पास कोई कमी थी थी नहीं इसलिये उनके बहुतसी सेठानियां होगी । पता तो लगाओ उनमेंसे कोई गर्भवती भी है ?

प्रतीहारी—हाँ देव ! सुना जाता है कि अयोध्यावासे सेठकी जो कन्या उनसे ब्याही थी उसने अभी बीघे दिन हुए पुसवन सरकार कराया है ।

राजा—तब जाकर समारवसे कहना कि यह गर्भका वास्तक ही सेठके सब धनका स्वामी होगा ।

प्रतीहारी—जैसी महाराजकी आज्ञा ।

[यह कहकर चली जाती है ।]

राजा—प्रणछा इधर तो सुनो ।

प्रतीहारी—जी, मा गई ।

राजा—किसीको खन्ताव होने या न होने से क्या ? जाकर छोटी पिटवा दो कि पापियोंको छोड़कर हमारी प्रजाके और बितने घोष है उनके जो जो कुटुम्बों न रहे उनका कुटुम्बी दुष्पन्त समझा जाय ॥२३॥

प्रतीहारी—यही छोटी पिटवा दो जायगी । [बोधकर] महाराजकी इस आज्ञाको गुनकर प्रजा जैसे हो मगन हो उठी है जैसे समय पर पानी बरसनेसे खेती सहजहा उठती है ।

राजा—[दीर्घमुच्छ्वसं] न नि स्वस्य] एवं भोः संततिच्छेदनिरयलम्बाणां कुलाणां मूलपुरपावसाने संपदः परमुपतिष्ठन्ति । समाप्यन्ते पुरुषंश्रमिण एष एव युत्तान्तः ।

प्रतीहारी—पक्षिह्वं घमयतम् । (प्रतिहृतमगमयुतम् ।)

राजा—यिहमामुपस्थितयेयोऽवमानिनम् ।

सानुमती—असंघर्षं सहैव पुनः हिष्य करिष्ये सिन्दुरो खेले भव्या । (असंघर्षं एलीमेव हृदये कृत्वा निन्दितोऽनेनात्मा ।)

राजा—संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी त्यक्त्वा मया नाम कुलप्रतिष्ठा

कलिष्यमाणा महत्ते फलाय वसुन्धरा काल इवोत्पतीजा ॥२४॥

सानुमती—अपरिच्छिन्ना दारिण्ये संवदी भविस्सति । (अपरिच्छिन्नैश्वरीं ते सन्तति-
मंदिष्यति ।)

बहुरिका—[जगन्तिकम्] अयं इमिराग सत्यबाहुवृत्तान्तेण विजृम्भ्येधो भट्टा । एवं अस्मा-
सिद्धं मिहृष्यद्विषयान्दो अज्जं मादव्वं येहिअ धाम्मवेहि । (अपि अनेन वार्यबाहुवृत्तान्तेन द्विगुणो-
द्देशो भवति । एतमाश्वासयितुं मेघप्रतिज्ज्ञाद्वार्यं मादव्वं गृहीत्वामगच्छ ।)

प्रतीहारी—मुट्टु भण्णसि । (मुट्टु भण्णसि ।) [इति निष्क्रान्ता ।]

राजा—अहो दुष्यन्तस्य संशयमाकटा पिण्डभाजः । कुतः ।

अस्मात्परं यत् यथाश्रुति संभृतानि को नः कुले निवपनानि करिष्यतीति ।

नूनं प्रयतिविकलेन मया प्रसिक्तं घौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति ॥२५॥

[इति मोहमुपगमः]

चतुरीश—[संज्ञमममममम] समस्तसु समस्तसु मृदा । (समाश्रितु समापयितु मर्ता ।)

सानुपती—हड़ी हड़ी । सवि बडु बीये धयपालबोतेल एसी अन्धकारबोसं धासुहोदि । अहं दाँल एव लिख्यं करोमि । अहवा मुदं मए सज्जबलं समस्तसमस्तोए महेंद्रजणलोए मुहारो—अन्धभावोसमुदा देवा एण्ड सह अणुचिद्विस्तन्ति जइ अहरेण पणपडिणि मृदा अहिल्लिरिस्तवि ति । सा ख जुलं एवं बालं वडिपडिमिदं । काय इमिल्ल पुरानेण विमर्ताहि समस्तासेमि । (हा पिक् । हा पिक् । सति खनु बीये व्यवधानदीनेलंपोअपवारदोपमनुभवति । अहमिदानीमैव निवृत्तं करोमि । अथवा अत मदा बाहुन्तपो समाश्रयमयस्या महेंद्रजनस्या मुखात्—यत्तमागोसुखा देवा एव तन्नामुहास्यन्ति यथाऽभिरैल धर्मपरनी भर्ताऽस्मिन्नन्दिष्यतीति । तन्न मुक्तां बालं प्रतिपासयितुम् । यावत्कालेन वृत्तान्तेन प्रियसखी समाश्रयस्यामि ।) [शत्रुद्विभ्रान्तवेन निष्क्रान्ता ।]

[निषण्णे]

अब्धगृह्णताम् । (अभ्राह्मणम् ।)

राश—[प्रयागत. कणं दश] अये साधव्यस्वेवातंसवरः । कः बोध्य भोः ।

[प्रविश्य]

प्रतीहारी—[संज्ञममम] परितामडु देवो संज्ञमममं वमस्ताम् । (परिचायतां देवः संज्ञम-गतं वयस्यम् ।)

हावते तपंल रिप हए जवके बुद्ध मावते तो वपने खाँगू योते होंगे और जो बप जाता होना बस उतना ही वो पाते होंगे । ॥२६॥

[ऐसा कहकर मूर्छित हो जाते हैं ।]

चतुरीश—[अधराहटके साथ देखकर] धीरज धरिए महाराज ! धीरज धरिए ।

सानुपती—हाय हाय ! जैसे दीरजके रहते हुए भी जोखते मोट पड जानेगे संवेरा हो जाता है वैसे ही इस राजाको भी मोह हो गया है । मैं इसकी चिन्ता अभी मिटा देती पर अदितिये बाहुन्तलाको समझाते हुए कहा था कि अजमे आम जानेके तिये उरगुव देवता सोण ही दुम्हारा और दुम्भन्तका मितम बराबरे । तो अब देर नहीं करने चाहिए । परन्तु बाहु-मन्तलाको ये सब भाजें मुना भाजें तो उसे धीरज हो जाय ।

[नटनेसे ऊपर उठ जागे हैं ।]

राजा—केनात्मन्यो मात्सवकः ।

प्रतीहारी—अदिदृक्पथेण केण वि सत्तेण अदिद्विनिम मेहण्डिच्छन्दस्त पातावस्त भण-
भूमि भारोविनो । (अदृष्टरूपेण केनापि सावेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्याधभूमिभारोपितः ।)

राजा—[उत्थाय] भा तावत् । ममापि सत्त्वेरभिभूयन्ते गृहाः ।

ययया—

अहन्यहन्यात्मन एव तावज्ज्ञातुं प्रमादस्सलितं न शक्यम् ।

प्रजासु कः केन पथा प्रयातीत्यशेषतो वेदितुमस्ति शक्तिः ॥२६॥

[नेपथ्ये]

भो ययस्त अविहा अविहा । (भो ययस्य अविहा अविहा ।)

राजा—[गतिभेदेन परित्याग्य] सखे ! न मेतव्यं न मेतव्यम् ।

[नेपथ्ये]

[दुतस्तदेव पठित्वा] कहूं ए भाइरस । एत मं को वि यच्चरणवसिरोदुरं इच्छं विमं
तिष्णभंगं करेहि । (कथ न भेष्यामि । एष मां कोऽपि प्रत्यवनतशिरोधरमिच्छुमिव विमङ्ग
करोति)

राजा—[सहृष्टिलोपम्] धनुस्तावत् ।

[प्रविश्य श्याङ्गं हस्ता]

ययनो—भट्टा एवं हत्वावायसहिं सरासलं । (भर्तः एतदस्तावप सहितं वारासनम् ।)

[राजा सखरं धनुरावसे ।]

राजा—मावप्यको कितने सत्ता ययसा है ?

प्रतीहारी—फिन्सी भूत-प्रेतने उन्हें पकड़कर मेघ-प्रतिच्छन्द-भवनके मूँहरेपर ले जाकर
टॉन दिया है ।

राजा—[उठकर] यह कैसे हो सकता है ? क्या मेरे घरमे भी भूत-प्रेत मद्धा जमाने
लगे हैं ? पर यह हो भी सकता है—बसोकि जब मनुष्य यही नहीं जानता कि वह स्वयं भूलसे
निराव कितने पाप कर बैठता है तो यह कैसे जाना जा सकता है कि प्रजामें कौन किस समय
बसा कर रहा है ॥२६॥

[नेपथ्यमें]

हुहाई है भिन्न, हुहाई !

राजा—[देगसे धूमता हुआ] डरो मत भिन्न, डरो मत ।

[नेपथ्यमें]

हय, हाय ! ठरूँ क्यों नहीं ! यहाँ कोई मेरे गलेको हँसके सभान मरोड़कर तीन ठुकड़े
किए डाल रहा है ।

राजा—[चारों ओर देखता हुआ] डरे, धनुष तो ले आओ ।

[हयमे धनुष लिए हुए प्रवेश करने]

—ी—महाराज ! यह लीजिए धनुष और हथरसा ।

[राजा धनुष-बाण लेते हैं ।]

[नेपथ्ये]

एष त्वामभिनवकण्ठशोषितार्थी शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम् ।

आर्तानां भयमपनेतुमात्तधन्वा दुष्यन्तस्तव शरशं भवत्विदानीम् ॥ २७ ॥

राजा—[सरोपम्] कथं मामेवोद्दिशति । तिष्ठ कुण्ठपादम् । त्वमिदानीं न भविष्यसि ।

[शार्ङ्गमारोप्य] वेदयति । सोपानमार्गमादेश्य ।

प्रतीहारी—इवो इवो वेवो । (इत इतो देवः ।)

[सर्वे सत्वरमुपपश्यन्ति ।]

राजा—[समन्ताद्विभोदय] क्षुण्णं स्वस्तिदम् ।

[नेपथ्ये]

अविहा अविहा । अहं अस्त भयन्तं वेदयामि । तुमं मं एव वेदयसि । विद्यालग्नीवो मूलमो विप्र शिरातो मिह जीविवे संवृत्तो । (अविहा अविहा । अहमभयवन्तं पश्यामि । एवं मा न परयसि । विद्यालग्नीवो मूलक इव विद्यामोर्ध्व जीविवे संवृत्तः ।)

राजा—मोक्षिरस्करिणोर्गवित । मदीयमस्त्रं त्वं शक्यति । एव तमिदं संवये ।

यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विलम् ।

हंसो हि क्षीरमादधे तन्मिश्रा वर्जयत्ययः ॥ २८ ॥

[शरवस्त्रं संघते]

[नेपथ्यम्]

लेरे कंठके गरम कफिरका ध्यासा मैं तेरा उली प्रकार अब किए डालता हूँ जैसे सड़पते हुए पशुको सिंह मार डालता है । अब आगे न पीड़ितोंके रक्षक अनुपकारी दुष्यन्त तुमसे बचाने ॥ २७ ॥

राजा—क्या तू मुझे भी चुनौती दे रहा है ? तो ठहुर सदा माँह खानेवाले विद्याव । मैं अभी तुमके मारे डालता हूँ । [अनुप पड़ाकर] देखवती । बल तो आगे आगे सीढ़ीपर ।

प्रतीहारी—इधरसे आइए देव, इधरसे ।

[सबका योग्य प्रस्थान]

राजा—[चारो ओर देखकर] यहाँ तो कहीं कोई भी नहीं दिखाई दे रहा है ।

[नेपथ्यम्]

हाय ! हाय ! मैं आपको देख रहा हूँ, पर आप मुझे नहीं देख रहे हैं । मैं तो बिल्लीके पंजोमे पड़े हुए जूहेके समान अपने प्राणोति हाथ धोए बैठा हूँ ।

राजा—अच्छा रे छल विद्याके चमंटी ! अब मेरा हाथ ही तुमके देख लेगा । देख ! मैं यह बाण चढ़ाता हूँ और जैसे हथ, पनियल दूधमे से दूध-दूध पी जाता है और पानी-पानी छोड़ देता है वैसे ही यह भी तुम मारे जानेवालेको मार डालेगा और इस बचाए जानेवाले प्राणशुको बचा लेगा ॥ २८ ॥

[बाण चढ़ाता है]

राजा—केनात्तयन्तो माणवकः ।

प्रतीहारी—अदिदृक्खेण केण वि सत्तेण अदिद्वुमिथ मेहप्पिडिच्छन्दस्स पासादस्स अग्ग-
भूमि आरोविदो । (अदृष्टरूपेण केनापि सावेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्याग्रभूमिमारोपितः ।)

राजा—[उत्थाय] मा तावत् । ममापि सत्त्वेरभिभूयन्ते बृहः ।

अथवा—

अहन्पहन्यात्मन एव तावज्ज्ञातुं प्रमादस्खलितं न शक्यम् ।

प्रजासु कः केन यया प्रयातीत्यशेषतो वेदितुमस्ति शक्तिः ॥२६॥

[नेपथ्ये]

भो वयस्त अविहा अविहा । (भो वयस्त अविहा अविहा ।)

— राजा—[गतिभेदेन परिक्रामन्] सत्ते ! न भेतव्यं न भेतव्यम् ।

[नेपथ्ये]

[पुनस्तत्रैव दक्षिणा] बहं ख भाइरत्तं । एत मं को लि पक्खणवतिरोहरं इत्थं विधं
तिप्पलभंगं करेहि । (कथं न भेष्यामि । एष मां कौशलि प्रत्यवनतक्षिरोधरमिद्वुमिथ विभङ्गं
करोति)

राजा—[उद्विग्नधैर्यम्] धनुस्तावत् ।

[प्रविश्य बाष्पं हस्ता]

ययनी—जट्टा एवं हस्ताबाधसहितं सरासरां । (मर्तः एतद्वस्ताबाध सहितं शरासनम् ।)

[राजा सगरं धनुरावत्ते ।]

राजा—माणव्यको किसने सता रक्खा है ?

प्रतीहारी—किसी भूत-प्रेतने उन्हें पकड़कर मेघ-प्रतिच्छन्द-भवकके मुँहपर ले जाकर
टँग दिया है ।

राजा—[उठकर] यह कैसे हो सकता है ? क्या मेरे घरने भी भूत-प्रेत प्रहृष्ट जमाने
लगे हैं ? पर यह हो भी सकता है—क्योंकि जब मनुष्य यही नहीं जानता कि वह स्वयं भूतप्रेत
निरप कितने पाप कर बैठता है तो यह कैसे जागा जा सकता है कि प्रजामें कौन किस समय
क्या कर रहा है ॥२६॥

[नेपथ्यमें]

दुहाई है मित्र, दुहाई !

राजा—[बेगते प्रमत्ता हुआ] डरो मत मित्र, डरो मत ।

[नेपथ्यमें]

हाय, हाय ! डरूँ क्यों नहीं ! यहाँ कोई मेरे गलेको दौलके समान मरोड़कर तीन टुकड़े
किए डाल रहा है ।

राजा—[चारों ओर देखता हुआ] धरो, धनुष तो ले प्रायो ।

[हथमे धनुष लिए हुए प्रवेश करके]

ययनी—महाराज ! यह लीजिए धनुष और हथरखा ।

[राजा धनुष-बाण लेते हैं ।]

[नेपथ्ये]

एष त्वामभिनयकण्ठशोषितायीं शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम् ।

आर्तानां भयमपनेतुमात्तधन्वा दुष्यन्तस्तव शरखं भवत्विदानीम् ॥ २७ ॥

राजा—[सरोपम्] कथं भामेयोद्विजति । तिष्ठ कुलपाञ्चन । त्वमिदानीं न भविष्यसि ।

[बाह्जंमारोप्य] येनयति । सोपानमार्गमादेश्य ।

प्रतीहारी—इयो इवो देवो । (इत् इतो देवः ।)

[सर्वे उत्तरमुपसर्पन्ति ।]

राजा—[समस्तादिसौम्य] क्षुध्यं सस्त्रियम् ।

[नेपथ्ये]

सविहा सविहा । अहं अत नयन्तं पेश्छामि । तुभं मं शु पेक्षति । विद्यासापहीनो मूत्समी विम एिरासी भिह कोपिबे संयुतो । (सविहा सविहा । अहमश्नयन्तं पश्यामि । त्वं मा न पश्यसि । विद्यासगृहीतो मूषक इव निराशोऽस्मि जीविते तवृत्तः ।)

राजा—मोहितरक्तदिग्गीणजित् । अवीयमस्य त्वां दृश्यति । एष तन्मिव संवये ।

यो हनिष्यति चर्ध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम् ।

हंसो हि क्षीरमादधे तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ॥ २८ ॥

[दायस्वं संवते]

[नेपथ्ये]

तेरे कंठके गरम अधिरका ध्याता मी तेरा उसी प्रकार बब किए डालता हूँ जैसे छड़पते हुए पशुकी सिंह भार डालता है । अब धावें न पीड़ितोंके रक्षक अनुपकारी दुष्यन्त तुम्हें बचावे ॥ २७ ॥

राजा—क्या तू मुझे भी चुनौती दे रहा है ? तो ठहर सवा मौख जानेवाले पिशाच ! मैं अभी तुम्हें मारे डालता हूँ । [पशुप बहाकर] येनयती । बस तो आगे-आगे सीढ़ीपर ।

प्रतीहारी—इपरसे आइए देव, इपरसे ।

[सबका बेगसे प्रस्थान]

राजा—[चारी घोर देखकर] यहाँ तो कहीं कोई भी नहीं दिखाई दे रहा है ।

[नेपथ्यमें]

हाय ! हाय ! मैं आपकी देख रहा हूँ, पर आप मुझे नहीं देख रहे हैं । मैं तो बिल्लीके पंजोंमें पड़े हुए चूहेके समान अपने प्राणोंसे हाय धोए बैठ हूँ ।

राजा—अच्छा रे छल विद्याके परमवी ! अब मेरा बाण ही तुम्हें देख सेना । देख ! मैं यह बाण चढ़ाता हूँ और जैसे हथ, पनिमल द्रुधमे से दूध-दूध भी जाता है और पानी-पानी छोड़ देता है जैसे ही यह भी तुम्हें मारे जानेवालेकी मार टालेगा और इस बचाव जानेवाले ब्राह्मणकी बचा लेगा ॥ २८ ॥

[बाण चढ़ाता है]

राजा—केनात्तगन्धो मात्सवकः ।

प्रतीहारी—यद्विद्वद्भवेण केण वि सतेण अविक्कुमिअ मेहप्पडिच्छन्दस्स पात्तावस्स अण्ण-
भूमि आरोहिन्दो । (महच्छन्दस्वेण केनापि सावेनातिक्कम्प वेधप्रतिच्छन्दस्साण्णभूमिमारोपित ।)

राजा—[उत्थाय] भा तावत् । ममापि सत्त्वेरभिभूयन्ते गृहाः ।

अथवा—

अहन्त्यहन्त्यात्मन एव तावज्ज्ञातुं प्रमादस्खलितं न शक्यम् ।

प्रजासु कः केन यथा प्रयातीत्यशेषतो वेदितुमस्ति शक्तिः ॥२६॥

[नेपथ्ये]

भो ययस्स अविहा अविहा । (भो ययस्स अविहा अविहा ।)

- राजा—[गतिभेदेन परिक्रानन्] सखे ! न मेतव्यं न मेतव्यम् ।

[नेपथ्ये]

[पुनस्तत्रैव पठित्वा] कहूं हा माहस्स । एस थं को वि यक्कयएवसिरोत्तुरं इयलुं मिअ
तिष्णमयं करोदि । (कय न भेष्यामि । एय मा कोऽपि प्रत्यवनसशिरोधरमिधुमिव भिमङ्क
करोति)

राजा—[सहस्रिदोषम्] पुनस्तावत् ।

[प्रविश्य द्याङ्गं हस्ता]

यवनी—भट्टा एवं हत्पायायसहिदं सरासलं । (भर्तः एवदस्तावाप सहित वारासनम् ।)

[राजा सगर वनुरावते ।]

राजा—माधव्यको किसने सता रक्ख ! हे ?

प्रतीहारी—किसी भूत-प्रेतने उन्हें पकड़कर मेघ-प्रतिच्छन्द-भवनके मुँहरेपर ले जाकर
टाँग दिया है ।

राजा—[उठकर] यह कैसे हो सकता है ? क्या मेरे घरमे भी भूत-प्रेत झूझा जमाने
सके हैं ? पर यह हो भी सकता है—क्योंकि जब मनुष्य यही नहीं जानता कि वह स्वयं भूतसे
मित्र किसने पाय कर बैठता है तो यह कैसे जाना जा सकता है कि प्रजाने कौन किस समय
क्या कर रहा है ॥२६॥

[नेपथ्यमें]

हुहार्द है मिअ, हुहार्द ।

राजा—[वेगते धूमता हुआ] टरौ मत मिअ, करो मत ।

[नेपथ्यमें]

हाय, हाय ! टहूं क्यों नहीं ! यहाँ कोई मेरे गतेको इसके समान मरोडपर तीन टुकड़े
किए टाल रहा है ।

राजा—[चारों ओर देखता हुआ] घरे, धनुष तो ले आओ ।

[हायमे धनुष लिए हुए प्रवेश करके]

यवनी—महाराज ! यह सीजिए धनुष धोर हथरखा ।

[राजा धनुष-बाण लेते हैं ।]

[नेपथ्ये]

एष त्वामभिनवकण्ठसोऽखितार्थी शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम् ।

आर्तानां मयमपनेतुमात्तधन्वा दुष्यन्तस्तव शरणां भवत्विदानीम् ॥२७॥

राजा—[सरोपम्] कर्म मामेषोक्तिरिति । तिष्ठ कुणपाञ्चन । त्वमिदानीं न भविष्यसि ।

[शार्ङ्गमारोप्य] येनयति ! सोपानमार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—इवो इवो देवो । (इत इवो देवः ।)

[सर्वे सत्वरमुपसर्पन्ति ।]

राजा—[समन्ताद्विलोप्य] शुन्यं सत्पिबन्धु ।

[नेपथ्ये]

भविहा भविहा । अहं मत्त भवन्तं येनतामि । तुमं मं रा येनसति । विहासागहीवो मूसधो विहा शिरासी मिह जीविषे संपुतो । (भविहा भविहा । अहमत्रभवन्तं पश्यामि । त्वं मा न पश्यसि । विहासगृहीतो मूषक इव निरासोऽस्मि जीविते संवृत्तः ।)

राजा—भोस्तिरस्कृतिरणीमयि । मदीयमस्त्रं त्वां द्रवयति । एष तस्मिन् संवये ।

यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम् ।

हंसो हि क्षीरमादधे तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ॥ २८ ॥

[इत्यस्यं संपद्यते]

[नेपथ्ये]

तेरे कंठके गरम क्षिरका प्यासा मैं तेरा दसी प्रकार बध किए जासता हूँ जैसे हाथपते हुए पशुको सिंह मार जासता है । अब आवें न पीकितोके रक्षक धनुषधारी दुष्यन्त तुम्हें बधाने ॥ २७ ॥

राजा—क्या तू मुझे भी मृगीती दे रहा है ? तो ठहर सब मैंसे जानेवाले पिछाच । मैं अभी तुम्हें मारे जासता हूँ । [धनुष चढ़ाकर] देखवती ! बस तो आगे आगे सीधीपर ।

प्रतीहारी—इधरसे आइए देव, इधरसे ।

[सबका वेगसे प्रस्थान]

राजा—[बायी ओर देखकर] यहाँ तो कहीं कोई भी नहीं दिखार्द दे रहा है ।

[नेपथ्ये]

हाय ! हाय ! मैं भाषको देख रहा हूँ, पर आप मुझे नहीं देख रहे हैं । मैं तो बिल्लीके पैजोंमें पड़े हुए चूहेके समान अपने प्राणोंसे हाथ धोए बैठा हूँ ।

राजा—भन्खा रे छल बिधाके घमंडी ! अब मेरा बाण ही तुम्हें देख लेगा । देख ! मैं यह बाण चढ़ाता हूँ और जैसे हथ, पनिपल दूधसे से दूध-दूध पी जाता है और पानी-पानी छोड़ देता है—वैसे ही यह भी तुम्हें मारे जानेवालेको मार जायेगा और इस बचाए जानेवाले ग्राहणको बचा लेगा ॥ २८ ॥

[बाण चढ़ाता है]

[तव प्रविविध विद्रुपकमुत्प्लव्य मातलिः ।]

मातलिः—

कुताः शरव्यं हरिणा तवासुराः शरासनं तेषु विकृष्यतामिदम् ।

प्रसादसौम्यानि सतां सुहृज्जने पतन्ति चक्षुषि न दारुणाः शराः ॥ २६ ॥

राजा—[सप्तभ्रमस्तत्रमुपनहरत्] अये मातलि । स्वागतं महन्त्रसारथे !

[प्रविश्य]

विद्रुपकः—महं कैल इष्टिपशुमारं मारितो तो इमिणा साधवेण महिषन्वीमहि । (महं येनैष्टिपशुमारं मारितः सोऽनेन रवागनेनाभिबल्यते ।)

मातलि—[सस्मितम्] आमुष्मन् ! अयत्नां यदर्थमस्मि हरिणा भयस्तपसां प्रेषितः ।

राजा—अवहितोऽस्मि ।

मातलि—अस्ति कालनैमिषसृतिर्दुर्जयो नाम वानचपलः ।

राजा—अस्ति । युतपूर्वं मया नारदात् ।

मातलि—

सख्युस्ते स किल शतक्रतोरजयस्तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता ।

उच्छ्रेयं प्रमथति यन्न सप्त सन्तिस्तन्नैशं विमिरमपाकरोति चन्द्रः ॥ ३० ॥

स भवानासक्तश्च एव द्वानां तर्मेन्द्रचमालश्च विजयाय प्रतिष्ठताम् ।

[विद्रुपकको छोटकर मातलिका प्रवेश]

मातलि—इन्द्रे राक्षसीने मारनेका काम आपको धोषा है । अब आप उन राक्षसीपर हो चलकर अपने बाण पताइए क्योंकि सज्जन लोग अपने मित्रोपर बाण नहीं मरवाते, अपनी कृपा बरवाते हैं ॥ २६ ॥

राजा—[बाण उतारता हुआ] कौन ? मातलि ? आओ, स्वागत है इन्द्रके सारथी !

विद्रुपक—[प्रवेश करके] भरे ! जो मुझे वलिपशुने समान मारे डाल रहा या डसका मही स्वागत किया जा रहा है ।

मातलि—[मुन्कुराकर] आमुष्मन् ! इन्द्रे मुझे जिस कामसे आपके पास भेजा ॥ वह पहले गुन लीजिए ।

राजा—हाँ कहिए, मैं गुन रहा हूँ ।

मातलि—कालनैमिषे वसवाने दानवोका एक ऐका दस बन गया है जो हराए नहीं हार रहा है ।

राजा—हाँ, मारद मुनिने मुझने बहुत दिन हुए बताया था ।

मातलि—आपने जिस इन्द्र उन्हें जीत नहीं पा रहे हैं । अब यही समझा गया है कि आप ही उन्हें रणभेदमें पछाड़ सकने हैं, क्योंकि रानने जिस छेदरेको मारे नहीं हार कर सकता उसे चन्द्रमा ही हराता है ॥ ३० ॥ अब आप यह अनुप-बाण लिए-लिए इसी इन्द्रके रथपर बैठकर विप्रने सिंगे चले बलिए ।

राजा—धनुर्गृहीतोऽभ्युपगच्छाम्यस्य । अथ माधव्यं प्रति भवता किमेवं प्रयुक्तम् ।

मातलिः—तदपि कथ्यते । किञ्चिद्विप्रितावपि मनःशंतापादायुष्मान्मया विवक्ष्यो दृष्टः । पश्चात्कोपयितुमायुष्मन्तं तया कृतकान्तिम् । कुतः ।

ज्वलित चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृतः पन्नगः फण्यं कुरुते ।

प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात्प्रतिपद्यते हि जनः ॥३१॥

राजा—[जनान्तिकम्] यस्य धनतिक्रमणोपा विवक्ष्यतेराजा । तदत्र परिगतार्थं कुर्यात् । मत्तुलनाहमापिद्युनं ब्रूहि—

त्यन्मतिः केवला तावत्परिपालयतु प्रजाः ।

अधियमिदमन्यस्मिन्कर्मणि व्यापृतं धनुः ॥३२॥

इति

विदूषक—अं भवं प्राणयेदि । (यद्भवान्ताज्ञापयति ।) [इति निष्क्रान्तः ।]

मातलिः—आयुष्मान् रघुमारोहतु ।

[राजा रथाधिरोहणं नाटयति ।]

[इति निष्क्रान्तः सर्वे ।]

॥ इति पष्ठोऽङ्कः ॥

राजा—भगवान् इन्द्रने यह सम्मान देकर मुझ पर बठा धनुषह किया है । पर यह तो बताए कि आपने माधव्यके साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया था ।

मातलि—वह भी बताता है । मैंने आकर देखा कि आपका मन्त्र न जाने क्यों धड़ा बुझी हो रहा है । इसलिये आपका क्रोध जमानेके लिये मैंने यही ठीक समझा । क्योंकि प्रायः सभी जगती है जब ईश्वरको हिला-डुला दिया जाय, भीर सौध भी अपनी फन उठाकर उसी कुक्कारता है जब उसे कोई छेद दे । इसी प्रकार मनुष्यको भी जबतक कोई उल्लासकर मड़का न दे तबतक वह अपनी तेज नहीं दिखता पाता ॥३१॥

राजा—[विदूषकसे] यस्य ! इन्द्र भगवान्की आज्ञा टाली तो जा नहीं सकती । इसलिये अमात्य विदुषको यह सब समाचार सुना देना और मेरी ओरसे उनसे यह कह देना कि—जबतक मेरा धनुष सपर दूसरे कागमे फँसा हुआ है तब तक अपनी बुद्धिसे ही प्रजाका पालन करें ॥३२॥

विदूषक—जैसी आपकी आज्ञा । [जाता-है ।]

मातलि—सर्वे, आयुष्मान् रघुपर चढ़ जायें ।

[राजा रघुपर चढ़नेका नाट्य करते हैं ।]

[सबका प्रस्थान]

॥ छठा अंक समाप्त ॥

सप्तमोऽङ्कः

[सप्त प्रविशत्याकाश्यानेन रथाचिरुद्धो राजा मातृविभ्रः ।]

राजा—मातले ! अनुष्ठितनिवेष्टोऽपि भयवत्, सत्क्रियाविशेषादनुपपुक्तमिवात्मानं समर्पये ।

मातलि—[सस्मितम्] आमुष्मन् ! उभयमप्यपरितोषं समर्पये ।

प्रथमोपकृतं मरुत्वतः प्रतिपस्या लघु मन्पते भयान् ।

गण्यत्यवदानविस्मितो भवतः सोऽपि न सत्क्रियागुणान् ॥१॥

राजा—मातले ! मा भयम् । स खलु मनोरथानामप्यभूमिविजयानावरत्नरत्नकारः मम हि दिवीरुतां समभमर्षात्तपोपवेजितस्य—

अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं ज्यन्तमुद्ग्रीच्य कुतस्मितेन ।

आमृष्टवज्रोहरिचन्दनाङ्गा मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा ॥२॥

मातलि—किमिव नामागुष्मानमरेश्वराग्रहंति । पश्य—

सप्तमं श्रद्ध

[आकाशमें एवपर चढ़े हुए राजा दुष्मन्त और मातलि दिखाई देते हैं ।]

राजा—मातलि ! यद्यपि मैंने भयवान् इन्द्रकी आज्ञाका पालन मात्र किया था, पर जैसी पून-पामसे उन्होंने मेरा स्वागत उत्कार किया उसके सामने तो मेरी सेवा कुछ भी नहीं थी ।

मातलि—[मुस्करा कर] आमुष्मन् ! मैं तो समझता हूँ कि आप दोनोका ही मन एक दूसरे का धाँवर करके मर गयीं । राजन् ! इन्द्रका इतना बड़ा काम करके भी आप जो धपमी देवाकी मुन्त समझ रहे हैं, उसका कारण यही है कि आप भगवान् इन्द्रकी बड़प्पन देना चाहते हैं । और वे भी आपकी बीरतासे इतने अचरजमें मर गए हैं कि आपका इतना सम्मान करके भी वे समझ रहे हैं कि आपका ठीक-ठीक धाँवर हो नहीं पाया ॥१॥

राजा—नहीं मातलि ! यह बात नहीं है ! यहाँ से चलते समय मेरा जो उत्कार हुआ है इतने सम्मानकी तो कोई बत्पना भी नहीं कर सकता । उन्होंने देवताओंके सामने ही मुझे अपने साथे सिद्धासनपर बिठा लिया और अपनी छातीपर सोभा देती हुई हरिचन्दन सगी हुई यह मन्दारकी माथा अपने गलेसे उतारकर मुस्कराते हुए मेरे गलेमें दास दी जिसे पानेके लिये ज्यन्त सनपाई पाँतों से देर रहा था ॥२॥

मातलि—मुझे बताइए एसा कौनसा सम्मान है जो देवराज इन्द्रने हाथ पाप नहीं पा

सुखपरस्य हरेरुभयैः कृतं त्रिदिवमुद्धृतदानवकण्टकम् ।
तव शरैरधुना नतपर्वभिः पुरुषकेसरिणश्च पुरा नखैः ॥३॥

राजा—अब शत्रु घातकनोरेव महिमा स्तुत्यः ।

सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
संभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम् ।
किं चाऽभविष्यदरुणस्तमसां विमेचा
तं चेत्सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत् ॥४॥

भातलि.—सहस्रमेवैतत् । [स्थोकगन्धर्वगीतरस्य] इतः पश्य नाकपृष्ठप्रतिष्ठितस्य सीमाप्य-
मानवस्यसः ।

विच्छिन्निशेषं सुरसुन्दरीणां वर्यैरमी कल्पलतांऽशुकेषु ।
विचिन्त्य गीतव्यमर्थार्थात् दिवौकसस्त्वचरितं लिखन्ति ॥५॥

राजा—भातले । अमुरसप्रहारोत्पुकेन पूर्वैर्दुर्विषयविरोधता मया न लक्षितः स्वर्गमार्गः ।
कृतमस्मिन्नक्षतां पपि वर्तमानहे ।

भातलिः—

त्रिस्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां ज्योतींषि वर्तयति च प्रविभक्तारिमः ।

सकले । देखिए—सदा सुखका जीवन बितानेवाले इन्द्रके लिये वो ही वो ऐसे हुए हैं जिन्होंने
राक्षस-करी काँटे स्वर्गसे उखाड़ फेंके हैं—एक तो शूँसिह भगवान् वे जिन्होंने अपने नखोंसे
देवताओंके शत्रु हिरण्यकशिपुका पेट फाड़ डाला था और दूसरे भाष हैं जिन्होंने इस बार अपने
चिकने-चिकने जोड़वाले भाण्डोंसे शत्रुओंको मार डाला है ॥३॥

राजा—यह सब तो भगवान् इन्द्रकी ही महिमाका फल है । यदि कोई सेवक बहुत बड़ा
काम करके भावे तो यही समझना चाहिए कि स्वामीने वह काम तोपकर उसे जो बड़ा
भारी सम्मान दे दिया था उसीका यह फल है । यदि सूर्य, माघे-भावे प्रदत्तको न ले जले तो
भला प्रमाणमे इतनी शक्ति कहाँ कि वह भीरेको दूर भगा सके ॥४॥

भातलि—ऐसी बातें कहना आपका बड़प्पन है । [थोटी दूर चलकर] आधुत्तनु ! इधर
स्वर्गमें फौली हुई अपनी कीर्तिकी धारः तो देखिए ।—देवता लोग आपके पराक्रमके पीत
बना-भनाकर कल्पवृक्षके कण्ठोंपर उन रंगोंसे शिख रहे हैं जो अम्बरराशियोंके सिंगारों बने
पड़ गए हैं ॥५॥

राजा—भातलि ! मैं जब छाया था तब राक्षसोंसे युद्ध करनेके ज्वालमें इतना मग्न था
कि उस बार स्वर्गका मार्ग भली भाँति देख ही नहीं पाया था । अच्छा यह तो बताओ कि इस
लोग इस समय पवनके किस तलमें चल रहे हैं ?

भातलि—यह बड़ी तल है जिसे लोग कहते हैं कि वायन भगवान्ने अपने दूसरे पक्षे
भापकर पवित्र कर दिया है । यहाँ परिवह नायका वह पवन चला करता है जिसने आकाश-

तस्य द्वितीयहरिविद्रमनिस्तमस्क बाधोरिमं परिवहस्य वदन्ति मार्गम् ॥६॥

राजा—मातले ! अतः सत्तु सबाह्यान्त-हरणो ममान्तरात्मा प्रसोदति । [रणार्द्रमदतोऽस्य]
वेपथुवर्षावपतीर्णो ह्यहः ।

मातलिः—अयमवगच्छते ।

राजा—

अपमरविचरेभ्यश्चातर्कैर्निष्पतद्भिर्हरिभिरचिरभासां तैजसा चानुलिप्तैः ।

शतमुपरि घनानां वारिगर्भोदराणां पिशुनयति रथस्ते शीकरविलन्ननेमिः ॥७॥

मातलिः—कल्याणपुष्पागवाविचारभूमौ कतिप्यते ।

राजा—[अधोऽवतोऽयम्] मातले ! वेपावनरत्नवाग्मयं वयमेनं सत्तपते मनुष्यलोकः ।
तथा हि—

शैलानामगरोहतीनं शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी

पर्णस्वान्तरलीनतां विजहति स्फुन्धोदपात्पादपाः ।

मंतानंभन्तुभायनष्टलिला क्वचित् भवन्त्यायमाः

केनाप्युत्तिष्ठतेऽयं परमं सुखं मत्परायमानीयते ॥८॥

मातलिः—साधु हृद्यम् । [अर्धदृग्गामवतोऽस्य] अहो उदाररमणीया वृषिभ्यो ।

राजा—मातसे ! कृतमोऽयं पूर्वाचरितमुद्रावगाढः कनकरसमिप्यन्वी साव्य इय मेघपरिचः
घातुमानातोषयते ।

मातलिः—प्रापुष्मन् ! एष खलु हेमकूटो नाम किमुत्पर्वतस्तपः संतिद्विजेयम् । पश्य—

स्नायंभुवान्मरीचैर्यः प्रवभूव प्रजापतिः ।

सुरासुरगुरुः सोऽत्र सपत्नीकस्तपस्यति ॥ ६ ॥

राजा—तेषु हनतिक्रमणोपानि । श्रेयोसि प्रवक्षिणीकृत्य भगवन्तं बन्तुमिन्द्राणि !

मातलिः—प्रयमः कल्पः ।

[नाट्येनावतीर्णः]

राजा—[अचिरमघम्]—

उपोदशब्दा न रथाङ्गनेमयः प्रवर्तमानं न च दृश्यते रजः ।

अभूतलस्पर्शतयानिरुन्धस्तवायतीर्णोऽपि रथो न लक्ष्यते ॥१०॥

मातलिः—एतावानेव शतक्रतोरपुष्पतत्र विज्ञेयः ।

राजा—मातसे ! वतस्मिन्प्रवेशे मारीचाधमः ।

मातलिः—[हस्तेन वशयन्]—

यन्मीकार्धनिमम्समूर्तिरुत्तरसा संदष्टसर्पत्वचा

फण्डे जीर्णलताप्रतानबलयेनात्पर्यसंपीडितः ।

राजा—मातलि ! बताओ तो, यह पूर्व घोर परिधमके समुद्रोत्क ऊँचा हुमा, मुगहरी
पारा बहानेवाला घोर सन्ध्याके मेघोंकी भीतके समान लम्बा-चौड़ा कौन सा पहाड़ दिखाई दे
रहा है ?

मातलि—प्रापुष्मन् ! यह तो हेमकूट नामक पहाड़ है जिसमें किन्नर लोग रहते हैं और
जहाँ तपस्या करनेवालोंकी सीमा ही सिद्धि मिल जाया करती है । देखिए, यहाँ देवताओं
और दानवोंके पिता स्वयम्भूमरीचके पुत्र प्रजापति कश्यप अपनी पत्नीके साथ बैठे तपस्या
काय रहे हैं ॥ ६ ॥

राजा—तब तो हाथने माया सोमाय छोड़ना नही चाहिए । मैं चाहता हूँ कि भगवान्
कश्यपकी प्रदक्षिणा कर लूँ तब जाऊँ ।

मातलि—यह तो आपने ठीक सोचा ।

[दोनों उत्तरनेका नाट्य करते हैं ।]

राजा—[माधपमसे] घरे ! तुम्हारा रथ जब नीचे उतर आया यह तो जान ही नहीं पड़ा
क्योंकि पृथ्वीसे न छूनेके कारण न तो इसके पहियोंकी घरघराहट ही सुनाई दी, न घूब ही
उड़ी और न तुमने दास ही खींचे ॥ १० ॥

मातलि—प्रापुष्मान्के घोर हस्त्रके रथमें बस यही तो अन्तर है ।

राजा—मातलि ! मरीचिके पुत्र कश्यपका साधम किधर है ?

मातलि—[हाथसे दिखाताते हुए] यह रहा कश्यप अधिना आश्रम, जहाँ वे ऐसी तपस्या

अंसव्यापि शकुन्तनीदनिचितं विश्रज्जटामखटलं

यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावम्यर्कविम्बं स्थितः ॥ ११ ॥

राजा—नमोऽस्मै वदतपते ।

मातलिः—[सयत्तप्रवृत्तं रथं दृष्ट्वा] महाराज एतावदितिपरवधितमन्दारवृक्षं प्रजापते-
राश्रमे प्रविष्टो ह्यः ।

राजा—स्वर्गावपिबतर् मित्रं तित्थानम् । अमृतहृदनिवायनादोऽस्मि ।

मातलिः—[रथं स्थापयित्वा] अवतरत्यामुष्मान् ।

राजा—[अवतीर्थं] मातलि । अयात्कथमिदानीम् ।

मातलिः—संमन्त्रितो मया रथः । वयमप्यवतरामः । [तत्रा दृष्ट्वा] इत आमुष्मान् ।
[परिक्रम्य] हृदयन्तामनभयतामृवीणां तपोवनभूमयः ।

राजा—मनु विस्मयादवतो वयामि ।

प्राखानामनिलेन पृत्तिरुचिता सत्कल्पपृष्ठे बने

तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशो धर्माभिपेक्षकिया ।

कर रहे हैं कि इनके आगे पारीर तक दीमकोंने बाँधी उठा खी है, पारीपर चाँपकी
बेजुतियां छुटी पड़ी हैं, गलेमें सूगे हुई बेतें उलसी हुई हैं, बग्योंतर लटकी हुई जटाधर्मि
चिह्नियोंने घोटले बना लिए हैं और गूँघे पेड़के ठूँठके समान घबस होकर वे सूर्यपर
भातें जमाए बैठे हैं ॥ ११ ॥

राजा—ऐसी बड़ीर तपस्या करनेवाले महारमाजी मैं प्रणाम करता हूँ ।

मातलि—[रथ सौंजकर और रथ रोक्कर] महाराज ! हम लोग प्रजापति वरपपके
पाधमने पहुँच गए हैं । यह देखिए, यह सुन्दर मन्दारके वृक्षोंकी वंति घदितिने अपने
हाथने लगाई है ।

राजा—यहाँ तो स्वर्गसे भी बढ़कर पान्ति कौसी हुई है । ऐसा जान पड़ता है माजी मैं
अमृत-मुग्धमें डूब पड़ा होऊँ ।

मातलि—[रथ रोक्कर] उतरें आमुष्मान् ।

राजा—[उतरकर] मातलि ! यह घास बना करेने ?

मातलि—मैंने भर्मा भीति रथ रोक् लिया है । मैं भी घासने घास ही उतर रहा हूँ ।
[उतरकर] इफले घाए आमुष्मान् ! [पूछते हुए] घाए, यहाँ ऋषियोंकी तपोभूमि
केतिर ।

राजा—गणपुत्र मुझे तो यह देखकर बड़ा डरकर हो रहा है कि यहाँ ये तपस्वी घोष
उन वानुधारे बीचने बँटकर तपया कर रहे हैं जिन्हें पानेने निन्दे दूगरे ऋषि लोग तपया
विजा करते हैं । यहाँ पर ये लोग वानुधारोंके बनवा यामु बोनीकर जीते हैं, गुहारे कमलके

मा बलु चावलं करेहि । कहं गयो जेव भत्तखो पबिदि । (भा खलु पापनं कुरु । कार्यं यत् एवात्मनः प्रकृतिम् ।)

राजा—[कारुं दत्त्वा] अमृमिरियमविनयस्य । को नु सन्त्वेव निविध्यते । [सन्त्यानुसारेणावलोक्य सविस्मयम्] अये को नु सन्त्वयमनुबध्यमानस्तपस्विनीम्यामनासतत्त्वो बालः ।

अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दविलष्टकेसरम् ।

अक्रीडितुं सिंहशिशुं बलात्कारेण कर्पति ॥१४॥

[ततः प्रविशति ययानिदिष्टकर्मा तपस्विनीम्या सह शासः ।]

शासः—किम्न तिस्रु बन्ताई दे गएदस्त । (बुम्भस्व सिंह दन्तास्ते गएपिण्डे ।)

प्रथमा—प्रविणोव किं एषो अपृषचशिविसेताखि सत्ताखि विष्यभरेसि । हगत बह्दइवे संरम्भो । ठाणे बलु इतिअणेण सव्ववमसो त्ति किइलामहेमो सि । (अविनीत । किं नोऽप्यनिविसेपाणि सत्त्वानि विप्रकरोषि । हगत । वधेते तपसरम्भः । स्थाने ससु अपिजनेन उर्वरदन इति कृशनाम-वेयोऽसि ।)

राजा—किं न खलु बातेऽस्मिन्मनोरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः पुनमनपत्पत्ता मां वत्सलपति ।

द्वितीया—एसा बधु केसरिणी कुमं लइघेदि कइ से पुत्तमं ए मुञ्चसि । (एसा सधु केसरिणी एसा लङ्घयिष्यति यदि तस्याः पुत्रक न मुञ्चसि ।)

बस नटखटपन न कर । क्यों ? तू फिर अपने स्वभाव पर सतर प्राया ?

राजा—[कान सगाकर] भरे, यहाँ तो नटखटपन होना ही नहीं चाहिए फिर यहाँ कौन किये डाँट रहा है ? [निधरसे बोली सुनाई देती है ऊपर देखकर आश्चर्यसे] भरे, यह कौन पराक्रमी बाइक है जिसके पीछे पीछे दो उपस्थनियाँ बसी घा रही हैं और जो—अपने खेचनेके लिये सिंहनीके स्तनोसे प्राया दूध पिए हुए सिंहनीके बच्चेको खेचनेके लिये बसपूर्वक घसीटे लिए चला घा रहा है जिसके केसर लाख खींचा-तानीमे छितरा गए हैं ॥१४॥

[ऊपर कहीं हुई दशमे तपस्विनियोंके साथ बालकका प्रवेश]

बालक—सोत के (रे) विष (सिंह) अपना मुँह । मैं तेजे (तेरे) दाँत चिन्वा ।

गहरी—भरे नटखट ! जिन पशुओंको हम सोचोने अपनी सत्त्वानके समान पाए रखता है उन्हें तू क्यों इतना सताया करता है ? क्या कहें, तेरा नटखटपन दिन-दिन बढ़ता ही जा रहा है । अधिपतिने तेरा नाम ठीक ही सर्वदमन रख छोड़ा है ।

राजा—इस बालकपर मेरे मनमे वैसा ही प्रेम हो रहा है मानो यह मेरा अपना ही पुत्र हो । पर जान पड़ता है कि पुत्र न होनेके कारण ही मेरे मनमे यह बातसत्य प्रेम उभर आया है ।

दूसरी—इसके बच्चेको तू नहीं छोड़ेगा तो यह सिंहनी तेरे ऊपर झपट पड़ेगी ।

बालः—[सस्मितम्] अम्हूहे बलिमं पणु भीदो म्हि । (प्रहो वलीयः सलु भीतोऽस्मि ।)
[हत्यघरं दर्शयति ।]

राजा—महतस्तेजसो बीजं बालोऽयं प्रतिमाति मे ।

स्फुलिङ्गावस्थया वह्निरेधापेक्ष इव स्थितः ॥१५॥

प्रथमा—यच्छ एवं बालमिद्वन्द्वं मुञ्च । अघरं दे कीर्तयन् वदस्व । (बाल एव बाल-
मृगेणं मुञ्च । अघरं ते क्रीडनकं दास्यामि ।)

बालः—कहि । देहि खं । (कुप । देखो तत् ।) [इति हस्तं प्रसारयति ।]

राजा—कथम् । घक्रवतिलदासमममेन पार्थसे । तच्चा ह्यस्य—

प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारिता विभाति जालग्रथिताङ्गुलिः करः ।

अलक्ष्यपत्रान्तरमिद्वरागया नवोपसा मिन्नमिर्वैकपङ्कजम् ॥१६॥

द्वितीया—हृत्पदे । ख सङ्को एतो बाभामत्तेण विरमयितुं । यच्छ तुम् । ममकेरण उज्ज
भङ्गजेमस्स इतिभुमारमस्स यच्छचित्तवो भित्तिभामोरमो चिट्ठदि । तं से उयहर । (मुचते ।
न क्षय एव वाचामाणेण विरमयितुम् । यच्छ स्वम् । मदीये उटजे मार्कण्डेयस्यापि कुमारस्य यण-
चित्रितो मृत्तिकाभमूर्तिस्तिष्ठति । समस्योपहर ।)

प्रथमा—तह । (तथा) [इति निष्क्रान्ता ।]

बालः—इमिरा एण्य वाय कीर्तस्सं । (अनेजं तावत्स्मेविश्यामि ।) [इति लापसी
विमोच्य हसति ।]

बालक—[मुस्कराते हृष्ट] भले (घरे) मैं तो बला (बड़ा) दब (डर) गया हूँ । [भीत
निकासकर मुँह बनाता है ।]

राजा यह बालक तो मुझे बड़े तेजस्वीका पुत्र जान पड़ता है और उत चित्तपारी के
रूपमें रहने वाली प्रभिके समान दिखाई पड़ रहा है जो भङ्क उठनेके लिये बस ईपनकी
माट देख रही हो ॥१७॥

पहली—बला ! इस सिंहके बच्चेको छोड़ दे । मैं तुझे और शिलीना लाए देती हूँ ।

[हाथ फेंकाता है]

बालक—कहाँ है ? साग्री दो ।

राजा—घरे, इसके हाथमें तो यशस्वतियोंके भी सदाएँ दिखाई दे रहे हैं । क्योंकि—
जिसनेके लोभसे फेंकाया हुआ यह जासके समान किसी हुई जेबलियो-बाला इसका हाथ
उत भकेले कमसेके जैसा दिखाई दे रहा है जो बात-बासकी जालीसे बचक रहा हो और
जिसकी पंलड़ियाँ अभी पूरे खुस भी न पाई हों ॥१८॥

दूसरी—सुनता ! यह बातोंमें नही फुसलाया जा सकता । तू जा, मेरे कुटीमें जो श्रुपि-
कुमार मार्कण्डेयका रेंगा हुआ मिट्टीका मोर खड़ा है, उसे उठाओ ला ।

पहली—यच्छ । [जाता है]

बालक—घोम (मोर) खवतक मैं देखेदे (देखीसे) खेतता हूँ । [यह कहकर खपलियोंको
देखकर हँस देता है ।]

राजा—सूह्यामि खलु बुलंतितापास्मै ।

आलक्ष्य दन्तमुकुलाननिमित्तदासैरव्यक्तवर्णैरमणीयवचःप्रवृत्तीन् ।

अङ्गाश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्ती घन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ॥१७॥

तापसी—होहू । ख भ धर्म गयोदि । [पादोंमवबोकोयति] को एत्य इसिकुमारारण ।
[राजानमवबोकोय] भद्रमुह । एहि दाप । मोएहि इमिणा दुम्नोप्रहृत्यगहेण हिम्नसीताए
माहोअमारणं बावमिद्वन्धं । (भवतु । न मामयं गणयति । कोअ ऋषिकुमारारणम् । भद्रमुह ।
एहि तावत् । मोचयानेन दुर्मोकहस्तग्रहेण हिम्नसीतया वाच्यमान बावभूमेन्द्रम् ।)

राजा—[उपगम्य । सहस्रम्] अयि भो महर्षिपुत्र !

एवमाश्रमविरुद्धवृत्तिना संयमः किमिति जन्मतस्त्वया ।

तत्त्वसंश्रयसुखोऽपि दृष्यते कृष्णसर्पशिष्टुनेव चन्दनः ॥१८॥

तापसी—भद्रमुह । ॥ खलु अयं इसिकुमारप्रो । (भद्रमुह । न खल्वयमृषिकुमारः ।)

राजा—आकाशहर्षां खेदितमेवास्मै कथयति । स्वानुप्रत्ययात् अयमेवं तर्कितः । [यथा-
ऽभ्यर्षितमनुसिङ्गन्वालयसर्पशुषलम्ब्य, आरमगतम्]

अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम् ।

कां निर्द्विषति चेत्तसि तस्य कुर्यादस्यापमङ्गात्कृतिनः शरूढः ॥१९॥

राजा—मुझे तो यह नटलट बातक न जाने क्यों यड़ा प्यारा लगता है । ॥ भाग्यवान्
भाग्य है जिसकी गोदमें बैठकर यह स्वभावसे हँस मुल, कभीके खमान कुछ-कुछ फलकते हुए
शीतोष्णता और सुखसा-सुखला कर बातें करनेवाता बाबक अपने धंगकी धूल सबके धंगमें
लगता होगा ॥१७॥

तपस्विनी—भरे ! यह तो मेरी बात सुनता ही नहीं । [इपर-उपर देखकर] भरे कोई
ऋषिकुमार यही है ? [राजाकी देखकर] हे भद्र ! तनिक दाप ही पाकर इस बाबकके हाथमें
इस सिहके बन्धकी छुटा दीजिए । इसने इसे ऐसा कतकर पकड़ रक्ता है कि मेरे हाथमें तो
पुकार नहीं छूटता ।

राजा—[पाठ जाकर मुकराहटके साथ] भरे, ए महर्षिकुमार ! तुम यहाँ आश्रमके नियमोंसे
उल्टा काम क्यों कर रहे हो ? ये बेचारे जीव जो जन्मसे ही सीधे सादे रहकर सुखी जीवन बिता
रहे हैं उन्हें तुम उस प्रकार क्यों सता रहे हो जैसे फाले खर्पका बच्चा बन्दनके पैरोंको
सजाता है ॥१८॥

तपस्विनी—भद्र ! यह ऋषिकुमार नहीं है ।

राजा—इसके रूप और चालोंसे ही जान पड़ रहा है कि यह ऋषिकुमार नहीं है । पर यहाँ
अभियनके देखकर मैंने इसे ऋषिकुमार ही समझ लिया था । [जो घरकर बाबकके शरीरपर हाथ
फेरकर भाप-ही-भाप] न जाने यह बाबक किस खंजवा है । इसे एक बार ही ॥ लेनेसे जब मेरे
शरीरको इतना गुल मिल रहा है तब अब भाग्यवान्को कितना आनन्द मिलता होगा जिसका यह
सगा मुत्र है ॥१९॥

तापसी—[उभो निर्वर्ण्य] अञ्छरिमं । अञ्छरिमं ।

(प्राञ्चयम् । आञ्चयम् ।)

राजा—आयें किमिव ।

तापसी—इमस्त वातघ्नस्त दे वि संवादिली आकिनी छि विम्हाविदम्हि । अपरिद्व स वि दे
अप्यडिलोयो संश्रुतो छि (घस्य धातकस्य सेजं संवादिन्याकृतिरिति विस्मापिताऽस्मि । अपरि-
चित्तस्यापि सेऽप्रतिसोमः संवृत्त इति ।)

राजा—[बातकमुपसायय] न सेगुमिनुमारोऽयस्य कोऽय व्यपदेशः ।

तापसी—पुरुषसो । (पुरुषसः ।)

राजा—[आत्मगतम्] कायमेकान्वयो मम । अतः लक्ष्म्यं अस्तुकारिण्यमेनमग्रभवती, ममपते ।
अस्त्येतत्पौरपात्यामन्त्रं कुलधत्तम् ।

भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम् ।

नियतैकपतिव्रतानि पश्चात्तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम् ॥२०॥

[प्रकाशम्] न पुनरात्मगतत्वां चापुष्पाणामेव विषयः ।

तापसी—जह भङ्गुहो भस्त्रादि । अस्मदरातं वग्येतु इमस्त जखली एत्य देवगुणो पसूदा ।
(यदा भद्रमुखो भवति । अस्मत् सवग्येनास्य जनन्यन् देवगुरोस्तपोवने प्रसूता ।)

राजा—[अपवायं] हन्ते द्वितीयमिवमाज्ञाजगन्तु । [प्रकाशम्] अथ ता तमभवती किमावस्य
राज्यैः परमी ।

तापस्विनी—[धोकोको देखकर] आश्चर्य है, आश्चर्य है ।

राजा—आश्चर्यकी क्या बात है, आयें !

तापस्विनी—तुम्हारा शीर इस बातकका एक दम मिलता-जुलता रूप देखकर मैं तो अचरजमें
भर गई हूँ शीर फिर देखिए कि अन्यान्य होते हुए भी इसने आपका कहना नहीं डाला ।

राजा—[अपनेको दुभारते हुए तापस्विनीसे] अजब यह तो बताइए कि यह ऋषिकुमार नहीं
है तो फिर किस वक्ता है ?

तापस्विनी—पुरुषशका ।

राजा—[मन ही मन] भरे क्या यह मेरे ही वक्ता है ? तभी ये तापस्विनीजी मुझे इससे
मिलता-जुलता बता रही हैं ।

पर पुरुषशिवजी तो यह खेंचो हुई रीति है कि ये—गुनावस्वामि पृथ्वीको रक्षाके लिये
मिलासकी सायप्रियोसे भरे भवनोंमें रहना चाहते हैं और बुझापेमें अपनी पतिव्रता स्त्रीको साथ
लेकर वृक्षाके नीचे कुटिया बनाकर रहने लगते हैं ॥२०॥ [प्रकट] पर यही अपनी लक्ष्मि तो कोई
मनुष्य पहुँच नहीं सकता ।

तापस्विनी—आप ठीक कह रहे हैं । इसकी मैं अस्मदा की कन्या है । इसलिये उसने यही
मरीचिके साथममें ही इसे बना दिया है ।

राजा—[अपने आप] भरे ! यह तो मेरी आज्ञाकी दूसरी सीटी मिल गई । [प्रकट] अच्छा

राजा—स्पृहयामि वसु दुर्लभितायास्मै ।

आलस्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् ।

अङ्गाश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्ती धन्यास्तद्वरजसा मलिनीभवन्ति ॥१७॥

तापसी—होडु । ए न भ्रमं गच्छेति । [पार्श्वमवलोचयति] को एव इति कुमारराणं । [राजानमवलोक्य] भद्रमुह ! एहि दाव । भोएहि इमिणा दुग्धोपहृत्यगहेण दिम्भलीलाय साहीप्रमाणं बालमिदमदत्त । (भवतु । न मामयं गच्छयति । कोऽयं ऋषिकुमारराणाम् । भद्रमुह ! एहि दावतु । मोक्षयानेन दुग्धोपहृत्यगहेण दिम्भलीलया वाध्यमान बाधमृगेन्द्रम् ।)

राजा—[उपगम्य । सस्मितम्] अपि भो महर्षिपुत्र !

एवमाश्रमविरुद्धवृत्तिना संयमः किमिति लन्मतस्त्वया ।

सत्तरसंश्रयमुखोऽपि दृप्यते कृष्णसर्पशिशुनेव चन्दनः ॥१८॥

तापसी—भद्रमुह ! ए वसु भ्रम इति कुमारयो । (भद्रमुह । न लत्वयमृषिकुमारः ।)

राजा—आकारसहर्षं चेष्टितमेवाद्य कथयति । स्थानप्रत्ययात् वयमेवं तर्कितः । [यथा-
ऽप्यधितमनुतिष्ठानालस्यार्थमुपलभ्य, आत्मवचम्]

अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम् ।

कां निर्धृतिं चेतसि तस्य कुर्यादस्यायमद्गात्कृतिनः प्ररुढः ॥१९॥

राजा—मुझे तो यह नटलट बासक न जाने क्यों बड़ा प्यारा लगता है । यह भाग्यवान् वर्य है जिसकी गोदमें बैठकर यह स्वभावसे हँस मुल, कभीके समान कुछ-कुछ झलकते हुए दाँतोवाला और लुल्ला-लुल्ला कर बाँतें करनेवाला बालक अपने ब्रह्मकी धूल उसके प्राणमें लगाता होगा ॥१७॥

तपस्विनी—भरे ! यह तो मेरी बात सुनता ही नहीं । [इधर-उधर देखकर] भरे कोई ऋषिकुमार यहाँ है ? [राजाको देखकर] हे भद्र ! तनिक भाप ही भरकर इस बालकके हाथसे इस सिंहके बच्चेकी छुड़ा दीजिए । इसने इसे ऐसा कसकर पकड़ रक्खा है कि मेरे हाथसे तो छुड़ाए नहीं स्रटता ।

राजा—[पास जाकर मुस्कयहटके साथ] भरे, ए महर्षिकुमार ! तुम यहाँ प्राणमके नियमोंसे सल्ला वाम क्यों कर रहे हो ? ये बेचारे जीव जो जन्मसे ही सीमे खादे रहकर मुझी जीवन बिता रहे हैं उन्हें तुम उस प्रकार क्यों सता रहे हो जैसे बाले खंफका बच्चा चन्दनके पैठकी सताता है ॥१८॥

तपस्विनी—भद्र ! यह ऋषिकुमार नहीं है ।

राजा—इसके रूप और कार्योंसे ही जान पड़ रहा है कि यह ऋषिकुमार नहीं है । पर यहाँ तपोवनमें देखकर मैंने इसे ऋषिकुमार ही समझ लिया था । [जो भरकर बालकके पीरीपर हाथ फेरकर भाप-हो-भाप] न जाने यह बालक किस वर्यका है । इसे एक बार ही छू लेनेसे जब मेरे पीरीरको डराना मुल मिस रहा है तब सग भाग्यवानुकी जितना मानन्द मिलता होगा जिसका यह सगा पुत्र है ॥१९॥

तापसी—[उमो निर्वर्ण्य] अक्षरिणि । अक्षरिणि ।

(आश्रयम् । आश्रयम् ।)

राजा—आर्ये किमिव ।

तापसी—इमंरा भासभस्त ये वि रायाविहो अविधी ति विन्हाविदम्हि । अपरिद्विह रा वि ये अपरिद्वितोमो संकुतो ति { यस्य वातवत्य तेऽपि तथादिन्यात्रतिरिति विस्मापिताऽस्मि । अपरि-
पितस्यापि तेऽप्रतिसोमः सवृत्त इति ।)

राजा—[बालवमुपसायन्] न चेन्मुनिकुमारोऽयमथ कोऽयं व्यपदेशः ।

तापसी—पुण्यंते । (पुण्यं ।)

राजा—[पात्यगतम्] कथमेकाग्रयो भव । अतः समु मदनकाशिलमेवमभयसी मन्यते ।
अस्येतत्पौरवासागान्धं कुलजतम् ।

भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं चित्तिरचार्थमुशन्ति ये निवासम् ।

नियतैकपतिप्रतानि यथास्वरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम् ॥२०॥

[प्रकाशम्] न कुनराभक्त्या मानुषाणांमेव विषयः ।

तापसी—जह भद्मुहो भस्मादि । अक्षरासंयन्धेण इमस्स बलुखो एतव देवगुदणो पसूता ।
(मया भद्रमुखो भणति । अप्सरः सयन्धेनास्य जननवध देवगुरोस्तपोवने प्रसूता ।)

राजा—[अपवाप्यं] हन्त द्वितीयमिदमाज्ञाजनवधम् । [प्रकाशम्] अथ स तत्रभवती किमाक्यस्य
राज्यैः परसी ।

तपस्विनी—[दीनोको देवकर] आश्रयं है, आश्रयं है ।

राजा—आश्रयंही क्या बात है, आर्ये ।

तपस्विनी—तुम्हारा श्रीर इस बातकका एक दम भिन्नता-बुलता रूप देखकर मैं तो अचरजमे
भर गई हूँ और फिर देखिए कि मनमान होते हुए भी इसने आश्रय कहा नहीं जाता ।

राजा—[अश्वेको दुत्तारते हुए तपस्विनीसे] अच्छा अब तो बताइए कि यह ऋषिकुमार नहीं
है तो फिर किस वशका है ?

तपस्विनी—पुण्यवशका ।

राजा—[मन ही मन] अरे क्या यह मेरे ही वशका है ? तभी ये तपस्विनीजी मुझे इससे
भिन्नता-बुलता बता रही हैं ।

पर पुण्यशियोकी तो यह बेबी हुई रीति है कि वे—युवावस्थामें पृथ्वीकी रक्षाके लिये
जिलासकी वागमिमोक्षे अरे भक्तियोंमें रहना चाहते हैं और बुढ़ापेमें अथवा पतिव्रता स्त्रीको छात्र
तेपर वृशके नीचे दुटिया बकाकर रहने लगते हैं ॥२०॥ [प्रकट] पर यहाँ अपनी छत्तिसे तो कोई
मनुष्य पहुँच नहीं सकता ।

तपस्विनी—आप ठीक कह रहे हैं । इसको मैं अप्सरा की कन्या है । इसलिये उसने यहाँ
भरीचिके आश्रयमें ही इसे जन्म दिया है ।

राजा—[अपने आप] अरे ! यह तो मेरी आवाजकी दूसरी सीढ़ी गिस गई । [प्रकट] अच्छा

राज—अतमलमायेमेन । भन्विदभस्य सिंहशावयिमर्दात्परिभ्रष्टम् । [इत्यादावुभिच्छति ।]
उभे—मा कथु एवं अयत्तग्विष । कर्हं गह्वीदं शेण । (मा खत्विदमवसम्भव । वषम्
गृहीतमनेन ।) [इति विस्मयादुत्थितहितहस्ते परस्परगवसोकवतः ।]

राजा—किमर्थं प्रणिधिह्याः स्मः ।

प्रथमा—मुलादु महाराधो । एसा अथराजिवा खाग भोसही इमस्त जातकम्मसतए
अप्रयदा मारोएण दिण्णा । एवं कित मावापिबरो अप्पाएणं च वज्जिअ अपरो भूमिपट्ठिं
ए मेव्हावि । (शृणोतु महाराजः । एषाजराजिता नामोपधिरस्य आसकर्मसमये भगवता मारोचेन
पत्ता । एता बित मातापितरावात्मान च वज्रविस्वाजरो भूमिपतिता न गृह्णावि ।)

राजा—अय गृह्णाति ।

प्रथमा—तथो तं सप्यो अबिअ रंसइ । [ततस्त सर्पं मृत्वा दजति ।]

राजा—भवतोन्म्या कदाचिदस्याः प्रत्यक्षीकृता विक्रिया ।

उभे—अलोप्रसो । (मनेकयः ।)

राजा—[सहर्षम् । आरमगतम्] कथमियं संपुलंमयि मे मनोरथं माभिभवामि । [इति
दालपदिष्यते ।]

द्वितीया—गुण्वे एहि । इमं युत्तलं शिषमग्वाकुआए सज्जन्दताए शिवेदेव्हु (युवते । एहि ।
इमं युत्तलं नियमव्यापृतायै शकुन्तलायै निवेदयामः ।)

[इति निष्क्रान्ते]

राजा—अबराहए मत ! सिंहके बच्चेसे खीचा-तानी करते समय यह यही गिर गई थी ।

[बछना बाहता है ।]

दोनो—हैं हैं ! उसे खूबएग मत ! धरे, इन्होंने तो उसे उठा लिया !

[भावचर्मसे छातीपर हाथ रखकर एक दूसरीको देखती हैं ।]

राजा—भाप लोगोने उठानेसे मुझे रीका क्यों ?

पहली—मुनिए महाराज ! जब इसका जात-कर्म सत्कार हो रहा था उस समय पृथ्वीपर
कल्पपने अपराजिता नामकी यह नदी इसके हाथमे बाँधकर कहा था कि यदि यह पृथ्वीपर
गिर पड़े तो इसे, इसके माता-पिताको छोड़कर इसका कोई न उठावे ।

राजा—और यदि दूसरा कोई उठा ले तो ?

पहली—तो यह साँप बनकर तत्कास उस चेची ।

राजा—भाप लोगोने क्यों इसका ऐसा परिचय देखा है ?

दोनो—बहुत बार देखा है ।

राजा—[भाप हो भाप] तब मैं अपने मनोरथ पूरे होनेपर क्यों न पूजा समाज ।

[बालकको छावोसे लगता है ।]

दूसरी—धरो सुबो ! आधो, यह समाचार उस सपस्थिनी शकुन्तलाको तो गुना भावें ।

[दोनो चली जाती हैं]

यासः—मुञ्च मे । जाव घञ्जुए सघासं गमिस्सं । (मुञ्च मां यावन्मातुः सखासं गमिष्यामि ।)

राजा—पुत्रक ! मया सहैव मातरमभिनन्दिष्यसि ।

यासः—मम बभु तादो दुस्सन्दो ए तुमं । (मम खलु तातो दुष्पन्तः, न त्वम् ।)

राजा—[सस्मितम्] एष विवाद एव प्रत्यापयति ।

[ततः प्रविशत्येकवेणीयरा शकुन्तला]

शकुन्तला—विप्रारकात्ते पि परिदित्थं तव्वदमएस्स ओत्तहि सुत्तिअ ए मे आत्ता भाति घत्तणो चाप्पेएमु । घट्ठा जह् साखुमबोए आबसित्तदं तह संभावीअदि एवं । (विचार-कादेशि प्रवृत्तिस्था सर्वदमनस्योपधि धृत्वा न म आत्ताऽऽसीदत्तमनो भाग्येयेषु । अथवा यथा शत्रुमत्तयाऽऽभ्यासं तया संभाष्यत एवम् ।)

राजा—[शकुन्तलां विलोक्य] अये सेवमप्रभवती शकुन्तला । यथा—

यसने परिधूसरे यसाना नियमचाममुखी धृतैकवेणिः ।

अतिनिष्कण्ठस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं विमर्ति ॥ २१ ॥

शकुन्तला—[यथाज्ञापयित्वान्नं राजानं दृष्ट्वा] ए बभु अज्जवत्तो विप्र । तदो को एत्तो आत्ता विवरत्तामङ्गलं वारत्तं मे वत्तसंतापेए दुत्तेदि । (न घत्तामंयुव इव । ततः क एव इदानीं वृत्तरक्षामङ्गलं वारत्तं मे गावधत्तमेए रूपयति ।)

बालक—घोसो (छोटी) । हम अपनी माँके पास रायणे (पायणे) ।

राजा—यास ! मेरे नाम ही चलकर अपनी माताको धानन्द देना ।

बालक—मेले (मेरे) पिता गुम नहीं, दुष्पन्त (दुष्पन्त) हैं ।

राजा—[मुक्तकायर] यह विरोध ही मेरे विदवातको पड़ा कर रहा है ।

[अपने बालोंको एक सटमें बाँधे हुए शकुन्तला पातो है ।]

शकुन्तला—यह गुनवर भी मुझे अपने आगपर चरोका नहीं हुआ कि सर्वदमनके हाथसे गिरी हुई रक्षाकी जड़ी उनके छूनेपर छीप नहीं गयी । या फिर शत्रुमर्दोने जो कहा है, वह बीन बलि ठीक ही हो ।

राजा—[शकुन्तलाको देखकर] घरे ! ये ही हो वे देवी शकुन्तला हैं, जिनके चरोरपर मैंने कपड़ोंका थोड़ा पड़ा हुआ है, तन करते-करते जिनका मूँह मूँछ पया है, जिनके बाल एक सटमें उनके पड़े हैं धीरे धीरे दुष्ट मनसे मुक्त-जैसे निर्दोषीके वियोगमें रहने दिव्यि वा करवी यमी आ रहो हैं ॥ २१ ॥

शकुन्तला—[यथाशयने पीने पड़े हुए राजाकी देखकर] ये तो आर्यपुत्र जैसे नहीं धान पड़ो । तब वे बीन हैं जो रक्षा बाँधे हुए मेरे पुत्रकी अपने चरोरके सदा-तदाकर मंजा कर रहे हैं ।

बातः—[मातरमुपेत्य] अन्नुए ! एतो कोधि धुरितो भं पुत्तं ति भानिज्झवि । (मातः ! एष कोऽपि पुण्यो मां पुत्र इत्यातिज्झति ।)

राजा—प्रिये ! और्वमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुक्तपरिणामं संवृतं यदहमिदानीं त्वयाऽप्रत्यभि-
हातमात्मानं पदयामि ।

शकुन्तला—[मातरभक्त्यु] हिमय समरगतं समस्ततः । परिश्रममन्तरेण अणुअण्णिअ
मिह वेधेएण । अज्जउत्तो कणु एसो । (हृदय सघातवसिहि । समाश्रयसिहि । परित्यक्तमरतरेणानु-
कम्पितास्मि देवेन । आर्यपुत्रः सत्येयः ।)

राजा—प्रिये ।

स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिप्यन् प्रमुखा स्थिताऽसि मे सुमुखि ।

उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम् ॥२२॥

शकुन्तला—जेठु जेठु अज्जउत्तो...! (अयमु अयस्मार्यपुत्र...) [दृश्यघोषे वाक्पकण्ठो
विरमति ।]

राजा—सुन्दरि !

वाग्धेय प्रतिपिठेऽपि जयशब्दे नितं मया ।

यत्ते दृष्टमसंस्कारपाटलोपप्लुतं मुखम् ॥२३॥

बातः—अन्नुए ! को एतो । (मातः ! क एषः ।)

शकुन्तला—अच्छ ! मे आम्हमेभाडे पुच्छेहि । (अस ! से वाग्धेयानि पृच्छ ।)

बातक—[माताके पास आकर] देखो माँ, मे कोई पुसुछ (पुस्य) मुदे (मुझे) बैठा
(बैठा) कहकस (कहकर) गले लगा सहे (रहे) हैं ।

राजा—प्रिये ! मैंने जो तुम्हारे साथ मित्रराई की थी उसका यही ठीक दख है कि तुम
मभीतक मुझे पहचान नहीं रही हो ।

शकुन्तला—[आप ही आप] धीरज धरो मेरे हृदय ! आज देखने पिछला सब बैर
छोड़कर मेरी सुन सी है । सबमुख ये ही तो है आर्यपुत्र ।

राजा—प्रिये ! आज मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मेरी स्मृतिपर पड़ा हुआ मोहपा परदा
हट गया । धीर तुम सुन्दरी आज मुझे देखे ही मिल गई जैसे यन्त्र-ग्रहण बीत चुकनेपर
रोहिणी चन्द्रमासे साकर मिल जाती है ॥२२॥

शकुन्तला—जय हो आर्यपुत्र, जय...[इतना आवा ही कहनेपर गला भर आनेसे रुक
जाती है ।]

राजा—सुन्दरी ! तुमने अपने रंगे ॥ गलेसे जो 'जय' शब्द कहा है उसीसे मेरी जीत
हो गई । क्योंकि आज मेरी आँखोंने तुम्हारे उस मुखको फिरसे देख पाया है जिसके मोठ रंग
न जानेके कारण पीले पड़ गए हैं ॥२३॥

बातक—क्यों माँ ! ये क्यों हैं ?

शकुन्तला—अपने बाग्धेय पूछ बैठा !

राजा—[शकुन्तलायाः पादयोः प्रक्षिपत्य]—

सुतनु हृदयात्प्रत्यादेशव्यलीकमपैत ते

किमपि मनसः संमोहो मे तदा बलवानभूत् ।

प्रवलतमसामेवंप्रायाः शुभेषु हि वृत्तयः

स्रजमपि शिरस्यन्धः चित्तां धुनोत्यहिशङ्कया ॥२४॥

शकुन्तला—उठेहु अग्नजत्तो । शूरां मे सुप्रतिप्रप्यदिवन्धमं पुराकिं तेषु विमहेषु परिश्राममुहं भ्रात्रि जेषु साङ्गोकोतो वि अग्नजत्तो मद्र विरसो संयुतो । [उत्तिष्ठत्यार्यपुत्रः । दूतं मे सुपरितप्रतिवन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिश्राममुत्तमासीसेन साङ्गोकोशोऽप्यार्यपुत्रो न वि विरसः संवृत्तः ।] [रात्रोत्तिष्ठति ।]

शकुन्तला—अहं कहां अग्नजत्तेण सुप्रतिरो दुस्सभाई अर्घं जणो । [अथ कथमार्घ्यपुत्रेण स्मृतो दुःखमार्घ्यं जनः ।]

राजा—उत्प्रेतविद्यावशात्तः फलविष्यतीति ।

मोहान्मया सुतनु पूर्वमुपेक्षितस्ते यो दाप्यविन्दुरधरं परिबाधमानः ।

तं तावदाकुटिलपद्मविलग्नमद्य दाप्यं प्रमृज्य विगतानुशयो भवेयम् ॥२५॥

[इति यथोक्तमनुतिष्ठति ।]

शकुन्तला—[आममुदा हृष्टः] अग्नजत्त ! एवं ते अशुलीभर्षं । [आर्यपुत्र ! इदं तेऽङ्गुलीय-कम् ।]

राजा—[शकुन्तलाके पैरोपर गिरकर] सुन्दरी ! मैंने तुम्हारा जो निरादर किया था उपासी कसक तुम अपने मनसे निहाल डालो, क्योंकि उस समय न जाने कहाँ से मेरे मनमें अज्ञानका अंधेरा आकर छा गया था । सबकुछ जो तमनेपुत्री होते हैं वे अन्धे पादोंमें भी ऐसी भूल कर बैठते हैं, क्योंकि अन्धेने गलेमें कोई माता भी पहनावे तो वह उसे सोंप समझकर भटकेसे उतार फेंकता है ॥२४॥

शकुन्तला—उठिए आर्यपुत्र ! उन दिनों कोई पिछले जन्मका पाप-फल रहा होगा कि इसने दयालु आर्यपुत्र भी मुझपर इतने कठोर ही गए थे ।

[राजा उठते हैं ।]

शकुन्तला—पर यह तो बताइए कि आर्यपुत्रको इस दुस्त्रियाका स्मरण कैसे हो आया ।

राजा—पहले मैं अपने जीकी गाँठ निकाल डालूँ तब कहूँ । सुन्दरी ! तुम्हारी धाँसोंके आँगुलीकी जो बूँद उस दिन गालीपरसे दुसकबर घण्टीको चोट पहुँचा रही थी घोर जिनका मैंने उस दिन धनजाने निरादर कर दिया था वे आज भी तुम्हारी टेढ़ी धरी-गिर्वाँमें उसभी हुई दिखाई दे रही हैं । उन्हें जबतक मैं अपने हाथसे पोंछ न लूँगा तबतक मनको शान्ति नहीं मिलेगी ॥२५॥

[अपने हाथसे शकुन्तलाके आँगु पोंछते हैं ।]

शकुन्तला—[दुष्पन्तके हाथमें उनसे नामवाली धँगूठी देखकर] आर्यपुत्र ! यही तो आपकी वह धँगूठी है ।

राजा—अस्मादगुलीयोपसम्भातसु स्मृतिरपस्तथा ।

राकुन्तला—वित्तम किद खेण ख तदा अज्जजत्तस्स पचअकाले दुल्लह आसि । (विपम कृतमनेन यत्तदाऽऽपुत्रस्य प्रसवकाले दुर्लभमासीत् ।

राजा—तेन हि ऋतुसमवायचिह्नं प्रतिपद्यता तताकुमुभम् ।

राकुन्तला—ए से विस्सतासि । अज्जजत्तो एव्व ख धारेवु । (नाम्ब दिद्वसिनि । धार्यपुत्र । एवंतट्टारयत्तु ।)

[तत्र प्रविष्टवि मातलि]

मातलि—विष्ट्या धर्मपत्नीतापायमेव पुत्रमुखवर्धनेन चापुष्मान्बर्धते ।

राजा—अनूतपादितत्त्वापुक्कलो मे मनोरथ । मातले । न तसु विहितोऽयमाक्षण्यलेन कृतास्त स्यात् ।

मातलि—[सहितम्] विनोद्वराणा परोक्षम् । एतवापुष्मान् ! भगवाण्मारीचस्ते दर्शनं वितरति ।

राजा—राकुन्तले ! अवलम्बयता पुत्र । त्वा पुरस्कृत्य मयवन्तं ब्रह्मविष्ट्यामि ।

राकुन्तला—हिरिष्णामि अज्जजत्तेण सह गुहसमीय वन्तु । (विहृष्ट्यार्यपुत्रेण सह गुहसमीय गच्छतुम् ।)

राजा—अप्याचरितम्यमपुद्गलकेषु । एहोहि । [सर्वे परिलग्नान्ति ।]

राजा—हूँ! भूँडूकीके मिल जानेपर ही तो मुझे साथी बातें स्मरण हो आईं ।

राकुन्तला—इसने सचमुच पछा सोछा वाग किया था कि जब मैं धार्यपुत्रको इसे दिखाकर विश्वास दिलाते चली ठीक उसी समय यह न जाने कहाँ चली गई ।

राजा—[भूँडूकी उठाकर राकुन्तलाको देते हुए ।] अच्छा, वही जैसे कलामे फूल लगनेसे यह ज्ञान दिया जाता है कि लतावा वनतले मिलन हो गया, वैसे ही तुम भी मुझसे मिलनेकी पहचानके लिये यह भूँडूकी पहन लो ।

राकुन्तला—[हाथ उठाती हुई] नहीं, नहीं, अब मैं इसका विश्वास नहीं करती । धार्यपुत्र भी इसे पहने रहें ।

[मातलि आता है ।]

मातलि—धर्मपत्नीके मिलने और पुत्रका भूँह देखनेकी अपुष्पानुको बगई है ।

राजा—मेरे मनोरथका तो सचमुच बड़ा भीठा फल हुआ है मातलि । पर इतना भगवान् तो यह बात जानते नहीं होंगे ।

मातलि—[हैमकर] भला देवताओसे भी कोई बात छिपी रहती है । भाइए आपुष्पानु ! भगवान् मारीच आपको दर्शन देना चाहते हैं ।

राजा—राकुन्तला ! बालबच्ची उँगली बाध लो । मैं तुम्हें साथ लेकर ही भगवान्के दर्शनके लिये चलना चाहता हूँ ।

राकुन्तला—दर्शने पास धार्यपुत्रने साथ जानेमें मुझे साज लग रही है ।

राजा—हयने भवधरपर तो साथ ही चला जाता है । धायो, धायो ! [सब हँसते हैं]

राजा—[सकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्य]—

सुतसु हृदयात्प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते

किमपि मनसः संमोहो मे तदा बलवानभूत् ।

प्रबलतमसामेवंप्रायाः शुभेषु हि वृत्तयः

स्रजमपि शिरस्पन्धः विष्ठां धुनोत्यद्विशङ्कया ॥२४॥

सकुन्तला—उठो बु भगजउत्तो । खुलं मे सुभरिअण्णविनयअं पुराणिं तेसु दिअहेसु परिणाममुहं मासि जेए साण्णकोसो, वि भगजउत्तो गह विरसो संवुत्तो । [उतिष्ठत्यायं पुनः । नून मे सुचरितप्रतिदम्भः पुराणं तेषु दिवसेषु परिणाममुसमासीद्येन शान्तिकीर्त्यायामपुनो नपि विरसः संवृत्तः ।]

[राजोतिष्ठति ।]

सकुन्तला—अह वहं भगजउत्तेए सुभरिओ दुवदभाई अरं जणो । [अथ कपमार्यपुत्रेण स्मृतो दुःखमाश्रय जनः ।]

राजा—उद्धतविषादनात्यः कपयिष्यामि ।

मोहान्मया सुतसु पूर्वमुपेक्षितस्ते यो बाष्पविन्दुरधरं परिधाधमानः ।

तं तापदाकुटिलपद्मविलग्नमद्य बाष्पं प्रमृज्य विगतानुशयो भवेयम् ॥२५॥

[इति यथोक्तमनुतिष्ठति ।]

सकुन्तला—[नाममुद्रा दृष्ट्वा] भगजउत्त । एवं ते अणुलीअरं । [आयंपुनः । इदं तेऽङ्गुलीय-कम् ।]

राजा—[सकुन्तलाके पैरोपर विरकर] सुन्दरी । मैने तुम्हारा जो गिरादर दिया था उसको बहुत बुरा समझे मनसे निजात डालो, क्योंकि जब समय न जाने कहाँ मेरे मनमें प्रतागवा अंधेरा छाकर पड़ा गया था । सबकुछ जो हमेशा सही होते हैं वे अच्छे कामोंमें भी ऐसी झूल कर बैठने हैं, क्योंकि अंधेरे में कोई मात्ता भी पहचाने तो वह सबे सोंप समझकर गलतसे उतार फेंकता है ॥२४॥

सकुन्तला—उठिए आर्यपुत्र ! उन दिनों कोई पिछने जगजवा बाप-पल रहा होगा कि रहने दवानु आर्यपुत्र भी मुझपर झूठने बतोर हो गए थे ।

[राजा उठने हैं ।]

सकुन्तला—वर यह तो बताइए कि आर्यपुत्रजी इस दुःखियाका स्मरण करते ही आया ।

राजा—वहमें मैं अपने बीबी कीस निवास डालू तब वहें । सुन्दरी ! तुम्हारी भाँखोंके आँगुलीकी जो मुँदें उस दिन पातोपरमे दुसरागर अपरोओ खोटे पहँचा रही थी घोर शिन्हा मैने उस दिन झलजाने गिरादर कर दिया था वे मात्र भी तुम्हारी देड़ी बरो-निदोमि उसभी हुई दिगाई दे रही हैं । उन्हें जबतक मैं अपने हाथसे पोंछ न लूँगा तबतक मनकी आन्ति नहीं मिलेगी ॥२५॥

[अने हाथसे सकुन्तलाके आँगुली पोंछते हैं ।]

सकुन्तला—[दुष्कन्तरे हाथमें उनके आँगुलीके आँगुली देखकर] आर्यपुत्र ! यही तो माँसकी वह खँदूटी है ।

राजा—अस्मादिशुनोद्योभक्तमाश्लितुं स्मृतिरप्यतस्या ।

शकुन्तला—यित्तम किं ह्येषु न तत्रा अज्जउत्तस्त पपमकाते कुत्सह भासि । (विपन्न वृत्तान्तेन यत्तथाऽऽपुनरप्य प्रत्ययवाते पुन्यमासीत् ।

राजा—तेन हि श्रुतसमवायचिह्नं प्रतिपद्यतां सत्तानुसुमम् ।

शकुन्तला—ए से विस्सतामि । अज्जउत्तो एव्य ए पारेदु । (भाग्य विश्वसिनि । आर्यपुत्र । एवैतदाख्यतु ।)

[तत्र प्रविशति मातलि]

मातलि—दिश्या धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रपुण्यवशनेन चामुष्माण्वाधरो ।

राजा—अमूर्तपात्रितस्वाहुकतो मे मनोरथ । मातले ! न तसु विदितोऽप्यमाक्षपत्नेन वृत्तान्त स्यात् ।

मातलि—[सस्मितम्] किमिच्छराणां परोक्षम् । एत्वापुण्यम् ! भगवान्मारीचस्ते वशान् वितरति ।

राजा—शकुन्तले ! अक्षयम्भ्यतां पुत्र । त्वां पुरस्कृत्य भगवन्तं ब्रह्मविष्णुनि ।

शकुन्तला—हिरिभामि भग्नउत्तरेण सह शुक्लमोघ गन्तु । (निहन्म्यायपुत्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम् ।)

राजा—अप्याचरितम्यमम्युद्यकासेषु । एतद् हि ! [सर्वे परिक्रामन्ति ।]

राजा—इसी भंगूठीके मिल जानेपर ही वो मुझ सारी बातें स्मरण हो आईं ।

शकुन्तला—इसने सचमुच बड़ा लोटा काम किया था कि जब मैं आर्यपुत्रको इसे दिखाकर विद्वदादि दिखाने चली ठीक उसी समय यह न जाने कहीं चली गई ।

राजा—[भंगूठी छतारकर शकुन्तलाको देती हुए ।] अच्छा तो जैसे लगाने फूल लगनेसे यह जान लिया जाता है कि लताका कब-कब मिलन हो गया, वैसे ही तुम भी मुझसे मिलनेकी पहचानके लिये यह भंगूठी पहन लो ।

शकुन्तला—[हाथ उठाती हुई] नहीं, नहीं, अब मैं इसका दिखावा नहीं करती । आर्यपुत्र ही इसे पहने रह ।

[मातलि जाता है ।]

मातलि—धर्मपत्नीसे मिलने कीर पुण्यका मूह देखनेकी आमुष्मान्वाको बधाई है ।

राजा—मेरे मनोरथका तो सचमुच बड़ा मोठा फल हुआ है मातलि ! पर इन्द्र भगवान् तो यह बात जानते नहीं होगे ।

मातलि—[हँसकर] भला देवतामोक्ष भी कोई बात छिपी रहती है । यादए आमुण्यम् ! भगवान् मारीच आपको दर्शन देना चाहते हैं ।

राजा—शकुन्तला ! बातचीत जैसी बात लो । मैं तुम्हें साथ लेकर ही भगवान्के दर्शनके लिये चलना चाहता हूँ ।

शकुन्तला—वहीने पास आर्यपुत्रके साथ जानेमें मुझे लज लग रही है ।

राजा—हृदये भगवत्पर तो साथ ही चला जाता है । आधो, आधो ! [सब धूमते हैं]

[ततः प्रविशत्यदित्या सार्यमासुवस्यो मारीचः ।]

मारीच—[राजानमभिलष्य] दाक्षायस्मि ।

पुत्रस्य ते रक्षशिरस्परमग्रयायी दुष्प्रन्त इत्यभिहितो भुवनस्य भर्ता ।

चापेन यस्य विनिवर्तितकर्म वातं सत्कोटिमत्कुलिशभाभरणं मधोनः ॥२६॥

प्रदिति—समाधायोप्राप्तभावा से आकृषी । (समाधनोपानुभावाऽस्याकृतिः ।)

मातलि—आयुष्मन् एतो पुत्रप्रीतिपिशुनेन जलुषा विबोक्ता पितरावापुष्मन्तभवलोकयतः । तापुपसर्प ।

राजा—मातले एतो—

प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य भुनयो यत्तेजसः कारणं

भर्तारं भुवनत्रयस्य सुपुत्रे ययन्नभागेरवरम् ।

यस्मिन्मात्मभुवः परोऽपि पुरुषश्चक्रे भवायास्पदं

इन्द्रं दक्षमरीचिसंभवमिदं तत्सप्तदुरेकान्तरम् ॥२७॥

मातलि—अर्चकम् ।

राजा—[वरुण्य] उन्मात्मापि वारुचनियोगो दुष्प्रन्तः प्रत्युपति ।

मारीच—वत्स ! त्विर जीव । शृण्वीं पातय ।

[प्रदितिके साथ पाठनपर बैठे हुए मारीच दिखाई देते हैं ।]

मारीच—[राजाको देखकर] दाक्षायस्मी ! ये ही संसारका पालन करनेवाले राजा दुष्प्रन्त हैं जो तुम्हारे पुत्र इन्द्रकी लड़ाईमें सबसे आगे रहते हैं और जिनके अनुपने ही इतना काम कर जाता है कि इन्द्रका तीसरी पारवाता यय उन्मात्मापुत्र भर बना बैठा रहता है ॥२६॥

प्रदिति—इनके कील-कीलते ही इनके पराक्रमका ज्ञान हो रहा है ।

मातलि—आयुष्मन् ! देखो ! ये ही हैं देवताओंके माता पिता, जो आपकी ओर ऐसे प्यारसे बेश रूढ़े हैं, जैसे माता पिता अपने बच्चोंको देखते हैं । धात्री, उनके पास चले जाओ ।

राजा—मातलि ! क्या वे ही वे स्त्री पुंस्य हैं जो ब्रह्माण्ड एव पीढ़ी पीछे दक्ष और मरीचिके सत्पन्न हुए हैं, जिन्हें ऋषि लोग वारुह्यो आदित्योंके माता पिता मानते हैं, यशमें भाग लेनेवाले इन्द्रने जिनसे जन्म लिया है और अपनेपे से अपने पाप उद्धान होनेवाले ब्रह्मा भी संसारका ब्रह्माण्ड करनेके लिये जिनको मोदमें जन्म लिया वरुह्ये हैं ॥२७॥

मातलि—हाँ, हाँ ये ही हैं ये ।

राजा—[पश्य पटुं चकर] सदा इन्द्रकी आज्ञा माननेवाला यह दुष्प्रन्त आप दोनोंको प्रणाम करता है ।

मारीच—बहुत दिनोंतक जीमो, वत्स ! और पृथ्वीका पातन करो ।

प्रदितिः—बन्धु ! धन्यजिह्वो होहि । (वत्स भ्रष्टरिहो भव ।)

शकुन्तला—धारकसहिवा । पादबन्धनं करोमि । (धारकसहिता वा पादबन्धनं करोमि ।)

मारीचः—वत्से !

आस्रण्डलसमो मर्ता जयन्तप्रतिमः सुतः ।

आशीरन्या न ते योग्या पौलोमीसदृशी भव ॥ २८ ॥

प्रदितिः—जावे ! भन्तुरो अभिमता होहि । अयस्य वीहाजः वन्धुघ्नो महामकुलशत्रो होतु । अव्यक्त । (जाते ! भर्तुरभिमता भव । अवश्यं दीर्घायुर्वत्सक उभयकुलनन्दनो भवतु । अव्यक्त ।)

[सर्वे प्रजापतिमन्त्रित उपविशन्ति ।]

मारीचः—[एकैकं निदिशन्]—

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान् ।

भद्रा विचं विधिरचेति त्रितयं वत्समागतम् ॥ २९ ॥

राजा—भगवन् ! प्रमगभिप्रेतसिद्धिः पद्माब्जं वत्स । यतोऽपूर्वः जनु बोधुग्रह ।

सुतः ।

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं धनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः ।

निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमस्तव प्रसादस्य पुरस्तु संपदः ॥ ३० ॥

प्रदिति—बास ! तुम इतने बलवान् होओ कि कोई शत्रु तुम्हारे धागे न टिक सके ।

शकुन्तला—मैं अपने पुत्रके साथ आपके चरलोंमें प्रणाम करती हूँ ।

मारीच—वत्से ! तुम्हारा पति इन्द्रके समान है और तुम्हारा पुत्र जवन्तके समान है ।

इसलिये यह तो समझने लीं यही भाता कि तुम्हें आशीर्वाद क्या दूँ । फिर भी यही आशीर्वाद देता हूँ कि तुम इन्द्राणीके समान तेजस्वी बनो ॥ २८ ॥

प्रदिति—बेटी ! अपने पतिका धावर वाओ और तुम्हारा बेटा चिरजीवी होकर दोनों कुर्षीको सुख दे । मायी, बैठ जाओ ।

[सब प्रजापतिके चारों ओर बैठ जाते हैं ।]

मारीच—[अलग-अलग सबको संकेत करते हुए ।] ध्यान सोभाव्यसे यह पतिव्रता शकुन्तला, यह श्रेष्ठ बालक और तुम मे तीनों ऐसे द्रक्हुँ मिल गए हो जैसे अटा, पन और किया तीनों एक साथ मिल जावें ॥ २९ ॥

राजा—भगवन् ! आपके कृपा से सबकुछ धनोष्ठी है जिसमें दर्शनसे पहले ही मनचाहा फल मिल गया क्योंकि—कार्य और कारणका तो यही क्रम है कि पहले फल समझा है तब फल प्राप्ता है, पहले बादल उठते हैं तब वर्षा होती है, पर आपके यहाँ तो सारे सुख प्रायकी कृपाके प्राग-प्रागे चलते जा रहे हैं ॥ ३० ॥

मातलि—एव विधातार प्रसीदन्ति ।

राजा—भगवन् । इमामाज्ञाकरां वो मापयेण विवाहविधिनाप्यस्य कस्यचित्कालस्य वन्धुभिरानीता स्मृतिर्ज्ञेयित्वात्प्रत्यादिशन्नपराद्धोऽस्मि अग्रजधतो युष्मत्संगोत्रस्य वार्यस्य । पञ्चाशद्वृत्तीयकदशनाष्टपूर्वा सद्गुह्यितर्मययतोऽहम् । तस्मिन्मित्र मे प्रतिभाति ।

यथा गजो 'नेति समक्षरूपे तस्मिन्नेपक्रामति सशयः' स्यात् ।

पदानि दृष्ट्वा तु भवेत्पूतीतिस्तथाविधो मे मनसो विकारः ॥३१॥

मारीच—कस्त धनधात्मापराधयुया । समोहोऽपि त्वय्युपपन्नः । धूपताम् ।

राजा—प्रचलितोऽस्मि ।

मारीच—यदेवाप्तरस्तोषावतरत्यात्प्रत्यलवैवत्तया शकुन्तलायाऽस्य मेनका दासापणीसु-
पता तदेव ध्यानादवगतोऽस्मि दुर्वासा आचारिण तद्विद्वन् स ह्यवधारिणी तस्या प्रत्या-
दिष्टा नापथेति । स चापमगुदसीयकदशनावतान ।

राजा—[सोन्मुख्यसम्] एष वचनोवाभुक्तोऽस्मि ।

मातलि—जो स्वयं भाम्य बनादिवाले हैं उनकी ऐसी ही कृपा होती है ।

राजा—भगवन् । आपकी इस आज्ञाकारिणी, कम्पति । मैंने गान्धर्व विधिसे विवाह कर लिया था । फिर कुछ दिनों पीछे जब इनके सगे सम्बन्धी लोग रहे मेरे पास आए तब मेरी स्मृतिको न जाने क्या हो गया कि मैं एकदम भूल गया और मैंने इनको लौटा दिया । ऐसा करके मैंने आपके गोमदाने कामजीका बर्तों भारी अपराध कर डाला । फिर जब मैंने मह भँगूठी देखी तब मुझे स्मरण हुआ कि मैंने तो कम्बळीकी कामसे विवाह किया था । ये सब बातें मुझे यकी बिचित्र सी जान पड़ रही हैं । मुझे अपनी यह भूल छीक बेसी ही मग रही है जैसे आज्ञासे सामनेसे घने जाते हुए हाथोंको देखकर मनमें यह सन्देह हो कि यह हाथी है या नहीं और फिर उसके निकल जानेपर उसके पैरोंको छान देखकर यह विश्वास किया जाय कि हाँ, यह सबकुछ हाथी ही था ॥ ३१ ॥

मारीच—बस ! तुम अपने अपराधकी बात अपने मनसे एकदम निकाल डालो क्योंकि इस प्रकारकी भूल तुमसे हो ही नहीं सकती । सुनो, मैं बर्ताता हूँ जो हुआ है ।

राजा—जी, सुन रहा हूँ ।

मारीच—जब मेनका जिनसती हुई शकुन्तलाकी नेकर, धूम्रप्रतीयेसे उतरकर यहाँ दासापणीके पास आई तबो मैंने ध्यानासे जान लिया था कि दुर्वासासे पापसे ही तुमने अपनी इस उपस्थिती घमण्टीकी छोट दिया है और वह आप अबतकके लिये है जयतक तुम भँगूठी न देख लो ।

राजा—[सतोपकी साँस नेकर] वसो, दोषसे कुत्कारा तो मिला ।

शकुन्तला—[स्वगतम्] विद्विष्याः अकारणपद्मादेशो न भवत्युक्तो । एष ह सत्तं भूतार्थं
धुमरेभिः सह्यता यत्तो मए स हि सावो विरहमुपलक्षितप्रणयः—एष विद्विषो । अतो सहीहि संदि-
ष्टुम्हि भूतुखो अंगुलीप्रथं वसन्तवर्षं चि । [दिष्ट्याऽकारणपद्मादेशो नार्थयुक्तः । न सत्तु अन्त-
मात्मानं स्वरात्मि । अथवा प्राप्तो मया सं हि सावो विरहमुपलक्षितप्रणयः न विदितः । अतः सखीभ्यां
संदिष्टास्मि भूतुरंगुलीप्रथं वसन्तवर्षं चि ।]

मारीचः—अतो विदितव्यमस्ति । संदिधानीः सह्यमन्वारिखं प्रति न स्वयं मन्तुः कार्यः ।
यय ।

शापादसि : प्रतिहता : स्मृतिरोन्नयने
अर्तयपेततमसि : प्रभुता तवैव ।
(छाया) न मुच्यति मलोपहतप्रसादे
शुद्धे तु दर्पणतले सुलभायकाशा ॥३२॥

राजा—मयाग्रह भगवान् ।
मारीचः—वस्तु कश्चिदभिनविततत्त्वम् विविधवस्त्राभिरनुष्ठितजातकम् पुन एष
शाकुन्तलेयः ।
राजा—भगवद् यय सत्तु मे भवति । [इति वाचं हस्तेन गृह्णाति ।]

शकुन्तला—[मन ही मन] यह बड़े भाग्यकी बात है कि भावपुत्रने मुझे बिना कारण
[नहीं] बोधा था । परन्तु यह तो हमरे ही गहो-या रहा है कि मुझे शाप मिला कब । मा यह
भी हो सकता है कि मुझे-शाप : मित्रा-हो और अपने विरहकी धुनमें पड़े रहनेसे कारण
मुझे लक्ष्मी-शाप हो न हुआ हो । अब मेरी समझमें आ रहा है कि जबसे यय मेरी लक्ष्मीने
यह कथा कहा मा कि, मतिको, मंगुठी दिलवा देना ।

मारीच—अतो ! तुम ठीक समझी हो । अब तुम अपने पतिपर कोष न करना । देखो ।
जैसे, धनुषपर धूल पड़ी रहनेसे उसमें तीक छाया नहीं दिखती देखी और यही जब धौल
दिया जाता है तब छाया बड़ी सरलतासे दिखती है वैसे ही शापके कारण
मृत्ति धुंधली पड़ जानेसे उन्हीने तुम्हें छोड़ दिया था पर अब शाप छूट जानेसे उन्हींने तुम्हें
मली भाँति पहचान लिया है ॥३२॥

राजा—भगवान् ठीक कहते हैं ।
मारीच—वस्तु ! शकुन्तलाके जिस पुत्रके संस्कार हमने ठीक विधिसे कर दिए हैं उसे तुमने
मनमाया या नहीं ?
राजा—यही बात तो हमारा यय चलायेवाला है ।
[यह कहकर शासकको गोदमें उठा लेते हैं ।]

मारीचः—तया भाविनमेनं अकथयिष्यमयवच्छनु भवान् । पश्य,

रथेनानुद्धातस्तिमितगतिना । तीर्णजलधिः

पुरा सप्तद्वीपां जपति वसुधामप्रतिरयः ।

इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमनः

पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात् ॥३३॥

राजा—भगवता कृतसंस्कारे सर्वमस्मिन्मयमाशास्महे ।

प्रदितिः—भगवं इहाए दुहितृमहोरहसंस्तीए कण्ठो वि दाब मुदवित्पातो करोमनु ।
दुहितृवच्छता मैलमा इह एव्य उपचरन्तो विदुदि । (भगवन् मनवा दुहितृमनोरहसंस्तरपा
कण्ठोअनि तावच्छुतविस्तारः क्रियताए । दुहितृवस्तना येनकेहोपचरन्तो विदुति ।)

शकुन्तला—[धारमपठय] मशोरहो वनु मे मल्लिको भगवतीए । (मनोरयः शलु मे
मशिली भगवत्या ।)

मारीचः—तपःप्रभावात्प्रत्यर्थं सर्वमेव तत्रभवतः ।

राजा—अतः शलु मम नातिकुट्टो मुनिः ।

मारीचः—तद्याप्यतो प्रियमस्माभिः ग्रहण्यः । कः कोऽत्र नोः ।

[द्विविध]

मारीच—यह पुन्हाए वंछ तो बतावेया ही, साथ ही अकबरीं राजा भी होया । देखो ।
यह बालक अपने हाथ पीर सीधे जलमेबाधे रथपर चढ़कर समुद्र पार करके साठों द्वीपों-
वासी पृथ्वीको इस प्रकार प्रकैसा बीत सेवा कि संसारका कोई भीर इसके सामने टिक न
सकेया । यहाँ इसने सब जीवोंको तब कर रक्षता था, इसीलिये इसका नाम सर्वदमन पड़
गया था । पर आगे चलकर यह सारे-संसारका चरण बोधय करेया इसलिये इसका नाम
भरत होगा ॥३३॥

राजा—बिनाके संस्कार आपने किहू हों उधसे तो हमें इन सब बातोंकी धाया है ही ।

प्रदिति—भगवन् । इस कन्याके मनोरथ पूरे होनेकी सारी बात कन्यजीको भी कहता
मेवनी चाहिए क्योंकि इसे प्यार करनेवासी इसको भी मेनकाने यही पढ़कर हम लोगोंकी
बड़ी सेवा की है ।

शकुन्तला—[मनमें] देखीने तो मेरे ॥ मनकी बात कह दी है ।

मारीच—उपके प्रभावसे कण्व ऋषि सब कृप्य जानते हैं ।

राजा—इसीलिये उन्होंने मुझपर श्रेय नहीं किया ।

मारीच—फिर भी यह प्यारी बात उनके पास कहता ही मेवनी चाहिए । धरे कोई
है ? [एक उधय आता है ।]

शिष्यः—भगवन् ! भयमस्मि ।

मारीचः—राजस्य इदानीमेव विहास्यतां मत्वा यस्य वचनात्तत्रभवते कथंवा प्रियमावेक्ष्य यथा पुत्रवती शकुन्तला तच्छापनिवृत्ती स्मृतिमता बुध्यन्तेन प्रतिगृहीतेति ।

शिष्यः—यदाज्ञापयति भगवान् । [हृदि निष्क्रान्तः ।]

मारीचः—वत्स ! स्वयमपि स्वापत्यदारग्रहितः सद्युरास्तपद्गतस्य स्वभावहृत् तौ राजधानीं प्रतिष्ठन्त ।

राजा—यदाज्ञापयति भगवान् ।

मारीचः—अपि च ।

भवतु तव पिडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथाः ।

गणशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यै—

नियतमुभयलोकानुग्रहस्लायनीयैः ॥३४॥

राजा—भगवन् ! यदाज्ञाति भयेते वतिष्ये ।

मारीचः—वत्स ! किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ।

राजा—वत्स ! वरमपि प्रियमस्ति । यद्विद्म भगवान्प्रियं कर्तुमिच्छति तद्विदमस्तु ।

शिष्यः—मैं हूँ भगवन् ।

मारीचः—वास्तव ! मनी साकाशा-मार्गसे जाकर मेरी धीरसे कण्वजीको यह धारा समाचार देता कि साप छूटनेपर दुष्कण्ठने सब स्वरस्य करके शकुन्तला और उसके पुत्रको ग्रहण कर लिया है ।

शिष्यः—जैसी भगवानकी आज्ञा । [बसा जाता है ।]

मारीचः—वत्स ! तुम भी अब अपने पुत्र और स्त्रीको साथ लेकर अपने दिन इन्द्रके रथपर बद्धकर अपनी राजधानीकी ओट जाओ ।

राजा—जैसी भगवान् की आज्ञा ।

मारीचः—और सुनो ! तुम्हारी प्रजाके लिये इन्द्र सदा नरपूर वर्षा किया करें और तुम भी संक्रान्तों गण-सन्तोषपर राज्य करते हुए बहुत बल करके इन्द्रको प्रसन्न करते रहो । इस प्रकार एक दूसरेके लिये ऐसे अच्छे-भन्धे काम करते रहो कि दोनों सोक सुखी रहे ॥३४॥

राजा—भगवन् ! मैं भरसक भन्धे काम करने का जतन करूँगा ।

मारीचः—वत्स ! और कुछ तुम्हारी इच्छा हो तो कह दो ।

राजा—इससे बढ़कर भी क्या और कोई बात हो सकती है ? फिर भी यदि साप मुझपर कुछ और कृपाकरना ही चाहते हैं तो ऐसा कीजिए कि—[भरतवाक्य] राजा सदा अपनी प्रजाकी

[भरतवाक्यम्]

प्रयत्नतां प्रकृतिहिताय पार्ष्णिः सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम् ।

समापि च क्षयस्तु नीललोहितः पुनर्मव परिगतशक्तिरात्मभूः ॥३५॥

[इति निष्क्रान्ता सर्वे ।]

॥ इति सप्तमोऽङ्कः ॥

॥ समाप्तमिदमभिज्ञानशाकुन्तल नाम नाटकम् ॥

;

भलाईमें बने रहे , बड़े बड़े विद्वान् बावियोंकी बाणीका सुन कहीं धोवर हो और अपनेसे उत्पन्न होनेवाले तथा चारों ओर अपनी शक्ति फैलानेवाले महादेवकी ऐसी कृपाकरे कि मुझे सब फिर जन्म न लेना पड़े ॥३५॥

[सब चले जाते हैं ।]

॥ सातवां अंक समाप्त ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासका रचा हुआ अभिज्ञान-शाकुन्तल नामका नाटक समाप्त हुआ ॥

विक्रमोर्वशीयम्

प्राज में
चाहता हूँ ।
दो सावधानीसे

पात्र-परिचयः

पुरुषाः

- सूत्रधारः—नाटकस्य प्रबन्धकर्त्ता ।
 पारिपातर्वकः—सूत्रधारस्य सहचरः ।
 पुरुषस्य—प्रतिष्ठानदेशस्य राजा, नाटकस्य
 नायकः ।
 माण्डवकः—विवक्षुकः ।
 माण्डव—पुरुषस्य पुत्रः ।
 नारकः—देवविः ।
 विश्वरथः—गन्धर्वेश्वरः ।
 कंचुकी—राजपरिचारकः ।
 पतञ्जलः } भरतमुनेः शिष्यौ ।
 मातङ्ग

स्त्रियः

- उर्वशी—एका शप्तरा । नाटकस्य नायिका ।
 चित्रलेखा—द्वितीया शप्तरा । उर्वशीयाः सखी ।
 सहजम्बा, } शप्तरसः ।
 रम्भा,
 मेनका,
 देवी—राज्ञी । काशिराजस्य कन्या ।
 निपुणिका—राज्ञ्याः परिचारिका ।
 तापसी—तपस्विनी ।
 परिजितः—राज्ञ्याः परिचारिका ।
 यवनी—राज्ञः परिचारिका ।

प्रथमोऽङ्कः

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी

यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थचिरः ।

अन्तर्यश्च सुमुच्युभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते

स स्थाणुः स्थिरमक्ति योगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥१॥

[नान्यन्ते]

सूत्रधार — प्रत्यक्षमिति विस्तरेण । [नेपथ्याभिमुखमवलोच्य ।] मारिय, इतस्तामस्य ।

[प्रविश्य]

पारिपात्यवंक — भाग्य ! अयमस्मि ।

सूत्रधार — मारिय ! परिचयेया पूर्वेषां कथानां दृष्टरताप्रबन्धा । अहमस्यां कालिकाप्रभित-
वस्तुना नक्षेत्र विप्रमोर्वशीनामधेयेन त्रोटकेनोपस्थास्ये । तदुच्यता पात्रवर्गं । त्वेषु पाठेभ्यः-
हितैर्भविष्यमिति ।

पारिपात्यवंक — यथाज्ञापयति भाग्य । [हसि निष्प्रवृत्तः ।]

प्रथम अङ्क

वेदान्ती लोग जिन्हें ऐसा अकेला पुरुष बताते हैं जो पृथ्वी और आकाशमें समा हुआ होनैस
भी सबसे प्रसन्न बना रहता है, जिनका ईश्वर नाम ऐसा सटोक और सच्चा है कि और किसी
को भी इस नामसे नहीं पुकारा जा सकता और मौख पानेकी इच्छा करनेवाले लोग जिन्हें
प्राणाधाम तापकर अपने हृदयके भीतर खोजते हैं, वे सच्ची शक्तिसे मिलनेवाले शिष्यजी आप
सब लोगोका कहवाण्ड करें । ॥१॥

[नान्दी हो चुकनेपर]

सूत्रधार — अच्छा अब देर नहीं करनी चाहिए । [नेपथ्यकी ओर देखकर] अरे भाई मारिय ।
इपर तो मागो ।

[पारिपात्यवंक आता है ।]

पारिपात्यवंक — लोचिए, भा गया, भाग्यं ।

सूत्रधार — देखो मारिय ! इस समझने पुराने कविशेखरे को बहुतसे नाटक देखे हैं । आज मैं
इन्हें श्रीकालिकाका बनाया हुआ विप्रमोर्वशीय नामका एक नया त्रोटक दिखाना चाहता हूँ ।
इसलिये सब अभिनेताओंको जाकर समझ दो कि अपने-अपने पाठका अभिनय बड़ी सावधानीसे
करें ।

पारिपात्यवंक — जैसी आपकी आज्ञा । [चला जाता है ।]

सूत्रधार—यावद्विदानीमार्थं विदग्धमिथान्विज्ञापयामि : [प्रणिपत्य]

प्रणमिषु वा दाक्षिण्यादथवा सहस्तुपुरुषबहुमानात् ।

शृणुत जना श्रवधानात्क्रियामिमां कालिदासस्य ॥२॥

[नेपथ्ये]

घञ्जा परित्याग्य परित्याग्य । जो सुरपक्षपाती जस्य वा सम्बरक्षते गई सत्यि ।
[भार्या. परिप्रायज्य परिप्रायज्यम् । य. सुरपक्षपाती यस्य सम्बरक्षते गतिरस्ति ।]

सूत्रधार—[कणं दत्वा] भये किं नु खलु मङ्गिजापनान्तरमार्तानां कुररीलामिवाकशे
शब्दः श्रूयते ।

मत्तानां कुसुमरसेन पट्पदानां शब्दोऽयं परभृतनाद एष धीरः ।

आकाशे सुरगणसेविते समन्तार्त्तिक नार्यः कलमधुराक्षरं प्रगीताः ॥३॥

[विचि-रस्य] भवतु । तप्तम् ।

ऊरुझया नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री कैलासनायममुस्य निवर्तमाना ।

वन्दीकृता विबुधशत्रुभिरर्धमार्गे क्रन्दत्यतः कुरुमपसरसां गणोऽयम् ॥४॥

[इति निष्क्रान्तः]

॥ प्रस्तावना ॥

सूत्रधार—तत्तत्कर्म ध्याने विद्वाद् दर्शकोति कुत्र निवेदन कर खुं । [सिर झुकाकर]
उज्जनी ! आप सोचोते प्रार्थना है कि हम नम्र सेवकोपर कृपा करके या इस नाटकके नायकका
भावर करके आप लोग कालिदासकी इस रचनाको सावधान होकर सुनें ॥२॥

[नेपथ्ये]

मार्यो ! मयामो ! मयामो !! जो भी कोई देवताभोका हिल चाहनेवाला हो और जो
भाकासमें भी भा-जा सकता हो, वह भाकर हमें दवावे ।

सूत्रधार—[सुनकर] धरे ! यह क्या ? मेरी प्रार्थना समाप्त होते ही भाकासमें यह कैसा
कुररीके रोने-जैसा छन्द सुनाई देने लगा—[सोचकर] क्या यह फूलोका रस पीकर मतवाले बने
हुए मीरोंकी गुजार है ? या कहीं कोयलकी मस्तानी झूक तो नहीं है ? या कहीं भाकासमें
देवताभोके साथ भाई हुई अप्सराएँ मीठी जान तो नहीं छेडे हुए हैं ? ॥३॥ [सोच कर] ठीक
है । समझ गया ।

नरके मित्र नारायणकी जाँचते जबँसी नामकी जो अप्सरा खलन हुई थी वह जब कुररीकी
सेवा करके लौट रही थी तब राक्षस उसे बीचसे ही पकड़ ले गए हैं उसीपर ये अप्सराएँ दूतनी
रो-चिन्ता रही हैं ॥४॥ [चला जाता है ।]

॥ प्रस्तावना ॥

[ततः प्रविशन्त्यम्बरसः ।]

अम्बरसः—अञ्ज परिव्राज्य परिव्राज्य । जो सुरपक्षवादी जस्त या अम्बरपते गई अतिय ।
[धार्मिकः परिव्राज्यं परिव्राज्यम् । यः सुरपक्षवादी यस्य नाम्बरपते वतिरस्ति ।]

[ततः प्रविशत्यपटीशेपेण राजा पुरुरवा रथेन सूतम् ।]

राजा—अलमाक्रन्दितेन । सुवर्णपञ्चाननिवृत्तं पुरुरवां भामेश्य कप्यतां कुतो भवत्यः परि-
भ्रातृभ्या इति ।

रम्भा—असुरायसेवादी । [असुरायसेवात् ।]

राजा—किं पुनरसुरायसेवेन भवतीनामपराधम् ।

रम्भा—मुण्डादु महाराजो । जा तवोचितेनतस्मिन्वस्तु सुउमारं पहरणं महेन्द्रस्य पञ्चावैसी
रुक्मशिवदाए तिरिगोरिष्ट अलंकारो सग्यस्त, सा खो विभ्रताही उज्ज्वली कुपेरमवलादी विषयतमाणा
केलावि द्वाणवैए विसतेहादुदोभा अदपयं जेब बन्दिगाहं विहीरा । [भृणोदु महाराजः । याः
तवोचितेनतस्मिन्वस्तु सुउमारं पहरणं महेन्द्रस्य प्रयादेशो रूपवितायाः यौगोयाः अलंकारः सर्वस्य
या नः प्रियतस्तुर्वशो कुपेरमवनाग्नितवर्तमाना केलापि दानवेन विजलेला द्वितीया प्रपंचय एव
एव बन्दिगाहं पृहीता ।

राजा—अपि तत्रपते कतमेन विविधापेन गतः स आत्मनः ।

अम्बरसः—ईसासीए दिताए । [ऐसाग्या दिता ।]

[अम्बरार्थे प्रवेश करती हैं ।]

अम्बरार्थ—धायो ! बचाओ, बचाओ ! जो भी कोई देवताधोका हित चाहते बाता हो धीर
जो धाकाधामे भी धा-जा सकता हो, वह धाकर हमे बचावे ।

[रथपर चढ़े हुए राजा पुरुरवा धीर सारथीका प्रवेश]

राजा—वस वस, रीझो मत ! मैं पुरुरवा हूँ धीर धम्री भयबाद् पूर्ववत् उपासना करके था
रहा हूँ । आप लोग यहाँ मेरे पास धाकर बताइए कि आप सोचोकी किससे बचना होगा ।

रम्भा—राक्षसोंके मर्यादाखे ।

राजा—राक्षसोंने आप सोचोकर क्या धत्वाचार किया है ?

रम्भा—सुनिष्ट महाराज ! किसीकी वही तपस्यासे डरकर उसका तप दिगानेके लिये जिते
धपना सुकुमार शस्त्र बनाकर द्वाद्व भेजते हैं, जिसके सुन्दर रूपके आगे अरुणत रूपवाली सधमी
भी पानी भरती है और जो स्वयंकी शोभा है, वही हमारी प्यारी सखी उज्ज्वली जय कुवेरके
मयनसे लोट रही थी ठो बीचमें ही कोई राक्षस उसे धीर विजलेलाकी पकड़ ले गया ।

राजा—क्या आप लोग बता सकती हैं कि वह दुष्ट दैत्य किस धीर गया है ?

सहजग्या—ईशान [पूर्व-उत्तरके कोने] की धीर ।

राजा—तेन हि मुच्यता विपादः । यतिष्ये यः सतीप्रत्यानयनाय ।

भग्नरस—सरित् एव सोमवसत्तभवस्स । (सहजमेतत्सोमवशासभवस्य ।)

राजा—इव पुनर्मा भवत्य प्रतिषानयिष्यति ।

भग्नरस—एवस्ति हेमकूटसिहरे । (एतस्मि हेमकूटसिहरे ।)

राजा—सूत ! एतानीं दिशः प्रति चोदयाश्चानामुच्यमनाय ।

सूत—यदाज्ञापयत्यामुष्मान् । (इति यथोक्त करोति ।)

राजा—[रथवेग रूपयित्वा ।] सायु साधु । धनेन रथवेगेन पूर्वप्रस्थितं दैनसैयमप्यासादयेयम् ।

किं पुनस्तत्प्रकारिणं मयोनः । मम—

अग्रे यान्ति रथस्य रेखुपदवीं चूर्णीभग्नन्तो घना—

रथक्रभ्रान्तिररान्तरेषु नितनोत्यन्यामियारावलीम् ।

चित्रारम्भयिनिश्चलं हरिशिरस्यायामवच्छामरं

यन्मध्ये समवस्थितो घ्नलपटः प्रान्ते च वेगानिहन्ति ॥५॥

[निष्क्रान्तो रथेन राजा गतश्च]

सहजया—हसा ! गवो राएसी । ता घनहे बि जघासविद्ध पदेस गच्छन्तु । (हसा ! गवो राएसि । तद्वयमपि यथासद्विष्ट प्रदेश गच्छाम ।)

राजा—तो माग लोग चिन्ता न कीजिए । मैं आपकी प्यारी सखीको सीटा साबेका प्रती जतन करता हूँ ।

रम्भा—आप आग्रवती हैं, आप सब कुछ कर सकते हैं ।

राजा—आप लोग कहाँ मेरी बात देखेंगी ?

भग्नराए—इसी हेमकूटकी चोटीपर ।

राजा—सारथी ! ईशान (उत्तर पूर्वकी) दिशाकी ओर रास मोड़कर चौडोको हाँकी ती वेगसे ।

सारथी—जैसी आपकी आज्ञा [वैसा ही करता है ।]

राजा—[रथकी चाल देखकर] वाह ! वाह ! अब चलते ही रथ इतने वेगसे दौड़ रहा है सब तो मैं गरवको भी पछाड़ सकता हूँ, फिर इत्रके शत्रु राजार तो हूँ किस गिनती मे ! मेरा रथ इतने तीव्र वेगसे दौड़ रहा है कि उसकी रगड़से यने बादल बिख बिखकर धूल जैसे बन गए हैं । इसके पहिए भी इतने वेगसे घूम रहे हैं कि ऐसा लगता है मानो पहियोंके प्ररोके बीचमें घोर बहुतरंगी धरे बनते चले जा रहे हों घोड़ोंके सिरोंपर चौरियाँ ऐसी खड़ी हो गई हैं कि जान पड़ता है मानो ये शिरमें तिखी हुई हो और वेगसे चलनेके कारण जो पवन उठता है उसकी भौंकसे ऋषीका कपड़ा ध्वजाके डठके घोर अपने बाहरी छोरके बीचमें सीधा फँस गया है, तनिक भी हिलसा जुलसा नहीं ॥५॥

[राजा तथा सारथी निकल जाते हैं ।]

सहजया—सखियों ! सारथी तो चले गए । चलो, हम लोग भी उधर चली चलें जहाँ उनसे मिलनेके लिये अगो बह चुकी है ।

मेनका—सहि एध्वं करेम्ह (सखि ! एवं नुपं ।)

[इति हेमकूटसिखरे माट्येनाधिरोहन्ति ।]

रम्भा—अयि लाम सो राएसी उदरदि खो हिमघनस्तत्त्वम् । (अयि नाम स राजनिघररति नो हृदयशल्पम् ।)

मेनका—सहि ! मा वे सतसो भोटु । (सखि ! मा ते ससयो भवतु ।)

रम्भा—ए दुदजभा वराधा । (ननु दुर्जया दानवा ।)

मेनका—उधट्टिदसपराधो महिन्वो वि मज्जमलोभायो सबहुमासं आणाविम त एव विदुषविजघ्नाय तेणामुहे शिषोजेदि । (उपस्थितसपराधो महिन्द्रोऽपि मज्जमलोकास्तमहुमान्मानाव्य तमेव विदुषविजयाय सेनामुखे नियुङ्क्ते ।)

रम्भा—सम्पहा विघई भोटु । (सर्वथा विजयो भवतु ।)

मेनका—(दाहमाण स्थित्वा) हस्ता समस्तस्य समस्तस्य । एत उत्तसितहरिणकेतयो तस्त राएसिलो सोमवतो रहो दोखदि । ए एतो मकिवतो पट्टिलउत्तिस्तदि ति तवकेमि । (सख्य, समाश्वसित समाश्वसित । एव उत्तसितहरिणकेतनस्तस्या रावर्ष सोमवतो रधो दृश्यते । नैवोक्तार्थं प्रतिनिर्दिष्टव्यति इति तर्कव्यापि ।)

[निमित्त सूचयितवानसौवन्य स्थिता ।]

[तत प्रविशति रणाकटो राजा सुतम्भ । मयनिमीषिताक्षी चित्रलेखा दक्षिणहस्तावसन्निता सर्वशो य ।]

चित्रलेखा—सहि समस्तस्य समस्तस्य । (सखि सगान्धसिंहि समान्धसिंहि ।)

राजा—सुन्दरि ! समान्धसिंहि ।

मेनका—ह्रीं सगो, चतो ।

[सब हेमकूट पर्वतपर जङ्गनेका माट्य करती हैं ।]

रम्भा—क्या वे राजपि सधमुच हम सोगीके मनको कसक दूर कर सकेंगे ?

मेनका—एतमे सम्पेह न करो सतो ।

रम्भा—पर उन दैरवोंको कोई जीत बोधे ही सकता है ।

मेनका—जागती हो, जब देवताओंको विजयके लिये युद्ध करना होता है उस समय इन दैरवोंको मज्जमलोकसे बड़े सम्मानके साथ बुलाकर अपना सेनापति बनाते हैं । समझी ?

रम्भा—पच्छा मैं तो मनाती हूँ कि सब प्रकार उनकी जीत हो ।

मेनका—[खोड़ी देर उधर कर] सखियो ! चुप हो जाओ, धीरेज रखती । वह देखो, राजपिके सोमदत्त रथको वह भट्टी हिलती दिखाई दे रही है जिसपर हिरण बना हुआ है । मैं समझती हूँ कि काम पूरा किए बिना ये नहीं लौटे होंगे ।

[सब सखियाँ जतावती होकर जघर देखती हैं ।]

[जघर बंठे हुए राजा और क्षात्रीका प्रवेश ।]

[उसी रथपर चित्रलेखाके दाहिने हाथपर सहाय देकर डरते भाँले बन्द करके पड़ी हुई सर्वशो दिखाई देती है ।]

चित्रलेखा—सखी ! धीरेज धरो, धीरेज !

राजा—सुन्दरी ! धीरेज धरो । सब राक्षसोंको को डर गयी रह्य, क्योंकि इन्द्रका बल तो

गतं भयं भीरु सुरारिसंभवं त्रिलोकरची महिमा हि वज्रिणः ।

तदेतदुन्मीलय चक्षुरायतं निशावसाने नलिनीव पङ्कजम् ॥६॥

चित्रलेखा—अगले जहाँ उत्ससिबनेससभाविदलीविदा अरुज वि एसा सण्ण ए पडिवज्रदि ।
(यहो कयमुच्छ्वसितमानसभाविदलीविदा असाप्येषा सञ्जा न प्रतिपद्यते ।)

राजा—बलवदन भवती परिवस्ता । तवाहि ।

मन्दारकुसुमदाम्ना गुरुरस्याः सूच्यते हृदयकम्पः ।

मुहुरुच्छ्वसता मध्ये परिणाहवतोः पयोधरयोः ॥७॥

चित्रलेखा—[सकलणम्] हता उच्यति । परजवस्यावेहि अस्ताणम् । अणुच्छ्वसता विम पवि-
भाति । [सञ्जि उच्यते । पयवस्यापयात्मानम् । अनप्यरेव प्रतिभाति ।]

राजा—मुञ्चति न तावदस्या मयकम्पः कुसुमकीमलं हृदयम् ।

सिचयान्तेन कथंचित्स्तनमध्योच्छ्वासिना कथितः ॥८॥

(उच्यती प्रत्यापद्यति ।)

राजा—[सहर्षम्] चित्रलेखे विख्या वर्धते । प्रकृतिमान्ना वे प्रियेक्षी । पश्य ।

आधिर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि ।

नेशस्यार्चिर्हुतश्रुत इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा ॥

मोहेनान्तर्गतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा ।

गङ्गारोधःपतनकलुषा गच्छतीव प्रमादम् ॥९॥

होनों लोकोंकी रक्षा कर सकता है, इसलिये तुम अपनी बड़ी-बड़ी पाँखें उसी प्रकार खोल दो जैसे प्रातःकाल होनेपर कमलिनो अपना फूल खोल देती है ॥६॥

चित्रलेखा—यह बड़े अचरजकी बात है कि जिसकी चतरी हुई साँसकी देसकर ही विदबास होता है कि यह भी रही है वह अभीतक अपनी पाँखें नहीं खोल रही है ।

राजा—भद्रे ! तुम्हारी सखी बहुत ही डर गई है । क्योंकि इसके बड़े बड़े स्तनोंके बीचमें जो मन्वारकी माना पड़ी हुई है उसके बराबर हिलनेसे ही यह बात पट रहा है कि इसका हृदय डरके मारे अभी तक बड़ा काँप रहा है ॥७॥

चित्रलेखा—[दुष्टी होकर] सखी उच्यती । धीरज परो । ऐसा करती हुई, तुम अपना नहीं जान सकती ।

राजा—इनके स्तनोंके ऊपर हिलनेवाले वस्त्रसे ही जान पट रहा है कि डरसे जो कँप-कँपी छुटी थी वह अभीतक इनके फूल-जैसे कोमल हृदयको छोड़ नहीं रही है ॥८॥

[उच्यती पाँखें खोलती है ।]

राजा—[प्रसन्न होकर] यहाँ है चित्रलेखाजी । आपकी सखीने पाँखें खोल दी हैं । देखो—मूर्छा दूर होनेपर आपकी सखी ऐसी लगती हैं जैसे चन्द्रमाके निकल जानेपर प्रवेरेसे छुटी हुई रात हो, या रातके समय बिना घुँववाली अग्निकी लपट हो, या यथाशीवी वह पारा हो जगारके गिरनेसे गँदनी होकर फिर स्वच्छ हो गई हो ॥९॥

चित्रलेखा—सहि उदयसि ! वीरद्वय भव । आचरणानुकम्पिणा महाराण्य प्रतिहता वस्तु वे त्रिदशपरिपन्थिनो हतास्त दारुणाः । (सहि उर्वशी ! विलम्बा भव । आपन्नानुकम्पिना महाराजेन प्रतिहताः सन्तु ते त्रिदशपरिपन्थिनो हतास्तदानवाः ।)

उर्वशी—[चतुर्थी उन्नीत्य ।] किं पहातवन्तिता महिन्देस शम्भुवाह्मि । (किं प्रभाव-
दर्शिता महिन्देसाम्पुपन्नास्मि ।)

चित्रलेखा—ए महिन्देस । महिन्दसरिताश्रमावेस राएसिखा पुष्करवनेस । (न महे-
न्द्रेण । महिन्दसदृशानुभावेन राजपिणा पुष्करवता ।)

उर्वशी—[राजानगवतोष्य । आत्मगतम् ।] उक्किवं वस्तु वाणवेन्वतंरम्भेण । (उपकृतं
सन्तु दानवेन्द्रसंरम्भेण ।)

राजा—[उर्वशी विवोष्य । आत्मगतम् ।] इत्ये सन्तु नारायणपुर्वि विवोभयप्रसन्नदू-
संभवाभिमतं विवोष्य श्रीकृताः सर्वा मप्यारस इति । मयया नैवं वरक्षितः स्मृष्टिरित्यवैमि ।
कुतः ।

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूचन्द्रो नु कान्तिप्रदः .

शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।

वेदाभ्यासजडः कथं नु विपयव्यावृत्तकौतूहलो

निमातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥१०॥

उर्वशी—हता—चितलेहे सहीमलो कहि वस्तु भये । (सहि चित्रलेखे ! सखीयनः कुत्र सन्तु
मयेव ।)

चित्रलेखा—सखी उर्वशी ! विश्वास करो, दुस्खीपर कृपा करनेवाले महा राजने देवतामोके
शत्रु दुष्ट राक्षसोंको मार भगवा है ।

उर्वशी—[आपें खोलकर] क्या बलशाली इन्द्रने मुझे बचाया है ?

चित्रलेखा—महेन्द्रने नहीं, इन्द्रके ही समान वीर राजपिने ।

उर्वशी—[राजाको देखकर मनमें] तो राक्षसोंके उपद्रवने उपकार ही किया है ।

राजा—[उर्वशीको देखकर मन ही मन] नारायण ऋषिके तुमारेके लिये जो भस्मराष्ट्र
पई थी, उन्हीने जब ऋषिकी अपासे उत्पन्न होनेवाली इस उर्वशीके रूपको देखा तो वे
सब भँप गई । यह ठीक ही था, क्योंकि ऐसा सुन्दर रूप कोई राक्षसी तो उत्पन्न कर नहीं
सकता । इसे बनानेके लिये या तो चाँदनी देनेवाले चन्द्रमा ही स्वयं प्रह्लाद बने होंगे या
शृङ्गार रसके देवता स्वयं कामदेवने इसे बनाया होगा, या फिर वसन्तने ही इसे रचा होगा । नहीं
तो बताइए, भला वेद पढ़ पढ़-कर पचराए और योग-विद्यासे दूर रहने वाले वे बूढ़े ऋषि
ऐसा सुन्दर रूप कैसे उत्पन्न कर सकते हैं ॥१०॥

उर्वशी—सखी चित्रलेखा ! हमारी सब सखियाँ कहाँ होगी ?

विप्रलेखा—सहि प्रमथ्यदाई महाराजो जाहादि । (एलि अभयप्रदायी महाराजो जानाति ।)

राजा—[उर्वशी विनोदय ।] महति विपादे वर्तते सतीजनः । परपतु भवती ।

यदृच्छया त्वं सकृदप्यबन्ध्ययोः पथि स्थिता सुदरि यस्य नेत्रयो ।

त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेत्सखीजनस्ते किमुदार्द्रसौहृदः ॥११॥

उर्वशी—[प्राप्तगतम् ।] प्रमिष्टं वधु दे वधनम् । अहया चन्द्रादो प्रमिष्टं कि कि अन्धरिप्रम् । [प्रकाशम्] अदो एव मे रेखितु तुषरति हिमप्रम् । (अमृत सलु त वधनम् । अथवा चन्द्रावमृतमिति किमाश्रयम् । अत एव मे रेखितुं स्वस्ते हृदयम् ।)

राजा—[हस्तेन-दशायम् ।]

एताः सुतनु मुखं ते सख्यः परयन्ति हेमकूटगताः ।

उत्सुकनयना लोकाधन्द्रमिषोपप्लवान्मुक्तम् ॥१२॥

[उर्वशी गामिताप पत्यति ।]

विप्रलेखा—हला कि पेशति । (एलि कि प्रेसते ।)

उर्वशी—एवं समनुपगतदो पिषोषति लोमखेहि । (ननु समनु पश्यत. पीयते लोचना-भ्याम्)

विप्रलेखा—[चस्मितम्] अइ को । (अभि कः ।)

उर्वशी—एवं पण्डितलो । (ननु प्रणयिजनः ।)

विप्रलेखा—हमे बचानेवाले महाराज ही जानते होंगे ।

[उर्वशीको देखकर]

राजा—आपकी सखियाँ बड़ी ही दुखी दिखाई दे रही हैं । देखिए, यदि आपकी कोई एक सखी भी ईश्वरसे देस ले तो यह भी आपके वियोगसे बिकल हो उठे, फिर, आपके प्रेमाने क्या हुई सखियोंकी तो बात ही क्या ? ॥११॥

उर्वशी—[मन ही मन] आपके वपन ली अमृत है । पर चन्द्रमासे यदि अमृत बरसे तो आपमें ही क्या । [प्रदट] इसीलिये तो मेरा हृदय उन्हें देखनेके लिये इतनी उल्लासकी कर रहा है ।

राजा—[हाथसे दिखाता हुआ] यह देखिए, आपकी सखियाँ हेमकूटपर बँटी हुई आपकी घोर बँटी हो उरमुखतासे देस रही हैं जैसी उन्मुक्ततासे लोग ब्रह्मलये छूटे चन्द्रमाको देस करते हैं ॥१२॥

[उर्वशी राजाको चाहते साथ देखती है ।]

विप्रलेखा—इतने ध्यानसे क्या देस रहते हो लगी ?

उर्वशी—जो रूपों दुगने नाम पाये उन्हें पाँछोंसे भी रहते हैं ।

विप्रलेखा—[हँसकर] घरी किन्हे ?

उर्वशी—आपने प्रियजन ।

रम्भा—[सहस्रमदलोचन] हता ! चित्तलेहाबुद्धीयं पिपसाह्वं उज्ज्वलं येनित्थं विद्याहासहिबो विषम भयं सौमो समुपद्रिष्टो राएसी । (सति ! चित्रलेखाद्वितीया श्रियसखीमुखं चो गृहीत्वा विद्याहासहित इव भगवान्सोमः समुपद्रिष्टो राजपिः ।)

मेनका—[निर्वर्ण्य] हता बुधे वि एषो एतथ पिपसा उज्ज्वला । इमं पञ्चासोदा विषंसही । अयं च अपरिक्लृप्तसरोरो राएसी बीसवि । (सति ! द्वे अपि नोऽत्र प्रिये उपनते । इयं प्रत्यानीता श्रियसखी । अयं अपरिक्लृप्तसरोरो राजपिः ।)

सहजन्मा—तहि कुतं भवति कुजयो वरणयो ति । (सति ! युक्त भवति कुजयो वानव इति ।)

राजा—सुत इदं लक्ष्मणशिकरम् । भयतारय रम् ।

सुतः—यवाज्ञापयत्वापुष्मान् । [इति तथा करोति ।]

[उर्वशी रथापतारक्षीम नाटयन्ती सप्तम राजानमवसम्भवे ।]

राजा—[स्वगतम् ।] हन्त सफलं मे विपनावतारः ।

यदि रथसंघोभादङ्गेनाङ्गं ममायतेक्षयया ।

स्पृष्टं सरोमकण्टकमङ्कुरितं मनसिजेनेव ॥१३॥

उर्वशी—हता कि वि पररो भोत्तर । (सति किमपि परसोत्तर ।)

चित्रलेखा—एाहं सखेमि । (नाह वनमिमि ।)

रम्भा—[हृष्यं देसकर] चित्रलेखा भोर प्यारी सखी उर्वशीको साथ लेकर यह राजपि वसी प्रकार रथर खले या रहे हैं जैसे विद्याकाके दो सारोंके साथ पद्मना खले या रहे हो ।

मेनका—[विचारकर] सखी, ये दोनों बातें अच्छी हो हुई कि, हमारी सखी भी लोटकर या गई और राजाको भी किसी प्रकार खोट नहीं आई ।

सहजन्मा—हुम ठीक कह रही हो सखी । नहीं तो भला इन राजसोको क्या कोई कमी पीत पाता है ?

राजा—सारथी ! यही है वह उर्वतकी खोटी । रथ यही उतार लो ।

सारथी—जंसी बाधुमानुकी आज्ञा ।

[रथ उतारता है ।]

[रथके उतरनेके गटकेका नाट्य करती हुई उर्वशी राजाके खरीरसे खम जाती है ।]

राजा—[मन ही मन] इस ऊबड़-खाबड़ भूमिपर रथका उतरना मेरे लिये अच्छा ही हुआ, क्योंकि रथके हिलने-डुलनेसे इस बड़ी-बड़ी भाँखोवासी सुन्दरीके खरीरसे मेरे खरीरसे बार-बार छूनेपर खरीरमे जो रोमांच हो आया है वह ऐसा भाव पड़ता है मानो मेरेके मंजुर फुट पाए हों ॥१३॥

उर्वशी—सखी ! सोचो उषरको हट जाओ ।

चित्रलेखा—मुझसे तो नहीं हटा जाता ।

रम्भा—एतत्त्रिभारिणं संभावयेद्दृष्ट्वापि । (अन प्रियकारिणं संभावयामो राजपिम् ।)

[सर्वा उपसर्पन्ति ।]

राजा—सूत उपहृतेष्वयं रम्यम् ।

यावत्पुनरियं सुश्रूत्सुकाभिः समुत्सुका ।

सखीभिर्याति संपर्कं लताभिः श्रीरिवार्तवी ॥१४॥

[सूतो रम स्थापयति ।]

अम्बरतः—द्वित्रिंश महाराजो बिम्बराजः वदन्ति । (दिष्टया महाराजो बिम्बदेन वर्धते ।)

राजा—भयत्यत्र सखीसमागमेन ।

उर्वशी—[बिम्बलेखादत्तहस्तावसम्या रयादवतीर्य] हस्ता अधिर्धं परिस्तजह । ए वस्तु मे आसी आसीतो अहं पुणो वि सहोमणं वेविचस्सं ति । (सख्यः अधिक परिष्वजय । न तलु मे आसीदाददातो यथा पुनरपि सखीजनं प्रेक्षिष्य इति ।)

[सख्यः परिष्वजन्ते ।]

मेनका—[साक्षात्तम्] सज्जहं फण्यसवं महाराजो पुर्वा वि पातमन्ती होतु (सर्वदा कलागतं महाराज. पृथिवी पालयन्वस्तु ।)

सूतः—आधुष्मन् ! पूर्वस्यां विनि महता रपवेनोपवर्तितः शब्दः ।

अथ च गगनात्कोऽपि तप्तचामीकराद्गदः ।

अधिरौहति शैलाग्रं तद्विस्थानिय तोषदः ॥१५॥

रम्भा—बहो, अपना भला करनेवाले इस राजपिका हम सोम घावे बड़कर स्वागत तो करें ।

[सब भावे खड़ी हैं ।]

राजा—सारथी ! रथको इनके पास तक तो बढ़ा ले पखी, जिससे मे घभीर सुन्दरी अपनी पसरवाई हुई सखियोंसे उसी प्रकार मिल ले जैसे बसन्तकी खोभा लताखोसे आ मिलती है ॥१४॥

[सारथी रथ सहा कर बैठा है ।]

अम्बरार्य—इस बिम्बपर महाराजकी बघाई है ।

राजा—आप सबकी भी अपनी ध्यारी सखीसे मिलनेकी बघाई है ।

उर्वशी—[बिम्बलेखाके हाथके सहारे उत्तरपर] सखियों ! मुझसे कसकर गले मिलती । मैं ही तुम सबसे मिलनेकी आशा ही छोड़ बैठी थी ।

[सखियाँ गले मिलती हैं ।]

मेनका—[प्रशंसा करते हुए] महाराज सँकरी बल्पोतक पृथ्वीका पालन करते रहे ।

सारथी—महाराज ! पूर्व दिशाकी ओरसे किसी बेघसे घाते हुए रथकी मट्टमट्ट सुनाई दे रही है । देखिए, उसे हुए सोनेका मुबबन्ध पहने कोई इसी पर्वतके शिखरपर आकाशसे उसी प्रकार उतर रहा है जैसे कोई बिजलीवाला बादल हो ॥१५॥

अम्बरसः—[पश्यन्त्यः] अम्मो चित्तरहो ! (गहो चित्ररथः ।)

[ततः प्रविशति चित्ररथः ।]

चित्ररथः—[राजानं दृष्ट्वा सबहुमानम् ।] दिष्ट्या महिम्नोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना धर्षते भवान् ।

राजा—अये गन्धर्वराजः ! [रयादयतीत्यं ।] स्वागतं प्रियसुहृदे ।

(परस्परं हस्ती स्पृशतः ।)

चित्ररथः—तवस्य केचिन्ना हृतमुत्तमं गारवाङ्मुषस्य प्रत्याहरणार्थमरयाः शतश्रुता गन्धर्वसेना समाविष्टा । ततो यममन्तरा चारुसौम्यस्वदीर्घं जयोराहुरसं श्रुत्वा त्वामिहाङ्ग-मुपागताः । ॥ भवानिमां पुरस्कृत्य सहास्माभिर्मघवन्तं द्रष्टुमर्हति । महत्तनु तत्रभवतो मघोना प्रियमनुष्ठितं भवता । पश्य ।

पुरा नारायणेनेयमसिष्टा मरुत्वते ।

दैत्यहस्तादपाच्छिद्य सुहृदा संप्रति त्वया ॥१६॥

राजा—ततो मयम् ।

मनु यजिष्ण एव वीर्यमेतद्विजयन्ते द्विपतो यदस्य पद्मयाः ।

वसुधाधरकंदराविसर्पी प्रतिशब्दो हि हरेर्हि नस्ति नागान् ॥१७॥

चित्ररथः—पुस्तमेतम् । अनुस्तेकः सन्तु विक्रमार्त्तकारः ।

अम्बरार्ये—[देखती हुई] धरे ! ये तो चित्ररथ है ।

[चित्ररथका प्रवेश]

चित्ररथ—[राजाको देखकर आदरसे] इन्द्रका उपकार करनेकी शक्ति रखनेवासे महाराज ! आपकी बधाई है ।

राजा—धरे भाव ! गन्धर्वराज ! [रथसे उतरकर] स्वागत करता हूँ मित्र ! [दोनों आपसमें हाथ मिलाते हैं ।]

चित्ररथ—अयस्य ! गारुदजीने इन्द्रको मयी-मयी बताया है कि उर्वशीको केही हृद से गया है । यह सुनकर इन्द्रने गन्धर्वोंकी सेनाको आज्ञा दी कि उसे आकर चुदा लामो । इसी बीचमें हमने मार्गमें देखा कि चारण सोम आपकी विजयके भीत गाते चले धार रहे हैं । यह वसे सुनकर हम लोग इधर चले आए । अब भाव उर्वशीको लेकर स्वयं हमारे साथ भगवान् इन्द्रसे शसकर मिलिए, आपने राजमुच इन्द्रका बड़ा भारी उपकार किया है । देखिए—जैसे पहले सप्तकी नारायणने इसे उत्पन्न कलेके इन्द्रको सौंप दिया था वैसे ही अब दैत्योके हाथों पुष्कर भाव मित्रके गाते इसे इन्द्रको भेंट कर दीजिए ॥१६॥

राजा—नदी नहीं ऐसा थ कहो ! यह सब इन्द्र भगवानके ही पराक्रमका तो फल है कि उनके मित्र अपने शत्रुओंको उगी प्रकार मार भगाते हैं जैसे पर्वतको बुधसे टकराकर गूँबती हुई सिंहकी दहाड़ हाथियोंको डराकर भगा देती है ॥१७॥

चित्ररथ—ठीक ही । वो पराक्रमी होते हैं उन्हें विजय ही सोमा देता है ।

राजा—सले नायकमवसरो भम अतयत्तुं दण्डम् । अतस्त्वमेवाग्रमवर्तो प्रथोरन्तिकं प्रापय ।

चित्ररथः—यथा गवान्मन्यते । इत इतो गवत्यः ॥

[सर्वाः प्रस्रिताः ।]

उर्वशी—[जनान्तिकम्] हता चित्तलेहे, उपकारिणं राण्यं ए सङ्कलोमि धामन्तेतुम् ।
तां पुनं एव मे मुहं होहि । [सखि चित्रलेहे । उपकारिणं राजपि न शक्नोम्यामानयितुम् ।
सत्त्वमेव मे मुलं भव ।]

चित्रलेखा—[राजानमुपेत्य ।] महाराज पश्यतो विष्णुदेवि—महाराष्ट्रा मन्मथलुगता
इच्छामि विधत्तां विधम महाराजस्य किंलि गुरलोचं खेवुं । (महाराज ! उर्वशी विज्ञापयति—
महाराजेनाभ्यनुगतेष्वपि त्रियसुखीयिव महाराजस्य कोलि गुरलोचं नेतुम् ।)

राजा—पश्यतां पुनर्दशंवाय ।

[सर्वाः समस्यर्षां आकाशोत्पत्तं रूपयन्ति ।]

उर्वशी—[उत्पन्नमङ्गलं रूपयित्वा ।] धम्मो सदाविद्ये एसा एधावली वैमाप्रतिष्ठा मे
सम्मा । [सज्जाजमुपसृत्य राजानं पश्यन्ती ।] सहि चित्तलेहे भोभावेहि वाय खं । (यही
सदाविद्ये । एपेकावली ब्रजवन्तिका मे सम्मा । सखि चित्रलेहे मोचय तावदेनाम् ।)

चित्रलेखा—[विस्मय विहस्य च ।] भां विदं बहु सया सा । असङ्ग मोधाविहं । (याम्
इदं सनु सन्ना सा । सतययं मोचयितुम् ।)

उर्वशी—धलं परिहातेन । मोधावेहि वाय खं । (धलं परिहातेन । मोचय तावदेनाम् ।)

राजा—मित्र ! इस समय तो मैं भगवान् इन्द्रका दर्शन कर नहीं सकूँ, इसलिये प्राय ही
इस समय इन्हें स्वामीके पास पहुँचा द्याइए ।

चित्ररथ—जैसी आपकी इच्छा । इधरसे द्याइ देवियो । इधरसे ।

[सब चली जाती हैं ।]

उर्वशी—[असंग] सखी चित्रलेखा ! अपने ऊपर इतना उपकार करनेवाले राजपिसे
चलते हुए विदा लेनेमे मुझे तो मान कम रही है, इसलिये तुम्हीं मेरी ओरसे बिदा
चाँल लो ।

चित्रलेखा—[राजाके पास पहुँच कर] महाराज ! उर्वशी कह रही है कि यदि महाराजकी
प्राज्ञा हो तो महाराजकी कोठियने भवनी सखी बनाकर मैं इन्द्रलोचनमें से पारूँ ।

राजा—जाइए, पर फिर दर्शन भवस्य दीजिएगा ।

[तब अन्तराष्ट्रं गन्धर्वके साथ आनाश्रमे उड़नेवा नाट्य करती है ।]

उर्वशी—[उड़नेमें बाधा पड़नेका नाट्य करती हुई ।] घरे लो ! इस सप्ताकी राक्षामें
मेरी इन्हरी धनमन्तीकी मात्ता हो फँस गई ! [घूमकर राजाको देखती है ।] सखी चित्र
लेखा ! इसे छुड़ाओ तो आकर ।

चित्रलेखा—[देखकर हँसते हुए] हाँ, यह तो बड़ी बुरी फँस गई है । यह क्या छुड़ाए
पूटती है ?

उर्वशी—अच्छा ठिठोती रहने दो, पहले छुड़ाओ तो इसे ।

विजलेचा—आं दुम्नोआ विष मे पडिहादि । तहा बि मोघाकस्तं बाव । (मात् दुर्मोघ्येव मे प्रतिभाति । तथापि मोचयिष्ये तावत् ।)

उर्वशी—[दिप्तं कृत्वा] विप्रतहि सुभरेहि वधु एवं धत्तस्यो वधरणम् । (प्रियतति ! स्मरस्य क्षत्वेतदारमनो वचनम् ।)

राजा—[स्वगतम्]

प्रियमाचरितं लते त्वया मे गमनेऽस्याः क्षणविघ्नमाचरन्त्या ।

यदियं पुनरप्यपाङ्गनेत्रा परिवृत्तार्धमुखी मया हि दृष्टा ॥१८॥

[विप्रलेता मोक्षयति । उर्वशी राजानमात्मोक्तमन्ती रति स्वास उद्योजनमुत्पन्नं पश्यति ।]

सूतः—आमुष्मन् !

अदः सुरेन्द्रस्य कृतापराधानप्रक्षिप्य दैत्याँल्लवणाम्बुराशौ ।

वायव्यमस्त्रं शरधिं पुनस्ते महोरगः स्वप्नमिव प्रविष्टम् ॥१९॥

राजा—तेन ह्युत्पलेयव रपम् । मावहारोहामि । [भृतस्तथा करोति । राजा नादयेन रपमारोहति ।]

उर्वशी—[सस्पृहं राजानमवलोकयन्ती ।] अवि खाम पुखो वि उन्नमरिखं एवं पेरिखस्तं (अपि ताम पुनरप्युपकारिण्येन प्रेक्षित्ये ।)

[इति वधवर्गा सह उद्योभिनिष्क्रान्ताः ।]

विप्रलेता—मरे यह छूटती तो नहीं दिलाई देती, फिर भी देखती हैं सुहाकर ।

उर्वशी—[हँसती हुई] प्यारी सखी ! देख, प्रपने ये खन्व स्मरण रखना, भूलना मत ।

राजा—[भम ही भम] हे वध । तुमने इसे रोककर मुझपर बड़ी ही कृपा की है कि हथरको आधा मुँह फेरकर देखती हुई इस बड़े बड़े नेत्रवालीको मैंने इसी सहाने झाल मर देख तो लिया ॥१८॥

[विप्रलेता मात्ता कुछ देती है । उर्वशी राजाको देखकर लम्बी साँसे लेकर ऊपर उठती हुई सखियोंको देखती है ।]

सूत—आमुष्मान् ! वधु शरशरीको खरे समुद्रमे भोक्तकर आपका वायव्य शस्त्र आपके वूखीरमे वसी प्रकार भाकर पँठ गया जैसे कोई साँप अपने बिलमे भाकर पँठ जाय ॥१९॥

राजा—रपको गोडा पास वो बड़ा साधो जिससे मैं चढ़ सकूँ ।

[आरपी रपको पास ले आता है और राजा रपपर चढ़नेका नायब करता है ।]

उर्वशी—[बड़ी चाहके साथ राजाको देखती हुई] क्या मैं अपने ऊपर उपकार करनेवाले इन राजपिको फिर कभी देख पाऊँगी ?

[अन्धर्व भीर सखियोंके साथ उर्वशी चली जाती है ।]

राजा—[उर्वशीवर्षोन्मुक्तः ।] अहो दुर्लभामिताम्यो मदनः ।

एषा मनो मे प्रसमं शरीरात्पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती ।

सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात्क्षत्रं मृणालादिव राजहंसी ॥२०॥

[इति निष्क्रान्ता ।]

॥ इति प्रथमोऽङ्कः ॥

राजा—[जबर उर्वशी गई जबरको देखते हुए] ओह ! कमदेव भी उसीकी घोर सींचे कावा है जिसका मिलना नष्ट कठिन होता है—यह मयूरा आकाशमें उड़कर जाती हुई मेरी मनको शरीरसे उसी प्रकार बलपूर्वक खींचे लिए जा रही है, जैसे कोई राज-हंसी दूटे हुए बमलजी डकलते उसका तंतु खींचे लिए चली जा रही हो ॥२०॥

[चले जाते हैं ।]

॥ पहला अंक समाप्त ॥

द्वितीयोऽङ्कः

[उत्त प्रविशति विदूषक ।]

विदूषक—हो हो भो एमन्तलिमो परमण्येण विम रामरहस्येण कुटुमाली ए सङ्ग-
एणिम अण्णहण्णे अण्णहण्णेण अत्तणो जीह धारित्तुम् । ता जाय हो रामा मन्मासणगरो
इवो आमण्णइ वाण इयस्सि विरसनणसभावे देवच्यन्मण्णसादे मावहिम चिट्ठित्तए ।
[परिक्रम्योपविश्य पाणिभ्या मुख पिपाय स्थित ।] हो हो भो निमन्त्रणिक परमाण्णेनव
एणरहस्येण स्फुटन्व शकोमि, अमाकोण्णोऽजीतनेणात्मनो बिह्वा धारयित्तुम् । तच्चायस राजा
अमांसमगत इव मादाति तावदेतस्मिन्विरलजनसपाते देवच्य दण्डसाद, भावह्य स्यास्ये ।]

[उत्त प्रविशति चेटी]

चेटी—माणसमिह देवीए कामिरामनुहिदाए जघा—हज्जे एणत्तिए जरो पट्टि भम-
अरो सुजस्त उअवाण क्कुम पट्टिउज्जतो महारामो तरो पट्टि सुण्हिममो विम
सवलीमदि । ता तुम वि वाम अज्जमालवमादे जाणहिसे उज्जत्तकालए ति । ता कह
भो बन्हुबन्धु अदितथावण्यो । अहवा तण्णगतग विम अक्खसाअमत्तित ए तस्सि रामर-
हस्त चिर चिट्ठि ति तवकेमि । ता जा ए अण्णेतमि । [परित्यागवतीत्य च ।] अम्मो
आलेक्खवाणरो विम किंवि मत्तअत्तो सिहवो अज्जमालववो चिट्ठि । ता जाय ए उअत्त-

द्वितीय अङ्क

[विदूषक प्रवेश]

विदूषक—हैं हैं हैं हैं ! ओहा बीमनेवागे पेह आहणका पेह जैसे फटा पकटा है, जैसे
हो राधाके प्रेमकी बात कहनेको मेरा भी वी ऐसा फटा पकड़ा है कि मैं अपनी गोमकी
हड्डी सोर्गोंके दीपमे बोलनेसे रोव नहीं पा रहा हूँ । तो अबतक मेरे भानजीय मित्र महा-
राज, राजसभासे लोटें सबतक मैं इस देवच्यदण्ड नामके भगवमे ही चक्कर बँटूँ जहाँ लोगोंकी
पहुँच भी बहुत कम होती है । (हाथसे मुख बन्द कर बैठता है ।)

[इतनेमे चेटी जाती है ।]

चेटी—राजी नरेन्द्रकी ग-यावे मुझे याज्ञा दी है कि—हे निपुणिका ! भगवानु सूर्यको
उपासना करने जयसे महाराज लीटें हैं तभीसे ये कुछ धनमनेसे दिशाई देते हैं । इसलिये
तू जाकर उनके प्यारे मित्र माणवकसे अपनी उदासीका कारण पूछ या । धन मैं उस
भूतकी कैसे ढोऊँ ? पर मैं समझती हूँ कि जैसे घासपर पत्रों हुई घोसकी सूँद बहुत देर
तक नहीं ठहर पाती वैसे ही उसने पेटमे राजाकी गुप्त बातें बहुत देरतक नहीं पच सकेंगी ।

प्यामि । [उपसृत्य ।] यत्र सन्त्यामि । (प्राज्ञप्तास्मि देव्या काशिराजदुहित्रा यथा—हृज्ये निपुणिके यत् प्रभृति भगवत् सुर्वस्वोपस्थानं कृत्वा प्रतिनिवृत्तो महाराजस्तत् प्रभृति सून्यं हृदयं ह्य सद्यने । तत्त्वमपि तावदायमाखण्डवर्जनीहृत्स्वोत्कण्ठाकारणमिति । तत्कथं स प्रत्यवन्पुनरित्यपातव्य । यथा तृणापतन्निमिषावस्यामसत्तिर्त्तं न तस्मिन्नाजहृत्स्य निरतिष्ठतीति त्वयापि । तदावदेनमन्यप्यामि । ग्रहो यासत्यवावर ह्य किमपि मन्वयमिभृतं धार्यमाणक-
स्तिष्ठति । तदावदेनमुपसर्पामि । धार्यं सन्दे ।)

विदूषक—सत्यं भोवोए । [सात्प्रपतम्] एव दुष्टवेष्टिष्य वेक्लिन्नं तं रामरहस्तं हिमम भिन्विष्य लिङ्गमदि विष्य [किञ्चिन्मुक्तं सवृत्त्यं । प्रकाशम् ।] भोवि लिङ्गणि ए रागोदयावार उज्जिभ्रमं बहिर् मरियदासि । [स्वस्ति भवत्यं । एता दुष्टवेष्टिकीं प्रेक्ष्य तद्वानरहृत्स्यं हृदयं भित्त्वा निष्क्रामतीव । भवति निपुणिके सगोतव्यापारपुत्रिमर्या कुत्र प्रस्थितासि ।]

पेटी—देवोए यद्यखेणं अग्र एव वेक्लिन्नम् । (देव्या वचनेनार्थमेव प्रेक्षितम् ।)

विदूषक—किं तत्तभोवी भ्रातृवेदि । [किं तत्रभवत्याजपयति ।]

पेटी—देवी भ्रातृदि जया—अज्जस्तं मम उमरि अवस्थितम् । ए म अज्जस्तदेमल्लं हृदिजदं भयलोभदि ति । (देवी भ्रातृदि यथा—धार्यस्य भयोपरि-प्रसन्नमिष्यम् । न नामनुचित-
वेदनां दुःखितामवलीकयतीति ।)

विदूषक—लिङ्गणि किं वा विप्रवपस्तेणं तत्तभोवीए वडिज्जं किञ्चिं समाचरिदम् । (निपुणिके किं वा प्रियवपस्तेन उन्नमयस्या प्रतिवृत्तं किमपि सप्ताचरितम् ।)

पेटी—न लिभित उल्लं मट्टा उज्जिभ्रमो ताए इतिभाए एवमेणं मट्टिणा देवी भ्रातृविदा । (यन्निविदा पुनर्भर्ता उल्लंभित उल्लं स्त्रिया नाम्ना भर्ता देवी भ्रातृविदा ।)

इतीति चत्तुं उल्लं खोज देवू । [भूमकर घोर देख कर] घरे, धार्यं भ्रातृवक तो यहाँ बिनाम बने हुए बन्दरने सभान कुछ खोजत हुए उपवास से बैठे हुए हैं । तो चत्तुं इनके पास । [पास जाकर] धार्यं । प्रणाम करती हूँ ।

विदूषक—बन्दाए ही माववा । [मन ही मन] इस दुष्ट दासीको देखकर तो रामाके प्रेमाजी गुप्त बातें हृदय कोटकर निकलना चाहती हैं । [प्रवट] बहो निपुणिकाजी । अपना माना-बनामा छोड़कर बिघर चली हो ?

पेटी—देवीजी भ्रातृसे मावके ही दर्शनके लिये तो या रही थी ।

विदूषक—बहो बहो, महाराजीजीने क्या कहलाया है ?

पेटी—देवीने कहलाया है कि भ्रातृवक आप हमपर दया नहीं कर रहे हैं और भ्रातृए इतनी बड़ी बिन्ताम जयती हुईने दाने भी नहीं पाते ।

विदूषक—निपुणिका । क्या इपर महाराजने कोई देवीने मनके विषय काम कर जाता है ?

पेटी—हाँ । भ्रातृवक महाराज निसे प्यार करते हैं, उलोवा नाम सेकर उन्होंने देवीको उदार दिया ।

विदूषक.—[स्वगतम्] कहूं सब एव्व तत्तमोदा वमहसेण रहस्सभेसी किंदो । किं वासि अहं वमहणो ओहं रसितुं समथोमिह । [प्रकाशम् ।] किं तत्तमोदा उम्भत्तोणामपे-
एण भ्रामन्तिदा । (कथं स्वयमेव तन्भवता वयस्येन रहस्यभेदः कृतः । किमिदानीमहं ब्राह्मणो
जिह्वा रसितुं समर्थोऽस्मि । किं तत्र भवता उर्वशीनामपेयेनामन्त्रिता ।)

पेटो—अज्ज का सा उम्भत्तो ? (आर्य का सा उर्वशी ?)

विदूषकः—अस्मि चण्वस्ति स्ति अण्वरा । ताए इंतसेण उम्मादितो ए केवलं तं भ्रामासेवि
मं किं वमहणं अस्तिववविपुहं दिदं पोडेदि । (अस्सपुर्वशीरूपन्तरः । तस्या दर्शनेनोन्मादितो न
केवलं तामावाप्तवति मायपि ग्राह्यमशितव्यमिमुलं दृढ पीडयति ।)

पेटो—[स्वगतम् ।] उम्मादिदो मए भेभो भट्टिखो रहस्सभुम्भस्स । ता गवुस पैसीए
एवं एिवेदेमि । (उत्पादितो मया भेदो भूतं रहस्यदुर्गतम् । तद्वत्त्वा देव्यै एतन्निवेदयामि ।)
[इति प्रस्थिता ।]

विदूषकः—एिउंशिण । विमल बोहि मम वमहणोण कासिरामदुहितरम्—परिस्सन्तमिह इमाए
मिमसिगिहमाए । वसत्ती एिअत्तावेदुम् । जइ भोवीए मुक्कमलं पैविजस्सवि तवो एिमसिस्सवि
ति । (निपुणिके) विज्जापय मम वचनेन कासिराजदुहितरम्—परिव्यान्तोऽग्रम्येतस्या मृगशृङ्ग-
काया वयस्य निधत्तमिदुम् । यदि भवत्या मुलकमस प्रेक्षिष्यते ततो निवर्तिष्यत इति ।)

पेटो—जं अज्जो आणवेदि । (यदायं भ्रामावति ।) [इति निष्प्रस्थिता ।]

[नेपथ्ये वंतामिकः ।]

जयतु जयतु देवः ।

विदूषकः—[मनने] अरे ! तो क्या स्वयं महाराजने ही सब भंडा फोड़ दिया । तब
मैं ब्राह्मण होकर अपनी जीभ कैसे बाँधकर रख सकता हूँ । [प्रकट] क्या महाराजने उर्वशी
कहकर पुकारा था ?

निपुणिका—भयो आर्य ! यह उर्वशी कौन है ?

विदूषक—अरे यह उर्वशी एक अम्तरा है । उसे देखकर महाराज ऐसी मुप-मुप लो धँठे हैं
कि उन्होंने केवल देवीका ही जी नहीं दुला रखा है वरन् मौज-मानी छोड़े हुए इस ब्राह्मणको
भी साँस दे रक्ते हैं ।

निपुणिका—[मनने] स्वामीके भेदका हुनं तो मैंने फोड़ दिया । तो मैं जाकर देवीको
यही सब बता देती हूँ । [चल देती है ।]

विदूषक—सुनो सुनो निपुणिका ! देखो, मेरी ओरसे कासिराजकी पुत्रीके कहना कि मैं तो
अपने मित्रको इस मृगशृङ्गाके धवानेकी बात समझाते-समझाते एक गया । हाँ, यदि वे आपका
मुल-कमस देख लें तो उनका मन उर्वशीके अवश्य फिर जावगा । समझी ?

निपुणिका—जैसी आर्यकी आज्ञा । [चली जाती है ।]

[नेपथ्यमें वंतामिकः]

महाराजकी जय हो ! जय हो !

आ लोकान्तात्प्रतिदत्तमोवृचिरासां प्रजानां
तुल्योद्योगस्तत्र च सवितुश्चाधिकारो मतो नः ।
तिष्ठत्येकः क्षणमधिपतिर्ज्योतिषां व्योममध्ये
पण्डे काले त्वमपि लभसे देव विश्रान्तिमहः ॥१॥

विदूषकः—[कर्णं दत्वा] एसो उख पिअवधस्तो वम्मासलसमुत्तिवो इवो एव माम्भज्जदि ।
सो जाव पासपडिबसी होमि । [इति निष्क्रान्तः ।] (एष पुनः प्रियवदस्यो चर्मासनसमुत्तिपत
इत एवाम्भज्जदि । तदावस्थावर्णनं विवर्तितं भवामि ।)

॥ प्रवेशकः ॥

[ततः प्रविशत्युपकण्ठितो राजा विदूषकम् ।]

राजा—

आ दर्शनात्प्रविष्टा सा मे सुरलोकसुन्दरी हृदयम् ।
बायोन मकरफेतोः कृतमार्गमवन्ध्यपातेन ॥२॥

विदूषकः—सोकोडा वल्लु जावा तत्तमोरो कासिराममुहितः । (सपीडा लल्लु जावा तत्तमवती
कासिराममुहिता ।)

राजा—[निरीक्ष्य] अपि रसमते जवता रहस्यमितेयः ।

विदूषकः—[आरमगतम्] भञ्जिरोमिह बुद्ध दासीए सिउलिभाए । अणुभा कयं एव्वं
मुण्णदि वधस्तो । (हा थिक् हा थिक् वञ्जितोऽस्मि दुष्ट दास्या विपुलिकथा । अन्यथा कथमेव
पृथग्वति वयस्यः ।)

हय समझते हैं कि आप घोर सूर्य सेतो अपने निरवका काम ठोक एक जंसा ही करते हैं,
क्योंकि सूर्य भी संसारका भँबेरा मिटाने हैं और आप भी अपनी प्रजाका कष्ट बूर करते हैं ।
मक्षत्रोंके झकेले राजा सूर्य भी जिस प्रकार अपने कामसे छुट्टी नाकर ही आकाशमें बिज्राम लेते हैं
वैसे ही आप भी अपने राज-बाजसे छुट्टी नाकर हीसरे पहर बिबाध करते हैं ॥१॥

विदूषक—[मुग्धते हुए] लो, म्मावासनसे उठे हुए मेरे प्रिय इधर ही चले आ रहे हैं ।
तो बल्लू, मैं भी उनकी सेवाके लिये पहुँचूँ ।

॥ प्रवेशक पूर्ण हुआ ॥

[अनन्यसे राजा धाते है, साथमें विदूषक भी है ।]

राजा—मेरे जिस हृदयमें कामदेवने अपने बाण मारकर उस स्वर्णलोकसे सुन्दरीके आनेके
लिये द्वार बना दिया था, उसमें वह केवल देखने भरते ही गया गई है ॥२॥

विदूषक—[मन ही मन] सबपुन बायो-नरेजकी पुत्रीके सो भाव फूट गए ।

राजा—[देखकर] बहो, सुनने मेरी बात किसीको कताई तो नहीं ।

विदूषक—[मन ही मन] शय हाय ! उस दुष्ट दासी निपुणिकाने सो मुझे यड़ा पोछा
दिया, नहीं तो भित्र मुझसे इस प्रकार पूछते ही क्यों ?

राजा—किं भर्वास्तूष्णीमास्ते ।

विदूषकः—भो एवं मए सोहा संजनिदा भेलु मयवो वि एतिय पविममएम् । (मोः एवं मया जिह्वा तं पन्मिता येन मयतोऽपि नास्ति प्रतिवचनम् ।)

राजा—पुक्तम् । मय केनेदानीमात्मानं विनोदयामि ।

विदूषकः—भो महारणसं गच्छम्ह । (भो महानसं गच्छावः ।)

राजा—किं तत्र ।

विदूषकः—तहि पंचविहस्त घनमयहारस्त उबलदसंभारस्त खोमलां देवजमाखोहि सयकं लक्ष्मणां विलोदेदुम् । (तत्र पञ्चविमत्स्याभ्यवहारस्योपनयनमारत्य यो नवा प्रेक्षनाणाम्या क्षान्द-गुल्फणां विनोदयिदुम् ।)

राजा—[सस्मितम्] तत्रेन्मितर्षनिघानाद्भुवान् रंस्यते । नया सन्तु दुर्लभप्रार्थनाः कथमात्मा विनोदयितव्याः ।

विदूषकः—एवं भवं वि तत्तभोदीयु लव्यसोए दंसएपहं गयो । (ननु भवानपि तत्रभवत्या उर्वरया वसंतपथं गतः ।)

राजा—तत्रः किम् ।

विदूषकः—ए कजु वे दुस्तह सि लक्केमि । (म सन्तु ते पुर्वमेवि तर्कयामि ।)

राजा—पक्षपातीऽपि तस्यां सत्प्रसयात्तौकिक एव ।

विदूषकः—एवं मयतस्योए मे वदिहवं कोदूहसम् । किं तत्तभोदी उवखी मरुदुदीमा क्येए

राजा—क्यो जुप क्यो हो गए ?

विदूषक—देसिए, भैने मयनी जीसको ऐसा बाँध लिया है कि छापकी झालका भी एकाएक छतर नहीं निकल पाया ।

राजा—ठीक है । पर वह तो बताओ कि मयना मय मैं कैसे बहलालें ?

विदूषक—यलिए रसोई मे मसा काम ।

राजा—वहाँ क्या मरा है ?

विदूषक—वहाँ पाँच डङ्गके पकवानोको धामयो देवने भरते हो हय सोगीकी वडासी जाती रहगी ।

राजा—[हँसकर] ओ हाँ, वहाँ भापको तो मयने मय बहलालेकी सारी सामयो मिल जायगी, पर बड़ी कठिनाईसे हय मयनेवाची वस्तुके सिधे मयनेवाने मुझको वहाँ मय-बहलालके सिधे क्या हाथ लगेगा ?

विदूषक—पर भापको भी तो उर्वशीजीने देखा होगा न ?

राजा—उससे क्या ?

विदूषक—तब तो मैं समझता हूँ कि उसका मिलना कठिन नहीं होगा ।

राजा—भरे ! वह इतनी अधिक सुन्दरी है कि उसे बड़ी सुन्दरी कहना भी एक मनोसीसो सी बात लगती है ।

विदूषक—भापको इन बातोंसे तो मेरा कुतूहल और भी अधिक बढ़ रहा है । क्या उर्वशीजी

महं विभ्र विरवदाए । (एव मन्त्रगता मम वधित कौतूहलम् । किं तत्रभवत्युर्वश्यद्वितीया रूपेण महमिव वित्तपतया ।)

राजा—आणवक ! प्रत्यक्षवचनप्रवचनार्थं साम्येहि । तेन हि समासत अभूताम् ।

विद्रुपक—भो ! सचिहोमि । (भो ! अवहितोऽस्मि ।)

राजा—

आभरसस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः ।

उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः ॥३॥

विद्रुपक—असौ दास सुप्र विस्वरसाहितसिखा आदम्रव्यव गहीदम् । ता दास तुम कहि परिचयो । (यत्तत्तावदस्या दिव्यरत्नामिवापिणा चातकस्तव गृह्येतम् । तत्तावत्तव तुम प्रसिद्धः ।)

राजा—विदित्तावहे आत्मवस्तुसकल्य दारणमस्ति । तत्तुवाग्रमदन्नमार्थमादेशयतु ।

विद्रुपक—[आत्मगतम्] का गयो । [प्रकाशम्] इवो इवो भव । (का पतिः । इत इतो मयान् ।)

(इति परिष्कमत ।)

विद्रुपक—एता यमवचनपरितरी । आणमिन्न पञ्चुवगदो भव आणतुमीं बुद्धिधामावहेण । (एव प्रमदवनपरितर । सामम्य प्रत्युपगतो भवमानाण्मुखो दक्षिणमाक्षेण ।)

राजा—[वितीक्य] उपमानं विवेकलमस्य पायोः । समं हि ।

निषिञ्चन्माधवीं लक्ष्मीं लतां कौन्दीं च लासयन् ।

स्नेहदाक्षिण्ययोयोगात्कामीव प्रतिभाति मे ॥४॥

सुवर्तामै लतनी ही यवो यवो हैं शितना में दुरूपतामै हूँ ?

राजा—निम गाणवक ! वस यह समक सो कि उसके भव अगक यथेन जो मोई कर ही गयो सजता, इसलिये थोड़ेमें ही जो बसाता है उसे सुनो ।

विद्रुपक—हाँ । मैं सुन रहा हूँ ध्याने ।

राजा—उपमा शरीर आभूषणोंका भी आभूषण है, शृङ्गारकी सामर्थियोंका भी शृङ्गार है और उपमानो वस्तुओंकी भी उपमा उद्यते सो जा सकती है ॥३॥

विद्रुपक—हूँ । इसीलिये आप उत स्वर्गीय जबके लिये ध्यासे चातक वन बैठे हैं ? अथवा भाव समी जा किपर रहे हैं ?

राजा—प्रेमी लोग एकाम्ने छोड़कर और जा ही कहीं सकते हैं ? वसो, मुझे प्रमदवनको घोर ले पत्नी ।

विद्रुपक—[मन ही मन] जहाँ कहिए मे वलूँ । [प्रकट] इधरसे आइए महाराज इधरसे । [दोनों घुमते हैं ।]

विद्रुपक—सीधिए पहुँच गए हम प्रमदवनके पास । आपके पाते ही उद्यमानको घोरसे सहता पाता हुआ दक्षिणी पवन बढ़ी नभदासे धापवीं आचमगत कर रहा है ।

राजा—[देखकर] इस वायुका दक्षिण बहसाना ठीक ही है क्योंकि माधवी-लताकी सीपता हुआ घोर दुरदमताको नचाता हुआ, यह पवन मुझे ऐसा जान पड़ता है मानो सबसे प्रेम करनेवाला घोर सररो एक साथ प्रगल्भ रसनेवाला यह कोई वामो हो ॥४॥

विदूषकः—सरिसो एण्ये मैं अहिंसिबेसो । [इति परिक्रामन् ।] एवं पगवबण्ण । पवि-
सतु भण्ण । (सहस्र एवास्याभिनवेशः । एतत्प्रमदवनम् । प्रविशतु भवान् ।)

राजा—वयस्य प्रविज्ञाप्रताः ।

[उभो प्रवेशं नाटयतः]

राजा—[नासं रूपयित्वा ।] वयस्य ! साधु मनसा समर्पित आपत्प्रतीकारः किल ममोद्या-
नप्रवेशः तद्यान्यर्थयोपपन्नम् ।

विविचोर्द्यदिदं नूनमुद्यानं तापशान्तये ।

स्रोतसेवोद्यमानस्य प्रतीपतरणं महत् ॥५॥

विदूषकः—कहं किअ । (कथयित्वा ।)

राजा—

इदमसुलभमस्तुप्रार्थनादुर्निवारं प्रथममपि मनो मे पञ्चवायुः क्षिणोति ।

किमुत मलयवातोन्मूलिता याण्डुपयैः उपवनसहकारैर्दर्शितैष्वलङ्कुरेषु ॥६॥

विदूषकः—मत्तं परिदेवित्तेण । अहरेण वे इदुत्तंवाड्ढेण अण्णं एण्य वे सहायो भवि-
स्सति । (मत्तं परिदेवित्तेन । अचिरेण सत्वेष्टसन्नाद्यनेवानक एव ते सहायो भविष्यति ।)

राजा—प्रतिगृहीतं बहुमण्यवनम् ।

[इति परिक्रामतः]

विदूषकः—पेबल्लु मयं वसंतावदार सुममं अहिरामत्तणं पमदवत्तस्स । (प्रेसतां भवान्पसन्ता-
मत्तार सुवकमभिरामत्वं प्रमदवनस्य ।)

विदूषकः—यह भी आपकी ही समान प्रेम करता है । [धूमता हुआ] लीजिए, यह भा-
ग्या प्रमदवन ! वलिये भीतर चले वलिये ।

राजा—वसो वयस्य ! आगे आगे तुम्हीं वसो [दोनों प्रवेश करकेका नाट्य करते हैं ।]

राजा—[डरमेका नाट्य करते हुए] वयस्य ! मैं तो यहाँ उद्यानमे यह पताई सोचकर
आया था कि, यहाँ जो हलका हो जायगा, पर उसका तो यहाँ उखटा फल हो रहा है । अपने
मनकी पीडा मिटानेके लिये इस उद्यानमे मेरा आना बंसा हो हुआ, जैसे बहावके साप तैरनेवालेको
सवानक बहावकी ओर उँटना बड़ आव ॥५॥

विदूषक—यह कैसे ?

राजा—बड़ी कठिनाई से हाथ घानेवासी वस्तुके लिये जो मेरा मन मचल पड़ा है, इसे
एक तो कामदेवने पहले ही चलनी बना दिया था, उसपर यहाँ देख रहे हैं कि उद्यानके उन
भागके पेड़ोमे कोपलें भी फूट आई हैं जिनके पीले पत्ते मलय-पवनने झाड़कर गिरा दिए हैं ।
(फिर बताओ हमारे मनको शान्ति कहाँसे मिलेगी ? ॥६॥)

विदूषक—चिन्ता न कीजिए । आपकी प्रियतमासे सीध ही आपको भिलाकर यही कामदेव
आपका सहायक बन जायगा ।

राजा—आज्ञाऊँगा भागीर्वाद खिरमाये । [दोनों धूमते हैं]

विदूषक—इस प्रमदवनकी क्षीमाको तो देखिए जो बताए दे रही है कि वसन्त था गया ।

विदूषकः—[विहस्य] सो ग्रहन्ताकामुग्रस्त माहदस्त वेज्जो सचिवो उम्बसीपञ्जुच्छु-
ग्रस्त म भबदो ग्रहं कुपेहि एत्थ उम्मतमा । (सोः ग्रहन्ताकामुग्रस्त महेन्द्रस्त मध्याः सचिवः
उम्बसीपञ्जुच्छुगस्त प भवतोर्द्धं द्वाक्पञ्चोन्मत्ती ।)

राजा—मा भयम् । अतस्तेहः खतु कार्पेदज्जी । तदुपायमिन्नपाम् ।

विदूषकः—एतो पितेमि । मा उल्ल परिदेविदेण मन समार्ति भिधि । (एव चिन्तयामि ।
मा पुनः परिदेवितेन ममसमाधिभन्धि ।) [इति चिन्तां नाटयति ।]

राजा—[निमित्तं सूचयित्वा । स्वगतम् ।]

न सुलभा सकलेन्दुमुखी च सा किमपि चेदमनङ्गविचेष्टितम् ।

अभिमुखीष्यक्काङ्क्षितसिद्धिषु ग्रजति निर्वृतिमेकपदे मनः ॥६॥

[इति आवासास्तिष्ठति]

[ततः प्रविशःपाकाशयानेनोपवी चित्रसेला च ।]

चित्रसेला—हला कर्हि बाणि अण्हिदुक्कालं गच्छीमहि । (हला कवेदानीमनिदित्त-
कारणं गम्यते ।)

उर्वशी—[मदनवेदनामभिगीम सलज्जम्] सहि । तदा हेमकूटसिहरे लदाविडवेण जल-
पिघरभाभासगमनं मं मोहसिध कि बाणि पुच्छति कर्हि गच्छीमहि स्ति । (सति । तदा
हेमकूटसिहरे सत्ताविटवेण जलपिघ्नताकाशगमना मामुपदृश्य किमिदानीं वृत्तसि ॥ गम्यते इति ।)

विदूषकः—[हंसकर] देखिए, जैसे ग्रहन्ताको पानेकी इच्छा करनेवाले इन्द्रकी सहायता
करके समय चन्द्रमाकी बुद्धि मारी गई थी, वैसे ही प्रेमापे पड़े हुए आपका सहायक होकर
मैं भी अपनी सब बुद्धि लो बैठा हूँ ।

राजा—ऐसा न कहो । जो अधिक स्नेह करता है वही तो ठीक उपाय सुझा सकता है ।
इसलिये कोई उपाय सोच ही जाओ ।

विदूषकः—अच्छा मैं सोचने लो बैठा हूँ पर आप बीचमे ही रोना-कलपना मचाकर
मेरा ध्यान न उठाट दीजिएगा ।

[सोचनेका नाट्य करता है ।]

राजा—[अच्छे शत्रुनकी सूचना देता हुआ मन ही मन] पूर्ण चन्द्रमाके समान मुख-
वाली उरा सुन्दरीके मिलनेकी कोई आशा तो तभी है पर न जाने क्यों कामदेव मुझे बड़े
अच्छे शत्रुन दिला रहा है । मेरा मन मवानक ऐसा खिल उठा है, मानो मेरा काम बड़
भलने ही जाता हो ॥६॥

[बड़ी आशा मचाकर बैठता है ।]

[विमानपर पड़ी हुई उर्वशी और चित्रसेला दिखाई देती हैं ।]

चित्रसेला—[मर्यो सखी ! बिना सोचे-समझे कियर चली जा रहो हो ?]

उर्वशी—[काम-पीडाका नाट्य करती हुई सज्जाके साथ] सखी ! जब हेमकूट पर्वतकी
चोटीपर, सताकी आसामे मेरी भाणा उलक गई थी धीर मेरा उठना बोरी देरके लिये
रुक गया था, उस समय मुझमे ठिठोली करके भी धन तुम पूछ रही हो कि मैं कहाँ जा
रही हूँ ?

चित्रलेखा—किं तु यम् तस्मै राक्षसिणो पुरुरवस्तु सन्नातं पत्न्यदासि । (किं तु त्वं तस्य राजपतेः पुरुरवस्यः सन्नात-प्रस्थितासि ।)

उर्वशी—अहं इह । अयं मे अवहृत्पिदलज्जो बबसाग्रो । (अथ किम् । अयं मेऽपहृत्पित-लज्जो व्यवसायः ।)

चित्रलेखा—को जल सहीए सहि पुढमं वेसिबो । (कः पुनः तस्या नात्र पुरतः प्रेषितः ।)

उर्वशी—एहं हिधमं । (ननु हृदयम् ।)

चित्रलेखा—तथा वि सभं एव साहु संवसारिण्डु बाध । (तथापि स्वयमेव साहु सम्प्र-धार्यतां साधय ।)

उर्वशी—सहि भग्नो यम् वं शिभोएदि । किं एव संवसारोषदि । (सखि भवतः खलु नियोगयति । किमप्यसम्प्रणयते ।)

चित्रलेखा—अशोकं एति मे यन्नयम् । (भवतः परं नास्ति मे वचनम् ।)

उर्वशी—तेल हि आविषीअहु भग्नो जेल सहि गच्छन्तीए अंतराग्रो ए भवे । (तेन ह्यादिदयता मार्गो मेव तत्र गच्छन्त्योरन्तराग्रो न भवेत् ।)

चित्रलेखा—सहि ! विस्मया होहि । एवं भगवता देवगुदला अवरराजं एवमसिहृत्पण-विश्वं अवदितंतेल त्वत्पत्न्यवस्तु अलंघयिष्यामि कदाहं । (सखि विचित्रा भव । ननु भगवता देवगुदला अवरराजिता नाम शिलाग्रपनविद्यामुपदिशता त्रिवक्षत्रविषस्यालक्षणीये कृतैः स्वः ।)

उर्वशी—[सज्जगम्] अहो विगुनरिं मे हिधमं । (यहो ! विस्मृत मे हृदयम् ।)

[सखे भ्रमणं रूपयत ।]

चित्रलेखा—तो क्या तुम उस राजपि पुरुरवाके पास जा रही हो ?

उर्वशी—भोर क्या ? आज मैं सब लाज छोड़कर यही बीमे डाल जिया है ।

चित्रलेखा—तो वही तुम्हारे जानेका सन्देश कीज ले गया है ?

उर्वशी—नमो ? मेरा हृदय ।

चित्रलेखा—फिर भी इसका भला-बुरा अभी प्रकार सोच-विचार लो ।

उर्वशी—सखी ! मुझे तो कामदेवने ही इस काममें मौक दिया है, फिर इसमें सोच-विचार ही कैसा ?

चित्रलेखा—तुमने तो ऐसी बात कहदी कि मेरा मुँह हो बन्द हो गया ।

उर्वशी—तो अब मुझे कोई ऐसा उपाय बताओ कि मैं वहाँ बेरोकटोक पहुँच जाऊँ ।

चित्रलेखा—चिन्ता न करो सखी ! देवगुरु गृहस्पतिने अपराजिता नामकी, चोटी बाँधनेकी दिया शिक्षाते रामय हमे ऐसी पाठि दे दी है कि देवोके शत्रु भी हम लोगोंका बाल बाल नहीं कर सकते ।

उर्वशी—[सजाती हुई] परी ! यह बात तो मेरे ध्यान से हो चतर गई थी । [दोनों प्रसन्न हैं ।]

चित्रलेखा—सहि पेवस पेवस । एवं मधवदोए भाईरहीए जमुनासंगमविसेतपावलेसु सलिलेसु भसाएभं मोलोअंतरस विम गइहाएसस सिहाभरएभुवं तस राएसिलो मवरां उवट्टिवम्ह । (सलि प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व । एतद्भगवत्याः भागीरथ्याः यमुनासङ्गमविषेपपावनेषु सलिलेभ्यारामव-
लोकाय इव प्रतिष्ठानस्य शिक्षाभरत्नभूतं तस्य राजर्षेर्भवनमुपस्थिते स्तः ।)

सर्वश्री—[सस्पृहमनोवप] खं वत्तव्यं ठाखंतरगदो सग्यो ति । [विमृश्य] सहि कहि छ
बसु सो भावगएाएकरी भवे । (ननु वत्तव्यं स्थानान्तरवत्तः स्वर्गं इति । सखिवन्तु खलु स भाग्यना-
क्यो भवेत् ।)

चित्रलेखा—हता एकांसि लाइएपलेकुवेसे विम पबमवस मोवरिम जाणिएसानी । (हता
एतस्मिन्मन्दनवर्गकदेश इव प्रमदपने मयतीर्थं ग्राह्यावः ।)

[उभे मवतरतः ।]

चित्रलेखा—[राजानं दृष्ट्वा सहर्षम्] सहि ! एको बसु पदमोखिदो विम चंदो कोमुदि विम
दुमं पडिच्छदि । (सलि ! एष खलु प्रथमोचित इव चन्द्रः कीमुदीमिव त्वां प्रतीच्छति ।)

सर्वश्री—[विशेष] हता दांए पबमरंसलावो सविसेसं पिमवंसएो महाराजो पविहादि ।
(हता ! इदानीं प्रमदकंसगतसविषेय प्रियवर्त्तनो महाराजः प्रतिभाति ।)

चित्रलेखा—मुज्जवि ! ता एहि उवतप्पम्ह । (पुज्यते । तदेहि उपगर्भावः)

सर्वश्री—ए बाव उवताप्पिरसं । तिरस्कारिसोपडिच्छएया पलायवा से भविम सुखिसां बाव
पातवसिए बमस्सेए सह विमले कि मंतरातो विट्टुदि सि । (न तावदुपसर्पिष्ये । तिरस्कारिणो-
प्रतिच्छान्ना पार्श्वपठाल्य भूत्वा ओष्मामि ताम् पाश्वरतिवा यमस्येन सह विजने कि मन्त्रमयाण-
स्तिष्ठतीति ।)

चित्रलेखा—भरी, देख देस सखी ! हम लोग राजपिके उस भवन पर पहुँच गई हैं जिसकी
छोड़का बूतरा कोई भवन प्रतिष्ठानपुरीमे नहीं है और जो ऐसा दिखाई पड़ रहा है मानो यमुनाजी
के संगमके कारण मौर भी अधिक पवित्र बने हुए गंगाजीके जलमे अपना मूँह देस रहा हो ।

सर्वश्री—[बावसे देखती हुई] यह क्यों नहीं कहती कि स्वर्ग ही यहाँ उठकर बसा गया
है । [विचारकर] भक्ता सखी ! सुखीपीपर दया करनेवासे ये राजा इस समय कहाँ होंगे भला ?

चित्रलेखा—धनो सखी ! नन्दनवनके समान सुहावने इस प्रमदवतमे उत्तरकर जगकी खोज
करें [दोनों उत्तरती हैं ।]

चित्रलेखा—[राजाको देखकर प्रसन्नतासे] सखी ! जैसे गया-जवा निकला हुमा चन्द्रमा
चरनीके प्रानेको बाट देखा है, वैसे ही ये भी यहाँ बैठे हुए तेरे भानेको बाट देस रहे हैं ।

सर्वश्री—[देखकर] सखी ! आज तो महाराज उस दिग्गजे भी अधिक सुन्दर भँव रहे हैं ।

चित्रलेखा—ओह कहती हो ! तो भायो चले उनके पास ।

सर्वश्री—नहीं नहीं, मैं उनके पास नहीं जाऊँगी । मैं तो मायाकी छोटलीमे छिपी हुई इनके
पास खड़ी होकर सुनती हूँ कि ये अपने पास बैठे हुए मित्रते मकेलेमे क्या बातें कर रहे हैं ।

चित्रलेखा—अ रे रोचहि । (यत्ते रोचते ।)

[उभे यथोक्तमनुतिष्ठतः ।]

विदूषकः—ओ चितितो मए कुलहण्यएइखीसमाप्रमोवाओ । (ओ चितितो मया दुर्वम प्रण-
पिनीसमाप्रमोवायः ।)

[राजा तूष्णीमास्ते ।]

सयसो—[सैय्यम्] का ख बलु यच्छा इतिथया जा हनिता परिग्रामाया अलाएम किङ्किमेहा
(का नु यामु यस्या स्त्री या अनेन प्राप्यमानास्वान कृतार्थयति ।)

चित्रलेखा—कि उरा मायुरसधं विडंबोअदि । (कि पुनर्मानुष्य विटम्बते ।)

उर्वशी—राहि भोमामि सहस्रावमावावो विण्णएदुं । (सखि विभेमि सहसा प्रमायाद्विज्ञातुम् ।)

विदूषकः—ओ ख भलामि चितितो मए उवाओ सि । (ओ, ननु यस्यामि चितितो मया
उपाय इति ।)

राजा—सैन हि वप्यताम् ।

विदूषकः—सिपिएमसपाप्रममारिखि एहिं सेवु भवं । अहवा तलभोदीए उवसीए पत्रिकिदि
चित्तफलए प्रातिहिम मोमोप्रतो चिट्टु । (स्वप्नउपायकारिणी निद्रा येवहा नवात् । अथवा
उपभ्रमस्या उर्वस्या प्रतिवृत्ति चित्रफलक प्राप्तियथावसोकथस्तिष्ठतु ।)

उर्वशी—[सहर्षमात्मवत्तम्] होएउत्तस हिप्रम सवत्तस सवत्तस । (हीनउत्त हृदय । समान्त्र-
सिद्धि समान्त्रसिद्धि ।)

चित्रलेखा—ओ मुम्हे भच्छा सये !

[दोनों बैसा हो करती हैं ।]

विदूषक—मुमिए ! अपनी जिस व्यापिका मिलन आप कहिन सवमे बैठे हैं, उससे मिलनेका
उपाय मैंने सोच निकाला है ।

[राजा धुप रह जाते हैं ।]

उर्वशी—[आहसे] ऐसी धीर कौन-सी बहमायी सुन्दरी निकल आई है, जो इनकी बहेली
इनपर अपना माग साराती है ।

चित्रलेखा—शुभ फिर क्या यागुपी तिरयो-जंसी बालें करते सगी हो ?

उर्वशी—सती ! मैं अपनी देवी पालिते सब बानें एक साथ जान लेनेमे थोटा डरती हूँ ।

विदूषक—धरे मुनिए ! मैं कह रहा हूँ कि मैंने उपाय सोच निकाला है ।

राजा—सो फिर बताओ न !

विदूषक—आ तो आप ऐसी गहरी नीदमे जाकर सो रहिए कि सपनेमें सबसे बड़ हो जाय
या फिर पित्र-पत्नकपर उर्वशीजीका चित्र बनाकर उसे एवटन निहाल कोजिए ।

उर्वशी—[हृषं मन हो मन] धरे पापी हृदय ! धीरज धर, धीरज धर ।

राजा—उभयमध्यगुपकनम् । वयम् ।

हृदयमिषुभिः कामस्यान्तः सशल्यमिदं सदा

कथमुपलभे निद्रां स्वप्ने समागमकारिणीम् ।

न च सुन्दनामालेख्येऽपि प्रियामसमाप्य तं

मम नयनयोरुद्वाप्यत्वं सखे न भविष्यति ॥१०॥

चित्रलेखा—युव तुष धनम् । (श्रुत स्वया वचनम् ।)

उर्वशी—सहि सुव । एष उक्त वरजस्त हिमप्रस्त । (सखि युव । न पुन पर्याप्त हृदयस्य ।)

विदूषक—एतिषो एव मे महिविहम्भो । (एतावानेव मे मतिविम्भः ।)

राजा—[नि स्वस्थ]

नितान्तकठिनां कृञ्ज मम न चेद सा मानसी

प्रभावचिदिन्नानुरागमवमन्यते वापि माम् ।

अलम्भफलनीरसं मम विधाय तस्मिञ्जने

समागममनोरथं भवतु पञ्चवाणः कृती ॥११॥

चित्रलेखा—सहि सुव तुष । (सखि युव स्वया ।)

उर्वशी—हृदी हृदी । म एव प्रवचच्छदि । [सखीमवतोरप्य] सहि प्रसन्नत्वमिह प्रपद्यो भविष्यते सखि वचनम् । ता पहायलिम्भिरेण भुवनवत्सेण सपादिवज्जरा होवुं इच्छामि । (हा धिक् हा धिक् । मामेवमवगच्छति । सखि । प्रसन्नत्वमिह प्रपद्यो भविष्यति । तत्प्रभावनिमित्तम् भूयैवनेण सपादितोत्तरा भवितुमिच्छामि ।)

राजा—दोर्गो ही बाँते नहीं हो सकती । देखो ! कामदेव, मेरे हृदयको दिन-रात अपने बाणोंसे वेधता रहता है । इसलिये मुझे ऐसी नींव भला कहीं या पावनी बि प्यारीसे भेंट हो जाय, और फिर चित्र भी नहीं बन सकता क्योंकि बीचमें धाँसें डपडवा आनेसे वह भग्गुरा ही रह जायगा ॥१०॥

चित्रलेखा—मम तो तुमने सब सुन लिया न ।

उर्वशी—हाँ सखी, सुन तो बिया, पर अभीतक मेरे बीको पूरा पूरा भरीला नहीं हो पाया है ।

विदूषक—नैरी कुट्टिकी पहुँच तो यहीतक थी ।

राजा—[सम्भी सखि सेवर] मैं समझता हूँ कि या तो यह मेरे मनकी इस बेकलीको जानती ही न होगी या फिर उसे धपने धपरा होनेवा ऐसा धपत है कि वह जान बूझकर मेरे प्रेमको ठुकरा रही है । जान पड़ता है कि मेरे मनमे उस सुन्दरीसे मिलनेकी जो चाह है, उसे बुर-भूर बरके और मेरे जीवनको बेकाय बना लेनेपर ही कामदेवका जो भरोसा ॥११॥

चित्रलेखा—तुमने सुना सखी ।

उर्वशी—हाय, हाय ! ये मुझे ऐसा भीच समझ रहे हैं । [सखीको देखकर] सखी ! इनके भागे पहुँचकर तो मुझसे उत्तर देते बनेया नहीं, इसलिये मैं प्रपद्यो देवी शक्तिसे एक भोजपत्र उत्पन्न करके उसीपर उत्तर लिख देना चाहती हूँ ।

चित्रलेखा—हसा अश्रुमदं मे । (हसा अनुमत्तं मे ।)

[उर्वशी नाट्येन सप्तभ्रममभित्तिस्थान्तरा लिपति ।]

विदूषकः—[दृष्ट्वा सप्तभ्रमम्] अविहा अविहा । नो किं छु बहु एवं भुषणशिम्भोर्भं खादिदुं शिपदिदो । (अविषा अविषा । भो. किन्तु खलु एतत् भुजङ्गनिर्भोः किं मा खादिदुं निभतित ।)

राजा—[विभाव्य विहस्य च ।] वयस्य । नायं भुजङ्गनिर्भोः नूनंप्रगतोऽयमक्षर-विषयात् ।

विदूषकः—एवं अविष्टाए उव्यसोए भवदो परिदेविबं सुशिक्ष समाहानुरागसुमम्राह अक्षरार्हं विसृजिगम्राहं होन्ति । (ननु घट्टयोर्वक्ष्या भवत्. परिदेवित धृत्वा समानानुरागसूचका-म्यक्षराणि विसृष्टानि स्यु ।)

राजा—नास्त्यगतिर्ममोरव्यापाम् । [गृहीत्वानुयाच्य च सहर्षम्] सद्ये प्रसन्नस्ते तर्कः ।

विदूषकः—हो हो भो । किं बह्वक्षरप्रत्यासि अक्षराद्य होन्ति । दासि पत्नीबहु भवं । जं एष लिहिबं तं सुशिक्ष इच्छामि । (हो हो भो । किं ब्राह्मणभवनान्यन्यथा भवन्ति । त्रिविधानी प्रसीदतु भयाद् । यदत्र लिखितं तच्छ्रोतुमिच्छामि ।)

उर्वशी—साधु । अज्ज आभरिओति । (साधु । धार्यं नागरिकोऽर्थि ।)

राजा—वयस्य भूयताम् ।

विदूषकः—अवहिदो मिह । (अवहितोऽस्मि ।)

चित्रलेखा—हो सखी ! मैं भी वहीं ठीक समझी हूँ ।

[उर्वशी बड़े हाव-भावसे भोजपत्रपर लिखनेका नाट्य करती है और उसे फिर राजाके भागे फेंक देती है ।]

विदूषकः—[देखकर सबराजा हुआ] हाय ! हाय ! मुझे लिखनेके लिये यह साँपकी कँचुली बहिसे भा टपकी ?

राजा—[देखकर घोर हैसकर] मित्र ! यह साँपकी कँचुली नहीं है, यह तो लिखा हुआ भोजपत्र है ।

विदूषकः—मैं समझता हूँ कि उर्वशीने ही लिपे-लिपे तुम्हारा रोना-बोना सुनकर अपना प्रेम जतानेके लिये यह पत्र लिखकर यहाँ दास दिया होगा ।

राजा—मनकी सीठ भी बिजनी दूरतक पहुँचती है । [पत्रको सठाकर घोर पढ़कर] मित्र ! तुम्हारी ही बात ठीक निकली ।

विदूषकः—हू हू- ! ब्राह्मणकी बात भी क्या कभी झूठ होती है ? अब प्रायः छिद चटिए । मन्दा, मैं भी तो सुनूँ, इसमें क्या लिखा है ।

उर्वशी—पन्थ है, सुभ सबमुच अच्छे नागरिक हो ।

राजा—सुनो मित्र !

विदूषकः—हां, सुन रहा हूँ ।

रात्रा—भूयताम् [यावयति]

शामिथ मंमाविथ्या जह्म अहं तुण् अणुमिथ्या

तह्म अणुरचस्य जह्म गाम तुह्म उवरि ।

किं मे ललित्यपारिवायसखिज्जयम्मि होन्ति

णुंदखवणवादा वि अरुनुएहया सरोरण् ॥१२॥

(स्वामिन्मंमाविता मयाहं शय्याजाता तयानुरचस्य यदि नाम तपोपरि ।

किं मे ललित्यपारिवायसखिजीये ययमि मन्दनवनवाता अभ्यरुणुपुत्राः मरीर्ये ।)

उर्वशी—किं ॥ बहु संपदं भरितस्तदि । (किं नु गनु गाम्भवं त्रिलिप्यति ।)

विमलेता—एवं भरितं एव विस्तारवमतलान्तं ययमर्हति ययैर्हि । (ननु मरिउमेन
म्यामकमतनतापमानैरुद्गैः ।)

विदूषकः—दिद्विष्मा मयं बुभुक्षितेणु सौमिषाप्रलं विम उवण्डं मयदा उवरिठिरेण
समातातलं । (दिष्ट्याः मया बुभुक्षितेन स्वमिषावनविषावनस्यं ययनोऽरिष्टिरेण समादिरामनम् ।)

रात्रा—समाभ्यासनमिति विमुच्यते ।

तुल्यानुरामपिशुनं ललितार्थयन्धं यत्र निवेशितमुदाहरणं प्रियायाः ।

उत्पद्यमाणं मम सखे मदिरंक्षणायाः तस्याः समागतमिवाननमाननेन ॥१३॥

उर्वशी—एतत् एव समादिमाया योषी । (यथायथो, समदिमाया प्रीतिः ।)

रात्रा—यस्य संसृतिर्येन दूयैरुन्नयतालि । मय्यताययं मय प्रियायाः स्मृतः ।

विदूषक—[गृहीत्वा] किं दाँए तत्तमोदी उच्यसी मयदो भणोरहाण कुसुम दसिन्न फले विराजदति । (किमिदानीं चन्द्रभक्त्युर्वशी भवतो मनोरथानां कुसुम दशमित्वा फले विराजदति ।)

उर्वशी—सहि जाव उच्यमाणकादर हिप्रन्न पन्नवत्यावेमि दाव तुम से भत्ताए दसिन्न ज मे क्षम त भणहि । (सखि यावदुपमनवातर हृदय पर्यवस्थापयामि तावत्त्वमस्यात्मानं दर्शयित्वा मन्मथ क्षम तद्गुण ।)

चित्रलेखा—तह । (तथा) [तिरस्करिणीमपनीय राजानमुपेत्य] जेदु जेदु महाराजो । (जयतु जयतु महाराज ।)

राजा—[दृष्ट्वा सहर्ष] स्थाणत भक्त्यं [पार्श्वमवलोक्य] भट्टे !

न तथा नन्दयसि मां सख्या विरहिता तथा ।

सङ्गमे दृष्टपूर्वेव यमुना गङ्गाया विना ॥१४॥

चित्रलेखा—ए पदम मेहराई दीक्षति पच्छा विष्णुमया । (ननु प्रथम मेघपाणिदृश्यते प्रभाविद्युत्कृता ।)

विदूषक—[अपवार्य] कह ए एसा उच्यसी । ताए तत्तहोवीए भहिमदा एहभरी । (यद्य नदीर्वदी । तस्यास्तत्रभवत्वा भविमता सहचरी ।)

राजा—एतदासममास्पताम् ।

चित्रलेखा—उच्यसी । महाराज तिरता पल्लमिन्न विण्णवेदि । (उर्वशी महाराज चिरत्ता प्रणम्य विज्ञापयति ।)

विदूषक—[पत्र लेकर] जिन उर्वशीजीने यह पत्र भेजकर आपके मनोरथोंमें फूल लगा दिए हैं, वे क्या आपकी समझमें फल देनेमें दासपटोल करेंगी ?

उर्वशी—सखी ! अभी मेरा हृदय उनके पास जायेगा निश्चय रहता है । इसलिये जबतक मैं अपना जो संभारूँ सबतक तुम इनके पास जाकर मेरी ओरसे जो कुछ कहना ठीक समझो, कह दो ।

चित्रलेखा—सखी । [मायाकी ओरकी हवापर और राजाके पास पहुँचकर ।] महाराज की आज्ञा हो ।

राजा—[देखकर प्रसन्नचित्त] भाइए ! स्वागत है भाषका । [दक्षर-उधर देखकर] क्यों भट्टे ! जैसे प्रमाणवा सबम देखनेवालेको, गंगाके बिना अनेकी यमुना नहीं जाती वैसे ही अपनी सखीके बिना तुम भी मुझे नहीं भाती हो ॥१४॥

चित्रलेखा—पर महाराज ! पहले तो वदती दिखाई देती है न, पीछे विजली चमकती है ।

विदूषक—[चक्षुष] घरे ! तो क्या ये उनकी प्यारी सखी हैं, उर्वशी यही हैं ।

राजा—भाइए इस भासनपर बैठ जाइए ।

चित्रलेखा—उर्वशीने महाराजकी सिर सवावर प्रणाम करते हुए कहाया है—

राजा—किन्नाज्ञाप्यति ।

विभक्तेशा—तस्मिन् सुरारिसंभवे पुत्रादे महाराजो एव चरखं प्राप्तः । सा महं संपदं
[संस्मृत्य] संस्मृत्य ममस्य बलिभं बहोममाराधनां भुञ्जीति महाराजस्य प्रणम्यपण्यति ।
(तस्मिन् सुरारिसंभवे दुर्जति मन्त्राराज एव मम चरखयासीत् । साहं साम्प्रतं तव दर्शनप्रसूतेन मद-
नेन बन्धवद्व्ययमाना भूयोऽपि महाराजस्यानुकम्पनीया नयामि इति ।)

राजा—अपि मन्त्रमुक्ति !

पर्युत्सुकां कपयसि प्रियदर्शनां तां
आते न पश्यसि पुरुरवसं तदर्थे ।

साधारणोऽयमुभयोः प्रणयः स्मरस्य

तत्पतेन तत्समयसा घटनाय योग्यम् ॥१५॥

विभक्तेशा—[उर्वशीमुपेक्ष्य] सहि एहि । तुमसीति लिङ्गभरं ममस्य वैश्वाम्पत्ये
ममस्य वै वैदिग्धि संज्ञता । (सहि एहि । एवमपि निन्दयतं ममस्य प्रेक्ष्य प्रियतमस्य वै वैश्वाम्पत्ये
संज्ञता ।)

उर्वशी—[तिरस्करिणीमपनीय] अम्हारे लक्ष्मीं तुम घालवेसिल्लं उज्जिहसि । (महो
सुखं शिवाववेसितमुज्जिहसि ।)

विभक्तेशा—[संस्मृत्य] सहि ! इतो भुञ्जीति नालिस्सं का कं उज्जिहसि । आचारं
वाच पञ्चजन । (सहि ! इतो भुञ्जीति नालिस्सं का कं उज्जिहसि । आचारं वाचपञ्चजन ।)

राजा—हाँ, क्या भाषा यी है ?

विभक्तेशा—यही कि उस बार जब दंत्य मुझे एकदम ले बसे थे उस समय महाराजने ही
मेरी रत्ना की थी । अब आपको देख लेतेपर मेरे मनमें प्रेमकी बड़ी जोड़ा उठ लगी हुई
है, इसलिये चाहती हूँ कि इस बार भी मुझपर आपकी कृपा हो जाय ।

राजा—अरे सुन्दरी ! मरनी सबीको तो तुम इतना प्रेममें ध्याकुल बत रही हो, पर
मह नही देख रही हो कि वह बुरावा भी उसके प्रेममें पागल हुआ बैठा है । हम दोनोका
प्रेम, दोनों ओर एक जैसा ही बड़ा हुआ है, इसलिये एक तपे हुए लोहेको दूसरे तपे हुए लोहेसे
जोड़ देना ही घन ठीक होगा ॥१५॥

विभक्तेशा—[उर्वशीके पास जाकर] आओ आओ, सखी ! कामदेवने तुमसे जो अधिक
इनको सत्ता रखी है । इसलिये अब मैं तुम्हारे प्रियतमकी ही दूती बनकर तुम्हारे पास
आई हूँ ।

उर्वशी—[भाषाकी घोडनी हटाकर] बाह ! क्या ऋद्धे तू मुझे छोड़कर उधर चली गई ?

विभक्तेशा—[मुसकराकर] सखी, अभी थोड़ी ही देरमें देखो हूँ न, कि कौन किये
छोड़कर जाती है । अच्छा, पहले महाराजको प्रणाम तो कर लो ।

उर्वशी—[समाञ्जस राजानमुत्पत्य प्रणम्य च सवीर्यम्] जेदु जेदु महारामो । (जयतु जयतु महाराज ।)

रामा—[वदन्त्य] सुन्दरि ।

मया नाम वितं यस्य त्वयायं समुदीर्यते ।

जयशब्दः सहस्राचादगतः पुरुषान्तरम् ॥१६॥

[हृदय गृहीत्वानामुपवस्यति ।]

विदूषक—भोदि । रण्यो विप्रसप्तसो बम्हण्यो किं एव कादोषदि । (भवति । राजा मिय-
वयस्यो ब्राह्मण्य किं न वदते ।)

[उर्वशी सस्मित प्रणमति ।]

विदूषक—सत्पि भोदीए । (स्वस्ति भवत्यं ।)

[नेपथ्ये देवदूतः]

विप्रनेता ! त्वरम त्वरयोर्वशीयम् ।

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीप्सरमाश्रयो नियुक्तः ।

सलिलाभिनय तमय भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोरुपालः ॥१७॥

[सर्वे नलं ददति । उर्वशी विषाद रूपयति]

विप्रनेता—मुद विमत्तहीए देवदूतस यमण । ता ब्रह्मपाणीभनु महारामो (ध्रुव
विप्रसप्तस्य देवदूतस्य वचनम् । तदनुमान्यता महाराज ।)

उर्वशी—एतिथ मे बामा । (भास्ति मे पावा ।)

उर्वशी—[हृदयहीन राजाके पास पहुँचकर लजाती हुई प्रणाम करके ।] महाराजकी जय हो ।

रामा—[प्रवृत्त होकर] सुन्दरी ! जो 'जय' शब्द तुमने सहस्र आँखवाले इन्द्रकी छोड़-
कर आश्रय बिखी दूसरे पुरुषके तब नहीं कहा था, वह आज तुमने मेरे विष कह दिया,
इसविष आश्रयपुरुष मुझे जय मिल गई ॥१६॥

[हृष पशुकर बँटाते हैं ।]

विदूषक—दोबी ! क्या महाराजके मिय मिय ब्राह्मणकी प्रणाम पाए नहीं कीजिएगा ?

[उर्वशी मुखकपाती हुई प्रणाम करती है ।]

विदूषक—आपका नन्काण हो ।

[नेपथ्यमे देवदूत कहता है ।]

विप्रनेता ! उर्वशीको मन्त्रित व बामा । भरत मुनिने तुम सोचोको, जो आठो रण्यो
नरा दूषा नाटक सिखा रणा है उर्वशीका सुन्दर अभिनय, यकपानु इन्द्र और लोरुपाल
दक्षता बाटते हैं ॥१७॥

[सब सुनते हैं उर्वशी दुखी होनेवा माय्य करती है ।]

विप्रनेता—प्योरी र-धी ! तुमने देवदूत के वचन सुन ? तो घर महाराजके विदा सो ।

उर्वशी—मुझका ठा बाग नहीं जा रहा है ।

विमलेता—महाराज उरुसो विण्णवेदि—परसो भम जलो । ता महाराज्ज भम्भण्णदा इच्छामि वेवेतु मण्णपरज्ज भत्ताण्ण वात्तुं । (महाराज । उरुसो विण्णवपति—परसोऽयं जनः । तन्महाराजेणाम्यनुशाठा इच्छामि देवेण्णपराद्धमात्मा न तुंम्—इति ।)

राजा—[अथ कथमपि वाच्य व्यवस्थाप्य ।] । नरत्ति भवयोरोत्तरनिर्णयप्राप्तयो । समन्त्य-स्त्वयं जनः । [उरुसो विण्णवपति रूपधित्वा राजान पदयन्ती सह शक्या निष्प्रता ।]

राजा—[निःपत्य] सते चैवर्ण्यमिव मे वसुधोः संप्रति ।

विदूषकः—[पत्र दर्शयितु नामः] हाँ एव । [इति मर्षोत्ते सविपादवारमगतम् ।].....हृदी हृदी उरुसोऽंततुविहिदेण मए स भुज्जावत्तयं पम्भट्टं वि हत्थावो वमादेण हा विण्णाई । [ननु एतत्.....हा धिक् हा धिक् उरुसोऽन्नेनविस्मितेन मया तद्गुर्जपत्र प्रध्ममवि ह्मतात्प्रमा-देन न विज्ञातम् ।]

राजा—भद्र ! विमति वसुधाम इव ।

विदूषकः—एव्यं वसुधामोहि—भा मयं मंवाई मुंभट्टु । विड वसु सुह बद्धमाया उरुसो ए सा इवोर्णं मण्णरामं तिडितेति ति । (एव वसुधामोहि—भा भवाम्भानि मुञ्चवसुईं तावु वसि बद्धमाया उरुसो न ता इतोगतमनुशान्ति विधितपति—इति ।)

राजा—मन्मथेतराति मनः । तया वसु प्रस्थाने ।

अनोशया शरीरस्य स्वयं हृदयं मयि ।

स्तनकम्पक्रियालक्ष्यन्त्यस्तं निःश्चितैरिव ॥१८॥

विमलेता—महाराज । उरुसो प्रार्थना करती है कि मैं तो पराधीन हूँ, इसलिये महाराजजी माता ही तो धर्मी जाऊँ और देवताओंका सपराय करनेसे बच जाऊँ ।

राजा—[पक्षी कठनादि योमते हुए ।] मैं आपसे क्याभीने आज्ञाका भला कंठे विरोध कर सकता हूँ । पर मुझे भूविष्णु मत् ।

[उरुसो विविगका भाव प्रकट करती हुई और राजाजी और देवता ही देवी सतीके साथ लगी जाती है ।]

राजा—[मम्मी सौत मेजर] मित्र ! यह तो मेरी आँखोंका होना न होना बराबर हो रहा है ।

विदूषक—[पत्र दिशानेकी इच्छासे] पर यह..... [इतना ही कहकर वह जाता है । दुःखसे साथ भन ही भन] हाय हाय ! उम उरुसोकी देवानेम मैं ऐसा वेगुप हो गया कि मुझे यह भी प्याम न रहा कि मेरे हाथसे भोजपत्र बच निकलकर गिर पड़ा ।

राजा—क्या यह रहे ये मित्र ?

विदूषक—मैं यही कह रहा था कि पार विराम न हो, क्योंकि उरुसो आपसे अपना महदा प्रेम करती है कि यह उगने प्रेमसे हिमाई धा नहीं सकती ।

राजा—मेरा मन भी यही कहता है । धरने परोवर तो उरुसा बन पा ही नहीं, इसलिये धरने त्रिग तूदवर उरुसा धरिवार या उमे तो पलने मरण यह धरने उन उरुसोके साथ मुझे और नई जो उरुसो स्तनोके काँचनेसे भसी प्रवार प्रकट हो रही थी ॥१८॥

विदूषकः—[स्वगतम्] येयदि मे हिषार्थं इमं धेत्वं शक्तमयथा तस्म भुज्जवत्तस्स गामं
येहिदुदुष्यं त्ति । (वेपथे मे हृदयमिमा वेसामपययता तस्म भुज्जपनस्य नाम ग्रहीतव्यामिति ।)

राजा—वयस्य केनेदानीं दृष्टिं विलोभयामि । [स्मृत्वा] अतः उपनयतु भवान्मूर्खपत्रम् ।

विदूषकः—[सर्वतो दृष्ट्वा विषादं नाटयति] हंत एव दिस्सदि । सो दिव्यं वपु सं भुज्जवत्तं
महं उव्वसीए मणेरु । (इत्थं न दृश्यते । सो. दिव्यं खलु तद्भुज्जपत्रं भवत्पुर्वस्या भागैरु ।)

राजा—[साधूयम्] ग्रहो सर्वत्र प्रभासी धेयेयः । ननु विचिन्वोतु भवान् ।

विदूषकः—[उपगत्य] ए इतो भवे । इह वा भवे । इह वा भवे । (ननु इतो भवेत् । इह वा
भवेत् ।) [इति विचेतव्यं नाटयति]

[ततः प्रविशति सपरिचार काक्षिराजगुप्तौ देवौ केटी च]

देवी—हंजे एण्डणिए ! सज्जं तुए भण्हिं इमं सदागेहं पविसंतो भज्जमाणुवन्नसहाभो
भज्जवत्तो विट्ठो त्ति । (इत्थं निपुणिके ! सत्यं स्वया भणितमिदं सतामेह प्रविशन्मार्गमाणुकसहाय
भार्यपुत्री दृष्ट इति ।)

निपुणिका—किं भण्णहा मट्टिणी मए कदापि विभलविस्तुत्वा । (किमन्यथा भट्टिणी मया
कदापि विज्ञापितपूर्वा ।)

देवी—तेण हि सदाविद्यन्तरिदा सुखिस्सं वाच मे विस्सद्धा मंतिदाणि जं तुए कहिं सं सज्जं
ए वत्ति । (तेन हि सताविट्पान्तरिता शोष्यामि तावदस्य विधन्या मन्त्रितानि यत्नया कथितं
सत्सत्यं न वेति ।)

विदूषक—[मन ही मन] मुझे यही डर हो रहा है कि महाराज भोजन न मांग देंगे ।

राजा—मित्र ! यथाशो भव मे कैसे अपनी भाखें ठीकी कहे । [स्मरतु करके] धरे हूं । वह
भोजन तो सामो ।

विदूषक—[चारों ओर दूँदता हुआ, दुसी होनेका नाट्य करता है] हाय, हाय । वह तो
कही मिलता ही नहीं । मित्र ! वह भोजन तो स्वयंका या न, इसलिये वह भी उर्वशीके साथ
ही सब ममा होगा ।

राजा—[श्रोषके] भूख ! तुम सदा ऐसे ही बेगुम रहते हो । जाओ, दूँदो उसे ।

विदूषक—[उत्तर] वर-वर यहाँ होगा, या यहाँ हीगा, या यहाँ हीगा । [एक प्रकार
खोजनेका नाट्य करता है ।]

[इसी बीच कामो-नरेजकी पुत्री महारानी भवती दासियोंके साथ याती है ।]

देवी—सखी निपुणिका ! तू ने सब कहा था कि भार्य भाणुकके साथ भार्यपुत्र सता-
भंडमें गए हैं ।

निपुणिका—मैंने क्या भानवक कभी भाषके मूठ बोला है ?

देवी—परन्तु तो मैं इन सगा-वृषोनी मोट में खड़ी होकर इनकी गुप्त-गुप्त बातें सुनकर
देखती हूँ कि तूने जो कुछ कहा है वह सच है या नहीं ।

निपुणिका—जं भट्टिणीए रचदि । (यद्भट्टिणी रोचते ।)

देवी—[परिक्रम्य पुरस्तादवलोक्य च] हजे खिजखिए किं छु कसु एवं जिण्णकोमरं
यिअ इवोमुहं वनिराए-मारवेण आसीअदि । (हज्जे निपुणिके ! किं नु सन्नेतञ्जीएणोवरमिवेतो-
धुसं दक्षिणमारतेनानीयते ।)

निपुणिका—[विभाव्य] भट्टिणी ! पडिवत्तएविभाविवत्तवरं मुज्जवतं बधु एवं । हंत
भट्टिणीए एव्व एउवरकोटोए सगं । [गृहीत्वा] एं वार्हमदु एदम् । (भट्टिनि ! परिवर्तनविभा-
विज्ञासार भूजपत्र सार्वेत्तम् । हंत भट्टिण्या एव वपुरकोट्या लग्नम् । ननु वाच्यतामेतत् ।)

देवी—पण्णपाएहि दाव एवं । जदि अयिएद्धं तवो सुणित्तं । (समुवाचय तावदेतत् ।
यद्यपिचद्धं ततः श्रोष्यामि ।)

निपुणिका—[तथा कृत्वा] भट्टिणी ! तं एव्व कोलीत्तं यिअ पडिहादि भट्टारमं उडित्तिअ
सम्भतोए कवयंधो ति तवकेमि । अउजमारुअमण्यमादेअ अ अम्हाएणं हएणं भागवो ति ।
(भट्टिनि ! तदेव कोलीनमिव प्रतिभाति । भट्टारकपुद्गित्योर्वचनाः काव्यकथ इति तर्कयामि । आर्यं
माण्यक प्रमरदेन चाद्योर्हस्तमागत इति ।)

देवी—तेए हि ते गहीदावा होमि । (तेन ह्यस्य गृहीतायां भवामि ।)

[निपुणिका वाचयति]

देवी—[गृत्वा] एव्व इमिअ एव्व उवाअएणं रं अकएराकानुअं वेवसानि । (अत्राः
मैत्रेयोपायनेन समप्तरः कामुक प्रेक्षे ।)

निपुणिका—तह् । (तथा ।)

[इति चरित्रमसंहिते सतागृह परिक्रामतः ।]

निपुणिका—अंता भट्टिणी ठीक समझें ।

देवी—[घूमकर सामने देखकर] सबी निपुणिका ! देखो तो यह दक्षिणी पवनके साथ
फटे कपड़े अंता क्या इपरको उठा चला था रहा है ।

निपुणिका—[देखकर] भट्टिनी ! यह तो भोजपत्र है और उसदा-पलदा उठा घाटा
हुमा ऐसा लगता है कि इसपर कुछ लिखा हुआ हो । सीजिए, यह तो भट्टिनीके बिछुएमे ही
भाकर पटक गया । [उठाकर] सीजिए बाँचिए तो ।

देवी—तुम्ही बाँच सो । यदि कोई मेरे मनकी बात हो तो सुना देना ।

निपुणिका—[बाँचकर] यह तो वही प्रेमवाली बात जान पड़ती है, जिसका चारो
धोर इतना हल्ला हो रहा है । मैं समझती हूँ कि उर्वशीने स्वामीको यह कविता लिखकर
प्रेमी होगी और आर्य माण्डवकी असावधानीसे यह हम लोगोंके हाथ लग गई है ।

देवी—मच्छा पढ़ो तो इसमे क्या लिखा है ?

[निपुणिका बाँचती है ।]

देवी—[सुनकर] तो पलो यही भेंट लेकर हम उस भस्मराके प्रेमीसे चलकर मिलें ।

निपुणिका—चलिए ।

[दासियोंके साथ सता-गण्डपवी और घूम जाती हैं ।]

विदूषक—[द्विनोत्रय] भी बखस ! कि एदं पवसवतायामि भमदयससमीपगवकीला-
पवदपज्जं ते दोसदि । (ओ वस्य ! किमेतस्यवनसयामि प्रमदयनसमीपगतकोडापयंतपर्यन्ते
हस्यते ।)

राजा—[उरुधाम] भगवन्वसन्त-प्रिय दक्षिणवायो ।

वासार्थं हर संभृतं सुरमिणा पौष्यं रज्जो वीरुधां

किं कार्यं भवतो हूतेन दयितास्नेहं स्वहस्तेन मे ।

जानीते हि मनोविनोदनशतैरेवंविधैर्धारितं

कामार्तं जनमज्जनां प्रति भवानालक्षितप्रार्थनः ॥१६॥

निपुणिका—भट्टिणि ! वेरस वेरस । एवस एव पण्येसखा बहुदि । (भट्टिनी ! प्रेसस्व
प्रेसस्व । एतस्यंवाग्नेपस्या वर्तते ।)

देवी—ए वेरजामि बाब । तुण्हि चिट्ट । (ननु पयामि लावय । तूष्णीं तिष्ठ ।)

विदूषक—[एधिपादय] हडो हडो ओ मिलाभमानकेसरच्छविणा मोरपिच्छेणा बिप्य
लडो म्हि । [हा बिहू हा बिहू ओ म्हावमानकेसरच्छविना मयूरपिच्छेन विशलज्जोऽस्मि ।]

राजा—सर्वथा हतोऽस्मि ।

देवी—[सहसोपसृत्वा ।] भग्नजल भलं प्रायेत्य । एवं तं भुज्जवत्तं । (धार्यपुन ! भलमा-
देगेन । एतत्तद्भूर्जपयम्)

राजा—[ससभ्रमम्] अमे देवी ! स्वागतं देव्यै ।

विदूषक—[अपवार्यं] कुरापदं दासि संयुतं । [कुरापतमिदानीं संवृत्तम्]

विदूषक—[देखकर] क्यों निज ! यह प्रमदवनके पासवाले श्रीका-पर्वतपर पवनके
झोंकिमे हिलता-सा क्या दिखाई दे रहा है ।

राजा—[उठकर] हे वसन्तके प्यारे निज दक्षिण पवन ! तुम्हें अपना तारीर सुगन्धित
करना ही तो तुम सतामोंपर खिने हुए और वसन्तके हाथोथे इकट्ठे किए हुए कूचोका पराग
उठाकर क्यों नहीं ले जाते । मेरी प्यारीके हाथका निहा हवा पन भला तुम्हारे किस काम
प्रायेण । तुम तो स्वयं अञ्जनाते प्रेम कर चुके हो इसलिये जानते ही होथे कि ऐसी ही मन
बहानेवाली वस्तुप्रोको देखकर ही ओ प्रेमी खोप जिया करते हैं ॥१६॥

निपुणिका—देखिए देखिए, भट्टिनी ! ये लोग इसी पत्रको खोज रहे हैं ।

देवी—खुप छूब ! देखें तो सही, ये क्या-क्या करते हैं ।

विदूषक—[दुसके साथ] हाय, हाय ! इस मोर-पंखको देखकर मुझे मुरझाए हुए मोर
के फूलका घोंसला हो गया, क्योंकि दोनों एक जैसे हो लगते थे ।

राजा—मैं तो सब प्रकार मुट गया ।

देवी—[एकाएक आगे बढ़कर] धरपादय मत धार्यपुन ! यह रहा यह भोजपत्र ।

राजा—[पयरागर] अरे प्राप हैं देवी ? धादए, धादए ! भली आ गई प्राप ।

विदूषक—[भलन] भली क्या, बड़ी बुरी भाई इस समय ।

रात्रा—[यमानिकम्] वषात् । तिम्र प्रतिविधेयम् ।

विदूषक—(उपवासं) सोतेपेले गहोदरम म्भीतरघरात जणिव वा पडिबघलं । (गोरेणु गहोदरम म्भीतरवापासिन वा प्रतिबन्धनम् ।)

राजा—[जगन्निधम्] मूढं नामं परिहास्यतातः । [प्रयासम्] देवि ! मेरं मया श्रुतम् ।
 अयं राजा पराशरेश्वरार्पणारम्भः ।

देवी—युग्मद्वि भक्तयो लोहणं वन्दयेत् । (युग्मते ध्यायन्तः सौभाग्यं प्रशंसयितुम् ।)

विदूषकः—भोवि ! तुवरेति ते भोघ्रणं जं वितोनामरासमयं होदि । (भवति वदमाय भोशनं यदित्योपासनमयं भवति ।)

देवी—सिद्धिए सोहलं क्यु वग्लेले घातागिरी वसन्तो । (निजुगिरे । गोचनं ग्यु
ब्राह्मणेनादयतिनो वयस्य.)

विदूषकः—भोदि लं देव्य धातातिरो पिताचोवि भोभरोर । (अति मनु वन्द्य मादरा-
धितः पिताशोवि मोक्षनेव ।)

राजा—सुनं यत्तादृशमधिगमं मां प्रतिगच्छति ।

देवी—एतत्पि वस्तु भवत्येव यथाहो । अहं एव एतत् सारदायाः पञ्चरूपरङ्गाणां भविष्य
 सारदायां मे विद्युन्मि । इत्येव अहं मनिरसः । शिखरिण्यः, एहि गच्छतः । [मांनि गतुं भवतीत्युत्तरः ।
 मत्प्रेषणान्तराया या प्रतिपूजयन्त्या भूषणयन्ती विद्युन्मि । इत्येव मनिरसः । विद्युन्मि !
 एहि गच्छामः ।] [इति चोर्न नाटयित्वा प्रस्थिताः ।]

राजा—[अपमृश्यः]

अथगधी नामाहं प्रसीद रंभीरु विग्म मरम्भात् ।

ऐज्यो जनश्च कुपितः कथं नु दागो निरपराधः ॥२०॥

[इति पादयोः पञ्चमः ।]

देवी—[स्वगतम्] मा बभूव तद्विप्रस्य ग्रहं अणुलघं बहु मण्ये । किं तु मन्दविषय-
विदस्त पञ्चादायस्त भाणि । (मा खलु लघुहृदयाहमनुनय बहू मन्ये । कित्वादाक्षिण्यकृतात्पञ्चा-
दापाद्विभेदि ।)

[इति राजानमपहाय सपरिवार निष्क्रान्त ।]

विदूषकः—पादसंख्ये विप्र अप्यस्तस्या गता देवी । ता जटुहि । (श्रावणदीवाप्रसन्ना
गता देवी । तदुत्तिष्ठ उत्तिष्ठ ।

राजा—[हृत्पाथ] जयस्य, नेदमनुपचन्नम् । परम्

प्रियवचनकृतोऽपि योषितां दयितवज्जनानुनयो रसादस्ते ।

प्रविशति हृदयं न तद्विदां मखिरिव कृत्रिमरामयोजितः ॥२१॥

विदूषकः—अणुलघं एष्य एष्यभववो एवं । एष बभूव मखिरिवविषयो मखिमुने दीवसिहं सहैवि ।
(अनुहृत्समेधानमवत एतत् । अल्पविदुःकितोऽभिमुने दीवसिखा सहैवि ।)

राजा—मा मयम् । उर्वशीसतमनसोऽपि मे स एष देव्यां बभूवयः । किन्तु प्रणिपातलज्ज-
मावहमस्या पयमयसम्प्रियये ।

विदूषकः—भो पिष्टुष्टु बाध मयवो धीरदा । बुभुविजवस्त बभूवस्त जीविवं मयलंबवु
भवं । तमयो बभूव पहाणभिमयं लेविबुं (भो तिष्ठतु तावज्जववो धीरदा । बुभुविजवस्त बभूवस्त
जीवितमयसम्प्रिये भवान् समयः खलु स्नानचोदनं लेवितुं ।)

देवी—[मन ही मन] मुझे ऐसी सोली न समझ बैठिएगा कि मैं आपकी इन चिकनी-
पुपवो बातोंमें भाजाऊँगी । पर मैं तो यही करती हूँ कि यदि मैं आपसे कुछ कड़ा बर्ताव
नो करूँ तो पीछे मुझे ही पछतावा होगा ।

[राजाको छोड़कर अपनी दासियोंके साथ चली जाती हैं ।]

विदूषक—पपाकी नदीके सामान समस्तान मनवाली देवी बसी गई । अब उठिए, उठिए ।

राजा [उठकर] भिन ! इसमें उनका कोई दोष नहीं है । देखो,—यदि कोई पति
ऊपरी मनसे बेवत चिकनी-पुपवो बातें बरके ही अपनी प्यारीको मनाने लगता है तो उसकी
बातें, निर्विकी हृदयमें उसी प्रकार नहीं बैठती जैसे बनामटी रंगसे रंगा हुआ मणि, सच्चे
पारखीको नहीं खेपता ॥२१॥

विदूषक—पर भाव तो यह चाहते ही थे । जिसकी बातें या गई हों उसे सामने रखे हुए
कोपेको वो कोपे ही पाठी है ।

राजा—नहीं नहीं, ऐसा न बहो । उर्वशीसे प्रेम करनेपर भी मैं इन देवीको पहले ही
रंगा प्यार करता हूँ पर मेरे इनने हाथ-पैर जोड़नेपर भी मुझे ठुकराकर चल दीं इसलिये
मम में भी उनगे ऐंट जाता हूँ ।

विदूषक—ऐटिएगा पीछे । पहले इन मुझे बाह्यणके प्राण तो बचाइए । चलिए, स्नान-
भोजनका समय हो गया है ।

राजा—[ऊर्ध्वमग्नौष्य] गतमयं दिवसस्य । अतः प्रतु—

उष्णालुः शिशिरे निषोदति तरोर्मूलालयाले-शिखी

निर्मिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्यालीयते पट्पदः ।

तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते

क्रीडावेरमनि चैष पञ्जरशुकः क्लान्तो जलं याचते ॥२२॥

[इति निष्क्रान्ती ।]

॥ इति द्वितीयोऽङ्कः ॥

तृतीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशतो भरतशिष्यो]

गालव—सखे येनैव । महोद्भवयनं यच्छ्रुत्वा भगवतोपाध्यायेन त्वमासनं प्रतिग्राहितम् ।
अग्निशरत्सरासराण्यं स्थापितोऽहम् । अतः सन्तु पृच्छामि—अपि गुरोः प्रयोगेण विद्या
परिपदाराधिता ।

पेलव—गालव । एष जात्ये आराहिवा एष वसति । तस्मिन् उक्तं सरस्वतीकिदकाध्वधे
सज्जीसमयरे तेषु तेषु रसतरेषु तन्मई आसि । किन्तु— (गालव । न जाने आराधिता न वा
इति । तस्मिन् पुनः सरस्वतीकृतपान्धवयने सज्जीसमयरे तेषु तेषु रसान्तरेषु तन्मयी आसीत् ।
किन्तु)

गालव—सर्वोपावकाश इयं ते वाक्यतोष ।

पेलव—याम् तस्मिन् उक्तस्योप यमस्य पमादवलम्बितं आसि । (याम् तस्मिन्नुर्वस्या वचनं
प्रमादरक्षितमस्तीति ।)

गालव—कथमिव ।

पेलव—सज्जीभूमिमाए वटुमाणा उक्तस्य वावसीभूमिमाए वटुमाणाए मेणमाए पुष्पिवा—
एहि समामदा एदे तेलोऽसुपुस्ति सकेसवा अ लोमवाला । कदमसि दे भावाहिणिवैसीति ।
(सज्जीभूमिकाया वसमानोवशी वावसीभूमिकाया वसमानया येनकया पृष्टा—सति । समागता
एते त्रैलोक्यपुरुषाः सकेसवाअ लोकापाला । कतमस्मिन्स्ते भावाभिनिवेश इति ।)

तीसरा शृङ्खला

[भरत मुनिके दो शिष्य प्रवेश करते हैं]

गालव—निज पेलव । इन्द्र भवनको जाते समय गुरुजीने धपना आसन साथ ले बसनेके
लिये तुम्हें तो धपने साथ ले लिया था और मुझे वहाँ अग्निहोत्रका काम सौंप दिया था ।
इसीलिये मैं प्रार्थना हूँ कि गुरुजीके नाटकसे देवताओंकी समा प्रसन्न तो हुई न ?

पेलव—गालव । यह तो मैं नहीं जानता कि देवता समा प्रसन्न हुई या नहीं, पर वहाँ जो
सज्जी-स्वयंवर नामका नाटक हुआ था और जिसके गीत स्वयं सरस्वतीजीने बनाए थे, उसमें
जो जो रस अब अब दिखाए जाते थे सब-सब अब उन रसामे वह पूरीकी पूरी समा मग्न हो
चली थी । पर

गालव—जान पड़ता है तुम कुछ करते-करते रुक गए ।

पेलव—हाँ, यही कि उस नाटकमें उर्वशीने सोननेके कुछ गुस कर दी ।

गालव—क्या गुस कर दी ?

पेलव—उस नाटकमें वावसी बनी हुई मेनकाने, लक्ष्मी बनी हुई उर्वशीसे पूछा—सखी !
यहाँ तीनों सोकोसे एक्के एक सुंदर पुरुष, सोकपास और स्वयं निष्पु भगवान् आप हुए हैं,
इनमें तुम्हें कौन सबसे अधिक आता है ?

नासब—ततस्तत ।

पेलव—तबो ताए पुदसत्तमे ति भणितव्ये पुरुरवसि ति ताए निग्गहा वासो ।

(ततस्तया पुदसत्तमे इति भणितव्ये पुरुरवसौति तस्या निगता वासो)

नासब—भवितव्यतानुविधायीनि इन्द्रियाणि । न खलु तामभिरुद्धो गुह ।

पेलव—सा खलु सत्ता ज्वरभाणए । मंहिदेए उए भण्णगहोदा । [सा खलु राप्तोपाध्यायेन । महोग्ग्रेण पुनरनुगृहीता ।]

नासब—कथमिदं ।

पेलव—जेए मम ज्वरेशो तुए लपिवो तेए ए दे विक्ख काए हविस्सदि ति ज्वरभाणस्स तावो । मंहिदेए उए पेशल्लापवत्ताए सज्जभावएवमुहो सा एव्व भणिया—जस्सि तुम मज्झभाया ति तस्स मे रएत्तहामस्स राएत्तिलो पिस एव्व करणिएज्ज । ता दाव मुम महाकाम पुरुरवस ज्वरिद्ध जाव सो तुइ विट्ठसत्ताणो भोवि ति । (विम ममोगदेशस्त्वया लङ्घितस्तेन न ते विम्य स्थान भविष्यति इति उपाध्यायस्य शापः । महोग्ग्रेण पुन प्रेक्षयावमाने सज्जभावनगमुसौ सा एव भणिता—यस्तिस्त्व मज्झभावासि सकय मे रएत्तहायस्य दावर्णे विपदव करणीयम् । तत्तावत्त्व मयाकाम पुरुरवसमुपतिष्ठस्व यावरस त्वमि हृष्टसम्मानो भवेदिति)

नासब—सहसमेतपुण्योत्तरविबो महोग्गस्स ।

नासब—उप-तव ।

पेलव—उत तस्य उते कहवा तो चाहिए था 'पुदसत्तम' पर भूलसे उसके मुँहसे निकल गया, 'पुरुरवा' ।

नासब—भाई ! जैसी होनी होती है वैसे ही मनुष्यके शरीर भी काम करने लगते हैं । क्या पुदसो इस बातपर विचरें नहीं ?

पेलव—घरे, गुरुजीने तो उसे शाप ही दे दिया था, पर भगवान् इन्द्रने उसे जैसे जैसे घवा दिया ।

नासब—कैसे ?

पेलव—गुरुजीने तो यह शाप दे दिया था कि तूने जो मेरे सिखाए पाठके अनुसार काम नहीं किया इसपर तूझे यह दंड दिया जाता है कि तू स्वयंसे नहीं रहने पावेगा । पर ज्योंही नाटक समाप्त हुआ त्योंही सज्जसे चिर भीचा किए सभी हुई उर्वशीसे इन्द्रने भाकर कहा—देखो ! एए शत्रवं सदा मेरी सहायता करनेवाले जिस राजपुत्रिसे तुम प्रेम करती हो उनके मनका भी कुछ कर देना चाहिए । इसलिये जबतक वे तुम्हारी सत्तावका मुँह न देखें जबतक तुम मनचाहे समय तक पुरुरवाके साथ रह सकती हो ।

नासब—सबके मनकी बात जाननेवाले इन्द्रको यही खोभा देना है ।

पेत्तवः—[सूयंमहतोक्थ] कथा समंसेल अम्हेहि अबरदा पहिलेपवेला खु उदरभामस्त । ता एहि । से पातवतिखो होम । (कथाप्रमवेनास्मान्मिरादाभिवेकवेला सन्तु उपाध्यायस्य । तदेहि । अस्य पारवंवतिनो मवावः ।)

गालवः—तथा ।

[इति निष्क्रमन्ती]

॥ मिश्रविष्कम्भकः ॥

[ततः प्रविशति कञ्जुकी]

कञ्जुकी—[किनिःश्वस्य]

सर्वः कल्पे नयसि यत्ते लब्धुमर्थान्कुटुम्बी

पश्चात्पुत्रैरपहतमरः कल्पते विश्रमाय ।

अस्माकं तु प्रतिदिनमियं साधयन्ती प्रतिष्ठां

सेवाकारा परिणतिभूतस्त्रीषु कष्टोऽधिकारः ॥१॥

[परिष्कम्भ] आरिष्टोस्मि समियमया काशिरामपुत्र्या—व्रतसम्पादनार्थं मया भानपुत्रपुत्र्य निपुणिकापुत्रेण कृपेण आयितो महाराजः । तदेव त्वं मनुष्यनाशिताय इति । यावत्तुहमिदानीमवसित-
ताप्यानाप्यं महाराजं पश्यामि । [परिष्कम्भावर्त्तमान्य] रमणीयः यत्तु विधवापन्नानपुत्रान्तो राजवेत्तमः । इह हि ।

पेत्तव—[पूषकी ओर देखकर] बाते करते-करते गुहबीके स्नानका समय भी निश्चय गया ।
प्राप्नो बत्तो, वनके पास पते पते ।

पातव—अच्छा बत्तो । [दोनों चले जाते हैं ।]

॥मिथ विष्कम्भक॥

[कञ्जुकी घाटा है ।]

कञ्जुकी—[मही-मही साँव लेकर] जो लोग बहुत बड़े कुटुम्बवाले होते हैं वे पुत्र-
वत्पावे तो पन बटोरनेके केलीये पड़े रहते हैं । पर मुझसेवे घबरा सब भार पुत्रीपर
गोनकर दिशाय करते हैं । किन्तु यहाँ जो ऐसी दशा हो गई है कि रात-दिन इस भोकीके
बगलमें पड़े-पड़े बूढ़े हो पड़े हैं । छपपुत्र स्त्रियोकी सेवा करना बड़ा टेढ़ा काम होता है ॥१॥
[पूषकर] पात्रजन बासीराजकी पुत्री महाराजो छत्र कर रहे हैं । उन्होंने मुझे आज्ञा
दी है कि मैं हर मान छोड़कर निपुणिकाके महाराजकी महत्ता सुकी हूँ कि वे आकर मेरा
पट छत्र करे, इसलिसे मुझ मेरी ओरसे जाकर महाराजकी पुता प्राप्नो । इस समय
महाराज माधवाजी जब खप्ता करके थके होंगे, इसलिये धर्म नहीं उनके दर्शन वरुं ।
[पूषकर ओर देखकर]—धप्ताके समय राज-द्वार भी फँसा गुहायना खपता है । यहाँ

उत्कीर्णं इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसा बहिष्णो
धूपैर्बालविनिःसृतैर्वलभयः संदिग्धपारावताः ।

आचारप्रयतः सपुष्पवलिषु स्थानेषु चार्चिष्मतीः ।

सन्ध्यामङ्गलदीपिका विभजते शुद्धान्तवृद्धो जनः ॥२॥

[नेपथ्याभिमुखमवलोक्य] अये इत एव प्रस्मितो देवः ।

परिजनवनिताकराणिताभिः परिशृत एष विभाति दीपिकाभिः ।

गिरिरिष गतिमानपक्षलोपात् अनुतटपुष्पितकर्णिकारयष्टिः ॥३॥

यावदेतन्मन्त्रोक्तमगमौ रिपतः प्रतिपालयामि । [परिलक्ष्य स्थितः ।]

[ततः प्रविशति यथाविहितो राजा विदूषकश्च ।]

राजा—[स्वगतम्] आः ।

कार्यान्तरितोत्कृष्टं दिनं मया नीतमनतिकृच्छ्रेण ।

अविनोददीर्घयामा कथं नु रात्रिर्ममयितव्यम् ॥४॥

कञ्जुकी—[उपसृत्य] जयतु जयतु देव ! देव ! देवी विज्ञापयति—मण्डिहर्म्यगुह्ये सुवर्तन-
वधम् । तम संनिहितेन देवेन प्रतिपालयितुमिच्छामि यावद्देहिणीसंयोग इति ।

राजा—आर्यं सातव्य ! विज्ञापयतां देवी यस्ते र्ध्व इति ।

नीदने प्रलसाए हुए घोर भपके छट्टोंपर बैठे हुए घोर, परपरमें छुदे हुएसे दिखाई पड़ रहे हैं । छात्रोंसे बाहर निजनी हुई टॉन्में बैठे हुए जवतरी घोर उन टॉन्को के छोरोके निक-
सनेवाले छुरें, दोनोमे यही नहीं जान पड़ता कि कौन मुर्दा है घोर कौन कबूतर । एतिसातके
बूटे लौकर तथा-धौकर, फूसोसे सजे हुए भवबोने, सन्ध्याने पूजनके सिये जलते हुए दीपक ला-
माकर दयास्वाम सजा रहे हैं ॥२॥ [नेपथ्यकी घोर देखकर ।] अरे ! महाराज तो इसपर ही
पड़े मा रहे हैं ।—महाराजके पारो घोर हाथमे दीपमाला लिए हुए जो बहुतसी कातियाँ चधी
धा रही हैं, उनमें महाराज उस पर्वतके समान घमक रहे हैं जो पक्ष न कटनेसे बसता मा रहा
ही घोर जिसके दोनो हाथोंपर कर्नरके फूले हुए पैर सजे हो ॥३॥ तबतक मैं भागे सड़ा होकर
उनके भातेकी बात ओहता हूँ । [घूमकर सड़ा हो जाता है ।]

[राजा घोर विदूषक आते हैं ।]

राजा—[मन ही मन]—ओह ! दिन भर कामसे लगे रहनेसे दिन तो बीतता हुआ नहीं
जान पड़ा, पर मन मन यहसावकी सामग्रीके बिना रातकी सम्बी-लम्बी घड़ियाँ कैसे
कटेंगी ॥४॥

कञ्जुकी—[आगे बढ़कर] जब हो महाराज ! आपकी विजय हो । देव ! देवी निवेदन
करती है कि मण्डिहर्म्य-मन्त्रसे चन्द्रमा जसी भाँति दिखाई पड़ जायेंगे । इसतिये मेरी इच्छा ॥
कि मैं वहीपर महाराजके साथ हो चन्द्रमा घोर रोहिणीका मिलन देखूँ ।

राजा—आर्यं सातव्य ! देवीसे कहना कि जो कहेगी वही करूँगा ।

विदूषकः—[विनोद] हो ही भो एतो ॥ अहमोरप्रतस्तिरोधो उदितो रात्रा
बुधादीनाम् । (हो ही भोः एष खलु सञ्जयोदकमयीक उदितो रात्रा द्विजातीनाम् ।)

राजा—[सन्तप्तम्] सर्वश्रीवरित्याम्बवहायमेव विषय । [प्राञ्जलिः प्रशम्य]
भयवद् क्षपणाय ।

रविमावसते सतां क्रियायै सुधया तर्पयते सुरान्पितृष्वथ ।

तमसां निशि मूर्च्छतां निहन्त्रे हरचूडानिहितात्मने नमस्ते ॥७॥

[इति उपतिष्ठते ।]

विदूषकः—भो सन्त्यसंका मिहवसरेण दे विदामहेण अहमखण्डादो सि । ता आसलद्विदो
होहि जाध अहं वि सुहातीणो होमि । (भोः आह्लाससंक्रामिताखरेण से विव्हागहेताम्बनुज्ञातोऽसि ।
तवास्मनस्मिन्नो भव दाव्यहमपि सुतासीनो भवामि ।)

राजा—[विदूषकवचनं परितुष्टोपविष्टः परिजनं विनोदयति ।] अभिव्यक्तायां पन्द्रिकायां सि
बीषिकापीनश्वायेन । तद्विभ्राम्यन्तु भवत्यः ।

परिजनः—अं देवो आलमेवि । (गृहेव आजापयति ।) [इति निपन्नन्तः ।]

राजा—[पञ्चमसमयलोभम विदूषक प्रति] वयस्य ! परं भुहृत्विवागमनं वेध्याः । तद्विहिते
कथयिष्यामि स्वामयत्पाम् ।

विदूषकः—अं बीषावि धृम्य सा । किन्तु तारितं चक्षुरार्यं देखिअ सर्वकं बहु आसाधंभेण
असाखं धारेई । (ननु दृश्यत एव सा । किन्तु तादृशवपुःपुग प्रेक्ष्य सर्वथं आत्माशाश्वधैनात्मानं
पारयिषुम् ।)

विदूषकः—हे हैं हे हे ! यह ऊपर उठता हुआ द्विजोक राजा चन्द्रमा ऐसा पुनः नग रहा
है जैसे छाँटका लट्ठ हो ।

राजा—[मुस्कराकर] भोजन-भट्टको सब स्थानोंपर भोजनभी सामग्री ही दिखाई पड़ती
है । [हाथ जोड़कर] हे भगवन् चन्द्रमा ! हे सज्जनोकी धार्मिक क्रियाओंमें सुईके साथ-साथ
स्मरण किए जातेवाले ! हे अमृत पिलाकर देवता भीर पितरोंको सुपा करनेवाले ! हे पठके
चारों ओर कीले हुए भोंपेरेको हटानेवाले ! हे शिवजीके जटा-जूटपर रहनेवाले ! आपकी
प्रणाम है । ॥७॥ [पूजा करता है ।]

विदूषकः—महाराज ! आपके दादा चन्द्रमा मुझ आह्लासके मूँहसे आपकी यह आशा से रहे हैं
कि आप बसन्त बैठिए जिससे मैं भी सुखसे बैठूं ।

राजा—[विदूषकके कहनेसे बैठकर भीर आपकी सेविनाओंकी देखकर ।] जब चारों ओर
इतनी चाँदनी छिटकी हुई है तब ये दीपक क्यों जला रखे हैं । जाइए, आप सब विश्राम-कीजिए ।

परिजनः—जैसी देवकी आज्ञा । [सब सेविकाएँ चली जाती हैं ।]

राजा—[चन्द्रमाको देखकर विदूषकसे] वयस्य ! धर्मो देवोंके घानेमें तो बहुत देर है,
इसलिये यहाँ प्रकेलेमें बैठकर तुम्हें अपने समनी व्यवसा समझाऊँ ।

विदूषकः—समझाओगे क्या, वह तो दिखाई ही दे रही है । पर जबकीने आपपर अपना जैसा
प्रेम जताया है उसके गरीबों तो आपको अपना मन खेलाते रहना चाहिए ।

उर्वशी—सहि ! मयलो मनु तुमं मल्लवेदि । ता सिधं खेहि मं तस्य सुहमस्त वतादि ।
(सखि ! मदनः सनु त्वामाग्रापयति । तन्जीघ्रं नय मं तस्य सुभगस्य वसतिम् ।)

चित्रलेखा—[बिलोपय] खं एदं परिवर्तितं विम्र केलाससिहरं विम्रवमस्त दे भवखं
उपपन्नं भू । (मन्देतरपरिवर्तितगिव कंसाससिखरं प्रियतमस्य ते भवतमुपगते स्वः ।)

उर्वशी—तेण हि पहायदो आखोहि दाप कहि सो मम हिमप्रचरो कि वा भल्लविट्ठसि
ति । (तेन हि प्रभावाजानोहि तावत्कव स मम हृदयचोरः कि वानुतिष्ठतीति ।)

चित्रलेखा—[प्यात्वा विहस्यारमगवम्] भोतु कीवित्तं राख एवाए । [प्रकाशम्] हला
विट्ठो मए एसो मणोरहस्यविम्रासमागमगुहं मणहवंतो उवहोममस्ये भोमासि विट्ठसि ति ।
[भवतु । श्रीश्रियासि तावदेतया । हला दृष्टो मया एव मनोरथनभप्रियासमागमसुखमनुभवमनुप-
भोगसमेऽवकाशो तिष्ठतीति ।)

उर्वशी—[विषादं नाटयति । निःस्वस्य] बण्खो लो जल्लो ओ दखं भवे । (यस्यः ॥ जनो
य एषं भवेद् ।)

चित्रलेखा—सुदे ! का उखं बिता तुए विखा मण्णविम्रासमागमस्य । (सुखे ! वा पुनश्चिन्ता
त्वया विनाग्यप्रियासमागमस्य ।)

उर्वशी—[सोन्मुखीकृतम्] सहि भवविमलं सवेहदि मे हिम्रमं । (सखि भवविमलं संदिग्धं
मे हृदयम् ।)

चित्रलेखा—[बिलोपय] एसो मणिरुम्मियप्पासादविट्ठगवो वमस्तमेतसहामो राएसी ।
ता एहि उपसप्पाम ए । (एव मणिरुम्मप्रसादपृष्ठवता वयस्वभासहामो राजयिः । सवेहि उप-
सापवि एनम् ।)
[उभे पदतरतः]

उर्वशी—सखी ! मेरा प्रेम तुम्हें भाक्ता दे रहा है कि तुम मुझे बीघा ही उस भाग्यदानके
भवनमें पहुँचाओ ।

चित्रलेखा—[देखकर] हम लोग तो तुम्हारे प्रियतमके उस भवनवर पहुँच ही गए जो
ऐसा सुन्दर जगता है मानो कंसासकी बोटी उठकर यहाँ जनी भाई हो ।

उर्वशी—तब देवी शक्तिसे ही यह कोसों कि वह मेरे हृदयका चोर कहाँ है और
क्या कर रहा है ।

चित्रलेखा—[ध्यान करके हँसकर, आप ही आप] इससे बोटी ठीकोसी की आप । [प्रकाश]
मैंने देख लिया । सखी ! वे मयवी मयवाही प्यारीसे चित्रलेखा सुख लूटते हुए भाग्यदानके
स्थानमें बैठे हुए हैं ।

उर्वशी—[दुखी होनेका नाट्य करती है । सम्बी साँस लेकर] यम्प है वह स्त्री जो ऐसी
बड़भागी है ।

चित्रलेखा—धरी पगनी ! तुझे छोड़कर वे धीरे कोन-सी दूसरी प्रेमिकासे मिलनेकी
धात सोचेंगे ।

उर्वशी—[सबी साँस लेकर] मेरा भोला-भाला हृदय तो यही मन्देह कर बैठ गया ।

चित्रलेखा—[देखकर] यह देखो ! वे राजपि यही मणिरुम्मं भवनकी छतपर
घबने चित्रके साथ बैठे हुए हैं । धामो, इनके पास बढ चला जाय । [बोली उतरती है ।]

राजा—ययस्य रजन्या सह विजयम्भते मदनयाया ।

सर्वश्री—अलिम्बिगुल्लेख इमिणा चप्रखेख आकण्ठि मे ह्रिप्रभं । ता प्रंतरिदा एय्य मुण्णाम से सेरात्तावं जाय एओ संसप्रच्छेदी होदि । (अलिम्बिगुल्लेखेन वचनेनाकम्पित मे हृदयम् । तदन्तर्हिते शृणुवोऽस्य स्वरात्तप यावदावयोः सञ्जमच्छेदो भवति ।)

चित्रनेत्रा—जं दे रोप्रदि । (यत् रोचते ।)

विदूषकः—एहं इमे अमिमगन्ना सेवीसंडु चंदवादा । (नन्वेतेऽमृतगर्भा, सेष्मन्ता वनप्रवादाः ।)

राजा—ययस्य ! एवपदिभिरनुपगम्योऽयमातङ्कः । यस्य ।

कुसुमशयनं न प्रत्यग्रं न चन्द्रमरीचयो
न च मलयजं सर्वांगीणं न वा मणियष्टयः ।
मनसिजरुलं सा वा दिव्या ममालम्बपोदितुं.....

सर्वश्री—[उत्सि हस्त दत्वा ।] का वा भवरा । (का वा भवरा ।)

राजा—... ..

रहसि लययेदारब्धा वा तदाश्रयिणी कथा ॥१०॥

सर्वश्री—ह्रिप्रभ । मं उज्जिम इवो संकटेख ॥ ए दासि कलं अवसद्धं । (हृदय । मागुगिन्त्वा इतः सकान्तेन शयनेशानी फलमुपलब्धम् ।)

राजा—ययस्य । ज्यो-ज्यो रात बढ़ती जा रही है, त्यो त्यो मेरी काम-बोझ भी बढ़ती जा रही है ।

सर्वश्री—एन गोसमोल वचनोको सुनकर तो मेरा जो काँप उठ है । चलो, धिपकर इनकी गुपगुप बातें तो सुनें, बिस्से जीका समेह तो मिट जाय ।

चित्रनेत्रा—जैसे कुम्हारी हल्छा ।

विदूषक—सो, समुत्ते मरी हुई चन्द्रमानी किरणोंम नहायो ।

राजा—ययस्य ! एन खव वपायेंसि यह पोडा नहीं जायसी । देखो ! मेरे इस प्रेमके रोगकी व तो पूजोकी घय्या ही डूर कर सकती है, न चन्द्रमाको किरणें हटा सकती हैं, न सारे शरीरमें मेघ बिछा हुआ भन्दन ही मिटा सकता है और न मोतियोंकी माहा ही बम बर सक्ती है । यदि एन रोगको कोई डूर कर सकता है तो बस वही एक स्वर्ग-बानी..... ।

सर्वश्री—[हृदय पर हाथ रखकर] यह दूसरी चीज होगी ?

राजा—.....या फिर एकान्तमें बड़ी हुई उसने प्रेमकी बातें ॥१०॥

सर्वश्री—धरे हटा । तुम सबसुब बहमाणी हो कि मुझे छोड़कर उनके पास चले गए हो ।

विदूषकः—आम् । 'हं' वि धृत्ययंतो जवा मिट्ठहरिणीमंसमोज्ज्वलं ॥ तद्दे तदा हं संकिन्न-
भंतो प्रासासेमि धत्ताणं । (आम् । अहमपि प्राणमयानो यदा मिष्ट हरिणीमांसमोज्ज्वलं न तमे
तदेतत्सङ्कीर्तयन्नापदासयान्वात्मानम् ।)

राजा—सम्पद्यते पुनरिव भक्तः ।

विदूषकः—अयं वि तं अदरेण पारिवर्षवि । (भवानपि तामविरेण प्राप्स्यसि ।)

राजा—राखे । एवं मन्थे.....

चित्रलेखा—सुख अतनुद्धे सुख (मृग, भक्तनुद्धे मृग ।)

विदूषकः—कहं विध । (कथमिव)

राजा—.....

अयं तस्या रथबोमादसेनांसो निषिद्धितः ।

एकः कुतो शरीरेऽस्मिन् शोपमङ्गं भुवो भरः ॥११॥

चित्रलेखा—राहि ! किं राहि चित्रबोमवि । (सखि ! किमिदानीं विलम्बते ।)

उर्वशी—[सहसोपसृज्य] हला ! अन्नाहो वि भम द्विदाप् उवासीसो विम महाराजो ।
(हला ! ममसोभि मम स्थिताया उवासीन हव महाराजः ।)

चित्रलेखा—[सस्मितम्] अह अविबुधरिदे ! अस्त्वित्ततिरस्करिणी भ्राति । अयि अति-
स्वरिते । अन्नात्तिरस्करिणीकाति ।)

[नेपथ्ये]

विदूषक—हाँ ! मुझे भी जब कभी गलतनेपर हरिणीके सींठे मौखका भोजन नहीं मिलता
तब मैं उसका नाम लेकर ही अपना पेट भर लेता हूँ ।

राजा—पर तुम्हें यह सब मिला तो जाता है ।

विदूषक—आप भी बस वैसे मिला ही समझिए ।

राजा—वदस्य ! मैं सोचता हूँ कि...

चित्रलेखा—तुम्हें तो पालो !

विदूषक—हाँ, क्या सोचते हो ?

राजा—यही कि मेरे शरीरके सब अङ्गोंमें यह कच्चा ही धन्य है कि वह रसके हिलने-
झुलनेके समय मेरे साथ बँधी हुई उर्वशीके कन्वोंको छूता बसता था । शरीरके दूसरे अङ्गोंको तो
बस घरतीका बोन ही समझो ॥११॥

चित्रलेखा—क्यों सखी ! अक देर क्यों करती हो ?

उर्वशी—[सहसा आगे बढ़कर] सखी, मैं महाराजके सामने आकर खड़ी भी हो गई हूँ,
फिर भी ये मुझसे बोल क्यों जारी रहे हैं ?

चित्रलेखा—[मुस्कराकर] धरो हृदयङ्गावेवाली ! तूने अभी अपनी भाषाकी भोड़ती तो
चतारी हो रही ।

[नेपथ्ये]

विदूषक—आम् । 'हं' विं गत्यर्थतो जवा मिट्ठहरिणीमंसभोजनं एव लहे तदा एं संकित्त-
मंतो प्रासासेमि भतासं । (आम् । महमपि प्रावंसमानो यदा मिट्ठ हरिणीमांसभोजन न समे
तवंउत्तकूतंयन्ताश्वासयाम्यात्मानम् ।)

राजा—सम्पद्यते पुनरिदं भवतः ।

विदूषक—भवं वि ॥ मदरेण फविस्तदि । (भवानपि तामचिरेण आप्स्यसि ।)

राजा—सखे ! एवं मन्ये.....

चित्रलेखा—मुण्य घरातुंहे मुण्य (भृगु, भसन्तुष्टे भृगु ।)

विदूषक—कहं विम । (फयपिब)

राजा—.....

अयं तस्या रथवोयादसेनांसो निपीडितः ।

एकः कृती शरीरेऽस्मिन् शेषमङ्गं भुवो भरः ॥११॥

चित्रलेखा—सहि । किं वार्त्ता निवन्बोअदि । (सति । किमिवाती विमम्पते ।)

उर्वशी—[सहसोपसृत्य] हता । धन्यवो वि मम द्विबाए उवासीणो विम महाराजो ।

(हता । मयतोऽपि मम स्वित्तावा उवासीव एव महाराजः ।)

चित्रलेखा—[उस्मितम्] मद् अविनुवरिये ! मणुविस्ततिरवजरिणी भवति । ममि मति-
रवति । मनासिप्ततिरस्वरिणिकासि ।)

[मेपम्ये]- ६१८ (ईदृश स्वस्तिवापननामुपरीधो

विदूषक—हाँ । मुझे भी जय कवी माँ

सब मैं जसका नाम लेकर ही अपना देत भू

राजा—पर तुम्हें यह सब ^{६१८} एकती है, पर तुमने अन्तमे जो बात कही, वही अधिक

विदूषक—आप ^{६१८} उजला देखी लख पहने हुए, शरीरपर केवल सुहागने पहने पहनकर

राजा—वयस् ^{६१८} से अपनी बाँहे सजाकर घाती हुई देखीके दग-उगसे ही ऐसा जँघता है

चित्रलेखा—मु ^{६१८} छोटकर मुझपर प्रशन्न हो गई हैं ॥१२॥

विदूषक—हाँ, ^{६१८} जय हो भार्यपुत्रकी, जय हो ।

राजा—मही ^{६१८} महारककी, जय हो ।

कल्याण हो ।

इसदेके समय मेरे संगत है । [देवीका हाथ पकड़कर उन्हें बैठाता है ।]

सब घरतीका बोझ हो समय तो देवी अन्ध इनके लिये सटोक बैठ गया है क्योंकि इनका तेज

चित्रलेखा—ममो स ^{६१८} कम गही है ।

उर्वशी—[सहस ^{६१८} सोठकर यह बात सचकी कही है ।

फिर भी वे मुझसे बोल गय लेकर एक विशेष शत करना चाहती हूँ, इसलिये प्रार्थना है कि

चित्रलेखा—[मुस्कराकरनेकी कृपा करें ।

उतारी ही नहीं ।

इसमे नष्ट किस बातका ? यह तो भाषकी कृपा है ।

आयना मिले, ऐसे कष्ट सदा मिला करें ।

राजा—किं नामयेषमेतद्देव्या व्रतम् ।

[देवी निपुणिका मुरारयेवते ।]

निपुणिका—भट्टा पिप्पलप्यसादसं स्वाम् । (मर्तं विष्णुप्रसादनं नाम् ।)

राजा—[देवी विभीषण] वन्देवम् ।

अनेन कन्यायाणि मृणालकोमलं व्रतेन गात्रं ग्लपयस्यकारणम् ।

प्रसादमाफहृत्ति यस्तत्रोत्सुकः सकिं त्वयादासजनः प्रसाद्यते ॥१३॥

उर्वशी—महंतो कष्टु से इभरित्त बट्टमारणो । (महाम्भसु भव्य एतदवा बहुमानः ।)

विश्लेषा—अहं गृहे अगलसंतकंत्पेमाणो लगभरिषा भारिभाए अहिभं दक्षिणा होमि ।
(अभि गृहे । अग्यसकातदेमाणो नागरिका भार्यायामपि दक्षिणा भवन्ति ।)

देवी—[सस्मितम्] खं इमत्त बरपरिगृह्यत्त अयं पहारो नं एसिभं वंताविदो भज्जइत्तो ।
(नन्नेतस्य व्रतपरिग्रहस्याय प्रभावो यदेसावन्मन्त्रित भार्यपुत्र ।)

विदूषक—विरमहु मयं । त कुतं सुहासिभं पन्नाचरिदुं । (विरमतु भवान् । न पुक्तं सुभाषितं प्रत्याचरिमुत् ।)

देवी—दारिद्र्याघो आलोभ्य श्रीवहारिभं जाव मणिहर्मिप्रपिद्धगदे अस्पादे भज्जेमि । (दारिकाः
धामययीपहारिका दाव-मणिहर्म्यपृष्ठमतीरकप्रपादानर्चामि ।)

परिव्रज—अ भट्टिणो आगुवेषो । एसो मंभकुसुमाविज्वहारे । (यद्भट्टिभो आज्ञापयति । एव
गन्धकुसुमाद्युपहार ।)

राजा—आप कौन-सा व्रत कर रही हैं ?

[देवी निपुणिकाका यूह देखती हैं ।]

निपुणिका—महाराज ! इसे प्रियकी प्रसन्न करनेवासा व्रत कहते हैं ।

राजा—[देवीको देखकर] हे कन्याश्री ! यदि इतनी-सी ही बात हो तब तो अपने कमलके समान कोमल शरीरको व्यर्थ ही व्रत करके मुखा रही हो क्योंकि धापका जो दास स्वयं आपकी प्रसन्न देखनेके लिये मयीर हो रहा हो उसे भी क्या कहीं प्रसन्न करनेकी आवश्यकता हुआ करती है ॥१३॥

उर्वशी—इत देवीकी वो महाराज बहुत मानते हैं ।

विश्लेषा—अरी पयनी ! जो चतुर मायिक किसी दूसरी स्त्रीसे प्रेम करने लगते हैं वे अपनी पहली पत्नीका भीर भी अधिक आदर किया करते हैं ।

देवी—[मुस्कराकर] सबभुज यह व्रतका ही प्रभाव है कि भार्यपुत्रने इतना तो कहा ।

विदूषक—अच्छ रहने दीजिए अपनी बातें । व्रत पूजाकी बातोंमें भीन-मेघ निकालना ठीक नहीं होता ।

देवी—दासिजो ! पूजाकी सामग्री को ले आओ जिससे मैं मणिहर्म्य-मवल पर फेंकी हुई चन्द्रिकाकी किरणोंकी पूजा हो कर सकूँ ।

दासिनी—जैसी भट्टिनीकी आज्ञा । सीजिए, यह है चन्दन-कूत आदि पूजाकी सामग्री ।

देवी—उमरुण । [नाट्येन गणपुष्पादिभिरवन्द्यमानम्यर्च्य ।] हृदि लिङ्गलिङ्ग ! हमे मो-
हारिममोद अजममालम्बं संभावेहि । (उपनयत । हञ्जेनिपुणिके । एतानोपहारिकमोदकानाम्य-
भाणवकं सम्मय ।)

निपुणिका—अं भट्टिणी भणवेदी । अजम माणवम अर्थ बाव दे । (यद्भट्टिण्याज्ञापयति ।
माणवक इदं तावते ।)

बिभूषकः—[मोदककरावं दृष्ट्वा ।] सौख्य भोदीए । बहुकलो दे एसो पवो भोवु ।
(स्वस्ति ममस्व । बहुकलं तवैतद्वत्तं मवतु ।)

देवी—अजजस्त इहो बाव । (भार्यपुत्र इतस्तावत् ।)

राजा—अयमस्मि ।

देवी—[राज्ञः पूजामभिनीय प्राञ्जलिः प्रणम्य ।] एता अहं देवताभिहृतं रोहिणीमिमल-
यलं सखीकरिष्य अजजस्तं अलुप्यतावेमि—अजमभट्टि अं इतिअं अजजस्तो यथेदि
जा अ अजजस्तस्त सताममपणविको ताए सह मए पीविषंयैए वृत्तिहृत्वं शि । (एताहं
देवतामिपुत्रं रोहिणीमृषसाञ्जल सतीकुर्यायपुत्रमनुप्रसादयामि—असपभृति या क्षिपमार्यपुत्रः
प्रार्थयते या चार्थपुत्रस्य समागमप्रणयिनो तया सह भया प्रीदियन्तेन ववितव्यम् इति ।)

उर्वशी—अमहे ए अणो किअं से वमलं शि । मम जल विस्तारयित्तवं हिअमं
संजुतं । (अहो न जाने किमपरमस्या वचनमिति । समपुनर्निश्चासितव हृदयं सजुत्तम् ।)

चित्रलेखा—सहि महाछहाबाए पवित्रराए अजमलुण्णावो अलंतराप्रो दे विअस्त-
अमो हृदिस्तवि । (उत्ति गहानुभावया पतिव्रतयाम्यनुज्ञातः अनन्तरयस्ते प्रियसमागमो भवि-
ष्यति ।)

देवी—सामो । [सामग्री लेकर गन्ध कुल धाविते चन्द्रमाकी किरणोंकी पूजा करनेका नाट्य
करती है ।] सती निपुणिका । ये पूजाके लङ्का भार्य माणवकको दे शाली ।

निपुणिका—जैसी भट्टिनीकी आज्ञा सीजिए भार्य माणवक । ये धापके लिये हैं ।

बिभूषक—[लङ्काका पात्र लेते हुए] धापका कस्याश हो । धापका यह सब बहुत फले ।

देवी—भार्यपुत्र । इधर तो धाप ।

राजा—सीजिए, सा गया ।

देवी—[राजाकी पूजाका नाट्य करके और हाथ जोड़कर] धाय मैं रोहिणी और चन्द्रमाके
सँगी जोडेको साथी बनाकर भार्यपुत्रको प्रणम कर रही हूँ । धायसे जिस किसी स्त्रीको
भी भार्यपुत्र चाहेंगे और जो भी स्त्री भार्यपुत्रकी पत्नी बनना चाहेंगी उससे साथ मैं बड़े
प्रेमसे रहा करूँगी ।

उर्वशी—अरी ! न जाने ये किस दुसरी स्त्रीके लिये कह रही हैं । पर कमसे कम इससे
मेरे हृदयको भरोसा तो मिला ।

चित्रलेखा—अरी ! इस उधर हृदयवासी पतिव्रताकी आज्ञासे एक बात तो पक्की हो
गई कि अब तुम्हें अपने प्यारेसे मिलनेके कोई धापा नहीं पड़ेगी ।

विदूषकः—[अपवाच्य] भिष्णुहृदये मन्त्रे पलायिते स्थितिरसौ धीवरो भण्डादि—
गच्छ धर्मो मे हृषितविति । [प्रकाशम्] मोदि किं तारितो वे विप्रो तत्तमम् । [भिष्णुहृदये
मन्त्रे पलायिते निदिग्धा धीवरो भण्डति गच्छ धर्मो मे भविष्यतीति । भवति ! किं तादृशस्ते
भिष्णुहृदये भवान् ।]

देवी—मूढ ! ग्रहं खलु मन्त्राणां गुहावसाहोरात्रं भजन्तं लिप्सुदसरीरं पादं दृच्छामि ।
एतिपुलं क्षितेहि दाव पिथो एव वसति । [मूढ ! ग्रहं खलु मन्त्राणां गुहावसाहोरात्रं भजन्तं लिप्सुदसरीरं
कर्तुं निश्चयामि । गुहावसाहोरात्रं भजन्तं लिप्सुदसरीरं न वेति ।]

राजा—

दातुं वा प्रभवसि मामन्यस्मै कर्तुमेव वा दासम् ।

नहं पुनस्तथा त्वयि यथा हि मां शंकसे भीरु ॥१४॥

देवी—होहि वा माया । जपसिद्धिं संपादितं मयं विष्णुहृदयस्य नाम वदं । शक्ति-
मयी एव गच्छसु । [भव वा माया । यथा निदिष्टं संपादितं मया विष्णुहृदयस्य नाम वदम् ।
शक्तिः एव गच्छामः ।]

[इति प्रस्थिता]

राजा—प्रिये ! न खलु प्रसादितोऽस्मि यत्र संप्रति विहाय गम्यते ।

देवी—प्रणम्यता । प्रसन्नचित्तोऽस्मि मयं लिखितो । [प्रार्थनम् ! प्रसन्नचित्तोऽस्मि मया लिखितः ।]

[इति सपरिवारा निष्प्रवृत्ता ।]

चर्वरी—सहि ! निष्प्रवृत्तौ राक्षसी । एव खलु हिमं लिखितं लिखितं । [सहि ! निष्प्रवृत्तौ
राक्षसीः । पुनर्हृदयं निष्प्रवृत्तौ लिखितम् ।]

विदूषकः—[अन्तः, राजास्य] अब मछली मछुएके हाथसे निकलकर पानीमें भाग जाती
है तब वह भी निराश होकर यही कहता है—जा ! मुझे गुण्य ही होगा । [प्रकट] देवी !
यया महाप्राण प्रायको इतने प्यारे हैं ।

देवी—अरे मूर्ख ! मैं अपने सुखकर बलिदान करके भी धर्मपुत्रको सुखी देखना चाहती
हूँ । इसीसे सप्रभ ते कि वे मुझे प्यारे हैं या नहीं ।

राजा—देवी ! जाहो तो कुछ मुझे किसी दूसरेको दे जाओ या चाहो अपना ही दास
बनाकर रख छोड़ो, पर तुम मुझे अपनेसे जैसा दूर सप्रभ बंटो ही वैसे बात नहीं
है ॥१४॥

देवी—दूर हो या न हो, पर मैंने तो प्रियको प्रसन्न करनेवाला तो प्रसन्न ठाना या वह
पूरा हो कर लिया । धांधो दासको ! चलो चलो । [अन्तः प्रसन्न होती है ।]

राजा—यदि मुझे छोड़कर चलो जाओगी तो सप्रभ तो कि मैं प्रसन्न नहीं हुआ ।

देवी—प्रार्थनम् । मैंने प्रसन्नक कभी अपने अंतका नियम नहीं सोचा है ।

[दासिकोके साथ चली जाती है ।]

चर्वरी—सखी ! राजा अपनी पक्षीको इतना प्यार करते हैं तबपर भी मैं उन परसे
अपना मन हटा नहीं पा रही हूँ ।

चित्रलेखा—किं उरु तुष्टि गिरासाए खिचतीअदि । (किं पुनस्त्यक्ता निराशया निवर्त्यते ।)

राजा—[आसनमुत्तराय] वयस्य न ललु दूर गता देवी ।

विदूषक—भरा धिरसद्ध जं सि वस्तुकामो । अतस्मिन्ने सि वेग्नेण प्रादुरो विप्र सैर मुक्तो भव तत्सहोदोए । (भण विप्रस्य वदसि वस्तुकाम । असाध्य इति वंछेनातुर इव स्वैर मुक्तो भवति-स्त्रप्रभवत्या ।)

राजा—अपि मामोर्वशी ।

उर्वशी—अज्ज किंत्वा भवे । (अज कृतार्थ भवेत् ।)

राजा—

गूढा नूपुरशब्दमात्रमपि मे फान्तं श्रुतौ पातयेत्

पश्चादेस्य शनैः कराम्बुजवृत्ते कुर्वीत वा लोचने ।

हर्म्येऽस्मिन्नवतीर्य साव्यसवशान्मन्दायमाना वलात्

आनीयेत् पदात्पदं चतुरया सख्या ममोपान्तिकम् ॥१५॥

चित्रलेखा—सहि ! उचसि इम दाव सै मलोयह सपरदेहि । (सखि ! उर्वशी इम तावदस्य मनीरय सम्पादय ।)

उर्वशी—[सहाध्यसम्] भोदु ! कीलिसस दाव । (भवतु क्रीडिष्यामि तावत् ।) [इति तिरस्कारणीमपतीव पृष्ठतो गत्या राज्ञो गमने सङ्गृह्णाति ।]

[चित्रलेखा तिरस्कारिणीयपत्नीय विदूषक वशापयति ।]

चित्रलेखा—तो क्या तुम सब निराश होकर लौट जाना चाहती हो ?

राजा—[अपने आसनपर बैठकर] वयस्य ! अभी देवी दूर तो नहीं पहुँची होगी ।

विदूषक—जो कहना हो जी बोलकर कह डालो । जैसे रोगीको असाध्य समझकर बंध उसे छाड़ देता है वैसे ही आपकी जी देवीने यह समझकर छोड़ दिया कि सब भाग सुधार नहीं सकते ।

राजा—क्या अच्छा हो यदि उर्वशी * * * ।

उर्वशी—आज कृतार्थ हो जाय ?

राजा—क्या अच्छा हो यदि उर्वशी इस समय छिपे छिपे आकर अपने विदूषकी मीठी छलन छलन ही सुना लाय या पीछेसे आकर अपने कमरके समान कोमल हृदयेतिमोते मेरी छाँसे बन्द कर ले या इस भवनपर उतरकर यह डरती हुई धीरे धीरे सामने बड़े धीरे उसकी चतुर दाधी खड़े खींचकर मेरे पास पहुँचा दे ॥१६॥

चित्रलेखा—मामो सखी उर्वशी ! अब इनके मनकी हवास पूरा कर दो ।

उर्वशी—[अधोराशो] अच्छा ! पहले मैं इनके कुछ ठिठोसी करती हूँ ।

[मामाजी भोडनी उतारकर पीछेसे पहुँचकर राजाकी छाँसे बंद लेती है ।]

[चित्रलेखा भी मामाकी आवाजी उतारकर विदूषकको सकल करती है कि बग़ावा मत ।]

विदूषक—भो धम्मराज ! कय उरु एसा । (ओ बयस्य ना पुनः एषा ।)

राजा—[स्पर्शं रूपमित्वा] सते ! नारायणोदयभवा सेयं बरोहः ।

विदूषक—बहं भवं प्रलयच्छदि । (कय भवानवगच्छति ।)

राजा—किमत्र भेषम् ।

अङ्गमनङ्गविल्लप्टं सुखयेदन्या न मे करस्पर्शति ।

नोद्धरसिति तपनकिरणैश्चन्द्रस्यैवांशुभिः कुमुदम् ॥१६॥

उर्वशी—[हस्तो मयनीय उत्तिष्ठति । विच्छिन्नपृष्ठस्य] जेषु जेषु महाराजो (जयतु जयतु महाराजः ।)

राजा—सुन्दरि ! स्वागतम् । [हस्तोत्थापन उपवेशयति ।]

विजनेता—ययि मुह वमातस्त । (ययि सुख वयस्वस्य ।)

राजा—नन्देतदुपपन्नम् ।

उर्वशी—हला देवीए दिण्णो महाराजो ! मदो से पणमयवी विम सरीरसंपक्कं गदन्हि । मा वणु म पुरोभाइणि तामपेहि । (हला देव्या दत्तो महाराजः । प्रतोऽस्य प्रलयमतीव शरीर-सम्पर्कं गतास्मि । मा वणु मां पुरोभागिनी समर्पयस्व ।)

विदूषक—बह इह उत्रेव बुग्हाए मयमिदो सुगो । (कय इहैव युवयोस्तमितः सूर्यः ।)

राजा—[उर्वशीमवलोकयन्]

देव्या दत्त इति यदि व्यापारं प्रजति मे शरीरेऽस्मिन् ।

प्रथमं कस्यानुमते चोरितमपि मे त्वया हृदयम् ॥१७॥

विदूषक—क्यों बयस्य । ये गौन हैं ।

राजा—[स्पर्शते महत्कान्ता हुमा] मित्र ! यह वही सुन्दर जाँधीवासी उर्वशी है जो नारायणजी आपसे उत्पन्न हुई है ।

विदूषक—आपने महत्कान कैसे लिया !

राजा—इसमें महत्कानेकी क्या बात है । दूसरी कोई ऐसी स्त्री नहीं है जो मेरे कामन्द्यहित शरीरको अपने हासले सुन्दर गुणी कर दे । पण्डितजी विचारते हैं कि छठनेयामा कुमुद सूर्यकी चिरलपि गही घिसा करता ॥१६॥

उर्वशी—[हाथ हटाकर सटी हो जाती है । कुछ हटकर] अब हो महाराजजी जय हो ।

राजा—स्वागत करता हूँ सुन्दरी ! [अपने ही आसन पर बैठे नेता है ।]

विजनेता—बटिए याव प्रणमता सो है ।

राजा—प्रणमता तो धर्मो-धर्मो हाथ सगी है ।

उर्वशी—दाती ! देखते महाराजजी मेरे हाथ दान दे जाना है इसलिए मैं इनकी विवाहिता रहके पमान हो इनके गटवर बैठे हूँ । मुझ मुझे कुलटा न सम्भ्रम बैठता ।

विदूषक—आप सोच वहाँ खिन्ने हो डटी हुई थी क्या ?

राजा—[उर्वशीकी ओर दृष्टकर] आर तो मुझ यह बटकर मुझने सम्भ्रम जोड़ रही हो कि देवीन मुझ गुरहारे हाथ मोव दिया है, पर यह तो बताया कि मुझने पहले जो मेरा हृदय पुराया था वह बहुत कुछकर पुराया था ॥१७॥

चित्रलेखा—यमस्त शिखरतरा एता । संपद मह विष्णुवत्स सुखी भद्र । (ययम् ! निस्तारा
एषा । सांप्रतं मम विज्ञापना श्रूयताम् ।)

राजा—प्रवर्तितोऽस्मि ।

चित्रलेखा—यसंतास्ततरं चण्डसमम् भगवं सुखो मय उवचरिदव्यो ता जहा हर्षं मे विप्रसही
समस्त ए उषकंटेरि तहा वधस्तेषा कावर्चम् । (वसन्तानन्तरमुष्णसमये मध्वान्तुर्यो मधोपचरि-
सक्यः । तस्येयं मे प्रियसखी स्वर्गवि नोत्कण्ठते तया वयस्येन कर्तव्यम् ।)

विदूषकः—किं वा सागे सुगरिदव्यं । एष वा तद्व प्रहृष्टमिदं एष वा वीरमिदं । केवलं घण्टिनि-
सोहि एषमणोहि मोक्षा विदंनोप्रति । (किं वा स्वर्गे स्मर्तव्यम् । न वा तत्रास्ते न वा वीर्ये ।
केवलमनिमियेनैयनैर्भोगा बिहग्यन्ते ।)

राजा—भद्रे ।

अनिर्देश्यसुखः स्वर्गः कस्तं विस्मारयिष्यति ।

अनन्यनारीसामान्यो दासस्त्वस्याः पुकरवाः ॥१८॥

चित्रलेखा—अणुगहीदमिह । हला उवसि अकारतरा भविम वित्तमोहि मं । (अनुगही-
तास्मि । हला उर्वशी सकातरा भूत्वा वित्तजंय याम् ।)

उर्वशी—[चित्रलेखा परिध्वज्य सषण्णम्] सहि मा वल्लु मं विगुमरेहि । (सखि मा वल्लु
मा विस्मर ।)

चित्रलेखा—[हस्मिन्म] यमस्तेषा संपदर तुमं एव एव मय जाविबन्ना । (यदस्येन
सकृता स्वर्गमेतन्मया याचितव्या ।) [इति राजानं प्रणम्य निष्क्रान्तः ।]

चित्रलेखा—ययस्य ! इत वाठका इनके पास कोई सत्तर नहीं है । अब प्राप मेरी बात
सुनिए ।

राजा—कहिए, मैं सुन रहा हूँ ।

चित्रलेखा—यस्यत बीतनेपर वर्गमे मुझे सूर्यकी सेवा करनी है । इसलिये प्राप इन्हे ऐसा
बाप दलिए कि ये ध्यारी सखी स्वर्ग जानेके लिये पयरा न सठे ।

विदूषक—स्वर्गमे धरा ही क्या है बिसे ये स्मरख करके पयरायेगी । न वहाँ कुछ
खानेकी है न पीनेकी । वहाँके लोग तो बन दिन-रात मत्तकीके समान सश मोल काड़े
बैठे रहते हैं ।

राजा—भद्रे ! स्वर्गमे ऐसे-ऐसे सुख भरे पड़े हैं । उनका वर्णन नहीं हो सकता । इसलिये
इन्हे मुला कौन सकता है, पर मैं इतना ही कह सकता हूँ कि मैं पुकरवा सब स्त्रियोसे मन
हटाकर केवल प्रापकी उल्लेखी हो सेवा करता रहूँगा ॥१८॥

चित्रलेखा—यह तो आपकी कृपा है । सखी उर्वशी । मुझे जो खोसकर बिदा तो दो ।

उर्वशी—[चित्रलेखासे बले वित्तकर कछुलके साथ ।] सखी ! मुझे भूल न जाना ।

चित्रलेखा—[मुसकराकर] अब तुम मित्रके पास पहुँच गई हो इसलिये यदि यह बात
तुमसे मैं कहती तो अधिक ठीक होता ।

[राजाको प्रणाम करके चली जाती है ।]

विदूषक—भो वधरस ! क्या जग ऐसा । (भो वधरस का पुन ऐसा ।)

राजा—[स्वयं रूपयित्वा] सखे ! नारायणोत्तमवा सेय बरोरु ।

विदूषक—कह भव धववच्छति । (कथ भवानवगच्छति ।)

राजा—किमत्र जेयम् ।

अङ्गमनङ्गविलिष्टं सुखयेदन्या न मे करस्पर्शात् ।

नोद्धसिति तपनकिरखैश्चन्द्रस्यैवांशुभिः कुमुदम् ॥१६॥

उर्वशी—[हस्तो अपनीय उत्तिष्ठति । किञ्चिदपसृज्य] जेडु जेडु महाराजो (जयतु जयतु महाराज ।)

राजा—सुहरि ! स्वागतम् । [हत्येकासन उपवेशयति ।]

विजलेसा—कवि मुह वधरसस्त । (अपि मुख वधरसस्य ।)

राजा—मन्वेतपुपवन्मम् ।

उर्वशी—हला देखोए दिभखो महाराजो । खबो से पणमवरो विस खरीरसपक गबन्हि । मा खलु म पुरोभाईण समारोहि । (हला देख्या बत्तो महाराज । पणोअप प्रणमवतीव खरीर-सम्पर्क गतास्मि । मा खलु मा पुरोभागिनी समर्पयस्व ।)

विदूषक—कह इह कजेम पुम्हास भत्वमिबो सुखो । (कथ इहेव सुखयोरस्तमित सूर्य ।)

राजा—[उर्वशीमगच्छोक्तवन्]

देव्या दत्त इति यदि व्यापारं व्रजति मे शरीरेऽस्मिन् ।

प्रथम कस्यानुमते चोरितमपि मे त्वया हृदयम् ॥१७॥

विदूषक—क्यों वधरस ! ये कौन हैं ।

राजा—[स्वयंसे पहचानता हुआ] मित्र ! यह वही सुन्दर जाँघोबाली उर्वशी है जो नारायणकी जाँघसे खरबन हुई है ।

विदूषक—आपने पहचान कैसे किया ।

राजा—इसम पहचानेकी क्या बात है । दूसरी कोई ऐसी स्त्री नहीं है जो मेरे काम-पीड़ित शरीरकी मजसे हावसे झूठर सुखो कर दे । अम्हवाकी किरणोसे जिस उठनेवाला कुमुद सूर्यकी किरणोसे नहीं सिका करता ॥१६॥

उर्वशी—[हाथ हटाकर सबी हो जाती है । कुम्ह हटकर] क्या हो महाराजकी जम हो ।

राजा—स्वागत करता हूँ सुन्दरी ! [अपने ही आग्रह पर बैठ लेता है ।]

विजलेसा—बहिए आप प्रसन्नता तो है ।

राजा—प्रसन्नता तो अभी अभी हाथ सबी है ।

उर्वशी—सखी ! देखीने महाराजको मेरे हाथ दान दे डाला है इसलिये मैं इसकी पिताहिता स्त्रीके समान ही इससे खटकर बैठो हूँ । तुम मुझे कुलटा न समझ बैठना ।

विदूषक—अप सोच यहाँ सींफते हो डटो हुई थी क्या ?

राजा—[उर्वशीनः ओर देखकर] भाव तो तुम यह कहकर मुझसे सम्बन्ध जोड़ रही हो कि देखीने मुझ पुम्हारे हाथ चौप दिया है, पर यह तो बताया कि तुमने पहले जो मेरा हृदय चुराया था यह जिससे पुञ्जर चुराया था ॥१७॥

चित्रलेखा—यमस्व शिष्टतरा एता । संबंद मह विष्णुवत्ता सुणी भवु । (यमस्व ! निरुत्तरा एता । साम्प्रत मम विज्ञापना श्रूयताम् ।)

राधा—भवहितोऽस्मि ।

चित्रलेखा—यसंतापंतर उग्रहसमए भयं सुखो मए उपचरिवन्थो ता अहा इधं मे विघतहो सगस्स ए उपकंठेदि तहा यमस्वेत्थ कावय्यं । (नतन्तानन्तरमुष्णसमये भगवान्मूर्धो मयोपचरि-
त्यव्य । सद्येषं मे त्रियसन्धो स्वर्गाय भोक्तव्यते तथा यमस्येन वतंन्वयम् ।)

विदूषक—किं वा संगो गुप्तरिवन्थं । एव वा सत्तव मण्होषदि एव वा पीमदि । केयलं प्रतिमि-
सेहि एअणोहि मोएसा चित्तवोषति । (किं वा स्वर्गं स्मरंणम् । न वा तत्राप्यते न वा पीयते ।
केवलमनिमिषैर्नयमैर्निना विदग्धवन्ते ।)

राजा—भद्रे !

अनिर्देश्यमुखः स्वर्गः कस्तं विस्मारयिष्यति ।

अनन्यनारीसामान्यो दासस्त्वस्याः पुरुरवाः ॥१८॥

चित्रलेखा—अलुपहोदहि । हता उच्यति अकबररा भविम विसग्नेहि नं । (अनुपहो-
तास्मि । हता उच्यंती अकतरा सूत्रा विसर्जय माम् ।)

उच्यंती—[चित्रलेखा परिष्वज्य सकलम्] सहि मा वलु नं विबुधरेहि । (सति मा वलु
मा विस्मर ।)

चित्रलेखा—[सस्मितम्] यमस्वेत्थ तंयस सुमं एव एव मए जाविहारा । (यमस्येन
सङ्गता स्वर्गमेतन्मया वाचितव्या ।) [इति राजान प्रणम्य निष्क्रान्ता ।]

चित्रलेखा—यमस्व ! इत यात्रका इनके पास कोई उत्तर नहीं है । अब भाप मेरी बात
सुनिए ।

राजा—कहिए, मैं सुन रहा हूँ ।

चित्रलेखा—बसन्त बोटनेपर यममि मुझे सूर्यकी सेवा करनी है । इसलिये भाप इन्हें ऐसा
बाप रखिए कि मैं प्यारी सली स्वर्ग जानेके लिये यबरा न उठों ।

विदूषक—स्वर्गभं धरा ही क्या है जिसे मैं स्मरण करके यबरार्येवी । न वही कुछ
खानेकी है न पीनेकी । वहाँके लोग तो बस दिन-रात मछलीके तबान बरा माँस काँव
बैठे रहते हैं ।

राजा—भद्रे ! स्वर्गमें ऐसे-ऐसे सुख बरे पड़े हैं कि उनका वर्णन नहीं हो सकता । इसलिये
उन्हें भुला जान सकता है, पर मैं इतना ही कह सकता हूँ कि मैं पुरुरवा सब स्त्रियोसे मन
हटाकर केवल भापकी सखीकी ही सेवा करता रहूँगा ॥१८॥

चित्रलेखा—यह तो भापकी कृपा है । सली उच्यंती ! मुझे भी शोसकर बिदा छो दो ।

उच्यंती—[चित्रलेखासे गले मिलकर कण्ठाके साथ ।] सखी ! मुझे भूल न जाना ।

चित्रलेखा—[मुसकराकर] यम तुम मित्रके पास पहुँच गई हो इसलिये यदि यह बात
तुमसे मैं कहती तो अधिक ठीक होता ।

[राजाको प्रणाम करके चली जाती है ।]

विदूषकः—विद्विषा मखोरहसंपोष पदद्वि भवं । (दिष्ट्या मनोरथसम्पत्त्या वधते भवान् ।)

राजा—इयं तावद्विभंगः । पश्य—

सामन्तमौलिमणिरज्जिपादपीठं एकातपत्रमवनेन तथा प्रभुत्वम् ।

अस्याः सखे ! चरणयोरहमद्य कान्तं आज्ञाकरत्वमधिगम्य यथा कृतार्थः ॥१६॥

उर्वशी—एषि मे वाधाविहयो भवो विप्रदरं भवितुं । (नास्ति मे वाग्विमकोशः प्रियतर मन्त्रविभुम् ।)

राजा—[उर्वशी हस्तेनावलम्ब्य] अहा विद्वत्सर्वधन ईक्षितलाभो नाम । यतः॥

पादास्त एव शशिनः सुखयन्ति गात्रं वाणास्त एव मदनस्य मनोनुकूलः ।

संरम्भरूपा मिव सुन्दरि ! यद्यदासीत् त्वस्तङ्गमेन ममतचदिषानुनीतम् ॥२०॥

उर्वशी—प्रवद्वन्निह चिरकारिणा भग्नजलस्त । (मपराद्धास्मि विरकारिकाव्ययुषस्य ।)

राजा—सुन्दरि ! मा संवृष ।

यदेवोपनतं दुःखात्सुखं तद्रसवत्तरम् ।

निर्वाणाय तरुच्छाया सप्तस्य हि विशेषतः ॥२१॥

विदूषकः—भो सेविता पयोत्तरमणीया चरवावा । समग्रो वसु दे वासपरपवेत्तस्त । (भोः सेविता प्रबोदरमणीमाश्चन्द्रपादाः । समयः लघु ते वासवहृप्रवेशस्य ।)

राजा—तेन हि सत्यास्तो मार्गमावेक्ष्य ।

विदूषक—मनोरथ पूरे होमकी मैं भाषको बधाई देता हूँ ।

राजा—यह तो मेरी सबसे बड़ी जीत है । देखो—इसकी धामा पालन करनेमें मैं अपनेको जितना पण्य समझता हूँ उतना मैं सारी गृष्ठीका स्वामी होने तथा अपने घरके पीछेकी सीमान्तके राजाभोके मुटुकी मखियोंसे रँगानेको भी अच्छा नहीं समझता ॥१६॥

उर्वशी—इससे बढ़कर प्यारी बात मुझे सुक ही नहीं रही है ।

राजा—[उर्वशीको हाथसे पकड़कर] जब चाहे तुई वस्तु मिल जाती है तब बिरोधी वस्तुएँ भी अच्छी लगने लगती हैं । क्योंकि चन्द्रमाकी ये ही किरणें भाग्य सुल दे रही हैं और वांमदेवके ये ही बाण भाग्य मन्त्रको भा रहे हैं । हे सुन्दरी ! जो-जो वस्तुएँ शोधभरी या कठोर पान पड़ती थी वे सब तुम्हारे मिलते ही कोमल हो गई हैं ॥२०॥

उर्वशी—मैंने मानेमें इतनी देर परक भाग्यपुत्रका बड़ा अपराध किया है ।

राजा—ऐसी बात न कहो सुन्दरी ! दुखने पीछे जो सुल मिलता है वह बड़ा रसीला होता है । पेड़की छाया उखी मनुष्यको अच्छी लगती है जो धूपमें उपजर पाया हो ॥२१॥

विदूषक—पणिए ! सौमिके चन्द्रमाकी किरणोंका बहुत आनन्द ले चुके । अब भाषके अपन-पर आनेका समय हो गया है ।

राजा—जो अपनी छाया उर्वशीको नहीं ले चको ।

विदूषकः—इदो इदो भयवी । (इत इतो भयवी ।)

[इति सर्वे परिक्रमन्ति ।]

राजा—सुन्दरि ! इयमिदानीं मेऽभ्यर्चना ।

उर्वशी—कोरिती सा (कीदशी सा)

राजा—

अनुपनतमनोरथस्य पूर्वं शतशुणितेव गता मम त्रियामा ।

यदि तु तव समागमे तथैव प्रसरति सुभ्रु ततः कृती भवेयम् ॥२२॥

[इति निष्क्रान्ता सर्वे]

॥ इति द्वितीयोऽङ्कः ॥

विदूषक—इपरसे भाइए देवी । इपरसे ।

[सब घूमते हैं ।]

राजा—सुन्दरी मेरी एक इच्छा है ।

उर्वशी—क्या ?

राजा—यही कि मनोरथ पूरा होनेके पहले, रातें जैसी सोमनी लम्बी जान पड़ती थीं यदि अब तुम्हारे मिल जानेपर भी वैसी ही लम्बी हो जायें तो मैं अपनेको जरा भाग्यवान् समझूँ ॥२२॥

[सब बसे जाते हैं ।]

॥ तीसरा अंक समाप्त ॥

चतुर्थोऽङ्कः

(नेपथ्ये सहज-याचित्रलेखे प्रावेक्षित्यावित्तिका)

पित्रसहिविश्रोत्रविमया सहि सहिआ ज्वाउला समुल्लसड ।

सूरकारफंसविअसिअतामरसे सरवरुच्छने ॥१॥

(प्रियसलोविश्रोत्रविमया सखी सहिता व्याकुला समुल्लसति ।

सूर्यकरस्वर्णपिकसिततामरसे सरोवरोत्सवे ॥)

[तत प्रतिपत्ति विमरस्का चित्रलेखा सहज-या च]

चित्रलेखा—(प्रवेशानन्तर द्विपदिकया दिशोऽन्वेष्य)

सहअरि दुम्पलालिद्धअं सरवरअम्मि सिसिद्धअं ।

याहोवमिअणअणअं तम्मइ हंसीजुअलअं ॥२॥

(सहज-या दुःखालीढ सरोवरे स्निग्धम् ।

वाग्वापवसितमयल ताम्यति हसोद्युजम् ॥)

सहज-या—[चित्रलेखा विनोदय एतेदम्] सहि चित्तेहे ! निताप्रमाराणसदयत्तत्त पिप्र
हे मुहत्त छाया हिप्रस्त अस्तवद सूरवि । ता कहंति मे रिण्वेदवरण । हे समवुस्का
भविदु इच्छामि । (सखि चित्रलेखे ! स्ताप्रमाण ततवत्स्येव ते मुखस्य छाया हृदयस्यास्पृश्यता
सूचयति । तदनय मे निर्बेदकाणम् । ते समदुःखा भवितुमिच्छामि ।)

चौथा अङ्क

(नेपथ्यमें सहज-या तथा चित्रलेखा का प्रवेश सुनिश्चित करनेवाली आक्षेपिका गीति पाई जाती है ।)

[अपनी प्यारी सखीके लिये विछोड़के प्रणयनी धीर बचवाई हुई हथी, बड़ी शालाघके जलमे
अपनी सखीके लिये बैठी रो रही है, जिसके कमल सूर्यकी किरणोंके छूनेसे खिल उठे हैं ॥१॥]

[सहज-याके साथ उदास चित्रलेखाका प्रवेश]

चित्रलेखा—(प्रवेश करके द्विपदिका नामक गीतिके साथ चारों धोर देतकर ।)

[अपनी सखीके दुःखमें बचवाई हुई धीर एक दूसरीकी प्यार करनेवाली दो हसिनियों मालोंके
मांसू बढ़ाते हुए शालाघके तीरपर बैठी सिधक रही हैं ॥२॥]

सहज-या—[चित्रलेखाको देखकर दुःखे साथ] सखी चित्रलेखा ! मुरझाए हुए कमलके
समान उदास तेरा मुँह बठा रहा है कि तेरा जो ठीक नहीं है । तू मुझे अपनी व्याका कारण
तो बता । मैं भी तेरा दुःख बाँट लेता चाहती हूँ ।

विप्रलेखा—[सकरुणम्] सहि ! अन्धरोगारपय्याएख इह भगवदो सुज्जस्त पादसूतोवद्वाणे
यट्टदि ति दसिथं वसु उव्वतोए उव्वत्तवन्दि । (सखि ! अप्पारोगारपय्याएखेह भगवतः सूर्यस्य
पादसूतोपस्थाने वर्तते इति बलवत्कम्बु उर्वरशायुकण्ठितास्मि ।)

सहजम्पा—सहि ! आखे यो अण्णोण्णसिणेहं । तयो तयो । (सखि ! जाने युवमोरग्योन्यस्नेहम् ।
सतस्ततः ।)

विप्रलेखा—तवो इमाई विवसाई को खु वसु वुत्तातो ति पणिपाण्डिवाए माए अज्जाहिदं
उव्वत्तवन्दि । (ततः एतेषु दिग्गतेषु को न वसु वृत्तान्तः इति प्रशिक्षणस्थितया मयास्याहितमुपगम्यम् ।)

सहजम्पा—[सावेगम्] सहि कीरिसें तं । (सखी कीहत्तं तत् ।)

विप्रलेखा—[सकरुणम्] उव्वतो किम् तं रडिसहायं राएति ममज्जेसु सिखेसिवरणमपुदं
नेन्दिह गंयमाएखवणं बिहरिदुं गवा । (उर्वशी कित तं रडिसहायं राजपिपयास्तेषु निवेक्षितराज्यधुरं
पुद्गोश्वा गन्धमादमकनं बिहत्तुं गता ।)

सहजम्पा—[सज्जपम्] ।) तो एख संधोप्रो जो तारिनेसु पवेसेसु । तयो तयो । (त नाम
संधीगो यस्ताहोपुमवेसेषु । नतस्ततः ।)

विप्रलेखा—तहि वसु मंडाएणोए पुनिसेसु गवा तिमवापव्वद केतोहि कीलमाएवा विज्जावर-
दारिमा उव्वत्तवन्दि शाम देखे राएतिएरा सिग्गकाइव ति कुबिदा उव्वतो । (तव खलु मग्धाकिम्याः
पुनिसेसु गता निकतापर्वतकेतोभिः श्रीरघ्वी विद्यावरदारिकोदयवती नाम तेन राजपिपया निध्यातेति
पिता उर्वशी ।)

विप्रलेखा—[दुःखी होकर] सखी ! यहाँ भगवान् सूर्यको सेवाके लिये सब अन्नराशिकी
गरी बंधी हुई है। आज मैं भी अपनी पारीवर आई की धोर इसीतिथे आज उर्वशीको स्मरण
करके मेरा भी बड़ा व्याकुल हो उठा है।

सहजम्पा—सखी, यह तो मैं जानती हूँ कि तुम दोनों एक दूसरेको बड़ा प्यार करती हो ।
हाँ, तब !

विप्रलेखा—यह सोचकर जब मैंने उरका कुलम-समाचार जाननेको व्याम भगाया तो जान
पड़ा कि वह बड़े संकटमें पड़ गई है।

सहजम्पा—[पबराकर] संकट कैसा सखी ?

विप्रलेखा—[कसाई-या होकर] बिहार करनेके लिये उर्वशी गंधमादन पर्वतपर घूमने प्रेमी
राजा पुरुरवाको साथ लेकर गई थी जो राज्याका काम भजियोको सौंपकर उसके साथ गए थे।

सहजम्पा—[प्रशंसा करती हुई] ऐसे सुन्दर प्रदेशमें समीप करना तो सच्चा संभोग कहलाता
है। हाँ, तो फिर क्या हुआ ?

विप्रलेखा—यहाँ जब वह यदाकिनीके सटपर जाकर बालुके टीले बना-बनाकर लेट रही
थी, उस समय वह देखती क्या है कि उदयवती नामकी एक विद्यावरनी कन्याको राजा बंधे
पूर रहे हैं। वह इसी क्षणपर उर्वशी विरह तयो हुई ।

सहजम्—होदर्ब । दूरस्थो बधु पशुप्रो घसहृणो । ततो ततो । (भवितव्यम् । दूरारुढः सन्तु प्रणयोऽसहनः । तत्तत्तत् ।)

चित्रलेखा—ततो सा भट्टिणो अणुलम् अण्डिवज्जमाना गुप्ताय संभूदहिमभाविमुनिवदेव-
दाणिधमा इतिघानलपरिहृतीलज्जं कुमारलं पविट्ठा । पवेसाणंतरे च कलालोवंतर्गतितदा
भावेण परिणतं से क्वम् । (ततः सा भट्टिरनुगमप्रतिपत्तमाना गुप्ताय संभूदहिमभाविमुनिवदेव-
नियमा म्नीजनपट्टिहृतीलं कुमारलं प्रविष्टा । प्रवेदानन्तरं च काननोपान्तवति सत्ताभावेन
परिणतमस्या कम् ।)

सहजम्—[सद्योक्ता] सत्तया एति बिहिलो घर्तपल्लजं लाम । केतु तारितस्त
अणुलमस्त अमं एव एक्ष्वदे अमलारितो पतिरायो संपुतो । अह विमवायो सो राएसी ।
(हर्षया तालि विपेरसङ्गनीयनाम । येन तादृशस्यानुरागस्यायमेवैकपदेऽप्याहयः परिणामः कृतः ।
अथ किमवस्य स राजपिः ।)

चित्रलेखा—सो मि तस्मिं एव काले विप्रदमं विविणलतो अहो-रते अदिवाहेदि ।
[मनोवसोकम्] इतिहा जण शिगुवारं वि जकंकाकारिण मेहोदएण अल्ल्याहोयो हुसिस्तदि ।

[नैपथ्ये चम्पलिका]

सहयारिदुक्खालिद्धं सरवरमंसिसिखिद्धं ।

अविरलवाहजलोल्लसं तम्मइ हंसी-जुअलं ॥३॥

(सौमि तस्मिन्नेव काले प्रियतमा विचिन्त्यन्तहो राजानतिवाहयति । एतेन पुनर्मिद्वंतानामप्यु-
ल्लङ्घाकारिणा मेयोदयेकानवीपीनो भविष्यति ।)

(सहयारीदुःखालोकं सरोवरे स्विगम् ।

अविरलवाहजलोल्लसं तम्मइ हंसी-जुअलम् ॥)

सहजम्—हाँ, यह हो सकता है । क्योंकि जब प्रेम बहुत मजबूत है सब ऐसी बातें सही
मही जाती । हाँ, तब ।

चित्रलेखा—अब मुझे ज्ञापते उसकी बुद्धि ऐसी मारी गई कि राजाकी मनुहारकी उसने
दुकरा भी दिया और कार्तिकेयके नियमका ध्यान छोड़कर वह उस कुमारवतने बैठ ही तो गई
जहाँ विपरीतके जगनेकी रोक थी । वस, ज्योंही वह धुसी त्योंही वह कुमार-वनके बादेपर लता
बन गई ।

सहजम्—[लोकके साथ] सधुगुण शाय किछीको नहीं छोड़ता । बताएँ, कहाँ तो ऐसा
प्रेम और कहाँ उसका ऐसा उल्टा पल । अच्छा, अब उन राजपिपी क्या दता है ?

चित्रलेखा—वे भी उसी वनमें प्यासेकी दिन-रात खोजते हुए अपने दिन बिता रहे हैं ।
[भाकापकी ओर देखकर] सुखी भाँगेके मनमें भी चाह भरनेवाले इन बादलोंको देखकर तो
उनका जी ही टूट गया होगा ।

[नैपथ्ये चम्पलिका नामक गीतके साथ]

[अपनी सलीके दुखमें घबर गई हुई और एक दूसरीको प्यार करनेवाली दो हस्तिनिर्मा आँसोंसे
भाँगू बहाते हुए उदागके तीरपर बैठी सिसक रही हैं ॥३॥]

सहज्या—सहि ! एष मनु सारिता आकितिविसेता बिरं दुखभाइखो होन्ति । तां अयदसं किणि अणुगहसिमितं भुयोनि समानमकारणं हविस्सवि । [प्राची दिशं बिलोपय] तां दहि । उदग्रंमुहस्त भगवदो मुज्जस्त उवट्ठासं करेम्ह ।

[नेपथ्ये खण्डधारा]

चितादुम्मियमाणसिया सहअरिदंसस लालसिया ।

विमसिअ कमलमणोहरए विहरइ हंसी सरवरए ॥४॥

[सति न लक्षु साहसा आकृतिविशेषाद्विर दुःखभागिनो भवन्ति । उदवक्ष्य किमप्यनुपहृदिमिश्रं भूयोऽपि समानमकारणं भविष्यति । सदेहि । उदयोन्मुखस्य भगवत्, सूर्यस्तोपस्थानं कुर्वः ।

चितादूनमानसिवा सहचरोदर्शनसाक्षिका ।

भिक्षितकमलमनोहरे बिहरति हसी सरोवरे ।]

[इति निष्क्रान्ते]

॥ प्रवेशकः ॥

[नेपथ्ये पुष्करजस्य प्रावेशविशेषाद्विचित्रा]

गहयं गहंदशाहो पिअविरहुम्माअपअलिअविआरो ।

विसइ तरुकुसुमकिसलअभूसिअणिअदेहपन्भारो ॥५॥

[गहनं वज्रेव्रणाद्य विद्याविरहोऽवदप्रकटितविकारः ।

विसति तरुकुसुमकिसलवपूयितनिजदेहप्राग्भारः ।]

[सतः प्रविसति भाकासम्बद्धसक्यः उन्मत्तवेपो राजा]

सहज्या—सखी ! ऐसे माध्यवात् पुढर बहुत दिनोतक दुखी नही रहते । इसलिये कोई न कोई ऐसा कारण था ही बावला कि वे दोनों फिर मिल जायेंगे [दूर दिशाकी ओर देखकर] वो सूर्य निकल आए हैं । आओ हम लोग सूर्यकी प्रार्थना करें ।

[नेपथ्यमे खण्डधारावीतिके साथ]

निस्तासे प्रनमनी और अपनी उल्लोसे मिलनेको अंधोर हवी सिसे हुए कमलोसे लुभावने समानेबाते तासाबमें बिहार कर रही हैं ॥४॥

[दोनों जाती हैं]

॥ प्रवेशक ॥

[नेपथ्यमे पुष्करवाके प्रवेशके लिए गीतका गान]

[महं बटा-सा हमने अपनी प्यारीके सिछोहमे पायस होनेके कारण अपने मनकी न्यया प्रकट करता हुआ-आ पेड़ोके फूलों और कोमल पत्तियोंसे अपने बड़े खरीरको सजाता हुआ वनमें चला आ रहा है ॥५॥

[भाकाशकी ओर मुंह उठाए हुए और पावन-जैसा मुख बनाए हुए राजाका प्रवेश ।]

राजा—[सञ्जोधम्] आः दुरात्मन् रक्षः । तिष्ठ तिष्ठ । मे प्रियतमामावाप गच्छसि ।
[विलोक्य] हन्त ! जलसिखरादुत्पन्नमुत्पत्य वारुणंभीममिषवंति ।

(नेपथ्ये)

हिअआहिअपिअदुक्खओ सरवरण धुदपवस्सओ ।
वाहोवग्गिअणअणओ तम्मइ हंसजुआणओ ॥६॥

(हृदयसिखरादुत्पन्नमुत्पत्य वारुणंभीममिषवंति ।)

(वाल्मीकिप्रियतमोः सरोवरं प्रपद्यते ।)

[लोष्ठं गृहीत्वा हन्तुं चाकूतं विभाव्य सकलणम्]

कथम् —

नवजलधरः सैनद्वोर्ष्यं न दत्तनिशाचरः सुरधनुरिदं दुराकृष्टं न नाम शरासनम् ।
अयमपिपदुर्धारासारो न बाणपरं परा कनकनिकपस्तिग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥७॥

(नेपथ्ये)

मई नाशिअँ मिअलोअणी, गिसअरु कोइ हरेइ ।
जाव एण एवउडसामलि, धराइरु बरिसेइ ॥८॥

(भयात् शतं मृगमोचनां निशाचरः कोऽपि हुरति ।)

(वाक्यं नव लक्ष्मणपाणसो पारावर्यो वर्धति ॥)

[विचिन्त्य सकलणम्] वयं नु सख्यं वा सम्भोक्तव्यं वा ।

राजा—[सञ्जोधम्] अरे, सदा रह दुष्ट राक्षस ! कदा रह ! तू मेरी प्रियतमाको लिए पला जा रहा है ? [देखकर] अरे ! यह पहाडकी चोटीके पाकाबने लड़कर मुझपर बाण बरसाने लगा ।

(नेपथ्यमें)

[यह जवान इस अपनी प्यारीके बिलोहमे पक्ष फटफड़ाता हुआ बाँसोमे भाँसू अरे तालाबने बैठा क्षिप्त रह रहा है ॥६॥]

[एक बेला भेकर मारने दौड़ता है, पर फिर ठीक समयकर कछुआके साथ ।] अरे, यह तो अभी-अभी घरानेवाला बादल है, राक्षस नहीं । इसमे यह सिखा हुआ दग्धधनुष है, राक्षसका धनुष नहीं । और ये जो टप-टप बरस रहे हैं ये बाण नहीं हैं, बूँदे हैं और यह जो कसौटी पर बनी हुई सोनेकी रेशाके समान चमक रही है, यह भी मेरी प्रिया सर्वशी नहीं है, बिजली है ॥७॥

(नेपथ्यमें)

मैंने समझा था कि मृगके समान बाँसोवाली मेरी प्यारीको कोई राक्षस हरकर लिए पला जा रहा है, पर यहाँ केवल दिवलीकी चमकता हुआ वाता बादल पानी बरसा रहा है ॥८॥

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति ।

स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्मावर्द्धमस्या मनः ।

तां हर्तुं विबुधद्वियोऽयि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनी

सा चात्यन्तमदर्शनं नयनयोयतिति कोऽयं विधिः ॥६॥

[दति दिशोऽवलोक्य यतिस्वात्मम् ॥] भये ! परावृत्तभाग्येयानां दुःखं दुःखानुबन्धि । कुतः ।—

अयमेकपदे तथा वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।

नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥१०॥

जलहर संहर एह कोपहं आहचञ्चो

अविरलधारासारदिसामुहकंतओ ।

ए मई पुहपिं भमंतो जइ पिअँ पेबिसमि

तण्णे जं लु करीहिसि तं तु सहीहिमि ॥११॥

(जलपर सहर्तं कोपमाजतः अविरलधारासारदिसामुहकागतः ।

ए मह पृथ्वीं भ्रमन्वापि प्रिया प्रेक्षे तदा यद्यत्करिष्यसि तत्परमहिष्ये ॥)

[विहृत्य] सुखं लब्धुं मया मनसः परित्यागवृत्तिरवश्यते । यया सुमयोऽपि व्याहुरग्नि—

राजा कालस्य कारणमिति । तत्किमहं जलदत्तमयं न प्रत्याविजानि ।

गंधुभमाइअ

महुअरगीएहिं

पज्जंतेहिं परहुअ तरेहिं ।

पसरिअपधसुखेतिअपन्तवणिअरु

सुललिअगिविहपथारेहिं एणइ कण्ठअरु ॥१२॥

(गंधोन्मादितममुकरणीतः,

कोष्ठमानः परभृतत्वं)

[दुःखसे सोचकार] यह केलेके समान जाँबीवाली सुन्दरी कहाँ गई होगी ? कही यह जोधमें पाकर अपने बँबी प्रभावसे छिप न गई हो पर यात्रातक उसने इतनी देर कमी नहीं की या कही यह स्वयं ही न चली गई हो । पर यह हो नहीं सकता क्योंकि वह मुझे तो जी-जानसे प्यार करती है । देवताओंके शत्रु राक्षस भी उसे मेरे सामने से हटकर नहीं ले जा सकते, फिर भी मुझे यह कही दिलाई नहीं दे रही है । यह कैसा दुर्गम्य है ॥६॥ [चारो घोर देखकर लगी सौहंकर] अरे ! पूछे मायावालीके लिये तो आपत्ति पर आपत्ति भाषा ही करती है । क्योंकि—कही एक घोर तो प्रियाका ऐसा विछोह जो सहा नहीं जा रहा है और कहाँ दूसरे घोर ऐसा सुहावना दिन जो बाइलोंके उठनेसे और धूपके छिप जानेसे और भी सुहावना हो गया है ॥१०॥

[लगातार बरसनेसे चारो घोर फँसे हुए हे बादल ! इस समय तुम मेरे कटुवेष्ट अपना क्रोध रोक तो । पृथ्वीपर घूमकर जब मैं अपनी प्रियाको या जाऊँ तब तुम जो-जो करोवे वह मैं छिर-गरे लेकर सहंगा ॥११॥] [हँसकर] मैं अकारण हो कर अपने मनकी पीडाको यों ही बड़ा रहा हूँ । क्योंकि मुनि लोग भी कहते हैं कि राजा जैसा समय चाहे, वैसा समय आ सकता है, तो मैं इस पराँके समयको ही क्यों न आया दूँ ।

प्रभूतपवनोद्वेगिततपस्तवनिकर ।

गुलसितविविधप्रकारं नृत्यति वरूपतरु ॥ १)

अथवा न प्रत्यादिशामि जलदसर्पं यत्प्राप्तुष्वेषरेव सिद्धं मेमं राजोपचारः सम्प्रति ।
कथयिष्ये—

विद्युल्लेखा कनकरुचिरं श्रीवितानं ममाग्रं

व्याधूयन्ते निचुलतरुभिर्मञ्जरीचामराणि ।

धर्मच्छेदात्पटुतरगिरो वन्दिनो नीलकण्ठाः

धाराहारोपनयनपरा नैगमाः सानुमन्ताः ॥१३॥

भवतु । किमेवं परिषद्यदस्तामसा । यावदस्मिन्काले तां प्रियामग्नैषयामि ।

(नेपथ्ये)

द्विद्वारद्विद्वो अद्विद्वं दुहित्री विरहाणुगधो परिमथरधो ।

गिरिकाशरणं कुसुगुञ्जलं गजजूहवर्षं बहुभीषणम् ॥१४॥

(द्विद्वारद्विद्वोऽधिकं दुःखितो विरहनुवतः परिमथरः ।

गिरिकाले कुसुमोज्ज्वलं गजपूयपतिर्बहुभीषणगतिः ॥)

[परिक्रम्यावलोकय च] हस्तं हस्तं ! व्यवसितस्य मे संवीक्यमिव संवृत्तम् । कुतः—

आरक्तराजिभिरियं कुसुमैर्नवकन्दलीसलिलमभैः ।

कोपादन्तर्भाष्ये स्मरयति मां लोचने तस्याः ॥१५॥

इतो गतेति कथं नु तत्रभवती मया सूचयितव्या । यतः—

[सुगमसे क्लृप्तनेवाले भीरीके घामके साथ-साथ भीर कोयलकी बोलीमे बगनेवाली बसिमोकी
अनिले गूँजे हुए पवनसे जिस कल्पवृक्षके कोमल पत्ते हिल रहे हैं, वह देखो कौसी झुन्वरकाये
भनेक प्रकारके हाव-भावके साथ साथ रहा है ॥१२॥] पर इस वर्षके समयको कहना ही व्यर्थ
है, क्योंकि वर्षाकालके जो चिल्ला दिलाई दे रहे हैं, उन्हींके कारण तो मैं आज भी राजाके समान
रोमा दे रहा हूँ । क्योंकि देखो—बिजलीके सोनेसे बना हुआ यह बादल ही मेरा छत्र है ।
निचुलके पेड़ मेरे ऊपर अपनी मञ्जरीयोके चँबर डुबा रहे हैं । यही समाप्त हो जानेके कारण
मगुर गान बधनेवाले ये भीर भाठोंका काम कर रहे हैं और भरनोके मोती भेंट करती हुई ये
पहाड़ियाँ ही मेरी प्रजा हैं ॥१३॥ अन्ध्रा, जानि दो, अपने आठ-बादकी बहाई करनेके लाल हो
का । चलो इसी बगमे प्रियाको खोजूँ ।

[नेपथ्यमे]

[प्यारीके विद्वदने धलान्त दुखी होनेमे यह हाथी फूँसते उत्रते इस पहाड़ीमे जीरे-धीरे
सूम रहा है ॥१४॥]

[भूभर और देववर] हाय ! हाय ! उगे दूँकुने-दूँकुते मेरी पीड़ाको और भी बढ़ानेवाला
यह भीर डगर जिस गया । क्योंकि इस नये बन्दलाने पेड़के जल भरे लाल फूलोंको
देवर मुझे उल्टीके उन नेबोवा स्मरण हो आया जो लोचने लाल हो गए थे और
जिनमे माँस धन्य आए थे ॥१५॥ फिर, यह मुझे जैसे जान पड़ेगा कि यह बिघरते

पद्मपा स्पृशेदसुमतीं यदि सा सुगात्री मेधाभिवृष्टसिकतासु वनस्थलीषु ।
पथान्नता गुरुनितम्बतपा ततोऽस्याः द्रयेत् चारुपदपङ्क्तिरलक्षकाङ्क्षा ॥१६॥

[परिक्रम्य] वनोन्मत्तं च सहपम् । उपसङ्गमुपतप्तं येन तस्या कोपनाया भाषां अनुमीयते ।

हृतोष्ठरागैर्नयनोदबिन्दुभिः निमग्ननाभेर्निपतङ्गिरद्वितम् ।

च्युतं रुपाभिन्नगतेरसंशयं शुकोदरस्याभभिदं स्तनाशुकम् ॥१७॥

भवतु । आधारे सायम् । [पङ्क्तिम्ब विभाव्य च साक्षम्] कथं सेन्द्रगोप नयनाद्वलमिदम् ।
शुतो गु ललु निजंते घने प्रिया प्रयुत्तिरवयवमित्तया । [विलिख्य दृष्ट्वा] अवे । भयभासारोक्त्वा प्र-
सितशैलेपस्थलीपायासुमाहृद —

आलोकयति पयादान्प्रबलपुरोरातवाडितशिखण्डः ।

कैला गमैश्च शिखी दूरोन्नमितेन कण्ठेन ॥१८॥

[उपेत्य] भवतु । यावदेन वृत्तानि ।

(नेपथ्ये)

संपन्नविभूतयश्चो तुरिअं परवारण्यो ।

पिथश्चम-दंसण-लालसधो गमवरु मिन्दिअ-माणसओ ॥१९॥

गई है । यदि वह सुन्दरी वर्षाति लीगी हुई बालुवाले इस वनकी परतीपर नमती तो महावरसे
रंगे हुए उसके सुन्दर पैरोंकी ऐसी छाँटें दूरतक घबराई देती जो उसके नितम्बोंके भारी
होनेके कारण ऐसीकी मोर गहरी होती ॥१६॥ इधर उधर भूमकर हर्षके साथ] मुझे कुछ कुछ
तो ऐसे बिह्वल मिल रहे हैं [जिससे मे कुछ कुछ अनुमान लगा सकता हूँ कि वह क्रोधित ऐसी
किधरसे गई हैं—पणकि मुझेके घट जैसे हरे रववाली उसकी चोली पहनी है जिसपर उसके
मोमोंसे धुलकर छोड़ते गिरे हुए सात रंगका बुंदकियाँ विलाई दे रही हैं और जो कोमल
हृदयहीसे चलनेके बागए सितवकर नीचे गिर गई होगी ॥१७॥ अच्छा, तो मैं इसे उठा लेता
हूँ । [भूमर उठे देकर रोता हुआ] अरे ! यह तो हरी शावर पर औरकृष्टियों कैली हुई हैं ।
अब इस सुनसान वनमें प्यारीका ठिकाना कहाँसे पसेगा । [मोरको देखकर] अरे ! पणकि भाप
छोड़नेवाली चट्टानपर बैठे हुआ और सामनेके प्रचण्ड पवनसे छितराती हुई कर्तगोशामा यह
मोर अपनी ग्रीवा ऊँचे उठाकर कों कों करता हुआ बादलोंको देख रहा है ॥१८॥ [पाठ जाकर] मञ्जरा,
धर्म दूरीसे प्रह्वं ।

(नेपथ्यमें)

[दृष्टे मरा हुआ अपनी प्रियतमाको देखनेके लिये अधीर मोर अपने चतुको पद्मा देनेवाला
यह बड़ा-सा हाथी मतने चबराया हुआ सा बड़े देगले चला जा रहा है ॥१९॥]

(सम्प्राप्तवित्पूरणं स्वरितं परिवारणः ।
प्रियतमगदर्शनसातसौ गजवरो विस्मृतपावसः ॥)
[अञ्जलिं बद्ध्वा]

बंदिश पई इअ अञ्जलिअम्मि ओयक्खदि मं ता
एत्थ वणे मम्मंते जइ पई दिट्ठी सा महु कंता ।
णिस्सम्महि भियंकरिस्सवअणा हंसगई

ए चिरहे जाणीदिसि आअक्खिउ तुज्झ मई ॥२०॥
(बंदिश) स्वाभित्यम्भये आचक्ष्व मे त्व
मय वने भयता यदि त्वया-दृष्टा सा मम कान्ता ।
निशामय मृगाकूसहस्रवना हसगति.
धनेन बिल्लेभ शास्वस्याख्यातं तव मया ॥)

नीलकण्ठ ममोत्कण्ठा वनेऽस्मिन्वनिता त्वया ।
दीर्घापाङ्गा सितापाङ्ग दृष्टा दृष्टिन्मया भवेत् ॥२१॥

[विश्लोक्य] कदमहर्षय प्रतियचनं नातुं प्रवृत्तः । किं नु त्वत्तु हर्षकारणमस्य । [मिचिन्द्य]
तां तातम्—

मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशात् ।
घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽस्य जातः ।
रतिविगलितवन्धे केशपाशे सुकेश्याः ।
सति कुसुमसनाये कं हरेदेष वही ॥२२॥

मयतु । परध्मस्तु निवृत्तं न कस्य एनं पुन्यामि । [परिहृम्यावलोक्य च] मये इयमातपात्त
संप्रकृतमहा जम्बूविटपभाषास्ते परभूता विदुःकृतेषु पण्डिता वतिरेवा । यावदेनामन्मये ।

[हाथ जोड़ते हुए] [घरे मोर । मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि यदि भूमते-फिरते तुमने मेरी
खोज हुई प्यारी बही देखी हो तो मुझे बता दो । सुनो ! उसका बूँद बाग़माके समान है मोर
जसकी बात हुई जैसी है । वह, मैं जो बिहू तुम्हें बता रहा हूँ उसनेते हो तुम उसे पहचान
सोगे ॥२०॥]

उसने मोनोंकी बसोबास मोर ! क्या तुमने मेरी उस प्रियतमाको इस घनमें देखा है
जिसकी धाँसे बही-बही है, जिसके लिए मैं व्याकुल हूँ मोर जो ऐसी सुन्दर है ॥ वस,
उसे देखते ही बनता है ॥२१॥ [बेसकर] क्या, बिना उत्तर दिए हो यह ताचने लग
गया । यह इतना मगन क्यों हो रहा है ? [खोजकर] हाँ समझ गया—मेरी प्रियाके
सो जानेके इसके मन्द-मन्द पवनसे दिनराए बादलोंके समान सुन्दर पक्षोंको सजानेवाला
मात्र कोई नहीं रह गया है । मात्र यदि यह सुन्दर बासोबासी होती, जिसके छुले हुए
बासोंमें पूरा भूँदे हुए होते तो उसने घाँसे इस मोरकी घोषाको पूछता कौन ॥२२॥
मग्या ! दूसरीके कुच-मुचपर प्यान न देनेवाले इस मोरके धन मैं बात नहीं करूँगा ।
[पूणकर मोर देखाकर] घरे ! यह क्यों चीतनेते मतवाला कोयल जामुनकी दासापर

(नेपथ्ये)

विजम्भरसंकाणखलीखयो दुक्खविखिग्गथवाहुप्पीडओ ।
दुरो सारिअ हिअ आखंदओ अंवरमाणे ममइ गइंदओ ॥२३॥

(विद्याधरकाननलीनो हु छविनिबंतवाणोत्पीठः ।

दुरोस्तारितहृदयानन्दोऽन्वरमानेन भ्रमति गजेन्द्र ।)

[इति नतिरवा वनन्तिकयोपसृत्य जानुभ्यां च स्थित्वा] हेले हेले ।

परहुअ महुरपलाविखि कंती खंदणवणा सच्छंद भमंती ।

जइ पई पिअथम सा महु दिट्ठी ता आअक्खहि महु परपुट्ठी ॥२४॥

(परभृते ! मधुरप्रलापिनि कांते मन्दन वने स्वच्छन्द भ्रमन्ती ।

यदि त्वया प्रियतमा सा मम दृष्टा तर्ह्यपिह मे परपुष्टे ।)

भ्रमति ।

तवा कामिनो मदनदृतिमुदाहरन्ति मानावभङ्गनिपुणं त्वममोघमस्त्रम् ।

तामानय प्रियतमां मम वा समीपं मां वा नयाशु कलमापिखि यत्र कान्ता ॥२५॥

किमाह भवती । कथं त्वामेवमनुरक्तं विहायगता इति [भ्रमतीऽवलोच्य] भ्रूणेतु भवती ।

कुपिता न तु कोपकारणं सकृदप्यास्मगतं स्मराम्यहम् ।

प्रभुता रमणेषु योषितां नहि भावस्त्रलितान्यपेक्षते ॥२६॥

[सप्तभ्रममुपविश्य अन्तर जानुभ्यां स्थित्वा कुपिता इति पुनः पठित्वा उरया विलीन्य च ।]

कथं कथाविच्छेदकारिणी स्वकार्यं एव व्यासक्तः ।

बैठी हुई है । पक्षिणीने कोयल ही सबसे चतुर समझी जाती है । बसूँ, इसीसे पूछूँ ।

(नेपथ्यमे)

[विद्याधरोके वनमे छिपा हुआ, दुःखसे भाँसू बहाता हुआ और हृदयका आनन्द खोकर

पह गड़ा-सा हाथी बादलके समान घूम रहा है ॥२३॥

[वसन्तिका रागके साथ नाचता हुआ प्राये बढकर घुटने टेककर]

[धरे रे रे । मीठा-मीठा कुकनेवाली सुन्दर कोयल ! यदि इस मन्दन-वनमे मतचाहे

वैगसे उल्टे-फुडकते हुए तुमने कहीं मेरी प्रिया देखी हो तो बता दो ॥२४॥

देखो ! कामी लोग तुम्हें मदनकी दूती बताते हैं और यानिची प्रियोका कृता कर

कारनेके लिये तुम भ्रूक हडियार समझी जाती हो । इसलिये या तो मेरी प्रियतमाको मेरे

पास ही ले मामो या फिर हे मित्रबोली ! तू मसुके ही उसके पास भटपट ले जाकर पहुँचा

दो ॥२५॥ क्या कहा तुमने ? कि तुम्हारे इतना ध्यान करनेपर भी वह तुम्हे छोड़कर क्यों

चली गई ? [भाग्य देखकर] सुनो ! तुमके एक भी बात ऐसी स्मरण नहीं आती जिसपर कठ-

कर यह गई । देखो ! जियाँ तो वैसे ही अपने पतियोपर ध्यान जमाए रहती हैं,

इतलिये यह आवश्यक नहीं कि पति कोई अपराध हो करे तभी वे क्रोध करें ॥२६॥ [मट

बैठकर फिर घुटने टेककर ऊपरवाली बात फिरसे कहता है, फिर उठकर देखाता हुआ] यह

भयवा ।

महदपि परदुःखं शीतलं सम्यग्माहुः प्रणयमगणयित्वा यन्ममापद्गतस्य ।

अधरमिव मदान्धा पातुमेपा प्रवृत्ता फलमभिमुखपाकं राज्ञश्चन्द्रमस्य ॥२७॥

एवंगतेऽपि प्रियेव मे मञ्जुस्त्वनेति न मे कोपोऽस्याम् । सुखमास्तां भवती । इतो वर्षं
साययामस्तावत् [परिक्रम्य भयं दत्वा ।] अये दक्षिणेन वनधारां प्रियाचरन्निक्षेपशो
मृपुररकः श्रूयते पापदेनमनुगच्छामि [परिक्रम्य]

(नेपथ्ये)

पित्र्यग्रमविरहकिलामिग्रयग्रश्रो अविरलबाहजलाउल्लसग्रश्रो ।

दूतहृदयखविमं तुलगमग्रश्रो पसरिग्रउरुतावदिग्रियग्रश्रो ।

आहेअं हुम्मिग्र-माणसग्रो काण्णं भमइ गइदग्रो ॥२८॥

(प्रियतमा विरहलाग्णवदनोऽविरलबाष्पजलाकुलनयनः ।

दुःसहं दुःखविसृज्युल्लसयनं प्रवृत्तमुस्तापदीप्ताङ्गः ।

प्रपिक्तं ह्रनमानसः कान्ते भवति गजेन्द्रः ॥)

[मनस्ये हि परिचया दितोऽवलोक्य]

(नेपथ्ये)

पित्रकरिणी-विच्छोइग्रश्रो गुरुमोआणल-दीविग्रश्रो ।

बाहजलाउल्लसग्रश्रो करिग्र भमइ समाउल्लग्रो ॥२९॥

बया ! मेरी बात पूरी होनेसे पहले ही यह अपने घरमे लग गई । दूसरेका दुःख कितना भी कष्ट हो, पर लोग उसे बम हो समझते हैं । हमलिये मुक्त विपत्तिके मारेकी बात मनमुनी नरके यह बोधत वही हुई फेरता जापुर्बोका रस पीनेसे उसी प्रकार घाँस मूदकर लगी हुई है, जैसे कोई मतझल्ला अपनी प्यारीके ओठोका रस पीने लग रहा हो ॥२७॥ पर तब कुछ होनेपर भी यह गाती है मेरी प्यारी के समान हो, इसलिये मैं इसपर लोभ नहीं करता । तुम बँटी रहो मुझसे । हम ही यहसि जले जाते हैं । [पूजकर चुनता हूँ] भरे ! इस वनके दक्षिण ओ ओरसे प्यारीके बिजुझोँडी-सी झल-झल सुनाई दे रही है । चलो वधर ही बमकर देखूँ । [चुनता है ।]

(नेपथ्यमे)

[प्यारीने बिछोहसे बड़ा दुःख, नयनोक्ति प्रामुख्योकी धारा बहाता हुआ, नये अपार दुःखके कारण नर रसकर बलनेवाला ओर भरवत्त पोरुसे जलते हुए शरीरवाला यह दुखी हापी वनमें दधर-उधर घूम रहा है ॥२८॥

(नेपथ्यमे)

[दो वन चलकर चारों ओर देखता है ।]

[अपनी प्यारी हृदिनीने बिछोहकी भयंकर धारसे जलता हुआ ओर रोता हुआ यह हापी व्याकुल होकर घूम रहा है ॥२९॥

(प्रियकरिणीविपुलतो गुरुतोकाननदीप्तः ।

वाप्य-नलानुल-लोचनः कस्मिन् रो भ्रमति समकुलः ॥)

[सकण्ठम्] हा पिण्ड फट्टम् ।

मेघरयामा दिशो दृष्ट्वा मानसोत्सुकचेतसाम् ।

कूजितं राजहंसानां नेदं नू पुरशिञ्जितम् ॥३०॥

भवतु । पावदेते मानसोत्सुकाः कस्मिन्निष्ठः तत्सोऽस्मान्गोत्पतन्ति तावदेतेभ्यः प्रियाप्रपुत्ति-
रपगमयितव्या । [उपसृत्य] भो ! भो ! जलमिहकुम्भराज ।

पद्मात्सरः प्रतिगमिष्यसि मानसं तत् पाथेयमुत्सृज्य विसं ग्रहणाय भूयः ।

मां तावदुद्धर शुचो दयिताप्रपृष्ट्या स्वार्थात्सर्ता गुरुतरा प्रणयिक्रियैव ॥३१॥

अये । मधोन्मुखे ! मितोक्मति यथा मानसोत्सुकेन मया न लक्षितेत्येवं वचनमाह ।

रे रे हंसा किं गोदञ्जद गदमणुसारं मई लम्बिखञ्जद ।

कई पई सिक्खित ए गद लालस सा पई दिट्ठी जहखभरालस ॥३२॥

(१ ! १ ! हंस किं गोप्यते गणनुसारेण मया लक्षिते ।

केन तव शिशिता एषा गतिर्नालसा सा त्वया दृष्टा जपनभरालसा ॥)

यदि हंस गता न ते नतभ्रूः सरसो रोषसि दर्शनं प्रिया मे ।

मदसेलपदं कथं नु तस्याः सकलं चौर भवं त्वया गृहीतम् ॥३३॥

मतश्च [इति मञ्जनि यद्वा]

[दुःखके साथ] हाय, हाय । कंठे दुःखकी बात है कि जिते मैं अपनी प्यारीके दिपुषीकी भूल कम समझ रहा था यह उस राजहंसीकी शुक है जो उठे हुए बादलोंकी प्रीतिपारी देखकर मानसरोवर जानेकी उतावले हो रहे हैं ॥३०॥ अच्छा, जबतक ये मानसरोवर जाने की उतावले पक्षी उड़ते नहीं, उससे पहले ही मैं इससे अपनी प्यारीका ठिकाना पूछकर देखता हूँ । [पाए जाकर] हे जल-पट्टाखन ! तुम मानसरोवर पीछे जाना और यह जो सबलके सिधे तुमने कमलनालें ठोड़ ली हैं, इन्हें सभी छोड़ दो, फिर ले लेना । पहले तुम मुझे मेरी प्यारीका समाचार देकर मेरा उद्धार करो, क्योंकि सज्जन लोग अपने मित्रोको खड़ाबस्ता देना अपने स्वार्थसे बढ़कर समझते हैं । ॥३१॥ धरे ! यह तो केवल अपनी नीच ऊपर उठाए, कुकुर-भुकर देल रहा है मानो कह रहा हो कि मानसरोवर जानेकी उतावलीमे मैंने उसे देखा ही नहीं ।

[धरे हाय ! तुम क्षिप्य गया रहे हो । तुम्हारी चालसे ही मैं सब कुछ समझ गया । यतामो यह सुन्दर जान तुमने सीखी कहीं से ? तुमने उस प्यारीको अवश्य ही देखा है जो नितम्बोके भारसे धीरे-धीरे चलती है ॥३२॥]

यदि तने उस बाँकी बिलचनवासी सुन्दरीको इस सरोवरके तीरपर नहीं देखा, तो क्या रे चोर ! तेने उसकी यह मदसे दृढताकी फननेवासी सुन्दर जान कहीं से पा की ॥३३॥ इसलिये [हाय जोड़कर] हे हंस ! मेरी जिस प्यारीकी चान तुमने चुरा ली है,

हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिरस्यास्त्वया हता ।
विभावर्तकदेशेन देयं यदभियुज्यते ॥३४॥

[विहस्य] एष क्षीरानुजासौ राजेति भयादुत्पत्तिः । यावदन्यमवकाशमवगाहिष्ये ।
[परिक्रम्यावलोक्य च] अयमिदानीं प्रियासहस्यप्रकवाक । तावदेवं पृच्छामि ।

(नेपथ्ये)

मंमररणित्रमस्योहरण कुसुमिअतरुवरपल्लवण ।
ददामाविरहुम्माइअथो काण्ण अमइ गइंदओ ॥३५॥

(मंमररणित्रमस्योहरे कुसुमिअतरुवरपल्लवे ।
दत्तिता विरहोन्मादितः कानने अमति पक्षेष्टः ॥)

गोरोअणा-कुसुमवरणा अफा मणइ मइ ।
महुवासर-फीलंती घणिआ ए दिड्डी पई ॥३६॥

(गोरोचनाकुसुमवर्णा अफा भण माय ।
महुवासरे श्रीहन्ती यस्या न दृष्टा त्वया ॥)

रथाङ्गनामन् विद्युतो रथाङ्गश्रोणियिम्बया ।
अयं त्वां पृच्छति रथी मनोरथशतैर्वृतः ॥३७॥

वर्ण कः क इत्याह माय । आ तावत् । न कसु विद्युतोऽहमस्य ।

उसे मुझे लोटा हो । क्योंकि यदि धोरके पास धोरीका घोड़ा हो नात मिले तो उसे पूरा नात देना ही पड़ता है ॥३४॥ [ईनकर] यह देखो, इसने सज्जन लिया न कि मैं धोरोंको दण्ड देनेवाला राजा हूँ । यह इसी तरह उठ भागा । चलो, कहीं धोर लोखूँ । [धूमकर धोर दलकर] यहाँ यह पकवा अपनी ध्यारोके साथ बैठा है, चलो इसीसे पूछूँ ।

(नेपथ्यमें)

[पत्नीकी मधुर सहसदादृष्टसे भरे धोर फूँसे सदे हुए कृष्णके पत्नीवाले इस वनमें यह ध्यारी के विशेषसे पागल बढा-मा हाथी दपर-उपर घूम रहा है ॥३५॥ गोरोचन धोर केशरके रगवाले हैं पकये । बढाओ, वही तुमने नसन्तके दिनोंमें खेलती हुई मेरी शौभाग्यवती स्त्री देखी है ॥३६॥]

हैं पकये । धोरके समान बढे-बढे नितम्बोंवाली ध्यारीसे बिटुडा हुआ मनमे सेकड़ो मनोरथ लिए हुए मैं महारथी तुमसे पूछता हूँ । ॥३७॥ क्या यह मुझसे पूछ रहा है— कौन है ? कौन है, क्या रहने वा ? क्या यह मुझे जानता नहीं है ? सूर्य धोर चन्द्रमा

सूर्याधिन्द्रमसौ यस्त मातामहपितामहौ ।

स्वयं वृतः पतिर्द्धाम्यामुर्वश्या च शुवा च यः ॥३८॥

अर्थं सुखी स्थितः । भवतु । उपालभे तावदेवम् ।

सरसि नलिनीपत्रेणापि त्वमावृतविग्रहाम्

ननु सहचरीं दूरे मत्वा विरौपि समुत्सुकः ।

इति च भवतो जाया स्नेहात्पृथक्स्थितिभीरुता

मपि च विधुरे भावः कान्ताप्रवृत्तिपराङ्मुखः ॥३९॥

सर्वथा मदीयानां भाग्यपेयानां विषयवैख प्रभावप्रकाशः । यावदायमपकाशमवगाहिष्ये ।

[पदाक्षरैः स्मरत्वा] भवतु न तावद्व्यज्जामि । [परिक्रम्यावलोकाय च]

इदं रुणद्धि मां पद्ममन्तःकृजितपट्पदम् ।

मया दष्टाधरं तस्याः ससीत्कारमिवाननम् ॥४०॥

भवतु । इतो गतस्य मैत्रुणादौ मा सुखित्पदिमन्तपि कमललेखिनि भयुकरे प्रणवित्यं करिष्ये ।

(नेपथ्ये)

एकक्रमवद्धिदमगुरुअरपेम्मरसे ।

सरे हंसजुआणओकीलइ कामरसे ॥४१॥

[एकक्रमवद्धितगुह्यरूपेपरतेन ।

सरसि हंसमुवा श्रीदति कामरसेन ॥]

जिसके माता और दादा हैं और जिसे सबसेही और घरलीने अपने भाव अपना स्वामी बना लिया है, मैं वही पुनरुवा हूँ ॥३८॥ क्यों ? कुछ क्यों हो गए ? अच्छी बात है, मैं इसे खाँदता हूँ न । जब तासाओने तुम्हारी प्यारी चकवी कमलके पत्तीकी छोटमे भी हो जाती है, तब तुम उसे दूर गई समझकर धरकर निस्ताने लगते हो । अपनी प्यारीसे तो तुम इतना प्रेम करते हो कि इतना बिछोह भी तुमसे रहा नहीं जाता और फिर भी अपनी छँठ तो देखो कि तुम प्यारीसे बिछुडे हुएसे तुम बात करनेकी भी तैयार नहीं हो ॥३९॥

मेरा भाग्य ही ऐसा है कि सब कही मुझे खलवा ही फल मिल रहा है । वसूँ, कही और चतकर दूँ [कुछ चतकर कककर] अच्छा मैं अभी नहीं जाऊँ [धूमकर और रेतकर] यह भीरोंकी गूँजसे भरा हुआ कमल मुझे दरबस रोक रहा है, क्योंकि यह सर्वश्रीके उस मुखके समान दिखाई दे रहा है, जो मोठपर मेरे दाँत लगनेपर ली-सी कर रहा हो ॥४०॥ अच्छा ! कमलपर मेंढराते हुए इन भीरोंसे ही पूछ देखूँ बिछसे यहसे चले जानेपर मुझको यह तो पड़ताया न रह जाय कि उनसे नहीं पूछा ।

(नेपथ्ये)

[एक ऐसा हंस तासाओने प्रेमके मरने भरा खेल रहा है जिसके मनमें प्रेमका भाव सचानक बढ़ गया है ॥४१॥]

मधुकर मदिराक्ष्याः शंस तस्याः प्रवृत्तिं

[निगन्व]

वरत्तनुरथवासौ नैव दृष्टा त्वया मे ।

यदि सुरभिमवाप्स्यस्तन्मृत्तोच्छ्वासगन्धं

तव रतिरमविप्यत्पुण्डरीके किमस्मिन् ॥४२॥

सापद्यामस्तावत् । [इति परिक्रम्यावलोच्य च] अये ! एष नीपस्फर्षनिपगणहस्तः करिणी-
सहायो नागराजस्तिष्ठति । अस्यातिप्रयोवन्तमुपलक्ष्ये । तावदेवमुपसर्पामि ।

(नेपथ्ये)

करिणीविरहसंतापिच्छ्रो ।

काण्ये गंधुदुश्च महुश्चरु ॥४३॥

(करिणीविरहसंतापितः ।

कामने गन्धोद्धतमपुकरः ।)

[विलोप्य] अयथा न स्वरा कार्याः । न सायदपमुरसर्पलकालः ।

अयमचिरोद्गतपल्लवमुपनीतं प्रियकरेणुहस्तेन ।

अभिलपतु तावदासयसुरभिरसं शल्लकीभङ्गम् ॥४४॥

[ललमायं स्मिरता । अवलोच्य] हन्त कृताञ्जिकः संवृतः । भवतु । समीपमस्य गत्वा
पृच्छामि ।

हे श्रीरे । मद-मरे नैनोवासी मेरी प्यारीका समाचार तो सुनाओ । [लोचकर] या कौन
जाने तुमने उसे देखा हो न हो । क्योंकि यदि तुम्हें मेरी प्रियतमाले मुखकी सुगन्धित स्वास
मिल गई होती तो तुम इस वसन्तसे बाँधे हो प्यार करते होते ॥४२॥ चलो पहँचो । [भूमकर और
देतकर] मरे इन कदम्बकी डालपर अपनी सुँठ रखे हुए हविनीके साम यह एक बड़ा-सा
हाथी खड़ा है । चलो, उसीके पास चलूँ ।

(नेपथ्यमे)

[हविनीने मिछोहूँसे तथा हृषा यह हाथी जयलमे धूम रहा है जिसपर गन्धसे मत्तवाले
भीरे मूम रहे हैं ॥४३॥]

[देतकर] पर हृषवड़ी नहीं करनी चाहिए । अभी उसके पास जाना ठीक नहीं है, क्योंकि
हविनीने अभी-अभी अपनी सुँठसे यह पत्तोवासी और मुखके समान गन्ध भरी जो शल्लकीके
देहकी दागा तोड़ी है, उसे यह हाथी या ने छव मैं धूँँँँ ॥४४॥

[वीर्यो देर रकबर देतकर] अच्छा, अब तो इसन नरसैट भोजन कर लिया । मच्छा,
तो घर चलो, पास जाकर पूछूँ ।

हउँ पईं पुच्छिमि याअवसुहि मअवरु ललिअपहारे यासिअतरुवरु ।

दूरविणिज्जिअ ससइरुकंती दिट्ठी पिअ पईं सम्मुह खंती ॥४५॥

(यहं त्वो पृच्छामि यावत्तु यत्नवर ! ललितप्रहारेण नाशिततरुवर !

दूरविनिज्जितवधरकातिहंष्टा प्रिया त्वया सम्मुखं गन्ती ॥)

[पदद्वये पुरतः उपसृत्य]

मदकल्ल युवतिशशिकला मलयूषप यूथिकाशवलकेशी ।

स्विरयौवना स्थिता ते दूरालोके सुखालोका ॥४६॥

[माकर्ण्य तद्वपुः] अह ! अनेन भवतः स्निग्धमन्त्रेण शीघ्रेण प्रियोपसम्प्राप्तिना समाश्रयितोऽस्मि । साधर्म्यात् त्वयि मे भुवतो प्रीतिः ।

मामाहुः पृथिवीभूतामधिपतिं नामाधिराजो भवान् ।

अन्युच्छिन्न-पृथुप्रवृत्तिं भवतो दानं ममाप्यर्षिषु ।

स्त्रीरत्नेषु भर्भोर्वशी प्रियतमा यूथे तवेयं वशा

सर्वं मामनु ते प्रियाविरहजां त्वं तु व्यथां मानुभूः ॥४७॥

सुखमास्तां भवान् । साधर्म्यमस्तां भव । [परिक्रम्य पार्श्वतो दृष्टिं दत्वा ।] अये । भयमस्ती , सुरभिकन्दरो नाम विशेषरमणीयः सानुमानातोव्यते । प्रियञ्जायमप्सरसाय । अपि नाम सा भुतपुरस्पोपत्यकामासुपतम्येत [परिक्रम्यावतोवय च ।] कथमग्न्यकारः । भवतु मित्रप्रकाशे-

[सित-सौतमे ही बड़े-बड़े वृक्षोंको सहजमें अपना फेंकनेवाले हैं गहराण । मैं तुम्हीं से पूछता हूँ । यहाँभी वहाँ तुमने मेरी उम्र प्रियाको इधर पाते हुए देखा है जिसने अपनी चमकते चन्द्रमाकी कीड़मोको भी लजा दिया है ॥२॥] [दो वग आगे बढ़कर] हे भववाले हारी ! क्या तुमने अपनी दूरतक देखेवाली आँखोंसे सदा जवान दिलाई देनेवाली उस खर्चोंको कही देखा है, जो दुबलियोंमें चन्द्रमाकी नई किरणोंके समान चमकती है और जिसके पालोंमें जूहीके फूल घुँसे हुए हैं ॥४६॥

[पूतकर हँसते] आहा ! इस तुम्हारे कोमल, मन्द और प्रियाका ठिकना बतानेवाले गर्जनसे मेरे जीको बड़ा सहारा मिला है । तुम भी मेरे ही समान मलयानु हो, इसलिये तुमसे मेरा बड़ा स्नेह हो गया है । शीघ्र मुझे राजाप्रोक्ष स्वामी कहते हैं और मुझे पत्नीका स्वामी । तुम भी दिन-रात अपना धन धन्य धन्य करके हो तो मेरे वहाँ भी दिन-रात भोगोंको धान देनेका काम चलता रहता है । इधर स्त्रियोंसे रत्नके समान सुन्दर उर्बो मेरी प्रियतमा है तो वह हविनी भी तुम्हारी बँधी ही प्यारी है । इस प्रकार हम दोनों सब बातोंमें एक-ते ही हैं, पर मैं यहो जानता हूँ कि प्रियाके बिछोहका दुःख तुम्हें कभी न खताने ॥४७॥ तुम सुखी रहो । हम जा रहे हैं । [पूतकर अपने एक ओर देखकर] अरे ! यह सुरभिकन्दर मयका वध सुहावना पर्वत दिखाई दे रहा है । और पत्तारामोंको यह पर्वत बड़ा प्यारा भी है । कही यह सुन्दरी इस पर्वतकी ललहटोंमें हो न मिला जाम । [पूतकर ओर देखकर] अरे । यहाँ कितना प्रियता है । अच्छा, बिजली चमके तो मैं देखूँ—

नापत्नोक्त्यामि । हन्त मदीयैर्विरितपरिणामैर्मेषोऽपि सततहृदाभ्युद्यः संवृतः तथापि शिलोभय-
मेनमपृष्टा न निर्वातये ।

पनरिअरसरसुरदारिअमेइणि वणगहणे अविचल्लु ।

परिमप्पइ पेच्छइ लीणो शिअकज्जुज्जुअ कोलु ॥४८॥

(प्रवृत्तधरदारितमेदिनिर्वनगहनेऽपि नलः ।

परिसर्पेति पश्यत सोनो निबन्धार्थोऽवतः कोलः ॥)

अपि वनान्तरमल्पकुचान्तरा श्रयसि पर्वत-पर्वसु संनता ।

इदमनङ्गपरिग्रहमङ्गना पृथुनितम्ब नितम्बवती तव ॥४९॥

कथं वृष्णीमेवाते । अङ्गे विप्रकर्षात् शृणोतीति । भवतु । सर्वविशेष गत्वा पुनरेतं
वृन्द्यामि ।

फल्लिहसिलाश्लक्षिम्भलक्षिज्झरु बहुविहकुसुमें विरइअसेहर ।

किंणरमहुकुम्भीअमणोइरु देक्खावहि महु पिअअम सहिहर ॥५०॥

(स्फटिकसितातलनिर्मलकिंकर । बहुविष्णुसुर्गविरचितशेखर ।

किंणरमपुरोद्गीतमनोहर इत्येव मम प्रियतमा महीधर ॥)

[इति परिक्रम्य घञ्जति सदृश्या ।]

सर्वक्षितिभृता नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ।

रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन्मया विरहिता त्वया ॥५१॥

[नेपथ्ये तदेवाकण्ठं सहस्रम् । कथं यथाजम् इष्टा इत्याह । भवानपि भक्तः प्रियतरं
शृणोतु । ॥ तर्हि मे प्रियतमा । [पुनरेव सर्वक्षितिभृता नाथ इति पठति । नेपथ्ये तदेव प्राकट्यं

ह्राप । ह्राप । मेरे दुर्भाग्ये बादलोमे बिजली भी नहीं रह गई । फिर भी इस पर्वतपे-
ठुपे बिना मैं कहाँ टर्जूंगा नहीं ।

[घने बड़े-बड़े धीरे धीरे शुरेति पुष्पोंकी खूँसा हुआ घनी देकर घना हुआ, एक
जंगमी सुगर घनी पुनर्मे मरत होकर इस घने जंगलमें घूम रहा है ॥४८॥]

हे बड़ी-बड़ी डालोंवाले पहाड़ ! घने इस कामदेवके जलमे क्या तुमने सुगर नितम्बों
वाली धीरे धीरे-धीरे झुकी हुई-थी उस सुन्दरीकी देखा है जिसके दोनों रतन उमर-
वर प्रापसमें सट पड़े हैं ॥४९॥ धरे ! यह छुप क्यों हो गया ! या कोन जाने दूर होनेके
कारण ही वह न मुन सफ रहा हो ! मरुछ, इसके पास जाकर पूछता हूँ । हे स्फटिककी
चट्टानोंपर बहने हुए उबले झरनोंवाले ! हे रग-धिरये फूलोंसे ढाँकी चोटियाँ घमानेवाले ! हे
विश्रान्तोंके जोड़ोंके मगुर भीड़ोंसे मुहावने लगनेवाले पर्वत ! मेरी प्यारीकी एक झलक
तो मुझे दिखा दो ॥५०॥ [धूमकर धीरे देखकर] हे पर्वतोंके स्वामी ! क्या तुमने वनके
इन सुन्दर धोरोंमें मुझसे बिछुरी हुई उस निराली सुन्दरी उर्बचीकी नहीं देखा है ॥५१॥
[नेपथ्ये वीं हो स्रग्ध मुनकर सदृश] धरे ! क्या यह वह रहा है कि—हाँ ठीक वैसे ही
देखा है जैसा मैंने कहा था । तब तुम इससे भी प्यारी बात मुनो धीरे मुझे बताओ कि
मेरी प्रियतमा कहाँ है । [विरहे ११ वाँ स्तोत्र पढ़ता है धीरे नेपथ्यमें फिर उसे बड़ी मुताई

विभाव्य च ।] हा पिह् । भर्तृवार्थं कन्दर्पुखविसर्पं प्रतिजगदः । [इति मूर्च्छति । नरयाम
सविषादम् ।] ग्रहह आगतोऽस्मि । अस्त्यस्तावन्निरिन्धास्तोरे स्थितस्तरङ्ग-वातमासेषिण्ये ।
परिक्रम्यावलोक्य च] इसी गयाम्बुकमुषामपि सोतोबहां पश्यतो मे रमते मनः । कुतः—

तरङ्गभ्रमङ्गा

क्षुभितविहगश्रेणिरशना

विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम् ।

यथाविद्धं याति स्तलितमभिसन्धाय बहुशो

नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥५२॥

भक्तु । प्रसादयामि तावदेनाम् । [मञ्जनि वदाम् ।]

पतीञ्च पिञ्चअम मुंदरि एणए खुहिआकरुण विहंगमए णए ।

सुरसरितीरसमुत्सुअ एणए अलिउलमंकारिअए णए ॥५३॥

[प्रसीध प्रियतमे सुन्दरि नदि क्षुभिताकलविहङ्गमे नदि ।

सुरसरितीरसमुत्सुके नदि अलिकुलमङ्कारिणि नदि ॥]

[नेपथ्ये]

पुष्यदिसापवणाहअकल्लोलुगअवाहओ

मेहअंगे णच्चइ सललिअं अलणिहिणाहओ ।

इंसपिहंगमकुंकुम संखकआभरण

करिमअराउलकसणकमलकआवरणु ।

देता है । सुनकर और समझकर] हाय रे भाग्य ! यह तो पहाड़की मुकासे टकराकर
निकलनेवाले भेरे ही शम्भोकी गूंज है । [भूकंपन हो जाता है : फिर उठकर तु लके साथ] घरे ।
मय तो मैं बक गया हूँ । इसलिये इस झरनेके तीरपर तरंगोनी ठडी बयारमे चलफार बैठता हूँ ।]
[धूमकर और वेककर] अभी बरसे हुए पानीसे गंदले झरनेको देखकर भी मेरा मन प्रसन्न हो
रहा है क्योंकि भागमे भागनेवाली पट्टानीसे बचनेके लिये यह टेढ़ा होकर बह रहा है, इसकी सहर्ष
चढी हुई भीहो-जैयी हैं, क्याकुल पक्षियोंकी पार्तें ही इसकी तगरी हैं, इसका फेन ही पानो यह
पस्य है जो बसनेसे दोला पड़ गया है और जिसे वह सीनती लिए चली जा रही है । इससे
मुझे ऐसा लग रहा है कि भेरी ओषी प्रिया ही नदी यन गई है ॥५२॥ अच्छा, चतुर् में इसको
चलकर मनाता हूँ ।

[हाथ जोड़कर]

[उठते हुए और कड़े स्वरमे चहकते हुए पक्षियोंवाली, गयारीसे मिलनेको उठावती और
भीरोकी पालीसे गूंजनेवाली है सुन्दर नदी ! तुम मुझपर प्रसन्न हो जाओ ॥५३॥]

[नेपथ्यमें]

यह देखो ! समुद्रोके स्वामी का कंसा मज्जा मृत्यु हो रहा है । जसमे पढी हुई मेपोंकी परछाईं
ही उनका शरीर है । पुरबिया पवनसे जड़ी हुई सहर्ष ही पानो मृत्युके लिए उड़ाए हुए
उनके पैरके घंघरू और आभूषण हैं । हाथियो और

वेनामलिलुच्येल्लिग्रहत्थदिरपतालु

ओत्थरह दमदिम कंघेविशु खवमेहथालु ॥५४॥

पूर्वदिक्कनाहन्कल्पोत्तोद्गमवाहु मेवाहगन्तुं त्यजि मनसित्तं जलनिग्गिमाय ।

हृगविहृद्गमकुट्टुमसह्मृत्तानवरसु वरिम्भराजुमहृत्पुण्ड्रमनहृत्तावरणः ।

वेना एनिमोदेल्लिग्रहत्तहृत्तान्जस्सृणाति दधरिपोरुद्व्या नवमेघकालः ॥)

स्वपि निवद्धरत्तौ प्रियवादिनी प्रणयमद्गपराह्मुपचेतसि ।

कमपराधलयं मयि पश्यमि त्यजमि मानिनि दामजनं यतः ॥५५॥

हयं मृण्मैवास्ते [विचित्र] धवशा परमार्यनरिदेवपा । न समूर्वशी पुररवत्तमपहाय
समुद्रानित्तिरिणी भविष्यति । भवतु । अनिर्वहप्राप्यासि धेयाति । यावत्तमेव प्रदेशं गच्छामि
यत्र मे नयनयोः सा मुनयना निरोहिता । [परिजम्ब विनीयव च] इमं तावत्प्रियाप्रवृत्तये
सारङ्गमासीतमम्भयं ।

अमिनवकुमुमस्तयकित्तस्वरस्य परिसरे

मदकलकोकिलरुजितरवम्भङ्गारमनोहरे ।

नन्दनमिपिने निजकरिणीविरहानलेन मंतप्लो

विचरति गजाधिपतिरैरावतनामा ॥५६॥

कृष्णसारच्छवियोंऽमी हरपते काननश्रिया ।

नवशप्पावलोकाय कटाक्ष इव पातितः ॥५७॥

गमरोके भुग्ड ही जनने नीके बान्न हैं, नीके बमस ही जननी मासाएँ हैं धीर तीरसे टक्काली
हुई महारें ही मानो छाल दे रही हैं धीर इसी बीच वर्षाकाजने आकर सब दिशाओंको ढँक भी
जिया है ॥५४॥]

हे नदी ! बजाओ ली तुमने इनका प्रेम करनेवाले, सदा भीड़ी बानें करनेवाले धीर प्रेमीने
कभी पावनी बात ही न सोचनेवाले इस प्रेमीमें तुमने बीनसा ऐसा छोट से छोटा भी दोष पाया
है कि तुम इस दानवी इस प्रकार छोड़ रही हो ॥५५॥ अरे, यह तुम क्यों हैं ? [वीचकर] या
निर यह सबमुच नदी ही होगी । क्योंकि यदि यह उर्वशी होती तो पुरुषवाही छोड़कर समुद्रकी ओर
जानेने सिये इनकी सत्ताजनी न होती । मच्छा, जिना कुछ उठाए मुन पिय भी लो नहीं सकता
गर्भ, धर में उसी रवानगर जाऊँ जहाँ वह सुन्दर नयनीवाली मेरी आँखोंसे धोभन हो गई थी
[पुनकर धीर देगकर] चमू, इस बँटे हुए हरिणसे ही प्यारोका वता पूछूँ ।

[नन्दन बनने अमे पूछोंके मुन्दरिणि सदेहुए धीर मदमाते कोषवली भीड़ी जनसे मुदावने
सगनेवाले कृष्णने पास यह ऐरावत हाथी धपनी प्यारी हृदिनीने] विछोड़नी आँखमें तपा हुआ इसर-
उपर धूप रहा है ॥५६॥]

इस हरिणसे परीस्पर बनी हुई बाली बाली बुंदकिर्णों ऐसी लगती हैं मानो मनकी नई
हरिदामो निहारने के लिए बनसज्जोने ही इसपर धपनी चिटवन डाली हो ॥५७॥

[विलोक्य] किं नु खलु भागवत्पौरपन्निकान्तो मुखः संवृतः । [दृष्ट्वा]

अस्पान्तिकमायान्ती शिशुना स्तनपायिना मृगी रुद्धा ।
तामयमनन्यदृष्टिर्भुग्नग्रीवो विलोकयति ॥५८॥

सुरसुन्दरि ब्रह्मभरालस पीणुचुंग वसुथशि
थिरजोव्यण तणुसरीरि हंसगई ।
गश्रणुज्जलकाशुखे मिश्रलोशणि भमंती ।
दिही पई तह विरहसमुदन्तरे उचारहि मई ॥५९॥

(सुरसुन्दरी जयनभरणसा पीनोत्पन्नपनस्तनी
स्थिरजोव्यणा तणुसरीरि हंसगतिः ।
गमनोज्ज्वलकानने मृगसोपना अभमन्ती
दृष्ट्वा त्वया तर्हि विरहसमुद्रान्तरपुत्तारय माम् ॥)

[वसुत्य घञ्जलि वदन्वा] हंही हरिलोपतै ।

अपि दृष्टवानसि मम प्रियां वने कथयामि ते तदुपलक्षणं शृणु ।
पृथुलोचना सहचरी यथैव ते सुभगं तथैव खलु सापि वीक्षते ॥६०॥

कथममाहाय महचरं कलाप्रतिमुखं स्थितः । उपपद्यते परिभाषापदं वतादिपर्ययः ।
यायवितोऽहुमन्यमयकाशमवगाहिष्ये । [परिक्रम्यावलोक्य च] हन्त दृष्टमुपलक्षणं तत्त्वा मार्गस्य ।

[देखकर] इसने तो मेरी बात धनगुली करके अपनी मुंह दूसरी ओर फेर लिया है ।
[देखकर] इसके पास जो इसकी हरिणी बसी या रही थी और जिसे दूध पीनेवाले
मृगछोनेने बीचमें ही रोक लिया है उसकी ओर भास लगाए यह टक-टक देख
रहा है ॥५९॥ [निम्नबोके भारी होनेके कारण धीरे-धीरे चलनेवाली ओर ऊँचे उठे हुए मोटे-
मोटे स्तनीवाली, सदा लबान रहनेवाली, पतली कमरवाली, हठ-जैसी पातवाली उस मृगनेनी
अप्सरायो यदि तुमने इस आकाशके समान उजले वनमें घूमते हुए देखा हो तो उसका ठिकाना
बताकर मुझे ॥ विरहके समुद्रसे उबार लो ॥५९॥] [पास जाकर हाथ जोड़कर] क्यों जी
हरिणीके स्वामी ! क्या तुमने मेरी प्यारीको कहीं वनमें देखा है ? मैं तुम्हें उड़का रूप-रंग
बताए देता हूँ । गुनो ! ठीक जैसे सुन्दारी हरिणी अपनी बड़ी-बड़ी आँखोंसे सुन्दर चितवन
चलाती है वैसे ही वह भी चलाती है ॥६०॥ क्या यह मेरी बात धनगुली करके अपनी हरिणीकी
ओर मुँह करके बैठ गया ? ठीक ही है—जब दिन लोटे पाते हैं तो सभी दुरदुपते हैं ।
तो फिर यहाँसे कहीं ओर चलकर उठे हूँ । [धूमकर और देखकर] मरे लो ! मैं

रक्तकदम्ब सोऽयं प्रियया धर्मान्तशंसि यस्यैकम् ।

कुसुममसमग्रकेसरविषममपि कृतं शिखाभरणम् ॥६१॥

[परिक्रम्याशोकमवलोच्य च]

रक्ताशोक कृशोदरी क्व नु गता त्यक्त्वानुरक्तं जनं...

[पवनपूषमानमूर्धानमपलोच्य सक्रोधम्]

नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं वाताभिभूतं शिरः ।

उत्कण्ठाघटमानपट्पदघटासङ्घट्टदृच्छदः

तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः ॥६२॥

भवतु । दुःखमास्ता भवान् । [परिक्रम्यावलोच्य च]

किं नु त्वसु एतच्छिलाभेदान्तरपतं

प्रभालेपी नायं हरिहृतगजस्यामिपलवः

स्फुलिङ्गो वा नाग्नेर्गहनमभिवृष्टं यत् इदम् ।

[विभाव्य]

अये रक्ताशोकप्रसवसमरागो मशिरयं

यमुद्धर्तुं पूषा क्यवसित इवालम्बितकरः ॥६३॥

यहो पर्यं हरति मे मनः । भवतु । आदत्ये तावदेवम् ।

उसके मायका ठिकाना या सिखा । यह वही सात कदम्बका पेड़ है जिसमें फूले हुए फूल बसा रहे थे कि गर्मी बीत गई । उसीका एक ऐसा फूल लेकर ग्यारीने अपने लूटेका सिगार किया या जिसमें केसर न फूट मानेके कारण वह उस समय तक कटा ही था ॥६१॥ [घूमकर मशोककी ओर देखता हुआ] हे सात अशोक ! इस प्रेमीको छोड़कर यह कुन्दरी कहाँ बसी गई ? [पवनसे हिलती हुई मशोरकी ओटी देखकर क्रोधसे] पवनसे झूमता हुआ अपना सिर हिलाकर यह क्यों कह रहे हो कि मैंने नहीं देखा । यदि तुमने उसे न देखा होता तो बतानी मधुरे सातवने इकट्ठे होनेवाले भीरोंसे कुन्दरी जानेवाली पक्षद्विषाते तुम्हारे फूल उतारो सात साए बिना फूल कैसे उठते ॥६२॥ मध्या, तुम सुखी रहो । [घूमकर ओर देखकर] यह पत्थरकी दरारके भीतर बसा यह सात मणि-सा दिशाई दे रहा है ? यह इतना चमक भी नहीं हो सकती क्योंकि अभी-अभी पनपौर वर्षा भी हो चुकी है । [देखकर] भरे, यह तो सात मशोकने फूलोंके समान सात-सात मणि है जिसे उठानेके लिये सूर्य भी मानो अपने चरण-रुनी हाथ वहाँ तक बड़ाए हुए हैं ॥६३॥ भरे ! यह तो मेरे मनकी बड़ा सुखा रहा है ।

(नेपथ्ये)

यथदृशिबद्धासादृश्याश्चो वादाउल्लिखिअणअणओ ।

मअवइ गहखे दुहिअओ भमइ क्खामिअवअणओ ॥६४॥

(प्रणयिनिबद्धाङ्काको बाष्पाकुलनिजनयनः ।

गजपतिगहने दुहितः भवति क्षामितवदनः ॥)

[गहलं नाटयति । गृहीत्वा] अथवा

भन्दारपुष्पैरभिवासितायां यस्याः शिखायामयमर्पणीयः ।

सैव प्रिया सम्प्रति दुर्लभा मे किमेनमस्त्रोपहतं करोमि ॥६५॥

[दत्पुष्पजतिः ।]

(नेपथ्ये)

यत्त गृह्यतां गृह्यताम् ।

सङ्गमनीय इति मणिः शैलसुता-चरणरामयोनिरयम् ।

आवहति धार्यमाणः सङ्गममचिरात्प्रियजनेन ॥६६॥

रामा—[कलं दत्वा] को न खनु मावेवमनुगति । [अवलोक्य] अये अनुकम्पते मां
 शस्त्रिन्मृगघारी मुनिमंगवान् । भगवन् अनुगृहीतोर्मत्स्य अतुपवेशद्वयतः [मणिमादाय]
 हतो सङ्गमनीय !

तथा विपुक्तस्य विलग्नमध्यया भविष्यति त्वं यदि सङ्गमाय मे ।

ततः करिष्यामि भवन्तमात्मनः शिखामणिं बालमिवेन्दुमीश्वरः ॥६७॥

(नेपथ्ये)

[भवती प्यारीको पानेकी आवाज लगाए, आँसोमे आँसू भरे यह सुले मुँहवाला हाथी इस
 मनमे दुखी होता हुआ घूम रहा है ॥६४॥

मणि निकालनेका नाट्य करता है । उसे बकड़कर] वर मेरी जिस प्यारीकी मन्वारकी
 कुलोसे सुगन्धित मोटीमे यह रँगनी चाहिए वही जब नहीं मिल रही है, तब मैं इसे ही नेपार
 पयो इसे धनमे आँसुमोसे मिलाऊँ ॥६५॥ [वही उसे छोड़ देता है ।]

(नेपथ्ये)

यत्त ! इसको ले लो, ले लो । यह प्रियसे मिलानेवाली संशमनीय मणि है जो पार्वतीजीके
 चरणोंकी लसाईसे बनी है । इसे जो अपने पास रखता है, उसे यह शीघ्र ही प्रियसे मिलवा
 देती है ॥६६॥

रामा—[सुनकर] अरे ! यह कौन मुझे इस प्रकार आवाज दे रहा है ? [देखकर]
 जान पड़ता है हरिणोंके समान बनमे रहनेवाले किसी मुनिमे मुझपर कृपा की है । भग-
 वन् ! आपके इस उपदेशके लिये मैं आपका आभारी हूँ । [मणि उठाकर] हे संशमनीय
 मणि ! यदि मुझे उस पतली कमरवाली सुन्दरीसे मिला दोगी तो मैं तुम्हें उसी प्रकार
 अपने मुकुटमें लगा लूँगा जैसे जिवनीमे बाल चन्द्रमाको अपने चिरकी जटायोमे रख

अतो विनिद्रे सहस्रावलोकने करोमि न स्पर्शविभावितप्रियः ॥७०॥

[शर्नङ्गमुष्णुत्तोत्स्य] कथं सत्यमेव प्रियतमा । [इति मूर्च्छितः । पतति ।]

उर्वशी—[वाष्पं विगृह्य] समस्तसदु सप्तसप्तसु महाराजो । (समास्वदितु समास्वदितु महाराजः ।)

राजा—[सशा सञ्चया] प्रिये अद्य जीवितम् ।

त्वद्वियोगोद्भवे सन्नि मया तमसि मज्जता ।

दिष्ट्वा प्रत्युपलब्धासि चेतनेव गतासुना ॥७१॥

उर्वशी—[समस्तसदुकरणाए मए पञ्चवलीकिरदुत्तनो वसु महाराजो । (प्रभ्यन्तरकरणा मया प्रत्युपलब्धुत्तान्तः सानु महाराजः ।)]

राजा—[प्रभ्यन्तरकरणेति न सानु ते वचनार्थमवैमि ।]

उर्वशी—कहइसं । इहं बाव पसोवसु महाराजो जं मए कोववसं गवाए एवं अवापगतरं पाविदो महाराजो । (कथमिच्छामि । एतत्तावत्प्रसीदतु महाराजो यन्मया कोपमश गतया एतद-वस्थान्तर आपितो महाराजः ।)

राजा—कल्याणि । तावदहं प्रस्तावितव्यः । त्वहं सर्वदेवप्रसन्नमवाह्यान्तरकरणाभ्यन्तरात्मा । तत्कथय कथमियन्तं कालमवस्थिता मया विना भवती ।

मोरा परहुअ हंस रहंग अलि अग पव्वअ सरिअ कुरंगम ।

तुज्जह कारणे रएणभमन्ते को ण हु पुच्छिअ मई रोअंते ॥७२॥

(नूपुरः परभृता हवो रमाङ्गः प्रलिंगजः पर्वतः सखिपुरङ्गमः ।

तव कारणेनारण्ये भ्रमता को न यसु पृष्ठे मया पठता ॥)

मित्र रहा है इसलिये मैं अपनी आँखें खोलूँगा ही नहीं ॥७०॥ [धीरेसे धीरे खोलकर] मेरे । यह तो सबमुच मेरी प्यारी ही है । [मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है ।]

उर्वशी—[मौं मू महाती हुई] धीरज गरिए महायज ! धीरज गरिए ।

राजा—[मूर्च्छति जागकर] राज मैं भी गया प्यारी ! हे सुन्दरी ! तुम्हारे शिघ्रोदके धोंगेरेमे हूयते हुए मैंने भाव्यवत्ता तुम्हे सही प्रकार पा लिया है जैसे मेरे हुएको प्राण मिल जाय ॥७१॥

उर्वशी—मैंने अपनी भीतरी इन्द्रियोंसे महाराजकी सब बातें जान ली थीं ।

राजा—मैं तुम्हारे 'गीतरी इन्द्रिय' शब्दका अर्थ नहीं समझ ।

उर्वशी—मैं बताती हूँ उसका अर्थ । पर आपसे यह प्रार्थना है पहले मुझे दामा कर दोनिए क्योंकि मैंने ही स्वीक करने आपकी इतना कष्ट पहुँचाया ।

राजा—कल्याणी ! तुम्हे मुझसे नहीं क्षमा माँगनी चाहिए । तुम्हारे दर्पणसे ही मेरा भंतरात्मा और बाहरी इन्द्रियाँ सब प्रखन हो गई हैं । पर यह तो बताओ कि इतने दिनों-तक तुम मेरे विना रही कैसे ? बताओ । [मोरा, कोयल, हंस, पक्षी, मोरा, हाथी, पहाड़, नदी, किरणसे से कीन ऐसा रह गया जिससे मैंने वनमें धूप-धूमकर रोते हुए तुम्हारे लिये नहीं पूछा ॥७२॥

इदं तद्यथाकथितं त्वत्सङ्गमनिमित्तं मुनेरुपसृत्य मत्प्रियावादासादिता त्वमस्माभिः ।
[इति मणिं दर्शयति ।]

उर्वशी—अम्भो सगमशीघ्रो अग्रे मणो । अदो बहु सहाराएष भ्रातिगिरमेत ज्ञेयं
पकिदित्यं स्मिहं सञ्चुता । (यहो सङ्गमनीयोज्ञं मणि । अतः खलु महाराजेनाविद्धितमार्गं
प्रकृतिस्थास्मि सञ्चुता ।) [मणियादाय मूर्धेनि वहति ।]

राजा—एषमेव सुन्दरि क्षणमात्रं स्वीयताम् ।

स्फुरता विच्छुरितमिदं रागेण मञ्जोर्ललाटनिहितस्य ।

श्रियमुद्वहति मुखं ते बालातपरकरमलस्य ॥७४॥

उर्वशी—पिच्छय महतो बभूव कालो नृप पङ्कटाखरो लिग्मदस्तः । कदाहं ममूहस्तस्मिन्
पकिदीप्तो । ता एहि शिबुलम्ह । (श्रियवदं महाम्बलु कालस्तव प्रतिष्ठाननिर्गतस्य । कदाचिद-
सूयिष्यन्ति मम प्रकृतयः । तदेहि निवर्तयिहे ।)

राजा—यदाहं नवती ।

[इति उत्तिष्ठति ।]

उर्वशी—अथ कथं महाराजो गतुं इच्छति । (अथ कथं महाराजो गतुमिच्छति ।)

राजा—

अचिरप्रभाविशसितैः पताकिना सुरकार्मुकाभिनवचित्रशोभिना ।

गमितेन खेलगमने-विमानतां नय मां नवेन वसतिं पयोमुखा ॥७५॥

(वेपथ्ये)

तुमसे मिलानेवाली मणि यही है, जिसे मुझसे पाकर मैंने तुम्हें पा लिया है । [मणि दिख-
वाते हैं ।]

उर्वशी—क्या यही सगमनीय मणि है ? इसमिये महाराजके घसे लगाये ही मैं फिर बैसौकी
तैसी बन गई । [मणि लेकर फिर चढ़ती है ।]

राजा—सुन्दरी ! क्षण भर इसी प्रकार खड़ी तो रहो । तिरवर रखी हुई इस मणिसे
अमकता हुआ तुम्हारा मुँह प्रातः कालके सूर्यकी किरणोंसे अमकते हुए कमलके समान मुखावता लग
रहा है ॥७४॥

उर्वशी—हे मिठबीले ! आप बहुत दिनोंसे प्रतिष्ठान नगरीसे बाहर आए हुए हैं ?
क्या जाने आपकी प्रजा मुझे ही देखके लिये कोस रही हो । इसमिये बाइए, बल्लिए लौट चलें ।

राजा—जैसा तुम चाहो । [दोनों उठते हैं ।]

उर्वशी—तो महाराज कैसे जाना चाहते हैं ?

राजा—मैं चाहता हूँ कि बिजलीकी ऊड़ियोवाले और इन्द्रधनुषके नये चित्रोवाले विमान
वने हुए नये मेघपर चढ़कर ही मैं अपने नगरको जाऊँ ॥७५॥

[नेपथ्ये]

पात्रियमहयस्त्रिगुणमयो पुलकप्रसादियत्रयंगययो ।
 सेच्योपत्तविमाणयो विहरद् हंसजुआणयो ॥७६॥

(प्राप्तमहचरोमङ्गलः पुलकप्रसादितः ।
 सेच्योपत्तविमाणो विहरति हंसयुवा ॥)

[इति निष्क्रान्तौ]

॥ इति चतुर्थोऽङ्कः ॥

[अपनी प्यारीसे मिलकर पुनर्जित शरीरवासा यह जवान हल अपने मंगवाहे बिमानपर
 चढ़कर उड़ा जाता था ॥७६॥]

[दोनों चले जाते हैं ।]

॥ चौथा अंक समाप्त हुआ ॥

पञ्चमोऽङ्कः

[ततः प्रविशति हृष्टो विदूषकः ।]

विदूषक—ही ही भो विद्विष्मा चिरस्त फलस्त उज्जसी सहामो सुंदहायणप्पुवेणु देवदारण्येसु मिहरिष्य एडिस्त्रिबुतो निश्वसस्तो । एविस्मिन् खम्बरं दासि ससङ्कारोवमारोहि पकिदोहि मशुरज्जंती रज्जं करेवि । संतालत्तलं वज्जिन्न ए किवि से हीलं । मज्ज तिहि ब्रित्तीसो त्ति मधयदोणं मंगानज्जणलं संगमे देयीहि राह किन्दाहिसेमो संपदं उयमारिम् पविट्ठो । ता जाव तत्तभवदी प्रलंकरीप्रमासुस्त मज्जनेयस्सस्ते मण्णभागी होमि । (ही ही भोः दिण्ठया चिरस्य कालस्योर्वशी-सहायो नन्दनवनप्रमुखेषु देवतारभ्येषु विहृत्य प्रतिविवृतः प्रियवयस्वः । प्रविश्य नगरनिधानी सप्तकारोपचारः प्रहृष्टिभिरनुरज्यमानो राज्यं करोति । सन्तानत्वं वर्जयित्वा न किमन्यस्य हीनम् । मय विविधिशेष इति ममवतयोर्गङ्गाममुनयोः सङ्गमे देवीभिः सह कृताभिप्रेतः साम्प्रतमुपकामं प्रविष्टः । सद्यस्त्वत्तत्रभवतोऽर्वाक्किमनाशुस्यानुलेपमात्थेऽग्रभागी भवामि ।)

[इति परिक्रामति]

[नेपथ्ये]

हृदी हृदी । दुक्कुलुवरुच्छदे तालवेटापादे सिक्किविम्र शौममाशो मए भट्टिलो अम्भंतरपिलासिली मोत्तिरअण्णोमो मणी भामिससकिण्ण मिट्ठेण मविखतो । (हा धिक् हा धिक् दुक्कुलोत्तररुच्छदे तालवेटापादे निक्षिप्य नीयमानो भवा भर्तुरन्यन्तरकितासितोमोक्षिरत्नयोग्यो नलि रामिपशङ्कता मृध्रेष्ठाक्षितः ।)

पाँचवाँ अङ्क

[प्रसन्न मनसे विदूषक आता है ।]

विदूषक—हूँ हूँ हूँ हूँ । यह तो बड़े आनन्दकी बात हुई कि नन्दन वय आदि देवताओंके वनोमे उर्वशीके साथ बिहार करके मेरे प्रिय मित्र लौट आए हैं और अब आपने नगरमे आकर लोगोसे पाई हुई आदर-भेंटसे प्रसन्न होकर राज करने लगे हैं । अब सन्तानको छोटकर इन्हे किसी बातकी शमी नही रह गई । आज पर्वका दिन होनेसे वे देवियोके साथ श्रीमन्मन्त्री और मनुजाजीके संगममे स्नान करके अभी रनिवासमे लौटे हैं । इसलिये जब-तक महाराज अपना राज-सिंघार पूरा करें तब तक चल्ने में भी उनकी चन्दन-माला आदिमे अपना आश पहले ही निकाल लूँ ।]

[धूमता है]

[नेपथ्यमे]

हाय हाय ! ताड़की पिटारीमे देखकरा दुकड़ा बिल्लाकर उसपर मैं महाराजीके माथेकी मलि लिए चला जा रहा था कि इसनेमे एक मिट्ट भूषटा और उसे माँसका दुकड़ा खनककर उठाकर उड़ गया ।

विदूषकः—[बलं दत्ता] अच्चाहिर्दं अच्चाहिर्दं । परमबहुमतो कलु सो वप्रस्सस्स संगमणीओ
 एणम धूणामणी । धरो कलु धसमतणोवच्छो एव्व तत्तमवं आसणावो उट्ठिष इदो आसच्छदि ।
 जाइ खं जवत्तणमि । (धत्ताहितमत्ताहितम् । परमबहुमतः कलु स वयस्वस्य सङ्गमनीयो नाम
 ब्रूयामणिः । धतः सत्यममाप्य-नेष्य एव सत्र मवानासनादुत्थायेत आगच्छति । यावदेनमुपसर्पामि ।)
 [इति निश्वागतः ।]

॥प्रवेशकः ॥

[ततः प्रविशति सविगपत्विनो राजा ।]

राजा—वैयक ! वैयक !

आत्मनो वषमाहर्ता क्वासौ विहगतस्करः ।

येन सत्प्रथमं स्तेयं गोप्तुरेव गृहे कृतम् ॥१॥

किराजः—एसो एसो कलु मूहकोदितमद्देममुत्तेस मल्लिख । आसिह्मंती विष आमासं पडिअ-
 मदि । (एव एव कलु मुत्तकोदितमद्देममुत्तेस मल्लिखविषमितिवाक्यार्थं परिभ्रमति ।)

राजा—पामाम्भेनम् ।

अमौ मृसालंभितहेमसत्रं विभ्रन्मणि मंडलचारशीघ्रः ।

अलातचक्रप्रतिमं विहंगस्तद्रागलेखावलयं तनोति ॥२॥

किं नु अत्थत्र कर्तव्यम् ।

विदूषकः—[उत्थेय] ओ अलं एत्थ पिण्ण । अथच्छो सायणीओ । (ओ । अलनत्र धूणवा
 मपवणी सायनीयः ।)

विदूषकः—[गुणे हुए] यह लो बड़ा गुण हुआ, बड़ा गुण हुआ । यह मल्लिखोने धनोको
 संगमनीय मणि महाराजको बड़ी व्यापी की । इसीलिये महाराज मधुर विपार किए हुए ही आसन
 छोड़कर इपर चले आ रहे हैं । चर्तू । [जाता है]

॥ प्रवेशक ॥

[मिथकोने ताव पबराए हुए राजा आते हैं]

राजा—अरे वैयक ! वैयक ! अपना मृधु अपने पाप बुनानेवाला बड़ बोटा पसी कहाँ गया
 त्रिमने स्वयं रत्ता करनेवाले ही परमै मझ पहनो बोरी की है ॥१॥

किराजः—बड़ देणम् ! धरनी बाँवने सोनेवा ओख पकड़े हुए यह पसी ऐसा बरकर लता
 रहा है मानी मल्लिखे आजायवे लिय रहा हो ।

राजा—हाँ, दिगाई दे पदा । मल्लिखे सोनेके छोरेको पकड़े हुए वेगसे बरकर फाटवा हुआ
 यह हम प्रकार मल्लिखे रंगवा बहुत बना रहा है जैसे कोई आगनी खूबको बरकर देकर धुमा
 रहा हो ॥२॥ अब क्या करना चाहिए ?

विदूषकः—[पाव जाकर] देणम् ! अब अपनी रत्ता रहने सोबिए । मपरायीको बंद देना हो
 चाहिए ।

राजा—सम्पगाहं सवायु । धनुर्धनुस्तावत्

यवनी—एसा प्रतियस्तं (एयाजेप्यामि ।) [इति निष्क्रान्ता ।]

राजा—वयस्य ! न दृश्यते स विह्वलयमः । वयं नु सखु मृतः ।

विदूषकः—भो ! हवो दक्षिणेतरेण अवनवो सो सत्सलीधो कुणवमोप्रयो । (भो ! इतो दक्षिणान्तेनागतः स शासनीयः कृष्णभोजनः ।)

राजा—[परितृषावलोकय च ।] दृष्ट इदानीम् ।

प्रभापल्लवितेनासौ करोति मखिना खगः ।

अशोकस्तमकेनेव दिङ्मुखस्यावतंसकम् ॥३॥

यवनी—[चापहस्ता प्रविश्य ।] भट्टा एवं हत्यावाच्यहर्षं सरासयं । (मृतः ! एतदस्ता-
वापचहितं शरासनम् ।)

राजा—किमिदानीं शरासनेन । वायुपचमतीतः स कृष्णभोजनः । तथा हि ।

आभाति मखिविशेषो दूरमिदानीं पतत्रिणा नीतः ।

नक्तमिव लोहिताङ्गः परुषघनच्छेदसंयुक्तः ॥४॥

(कञ्चुकिं विलोक्य ।) धाम्यं लातय !

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देवः ।

राजा—सद्वचनादुच्यतां नागरिकः । सर्वं नियासकुलाश्रयो विधीयतां स विह्वलस्यु-
रोति ।

राजा—ठीक कहा सुनने ! भरे धनुष तो ले आओ ।

यवनी—भभी साई । [चली जाती है ।]

राजा—मित्र ! यह कुछ पक्षी तो कहीं बिछाई नहीं दे रहा है । न जाने किधर चला गया ?

विदूषक—वह मार टागने योग्य मौसलौआ पक्षी दक्षिणकी ओर गया है ।

राजा—[धूमकर देखता है ।] यह बिसाई दे रहा है । चमकते हुए मखिकी हथर-उधर चौपमे लेकर उड़ता हुआ यह पक्षी ऐसा लग रहा है मानो दिशाके माथेपर धूम्रमणि बांध रहा हो ॥३॥

यवनी—[हाथमे धनुष लिए आकर] यह लीजिए हथरसा ओर धनुष ।

राजा—अब क्या होगा धनुषवा ! यह मित्र तो मेरे बाणकी पहुँचसे बाहर निवृत्त गया और उस मखिकी इतनी दूर उड़ा ले जाकर वह ऐसा लगने लगा है मानो पने बाटलकी टुकड़ीके साथ रातकी मवाल वारा चमक रहा हो ॥४॥ [कञ्चुकीको देखकर] धाम्यं लातय !

कञ्चुकी—आज्ञा महाराज !

राजा—मेरी आज्ञासे नगरमे दुम्मी पिटवा दो कि जब यह ओर संख्याको अपने घोंसलेमें पहुँचे तो इसे सोजा जाय ।

कञ्जुकी—यदाज्ञापयति देव । [इति निष्क्रान्तः ।]

विदूषक—ओ । जबबिसहु भय सपद । कहिह गयो सो रघुलकुम्भीतयो भयरो सात-
रायो मुच्चिस्तदि । (ओ । तबबिसहु भयान् साम्प्रतम् । नव यत स रत्नकुम्भीरको भवत
शासनागमोदयते ।)

राजा—[विदूषकेण सहोपविश्य] वयस्य ।

रत्नमिति न मे तस्मिन्मणौ प्रियत्वं निहङ्गमाक्षिप्ये ।

प्रियया तेनास्मि सखे सङ्गमनीयेन सङ्गमितः ॥५॥

विदूषक—ए परिपयत्यो म्हि किंवो भवदा । (ननुपरिगतार्षोद्विग्नं कुलो भवता ।)

[ततः प्रविराटि सखर मणिमावाय कञ्जुकी ।]

कञ्जुकी—जयतु जयतु देव ।

अनेन निर्मिन्नतनुः स वध्यो रोपेण ते मार्गणतां गतेन ।

प्राप्तापराधोचितमन्तरिक्षात्सर्मासिरत्नः पतितः पतनी ॥६॥

[सर्वे हित्मय रूपयन्ति ।]

कञ्जुकी—अस्मि प्रक्षान्तितोष्य मणिं कर्म प्रदोषताम् ।

राजा—वेधक ! वच्छ । अग्निमुखमेव कृत्वा पेटकं प्रवेक्ष्य ।

किराट—अ भद्रा धारण्येति । (यज्ज्वालापयति ।) [इति मणिं गृहीत्वा निष्क्रान्तः ।]

राजा—धर्मं सातव्य ! जानीते भवान् कस्याय वाण इति ।

कञ्जुकी—जैसी महाराजकी आज्ञा [चला जाता है ।]

विदूषक—मह आप बैठ जाइए महाराज । वह रत्नका पीर आपके दहसे बचकर जायगा
कहाँ ?

राजा—[विदूषकक साथ बैठकर] मित्र ! उस पक्षीने जो रत्न चुराया है उसे मैं रत्न हीमके
माते नहीं, बरन् इसमिये घादर करछा है कि उस सपसनीय मणिन मुझे मेरी प्यारीसे मित्रा
रिया या ॥५॥

[वाणके साथ मणि लिए हुए कञ्जुकीका प्रवेश]

कञ्जुकी—जय हो महाराजकी जय हो । इस मारने योग्य पत्नीको आपके कोपने द्वारा
वनकर मार टासा और यह अपने धरराधक ठीक दण्ड पाकर धावाचसे इस रत्नके साथ ही
ही नीचे गिर पड़ा ॥६॥

[सब आश्चर्य करते हैं ।]

कञ्जुकी—मैंने इस मणिकी पानोरो धो टासा है । कहिए किसे दूँ ?

राजा—वेधक ! जाओ, इस आगमें पुढ़ करके पेटीय रख दो ।

विराट—जैसी महाराजकी आज्ञा । [मणि लेकर जाता है ।]

राजा—क्या भाय लावस्य ! कुछ यह भी ताज हुआ कि बाण विचका है ?

कञ्जुकी—नामाङ्गितोऽयं दृश्यते । न तु मे यत्नविचारसमा दृष्टिः ।

राजा—तेन हि उपनयः अरं याचयन् निरूपयामि ।

[कञ्जुकी तथा करोति । राजा नामाक्षराण्यनुवाच्य विचारयति ।]

कञ्जुकी—यावदहं निषोगमशुन्यं करोमि । [इति निष्क्रान्तः ।]

विदूषकः—किं भवं विप्रारेवि । (किं भवान्विचारयति ।)

राजा—भृशु तायत्प्रहर्तुर्नामाक्षराणि ।

विदूषकः—अथहिरो म्हि । (अथहितोऽस्मि ।)

राजा—भूषताम् । [इति वाचयति ।]—

उर्वशीसंभवस्यायमैलसुनोर्धनुष्मतः ।

कुमारस्यायुषो बाणः प्रहर्तुर्द्विपदायुषाम् ॥७॥

विदूषकः—[उपरितोषम् ।] विद्विषा संतापोऽयं यद्वाकिं भवं । (दिष्ट्या सन्तानेन वर्धते भवादु ।)

राजा—तस्ते कथयेत् । अन्यथा नैमिषेयतन्त्राद्विपुक्तोऽहपुर्वश्या । न च मया कदाचि-
दपि गर्भव्यक्तिरात्मसिद्धा कुत एव प्रसूतिः । किन्तु—

आविल्लपयोधराग्रं लवलीदलपायद्वुराननच्छायम् ।

फानि दिनानि वपुरभूरकेवलमससेवर्षं तस्याः ॥८॥

कञ्जुकी—इसपर नाम तो लुहा हुआ पिसाई देता है पर बेरी आँखें इसके अंदर
लोक-लोक पड़े नहीं जा रहे हैं ।

राजा—अच्छा, इसर सामो बाण । मैं ही पढ़ता हूँ । [कञ्जुकी बाण देता है । राजा उस
बाणपर लिखे हुए नामके अक्षरोंको बाँधकर सीधते हैं ।]

कञ्जुकी—आयतक गर्जु मैं अपना काम करूँ । [जाता है ।]

विदूषक—आप सोच क्या रहे हैं ?

राजा—वह पक्षीकी मारनेवाले बीरका नाम; सुनोगे ?

विदूषक—हाँ, बताइए ।

राजा—सुनो ! [वाचता है ।] यह बाण पुरुरवा और उर्वशीके अनुमोरी पुत्र आमु
नामके उस राजकुमारका है जो शत्रुओंके प्राण खींच नेता है ॥७॥

विदूषक—[सतोषके साथ] आपको पुत्र पानेकी यथाई ।

राजा—पर मित्र ! यह हो कैसे सकता है ? नैमिषेय यज्ञकी छोड़कर मैं कभी उर्वशी-
जीसे अलग नहीं रहा और हृद्य भीष मैंने उनके शरीरमें कभी यंत्रोंके लक्षण भी नहीं
देखे, फिर यह पुत्र उरबन्ध कैसे हो गया ? पर हाँ, एक बात है, अभी कुछ दिन
पहले मैं उनके शरीरकी देखता था तो उनकी आँखें अलसाई रहती थीं, उनका मूँह
लवलीके पत्तोंके समान पीला पड़ गया था और उनके स्तनोंकी घुट्टियाँ साँवली पड़
गई थी ॥८॥

विदूषकः—या अर्थ सत्यं यावन्तोपमं दिव्यान् संभावयतु । यद्वापिपूडादे ताणं पारिदाई । (या भवान् सर्वं यावन्तोपमं दिव्यान् संभावयतु । प्रभावनिगूढानि तातो पारि-
दाति ।)

राजा—अतु तावदेवं यथा भवानाह । पुत्रमंतरले तु रिमिव जातं तत्र भवत्याः ।

विदूषकः—मा बुद्धि मं राजा परिहृतिस्तदिति । (या वृद्धा मा राजा परिहृतिरूप्यतीति ।)

राजा—तुलं परिहारे । विनयनाम् ।

विदूषकः—को देवताहस्ताई तद्वस्तुति । (को देवताहस्त्यानि तद्विप्यति ।)

[प्रविश्य वञ्जुकी]

वञ्जुकी—अतु अतु देवः । देव च्यवनाथमाकुमारं गृहीत्वा सम्प्राप्ता तापतो देवं
हर्षयितुति ।

राजा—उमयमप्यवित्तमित्तं प्रवेद्य ।

वञ्जुकी—यदातापयति देवः । [इति निर्गम्य चापहरतेन पुनरेण तापस्या च यद्
प्रविष्टः ।]

वञ्जुकी—इत इतो भगवती । [सर्वं परिष्ठापति ।]

विदूषकः—[विषोक्त] रि ए वतु तो एतो तत्तमर्थं सतिप्रभुमारमो जस्त एतामिबिबो
मिद्वस्तवदेपी अदरातापी । तद् हि मृगधरं भवतो भगवदेति । (किं तु यत्तु त एव
मृगधरापरिदुषारको मय मातादुतो मृगधरव्यवस्थापनाराधः । तथा हि मृगधरं मयतोऽनु-
वर्ति ।)

विदूषकः—आत यावन्तो विमोक्षामो सब बाजें अमराधोपर लागू न समझिए । वे जो
बाईं आनी दंडी कलिके दिताए सब समझी है ।

राजा—तो जो मुझ कहते हो वही बात होगी । वर जहाँसे पुनको दिता क्यों दिता ?

विदूषकः—इतिनि कि वही राजा मुझे बुझी मयमकर छोड़ न दें ।

राजा—अपना शिरोभो न करो । ध्यामो तोषो ।

विदूषकः—अपना देवताधोकी बाजोंका भेद कोई का मरना है ?

[वञ्जुकी आता है]

वञ्जुकी—अह हो, यदातावकी वर हो देह । वरम-श्रुतिके पापमते एव कुमारका
मय मित् हुन कोई मयविको छाई है और मयका दर्शन करना चाहती है ।

राजा—ऐसीको मयकर और ये लागी ।

वञ्जुकी—जो देवकी आज्ञा । [बाहर आकर और फिर वञ्जुकी पुनारको मोर
मयविकी काद मयकर आज्ञा है] वर माह देवो, वर मे ।

[देव पूजते हैं ।]

विदूषकः—[देवकर] वही मति वर सतिप्रभुमार न हो रिमके मायकाया विद्वार
मयका हुन वर सर्ववत् वर विमः है और जो माहके वृत्त विमका-मुमका पी है ।

राजा—स्यादेवम् अतः खलु ।

वाप्यायते निपतिता मम दृष्टिरस्मिन्वात्सल्यबन्धि हृदयं मनसः प्रसादः ।
संजातवेपथुभिरुज्ज्वितं धैर्यवृत्तिः इच्छामि चैनमदयं परिरन्धुमङ्गैः ॥६॥
कञ्चुकी—भगवति ! एवं स्वीयताम् ।

[तापसोऽकृमारी स्वित्ती ।]

राजा—अम्ह ! अभिधादये ।

तापसी—महाभाग । सोमवंसविद्यारत्नप्रो होहि । [पातनवत्] अम्हो अलान्वितधोवि
विष्णो एवम् इमस्त राक्षसिणो आजसो अमोरतो संबधो [प्रकाशम्] जाद मएम हे गुरुं ।
(महाभाग । सोमवंसविद्यारविता भव । अहो अनास्थातोऽपि विज्ञात एवास्य राजर्वेरायुष्य मौरसः
सम्बन्धः) जात ! प्रणम से गुरुम् ।)

[कुमारश्चापधर्ममञ्जलिं बद्ध्वा प्रणमति ।]

राजा—वत्स । आमुष्मां नय ।

कुमार.—[स्वगतम्]

यदि हार्दमिदं श्रुत्वा पिता ममायं सुतोऽहमस्येति ।

उत्सङ्गवर्धितानां गुरुषु भवेत्कीदृशः स्नेहः ॥१०॥

राजा—भगवति ! किमायमन्यमोजनम् ।

राजा—हो सकता है । क्योंकि इसे देखते ही भाँखें भर आई हैं हृदयमे वात्सल्य प्रेम उमड़ा
पड़ रहा है, जो जित गया है मेरा शरीर पीरज छोकर काँपने लगा है और मेरी ऐसी इच्छा
हो रही है कि इसे बठाकर कसकर अपने गलेसे लगानूँ ॥६॥

कञ्चुकी—भगवती ! वस यही खटो रहिए । [तपस्विनी और कुमार खड़े रहते हैं ।]

राजा—मैं प्रणाम करता हूँ माता जी ।

तापसी—हे बड़ानागो ! आपसे क्याबधा बडे । [मन ही मन] घरे ! बिना बताए ही पण
चल जाता है कि दूध राजा और कुमारका संग सम्बन्ध है [प्रकट] देखा अपने पिताको
प्रणाम करो ।

[हाथमे वनुर लिए हुए ही कुमार हाथ जोड़कर प्रणाम करता है ।]

राजा—वत्स । सुन्हायी बडी आशु हो ।

कुमार—[मन ही मन] जब भुम्हे केवल यही सुनकर इतना प्रेम उमड़ रहा है
पिता है और मैं इनका पुत्र हूँ, तब उन वालकोंको अपने माता-पितासे कितना
जो उन्हीकी गोदमे पलकर बडे होते होंगे ॥१०॥

राजा—कहिए भगवती ! कैसे आई ?

प्राज्ञः । महंतो बन्धु संबंधी । (को नु खल्वेष सवाशासनः पादपीठे स्वयं महाराजेन संयम्यमान-
शिलग्रहकस्तिष्ठति । अहो सत्यवतीसूचितोऽयं मे पुत्रक प्राप्नु । महान् बन्धु सवृत्तः ।)
[इति सङ्घर्षं परित्यजति ।]

राजा—[उर्वशीं दृष्ट्वा ।] वत्स—

इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकनतत्परा ।

स्नेहप्रसवनिर्भिन्नमुद्वहन्ती स्तनांशुकम् ॥१२॥

तापसी—आह एहि । पञ्चगुणज्ज मारुतं । (आत एहि । प्रत्युद्वज्ज मातरम् ।) [इति
कुमारं गृह्णति ।]

उर्वशी—अयं पादबंधनं करोमि । (अन्न-पादबन्धनं करोमि ।)

तापसी—बध्ने भस्त्राणो बहुमदा होहि । (वत्से मर्त्यबंधुमदा भव ।)

कुमार—अन्नं अग्निबाहये ।

उर्वशी—[कुमारमुन्नमितमुखं परिब्रूय ।] बन्धु पितरं धारायित्तमो होहि । [राजान-
मुपेय ।] जेदु जेदु महाराजो । (वत्स विवरमारापयित्वा भव । जयतु जयतु महाराजः ।)

राजा—स्वाम्यं तुमस्यै । इतः प्राप्तताम् [इत्यर्पित्वं ददाति ।]

[उर्वशी उपविशति । सर्वे वयोपितमुपविशन्ति ।]

तापसी—बध्ने । एषो गृहीतपित्तो प्राज्ञ संपदं कथमहरो संवृत्तो । ता एहस्त दे भस्त्राणो
समक्षं शिखादिरो हृत्पश्चिखेनो । ता विसृजेदुं इच्छामि । उपयज्यद्वा महं अस्तमयम्नो ।
(वत्से । एष गृहीतपित्तः प्राप्नुः साम्प्रतं कथमहरो सवृत्तः । तदेतस्य ते भर्तुः समक्षं नियतितो
हस्त-मिक्षेपः । तद्विसर्जयितुमिच्छामि । उपयज्यते यथाधमधमः ।)

देवकर ही मैं समझ गई कि यह मेरा पुत्र प्राप्नु है । अरे ! यह तो बहुत बड़ा हो गया है ।
[बड़ी प्रशान्त होकर प्रपत्नी है ।]

राजा—[उर्वशीको देखकर बावकसे] वत्स ! सो ये तुम्हारी माँ या गई जो तुम्हारी
भोर टकड़ी की लमाए देल रही है और जिनकी बोली तुम्हारे श्रेयसे टपके हुए दूधसे भीग गई
है ॥१२॥

तापसी—यहाँ प्राप्नो बैठा ! आगे बढ़कर माताका स्वागत करो । [कुमारको लेकर उर्वशीसि-
मित्तमेको माँसे वदती है ।]

उर्वशी—माताजी ! आपके घरखोमे प्रणाम करती हूँ ।

तापसी—अपने स्वामीकी प्यारी बनी रहो ।

कुमार—माँ ! मैं प्रणाम करता हूँ ।

उर्वशी—[कुमारका मुख ऊपर उठाकर उसे शरीरसे चिपटावी हुई] वत्स ! पिताकी सेवा
करनेवासे बनी । [राजाके पास जाकर] जय हो, महाराजजी जय हो ।

राजा—पुत्रवतीका स्वागत है । याचो, यहाँ बैठो । [अपने धाँधे आसनपर बैठा लेते हैं ।]

[उर्वशी बैठती है । सब यथास्थान बैठते हैं ।]

तापसी—वत्से ! ठीकसे पढ़-लिखकर अब यह कुमार कथं पारण करने-योग्य हो गया है ।
इसनिसे तुम्हारे स्वामीके सामने हो तुम्हारी परोहर तुम्हें सौंप देती हूँ । अब जाना भी चाहती
हूँ क्योंकि अभी आयमना बहुत-सा नाम मेरे बिना पढ़ा होना ।

उर्वशी—धिरस्त भ्रातृं देविलस्य महिषदरं भवितुमिहम् । ए सङ्कशोमि विसृजितुं ।
अप्युप्यं उत उबरोहिदुं । ता मच्छतु भगना पुणो रंस्तथा । (धिरस्यायां दृष्ट्वाऽपिकतरमपि तु-
प्लासि । न शनोमि विलष्टुम् । अन्याय्य पुनरुबरोह्यम् । तदुपप्लव्यायां पुनरुदंताय ।)

राजा—भग्न ! भगवते ध्यवनाय मां प्रलिपातय !

तापसी—एवं भोऽह ! (एव भवतु ।)

कुमारः—भ्रातृ ! सत्यं यदि निवर्तसे मायप्याधवं नेतुमर्हसि ।

राजा—अपि यत्त ! उपित त्वया पूर्वस्मिन्नाशने । द्वितीयमप्यासितुं तव समयः ।

तापसी—जाद ! गुह्यस्यो वप्राणं भयुजिह्व । (जात ! गुरोर्वचनमनुतिष्ठ ।)

कुमारः—तेन हि ।

यः सुप्तवान्मदङ्गे शिरस्यदकण्डूयनोपलब्धसुखः ।

तं मे जातकलार्पं प्रेषय मणिकण्ठकं शिखिनम् ॥१३॥

तापसी—[विहस्य ।] एवं करोमि । (एव करोमि ।)

उर्वशी—भग्नवदि ! पादपंढर करोमि । (भवति ! पादबन्धन करोमि ।)

राजा—भगवति ! प्रहृष्टमामि ।

तापसी—सौम्य भोऽह तुम्हाणम् । (स्वस्ति भवतु गुप्सम्यम् ।)

[इति निष्क्रान्ताः ।]

राजा—[उर्वशीं प्रति] कल्याणि ।

उर्वशी—इतने दिनोंपर तो भाप मिली हैं । अभी भापसे बिसरकर जो ही नहीं मरा
इसलिये भापको जाने देनेकी जो ही नहीं चाहता । पर भापको रोक रखना भी बड़ा सम्पाय
होगा, इसलिये भाप जाती हैं तो जार्जे पर फिर दर्शन अवश्य दीक्षिणा ।

राजा—माताजी ! भगवान् भवनेसे मेरा प्रणाम कहिएगा ।

तापसी—अच्छी बात है ।

कुमार—भ्रातृ ! यदि भाप खलभुव लोटे जा रही हो तो मुझे भी आश्रम सेतो
बली ।

राजा—मेरे बेट ! तुम ब्रह्मचर्य आश्रमसे रह चुके हो अब तुम्हें गृहस्थ आश्रमसे
रहना चाहिए ।

तापसी—बेटा ! पिताजीका कहना मानो ।

कुमार—तो भाप मेरे उठ खड़े-बड़े पसोवाते मणिकण्ठक नामके मोरको यहाँ भेज
दीक्षिणा जो मेरी गीदम खोया-खोया अपना धिर मेरे हाथसे छुत्रताए जानरा आनन्द
जिया करता था ॥१४॥

तापसी—[हँसकर] भन्दा येव दूंगी ।

उर्वशी—भगवती ! मैं जरखोमे प्रणाम करती हूँ ।

तापसी—तुम दोनोंरा बत्थाए हो । [बली जाती है ।]

अद्याहं पुत्रिस्थामश्रयः सत्पुत्रेणामुना तव ।

पौलोमीसंभवेनेव जयन्तेन पुरन्दरः ॥१४॥

[उर्वशी स्मृत्या रोदति ।]

विदूषकः—[विलोम सावेगम् ।] भो किं शुं क्त्तु सम्पर्दं अत्तहोदी एक्कवे अत्तुमुही संवृत्ता । (भोः किं नु खलु साम्प्रतमत्र भवती एवंपदे भयमुन्मी संवृत्ता ।)

राजा—[सावेगम् ।]

किं सुन्दरि ! प्ररुदितासि ममोपनीते वंशस्थितेरधिगमान्महति प्रमोदे ।

पीनस्तनोपरिनिपातिभिरानयन्ती मुक्तावलीविरचनां पुनरुक्तिमस्तैः ॥१५॥

[इति अस्या वाप्य प्रगाटि ।]

उर्वशी—मुलातु महाराजो । यद्वत् उर पुनरुत्तणसमुत्प्रेण भाणदिण विमुमरिण भि । दाणि मर्हिस्संकिण्णेषु सुमरिणो सभमो मह हिममं आमासेसि । (श्रुणोतु महाराजः । प्रयत्नं पुनः पुनरुत्तणसमुत्प्रेणानन्देन विस्मृतास्मि । इदानीं महेंद्रसंकीर्तनेन स्मृतः समयो मन हवयमायासयति ।)

राजा—कम्पितां समप ।

उर्वशी—महं पुरा महाराजगहीवहिममा गुक्तावसंमूढा मर्हिरेण भाणत्ता । (महं पुरा महाराजगहीवहृदया गुक्तावसंमूढा महेंद्रेण आजापिता ।)

राजा—किमिति ।

राजा—[उर्वशीसे] हे कस्याणी ! तुम्हारे इस सुपुत्रकी पाकर आज मैं सभी पुत्रवासोक्षे सही प्रकार बड़ गया हूँ जैसे इन्द्राणीसे उत्पन्न हुए जयन्तकी पाकर इन्द्र ॥१५॥

[उर्वशी कोई बात स्मरण करके रीने लगती है ।]

विदूषक—[देखकर, धबराए हुए] भरे ! यह क्या ? यह सचानक घावकी भाँजोमें भाँपू क्यों आ गए ?

राजा—[धबराकर] हे सुन्दरी ! ऐसे घुन भवसरपर तुम रो रही हो जब मेरे कानकी बजानेवाला पुत्र मुझे मिला हो । तुम अपने मीठे स्तनोपर गिरनेवाले धाँसुप्रोक्षे हृदये हारकी लड़ी व्यर्थ क्यों बना रही हो ॥१५॥ [उसके धाँसू पोंछता है ।]

उर्वशी—मुनिए महाराज ! पहले तो मैं पुत्रका मूँह देखकर ऐसी भयन हो गई कि सब मूल ही गई थी पर जब आपन ममो इन्द्रका नाम बिना तो मुझे एक बात स्मरण हो आई है जो मेरे हृदयको कचोट रही है ।

राजा—कहो, क्या बात है ।

उर्वशी—बहुत दिन हुए, आपसे प्रेम करनेपर भरत मुनिने मुझे धाप दे दिया था । उस धापसे मैं बहुत धबरा गई थी । तब इन्द्र भगवान्ने मुझे शांता दी थी.....

उर्वशी—जब सो मे विप्रसहो राएसी तुद समुपगलस वसकरसस मुहं वेमिलससदि तदा तुए भूपो ॥ मम समीपं प्राचतस्य त्ति । तदो मए महाराजविभोभभोददाए जादमेतो एव विज्जागम-
लिमितं भ्रमवदो पवससस भस्समे एतो पुत्तभो घज्जाए सच्चववीए हत्थे जप्पभासं लिखित्तो ।
घज्ज पिदुरो अराहएसमत्थे संवुत्तो त्ति कत्तमंतोए ताए लिज्जादिवो एतो मे बोहाज्ज भाज्ज । ता
एत्तिभो मे महाराएस सह संवासो । (यदा स मे विप्रसहो राजपिस्त्वमि समुपगलस्य वसकरस्य
मुख प्रेक्षित्यते तदा स्वया भूयोऽपि मम समीपमावन्तव्यमिति । ततो भया महाराजविभोगभीष्टतया
जातमान एव विद्यावमनिमित्तं भगवत्तद्व्यवनस्यायमे एव पुत्रक प्राप्तिः । सत्यवत्या हस्तैश्चकार
निक्षिप्तः । यद्य पिदुराराधनसमर्थं, समुत्त इति कृतवन्त्या स्या निर्यासित एव मे दीर्घाविरागः ।
तदेतानाम्ने महाराजेन सह संवाचः ।)

[सर्वे विप्राः नाटयन्ति । राजा मोहमुपगच्छति ।]

विदूषकः—असहृष्टं असहृष्टं । (अप्रहृष्यमप्रहृष्यम् ।)

कञ्चुकी—समाश्रयितु समारवसितु महाराजः ।

राजा—[समारवस्य समि रगासम् ।] अहो तुलप्रार्थिता वसस्य ।

आशवासितस्य मम नाम सुतोपलब्ध्या सद्यस्त्वया सह कुशोदरि विप्रयोगः ।

व्यावर्तितातपरजः प्रथमाभ्रवृष्ट्या वृक्षस्य वैद्युत इवाग्निरुपस्थितोऽयम् ॥ १६ ॥

विदूषकः—अहं तो अयो अशत्वात्प्रयो संवुत्तो । सर्वं तन्नेमि भसभवदा बह्वं मेविहम
तपोवर्णं गंदर्वं त्ति । (यव सोऽप्योज्ज्वलानुगम्य समुत्त । साम्प्रत तर्कमाम्यत्र भवता वरकस
पृहीत्वातपोवनगन्तव्यमिति ।)

उर्वशी—यही कि तुम्हारे प्यारे भिन्न राजपि अब तुमसे उत्पन्न हुए पुत्रका मुँह देख जें सब
हुम फिर मेरे पास लौट आना । इसलिये जैसे ही यह बातक उत्पन्न हुआ जैसे ही मैंने इस बरसे
इसे भगवान् ध्यवगने आश्रममे पढ़ाने-लिखानेके बहाने आयां सत्यवतीके पास धरोहर बनाकर छोड़
दिया था कि यदि नहीं आप इसे देख लेंगे तो मेरा आपका निखोड़ हो जायगा । आज उन्होंने
मेरे इस धिरजोय पुत्र प्रायुकी पिताकी सेवा करने योग्य समझकर लौटा दिया है । इसलिये वस
आजतक ही मैं, महाराजके साथ रह सकती थी ।

[सब दुखी होते हैं और राजा मुक्ति हो जाते हैं ।]

विदूषक—बड़ा बुरा हुआ, बड़ा बुरा हुआ ।

कञ्चुकी—[आइस बेधावा हुआ] धीरेज धरिए महाराज । धीरेज धरिए ।

राजा—[भूखसे जामकर लवी गाँस लेते हुए] घरे, देव मेरे मुँहको फूटी आँखो नहीं देलना
चाहता । आज ही तो पुत्रको पाकर मेरा जो ठंडा हुआ था और आज ही तुम चल दी । वह तो
ठीक ऐसा ही हुआ जैसे पहली वर्षासे ठंडाए हुए कृतापर श्वानक बिजली दूट पड़ी हो ॥ १६ ॥

विदूषक—जान पड़ता है कि कुछ और भी विपत्तियाँ दूट पड़नेवाली हैं । मुझे तो अब यह
खटक हो रहा है कि वरकस पहनकर महाराज कहीं तपोवनको न चल दें ।

उर्वशी—मैं वि मंदभादति किदयितुमस्त पुत्रस्त नामास्तंरं समारोहरोह भवतिदकञ्ज
विषमोप्रभुहि महाराधो समायइस्तति । (यामपि मन्दभागिनी कुतविनयस्य पुनस्त साभानन्तरं
स्वर्गादोहरोनावगितवामौ विप्रयोगमुखौ महाराजः समर्पयिष्यति ।)

राजा—मुन्दरो मा मेवम् ।

न हि सुलभविप्रयोगः कर्तुमात्मप्रियाणि प्रभवति परवत्ता शासने तिष्ठ भर्तुः ।

अहमपि तव सुलावद्य विन्यस्य राज्यं विचरितभृमयूथान्याश्रयिष्ये वनानि ॥१७॥

कुमारः—ताहंति तातः धुङ्गयपारितायां धुरि दम्पं नियोजयितुम् ।

राजा—अपि यस्य । मा मेवम् ।

शमयति गजानन्यान्गन्धर्विणः कलभोऽपि सन्

भवति सुतरां वेगोदग्रं भुजङ्गशिशोर्विपम् ।

भुवमधिपतिर्वालावस्थोऽप्यलं परिरक्षितुं

न खलु वयसा जात्यैवार्यं स्वकार्यसहो भरः ॥१८॥

आर्यं तातम् ।

कञ्जुकी—आज्ञापयतु देवः ।

राजा—मनुचनारमात्यवर्णयत्तं भूहि तन्निष्कतामायुषो राज्यमभिवेक इति ।

कञ्जुकी—एवाभाष्यति देवः । [इति दुःखितो विक्रान्तः ।]

उर्वशी—घोर भेरे जैश्री आभाषिनीके लिये भी महाराज यही सीवते होगे कि पढ़ा-लिखा
पुत्र पामेसे इसका काम हो गया है इसलिये अब यह स्वर्गको चली जा रही है ।

राजा—ऐसा न कहो सुन्दरी ! तुम जित पराधीनताके कारण मुझे छोड़कर जा रही हो उधरे
मगवाही वस्तु तो मिल नहीं सकती इसलिये जानो, तुम अपने स्वामीकी आज्ञाका पालन करो
घोर में भी आज तुम्हारे पुत्रकी राज्य सीरकर दूर-उपर पहुँचवाते हरिणोंसे भरे सपीबनमें
जाकर रहने लगता हूँ ॥१७॥

कुमार—पिताजी ! रमके जित जुएकी बड़ा बँस सीकता हो उधे छोटेसे बघड़ेके कन्धेपर
बाजना ठीक नहीं है ।

राजा—ऐसा न कहो बरस ! जैसे ऊँची जातिके हाथीका बच्चा भी हुंसे हाथियोंको पछाड़
सकता है घोर हँसीसेका बिष बड़े साँपके बिष जैसा हो भयंकर होता है, वैसे ही राजाका पुत्र,
बातब होते हुए भी वृत्तीका ठीकसे पालनकर सकता है क्योंकि अपने-अपने कर्तव्य पालन
करनेकी शक्ति अवस्थासे नहीं बरत जाति या स्वभावसे ही उत्पन्न हो जाती है ॥१८॥ आर्य
तातम् ।

कञ्जुकी—आज्ञा कीजिए महाराज ।

राजा—मेरी सीखते अमात्य परिवर्त्तो धूना दो कि चायुके राज्यमभिवेकका प्रबन्ध किया
जाय ।

कञ्जुकी—जैश्री महाराजकी आज्ञा । [दुगो होकर चला जाता है]

[सर्वे दृष्टिविघातं श्रवन्ति ।]

राजा—[आकाशगवलोक्ष्य ।] किन्तु अन्तु निरग्रे विद्युत्संघातः ।

उर्वशी—[विलोक्य ।] अग्नौ भगवंत्तारदो । (यहो भगवान् नारदः ।)

राजा—[निपुणगवलोक्ष्य ।] अग्रे भगवान् नारदः । य एषः—

गोरोचनानिकपपिङ्गजटाकलापः संलक्ष्यते शशिकलामलवीतसूत्रः ।

मुक्तागुणातिशयसंभृतमण्डनश्रीः हेमप्ररोह इव जङ्गमकरूपधृत् ॥१६॥

अर्घ्यं तावदस्मै ।

उर्वशी—[यक्षोक्तमादाय ।] इमं भगवदे अर्पितुम् । (इमं भगवतेऽर्पयामि ।)

[ततः प्रविवक्षति नारदः । सर्वं उत्तिष्ठन्ति ।]

नारदः—विजयतां विजयतां मध्यमलोकावासः ।

राजा—[उर्वशीं हस्तादध्वं मावायाक्षयं च ।] भगवन्निवाद्ये ।

उर्वशी—भगवंत्प्रणमामि । (भगवन् प्रणमामि ।)

नारदः—अधिरहितो दम्पतो भूयास्ताम् ।

राजा—[आश्रमगतम् ।] अग्निं नामैवं स्वयम् । [कुमारमाविलम्ब्य प्रकाशम् ।] वत्स भग-

वन्तमभियावयस्व ।

कुमारः—भगवान् । श्रीर्वशेभ्य आयुः प्रणमति ।

[सब लोगोकी भाँति बकराँच हो जाती हैं ।]

राजा—[आकाशकी ओर देखकर] खुले आकाशमें यह बिजली कौसी ?

उर्वशी—[देखकर] धरे ! ये तो भगवान् नारद हैं ।

राजा—[ध्यानसे देखकर] हाँ, ये तो सचमुच भगवान् नारद ही हैं जो गोरोचनाके समान पीली जटावाले कन्धेपर चन्द्रमाकी कलाके समान डबला जनेऊ पहने और मोतियोंकी माला गलेमें पहने हुए ऐसे चतुरे चले आ रहे हैं मानो सुनहरी छायावाला कोई चलता किरता कल्पवृक्ष उतरा चला आ रहा हो ॥१६॥ सामो, इनकी पूजा करनेके लिये सब सामग्री तो ले आओ ।

उर्वशी—[सब सामग्री लाकर] यह रही देवियोंकी पूजाके लिये सामग्री ।

[नारदजी प्रवेश करते हैं, सब बैठ खड़े होते हैं ।]

नारद—भगवन् लोककी रक्षावाले महाराजकी जय हो, जय हो ।

राजा—[उर्वशीके हाथसे पूजाकी सामग्री लेकर ओर पूजा करके] भगवन् ! अभिवादन करता हूँ ।

उर्वशी—भगवान् ! मैं प्रणाम करती हूँ ।

नारद—तुम दोनोंका कमी बिछोह न हो ।

राजा—[मन हो मन] यदि कहीं ऐसा हो जाता : [कुमारको गले लगाकर प्रकट]

वत्स ! भगवान् नारदकी प्रणाम करो ।

कुमार—भगवन् ! उर्वशीका पुत्र आयु आपकी प्रणाम करता है ।

नारदः—घायुष्मानेति ।

राजा—धर्मं विष्टरोऽनुगृह्यताम् ।

नारदः—तथा । [इत्युपविष्टः ।]

[सर्वे नारदमनुगमयन्ति ।]

राजा—[सधियम्] भवन् किमागमनप्रयोजनम् ।

नारदः—राजन् । धूम्रतो महेन्द्रसन्देशः ।

राजा—अवहितोऽस्मि ।

नारदः—अप्यपदार्थं मया वनममनाय कृतशुद्धिं भवन्तपनुज्ञास्ति ।

राजा—विज्ञातव्यमिति ।

नारदः—त्रिधातवर्षाभिर्मुनिभिर्दाविद्धो महान्पुरापुराङ्गरो भवति । भवति सांयुगीनः । सहायी नः । तेन न त्वया दारुणं संस्कारमव्ययम् । इयं ओर्वशी यावदायुस्तव सह्यमन्वदित्वा भवति ।

उर्वशी—[अथपार्थ ।] अग्नहे सन्तं विम मे हिमपादो अमणीर्व । (अहो शत्रुमिव मे हृदयावपनीतम् ।)

राजा—परमानरिम देवेष्वरेण ।

नारदः—मुम्हारी बडी घायु हो ।

राजा—देवति । आहूय, वह आसन पवित्र कीजिए ।

नारदः—अच्छी बात है ।

[नारद मुनिके बैठनेपर सब बैठ जाते हैं ।]

राजा—[अग्रतासे] कहिए भवन् । कैसे मानेका कष्ट किया ?

नारदः—इन्नि कुछ संदेश भेजा है वह मुनि—

राजा—जी मैं भुल रहा हूँ ।

नारदः—अपनी देवी दासिसे सबके मनकी बातें जाननेवाले इन्द्रने ज्ञेय देता कि आप न जानेकी तांयारी कर रहे हैं तो उन्होंने यह कहाया है—

राजा—हाँ, उन्होंने क्या आज्ञा दी है ?

नारदः—त्रिधातवर्षी मुनियोंने भविष्यवाणी की है कि देवताओं और राजाओंमें बड़ा मारी सङ्ग्राम होनेवाला है और संशयमें कुछन आप, हम लोगोकी सदा सहायता करते ही हैं इसलिये आप जल्द न छोड़ें । यह उर्वशी जीवन-भर आपकी सख्ती रहेगी ।

उर्वशी—[अलग] मेरे जीवा लो बंटे जाँटा निरुक्त भया ।

राजा—मैं तो इन्द्रका सेवक ही हूँ ।

नारद — युक्तम् ।

त्वत्कार्यं वासवः कुर्यात्तं च तस्येष्टमाचरेः ।

सूर्यः समेधयत्यग्निमग्निः सूर्यं च तेजसा ॥२०॥

[आकाशमवलोच्य ।] रम्भे । उपनीयतां स्वयं महेंद्रेण सभृतं कुमारस्यायुषा यौवराज्याभिवेकः ।

[प्रविष्टा ययोक्तहस्ताऽन्तरसः ।]

अन्तरस — भगवन् इमे अभिसेधस्तभारा । (भगवन्नेतेऽभिसेधस्तभारा ।)

नारद — उपवेश्यतामयमायुष्माभद्रपीठे ।

रम्भा — इदो वक्ष्ये । (इतो वक्ष्ये ।) [इति कुमार भद्रपीठ उपवेशयति ।]

नारद — [कुमारस्य शिरसि कनकमावर्त्यं ।] रम्भे । निर्वर्त्यतां शेषो विधिः ।

रम्भा — [ययोक्तं निर्वर्त्यं] वक्ष्ये । परम्भ भगवन्तं पिबरो व । (वक्ष्ये । प्रणम्य भगवन्तं पितरो व ।)

[कुमारो यथाक्रमं प्रणयति ।]

नारद — स्थितिं भवते ।

राजा — कुलपुत्रधरो भवः ।

उर्वशी — पिबुरो माराहृमो हीहि । (पिबुराराधको भवः ।)

नारद — ठीक ही है — जैसे सूर्य अपने ठेकते अभिषेक की उक्तताता है और अग्नि सुमकी अपने तेजसे बढ़ावा है वैसे ही इन्द्र तुम्हारा काम करें और तुम इन्द्रका काम करो ॥२०॥ [आकाशकी ओर देखकर] रम्भा ! स्वयं इन्द्रने कुमार आयुके युवराज बननेके उत्सवके लिये जो सामग्रियाँ भिजी हैं वे सब ले तो आओ ।

[ऊपर कही हुई सामग्रियाँ लिए हुए अन्तराष्ट्र आसी हैं ।]

अन्तराष्ट्र — महाराज, अभिषेककी सामग्री आ गई ।

नारद — आयुष्मानुको पीठे पर बैठाओ ।

रम्भा — इधर नत्त इधर (कुमारको भद्रपीठ पर बैठाती हैं ।)

नारद — (कुमारके शिरपर अभिषेक करते) रम्भाजी शेष विधि पूरी कीजिए ।

रम्भा — (विधि-पूर्वक अभिषेक करती है) वत्स, महाराज नारद और माता पिताको प्रणाम करो ।

(कुमार क्रमसे प्रणाम करते हैं ।)

नारद — आपका कल्याण हो ।

राजा — कुलके प्रधान बनो ।

उर्वशी — पिताके भक्त बनो ।

[नेपथ्ये वैतालिकद्वयम् ।]

वैतालिको—प्रियतमो युवराज ।

प्रथम—

अमरमुनिरिवात्रिर्जलस्रोत्रेरिवेन्दुः

बुध इव शिशिरांशोर्बोधनस्येव देवः ।

मम पितुरनुरूपस्त्वं गुणैर्लोककान्तैः

अविशयिनि समस्ता वंश एवाशिपस्ते ॥२१॥

द्वितीय—

तव पितरि पुरस्तादुन्नतानां स्थितेऽस्मिन्

स्थितिमति च विभक्ता त्वय्यनाकम्प्यैर्यै ।

अधिकतरमिदानीं राजते राजलक्ष्मीः

हिमवति जलधौ च व्यस्ततायेव गङ्गा ॥२२॥

धर्मरस—[उर्वशीमुपेय ।] विह्वला पित्रस्तहो पुत्रस्त बुधरात्रिरीप भक्त्यो मविरहेण मम पतिरि । [विष्टया प्रियतमो पुत्रस्य युवराजप्रिया मर्तुरविरहेण च वर्धते ।]

उर्वशी—[सा साहस्यो एषो ममबुधयो ।] कुमार हस्ते गृहीत्या । [एहि वक्ष्य । जेदुमादरं मविरहेहि । [ननु साधारण एवोऽभ्युदय । एहि यत्त । ज्येष्ठमातरमधिकमन्दस्य ।]

[कुमारः प्रतिच्छेते ।]

(नेपथ्ये दो वैतालिक)

दोनों—युवराजकी विमर्ष हो ।

पहला वैतालिक—तुम अपने माता-पिताके वैसे ही योग्य पुत्र बनो जैसे ब्रह्माजीके पुत्र अमरमुनि मणिजी हुए, यत्रि मुनिके चन्द्रमा हुए, चन्द्रमाके बुध और बुधके पुरुरवा हुए हैं । तुम्हारे इस जगते निराने बशमें और सब भागीवर्ष तो बहने ही फल चुके हैं ॥२१॥

दूसरा वैतालिक—कैसे-कैसे दोनोंमें श्रेष्ठ तुम्हारे पिता हैं और उनके तुम वैसे साहसी और गर्वादा पाकनेवाले पुत्र हो । तुम दोनोंमें एकसो भक्ति रखनेवाली यह राज्य-लक्ष्मी उसी प्रकार और भी सोमा देने लगी है जैसे हिमालय वर्षत और समुद्र दोनोंमें समान रूपसे भक्ति करने वाली मगनी सोमा देती है ॥२२॥

धर्मरस—[उर्वशीवे पास जाकर] सखी उर्वशी ! पुत्रके योग्यताप्रियेककी और सदा पतिवे पास रहनेकी तुम्हें क्याई ।

उर्वशी—यह योग्यता तो हम तुम दोनोंका एक-सा ही है । [कुमारका हाथ धामकर] यद्यो दास । बड़ी माँकी प्रणाम कर माँसो ।

[कुमार जानको तयार होता है ।]

राजा—तिष्ठ । सममेव तत्र भवत्याः समीपं यास्यामस्तावत् ।

नारद—

आयुषो यौवराज्यश्रीः स्मारयत्यात्मजस्य ते ।

अभिषिक्तं महत्सेनं सैन्यापत्ये मरुत्वता ॥२३॥

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि भयवता ।

नारद—भो राजन् । किं ते भूयः प्रियमुपकरोषु पाकजासन ।

राजा—पक्षि मे शयनाग्रस्तम्नः किमस्तः परमिच्छामि । तथापि—इषमस्तु ।

[भरतवाक्यम्]

परस्परविरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम् ।

सङ्गतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम् ॥२४॥

अपि च ।

सर्वस्तरतुदुर्गाणि सर्वो भद्राणि परयतु ।

सर्वैः कामान्वामोतु सर्वैः सर्वत्र नन्दतु ॥२५॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।]

॥ इति पञ्चमोऽङ्कः ॥

समाप्तमिव धीकान्तिवासकृतं विक्रमोर्वशीयं नाग्य ओदकम् ।

राजा—द्वंद्वो, हम सब लोग साथ ही देखीके पास बैठते हैं ।

नारद—तुम्हारे पुत्र आयुका यह यौवराज्याभिषेक जस अस्तवका स्वरण होता रहा है जिसमें इन्द्रने कार्तिकेयकी सेनापति बनाया था ॥२३॥

राजा—यह सब भगवान् इन्द्रकी ही कृपा है ।

नारद—हे राजन् ! इन्द्र आपकी ओर कीन-सी इच्छा पूरी करें ।

राजा—भगवान् इन्द्रकी प्रसन्नतासे बढ़कर और मुझे चाहिए ही क्या ? फिर भी मैं चाहता हूँ कि—

[भरतवाक्यम्]

जो सक्ष्मी और सरस्वती सदा एक दूसरेसे पीठ करे रहती हैं और जिनका मिलकर रहना महा कठिन है, वे दोनों, सज्जनोके कल्याणके लिये एक साथ रहने लयें ॥२४॥ और, सबकी आपत्तियाँ दूर हो जायें, सब फलें फूलें, सबके मनोरम पुरे हो और चारों ओर सुख ही सुख फैल जाय ॥२५॥

[सब चले जाते हैं ।]

॥ पाँचवाँ अंक समाप्त हुआ ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासका रचा हुआ विक्रमोर्वशीय नाटक समाप्त हुआ ॥

मालविकाग्निमित्रम्

पात्र-परिचयः

पुरुषाः

सूत्रधारः—नाटकस्य प्रबन्धकर्त्ता
 पार्ष्णादर्शकः—सूत्रधारस्य सहचर ।
 राजा—अग्निमित्राख्यो विदिशाधीशः ।
 बाह्वक—प्राचीन मन्त्री ।
 बहूपकः—राज्ञो मित्रम् ।
 बभ्रुवर्मा—अन्तःपुराध्यक्षो बृद्धप्राह्वणः ।
 भण्डारः—हरपत्तन—नाट्याचार्यो ।
 छारतः—कुम्भः । किङ्करविशेषः ।
 वैतादिकः—स्तुतिपाठकः ।

स्त्रियः

मालविका—मालवाधीशमाघवत्सेनस्य भगिनी ।
 पारिणी—अग्निमित्रस्य प्रधाना महिषी ।
 इरावती—अग्निमित्रस्य तृतीया पत्नी ।
 परिषादिका—कौशिकी नाम्नी माघवत्सेन-
 सचिवस्य सुमतेविधवा भगिनी ।
 बभ्रुवर्मा—धारिण्याः परिचारिका ।
 मालविकायाः सखी ।
 यशुकरिका—उद्यानपालिका ।
 कौमुदिका—दासी ।
 सम्राट्पति—पारिजातिकायाः परिचारिका ।
 निपुणिका—इरावत्याः परिचारिका ।
 वयसेना—प्रतीहारी ।
 केटी—अपरा दासी ।
 मदनिका } विदर्भदेशीय
 ज्योतिष्मका य } शिल्पिकमाह्वयम् ।

॥ श्रीः ॥

॥ मालविकाग्निमित्रम् ॥

प्रथमोऽङ्कः

एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतव्रह्मफले यः स्वयं कृत्तिवासाः
कान्तासंमिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद्यतीनाम् ।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्विभ्रतो नाभिमानः
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः ॥१॥

[नाट्यम्ते]

सूत्रधार.—सप्तमतिविस्तेरुः । [निषण्ण्यभिमुखमवलोक्य] मारिय । इतस्तावत् ।

[प्रविश्य ।]

परिपाश्वर्यक—भाय । अयमस्मि ।

सूत्रधार.—अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिवदः कालिदासप्रणितवस्तुमालविकाग्निमित्रं नाम
नाटकमस्मिन्वसन्तोस्तत्र प्रयोज्यमिति । तद्वारम्यतां सपीतम् ।

परिपाश्वर्यक—मा तावत् । प्रणितमश्रुतां मातसौमिलिककविपुत्रासीनां प्रबन्धातिशय
पतमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कर्म बहुमानः ।

पहला अङ्क

अपने भक्तोको मनचाह फल देनेका बेजोड़ जहार अपने पास होते हुए भी जो केवल
हाथीकी खात मोड़कर ही अपना काम चला लेते हैं, अपने साथे शरीरमे अपनी पत्नीको
बँटाए रहनेपर भी जो सत्कारके भोगोंसे अपना मन दूर हटाए रहते हैं और अपने भाँटी
कपोसे सारे सत्कारका पालन करते हुए भी जो अभिमानको पास नहीं फटकने देते, ऐसे
सत्कारके स्वामी महादेवजी, पापकी घोर से जानेवाली हमारी बुद्धिको ऐसा भिदा दें कि
हमारा मन अच्छे काम करनेमे ही लगे ॥१॥

[भान्नी हो चुकनेपर]

सूत्रधार—अब और बेर नहीं करनी चाहिए [निषण्ण्यकी घोर देखकर] भरे गार्ई मारिय ।
इधर तो आमी ।

परिपाश्वर्यक—[आकर] लीजिए, भा गया हूँ, भायें !

सूत्रधार—देखो । विद्वानोंकी समाने कहलाया है कि इस वसन्तोत्सवपर कालिदासका
लिखा हुआ मालविकाग्निमित्र नामका नाटक ही खेलाजय । इसलिये चलकर सपीत तो छोड़ो ।

परिपाश्वर्यक—आप यह नाटक क्यों खेच रहे हैं ? भाय, सोमिलिक घोर कविपुत्र जैसे
बड़े बड़े प्रसिद्ध कवियोंके नाटक छोड़कर आप आजकलके इस नौसिखिए कवि कालिदासके
नाटककी इतना क्यों मान दे रहे हैं ?

सूत्रधारः—प्रवि । विवेकयिष्यान्तमभिहितम् । पश्य ।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवयवम् ।

तन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भवन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥२॥

पारिषादर्वक—प्रार्थयिष्याः प्रमाणम् ।

सूत्रधारः—तेन हि स्वरतां भवान् ।

शिरसा प्रथमगृहीतामाज्ञामिच्छामि परिषदः कर्तुम् ।

देव्या इव पारिषयाः सेवादक्षः परिजनोऽयम् ॥३॥

[इति निष्क्रान्तो ।]

॥ इति प्रस्तावना ॥

[ततः प्रविशति बकुलावतिका ।]

बकुलावतिका—आरुणसिंह देवीए पाररणीए । अइरप्पजतीकदेसं छलियं एण एट्ठमं भवदेए कीरिती मालविकासि लट्ठाअरियं अरुणएरासं पुच्छिहुं । ता दाव संगीतसालं गच्छन्ति । [आलप्यादिम देव्या पारिषया । अरिअरु वृत्तापदेसं छलिक नाम नाट्यमन्तरेण कीहरी मालविकासि नाट्याचार्यमार्गेणलुदासं अट्ठुम् । तत्तावत्तगीतशास्त्री गच्छामि । [इति परिष्क्रमति]

[ततः प्रविशत्यामरलुहस्ता कुमुदिनी]

सूत्रधार—अरे, यह बात तो तुमने अपनी बुद्धिकी विषय देकर कही है । देखो—पुराने होनेसे ही न तो सब अच्छे हो जाते हैं, न नये होनेसे सब बुरे होते हैं । समझदार लोग तो दोनोंको परखकर उनमें से जो अच्छा होता है उसे अपना लेते हैं और जिन्हें अपनी समझ होती ही नहीं है, उन्हें तो जैसा दूसरे समझ देते हैं उसे ही न ठीक मान बैठते हैं ॥२॥

पारिषादर्वक—तो बीसा आप ठीक समझें ।

सूत्रधार—हाँ, तो सब भाव देर न कीजिए । हमने मुझे पहलेसे ही जो आज्ञा दे रखी है, उसका मैं वैसे ही आदरके साथ पालन करना चाहता हूँ जैसे आदरके यह स्वामिभक्त दासी अपनी स्वामिनी महारानी पारिषदीकी आज्ञा पालन करके दफर पसी आ रही है ॥३॥

[धोनी चले जाते हैं ।]

॥ प्रस्तावना ॥

[बकुलावतिका आती है ।]

बकुलावतिका—महारानी पारिषदीने मुझे आज्ञा दी है कि जाकर नाट्याचार्य प्रार्थमलुदाससे पूछो कि मालविकाने जो बहुत दिनोंसे छलिक नामका नाट्य सीखना आरम्भ किया था उसे वह कहां तक सीखा पाई है तो जल्द संगीतजाताकी । [धूपती है ।]

[हथके धेंपूठी लिए हुए और उसकी ओर देखते हुए कुमुदिनी आती है ।]

बकुलावलिका—[कुमुदिनी हँसती है] हला कोमुदीए ! कुबो वे दाहि एमं धीरवा । जं सगी-
वेए वि प्रविक्कमन्तो इवो दिह्दु ए वेसि । (सखि कोमुदिने ! कुतस्त इवानोमियं धीरवा । यत्-
समीपेनान्यतिक्रामन्तो दृष्टि न ददासि ।)

कुमुदिनी—अम्हो बकुलावलिका ? सहि ! देवीए इदं तिप्पिसासादो भाणीदं एणमुहा-
ससाहं अंगुलीममं तिसिदं एण्णमाप्रन्तो तुह उवात्तम्भे पडिमाहि । (अहो बकुलावलिका
सखि ! देव्या इदं तिप्पिसकासादानोत्ता नागमुद्रासनापमद्भुतोयक स्निग्ध मिध्यायन्तो तवोपासम्भे
पवितास्मि ।)

बकुलावलिका—[विलोक्य] ठाले सज्जति विट्ठो । इमिस्सा अंगुलीमएण उभिण्ण-
किरणेसरेण कुमुदिने विमं वे अण्णहत्थो पडिमाहि । (स्वाने सज्जति दृष्टिः । अनेनाङ्गुलीय-
केतोद्भूतकिरणेसरेण कुमुदिन इव तेऽग्रहस्तः प्रतिभाति ।)

कुमुदिनी—हला ! कहि वसिक्कासि । (सखि ! कुन प्रसिक्तासि ।)

बकुलावलिका—देवीए एण्ण अण्णरेण एहामारिमं अण्णमएणदासं पुण्णिदं उववेसणहत्थे कीरिस्सी
मासविण्णति । (देव्या एव वचनेन नाट्याचार्येण गणदास प्रष्टुमुपदेशग्रहणं कीदृशी मासविकेति ।)

कुमुदिनी—सहि ईरिसेण आचारेण असाण्णहिदा वि सा क्कं अहिस्सा दिट्ठा । (सखी !
ईदृशेन ध्यापारेण सन्निहितार्थं सा कथं भर्ता दृष्ट्वा ।)

बकुलावलिका—आम्ह सो जणो देवीए पात्तण्णवी चित्ते विट्ठो । (आम्ह ! स जनों देव्याः
पार्श्वगतस्त्रिभे दृष्टः ।)

कुमुदिनी—कहू विम । (कथमिव ।)

बकुलावलिका—[कुमुदिनीको देखकर] क्यों सखी कोमुदिन ! ऐसी भी क्या बात है कि
तुम मेरे इतने पाससे निकली जाती जाती हुई भी इधर देखतो तक नहीं हो ?

कुमुदिनी—अरे ! तुम हो बकुलावलिका ? सखी ! अभी सुनारके यहाँसे महारानीकी यह
नागमुद्रा बड़ी हुई अँगूठी छाई है । उसीकी ध्यानसे देख रही थी कि तुमने भट्ट लाना कब दिया ।

बकुलावलिका—[देखकर] तबमुच बड़ी बड़ी वस्तुपर तुम्हारी भाँके उलझी है । इस
अँगूठीसे केसरके समान जो किरणें निकल रही हैं उनसे तुम्हारी हथेली भावो फूल उठी है ।

कुमुदिनी—क्यों सखी ! तुम जा किधर रही थी ?

बकुलावलिका—मैं भी महारानीके कहनेसे नाट्याचार्य गणदासजीसे यह पूछने जा रही
थी कि मासविका कैसा सोख-पड़ रही है ।

कुमुदिनी—क्यों सखी ! इतनी रोक-टोक होते हुए भी महाराजने उसे देख कैसे लिया ?

बकुलावलिका—अरे ! वह चित्रने महारानीके पास बँधी हुई है न ! उसकी महाराजने
देख लिया ।

कुमुदिनी—कैसे ?

बकुलावतिका—सुख । चित्तसालं गदा देवी लदा पद्मगदप्रसारं चित्ततेह प्रार्थारिप्रस्त
मालोभन्ती चिट्ठि मट्टा म उर्वान्द्रो । (शृणु । चित्रशाचा गता देवी गदा प्रत्यश्रवणं रोगा
चित्रलेसामाचार्यस्यालोकयन्ती तिष्ठति भर्ता चोपस्थित ।)

कुमुदिनी—तरो तरो । (तनस्तत ।)

बकुलावतिका—उपप्राराणन्तरं एकासखोवविट्ठेण मट्टिखा चित्तगदाए देवोए परिभ्रम-
मभयद प्रातण्णदारिद्र्य देविल्लभ देवी पुच्छदा । (उपचारमन्तरमेकासतोपविष्टेन भर्ता
चित्रगताया देव्या परिजनपद्मगतामासन्नदारिका रट्ठा देवी पृष्टा ।)

कुमुदिनी—किं ति । (निमित्त ।)

बकुलावतिका—प्रपुण्या इमं दारिद्र्य देवोए प्रातण्णा मासिहिवा किं एवमेहएति ।
(भद्रार्थे दारिका देव्या मासम्मा प्रातिल्लिता किं नामवेयेति ।)

कुमुदिनी—प्रातिदियिसेसेसु माभरो एवं करोति । तरो तरो । (प्राकृतिविशेषेप्यादयः पत्र
करोति । ततस्तत ।)

बकुलावतिका—तरो भवहोरिप्रमभ्रलो मट्टा शक्तिरो देशी पुणोपि मनुबधिव । तरो कुमारिए
बहुलक्ष्मीए आभक्तिवम् । मज्ज एता मातविएति । (तरोभवीरित्तवचनो भर्ता शक्तो देशी
पुनरप्यनुबधुम् । तत कुमार्या बहुलक्ष्म्याश्चातम् । भार्य एता मातविकेति ।)

कुमुदिनी—[संहितम्] सरित बहु बालभाषस्त । भरो भवर कहेहि । (सहय अनु
बालभाषस्त । भरोऽथर कथय ।)

बकुलावतिका—किं अण्हं । तपय मातविप्रा सविसेस मट्टिणो रंसखपहादो एखीमभि ।
(किमप्य । सान्प्रत मातविका सविशेष भर्तुर्दर्शनवशाद्रक्षते ।)

बकुलावतिका—सुन । जब महारानीजी चित्रशालामे पहुँचकर चित्रकलाके आचार्यके
ह्रादके बनाए हुए मीले चित्रोंको देख रही थी, उसी समय स्वामी भी वहाँ पहुँच गए ।

कुमुदिनी—तय, तव ।

बकुलावतिका—प्रसाम भारीए हो शुकनेपर महाराज भी महारानीके साथ एक ही
भासनपर बैठ गए । तब चित्रमे बनी हुई महारानीकी दासियोमे पास ही खड़ी हुई कन्याको
देखकर महाराजने यह पूछा—

कुमुदिनी—कदा ?

बकुलावतिका—किं चित्रमे देवीके पास बैठी हुई यह कौन सुन्दर लडकी है ?

कुमुदिनी—सुन्दरको और सबका मन खिच ही जाता है । हाँ, तो फिर क्या हुआ ?

बकुलावतिका—देवीको चुप देखकर स्वामीका भाषा ठनका और उन्होंने फिर यही बात
दुहराई । रही बीच कुमारी बहुलक्ष्मी बोल उठी—भार्य ! यह मातविका है ।

कुमुदिनी—[भुसकराती हुई] बन्पी हो तो ठहरो । हाँ, तो फिर क्या हुआ ?

बकुलावतिका—और होता क्या ? अब मातविकापर ऐसा क्रोध पहरा पड़ गया है कि उसे
महाराजके पास ही नहीं होने दिया जाता ।

शुमुदिनो—हृत्ता ! अद्यपि ह्यस्तलो लिख्यं । अहं हि पुरं अद्यपि तोष्यं देवीए उच्यते-
इति । (सति ! अनुष्ठितात्मनो निषेधम् । अद्यप्येन श्रुत्वा तोष्यं देव्यापुरमेत्यादि ।)

[इति निष्क्रान्तः ।]

बहुलायतिरा—[परिष्कृष्टायतोक्तम् ।] एते एष्टापतिर्यो संशोदनात्तरो लिख्यपतिः ।
आव रो अत्तालं रंतेमि । (एव वात्यावायः संशोदनात्तरो निषेधम् । याददत्ता आत्मानं
दत्तेत्यादि ।) [इति परिक्रामति ।]

[प्रविश्य ।]

गणदासः—शायं कुरु सचेत्पाणि कुम्बिका बहुमता । न पुनररमाकं भाव्यं इति निष्क्रान्त-
गौरवम् । तमाहि ।

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं व्रतं चाद्युषं
रुद्रेणोदमुमाकृतप्यतिकरे स्वाङ्गे विमर्कं द्विधा ।।

श्रेणुण्योद्भवमत्र लोचनरितं नानारसं हृदये
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम् ॥४॥

बहुलायतिरा—[उच्यते ।] अत्र वक्तव्यम् । (पार्श्वं वन्दे ।)

गणदासः—भद्रं विरञ्जीव ।

बहुलायतिरा—अन्नादेवो पुष्टिः अवि उच्येतत्प्राप्त्यै एतद्विषयिनिर्गतिं यो गिरता
माताविपत्तिः । (पार्श्वं । देवी वृष्ट्याप्युपदेसप्रहरी भातिविपत्तिनिर्गतिः यः निष्क्रान्तः आत्मादिदेवि ।)

गणदासः—भद्रे ! विज्ञाप्यतां देवी परमनिपुला मेधाविनी चेति । किं वक्तुम् ।

यद्यत्प्रयोगविषये भाविकस्युपदिश्यते मया तस्यै ।

तत्तद्विशेषकस्यात्प्रत्युपदिशतीव मे बाला ॥५॥

बकुलावतिका—[आत्मगतम् ।] अदिक्कमती विम इरावदि ऐवखानि । [प्रकाशम्]
विदया दाहि धो सिस्सा जाए मुक्कमलो एवं तुस्सदि । (अतिक्कामन्तीमिदेरावती पश्यामि ।
कृतापेदानी वः सिध्वा यस्या मुक्कजन एव तुप्पति ।)

गणदासः—भद्रे ! तद्विषयमनुभवात्पृच्छामि । कुतो देव्या तत्प्राप्तमानोतम् ।

बकुलावतिका—अस्ति देवीए वण्णावरो भावा वीरसेलो खाम । लो भट्टिणा एम्मवा-
तीरे अन्नवात्तुगे ठाविरो । तेख सिप्पाहिप्रारे ओम्मा इधं वारिएत्ति भणिम भइणीए
देवीए उवाअणं वेसिहा । (अस्ति देव्या वण्णावरो भावा वीरसेलो नाम । समर्था वसंवातीरेअत्त-
पालकुगे स्थापित ।) हेन सिप्पापिकारे योग्येव वारिकेत्ति अखिन्वा भगिन्वा देव्या उपायनं प्रेषिता ।)

गणदासः—[स्वगतम्] आकृतिविशेषप्रत्ययादेनामनुभवस्तुर्का संभावयामि । [प्रकाशम्]
भद्रे ! मयापि परास्तिता अस्तिव्यम् । यतः ।

पात्रविशेषे न्यस्तं गुह्यान्तरं प्रजति शिल्पमाधातुः ।

जलमिव समुद्रशुक्लौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ॥६॥

बकुलावतिका—अज्ज ! कहि दाहि धो सिस्सा । (प्रार्थं । कृपेवावी वः सिध्वा ।)

गणदास—इदानीमेव पञ्चाङ्गादकमभिनयमुपदिश्य मया विध्यम्यतामिदमभिहितं
वैयक्यावलोकनगबाधमात्रा प्रयातमासेवमाना तिष्ठति ।

गणदास—भद्रे ! महाराजीसे कह देता कि वह बड़ी बतुर और समझदार है । और
यह कहें, मैं जो जो भाव उसे सिखाता हूँ उन्हें जब वह और भी सुन्दरताके साथ करके
बिलाने लगती है तब ऐसा जान पड़ता है मानो वह जस्टे मुझे ही सिखा रही हो ॥५॥

बकुलावतिका—[मन ही मन] जान पड़ता है कि वह इरावतीको जो पछाड़ ही देगी ।
[अकट] परम है आपकी वह सिध्वा जिसके मुह उससे इतने प्रसन्न है ।

गणदास—भद्रे ! ऐसे शिष्य मिलते कहीं हैं ! इसीलिये तो मैं तुमसे पूछता हूँ कि
देवीको यह मिल कहाँसे गई ?

बकुलावतिका—देवीके एक वीरसेन नामके बूरेके भाई हैं उन्हें महाराजने जमंदा तीरपाते
अन्नपाल दुर्गकी देव-देवताका नाम लौप रक्खा है । उन्होंने ही अपनी बहिन धारिणी देवीके पास
इस बन्धायो यह कहलान्तर भेज दिया है कि यह माने बलानेका नाम भवो भाँति घोष भुकेगी ।

गणदास—[मन ही मन] पर रूप-रबसे तो यह किसी ऊँचे परानेकी जान पड़ती है,
क्योंकि सिखानेवालेकी जला पण्डे ही सिध्वाके पास पहुँचकर उस प्रकार खिचती ॥ उसे
यादवता बल समुद्रकी छीपीमे पहुँचकर मोतो बन उठता है ॥६॥

बकुलावतिका—क्यों मार्य ! आपकी सिध्वा इस समय है कहाँ ?

गणदास—अभी उसे पाँचों भवोका अभिनय सिखाकर मैंने उसे छोड़ा बिश्राम करनेको
बहा है । इसलिये वह तरोवरकी ओरवाली खिड़कीपर बंठी बवार से रही है ।

बकुलावतिका—तेण हि पुरणो प्रणुजास्यानु मं भण्णो । जाव हं प्रणुजस्स परितोत्तलिवेदणोत्त
उत्तसहं वड्ढेमि । (तेन हि पुनरनुजानातु मामर्थः । यावदस्या प्रार्थस्य परितोपनिवेशेनोत्साहं
वर्धयामि ।)

गणदासः—हृदयतां सखी । अहमपि सख्यसखः स्वगृहं गच्छामि ।

[इति निष्क्रान्ती ।]

॥ मिश्रविष्कम्भकः ॥

[ततः प्रविशत्येकान्तस्थितपरिजनो मन्त्रिणा सेतुहस्तेनान्वास्यमानो राजा ।]

राजा—[धनुर्बाजितलेखमात्मं विलोक्य] बाहूतक ! किं प्रतिपद्यते वंदनं :

अमारयः—देव आरम्भविनाशम् ।

राजा—सदिसमिधानीं ओतुमिच्छामि ।

अमारयः—हृदयवानीमनेन प्रतिविवक्षितम् । पूज्येनाहमादिष्टः । भक्तः पितृव्यपुत्रः कुमारी
मायवसेनः प्रतिधुतसबाग्धो मनोभान्तिकमुपसर्पन्नन्तरा स्वदीयेनान्तपासेनावस्कृत्य गृहीतः । स स्वया
मदनेनया सकलप्रसोदयो भोक्तव्य इति । एतन्मनुष्यो विदितम् । यत्तुस्यामिजनेषु राज्ञां वृत्तिः ।
सतोऽत्र मध्यस्थः पूज्यो भवितुमर्हति । सोवरा पुनरस्य ग्रहणविषये विनष्टः । तदवैपल्याय
प्रपत्तिष्ये । अथवा अवश्यमेव मायवसेनो मया पूज्येन ओचयितव्यः भूयतामभिसंधिः ।

बकुलावतिका—तो आप मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं उसे यह कहकर उतसाहित करूँ कि आप
उससे इतने प्रसन्न हैं ।

गणदास—हाँ हाँ, जाकर मित्रों को अपनी सखीसे । मैं भी छुट्टी पाकर अपने घर जा रहा हूँ ।
[दोनों जाते हैं ।]

॥ मिश्र विष्कम्भकः ॥

[एकाग्रतया अपने समासदीके साथ राजा बैठे हुए हैं और मंत्री अपने हाथमें एक पत्र लिए
हुए हैं ।]

राजा—[मंत्री जब पत्र वाँच चुके तब] कवी बाहूतक ! विद्वान्के राजा चाहते क्या हैं ?

अमारयः—अपना उत्पन्नाश, देव ।

राजा—अच्छा, पढ़कर तो सुनाओ उनका संदेश ।

अमारयः—उन्होंने लिखकर भेजा है आपने जो मुझे यह आज्ञा दी थी—कि “आपके चचेरे
भाई कुमार मायवसेन पहलेसे आपके लिए संबंधके अनुसार मुझसे अपनी बहुत व्याहृतिके लिये जब
पले आ रहे थे तो बीचमें ही आपके राज्यकी सीमाके रखवालोंने उन्हें पकड़कर बाँध लिया है ।
उन्हें आप मेरे कहनेसे स्त्री और बहनके साथ छोड़ दीजिए ।” इस संबंधमें मुझे यह कहना है कि
आप यद्ये हैं और यह भी आप गनी आँखि जानते हैं कि समाज व्यवस्थाके रचनाओंके अग्रे कैसे
निपटने चाहिए । इसलिये आप चाहें तो हम लोगोंका बीच-वधाव कर सकते हैं । हाँ, इस
घर-पकड़ने मायवसेनकी बहुत कहीं खो गई है । मैं उसे खोजनेका जतन करूँगा और आप

मौर्यसचिवं विमुञ्चति यदि पूज्यः संयतं मम श्यालम् ।

मोक्षा माधवसेनस्ततो मया बन्धनात्सद्यः ॥७॥

इति ।

राजा—[शरोपम्] कथं कायविनिमयेन मयि व्यवहरत्यनात्मनः । बाहृतक । प्रकृत्यग्नित्र प्रतिहृतकारी न मे वैदर्भः । तद्यावद्यकले स्थितस्य पुनस्तकल्पितसमुन्मूलनाय धीरसेनमुप बपञ्चकमाज्ञापय ।

प्रजापत्य — यवाज्ञापयति देवः ।

राजा — धयदा किं भयामन्यते ।

प्रजापत्य — शास्त्रदृष्टमाह देवः ।

अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरुढमूलत्वात् ।

नयमरोपखशियिलस्तरिय सुकरः समुद्धतुम् ॥८॥

राजा—तेन ह्यविषय तत्रकारवचनम् । इदमेव वचनं विमिश्रमुपाश्रयं समुद्योज्यतां सेनापति ।

प्रजापत्य — तथा । [इति निष्क्रान्तः]

[परिजनो यथाव्यापारं राज्यावमभित स्थितः ।]

[प्रतिष्ठः ।]

भी यदि भापयसेमकी छुगना चाहते हो तो आप मेरी इसकी बात मान लीजिए कि आपने जितने साते मौर्य सचिवको जो पकड़ रक्ता है उसे यदि आप छोड़ दें तो मैं भी माधवसेनको मनी छोड़ दूँगा ॥७॥

राजा—[शोषके] क्या वह ठीक मुझसे इस प्रकार बदलेका व्यवहार करना चाहता है । देखो बाहृतक । यह विषमका राजा स्वभावसे ही मेरा शत्रु है और जो कुछ मैं कहता हूँ, उसका ठीक जवाब ही किया करता है । इसलिये वीरसेनके मायकत्वमे जितनी सेवा है उसे आज्ञा दो कि जाकर उसे जल्द से जल्द फँके, क्योंकि हम लोग पहले ही सफल कर चुके हैं कि ऐसे छोटे शत्रुको जल्द फँकना ही ठीक है ।

प्रजापत्य — जैसी देवकी आज्ञा ।

राजा—पर इसने आपकी क्या सम्पत्ति है ?

प्रजापत्य—देवने जो पहले ही शास्त्रकी बात कह दी है—जो शत्रु भयो महीपर दंठा हो और जो मनी प्रकार अपनी प्रजामे नष्ट न जया सका हो वह नये रोपे हुए दुर्बल पौधेके समान बड़ी सरलताके साथ उखाड़ा जा सकता है ॥८॥

राजा—तब तो शास्त्रकी बात यहाँ ठीक लागू हो रही है । इसलिये शास्त्रके इसी वचनके आधारपर सेनापतिको उपाय करो ।

प्रजापत्य — मन्त्री बात है ।

[चला जाता है ।]

[सब सेवक राजाके चारों ओर सटे हुए धपता धपता काम कर रहे हैं ।]

विदूषक—आलस्योऽहं तत्तमववा रक्षाः । गौरवम् । चित्तेहि दास उवाच । जह मे
अदिच्छाविद्वत्पदिकीया नामविद्या पञ्चस्ववसला होविति । मद् अ त तहा विद दास से एवेवेमि ।
(आलस्योऽसि तत्र भवता राजा । गौरव चित्तय तावदुपायम् । यथा मे महच्छादप्रतिश्रुतिमाल-
विका प्रत्यक्षदर्शना भवतीति । मया च सत्तया कृत तावत्स्वमे निवेदयामि ।) [इति परिक्रामति ।]

राजा—[विदूषक दृष्ट्वा ।] अयमपर कर्मन्तरसचिवोऽस्मान्मुपस्थितः ।

विदूषक—[उपसम्य । वन्द्यु माव । (वर्यता भवाद् ।)

राजा—[सतिर कम्पम् ।] इत आस्यताम् ।

[विदूषक उपविष्टः ।]

राजा—अपि कश्चिदुपेयोपायदर्शने ध्यायतु मे प्रज्ञाचक्षुः ।

विदूषक—रमोऽस्ति हि पुण्यः । (प्रयोगविधिं पृच्छ ।)

राजा—कथमिव ।

विदूषक—[कथं] एवमिव । (एवमिव ।)

राजा—ताम् मयस्य निपुणमुपकांक्षम् । इदानीं कुर्यादियमसिद्धास्वप्तिस्मन्तारम्भे ययमाशंसामहे ।

कुत—

अर्थ सप्रतिमन्त्रं प्रभुरधिगन्तुं सहायवानेव ।

। दृश्यं तमसि न पश्यति दीपेन विना सञ्चलुरपि ॥६॥

[नेपथ्ये]

विदूषक—[जाकर] मुझे महाराजने आज्ञा दी थी कि गौरव । कोई ऐसा उपाय सोच निकालो
कि जिस बातविकाको मैंने आज्ञाक चित्रमें देखा लिया है उसे मैं अपनी भाँसोसे तो देख पाऊँ ।
मैंने उसके द्विजे जो टग निकाला है उसकर उसे अभी महाराजको बताता हूँ । [घूमता है ।]

राजा—[विदूषककी देखकर] ओ हज़ारे दूसरे कामोंके यही भी या पहुँचे ।

विदूषक—[पास पहुँचकर] यमाई है ।

राजा—[सिर हिलाकर] भागो यहाँ बैठो [विदूषक बैठ जाता है ।]

राजा—कहो जिससे मिलनेके लिये हम तय रहे हैं उससे मिलनेका कोई उपाय तुम्हारी
बुद्धिमें माना या नहीं ?

विदूषक—भयभी, यह सुझिए कि हमने काम बनाया कैसे है ।

राजा—कैसे, कैसे ?

विदूषक—[कानमें] ऐसे ।

राजा—वाह मित्र ! तुमने अभी चतुराईका काम किया है । यह काम है जो बड़ा टेढ़ा,
पर तुमने ऐसा भारन किया है उससे तो कुछ कुछ आज्ञा हो जाती है । क्योंकि आज्ञावाले
कामोंमें जब कोई साधी मिल जाय तो समझ लेना चाहिए कि अब काम बन गया । क्योंकि
प्राज्ञोंवाला भगुण्य भी अंधेरेमें बिना दीपकके कुछ नहीं देख सकता ॥६॥

[नेपथ्यमें]

भल बहु विफल्प्य । राज्ञः समक्षमेवावयोरचरोत्तरयोर्ध्वान्तिर्न विध्यति ।

राजा—[आकर्ण्य ।] सखे ! त्वत्सुनीसिपायपस्थं पुष्पमुद्भ्रून्तम् ।

विदूषक—फलं वि अद्वयेण दक्षिणस्तसि । [पतनप्रवृत्तिरेण प्रवसति ।]

[ततः प्रविशति कञ्चुकी ।]

कञ्चुकी—देव देव ! अमात्यो विज्ञायति । अनुहिता शमो राजा । एतो पुनर्हरवत्तणवासी ।

उभावभिनयाचार्यौ परस्परजयैपिण्णौ ।

त्वां द्रष्टुमुद्यतौ साक्षाद्भावाविश शरीरिणौ ॥१०॥

राजा—शक्येयं तौ ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देव । [इति निष्क्रम्य साम्यां सह प्रविश्य ।] इत इतो भवन्ती ।

गणदास—[राजानं विसोक्य ।] अहो कुरासवो राजमहिषा ।

न च न परिचितो न चाप्यरम्यश्चकितमुपैमि तथापि पार्श्वमस्य ।

सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे भवति स एव नवो नवोऽयमण्योः ॥११॥

बहु वस, अपनी ककवाड रहने दो । अभी महापराजके सामने ठीक-ठीक निर्णय हो जाता है न, कि हम दोनोंमें कौन छोटा है कौन बड़ा ।

राजा—[सुनकर] ओ मित्र ! सुन्हायी नीतिके पेड़में फूल तो दिखाई देने लगे ।

विदूषक—पौड़ी हो बैरमें फल भी बेलिएगा ।

[कञ्चुकी आता है ।]

कञ्चुकी—देव ! मनीषी कहते हैं कि चाणकी आज्ञाका पालन हो गया । अभिनयके दोनों प्रापाय हरदत्त और गणदास भावस्थे एक दूसरेकी हारानेकी आनकर भावसे मिलनेके लिये बाहर खड़े ऐसे नम रहे हैं मानो स्वयं नाटकके भाव ही शरीर धारण करके बने आए हों ॥१०॥

राजा—मेरे सामने दोनोंको भीतर ।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा [बाहर आकर दोनोंको ले आता है ।] द्धरते पादप भाव सौग, द्धरते ।

गणदास—[राजाकी देखाकर] वाह, क्या कहते हैं राजाके सेवके भी ! इनके तो वास्तवक पहुँचना दूसर भाग रहा है क्योंकि—ऐसी बात नहीं है कि इनसे पहलेसे जान-पहचान न हो या ये देखनेमें भयनर लगते हों, फिर भी न जाने क्यों मुझे इनके पास जाते हुए बड़ी हिचक हो रही है । समुद्रके सपान ज्योंके त्यों रहते हुए भी वे मेरी आँखोंको पल-पलमें मगे-मगे से दिखाई पड़ रहे हैं ॥११॥

हरदत्त—महत्त्वसु पुरुषाकारमिदं ज्योतिः । तथाहि ।

द्वारे नियुक्तपुरुषाभिमतप्रवेशः सिंहासनान्तिकचरेश संहोपसर्पन् ।

तेजोभिरस्य विनिवर्तितदृष्टिपातैर्वाक्यादृते पुनरिव प्रतिवारिताऽस्मि ॥१२॥

कञ्चुकी—एष देवः । उपसर्पतां भवन्ती ।

दोमो—[उपश्य] विजयतां देवः ।

राजा—स्वागतं भवद्भ्याम् । [वरिजिन विस्तार्य ।] आसने तावदप्रभवतोः ।

[दोमो परिजनोंपरीतपोषासनवोपविष्टौ ।]

राजा—किमिदं शिष्योपदेशकान्ते गुणवशाद्यार्याभ्यामप्युपस्थानम् ।

गणदास—देव ! भूयताम् । मया सुनीपसिन्धवविद्या वृद्धिमिता । वत्सप्रयोगश्राप्तिम् । देवेन देव्या च परिगृहीतः ।

राजा—बड जाते । ततः किम् ।

गणदास—सौश्रूमपुत्रा हरदत्तेन प्रमानपुत्रपसमक्षमय मे न पावरजसापि तुस्य हृत्पद्मिभिः ।

हरदत्त—देव ! समयमेव प्रसन्न परिचाकरः । अन्नमन्नतः किल मम च समुद्रपल्लवयोदि-
वातरमिति तत्रमवानिभं मां च शास्त्रे प्रयोगे च विमुक्तु । देव एव नो विशेषतः प्राप्तिः ।

हरदत्त—पुत्रपके रूपमे राजाका तेज सचमुच बडा प्रभावशाली है । क्योंकि मद्यपि द्वारपालने मुझे यहाँतक पहुँचा दिया है और मैं इनके सिंहासनके पास रहनेवाले कञ्चुकीके साम ही भीतर भी आया हूँ फिर भी इनके तैयारी मेरी आँखें इसनी चौपिचाई गई हैं मानो बिना रोके ही मैं बहनेसे रोका दिया गया होऊँ ॥१२॥

कञ्चुकी—सीजिए ये हैं देव ! आप लोग आये बड जाइए ।

दोमो—[आने बढकर] देवकी जय हो ।

राजा—आप दोनोंका स्वागत है । [सेवककी देखकर] आप दोनोंके लिये आसन तो लाओ ।

[सेवकोंके साथ हुए आसनोंपर दोमो बैठते हैं ।]

राजा—कहिए, यह सो शिष्योंको पढ़ानेका समय है । इस समय आप दोनों आचार्य एक साथ कैसे भा पहुँचे ?

गणदास—सुनिए देव ! मैंने बड़े योग्य मुझे विद्या सीखी है और इतने दिनोंसे सिला गी रहा हूँ । देव और देवीने मेरी विद्याका आदर गी किया है ।

राजा—हाँ, यह तो मैं जानता हूँ । तो हुआ क्या है ?

गणदास—भात इस हरदत्तजीने एक बड़े राजपुरुषके आगे यह डीव हाँकी है कि गणदास तो मेरे पैरोंकी धूलके बराबर भी नहीं हूँ ।

हरदत्त—देव ! इन्होंने ही पहले मेरी निन्दा की है और यह कहा है कि हमारे और हरदत्तमें तो समुद्र और गङ्गोका भन्सार है । इसलिये अब आप ही इनके और मेरे शास्त्र ज्ञानकी और प्रयोग दिखानेकी चतुर्दक्षी स्वयं परीक्षा कर लें । क्योंकि आप ही परीक्षक होकर यह बता सकेंगे कि हम दोनोंमे कौन बढकर है ।

विदूषक — समर्थं यदृणुष्यते । (समर्थं प्रतिज्ञातम् ।)

गणदास — प्रथमः कस्यः । अपहितो देवः ओतुमर्हति ।

राजा — तिष्ठ यावत् । यत्नयन्तमत्र देवो भवत्येव । तदस्याः पण्डित-कौशिकीसहितायाः समलमेव स्थाप्यो व्यवहारः ।

विदूषक — गुट्टु भव भलादि । (तुष्टु भवान्गच्छति ।)

आचार्यो — यद्देवाय रोचते ।

राजा — मोदतम् । धाम् प्रस्ताव निवेद्य पण्डितकौशिकया सार्यमाहूयतां देवी ।

कञ्जुकी — यवात्तापयति देवः । [इति निष्क्रम्य सपरिप्रायिकया देव्या सह प्रविष्टः ।] इत इती भवती ।

भारिणी — [परिप्रायिका विलोभय ।] भगवदि ! हरदत्तस्त गणदासस्त अ संरम्भं कहु पेशति । (भगवति ! हरदत्तस्य गणदासस्य च संरम्भे कथं पश्यति ।)

परिप्रायिका — अहं स्वपञ्चापसाधनयूया । न परिहीयते प्रतिवादिनो गणदासः ।

भारिणी — जहं वि एव तहं वि रामपरिग्रहो महासत्तल्लं जयहरदि । (यद्यप्येव तथापि राजपरिग्रहं प्रधानत्वमुपहरति ।)

परिप्रायिका — अयि । राजीसदभावजनमात्मन्यमपि चिन्तयतु भवती । यय ।

अतिमात्रभासुरत्वं पुष्यति भानोः परिग्रहादन्तलः ।

अधिगच्छति महिमानं चन्द्रोऽपि निशापरिगृहीतः ॥१३॥

विदूषक — बाह लो ठीक कही ।

गणदास — यही सही । लो देव तावधान होकर मुनें ।

राजा — समी ठहरो । यदि हम मिश्रण करेगे तो देवी समझेंगी कि हमने पक्षपात किया है इसलिये उनके पीर पड़ता कौशिकीके सामने ही मिश्रण किया जाना चाहिए ।

विदूषक — यह लो आप ठीक कह रहे हैं ।

दीनों भाषाये — जैसा देव ठीक समझें ।

राजा — मोदतम् ! पण्डित कौशिकी पीर महारानीकी सब बातें बताकर यहाँ बुला लो सामो ।

कञ्जुकी — जैसी देवकी आज्ञा । [जाता है पीर परिप्रायिका तथा महारानीकी लेकर जाता है ।] इधरसे आये देवी इधरसे ।

भारिणी — [परिप्रायिकाकी पीर देखकर] क्यों भगवती ! हरदत्त पीर गणदासके भ्रातृमें आप बिचकी पीठ खींचती है ?

परिप्रायिका — आप अपने पलके हारकी लो बात ही न सोचिए । गणदास कभी अपने ओठवालेसे नहीं हार सकते ।

भारिणी — यह लो ठीक है । फिर भी राजा जिसपर कृपा करदें, वह लो पीठ ही जायगा ।

परिप्रायिका — समी ! आप यह स्मरण रहिए कि आप भी महारानी हैं । देखिए — जैसे गुरदनी इपासे समीमें बहुत चमक आ जाती है, वैसे ही रातकी कृपा पाकर चन्द्रवामे भी बहुत चमक आ जाती है ॥१३॥

विदूषकः—यह उभट्टिया देवी पीठमहिषं पण्डितकोसिंहं पुरोवर्तिन तत्तभोवी पारिणी ।
(अभि ! उपस्थिता देवी पीठमहिषा पण्डितकोसिकी पुरस्कृत्य तत्रभवती पारिणी ।)

राजा—वश्याभ्येनाम् । येथा—

मङ्गलालंकृता भाति कौशिकया यतिवेषया ।

अयी विप्रहवत्येव सममध्यात्मविद्यया ॥१४॥

परिव्राजिका—[उपेत्य] विनयतां देवः ।

राजा—भगवति अभियावमे ।

परिव्राजिका—

महासारप्रसवयोः सदृशक्षमयोर्द्वयोः ।

धारिणीभूतधारिसयोर्भव भर्ता शरच्छतम् ॥१५॥

पारिणी—जेहु जेहु खज्जउत्तो । (अयत्तु जयत्वार्यपुत्रः ।)

राजा—स्वागतं देव्ये । [परिव्राजिका चित्तोक्य ।] भगवति ! क्रियतामात्मनपरिग्रहः ।

[सर्वं उपविशन्ति ।]

राजा—भगवत्प्रभवतोहंरत्नमण्यवतयोः परस्पर विज्ञानप्राप्त्यपिखीर्भगवत्या प्राशितक-
पदमप्यातितव्यम् ।

परिव्राजिका—[सस्मितम्] मलमुपासम्नेन । यस्मै सति प्राप्ते रत्नपरीक्षा ।

विदूषक—लो, महाराजी पारिणीजी अपनी साधिन पढ़िता कौशिकीको साथ लिए हुए हथर
पक्षी सा रही हैं ।

राजा—हाँ, देख लो रहा हूँ कि साधुनोके वेशवाली कौशिकीके साथ सुन्दर बदन श्रीर
माभूपणोसे सजी हुई महारानी ऐसी दिखाई पड़ रही हैं नाजो अध्वारम-विद्याके साथ तीनों वेदो-
की देवी शरीर पाएँ किए हुए पक्षी सा रही हो ॥१४॥

परिव्राजिका—[पास जाकर] देवीकी जय हो ।

राजा—भगवती ! अभियादन करता हूँ ।

परिव्राजिका—संकटों शरदोतक, महादेवस्त्वियोको उत्पन्न करनेवाली जन पुण्यी और पारिणी
देवीके भाप स्वामी बने रहे जिनमें सहन करनेकी शक्ति एक जैसी हो है ॥१५॥

पारिणी—जय हो, प्रार्थपुत्रकी जय हो ।

राजा—देवीका स्वागत है । [परिव्राजिकाकी ओर देखकर] आइए, बैठिए भगवती !

[सब बैठते हैं]

राजा—भगवती ! आचार्य हरदत्त और गणदास आज एक भगड़ा लेकर आए हैं कि हम
दोनोंमें कोन अधिक योग्य है । अब आपही इनका भगड़ा निपटाइए ।

परिव्राजिका—[मुखकराकर] ठिठोली न कीजिए । मया नगरके होते हुए कहे राजको परछ
पावमे की जाती है ?

- राजा—नैतरेषाम् । पण्डितकीर्तिकी खलु भययती पक्षपातिनावहं देवी च ।
 आचार्यो—सम्यगाह देवः । मध्यस्था भगवती नौ गुणदोषतः परिच्छेत्तुमर्हति ।
 राजा—तेन हि प्रस्तुयतां विवादः ।
 परित्राजिका—देव प्रयोगप्रधान हि नाट्यज्ञास्त्रम् । किमत्र धाम्यवहारेण । कथं या देवी
 मन्यते ।
 देवी—जहं मं पुच्छसि तवा एवाहं विवाहो एष्य ए मे रोमदि । (यदि मा पृच्छसि तर्दतमो-
 विवाद एव न मे रोपते ।)
 गणदास—देवि ! न मां समानविद्यया परितपनीयमवगन्तुमर्हसि ।
 विदूषकः—भोदि वेषप्रामो उदरभरितंवाह । किं मुहा वेषलुकाखं एवेहं । (भवति पश्याम
 उदरभरितवादम् । किं मुधा वेतनवानेनैतेषाम् ।)
 देवी—एवं कतहन्पिप्रोप्ति । (ननु कतहन्प्रियोर्प्रति ।)
 विदूषकः—मा एष्यं । चण्डि ! अण्णोष्णकलहन्पिआखं मतहन्वीखं एकदरंस्ति मलिज्जिदे
 कुदो उदरामो । (यैवम् । चण्डि ! अन्धोम्यकतहन्प्रिययोर्प्रतिहस्तिनोरेकतपस्मिन्नभिज्जिते कुत
 उपशमः ।)
 राजा—गन्तु स्वाङ्गुलीष्यतिप्रपन्नुमयोर्हृष्टयती भययती ।
 परित्राजिका—अथ किम् ।
 राजा—तद्विद्वान्नीमत्तः परं किमाम्नां प्रणामयितव्यम् ।

- राजा—नही, ऐसी बात नहीं है । आप ठहरी पंडित कीर्तिकी, धीर हूँ तथा देवी ठहरे
 आचार्योके पक्षपाती ।
 दोनों आचार्य—यह तो देवने ठीक कहा । पक्षपातसे दूर रहनेवाली भगवती ही हमारे गुण-
 दोष ठीक-ठीक जान सकेगी ।
 राजा—तो आप लोग आचार्य बनाइए ।
 परित्राजिका—देव । नाट्यशास्त्रकी जान तो करके दिखानेके होती है । इसलिये कोरी
 बात भीतसे लाभ क्या होगा ? क्यों देवी ! ठीक है न ?
 देवी—मुझे पूछा जाय तो मुझे इनका भगवा ही नहीं सुझता है ।
 गणदास—देवी ! आप यह न समझें कि मैं नाट्य विद्यामें किसीसे पीछे रह जाऊँगा ।
 विदूषक—तो देवी ! देव ही क्यों न सिखा जाय इन दोनों पेढुभोग करतब ? नहीं तो
 इन्हें वेतन द-देकर पालनेके लाभ ही क्या है ?
 देवी—हाँ, हाँ तुम्हें तो सदाई-भगवा ही अच्छा लगता है ।
 विदूषक—नहीं, ऐसा न कहिए बही ! इन दो सदाशु हावियोंसे जवतक एक की हार
 नहीं हो जायगी तब तक ये ठहरे कैसे हूँगे ?
 राजा—भगवती ! आपने तो इन लोगोंके अभिनयकी चतुरता देखी ही होगी ?
 परित्राजिका—हाँ, देगी है ।
 राजा—उब इधसे बड़हर ये सबकी नुसलवाला धीर क्या प्रयाण देगे ।

परिचाजिका—तदेव वपुःकामास्मि ।

रिल्लटा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।

यस्योभयं साधु स शिचकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥१६॥

विदूषक.—सुखं भग्नेर्हि भगवतोए वधत्सु । एषो पिच्छितस्यो उपदेशदशणावो शिष्याभो
सि । (युतमायाम्ना भगवत्या वचनम् । एष पिच्छितार्थ उपदेशदर्शनान्निर्णय इति ।)

हरदत्त.—परमभिमतं नः ।

गणदास—देवि । एवं हिमत्तम् ।

देवी—जदा जल मन्त्रमेवा तिसृता उपदेशं मत्तिरोन्ति सदा भाष्यरिभस्स ए दोसो ।
(यदा पुनर्मन्त्रमेवा शिष्या उपदेशं गतिनयन्ति तदाऽऽचार्यस्य न दोष ।)

राजा—देवि । एवमापन्नते । विनेतुरव्यपरिहोऽपि मुक्तितापयं प्रकाशयतीति ।

देवी—[जनान्तिकम् ।] कहूं बाणि । [गणदास विलोच्य प्रश्नात् ।] भलं प्रकटवत्स
ज्जाहकारणं मत्तोहं पूरितम् । विरम शिरस्यभावो धारम्भादो । (कथयितव्यम् । असमा-
यंयुषस्योत्साहकारण मनोरथ पूरयित्वा । विरम निरर्थकादारम्भात् ।)

विदूषक.—सुदुष्ट भोवी भण्णहि । भो गणदास । संगीतपदं तन्मिष सरसईए उवाचणभो-
दण्णं जावमाणस्स कि हे मुहण्णियेण विवादेण । (सुदुष्ट-भवती भण्णति । भो गणदास । संगीत-
पदं लब्ध्वा सरस्वरपुरायनमोदकाग्रादात् कि हे मुत्तनिग्रहेण विवादेन ।)

परिचाजिका—हैं बताती हूँ न ! देखिए ! कोई गुणी तो ऐसे होते हैं जो अपने गुणको
अपने प्राप भली भाँति जानते हैं । और कुछ ऐसे होते हैं जो अपने गुण दूसरोंको सिखानेमें
बड़े चतुर होते हैं पर सच गुणी यही हैं जिसमें वे दोनों बातें हों । और ऐसे ही गुणीको
सबसे अच्छा समझना भी चाहिए ॥१६॥

विदूषक—[दोनों आचार्यसे] प्राप लोगोने भगवतीकी बातें सुन ली न ! इसका
पर्य यह निकला कि प्राप लोगोने अपने शिष्योंको जैसा सिखाया है वही देखकर प्राप
लोगोंकी भज्यार्थी जाँच की जायगी ।

हरदत्त—यही तो हम भी चाहते हैं ।

गणदास—तो यही रहे देवी !

देवी—पर यदि कोई मोटी समझवाली शिष्या सिखाए हुए प्रयोग दिगाव दे तो इसने
आचार्यका क्या दोष है ?

राजा—देवी ! हमने कही पढ़ा है कि यदि गुरु अपने विद्या देनेके लिये निकम्मा शिष्य
पुने तो समस्त सेवा चाहिए कि मुक्तो सो कुछ घाता जाता नही ।

देवी—[धन] भव क्या हो ? [गणदासको देखकर प्रगट] आर्यपुत्रको उवाह दिलाने
वासा यह टटा छोड़ो । तुम क्यों यह बेकामका काम शिर से रहे हो ?

विदूषक—प्राप ठीक कहती हैं । देखो ! गणदास ! जब तुम बैठे-बैठे संगीतने भज्यापक
बने हुए, सरस्वतीजीकी बजाए हुए बहूँ सा हो रहे हो, तब तुम ऐसी औप औप मोल हो
थो लेते हो जिसमें मुन्हारा मुँह बन्द हो जाय ।

गणुदासः—सत्प्रसन्नमयमेवायं देवीवाक्यस्य । श्रूयतामवसरप्राप्तमिदानीम् ।

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तिविद्माणस्य परेषु निन्दाम् ।

यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ॥१७॥

देवी—प्रद्वरोवणीया ये स्तिस्ता । अवरिणिष्टिद्वस्त उववेस्त उख भग्णाय्यं पमातलं ।
(अचिरोपनीता ते शिष्या । अपारिनिष्ठितस्योपदेवस्य पुनरन्याय्यं प्रकाशनम् ।)

गणुदासः—एत एव मे निर्बन्धः ।

देवी—तेण हि कुवेवि भग्णवडीय उववेसं वंसेय । (तेन हि द्वावपि भगवत्यापुपदैरु दर्शयतम् ।)

परिप्राजिका—देवि ! नैतन्त्याय्यम् । सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयान्मुपगमो दीक्षाप ।

देवी—[जगन्तिराम् ।] मूढे परिप्राजिए ! न जागतिपि सुप्तं मिस करोति । (मूढे परिप्राजिके ! मां जाग्रतीमपि सुप्तमिव करोषि ।) [इति सासूर्यं पश्यवर्तते ।]

[राजा देवी परिप्राजिकायै दर्शयति ।]

परिप्राजिका—

अनिमित्तमिन्दुवदने किमत्र मवतः पराङ्मुखी भवसि ।

प्रभवन्त्योऽपि हि भर्तृषु कारणकोपाः कुटुम्बिन्यः ॥१८॥

गणुदास—महाराजीकी बातका तो सपमुच यही अर्थ निकलता है । जब बात भा ही पकी है तो मैं भी कह देता हूँ । सुनिष्—वो सम्भावक नोकरी वा सेनेवर सात्वामंसे आगत है, दूसरोंके संगमो उठानेपर भी खुप रह जाता है और केवल सेट पासनेके लिये विद्या पठाता है ऐसे लोग पंडित नहीं, बरतु ज्ञान वेदनेवाले बनिए कहवाते हैं ॥१७॥

देवी—तुम्हारी शिष्या सभी घोड़े ही बिनंति तो सोचने लगी है । इसलिये बिना पक्की किए उसे महीं प्रवीक्ष करानेके लिये जाना सचमुच बड़ा प्रम्याय होगा ।

गणुदास—पर इन्हीं कारणोंसे तो मैं और भी उये यहाँ सनेका हठ कर रहा हूँ ।

राज्ञी—तो तुम दोनों अपने-अपने विद्वानोंकी श्रुत्यार्थं अपने-अपनेको ही दिसाओ ।

परिप्राजिका—यह ठीक नहीं होगा देवी ! कोई कितना भी बड़ा पंडित क्यों न हो, पर यदि वह अपनेसे न्याय करने बंठा है तो उसके निर्णयमें भूल हो ही जाती है ।

देवी—[मलग] सभी मुखें परिप्राजिका ! तू मुक जागतो हुईको भी सोतो हुई वता देना चाहतो है । [बाहसे मूढ़ फेर लेतो है ।]

[राजा परिप्राजिकाको संकेतसे राज्ञीका भाव दिखाता है ।]

परिप्राजिका—हे चंद्रमाके समान मुखवाली ! तुम बिना बात ही महाराजसे क्यों मूढ़ फेरें बंठी हो । जो पक्षी कुसवाली खिया होता है उन्हें यद्यपि अपने पतिगोबर सभी अधि-कार होते हैं फिर भी जब उन्हें स्थना होता है तो वे कोई न कोई कारण निकालकर ही अपने पतिसे स्थतो हैं ॥१८॥

विदूषकः—एहं सकारखं एख्य । अतएवो पखी रखितखो । [बलदासं विबोक्य ।]
 बिडिभा कोदम्याजेन देवोए परित्तावो भव । सुनिनिखवो वि सख्यो खयदेसदसएण छिण्हावो
 होवि । (मनु सकारएणिव । आत्मनः पक्षो रक्षितव्यः । दिष्ट्या कोपम्याजेन देव्या परिनातो
 भवान् । सुनिशितोऽपि सर्वे उपदेशदक्षेणैव निष्णातो भवति ।)

गणदासः—देवि ! श्रूयताम् । एवं ज्ञवो गृह्णाति । तद्विदानीम् ।

विवादे, दर्शयिष्यामि क्रियासंक्रान्तिमात्मनः ।

यदि मां नानुजानासि परित्यक्तोऽस्म्यहं त्यया ॥१६॥

[इत्यासनादुदधाहुविभ्रजति ।]

देवी—[स्वगतम्] का गई । [प्रकाशम् ।] यहबहि भाभारिभो 'तिष्ठजएस्स । (का
 पतिः) प्रभवपापायः शिष्यजनस्य ।)

गणदासः—बिरमपदेशानिद्रितोऽस्मि । [राजानमवलोक्य ।] अनुज्ञातं देव्या । तदाज्ञापयतु
 देवः कस्मिन्नभिनयवस्तुनि प्रयोगं दर्शयिष्यामि ।

राजा—प्रवृत्तिरिति ममवती ।

परिभाषिका—किमपि देव्या भवति वर्तते ततः सञ्ज्ञितास्मि ।

देवी—भल योसज्ज । यहबहि एवम् अखलो परिपालस्स । (भल विराज्यम् । प्रभवति प्रभु-
 रात्मनः परिजनस्य ।)

विदूषक—वे कारखे ही तो रुठ रही हैं । उन्हें अपने पक्षकी ली रक्षा करनी ही चाहिए ।
 [बलदासको देखकर] जाइए, बड़ा भाव्य है आपका कि महाराजीने रुठनेके घटाने आपको
 बचा लिया । पर देखो, चाहे कोई कितना भी बड़ा पठिक हो पर सबकी बतुराई उसके शिष्योंका
 करतब देखकर ही जानी जाती है ।

गणदास—कुनिए देवी ! जब ऐसी-ऐसी बातें कही जा रही हैं तो अब मैं यही दिखला देना
 चाहता हूँ कि मैंने अपने शिष्योंकी अपनी विद्या कैसे सिखाई है । और यदि आप मुझे इस
 समय भाशा नहीं देती तो मैं यही समझूँगा कि आपने मुझे अपने यहसि निकाल दिया ॥१६॥
 [अपने भागनसे उठना चाहता है ।]

देवी—[मन ही मन] अब और चारा ही क्या है ! [प्रकट] शिष्य तो आपापोंके ही
 आपमें है ।

गणदास—मैं इसकी देखे बर रहा था कि महाराजी कहीं रोक न दें [राजाको देखकर]
 देवीने भाशा दे दी है इसलिये अब देव भी भाशा दें कि मैं आपको कौनसा अभिनय दिखलाऊँ ।

राजा—ओ भगवती कहें ।

परिभाषिका—देवी कुछ कहना चाहती है इसीसे मैं हिलक रही हूँ ।

देवी—नहीं आप निहर होकर कहिए । ऐवकोंको तो अपने स्वायीकी भाशा माननी ही
 होती है ।

राजा—मम चेति ब्रूहि ।

देवी—भगवति । भ्रष्टोदासीम् । (भगवति । मल्लोदानीम् ।)

परित्राजिका—देव । शर्मिष्ठाया कूर्ति चतुष्पादोत्पद्यन्ति दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति । तत्रैका-
यैस्तद्व्यसृज्यो प्रयोगे पश्याम । तापता तापत एवाजगवतोऽपदेशान्तरम् ।

प्राचार्यो—यदाज्ञापयति भगवती ।

विदूषक—तेण हि दुव्वे वि यय्या येकजाघरे सगीवरमण कर्त्ति तत्तममयी दूद पैत्तमह महवा
मुचङ्गतदो एव्व सो जत्तामइस्सदि । (तेन हि ज्ञापयि वर्षो प्रेक्षागृहे सगीतरवगा कृत्वा तत्रभवतो
दूत प्रेषयत् । अथवा मृगञ्जसद्व एव न ज्ञापयिष्यति ।)

हरदत्त—तथा । [द्रुष्टिगुह्यम् ।]

[गणदासो चारिणीयवतीरुपति ।]

देवी—[गणदास विलोच्य ।] किमर्थं मोदु भज्जा । ए विजयमग्निपत्नी मह भज्जत्स ।
(विजयो भवत्पार्थ । तनु विजयाम्बुधिन्वहमायत्स्य ।)

[प्राचार्यो प्रस्थितौ ।]

परित्राजिका—इतस्तापत् ।

प्राचार्यो—[परिभृत्य ।] इमो एव ।

राजा—घोर मुझे आपकी आज्ञा माननी है यह भी थोड़ा बोलिए ।

देवी—भगवती । अब आप कहें ।

परित्राजिका—महाराज । शर्मिष्ठाका जनाया हुआ चौपदीबाला छनिक नामक अभिनय
बड़ा कठिन बताया जाता है । उसीके किसी एक भावने दोनोका अभिनय देख लेंगे घोर वसीसे
यह जान लिया जायगा कि आप तीनोंने अपने अपने शिष्योंको कैसे सिखाता है ।

दोनों प्राचार्य—जैसी भगवतीकी आज्ञा ।

विदूषक—तो आप दोनो नाटक घरमें चलकर सब सगीतका साथ जुटाइए घोर सब हो
जुकैगर किसी दूतसे यहाँ कहला बोलिएगा । या फिर मृदंगकी धमक सुनकर ही हम लोग उठकर
जैसे आयेगे ।

हरदत्त—अच्छी बात है । [चला है ।]

[गणदास चारिणीकी ओर देखता है ।]

देवी—[गणदासको देखकर] आपकी विजय हो । मैं सचमुच चाहती हूँ कि आपकी
विजय हो ।

[दोनों प्राचार्य जानेको उचल ।]

परित्राजिका—इधर तो सुनिए ।

दोनों प्राचार्य—[लौटकर] कहिए, या यह हम लोग ।

परिव्राजिका—निर्लम्बाधिकारे सर्वोमि । सर्वाङ्गसौष्ठवाभिष्यक्तये विगतनेपथ्ययोः पात्रयोः प्रवेशोऽस्तु ।

आचार्यो—नेत्रमाशयोक्तव्येभ्यम् । [इति निष्क्रान्ती ।]

देवो—[राजानमवलोच्य ।] अहं राक्षसज्येष्ठे ईदृसी उवाचमिच्छन्वा भगवतस्तस्य तदो लोहस्य भवे । (यदि राजकार्येष्वोद्दृष्टुपायनिपुणतायैपुत्रस्य ततः शोभनं भवेत् ।)

राजा—

अस्त्वमन्यथा शृद्धीत्वा न खलु मनस्विनि मया प्रयुक्तमिदम् ।

प्रायः समानविद्याः परस्परयशः पुरोभागाः ॥२०॥

[नेपथ्ये मृदङ्गध्वनिः । सर्वे कण्ठे ददति ।]

परिव्राजिका—हन्त ! प्रवृत्तं संगीतम् । तथा ह्येषा—

जीमूतस्तनितविशङ्किमिर्मयूरैरुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य ।

निह्नादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदपति मार्जना मनांसि ॥२१॥

राजा—देवि ! तस्याः सामाजिका भवामः ।

देवो—[स्वगतम् ।] अहो अभिषामो भगवतस्तस्य । (अहो अभिनयं प्रार्थयुतस्य ।)

[सर्वं उत्तिष्ठन्ति ।]

परिव्राजिका—देखिए, मुझे निर्लम्बाका अधिकार दिया गया है इसलिये मैं यह यत्ना देना चाहती हूँ कि पात्रों के सब अंगोंके हाव-भाव ठीक-ठीक दिखाई देने चाहिये इसलिये आप लोग अपने पात्रोंको बहुत सजा-धजाकर न लाइएगा ।

चौथो आचार्य—यह कहनेकी आवश्यकता नहीं थी ।

देवी—[राजाको देखकर] यदि प्रार्थयुष अपने राज्यकी देखभाल करनेमें इतनी कला लगाते तो कितना अच्छा होता !

राजा—देवी ! तुम कुछ और न समझ बैठना । इसमें मेरा कोई हाथ नहीं है । देखो, जो लोग एक ही विद्यापाने होते हैं, ये कभी एक दूसरेकी मदती नहीं सह सकते हैं ॥२०॥

[नेपथ्यमें मृदङ्गकी ध्वनि । सब चुपते हैं ।]

परिव्राजिका—भरे लो ! उम्होंने तो सङ्गीत खेड भी दिया । देखो । मृदङ्गके शब्दको मेमोकी गरज समझकर ये गोर ऊपर मुँह करके देखने लगे और दूरतक गुँजनेवाली यह मध्यम स्वर से उठी हुई मायूरी नामकी नमक मजकी मतवाला बनाए बाज रहो है ॥२१॥

राजा—यसिए देवी ! जसकर देखा जाय ।

देवो—[मन ही मन] बाह ! प्रार्थयुष भी कैसे लोठ हैं !

[सब चठ कड़े होते हैं ।]

विदूषक—[अपवायं ।] ओ घोर गन्ध ! तत्तमोदो धारिणी विसमादइस्सदि । (ओ घोर गन्ध ! तत्रभवतो धारिणी विसमादविध्यति ।)

राजा—

धैर्यचित्तम्विनमपि त्वरयति मां मुरजवाधरागोऽयम् ।

अवतरतः सिद्धिपथं शब्दः स्वमनोरथस्वेव ॥२२॥

[इति निष्क्रम्या सर्वे ।]

॥ इति प्रथमोऽङ्कः ॥

विदूषक—[अलग] यजी, धीरे-धीरे चलिए । कहीं देवी धारिणी सब गन्धक-पौडाला न करे ।

राजा—मैं बहुत धीरे ही चल रहा हूँ फिर भी मुरजसे निकला हुआ यह राग मुझे इस प्रकार जलदी चला रहा है यामो मेरा मनोरथ ही मुझे पुकारकर बुला रहा हो कि यामो तुम्हारा काम चल गया है ॥२२॥

॥ पहला अंक समाप्त हुआ ॥

द्वितीयोऽङ्कः

[एवः प्रविशति संगीतरचनायां कृतावाभासनस्थो राजा सवयस्थो पारिखो परिव्राजिका विमलतस्थ परिवारः ।]

राजा—भववत्स्यभक्तोरात्मार्ययोः प्रथमं कतरस्योपदेशं । इदयासः ।

परिव्राजिका—ननु समानेऽपि ज्ञानबुद्ध्याये धर्मोबुद्धत्वाय गुरुदासः पुरस्कारमर्हति ।

राजा—तेन हि भौदृष्ट्य एवमभक्तोरादेव स्थितियोग्यमशून्यं कुतः ।

कञ्चुकी—यदासायति देवः । [इति निष्क्रान्तः ।]

[प्रविश्य]

गुरुदासः—देव ! क्षमिच्छायाः कृतिर्लघमन्या चतुष्पदास्ति । तस्यास्तु छलिकप्रयोगमेकमत्रा श्रीतुमर्हति देवः ।

राजा—आचार्य ! बहुधाभाष्यहितोऽस्मि ।

[निष्क्रान्तो गुरुदासः ।]

राजा—[यत्नातिक्रम्य] ययस्य ।

नेपथ्यपरिमतायाश्चतुर्दर्शनसंस्तुतुर्कं तस्याः ।

संहर्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे विरस्करिष्यीम् ॥१॥

विदूषकः—[अपभ्रंशं] उबहुवं लभलमहु सलिलिहमस्मिन्नं च । ता अप्ययतो वारिण पेवत ।
(उपस्थितं लघनमधु सन्निहितमस्मिन्नं । तदग्रमत् दशनीपय १) ।

दूसरा अंक

[संगीतशास्त्राग्रे विदूषकके साथ राजा, परिव्राजिका, रानी पारिखी और]

साथ राज-परिवार दिखाई देता है ।]

राजा—इन दोनों आचार्योंमेंसे पहले किसका खिलावा हुआ नाटक देखा जाय ।

परिव्राजिका—महर्षि दोनोंको नाट्यशास्त्रका एक ही ज्ञान है फिर भी आचार्य गुरुदास व्यवस्थामें बड़े हैं इसलिये पहले उन्हींको अवसर मिलना चाहिए ।

राजा—तो भौदृष्ट्य ! जामो, आचार्योंको यह बात बताकर तुम अपना काम दो !

कञ्चुकी—जैश्री—देवकी आज्ञा । [बता जाता है ।]

[गुरुदासका प्रवेश]

गुरुदास—देव ! क्षमिच्छामे प्रथम-लयने एक शीघ्रो नगाई है । आर्यना है कि देव स्वयं छलिकवाले अभिनयको मन लगाकर सुनें ।

राजा—आचार्य ! मैं बड़े आदरसे ध्यान लगाए हुए हूँ ।

[गुरुदास जगता बगवा है ।]

राजा—(मलग) मित्र ! परदेके पीछे जो मेरी प्यारी सखी है, उसे देखनेके लिये मेरी भाँसे ऐसी उतावली हो रही है ज्ञानो ये दस छपीस्तानें परदेको ही हटाने पर तुल गई हों ॥१॥

विदूषक—(मलग) लीजिए न ! भाषकी भाँषीको खिलाई तो भाषई पर मधुपक्की भी पाल ही बैठी है, इसलिये थोड़ी धावधानी से ऊपर देखिएना ।

[ततः प्रविदमप्याचार्यप्रत्यवेदयमाद्यादुभोऽष्टना भालविका ।]

विदूषकः—[उताग्निकम्] देवस्तु भयं । एष वयु मे पटिन्दन्द्रादो परिहीयति मरुतदा ।

[पश्यन् मरुतम् । न क्षत्वस्याः प्रतिपद्यन्तात्परिहीयते मयुरता ।]

राजा—[अपचार्यं ।] वयस्य ।

निग्रगतायामस्यां कान्तिविमंवादशङ्कि मे हृदयम् ।

सम्प्रति शिथिलसमाधि मन्ये येनेयमालिखिता ॥२॥

मरुतदाः—अग्रे । मृत्प्रताप्यता सरवता भव ।

राजा—[आपदयेत्] अतो सर्वेत्पानानवधता कर्मावशेषस्य । तपसिह ।

दीर्घां शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहूनतापसयोः

मंथिषं निषिद्योन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।

मध्यः पाणिमितो नितम्बि तपनं पादावरातङ्गुली

छन्दो नर्तयितुर्धैव मनसिरिलष्टं तथास्या वयुः ॥३॥

भालविका—[उत्तरार्धद्वारा जगुप्तावयन् मायति ।]

दुन्तदो पिभो मे तस्मि भव हिमय गिरासं

अम्भो अपद्भो मे परिष्कुर किं नि वामभो ।

स्तो सो चिरदिद्वो कहँ उरा उवखइदज्जो ।
साह मं पराहीणं तुह परिमाणं सवियहम् ॥४॥

(पुनः श्रियो मे तस्मिन्भव हृदय निराश
महो भगवन्तो मे परिरुति किमपि वायः ।
एष स चिरदृष्टः कर्म पुनरुपनेतव्यो
नाम मां पराधीनां स्वमि परिपश्यत सतृप्याम् ॥)
[ततो यथारसमभिनयति ।]

विदूषकः—[जनान्तिकम् ।] भो बभूव । अतएववस्तुनं कुवारीकरिष्य तुह उवहाविवी
अप्या तत्तद्भोव । (भो वयस्य ! अतएववस्तुनं द्वारोक्तव स्वमुपस्थापित भवामा तपमवस्था ।)
राजा—ततो ! एवमेव भवति हृदयम् । मनया सखु ।
जनमिममनुरक्तं विद्धि नाथेति मेये अचनमभिनयन्त्याः स्वाङ्गनिर्देशपूर्वम् ।
प्रणयगतमहृष्ट्या धारिणीसंनिकर्षादहमिव सुकुमारप्रार्थनान्याजमुक्तः ॥५॥
[मासविका गीतान्ते निष्क्रमितुमारब्धा ।]

विदूषकः—भोदि विदुः । किमि भो विमुमरियो कम्पमेवो । तं बाव पुच्छिस्तम् ।
(भवति सिष्ठ । किमपि वो विस्मृतः कर्मभेदः । तं तावदावस्थामि ।)
गणदासः—वरो ! अशनाथं स्थितोपदेतिविनुद्या यात्यसि ।
[मासविका निवृत्त्य स्थिता ।]

राजा—[प्राप्तगतम्] अहो ! सर्वास्ववस्थानु चास्ता ओमात्तरं पुष्पति तथा हि—

बहुत दिनोंपर देस रही है पर कैसे अपनाऊँ ।
नाथ बिबल है पर अपनी ही समझो मैं बखिजाऊँ ॥
(गीतके भावके अनुसार भाव्य करती है ।)

विदूषक—(पलट) भो वयस्य ! इन्होंने तो इस बार चरखवाले कीलके बहाने आपपर
अपनेकी न्योछावर कर डाला ।
राजा—मैं भी यही समझता हूँ कि इसने 'नाथ बिबल है पर अपनी ही समझो'—गीत
गाते हुए अपनी मोर संकेत करने को अभिनय किया है वह इसीलिए कि महारानी पारिलीकी
यास देसकर हउने समझ भिया कि प्रेम दिसानेका कोई दूसरा उपाय तो है नहीं, इसलिये
एक सुकुमार युवकसे प्रेमकी ओख माँगनेके नाववाला यह गीत गाकर इसने सबसुख मुझसे
ही सब कुछ कहा है ॥५॥

[गा चुकनेपर मासविका पक्षी बाना चाहती है ।]

विदूषक—ठहरिए देखो ! आप नोपमें कुछ भूल गई हैं, वही मैं पूछना चाहता हूँ ।

गणदास—वरो ! थोड़ी देर एक जाग्रो घोर जन वहाँ सब शोध तस्तीर्षति समझ लें
कि तुमने ठीकसे नाट्य सीस लिया है तथी जाता ।

[मासविका लौटकर चली हो जाती है ।]

राजा—[मन ही मन] अहा ! ऐसे निघरते देखो, उपरसे ही यह मनोहर अपने लगती है ।

वामं। संधिस्तिमितवल्लयं न्यस्य हस्तं नितम्बे

॥१॥ कृत्वा श्यामाविट्प सट्शं सस्तमुक्तं द्वितीयम् ।

पादद्विगुणालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातितार्चं

नृत्तादस्याः स्थितमतितरा कान्तमृज्वायतार्धम् ॥६॥

देवी—ए गोवमवमूल बि धरदो हिमए करोवि । (मनु गोतमवचनमप्यार्यो हृदये करोति ।)
गणदास—देवी ! मा मेवम् । देव प्रत्ययास्तमाप्यते सूक्ष्म वसिता गौतमस्य । पश्य ।

मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपरिचतः ।

॥१॥ पङ्कच्छिदः फलस्येव निकपेणायितं पयः ॥७॥

(विद्रूपक विलोक्य) तच्छशुभो वय विवक्षितमार्गस्य ।

विद्रूपक—[गणदास विलोक्य ।] कोतिई बाव पुच्छ । पच्छा जो मए कम्ममेवो दिट्ठो
त भणिएसु । [कोतिको हावःपुच्छ । पयबावो मया कम्ममेवो दृष्टस्त भणिएव्यामि ।]

गणदास—भगवति ! मया दृष्टमभियोपता गुणो वा होतीयेति ।

परिश्रानिका—यथा दृष्ट सर्वमनवद्यम् । कुत—

अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यग्मर्थः

पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।

शाखायोनिमृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ

भावो भावं नुदति विषयाद्रागन्धः स एव ॥८॥

इसने घपना बायीं हाथ नितम्बपर रख दिया है, इसलिये हाथ का कडा पहलूपर एककर चुप हो गया है । दूसरा हाथ श्यामाको डालीके समान झोला मटका हुआ है । बीच की धाँसे किए हुए यह घपने धरने धंगुँठे घरतीपर बिलरे हुए कुनोको सरका रही है । इस प्रकार कदी होनेसे इनके ऊपरका दाँरी लम्बा घोर सीधा हो गया है । नाबनेके सम्य भी यह ऐसी मुन्दर नहीं लगती भी धँसी भय लग रही है ॥६॥

। देवी—यथा मार्गं गणदास भी गौतमकी बात सब मान बैठे हैं ?

गणदास—देवा न कहिए देवी ! महाराजके साथ रहते रहते गौतमकी धाँसे भी प्रलेबुकी ठीक पहचान करने लगी है । सुनिए विद्वानोकी सगतिमे बैठकर सुनो भी उन्ही प्रकार विद्वान् बन जाया है जैसे निर्मलीके बीचसे मटवैता पानी स्वच्छ हो जाता है ॥७॥ (विद्रूपकको देखकर) हाँ भी मुनें आप क्या पुछता चाहते थे ?

विद्रूपक—[गणदासको देखकर] आप बहुत कोतिकोजीसे पूछ देखिए, मैं पोछे बतलाऊँगा कि भूत कहाँ हुई है ।

गणदास—भगवती ! आपने जहाँ जहाँ गुण या बोध देखा हो सब कह दानिए ।

परिश्रानिका—मैंने तो जो देखा उसमें वही बोध दिखाई ही नहीं दिया । क्योंकि गौतमकी सब बातोंका ठीक-ठीक धन आपको समझनसे मतीमति दिखा दिया गया है । इनके धर

- गणुदासः—देवः कथं या मन्यते ।
 राजा—अयं स्वपदाशिषिमाभिमानाः संश्रुताः ।
 गणुदासः—अतनतं पितास्मि । मुक्तः—

उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः ।-

रयामायते न युष्मासु या काञ्चनभिवाग्निषु ॥६॥

देवी—विद्विषा अपरिषसवारहखेल अग्नो धड्डह । [विद्विषाऽपरिषसाराधनेनापीं पपते ।]

गणुदासः—देवी परिग्रह एव मे बुद्धिहेतुः । [विद्वपकं विनोदय ।] भीतन अवेदानीं यत्ते-
 ममसिवातेते ।

विद्वपकः—एवमोक्तेसदंतलो पदमं बह्वस्त पूजा कावस्था । ता हां दो विदुमरिवा ।
 [प्रथमोपदेशवर्तने प्रथमं ब्राह्मणस्य पूजा कर्तव्या । सामनु वो विस्मृता ।]

परिव्राजिका—अहो ! प्रबोध्याम्यन्तरः प्रदयः ।

[सर्वे प्रहसिताः मालविका स्मितं करोति]

राजा—[आत्मगतम्] उपाससारभ्रमुया मे स्वविषयः । पश्येन—

स्मयमानमायताक्ष्याः किञ्चदिभिष्यक्तदशनशोभि ह्रस्वम् ।

असमप्रलक्ष्यफेसरमुञ्छ्वसदिव पङ्कजं दृष्टम् ॥१०॥

भी अयके साध साध बल रहे थे । फिर गीतके रसमें भी ये लग्न हो गई थी । और इनके
 श्रवणने भी हमें प्रेममें लग्न कर दिया क्योंकि ठालके साध होनेवाले अमिनयमे अनेक प्रकारसे
 रंग चलाकर जो भाव दिलाए जा रहे थे वे ऐसे आकर्षक थे कि सब किसी ओर जाने ही नहीं
 पाता था ॥५॥

गणुदास—देव ! भाव इसे कैसा समझते हैं ।

राजा—इसे देखकर तो हमें अपने पक्षका अभिमान कम होने लगा है ।

गणुदास—माला में लक्ष्मी नृत्यकलाका अष्टित हुआ है, क्योंकि जैसे सामने आसनेसे सोना
 काया गहरी पड़ता जैसे ही जिस शिक्षकके सिखानेमे किसी प्रकारकी भुल न बिलसाई पड़े उही
 सच्ची शिक्षा कहते हैं ॥२॥

देवी—अपने परीक्षकोंकी सन्तुष्ट करने के लिये शापकी बचाई है ।

गणुदास—देवीकी कृपासे ही मुझे यह मन्त्र मिला है । [विद्वपककी देखकर] भीतन यह आप
 भी अपने मनकी बात कह जानिए ।

विद्वपक—जब पहले-पहल अपनी सिखाई हुई विद्या लोगोंके धारि दिखाई जाती है तो सबसे
 पहले ब्राह्मणकी पूजा करनी चाहिए । वह तो भाव योग भूल हो गए ।

परिव्राजिका—वाह, क्या माध्यकलाके भीतरकी बात पूछी है ।

[सब हँसते हैं, मालविका मुसकराती है ।]

राजा—[मन ही मन] मेरी आँखोंकी तो चाही हुई वस्तु देखने की मिल गई । क्योंकि
 आज मेरी आँखोंकी इस बड़े बड़े नेपोंवानीके मुखकारते हुए जब मुझका दर्शन मिल गया है
 जिसमें कुछ-कुछ बात अलके पड़ रहे थे और जो उस क्षणते हुए कमलके समान जान पड़ता है
 जिसमेके केसर धरे-धरे न दिखाई दे रहे हों ॥१०॥

गणदास.—बहादाहल न कतु प्रथमं नेपथ्यसंनिधयम् । अन्यथा कथं त्वं बलिणीयं
मार्चमिष्यामः ।

विदूषकः—यद्य एतां युक्त्यलङ्घनित्वे अन्तरिक्षे जलपात्रं इच्छित्वा चावसादस्य । ग्रहवा
पश्चित्ततोत्तरवदद्या एं मुक्ता काशी । अयि अतृहीतोऽसौ सोहर्षं मखिरे तदो द्रव्यं से परितीर्त्तिर्भ
पथच्छादि । (यथा नाम युक्त्यलङ्घनित्वे अन्तरिक्षे जलपात्रमिच्छता चातकागितम् । यथवा पण्डित-
सन्तोषप्रत्यया ननु मूढजालि बतोऽप्रमदवत्या सोधनं बलिर्त्तं तत् इदं ते पारितोषिकं प्रयन्जयि ।)
[इति राज्ञो हस्ताकटकमाकरोति ।]

देवी—चिदुवाच । गुरुभारं अजायन्तो किंचित्मित्रं सुम आह्वयं देति । (विहृतावत् । मुखा-
न्तरमजानतृकनिमित्तं स्वभावरल ददासि ।)

विदूषकः—परकेरप्रति करिष्य । (परकीर्यमिति कृत्वा ।)

देवी—[आचार्यं विसीय ।] अज्जपलदास ! एवं वीरदोबदेता दे तिससा । (भायं गणदास !
ननु इमितीपदेता से विद्या ।)

गणदासः—सते । इहि वचनप्रवचनीम् ।

[सहाचार्येण निष्कान्ता नावविक ।]

विदूषकः—[जनानितकम्] एतिमो मे मद्विह्वो यवत्तं सेविदुं । [एतावान्ने मतिविभवो
भवन्तं सेविदुम् ।]

राजा—असमत्तं पारितोषिकेन । अथ हि—

गणदास—अरे आह्वय देवता ! हम लोग पहली बार तो नाटक दिखा नहीं रहे हैं । ऐसा
होता हो तुम्हारे जैसे भेट पूजापर जानेवाले बाह्यलोकों हम अच्छी पूजा करते ।
विदूषक—तो क्या मैं कीरे गरबनेवाले बादलोसे प्यास मिटानेकी प्रार्थना करानेवाले पनोश
ही बना रह गया ? पर भाई ! हमारे जैसे भूखीकी तो ऐसी बात है कि यदि पक्षियोंको सन्तोष
होना तो समझो हमे भी सन्तोष हो गया । जब भगवतो कोसिद्धीमे इसे सुन्दर बता दिया है तो
मामो मैं भी भुनूँ यह पारितोषिक दे जानला हूँ [राजाके हाथसे कदम बिकासता है ।]
देवी—उहरी तो । दूसरेका धनियन बिना देखे सुम अमीसे इसे भाग्यल कर्षों पिय । बात
रहे हो ?

विदूषक—दूसरेका है न, यही समझकर दे दास रहा है ।

देवी—(आचार्यको देखकर) कहिए, आपकी सिप्या खपना धनियन दिखा चुकी न ?

गणदास—आधो कल ! अब हम सोच चलें ।

[आचार्यके साथ नावविना पानी वाली है ।]

विदूषक—(पसल राजासे) जहाँ तक मेरी बुद्धिकी पहुँच थी वहाँतक तो मैंने आपका काम
करा जाता ।

भाग्यास्तमयमित्राच्छोर्हृदयस्य महोत्सवावसानमिव ।

द्वारपिधानमिव घृतेर्मन्ये तस्यास्तिरस्कुरिणीम् ॥११॥

विदूषकः—[जनान्तिकम्] बलिहो विघ्न प्रातुरो वेन्नेख ओसव वोमनाखं हच्छति [दरिद्र
प्रातुरो वेन्नेनोदध दोममातमिच्छति ।]

(प्रविश्य)

हरदत्तः—देव ! मरौममित्राणीं प्रयोगमवलोकयितुं क्रियतां प्रसादः ।

राजा—[आत्मगतम्] अक्षसितो दशंगार्यः । [दाक्षिण्यमवलम्ब्य प्रकाशम्] [मनु पर्युत्सुका एव
वसन् ।]

हरदत्तः—अनुगृहीतोऽस्मि ।

वैतालिकः—अबहु अवतु देवः । उपाख्यो मय्याहूः । तपाहि—

पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिका पद्मिनीनां

सौधान्यत्यर्थतापाद्वलमिपरिचयद्वेपिपारावतानि ।

चिन्दुच्चेपान्पिपासुः परिसरति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्र

सर्वैरुक्तैः समग्रैस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः ॥१२॥

राजा—बहुत दोष न रहो । उसका सर्वेके पीछे छिपना मुझे ऐसा लग रहा है मानो मेरी
आँखोंका भाग फूट गया हो, जोका हुलास ठहरा पड़ गया हो और धीरेज पर ताता लग
गया हो ॥११॥

विदूषक—(मनस) तो क्या बिना संस्काराने रोपीके समान यह चाहते हो कि बंध ही भापको
अपने पाससे प्रीयय भी दे दे ।

हरदत्त—(भाकर) देव ! अब मेरा सितामा हुआ अभिनय भी देखनेकी कृपा कीजिएगा ।

राजा—(मन ही मन) जो देखना था वह तो देख चुके । (उदारता दिखानेके लिये प्रकट)
हाँ-हाँ हम लोग तो देखनेकी उत्सुक बँठे हैं ।

हरदत्त—बड़ी कृपा है मुझपर ।

(नेपथ्यमें)

वैतालिक—अब हो, देवकी अब हो । दोपहर हो गया है, क्योंकि बावडियोंमें कमलकी
पराडियोंकी छायामें हंस आँख मूंदकर विश्राम कर रहे हैं । धूपसे भवन ऐसा तेज गया है कि छत्रोंपर
क्यूतर तक नहीं बैठ रहे हैं । पलते हुए रहटसे उछलखो हुई पानी की बूँदों पीनेके लिये और उसके
पारो और चक्कर काट रहे हैं और सूर्य अपनी सब किरणें लेकर उसी प्रकार चमक रहा है जैसे
भाप अपने राजकी मुखेंचि चमकते हैं ॥१२॥

विदूषक—प्रविहा प्रविहा । अम्हाएँ एह मोमएवेता उषहिदा । अतएववो उअन-
वैताहिकमे चिह्नएमा सोसँ उअएरुति । [हरदत्त बिसोअ] हरदत्त ! कि बाएि भएति ।
(प्रविषा प्रविषा । अस्माक पुनर्भोजनवैलोपतिपता । अतएववो उअनवेसातिकमे चिह्नएमा
दोपमुदाहरति । हरदत्त । किमिदानीं भएति ।)

हरदत्त—अस्ति अथनस्यान्वयावकाशोऽयम् ।

राजा—तेषु हि स्वर्गोपयुज्येतेषु श्रोत्रं प्रत्यागमः । विरम्य भवान् ।

हरदत्त—यदाज्ञावचति चेवः । [इति निष्क्रान्तः ।]

देवी—एतन्मन्त्रेण यन्मन्त्रतो मन्त्राण्येहिम् (निर्वर्तयतामपुनो मन्त्रनविधिम् ।)

विदूषक—भोहि विसैमेल पाएभोमलं सुअरल्लेहि । (मवति विसैमेल पदनमोचनं स्वयम् ।)

परिवाजिका—[उठ्याम्] स्वस्ति भवते । [इति सपरिजनया देव्या सह निष्क्रान्ताः ।]

विदूषक—भो अस्मत्त ! एव केवलं इवे त्रिपे वि अमुमोस मासविषा ।

(भी वयस्य ! न केवलं एवे त्रिपेऽप्यद्वितीया मासविषा ।)

राजा—अस्मत्त !

अध्याजमुन्दरी तां विधानेन ललितेन योजयता ।

परिकल्पितो विधात्रा अथः कामस्य विषदम् ॥१३॥

किं कथुना । सद्यः । किन्तमित्योपेति ।

विदूषक—अरे रे ! अथ तो हन-शोपेके भोजनका समय हो गया है । वयका कथुना है कि
समय पर भोजन न करने से बड़ी हानि होती है । क्यूँ हरदत्त ! क्या कहते हो ?

हरदत्त—अब कुछ कहनेकी बात ही कही रह जाती है ।

राजा—तो अब आपका प्रयत्न हम भोजन करने देंगे । आप जाकर विधान करें ।

हरदत्त—जैसे देवकी आज्ञा । [चला जाता है ।]

देवी—तो आर्यपुत्र ! जबकर अब गृह-श्री कीजिये ।

विदूषक—देवी ! अब अष्टपद भोजन-गानीका कुछ नम्रिया प्रकल्प करार ।

परिवाजिका—[उठकर] आपका करवाए हो । [देविकाओं और शरीके साथ चली जाती है ।]

विदूषक—अस्मत्त ! मुन्दरीयें ही नहीं कतारें भी मासविका एक ही है ।

राजा—अब पुणो वयस्य तो विधात्रा ने इस कहन मुन्दरी मासविकाको ललित कलाका
ज्ञान करा दिया मानो उसने इसके हृदयमें कामदेवका विष बुझा माल दे दिया हो ॥१३॥ और क्या
बहूँ मित्र ! अब तुम जाकर मेरी कुछ चिन्ता करो ।

बहुना । सते चिन्तयितव्योऽस्मि ।

विदूषक.—भववा बि अहं । दिहं विपणिक्कु विम मे उधरम्भन्तरं दग्भद् । (भववा प्यहम् । दृढ विपणिक्कुवि मे उधरम्भन्तर दग्भे ।)

राजा—एवमेव भवान्मुहुर्दर्वेऽपि स्वरताम् ।

विदूषक—गहोदरकिसखोमिह । किं तु मेहावलीखिक्कु भोण्हा विम पराहीखर्दसणा तलहोदी प्रातविद्या । भवं बि सुलापरितरचरो विम गिद्धो ग्रनिसलोत्तुपी श्रीरुपी म । प्राञ्चतादुरो विम कण्ठतिद्धि पश्यन्तो मे रोमति । (गृहोदरकिसखोऽस्मि । किं तु मेहावलीखिक्कु योऽस्तेव पराधोनदर्शना तत्पमवतो मालविका । भवानपि सुलापरितरचर इय गृध्रे प्रातिपलोत्तुपी भीरुक्क । पश्यन्तादुर इय कार्येतिद्धि प्रार्थयमानो मे रोचसे ।)

राजा—कण्ठमनादुरो भविष्यामि ।

सर्वान्तःपुरचनिताव्यापारप्रतिनिष्टचहुदयस्य ।

सा वामलोचना मे स्नेहस्यैकायनीभूता ॥१४॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।]

॥ इति द्वितीयोऽङ्कः ॥

विदूषक—प्राप मेरी बिन्ता कीजिए । मेरा पैद सब समय हलवाईकी कद्दाबीकी भाँति बड़ा जला जा रहा है ।

राजा—तुम भी अब पढ़ने मित्रके लिये कोई उपाय खोज ही तोच निकालो ।

विदूषक—उसके लिये तो मैं प्रापसे पहले ही दक्षिणा से चुका हूँ पर गबब ही यह है कि बादलोंसे छिपी हुई चाँदनीके समान मातृविकाबीका दर्शन भी तो वृत्तोंके हाथमे है । एकर प्राप माँस बेचनेवाले व्यापके घरपर भँदखनेवाले गिद्धके समान उसपर ताक भी लगाए बैठे हैं और सगप ही करते भी हैं । इतनी धनराहतके साथ मुझे काप करनेको कहते हुए प्राप शगते बड़े झण्डे हैं ।

राजा—बताओ, धनराहत क्यों न हो ? वह तिरछी चितवनवाली मेरे हृदयमें ऐसी प्रा गयी है कि रनिदारकी सब रानियोंसे मेरा मन एक दम उचट गया है ॥१५॥

[सब चले जाते हैं ।]

॥ दूसरा अंक समाप्त हुआ ॥

तृतीयोऽङ्कः

[एतः प्रविशति परिक्रान्तिकायाः पतिचारिका समाहितिका ।]

समाहितिका—आलस्यम् भगवतो—समाहितिए ! देवस्त उवाच एतत् वीथङ्गत्वं येन ह्य
प्राप्तं त्वि । ता जाय पश्यन्त्युपातिषं मधुकरिषं प्रणेत्यमि । [परिक्रम्यावतोवय] एषा उव-
हौप्राप्तोषं प्रोत्तोप्रन्तो मधुकरिषा विदुर्वि । हा जाम एषं उपसृज्यामि । [प्राप्त्युत्तिम मयप्रत्या—
समाहितिके ! देवस्योपवनस्य वीथपूरकं गृहीतवाच्येति । उवाच तत्रमयवनपतिरका मधुकरिका-
मन्विष्यामि । एषा उपनोमालोकमवसोकवन्तो मधुकरिका उच्यति । उवाच देवा मुपसृज्यामि ।]

[एतः प्रविशत्युपायनपतिरका ।]

समाहितिका—[उपसृज्य] मधुकरिए ! अवि मुहो दे उज्जालुप्राकारो । [मधुकरिके ! अवि
मुहस्त उवाच व्यापारः ।]

मधुकरिका—महो समाहितिका । सहि साप्यं दे । [महो समाहितिका । सति स्वागतं है ।]

समाहितिका—हता भगवतो प्राप्तयेवि । प्रतितवाहस्य मधुकरिसज्जले ततहोरी देवी
देविस्वरण्या । ता वीथपूरपल मुसृजित्वं इच्छामि त्वि । [सति मयवनप्राप्त्यावि । प्रतिल-
पातिवाममाहउज्जैन उवनवतो देवी दृष्ट्या । ततोवपूरकेण पुन्यगितुमिच्छामीति ।]

तीसरा अङ्क

[परिक्रान्तिकायां दक्षी समाहितिका प्राती है ।]

समाहितिका—भगवतो कोमिकोने मुझे आज्ञा दी है कि समाहितिका । जाओ, महाराजके
उपवनमें एक द्विचोरिया नीवू तो ले जाओ । तो चरूं प्रमदवनकी मातिन मधुकरिका-
का पडा लगज्ज । [मुमकर देसती है ।] अरे, मुहारे भजोरकी मोर टकटकरी खगाए यह क्या
खडो है । तो चरूं इसके पास ।

[मातिन मधुकरिका प्राती है ।]

समाहितिका—[वाच आचर] महो मधुकरिका । तुम्हारे उपवनका वाम तो टीक-ठोक
भन रहा है न ?

मधुकरिका—अरे ! तुम हो समाहितिका । जाओ सखी, जाओ, तुम्हारा स्वागत है ।

समाहितिका—सखी । भगवतो कोमिकोने कहा है कि हमें खड़े हाव महाराजोते निघने
महो बाला पाहिए इसलिये नीवू तो मेट करके उबसे मिल लूंवी ।

मधुकरिका—एवं संनिहितं बीजपूरकं । कहेहि दाव भण्णोणत्तंघरिस्सिदाएँ लद्धाभरिमाणं
उयवेत्तं देविसस कवरो भगवतोएँ पत्तंसियो । (ननु संनिहितं बीजपूरकम् । कथं तावदन्त्योन्वत्तंघरिपित्तयो
नटिधाचार्ययोःपदेनं दृष्ट्वा कवरो भगवत्या प्रवृत्तितः ।)

समाहितिका—दुये वि कित भागमिणा पओघरिउत्ता थ । किंतु सिस्साएँ मातविघाएँ
गुणबिसेसेएँ गणदासस उयवेओ पत्तंसियो । (दावपि किचागमिनो प्रयोधनिपुणो च । किंतु सिष्ठाया
मातविकाया गुणविशेषेण गणदासस्योपदेवः प्रवृत्तितः ।)

मधुकरिका—अह मातविघाएँ कौलोएँ कोरिसं सुलोघरि । (अथ मातविकायत्त कौलीनं
कौलसं धूमते ।)

समाहितिका—माहं कित सत्तिस साहित्तो भट्ट । किंतु केवलं देवीएँ धारिणीएँ चित्तं
रक्खत्तो भत्तयो वहुत्तरु वसेवि । मातविघा वि इमेसु विघसेसु अल्लहमुत्ता विम मातवीमाता
मिताएँ लख्खीअदि । अहो अयरं श आखे । विसज्जेहि मं । (दाव किंच तस्या साभिलासो भर्ता ।
किंतु केवलं देव्या धारिण्याश्रित रक्षणात्मनः प्रभुत्वं दर्शयति मातविकाप्येषु दिवसेष्वनुभूतमुक्तेव
मातवीमाता स्तामा लक्षयते । अतः परं न जाने । विवृणु माएँ ।)

मधुकरिका—एवं साहायसन्निधौ बीजपूरकं गेह । (एतन्नास्त्वयसन्धितं बीजपूरकं गृहाण ।)

समाहितिका—तह । [इति नाट्येन बीजपूरकं गृहीत्वा] हला तुमं वि अहो पैत्तत्तरं साट्टगण-
मुस्ससाएँ फलं पावेहि । (तथा । सति स्वयंप्रवृत्त देवसत्तरं साधुजनकुटुम्बायाः फलं प्राप्नुहि ।)
[इति प्रसिप्ता ।]

मधुकरिका—सो, नीजू तो पास ही है । हाँ, यह तो बताओ कि वह जो दोनो नाट्या-
चार्यों का झगडा चल रहा था उनमे से भगवतीमे किसे अच्छा बताया ।

समाहितिका—जो जो दोनो ही शास्त्रके पण्डित धोर अभिनयकसामे बहुर है पर
गणदासमे अपनी शिष्या मातविकाको जैसा अच्छा सिखाया है उसे देख लेगेपर गणदास ही
मात दोनों मे अच्छे ठहराए गए हैं ।

मधुकरिका—श्रीर कहो, ये मातविकाके सम्बन्धमें कौसी-कौसी बातें सुननेमें भा
रही है ?

समाहितिका—हाँ, महाराज उसे चाहने तो बहुत लग गए हैं पर रानी धारिणीका मन
रखनेके सिमे से छुमकर प्रेम नहीं दिखाताते । इधर इन दिनों मातविका भी पहनकर उठायी
हुई मातवीकी माताके सभान कुम्हवाई जा रही है । अब इससे अधिक मैं कुछ नहीं
जानती हूँ । अच्छा तो छुट्टी दो ।

मधुकरिका—हाँ, सो, यह ठासपर झूतता हुआ नीजू तोडती जाओ ।

समाहितिका—अच्छ, [नीजू तोडनेका अभिनय करके] अच्छावतु करे सती ! साधुओंको
ऐसा करनेवा तुम्हे इससे भी अच्छा फल मिले । [चलती है ।]

मनुकरिणा—हृता मय लेख मन्दमूढ । अहं वि इमस्त चिरात्प्रयाणकुसुमोग्गमस्त तवलोप-
सोमस्त रोहतालिमित वेवोए लिबेदेमि । (सखि । समयेव मन्दमूढः प्रह्ववप्यस्य चिरायमाणकुसुमोद्-
गमस्त तपनीयाद्योनस्य रोहतालिमित देवो निवेदयामि ।)
समाहितिका—जुनवई । प्रहिमारी वसु तुड । (मुज्यते । प्रविकार क्षनु तप ।)
[इति निष्क्रम्यते]

॥ इति प्रवेशकः ॥

[ततः प्रविशति कामयमानावस्वो राजा विदूषकश्च ।]

राजा—[आगत्य विनोदय ।]

शरीरं चामं स्पृष्टसति दयितालिङ्गनमुखे
भवेन्मासं यद्यः चक्षुमपि न सा दृश्यत इति ।

तथा सारङ्गादया तमसि न कदाचिद्विरहितं
प्रसक्ते निराणे हृदय परितापं व्रजसि किम् ॥१॥

विदूषक—अस भवो धीर उग्रभय परितेजिदेव विदुः मय तस्योद्योगे मातृविकामे विमलही
वज्रतापसिमा । सुलालिका म मय को भवता सद्विदुः । (प्रस भवो बोधतापसिमा परितेजिदेव ।)
इष्टा मया तपनवशा मातृविकामे प्रियतपो वकुलावतिना । (मातृविका पापं यो भवता सद्विदुः ।)
राजा—तत किमुक्तवतो ।

मनुकरि—यसो सतो । दोनों साथ ही चलें । मुझे भी जबपर महारानीजीसे निवेदन
करता है कि यह सुनहरी पयोधर धारीक फूल ही नहीं रहा है, इसके फूलनेका कोई
वर्षाव किया जाना चाहिए ।
समाहितिका—ठीक ही है, तुम न कहोगे तो कौन कहेगा ?
[दोनों बची जाती हैं ।]

॥ प्रवेशकः ॥

[विदूषकके साथ काम-पोहित प्रवृत्तयै राजा वंटे दिखाई पड़े हैं ।]

राजा—[अपनी ओर देखकर] प्यारी को छाती न लगा पानेसे मेरे सरोरका सुखना भी
ठीक है धीर उग्र भय भरेके बिने भी देख न पाने की चिन्तामें बाँसोंका दबदबाए रहना भी
ठीक है, पर मेरे हृदय । यह तो बताओ कि उस हरिणकी छो भाँवोशांसी ओर मेरा भी
उदा कदेवासी प्यारीके उदा पास रहत हुए भी तुम क्यों इस प्रकार जंघे जा
रहे हो ॥१॥

विदूषक—यह अपनी ओर राजा-नमस्कार छोड़िए । मैं मातृविकाकी प्यारी सतो बहुत-
साधकितो मिला था और पंने आपका पूरा सदेवा गुण भी दिया है ।
राजा—इसपर यह क्या बोली ?

विदूषक—विष्णुवायेहि भट्टारकम् । अणुगहोदमिह इमिणा लिप्तोऽयम् । किन्तु सा तपस्विणी देवीए महिम्नं रक्षन्तीए साध्वरिक्खदो विष्णु लिहो ए सुहं समासावइदव्या । तहपि अद्वरत्तं । (विज्ञापय भट्टारकम् ।) अनुगहोतास्मत्प्रेन भिद्योमेन । किन्तु सा तपस्विनी देव्याधिर रक्षन्त्या सागरक्षित इव निधिनं सुख समासादयितव्या । तथापि यतिष्ये ।)

राजा—भगवन् सकल्पयोने । प्रतिबन्धवत्स्वपि विपक्षेऽप्यभिनिवेश्य किं तथा ग्रहरसि यथा ज्ञानोऽयं न कालाग्रतरस्तमो भवति । [सविस्मयम् ।]

ॐ रुजा हृदयप्रमाथिनी क च ते विश्वसनीयमायुधम् ।
मृदु तीक्ष्णतरं यदुच्यते तदिदं मनमय दृश्यते स्वयि ॥२॥

विदूषक.—ए भणामि तस्मि ताहिलिपजे किबो मए उवाचोवससेभो । ता पज्जमत्तायेवु भवं अण्णाणं । (ननु भणामि तस्मिन्नाधनीये कार्ये कुतो मयोपायोपक्षेपः । तत्पर्यवस्थापयतु भवान्तात्मानम् ।)

राजा—अयेम विवसतोपमुचितव्यापारविमुक्तेन चेतसा एव नु खलु यावयामि ।

विदूषक—अज्ज एवम् पडमावारमुहमासिह रत्तकुरवमासिह उपासल येसिम् एवम्भन्तापसार-
व्यदेसेए इरावरीए लिउलिपामुहेए मयिदो भवं—इण्णामि अज्जत्तेए सह बोलाहिरोहणं अण्णहियं त्ति । भवदा वि से पडिष्णाम् । ता पमदयलं एवम् पडयम् । (प्रदीप प्रथमावतारगुणानि प्रस्तुतकरकाभ्युदायन प्रेष्य नभसः-सावतारव्यपदेसेनेरावस्था निपुणिकामुनेन प्रापितो भवान्—इच्छा-
म्यार्यपुत्रेण सह बोलापिरोहणमनुभविषुमिति । भवताप्यस्य प्रतिज्ञातम् । तत्प्रमदवनमेव पद्याव ।)

विदूषक—उसने कहा—स्वामीसे निवेदन कर देना कि यह बात सौंपकर स्वामीने मुझपर यकी हुमा की है पर वह बेचारी महाराजीकी बंसी ही कबो देख-रेखमे है बीधे सौंपकी देव रेलमे कोई निधि हो । इसनिधे यह सहजमे हाथ लगनेवासी नहीं है फिर भी मैं जतन करूंगी ।

राजा—हे भगवान् कामदेव । वग वगपर बाधाधोते मरे हुए कार्ममे मुझे कैलाशर तुम मुझपर ऐसी चोटें क्यों किए जा रहे हो कि समय भी बाटे न बटे । [प्रवरत्रके साथ] हे कामदेव ! कहां तो एक घोर बीबी डाढ़स देनेवाला तुम्हारा बोधल कुम्भोवा पशुव घोर कहीं यह हृदयकी भी मध डालनेवाला प्रेमका रोग । यह कहावत तुमपर तो पूरी पूरी पटती दिताई है रही है कि जो जितने कोमल दिखाई पड़ते हैं वे उतने ही कठोर होते हैं ॥२॥

विदूषक—मैं कह तो रहा हूँ कि आपका मनोरथ पूरा करनेका मैं सब उपाय कर चुका हूँ इसलिये आप चिन्ता न कीजिए ।

राजा—अपने किसी काममें तो मेरा जी हो नहीं मग रहा है, इसलिये यह तो बताओ कि धात्रका यह क्या हुमा दिन बिताया कहीं जाय ?

विदूषक—मैंने शिके हुए सुहावने साथ कुरबनके फूलों धात्रके पास भेटने भेजकर रानी इरा-
वतीने धात्र ही निपुणिकाके झुंहे नये वस्त्रके धारनेवा कहाना लेकर कहाया है कि मैं धात्र धारंपुत्रके साथ झूमा झूजना चाहती हूँ, घोर आपने भी उनकी बात मानली है । इसलिये शनि-
उपर प्रमदवनकी घोर ही बना जाय ।

राजा—न सममिदम् ।

विद्रूपक — कह विघ्न । (कथमिव ।)

राजा—वयस्य निसर्गनिपुणः स्त्रियः । कथमन्यसंक्रान्ते ह्यवयुपलाभयन्तमपि ते तस्यो न मां सन्धयिष्यति । अतः परमपि ।

उचितः प्रणयो वरं विहन्तुं बहवः खण्डनहेतवो हि दृष्टाः ।

उपचारविधिर्भनस्विनीनां न तु पूर्वाम्यधिकोऽपि भावशून्यः ॥३॥

विद्वक् — सारिहृदि भवं चन्द्रेऽर्चयितुं बलिपण्यं एकपदे सिद्धो काकुत् । (नार्हति भवानन्तः-
प्रस्थित दाक्षिण्यमेकपदे प्रकृतः कर्तुम् ।)

राजा—[दिव्यतरङ्गः ।] सेन हि प्रमत्तवन्मार्गमादेशय ।

विदुषक — हयो हयो भय ! (इस हतो भवान् ।)

[सुमी परित्यामत् ।]

विदूषक — एषं एवं समद्वयं पश्यन्त्यस्तस्माद् पश्यन्त्यस्तस्माद् तुवरेषु विष्य भद्रान् पश्येत्सु ।
(नन्देतरश्चमवगम्य पश्यन्त्यस्तस्माद् पश्यन्त्यस्तस्माद् तुवरेषु विष्य भद्रान् पश्येत्सु ।)

राजा—[स्पर्शं कृत्वा] अभिजातः जसु वसन्त । सते वश्य—

उन्मत्तानां श्रवणसुभगैः कृजितैः कोकिलानां

सानुक्रोशं मनमिजहजः सद्यतां पृच्छतेय ।

अङ्गे चूतप्रसवसुरभिर्दक्षिणो मारुतो मे

सान्द्रस्पर्शः करतल इव व्याप्तो माधवेन ॥४॥

राजा—पर वहाँ चलना ठीक नहीं होगा ।

विद्वयन—क्यों ?

राजा—देखो मित्र ! सिंधी स्वभावसे ही बड़ी चट होती हैं। यहाँ चलकर यदि मैं उसीके मनका काम करने लूँ तो क्या वह माँव न देखे कि मेरा मन कहीं और उल्लास हुआ है ? इसलिये मैं समझता हूँ कि बहुत से इधर-उधरके बहाने बनाकर प्रेमकी उचित बात भी टाल जाना अच्छा है, पर चतुर सिंधीके भागे बनावटी प्रेम दिखसाना अच्छा नहीं है ॥३॥

बिदूषक—पर हम प्रचार दमिवावकी दमिवावकी प्रेमवा एकाएक निरादर करना भी तो ठीक नहीं होगा।

राजा—[सोचकर] तो बली । प्रमदवनकी घोर ही से बली ।

दिदूषक—इपरसे आइए देव ! इपरसे [दोनों घूमते हैं]

बिदूषण—सीजिए, यह रहा प्रमदवन। देखिए वायुसे हिलते हुए पत्तोंकी सँगमरसे यह प्रमदवन मानो आगकी मुसा रहा है कि मरुपट धीवर चले आइए।

राजा—[बापु सगनके सुलवा नाट्य करते हुए] वधवृष वसन्त या गृहेवा है । देखो मित्र ! मन्त्रशाले बोजिभोरी, राजकी मुहूर्तलैवासी भूजमि मानो वसन्त ऋतु मुमपर बडी दया दिससाते हुए यह वृद्ध रक्षा हो—क्यों त्रेमकी पीडा सहो जा रही है ? इधर खिनो हुई मामकी मन्त्ररिषोकी गन्धमें बसा हुआ रक्षित वन मेरे शरीरके समता हुआ ऐसा जान पड़ता है मानो वसन्तने अपना धायन्त गुण देनेवाला हाथ मेरे ऊपर रख दिया हो ॥४॥

विष् गोदमचापलादो दोतापरिब्रज्याए सखी मह चतखो । तुम दाव बहुष तवलीप्राप्तोभस्त
 वोहलं शिचट्टेहि ति । जइ सो पञ्चरत्नम्नरे कुसुमं दसेदि तदो अहं अहिनापूरदत्तं पसारं
 दावइसं ति । ता जाव रिषोभमूर्ति पदम यदा होमि दाव अणुपदं मह बलणालंकारहरपाए
 यत्नलावलिप्राए प्राप्रन्द्य । ता परिदेवइसं ताव धीसदं मुहूर्तम् । (यविष्ठातहृदयं मतरिममि-
 सपन्यात्मनोऽपि तावत्त्वजे । कुनो विभवः स्निग्धस्य सखीजनस्येव वृत्तान्तमाख्यातुम् । न जानेऽ-
 प्रतिवारमुक्त्वा वेदना कियन्त बाल मदनी मा नेष्यतीति । आ कुय सत्तु प्रस्थितास्मि । प्रादिष्टास्मि
 देव्या—मालविके गीतनचापलाहोसपरिभ्रष्टायाः सखी मम चरखी । स्व तावदगत्वा तपनीमाशोकस्य
 वोहद निर्वर्तंतेति । यखो पञ्चरात्राभ्यन्तरे कुसुमं वर्णयति ततोऽहमभिसापपूरयितुं प्रसाद दाव-
 विष्णामोति । तद्यावन्निचोगमूर्ति प्रथम मता भवामि तावदनुपद मम अरणाचङ्कारहस्तया बहुसा-
 वलिकापाऽनन्त्यम् । तत्परिदेवविष्ये तावद्विस्तव्य मुहूर्तकम् ।

[इति परिष्णामति ।]

विदूषक—[ह्वा] हो हो । बसस्त । एवं वस्तु सोहपाशुष्येतिवस्त सन्ध्याया उचरुवा ।
 (आश्रयमाश्रयम् । वयस्य । एतच्चनु सोधुगोहोपितस्य मरस्वष्टिकोपनता ।)

राजा—अये ! किमेतत् ।

विदूषक—एसा लादिपरिब्रज्येता ऊगुप्रभ्रष्टा एसाइली मालविद्या अदूरे बट्टि
 (एसा नातिपरिब्रज्येतासुखदनेकाविनी मालविकादूरे बर्तते ।)

राजा—[सहर्षम्] कथं मालविका ।

विदूषक—अहं ई । (अयं विष् ।)

शोक है । मुझसे देवी पारिखीने कहा है कि—मालविका ! योवतके सटखटपनसे मैं भूमेसे गिर
 पड़ी हूँ और मेरे दोनो पंरो में चोट लागई है इसलिये तुम्हीं जाकर सुनहरे अड़ोके कूलनेका उपाय
 कर मामो । यदि पाँच दिनोंके भीतर वह फूल उठेगा तो तुम्हें मुँह मीठा पुरस्कार दूँगी । मैं वहाँ
 पहलेसे ही पहुँच जाती हूँ क्योंकि बहुतबालिका भी मेरे पीछे पीछे विष्णु लेकर आ रही होगी
 जबतक मैं अकेले जी सरकार रो भी लूँगी ।

[धूमती है ।]

विदूषक—[उसे देखकर] हिः हिः ! [धूमती है ।] कैसे अचरजको बात है कि मित्र !
 यदिरासे मगवाले मनुष्यनो और अधिक सतवासा बनानेवाली कभी लौट भी आ पहुँची ।

राजा—अरे भौन-सो बरतु है ?

विदूषक—मह क्या पास हो धपगले कपड़े पहने मालविका अकेली उदास बंठी
 हुई है ।

राजा—[प्रहल्ल होकर] क्या मालविका है ?

विदूषक—और क्या ?

राजा — शयनमिदानीं जीवितमवलम्बितुम् ।

त्वदुपलम्भ्य समीपगतां श्रियां हृदयमृच्छ्वसितं मम विवर्तवम् ।

तरुवृतां पथिकस्य वलार्थिनः सरित्सारसितादिव सारसात् ॥६॥ ”

अथ यव तत्र भवती ।

विदूषकः—एता तदराइमज्जबो लिक्कन्ता । इवो ज्जेव्व परिवट्ठन्तो बीसइ । (एषा तदरा-
जियम्मान्निष्क्रान्तेत एव परिवर्तमाना हस्यते ।)

राजा—[विलोक्य सहर्षम्] अथय पश्याम्येषाम् ।

शिशुलं नितम्बदेशे मध्ये क्षामं समुन्नतं कृचपोः ।

अस्यायतं नयनयोर्मय जीवितमेतदायाति ॥७॥

सखे ! पूर्वस्नानादतिमनोहरायस्यान्तरमुपाट्ठा तन्मवती । तथा हि—

शरफाएदुपाएदु गएहस्थलेयमाभाति परिमिताभरया ।

माधवपरिणतपत्रा कतिपयकुसुमेव कुन्दलता ॥८॥

विदूषकः—एसा मि भवं विम मण्णुम्माहिता परिमिटा भविस्सि । (एषामि भवानिव
मनवन्माधिन परिमृष्टा भविष्यति ।)

राजा—सौहार्दमेवं पश्यति ।

मालविका—असं सो ललितसुन्दरमासदोहतापेक्षो अणिहीवकुसुमएवयो उल्लिखिवाए मह
मण्णुकरेहि असोओ । जाव एवस्स यण्णुअसीरसे शिलापट्टए शिलप्पण अण्णसं मिलोवेमि । (मम स-
कलितसुकुमारबोहदापेक्षो अण्णहीवकुसुमनेपथ्य उत्कण्ठिताया मयाञ्जुकरोत्पत्तौकः । यावदस्य
मण्णायसीतले शिलापट्टके निपण्णुत्तमं पिनोदयामि ।)

राजा—तत्र समझो कि अब मेरे प्राण यव जायेंगे । जैसे सारसका शब्द सुनकर प्यासे पथिकको
भरीसा हो जाता है कि पेड़की छुर-मुटके पीछे कोई नदी होगी वैसे ही तुम्हारे मुँहस मह बाव
सुनकर मेरे व्याकुल मनको बड़ा धीरज मिला है कि मालविका पास ही है ॥६॥ अच्छा वह
है कहाँ ?

विदूषक—वह नया वृक्षोंके बीचसे होती हुई इधर ही जाती दिखाई दे रही है ।

राजा—[देखकर प्रसन्नतासे] ऐसा रहा है भिन्न ! यह बड़े-बड़े नितम्बोवाली, पतली कमरवाली,
ठठे हुए स्तनवाली और बड़ी-बड़ी आँखोंवाली माँको मेरी जान ही चली आ रही हो ॥७॥
इसे जैसा मैंने पहले देखा था उससे कहीं बढ़कर सुन्दर तो यह अब लग रही है । और देखो—
इने-पिने आसूपाछ पहने हुए और सरकटके समान पीछे आँखोंवाली यह सुन्दरी वैसे ही दिखाई
दे रही है जैसे वसंतसे पके हुए पत्तोंवाली किसी कुन्दलतासे इने-पिने फूल बने रह गए हों ॥८॥

विदूषक—तो इन्हे भी आपके जैसा ही प्रेमका रोग लग गया होगा ।

राजा—मित्रोंको ऐसा ही गुमना करता है ।

मालविका—फूलोंकी सजावटसे सूना यह अञ्जोक वृद्ध भी अपने मनकी गुहावनी और प्यारी
धाव पूरी करानेके लिये मेरे ही समान अधीर हो रहा है । जो चर्चूँ तबतक इधरकी ठंडी छायाके
छले-पटरकी पटियापर बैठकर भी बहुधाऊँ ।

विदूषकः—सुखं भवता उपकम्पिष्येति तत्तद्दोषो मनोरे । (धृतं भवता उत्कण्ठितास्मीति सन्भवती मन्त्रयते ।)

राजा—नैतायता भवन्तं प्रसन्नतरुं मन्ये । कुतः—

घोडा कुस्वकरजसां किसलयपुटभेदशीकरानुगतः ।

अनिमित्तोत्कण्ठामपि जनयति मनसो मलयवातः ॥६॥

[मालविकोपविष्टा ।]

राजा—सखे ! इतस्तावदायां सन्नान्तरितौ भवावः ।

विदूषकः—इरावति विमं धनूरे देवतामि । (इरावतीमिवाधूरे प्रेले ।)

राजा—नहि कमलिनौ दृष्ट्वा प्राहमवेक्षते मतङ्गजः । [इति विलोकयन्निष्ठः ।]

मालविका—द्विषम शिरवत्सम्बलादो मरिचुमिलसिद्धिस्तौ तौ मणोरहादो विरम । किं मं प्राप्तासिम् । (हृदय । निरवतम्बनावतिमृगिसिक्तानो मनोरघाद्विरम । किं वामायास्य ।

[विदूषको राजानं वीक्षते ।]

राजा—प्रिये । कथं वामस्य स्नेहयम् ।

धौत्सुक्यहेतुं विदूषणोपि न त्वं तस्यावयोधैरुफलो न तर्कः ।

तथापि रम्भोरु करोमि लक्ष्यमात्मानमेषां परिदेवितानाम् ॥१०॥

विदूषकः—सर्वं भवदो लिख्यतमं भविरसवि । एषा अल्पिदमलसवेता विविरो ए

विदूषकः—तुना भावने ? वे कह रही है कि मैं बधीर हो रही हूँ ।

राजा—केवल इतनी-सी बातसे मैं यह नहीं मान सकता कि तुम ओके समझ गए हो । क्योंकि कुद्वयके परागमें बसा हुआ धीरे लिली हुई कोपलसे जलकी बूँदें उड़ा से जानेवाला मलमका पवन बिना कारण ही मनमें चाह भर रहा है ॥६॥

[मालविका बैठ जाती है ।]

राजा—प्राप्ति मित्र ! वनो, हम सोच भी लताके पीछे छिप चलें ।

विदूषकः—इरावतीजी भी अब घा ही रही होंगी ।

राजा—हापी जब कमलिनोको देख लेता है तब उसे जलमे छिपे हुए पाड़ियाल नहीं सूझते हैं । [देखता रहता है]

मालविका—मरे हृदय ! तू ऐसी चाह क्यों करता है जिसपर न तो अपना कोई बरा ही है और न जहाँ तक अपनी पहुँच हो है । मुझे सतानेमे तुझे मिल क्या रहा है ?

[विदूषक राजाकी ओर देखता है ।]

राजा—देखो प्यारी ! प्रेयकी जलती आल तो देखो । यद्यपि अभी तक तुमने अपनी व्याकुलताका कारण न तो सोसकर बताया और न अनुमानसे ही मुझे बुझाते ननकी ठीक ठीक चाह लग पा रही है फिर भी मैं तो यही समझ रहा हूँ कि तुम मेरे ही लिये इतना रो-कसप रही हो ॥१०॥

विदूषकः—प्रापका सदेह अभी दूर हुआ जा रहा है । सीबिष्ट, जिसके हाथ भावने सदेह

बकुलावलिप्रा उचक्रिवा । (सांप्रतं मयतो निःश्वस्य भविष्यति । एपापितमदनसदेसा विविक्ते ननु बकुलावलिकोपस्थिता ।)

राजा—अपि स्मरेवतावस्मदम्यपंभाय ।

विदूषकः—किं दासि एसा दासोए दुहिता तुह मखरं खेसं बिमुमरेदि । मरुं दाव ए बिमुमरेमि । (किमिदानीमेवा दास्या दुहिता तव गुरुकं खेसं विस्मरति । मरुं तावत्त विस्मरामि ।)

[प्रविश्य चरखालङ्कारहस्ता यकुनावलिका ।]

बकुलावलिका—अपि तुहं सहीए । (अपि सुख सत्याः ।)

मासविका—मरुहो बकुलावलिप्रा उचक्रिवा । हहि सामरं दे । उचयित । (मरुहो बकुलावलिकोपस्थिता । सति स्वागतं ते । उपविश ।)

बकुलावलिका—[उपविश्य] हला तुभं दासि ओगदाए लिउता । ता एवकं दे बसल उचखेहि जाव सालतभं सखुउरं अ करेमि । (सति स्वनिदानी योग्यतया नियुक्ता । तस्मादेकं ते चरखमुपनय यावत्सालच्छकं सखुपुरं अ करोमि ।)

मासविका—[प्राप्त्यनन्तरं] हिमप्र । अतं मुहिवाए उचक्रिवा मरुं बिहयो । कहुं दासि भंसाए मोखेसं । मरुहा एवं एव मे मित्मण्डलं भविस्तदि । (हृदय ! अतं सुलितया उपस्थितोऽयं विभवः । कथं वेदानीमात्मानं मोक्षयेयम् । अथवा एतदेव मे मृत्युपण्डनं भविष्यति ।)

बकुलावलिका—किं विचारैति । ऊसुप्रा बहु इमस्त सबलीप्रासोमस्त कुमुमोगमे देवी । (किं विचारयति । वत्सुका लल्लस्य तपनीयाशोकस्य कुमुमोदमे देवी ।)

राजा—कथमशोकदीहृदनिमित्तोऽयमारब्धः ।

मेवा या यह बकुलावलिका भी यहाँ आकेलेमे उसके पास पहुँच गई है ।

राजा—पर उसे क्या हमारी बात स्मरण होगी ?

विदूषक—जब मैं तक नहीं भूल पाया हूँ, तब भला यह छोटी कही ऐसी आवश्यक बात भूल सकती है ?

[पर सजानेकी सब सामग्री हाथमें लिए हुए बकुलावलिका आती है ।]

बकुलावलिका—कहो सखी, अच्छी तो हो ?

मासविका—अरे बकुलावलिका ! तुम आ गई स्वागत है सखी, पासो बैठो ।

बकुलावलिका—[बैठकर] सखी ! तुम्हें जो काम दिया गया है उसके लिये तुम्हीं योग्य थी । साम्रो भयना एक पैर झपर बहाओ तो मैं उसमें महावर सबाकर बिछुए पहता दूँ ।

मासविका—[मन ही मन] मेरे हृदय ! यह सम्मान देखकर बहुत पूजो मत । पर मैं इससे बच भी कैसे सकती हूँ । यह न करूँ तो कहीं इसीसे मेरा अन्तिम विचार न हो जाय ।

बकुलावलिका—खोच क्या रही हो ? जानती हो, इस सुनहरे यशोकके पूजनकी देवीकी यही चिन्ता है ।

राजा—अच्छा तो क्या यह सजाने मन्त्रोके पूजनेके लिये की जा रही है ।

विदूषक—किं नु बभु ज्ञास्यति तुभं । भद्रं कालस्यातो देवी नं शन्ये उरलोपचरेण योज-
इत्यादि त्वि । (किं नु बभु ज्ञास्यति त्वम् । मम कारणादेवैवामन्तःपुरेणैष्येन योजयिष्यतीति ।)

मानसिका—हृता भस्तिहे दत्तं ह्यं । (सति मयं वतावदेवम् ।) [इति पादमुपहरति ।]

बभुतावसिका—भद्रं सरोरम् त्वि मे । (यमि सरोरवसि मे ।)

[इति गत्येन चरन्नुत्सकारमारभते ।]

राजा—

चरणान्तनिवेशितां प्रियायाः सरसां पश्य वयस्य रागलेखाम् ।

प्रथमामिव पल्लवप्रसूतिं हरदम्बस्य मनोमवद्रुमस्य ॥११॥

विदूषक—चसरापुत्रयो ततकोटीयं अहिषारो उपविशतो । (चरणानुपस्थितमपराधा-
पयिकार उपश्लिष्य ।)

राजा—सम्प्रगाहं भवान् ।

नभस्मिलपरामेणाग्रपादेन धाला स्फुरितनरज्ज्वया द्वौ हन्तुमर्हत्पमेन ।

अकुतुमितमशोकं दोहदापेक्षया वा प्रथमितशिरमं वा कान्तमार्द्रावराधम् ॥१२॥

विदूषक—यद्विस्मयति ततहोवी मुनं यवराजम् । (प्रहरिष्यति वयभवती त्वामवराजम् ।)

राजा—पुष्पां प्रविण्णहीत वयः सिद्धिर्वागवो ब्राह्मणस्य ।

[ततः प्रविशति मुकुमवा इरावती चेटी च ।]

विदूषक—हो क्या आप सच कहेंगे कि महारानीने मेरे लिये इन्हे रसिकापके सिंगारोंसे सजाया होगा ।

मानसिका—तो सचो ! पर मुझे इसके लिये क्या करना । [वैर धार्य करती है ।]

बभुतावसिका—वाह री ! तू कोई बूझती है । मैं तो मुझे अपनी देह-जैसी ही प्यारी छप-
झटो हूँ । [वैर रंजनेका नाट्य भरती है]

राजा—विज । प्यारीके वैरमें महारानी की बीबी लगीरें बनी है ये ऐसी हिलाई पढ़
रही है मानी महादेवजीके लोपसे नवे कामदेवके लुप्तमें नई-नई कोंपलें फूट पाई हो ॥११॥

विदूषक—घोर नंसे इनके वैर है बीबा ही भय मो तो इन्हें छोड़ गया है ।

राजा—यह तो हीन कहूँ तुमने ! वयववाते हुए नखोंवासे घोर नई कोंपलेंके पेंजों-
वाते इस सुन्दरीके नरण या तो लूजनेकी इच्छा करनेवाले इस घनफूले शयोरुपर बहने
शोय है या प्रेममें लज्जित करनेवाले शिर मुगह हुए पतलके शिरपर बहने योग्य है ॥१२॥

विदूषक—तो सच कह लीजिए कि आप मो अचराय करे तो बहो चरण धावदर मो
पड़ेंगे ।

राजा—मनचाहा भविष्य भवनेवाले ब्राह्मणना धावोर्वाट निरपाये ।

[बासीके बाव मदिरा निर हुए रानी इरावती जाती है ।]

हरावती—हृज्जे लिउलिण ! सुणोमि बहुसो मरो किं इत्थिमावणस्स वित्तमण्डलं ति ।
मयि सच्चो एसो सोप्रवाओ । ('चेटि निपुणिके ! श्रुणोमि बहुसो मरः किं स्त्रीजनस्य विशेष-
मण्डनमिति । मयि सत्य एव शोकवादः ।

निपुणिका—पडमं भोप्रवाओ एव्य भअ सच्चो संयुतो । (प्रथमं शोकवाद एवाद्य सत्यः
संयुतः ।)

हरावती—प्रसं मयि तिण्हेल । कह्हि कुवो दाणि भोगमिदव्वं दोलाघरं पडमं पेवो
भट्टा ए वेत्ति । (प्रसं मयि स्नेहेन । कथय कुव हृदनीयमवन्तव्यं दोलागृहं प्रथमं गतो भर्ता
मे वेत्ति ।)

निपुणिका—भट्टिणीए भक्तिव्वदावो पणमादो । (भट्टिण्या भक्तिव्वदावपणयात् ।)

हरावती—भसं 'सेवाए । भअभयदं परिगाहिअ भणहि । (प्रसं श्रवया । मध्यस्थतो
परिग्रह्य भय ।)

निपुणिका—वत्ततोत्तरसयुवाघसलोलुकेल भअनगोदमेल कहिमं कुवरहु भट्टिणी ति ।
(वत्ततोत्तरसयुवाघसलोलुकेनार्थगोतमेन कथितं स्वरता भट्टिनीति ।)

हरावती—[संवत्सावत्तुं परिक्कण ।] हृज्जे ! मवेए किताममासं मराण भअउत्तंसव
वत्तलो हिमपं कुवरेवि । वत्तसा उल ख मह पसरन्ति । (चेटि ! मदेन वत्ताम्यमात्रमात्रमार्ग-
पुत्रस्य वत्तने हृदय स्वरवति चरली पुनर्न मम प्रसरतः ।)

निपुणिका—ए संपत्ते 'मह दोलाघरं । (मनु सपत्ने स्त्री दोलागृहम् ।)

हरावती—लिउलिण ! भअवत्तो एव ॥ दोसवि । (निपुणिके ! धार्मपुत्रोऽयं न दृश्यते ।)

निपुणिका—ए भट्टिणीए भोसोमहु । परिहावलिभितं काहि वि अदिदंए भत्तुणा

हरावती—निपुणिका ! मैं बहुत गुना करती हूँ कि यदिरा पीनेसे स्त्रियाँ बहुत सुन्दर लगने
लगती हैं । यह कहावत सच है क्या ?

निपुणिका—पहले तो यह कहावत ही थी, पर आज तो यह बात राख दिखाई दे रही है ।

हरावती—बस, बस ! मूढ़-देखी मत कह ! अच्छा यह बता कि यह पता कैसे चले कि
'स्वामी झूलेपरमे पहुँच गए हैं या नहीं ।

निपुणिका—भायका सखट प्रेम ही यह बता रहा है ।

हरावती—उत्तुरसुहाती रहने दो ! सत्तो-वप्पो छोडकर सब-उप बता ।

निपुणिका—वत्ततोत्तरसयुवाकी पूजाकी मेट पानेके सोमी धार्म गोतमने यह कहलाया है कि
देवीको भटपट भेज दो ।

हरावती—[मरने झूमकर चुपटी हुई] दासी ! अब इतना चढ़ गया है कि धार्मपुत्रको
देखनेकी धकुंसाहट होनेपर जो मेरे घर आये नहीं अब रहे हैं ।

निपुणिका—सोझिए, झूलेचरमे तो भाष पहुँच गईं ।

हरावती—भरी निपुणिका ! धार्मपुत्र तो यहाँ कहीं दिखाई ही नहीं पड़ रहे हैं ।

निपुणिका—स्वामिसे देखिए स्वामिनी ! धार्मसे छिठोतो करने के लिये स्वामी यहाँ कहीं

होवच्च । अग्रे वि विप्रद्विगुलदापरिविस्तृतं असोमसितापट्टम् पवितामो । (ननु भट्टिन्यवलोकयन्तु । परिहारादिमित्र कुत्राप्यदृष्टेन मर्ता भवितव्यम् । अत्रापि विप्रद्विगुलदापरिविस्तृतमशोकसितापट्टक प्रविष्टाव ।)

इरावती—तह । (तथा ।)

निपुणिका—[विलोक्य] आसोमसु भट्टिनी वृद्धकुरं विचिन्वन्तीषुं पिपीत्सिपाहि वसिष्ठं । (अशोकयन्तु भट्टिनी वृद्धकुरं विचिन्वन्तीषुं पिपीत्सिकामिदंष्टम् ।)

इरावती—कह विप्र एवं । (कथमिदम् ।)

निपुणिका—एसा असोमपाददद्यान्मात्रं मातृविकाग्रं बडलावसिमा असत्तालंकारं शिष्यद्वैवि । (एपाशोकपाददद्यान्मात्रं मातृविकाग्रं बडलावसिमा चरणालंकारं निर्वर्तयति ।)

इरावती—[शब्दा अवस्था] अशुभो इह मातृविकाग्रं ! कथं एव तद्धंति । (अशुभिरिव मातृविकाग्रं । कथमत्र तद्धंति ।)

निपुणिका—तद्धंति शोलापरिविस्तृतं सप्तमशतलापे देवीम् असोमदोहलाहिभारे मातृविकाग्रं शिष्यद्वैवि । अग्रे कथं देवी सप्तं यारिमंशुवरजुमलं परिमण्डलं सप्तमशतलापे । (तद्धंति शोलापरिविस्तृतं सप्तमशतलापे देवीम् असोमदोहलाहिभारे मातृविकाग्रं निवृत्तेति । अन्यथा कथं देवी स्वयं यारिमंशुवरजुमलं परिवर्तयाम्यनुज्ञास्यति ।)

इरावती—महो बन्धु से संभावना । (महो बन्धवस्य सन्भावना ।)

निपुणिका—किं तु सप्तमशतलापे भद्रा । (किं सप्तमशतलापे भद्रा ।)

छिने बैठे होंगे । बाहए, हम लोग भी विप्रगुले लता मध्यमें चलकर असोकके तले परस्परकी पटियापर बैठें ।

इरावती—ठीक है ।

निपुणिका—[देखकर] देखिए तो स्वामिनी ! हम चली भी यावकी कोंपलें दूढ़ने और काट लिया कीटियेने ।

इरावती—कैसे ?

निपुणिका—देखिए न । यहाँ बकुलावसिका, असोककी छाया में बैठी हुई मातृविकाके पूर रंग रही है ।

इरावती—[कुछ सन्देह करके] मातृविका तो इपर जाने नहीं पातो, भाव क्या बात हो गई है ?

निपुणिका—मैं समझती हूँ कि मूलपरछे बिर जानेके कारण महारानीके पैरोंमें थोड़ा घा गई है इसलिये अशोकके फूलनेके लिये उसपर लाल मारनेका काम मातृविकाको ही छोड़ा गया होगा । नहीं तो क्या महारानी कमो अपने पैरके विषुए उधारकर अपनी दातियोंको पहननेके लिये मला दे सकती हैं ?

इरावती—हाँ, हो न हो यही बात है ।

निपुणिका—तो क्या महाराजको न दूँडिया ?

इरावती—हृत्ता ए मे चतस्रा अण्ववो पवहन्ति । मदी मंविमारेवि । मासञ्चिस्स दाव भन्त ममिस्स । [मासविका निवर्णं । निस्सयात्त्वगतम् ।] ठास्से वल्लु कादरं मे हिमम । (सखि ! न मे चरणावन्वतः प्रवर्तते । मदी मां निकारयति । मासञ्चिस्स तावदात्तं ममिष्यामि । स्थाने अल्लु कातरं मे हृदयम् ।)

बकुलावतिका—[मासविकार्यं धारणं दर्शयन्ती ।] अयि रोमवि दे रामरेहाविण्णत्तो । (अयि रोचते ते रामरेखाविन्यासः ।)

मासविका—हृत्ता ! अराखो भत्तखं छि तज्जेमि खं पत्तंसिनुं । केण पवाहणकत्ताए महिणी-साति । (सखि ! पारमनञ्जरण इति लज्जे एवं प्रसन्नितुम् । केन प्रसाधनकलामामग्निनीतासि ।)

बकुलावतिका—एख वल्लु भत्तुखो सोलम्हि । (मन सल्लु भर्तुं निष्यासिम् ।)

बिहूपकः—तुपरेहि दाव खं गुदवमिस्सत्ताए । (स्वरय तावदेना गुरुदक्षिणार्थम् ।)

मासविका—विट्ठिमा ख ममिस्साति । (दिष्ट्या न गदितसि ।)

बकुलावतिका—अवदेतात्तुत्ता चत्तस्रा सप्पिम्म अण्व दाव यप्पिदा भविस्स । [पणं विनोदयात्त्वगतम्] हन्त सिद्धो मे दण्णो । [प्रकाशम्] सखि एहत्त दे चत्तस्रस्स अण्वसिखो रासणिण्णवो । केवणं गुहमावरो लम्भइरव्णो । यहवा पकाव एवं ठाखं । (अवदेष्टानुक्ती धारणी लम्भदाय तावद्व्यवृत्ता भविष्यामि । हन्त सिद्धो मे दणः । सखि एकस्म ते चरणभ्यावसितो पागनिक्षेपः । केवन् गुहमावरो लम्भयितव्यः । प्रपवा प्रकाशमेवैवस्थानम् ।)

राजा—सखे पश्य ।

आर्द्रालक्तकमस्याञ्चरणं मुखमारुतेन शोषयितुम् ।

इरावती—सखी, मेरे पैर हो धागे नहीं बँध रहे हैं । इधर मय भी मुझे देहाल किए डाल रहा है, पर मेरे मनमें जो लटकन बँध गया है, यह तो बिटाना ही होया । [मासविकाको देखकर और समझकर मन ही मन] सन्धी सब बातोंसे तो मेरा जो जल जाता है ।

बकुलावतिका—[मासविकाको उसका रेंगा हुआ पैर दिखाता है ।] कहीं महारानी रेंगाई मुझे प्रकट करेगी ?

मासविका—सखी ! अपने पैरकी प्रशंसा करते मुझे खान लगती है पर यह तो बताओ कि इतनी बढ़िया सिंगारको कत्ता तुम्हें दिखाई है किनारे ?

बकुलावतिका—भरो ! यह कत्ता तो मेरे स्वयं महाराजसे सीखी है ।

बिहूपक—जाइए जाइए, झपटकर इससे गुरुदक्षिणा तो माँग लीजिए ।

मासविका—बड़ी भागवान हो कि इतनेपर भी तुम्हें अभिमान खू तक नहीं गया है ।

बकुलावतिका—पर मेरे जो कुछ सोचा है वही कत्ता बिलबानेके योग्य मुझारे चरण पाकर भाज तो मुझे प्रबन्ध अभिमान हो रहा है । [रेंगाईको देखकर मन ही मन] वाह भाज हो तो मेरा अभिमान सधा हुआ है । [प्रकट] ओ सखी ! तुम्हारा एक पैर तो रेंग गया है मय इसे मुँहसे फूँककर गुलाना भर रह गया है, पर यहाँ तो बजार भी बस रहो है ।

राजा—देखो मित्र ! भीखे महारजसे रंगे हुए इसके पैरको मुँहकी फूँकसे सुझाकर इसकी

प्रतिपन्नः प्रथमतः संप्रति सेवावकाशो मे ॥१३॥ ।

विदूषक—कुदी बे अणुसभो । एद भवदा चिरकमेण प्रहस्यविदम्ब । (कुतस्तेऽनुशय । एतावद्भवता चिरक्रमेणानुभवितव्यम् ।)

बहुलावतिका—सहि ! अरुणसतपत विप्र सोहृदि दे चलख । सव्वहा भत्तुणो बद्धपरिच-
ट्टिणो होहि । (सधि अरुणसतपतमिव सोमते ते चरखम् । सर्वथा भर्तुरङ्गपरिवर्तिनी भव ।)

[इरावती निपुणिकामवेसते ।]

राजा—ममेदमशो ।

मालविका—हता वा अयमस्मीम भन्तेहि । (सधि वा अयवनीय मन्त्रयस्व ।)

बहुलावतिका—मन्तददस्य एव्य मग्गितव मए । (मन्त्रयितव्यमेव मन्त्रित मया ।)

मालविका—विप्रा वसु कहू तव । (प्रिया खखहू तव ।)

बहुलावतिका—ए केवल मए । (न केवल मम ।)

मालविका—कस वा अणुसस । (कस्य वाग्यस्य ।)

बहुलावतिका—गुणेषु महिणिवेसिणो भत्तुणो मि । (गुणेष्वग्निविवेचिनो भर्तुरपि ।)

मालविका—अग्निम स तेति । एद एव्व मइ खरिय । (अलीक मग्गयसे । एतदेव मग्नि-
मासि ।)

बहुलावतिका—तव सुद खरिय । भत्तुणो कित्तेसु सुन्दरपाण्डरेसु बोसइ मग्गेसु । (सत्य
रमि मासि । अतं क्कप्पेसु सुन्दरपाण्डरेसु हस्यतेऽङ्गेषु ।)

निपुणिका—पढम वसिख विप्र ह्हासए उत्तर । (प्रथम वसिष्ठमिव ह्हासाया उत्तरम् ।)

सेवा करनका यह सबसे अच्छा व्यवहार मेरे हाथ लगा है ॥१३॥

विदूषक—तो पछताये क्यों है ? आपको बहुत दिनोंतक ऐसी सेवा करनेको मिलेगी ।

बहुलावतिका—घरी सखी ! तेरा धर तो बात कमलके समान खिल। यह रहा है । मैं तो
मनाती हूँ कि तू सदा महाराजकी गोदमे ही सेठी रहे ।

[इरावती निपुणिकाको धीर देखती है ।]

राजा—मैं भी यही भावोर्षादि दता हूँ ।

मालविका—सखी ! ऐसी बे सिरपेरकी बातें न कहा करो ।

बहुलावतिका—जो नहना चाहिए यही तो मैं कह रही हूँ ।

मालविका—मैं सुन्दारी प्यापी हूँ न ? इसीविये ।

बहुलावतिका—बेवच मेरी हो नहीं ।

मालविका—धीर दूधरे किसीकी ।

बहुलावतिका—तेरे गुलोंपर रीके हुए महाराजकी मी ।

मालविका—तू नूठ बहती है । सुन्दार उनका वनिक भी प्रेम नहीं है ।

बहुलावतिका—हाँ तपसुच गुमपर तो नहीं, पर महाराजके दुर्बल, पीले सुन्दर अंगोंपर वह
प्रेम अमर्य दिखाई दता है ।

निपुणिका—इस खोटीन एसा उत्तर दिया है माना पहलसे ही सोचे नेंदी हो ।

मकुलावतिका—मधुरामो मधुरामस्य परिवित्तरव्यो त्ति सुमरस्यस्यं यमालीकरेहि ।
(मधुरामोऽनुरागेण परीक्षितव्य इति मुधनवपन प्रमाखोक्तम् ।)

मातविका—किं मत्तणो लव्हेण मग्नेति (किमात्मनश्छन्देन मन्थयति ।)

मकुलावतिका—एहि एहि । मत्तणो वणु एदाई परममिदुसाई मरजराई मत्तन्तरि-
साई । (महि नहि । मत्तुः कस्वेतानि प्रशयमृदुभाष्ययराणि मन्थान्तरिणानि ।)

मातविका—हस्ता ! देवीं चन्तिम ए मे हिममं विस्ततदि । (सन्ति ! देवी चित्तपिशा न मे
हृष्य विन्दयति ।)

मकुलावतिका—मुष्टे ! मरसंवातो भविस्सदि त्ति वसन्ताववारसस्यस्सं किं ॥ वृद्धस्यो
मोदंसिक्खो । (मुष्टे ! मरसंवातो मणियतीति वसन्ताववारसस्यस्सं किं न पूतमस्योऽवधि-
तस्यः ।)

मातविका—मुष्टं वाप पुज्जावे मज्झतस्स सहायिणी होहि । (त्वं तावद् वुजति । मज्झतः
सहायिनी भव ।)

मकुलावतिका—मिमिदुपुरी सज्जावतिका वणु म्हां । (विपरीतुरभिर्मकुलावतिका
कल्पिहम् ।)

राजा—तामु मकुलावतिके साधु ।

मावज्ञानानन्तरं प्रस्तुतेन प्रत्याख्यते दत्तयुक्तोत्तरेण ।

वाक्येनेन्यं स्थापिता स्वे निदेशे स्थाने प्राणाः कामिनां दूत्पधीनाः ॥१४॥

मकुलावतिका—मच्छा सज्जमोकी एक वाउ तो तुम मान लो कि प्रेमकी परीक्षा प्रेमसे
ही होती है ।

मातविका—क्या यह सब अपने मनसे चढ़ती जा रही हो ?

मकुलावतिका—नहीं अपने मनसे नहीं । ये प्रेमभरे कोमल प्रक्षर स्वयं महाराजने अपने
मुखसे कहे हैं ।

मातविका—पर सखी ! उधर महाराजीका व्यवहार देखती हैं तो सारी भाषा ठड़ी पड़
जाती है ।

मकुलावतिका—भरी पनबी । क्या बीरीके डरसे लोग अपने कानोंसे वसन्तकी रानी
की हुई मानकी मजरीको पहने हो नहीं ?

मातविका—मुझपर कोई बिपदा आवे तो तुम मुझे छोड़ न देना ।

मकुलावतिका—भरी मेरा तो नाम ही मकुलावतिका है । मैं तो जितनी ही अधिक
मरती जाऊँगी उतनी ही अधिक मन्थ दूँगी ।

राजा—वाह री मकुलावतिका वाह—इस समय इसके मनकी ठीक-ठीक पाह मे धेनेपर
जो मेरे प्रेमका प्रस्ताव करके धीरे इसके नहीं नहीं करनेपर भी इसे जोड़-तोड़का उत्तर
देकर जो तुमने इसे पका कर लिया है इससे मुझे विश्वास हो गया कि खचमुच प्रेमियोंके प्राण
पूतियोंकी ही मुट्ठीमें रहते हैं ॥१४॥

इरावती—हृदये ! येवञ्च कारिद एवञ्च बटलावलिप्राप्य एवास्ति पदम् मालविकाय । (यति । पश्य मारितमेव बकुलावलिर्कथेतस्मिन्पद मालविकाया ।)

निपुष्टिका—भट्टिणि ! महिम्नास्त उदयो उच्येते । (भट्टिनि । अधिकारस्योचित उप-
देश ।)

इरावती—ठाणे कसु सकिन्द मे हिमप्र । यहीवत्या अण्तर चित्तइस्त । (स्नाने श्रु
सङ्कि मे हृदयम् । गृहीतार्थान्तर चित्तमिच्छामि)

बकुलावलि—एतो दुवीधो वि दे सिव्युत्तपरिकम्पा चलतो । जाव ए सण्णर करेनि ।
[इति नाट्येन सपुरवृत्तनामुच्य ।] हवा ! बट्टेहि । प्रसोमविभातइत्तम वेधोए सिमोम
अण्णचिट्ठ । (एव द्वितीयोऽपि ते निवृत्तपरिकर्मा चरन् । यावदेव सवपुर करोमि । हवा उत्तिष्ठ ।
प्रशोकविकासयितुक देव्या नियोगमनुष्ठिष्ठ ।)

[उभे उत्तिष्ठत ।]

इरावती—कुदो वैवीध सिमोमो । होतु दासि । (युतो देव्या नियोग भवत्पिदानीम् ।)

बकुलावलि—एतो उवाण्डराप्रो समप्रोमवसमो पुरदो दे बट्टह । (एव उवाण्डराण
समप्रोमक्षम पुरतस्ते वतते ।)

मालविका—[सहृदम्] किं भट्टा । (किं भर्ता ।)

बकुलावलि—[सस्मितम्] ए वाय भट्टा । एतो प्रसोमसाहायसम्पदी पत्तव-
गुच्छप्रो । प्रोसेहि ए । (न तावद्भर्ता । एपोऽप्रोश्नासावतम्पदी पत्तवगुच्छ । मयत्तसर्वनम् ।)

[मालविका विषाद नाटयति ।]

विदूषक—कुद भवदा । (धुत भवता ।)

इरावती—देख लखी ! मालविकाको इतना सम्मान इस बकुलावलिकाने ही दिलाया है ।

निपुष्टिका—स्वामिनी ! इसे जसा सिखाया गया होवा वैसा ही तो कर रही है ।

इरावती—मुझ जो छटका था वह सब राज ही निकला । सब बातोंका ठीक ठीक ब्योप
लेकर मैं इसका उपाय सोचूँगी ।

बकुलावलि—तो तुम्हारा दूसरा पैर भी रँग गया । लामो इसमें भी बिजुए पहना
दूँ । [इति बिजुए पहननेका नाट्य करती है ।] अब उठो लखी ! महाराजने प्रशोकके फूलनेके
लिये जो काम तुम्हें धोया है वह पूरा कर दो [दोनों उठ खड़ी होती हैं ।]

इरावती—तुमने महाराजजीका काम तुन सिधा न । अच्छा इसे हो जाने दो ।

बकुलावलि—तो, यह राय रखे मरा और आनन्द सूटने योग्य तुम्हारे भागे ही तो है ।

मालविका—[प्रसन्न होकर] कौन महाराज ?

बकुलावलि—[मुसकुराकर] अरे महाराज नहीं । यह प्रशोककी शाखामें छटकनेवाले
पत्तोंका गुच्छ । सो इसे जानीपर सजा दो ।

[मालविका दुखी होती है ।]

विदूषक—सुना आपने ।

राजा—सत्ये । पर्याप्तमेतावता कामिनाम् ।

अनातुरोत्कथितयोः प्रसिद्धयता समागमेनापि रतिर्न मां प्रति ।

१। परस्परप्राप्तिनिराशयोर्वरं शरीरनाशोऽपि समानुरागयोः ॥१५॥

। [मातृशिरसा रचितपल्लवावतसा पादमञ्जरीं प्राद्विहोति ।]

१ राजा—वयस्यः ।

आदाय कर्णकिसलयमस्मादियमत्र चरणमर्पयति ।

उभयोः सदृशविनिमयादात्मानं वञ्चितं मन्ये ॥१६॥

• वकुलावलिका—हृत्ता ! त्वयि मे देहो । शिरागुह्यो घनं प्रसोषो जह कुमुदोऽग्नेरममरो भवे जो हे वसन्तसङ्कारं सम्भिन्न । (मति नास्ति ते जेयः । निर्गुह्योऽप्यमशोको यदि कुमुदोऽग्नेरममरो भवेत् यस्तोऽप्यममरकार सम्भवा ।)

राजा—

अनेन तनुमध्या मुखरनूपुराराविणा

नवाम्बुरुहकोमलेन चरखेन संभावितः ।

अशोक यदि सद्य एव मुकुलैर्न संपत्स्यसे

पृथा गृहसि दोहदं ललितकामिसाधारणम् ॥१७॥

सखे ! वसनानुसरणपूर्वकं प्रवेष्टुमिच्छामि ।

राजा—मित्र ! प्रेमियोंके लिये इतना भी बहुत है । देखो ! जहाँ एक मिलनके लिये व्याकुल हो और दूसरा मिलना ही न चाहता हो वहाँ उनका मिलना न मिलना बराबर है । पर जहाँ दोनों मिलनके लिये सधीर हो और दोनों एक दूसरेके मिलनके लालच भी बैठे हों वहाँ प्राण भी दे देना पड़े तो बुरा नहीं है ॥१५॥

[मातृशिरसा वस्त्रोका मुख्या कानपर सटकाकर अशोकपर लात जमाती है ।]

राजा—मित्र ! देखो इसने अपने कानोपर सनानेके लिये जो प्रसोषके पत्ते लिए हो उसके बदनमें इसने अपना पत्ती-जैसा चरख भी उल्टे ओंठमें दे दिया । इन दोनोंमें एक जैसी बरतुका बदला-बदला करके मुझे तो छत्रमुख कहोका न छोड़ा क्योंकि अब मैं इससे इस प्रकार प्रेमकी वस्तुओंकी बदला-बदली कैसे कर पाऊँगा ॥१६॥

वकुलावलिका—सखी ! यदि तुम्हारे चरखोंकी पूजा पाकर भी यह अशोक न झुके तो इसमें तुम्हें दोष नहीं लगेगा परन अशोक ही निकम्मा समझ जायगा ।

राजा—एच पठनी कमरवाली सुन्दरीका जो नये कमलके समान कोमल चरण विपुलोंकी मंकारसे गूँच रहा है, उससे भावदा पाकर भी यदि तुममें कविर्षा न फूट पाई तो मैं यही समझूँगा कि सुन्दरीकी लावसे फूल उठनेकी जो चाह मस्त प्रेमियोंके मनमें होती है वह तुम्हारे मनमें स्थिर हो उरपन्न हुई ॥१७॥ मित्र ! हम लोगोंकी कोई बात चले तो हम भी आगे बढ़ चलें ।

विदूषक—एहि । एं परिहासइस्त्वं । (एहि एना परिहासयिष्यामि ।)

[उभौ प्रवेशं कुरुतः ।]

निपुष्टिका—मट्टिणि मट्टिणि । मट्टा एतय पबिसिदि । (मट्टिनि मट्टिनि । मर्ताइय प्रविशति इरावती—इदं मय पदमं चिन्तितं हिमएण । (एतन्मय प्रथमं चिन्तितं हृदयेन)

विदूषक—[उपेत्य] भोदि । जुतं खाम भतहोवि पिम्वप्रस्तो भयं भतोभो एं वामपादे ताहिदं । (भवति । पुत्र नाम भयन्नवति प्रियवपस्योऽयमशोको ननु वामपादेन तादयितुम् ।)

उभे—[सहप्रयम्] जम्हो जम्हा । (महो मर्ता ।)

विदूषक—जम्हावसिण । गहोवापाए तुइ भतहोवी ईरितं भविणमं करन्ती कोत लिधारिवा । (बहुनापत्तिके । बहुताप्येवा इवाभयवतीइयमभिमयं कुर्वन्ती करान्म निवारिता

[मातृविका भय रूपयति ।]

निपुष्टिका—मट्टिणि पेशत । कि पवरीं भयन्नयोरमेण । (मट्टिनि । पश्य । कि प्रवृत्तम गीतमेव ।)

इरावती—बहू वसु बहूवाभू भयन्नाहा जीविस्सवि । (कथं सतु बहूशम्भुराग्यया जीविष्यति

बहुभाषतिवा—भय ! एसा देवीए लिघोचं मज्झिमिट्टिदि । एवस्ति मज्झिमे परवरी इ पसीरु भददा । (भयं । एसा देव्या नियोगपनुतिष्यति । एतस्मिन्मतिकमे परवरीयम् । प्रथं मर्ता ।) [इत्यात्मना सहैना प्रस्थितायति ।]

विदूषक—आइय । मैं इसे जरा देखता हूँ न ।

[दोनों धावे करते हैं ।]

निपुष्टिका—स्वामिनी ! स्वामिनी ! महाराज धा रहे हैं ।

इरावती—मह तो मैं पहले ही छाह गई थी ।

विदूषक—[पाछ जाकर] कहिये देवी । क्या हमारे ध्यारे मित्र भक्तोकर अपनी बाईं जमाकर धावने बीई मर्यादा काय बिचा है ?

दोनों—[पत्राकर] धरे ! महाराज !

विदूषक—क्यों खुलावमिका ! सब-कुछ जान-बूझकर भी तुमने इन्हें ऐसी दिठाई करीया क्यों नहीं ?

[भयविका अत्येका मात्स्य करतो है ।]

निपुष्टिका—स्वामिनी ! आपने धायं गीतमकी बात देखी ?

इरावती—ऐसा न करे तो इस बैसनोटिका पेट कैसे पले ।

बहुभाषमिका—धायं ! यह महारानीकी धायाका सामन हो रहा है । इसीलिए ऐसी दिठाई करनेसे परवरा थी । महाराज धमा करें ।

[धावने साथ मातृविकारो भी उनसे पंरोमें भुजाती है ।]

राजा—यद्येवमनपराधाति । उत्तिष्ठ भद्रे । [हस्तेन धृष्टीवैनामुत्थापयति ।]

विदूषकः—कुज्जइ देवी एत्थमाएइदव्वा । (मुग्धते देव्यन् मानयितव्या ।)

राजा—[बिहस्य]

किसलयमृदोर्विलासिनि कठिने निहतस्य पादपस्कन्धे ।

चरणस्य न ते बाधा संप्रति वामोरु वामस्य ॥१८॥

[मासविक्रम सज्जा नाटयति ।]

हरावती—महो एवलीइकप्पहिअमो अज्जजसो । (महो मयनोउत्पन्नहृदय आर्यपुत्र ।)

मासविका—अज्जावलिए । एहि । अज्जुअइ अज्जसो एअमो देवीए एअदेइइ ।

(बकुलावलिके ! एहि । अनुहितमात्मनो नियम देव्यं निवेदयाम् ।)

बकुलावलिका—विण्णामेहि भट्टार पित्तजेहि त्ति । (विज्ञापय भर्तारं विशर्जयति ।)

राजा—भद्रे आस्मसि । अम तावत्पुत्तमावत्तरमापस्यं अयत्ताम् ।

बकुलावलिका—अयत्तिवा सुत्ताहि । आएवेइ भट्ट । (अवहिता शृणु । आज्ञापयतु भर्ता ।)

राजा—

धृतिपुष्पमयमपि जनो बध्नाति न तादृशं चिरात्प्रभृति ।

स्पर्शामृतेन पूरय दोहदमस्याप्यनन्यरुचेः ॥१९॥

राजा—अज्ज, यह बात है तो कोई दोष नहीं । उठो भद्रे [हाथसे एकटक मासविकाको चढाता है ।]

विदूषक—ठीक है, महाराजकी बात तो माननी ही चाहिए थी ।

राजा—[देखकर] क्यों पितागिनी ! तुम्हारा यह पत्थरके समान कीमल क्यों पैर मशीकपर मगलसे कही दुखने लगे नहीं समा है ? ॥१८॥

[मासविका सज्जामेका नाट्य करती है ।]

हरावती—वाह, इस समय आर्यपुत्रका हृदय मयसनके समान कीमल बन गया है ।

मासविका—माधो बकुलावलिका । महाराजकी सूचना दे आये कि आपकी आज्ञा पूरी कर दी गई है ।

बकुलावलिका—पहले महाराजसे तो यह प्रार्थना करो कि वे मुझे छोड़ दें ।

राजा—तुम जा सकती हो भद्रे । पर एक बात मेरी सुनती बाधो ।

बकुलावलिका—देखो, ध्यान देकर सुनो । हाँ महाराज ! आज्ञा कीजिए ।

राजा—देखो सुन्दरी ! बहुत दिनोंसे इसी अशोकके समान ही मुझमें भी वीरजके फूल नहीं आ रहे हैं । इसलिये मुझे छोड़कर और किसीसे प्रेम न करनेवाले मुझ सेवकके मनकी साथ भी अपने स्पर्शका अमृत पिताकर आज तुम पूरी पर दो ॥१९॥

इरावती—[सहस्रोपमृत्यु] पूरेहि पूरेहि । असोप्रो कुसुमं स दसेदि । अयं उद्य पुष्पदि एव ।
(पूरय पूरय । असोकः कुसुमं न दर्शयति । अयं पुनः पुष्पत्वेव ।)

[सर्वे इरावतीं दृष्ट्वा सन्मान्ताः ।]

राजा—[अथर्व] ययस्य । का प्रतिपत्तिरत्र ।

विदूषकः—किं शय्यं । जह्वावत् एव । (किमन्यत् । जह्वावत्मेव ।)

इरावती—अललावति । तुण साह उक्कन्तं । दाणि सफसमभरणं करेहि अज्जउत्तं ।
(सकुलादलिके । त्वया साधूपकान्तम् इदानीं सपत्न्यामर्थिनं कुर्वामिपुनम् ।)

सोमे—एसोददु भट्टिणी । कासो अन्हे भसुखो दलमपरिग्रहस्स । (प्रसीदतु भट्टिनी । के भावां भर्तुः प्रणयपरिग्रहस्य ।) [इति निष्क्रान्ते ।]

इरावती—अविस्सलसोभा धुरित्ता । अतसो वञ्चलवपसं वमाखोरिस अविज्जताए वाह-
अण्णीदगहीवभित्ताए विअ हरिखोए एवं स विण्णार्व मए । (अविश्वसनीयाः पुत्र्याः । आसमी
वञ्चनावचनं प्रमाणीकृत्यालित्या व्याघ्रजनगोतगृहीतचित्तयैव हरिणैस्तन्म विशात मया ।)

विदूषकः—[जनान्तिकम्] भो पश्चिज्जेहि किपि उत्तरम् । कम्मगहीदेण वि कुम्भीसएण
संघिच्छेदे तिक्खि ओम्मि ति वत्तय्वं होरि । (भो प्रतिपद्यस्व किमप्युत्तरम् । कर्मगृहीतानि
कुम्भीलकेन सघिच्छेदे निक्षिप्ताभवीति वक्तव्यं भवति ।)

राजा—सुन्दरि ! न मे आसविश्या कभिर्दुःखः । मया त्वं विरयसीति यमाकथंविवात्मा
विनीहिता ।

इरावती—[सहसा आगे बढ़कर] हाँ हाँ पूरी करो, पूरी करो । असोकमे अभी फूल नहीं
आए है पर ये तो अभीसे फूलने जा रहे हैं ।

[इरावतीको देखकर सब घबरा पाते हैं ।]

राजा—[अलग] बहो मित्र ! अब क्या किया जाय ।

विदूषक—भोर क्या किया जायगा ! वहिए पैरोंका सहारा लिया जाय (नाग चला जाय ।)

इरावती—बोरो भुत्तावविका ! यह तुने अच्छा काम लिया है ? जा, अब कर न भाव-
पुत्रकी साथ पूरी !

सोनों—भोय न बीजिए महाधनी ! भला हम कोन होती हैं महाराजकी साथ पूरी करनेवाली ।

[दोनों बची जाती हैं ।]

इरावती—सचमुच भुत्तावका कोई विश्वास नहीं है । मैं क्या जानती थी कि जैसे व्यापके मोत
सुन्दर हरिणी सब शुभ-बुध सोकर आसमें फँस जाती है वैसे ही मैं भी इनको चिकनी-
पुत्रकी बातोंपर विश्वास करके इनके पन्धमें फँस जाऊँगी ।

विदूषक—[अलग] भवी, ॥॥ तो बात बताइए । भोरो करते हुए पकड़ा हुआ भोर भी
यह कह देता है कि मैं भोरो करनेके लिये अब नहीं लगा रहा था वरन् यह देखना चाहता था कि
मैंने मोत पोरनेकी बिद्या ठीक ठीक सीख पाई है या नहीं ।

राजा—सुन्दरी ! मालविकासे हमें क्या भेदा-देना है । तुम्हारे मानमें देर हो रही थी इसलिये
पोड़ा बहुत भी बहसा रहे थे ।

हरावती—विस्तारणीयमिति । एष मयि विस्तारं ईदृशं विनोदमुत्तमं प्रज्जलतेषु उपलब्ध
ति । अणुतहा बुधत्वमादौष्ट्यम् एषं ख करोमदि । (विस्वसनीयोर्यसि । त मया विज्ञातईदृश
विनोदवृत्तान्तप्रार्थनपुनरेखोपलब्ध इति । अन्यथा दुःखमागम्यैवं न क्रियते ।)

विदूषक—भा बाबू अतमोदो रक्षितेषुस्व स्वरोहं करेहि । समावदितेण वेवोए
परिचारिद्वित्यप्राज्ञणेन संकहावि नद्ध धारीमदि एष्य तुमं एष्व यमासं । (भा तावदप्रभवतो
दाक्षिण्यस्योपरोपं क्रुद्ध । समीपदृष्टेन देव्याः परिचारित्रीजनेन सकथावि यदि वार्यते मय त्वमेव
प्रवाण्यम् ।)

हरावती—एवं संकहा स्वाम होहु । किंति अत्तासं धामासइदं । (ननु संकथा नाम भवतु ।
किंनिस्वात्मादमायासविष्यामि [इति रूपा प्रस्थिता ।]

राजा—[मृगुत्तरम् ।] प्रसीदतु भवती ।

[हरावती रत्नसंघारितवरणा व्रजत्येव ।]

राजा—सुन्दरि ! म शोभते प्रसूयिनि जने निरपेक्षता ।

हरावती—तठ । अविस्मरणीयमिहप्रमोति । (शठ । अविस्मरणीयवृत्तयोर्यसि ।)

राजा—

शठ इति मयि तावदस्तु ते परिनयवत्पवधीरथा प्रिये ।

चरणपतितया न चण्डि ! तां विसृजसि मेखलयापि याचिता ॥२०॥

हरावती—इहं पि ह्वासा तुमं एष्व प्रसृत्तरदि । (इयमपि ह्वासा त्वानेवानुसरति ।)

[इति रत्नसंघारित राजान तावद्विदुमिच्छति ।]

हरावती—जी हाँ ! बड़े सच्चे हैं आप ! मैं नहीं जानती थी कि धार्यपुत्रको मन बहसानेके
लिये यही बस्तु मिली है, नहीं तो मैं धर्माग्नि जीधमे पड़ती ही क्यों !

विदूषक—देखिए, आप महाराजको साधारण सिध्दाचार दिखानेके मत रोकिए । यदि
आप यह चाहती हैं कि पांच माई हुई महारानीकी दासियोंके भी महाराज बात चीत न करें तो
ठीक है, वही सही ।

हरावती—प्रकृता तो हीने दीजिए बात-चीत, मैं क्यों प्रपना जी दुखार्ज ! [क्रोधमें भरी
हुई जाती जाती है ।]

राजा—[पीछे-पीछे जाते हुए] भरे मान जाओ देवी ।

[हरावती घरमें फँसी हुई तपस्वीकी पसोटी हुई बखनेको होती है ।]

राजा—सुन्दरी ! अपने प्यारे से रूठना तुम्हें योग्य नहीं देता ।

हरावती—भरे शठ ! तैरा मुझे तनिक भी विश्वास नहीं है ।

राजा—तुमने शठ कहकर जो मेरा निरादर किया है, यह तो कोई नई बात नहीं है । वर
हे पंडी ! जब तुम्हारी तपस्वी भी तुम्हारे बेरोपर पड़कर लम्बा गाँव रही है तब भी क्या तुम
अपना क्रोध न छोड़ोगी ॥२०॥

हरावती—तो, यह निगोड़ी जी तुम्हारे ही पीछे जा रही है ।

[तपस्वी लेकर राजाको मारना चाहती है ।]

राजा—अपराध ! इयमिरावती ।

पाप्पामारा हेमकाञ्चीगुणेन श्रोणीविम्बादप्युपेक्षाच्युतेन ।

चण्डी चण्डं दन्तुमभ्युद्यता यां विद्युद्दाम्ना मेघराजीव विन्ध्यम् ॥२१॥

इरावती—[वं एष भूयो वि अवरटं करोति । (कि मामेव भूयोऽप्यपठतां करोषि ।)

राजा—[गरजन हस्तमस्तम्बपति ।]

अपराधिनि मयि दण्डं मंहरसि किमुद्यतं कुटिलकेशि ।

वर्धयसि विलमिंतं त्वं दासवनायाय कुप्यसि च ॥२२॥

भूतमिरमनुजातम् । [इति पादयोः पतति ।]

इरावती—[रा वतु इमे मानविष्णवसरा वा हे हस्तिमोह तं पुरविस्तसि । (न सहिवमो मानविकावरणो यो ते हर्षदोहं पूरयिष्यते ।)

[इति निष्क्रान्ता सह पेट्या ।]

विदूषकः—अट्टेहि अतिरप्याचोऽमि । (उचिष्ठः अट्टवसादीर्घसि ।)

राजा—[वापायेरावतीमपवन्तु ।] तावत्तं गतैव श्रिया ।

विदूषकः—अपराध ! विद्विषा इमस्त अचिरादस्त अन्त्याभूता गता भूता । ता वरं तिर्य्यं अचरुमात्र जाय अक्षारयो तासि विरं अचरुमात्रं परिणमत्तं एव करोति । (मय्य । विष्टमानेनाधि-मनेनाद्वान्ता यनैवा तद्वय धोऽप्यपवन्तामः वाचदक्षारयो उचिधिवतनुषं प्रतिपमनं न करोति ।)

।

राजा—[मयि । योर्विदि योऽपि मेरे, ओपये तात ओर अयने विद्वन्मोपरणे अनादरके वारण एते हई अरवतीको रीरीमे मुम्हकी पीटनी हई यह इरावती, इस समय ऐसी लग रही है मानो यही वरकी विष्णवसवपर विरकी गिराकर उसे काड़ने पर अगारु हो गई हो ॥२१॥

इरावती—अवन्त ! तो तुम मुझपर ही कोप मगाने बने हो ?

राजा—[तभी उचित हाथ पकड़ लेता है ।] हे मुंदराने बातोंबातों । तुम मुझ अपराध काईशानेकी दंड देते-देते रुक क्यों गई ? इस समय मुझ दासपर जो तुम कोप कर रही हो एतने मुझकी सोचा ओर भी बड़ गई है ॥२२॥ तो आने मेरी बात मान लो है । [दोनों पर विष्णु है ।]

इरावती—ये मानविकाके दंड नहीं है जो तुम्हारे मनकी छाप पूरी कर देवे । [दावकीके छाप बनी बनी है ।]

विदूषक—[मयि । अन्त ही एव एव बोलाय हो यह मय ।]

राजा—[उदर इरावतीको न देखकर] तो क्या प्यारी बनी ही गई ?

विदूषक—[मयि । अन्त बड़ा मय्य ही । अन्तों वि मे दावकी विद्वान्तर विद्वान्तर बात की । यकी हई ओर की दंड के वी-वी अन्त ही काई बनी के मय्य एतके मय्य अन्ती बात-बातकर विर रही उचिर न ओर दाव ।]

राजा—प्रहो मदनस्य वैयम्पम् ।

मन्ये प्रियाहृतमनास्तस्याः प्रशिपातलङ्घनं सेवाम् ।

एवं हि प्रणयवती सा शक्यमुपेक्षितुं कुपिता ॥२३॥

[इति निष्क्रान्तः सह वयस्येन]

इति तृतीयोऽङ्कः

राजा—आह ! प्रेम भी कौन कठोर होता है । ऐसे समय जब कि मासविका मेरा मन हर ले गई हो, उस समय मेरे हाथ-पैर मोड़ोपर नी उतरा सठकर चला आना अच्छा ही हुआ क्योंकि अब तो यह मुझसे सठ ही बँटी है इसलिये थोड़े दिनों तक तो इस प्रेमिकासे धसन रहा ही जा सकता है ॥२३॥

[बकने निज निदूषकके साथ जाता है ।]

॥ तीसरा अंक समाप्त ॥

चतुर्थोऽङ्कः

[उत्त प्रचलित पर्वसुको राजा प्रतीहारी व ।]

राजा—[आत्मगतम्]

तामाश्रित्य श्रुतिपथ्यतामाशया वद्धमूलः
संप्राप्तायां नयनविषयं रुद्ररामप्रवालः ।
हस्तस्पर्शैर्मुकुलित इव ध्यक्षरोमोद्रमत्वा-
त्कुप्यैरिक्तान्तं मनसिजतरुमां रसज्ञं फलस्य ॥१॥

[प्रकाशम्] सते गीतम् ।

प्रतीहारी—जेदु जेदु भट्टा । सत्तलिहिदो गोदसो । [जयतु जयतु भर्ता । सत्तलिहिदो
गीतम् ।]

राजा—[आत्मगतम्] या. भासविकावुत्तान्दमाकाय मया प्रेषिता ।
विदूषक—[प्रविष्ट] बद्धु जय । [बर्षा जयम्]

राजा—जयसेने । जानोहि तावत्तव देवीधारिणी सख्यवरणत्वाद्गोदयत इति ।

प्रतीहारी—जं देवी भासिलेवि । [मदेव भासविकावति ।] [इति निष्प्रगल्भा ।]

चौथा अङ्क

[अनमनने-से राजा आते हैं और वाचने प्रतीहारी आती है ।]

राजा—[मन हो मन] अपनी प्यारीके सम्बन्धकी बातेंसे बड़ो हुई आशा हो जिसकी जड़ है,
प्यारीकी देतनेसे जया हुआ प्रेम हो जिसके पते हैं और प्यारीके हाथके स्पर्शसे धारीरमें सते हुए
रौंगटे ही जिसके फूल हैं, वह प्रेमका वृक्ष हो मुझे वतका मोठा फल भी बछाये ॥१॥

[प्रगट] मित्र गीतम् ।

प्रतीहारी—जय हो, महाराजकी जय हो । गीतमजी यहाँ नहीं है ।

राजा—[मन ही मन] हाँ, ठीक है । मैंने ही तो उन्हें भासविकाकी टोह देनेके लिये
भेजा है ।

विदूषक—[आवर] बघाई है पापको ।

राजा—जयसेना । जाओ देखो तो, देवी धारिणी अपना चोट लगा हुआ पंर लिए कहीं
भी बहना रहो हैं ।

प्रतीहारी—जैसे देवकी आता । [चली जाती है ।]

राजा—गौतम ! को वृत्तान्तस्तत्रभवत्यास्ते सख्याः ।

विदूषकः—जो बिदालगहोवाए परतुबिआए । (जो बिदालगृहीतायाः परवृत्तिकथायाः ।)

राजा—[सविधादम्] कथमित्थं ।

विदूषकः—सा वलु तपस्वितासी तए एउ पिङ्गलज्ज्झेए सारभाण्डभूषणए पुहाए विप्र छिरिस्तता ।
(सा खलु तपस्विनी तया पिङ्गलास्या सारभाण्डभूषणदे गुह्यामिव निधिस्ता ।)

राजा—तनु मत्संपर्कमुपलभ्य ।

विदूषकः—ग्रह ईं । (मथ किम् ।)

राजा—क एवं विमुक्तोऽस्माकम् येन चण्डीकृता देवी ।

विदूषकः—मुलासु भवं परिण्यानिआए ने कहिबं । द्विप्रो किल ततहीवी इरावती
दमङ्कतवत्तए देवि सुहृद्विद्या घासरा । (मूलोसु भवात् परित्राजिकया ने कथितम् । ह्यः
किञ्च तन्भवतीरावती राजाकृतचरणां देवी मुजपृच्छिकागता ।)

राजा—ततस्ततः ।

विदूषकः—तहो सा देवीए पुच्छिदा । कि छ घोसोहरो बल्लहजलो सि । ताए उर्त ।
मम्हो को उपकारी जं परिजणे संकल्लं बल्लहजलं एउ खासोमदि । (ततः सा देव्या पृष्टा ।
किन्त्ववसोक्तो बल्लमज्जन इति । उच्यते ।) मम्हो व उपचारः यत्परिजने संकल्लं बल्लमार्थं न
शायते ।)

राजा—ग्रहो भिषेदाहतेऽपि मालिकायाभयमुपन्यासः शक्यति ।

राजा—कहो, गौतम ! तुम्हारी सती मालिकाके क्या समाचार है ।

विदूषक—रही जो दिल्लीके पजेमें पड़ी हुई कोबलके होते हैं ।

राजा—[डुसी होकर] कैसे ?

विदूषक—देवारी तपस्विनीको उस पीली साँलवाली ने नीचके भंडारवाली काबकोठरीमें
बन्ध कर रक्का है ।

राजा—मेरे प्रेमकी बात जाननेके कारण ही उसे बन्ध किया होगा ।

विदूषक—और क्या ?

राजा—ऐसा कीन हथारा बैरी है जिसने देवीको इतना मड़का दिया है ।

विदूषक—मुनि ! मुझसे परित्राजिकाजी कह रही थीं कि कल परसे पोटा खाई हुई देवी
पारिलीसे कुशत-मंगल पूछने दरावती यहाँ पहुँची थी ।

राजा—तब-तब ?

विदूषक—तब उनसे महाराजोने पूछा—कहो, प्रियतमसे दार भेंट हुई थी ? दारपर
ये बोली—मध उन्हें प्रियतम न कहिए ! क्या भाप नहीं जानती कि ये मव दासिमसे
प्रेम करने लगे हैं ?

राजा—यद्यपि बात खोलकर नहीं कहों गई, फिर भी जान पड़ता है कि उन्होंने
मालिकाको सख्य करके ही यह बात कही होगी ।

विदूषकः—शबो ताए अण्डुअन्विज्जमाए। सा भयदो अविशुभं अन्तरेण परिगदत्था किंवा देवी । (तदस्तयानुबन्धमाना सा भयतोऽविनयमन्तरेण परिगतार्या कृता देवी ।)

राजा—अहो दीर्घरोषता तत्रभवत्याः । अतः परं कथय ।

विदूषकः—किं अत्रं । मातृविद्या बडत्तायल्लिमा अ पातामवासं लिगतपदोघो अविदुसु-
अदारं खागकण्ठप्राप्नो विप्र अणुहोन्ति । (किमपरम् । मातृविद्या बहुलावलिका च पातामवासं
निगलपद्यावद्वृत्त्युपाद नाभकन्यके इवानुभवतः ।)

राजा—कष्टं कष्टम् ।

मधुरस्वरा परभृता अमरी च विदुश्चूतसङ्गिन्यौ ।

फोटरमकालवृष्ट्या प्रयत्नपुरोवात्तया गमिते ॥२॥

अप्यन कस्यचिदुपकमस्य मतिः स्यात् ।

विदूषकः—कहं भवससि । न सादभाग्यरज्यावारिना माहविद्या देवीए संविद्धा । मह
संगुलीअममुद्धिं अदेरिज्जस ल भोत्तवा सुए इदासा मातृविद्या बडत्तायल्लिमा अ लि ।
(कपं भविष्यति । मरुतारमाण्ड गृहभ्यापारिता मातृविद्या देव्या अविष्टा । समागुलीयकमुद्रिका-
महृता न गोत्तवा रयवा हतासा मातृविद्या बहुलावलिका चेति ।)

राजा—[नि श्वस्य सपरामर्शम् ।] सखे । किमप्य कर्तव्यम् ।

विदूषकः—[विचिन्त्य] अरिय एरुअ वाओ । (अस्त्यभोपायः ।)

राजा—अ इय ।

विदूषक—इसपर जब उन्होंने बहुत हठ किया तो इरावतीने महारानीके भागे भापका
पूरा कथा बिट्टा खोलकर रस दिया ।

राजा—जान पड़ता है इरावती बहुत कुपित हो गई हैं । प्रज्जा, फिर क्या हुआ ?

विदूषक—घोर क्या होना था ? मातृविद्या और बहुलावलिकाके पैरमे धैरी बालकर
उन्हें नागकन्याओके समान ऐसे पाठासमें ले जाकर रस दिया गया है जहाँ सूर्यकी किरणों
में नहीं पहुँच सकती ।

राजा—यह तो बड़ा बुरा हुआ कि बोरे हुए भ्रामके साथ रहनेवाली मिठबोली कोयल
और मीरी दोनोंको, प्रचण्ड पुरवाई घोर असमयको बचनि बैठके खोसलेमे बन्द कर दिया
॥२॥ कहो, अब उन्हें छुड़ानेका कोई उपाय हो सकता है या नहीं ?

विदूषक—उपाय क्या होना । उस निचले भटारकी रसवाली मातृविद्याको देवीने यह
कह दिया है कि इस अभागिन मालविका और बहुलावलिकाको बिना मेरी प्रमूढी देखे
कभी न छोड़ना ।

राजा—[लंबी साँस लेते हुए कुछ सोचकर] क्या मित्र ! अब क्या किया जाय ।

विदूषक—[सोचकर] एक उपाय है ।

राजा—क्या ?

विदूषकः—[सहृष्ट्येणम्] को वि भविदो मुलिस्सवि । कण्ठो दे वहेमि । [इत्युपहित्य कण्ठे] एवम् विम । (कोप्यहृष्टः शोष्यति । कण्ठे ते कथयामि एवमिव ।) [इत्यावेदयति ।]

राजा—[सहृद्यम्] मुहुः । प्रयुज्यतां सिद्धये ।

[प्रविश्य]

प्रतीहारी—देव ! पवादसभरसे देवी स्त्रिषण्णा रत्तचन्दनपाणिणा परिषण्णहस्तगविण धनखेण भद्रवदीए कहाहि विणोविज्जभाणा चिट्ठवि । (देव ! प्रवातवाधने देवी निषण्णा रत्तचन्दनपाणिणा परिषण्णहस्तगतेन धरत्तेन भगवत्था कयाविविनोत्तमाना तिष्ठति ।)

राजा—तस्याहमत्प्रयेनायोभ्योप्रभवसरः ।

विदूषकः—भो ! गच्छतु भवं । ग्रहं वि हेवि वेवित्तुं परित्तपाखी भवित्थं । (भो गच्छतु भवान् । ग्रहमपि देखी इन्द्रगणितपाणिमविध्यामि ।)

राजा—जयसेनायास्तावदस्मद्ग्रहस्यं विविधं कुच ।

विदूषकः—तह ! [इति कण्ठे] एवम् विम होवि । (तथा । एवमिव भवति ।) [इत्यावेदयति शिष्टान्तः ।]

राजा—जयसेने ! प्रवातवाधनमार्थमावेद्य ।

प्रतीहारी—इवो इवो देवो ! (इत इवो देवः ।)

[ततः प्रविशति लयनस्या देवी परिप्राजिका विधनतनन परिवारः ।]

देवी—भद्रमहि ! रमणिज्जं कहावाणु । तवो तवो । (भगवति । रमणीयं कथावस्तु । ततस्ततः ।)

विदूषकः—[दृष्ट-उपर देलकर] कोई खिचकर मुन न रह्य हो ? भाइए, जानमें कहूँ । [परत सटकर जानमें] यह हो सकता है । [जानमें कह देता है ।]

राजा—[प्रसन्न होकर] बहुत बढ़िका । बस कर ही आलो ।

प्रतीहारी—[आकर] देव ! इस समय महाराजी बमारखाने भवनमें पर्सेणपर बैठी हुई हैं, इनके पैरमें लाल चन्दन सया हुआ है, दासियाँ पैरकी सँभाले हुए हैं और परिप्राजिकाजी कथा सुनाकर उनका जी बहला रही हैं ।

राजा—तो हमारे लिये वहाँ जानेका अच्छा अवसर है ।

विदूषक—अच्छा आप धसिए । मैं भी हाथमें कुछ भेंट लेकर महाराजीको देतने पारहा हूँ ।

राजा—जयसेनाको भी अपनी सब बातें समझा दो ।

विदूषक—अच्छा । [जयसेनाके जानमें] देखो ! ऐसे करता होगा ।

[सब बताकर चला जाता है ।]

राजा—जयसेना ! बमारखाने भवनतक से ली चलो ।

प्रतीहारी—इपरसे भाइए देव ! इधरसे ।

[पर्सेणपर बैठी हुई देवी दिखाई देती है । पादमें परिप्राजिका और बहुतसी दासियाँ बैठी हैं ।]

परिप्राजिका—यह तो बड़ी सुन्दर कथा कहो आपने । हाँ भगवती, लो धामे क्या हुआ ।

पारिणी—हरो हरो । अहं एव बभूवुस्त जीवितसंशयनिमित्तं जादग्निः । (हा धिक् हा धिक् । अहमेव ब्राह्मणस्य जीवितसंशयनिमित्तं जादग्निः ।)

विदूषक—तोहि अप्रोप्रत्ययप्रकाशलाभो पसारितो दक्षिणहस्तो । तवो कोटरसिङ्गदेस्य सप्पकेशेण कातेण दटोम्हि । एवं एवाणि बुवे वंसणपवाणि । (तस्मिन्मन्त्रोक्तस्तवकाशलाभप्रसारितो दक्षिणहस्तः । ततः कोटरनिर्गतेन सर्पस्वेण कालेन दटोर्गतिः । नन्वेते द्वे दशनपदे ।) [इति दशे दशंपति]

परिचाजिका—तेन हि दशजदेवः पूर्वकर्मेति ध्रुयते । स तावदस्य किमताम् ।

छेदो दंशस्य दाहो वा चतेर्वा रक्तमोक्षणम् ।

एतानि दष्टमात्राणामायुष्याः श्रतिपचयः ॥४॥

राजा—संप्रति विषयेषानां कर्म । जयसेने । श्रुतिद्विः क्षिप्रमावीक्षताम् ।

प्रतीहारी—जं देवो पावेणुवि । (यदेव भाजापवर्षति ।) [इति निष्क्रान्ता ।]

विदूषक—अहो पावेण निष्पुला गहोरोम्हि । (अहो पावेन मृत्युना पृथ्वीतोऽस्मि ।)

राजा—सा कातरो भूः । अविषोऽपि कवाचिद्गो मयेत् ।

विदूषक—कहं एव भाहस्त । तिमसिमा भन्ति मे मज्झाहं । (कर्म न मेध्यामि । तिमसिमा-भन्ति मेज्झामि ।) [इति विषयेण क्लमति ।]

पारिणी—हा दसिर्दंशुह विभारेण भवतन्मय बभूवुः । (हा दक्षिणमधुम विकारेणा भवतन्म-यं ब्राह्मणम् ।)

पारिणी—हाय ! हाय !! मेरे ही कारण बेचारे ब्राह्मणके प्राण सकटमे पड़े हैं ।

विदूषक—यहाँ ज्यों ही मैंने भधीकके फूसोंका गुच्छा तोड़नेके लिये दाहिना हाथ फैलाया त्यों ही उसके सोलनेमेसे निकलकर सर्प बने हुए उस काखने भाकर काट दिया । यह देखिए उसके दाँतोंके चिह्न । [चिह्न दिखाता है ।]

परिचाजिका—साँपके इसनेपर जो पहला काम किया जाता है वह कर वालो, जहाँ साँपने काटा हो, उस भगको काट दिया जाय या जला दिया जाय या पावमेसे खूँ निकाल दिया याय तो साँपसे ठसे हुए मनुष्यके प्राण बच सकते हैं ॥४॥

राजा—मय वो विष उतरानेवाले बँध भावें सभी काम चल सकता है । जयसेना ! जाओ भटपट श्रुतिद्विको तो बुला लाओ ।

प्रतीहारी—जैसे देवकी आज्ञा !

विदूषक—हाय रे ! यह पापी मोत मुझे भाकर पकट बैठी है ।

राजा—यबराधो मत । कीज जाने साँप विप्लवा न भी हो ।

विदूषक—क्यों न भवराज, मेरे धँस-धँस जकड़े जा रहे हैं ।

[विष चढ़नेका माटव करता है ।]

पारिणी—हाय ! हाय !! इसकी दशा तो बिगड़ती जा रही है । कोई संभालो इस ब्राह्मणको ।

[परिचाजिका धवराकर संभालती है ।]

[परिमृशिता सप्तभ्रममवलम्बते ।]

विदूषकः—[राजान विलोक्य] भो । भवदो बालसादो वि पिप्रवन्नस्तोमि । तं विप्रारिप्र
प्रपुता मे जगत्पीय जोगक्षमं चहेहि । (भोः । भवतो बाल्पादपि प्रियवयस्योऽस्मि । तं विचार्य-
पुनया मे जनन्या योगक्षेम बह ।)

राजा—मा भयभीतम् । स्थिरो भव । अचिरात्त्यां चञ्चलचित्तस्यप्यति ।

[प्रविश्य]

जयसेना—देव । आद्याविदो ध्रुवसिद्धोविष्णोर्वेदि इह पृथ्व्य आसीन्ननु सो गोदमो ति । (देव ।
माशावितो ध्रुवसिद्धिविज्ञापयति—इहैवान्योयता स गीतम् इति ।

राजा—सैन हि प्रतिगृहीतमेव सप्तमयतः सकाशं प्रापय ।

जयसेना—तदा । (तथा ।)

विदूषकः—[देवी विलोक्य] भोदि । जोषेन्नं वा ख वा । जं मए अस्तमवन्त सैयमाणेण ते
अपरद्वे त मरितेहि । (अर्वाति । जोषेय वा न वा । यन्मयात्रमयन्त सेवमानेन तेऽपराद्वे तन्मृष्यस्य ।)

भारिणी—बोहृक होहि । (दोषांयुजं ।)

[निष्क्रान्तो विदूषकः प्रतोहारी च ।]

राजा—प्रवृत्तिभोक्तव्यस्यो ध्रुवसिद्धिमपि यथाप्यनमानं तद्विद्यन्तं न मय्ये ।

[प्रविश्य]

जयसेना—जेटु जेटु भट्टा । ध्रुवसिद्धोविष्णोर्वेदि—उदकुम्भविहाणेण सप्पमुद्दिप्तं किपि
कप्पियथ । तं अण्णोसोअनुति । (जयतु जयतु भर्ता । ध्रुवसिद्धिविज्ञापयति—उदकुम्भविधानेन
सर्वमुद्दिप्तं किमपि कल्पमित्यम् । तदस्मिप्यवानिति ।)

विदूषक—[राजाकी ओर देखकर] देखिए ! मैं बचपनसे आपके प्रिय मित्र रहा हूँ, इस नाते
मेरी निपुली माँकी देखभाल करते रहिएगा ।

राजा—डरो मत गीतम् । धीरज धरो । मयी बँस तुम्हें प्रकृष्ट कर दूँगे ।

जयसेना—[जाकर] देव ! मैंने ध्रुवसिद्धको आपके आस्था सुनायी । उन्होंने कहा है कि
यही मे भ्राया जाय ।

राजा—तो इन्हें संभासकर उनके पास ले चलो ।

जयसेना—प्रकृष्टा ।

विदूषक—[महाराजीको देखकर] देवो ! नीन जाने मैं जीऊँ या न जीऊँ । सेवा करते हुए
मुझसे जो कुछ मूल-मूल हुई हो वह समा जीजिएगा ।

भारिणी—जगवान बरे तुम बहुत दिन जीयो ।

[विदूषक धीरे प्रतोहारी चले जाते हैं ।]

राजा—यद् वैवाय स्वभावते ही इतना डरपोर है कि जँसा नाम बँसे पुण्णाने ध्रुवसिद्धपर
भी इसे मरोसा नहीं होता ।

जयसेना—[आकर] जय हो, स्वामीजी जय हो । ध्रुवसिद्धिने कहा है कि पानीके घड़ेके
सहारे बिगो ऐसी मस्तुते बिच उनास जायया जितने नावमुद्रा जदी हुई हो इसलिये कोई ऐसी
यानु ईइकर लामो ।

पारिणी—इहं सत्पुत्रिभ्यं संगुलीयम् । पञ्चा मम हस्ते देहि स्वं । (इदं सर्पमुद्रितमङ्गु-
लीयकम् । पञ्चान्मम हस्ते देहि तत् ।) [इत्यङ्गुलीयकं ददाति ।]

[प्रतीहारी वृहीत्वा प्रस्थिता ।]

राजा—जयसेने ! कर्मसिद्धायाश्च प्रतिपत्तिमानय ।

प्रतीहारी—जं देवो आह्वयेदि । (गृहेषु भ्राजापयति ।)

परिब्राजिका—यथा मे हृदयमाचण्डे तथा निधिषो भोतमः ।

राजा—भूपादेयम् ।

[प्रविश्य]

जयसेना—जिह्वा देवो मया । लिपुत्तबिस्रमेगो भोयमो मुहुतेषु पकिविषो संवृत्तो ।
(जयज्जु देवो मतां । निवृत्ता विषयवेगो गौतमो मुहुतेषु प्रकृतिरवः संवृत्तः ।)

पारिणी—विद्विषा वषणीयाचो मुत्तमिह । (विद्विषा वषणीयान्मुत्तमिह ।)

प्रतीहारी—एसो उल्ल बाहुतमो समषो विष्णवेदि—राजकण्ठं बहु मन्तिदण्णं दंसरोल्ल
मण्णगहं इच्छामि ति । (एष पुनर्वाहृतकोऽभात्यो विज्ञापयति—राजकार्यं बहु मन्त्रयितव्यं
दर्शनेनानुग्रहमिच्छामीति ।)

पारिणी—गच्छज्जु मज्जज्जलो कज्जसिद्धीए ! (गच्छज्जुवायंपुत्रः कार्यसिद्धये ।)

राजा—देवि । भ्रातृपाकान्तोऽयमुद्देशः शीतक्रिया आस्या यजः प्रजस्ता । तदभ्यन्नं भोयतां
शपयन्तु ।

देवी—भ्रातिगायो ! मज्जज्जलवमणं मज्जुविह्व । (शान्तिकाः भार्यपुत्रवचनमनुतिष्ठत ।)

पारिणी—जो लो । मेरी संगुलीमे नागमुद्रा जड़ी हुई है । काय हो जानेपर मुझे ही
झोटा देना ।

[संगुली निकालकर देती है । प्रतिहारी सेकर चली है ।]

राजा—जयसेना ! काय हो जानेपर झोटा हो समाचार देना ।

प्रतीहारी—जैतो देवकी आज्ञा । [चली जाती है ।]

परिब्राजिका—मेरा मन तो कह रहा है कि भोतमका विष खतर गया ।

राजा—भापकी ही बात सच्ची हो ।

जयसेना—[भाकर] देवकी जय हो । गौतमका विष खोटी हो देरमें खतर गया और मम
के भले-बुरे हो गए हैं !

पारिणी—बड़ी बात हुई कि मैं कलंकसे बच गई ।

प्रतीहारी—मनो बाहुतकने कहलाया है कि राज-काजकी बहुत-सी बातोंपर विचार करना
है, इसलिये यहाँनको कृपा आहता है ।

पारिणी—जाइए भार्यपुत्र । राज-काज देखिए ।

राजा—देवी ! यहाँ जो धूप था गई है । ऐसे रोपमे ठठ हो मन्थो होती है । इसलिये
ममता पलंग दूसरी ओर उठवा लीजिए ।

पारिणी—सङ्कियो ! भार्यपुत्र जो कह रहे हैं वैसे ही करो ।

परिजनः—तह । (तया ।)

[निष्क्रान्ता देवी परित्राविका परिजनम् ।]

राजा—जयसेने ! मां मुखेन यथा प्रमदयन् प्राप्तय ।

जयसेना—इदो इदो देवो । (इत इतो देवः ।)

राजा—जयसेने ! मनु सत्ताञ्जकाम्यो गौतमः ।

जयसेना—अह इ । (अथ किम् ।)

राजा—

इष्टाधियमनिमित्तं प्रयोगमेकान्तसाध्यमपि मत्वा ।

संदिग्धमेव सिद्धौ कातरभाशङ्कते हृदयम् ॥५॥

[प्रविश्य]

विदूषकः—बड़ठु भब । सिद्धाणि दे मङ्गलकम्माणि । (वर्षतां बबान् । सिद्धानि ते मङ्गल-
कर्माणि ।)

राजा—जयसेने ! त्वमपि त्वं नियोगमशुभं कुरु ।

जयसेना—अं देवो आलुवेदि । (यद्देव आज्ञापयति ।) [इति निष्क्रान्ता ।]

राजा—गौतम ! शुभा भाषयिष्य । न कसु किञ्चिद्विचारितमनया ।

विदूषकः—देवोए मङ्गुलीमममुहिमं वेविसम क्खं विचारेदि । (देव्या मङ्गुलीयकमुद्रा
दृष्ट्वा कर्षं विचारयति ।)

दातिपौ—मच्छा ।

[महाराजो, परित्राजिवा भोर दातिपौ, सब बली जावो हैं ।]

राजा—जयसेना ! मुझे भीर-मार्गसे प्रमदयन हो ले बली ।

जयसेना—इधरसे आइए देव, इधरसे ।

राजा—जयसेना ! गौतमने भयना काम तो पूरा कर लिया होया न ?

जयसेना—जी हाँ ।

राजा—ममनी प्यारीको गानेके लिये हमने जो उपाय रचा है उसे पक्का समझते हुए भी मेरा हृदय ऐसा सन्देहों और शंकाओं से कि उसे भरोसेका काम पूरे होनेमें छटका बना ही हुआ है ॥५॥

विदूषकः—[आकर] बघाई है चापको । चापके सब काम सध गए ।

राजा—जयसेना ! जाओ शुभ भी भयना काम देखो ।

जयसेना—रंसी देवकी आज्ञा । [बली जाती है ।]

राजा—बहो गौतम ! भाषयिष्य तो बड़ी चट है । हमने कुछ भाषा पोछा तो नहीं किया ?

विदूषक—देवकी शंकाओं से तेनेवर बह बरा भाषा-पोछा करतो ?

राजा—न क्षुद्रमुद्रामधिकृत्य क्षीयिषि । एतयोर्द्वयोः किनिमित्तो मोक्षः । किं वा देव्याः
परिजनमतिक्रम्य भयान्संविष्ट इत्येषामनया प्रष्टव्यम् ।

विदूषकः—एतं पुच्छिष्योमिह । पुच्छो मन्त्रस्त मे तस्मिन् यत्पुष्पमेषा मती । (गनु पृष्टोऽस्मि ।
पुनर्मन्दस्य मे तस्मिन्प्रत्युत्पन्ना मतिः ।)

राजा—कथ्यताम् ।

विदूषकः—भरिदं मय । देव्यचिन्तार्हं विभवाविदो रागा—सोवसर्गं यो रावसर्तः ।
प्रवसर्तं सख्यद्वयमोपलो करोम्युत्ति । (भरिदं भया । देव्यचिन्तार्कविज्ञापितो राजा—तोपसर्गं
यो नक्षत्रम् । तदवश्यं सर्वव्यपगोत्रः क्षिपतामिति ।)

राजा—[सहर्षम्] तत्तत्ततः ।

विदूषकः—तं क्षुद्रिभ देवीए इरावतीए क्षिप्तं रक्षकतोए रागा किल मोएहि त्ति ग्रहं तंविद्वी
त्ति । तदी कुजवि त्ति ताए एव्यं संपादितो भवतो । (तच्छ्रुत्वा देव्या इरावत्याक्षिप्तं रक्षकस्या
रागा किल मोक्षवतीर्यहं सविष्ट इति । ततो युज्यत इति तथैव सम्पादितोऽर्थः ।)

राजा—[विदूषकं परिष्कृत्य] सखे । त्रिवोर्ज्ञं सखु तव ।

नहि बुद्धिगुणेनैव सुहृदामर्थदर्शनम् ।

कार्यसिद्धिपथः सूक्ष्मः स्नेहेनाप्युपलभ्यते ॥६॥

राजा—मैं भ्रूणहीनकी बात नहीं पूछ रहा हूँ । उन दोनोंको तुमने सुझाया क्या कहकर ?
उसने यह तो पूछा ही होगा कि इतने सैबकोके रहते हुए भी देवीने घापकी ही क्यों भेजा ?

विदूषक—हाँ, यह तो पूछा था । पर उन्हीं समय मुझ मुँहकी बुद्धि चेत गई और मेरे
मुँहसे प्रचानक एक अच्छी बात निकल गयी ।

राजा—वही ?

विदूषक—मैंने कहा कि वयोतिपयोने महाराजसे कहा है कि घापके यह बिपने हुए हैं
इसलिये इस समय सब बन्धियोंकी छुट्टा दीजिए ।

राजा—[प्रसन्न होकर] तब तब ?

विदूषक—जब देवीने ज्योतिषियोंकी यह बात सुनी, तब उन्होंने सोचा कि यदि हम अपने
सेवकोंको छुटानेके लिये किसी औरको सेवमें तो इरावतीजी बुरा मान जायेंगी । इसलिये उनका
मन रखनेके लिये उन्होंने मुझे ही बुलाकर यह काम सौंप दिया, जिससे इरावती यह समझे कि
राजा ही बन्धियोंको छुट्टा रहे हैं, मैं नहीं छुट्टा रहो हूँ । माधविका इसे सब मान बैठी और
उन्हे छोड़ दिया ।

राजा—[विदूषकको गले लगाकर] मित्र ! सबमुच तुम मेरे बड़े प्यारे हो । क्योंकि केवल
बुद्धिके बलसे ही कोई अपने मित्रोंका काम नहीं कर देता । अपने सिर कोई काम लेकर उठे
धन्यतक निभा देना सबमुच ऐसा देना होता है कि वह तभी पूरा हो पाता है जब काम
करनेवाला अपने मित्रसे पक्का स्नेह भी करता हो ॥२॥

विदूषकः—सुभरतु भवं । समुद्रधरम् सहीतहिरे मातविषं ठाविष भवन्तं वक्तुमशोभित् ।
(स्वरतो भवान् । समुद्रधरे सहीतहिरे मातविका स्थापयित्वा भवन्तं प्रत्युद्भवोर्ग्राम ।)

राजा—सहमेमां संभावयामि । गच्छतः ।

विदूषकः—एतु भवं । [परिक्रम्य । एवं समुद्रधरं । (एतु भवान् । इदं समुद्रधरम् ।)

राजा—[सायकम्] वयस्य । यथा कुमुदायवयस्यप्रहस्ता सस्यास्ते परिवारिका बन्धिका

सन्निवृत्तमागच्छति । इतस्तत्त्वदापो चित्तिपूरी भवान् ।

विदूषकः—सही । कुम्भोत्तरहिं कामुर्गहिं च परिहरणीया वस्तु धर्मिदा । (ग्रहो कुम्भीरकैः
बानुकैश्च परिहरणीया वस्तु बन्धिका ।)

राजा—गीतम् । कथं तु ते सखी कां प्रतिपालयति । एहि । एको गवादाभाप्रिय

चित्तोदयावः ।

विदूषकः—तत् । (तथा ।)

[उभौ विचोदयन्तौ निवृत्तः ।]

[ततः प्रविशति मालविका बहुलावतिरा प ।]

बहुलावतिका—सहि । वलम् भट्टारं । (सति । प्रणम भर्तारम् ।)

मालविका—एतमे है । (समस्ते ।)

राजा—साहके मे प्रसिद्धित निदिशति ।

मालविका—[सहर्षं शारपवलीक्य सविषादम्] हता । मं विप्लवमेति । (सति । मां
विप्रसन्नयति ।)

विदूषकः—अच्छ । अब भाप भट्टार बनिष् पवोंकि है समुद्रधरं बहुलावतिका घोर
मालविकाको हैठाकर तब भावके पात पाया था ।

राजा—बन्तो, मैं जानी उठे बनकर मना मेठा हूँ । पत्नी भागे-भागो ।

विदूषक—भादप भाप [घूमकर] यह रहा समुद्रधर ।

राजा—[बस्ते हुए] देखो विष । तुम्हारी सखी इरावतीकी सखी बन्धिका पूत चुनवी
हर्ष इमर हो बन्तो भा रही है । पत्नी इस भीतके पीछे छिप रहा जाय ।

विदूषक—हाँ, चोरी घोर बारोको बन्धिवारो बचते हो रहना पाहिए ।

[दोनों भीतके पीछे छिप जाते हैं ।]

राजा—भाभी गीतम् ! इस सिद्धकीमे से देखा जाय कि तुम्हारी सखी मालविका मेरे लिये

कैसे बात जोड़ रही है ।

विदूषक—अच्छ ।

[दोनों सिद्धकीमे से जाँचते हैं ।]

[मालविका घोर बहुलावतिका दिखाई पड़ती है ।]

बहुलावतिका—सखी ! स्वामीको प्रणाम करो ।

मालविका—भापको प्रणाम है ।

राजा—जान पड़ता है यह मेरा विष दिखा रही है ।

मालविका—प्रणमनाके साथ द्वार तोलती है, फिर दुखी होकर] अच्छा सखी ! तुम भी
मुझे बना रही हो ?

राजा—हृदयविषादाभ्यामग्रभक्त्याः प्रीतोऽस्मि ।

सूर्योदये भवति या सूर्यास्तमये च पुण्डरीकस्य ।

वदनेन सुवदनायास्ते समवस्थे चण्डादृढे ॥७॥

बकुलावसिका—एवं एते विसर्पदो मृदा । (नन्वेव चित्रगतो भर्ता ।)

उभे—(प्रसिपरय ।) वेदु मृदा । (जयतु भर्ता ।)

मातविका—हस्ता ! तवा संममबद्धे भट्टिलो रुवे कहा ख वितिहृग्निहृ तहा धरजवि मए भाविवो धवितिहृगंसरयो भट्टा । (सति ! तदा संममदृष्टे भर्तु रुवे यथा न वितृष्णासि तया-
द्यानि मया भावितोऽवितृष्णदर्शने भर्ता ।)

विदूषकः—सुखं भयदा । तत्तहोदि—चित्ते जहा विद्वो ख तहा विद्वो भयं ति मनोदि । मुहा
वालि मञ्जूसा धिप्र रमयभयस्यं जोषणस्यं वहेति । (घृतं भयदा । तचमवती—विभ्रे यथा
दृष्टो न तया दृष्टो भवानिति मन्ववति । गुपेदानो मञ्जूषेय रत्नमाण्ड यौवनवर्षं गृहति ।

राजा सखे । कुतूहलवानपि भित्तगंशास्तोमः स्त्रीजनः । पश्य—

कार्त्तव्येन निर्वर्णयितुं च रूपमिच्छन्ति तत्पूर्वसमागमानाम् ।

न च प्रियेष्वप्यतलोचनानां समप्रवृत्तीनि विलोचनानि ॥८॥

मातविका—हस्ता ! का एता पातपरिउत्तमुहेल भट्टिणः सिलिङ्गाए विद्वोए लिङ्गाईएवि ।
(सति । कंथा पारवंपरिवृत्तमुद्येन भर्ता मे स्निग्धया दृष्ट्या निष्पापये ।)

राजा—इत समय इनका प्रसन्न होना और दुःखी होना दोनों मुझे बड़े प्यारे लगते हैं ।
सूर्यके निकलते और छिपते समय कमल जैसे-जैसे सिलता और मुरझता है, ठीक वैसी-वैसी ही
भक्तक शाय भरमे इस सुन्दरीके मूँहपर दिखाई पड़ गई है ॥७॥

बकुलावसिका—पर विभगे भी तो स्वामी ही हैं ।

दोनों—[प्रणाम करती हुई] स्वामीकी जय हो !

मातविका—सखी ! उस दिन हठहठीमे महाराजकी मैं जितना नहीं देख पाई उनका प्राज
इस विभगे भी भरकर महाराजका रूप देखकर भी मैं घबरा नहीं रही हूँ ।

विदूषक—प्राप कुछ समझे ? उनके कहनेका धर्म यह है कि जैसे गुन्दर प्राप बिजनें दिखाई
दे रहे हैं वैसे प्राप सबमुख नहीं दिखाई दिए थे । इसलिये जैसे रत्नकी धूँधो पिढारी भी अपनेकी
रत्नोंकी कहकर झूठे ही एँठनी है वैसे ही प्रापमे भी कुछ है-बै नहीं, प्राप झूठे ही अपने घोवनकी
शोष हाँकते हैं !

राजा—मित्र ! अपने प्यारोंके मिलनेके लिये उठानजो होती हुई छिपी स्वभावसे ही बरी
सजीसी होती है ! देखो—छिपी जिस पुरुषसे पहले रहस्य मिलती है उसे वे भी भयकर देख तो
मेना पाइती हैं पर उन बड़ी बड़ी प्रालोवासी मुन्धरियोंकी छाँवें अपने प्यारोंकी ओर छीकते उठ
ही नहीं पाती ॥८॥

मातविका—क्यों सखी ! ये चीज देखो हैं जिनकी ओर महाराज मूँह घुमाकर बरी प्रेममयी
चिपकनेसे देख रहे हैं ।

बहुलावलिना—एँ इमं पातयवा इरावती । (नन्दिय पारिवर्गतेरावती ।)
मालविका—सहि । अदमित्तरो विष मद्धा मे पदिमादि ओ सध्वं देवीमखं अजिक्क एहूप
मुदे बट्ठतवत्तो । (सहि । अदमित्त एव मर्ता मे प्रतिभाति यः सर्वं देवीजनमुत्तिम्वर्त्तनस्या मुते
बट्ठमस्य ।)

बहुलावलिना—[आत्मयत्तम्] वित्तमदं मद्दारणं परमावरो संकल्पिष्य प्रसुपरि । होडु ।
कीदृशत्वं वाच एदाए । [प्रवाधम्] हन्ता अट्टिखो मत्तहा एसा । [विषमत्वं मर्तारं परमाप्यतः
संनल्पमाप्नुयति । प्रवक्तु । कीदृश्यामि तावदेतया । सहि । अनुवर्त्तन्मया ।)

मालविका—तरो किं वासि मत्तखं आत्ताइत्तं । (ततः किमिदानींवात्पानमावाप्तदि-
ष्यामि ।) [इति आनूय वशावर्त्तते ।]
राजा—सखे । पश्य ।

भ्रूमङ्गभिन्नतिलकं स्फुरिताघरोष्ठं साक्ष्यमाननमितः परिवर्त्तन्त्या ।
कान्तापराधकुपितेध्वनया विनेतुः मंदशितेव हसिताभिनयस्य शिक्षा ॥६॥

विदूषक—अच्छराजसखी वासि होहि । (अनुममज्ज इदानीं भव ।)
मालविका—अज्जजोवमो एव एव संसेवहि खं । (आर्यगीतमोर्त्तनं संसेवत एताम् ।)

[पुनः स्वामान्तराभिमुखो अभितुमिच्छति ।]

बहुलावलिना—[मालविका इत्थम् ।] एव वत्तु कुबिदा वासि एवम् । (न वत्तु कुपितेदानीं
रवम् ।)

बहुलावलिना—मे महाराजके पास इरावतीजी बंटी हुई हैं ।
मालविका—क्यों सखी ! महाराजका प्रेम सबपर एक-ता नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि वे
सब रात्रियोंको छोड़कर बस एकका ही मुँह देखे जा रहे हैं ।
बहुलावलिना—[मन ही मन] यह भीली, बिचमे घने हुए महाराजकी सबमुख महाराज
समझकर उनपर खटी जा रही है । घञ्जी बात है । मैं भी इसे बनावती हूँ । [प्रमट] सखी !
ये ही तो महाराजकी ध्याती हैं ।
मालविका—तब मैं क्यों तिल-तिल अपनी बेह बसाऊँ । [दाहते मुँह केर लेती है ।]
राजा—देखो मित्र ! इधने दाहते अपनी मुल धुप लिया है । गौहोंके बढायेसे हटो हुई इसके
माथेकी बिन्दी और इसके फटकते हुए निचले घोटको देखनेसे ऐसा जरा पडता है भागी स्वामीके
अधरापर खटनेकी जो जिला अपने मुफे से है बहो प्रणिमय करके दिखता रहे हो ॥६॥
विदूषक—तो वसिए । अब मनानेके लिये तैयार हो काइए ।
मालविका—आर्य योतय भी तो यहाँ बैठे इनकी सेवा कर रहे हैं ।
[बहसि फिर वहीं और हट जाना चाहती है ।]

बहुलावलिना—[मालविकासे रोककर] मेरे दुप खटकर तो नहीं जा रहो हो ?

मालविका—अह चिरं कुपितं एव मं मण्डलेति एवो पञ्जालीयदि कोवो । (यदि चिरं कुपितामेव मां मन्यसे एव प्रत्यानीयते कोपः ।)

राजा—[उपेत्य]

कृप्यसि कुयलयनयने चित्रार्पितचेष्टया किमेतन्मे ।

ननु तव साक्षादयमहमनन्यसाधारणो दासः ॥१०॥

बकुलावलिका—जेहु जेहु भट्टा । (जयतु जयतु भर्ता ।)

मालविका—[धारयन्तम्] कहां चित्तगती भट्टा भए भट्टाहरो । (कथं चित्तगती भर्ता मया पूजितः ।) [प्रकाश सप्तोदकदनमञ्जलि करोति ।]

[राजा मदनकातर्यं कथयति ।]

विदूषकः—किं भवं कथासीत्यो विप्र द्रोह । (किं भवागुहासीन इव दृश्यते ।)

राजा—अविश्वसनीयस्त्वास्तव्यास्तव ।

विदूषकः—भक्तहोदोए भक्तं कहुं तुह अविस्वासी । (अथमवस्थाभवं कथं तवाविरवासः ।)

राजा—भूपताम् ।

पथि नयनयोः स्थित्वा स्थित्वा तिरोभवति ज्ञाना-

त्सरति सहसा बाह्योर्ध्वं गतापि सखी तप ।

मनसिजरुजा क्लिष्टस्यैवं समागममायया

कथमिव सखे विस्मयं स्यादिमां प्रति मे मनः ॥११॥

मालविका—यदि तुम समझती हो कि मैं बहुत रुझी हो रही हूँ तो लो मैं रुझ ही जाती हूँ ।

राजा—[पास पहुँचकर] हे कमलनयनी ! विजये बने हुए मेरे भावको ही देखकर तुम मुझसे क्यों रुझी जा रही हो । तुम्हारा यह मनन्य दास तो तुम्हारे सामने ही खड़ा है ॥१०॥

बकुलावलिका—जय हो, स्वामीको जय हो ।

मालविका—[मन हो मन] वो क्या मैं खचमुच चित्रमें बने हुए स्वामीसे रुझी हुई थी ।

[अज्ञाती हुई हाथ जोड़ती है । राजा प्रेक्षक व्याकुल होनेका नाट्य करते हैं ।]

विदूषक—भाप चुपचाप क्यों खड़े हो गए हैं ?

राजा—माई ! तुम्हारी सखीपर भरोसा नहीं हो रहा है ?

विदूषक—क्यों, इसपर सरोसा क्यों नहीं हो रहा है ?

राजा—सुनो ! ये मेरी धाँसोंमें बँटो-बँटो देखते-देखते जोकस हो जाती है भीर मेरी बाँहोंमें आकर भी प्रचानक निकल जाती है । इस मिसनकी साम्यामे फँसे हुए मेरे प्रेक्षक रोपी मनकी स्तर पर कैसे भरोसा हो ॥११॥

बकुलावतिका—सहि ! बहुतो बज्रु भट्टा विप्लवद्धो । ता तुए प्रता बिसससिण्णो करोमहु ।
(सहि । गद्गः किल मर्ता विप्रलब्धः । सत्त्वयात्मा विद्वसन्नोयः क्लिप्ताम् ।)

मालविका—सहि ! भह उए मग्धनगाए सिविसुवमाप्रभो वि भट्टिणो दुल्लहो प्राप्ति ।
(सहि ! भय पुनमग्धमाग्यायाः स्वप्नसमागमोऽपि मर्तुर्दुर्लभ आसीत् ।)

बकुलावतिका—भट्टा । कहेहु से उत्तरं । (मर्ता कथयत्वस्या उत्तरम् ।)

राजा—

उत्तरेण किमात्मैव पञ्चवास्याग्निसाक्षिकम् ।

तद्य सत्यै मया दत्तो न सेव्यः सेविता रहः ॥१२॥

बकुलावतिका—अणुपहोदन्हि । (मनुगृहीतास्मि ।)

विदूषकः—[परिक्रम्य संसन्नम्] यद्वलावलिण् ! एतो बामासोपरकजस्त पल्लवाहं लक्ष्मणेदि
हरिणो । एहि एवारेम स्यं । (बकुलावतिका ! एव बामासोकृतजस्य पल्लवाति मङ्गपति हरिणः ।
एहि, निवारयाम एनम् ।)

बकुलावतिका—सह । (तथा ।) [इति प्रस्थिता ।]

राजा—वदस्य । एवमेवास्मिन्प्रसङ्गोऽवहितेन स्वया भवितव्यम् ।

विदूषकः—एवम् वि गोदमो सन्निसेप्रवि । (एवमपि गौतमः सन्निष्यते ।)

बकुलावतिका—[परिक्रम्य] मज्ज गोदम । भहं अण्णमासे विट्ठामि । तुमं दुवाररक्खणो
होहि । (पार्यं गौतम । मद्दमप्रकासे तिष्ठामि । स्य द्वाररक्षको भय ।)

12

बकुलावतिका—सखी तुमने महाराजको बहुत छकाया है । अब कुछ ऐसा तो करो कि ये
तुमपर मरोसा करके लगे ।

मालविका—सखी ! मुझ भगानिनीकी तो स्वप्नमे भी महाराजके घोंट नहीं हुई ।

बकुलावतिका—महाराज ! इसका तो धाप ही उत्तर दे सक्ते हैं ।

राजा—उत्तर क्या, मैं तुम्हारी सखीसे सेवा नहीं कराया जाहता । मैं तो त्रेमली अग्निको
शांती बनाकर अपनेसे ही उनकी सेवा करनेके लिए अपनेको ही इसके हाथ सींचे देता हूँ ॥१२॥

बकुलावतिका—बड़ी कुरा हुई मुझपर ।

विदूषक—[धूमकर भवराहटके साथ] धरी बकुलावतिका ! देख-देख, इन नग्धे-नन्हें भशोकके
पत्तोंको हरिण खरे जा रहा है । चल, इसे मगा तो दँ ।

बकुलावतिका—चलिण् । [जाता चाहती है ।]

राजा—देखो मित्र ! तुम इसी प्रकार सावधानीसे हमारी देशभाल करते रहना ।

विदूषक—नया यह बात भी गोदमकी समझनी होगी ।

बकुलावतिका—[धूमकर] पार्यं गौतम ! मैं इसर दिपकर बैठती हूँ । तुम जाकर द्वारपर
धोकती करो ।

विदूषक.—बुज्ज ! (मुञ्चते ।)

[निष्क्रान्ता मकुलावतिका ।]

विदूषक—इमं दास्य कतिह्वयस्मिं अस्मिन्ने होमि । [इति तथा कृत्वा] महो सुहृण्करि-
सदा तिलावितेस्तस्य । (इमं तावत्स्फटिकस्तम्भमाधितो भवामि । महो सुहृत्पर्वता शिष्या-
वियोगस्य ।) [इति निद्रावते ।]

[मालविका सप्ताध्वसा तिष्ठति ।]

राजा—

विस्तृत सुन्दरि संगमसाध्वसं तव चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे ।

परिशृङ्गाण गते सहकारतां स्वमतिमुत्कलताचरितं मयि ॥१३॥

मालविका—देवीए भणए प्रसन्नो वि विन्न काद् ए पारेमि । (देव्या मयेनात्मनोऽपि
प्रियं कर्तुं न पारयामि ।)

राजा—अयि ! न केतव्यम् ।

मालविका—[सोपालम्बम्] ओ एव भाषसि सो मय भट्टिखीसे विद्वतामत्यो भट्टा ।
(यो न विभेति य मया भट्टिनीदरने दृष्टतामर्थो भर्ता ।)

राजा—

दाक्षिण्यं नाम विम्योष्ठि नायकानां कुलव्रतम् ।

तन्मे दीर्घाक्षि ! ये प्राप्तास्ते त्वदाशानिवन्धनाः ॥१४॥

विदूषक—पक्ष्मी जात है ।

[मकुलावतिका बली जाती है ।]

विदूषक—सबतक इस स्फटिकके समेके सहारे चलकर बैठता हूँ । [बैठता है ।] बाह !
कौसी ठंडी और बिकनी शिषा है ।

[ऊँघने लगता है ।]

[मालविका डरो-झी झडी रहती है ।]

राजा—हे सुन्दरी ! मेरे गले लगनेसे डरो मत । न जाने कितने दिनोंसे मैं तुमसे मिलनेको
मचीर हो रहा था । देखो ! जैसे माधवी लता भागले लिपट जाती है वैसे ही भागो,
तुम भी मुझसे लिपट जाओ ॥१३॥

मालविका—मुझे महारानीसे बड़ा डर लगता है इसलिये चाहते हुए भी ऐसा नहीं कर
सक रही हूँ ।

राजा—भजी ! डरनेकी क्या बात है ?

मालविका—[उलहना देते हुए] ओ हाँ, आज जो नही डर रहे हैं, उन महाराजका साहस,
उस दिन देवी इरावतीजीके जानेपर मैं बली भाँति देख चुकी हूँ ।

राजा—हे शिवाके समान ज्ञान-ज्ञान ओठोंवाली ! प्रेमी शोच यो दिखानेके लिये समीमे
प्रेम करते हैं, पर हे भली-बली माँझोवाली ! मेरे प्राण तो तुम्हे ही पानेकी प्राशापर लटके

तदनुगृह्यतां चिरानुक्तोऽयं जनः । [इति संस्तेपमुपजगमिति ।]

[भालविका मात्स्येन परिहरति ।]

राजा—[आगतम्] रमणीयः कञ्चु नवाङ्गनानां मदविविधमावतारः । तथा हि इयम्—

हस्तं कम्पयते रुषद्भि रक्षनाव्यापारलोलाङ्गुलीः ।

सौ हस्तौ नयति स्तनावरयतामलिङ्गयमाना बलात् ।

पातुं पद्मलतेप्रमुन्नमयतः साचीकरोत्याननं

व्याजेनाप्यभिलापपूरणसुखं निर्वर्तयत्येव मे ॥१५॥

[ततः प्रविशतीरावती निपुणिका च ।]

इरावती—हृषे लितलिए । सखं तुमं परिगवत्वा वन्दिष्याम् । समुद्रपरमस्तिवसइवो एसाई अजगोदमो बिहो त्ति । [हृषे निपुणिके ! तव त्व परिगवार्वा वन्दिष्याम् । समुद्रप्रवाहः सित्वदमित एकाकी मार्गगोत्रमो इह इति ।]

निपुणिका—अणुहा कहे भट्टिखीए चिण्सावेमि । [अन्वया कर्णं भट्टिन्वं विज्ञापयामि ।]

इरावती—तेह हि लौह एव गच्छन्तु ससम्प्राप्तो भुक्तं पिप्रवसत्सं पुषिद्वं म । [तेन हि सर्वं गच्छामः सशयामुक्तं प्रियवसत्य शब्द च ।]

निपुणिका—सावसेतं विष भट्टिखीए वसत्सं । [सावसेपमिव भट्टिन्या वचनम् ।]

इरावती—अणुं म चित्तगद अजगउत्त पत्तवेवुं । [अन्वय विप्रवसत्यपुन प्रसादयितुम् ।]

हृष्ट है ॥१५॥ इसलिये तुम्हारे प्रेममे इतने दिनोसे हूँ हुए इत दासपर अब तो कृपा करो ।

[एते लगनेको बहुतै हैं, भालविका मात्स्यसे अपनेको पुहाती है ।]

राजा—[मन ही मन] नई मनेलियोंकी प्रेमभरी धटकमटक भी कितनी सुन्दर होती है । क्योंकि इनके हाथ काँच रहे हैं, अपनी खुनी हुई छगडोको ये अपनी बचल प्रँगु-लियोंसे घामे जा रही हैं । जब मैं बचपूर्वक गले लगने चलता हूँ तो दोनों हाथोंसे ये अपने स्तन दक लेती हैं और जब मैं इनके सुन्दर पलकोंको छाँवोंवाला मूँह चूमनेको बढता हूँ तो ये अपनी मुँह केर लेती हैं । इस हाथ-पाईमे मेरे हाथ कुछ भी नहीं लग रहा है, फिर भी मुझे बँधा ही कुछ मिस रहा है मानो मेरी सब इच्छाएँ पूरी होती जा रही हो ॥१५॥

[इरावती और निपुणिका आती हैं ।]

इरावती—बयोगी निपुणिका ! क्या वन्दिष्यामे सखमुच तुमको कहा था कि प्रायं पीठम, समुद्र-परदे बाहर घनेसे होए है ।

निपुणिका—मैं स्वामिनोसे भूठ पोदे हो चोत्तती ।

इरावती—ओ पमो यहीं पनवर मित्र बिहूपकडे पूछ लिया जाय कि अब वे ठीक हो गए हैं या नहीं और.....

निपुणिका—स्वामिनो ! आप कुछ और कहना चाहती थीं ।

इरावती—हाँ, यही कि यहाँ बजकर चित्रमे बने हुए धार्यपुनको भी मना दिया जाय ।

निपुणिका—यह वारिह कहं ॥ भट्टा एवमं प्रणुलीधरि । (भयेशानी कथं नु भर्तव्यमनुनीयते ।)

हरवती—मुठे ! जारिसो चित्तपदो खं तारिसो एवमं प्रणुसंकन्तहिधरि प्रणजडतो । केवलं उपपारादिहमे पमज्जिदं प्रमं पारम्भो । (मुग्धे ! यादृशजिनगतो ननु नाट्य एवान्य-संश्रान्तहृदय धार्यपुत्रः) केवलमुपपारातिक्रम प्रमाजितुमवमारम्भः ।)

निपुणिका—इदो इदो भट्टिणी (इत इतो भट्टिनी ।)

[उभे परिक्रामतः ।]

[प्रविश्य]

वेदी—जेतु जेतु भट्टिणी भट्टिणि ! देवो भण्णादि—ए मे भण्णरत्त एसी कालो । तेण वल्लु बहुमाण वद्धेदं वसत्ताए तह सिमलवज्जण किं मासविमा । जइ भण्णमण्णसि प्रणजडत्तसि रिमं कावुं तहा करेमि । अं तुह इच्छिअं तं मे भण्णाहिं ति । (जयतु जयतु भट्टिनी । भट्टिनी । देवी भण्णसि—न मे मत्सरस्येय कालः । तेन वल्लु बहुमाण वर्षपितुं ववस्वपा सह निगडवन्धने कृता मासविका । यद्यनुग्रहसे प्रार्थयुवस्व प्रिय कर्तुं तथा करोमि । यत्तवेष्टं सन्ने भण्णसि ।)

हरवती—आमरिए । विण्णालेहि देवी—का वरं भट्टिणी सिमलो जेतुं परिमण्णणिमहेण वंशिरो मह प्रणुग्रहो । कस्स वा पत्तावेण वरं जलो वद्धि ति । (नागरिके । विजापय देवी—का वरं भट्टिनी नियोजयितुम् । परिणमनिग्रहेण दशितो मय्यनुग्रहः कस्य वा प्रसादेनार्थं जनी वर्यत इति ।)

वेदी—तह । (तथा ।) [इति निष्क्रान्ता ।]

निपुणिका—तो आप वनकर महाराजको ही क्यों नहीं पना लेती ।

हरवती—घरी पगली । दूसरोसे प्रेम करनेवासे धार्यपुत्र हमारै त्रिये वैसे ही हूं जैसे उनका मित्र । उस दिन मैंने उनके मनानेपर भी वो उनकी बात न माननेकी ठिठार्ई कर दी है उसीको धोनेके लिये मैं यह सब कर रही हूं ।

निपुणिका—इधरसे भाइए स्वामिनी, इधरसे ।

[दोनों धूमती हैं ।]

वेदी—[धाकर] जय हो, स्वामिनीकी जय हो । महारानीने कहलाया है कि अब हम लोगोंको महाराजसे रुठे नहीं रहना चाहिए । मैंने तुम्हारी बात रखनेके लिये ही मासविका घोर उसकी राखीको बांध रखी है । यदि धार्यपुत्रको मनानेकी बात तुम्हें भी अच्छी हो तो मैं उसका उपाय करूँ । तुम्हारी जो इच्छा हो वह मुझे कहला देना ।

हरवती—देखो नागरिका ! महारानीसे जाकर कह देना कि सबसे काम करनेवाली हम कीन होती है । अपनी दातियोंको बांधकर उन्होंने मुझपर कृपा दिखाई है । उनकी कृपा न हो तो हम लोगोंका इतना मान कैसे हो ।

वेदी—मन्था । [चली जाती है ।]

निपुणिका—[परिक्रम्यावसीश्य च] भट्टिणि । एतो दुबावद्देसे समुद्रपरमस्त विपणिगदो विप वसीवद्दे अजगोवधो आसीसो एव सिद्धमदि । (भट्टिनी । एम द्वारोद्देसे समुद्रगृहस्य विपणिगत इव वसीवदं आगंयोत्तम आसीन एव निद्रायते ।)

हरावती—अन्वाहिद । ए वधु सावसेसो विसविभारो हवे । (अत्याहितम् । न धनु साव-रोपो विपविकारो भवेत् ।)

निपुणिका—पतणमुहवण्णो वीसह । अपि च पुपसिद्धिणा चिद्वन्दो । त से भसङ्कुणिज्ज पाव । प्रपन्नमुत्तमणो हरमते । अपि च प्रवृत्तिद्धिना चिकित्सित । तदस्पायङ्कुनीय पापम् ।)

विदूषक—[उस्वप्नायते] भोदि मालवि । (मयति मालविके ।)

निपुणिका—सुह भट्टिणीए । कस्त एतो भसतिप्रोमसपादलो विसस्ततिज्जो हवातो । सव्वसाल इवो एव सोत्थिवाप्तमोदएहि पुविस पूरिम सपव मालविम सिबिणावेदि । (भुत्त भट्टिण्या । कस्त्यं धारमनियोगसम्पादने विवसनीयो हतार सर्वकालमित एव स्वस्तिवाचनमोदकं मुनि पूरयित्वा साम्प्रत मालविषा स्वप्नायते ।)

विदूषक—हरावती अरिहन्ती होहि । (हरावतोपतिवायन्ती भव ।)

निपुणिका—एद अन्वाहिद । इम भुमङ्गुमोरम वहावन् पुमिणा भुमपकुविलेख वण्डकहुएण सम्मत्तरिदा भावहस्त । (एतदव्याहितम् । इम भुजपमीव वहावन्पुपनेन भुजङ्गकुटिलेन वण्ड-काष्ठेन स्वम्भान्तरिता भावयिज्यामि ।)

हरावती—अरिहहि एव किमपो उमहवस्त । (पर्वत्येव कृतम उपव्रवस्य ।)

[निपुणिका विदूषकस्योपरि वण्डकाष्ठं पातयति ।]

निपुणिका—[धूमकर धीर देसकर] यह देखिए स्वामिनी ! जैसे हाटमें सेटा हुआ साँव नींद लधा है वैसे ही धार्य गौनमयी समुद्रपरके द्वारपर बँटे सो रहे हैं ।

हरावती—यह तो बड़ा कुप हुआ । कहीं विपका विकार अभी क्या न रह गया हो ।

निपुणिका—पर इनका मुँह तो बड़ा प्रसन्न दिखाई दे रहा है धीर फिर स्वयं प्रवृत्तिद्धिने इनका विष उतारा है । इसलिये पवरावेरी कोई बात नहीं है ।

विदूषक—[स्वप्नमें गडगटाता हुआ] हे देवी मालविका !

निपुणिका—सुना स्वामिनी ? धरना काम करानेक सिव इस घमांगेका कौन विश्वास करेगा । क्या तो यह धावक दिए हुए नूत्राके सदृष्टसे पेट भरा करता है धीर प्राज्ञ स्वप्नमें इस मालविषा मूक रह्यो है ।

विदूषक—धुम हरावतीसे भी भागे बढ जाओ ।

निपुणिका—यह तो बड़ी बुरी बात है । साँपसे डरनेवाले इस बाँधनको अब इसी साँप-जैसी देड़ी समझाव मोटमें लटो होकर डरावो हूँ ।

हरावती—ऐसे कृतमके साथ ऐसी ही नुबान बननी चाहिए ।

[निपुणिका विदूषकके ऊपर सनदी गिरा देती है ।]

विदूषकः—[सहसा श्रुत्वा] अविद्या भविता । भो वधस्त । सखी मे उपरि पडियो ।
(प्रविष्टा प्रविष्टा । भो वयस्य । सर्पों मे उपरि पतितः ।)

राजा—[सहस्रोपगृह्य] सखे न भेतव्यं न भेतव्यम् ।

मालविका—[अनुसृत्य] भट्टा । मा शय सहसा लिङ्गम् । सखी त्वि भलीप्रवि ।
(भर्तः । मा तावत्सहसा निष्क्राम । सर्पं हति भक्ष्यते ।)

हरायती—हूँ हूँ । भट्टा दसो एण्य भाववि । (हा भिद् हा भिद् । भर्ता हत एव भावति ।)

विदूषकः—[सप्रहासम्] कहं बण्डकट्टु एवं । भहं बल जाते नं मए केवईकण्टाएहि वंसं करिअ सयसत उपरि बससो किं तं मे कलितं त्वि । (कयं बण्डकाट्टमेतद् । भहं पुनर्जनि यौगमा केतकीकण्टकैर्दशं कुरवा सर्पस्योपर्ययथाः कृत तन्मे कलितमिति ।)

[प्रविश्य पटाक्षेपेत् ।]

यकुलावतिका—मा शय भट्टा पवित्तु । इह कुडितपदं सखी विम दीसदि । (मा तावत्पूर्तां प्रविष्टातु । इह कुडितगतिः सर्पं इव हस्यते ।)

हरायती—[स्तम्भाभरिता राजानं सहस्रोपेय] अवि निविश्ववधमसोरहो विवासकेदो मिठुणस । (अपि निविघ्नमनोरथो दियाम्भजेतो मिथुनस्य ।)

[सर्वे हरायती दृष्ट्वा संभ्रान्ताः ।]

राजा—प्रिये ! अपूर्वोऽप्युपचारः ।

हरायती—यउतावलिए । विट्ठिया बुकाहिचारवित्तया संपुण्णा दे पइण्णा । (यकुलावतिके । दिष्टया कूर्याभिसारविषया संपूर्णा ते प्रतिज्ञा ।)

विदूषक—[सहसा जागरु] हाय, हाय । घरे मित्र ! मुझपर साँप भा गिरा है ।

राजा—[सहसा घाने बहकर] बरो मत मित्र ! बरो मत ।

मालविका—[पीछे-पीछे] स्वामी ! ऐसे न जाइए । वह कहा रहा है कि साँप है ।

हरायती—हाय, हाय ! स्वामी इधर ही दोड़े या रहे हैं ।

विदूषक—[हँसकर] घरे ! यह तो सक्दी है । मैं तो समझ था कि मैंने केतकीके काँटों से साँपके दाँतोंका चिह्न बनाकर जो साँपपर कसक लगाया था उसीका गुप्ते फल मिल रहा है ।

यकुलावतिका—[पर्दा हटते हुए भाकर] स्वामी ! उपर न जाइए । यहाँ टेढ़ा खलता हुआ कुछ साँप-जैसा दिखार्द दे रहा है ।

हरायती—[खंभेके पीछे छिपी हुई राजाके पास भाकर] कहिए ! दिनमें मिलनेका संकेत करनेवाले जोड़ेके भवकी साथ पूरी हो गई न ।

[सब हरायती को देखकर पंथ जाते हैं ।]

राजा—प्यारी ! यह मुझ कंसो मनोसो बात कर रही हो ।

हरायती—यकुलावतिका ! मुझे बगार्द है ॥ इन दोनोंको मिलानेकी जो तुने प्रतिज्ञा की थी वह आज पूरी हो गई ।

। बहुसावलिता—पत्नीदत्तु भट्टिणी ! कि मए किं त्ति देवो पुच्छिअण्यो । उदुदुरा वाहरन्ति
त्ति कि देवो पुहोयें चरित्तुं विरमदि । (प्रतीदत्तु भट्टिणी ! कि मया कृतमिति देवः प्रष्टव्यः ।
उदुदुरा व्याहरन्तीति कि देवः पुच्छिण्या भवितुं विरमति ।)

। विदूषकः—मा दाव । भोदीए रंतलमत्तेल अत्तमव पणियादलत्तुणं विमुमरिदी । तुमं उए
अज्जवि पत्तावं ए गेहसि । (मा तावत् । भवत्या दर्शनमात्रेणावयवान्प्रक्षिपातलङ्घनं विस्मृतः ।
। त्वं पुनरप्यापि प्रयातं न वृह्णासि ।

इरावती—कुविदा दासि अहं कि करिस्सं ।। (कुपितेदामीमहं कि करिष्यामि ।)

। राजा—एवमेतदस्थाने कोप इत्यनुपपन्नं त्वयि । तथा हि ।

कदा मुखं वरतनु कारणादत्ते तवागतं वणमपि कोपपात्रताम् ।

अपर्वणि ग्रहयन्तुपेन्दुमण्डला विभावरी कयय कयं भविष्यति ॥१६॥

इरावती—पट्टाणे ति सुदुदु वाहरिणं अज्जकत्तेण । अण्णसंक्कत्तेसु अण्णसं भागहेएसु
अह उए कुपेअं ततो ए अहं हस्सा भवेअं । (प्रस्थान इति मुञ्चु व्याहृतवार्त्तपुत्रेण । अण्णसंक्क-
त्तेणस्माक भागपेयेषु यदि पुनः कुप्येयम् ततो नन्वहं ह्यस्या भवेयम् ।)

। राजा—स्वमगमया वल्लवसि । अहं पुनः सायमेव कोमस्थानं न पश्यसि । कुतः—

नार्हति कृतापराधोऽप्युत्सवदिवसेषु परिजनो बन्धुम् ।

इति मोचिते मयैते प्रणिपत्तिर्हं मामुपगते च ॥१७॥

बहुसावलिता—कोप न करे स्वामिनी ! मैने क्या किया है ? देवसे ही पूछ लीजिए ।
वही भला पृथ्वीपर पानी बरसानेके लिये देव मेंदरोंकी टर-टरकी बाट खोजे ही जोहते हैं ।

विदूषक—भोजी ! ऐसा न कहिए । उस दिन महाराज आपके वरों पड़े, हाथ जोड़े, पर
आप उनसे मत न हुई, कठकर पत दीं और दूसर महाराजकी आज्ञासंग्रह केलिये कि आपकी
देखते ही उन्होंने पिछली छव बाजें उठाकर एक घोर रस दी, फिर भी आप प्रमोदक किची
हुई हैं ।

इरावती—किची होकर भी मैं इनका क्या कर लूंगा ?

राजा—पर बिना पातके कटना जो तो तुम्हें सोमा मही देता । क्योंकि सुन्दरी ! वताघो
तो हमने पहले क्या कभी तुम्हारा मुँह बिना बारणके खण भरके लिये भी सात हुमा है ? भला
बलाघो बिना प्रहणयो रात छाए क्या कभी बन्द-प्रहण सग सजता है ॥१६॥

इरावती—मह तो आर्यपुत्रने ठीक कहा कि मैं बिना बारणके रुठ रही हूँ । हमारे स्वामी
वही घोर मन लगायें घोर उल्लव हूय रुठने लगे, मह तो खचपुत्र जग हँसाई की बात है ।

राजा—तुम तो सब बाजें उल्टी ही समझने हो । मुझे तो सबमुख इसमें कठनेकी कोई
बात दिताई ही नहीं देती है । क्योंकि मैंने तो इन दोनोंकी इसीलिये छोड़ दिया कि आपने
मेककोंही रासवके दिन अथवाप कउनेपर भी बाँधकर नहीं रसना चाहिए । वहाँ से छूटनेपर मे
दोनों मुझे प्रणाम करनेके लिये ही वहाँ कनी आई थीं ॥१७॥

इरावती—खिन्नशिष्ट ! गच्छतु । देवीं विष्णुणावेहि—दिष्टोभयवीष्ट पञ्चवत्सो एषं धनं त्वेति ।
(निपुणिका ! गच्छ । देवीं विज्ञापय—दृष्टो भक्त्याः पक्षपातो गन्वत्येति ।)

निपुणिका—तह ! (तथा ।) [इति निष्क्रान्ता ।]

विदूषक—[प्राप्तगतम्] भ्रह्मो अस्त्यो संपदिदो । बन्धसम्बन्धो गिहकयोदो बिहानिप्राए
प्राप्तो पदिदो । (भ्रह्मो धनं संपदितं बन्धसम्बन्धो गिहकयोदो बिहानिकया प्राप्तो पदितः ।)

निपुणिका—[प्रविश्यापवायं] भट्टिस्त्रि ! जदिज्याविह्वाए माहविष्णुए भावविष्णुए एवम् शत्रु एव
सिम्बुसं त्वेति । (भट्टिनि सहज्याहृष्टया भावविकयास्वातम्—एष खस्वेतमिर्वृत्तमिति ।) [इति
कण कथयति ।]

इरावती—[प्राप्तगतम्] जयवर्धन ! सत्त्वं भवं एतत् बह्मभण्डुला किं पद्मोपमा । [विदूषकं
दितोऽस्य प्रणामम्] इहं इमस्स कामतन्मसचिक्कस्स एवी । (उपपन्नम् । उत्तमदमन प्रह्लादधुना
कृतः प्रयोगः । इयमस्य कामतन्मसचिक्कस्य नीतिः ।)

विदूषक—भोवि ! जदि खोद्विगं एवम् वि अरसरं पठेयं एषं सए अस्तभवं वेतिरो हवे !
(भवति ! यदि नीतिगतमेकमप्यक्षरं पठेयं मनुष्याश्चमन्त्रेपितो भवेत् ।)

राजा—[प्राप्तगतम्] कथं नु सत्यम्मासकुटादातमानं भोचविष्णुमि ।

[प्रविश्य]

जयसेना—देव ! कुमारी वसुसखी कन्धुमं सन्धुधावन्ती पिङ्गलवाराणरेण बलीयं तातिहा
मन्धुलितपणा देवीए पञ्चावकिसलसं विभ वेवमाणा स किं पकिदि पडिवग्गइ । (देव ! कुमारी
वसुसखीः कन्धुकमनुषावन्ती पिङ्गलवामरेण वतपत्रासिताङ्गुलिपण्या देव्याः प्रपातकिसलसमिभ
वेपमाना न किञ्चित्प्रकृतिं प्रतिपद्यते ।)

इरावती—निपुणिका ! जाओ तो, महाराजीसे कह प्राप्नो कि भाप हमें जैसा मानती है,
वह भाव हमने वैसा लिया ।

निपुणिका—जी अच्छा । [पत्नी जाती है ।]

विदूषक—[मन ही मन] भरे यह तो सब गडबड घोटाला ही क्या । पित्रदेसे छूटा हुआ
कच्चातर बिल्लीके सामने झा पड़ा है ।

निपुणिका—[प्राकर मनन] स्वाविनी ! बनी भाषिका मुझे पिनी पी, उसने बतलाया
कि यह सब ऐसे हुआ है । [कानमें कहती है ।]

इरावती—[मन ही मन] समझ गई, यह सब इसी बौमनकी करतूत है । [विदूषकको देखकर
प्रभट] यह सब इसी श्रेम-नीतिके मनीची भाव है ।

विदूषक—देवि ! यदि मैं नीतिका एक अक्षर भी पढ़ा होता तो क्या महाराजको मैं कभी
ऐसे फँसने देता ।

राजा—[मन ही मन] अब इस सकटसे कैसे छुटकारा पाया जाय ।

जयसेना—[प्राकर] देव ! कुमारी वसुसखी बँदके पीछे दोड़ रही थी कि दत्तनेम ही एक
पीसा बन्दर वहाँ घा पहुँचा । उसे देखकर कुमारी बहुत डर गई है और देवीकी गोदमें पड़ी
हुई, पीपीसे हिलते हुए पक्षके समान चर-चर कर रही है । अभीतक उन्हें चेत नहीं हुआ है ।

राजा—कष्टं कष्टम् । कातरौ बालभावः ।

इरावती—[सावेगम्] तुवरदुः प्रज्ज्वलतो एवं समासतिवृत् । मा ॥ संतापजालिनी विमारी
बद्धदुः । (स्वरतोमायंपुन एवा समाश्वसयितुम् । मास्याः सत्रासजनिता विमारी वर्धताम् ।)

राजा—अपमेयमहं संक्षययामि । [इति सत्वरं परिक्रामति ।]

विदूषकः—साधु रे विदूषकबासुर साधु । परित्तादो तुष्ट सपक्षो । (साधु रे ! विदूषकवानर
साधु । परित्रातस्त्वया स्वपक्षः ।)

[निष्क्रान्तौ राजा विदूषकश्च इरावती निपुणिका प्रतीहारी च ।]

मालविका—हस्ता देवि चिन्तिष्य देवदि मे हिषधं । एतज्जाले धरो वरं किं वा अग्राह्यदिव्यं
हविस्तसि त्ति । (सति । देवो चिन्तयित्वा वेपथे मे हृदयम् । न जानेऽहः परं किं वानुभवितव्यं
भविष्यतीति ।)

[नेपथ्ये]

अक्षरिणं अक्षरिणं अगुणो एष पंचरत्ने रोहसस्त मुकुर्तेहि संलब्धो सखीभासोभो जाय वेनीष्ट
एषेदेमि । (आश्रयमाश्रयम् । अगुणं एष पंचरत्ने रोहसस्त मुकुर्तेः संगदस्तपनीयाद्योः यावद्देव्यं
निवेदयामि ।)

[उभौ धृत्वा प्रहृष्टे ।]

बहुलावलिता—मास्तसिदु सही । सचव्यवस्था देवी । (पाश्वरितु सही । सत्यप्रतिज्ञा
देवी ।)

राजा—बड़ा बुरा हुआ, बड़ा बुरा हुआ । बच्चोंका तो डरनेका स्वभाव ही होता है ।

इरावती—[एवराकर] बसिए धार्यपुन ! भटपट चलकर उसे संभालिए । कहीं इस
पहराहटमें उसे घोर दुःख न हो जाय ।

राजा—मैं चलकर अभी उसे लेतमे लाता हूँ । [भटपट धूमते हैं ।]

विदूषक—वाह रे पीले बन्दर ! वाह, धाम तो तुमने हमारे महाराजकी सचमुच बचा लिया ।

[राजा, विदूषक, इरावती, निपुणिका, प्रतीहारी सब चले जाते हैं ।]

मालविका—उधो ! जब महाराजकी ध्यान आता है तो मेरे रीगटे सड़े हो जाते हैं धब
न जाने क्या-क्या दह भोगना बदा है ।

[नेपथ्यमें]

बहा धार्य है ! बड़ा धार्य है । अभी इस मुजहरे अघोषके रोहस [वाह] पूरे हुए, पाँच रातें
भी नहीं बीठ पाई कि उसमें कसियाँ फूट आई है । धवू, महाराजकी बत्ता धाऊँ ।

[दोनो मुनकर प्रसन्न होती हैं]

बहुलावलिता—सो सखी ! पीरन परो । देवी जो एक बार बह देती है उधरे पीछे नहीं
हटती ।

मालविका—तेछ हि प्रमदवखपासिआए बिद्वदो होमि । (तेम हि प्रमदवखपासिकायाः पृष्ठतो नयामि ।)

बकुलावसिका—तह । (तथा ।)

[इति निष्क्रान्ते]

॥ इति चतुर्थाङ्कः ॥

मालविका—वो चलो, हम सोच भी प्रमदवनकी मालिनके पीछे-पीछे वहीं जमी चलें ।
बकुलावसिका—चलो ।

[दोनों चली जाती हैं ।]

चौथा अङ्क समाप्त हुआ ।

पञ्चमोऽङ्कः

[ततः प्रविशत्युद्यानपालिका ।]

उद्यानपालिका—उबलितो मए किदसङ्कारबिहिरणो तवणोधातोमस्त वेदिभावन्यो जाव अण्डिट्टिएणोचं घत्ताणं देवोए शिवेवेमि । [परिक्रम्य] अहो देवस्त अणुकम्पणीया मातविधा । तस्ति तह अण्डिभा देवो इमिखा असोअणुसुमवुत्तनेण पत्ताअणुमुही हविस्सदि काहं खु अणु देवो हवे । [विलोक्य] अण्हो एसो देवीए परिअलम्बन्तरो किवि अणुमुद्रात्तखिर्बं मंजुत्तं मेण्हम अणुस्तालायो कुण्णो सारसिओ लिङ्गाभवि । पुण्ड्रवदावणं । [ततः प्रविशति गयामिदिष्टहस्तः कुब्जः ।] सारसिअ काहं वत्पिओसि । (उपक्षिप्तो गया कृतवल्गारविधित्तपनीयाशोकस्य वेदिकाबन्धः । पाववणुधित्तनियोगमारगतं देव्यं निवेदयामि । अहो देवस्यानुकम्पनीया मातविधा । तस्यां तया अण्डी देव्यनेमाशोककुसुमवृत्ताम्भम प्रतावसुमुच्चो अविध्यति । कुत्र नु अणु देवी भवेद् । अहो एष देव्याः परिजनाम्भस्तर, किमपि अणुमुद्रासाञ्जिह्वा भञ्जुया गृहीत्वा अणुगतावः कुब्जः सारसिको निष्कामति । प्रस्यामि तावदेवम् । सारसिक । कुत्र प्रस्थितोऽर्थ ।)

सारसिक.—महुअरिए बिज्जाभरिभाणं अणुलाणं लिज्जवदक्षिणं भासिई पुरोहिस्स हर्षं पावहस्सं । (मणुकरिके । विद्याभरिताला ब्राह्मणानां वित्पदक्षिणा भासिकी पुरोहितस्य हस्तं प्रापयिष्यामि ।)

मणुकरिका—अहं किञ्चिन्तं । (यस्य किमितिम् ?)

पाँचवाँ अङ्क

[भासिन यात्री है ।]

भासिन—मिने सब पास-पास निकालकर इस गुप्तहरे अणुककी घेट ठीक ढंगसे बाँध दी है । अब यहाँका काम सब ठीक हो गया है । वहाँ देवोको बता भाऊ [धूमकर] भगवानने बेचारी मातविकाकी साज रखली । उसपर बिगड़ी बैठी हुई महारानीको, अब अणुकके फूलनेका उभावार मिलेगा तो वे सित उठेंगी । पर इस समय महारानी होंगी कहाँ ? [दक्षिण] अरे ! यह महारानीके रनिवासका नुचड़ा सेवक सारसिक साँझसे बन्दकी हुई पिटारी लिए हुए, रनिवाससे निकला चला आ रहा है । जल्द, दलीसे पूछ देखूँ । [हाथसे पिटारी लिए हुए कुबड़ा दिखाई देता है ।] कहाँ सारसिक ! कियर गले ?

सारसिक—मणुकरिका ! विदाव् ब्राह्मणोंको सदा महीने-महीनेपर जो दक्षिणा दी जाती है वही अब बाँटनेके लिये पुरोहितोंको सौंपने आ रहा हूँ ।

मणुकरिका—यह दक्षिणा क्यों बाँटी जा रही है ?

सारसिकः—अबपुनर्वि सेखावदी जण्डतुरंगरखणो त्रिदत्तो मन्दारयो वसुमित्रो तवपुनर्वि तस्मिन् भावसंनिधितं शिष्टसदसुबन्धपरिमाणं बन्धितं देवी दक्षिणोर्णहि परि-
ग्राहेवि । (यतःप्रभृति येनापत्तिर्यजतुरंगरखणो निमुक्तो भूतुंदारको वसुमित्रस्ततः प्रभृति उत्प्रा-
नितं निष्कसतसुबन्धपरिमाणं दक्षिणं देवी दक्षिणोर्णः परिग्राह्यति ।)

मधुकरिका—यह कहि देवो । किं वा अशुचिद्वि । (अथ कुत्र देवो । किं दानुतिष्ठति ।)

सारसिकः—मंगलपरे भावसंख्या भविष्य विदम्बन्धितमावो भादुरा । वीरसेणोऽपि पतिर्देवो
सहकरेहि वाह्यमात्रेण मुखादि । (मङ्गलसह प्राशनस्था भूत्वा विदम्बन्धितमादध्याया वीरसेनेन
प्रेषितं तेषां सेखकरेर्दक्ष्यमाणं शृणोति ।)

मधुकरिका—को उरु विदम्बराम्बुल्लसो सुलोमवि । (कपुनविदम्बराम्बुल्लसः श्रूयते ।)

सारसिकः—वसोकिदो वसु वीरसेणपुनर्वि मसुभो विजयदंतेहि विदम्बन्धिताही । मोददो
से वाभावो माह्वसेणो दूरो य सेख महासाराणि रभसाणि बाह्याणि सिप्यमारिमा-
भूषणं परिसरं जयामणीकरिभ्यः भट्टिणो सभातं पेशितो त्ति । (वसोकिदः किल वीरसेन-
प्रमुखैर्ननुविजयदन्तेविदम्बन्धिताः । मोचितोऽस्य वाभावो माधवसेनः । वृत्तञ्च तेन महासाराणि
रत्नानि बाह्यानि शिल्पकारिकाभूषणं परिजनमुपायनोक्त्य भवुः सकाशां प्रेषित इति ।)

मधुकरिका—अथ अशुचिद्वि पत्तलो विमोच । अहं वि देवि पेशितस्तं । (गण्डा-
तिष्ठास्थो विमोचम् । अहमपि देवी प्रेषिष्ये ।)

[इति निष्प्राप्तौ ।]

॥ प्रवेशकः ॥

सारसिक—जबसे अन्धमेघ यज्ञके चौकीकी रक्षाके लिये राजकुमार वसुमित्र येनापति
बनाए गए हैं, तभीसे उनके चिरंजीवी होनेके लिये योग्य ब्राह्मणोंको चार सौ हजारके
बराबर धन दक्षिणामे दिया जाता है ।

मधुकरिका—अच्छा यह तो बताया कि महारानी है कहाँ और क्या कर रही है ?

सारसिक—महारानीजीके भाई वीरसेनने विदम्बसे जो पिट्टी भेजी है, उसीको वे मंगल-
पत्रमें बँधी हुई अपने सेसकसे बँधवाकर सुन रही हैं ।

मधुकरिका—विदम्बके राजाका क्या सपानार मिला ?

सारसिक—महाराजकी विजयिनी सेना लेकर वीरसेनने विदम्बके राजाको जीत लिया
है और उनके चचेरे भाई माधवसेनको छुड़ा लिया है । साथ ही उन्होंने एक दूतके साथ
बहुतसे मनमोल रत्न, हथी, घोड़े और बहुत अच्छे-अच्छे कलाकार सेवक, महाराजके
पास भेजने भेजे हैं ।

मधुकरिका—अच्छा, जामो, तुम जो अपना काम कर जाओ मैं भी भी महारानीके
दर्शनको जाती हूँ । [दोनों जाते हैं ।]

॥ प्रवेशकः ॥

[ततः प्रविशति प्रतिहारो ।]

प्रतीहारी—आगतमिह असौमनस्यारवावुदाए देवीए—विष्णवेहि अज्जउत्तम् । इच्छामि अज्जउत्तेण सह असौमनस्यस्त पभूणुमिच्छे पञ्चस्त्रीकामं ति । ता ज्ञाय यम्मासए गवं देवं पडिवालमि । (आज्ञाप्यतास्यसोक्तसत्कारव्यापृतया देव्या—विज्ञापयाम्यपुनम् । इच्छाम्याम्यपुनए सहासोकवृत्तस्य प्रभूनलक्ष्मीं प्रत्यक्षीकृत्तुमिति । तत्रावदमसिनपतं देव प्रतिपालयामि ।)

[इति परिक्रामति ।]

[नेपथ्ये वसतिस्त्री]

प्रथम—विजयतां विजयतां देवः । दिव्या दण्डरेव रिपुक्षिरःसु वर्तते देवः ।

परभृतकलव्याहरेषु त्वमात्तरतिर्मघं नयसि विदिशातीरोद्यानेष्वमङ्ग इवाङ्गवान् ।
विजयकरिष्यामालानत्वं गतैः प्रवृत्तस्य ते वरद वरदारेष्वोष्ट्रैः सहावनतो रिपुः॥१॥

द्वितीयः—

विरचितपदं धीरप्रीत्या सुरोपमसूरिभि-
श्चरितमृमयोर्मप्येकृत्य स्थितं ऋषकैशिकान् ।
तव हृतवतो दण्डानीकैर्विदर्भपतेः श्रियं
परिषगुरुभिर्दोर्भिर्विष्योः प्रसन्न च रुक्मिणीम् ॥२॥

[प्रतीहारी धात्री है ।]

प्रतीहारी—मशोककी पूजाकी घूम-धाममे खनी हुई महारानीमे आज्ञा दी है कि जामो महाराजसे कह दो कि मैं चाहती हूँ शर्मपुत्रके नाम ही बसकर फूले हुए मशोककी घोषा देखूँ । तो चलूँ न्यायासनपर बंटे हुए महाराजके पास पहुँचूँ । (घूमती है ।)

[नेपथ्यमे दो वसतिस्त्री]

पहला—जय हो, देवकी जय हो । वपाई है महाराजकी कि आपने अपनी शक्तिये अपने शत्रुओंकी परी तले रौंद दिया ! हे मनवाह्य घर देवेवाले राजा ! आप तो इधर साराए कामदेवके समान, कोयलकी सुन्दर कूक सुनते हुए विदिशाके तीरपर फँसे हुए उपवनमें अपना वस्त्र बिता रहे हैं उधर आपका बसबावू जानू घरवाके तीरपर सड़े हुए उन वृत्तोंके साप-साप भुका दिया गया है जो अब आपकी सेनाके विजयो हाथियोंके बाँपनेके छूटे गये खड़े हैं ॥१॥

दूसरा—हे देवताओंके समान राजा ! विदर्भमें दो ही तो बनी-बनी घटनाएँ हुई हैं । एक तो आपका अपनी सेना भेजकर विदर्भके राजाकी हराना, दूसरी, भगवान् श्रीकृष्णजी-द्वारा उनकी मर्माङ्कके समान बड़ी बड़ी मुन्नाघोंते रुक्मिणीजीका हृय जाना । धीरेसे प्रेम रखनेवाले कवि खोम अब इन दोनों घटनाओंके गीत बना-बनाकर गा रहे हैं ॥२॥

प्रतीहारो—एसो जअसहस्रद्वयपत्न्याखो भट्टा इदो एख्य धायच्छदि । अहं कि दाव इमत्स पमुहादो सोम्रादो ओसरिद्य खम्भान्तरिदा होमि । (एष जयचन्दसूचितप्रस्थानो भूतत एवागच्छति ।
अहमपि तावदस्य प्रमुखात्लोकादपसृत्य स्तम्भान्तरिता भवामि । [इत्येकाते स्थिता ।]

[प्रविश्य सवयस्यो राजा]

राजा—

कान्तां विचिन्त्य सुलभेतरसंप्रयोगां श्रुत्वा विदर्भपतिमानमितं पलैश्च ।
धाराभिरातप इवाभिहतं सरोजं दुःस्वायते मम मनः सुखमश्नुते च ॥३॥

विदूषकः—जह् घहं पैबलामि सह एक्कन्तसुहिदो मर्ब हबिस्सवि । (यथाह प्रेक्ष्य तया एकाग्रतसुखितो भवान्मविष्यति ।

राजा—कयमिय ।

विदूषकः—अज्ज किल देवोए एत्थं पंडितकोत्तई भणित्ता—अग्रवदि । जं तुमं पत्ताहुत्तगव्वं
अहुति तं वंसेहि मालविघ्नाए सरोरे विवाहणेवार्थं ति । ताए सविसेत्तामंकिवा मालविघ्ना ।
तत्तहीदी कयावि पुरए भयरोवि मणोरहं । (अथ किल देव्यं पण्डितकीशिकी भणित्ता—
भगवति । यत्त प्रसाधनमर्थं अग्रसि तद्दुर्गं मालविकायाः क्षरीरे विवाहणेपप्यमिति । तया
सविसेत्तामंकिता मालविका । तत्रभवती कदाचित्पूरयेज्जवतोऽपि सरोरपम् ।)

राजा—सखे ! मयपेक्षामनुग्राह्य अनया पारिव्या पूर्वचरितः सभास्यत एवैतत् ।

प्रतीहारी—इत जयजयकारसे जान पड़ता है कि महाराज वहाँसे उठकर इधर हो चले प्रा
ण हैं । मैं भी उनके साथे साथे चलती हुई भीड़से नचकर सबके पीछे खड़ी हो जाती हूँ ।

[एक ओर खड़ी हो जाती है ।]

[विदूषकके साथ राजा आते हैं ।]

राजा—एक ओर जब मैं उस दुर्जन प्यारीकी बात सोचता हूँ और दूसरी ओर जब मैं
सुनता हूँ कि मेरी सेनामे विदर्भके राजाकी हरा दिया है तो मेरा मन उस कालके समान एव
साथ दुखी और खुशी होता है जिसपर बड़ी धूप भी पड़ रही हो और साथ साथ पानी भी बरस
रहा हो ॥१॥

विदूषक—मैं तो समझता हूँ कि अब आपकी पूरा सुल ही सुल मिलेगा ।

राजा—कैसे ?

विदूषक—आज पंडिता कोशिकीसे महारानीने कहा था कि अपवती आपको सिंगार
करनेकी विचारका जो धमक है वह आप मालविकाको विवाहके सिंगारसे सजाकर दिखाइए ।
इसपर उन्होंने मालविकाकी बड़े मुहाबते डंभसे सजा दिया है । कौन जाने ये ही आपकी साथ पूरी
कर दें ।

राजा—हाँ बिन ! महारानी पारिखीने पहले भी मेरे मनकी बहुत सी बातें की हैं इसलिये
यह भी परदे को कोई अचरन नहीं है ।

प्रतीहारी—[उपगम्य] छेदु छेदु भट्टा । देवी विष्णुवेदि—तबलीमासीप्रस्त कुमुमसह-
बंसलेह मह भारम्भो सफल करोछहु ति । (जयतु जयतु यती । देवी विज्ञापयति—तपनीया-
चोदस्य कुमुमसहदधनेन यमारम्भः सफलः क्रियतामिति ।)

राजा—तनु तत्रैव देवी तिष्ठति ।

प्रतीहारी—ग्रह ईं । जहरिहंसंभास्यसुहिषं घन्तेउरं विसज्जिअ मातविप्रापुरोएण भत्तएो
परिघाएण राह देवं पडिवातेवि । (अथ किम् । यथाहंसम्भास्यसुहितमन्त्रपुरं विमुञ्च्य मालविका-
पुरोनेत्तारमनः परिकनेन सह देव प्रतिपादयति ।)

राजा—[सहर्षं विदूषकं विलोक्य] जयसेने ! गच्छप्रतः ।

प्रतीहारी—एदु एदु देवो । (एत्थेनु देवः ।) [इति परित्यज्यति ।]

विदूषकः—[विलोक्य] भो यमस्त । किं परिपुत्तजोम्बलो विध वसन्तो यमववणं
तवलीमवि । (भो जयस्य । किंविस्परितुत्तयोवन इव वसन्तः प्रमववने सहयते ।)

राजा—यथाहं जगाम् ।

अग्रे विकीर्णकुरवकफलजालकमिद्यमानसहकारम् ।

परिणामामिष्टुखमृतोरुत्सुकयति यौवनं चेतः ॥४॥

विदूषकः—[परिक्रम्य] ग्रहो । ग्रहं ती विस्सलेवत्थो विध कुमुमपवणहि तवलीमा-
सीमो । भोलोमदु भवं । (ग्रहो । भवं स वत्तनेपम्ब इव कुमुपस्त्ववकैस्त्वपनीयाजोः । यमलोकां
भवाद ।)

प्रतीहारी—[पास जाकर] जय हो, स्वामीकी जय हो ! देवीने कहवाया है कि मेरे साथ
बलकर उस फूले हुए गुनहरे शमीकको देखकर मेरा सब काम सफल कर दीजिए ।

राजा—क्या देवी बड़ीवर है ?

प्रतीहारी—जी हाँ ! रजिवासकी सब रजिमाका यथायोग्य आदर करके वे मालविका और
दासियोंके साथ बड़ी महाराजके लिये बाट जोह रही हैं ।

राजा—[प्रसन्न होकर विदूषककी ओर देखकर] जयसेना ! चलो तो आगे-आगे ।

प्रतीहारी—आइए देव ! चले आइए । [प्रगती हे ।]

विदूषक—देखो मित्र ! जान पड़ता है कि प्रमववजयें वसन्तकी जवानी फिर लौट
आई है ।

राजा—ठीक चहुँते हो तुम । इस बीतते हुए वसन्तमें भी बिखरे हुए कुरवकके फूल, मनमें
जवानीकी सहर्ष उठने लगे हैं ॥४॥

विदूषक—[धूमकर] धूमके शुब्धोन्मि सदा हुआ वह गुनहारा भक्तो देसा जान पड़ता है
यानी इसका भी निछोने सिगार कर दिया हो । देखिए तो ।

राजा—रूपाने खतु प्रसन्नमन्यरोऽप्यवभूत् । यदिबानीमनन्यसाधारणीं शोभामुद्बुहति । पश्य—
सर्वाशोकतरूणां प्रथमं सञ्चितवसन्तविभवानाम् ।
निर्वृचदोद्देऽस्मिन्संक्रान्तानीव कुसुमानि ॥५॥

विदूषकः—तह । भो धीमत्तो होदि । मन्देषु संश्लिष्टेषुवि धारिणी यासपरिवर्तिणीं मातविभ्रं
प्रसन्नमन्योवि । (तथा । भोः विभ्रज्यो नव । अस्मासु सनिहितेष्वपि धारिणी पार्श्वपरिवर्तिनी
मातविकामनुमन्यते ।)

राजा—[तहपंद] सते । पश्य—

मामियमभ्युत्तिष्ठति देवी विनयादनूरितया प्रियया ।
विस्तृतहस्तकमलया नरेन्द्रलक्ष्म्या यमुमतीव ॥६॥

[ततः प्रविशति धारिणी मातविका परिव्राजिका विभवसञ्च परिचारः ।]

मातविका—[आरमगतम्] जातानि लिमितं कोतुभामंकारसा । तह ॥ मे द्विधमं विस्मिणी-
पत्तगर्दं विभ्र सत्तिलं वैषदि । अत्रि ॥ दक्षिणोत्तरं वि मे लक्ष्मणं बहुतो कुरदि । (जातानि निमित्तं
कोतुभामंकारस्य । तयापि मे हृदय विस्मिणीवप्रवर्तनिय सत्तिलं वेपते । अपि च दक्षिणोत्तरमपि मे
मयनं बहुताः स्फुरति ।)

विदूषकः—भो वधस । विवाहलोभायैव सविसेसं ॥ सोहृदि मातविभा । (भो वयस्य ।
विवाहनेपथ्येन उषिरोपं शतु योमते मातविका ।)

राजा—इसका बैरो फूलना अच्छा हो हुआ, क्योंकि जब इसके भागे सब दुल्लोंकी शोभा
सीकी लगने लगी है । देखो ! ऐसा जान पड़ता है कि जिन प्रसोकके वृक्षोंने पहले फूलकर
वसन्तके धामेकी सुबना दी थी, उन सबने अपने-अपने फूल इस प्रसोकके वृक्षको दे दिए हैं जिसके
फूलनेका उपाय अभी योड़े दिन हुए किया गया था ॥३॥

विदूषक—हाँ सीजिए, अब आपका काम बन गया क्योंकि हम लोगोंके भा पहुँचनेपर भी
महारानी धारिणी, मातविकाको अपने पास ही बैठनेके लिये कह रही हैं ।

राजा—[प्रसन्न होकर] देखो मित्र ! मेरा धावर करनेके लिये उठी हुई महारानीके पीछे,
अपने कमल-जैसे दोनों हाथ खोले खड़ी हुई मेरी प्यारी मातविका, ऐसी लग रही है मानो
पृथ्वीके पीछे राजसदसी खड़ी हुई हो ॥६॥

[धारिणी, मातविका, परिव्राजिका और जननी दासियाँ दिखाई देती हैं ।]

मातविका—[मन ही मन] मैं इस बनाव-सिंहासना धर्म तो समझ रही हूँ, फिर भी न
जाने क्यों मेरा हृदय कमलिनीके पत्तेपर पड़ी हुई पत्तकी बूंदके समान अचोतक कांप रहा है ।
पर मेरी सार्द धाँप भी धाव बहुत करक रही है ।

विदूषक—बहो मित्र ! विवाहके सिंगारोंसे सजी हुई मातविका नितनी सुन्दर जंचने लगी है ?

राजा—परमाभ्येताम् । धैर्य—

अनतिलम्बिदुकूलनिवासिनी बहुभिरामरसैः प्रतिभाति मे ।
सदुगमसौरुदयोन्मुखचन्द्रिका हृदिमैरिव चैत्रविभावरी ॥७॥

धारिणी—[उत्पत्य] जेहु जेहु अन्ववतो । (जयतु जयत्वार्थपुनः ।)

विदूषकः—बहदु भोरो । (वर्षता भवती ।)

परिज्ञानिका—बिलपतो देवः ।

राजा—भयवति अभियारये ।

परिज्ञानिका—अभिप्रेततिष्ठिरस्तु ।

धारिणी—[ललितम्] अन्ववत । एव ते अन्वेहि तवलोकात्तदाप्रसन्न प्रसोभो संकेतपरी
कनियो । (प्राप्युत्र । एव तेस्माभिस्तदुक्तोन्नतपदापह्वाशोकः संकेतपदं कल्पितः ।)

विदूषकः—भो भारहिमोति । (भोः भारपितोऽति ।)

राजा—[सद्वीर्यशोकमयितः परिक्रामन् ।]

नार्यं देव्या भाजनत्वं न नेयः सत्काराशामीदृशानामशोकः ।

यः सावज्ञो माधवश्रीनियोगे पुष्पैः शंसत्यादरं स्वत्प्रपत्ने ॥८॥

विदूषकः—भो भीतवो भावम पुनं जोभलवति हं वरं देव । (भो विदग्धो भूत्वा त्वं
भीतवतोमिमा पश्य ।)

राजा—हो, देख दो रहा हूँ कि सिरपर एक छोटी सी शीदनी घोड़े हुए और नीचे के ऊपर
एक घनेक प्रकारके सिगाटीके खड़ी हुई यह चैतकी जब रातके समय दिखाई पड़ती है जिसमें
कोहरा हट जानेके सारे सिल बाएँ हों और बाँदनी भी उस निकलने ही वाली हो ॥७॥

धारिणी—[प्राप पहुँचकर] जय हो भार्यपुत्रकी जय हो ।

विदूषक—प्रापको बधाई है ।

परिज्ञानिका—देवकी जय हो ।

राजा—प्रणाम करता हूँ भगवती ।

परिज्ञानिका—प्रापके मनकी साथ पूरी हो ।

धारिणी—[मुस्कराकर] भार्यपुत्र ! सीजिए यह प्रापके लिये अशोक का ऐसा प्रेममिलनका
घर बना दिया गया है जहाँ प्राप युवतियोंसे अनेकसे मिल सकते हैं ।

विदूषक—सीजिए महाराज ! देखीने तो प्रापकी पदचाही कर दो ।

राजा—[जवाबे हुए अशोकके चारों ओर घूमते हैं] देखीके हारों इस अशोकका ऐसा आदर
होना ही चाहिए, क्योंकि यह भी वसन्तकी सवनीका बहना न मानकर और बरसदमें न फूलकर
देवीके प्रदत्त करनेपर फूल उठा है ॥८॥

विदूषक—प्राप समझकर इस भीनवधातीको देखिए ।

घारिणी—कं । (काम् ।)

विदूषकः—भोदि तबखोभातोघस्त कुसुमसोहम् । [भवति । उपनीयाशोकस्य कुसुमशोभाम् ।]

[सर्वे उपविशन्ति ।]

राजा—[मासविका विलोक्य आत्मगतम्] कष्टः खलु संनिधिविधोः ।

अहं रथाङ्गनामेव प्रिया सहचरीव मे ।

अननुज्ञातसंपर्का घारिणी रजनीष नौ ॥६॥

[प्रविश्य]

कञ्चुकी—विज्ञापयतः देवः ! अमाश्वो विज्ञापयति—विदग्धविषयोवायने द्वे शिल्पकारिके मार्गपरिचयमादत्तपुत्ररोरे इति पूर्वं न प्रवेशिते । संप्रति द्वेषोपस्थानयोग्ये संकुप्ते । तस्मात्तौ देवो वातुमर्हतीति ।

राजा—प्रवेशय ते ।

कञ्चुकी—यथाज्ञापयति देवः । [इति निष्क्रम्य तान्त्रो सह प्रविश्य ।] इत इतो भवत्यौ ।

प्रथमा—[जनान्तिकम्] हला भवसिए । अपूर्वं इवं राक्षसं पयितन्तीए पत्नीवदि मे हिमर्ष । (सखि नदनिके । अपूर्वमिदं राजकुलं प्रविशन्त्याः प्रसीदति मे हृदयम् ।)

घारिणी—कित्ते ?

विदूषक—देवी ! इस चुनहरे भयोके फूलोंकी शोभाकी ।

[सब बैठ जाते हैं ।]

राजा—[मासविकाको देखकर मन ही मन] इतने पासमें रहते हुए भी असम बैठना बड़ा कष्टका है । चक्का भीर चक्कीकी भाँति इतने पास बैठे हुए भी हम दोनोंको, ये रात्रि बनी हुई घारिणी भित्तमें नहीं देखी हैं ॥६॥

कञ्चुकी [आकर]—देवकी जय हो । मन्त्रीजीने कहलाया है कि विदग्धसे जो कत्ता जाननेवाली दो स्त्रियाँ बैठके रूपमें घाई थीं वे उस समय धकी होनेके कारण महाराजके पास नहीं पाई जा सकी थी । अब वे महाराजके सामने साई जा सकती हैं । उसके लिये देवकी आज्ञा चाहिए ।

राजा—ले आओ ।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा । [बाहर जाकर उन दोनोंके साथ आता है ।] इपरसे आइए माय इपरसे ।

पहली—[आकर] खली नदनिका ! हम पहले कभी इस राज-कुलमें नहीं पाई हैं, फिर भी न जाने क्यों यहाँ आते ही हवाय भी सिला जा रहा है ।

द्वितीया—श्रोतिणीए । अतिथि बहुत भोग्यवाले आयायि सुहं दुखं वा हिमप्रसन्नवत्वा
कहेविंति । (ज्योतिनके । अस्ति सन्तु लोकप्रवाद आयायि सुख दुःख वा हृदयसमस्या
कथयतीति ।)

प्रथमा सो सचको टाण्डि होवु । (स सत्य इदानीं भवतु ।)

कञ्चुकी—एव, देव्या सह देवस्तिष्ठति । उपसर्पतां भवत्यो ।

[उभे उपसर्पतः ।]

[मालविका परिव्राजिका च नेटवी विलोक्य परस्परमवसोकथतः ।]

उभे—[प्रणिपत्य] जेदु जेदु भट्टा । जेदु जेदु भट्टिहरी । (जयतु जयतु भर्ता । जयतु
जयतु भट्टिनी ।)

[उभे राजाशया उपविष्टे ।]

राजा—कस्यां कलायामभिवर्धते भवत्यौ ।

उभे—भट्टा । सद्योदय अरुमन्त्रेभ्यः । (भर्तः । शरीरकेऽभ्यन्तरे स्थः ।)

राजा—वेदि । गृह्यतामनयोऽप्यतः ।

धारिणी—मालविक । इदो पेयसः । कहरा दे सद्योदयधारिणी दक्षिणि । (मालविके ।
इतः पयः । कहरा ते समीपतस्तुधारिणी रोचते ।)

उभे—[मालविका दृष्ट्वा] अम्हो भट्टदारिका । जेदु जेदु भट्टदारिका । (अहो भट्ट-
धारिका । जयतु जयतु भट्टधारिका ।) [हति प्रकुम्भ तथा वह वाष्प विमृशतः ।]

[उभे तद्विस्मय विलोकयन्ति ।]

दूतरी—वयोस्त्रिका । कहा जाता है कि अपना मन, आये आनेवाले सुख या दुःख सभी
बता देता है ।

पहली—भगवान् करें वह कहकल यात्र रात्र हो जाय ।

कञ्चुकी—देखिए, यह महारानीके साथ महाराज बैठे हुए हैं । आप दोनों आने बच जाइए ।

[दोनों बढ जाती हैं ।]

[मालविका और परिव्राजिका इन दोनों काष्ठिकोंकी देखकर एक दूसरेकी ओर देखती हैं ।]

दोनों—[प्रणाम करके] जय हो, स्वामीकी जय हो । जय हो, स्वामिनीकी जय हो ।

[राजाके वज्जेसे दोनों बैठ जाती हैं ।]

राजा—आप श्रीगोकी कौन-सी वत्सा आती है ?

दोनों—स्वामी ! हम सोयेंमि समीप सीखा है ।

राजा—सो देरी, इनमेसे किसे चाहो उसे अपने लिये चुन लो ।

धारिणी—मालविका ! इधर देखो समीपमें सुन्दारा साथ देनेके लिये इनमें से चुन्दे
वीन-गी पच्छी लगती है ।

दोनों—[मालविकाकी देखकर] अरे, राजकुमारी ! जय हो राजकुमारी, जय हो ।
[प्रणाम करके उसके गले मिलकर रोने लगती हैं ।]

[सब घबरजसे देखते हैं ।]

राजा—के भवत्यौ । का येयम् ।

उगे—भट्टा ! एसा अम्हाणें भट्टारिखा । (भतः । एपास्माक भतुंदारिखा ।)

राजा—कल्पमिय ।

उभे—मुलातु भट्टा । जो सी भट्टिला चित्रप्रवर्णेहि पितृभक्त्याहं वसीरिषि वग्ग-
लावो सोदयो कुमारो माह्वलेणो शाम तस्स दम्प कणीयसी भइसी मासविष्णु शाम ।
(भूलातु भर्ता । य स भर्ता विजयदण्डविदम्भनाय वसीकृत्य वग्गनाम्भोचित, कुमारो भाववसेनो
नाम तस्सेय कनीयसी भविषी मासविका नाम ।)

पारिस्ती—कहं रामवारिमा इत्तं । चन्दनं त्पु मए पादुषोयमोएण वुत्तिव । (शयम्
राजवारिकेयम् । चन्दनं कल मया पादकोषयोनेन द्रवितम् ।)

राजा — प्रयात्रभयतो कथमित्यभुता ।

मालविका—[दि.श्वस्यात्मगतम् ।] विहिंसिभोऽसु । (विधिमन्योऽसौ ।)

द्वितीया—सुखानु भद्रा । वासावयसंगदे मृदुवारणं माहवसेलं तस्मै श्रमचक्षेण अज्जसुमविला
मम्वारिणं परिमण उज्झिम गूढ अणीयार एता । (मृणोतु यता । वासावयसंगते मृदुवारणे
माहवसेलं तस्यामाथेगार्थमुपनितास्मादहं परिजन्मविश्रुता गूढमानीतीषा ।)

राजा—श्रुतपूर्वं मयैतत् । तत्तत्तत् ।

द्वितीया—भद्रा । सर्वो धरं स्य माहात्मि । (भर्तुः । अतः परं न जानामि ।)

परिद्राजिका—तत्त. दर मन्त्रभागिनी कवयिण्यानि ।

उभे—भट्टारिण । अज्जकौत्तिण विम सरसंजोभो । खं सा एग्य । (भट्टारिके ।
आयकौत्तिनया इव स्वरसयोगः । ननु सैव ।)

राजा—आप लोग कौम हैं और ये कौम हैं ?

दोनों—स्वामी ! वे हमारी राजकुमारी हैं ।

एजा—कैसे ?

दोनों—सुनिद स्वामी ! आपकी विजयी सेनाने विदर्भके राजाको जीतकर लिन कुमार मापसेनको बन्धनसे छुड़ाया है, उसीकी ये छोटी बहिन मातलिकाको है ।

पाणिनी—भरे ! तो क्या ये राजपुसारी है । भेगे सचमुच चन्दनसे सदाजैवा वाम
लेकर बड़ा पाप किया है ।

राजा—तो वे इस रूपमें यहाँ कैसे आगई ।

मासयिका—[तबी साँझ सेबर मन ही मन] भाग्यके फेरसे ।

दूसरी—मुनिए महाराज । जब राजकुमार माधवसेनको उनको खबरे भाईने पकड सिया पा, तब उनको मंत्री धर्मा सुमतिजी इन्हे, हम नोबोड हटाकर, यहाँ खिचा कर ले गए ।

राजा—यह तो मैं पहले सुन चुका हूँ । तब क्या हुआ ?

दूसरी—इसके पीछेकी बात मैं कुछ नहीं जानती हूँ स्वामी ।

परिव्राजिका—इसके पीछेकी वषा में अमाग्नित बताया है।

दोनों—राजकुमारी ! यह तो भार्या की शिक्षा-जैसी बोली लग रही है । वे ही हैं क्या ?

भालविका—अहं इम् । (धनं किम् ।)

उभे—अविद्वेष्यारिणो घञ्जकोत्तिर्दुस्तेषु विभावोभवत् । भगवति । एषो रे ।
(यतिवेष्यारिण्यार्थकोशिकी दुस्तेन विभाव्यते । भगवति । नमस्ते ।)

परिवाजिका—स्थितिं भवतीम्यम् ।

राजा—कथम् । आह्वयर्षोऽयं भगवत्या ।

परिवाजिका—एकमेतत् ।

विदूषक—तेरा हि कहेतु भगवती अस्तहोवीए सुलभ वाय असेत । (तेन हि कथयतु
भगवत्यनभक्त्या वृत्तान्तं तावदस्येयम् ।)

परिवाजिका—[सर्वबलभ्यम्] साधय्युपसाय । माधवसेनतन्त्रिणं समाश्रयं सुप्रतिभगवत् ।

राजा—उपससितः । ततस्ततः ।

परिवाजिका—स इमा तथामतआतुका मया साधमपवाह्य भवत्सम्बन्धापेक्षया पथिकतामं
विदितागामिनमनुप्रविष्टः ।

राजा—ततस्ततः ।

परिवाजिका—स आह्वयन्तरे निविष्टो यताम्या अलिङ्गणः ।

राजा—ततस्ततः ।

परिवाजिका—ततः किञ्चान्यत् ।

भालविका—भोर क्या ?

बोनी—सन्ध्यासिनीका बेश जना सेनेसे कोशिकीणी बडी कठिनाईसे पशुवानमें आती
हूँ । आपको प्रणाम है भगवती ।

परिवाजिका—तुम बोनीका कल्याण हो ।

राजा—क्यों, क्या ये भी आपकी ही बेलियाँ हैं ?

परिवाजिका—जी हाँ, हैं वो ।

विदूषक—उब आप हो इनकी पूरी क्या सुना आविए ।

परिवाजिका—[दुखी होकर] ठो गुनिए । माधवसेनके मनी सुमति भेरे बडे माई ये ।

राजा—अच्छ समझ गए । हाँ, तब ।

परिवाजिका—माधवसेनके पकड़े जानेपर इनके माई आपके साथ इनका विवाह करदेके
बिचारे इसे भोर भुके खाए लेकर विदिताकी ओर आते हुए एक व्यापारी दलके साथ हो बिए ।

राजा—तब तब ?

परिवाजिका—थोड़ी दूर तक झुली सड़कपर चल चुकनेपर उन्हें जंगलमें होकर जाना पड़ा ।

राजा—तब क्या हुआ ?

परिवाजिका—फिर क्या ? मनामन कन्वोंपर लूणीर बसे हुए, पीठपर लदे लदे पंख

तूष्णीरपट्टपरिणद्धभुजान्तरालमापार्णिलम्बिशिखिर्बह्वक्लापधारि ।
कोदण्डपाणि विनदत्प्रतिरोधकानामापातदुष्प्रसहमाविरभूदनीकम् ॥१०॥

[मातङ्गिका भयं स्वयति ।]

विदूषकः—भोरि ! मा भयाहि । अविह्वलं बन्धु सत्तहोदी कहेवि । (भवति । मा विमेहि ।
प्रतिक्रान्तं बन्धु तवभवती कथयति ।)

राजा—ततस्ततः ।

परिव्राजिका—ततो मुहूर्तं बद्धापुपास्ते पराङ्मुखीभूताः सार्धंबाह्योद्धारद्वारस्तस्करः ।

राजा—हन्त । हन्तः परं कथतरं श्रोतव्यम् ।

परिव्राजिका—ततः स भत्तीरव्यः

इमां परीप्सुर्दुर्जति परामिमवकाशराम् ।

मत्प्रियः प्रियैर्भर्तुरानृण्ययममुमिर्मयः ॥११॥

प्रयत्ना—हा हृषी सुमती । (यहो हन्तः सुमतिः ।)

शिवीया—तवो बन्धु हर्षं बहुवारिभाप समवस्था संवृत्ता । (ततः शक्तिव्यं भर्तृदारिकायाः
समवस्था संवृत्ता ।)

[परिव्राजिका श्रापं विवृण्वति ।]

राजा—भगवति ! तनुयज्जामोहशी लोकयात्रा । न श्रोच्यस्तप्रभवात्पक्षीकृतमर्तृदिग्धः ।
ततस्ततः ।

बाँधे हुए धोर हाथमें धनुष-बाण लिए हुए कुछ डाकू ऐसे लज्जकार्से हुए हमपर दूढ़ पड़े कि जगहे
सककर जीतना बड़ा कठिन हो गया ॥१०॥

[मातङ्गिका डरनेका नाट्य करती है ।]

विदूषक—डरिए मत देवी ! यह तो भीती हुई बातें आपको सुना रही हैं ।

राजा—तब, तब ?

परिव्राजिका—तब धोखी ही देरमे, व्यापारियोंके साथ चलनेवाले सब लड़ाकोंको बाधुप्रोने
मार मगाया ।

राजा—है, है । क्या इससे भी बढ़कर कुछ सदायी बात सुनानेवाली है ।

परिव्राजिका—तब मेरे भाईने उस विपत्तिमे शत्रुके आक्रमणसे घबराई हुई इन मातङ्गिकाको
बचानेके लिये अपने प्राण देकर अपने स्वामीका मार चुका दिया ॥११॥

पहली—धरे ! तो क्या सुमतिजी धारे गए ?

दूसरी—इसीसे हमारी राजकुमारी बेचारीकी ऐसी दुर्दशा हुई ।

[परिव्राजिका रोने लगती है ।]

राजा—भवयति ! सभी नाशवानु प्राणिमोको यह संसार इसी प्रकार छोड़ना ही पड़ता है,
घोर फिर जगहेने तो अपने स्वामीका घन्य सुफल कर दिया है, इसलिये उनके लिये रोना
चाहिए । हाँ, फिर क्या हुआ ?

परिवाजिका—ततोऽहं भीतमुपगता यावत्संज्ञा तमे तावद्विषं दुर्नगवशना संयुता ।

राजा—महत्प्राप्तिं कृत्वा मनुजैः भगवत्या ।

परिवाजिका—ततो भ्रातुः शरीरमाग्निमाकृत्वा पुनर्नयोऽकृतवैष्यदुःखमा मया त्वदीयं देशमवतीर्णं इमे बापाये गृहीते ।

राजा—पुत्रः सज्जनरयेव पत्न्याः । ततस्ततः ।

परिवाजिका—सेयमाटविकेयौ शीरसेनं शीरसेनाच्च देवौ गताः । देवीपूत्रे लक्ष्मप्रवेशमा मया धामगतरं दृष्टेत्येतद्वक्तानं कथायाः ।

मातृविक्रान्ति—[आश्चर्यवत्] किं तु यत्तु संघर्षं भूद्वा भण्यति । (किं तु यत्तु संघर्षं भर्ता भण्यति ।)

राजा—सहो परिभयोपहारिणो विमिश्रताः । युक्तः—

प्रेम्यभावेन नामेयं देवीशब्दश्चमा सती ।

स्नानीयवस्त्रक्रियया पत्रोर्णे वोपयुज्यते ॥१२॥

चारिणी—गच्छति । तु ए प्रमिज्जलवर्दि मातृविक्रान्तिं प्रत्यावृत्तन्ती ए प्रसंगं, किम् । (भगवति । स्वमाभिजयती मातृविक्रान्तिना चक्षुष्याऽप्राप्तं कृतम् ।)

परमात्रिका—तान्त्वं पापम् । केनचित्पत्न्यरत्नेन जलु मया मर्त्यं लभयतस्मिन् ।

चारिणी—किं विषयं तं कारणम् । (निमित्तं तत्कारणम् ।)

परिवाजिका—यह देखकर मैं भी मूर्छित हो गई और जब मुझे चेतता आई तो देखती क्या है कि मातृविक्रान्ति नहीं पता नहीं है ।

राजा—बड़ा बट्ट सापको मीनना पडा ।

परिवाजिका—तब अपने भाईके शरीरका अग्निम संस्कार करके अपने द्विभवावनके दुःखको फिर हटा करके मैंने आपके देशमें आकर येदमा रंगा लिया ।

राजा—गजनोंको यही चाहिए थी । फिर क्या हुआ ?

परिवाजिका—फिर शीरसेनने मातृविक्रान्ति को जल दाकुपोंसे धीनकर यहाँ देवीके पास पहुँचा दिया । यहाँ देवीने पास आनेपर ही मैंने इन्हें देखा । इतनी-सी ही मेरी कथा है ।

मातृविक्रान्ति—[अतः ही मन] देखें, महाराज इसपर क्या कहते हैं ?

राजा—देखा ? विपति धानेपर चित्ता घनाकर हो जाता है, क्योंकि जो सती कहलाने सोम राखी की, जगने दाखीपर नाम लिया जा रहा था । यह बात ठीक ऐसी ही हुई है जैसे कोई ऊनने कपड़ेसे देह पीछेनेवा नाम से ॥१२॥

चारिणी—भगवती । यह बात धिदावर अपने अण्डा नहीं किया कि मातृविक्रान्ति इतने ऊँचे पराभेनी है ।

परिवाजिका—नहीं, ऐसा न कहिए । मैंने बहुत समय-समयपर ही ऐसी विद्वदाई की थी ।

चारिणी—यह क्या बात थी ?

परिधाजिका—इयं पितरि जीवति केनापि देवयाग्रामेन सिद्धादेशकेन साधुना मत्समञ्ज-
समादिष्टा—घातं वत्सरमात्रमियं श्रेण्यभाषमनुभूय ततः सट्टशमर्तुं यामिमौ भविष्यतीति । तदेवं मा-
विनमादेशमस्यास्त्यक्त्वा वनुभूयया परिणमन्तमवेक्ष्य कासप्रतीक्षया मया साधु कृतमिति पश्यामि ।

राजा—युक्ता प्रतीक्षता ।

कञ्चुकी—देव ! कथान्तरेखान्तरितम् । अमात्यो विज्ञापयति—विदर्भगतमनुष्ठेयमनुष्ठितम-
भूत् । देवस्य ताम्रदभिप्रायं श्रोतुमिच्छामीति ।

राजा—मोक्षस्य । तत्रभवतोर्वंशसेनमाधमसेनयोर्द्वैराज्यमिदानीमवस्थापयितुकोमोर्झसि ।

तौ पृथग्भरदाकूले शिष्टानुत्तरदक्षिणे ।

नक्तं दिवं विमज्ज्योमौ शीतोष्णकिरणाविव ॥१३॥

कञ्चुकी—देव ! एषमसात्यपरिचये नियेयव्यभि ।

[राजाहगुल्फानुसंगते ।]

[निष्क्रान्तः कञ्चुकी ।]

प्रथमा—[जगान्तिकम्] भट्टदारिण । शिट्टिमा भट्टिमा भट्टिदारिणो मट्टरज्जे पट्टि-
गमइस्तदि । (भट्टुदारिके । दिष्ट्या मर्ता भट्टुदारकोऽप्यंराज्ये प्रतिष्ठा गमयिष्यते ।)

मानविका—एवं बाव जट्ट भणिवब्ध ज जीविदससमाधो मुत्तो । (एतस्मात्पुत्रमन्तव्यम् ।
मन्त्रीनितसप्तपान्मुक्तः ।)

परिधाजिका—जिन दिनों इनके पिता जीवित थे उन दिनों देवयाग्रामे एक ऐसा साधु आगमा
जो मायेकी बात बतलाया करता था । उसने मेरे भागे ही कहा कि—इसे एक वर्षतक तो दासी होकर
रहना पड़ेगा, पर उसने पीछे बड़े योग्य पतिसे इसका विवाह हो जायगा । जब मैंने देखा कि यह
मयिष्यवाणी भावके जरूरीकी सेवा करते हुए पूरी हो रही है तो मैं खुशी खाया गई और इसीलिये
मैं समझती हूँ कि मैंने अच्छा ही किया ।

राजा—यह घुप रहना अच्छा ही हुआ ।

कञ्चुकी—देव ! इस कथाके बीचमे एक बात छूट गई । मन्त्रीजीने कहाया है कि विदर्भके
लिये जो प्रणय करना था, वह सब कर दिया गया है, पर मैं महाराजको इच्छा भी जान लेना
चाहता हूँ ।

राजा—मोक्षस्य ! मैं चाहता हूँ कि मन्त्रसेन और भाषवसेन दोनों, बरदा नदीके उत्तर और
दक्षिण दोनों तटोंपर अपने अपने अलग-अलग राज बनाकर जैसे ही शुद्धसे राज करें जैसे सूर्य
और चन्द्रमा रात और दिनको आपसमे बाँटकर अलग-अलग चमकते हैं ॥१३॥

कञ्चुकी—मैं अमात्य-परिचयसे यही बात यह आता हूँ देव ।

[राजा जंगलीसे स्वीकृति दे देते ॥ कञ्चुकी खता जाता है ।]

पहली—[प्रसन्न] राजकुमारी ! यह बड़ी अच्छी बात हुई कि राजकुमारको महाराज भाये
रानपर बैठा रहे हैं ।

मानविका—यारे इतना ही बहुत समझो ॥ उनके प्राण बच गए ।

[प्रविश्य]

कञ्जुकी—विद्यमती देव । देव भगवाणो घिनापयति—कल्याणी देवस्य बुद्धिः । मन्त्रिपरि-
परोऽप्येतदेव दर्शनम् । कुन —

द्विधा विभक्तां श्रियमुद्वहन्तौ धुरं रथारवाविष संग्रहीतुः ।

तौ स्थास्यतस्ते नष्टेर्निदेशे परस्पररोपग्रहनिर्विकारी ॥१४॥

राजा—तेन हि मन्त्रिपरिषदं ब्रूहि—तेनाग्रे वीरसेनाय सेव्यतामेवं कियतामिति ।

कञ्जुकी—महासापयति देवः । [इति निष्क्रम्य सम्राट् सक सेन गृहीत्वा पुनः प्रविष्टः ।]
प्रनुष्ठिता प्रवीरता । अथ देवस्य सेनापतेः पुष्पमित्रस्य सभायास्तौसरीयसाम्राट् सक सेनः प्राप्तः ।
प्रमथोक्तोत्थेन देवः ।

[राजरोषाय सम्राट् सक सेनं सोपचार गृहीत्वा पश्चिमापार्ययति ।]

[परिजनो सेन नाट्येनोद्घाटयति ।]

मारिणी—[मात्मगतम्] अहो । तवोमृदं एष्य एव हि प्रथं । कुलसं दाप्य पुष्पस्यस्य कुलना-
स्तारं वसुमित्रस्य पुत्ततं । प्रतिपारे वसु पुत्तसो सेनापतिना शिञ्जली । [प्रहो । तवोमुद्यमेय नो
हृदयम् । शोष्मादि साधदुःकुलनस्य कुलनास्तारं वसुमित्रस्य वृत्तान्तम् । प्रतिपारे खलु पुत्रः
सेनापतिना निपुक्तः ।]

राजा—[उपदिश्य सेनं सोपचार गृहीत्वा वाचयति ।] स्वस्ति यत्तद्वरणासेनापतिः पुष्पमित्रो
वैदितार्थं पुत्रमापुष्पमित्रमित्रमित्रं स्नेहपरिष्वग्येवमनुवर्षयति । विवितमस्तु । वीरसौ

कञ्जुकी—[आकर] देवकी जय हो । देव ! भगवाणो ब्रह्माया है कि महाराजने बहुत ठीक
सोपा है और भगवान्-परिषद्की भी यही सम्पत्ति है, क्योंकि जैसे हममें बलनेवाले दो घोड़े
घारघोड़े हाथमें ठीकसे चलते हैं, वैसे ही महाराजकी देख-रेखमें ये दोनों भाई भी आपसका और
छोड़कर दो भागोंमें बँटि हुए, अपने राजको घुरेको बड़े सुस्ते संग्रह लकेंगे ॥१५॥

राजा—तो जाकर भगवान्-परिषदके कह दो कि सेनापति वीरसेनको निज भेजें कि वे देव
ही प्रस्थ कर दें ।

कञ्जुकी—जैही देवकी आज्ञा । [बाहर जाता है और भेंटके साथ पत्र लिए हुए फिर जाता
है ।] आपकी आज्ञा कह चुकाई । भीमानु सेनापति पुष्पमित्रके पाससे उत्तरीय धारि भेंटकी
सामप्रियोंके साथ-साथ पत्र भी धाया है । इसे महाराज देखनेकी कृपा करें ।

[राजा बैठकर बड़े आदरसे साथ भेंटकी सामप्रियों और पत्र लेकर अपने सेवकों के देते हैं ।
बहु उपासकी मोसनेका नाच करता है ।]

मारिणी—[अन ही मन] घरे ! मेरा जी भी इसे सुननेको छटपटा रहा है । वहाँका सुख
भगवाण सुनकर फिर वसुमित्रका सभाचार सुनीं । सेनापतिने मेरे बच्चेको बड़े घण्टका नाम
दौर दिया है ।

राजा—[बैठकर बड़े आदरसे पत्र लेकर पढ़ते हैं ।] आपका कल्याण हो । विदितार्थे प्राप्त
हूँ । वीरवीरो पुत्र प्रणिमित्रो स्नेहमे वने भेंटकर अश्वमेध यज्ञकी दीक्षा लिए हुए
सेनापति पुष्पमित्र सिंग रहे हैं—हम यह बताना चाहते हैं कि अश्वमेधकी दीक्षा लेकर मैंने

राज्यतदीक्षितेन मया राज्यपुत्रसत्परिवृत्य यमुनिष्य गोक्षारमादिभ्यः वत्सरोपासनिधमो निरर्गल-
स्तुरङ्गो विमृष्टः स तिन्योर्दक्षिणरोपसि चरन्मृगान्तोकेन यवमेन प्रार्थितः । ततः जनयोः
सेनयोर्महानासीरसमर्षः ।

[देवी विषाद नाटयति ।]

राजा—कवचीदृश संवृत्तम् । [शेष पुनर्वाचयति ।]

ततः परान्पराजित्य वसुभिर्वेष धन्विना ।

प्रसह्य हियमाणो मे वाजिराजो निर्विततः ॥१५॥

पारिणी—इमिला प्राप्तसिध मे हिमम् । [भनेनाक्ष्वस्त मे हृदयम् ।]

राजा—[शेष पुनर्वाचयति ।] सोऽहमिदानीमशुभता सगरपुत्रेणैव प्रमादताभ्यो पश्ये ।
तद्विदानीमशुभताहेन विगतरोषजेतसा भवता यजुजनेन सह यज्ञसेवनायागन्तव्यमिति ।

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि ।

परिप्राजिका—विप्राया पुत्रविजयेन वम्बतो वर्धते ।

भर्त्रासि वीरयत्नीनां स्लाभ्यानां स्थापिता धुरि ।

वीरसुरिति शब्दोऽयं तनयात्त्वामुपस्थितः ॥१६॥

पारिणी—भगवति ! परितुङ्गिह क पितरं अशुजादो मे वन्द्यमी । [भगवति ! परि-
तुष्टासि परितरमनुजातो मे वरसक ।]

एक वर्षकी प्रवधि बाँधकर जो सुना मोटा छोटा था और जिसकी रक्षाके लिये सैकड़ों
राजकुमारोंके साथ वसुभिषको भेजा था, वह थोड़ा जब सिंधु नदीके दक्षिण तटपर चर
रहा था तो घुहसवार सेनाके एक यवनने उसे पकड़ लिया । इसपर दोनों सेनाप्रीमें बड़ी
पनधोर लड़ाई हुई ।

[देवी दुःखी होनेका नाट्य करती है ।]

राजा—प्रदे ! क्या यहीतक बात बड़ गई ? [बला हुआ फिर बोलता है ।] तब अनुप-
कारी वसुभिषने बड़ी वीरतासे अनुधीको मार भगाया और छिने हुए घोड़ोंकी फिर लौटा
लिया ॥१५॥

पारिणी—अब, मेरे जीमे जी आया ।

राजा—[बला हुआ फिर पढ़ता है ।] इसलिये अंसे अनुपान द्वारा मोटा सुहा खाने
पर सगले यज्ञ किया था, वैसे ही मैं भी यज्ञ कर रहा हूँ । इसलिये अब तुम तत्काल शाश्वतचित्त
होकर अनुधीको साथ लेकर यज्ञ देखनेके लिये चले आओ । वर इतना ही ।

राजा—बड़ी कृपा हुई मुझपर ।

परिप्राजिका—पुत्रकी विजयके लिये आप दोनोंको बधाई है । अबतक आप संसारकी
सब प्रशस्तनीय वीर पत्नियोंकी शिरमौर थी, पर आपके पुत्रने आपके आसके साथ वीर-
मताको मदवी भी जोड़ दी है ।

पारिणी—भगवती ! मुझे तो यही सुख है कि मेरा बच्चा पिताके समान ही पराक्रमी
निकला ।

राजा—मोदुगत्स्य । ननु कलमेन यूपधतेरनुकृतम् ।

कञ्जुकी—देव । अयं कुमारः—

नैतापता वीरविवृम्भितेन चित्तस्य नो विस्मयमादधाति ।

यस्याप्रधृष्यः प्रमवस्त्वमुच्चैरग्नेरपां दग्धुरिवोरुजन्मा ॥१७॥

राजा—मोदुगत्स्य । यज्ञसेवयाप्तपुरीकृत्य मोक्षयन्तां सर्वे बन्धनस्थाः ।

कञ्जुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः ।)

पारिणी—अयसेने । गच्छ । इरावतीपमुहासं अग्रेपुरासं पुतस्तं पुतन्तं शिवेदेहि ।
(अयसेने ! गच्छ । इरावतीपमुदेकशोऽप्यु पुरेभ्यः पुत्रस्य वृत्तान्तं निवेदय ।)

[प्रतीहारो प्रस्थिता ।]

पारिणी—एहि वाय । (एहि तावत् ।)

प्रतीहारो—[प्रतिनिवृत्त्य ।] इमं मिह । (इयमस्मि ।)

पारिणी—[जनान्तिकम्] जं मय अतोऽद्योहलसिमोए मालविकाए पद्मलतां तं ते अभिजणं च शिवेदिमं महं बभ्रणेण इरावदिं पद्मलोहि—पुए अहं सचचारो ॥ शिवमसि-
दधेति । (यमपदाशोकदोहदनिवोने मालविकार्यं प्रतिज्ञातम् तदस्या अभिजनं च निवेद्य मम
वचनेनेरायतीमनुनय—सत्यान्तं विप्रं दधितम्येति ।)

प्रतीहारो—अं देवी मालवेदि । [इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य] भट्टिणि ! पुतविज-
न-

राजा—मोदुगत्स्य ! उद्युक्त इह हाथीके बन्धने तो हाथियोंके नापकका काम कर जाता ।

कञ्जुकी—देव ! कुमारकी इस बीरतासे मुझे कोई बड़ा भयजन नहीं हो रहा है, क्योंकि जैसे समुद्रको जला दाननेवाले बटवानका जग उदरजमा (भीर) ज़ादिसे हुआ है वैसे ही इनका भी जग्न आपसे हुआ है जो भावतक किसीसे नहीं हारे हैं ॥१७॥

राजा—मोदुगत्स्य ! जाओ, यज्ञसेनके सानेके साथ-साथ और भी मिलने इन्दी हों उसको लोड़ दो ।

कञ्जुकी—देवकी जैता जाता । [पदा जाता है]

पारिणी—जाओ, अयसेना । इरावती मादि रतिवासकी सब रागियोंसे हमारे पुत्रके विषयसे बात कह तो जाओ । [प्रतीहारो जाना चाहती है ।]

पारिणी—धोर गुनी !

प्रतीहारो—[छोटकर] जो कहिए ।

पारिणी—[अन्य] देखो ! अगोकरके पूजनेके लिये मैंने मालविकासे जो प्रतिज्ञा की थी वह बात धोर इनके ऊँचे धरानेकी बात कहकर मेरी ओरसे इरावतीसे विनय करता कि देखो ! यह आप कोई ऐसी बात न कर दें कि मुझे धरने वचनसे हटना पड़े ।

प्रतीहारो—बेसी देखोसे जाता । [बाहर जाकर फिर आ जाती है ।] स्वामिनो ! आपके

लिमितेण परितोतेण अन्तेवराणं आहरणाणं मञ्जुतामि संवृता । (यदेव्याज्ञापयति । भट्टिनि । पुनर्विजयनिमित्तेन परितोवेशान्तपुराणानामभरणाना मञ्जुपासि संवृता ।)

पारिलो—एवं किं भञ्जवरिषं । साहारणो तासं भट्ट अममं अममुदपो । (एतकि-
मात्रयम् । सपधारणः सन्तु तासा मम चायममुदयः ।)

प्रतीहारी—[जनान्तिकम्] भट्टिलो ! इरावती जग किण्णवेदि—सरितं देवीए पहुवन्तीए ।
सुता यमणं संकपिणं ए ज्ञञ्जदि अण्णहा कादुं ति । (भट्टिनि ! इरावती धृतविज्ञापयति—सहस्रं
देव्याः प्रभवन्त्याः । तव वचनं संकल्पित न युज्यतेऽन्यथाकर्तुमिति ।)

पारिलो—भञ्जदि ! तुए अण्णमहा इण्णमि अण्णसुमदिहा पवमसंकपिणं मासविमं
अण्णजसरा पडिवादेदुं । (भगवती । रत्नानुमतेच्छाम्यार्यमुमतिना प्रथमतःकल्पिता मासविकामार्य-
पुत्राय प्रतिपादयितुम् ।)

परिधाजिका—इरानोमपि त्वमेवास्याः प्रभवसि ।

पारिलो—[मासविकामं हस्ते गृह्णत्या ।] इवं अण्णजत्तो पिमणिवेवणाण्णुणं पारितोसिणं
पडिण्णदु ति । (इदमार्यपुत्रः प्रियनिवेदनानुसृत्य पारितोषिकं प्रतीच्छति ।)

[राजा श्रोत्रं नाटयति ।]

पारिलो—[सस्मितम्] किं अण्णधीरेहि अण्णजत्तो । (किमवयीरवाचार्यपुत्रः ।)

विदूषकः—भोदि । एसी लोमण्वमहारो । सण्णो राववरो सज्जादुरो होदि ति । (भवति ।
एष लोकव्यवहारः । सर्वो मन्वरो सज्जादुरो भवतीति ।)

[राजा विदूषकमवेक्षते ।]

पुष्पकी विजय मुनकर मुन्कर पुरस्कारों की इतनी खोजार हुई कि मैं रजियासके गहनोंकी पिढारी
ही बन गई हूँ ।

पारिलो—इसमे अपरधकी क्या बात है, इससे तो जगका भोर मेरा दोनोंका लाना ही
गौरव है न ।

प्रतीहारी—[प्रसन्न] स्वामिनी ! इरावतीमे यह भी कहनाथा है कि आपने अपने गौरवके
मनुष्य ही बात सोची है । जो कुछ आप कह चुकी हैं उसे पूरा कोजिए ।

पारिलो—भगवती ! आर्य मुमतिने आर्यपुत्रसे मासविकाका विवाह करानेका जो पहले
विचार कर रखा था उसे मैं आपकी सम्मतिसे पूरा कर देना चाहती हूँ ।

परिधाजिका—अब भी तो आप ही इनकी सब कुछ हैं ।

पारिलो—[मासविकाका हाथ पकड़कर] आर्यपुत्र ! कुमारकी विजयका प्यारा समानार
मुनानेका यह प्यारा पारितोषिक तो लीजिए ।

[राजा सजा बाँधे हैं ।]

पारिलो—[मुनकराकर] क्या आर्यपुत्र मेरे भेंट नहीं स्वीकार करना चाहते ?

विदूषक—देवी ! यह तो लोक व्यवहार दिखा रहे हैं । सभी मने हूँ ऐसे समय सज्जाया
ही करते हैं ।

[राजा विदूषककी ओर देखते हैं ।]

विदूषकः—यह देवीए एखु किदम्पणअवितेसं दिण्णदेवीसहं मालवित्रं अत्तमयं पट्टिताहीनुं इच्छदि । (भय देव्यैव कृतप्रणयविशेषां दत्तदेवीसम्बद्धा मालविकामित्रभवाप्रतिग्रहोत्तुमिच्छति ।)

धारिणी—एवाए राजदारिकाए अहिज्जेण एख दिण्णो देवीसहो कि पुनस्सतेण । (एतस्या राजदारिकाया अभिजनेनैव दत्तो देवीसम्बद्धः कि पुनस्सतेन ।)

परिभाजिका—मा भयम् ।

अप्याकरसमुत्पन्नो रत्नजातिपुरस्कृतः ।

जातरूपेण कल्पाणि ! मण्डिः संयोगमर्हति ॥१८॥

धारिणी—[स्मृत्वा] गरिसेवु भयवतो । भग्मुदयकहाए जइव ए तविसई । जमसेरो । मय्य बाव । कोसेअपत्तोएणउपस उअरोहि । (मय्ययतु भगवति । भग्मुदयकव्योचित न तस्मिन् ।)

प्रतीहरी—अं देवी आणवेरि । [इति निष्क्रम्य पत्रोच्छं गृहीत्वा पुनः प्रविश्य] देवी ! एरम् । (गृहस्थाज्ञापयति । देवि । एतद् ।)

धारिणी—[मालविकामित्रमुत्पन्नवती कृत्वा] भयवतो । बाणि इयं पविच्छतु । (धार्य-पुन । इदानीमिमा प्रतीच्छतु ।)

राजा—एवञ्चात्तनअप्रवृत्ता एय वयम् । [अपवायं] इत्थं प्रतिगृहीता ।

विदूषकः—महो देवीए अरुक्कलडा । (महो देव्या अनुकूलता ।)

[देवी परिजनमवलोकयति ।]

विदूषक—अजि मालविकाको महाराणीने ही इतने प्रेमसे देवी बना दिया है, उन्हें महाराज यहाँ न स्वीकार कर देंगे ।

धारिणी—इन राजकुमारीके ऊँचे घरानेके ही इन्हें रानी बना दिया है । उसे दुहरानेकी क्या बात है ।

परिभाजिका—नहीं ऐसी बात नहीं है । जानते निकले हुए सबसे अच्छे मण्डिको भी सोनेमें जड़नेकी आवश्यकता तो पड़ती ही है ॥१८॥

धारिणी—[कुछ स्मरण करके] क्षमा कीजिए भगवती ! कुपारकी इस विषयके हवासेमें एक बड़ी आवश्यकता बात तो मैं भूल ही गई । जयसेना ! आ, उन्नी रेशमी जोडा तो ले आ ।

प्रतीहारी—जैसी देवीकी आज्ञा । [जाती है और बरत लेकर फिर आती है] यह कीजिए देवी !

धारिणी—[मालविकाके चिरपर उठाकर] धार्यपुन ! अब इसे स्वीकार कीजिए ।

राजा—आप जो कहेंगी, वह तो मानना ही पड़ेगा । [धार्य] प्रजो मैं तो इसे पहले ही स्वीकार कर चुका हूँ ।

विदूषक—वाह ! महाराणी भी कंठो अच्छी हैं ।

[रानी दासियोंकी ओर देखती है ।]

प्रतीहारी—[मानविकाबुपेत्य ।] जेडु भट्टिणी । (जयतु भट्टिनी ।)

[देवी परिव्राजिका निरीक्षते ।]

परिव्राजिका—नैतच्छिवं त्वयि ।

प्रतिपक्षेणापि यतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः ।

११ ; अन्यसरितामपि जलं समुद्रगाः प्रापयन्त्युदधिम् ॥१६॥

[प्रविश्य]

निपुणिका—जेडु भट्टा । इरावती विण्णवेदि—जं उवधारतिक्कुमेष तदा भट्टिणी प्रवरद्धा तं तर्षं एवमं भत्तुखो भग्गुज्जलं शाम मए आधरिअं । संगदं पुण्णमखोरुहेअ भत्तुखा पसाइमसेअ संभावइअवेति । (जयतु भर्ता । इरावती विप्रापयति—यदुपचारतिक्कमेअ तदा भर्ते प्रपराद्धा तत्समयेव भर्तुरुज्जस नाम मयापरितम् । साव्रतं पूखंमनोरपेन मर्वा प्रसावमाअेअ संभावितअवेति ।)

धारिणी—एण्डणिए । मयस्सं से सेविदं मज्जउत्तो जाणित्तसिदि । (निपुणिके ! प्रवरय मरुपः सेवितमार्थपुत्रो ज्ञास्यति ।)

निपुणिका—अण्णमहीदम्हि । (भनुएहीतासिम् ।)

परिव्राजिका—देव । ममुमा पुत्तसंगपेन चरितार्थं मायवसेनं सभाजयितुं गच्छामः ।

धारिणी—अमवदीए अ जुत्तं मग्गे हरिअइअं । (भगवत्या न मुत्तनस्मात्परिचरतुम् ।)

राजा—भगवति । मदीयेअेव सेलेपु तअभयतस्सामुद्दिअ्य सभाजनाअराणि पातयिअ्मामः ।

प्रतीहारी—[मानविकाके पास जाकर] स्वामीकी जय हो ।

[महाराजो परिव्राजिकाको ओर देखती हैं ।]

परिव्राजिका—आपकी यह उदारता देखकर मुझे तनिक भी अचरज नहीं हुआ । क्योंकि पतिको प्यार करनेवाली स्त्रियाँ अपने लिये हीत लाने की पतिका मन रखना करती हैं । देखिए, समुद्रमें जानेवाली नदिवाँ अपने साथ साथ दूसरी नदियोंका पानी भी समुद्रमें पहुँचा देती हैं ॥१६॥

निपुणिका—[आकर] स्वामीकी जय हो । इरावतीजीमें कहलाया है कि मैंने महाराजाकी बात न मानकर जो अपराध किया था, वह सब जान-बूझकर महाराजका काम बनानेके लिये ही रूपक रचा था । अब तो महाराजके मनकी साथ पूरी हो गई है । इसलिये आशा है आप मुझे प्रवरय क्षमा कर देंगे ।

धारिणी—मरी-निपुणिका ! उन्होंने मार्थपुत्रकी जो सेवा की है उसका ध्यान रखेंगे ।

निपुणिका—बड़ी छपा है ।

परिव्राजिका—देव ! इस सुन्दर विवाह-सम्बन्धको सुनकर मायवसेन तो फूले न समाचेंगे । इसीलिये मैं उन्हें यथाई देनेके लिये जाना चाहती हूँ ।

धारिणी—हमें छोड़कर आपका जाना ठीक नहीं है ।

राजा—भगवती ! हम अपने ही पत्रमें आपकी ओर से कवाई लिखाकर भिजवा देंगे ।

परिजातिका पुष्पवोः स्नेहात्परवानम् जनः ।

चारिली — प्रज्जलत ! किं ते सुप्तेषु वि पिप्रं ज्वहरामि ।

पार्यपुत्र ! किं ते भूयोऽपि प्रियमुपहरामि ।)

राजा—

त्वं मे प्रसादसुमुखी ! भव देवि नित्यमेतावतेव हृदये प्रतिपालनीयम् ।

तथापीवमस्तु ।

(भरतवाक्यम्)

आशास्यसीतिविगमप्रभृतिप्रजानां संपत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे ॥२०॥

. [इति निरुक्तान्ताः सुप्ते ।]

॥ इति पञ्चमोऽङ्कः ॥

॥ समाप्तमिदं श्रीकालिदासकृतो मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकम् ॥

परिजातिका — मैं तो आप दोनोंके स्नेहमें बँधी ही हुई हूँ ।

चारिली — पार्यपुत्र ! क्या मैं आपकी कुछ चीर मतवाही बात कर सकती हूँ ।

राजा— देवि ! मैं तो बस इतना ही चाहता हूँ कि तुम सदा मुझपर प्रसन्न रहो ! फिर भी इतना भीर हो जाय कि —

[भरतवाक्य]

जबतक अग्निमित्र राज्य करें तबतक सबकी अवामें किसी प्रकारके उपद्रव यादि न हों ॥२०॥

[सब चले जाते हैं ।]

॥ पाँचवाँ अङ्क समाप्त हुआ ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासका रचा हुआ मालविकाग्निमित्रम् नामका नाटक पूरा हुआ ॥

❀ श्रीमन्महाकविकालिदास-नाटक-प्रशस्तिः ❀

‘काव्ये नाटकमस्ति रम्यरुचिरं तत्रापि शाकुन्तलम्’

इत्सुर्कं रसिकैर्वचोऽतिललितं भूयो विवेक्तुं न्विदम् ।

श्रीमन्महाकविकालिदाससत्सन्नाटकधोच्छलत्

स्वर्वाशीरसनाऽमृतं सरसयत् सम्मोदयेत्संसृतिम् ॥

—श्रीशः ।

[‘काव्योमें नाटक ही सुन्दर होता है और नाटकोमें अभिज्ञान शाकुन्तल ही सबसे सुन्दर है, यह बात रसिकोंने बड़ी सचची कही है, पर ये इस बातको ठीक-ठीक स्पष्ट नहीं कर पाए कि काव्यमें नाटक ही यही सुन्दर होता है । इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये अभिज्ञान-शाकुन्तलके साथ साथ महाकविकालिदास तथा विक्रमोर्वशीय नाटक भी प्रस्तुत किए जा रहे हैं कि इनमें छलकता हुआ सत्कृतका मधुर ममृत दृष्टिके सब प्राणिमोको इतना रसमग्न कर दे कि लोगोंको ससारके और दूधने काव्योंको पढ़नेकी मुय ही न रह जाय ।]

—श्री ईशदत्त पाण्डेय ‘श्रीश’

तीसरा खण्ड

महाकवि कालिदासकी रचनाओंके सन्मग्यमे समष्टि रूपसे प्रपन्ना उनके किसी विशिष्ट ग्रन्थ प्रपन्ना किसी विशिष्ट पक्षपर विभिन्न विद्वानोंने जो पांडित्यपूर्ण विचार दिये हैं, उन्हींका संग्रह आगेके लेखोंमें किया गया है। प्रस्तुत महाकवि कालिदासके ग्रन्थोंमें आए हुए व्यक्तियों, वस्तुओं, स्थानों आदिका अभिधान कोपमे परिचय है और कालिदास-कालीन भारत का मानचित्र है।

समीक्षा-निबन्ध

—निबन्ध-सूची—

१. विक्रमादित्य—डा० राजबली पाडेय, एम० ए०, बी० लिट् ।
२. विक्रम और उनके नवरत्न—स्व० श्री ईशवत पाडेय “वीर” साहित्याचार्य, साहित्यरत्न ।
३. कालिदासके पन्नोंकी उपादेयता—प० सीताराम जयराम जोशी, एम० ए०, साहित्याचार्य ।
४. कालिदासके शब्द-प्रयोग—पं० पद्मिनीप्रसाद उपाध्याय, व्याकरणशास्त्र ।
५. कालिदासके कवियुक्तियों की पूर्णता—स्व० श्रीमन्मन्मथप्रसादाचार्य श्रीदामोदरदासजी गोस्वामी ।
६. कालिदासकी कृतियाँ—डा० चमरनाथ झा, एम० ए०, बी० लिट् ।
७. कालिदासका संदेश—प० बलदेव उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य ।
८. कालिदास और प्रकृति—प० कल्याणप्रति त्रिपाठी, एम० ए०, व्याकरणशास्त्र, बी० टी० ।
९. निरर्णककथा काकुत्स्ता—डा० वेत्सेनवर, पूजा ।
१०. पौषवासिष्ठके सिद्धांत—डा० श्री० सा० आश्रम, एम० ए०, बी० लिट् ।
११. जपना कालिदास—डा० गोदे, पूजा ।
१२. कालिदासकी छन्दबोजना—प० रामगोविन्द दुक्त, व्याय-व्याकरण-साहित्याचार्य ।
१३. अभिधान-कोष—(कालिदासके काव्योंमें आए हुए शब्दों, शीबों,
वस्तुओं और स्थानोंका परिचय) ।
१४. कालिदास-सम्बन्धी लेखों और समीक्षाओंकी तालिका—डा० रामधुमार बीबे, एम० ए० ।

विक्रमादित्य

[डा० राजवती पाण्डेय, एम्० ए०, डी०, लिट्०]

जनश्रुति

मर्षाबापुरुषोत्तम राम और कृष्णके पश्चात् भारतीय जनताने जिस शासकको अपने हृदय-
तिहासनपर आरुढ़ किया है वे विक्रमादित्य हैं। उनके प्रादुर्भूत नाम और लोकाराधनकी कहानियाँ
भारतवर्षमें सर्वत्र प्रचलित हैं और आबालवृद्ध सभी उनके नाम और वंशसे परिचित हैं। उनके
सम्बन्धमें यह प्रसिद्ध जनश्रुति है कि वे उज्जयिनीनाथ मन्धर्वसेनके पुत्र थे। उन्होंने पाँचोंको
परास्त करके अपनी विजयके उपलक्ष्यमें सबकुछ प्रवर्तन किया था। वे स्वयं काव्यमर्मज्ञ तथा
कालिदास आदि कवियोंके आश्रयदाता थे। भारतीय ज्योतिष गणनासे भी इस बातकी पुष्टि
होती है कि ईसासे ३७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्यने विक्रम-संवत्का प्रचार किया था।

मनुश्रुति

भारतीय साहित्यमें भक्ति मनुश्रुतिने भी उपर्युक्त जनश्रुतिकी किसी न किसी रूपमें स्वीकार
किया है। इनमेंसे कुछका उल्लेख नीचे किया जाता है—

(१) मनुश्रुतिके अनुसार विक्रमादित्यका प्रथम उल्लेख गायकान्तशतीमें इस प्रकार
मिलता है—

सबाहण सुहरत तोसिएण दमैल्लुहकरे सबसम् ।

असखेण विक्रमादित्तपरिभ अणुसिधिसय तिससा ॥३॥६४

इसकी टीका करते हुए गदाधर तिलके हैं—“पक्षे सबाहण सबाधनम् । सबाधनं सदा ।
विक्रमादित्योऽपि भूयःकृत्यैव अत्रसुखायैव नृपुः सः भूयःकरे सदा । वज्राग्निप्रयत्नः ।”
इससे यह प्रकट होता है कि गायकान्ते रचना वालोंमें यह बात प्रसिद्ध थी कि विक्रमादित्य नामक
एक प्रतापी तथा उदार शासक थे जिन्होंने शत्रुघोषर विजय पानेके उपलक्ष्यमें भूयोंको लालोका
उपहार दिया था। गायकान्तशतीका रचयिता सातवाहन राजा हान प्रथम शताब्दि ईस्वीमें हुआ
था। परंतु विक्रमादित्यकी ऐतिहासिकता इसके पूर्व ही सिद्ध होती है। इस ऐतिहासिक तथ्यका
प्रतिपादन महागहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्रीने बली भाँति किया था। (एशियाटिका इण्डिका,
वॉल्यूम १२, पृ० ३२०)। इसके विरुद्ध डा० देवदत्त रामकृष्ण आचार्यकरने गायकान्तशतीमें
यात्रा हुए ज्योतिषके सकेतोके आधारपर कुछ आपत्तियाँ उठाई थीं (भाष्यारकर स्मारक ग्रन्थ,
पृ० १८७-१८९ किन्तु इनका निराकरण प० म० प० गोरोचनकर होराचद मोहाने बली भाँति
कर दिया है (प्राचीन लिपिमाला, पृ० १६८)।

(२) जैन पश्चित मेरुगुप्ताचार्ये रचित पद्मावलीमें लिखा है कि नमोवाहनके पश्चात् गर्दभिल्लने उज्जयिनीमें तेरह वर्षतक राज्य किया। उसके पत्न्याचार्यके कारण कासकाचार्यने शकोको युवाकर उसका उन्मूलन किया। शकोने उज्जयिनीमें चौदह वर्षतक राज्य किया। इसके पश्चात् गर्दभिल्लने पुनः विक्रमादित्यने शकोसे उज्जयिनीका राज्य छीटा लिया। यह घटना महावीर निर्वाणके ४७०वें वर्षमें (४२७-४७०=४७ ई० पू०) हुई। विक्रमादित्यने साठ वर्षतक राज्य किया। उनके पुत्र विक्रमचरित उपनाम वर्मादित्यने ४० वर्षतक शासन किया। तत्पश्चात् भैरव, गैरव तथा माहवने क्रमशः ११, १४ तथा १० वर्ष राज्य किया। इस समय महावीर-निर्वाणके ६०४ वर पश्चात् (६०३-६२७=७८ ई० पू०) तक सबका प्रवर्तन हुआ।

(३) प्रम-रकोपके अनुसार महावीर-निर्वाणके ४७० वर्ष पश्चात् (४२७-४७०=४७ ई० पू०) विक्रमादित्यने सबका प्रवर्तन किया।

(४) धनेश्वरदूरी विरचित शत्रुक्षय महात्म्यमें इस बातका उल्लेख है कि वीर (महावीर) सवत्के ४६९ वर्ष बीत जाने पर विक्रमादित्यका प्रादुर्भाव हुआ। उनके ४७७ वर्ष पश्चात् शिला-दिप अथवा शील शासन करेगा। इस प्रयोग की रचना ४७७ विक्रम सवत्में हुई जब कि बलभीके राजा शिलादित्यने सुराष्ट्रसे दौड़ोको सट्ट कर कई तीर्थोंको अपने सोटा लिया था। (देखिए हा० भावदा जी, जर्मन ग्रीक बीम्मे एशियाटिक सोसाइटी, जिल्द ६, पृ० २६-३०)।

(५) सोमदेव बृह-विरचित कथामरिसागर (अध्याय १८, तरंग १) में भी विक्रमादित्यकी वया बताती है। इसके अनुसार विक्रमादित्य उज्जयिनीके राजा थे। इसके पिताका नाम महेन्द्रादित्य तथा माता का नाम मौम्यदर्शना था। महेन्द्रादित्यने पुत्रकी कामवाससे शिवकी प्राराम्भना की। इस समय पृथ्वी स्तेच्छाकांत थी। धन, इसके बालके लिये देवताप्रोदने की शिवसे प्रार्थना की। शिवजीने अपने गण मान्यवान्को^१ युवाकर कहा कि पृथ्वीका उद्धार करनेके लिये तुम मनुष्यका व्यवहार लेकर उज्जयिनी नाम महेन्द्रादित्यके यहाँ पुत्र रूपसे उत्पन्न हो। पुत्र उत्पन्न होनेपर शिवके आदेशानुसार महेन्द्रादित्यने उसका नाम विक्रमादित्य तथा उपनाम (शत्रु संहारक होनेके कारण) विषमशील रखा। बालक विक्रमादित्य पढ़ लिखकर सब शास्त्रोंमें पारंगत हुए और राज्यविक्रम होनेपर उसका अभिषेक किया गया। वे बड़े ही प्रजावत्सल राजा हुए। इसके विषयमें लिखा है—

॥ पिता पितृहीनानां बन्धुवाच स मान्यवः ।

अनाथानां च नाथ स प्रजानां च स माधवः ॥१८॥१६६

[वे पितृहीनोंके पिता, बन्धुरहितोंके बन्धु और पनाथोंके माधव हैं। प्रजाने वो वे सर्वेश्वर हो थे।] हमने मननर विक्रमादित्यकी विस्तृत विजयो और प्रसूत कृत्योंका प्रतिरजित वर्णन है।

कथामरिसागर अपेक्षाकृत अर्धशतक पुराने हुए भी खेमेन्द्रतिमित बृहत्सामाजरी और धनगोमरा मृदलया (गुलाब्ज रचित) पर व्यवस्थित है। गुलाब्ज सातवाहन राजाका समकालीन था जो विक्रमादित्यके लगभग १०० वर्ष पीछे हुआ था। अतः, सोमदेव द्वारा कथित घटन्युक्ति । कथा ऐतिहासिक शैलीमें 'मय' से कथ-तत्र और 'मान्यवान्' से मानव नामिका अभ्यास मिलता है।

विक्रमादित्यके इतिहासमें सर्वथा धननिष्ठ नहीं हो सकती। सोमदेवके मन्वन्तरमें एक और बात ध्यान देनेकी है। वे उज्जयिनीके विक्रमादित्यके प्रतिरिक्त एक दूसरे विक्रमादित्यको जानते हैं जो पाटलिपुत्रका राजा था। 'विक्रमादित्य इत्यासीक्षाना पाटलीपुत्रके' (सम्बन्ध ७, सर्ग ४)। इसलिये जो प्राधुनिक ऐतिहासिक समझाविय पाटलिपुत्र-नाथ गुप्त सम्राटोंको केवल उज्जयिनीनाथ विक्रमादित्यमें समझते हैं वे अपनी परम्परा और धनधुतिके साथ बसाकर करते हैं।

(६) दार्शनिकपुस्तिका, राजावनी आदि ग्रन्थों तथा राजपूतानेमें प्रचलित (टीडके राजस्थानमें संरक्षित) धनुष्युक्तियोंमें उज्जयिनीनाथ अकारि विक्रमादित्यकी अनेक कथाएँ मिलती हैं।

साधारण जनताकी जिज्ञासा इन्हीं अनुयुक्तियोंसे तृप्त हो जाती है और वह परम्परासे परिचित लोक-प्रसिद्ध विक्रमादित्यके सम्बन्धमें अधिक मन्त्रपात्र करनेकी चेष्टा नहीं करती। किन्तु प्राधुनिक इतिहासकारोंके लिये केवल धनुष्युक्तिका प्रमाण पर्याप्त नहीं। वे देखना चाहते हैं कि अन्य साधनों-जारा प्राप्त इतिहाससे परम्परा और धनुष्युक्तिकी पुष्टि होती है या नहीं। विक्रमादित्यकी ऐतिहासिकताके सम्बन्धमें वे निम्नलिखित प्रश्नोंका समाधान करना चाहते हैं—

ऐतिहासिक प्रश्न—

(१) विक्रमादित्यने जिस संवत्का प्रवर्तन किया था उसका प्रारम्भ कबसे होता है ?

(२) क्या प्रथम शताब्दि ई० पू० में कोई प्रसिद्ध राजवंश यथा महापुरुष मालवा प्रान्तमें हुआ था या नहीं ?

(३) क्या उस समय कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना हुई थी जिसके उपसङ्गमें संवत्का प्रवर्तन हो सकता था ?

इन प्रश्नोंको लेकर अत्यन्त प्रायः जो ऐतिहासिक अनुसंधान होते रहे हैं उनका सारांश संक्षेपमें इस प्रकार दिया जाता है—

(१) यद्यपि ज्योतिष-गणनाके अनुसार विक्रम संवत्का प्रारम्भ ३७ ई० पू० में होता है किन्तु ईसावी प्रथम शताब्दिमें उपाधिर्योक्त साहित्य तथा उल्लेखों देखीये इस संवत्का कहीं प्रयोग नहीं पाया जाता। मानना प्रान्तमें प्रथम स्थानीय संवत् मानवराज स्थिति-काल था जिसका पता मगधोत्तर प्रदेश-क्षेत्रमें लगा है— मानवाना गणस्थिता याते शतवत्सुष्टये। (पञ्चटः—गुप्त उल्लेखों से। स० १८) यह लेख पाँचवीं शताब्दि ई० का है।

(२) प्रथम शताब्दि ई० में किसी प्रसिद्ध राजवंश यथा महापुरुषका मालवप्रान्तमें पता नहीं।

(३) इस कालमें कोई ऐसी क्रांतिकारी घटना मालवप्रान्तमें नहीं हुई जिसके उपसङ्गमें संवत्का प्रवर्तन हो सकता था।

उपर्युक्त मोक्षोंमें यह परिणाम निकाला गया है प्रथम शताब्दि ई० पू० में विक्रमादित्य नामक कोई शासक नहीं हुआ। उदात्तविक्रमादित्य कल्पना-प्रसूत है। संभवतः मालवसंवत्का प्रारम्भ ई० पू० प्रथम शताब्दिमें हुआ था। पीछेसे विक्रमादित्य उपाधिधारी किसी राजाने अपना विदर इसके साथ जोड़ दिया। इस प्रकार संवत्के प्रवर्तक विक्रमादित्यकी ऐतिहासिकता बहुतसे विद्वानोंके मतमें सिद्ध हो जाती है। इस प्रक्रियाका फल यह हुआ कि कतिपय प्राच्यविद्या-

विचारदोने प्रथम दत्तादि ई० पू० के लगभग इतिहासगत प्रसिद्ध राजाओंको विक्रम-संवत्का प्रवर्तन मित्र करनेकी चेष्टा प्रारम्भ की।

आनुमानिक मत—

(१) कर्गुसनने एक विविध मतका प्रतिपादन किया। उनका कथन है कि जिसको ५७ ई० पू० में प्रारम्भ होनेवाला विक्रम संवत् चले है वह वास्तवमें ३४४ ई० में प्रचलित किया गया था। जयगिरीने राजा विक्रम हर्षन ३४४ ई० में मसज्जोकी (शकोकी) कोरुरके युद्धमें हराकर बिजयके उपसङ्गमें संवत्का प्रचार किया। इस संवत्को प्राचीन और आदरणीय बनानेके लिये हर्षका प्रारम्भकाल ६×१०० (षष्ठ्या १०×६०) = ६०० वर्षों पीछे फेंक दिया गया। इस प्रकार ५६ ई० पू० में प्रचलित विक्रम संवत्को इसको अभिलेख नाम दिया गया है। किन्तु धर्मो ६०० वर्ष ही गणित हमका प्रारम्भ होनेसे दिया गया हमका समाधान पर्युसनके पास नहीं है। इससे प्रतिरिक्त ३४४ ई० के पूर्व माना नवत् ३२६ (महोदय प्रस्तर अभिलेख, पत्नीट—गुप्त उरुकीर्ण लेख सं० १८) तथा विक्रम-संवत् ४३० (बाबो अभिलेख इटि० एंडि० वर्ष १८७६; पू० १५२ के प्रयोग मिल जायेगे) कर्गुसनके मतका भवन ही घराशापो हो जाता है (पर्युसनके मतसे निम्न श्रेष्ठि इटिबेरी, वर्ष १८७६, पृ० १८२)

(२) डी० पत्नीटका मत था कि ३७ ई० पू० में प्रारम्भ होनेवाले विक्रम संवत्का प्रवर्तन कनिष्कके राज्यारोहण कालसे प्रारम्भ होता है (वरनत श्रीक डी रोयल एशियाटिक सोसाइटी, वर्ष १६०७ पू० १६६)। अपने मतके समर्थनमें उनका तर्क यह है कि कनिष्क भारतीय इति-हासका प्रसिद्ध बिजयी राजा था। उसने अन्ताराष्ट्रिय साम्राज्यकी स्थापना की। बौद्ध धर्मके इतिहासमें भी अनेकानेक पञ्चात् उल्लेख स्पष्ट है। ऐसे प्रचारी राजाका संवत् चलना सर्वथा स्वाभाविक था। परन्तु यह मत डी० पत्नीटके प्रतिरिक्त प्रायः अन्य किसी विद्वान्को मान्य नहीं है। प्रथम तो धर्मो कनिष्कका समय ही अनिश्चित है। दूसरे एक विदेशी राजाके द्वारा देशके एक कोनेमें प्रवर्तित संवत् देशव्यापी नहीं हो सकता था। तीसरे यह बात प्रायः सिद्ध है कि कुषाणोंने पश्चिम तथा पश्चिममें क्रिम संवत्का व्यवहार किया था। यह पूर्व प्रचलित सप्तमि संवत् था जिसमें महान तथा गतके अर्थ सुप्त है। यदि यह बात अमान्य भी समझी जाय तो भी कुषाण संवत् पश्चिम या और कुषाणोंके पञ्चात् पश्चिमोत्तर भारतमें इसका प्रचार नहीं मिलता।

(३) डी वेनडे गोपाल ऐयरने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारतीय तिथिक्रम' (कौनोवीवी पीए एरिएर इतिहास, पृष्ठ १७३) में इस मतका प्रतिपादन किया है कि विक्रम संवत्का प्रवर्तक गुप्तका महानगर था। 'विक्रम संवत् वास्तवमें मानव-संवत् है। मन्दसार प्रस्तर-लेखमें स्पष्ट बात यह है कि मानव जनिने मण्डन कालसे इसका प्रचलन हुआ (मानवार्थ गणितिल्या याने मानवपुत्र)। पत्नीट गुप्त उरुकीर्ण लेख सं०—१८)। कुषाणों द्वारा इस संवत्का प्रवर्तन नहीं हो सकता था। एक ही कनिष्कका समय विक्रमकालीन नहीं। दूसरे यह बात सिद्ध नहीं कि उक्तका राज्य कभी मगध और उदात्तर भागमें भी फैला था। यद्यपि प्रतिरिक्त किसी अन्य शोधकर्ता का मत नहीं चलता जिसका मतव प्रस्तर धारित्व हो और जिसको सदृश प्रमाण प्राप्त हो तब। अब हम इन सब बातोंकी ध्यानमें रखते हुए उदात्तगुप्त गिरनार लेखमें

पड़ते हैं कि सब बहानों से अपनी रक्षा के लिये उसको अपना अधिपति चुना था (संबन्धों के अंगमय पतित्व के दूतेन—एपिग्राफिया इटालिया बिल्ड नं. पृ० ४७) तब यह बात हम स्वीकार करते हैं कि मालवा और गुजरात की सब बातों ने उनको उसी प्रकार अपना राजा चुना था जिस प्रकार इसके पूर्व उन्होंने रुद्रदामन के पिता जयदामन और उसके पितामह चाण्डन को चुना था। प्राचीन ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि पश्चिम के सभी राजाओं का अभिषेक स्वराज्य के लिये होता है और उनको उपाधि स्वराट् होती है। इन स्वतंत्र जातियों ने एकता में शक्तिका अनुभव करते हुए तथा आवश्यकता के प्राये सिर झुकाकर अपने ऊपर विजयी चाण्डन के आधिपत्य में अपने को एकत्र करके संघटित किया। यही महान् घटना—एक बड़े शासक के आधिपत्य में मालव जातियों का संघटन—७५ ई० पू० में सबकुछ प्रवर्तन से उपलब्धित हुई। सबसे यह सब मालवामें प्रवर्तित है। चाण्डन और रुद्रदामन ने मालव के पड़ोसी प्रांतों पर भी शासन किया इसलिये सबकुछ प्रचार विरूपण के उत्तर के प्रदेशों में भी हो गया।

ऐस र महोदय का यह कथन, स्वतः सिद्ध है कि विक्रम-संवत् वास्तव में मालव संवत् है। कनिष्क के विक्रम-संवत् के प्रवर्तन होने के विरोध में उनका तर्क भी युक्तिसंगत है। किन्तु कनिष्क से कहीं स्वल्पसत्तिशाली प्रान्तीय विदेशी क्षत्रिय, जिसके साथ राष्ट्रीय जीवन का कोई सश संलग्न नहीं था, सबकुछ प्रवर्तन में कैसे गारण हो सकता था, यह बात समझ में नहीं आती। रुद्रदामन के अभिषेक में सब बहानों-झारों राजा के चुनाव का उत्प्रेषण केवल प्रशस्ति मात्र है। प्रत्येक शासक अपने अधिकार को प्रजा-सम्मत करने की नीति का प्रयोग करता है। इसके प्रतिरिक्त यदि रुद्रदामन लोकप्रिय ही भी गया हो तो उसका यह गुण दो पीढ़ी पहले चाण्डन में, संघर्ष की नवीनता तथा तीव्रता के कारण, नहीं आ सकता था। श्री ऐमरली यह युक्ति अत्यन्त उपहासार्थक जान पड़ती है कि मालवगण ने चाण्डन के आधिपत्य में अपना संघटन किया और उसके उपलक्ष्य में सबकुछ प्रवर्तन किया। राजनीतिका यह एक साधारण नियम है कि कोई भी विदेशी शासक विजित जातियों को दुरन्त समझित होने का प्रयत्न नहीं देता है। फिर अपने पराजय का सरो मालवी ने सबकुछ प्रारम्भ किया हो, यह बात भी असाधारण जान पड़ती है।

(४) स्व० डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने जैन अनुश्रुतिके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि 'जैन वादाओं और लोकप्रिय कथाओं का विक्रमादित्य गौतमपुत्र शातकर्ण था। प्रथम शताब्दि ई० पू० में मालव में मालवगण वर्तमान था, जैसा कि उसके प्राप्त सिद्धांत से सिद्ध होता है। शातकर्ण और मालव की संयुक्त शक्ति ने सबको पराजित किया। इसलिये सबको राजा के मुख्य भाग देने वाले शातकर्ण 'विक्रमादित्य' के विरुद्ध विक्रम संवत् का प्रवर्तन हुआ। मालवगण ने भी उसके साथ सन्धिके विशेष ठहराव (स्थिति, आभ्यास) के अनुसार अपना इस समय संघटन किया और इसी समय से मालवगण-स्थिति काल भी प्रारम्भ हुआ। (जरतल मोक्ष विहार ऐण्ड उद्योगी रिसर्च सोसायटी, बिल्ड १६, वर्ष १९३०)।

उपर्युक्त कथन में मालव शातवाहन सत्ता बनाना तो स्वाभाविक जान पड़ता है (यदि इस समय साम्राज्यवादी शातवाहनों का अस्तित्व होना संभव हो) किन्तु शातकर्ण विक्रमादित्य (?) की विजय से मालवगण गौरवान्वित हुआ और उसके साथ संधि करके मालव संवत् का प्रवर्तन किया, यह बात पूर्ण रूप से काल्पनिक और असंगत है। इसके साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि

गौतमीयुग शातकर्णिके न केवल क्षत्रियो द्वारा वा वरज् शक, छहरात, प्रवन्ति, भावर भादि अनेक प्रान्तोपर अपना अधिपत्य स्थापित किया (मासिक उत्कोर्ण लेख, एपिग्राफिया इंडिका, बिल्ड ८, पृ० ६०)। उसकी विभिन्नता की घटना मासवगण-दिगतिने बहुत सीधेकी जान पड़ती है। साहित्य तथा उत्कोर्ण लेख किसीसे भी इस बातका प्रमाण नहीं मिलता कि किसी सातवाहन राजाने कभी विक्रमादित्यको तपाधि धारण की थी। सातवाहन राजाओंका विविधम प्रभोतक अनिश्चित है। अपने विभिन्न सत्त्वों की सिद्धिके लिये सिद्धान्तों ने उसको धपलेमे डाल रखा है। किन्तु बहुसंमत सिद्धान्त यह है कि कन्नो के पञ्चात् साम्राज्यवादी सातवाहनोका प्रादुर्भाव प्रथम शताब्दी ई० पू० के अन्तरालमें हुआ। इसलिये भाद्र बधका तेईसवां राजा गौतमीयुग शातकर्णिक प्रथम शताब्दी ई० पू० न नहीं रक्का जा सकता। सातवाहन राजाओंने सेओमे जो तिथियां दी हुई हैं वे उनके राजवर्षोंकी हैं, उनमें विक्रम-संवत् या अन्य किसी क्रमबद्ध संवत्का उल्लेख नहीं है। श्रीजायसवालके इस मतके सम्बन्धमे सबसे अधिक निर्णायक गणसप्तशतीका प्रमाण है। भाद्र बधक सत्रहवें राजा हासके समयमे लिखित यह ग्रन्थ विक्रमादित्यके अस्तित्व और यद्यपि-परिचित है, मत इस वधवा तेईसवां राजा गौतमी-युग शातकर्णिक तो किसी अवस्थामे भी विक्रमादित्य नहीं हो सकता।

सीधा ऐतिहासिक प्रयत्न—

इस प्रकार विक्रमादित्यके अनुसन्धानमें प्राच्य विद्या-विशारदोंने अपनी सर्वैर कल्पना-शक्तिका परिचय दिया है। किन्तु इस प्रकारके प्रयत्नमे विक्रमादित्यकी ऐतिहासिकताकी समस्या हल नहीं होती। यदि परम्पराके समुचित आधारके साथ सीधे ऐतिहासिक शोध को जाए तो संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्यका पता सरलतासे लग सकता है। वास्तविक विक्रमादित्यके लिये निम्नलिखित बातोंकी पूरा करना आवश्यक है —

- (१) मातया प्रदेश और उज्जयिनी राजधानी।
- (२) शासक होना।
- (३) ५७ ई० पू० में संवत्का प्रवर्तक होना और
- (४) कालिदासका साव्यदाता होना।

अनुशीलन—

(१) यह बात अब ऐतिहासिक शोधोंसे सिद्ध हो गई है कि प्रारम्भमे भारतप्रदेशमें प्रचलित होनेवाला संवत् मासवगणका संवत् था। सिकंदरके भारतीय आक्रमणके समय भारतव जाति पत्रावमे रहती थी। मासव शुद्ध गणवधने सिकंदरका विरोध किया था, किन्तु पारस्परिक फूटके कारण मासवगण अकेला सडकर युनायिबोसे डार गया। इसके पश्चात् ग्रीकोंके कठोर नियन्त्रणसे मासवजाति निम्नप्रभ-सी होगई। ग्रीक-साम्राज्यके अन्तिम भासमे जब अश्विनोत्तर भारतपर अश्विनोके आक्रमण प्रारम्भ हुए तब उत्तरपणकी भारतवादि कई संस्थाजातिवां नहति पूर्वी राज-पूताना होते हुए मध्यभारत पहुँची और यहाँवर उन्होंने अपने अपने उपनिवेश स्थापित किए। समुद्र-मुक्तके प्रवाण-प्रचरिमे लेखते सिद्ध है कि जोयो शताब्दी ई० पू० के पूर्वार्द्धमे उसके साम्राज्यकी दक्षिण-पश्चिम सागरपर कई गण-राष्ट्र वर्तमान थे। किन्तु इसके पहले प्रथम द्वितीय शताब्दी ई०

पू० में मालवजाति आकर प्रायन्ति (मालव प्रान्त) में पहुँच गई थी, यह बात मुद्रा-शास्त्रसे प्रमाणित है। यहाँपर एक प्रकारके सिक्के मिले हैं जिनपर ब्राह्मी अक्षरोंमें 'मालवानां जयः' लिखा है (इदियम म्यूजियम बंवायन्स जिल्द १, पृ० १६२; कनिष्क—प्राकृतमीलनिकल रिसर्च रिपोर्ट, जिल्द, ९, पृ० १६५—७४)।

(२) ई० पू० प्रथम शताब्दीके मध्यमें मगध-साम्राज्यका अन्तःकरण काण्वीको क्षीण शक्तिके रूपमें पूर्वी भारतमें बसा हुआ था। बाह्यजनों के पश्चात् पश्चिमोत्तर लोकोके प्राक्रमण होने लगे। शक जातिने सिन्धु प्रान्तके भागमें भारतवर्षमें प्रवेश किया। यहाँसे उसकी एक शाखा मुराष्ट्र होती हुए अवन्ति प्राकरकी ओर बढ़ने लगी। इस बढावमें मध्यभारतके गजराष्ट्रोंमें शकोंका संघर्ष होना सर्वथा स्वाभाविक था। बाहरी प्राक्रमणके समय गजराष्ट्रियों ने सघनतापूर्वक लड़ती थी। इस संघर्षका नेतृत्व मालवमण्डलमें किया और शकोंको पीछे धकेलकर सिन्धु-प्रान्तके खोस्तक पहुँचा दिया। कालकाव्य-कथामें शकोंको विमर्षण देवा, अश्विनिके ऊपर उनका प्रस्थायी प्राधिपत्य और अन्तमें विक्रमादित्यके द्वारा उनका निर्वासन—इस सभी घटनाओंका भ्रम इति-हासकी उपर्युक्त धारासे बँध जाता है।

(३) शकोंकी पराजित करनेके कारण मालवमण्डल-मुख्यका शक्ति एक दिग्द हो गया। यद्यपि इस घटनासे शकोंका आतंक सदाके लिये दूर नहीं हुआ, तथापि यह एक क्रान्तिकारी घटना थी और इसके फलस्वरूप लगभग डेढ़सौ वर्षोंतक भारतवर्ष शकोंके प्राधिपत्यसे सुरक्षित रहा। इसलिये इस विजयके उपलब्धमें सबकुछ प्रवर्तन हुआ और मालवमण्डलके हृदय होनेसे इसका गण-मान भावमण्डल स्थिति में मालवमण्डल काय पडा।

(४) अब यह विचार करना है कि मालवमण्डल मुख्य कालिदासके आश्रयदाता हो सकते हैं या नहीं? मणिमान-शाकुन्तली की कतिपय प्राचीन प्रतिषेधोंमें काण्वीके अन्तमें लिखा मिलता है कि इस नाटकका अमिनय विक्रमादित्यकी परिषदमें हुआ था। 'सूत्रधार—आर्ये इयं हि रसभाव-विशेषशीलापुरीविक्रमादित्यस्याभिरूपभूमिष्ठा परिपत्। अस्यान्ध कालिदासप्रपितवस्तुना नवेनाभि-ज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। तत् प्रतिपादनाधीयता अस्मै'। नाटके १० (वीरमाला विद्यासागर संस्करण, कलकत्ता, १९१४ ई०)। आर्य अर्थात् विक्रमादित्य एकतांत्रिक राजा ही हमने माने रहे हैं। किन्तु काण्वी-विश्वविद्यालयमें हिन्दी विभागके अध्यक्ष स्वर्णधर ५० कैलवप्रसाद मिश्रके पास सुरक्षित मणिमानशाकुन्तली की एक हस्तलिखित प्रति, प्रतिलिखन काल-भगहनसुदी ५, सवत् १९६६ वि०) में विक्रमादित्यका गणते सम्बन्ध व्यक्त कर दिया है। इसके निम्नांकित प्रवर्तण ध्यान देने योग्य हैं—

(अ) आर्ये ! रसभावविशेषशीलापुरी विक्रमादित्यस्य साहसाद्भूत्या-भिरूपभूमिष्ठेय परिपत्। अस्यान्ध कालिदासप्रपितवस्तुना नवेनाभि-ज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। (नान्द-ते)।

(आ) भवतु तव विद्वानाः प्राण्यवृष्टिः प्रजासु
एवमपि विततमलो वज्रिण भावयेयाः।

गणराजपरितरेवमन्धोन्यकृत्य-

नियतमुभयलोकाभुहृत्साधनीयैः ॥ (भरतवाक्य)

उपर्युक्त प्रवर्तणोंमें रेखांकित पदोंसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि बिना विक्रमादित्यका यहाँ निर्देश है उनका व्यक्तिगत नाम विक्रमादित्य और उपाधि 'साहसाद्भू' है। भरतवाक्यका 'गण' शब्द

श्रुत काव्यकारका होना सम्भव था। 'पुनरुत्थान' मत्तके मुख्य प्रवर्तक मैत्रेयभूषण थे। पीछेकी ऐतिहासिक सोचसे यह मत अस्तिष्ठ हो गया है। (विस्तृत विवेचनके लिए देखिए डा० जी० भूषण, इंडियन ऐंटीक्वरी, वर्ष १९१३)। 'बौद्धकाल' में न तो वैदिक धर्म सुप्त हुआ था और न संस्कृत साहित्य ही। शुद्धकालके पहले इसकी दूसरी शताब्दीमें सुराष्ट्रके महाजनपदसदामयुके गिरनार अभिलेखमें यक्ष-काव्यका बड़ा ही सुन्दर उदाहरण मिलता है 'पञ्चमेनेकाण्यं-भूतायामिव पृथिव्या कृतावा.....' युगनिघनसदृशपरमधोरवेयेन वायुना प्रमणित सखिलविनिपुतज-जरीकृताव.....' एषिद्राप्तिमा इतिहा, अिस्व ८, पृ० ४७। राजकीय व्यवहारका उक्त गद्यकाव्य प्रत्यक्ष ही उस युगमें वर्तमान पद्य-काव्यके अनुकरणपर लिखा गया होगा। ई० पू० दुर्ग कालमें रचित पातञ्जल महाभाष्यमें उद्धृत उदाहरणमें काव्योकी शैली और छन्द पाए जाते हैं। (कोल-हीनः महाभाष्यका संस्करण)। इसके प्रतिरिक्त रामायण तथा महाभारत-जैसे महाकाव्योंके प्राथिकांश भाग ई० पू० में लिखे गए थे। मनु तथा याज्ञवल्क्य-स्मृतिवाँ ईशकी पारम्पर्यी शता-भिद्योमें लिखी गई थी। काव्यकी उपर्युक्त पात्रके प्रकाशमें प्रथम शताब्दी ई० पू० में कालिदासके नाटकों और काव्योंकी रचना पूर्णतः अव्यवहार नहीं जान पड़ती।

(२) कालिदासके काव्यो और बौद्ध चिन्तित अवस्थापके युद्धिवरित नामक काव्यमें प्राथमिक साम्य है। कथामककी चृष्टि और विकास, वर्णन-शैली, धर्मकारोका प्रयोग, छन्दोंका चुनाव, शब्दविन्यासादि में दोनों कालाकारोमें से एक दूसरेसे अत्यन्त प्रभावित हैं। इसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

रघुवंश

ततस्तदाकोकन राशराणां
सौधेषु शमीकरजासदरुः।
प्रभृष्टुरिस्वं पुरगुदरीणां
रत्नान्यकार्याणि विधेष्टितानि ७।५।।

बुद्धचरित

ततः कुमारः शत्रु मण्डलीति
श्रुत्वा स्थितः प्रेम्ण जनारप्रवृत्तिम्।
दिहक्षया हर्षमंततामि जन्तुः
जनेन मान्येन कृतार्थमनुजः ॥१।११

महं तो प्रायः सभी विद्वान् मानते हैं कि कालिदासकी रचना दोनोंमें श्रेष्ठ है। परन्तु उनमेंसे कतिपय यह भी मान लेते हैं कि संस्कृत काव्यके विकासमें अवस्थाप पहले हुए। कालिदासने 'उपवन अनुकरण' कर प्रथम शैलीका विकास और पीरमाजनीकया। अवस्थाप कुदण सत्राट् कीन-पके समकालीन थे, जिनका समय प्रथम प्रथम द्वितीय शताब्दी ई० है। इसलिये कालिदासका काल तीसरी शताब्दीके पश्चात् संभवतः सुप्त कालमें होगा चाहिए (२० बी० कोवेल-अवस्थापका बुद्धचरित, भूमिका)। विचार करनेपर यह युक्ति-परम्परा सर्वथा असंगत जान पड़ती है। यह बात विदित है कि प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य पालि प्राकृतमें लिखा गया था। पीछे संस्कृत साहित्यके प्रभाव और उपयोगिताको स्वीकारकर बौद्ध लेखकोंने संस्कृतको अपने साहित्य और दर्शनका माध्यम बनाया। इसलिये संस्कृतकी काव्यशैलीके प्रचलित और परिष्कृत हो जानेपर उन्होंने उसका अनुसरण किया। अतः, स्पष्ट है कि अवस्थापने कालिदासकी शैलीका अनुसरण किया। यदि उनकी कला अवस्थापक हीन है तो यह अनुकरण का दोष है। प्रायः अनुकरण करनेवाले अपने मॉडलकी समता नहीं कर पाते।

(३) कालिदासको पाँचवी या छठी शताब्दी ई० में खीच लायेमें एक प्रमाण यह भी दिया जाता है कि उनके ग्रन्थोंमें यवन, दक्ष, पल्लव, हूणदि जातियोंके नाम आते हैं। हूणोंने ५०० ई० में भारतवर्षपर आक्रमण प्रारम्भ किया। अतः इसका उल्लेख करनेवाले कालिदासका समय इसके पश्चात् होना चाहिए (सिद्धेरी रिमेन्ड ग्रीफ़ डा० आरुदाजी, पृ० ४६।) परन्तु ध्यान देनेकी बात यह है कि रघुवशमे हूणों यथवा अन्य जातियोंका वर्णन विदेशी विजेताके रूपमें नहीं आता। रघुने अपनी दिव्यशक्तियोंमें उनकी भारतवर्षी सौभाग्यके बाहर पराजित किया था, अतः कालिदासके समयमें हूणोंको भारतकी पश्चिमोत्तर सीमाके पास वहीं रहना चाहिए। चीन तथा मध्य एशियाके इतिहासके प्रमाणित हो गया है कि ई० पू० पहली तथा दूसरी शताब्दीमें हूण पामीरके पूर्वोत्तरमें आ चुके थे। (गुहट्य लेफ़—चीनका इतिहास, जिल्ड १, पृ० २२०)।

(४) ज्योतिषमें बहुतसे संकेत कालिदासके ग्रन्थोंमें आए हैं। कई एक विद्वानोंका मत है कि क्रुपण-कालके पश्चात् भारतीयोंने ज्योतिषमें बहुतसे सिद्धान्त यूनायन और रोमसे सीखे थे। इसलिये कालिदासका समय इसके बहुत पीछे होना चाहिए। परन्तु इस बातको माननेवाले इस समयकी भूल जाते हैं कि स्वयं यूनायनियों ने बई शताब्दी ई० पू० में बैबिलोनियाके लोगोंसे ज्योतिष-शास्त्र सीखा था। (बैबिलोनियन—इण्डिया, प्लूट कैंप इट दी च थस, पृ० ३६१)। चौथी पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में भारतीयोंक सम्पर्कमें भारतवर्ष भर्षी-मार्गि आ गया था, अतः वह बैबिलोनिया और आस्ट्रियाका ज्योतिष सीखे सरलतासे सीख सकता था (प्रो० एच० बी० चौलिह—भारतीय ज्योतिषका प्राचीन इतिहास, पृ० १५७)। इससे बहुत पहले रचित रामायणमें ज्योतिषके सिद्धान्तोंका अधिक प्रयोग किया गया है—

महाभेदिति दैवस्य रवीचपसस्येषु पचसु ।

अहेतु बर्कटे लगे बाधयता बिदुना सह ॥

(बा० का०, सर्ग १८, श्लो० ६)

पुष्पे जातस्तु भरती मीनसम्ने प्रसन्नपी ।

सार्धं जाती तु सीमिनी मुनीरेज्जुदिते रघो ॥

(बा० का०, सर्ग १८, श्लो० १५)

उदिते विमले सूर्ये पुष्पे चाम्पानतेऽग्निः ।

सामे बर्कटेने प्राप्ते जन्म रामस्य च स्थिते ॥ आदि ।

(प्रयो०, सर्ग १५, श्लो० १)

(५) पराह्मिहिर्बो व्यावर्धित समवासीनतासे भी कालिदासका समय पाँचवीं शताब्दी ई० में निर्णित किया जाता है। ज्योतिर्विदाभरणमें निम्नलिखित उल्लेख है—

पञ्चगारितारणवामरसिंहवृक्षेसाधमृदुपटपार्परकालिदासाः ।

बराहो पराह्मिहिर्बो मुपतेः समायो रागानि चै मरुद्विजं च विप्रमस्य ॥

इस पञ्चगारुके सबमें प्रथम दो यह कहना है कि जिस ग्रन्थमें इसका उल्लेख है वह कालिदासकी रचना नहीं है। दूसरे एक दो भी दोहराव नहीं जितने स्तन विप्रम-समायें एकत्र किए

गए हैं वे समकालीन नहीं। तीसरे यह अनुभूति पीछेकी और केवल एक ही है; भ्रमन कही भी इसकी चर्चा नहीं। अतः बराहमिहिरकी कानिदाससे समकालीनता उसी प्रकार कल्पनावन्म जान पड़ती है जिस प्रकार कानिदास और अनुभूतिके एक समामे एकत्र होनेकी किंवदन्ती।

इस प्रकार कानिदासकी गुप्तकालीन और इस कारणसे विक्रमादित्यकी गुप्त-सम्राट् सिद्ध करनेकी युक्तिवां ठकसिद्ध नहीं जान पड़ती हैं। विक्रमादित्यके गुप्त-सम्राट् होनेके विरुद्ध निम्न-लिखित कठोर प्रामाण्य हैं—

(१) गुप्त-सम्राट्का अपना वंशगत स्वधर्म है। उनके किसी भी स्वकीर्ण लेखमें मातृय प्रथमा विक्रम-संवत्का उल्लेख नहीं है। जब उन्होंने ही विक्रम-संवत्का प्रयोग नहीं किया तो पीछेसे उनके गौरवास्तके पञ्चाब्द जनमाने उनका सम्बन्ध विक्रम-संवत्से जोड़ दिया हो, यह बात समझमें नहीं आती।

(२) गुप्त-सम्राट् पाटलिपुत्र नाथ थे, किन्तु अनुभूतियोंके विक्रमादित्य उज्जयिनी-नाथ थे। यद्यपि उज्जयिनी गुप्तोंकी प्रान्तीय राजधानी थी, किन्तु वे प्रधानतः पाटलिपुत्राधीश्वर और मगधामिप थे। मुगल सम्राट् दिल्लीके अतिरिक्त आगरा, साहौर और श्रीनगरमें भी रहते थे। फिर भी वे दिल्लीश्वर ही कहलाते थे। इसके अतिरिक्त सोमदेवमठने अपने कथासरित्सागर में स्पष्टतः दो विक्रमादित्योंका उल्लेख किया है—एक उज्जयिनीके विक्रम तथा दूसरे पाटलिपुत्रके। उनके मनमें इस सम्बन्धमें कोई भ्रम नहीं था।

॥ (३) उज्जयिनीके विक्रमका नाम विक्रमादित्य था, उपाधि नहीं। कथासरित्सागरमें लिखा है कि उनके पिताने जन्म-दिनको ही उनका नाम शिवजीके धारैणानुसार विक्रमादित्य रखवा। अभिषेकके समय यह नाम प्रथमा विरुद्धके रूपसे पीछे नहीं रखा गया। इसके विरुद्ध किसी गुप्त सम्राट्का नाम विक्रमादित्य नहीं था। द्वितीय चन्द्रगुप्त तथा स्कन्दगुप्तके विरुद्ध क्रमशः विक्रमादित्य और विक्रमादित्य (कही-कही विक्रमादित्य भी)। समुद्रगुप्तने तो यह उपाधि कभी धारण ही नहीं की। कुमारगुप्तकी उपाधि महेंद्रादित्य थी, नाम नहीं। उपाधि प्रचलित होनेके लिये यह आवश्यक है कि उसके नामका कोई लोक-प्रसिद्ध व्यक्ति हुआ हो जिसके अनुकरणपर पीछेके महाकाशी लोग उस नामकी उपाधि धारण करें। रोमने सीजर उपाधिधारी राजाओंके पहले सीजर नामक सम्राट् हुआ था। इसी प्रकार विक्रम उपाधिधारी गुप्त नरेशों के पूर्व विक्रमादित्य नामधारी शासक अवश्य ही हुआ होगा और यह महापराक्रमी मातृयगण-मुख्य विक्रमादित्य साहसाद्ग ही था।

विक्रम और उनके नवरत्न

(स्वरूप ५० दीशयत्त शास्त्री 'श्रीरं' साहित्यदर्शनाचार्य, साहित्यरत्न)

सा रम्या नगरी, महान् स नृपति, सामन्तचक्र च तद्,
पादौ तस्य च सा विदग्धपरिपत्, साग्रन्धविम्बानना
उन्मत्त स च राजपुत्र-निग्रह, ते यन्-दन, ता कथा,
सर्वं यस्य वशावगात् स्मृतिपथ, कासाय तस्मै नमः ।।

—मधुहंरि

[वह जयमगती राजधानी । वह महान् सम्राट् । वह सामन्तोंका समूह । वह घड़े-वाले काला-कोमिदोले विभूषित राज-दरबार । वे पद्ममुखी नलगाएँ । वह मन्दोग्मत्त राजकुमारोंका झुण्ड । वे प्रशस्ति-पाठक चारण । वे बाते ।—वह सब कुछ जिसकी कृपासे विस्मृतिके गहरे गर्तेमें डूब गया, उस काम भगवान्‌की बार बार नमस्कार है ।]

जब जब हम अपने २००० वर्षों के सांस्कृतिक अतीतके अन्वेषणमें प्रवृत्त होते हैं तब-तब मधुहंरिकी इस मूलिनी और भ्रम अकस्मात् आकृष्ट हो जाता है । जिस महान् विक्रमादित्यका स्वर्णिम शासन हमारी पर रहस्य भावनाओंकी आघार सिला है, जिसके सशक्त दया दाक्षिण्य तथा अपाह्न छोड़ बोधकी गामाएँ हमें रोमांचित करती रहती हैं—आज हममें से बहुतोंकी इनके अस्तित्वका अन्वेषण करना पड़ता है, यह काम भगवान्‌की पहिमा नहीं, वो बरा है ।

प्रस्तावित विक्रम-समय प्रवर्तक, एक-समुद्र घोषक, सम्राट् विक्रमादित्यकी कीर्ति पीति-मविष्य-पुराण, कथासरित्सागर, गृह्यसूत्रादि, नवसाहसकचरित्र, प्रबन्धचिन्तानिधि, ज्योतिर्विद्याभरणम्, कालवाचार्थ मयानव, विक्रमार्कचरितम्, आदि अनेक ग्रन्थोंमें अनेक साकृति-प्रवृत्तिमें मिलती हैं । यह हमारी सप्रत आँखोंपर निर्भर है कि हम सूक्ष्म अज्ञापोह तर्क-द्वारा विवेचनपूर्वक सांस्कृतिक-पटनाओं पर प्रकाश डालें । नवरत्नोंमें सम्बन्धकी कुछ बातें यहाँ थोड़ेसे दी जाती हैं, पाठक स्वयं व्यापकित निरूपण कर सकते हैं—

धन्यन्तरि—

नवरत्नोंमें सर्व-प्रथम इन्हींका उल्लेख किया गया है । किन्तु, सूक्ति-नुमायित सग्रहोंमें इनका एक भी पद नहीं मिलता । अश्विन्-वरपरामे तो वे समुद्रसे निजने हुए भगवान् धन्यन्तरि ही समझे जाते हैं । अनुसंधानसे इनके २ अर्थोंका पता चलता है, जो सभी प्रायुर्वेदिक विद्वत्साधारणसे सम्बद्ध हैं । इन अर्थोंमें "धन्यन्तरि निपट्ट" को २ अर्थोंमें बँटा हुआ है, यथोक्त महान् उपहार और अतिशयिष्ठ प्रथ है । समरकोनके प्रणेता धन्यन्तरिसे वे अति प्राचीन हैं

घोर इनका बनाया कोई “रत्नभासा” कोश भी था—इसका पता खीरस्वामीकी तिली “भ्रमर-कोश” की टीकासे लगता है ।

क्षणक—

इनके नामसे ही प्रतीत होता है कि ये बौद्ध सन्ध्यायी थे, किन्तु कुछ लोग इस मतके विरुद्ध हैं । इनका लिखा कोई विशेष ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है । भिष्माटन काव्यसे इनकी एक रचना उद्धृत की जाती है ।

नीतिभूमिपुत्रां, नतिगुणवती, ह्रीरङ्गनाना, रतिः
धर्मयोः, शिष्यो गुरुस्य, कविता बुद्धेः, प्रसादो विराम् ।

सावन्ध वपुदः, श्रुति, सुमनसां, शातिहिंस्य, समा
धान्तस्य, ब्रविण गृहाधमवती, वील सता मण्डनम् ॥

राजाधो, गुणिधौ, स्थियो, पति-परिनयो, मकानो, बुद्धि, वाखी, शरीर, प्रतमगमो, ग्राह्यो, उपस्थिधौ, गृहाधमवो, घोर सज्जन पुरुषोके सत्कार क्रमशः नीति, विनय, सज्जा, रति, शासक कविता, प्रसादगुण, सौंदर्य, वेदज्ञान, शांति, समा, भग, शील (सरस्वभाव) ये गुण हैं । एक विद्वान्का कहना है कि “रत्नभासकोश” भी इन्हींकी रचना है ।

भ्रमरसिंह—

1. सङ्कृतांग समाज इन्हीं जैस दिवाचके रूपमें ही जानता है । इसका मुख्य कारण ‘कविकल्पलताके’ प्रणेताका भी इसी नामका होना है । इस ग्रन्थका सङ्कलन प्रसिद्ध भन्वेपक विद्वान् राहुल साङ्करामनने घनेक प्रयासों से किया है । बोधगयाके वर्तमान बुद्ध मन्दिरसे प्राप्त एक छिलालेखसे सात होता है कि इस मन्दिरके निर्माता यही थे । एक मात्र ‘भ्रमरकोश’ ग्रन्थसे इस प्रकारका प्रसङ्ग यथ प्राप्त करना इनकी पुण्य-प्रबलताका द्योतक है । भारतीय पण्डितोंने यह उक्ति प्रख्यात है—महाध्यामी जन्ममाताऽमरकोशो जगत्पिता । पाणिनिको महाध्यामी घोर भ्रमरसिंहका कोश ये जगत्के (पाण्डित्यके लिये माता-पिताके समान) उपकारक हैं ।

‘भ्रमरकोश’ तीन काण्डोंमें लिखा गया संस्कृतका सर्वश्रेष्ठ उपयोगी कोश-ग्रन्थ है । इतने बड़े पैमानेपर सायद ही किसी दूसरे कोश-ग्रन्थका प्रचार ही । इस सौकरप्रिय कोशपर कुल मिलाकर ४० टीकाएँ हैं । तिब्बती घोर बोमी भाषाओंमें भी इसका रूपान्तर हो चुका है ।

यद्यपि इनका कोई काव्य-ग्रन्थ नहीं प्राप्त होता है, तथापि ‘भ्रमरकोश’ की सरस प्रवाह सौखी अपने निर्माताके अन्तरमें सुसरित कवित्वकी अपुरिम धाराकी छिपा नहीं सकी है । ‘सङ्कृतिकर्णामृत’ में इनके सम्बन्धमें लिखा है,—

प्रयोग्युरपतो प्रतिपदविशेषाचं कथने

प्रसन्नो शास्त्रीर्ये रसवति च काव्यार्थं रचने ।

अगम्यायामन्येविशि परिणतानर्थं यत्नो-

र्मत चेदस्ताक बविरमरसिंहो विजयते ॥

प्रयोगीकी सुद्धतामें, प्रत्येक पदके अर्थार्थ सर्वके प्रकाशनमें, प्रसाद गुणमें, भावोंकी गम्भीरतामें

रसशायिनी कविताकी रचनावे, शब्द और शब्दोंके अन्यजनदुर्लभभाव—परिपाकमें (यदि मेरी बात मानी जाय तो) समरसिंह कवि ही सर्वोत्तम हैं ।

शकु—

मदशलोमे समरसिंहके अनन्तर इनका नाम लिया जाता है । वास्तवमें इनका 'शकु' है । "काव्य प्रकाश" नामका साहित्य-शास्त्रके विद्युत्तनाथ ग्रन्थमें उसके रचयिता मम्मटभट्टने रस निरूपणके प्रकरणमें मट्ट सोल्लटके बाद इनके मतका उल्लेख किया है । काश्मीरवासी "कल्हण" की "राजतरङ्गिणी" ग्रहणनेगे धाता है—

अथ मम्मोरपमश्रोत्रभूदृष्टास्तौ रसः ।

रुद्रप्रवाहा यथासीद् वितस्ता सुमर्द्वर्तः ॥

कविर्बुधमनः तिष्ठुतनाद् अशुकामिधः ।

यमुद्दिष्टाकरोत्काव्यं भुवनाम्पुदवाभिधम् ॥

मम्म और उसके इन दोनों राजाओंमें ऐसी लड़ाई हुईकि उसमें मरे हुए वीर सैनिकोंकी सोंपोंसे वितस्ताका (फेलम) प्रवाह रुक गया !—उस युद्धको लेकर पण्डितों के मूढकपों 'समुद्रके चन्द्रमा शुक कविने "भुवनाम्पुदयम्" नामक काव्य लिखा । इससे सिद्ध होता है कि "शकु" का "भुवनाम्पुदयम्" किसी समय प्रसिद्धिकी पराकाष्ठाको प्राप्त था । किन्तु, काल-क्रमसे 'ह्लासके मायाचक्रने पकड़ कर अपने अस्तित्वकी भी सो बैठा और प्रायः पुरातत्त्वका विषय बन गया ! अब तो प्रयत्न करनेपर सुवि-संग्रहोंमें इनकी कुछ रचनाएँ पाई जा सकती हैं । इनकी तरह कहनेका ढंग सस्कृत-कवियों से बिरलेमें ही मिलेगा—

दुर्पाशः स्मरमार्गलाः, प्रियतमो हरे, भगोज्जुह्वुक

गाढं प्रेम, नवं वयोऽति कठिनाः प्राणकुलं निर्मलम् ।

स्त्रीत्व, वैधविरोधि, भगवत्सुहृत् कालः, कुलगतोऽश्वी

ओ सस्मरचतुराः कथं नु बिरहः सोढव्य इदं मया ॥

[कामदेवके बाण मधुक निटाना मार रहे हैं, प्राणनाथ परदेसमें हैं उनके लिये मन उत्कण्ठित हो गया है, मनुराग गाढा है, प्रवस्था नवीन है, (प्राण कठोर है जल्दी निवस नहीं जाते), कुल पवित्र ठहरा, स्त्रीका स्वभाव कभी धोरन नहीं भरता, भावकलका समय (वसन्त ऋतु) 'पञ्चबाह' का पक्षा मिन है, मृदु किसीको क्षमा करना जानती नहीं, सखियाँ चतुर नहीं, (जो पतिये मिलने का प्रबन्ध करती) ऐसी विधिवे यह बिरह सहा कैसे जाय ? छोटे-से-छोटे पदमें सुन्दर-से-सुन्दर गायोंके गुणमें ये अद्वितीय, अद्भुत और आश्चर्यजनक वक्ताकार ये ।

वेतालभट्ट—

विक्रम और वेतालके सम्बन्धमें योता और वक्ताके रूपमें दोनोंकी कहानियाँ अपने देसमें प्राचण्डित-नामर प्रसिद्ध हैं । पण्डित लोग भी बात-बातमें "पुनर्वेतालस्तथैव रमते" के मुहावरेका प्रयोग करते देखे जाते हैं । "वेताल पञ्चविधति" (वेताल पञ्चोत्तरी) का प्रचार इन्हीं कथाओंको लेकर है परन्तु निर्माताके रूपमें इनका नहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता ।

घटसर्प—

कहा जाता है कि इनकी प्रतिभा थी कि अनुपास और यमः में जो कवि मुझे पराजित करेगा मैं उसके यहाँके फूटे घड़ेसे पानी भर करूँगा ! यह एक ऐसी बात हुई कि इनका वास्तविक नाम सुप्त हो गया—उसके स्थानपर अप्रकृत नामकी ही स्थापति हुई। इनका बनाया हुआ “घटसर्प शाव्यम्” (सप्तकाव्य) प्राप्त है। इस काव्यमें कुल गिलाकर २२ श्लोक हैं। सभी चमक-भरे मोतीके बाने हैं। अनुपास और यमके प्रयोगके लिए कविमें परिकृत प्रतिभा और लोकोत्तर क्षमता है।

भाषामुरक्तवज्रिता-सुरतः शपेय
मानस्य चाम्बुतुपित. करकोशपेयम् ।
कीयेम येन कविना यमकैः परेण
सस्मि बहेयमुदक घट-सर्परेण ॥

शब्द-सार्थ, भाव-भाषा, सुल-रीति, रस-भनकार, इन सभी काव्यके उपादेय गुणोंका इनके द्वारा—पयास्थान उचित मात्रामे उपयोग किया गया है।

नीलदास्यमति भाति कोमल
वारि विदति च पातकोज्ज्वलम् ।
मम्युर्दः क्षितिगणो विनाशते
का रति. प्रिय ! मयाविनाशते ॥

[इस ऋतुमें हरी-हरी मृदु-मृदु बूँदोंका (बारों तरफ) बिछोना बिछा हुआ है, चातक (पपीहे) पानी (स्याती) की बूँदोंका पीवसे पान कर रहा है [यन गर्वें मुनकर मयूर बेका-स कर रहे हैं—लेकिन मेरे प्राण नाथ ! मुझे तुम्हारे वियोगमें यह सब तनिक भी नहीं सुझाता है।]

हृता नदनैघमयाद् द्रवन्ति
निशामुल्लाभ्यश्च न चन्द्रवन्ति,
नयाम्बुमताः शिखिनो नदन्ति
मेघावमे क्रुद्धसमानदन्ति ॥

[हे कुन्द (कुल) के समान (उज्ज्वल) शीतों वाली ! इस समय, (बर्षा ऋतुमें) गरजते हुए मेघोंके समेत—इस भावमें लगते हैं, सायकास चन्द्रोदय देखनेमें ही नहीं आता, गरजते हुए बावलों की गुहायनी छटापर मुग्ध होकर मयूर बोलते हैं।]

विप्रलम्भ-शृंगारका रसाभूत परिभाषा जिस प्रकार कालिदासके मेघदूतमें मिलता है उसी प्रकार घटसर्पके प्रकृत सप्तकाव्यमें भी सर्वोप शृङ्गारका सुन्दर विष्णु मिलता है। इनके एक और ग्रन्थ “नीतिसार” का भी उल्लेख मिलता है।

कालिदास—

जैसा कि हम पूर्वमें लिख चुके हैं, महाकवि कालिदास, सम्राट् विक्रमादित्यके प्राणप्रिय कवि-मित्र थे। ध्वज ही च-होने यपनी रचनायोंमें विक्रमने व्यक्तित्वका उज्ज्वल स्वरूप-निष्काण किया है। इनके निम्नलिखित एक ही उदाहरणसे इनकी विक्रम-कालीनता स्पष्ट सिद्ध होती है—

ततः पर दुष्पसह द्विपद्भिर्नृप निशुक्ता प्रतिहारभूमौ ।
 निदर्शयामास विद्येपहस्यमिन्दु नवोत्थानमिवेन्दुगर्भम् ॥
 यवन्तिनायोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः ।
 आरौप्य चतुर्धनमुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव मरुतोत्तिष्ठितो विधाति ॥
 अस्व प्रयारोषु समग्रजपतेरश्वैरैर्वाजिभिरुत्थितानि ।
 युचन्ति सामन्तविद्यामखीना प्रभाप्ररोहास्तमय रजसि ॥
 अशो महाकासनिवैसनस्य बसन्तदूरे विस्र बन्धमोलैः ।
 तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नापतो निविशति प्रदोषाद् ॥
 अनेन यूना सह पाथिवेन रंभोः कञ्चिन्मनसो यचित्ते ।
 सिप्रातरङ्गाभिरुक्पिस्तसु विहर्तुमुद्यत्परस्परसु ॥
 तस्मिन्निधोतिष्ठयन्धुपदमे प्रतापसञ्ज्ञोपितमश्रुपङ्के ।
 कथय सा मोत्तमसोकुमार्या कुमुदयो भामुमतीव भावम् ॥
 [रघु० ६ स० ३१-३६]

[यस द्वारावातिका 'कुमुन्दा' ने 'इन्दुमती' को मने उगे हुए इन्दुके समान दर्शनीय, पशुमीसे प्रमत्त प्रतापवाले 'यवन्तिनाथ' को दिखाया और कहा देखो ! बड़ी-बड़ी बाहोवाले मोल और पट्ट कटिदेश-पारी, जोड़े-बसिष्ठ छातीवाले ये अश्वतीके राजा हैं। इनका शरीर-सौष्ठव इतना ममल-रमणीय है कि अनुमान होता है कि 'विश्वकर्मा' ने अपने "चतुर्धन" पर चढ़ाकर इनके सौन्दर्यको यत्न-पूर्वक प्रमकाया है। जब ये अपनी समस्त 'समर-बाहिनी' के साथ प्रयाण करते हैं तो सेनासे ठीकी धूलके बड़े-बड़े घाममौंके मौलि-फुल्ल भलिन हो जाते हैं। ये भगवान् 'चन्द्रमौलि-महापति' ने निरट रहते हैं अतएव वृष्णपक्षमे भी अपनी स्त्रियोंके साथ निर्य-पूर्णमाका मानव लेते हैं। हे इन्दुमति ! इस युवा राजाके ऊपर तुम्हारी कुछ प्रीति हो तो सिप्राकी तरङ्गों से बड़े हुए पवनसे कम्पित जयान-रथणीमें बिहार करो।]

किन्तु अपने प्रतापसे पशु-पक्षुकी खोजनेवाले और धनु-कमलको खिला देनेवाले, 'यवन्ती-पति' पर उत्तम सुकुमारी 'इन्दुमती' का भाव नहीं ठहर सका।

वराहमिहिर—

भारतीय ज्योतिष-शास्त्र इनसे औरवास्तव हो गया है। इन्होंने "बृहज्जातक" "बृहस्पति संहिता" और "पथतिदात्री" इन निम्न ग्रन्थोंका निर्माण किया किन्तु "संस्कृत-तरंगिणी" में भारतीय ज्योतिषके प्रथम भाग्यिक आधारों महाप्रहोषाध्याय ५० सुधाकर द्विवेदीने इनके मतिरिक्त-
 "सप्त-जातक", "समाप्त संहिता", "विवाह-पटल", "योग-भाषा", नामक ग्रन्थोंका भी उल्लेख किया है। इनमें बृहज्जातक और सप्तजातकका वासी और विपिनमे प्रचुर प्रचार है। भट्ट उत्पल नामक विद्वान्ने इनसे ज्ञान है कि यमयम उत्पन्न होनेवाले भावदोषीय ग्राहणवृत्तों में घलनार है। वास्तव्य तमरी (वर्तमान 'वात्सवी') में वात्स्यायनका बोली, वहीं मध्यमन किया और

मगवान् सर्वसे वरदान स्वर्ण ज्योतिषशास्त्रका प्रशस्तिद्वन्द्वी पाण्डित्य प्राप्त किया । इनके पिताका नाम भ्रातृवदास था । इनके पुत्रपुत्र नामका एक विद्वान् पुत्र भी था । अपनी मगध विद्वत्तासे इन्होंने प्रचुर पद और पद अर्जन किया । ये राजगिरिीके सम्राट् विजयनादित्यके साश्रयमें रहते थे । वही इन्होंने अपनी मदनबोम्बेनशालिनी प्रतिभाके सहारे अरबी फारसीका भी प्रशस्तीय अभ्यास-कर लिया । एक स्थानमें इन्होंने ज्योतिष शास्त्रकी महिमाके प्रसंगमें यह भी लिखा है—

भ्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम् ।

श्रुतिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्देवविद्वद्भिः ॥

[यवन तो भ्लेच्छ ठहरे, परन्तु उनमें भी इस शास्त्रका प्रचार है और इस कारण वे श्रुतियोंके सरस पूजाके योग्य माने जाते हैं, तब उस ब्राह्मणका क्या कहना है जो ज्योतिष शास्त्रका पण्डित है—वह तो सर्वथा पूजनोय है ।]

वररश्मि—

ये बड़े ही पुण्य-श्लोक कवि थे । अधिकसे अधिक ८—१० श्लोक इनके मिलते हैं जिन्हें सहृदय पाठक "सुतिफलाभृत", "सुभाषितावलि" और "शास्त्र-धर-सहिता" में पा सकते हैं । इतने पर भी इनकी शक्ति उत्कृष्टके नामाङ्कित कवियोंमें होती है । इस नामके तीन व्यक्ति मिलते हैं ।

१—पाणिनीय व्याकरणपर शास्त्रकार वररश्मि काव्यायन ।

२—'प्राकृत-प्रवण' के प्रणेता वररश्मि ।

३—सूक्ति-ग्रथोंमें प्राप्त इसी नामके कवि । इनमें प्रथम और सुतीयके वररश्मि एक ही मान लिये गये हैं । प्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ डा० आनन्दरकरके मतसे इसका गोत्र "काव्यायन" और नाम "वररश्मि" है । पण्डित समाज इन्हे "वासिष्ठात्य" ही जानता है, किन्तु इधर इन्हें 'मैथिल' पगड़ी पहनानेके लिये "भाटोपमय" प्रमाण तैयार किए गए हैं । मस्तु—ऐसे विषयके जिज्ञासुओंको—'कथा सरिसागर' और 'समुद्रिमुनि-कल्पतरु' देखना चाहिए ।

ये व्याकरण-शास्त्रके प्रसिद्ध विद्वान् और सर्व उपाध्यायके उत्कृष्टतम शिष्य थे । सम्भवतः काव्यकार पतञ्जलिके सतीर्थ भी । पतञ्जलिने अपने महाभाष्यमें एक स्थानपर 'वाररुच काव्यम्' कहकर इनके किसी काव्यका निर्देश भी किया है । राजशेखरने अपनी "काव्य मोमासा" में लिखा है—

"श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकार-परीक्षा—

अत्रोपवर्ण—वर्षाविह पाणिनिगृह व्याधि,

वररश्मि-भतञ्जलि इह परीक्षिता स्थातिमुपजग्मु ॥

इस खट-भाष्यमें पूर्वोक्त सन्दर्भकी पुष्टि होती है ।

वदतसे मनीषियोंका अनुमान है कि पतञ्जलिके द्वारा वररश्मिके जिस काव्यको इमित किया गया है, उसका नाम सम्भवतः "कण्ठमरुत" हो सकता है । क्योंकि राजशेखरने लिखा है—

यथार्थता कथं नाग्नि यागूद् धररुधेरिह ।

व्यपन्न कण्ठमरुतं य सदारीहशप्रिय ॥

किन्तु इस रामक से इस काव्यका दर्शन ही नहीं होता । इसके श्लोकोंमें गुप्त भाषा, स्वच्छ धर्म शोध रसपरिपाकवा पूर्य आनन्द मिलता है ।

कसमं पलभायतिगुरुमूर्धतया धनं ।

विनताभातिकोदमूत समाध्यातुमियोत्पलम् ॥

[अगहनका पान, फलोंसे लदकर घीरेसे एक तरफ झुक गया है, मानो उस ओर पासमें खिने हुए कमलके कून्पो सँपना चाहता है ।]

धस्या भगोहराकारकशरीभारनिजिताः ।

मञ्जयेव वन बाह चक्रवर्चपरर्षिणः ॥

[इस नायिकाके सुशोभन केश-कलापकी छटासे पराजित होकर ही मञ्जुके मारे मयूरीने वनवास ले लिया ।]

वामनं पलमरपुष्पात्तस्तो मस्तोपनीतमुपलभ्य ।

युक्तं यत्त तृप्यसि हृप्यसि चतत्तु ह्यस्वप्नम् ॥

[ऐ वीने ! (भलेमानम !) इस बहुत ऊँचे पेड़से (अवाचक) हवाके झूलनेसे हगके हुये फलकी वावर जो टूटते हो (यहाँ तक तो) सो ठीक है, लेकिन (फल सोबनेका) जो गर्ब-कर रहे हो—इससे बढ़कर हँसनेकी बात और क्या हो सकती है !!]

कालिदासके ग्रन्थोंकी उपादेयता

(पं० सीताराम जयराम जोशी, एम० ए०, साहित्याचार्य)

किसी ग्रन्थकी उपादेयता, उस ग्रन्थकी लोकप्रियतापर विशेष निर्भर होती है। जो ग्रन्थ विद्वान् तथा पविद्वान् दोनोंको समान रूपसे प्रिय होते हैं वे ही ग्रन्थ प्रशंसनीय होते हैं और उन्हींको उपादेयता भाग्य होती है। कालिदासके सभी ग्रन्थोंके इस प्रकारके होनेसे उनकी उपादेयता स्वतः सिद्ध है।

कालिदास और उनके ग्रन्थ संस्कृतके सभी विद्वानोंको पूर्ण परिचित हैं। उनके निमित्त रघुवंश तथा कुमार-सम्भव नामके दो महाकाव्य, मेघदूत नामका खण्डकाव्य तथा मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और मल्लिकाग्निमित्र नामके तीन नाटक साहित्य-गुरुओंको ज्ञात हैं। संस्कृत साहित्यका अध्ययन उन्हींके ग्रन्थोंसे आरम्भ होता है और यह कह दें तो भी कोई प्रतिशयोक्ति न होगी कि संस्कृत साहित्यके अध्ययनकी परिणामाप्ति भी उन्हींके ग्रन्थोंकी टीका-टीका समझनेमें ही हो सकती है। प्रसिद्ध विद्वान् टीकाकार मल्लिनाथके प्रस्ताविक श्लोकोंमें यही ही सुन्दरताके साथ इस ललितकी पुष्टि की गई है। मल्लिनाथ संस्कृतभाषामें विद्यमान पञ्चमहाकाव्योंपर सर्वोत्तम टीका लिखनेवाले माने गए हैं। वे अनेक शास्त्रोंके पण्डित थे जैसा कि उन्हींके श्लोकोंसे पता चलता है—

बाणौ कालभुजोमनीमलदवाजगोचरं वैशाखीम् ।
अन्तरतन्मनररत पद्मयगवीशुम्केषु बाजापरीद ॥
वाचामाकलयद्गुरुमसित यथाशपादस्फुराम् ।
लोकेऽभूत्तदुपक्रमेव विदुषा लोचन्यजन्य यशः ॥
मल्लिनाथ कवि, सोऽयं मन्दारमानुशिषुसया ।
व्याचष्टे कालिदासीय काव्यत्रयमनाकुलम् ॥

कालाद-मुनिके वैशेषिक दर्शन, वादरायण व्यासजीके वेदान्त, पतञ्जलि मुनिके व्याकरण महाभाष्य और अश्ववाङ्के न्याय आदि शास्त्रोंका उन्होंने अध्ययन किया था और वे सभीमें पारंगत थे। इसके अतिरिक्त वे अन्धे कवि थे और साहित्य-विज्ञानके अन्धे पण्डित थे। ये ईस्वी सन्की १४ वीं शताब्दीमें विद्यमान थे। कालिदासके तीनों काव्योंपर इनके पूर्ववर्ती अनेक टीकाकार हुए हैं और विशेषकर रघुवंशकी टीका लिखनेवाले १२ अन्धे पण्डित नामतः ज्ञात हैं। उन टीकाकारोंमें कुछ विद्वान् विशेष योग्यतावाले भी हैं तथापि मल्लिनाथने अपने प्रस्ताविक श्लोकमें कहा है—

माखी नासिदासस्य दुर्बोक्ष्या विषमूर्च्छता ।
एषा संजीविनी टीका तामजोजीनमिष्यति ॥

[कालिदासकी वाणी दीपपूर्ण टीकास्वी बिपसे गूँझित हो चुकी है। मेरी यह सजीविनी टीका उसमे जीवनसा संचार करेगी।] इस उक्तिसे यह अनुमान सही प्रकार सिद्ध है कि उनके पूर्ववर्ती टीकाकार कालिदासके ग्रन्थोंको ग्रन्थी तरह नहीं समझ पाए थे। उक्त श्लोकके पूर्वमे जो मल्लिनाथ कहते हैं—

कालिदासविद्या सार कालिदाससरस्यती ।

चतुर्मुखोऽयं वा ब्रह्मा विदुर्नान्ये तु माह्वः ॥

[कालिदासकी वाणीके सारको केवल सायतक सीम व्यक्तिमें समझ है, एक तो विद्याता ब्रह्माने, दूसरे वादेसी सरस्वतीने घोर तीसरे स्वयं कालिदासने। मेरे सदृश भक्तजन उनको टीका समझनेम सर्वथा पक्षमर्थ हैं।] जब मल्लिनाथकी कोटिके विद्वान् कालिदासकी रचनाओंको टीका-टीक नहीं समझ पाते हैं, तब कालिदास की योग्यताके विषयमे पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं। उनके ग्रन्थ इस प्रकार रहस्यमय होते हुए भी इतने सरल हैं कि उनको छोड़कर दूसरा कोई भी ग्रन्थ प्रारम्भिक छात्रोंके लिये पाठ्य विषय नहीं हो सकता। इसलिये इन ग्रन्थोंके विषयमे महाकवि भवभूतिकी उक्ति 'वज्रावधि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। लोकोत्तराणां येतासि को नु विस्तारुमर्हति' [सत्तारसे निराले इन महापुरुषोंके मनको कौन बाध सकता है जो मध्यमे भी अधिक कठोर और फूलते भी अधिक बोधमय होते हैं।] परित्याग हो सकती है।

संस्कृत साहित्य घोर कालिदास इन दोनोंका सम्बन्ध गहृत है। संस्कृत साहित्यका सौष्ठव और सौरभ बहुत कुछ इन्हींके ग्रन्थोंपर निर्भर है। जिस प्रकार रामायण और महाभारत ये दो मार्ग बाण्य सारे संस्कृतके कवियोंके उपजोध्य हैं वही प्रकार कालिदासके काव्य, नाटक उनके पश्चा-इतनी सभी कवियोंके लिये अनुकरणीय बने हैं। यदि संस्कृत साहित्यसे कालिदासको हटा दिया जाय तो उसमे ग्रन्थ ग्रन्थ महात्त्वपूर्ण ग्रन्थोंके रहते हुए भी उस वैराग्य-वाणीकी लोकाग्रियतामें क्या प्राप्तिपत्ती। अमेरिकाने 'राइटर नामके विद्वान्ने कालिदासकी श्रेष्ठताकी अनेक प्रकारसे स्थापित करते हुए अन्तम यही कहा है कि—

'ओ मी देंट कालिदास वाज ए ग्रेट पोएट, बिकोज दि वर्ड्स हैंव नोट बींग एविल टु लीव हिम एलोन।' [हम जानते हैं कि कालिदास महान् कवि थे क्योंकि सत्तारने उनको अवेक्षित नहीं छोड़ा।]

कालिदासने बिना संस्कृत साहित्यका अध्ययन ही नहीं हो सकता। हम कालिदासकी छोड़ नहीं सकते घोर शोधकर सतोष नहीं पा सकते।

अन्तर्ने जगतप्रसिद्ध विद्वान् घोर कवि नेट भी कालिदासके अकृन्तसने अनुवादको पदकार प्रान-द-वेगसे पागतने हो गए और उन्होंने उस ग्रन्थकी विलक्षण प्रशंसा करते हुए यह कह डाला—

उड्ट दाउ दि बन्ड ईषसं स्वीसम्प एण्ड फूड्स घोफ इट्स डिक्वाइन,
एण्ड घोत बाइ द्विप दि सोल इज चाम्ट, एररन्स पोस्टेड् एण्ड फेड्।
उड्ट दाउ दि बर्ष एण्ड हैविज इटसेल्फ इन वन सोल नेम बम्बाइन,
माइ नेम थो, ओ सन्तुत्ता ' एण्ड घोत ऐट् बन्स हज सेट् ।'

[यदि तुम पुत्रावस्थाने कृष और प्रोडावस्थाने फल घोर अन्य ऐसी सामग्रियाँ एवं ही स्थान पर सोजना चाहो तिनसे प्राप्ता प्रभावित होना हो, वृष्ट हँ ता ही घोर प्राप्ति पाता हो धर्माए यदि

तुम स्वर्ग और मर्त्यलोकको एक ही स्थानपर देसना चाहते हो तो मेरे मुखसे सहसा एक ही नाम निकल पड़ता है—सकुन्तला ।]

कविकी यागो प्रायः उसके हृदयका प्रतिबिम्ब होती है । कालिदासके विषयमेमलिनारायण यह कहना सर्वथा सत्य है कि कालिदासके ग्रन्थोमे ऐसे कौन बात है जिसपर सभी दार्शनिक, तान्त्रिक कवि, तथा अन्य विद्वान् मुग्ध हैं । यदि ऐसा कहे कि उनके ग्रन्थोमें चारो पुरुषार्थोंका प्रतिपादन कान्ताको सो मधुर यागोमें किंवा गया है तो रामायण महाभारतादि धार्मिक काव्य उनसे कम नहीं हैं । उपनिषद्, भगवद्गीतादि धर्मशास्त्र तथा मोक्षशास्त्रके ग्रन्थ, महाभारतके अनेक पर्वों एवं पुरुषोमे और स्वतन्त्र रूपसे भी विद्यमान धर्मशास्त्र और कामशास्त्रके ग्रन्थ—ये सब कालिदासके ग्रन्थोंके उपजीव्य हैं । इतना ही नहीं, परन्तु उनके ग्रन्थोमे संगीतादि सन्यास्य शास्त्रोके विषय भी पाए जाते हैं । तथापि इतनेसे ही कालिदास हमें इस प्रकार प्रिय नहीं हो सकते जैसा हम इनकी पाते हैं । यह भी मान लिया कि कालिदास निसर्गसे समरस थे, अतः उनके ग्रन्थोमें निसर्ग प्रपञ्च प्रकृतिका वर्णन अनुभव हो उठा है । अलंकारोमे भी विशेष उपमा अलंकारके वर्णनमे तो ये अद्वितीय ही हैं । मातृगुप्तके बतलाए हुए तीनों प्रकारके सब कालिदासके ग्रन्थोमे पाए जाते हैं—

रसास्तु त्रिविधाः वाचिकनेपथ्यस्वभावजाः ।

रसानुरूपैरालापैः श्लोकैर्वीर्यैः परैस्तथा ॥

कर्म-रूप-वयो-वासि-देख-कालानुवर्तिभिः ।

मात्स्यभूपणवस्त्रादीः नेपथ्यरस इष्यते ॥

रूपयोग-सावय-स्वयं-धर्मादिभिर्गुणैः ।

रसः स्वामाधिको शेषः स च नाट्ये प्रचल्यते ॥

[रस तीन प्रकारके होते हैं—वाचिक, नेपथ्य और स्वभावज । रसके अनुरूप वातवीर्य, श्लोक वाक्य और पद कहना तो वाचिक रस है; कर्म रूप, वयो, वासि, देख और कालके अनुक्रम भाषा, प्राभूषण, वस्त्र आदि आरक्षण करना नेपथ्य रस है और रूप योग, सावय, स्वयं, धर्म, आदि गुणोंसे स्वामाधिक रस जानना चाहिए जो नाटकमे बहुत प्रशंसनीय समझा जाता है ।

उन्ने पहला है वस्तु मात्रा मे रहनेवाला स्वाभाविक ऐसीय रस और दूसरा कृत्रिम रस है जिसे कवि, योग्य शब्द-सीष्ठयके द्वारा तथा उचित नेपथ्य-वर्णनसे प्रस्तुत करता है । ये सब कालिदासके ग्रन्थोमे प्रचुर मात्रामें मिलते हैं । इतना होते हुए भी उनकी एक विशेषता यह भी है कि ये अनुभवकी भूमिकामे स्थित होकर हमारी सभी प्रकारकी वास्तवाधीकी धारामोको सुन्दर एवं सूक्ष्म रूपसे चित्रित करते हैं जिसको पढ़ते समय पाठक तन्मय होकर काव्यके उस परम प्रयोजन अर्थात् परनिर्वृत्तिका अनुभव करने लगता है जिसके सबधमें भ्रम्यट मट्टने अपने 'काव्यप्रकाश' मे बताया है कि काव्यरसका आस्वाद करते ही सब विषयोकी भूलकर मन केवल ध्यानन्दमय बन जाता है । इसी ध्यानन्दको स्थायी रूपसे प्राप्त करनेके लिये सारा ससार प्रयत्नशील है । ध्यानन्द ही धात्माका वास्तविक स्वरूप है । अतः, जबतक मनुष्यकी सच्चा ध्यानन्द प्राप्त नहीं होता जबतक उसे शान्ति और समाधान प्राप्त नहीं हो सकता ।

कालिदासका ग्रन्थ-निर्मायिका प्रधान अग्निप्राय जनार्दन-रूपी जनताका धारापना ही प्रतीत होता है। इस सङ्घको उन्हीने स्वयं विषय दिया है। भासविकामिमित्र जनका पहला नाटक है। उसमें उन्हीने नाट्यके प्रयोगको सुन्दर रूपसे प्रकट किया है—

देवानामिवमामनन्ति भुनक्तु- धान्तं कर्तुं पाशुपम् ।
रुद्रेषोदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विमर्कं दिधा ॥
मृगुभ्योऽनूवमय लोकचरितं नानारसं हृषधते ।
नाट्यं भिन्नस्वेज्जनस्य बहुधाप्येकं सपारायकम् ॥

[देवताओंको यज्ञ प्रिय होता है। उनके नैजोंको लुप्त करनेवाला परम प्रिय दान इस नाट्य-कलाका धर्मिय है, ऐसा भुनिकोका मत है। रुद्र महादेवजीने मगनी भर्ताङ्गिनी उमाजीके साथ इस नाट्ययज्ञको अपने ही शरीरसे दिया। विभाजित करके तण्डव और सास्य नामकी मुख्यकलाओंको प्राविर्भूत किया। सत्य, रज और तम इन तीन गुणोंसे निर्मित इस सृष्टिमें दिद्यमान भ्रियुगात्मक लोक-चरितको ही समैक प्रकारके रसोंमें नाटकमें प्रकट किया जाता है। अतः, भिन्न-भिन्न अभिचरि-यानों जनताको प्रसन्न करनेके लिये एक मात्र साधन नाट्यकला ही है।]

रघुवंश काव्यके धारम्भमें महाकविने रघुकुलके राजाशौका महत्त्व एवं उनकी योग्यताका वर्णन करनेके बहाने प्राणिमात्रके लिये कितने ही प्रकारके रमणीय उपदेश दिए हैं। जिस कार्यको कोई बड़ासे बड़ा सुचारक चारों ओर घूमकर, उपदेशोंकी झड़ी लगाकर कर सकता है उसे कवि, सत्कारके एक कोनेमें बैठा हुआ अपनी सेखनीके बलसे सदाके लिये कर दिखाता है—

सौहृदाजन्मधुदानामाफलोदयकर्मणाम् ।
प्रासमुद्रसिद्धीशामायाकारववर्त्मनाम् ॥
यथाविबहुताम्नीना यथाकामार्चितायिनाम् ।
यथापराभदण्डाना यथासुप्रबोधिनाम् ॥
रवायाय समुत्तार्थाना सत्याय मितमायिणाम् ।
यथसे विनिगीकृता प्रशार्थं गृहमेयिनाम् ॥
संतपेज्ज्यस्तनिधाना शौचन विपर्ययिणाम् ।
वार्थके मुनिवृत्तीना योगेयान्ते तनुपशाम् ॥
रघुणामन्वयं वक्ष्ये.....

[मैं उन प्रतापी रघुवर्तियोंका वर्णन करने बैठा हूँ जिनके चरित्र जन्मसे लेकर मृत्यु तक शुद्ध और पवित्र रहे, जो किसी कामको उठाकर उसे पूरा करके ही छोड़ते थे। जिनका राज्य समुद्रके ओर छोरतक फैला हुआ था, जिनके रथ पृथ्वीसे स्वयं तक घापा-जाया करते थे, जो शास्त्रोंके नियमके अनुसार यज्ञ करते थे, यौगनेवालोंकी मनचाहा स्त्रियाँ देते थे। अपराधियोंको उचित दण्ड देते थे। समयपर उठते थे, दान करनेके लिये धन भटोरते थे, सत्यको रक्षाने के लिये कर्म बोलते थे, यज्ञकेलिये विजय करते थे, सन्तानोत्पत्तिके लिये विवाह करते थे, वात्सर्यक्रम पढ़ते थे, वरणाईमें सासारिक भोग मोषते थे, बुढ़ापेमें मुनियोंके समान रहने थे और मन्त्रोंके योगके द्वारा शरीर धारुण थे।]

इस प्रकार रघुवंश काव्यमें कालिदासने रघुवंशी राजाओंको विभिन्न बनाकर उदारचरित पुरुषोंका स्वभाव पाठकोंके सामने रक्खा है। जनका यह धर्मिप्राय नहीं है कि लोग उनके सद्व्यस होनेके लिये बाध्य हैं। क्योंकि ऐसा होना अतन्मय है। किन्तु यदि हम विचार करें तो ज्ञात होगा कि इस संसारमें कोई ऐसा पुरुष नहीं है जो अपनेको उन्नत न बनाता चाहता हो क्योंकि उन्नतिकी इच्छा करना आत्माका धर्म है। परन्तु प्रायः साधारण जीवोंकी इन्द्रियाँ विषयोंके अधीन होती हैं और इसलिये त्रिगुण स्वभावके अनुसार वे उदात्त ब्रह्म रहते हैं। पर आत्माकी स्वाभाविक प्रवृत्ति अपने स्वरूपकी शोच करनेकी ओर होती है इसलिये उसको ऐसे उदारचरितोंका पर्युन ही प्रिय होता है और उसके पहलेमें यज्ञाव रूपसे मन तन्मय होकर अनुपम भानव्यका अनुभव करता है। ऊपर दिए हुए दोनोंमें ही कंठो गुन्वर कल्पना भरी हुई है। सूर्यवंशकी सन्तान जन्मसे ही पवित्र और निष्कलंक होती थी। पवित्र कुलमें जन्म लेना एक स्पृहणीय धर्म प्रत्यय है जिसमें कालिदासको प्रवृत्ति थी। आत्माकी उन्नतिके लिये प्रयत्न करनेवालोंकी हताशा होनेका कोई कारण नहीं। रघुवंशी राजाओंके वृत्तसे यह सिद्धा मिसती है कि वे पालकी प्राप्तिकर्म करते जाते थे। पुण्डरीवर राज्य करते थे तो साधारण राजाओंकी तरह नहीं बरतू अपने राज्यकी सीमाकी समुद्रतक पहुँचाते थे। उनके रथोंकी वृद्धि दसों दिशाओंमें स्वयंसे होती थी। इतने बड़ा होनेपर भी वे धर्मकार और दुराधिमानसे प्रसन्न नहीं होते थे, बरन् सास्त्र-विधिका पालन करते हुए देवताओंका पूजन और हवन बराबर किया करते थे जो दासक होकर उनके पास पहुँचते थे उनकी प्रभितापामोंकी पूरा करके उसको समुष्ट किया करते थे। राजाका कर्तव्य दुष्टोंका दमन करना है, इसलिये अपराधके अनुरूप दण्ड देनेमें कमी चूकते न थे। यह सब होनेपर भी उनमें विलास-प्रियता न थी। वे जितेन्द्रिय होते थे। इस बातको एक ही शब्दमें उन्होंने भक्तकाया है—‘यथा-कालप्रबोधिनाम्’, यथाई तौकर उठनेका समय उनका कभी टलता न था (जो जिस कामका अवसर होता उस समय वह काम करते थे वे धन इकट्ठा करते थे परन्तु योग्य पात्रको उसका दान कर देते थे। वे निवृत्ताधी होते थे जिससे सत्यका व्यवहार न हो। विजयी होनेकी इच्छासे ही दिग्बिजय किया करते थे और उसका मुख्य हेतु चारों दिशाओंमें अपने दलको फैलाना था। केवल संततिकी इच्छासे ही गृहत्यागमकी स्वीकार करते थे, विषय-सृष्टिके लिये नहीं। वास्तवस्थाने ही धर्मधन समाप्त कर लेते थे। जीवनमें विषयोंका उपभोग होता था किन्तु वह विषय-रहित मनमाना नहीं होता था द्रव्युत शास्त्रविधिके अनुसार, जिससे ‘शोभे रोगमय’ भी न आए और जवानी बीतनेके पहले ही मुनिका आचरण भङ्गोकार कर लेते थे और योगबलको पाकर देह-स्वागके अनन्तर ब्रह्म-निर्वाणरूपी मोक्ष पा लेते थे। इन सब विषयोंका संकलन केवल रघुवंशमें है जिसकी वस्तु स्वभाव-सुन्दर होनेके कारण उसको इस खेष्ट कविने अपनी अनुपम वाणीके सामर्थ्यसे और उचित वैद्य-भूषादि योजनाके द्वारा उस काव्यकी विविध रसोंसे शोचप्रोत कर दिया। कालिदासके अन्य ग्रन्थ भी इस प्रकारके तथा अन्य प्रकारके गुणोंसे पूर्ण होनेसे अत्यन्त मनोमग्न और लोकप्रिय बन गए हैं।

पारंपारिकोंने उपदेशके तीन प्रकार बताए हैं। प्रमुखस्मित, मित्रसन्मित और कान्तासन्मित। स्मित पदका धर्म तुल्य है। प्रमुखस्मित उपदेश धात्राके रूपमें होता है। वह जिस पुरुषके लिये होता है उसको विषय होकर उपदेशका पावन करना आवश्यक हो जाता है। जैसे माता-पिताका

उपदेश वास्तविकी प्रति होता है। यह घोषके समान प्रारम्भमे भ्रमिय होनेपर भी अन्तमे पुष्टकारी होता है। वेद, उपनिषद्, शास्त्र आदि धर्म-ग्रन्थोका उपदेश इसी प्रकारका माना गया है। दूसरा उपदेश मित्रसम्मिश्र है जो कि पुराणादि ग्रन्थोसि ज्ञात होनेवाला है, जैसे कोई मित्र दूसरे मित्रको कुमारसे हटानेके लिये कुछ कह रहा हो उसी समय उसके मनमे यह विश्वास भी रहता है कि मेरा मित्र मेरे उपदेशको मान ले तो उसका कल्याण होगा, यदि नहीं मानेगा तो हम उसे बाध्य नहीं कर सकते। किन्तु तीसरा उपदेश कान्ता-सम्मिश्र है जो अन्धे काण्डोका प्राणरूप होकर कभी विफल नहीं होता। इस उपदेशमे कान्ताके समान पुष्ट्यकी सर्वदा प्रसन्न रहते हुए उसकी अच्छे पथपर जानेके लिये ऐसा अतिरिक्त उपाय है कि जब वह अपनेको सुपरा हुआ पाता है तब वह उस कमस्कारको देखकर मन ही मन शक्ति हो जाता है। कालिदासके ग्रन्थोमे यह तीसरे प्रकारका उपदेश हमान स्थानपर मिलेगा। कालिदासके स्वभावकी विशेषता यह है कि किसीके द्वारा करना तो दूर रहा, उससे सभी प्रकारके ऊँच नीच बातोंकी प्रकृति प्रस्तुत करके उनके अच्छे और बुरे परिणामोका मधुर लब्धोमे वर्णन करते चलते हैं। उचित होगा पर अनुचित इसका निर्णय उन्होंने पाठकी पर छोड़ दिया है जिससे पाठकोको कालिदास पर क्रुद्ध होनेका भयसर कभी नहीं आ सकता। सारे उत्तर की सहज प्रकृति विषयसुखकी ओर रहती है। विषयसुखकी वासना कितनी प्रबल होती है और अपनेको राजपि भित्ति-निर्भय मतलानेवाले भी वासनासे कैसे विचल हो जाते वे और साथ ही उससे अत्यन्त व्यापित होनेपर अथर्षक मार्गपर चलकर अर्थ और कामको वे कितना हृद्य समझते थे, इसका सूत्र और सुन्दर चित्रण हमें कालिदासके ग्रन्थोमे मिलता है, जिसे पढ़कर पाठक समझ जायेंगे कि साधारण जबला कण्ठ और क्लेशोसि अन्धके लिये विषयके प्रयोग हो जाती है परन्तु सत्साधारण समौहिक जन प्राणवशसे भी अथर्ष और अन्ध्यायके प्रलोभनकी ओतनेकी चेष्टा किया करते हैं। इस विषयमे तीनों नाटकोके उदाहरण हमारे सामने हैं। अभिज्ञानसाकुन्तलके प्रथम अङ्कमे जब शकुन्तलाको राजा प्रथम बार देख लेते हैं तब उसके सौन्दर्यपर मुग्ध हो जानेपर भी मनमे विचारते लगते हैं कि यह भूवि कया स्पर्शजनरत्न है अथवा प्रतिम, और सत्यताके निर्दिष्ट होनेके पहले ही आत्म-विश्वासपर निभर होकर इस निष्णयपर पहुँच जाते हैं कि इस दुन्दुभ्यका मन आज तक कुपयकी ओर कदापि नहीं झुका है इसलिये शकुन्तलाके प्रति इच्छा अथर्ष नहीं हो सकती। इससे एक बात निश्चित हो जाती है कि यदि किसी बातमे धर्मका विरोध न हो तो उसकी प्राप्तिके लिये किसी उपाय अथवा प्रयत्नका अवलम्बन करना प्रशस्तनीय है। मनके विचारीको बधमे करनेका सरल ढंग मालजिवाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय सभीमे देखनेको मिलता है। कालिदासके अत्येक काव्य या नाटकमे नायक और नायिकाएँ भिन्न कोटिकी दर्शाई गई हैं। जैसे कुमारसम्भवमे अत्युच्चकोटिके नायक खिन्नजी, पार्वतीके सौन्दर्यपर मुग्ध नहीं होते हैं तब पार्वतीजी 'मरुत्तहर्षं गदन्त्य निग्रहात्' (कामका निग्रह करनेवाले शङ्कर भला रूप-द्वारा कैसे रिझाए जा सकते हैं ?) को ध्यानमे रखकर कठिन से कठिन उपदेशों करनेके लिये उद्यत हो जाती है और शङ्करको दास बनना पड़ता है।

अथमृत्यवन्ताङ्गि : तन्वास्त्रि दास

क्रीतस्तपोधिरिति ध्यादिनि चन्द्रमौली ।

—कुमारसम्भव, सर्ग ३, श्लो० ८६ ।

शकरजीने कहा—[“याजसे हे देवि ! मैं तुम्हारे तपसे मोल लिया हुआ तुम्हारा दास हूँ” ।]

इस प्रकार काम-पुरुषार्थका बहुत ऊँचा चित्र उन्होंने अपने काव्यमें खींचा है। ऐसे ही अनेक सूक्ष्म भावोंको मधुर सा-द सृष्टियोंके द्वारा बख्शें करते हुए उनको प्रति मनोहर बना दिया है और भगवद्गीताके ‘धर्माधिकृतो भूतेषु कालौष्ठसि यस्तत्तमम्’ का चारिताव्यं गुचाव रूपसे सिद्ध किया है और स्वयं कामरूपी भगवान्‌के उपासक थे इसको भी ऊलकाया है। काम पुरुषार्थको नित्य-दुर्लभता और उसको प्राप्त करनेके अनेक सरल सुखम उपाय तथा उस पुरुषार्थका उपभोग करनेवाले विविध व्यक्तियोंके स्वभाव वर्णन आदि सब विषय भालालवृद्ध सभीको स्वभावसे ही प्रिय हैं तथा उनके लक्ष्यमें उपलब्ध होते हैं और यही उनकी उपादेयताका कारण है।

अवि-जगत्‌में कालिदासका मौलिक स्थान है। त्रिवर्गके विषय धर्म, अर्थ और काम, जिनका प्रतिपादन शास्त्रोंमें सुमार तर्प और अनुभवसे किया गया है, उनकी रोचक वर्णनोंके साथ प्राबाल-वृद्धके हृदयमें प्रविष्ट करा देना और उनकी नित्यवृत्तियों तन्मयताकी सहरमें जीन करा देना अच्छे कविका ही धर्म है और उसकी ही कृतिको विद्वानोंने ‘काव्य’ बताया है। हृदय और श्रव्य को प्रचारका काव्य होता है। कालिदासने दोनोंपर सेकनी चलाई है। ऐसी रचनाओंकी मौलिकता प्राग्जल भाषा-द्वारा पूर्वोक्त उचित लेख्यके साथ वस्तु प्रतिपादन-पर निर्भर रहती है। कालिदासने नाट्यकालमें प्रवीणता प्राप्त करके विचक्षण जनत्‌के सामने अपनी प्रथम रचना रखी जिसे मासविकानिमित्त कहते हैं। उस नाट्यके उपक्रमसे ज्ञात होता है कि उन्हें इस बातका विदवास नहीं था कि वह रचनाध पर सरा उतरेगा। क्योंकि उनके पूर्ववर्ती आस, सौमिल, कविपुत्र आदि अनेक नाटककार प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे तथापि कालिदासमें इतना आत्मविश्वास अवश्य था कि उन कवियोंके नाट्यकी जो बातें नहीं पाई जाती हैं वे मासविकानिमित्तमें दर्शकोंको मिल सकती हैं। इसलिये वे कहते भी हैं—‘पुराणमिदमेव न साधुसर्वम्—

न चापि काव्य नवमित्यवश्यम् ।

मासविकानिमित्त १।२

[पुराणा होनेसे ही कोई काव्य ग्राह्य नहीं हो सकता और नवीन होनेके कारण त्याग्य भी नहीं हो सकता।] अच्छे समालोचक इस नाटककी समालोचना करते समय एक बातको धूल बाते हैं कि कालिदासने इस नाटकके लिये ऐसा नायक चुना जो कालिदासके समयकालीन राजाओंमेंसे था। अग्निमित्र द्रुम वरके एक साधारण राजा थे। उनके कई गलियों थीं तथापि उनकी काम-बाधना दूतन मुगरीकी देखनेसे जागरित हो जाती थी और वह वस्तु यदि सुगम्य रहती थी तो उसकी प्राप्तिसे लिये कोई भी यत्न बना नहीं रखा जाता था। हमारी दृष्टिमें यह उसी समयका गरिज-गिरण है और इसीको उन्होंने नाटकका प्रधान विषय बनाया है। देखतपिरने भी कहा है कि ‘नाटक’ जगत्‌के व्यवहारोका प्रतिबम्ब है (होर्लिङ्ग गिरर अष्टु वेचर)। कालिदास इसे मनी भाति जानते थे कि महाभारत और रामायणमें वर्णित राजर्षिके प्रधान अग्निमित्र उद्यत चरित नहीं थे तथापि ये नायकके सभी साधारण गुणोंसे सम्पन्न अवश्य थे।

ये धीरोदात्त थे, दक्षिण थे और मासविकासे प्रेम करते हुए भी विवाहिता रानियोंके साथ सभी उपाचारान्तरिक नहीं करते थे। मासविकाके साथ एकान्त सेवनरूप जो मानुष-सहज दुर्लभता कालिदासने अग्निमित्रमें दिखलाई है, उसके कारण साधुविक कविपुत्र विद्वानोंने उन्हें बहुत ही

हीन-चरित्र बताया है एवं उनकी निन्दा भी की है परन्तु कालिदासकी दृष्टिमें अग्निमित्रका मानविकाके साथ एकाग्र समागम केवल मानविकाकी स्मर-पीडाकी आश्रयान्तक प्रवस्थासे बचानेके लिये ही था। नाटकमें इस स्थितिको कविने बड़ी कुशलतासे चित्रित किया है। अन्तमें राममुनीके सम्बन्धको जानकर देवी बारिखीके द्वारा ही मानविकाको देवी पद प्रदान कराया गया है। इसी प्रकार इस नाटकमें परित्राजिका, रागनाचायं, विदूषक तथा अन्य कुल-स्त्रियोंका वर्णन विलक्षण पात्रुरीके साथ किया गया है और उपर्युक्त आचिक, नेपथ्य और स्वामाधिक तीनों रसोंका परिपोष इतना मनोस्र बना दिया गया है कि उसे पढ़ तथा देखकर पाठक एवं दर्शक मुग्ध हो जाते हैं और गन्ध, रज एवं तम इन तीनों गुणोंके अनुरूप अनेक प्रकारके रसका आस्वाद्य करते हैं।

मानविकाग्निमित्र नाटकके पञ्चाङ्ग अग्निमित्र-जन्तुमें अवतरित कालिदासका दूसरा नाटक अथवा नीटक विप्रमोर्षसीय है जिसमें अनुभव-भूमिकापर स्थित कराकर राजर्षि और दिव्यांगनाका ऐसा वर्णन किया है कि कदल विप्रसम्म शृङ्गारके प्रतिविम्बमयजनक रस, विलक्षण माया-सौन्दर्य और संगीत-आश्रय रहस्यमय पदोंके साथ अत्यन्त मनोहर बन गया है। कथा, केवल येशमें वर्णित सारांश रूपमें ही है। इना और चुपके पुत्र तथा चन्द्रयाके धीन राधा पुरुषका दिव्यांगना सर्वशोकके साथ प्रणय करते हैं, फिर विषय हो जाता है और फिर मिलन भी हो जाता है जिससे एक पुत्र उत्पन्न होता है। यही सामान्य कथा कवि-कौशलसे बहुत ही रचणीय बन गई है। इस नाटकमें विशिष्ट पात्रोंकी मनोभावनाएँ सूक्ष्मसे सूक्ष्म विशिष्ट संगीत-विज्ञानके साथ प्रकट करके कालिदासने नाट्य-कलामें दूसरा प्रशंसापत्र पाया। ऐसी शुद्ध कथामें कालिदासके प्रतिरिक्त अन्य कोई भी कवि इतना जीवन नहीं डाल सकता था।

तीसरा नाटक सबसे सर्वानन्दर उपदेर्शित गयी हुई, मानवस्वभावकी विचित्रताकी प्रदर्शित करने वाली सभी देशों और कालोंके अनुरूप कमनीय अग्निमित्र-कलापूर्ण कृति, अग्निज्ञान-साकुन्तलके रूपमें प्रकट हुई और उसने नाटक-जगत्में उसके लिये सर्वत्र यथेष्ट स्थान प्राप्त कर लिया। पाश्चात्योंके भारतमें परिचित होनेके कुछ कालके अनन्तर संस्कृत भाषाके सम्मान्य ग्रन्थोंके साथ इस नाटकका भी अनुवाद योरोपीय भाषाओंमें हुआ। हम पहले कह चुके हैं कि केवल इसके अनुवादको पढ़कर योरोपके विद्वान् कवि गेठेके इसपर सट्टा होकर हर्षातिरेकके साथ इसका धादरपूर्वक अग्निमन्त्र किया। विद्वानोंमें यह श्लोक प्रसिद्ध ही है—

काम्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या साकुन्तला ।

तत्रापि च पतुषोऽद्भुततम एतोकपतुष्टयम् ॥

[ब्रिटने नाम्यके प्रचार है उनमें नाटक विशेष सुन्दर होता है। प्रसिद्ध नाटकों में काव्य-सौन्दर्यकी दृष्टिसे अग्निज्ञान-साकुन्तलका मूर्धन्य स्थान है। अग्निज्ञान-साकुन्तलमें भी पतुषं प्रकट और इस प्रकटमें भी भार एतोक मनोहर है।] कल्कल-बारिखी साकुन्तलाको देखकर दुष्यन्तका हृदयोद्गार हम स्वरमें निजता—‘इयमिदममोज्ञा वल्लभेनापि त्वया किमिदं हि मधुराणी मण्डनं तादृती-नाम्’ [यह मनेसी तो वल्लभमें भी बड़ी खोली लगती है। स्वभावसे ही रमणीय वस्तुओंकी शोभा बाह्य उपकरणोंपर निर्भर नहीं होगी] प्रत्युत समुन्दर बेध-भूषा भी उनकी सहज कमनीयतामें पाया नहीं जासकी। उनकी शोभा प्रविष्टिण नवीन ही रूप धारण करती है। यदि सर्वानन्दर

अभिज्ञान शाकुन्तलके आषाढान्तरमें लिए गए अनुवादोंकी समीक्षा करते समय दुष्यन्तकी इसी उत्कृष्टा उपयोग किया जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। जीवन ही है, धाम्यन्तर-सौन्दर्य बाह्य उपादानके अनुपपन्न होनेपर भी जयमगता ही रहेगा। यह नाटक किसी भी रूपमें रहे, इसकी हृदयहारिता ज्यों की रयी धनी रहेगी। हमने सुना है कि इस विश्वव्यापी घोर सन्नाहमें कुछ मास पूर्व इस बीसवीं शताब्दीमें आस्ट्रेलिया द्वीपखण्डमें इस नाटकके धाम्य भावानुवादका अभिनय करके वहाँकी जनता आनन्द लेती थी। इसमें चौथा अङ्क सब प्रकारसे सुन्दर तो है ही, उनके चार हस्तोक्त किसी देशमें सत्राके लिये शत्रुको उपादेय हैं। अधिक क्या कहा जाय शाकुन्तलकी एक पंक्ति भी बोधवस्तु नहीं है। इतना ही नहीं, प्रत्येक पंक्तिमें एक न एक विशेषता है। इस नाटकके सभी पात्र भी वरसै लेकर दुष्यन्तक अपने-अपने उचित रमणीय रूपमें अपने-अपने परीय करते हैं।

कालिदासके तीनो काव्योका यथानु-यथानुसंग बहिष्कृत है। कालिदास धर्मनारी-नटेश्वर शङ्कर भगवान्के उपासक थे। यह बात उन्होंने अपने ग्रन्थोंके मूल एतानामें भूलकाई है। तथापि ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनोंके प्रति उनके अन्तर्गत बुद्धि थी। विशिष्ट काव्योंके फारस एक ही परतस्वके तीन प्रकारके अभिधानके मूल प्रकृतिके गुणोंके अनुसार तीन नाम हैं। सज्जन, वाल्मीकि और सहरण, राजस सारिक और तामस प्रकृतिके कार्य होनेके कारण कार्यभेदसे एकाही परतस्वकी ब्रह्मा, विष्णु, और महेश के तीन प्रतीक मूर्तियाँ हैं। साक्ष्यकी प्रकृति और पुरुषकी कालिदासने सभी परतस्वका आविर्भाव माना। उसी तत्त्वकी योगीजन अपने हृदयमें स्थित ज्योतिके रूपमें पाकर उत्तम होठे हैं। इस प्रकार कालिदासने सारे विश्वकी साठ मूर्तियोंमें विभक्त करके उन सपको अपने उपास्य देवताका ही पृथक् पृथक् मङ्गल माना है। इस वैज्ञानिक सिद्धान्तका प्रतिपादन स्थान स्थानपर उन्होंने किया है। शङ्कर भगवान्के धर्मनारी-नटेश्वरके रूपमें उनके उपास्य देव होनेके कारण प्रथम सर्गकी आराधनाके रूपमें कुमार सम्भवका प्रवचन प्रतीत होता है। जयमगता और जयपिताका काम-पुरुषार्थ—समोय तथा विश्वभारतक उन्नयन—शुभारम्भका मनोह बर्तन शान्त रूपमें संपन्न होकर सुखित आराम-दत्ता देनेवाला होता है। यथाए, कालिदासके अतिरिक्त दूसरा कौन कवि है जो इसे इतनी सफलताके साथ वर्णन कर पाता? यहीवर अचेतन सृष्टि सचेतन हो उठी है। हिनालय कालिदासकी सृष्टिमें जब बर्तन नहीं है प्रत्युत वह देवतात्मा है जहाँ पर सब देवता सदाके लिये वास करते हैं। पार्वतीजीके तपोवनमें बढनेवाले पेड़ उनके पुत्रोंसे काम लय माग्न नहीं थे। जगम प्राणियोंकी तो क्या ही क्या—उस तपोवनमें व्याघ्र और हिरण्य अपने शत्रु भावकी शयनकर शान्त चित्तसे विचारण करते थे, वहाँ स्थावर वृक्ष-पत्तार्थ भी प्राणधारी बंधकर पत्तोंके बलरूपी स्तम्भका पान किया करते थे। इन कमनोमें कालिदासने दर्शनके उदात्त तत्व चेतन्यका सर्व-व्यापित्व नदी रमणीयतासे भूलकाया है। शिवजी योगेश्वर थे हृषीकेश थे पार्वतीजीके सौन्दर्यपर सुख होनेवासे नहीं थे। यही कारण था कि पार्वतीजीने अपने रूपको हेय माना और कठिन तपके द्वारा शिवजीकी वधमें किया—

इदं ता कर्तुमवन्मन्यता

समाधियास्याय तपोविरात्मनः ।

अवाप्यते वा कथमन्यथा ह्य

तथाविध प्रेय पतिरच साहसः ॥

—कुमारवर्मन, ५।२.

[पार्वतीजीने नियमित रूप से सपत्न्या के द्वारा समाधि का अभ्यास प्रारम्भ कर दिया क्योंकि वंसा देवी प्रेम और वैसा पति मिल करे सकता है ?]

वस, कालिदासका सारा प्रयत्न प्रेम और समाधि दोनोंको एकही जगह दिखानेका था । इसका उद्देश्य और कोई नहीं, क्योंकि प्राणिमात्रका परम पुरोषार्थ समुद्रम और निःशेष इन दोनोंको एकत्र बानेमें ही है । यह दिखा हमे कालिदासके मनमें मिश्रता है । कुमारसम्भवका पञ्चम सर्ग पूराका पूरा इसी भावसे भरा हुआ है ।

बचिके वर्णनका रहस्य व्यञ्जना व्यापारसे उपदेष्टा देनेका रहता है । धार्मिक-साहित्य हम बतलाते हैं कि भारे रामायणका प्रयोजन 'रामादिव्रतितत्त्व न रावणदिवद्' (राम तथा तत्सदृश पुरुषोंकी भाँति काम किया जाय, रावण इत्यादिकी भाँति नहीं) है । कुमारसम्भवमें दिव्य नामकका दिव्य अरित वर्णित है परन्तु लौकिक काम और शूङ्गार-रस की मूल्य भावनाओंका वर्णन करनेके लिये उन्होंने मेघदूत लिखा जिसमें यह वर्णन किया है कि प्रकृति के समस्त होते हुए भी प्राणीकी मनुष्य-मुलक विपत्ति और वियोगसे मूल्य भावनाओंका अनुभव किस प्रकार होता है और कैसे होना चाहिये । मेघदूत काव्यकारी कल्पनाका फल नहीं है जिसमें निर्वर्णके समुद्रम वर्णन तथा शूङ्गार-रसके लिये कालिदासने अपने प्रयत्न अनुकूल अन्वयान्ता वृत्तमें भर दिया है । इसकी प्रतिमूर्ति हार्दिक इच्छा यही है कि 'हे मेघ'—

माधुदेव क्षणमपि न वे विवृता विप्रयोग ॥

—उत्तरमेघ, ३५

1 [हे मेघ ! इस प्रकार तुम्हारा कामी बिजलीके वियोग न हो ।]

इस प्रकार कालिदासके प्रयोगका जब हम सूक्ष्म निरीक्षण करेंगे तब विदित होगा कि कालिदासके प्रयोगमें अत्यन्त उदात्त अरिज शङ्कर भगवान् तथा भगवान् रामचन्द्रसे लेकर साधारण राजा भनिमित्र आदि तथा उनके साथ साथ सृष्टिके सभी अन्त्य नीच प्रकारके व्यक्तियों का विविध प्रकारका वर्णन पाया जाता है जो भिन्न भिन्न रसोंकी पुष्टि करता है । धर्म, धर्म, काम, मोक्ष इन चारों। वर्णन तो है ही साथ ही चारों पुरुषार्थों की जो सदृष्टि प्रयोग कामरूपी भगवान् हैं, उनकी अन्तर्गत जहाँ वहाँ पाई जाती है—

'स शान्तिमाप्नोति न कामकामी' (गीता)

मुमुक्षु भी मोक्षका कामी ही होता है । इस लोके जितने देवधारों होते हैं वे किसी न किसी कामके उपासक हैं । कोई धर्म कामी है तो कोई धर्म-कामी, बहुतसे काम-कामी हैं तो कोई मोक्ष-कामी भी है और ऐश भी बहुतसे मिलेंगे जो धर्म अथ और काम इस द्विर्गको समान रूपसे चाहें और दूसरे भोगके साथ चतुर्धर्मों और बुद्ध केवल धर्म-कामसे समुष्ट रहेंगे । कालिदासने हम इन सभीके प्रतीक दिए हैं । केवल धर्म काम लीला देवी और रामचन्द्र, केवल धर्म-काम दिशाएँ और राजा दशरथ, केवल काम कामी अग्निवर्ण तथा रामचन्द्र; केवल मोक्ष कामी राजा रघु तथा धर्म, धर्म तथा काम दोनोंके उपासक राजा पुरुषरा और दुष्यन्त, धर्म, धर्म और काम तीनों के उपासक राजा भनिमित्र, और इन सभी प्रकारके कामोंकी पूर्ण मष्ट करके आत्म स्थित होने वाले शङ्कर भगवान् जो पुरुषोत्तमके सुन्दर प्रतीक हैं और इनको भी अपनी उपोमितिसे

दास बनानेवाली महाभक्त पार्वतीजी मूल प्रकृतिकी प्रतीक—इन सभीका सुन्दर वर्णन पाठक वहाँ पावेंगे। असारके किसी ग्रन्थ में इतनी विविध प्रकारकी बातोंका इतना अनुपम विवेचन नहीं पाया जा सकता।

कालिदासकी ओर देखनेकी एक ओर दृष्टि है, वह है सब पर निर्वृत्ति—सात्वतिक परमानन्द की जो काव्योंके पढ़नेके साथ ही मिलता है। कालिदास इस विषयमें पार्वतीजीकी ओर संकेत कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंमें उत्पन्न चरित्र नामा रसोंमें अर्थात् घाट (भयवा नी) प्रकारके रसोंमें जो परिपुष्ट हो रहा है वह क्षणिक होता है, कदापि शाश्वतिक नहीं होता है। क्षणिक रस अथवा शाश्वतिक रसके ही अर्थ हैं। शाश्वतिक रस शाश्वत रस है जो आत्मामें सर्वदा स्थित है, जिसको प्राप्त करनेके उपरान्त उससे श्रेष्ठ कोई वस्तु प्राप्त करने योग्य रह नहीं जाती। यही आत्मानन्द है। अत आत्मानन्दको हम शाश्वत रसका स्थायी भाव मानते हैं। दूसरे विद्वानोंने काम तुल्य क्षयमुख आदिको शान्तरसका स्थायी भाव माना है परन्तु वे सभी इसी आत्मानन्दके भीतर आ जाते हैं, यह आत्मानन्द ही सत्य आत्ममें निर्विघ्न पुण्यका धर्म है। किन्तु पुरुष जब प्रकृतिके अधीन हो जाता है तब प्रकृतिके तीनों गुणोंमें निकलनेवाले उसी एक ही शान्त रसके घाट प्रकार झुझार, वीर, करुण, हास्य, भयानक, रोद्र, बिस्मय और अद्भुत हो जाते हैं। अत शान्त रसको हम घाटोंका प्रथम भयवा उदय स्थान मानना चाहिए, अन्यतः पुरुष नहीं। कालिदासका सर्वथा यही प्रयत्न है कि इन्हीं घाटों रसोंके द्वारा उन-उन आत्मन्वोंको प्रकाश करते हुए अन्तमें उस शाश्वतिक आनन्दको ही निरुपाधि बनाकर प्राप्त करा दें जो शान्तिके रूपमें आत्मामें स्थित है। यह निरुणातीत होकर पार्वतीजीके पदपर स्थित होकर माना है। 'तथाविध प्रेम पतिव्रतादयः'। यही भगवान्‌के विषयमें अमितरूप प्रेमसे परमरूप प्रभुको प्राप्त करना है। यह तत्पूजक समाधिके बिना नहीं प्राप्त हो सकता है। यही ध्वनि-काव्यका उत्तम गुण व्यञ्जना व्यापार, कालिदासके सभी ग्रन्थोंमें अनुस्यूत है, अतएव वे सर्व-उपादेय बन गए हैं।

कालिदासके शब्द-प्रयोग

(पं० भाष्यिकाप्रसाद उपाध्याय व्याकरणाचार्य ।)

कविकृतविलक, कविता-कामिनीके कमनीय काण्ठ कवि कालिदास प्रसौक्तिक चमरकृति-सम्पादक काव्य-संसारके विद्याता ये । उनकी प्रतिभा इत्युक्ता श्रव्य दोनों प्रकारकी काव्य-रचनामें समप्रतिष्ठ दी । कविका स्थान जगत्तमें क्या है इसका आभास इसीसे मिल जाता है कि भगवान् भी अपनेको “कवि पुत्राण” कहकर ‘कवि’ शब्दसे ही सङ्केतित करते हैं । ‘कवि’ शब्द विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तिका बोधक है, उसीकी समस्कार-जगत् रचनाका नाम ‘काव्य’ है । काव्यके मुख्य आधार शब्द तथा अर्थ हैं । इसीसे काव्यका सङ्ग्रह करते हुए सभी आचार्योंने शब्दार्थकी प्रधानता स्वीकार की है । जैसे, (१) उभयापौ काव्यम् (काव्यान्तङ्कार), (२) तद्वदपौ शब्दार्थौ (काव्यप्रकाश), (३) रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् (रस-गङ्गापर), (४) वाक्यं रत्नारमकं काव्यम् (साहित्यदर्पण), (५) इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदान्वतिः काव्यम् (काव्यादर्श) और (६) निर्दोषालसखण्वती सरीतिर्गुणगुम्फिता । शास्त्रकाररसमैक-वृत्तिर्वाक् काव्यनामनाम् (चन्द्राक्षक) ।

इन दोनोंमें भी अथर्विलया ‘शब्द’ की ही प्रधानता प्रतीत होती है । इसलिये कविका शब्दोंपर अधिकार होना निहान्त आवश्यक है । उसके निमित्त शब्द-शास्त्रका पूर्ण पाण्डित्य अपेक्षित होना निर्विवाद है । इस दृष्टिसे कवि-सम्राट् कालिदास शब्दशास्त्रमें पूर्णतया निष्णात थे, इसमें शेषमात्र भी शङ्के नहीं है । उनके ग्रन्थोंका अवलोकन करनेसे सात होता है कि शब्द-शास्त्र उन्हें रात-दिनके व्यवहारिक विषयकी भाँति प्रत्यक्ष था । यहाँतक कि उपमानविधानमें भी व्याकरणके विषय निदोषित हैं जगदी प्रयोगदर्शी तथा शब्दार्थके पाण्डित्यका दिग्दर्शन ही पर्याप्त होगा । दो-चार उदाहरण लीजिए ।

वागर्थाविन सम्पृच्छी वागर्थं प्रतिपत्तये ।

अथतः विद्यते वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

रघुवंश, सर्ग १ । १॥

यहाँ शब्दार्थ-सम्बन्ध उपमान तथा पार्वती-परमेश्वर उपमेय हैं । व्याकरणमें शब्द और अर्थका भेद है, दोनों एक हैं । जैसे ‘नीलो घटः’ में ‘नील’ और ‘घट’ का भेद है । ऐसे ही ‘अर्थं घटः’ इत्यमान ‘व्यक्ति’ अर्थ और ‘घट’ शब्दका भेद है । इसीलिये ‘अथ घटः’ में दोनों शब्द समानाधिकरण प्रथमान्त हैं । यदि भेद होता तो ‘रजः पुष्पः’ की तरह पृथी विभक्ति होती, पर ‘अस्य घटः’ या ‘अर्थं घटस्य’ प्रयोग नहीं होता । ‘रामेति द्वयस्य नाम मानभङ्गः पितृभिः’, ‘वृद्धिरादेच्’ इत्यादि स्थलोंमें भी समानाधिकरण प्रयोग ही हुआ है । ‘वागर्थाविन’ समाससे तथा वितरो’ एकशेषसे, ‘वेन समासो विभक्त्यवधोषः’ आदिककी घोर ‘विता-माना’ सूत्रकी स्मृति हो जाती है ।

(२) रघुवंशके बारहवें सर्गके अष्टावनवें श्लोकमें 'बालि' के स्थानपर सुग्रीवके अभिहित होनेका वर्णन करते हुए कहा गया है 'घातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेद्यत्' जैसे 'घसू' के स्थानपर 'सू' प्रादेश होता है, और 'इत्' के स्थानमें 'गा' होता है वैसे ही 'बालि' के स्थानपर 'सुग्रीव' अभिहित किए गए । कितनी सटीक उपमा है जैसे 'स्वामी' के अर्थका वाचक प्रादेश होता है । वैसे ही बालिका सब कार्य सुग्रीव करेगे ।

(३) रघुवंशके पन्द्रहवें सर्गके सातवें श्लोकमें रघुकुलकी सराहना करते हुए लिखा है—

यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परन्तपः ।

अपवाद इवोस्तां प्वाकर्तयितुमीश्वरः ॥

[रघुकुलका कोई एक ही, जानू-समुदायको वैसे ही दूर कर सकता है, जैसे अपवाद अनेक सामर्थ्यको स्थावृत करता है ।]

कुमारतन्त्रके द्वितीय सर्गके सत्ताईसवें श्लोकमें यही भाव और सुन्दर रूपमें प्रामा है—

सत्त्वप्रतिष्ठाः त्रयम् पूर्वं किं वसवत्तरैः ।

अपवादैरिवोत्तर्गाः कृत्व्यावृत्तपः परैः ॥

[पहलेये सत्त्वप्रतिष्ठ प्राप लोग क्या वसवत्तर जानुबोधे आधित हो रहे हैं ? जैसे अन्धव हरि-
ताम्रं उत्तमं 'इको यणुषि', 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' को वसवत्तर (निरवकाश) अपवाद 'अकः
सर्वेषां बीमः', 'मग्निष्टोमोयं वशुमालयेत्' इत्यादि स्थावृत कहते हैं ।] 'अपवादो वसवत्तर' ॥ निरव-
काशो विधिर्वाकः' स्थावरानु-नियमका उपद्रुक्त व्यवहार हुआ ।

(४) रघुवंशके पन्द्रहवें सर्गके नवम श्लोकमें सबखानुसुरकी भीतने के लिये सेना लेकर जानुपुत्रके प्रस्थानका वर्णन करते हुए कानिदास लिखते हैं—

रामादेशादनुगता सेना हस्यार्षेचिदये ।

पञ्चादभ्ययनार्थस्य धातोर्धिरिवावयत् ॥

भीरामचन्द्रजीकी प्राप्ताति अर्थ (जय) सिद्धिके लिये सेना पीछे चली, जिस प्रकार अर्थ सिद्धिके लिये मध्ययनार्थ 'इह' पातु के पीछे 'अधि' उपसर्ग लग जाता है । 'अधि' उपसर्गके बिना केवल 'इह' पातु अर्थ-बोधन करनेमें समर्थ नहीं ।

(५) वारकाहुरसे वस्तु देवमणु पितामहके पास गए और उनकी अपनी कहलु कहानी सुनाई । पितामहने उसका उत्तर चारो मुखोंसे दिया । इसका वर्णन कुमारतन्त्रके दूसरे सर्गके १७वें श्लोकमें इस प्रकार है—

पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता ।

प्रवृत्तिरासौच्छ्रयाना चरितार्था चतुष्टयो ॥

पुराणे कवि ब्रह्माके चारो मुखोंसे उच्चरित वाणीने "चतुष्टयी शब्दानाम्प्रवृत्ति" को चरितार्थ कर दिया । मुझे ब्रह्माके मुख चार और उनसे शब्द भी निकले चार ।

पंचाकरणोंके सिद्धान्तानुसार वाली चार प्रकारकी होती है—(१) परा (२) परमस्त्री (३) मध्यमा तथा (४) बैधरी ।

परा वाङ्मूलचक्रत्वा पश्यन्ती नाभि-संस्थिता ।

हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैश्वरी कण्ठदेशगा ॥

जो दाणी हृद योग बोलते और सुनते हैं, उसे 'वैश्वरी' कहते हैं। जो हृदयदेशस्थ है उसे 'मध्यमा', जो नाभिशेष्ठस्थ है उसे 'पश्यन्ती' और जो मूलचक्रस्थ है उसे 'परा' कहते हैं। यदि 'चतुष्टयी' का अर्थ यह न मानें तो अथवाचु पञ्चम्यति-कथित 'चतुष्टयी' शब्दानाम् प्रवृत्तिः, जाति-शब्दा, गुणशब्दाः, क्रिया-शब्दाः, यहञ्ज्ञा शब्दाः । अर्थ लेना चाहिए। शब्दोंके अर्थयोगनमे पार प्रवृत्तियाँ निमित्त हैं—(१) जाति-द्राष्टृण्यत्वादि (२) गुण-शुक्तादि । (३) क्रिया-मध्याप-नादि और (४) यहञ्ज्ञा-दिरथ सक्षिप आदि । व्याकरणके नियमोंका काव्यमें फंसा उपयोग किया गया है।

यही नहीं, काशिकाज्ञेने व्याकरणछिद्र वैकल्पिक रूपोंका प्रयोग भी अत्यन्तरसे करके उसका बोध करानेका प्रयत्न किया है। जैसे—ईषदस्य 'कु' शब्दके स्थान पर 'कप्' तथा का आदेश विकल्पित होने हैं। रघुवंशके प्रथम सर्गके ६७वें श्लोकमें पहले 'कपोष्णम्', पीछे ८४ वें में 'कोष्णम्' का प्रयोग किया गया है।

व्याकरणके नियमोंका उपयोग रूपमें प्रयोग करनेवाला व्याकरणके नियमोंका उल्लङ्घन करके उसे यह समझ नहीं प्रतीत होता। इसलिये काशिकाज्ञेने उन प्रयोगोंपर भी विचार कर सेना प्रसंग प्राप्त है जिसपर व्याकरणकी दृष्टिसे निरुक्ताः कवयः कहकर आक्षेपका समाधान किया जाता है। सबसे पहले रघुवंशके अन्तर्ग श्लोककार श्रीमहर्षिनायक ही आक्षेपपर विचार कीजिए—

स संन्यपरिधीयेण गजदानमुपनिषा ।

कानेरी सरितापशुः शङ्खनीषामिषाकरीदृ ॥—रघुवंश, ४।४५

इस पदकी गजदान-मुगन्धिना' शब्दकी टीका करते हुए वे लिखते हैं—“गन्धस्तेऽद्यादिना इकारः उपासाम् । यद्यपि गन्धस्तेऽवे तदेकान्तग्रहण कर्तव्यमिति नैसर्गिकगन्धविषयानामेव-कारादेशः, तथापि निरुक्ताः कवयः । तथा माधवाय्ये 'श्वरगुणधदुगुणधुपन्पम्' (सततगाः) । नैषधेय-“अपि हि सृष्ट्या न वारिधारा स्वादु सुगन्धिः स्वरते पुषा । न कर्मधारयान्धर्धोम इति निषेधावितिःप्रययधोऽपि जगन् एव ।” भाव यह है कि 'सुगन्धित' पदमें बहुव्रीहि समास करके गन्ध शब्दके अन्तर्ग अकारको समासान्त इकारादेश होना है, परन्तु जहाँ गन्ध स्वभाविक हो वही 'इव' होता है जैसे, 'सुगन्धि पुष्पम्' । जसमें गन्ध स्वाभाविक नहीं है, इससे यहाँ इकारादेश नहीं होना चाहिए। यह कविकी निरुक्ता है। भाव कविने चायुकी गन्धमें तथा नैषधकारने जलकी गन्धमें इकारादेश करके निरुक्ता दित्तार्थ है। यदि 'सुगन्ध' का कर्मधारय समास अरके मत्वर्थान् प्रथम 'इति' करे तो भी अनुचित है क्योंकि—ऐसा नहीं होता—“न कर्मधारयान्ध-धोयः” । वस्तुतः 'वाचित्'ना अर्थ बँसा है नहीं जैसा समझ गया है। 'वाचित्' का अर्थ है कि जहाँ 'गन्ध गन्धवाचु पृथक् न दित्तार्थ पढ़ें वहाँ इकारादेश होता है। इसलिये जहाँ 'गन्धका अर्थ 'गन्ध-क' है वही, जैसे 'सुगन्ध आपरिष्क' में इकारादेश नहीं होता क्योंकि 'दूकान' में गन्ध पृथक् दित्तार्थ पठती है जब तथा चायुके गन्ध पृथक् नहीं दियाई गली, इसलिये इकारादेश होगा। अतएव दीक्षितजीने जो उदाहरण दिए—'सुगन्धि पुष्पं सत्तिलं च सुपन्धिवम्' । वे ही वाचिका-वृत्तिवाचको भी समझत थे। वे लिखते हैं—“एव एवेति किम् तोषगन्धवाचतः' यहाँ 'इकार' नहीं

हुषा । यदि नैसर्गिक शब्दों में इकारादेशका नियम होता तो यहाँ वायु में शब्द नैसर्गिक नहीं है ।
महापि पतञ्जलियों की यही सम्मति है । कैयटजी इस याचिका की व्याख्या में स्पष्ट लिखते हैं—
“यथाविभाषापन्न कुट्टुमादि देवदत्तादेशवति तदा इत्वमतस्त्वत्वाद्भव्येति” । जल तथा वायु में
गन्धका वर्णन करते हुए सबसे ‘इत्व’ किया है । मलिनार्पणे भाष्य में ही ‘गुणसमुपगम्य वाता’ को
टोका करते समय इस निषेधकी चर्चा तब नहीं की । यही वर्षों भाष्यके छठे सर्गके १२ वें श्लोकमें
‘शिली-ध्रुवगन्धिं वायुं’ की टोका करते हुए वे स्वयं लिखते हैं—“शिली-ध्राणा कदलीकुसु-
मानामुपगम्य अस्ति चेपा ते शिली-ध्रुवगन्धिपनस्तु गन्धस्त्वेत्ये तदेकान्तत्वाभावादिनि प्रत्ययाक्षयणम् ।”
अब क्या कहा जाय । यद्यपि मलिनार्पणके टोकाकार अबमङ्गलमें ‘माध्यायिवायु मन्पवह पुण्य’ की
टोकामें नैसर्गिक शब्दमें ‘इत्व’ होता है यह ‘गुणम्’ प्रयोगका समर्थन किया है परन्तु व्याकरणा
तथा महाकविप्रयोगके विरुद्ध होनेसे यह सर्वसम्मत नहीं । अब कहिए किसे निरुद्ध कहा जाय ।
क्या यदि की ।

दूसरा आक्षेप स्वर्गीय प० महावीरप्रसाद द्विवेदीजीका है । वह इस प्रकार है—रघुवधके प्रथम
सर्गके मकरातीसवें श्लोकमें ‘महिषी सख’ प्रयोग भाषा है । यहाँ यदि ‘महिष्या सखा’ विग्रह करें
तो महिषीकी प्रधानता होगी और राजा सहायक होगा, इसलिये बहुबोहि होना चाहिए, जैसा गृही-
पहाय’ में हुआ है । पर वहाँ बहुबोहिमें समागम्य न होया । यह आक्षेप भी सारगर्भ नहीं प्रतीत
होया । यहाँ तो किसीकी प्रधानता या प्रधानता विवक्षित ही नहीं है, केवल इतना ही विवक्षित
है कि दूसरा कोई सहायक न था । इसीलिये मलिनार्पण भी लिखते हैं—‘सहायान्तरागतेन शपथ’ ।
अतएव तत्पुरुष समास करनेसे अर्थभेद नहीं होता ।

तीसरा आक्षेप यह है कि रघुवधके दसवें सर्गके बारहवें श्लोकमें भगवान् ने वर्णन ‘हेतिमिदं चेत-
नाविज्ञसुखीरितमयस्वनम् ।’ में ‘हेति’ शब्द पाणिनिके ‘ऊतिपूर्तिपूर्तिस्मार्तिर्निरुत्त’ सूत्रसे
स्वीकृत है । यदि ऐसा है तो विशेषण बोधक पद —‘चेतनाविज्ञ’ न होकर ‘चेतनान्तराग’ होना
चाहिए । यह आक्षेप भी निःसार है । एक तो स्वयं भाष्यकारने भास्करजीसे मित्रदेवानक नहीं
माना ‘लिङ्गमक्षिप्य लोकाधमत्वात्लिङ्गस्य’ । लिङ्ग वस्तुतः लोक-बोधके द्योतक है । दूसरे, कोस
में ‘हेति’ शब्दकी पुस्तिक भी माना है । ‘हेति रत्नीवके’ अनुसार २१ वें सूत्रके अनुसार नपुंसक
लिङ्ग नहीं है ।

चतुर्थ आक्षेप कुमारसम्बन्धके एक शब्दपर है । यहाँ कविने लिखा है—‘नवन कमा मरमावशेष
मदन प्रकार’ श्लोक ३७२ । यहाँ ‘हरनेवज्जम्बा’ कहना चाहिए ‘मदनका रूप’ करना है तो उत्तर-
वर्ण ‘मय’ का प्रयोग अनुचित है । एक तो ‘मय’ कटि सजा है, इसे कोई योग्य प्रतीत नहीं
होता भन्यया सहारण्य पतिव्या ‘विय’ या ‘मय’ नाम ही न हो सक्ता । दूसरे, नाम्य तो ‘वह्नि’
है, ‘मय’ तो नाशक नहीं, प्रसृत धूम्रिका उत्पादन है, इसलिये ‘मय’ शब्द ही प्रयोग उचित
है । तीसरे, मरमावशेष मदनकी फिरसे उत्पत्ति होगी, इसके ‘मय’ शब्दका प्रयोग करना ही
अप्रासंगिक है ।

इस प्रकार कवि कालिदासपर व्याकरणा नियमोक्तप्रकार का अनुचित नहीं है । वे तो स्वयं
व्याकरणा सिद्धान्त तथा प्रक्रियाओंसे बेचारा थे ।

'प्रहस्यत पञ्चभिरुच्चतथर्वरसूर्यं' — इत्यादिसे ज्योतिषके होरास्कन्धकी विचक्षणता, ५२वें पंक्तिकमें रघुकी 'धानीकस्थिति' के द्वारा अनुवेदना, ८वें सर्गके २१वें श्लोकमें अजके 'पण्यन्पादि' वर्णनसे नीतिप्रवीणता सूचित होती है, एवं सभी सर्गोंके तत्त्वस्थकोमे यज्ञ पद्धति-उपनिषत्सिद्धान्त-धर्मशास्त्र पुराणेतिहास राजनीति समाजनीतिगार्हस्थ्यचर्चा अन्यायभाषाचार श्रमृतिवर्षाके निष्णातधरा परिचय अवेष्ट मिलता है। कुमारसमयमे भगवत्की तपःप्रार्थ वर्णनमे—

स्थिता क्षण पल्लवु ताडितापरा

पयोधरोत्तेपनिपातकूशिता ।

यत्नीपु तस्या स्थातिता प्रवेदिरे

चिरेण नामि प्रथमोदभिक्ष्व ॥१॥२४॥

यह पद्य भी निर्माताकी बहुदक्षिताका प्रमाण साक्षी है, इसमे शोषताक्ष ने जो समाधिमे नासाऽप्रदृष्टि, मुखका खुला न रहना, नेत्रदण्डकी उन्नत रचना, निश्चल रहना उपदिष्ट किया है, इनमेसे प्रथम वर्णनमे दृष्टि बिन्दुको पल्लवकोपर स्थिति द्वारा पलकोरा भट्ठी मीसन ध्वनित किया, इससे उनमे निविडता ध्वनित हुई जिससे रामुद्रिचोक्त सुलक्षण व्यक्त हुआ, भट्ठीन्मीलनसे नासिकाऽप्रदर्शन भी लक्ष्य हुआ गया, क्षण शब्दसे पलकोमे मसृणता सूचित हुई ताडित पदसे पथरमे कोमलता झनकी, कथरसे श्रुत बिन्दुको के कुचोपर ही गिरनेसे मुख-सदृश तथा बिस्तर जाने के द्वारा उनकी कठिनता व्यङ्गित हुई साथ ही त्रिकोन्नति भी ध्वनित हुई। वहाँसे गिरकर निवलीसे, फिसलने-द्वारा उनकी चिकनाई, स्पष्टता, सुलक्षणता भी प्रत्यायित हुई, वहाँसे हटे बिन्दुकी नाभिमे प्राप्तिवर्णनसे उसकी गभीरता रूप सन्धिलकी व्यक्ति हुई। इस भाँति सप्तदयक्रम-स्वैर' धमकी पदगत वस्तुध्वनिकोमे भगवत्की आलोचिक सो-दय वस्तुध्वनि उपरकृत हुआ, जो सबका मजूरी है। सुतराम् उपस्कारकोमे साथ भङ्गाङ्गभाव लेकर हुआ, उक्त भङ्गध्वनियोंमे परस्पर कोई संपृष्ट है, कोई एकस्वञ्जकानुप्रविष्ट सकीर्ण है।

अनुसहारेमे भी जो कर्ताकी लौकिक वस्तु-व्यवहारोकी अभिज्ञता है वह भी साहित्य-वेदियोंको अविदित नहीं है।

अभिज्ञानशाकुन्तलसे एक उदाहरण देखिए। शकुन्तलाके उत्सवस्व-अयुक्त निश्वासादिमे नैसर्गिक शोरमते भाए हुए मतवाले अमरका व्यापार देखकर महाराज दुष्यन्तकी वेदनामयोक्तिका पित्रण जो कबिने इस पद्यमे किया है—

चलापाङ्ग हृष्टः स्पृष्टासि बहुयो वैपुत्रधर्तौ—

रहस्याध्यायीव स्वन्वि मृदु कर्णाग्निचरम् ।

करी भ्यापुन्वत्या धिबन्धि रतिसर्वस्वमघर—

यय तस्या-वैपाङ्गमुकर हतास्त्र खलु कृती ॥

शाकुन्तल, अंक १।२२

उपकी निजनी प्रसन्नता की भाव सब कम ही है। यद्यपि इसके आधारममे चलापाङ्गी हृष्टिम्' ऐसा पाठ मुद्रित पुस्तकोंमें और प्रायुक्तिक टीकाओंमे मिलता है, किन्तु यह पाठ निरालम्ब प्रहस्य है। इस पाठसे "धपस भपाङ्गवाले कौण्ठे नेनीको छूता है" यह अर्थ होता है, और ऊपर लिखित

कालिदासकी सूक्तियाँ

(स्व० डॉक्टर पंडित धर्मनाथ झा, एम्० ए०, डी० लिट्०)

दिक्रमके मंदरतोने अमूल्य रत्न कविवर्यगुरु कालिदासने अपने काव्य-चमत्कारसे समस्त संसार मे क्याति प्राप्त की है। दूर-दूर देशोमे, नाना भाषा-भाषियोने इनके ग्रन्थोको पढ़कर, उनका रसा-स्वादन करके, इनके गुणोसे मुग्ध होकर, इनको मुक्त-कण्ठसे प्रशंसा की है। इनके पद-सालिश्य, इनके रचना-चातुर्य, इनको कल्पनाशक्ति, इनके प्रकृति-वर्णन, इनके चरित्र-चित्रण, इनके काव्यकी सरसता इत्यादि गुणोका मान सुनकर भारतवर्षका प्रत्येक निवासी प्रफुल्ल होता है परन्तु कालिदासमे विचार-गाम्भीर्य भी है, उनके पदोस उपदेश भी मिलता है, उनकी उक्तियाँ मान भी हमारा पय-प्रदर्शन कर सकती हैं। इन वाक्योमे सत्तरका अनुभव है, जीवनके बहुमुख्य सिद्धांत हैं। यही कुछ ऐसी उक्तिओका संग्रह किया गया है जिनके पढ़नेसे धीरे जिनके अनुसरणसे हम प्राज्ञ भी ज्ञान उठा सकते हैं। पचास उक्तियाँ पाठकोकी सेवामे प्रस्तुत की जा रही हैं।

(१) एको हि वोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्द्रोः किरलोष्विवाहूः ।

(जैसे पद्मभाको ज्योतिमें उतका कलक छिप जाता है, वैसे ही गुणोंके समूहमे एक दोष भी छिप जाता है।)

(२) क्षुद्रेऽपि दुर्गं क्षरणं प्रपन्ने अमरत्वमुच्चैः शिरसां सवीर्य ।

(क्षरणागत क्षुद्र जलके प्रति भी महात्माका-अमरत्व-भाव वंसा ही रहता है जैसा सज्जनके प्रति।)

(३) विकारहेतो सति विक्रियन्ते येषां न चैतासि त एव धीराः ।

(मयार्थमे धीरे पुरुष तो वे ही हैं जिनका चित्त विकार उत्पन्न करनेवाली परिस्थितिमें भी अस्थिर नहीं होता।)

(४) शान्तेस् प्रथमकारेण शोषकारेण दुर्जनः ।

(दुष्टको उपकारसे नहीं, अपकारसे ही शान्त करना चाहिए।)

(५) विपवृत्तोऽपि स्वर्घ्यं स्वयं क्षेपुमसाम्प्रतम् ।

(मपने हाथसे सीधे हुए विप-वृत्तको अपने ही हाथसे काटना उचित नहीं।)

(६) ॥ पश्यतो नूनमसाकिरहः शिलोचये मुञ्चति मास्तस्य ।

(बामु पेड़को जड़से उखाड़ सकता है, पर पहाड़को नहीं हिला सकता।)

(७) शस्त्रेण रक्षं गदशनयरस न तवशः शस्त्रमृता क्षिणोति ।

(जिसको शस्त्रोसे रक्षा हो ही नहीं सकती, उसकी यदि शस्त्रधारी रक्षा न कर सके तो इतने उसका अपयश नहीं होता।)

(८) पयः श्रुतेर्दक्षवितार ईश्वरा मसीमसामावृते न पदतिम् ।

(पवित्र मार्गके प्रदर्शक देवतागण स्वयं पापमार्गका अनुसरण नहीं करते।)

(९) पद हि सर्वत्र गुणविधायते ।

(गुण सब स्थानोंपर अपना आवरण करा देता है।)

(१०) प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम् ।

[महात्माओं के क्रोधकी शान्ति उनके प्रणाम करनेसे होती है ।]

(११) पादानं हि विसर्गवि सता चारिमुचामिव ।

[बादलों के समान सज्जन भी जिस वस्तुको ग्रहण करते हैं उसका दान भी करते हैं ।]

(१२) निर्गलिताम्बुधरे धारद्वन नादंति चातकोऽपि वि ।

[चातक भी सरदे के घूने बादल के प्राये घातनाद नहीं करता है ।]

(१३) सूर्ये तपसावरणाय हृष्टेः कल्पेत् सोकस्य कथं तमिता ।

[जब सूर्य खिन्निमान् हो सब लोगोंकी धार्मिक सामने चँपेरा फँसे छा सकता है ।]

(१४) सृष्ट्यात्ममन्वातपर्वनिमोमाच्छ्रित्य हि वसु प्रकृतिर्जसस्य ।

[सृष्ट प्रपवा प्रागये पानीमे सृष्टता मा वो जाती है परन्तु जीतलता ही इसकी प्रपार्थ प्रकृति होती है ।]

(१५) भवितव्यताना द्वावाणि भवन्ति सर्वत्र ।

[भावीको सर्वत्र द्वार लुला मिलता है ।]

(१६) किमिव हि मधुरास्य मध्वनं नाकृतीनाम् ।

[जो स्वयं सुन्दर है उसका सौन्दर्य किसी वस्तुसे नहीं बढ़ जाता ।]

(१७) सता हि सन्नेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्य करण-प्रवृत्तयः ।

[जहाँ सन्नेह हो वहाँ सज्जनके प्रण-करणकी प्रवृत्ति हो सत्यका निर्देश करती है ।]

(१८) न प्रभातरल ज्योतिर्येति वस्तुपाततात् ।

[सद्यम वस्तुकी उत्पत्ति उक्त स्थानसे ही होती है—विद्युत्की ज्योति वृष्योत्पत्तिसे नहीं उत्पन्न होती ।]

(१९) प्रकृतार्थेऽपि नमस्मिने रतिमुभवप्राप्तेना कुले ।

[प्रेम यदि विफल भी हो तो भी एक दूसरेकी उत्कण्ठसे प्रसन्नता होती है ।]

(२०) कामी स्वता पश्यति ।

[प्रेमी सब वस्तुओंको अपने अनुकूल ही समझता है ।]

(२१) सनेत वा प्रार्थयिता न वा शिव शिवा दुरागः कथमीषितो भवेत् ।

[प्रार्थना करनेपर संभव है धी मिले वा न मिले, परन्तु जब भी स्वयं कोई हृद्धा प्रकट करे सब उसके प्राप्त करनेमे क्या कठिनता हो सकती है ?]

(२२) सपश्यति यथा शयान्कु न तथा हि कुमुदती दिवसः ।

[दिनसे कुमुदतीके फूलका इतना ह्रास नहीं होता है जितना चन्द्रमाका ।]

(२३) इष्टप्रदासप्रतिताम्यवतामनस्य दुःखानि वृत्तमतिमात्रमुत्सहति ।

[प्रेमीके प्रदाससे भवताको वसत्य कष्ट होता है ।]

(२४) गरुडमि (गुरुकमि) विरहदुःख भाषावन्धो सहायेदि (साहयति) ।

[कठिन विरह भी मिलनकी भाषासे सह्य हो जाता है ।]

(२५) अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं

समयति परिचाप क्षमया सविज्ञानाम् ।

(३६) स्त्रीणामाद्य प्रणयवचन विभ्रमो हि त्रियेषु ।

(स्त्रियोका हाव-भाव प्रेमीके साथ बातचीतका वहसा स्वरूप है ।)

(४०) मन्दायन्ते न सन्तु सुहृदामभ्युपेतार्थवृत्त्या ।

(जिसने मित्रका कार्य सम्पन्न करनेका वचन दिया है वह उसके समाप्त होनेतक टिलाई नहीं करता ।)

(४१) शयवप्रातिप्रशमनफलता सम्पदो ह्युत्तमानाम् ।

(सत्य दुष्टोंकी सम्पत्तिका मुख्य प्रयोजन यही है कि उससे दुष्टियोंकी विपत्तिका नाश हो ।)

(४२) क या न स्यु परिचयपद निष्कलारम्भयत्ना ।

(निष्कल चल करने वालोंकी जगतने कब नहीं हँसाई हुई ।)

(४३) प्राय सर्वो भवति कुरुणामृत्तिराद्रन्तिरसमा ।

(सरस हृदय जन होते ही हैं, बहुधा मृदुल स्वभाव ।)

(४४) सीमन्तिनीना कामोदगत सुहृदुपगत सङ्गमार्त्तिकचिह्नान् ।

(पत्तिके मितनेले स्त्रीकी जो धान-र प्राप्त होता है उससे कुछ ही कम धान-र मित्र द्वारा उसका रँदना पाकर होता है ।)

(४५) भूताना हि समिपु करणेष्व्याद्यमाश्रयनेतत् ।

(काल सब प्राणियोंके गिरघर है, इसलिये पहले कुछ पकना चाहिए ।)

(४६) कस्यात्यन्त मुक्तमुपगत दुःखमेकान्ततो वा

मीर्षागच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।

(किसीको केवल मुक्त भवका एकमात्र दुःख नहीं मिलता—दुःख और मुक्त रथके पहिएकी गति सभी ऊपर और कभी नीचे रहा ही करते हैं ।)

(४७) स्नहानाहुः किमपि विरहे च्चसिगस्ते त्वमोवात् ।

दृष्टे चस्तुन्युपचितरसा प्रेमराशी भवन्ति ॥

(यद्यपि कहा जाता है कि विरहमें प्रेम कुम्हना जाता है, तथापि वस्तुतः वियोगमें प्रेमका प्रयोग न होनेसे वह संचित होकर राशीमूत हो जाता है ।)

(४८) नि शम्भोर्द्विप्रदिवसि जल वाचितश्चातवन्मयः ।

प्रयुक्त हि प्रणयिणु सतामोप्सितायक्तिर्विव ।

(हुग बिना गरजे हुए भी चातकी वर्षाजलसे तृप्त करते हो । सञ्जनका यही स्वभाव है कि बिना कुछ बड़े दावकोंकी मीन पुरी करे ।)

(४९) तेषां न स्यादभिमताफलता प्रार्थना ह्युत्तमेषु ।

(सज्जनसे भी हुई प्रार्थना कब सफल नहीं होती ।)

(५०) पुराणमिरयेव न साधु सर्वम् ।

(कोई वस्तु केवल इस बारण्य प्राण्य और उत्तम नहीं है कि वह पुरानी है ।)

कालिदासका सन्देश

(धोमुक् पं० बलदेव उपाध्याय साहित्याचार्य)

मसृष्टदोषा नसिनीव दृष्टा हारावलीव व्रिता गुणीषः ।
प्रियाङ्गुपालीव विमर्दहृदा न कालिदासादपरस्य पाणी ॥

—श्रीकृष्ण कवि ।

महाकवि कालिदास हमारे राष्ट्रीय कवि थे । वे भारतीय सभ्यता तथा संस्कृतिके प्रतीक थे । इस विशाल तथा विराट् देशकी संस्कृति कालिदासकी पाणीमें बोलती है तथा उनके नाटकोंमें अपना मनोहर भव्य रूप दिखलाकर मानवमात्रका मनोरञ्जन करती है । अँगरेजोंके प्रथम समागम के समय भारतमें लगभग दो सौ वर्ष पहले यह भारतवर्ष संसारकी दृष्टिमें संस्कृतिविहीन अंधकारपूर्ण देश समझा जाता था, परन्तु कालिदासके 'धर्मज्ञानाकुत्सल' ने ही भारतके प्रति विश्वका आदर जगानेका एसायनीय कार्य किया । भारतके ठीक १५५ वर्ष पहले सन् १७०६ ई० में सर विलियम जोन्सने शाशु-तलका अनुवाद अँगरेजी भाषामें किया तथा इसी अनुवादका जर्मन भाषामें अनुवाद जोर्ज फोरेस्टरने दो सौत पीछे सन् १७६१ में किया । इसी अनुवादकी पढ़कर जर्मनीके सर्वश्रेष्ठ महाकवि गेटेने अपना जो हृदयद्वारा प्रकट किया था वह साहित्यके प्रेमियोंसे छिपा हुआ नहीं है । केवल संस्कृतके ज्ञाता पण्डितजन इस संस्कृतानुवादकी पढ़कर उस विदेशी कविके अभिप्रायकी गली भीति समझ सकते हैं—

वाचनं कुतुम्भस्य न युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यत्
यच्चान्यमनसो रसायनमतं सन्तर्पणं मौहनम् ।
एकौभूतमभूतपूर्वमयथा स्वर्लोकभूलोकयो—
रश्मयं यदि वाच्छसि प्रियरासे । साकुन्तलं सेवयाम् ॥

इस अनुवादाने हमारा बड़ा उपकार किया । पाश्चात्य जगत्ने इसी भीति समझा कि भारतीयोंकी संस्कृति यही श्रेणी है तथा हृदयके कोमल भावोंको प्रकट करनेकी निपुणता उसके कवियोंमें विशेष है । इस प्रकार कालिदासका अणु हमारे ऊपर बहुत ही अधिक है ।

हमारी राष्ट्रीय भावनामें और विश्व कल्याणकी भावनामें किसी प्रकारका विरोध नहीं है । भारतीय कवि राष्ट्रका गङ्गल चाहता है और उसके साथ ही साथ वह संसारकी मङ्गल-कामना भी किया करता है कालिदासके काव्योंमें इस सामञ्जस्यका मनोरम रूप दृष्टिगत होता है । इस महाकविकी पाणीमें जिस प्रकार आदि-काल वास्तविकीकी रसमयी चारा प्रवाहित होती है उसी प्रकार गीता तथा उपनिषदोंका मध्यात्म ज्ञान भी मञ्जुल रूपमें अपनी धमिष्ण्यति वा रहा है । भारतीय ऋषियोंके द्वारा प्रचारित चिरन्तन तथ्योंकी मनोमिरम शब्दोंमें भारतीय जनताके हृदयमें उतारनेका काम कालिदासकी कविताने सुचारु रूपसे किया है । इस कविताका प्रणयन मानव हृदयकी शाश्वत

प्रवृत्तियों तथा भावोंका आलम्बन लेकर किया गया है। यही कारण है कि इसके भीतर ऐसी उद्दीप्त उदरस भावना विद्यमान है जो पारसीयोंको झो नहीं, अत्युक्त मानव मानको सदा प्रेरणा तथा स्फूर्ति देती रहेगी। इस भारतीय कविकी वास्तुमें इतना रस है, इतना शीघ्र गद्य हुआ है कि दो सहस्र वर्षोंके दीर्घ कालमें भी उसमें किसी प्रकारका फीकापन नहीं भावे दिया। उसको मधुरिमा प्राप्त थी उसी प्रकार भावुकोंके हृदय रसमय करती है जिस प्रकार उसने अपनी उत्पत्तिके प्रथम क्षणमें किया था। वैदिक धर्म तथा संस्कृतिका जो अर्थ रूप हम वाच्योमें दिखाई देता है वह निरालम्ब मजबूत है। मानव-कल्याणके लिये हम काव्योमें मधुर छन्दोमें स्थान-स्थानपर उपदेश भी दिए गए हैं। शासका मानव-समाज परस्पर कतह तथा वैनस्पसे धिक्-भिन्ना हो रहा है। प्रबल समरानन्दके भीतर संसारकी अनेक जातियाँ अपना सर्वस्व स्वाहा कर रही हैं। विश्व निरालम्ब उद्दिष्ट है। मानवताके लिये यह महात् सङ्कटकाल समय है। विचार करनेको बात है कि कालिदास क्या इस सम्बन्धमें भी कोई सन्देश देते हैं।

मानव-जीवनमें वैराग्यवादके लिये स्थान नहीं है। जो लोग इसे मायिक वस्तुत्वाकार निःसार तथा व्यर्थ मानते हैं उसका कवन किसी प्रकार प्रामाणिक नहीं है। जो जीवन हम पिता रहे हैं तथा जिससे हम अपना धम्मुद्वेग प्राप्त कर सकते हैं उसे सारहीन क्यों मानें? कालिदास का कहना है कि देहधारियोंके लिये मरण ही प्रकृति है, जीवन ही विकृतिमान है। यदि जन्तु स्वास लेता हुआ एक क्षणके लिये भी जीवित है तो यह उसके लिये लाभ है—

मरणं प्रकृतिः परीरिता विकृतिर्जीवितमुष्यते दुःखं ।

राणमप्यवतिष्ठते क्षणम् यदि जन्तुर्ननु लाभदानसौ ॥

—रघु० वा० ७

इस जीवनको महानु लाभ मानना चाहिए तथा इसे सफल बनानेके लिये धर्म, धर्म तथा कामका सामाज्यरूप उपस्थित करना चाहिए। इस निबन्धमें धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है (त्रिवर्गसारः प्रति-भाति मानिनि—कुमार० ५।३५)। परन्तु धर्म और काम अपनी स्वतन्त्रता और सत्ता बनाए रखनेके लिये धर्मका विरोध करते रहते हैं। धर्मकी दवाकर धर्म अपनी प्रसन्नता चाहता है और धर्मकी प्रवृत्तिके नाम भी अपना प्रभाव जमाना चाहता है इस विषयमें आज धर्म-विरोधी धर्म और कामका मान गूढ़ हो रहा है। धर्म कहीं दृष्टिकोण पर नहीं होता। परन्तु भगवान् श्रीकृष्णके शब्दोंमें 'धर्मो रक्षति रक्षितः' नामकी सत्यता ही विभूति है। कालिदासने अपने काव्यो तथा नाटकोमें 'धर्मो रक्षति रक्षितः' नामकी सत्यता ही विभूति है। कालिदासने अपने काव्यो तथा नाटकोमें 'धर्मो रक्षति रक्षितः' नामकी सत्यता ही विभूति है। कालिदासने अपने काव्यो तथा नाटकोमें 'धर्मो रक्षति रक्षितः' नामकी सत्यता ही विभूति है।

मदन-दहनका उद्देश्य नहीं है। मदन चाहता है कि पार्वतीके सुन्दर रूपका आश्रय लेकर समाधि-निरत होकरके हृदयपर चोट करे। प्रकृतिमें मदनका प्रागमन होता है। सदा वृक्षपर कूज झूलकर अपना प्रेम अठाने लगती है। एक ही कुसुमधाममें अपनी अपनी सहचरके साथ मधुपान करती हुई गद्य हो जाती है। व्यापिके समान मदन संसारकी प्रस्थ करने लगता है। वह अपनी पारंगता बढ़ाता है और धंकरपर आक्रमण कर बैठता है। जलत्वे कल्याण, धातुमयिक मञ्जुलका नाम धंकर है। विद्व-वत्याणु मदनकी उपासनामें नहीं है, अत्युक्त उसके धर्म-विरोधी रूपके श्वासेमें है। काम अपनी प्रवृत्ति चाहता है। विद्व-वत्याणुपर अपना मोह्न बाण छोड़ता है। धंकर अपना

तृतीय नेत्र खोलते है। तृतीय नेत्र ज्ञाननेत्र है। यह प्रत्येक मनुष्यके अस्म्यमें विद्यमान है। परन्तु गुप्त होनेसे हमें उसके अस्तित्वका पता नहीं चलता। शंकरका यह नेत्र जाग्रत है। इसी ज्ञानकी ज्यासामें मदनका बहून होता है। धर्मसे विरोध करनेवाला काम भस्मकी राशि बन जाता है। शंकरकी वशमे करनेके लिये पार्यंतीजी उपस्था करती है। धर्म-सिद्धिका प्रथम साधन है—तपस्या। बिना अपनी शरीर तथा बिना हृदय-स्थित दुर्वासना जलाए धर्मकी भावना-आगारित नहीं होती। कालिदासने कामका जलना दिखाकर यही चिरन्तन तप्य प्रकट किया है। पार्यंतीने धीरे तपस्या करके अपना सम्पूर्ण प्राप्त किया। इस प्रकार कालिदासकी दृष्टिमें काम तथा धर्मके परस्पर संधर्भमें हमें कामकी दबाकर उसे धर्मानुक्रम बनाना ही रहेगा। जगत्का कल्याण इसी भावनामे सिद्ध होता है।

व्यक्ति तथा समाजका गहरा सम्बन्ध है। व्यक्तिकी उन्नति राष्ट्रकीय वस्तु है, परन्तु इसकी वास्तविक स्थिति समाजकी उन्नति पर अवलम्बित है। व्यक्तिबोधके समुदायका ही नाम समाज है। कालिदास वैयक्तिक उन्नतिकी अपेक्षा सामाजिक उन्नतिके पक्षपाती हैं। उनका समाज श्रुति-स्मृतिकी पद्धतिपर निर्मित समाज है। वह स्वायत्तके लिये घन इकट्ठा करता है। सबके लिये परिमित भाषण करता है। उसके लिये विजयकी अभिलाषा रक्षता है, आश्रितों तथा राष्ट्रोंकी पददलित करनेके लिये नहीं। शुद्धिमें गिरत होता है सन्तान उत्पन्न करनेके लिये, कामवासनाकी पूर्तिके लिये नहीं। कालिदास-द्वारा चित्रित नरपति भारतीय समाजका अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करते हैं। वे संशयमे विद्याका अभ्यास करते हैं, जीवनमे विषयके अभिलाषी हैं, वृद्धावस्थामें मुनिवृत्ति धारण करके सारे प्रपञ्चसे मुंह मोड़कर निवृत्ति-मार्गके अनुयायी बनते हैं तथा समाजमे योगद्वारा अपना शरीर छोड़कर परम पदमे सीन हो जाते हैं। यह आदर्श भारतीय समाजकी अपनी विशेषता है—

स्थानाय सन्तुष्टार्चना सत्याय मितभाषिणाम् ।
यसते विजिगीषूणा प्रजायं गृहमेधिनाम् ॥
संतवेऽप्यस्तविद्यानां योवने विषमं पिणाम् ।
यापंके मुनिवृत्तीनां योवेनास्ते सन्तुत्यजाम् ॥

—रघुवश, ११७-८

उपनिषदोंमें धर्ममे, तीन एकत्र प्रतिपादित हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान। इनके अतिरिक्त 'तपः' की महिमासे भारतीय धार्मिक साहित्य भरा पड़ा है। कालिदासने इन स्कन्धोंका विवेचन स्थान स्थानपर यही ही मनोरम भाषामे किया है। यज्ञका महत्त्व वे स्वीकार करते हैं। पुरोहित यज्ञके रहस्योंका ज्ञाता होता है। राजा दिसीप यह बात भली भाँति जानते हैं कि बलिष्ठजीके यथा-विधि सम्पादित होमके द्वारा जलकी ऐसी वृष्टि होती है जो अकालसे सूखे शस्यको हरा-भरा कर देती है—

हविरावर्जित होतस्त्वया विधिवदग्निषु ॥

वृष्टिर्मवति शस्यानामवग्रहविश्रोषिणाम् ॥

—रघु० ११६२

नरराज तथा देवराज—दोनोंका काम परस्पर सहयोगसे मानवोंकी रक्षा करना है। नरराज पृथ्वीको दूहकर—उससे सुन्दर वस्तुएँ प्राप्त करके यज्ञ सम्पादन करता है और देवराज इसके बदलेमे

उत्पन्न होनेके लिये आकाशको दूतकर पुष्पस्रव कृष्टि करता है । इस प्रकार ये दोनों अपनी सम्पत्तिको विनिमय करने समय सोचना बन्धाण करते हैं—

दुदोह गा त यज्ञाय दद्याम मधवा दिवम् ।

सपद विनिमयेनोभौ दधनुर्भुवनद्वयम् ॥

—रघु० १।२६

पशुपत जलने द्वारा अनेक धर्मोक्तिक पदार्थोंको निहिह हमारे महाकविको गान्य है । रघु सर्वस्व-दक्षिणा-यज्ञके अनन्तर कोरमकी माय्या जूरी करनेके लिये जिस रथपर बँठते हैं वैसे बसिष्ठजीने मन्त्र पूत करने समिपन्नित कर दिया है और उसमें आकाश, नदी, पहाड़ आदि सब विकट तथा विषम मागोंपर चलने की क्षमता है । (रघु० १।२७) इस प्रकार कात्तिदासकी दृष्टिमें सामाजिक कल्याणके मापनमें मात्रका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

दानकी गौरव गाथा गाते हुए हमारे महाकवि कभी आत्म नहीं होते । समाज आदेश-प्रदानकी भित्तिपर अवलम्बित है । धनी-मानो व्यक्तियों संचित धन केवल उन्हींकी मात्राव्यवस्था अथवा व्ययान पूरा करनेके लिये नहीं है, प्रत्युत उसका सुदुपयोग उन निर्धनोंको उबर-ज्वाला शान्त करनेमें भी है जो समाजके विशेष पङ्क्त हैं । बृहदारण्यक उपनिषद्में उनकेकी चोट कहा गया है कि देवी वाम् मेघपर्वतने रूपमें मदा पुकारती है—दास्यत (धनो इन्द्रियोंकी बखम रखो), दत्त (दान दो) तथा दयस्वम् (दया करो) । यदि हम लोग देवी वाणीकी पुकार सुनकर भी धनसुनी कर देते हैं तो यह अन्याय हुआ है । दानके बिना समाज छिन्न-भिन्न होकर ध्वस्त हो जायगा, हममें सन्देह नहीं । कात्तिदासने रघुवक्त्रके पञ्चम सर्गमें दानका बड़ा ही उल्लेखल दृष्टान्त प्रस्तुत किया है । वरतानुके दिव्य बीरम सुदक्षिणारुके लिये सब रघुने पाव धाते हैं जब उन्होंने अपनी मारी मणित सम्पत्ति अक्षमे दे डाली है । रघु अलकापुरी पर चढ़ाई करके यदाराज कुबेरके धन धानका उपयोग करते हैं । इतनेमें गोपने सोनेकी कृष्टि होती है । राजाका आग्रह है कि दिव्य संपूर्ण धन ले जाय और उपर दिव्यता आग्रह है कि वह अपने काममें अधिक एक कोडो भी न छूएगा । दाता और गृहीताका यह आग्रह आश्चर्यजनक वस्तु है । यह दृश्य इस भारत-महीके इतिहासमें भी दुर्लभ है, धन्य देवीकी तो क्या ही गया ।

सब भारतीय महर्षिणा भूय मन्त्र है । इसकी आराधनामें अनुप्य अपनी सारी कामनाओंकी ही पूर्ति नहीं करना प्रस्तुत गरीबपारने लिये यथावत् योग्यता भी अर्पण करता है । उनकी महिमारे हमारा आदित्य भग्न पडा है । कात्तिदासने इसका महत्त्व बड़े ही मज्ज शब्दोंमें धर्मव्यक्त किया है । मदन-दहनके अनन्तर मन्त्रमन्त्रोरथ पार्वतीजीने उनकी ही अपना एवमात्र अवलम्बन बनाया । जगन्नी सग्न आशाएँ धोखर के इसकी छिट्टिमें लग गई । उनकी उपस्था इतनी कठोर थी कि कठिन गरीबने उदात्त मुनिवर्गकी उपस्था उसके सामने निराल प्रबलहीन तथा प्रभावविहीन जा पड़ी थी । प्रकृतिने नाना प्रकारके विषम बट्ट मैनकर के अपनी वाचना-सिद्धिमें सकन होनी है । कात्तिदासने पार्वतीके नाना रूढन विशेष रूपमें प्रकट किया है—

इदमे वा कर्तुमवध्यव्यपतां समाधिमास्थाप्य तपोनिरातरम् ।

धवाध्यते वा नयमन्यवा द्वय तथाविध प्रेम पतिव्रत साहस ॥

—कृष्णरामनव १।२

पार्वतीकी तपस्याका फल था—‘तथाविध प्रेम’, अधीकृत उत्कट कोटिका प्रेम और ‘तारुण्यः पति’ उस प्रकारका, मृत्युको जीतनेवाला महादेवरूप पति । जबतक समस्त पति मृत्युके बंधा है, मृत्युक्षय एक ही व्यक्ति है । महादेव ही मृत्युको भी जीतकर अपनी स्वतन्त्र स्थिति प्राप्तकर सदा विराजते हैं । आजतक कोई भी कन्या मृत्युक्षयको पति रूपमें पानेमें समर्थ न हुई । और वह प्रेम भी कौनसा ? कालिदासने ‘तथाविध’ शब्दके भीतर सम्भीर भयंकी अभिव्यक्ति की है । लज्जुरने पार्वतीको अपने मस्तकपर स्थान दिया है । भादरकी भी एक स्त्रीमा होती है । पत्नीको इतना उच्च स्थान प्रदान करना सत्कारका महान् उत्कर्ष है, भादरकी पराकाष्ठा है । धन्य देवताप्रोसे किसीने अपनी पत्नीको इतना घोरत नही प्रदान किया । भारतीय कन्याप्रोके लिये गौरवका यह साधना अनुकरणीय वस्तु है । यही कारण है कि हमारी कन्याप्रोके लगने एक ही महान् भावार्थ है और यह है पार्वतीका । भारतीय समाजमें गौरीपूजाका रहस्य इसी महान् स्वार्थसागके भीतर छिपा हुआ है । तपस्याने गौरीको इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है । तपस्या करनेवाले ऋषियोंके भीतर विशिष्ट तेज छिपा रहता है । ये स्वयं क्षान्तिमें रहते हैं, सूर्यकान्त मणिकी भांति वे धूपमें बड़े कीमत हैं, परन्तु दूसरे तेजके द्वारा समिभूत होते ही वे जलता हुआ तेज वमन करते हैं । वे किसीकी धरणा सह नहीं सकते । यही तपस्याका प्रभाव है—

असप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहसकमस्ति तेजः ।

स्पर्शानुभूता इव सूर्यकान्तास्तदन्वयेकोऽभिभवाद्गमति ॥

—शाकुन्तल, १।७

आशक्तकी समर-ज्वालामें दग्ध होनेवाले संसारके लिये कालिदासका सन्देश विशेष रूपसे उपादेय है । विद्वन्मानवको चाहिए कि यह सुन्दर सन्देश सुनकर अपने जीवनमें उसका अतिथि करें । इस सन्देशको हम तीन तत्कारादि सभ्योमें प्रकट कर सकते हैं—स्थाप, तपस्या तथा तपोवन । विद्वन्वी क्षान्ति मन करनेवाली वस्तुका नाम स्वार्थवरायणता है । समस्त जातिप्रां अपने पटव्यनका स्वप्न देखती हुई अपने धुंध स्वार्थकी चिड़ियों में निरत दिखाई पड़ती हैं । ज्ञानमक संपर्पका यही निदान है । इसका निवारण स्थाप और तपस्याकी साधनाके बिना कबमधि सम्पन्न नहीं हो सकता । पाश्चात्य जगत्ने नगरको विशेष महत्त्व दिया और उसका अनुकरण करके पूर्वी जगत् भी नागरिक सम्प्रदायी उपासनामें दक्षिण हो गया । परन्तु कालिदासकी सम्प्रतिमें तपोवनकी गोबधे पत्नी हुई सम्प्रता मानवका सदा मंगल कर सकती है । जिसने हमारे देशको भारतवर्ष जैसा मञ्जुल नाम प्रदान किया उस दीप्यन्ति भरतना जन्म भारीचके आश्रममें हुआ । गोपारणका फल रघुके जन्मके रूपमें प्रकट हुआ । दिसीवने अपनी राजधानीका परिग्राम करके वसिष्ठके आश्रममें निवास किया तथा गुरुकी गावकी विविधत् परिचर्या की । उसीका फल हुआ इन्द्र-जैसे वज्रकारीके गानमदन कीरका उदय । तपोवनमें मत्कीक क्षान्ति तथा शक्ति का साक्षात्प्राप्ति रहता है । प्रकृति निश्चिध विपमता दूर कर सगताके अम्यासमें निरत रहती है । हिस पशु भी वैसगिक क्षान्तिके कारण अपनी प्रकृति भूलकर परस्पर संबंध-भावसे निवास करते हैं । अतिवासकी दृष्टिमें प्रपंचके पक्षमें पवने-मरनेवाला जीव दयाका पात्र है । सुखमें आसक्त जीवको तपस उसी दृष्टिसे देखता है जिससे तेज-मदन करनेवाले व्यक्तिकी स्वान क्रिया हुआ व्यक्ति, अधुनिकी शुचि, सुप्त व्यक्तिकी प्रगुड, यक्ष पुरुषकी स्वच्छन्द गतिवाला पुरुष—

धर्म्यकर्मिणं स्नातः शुभिरणुषिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम् ।

बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवमि ॥

—शाकुन्तल, ५ । ११ ।

जबतक यह संसार त्याग धीर उपस्थाका आश्रय लेकर तपोवनकी धीर न मुड़ेगा, तबतक इसकी अज्ञानता कभी न बुझेगी, पारस्परिक कलह कभी न समाप्त होगा तथा वैमनस्यका नाश कभी न होगा ।

कालिदासका सन्देश उनकी सर्वश्रेष्ठ रचनाके अन्तिम श्लोकमें एक ही पद्यके रूपमें प्रकट किया जा सकता है—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पायिवः

सरस्वती श्रुतिमहतो महीयताम् ।

ममापि च क्षपयतु भीमतीहृतः

पुनर्मथ परितस्त्यक्तिरात्मभूः ॥

—शाकुन्तल, ७ । ३५ ।

राजा प्रजाके हित-साधनमें लगे, शास्त्रके अध्ययनसे महत्त्ववाली विद्यामौली वाली सर्वत्र पूजित हो, शक्ति-सम्पन्न भगवान् शङ्कर समग्र जीवोंका पुनर्जन्म दूर कर दें । इसमें सुन्दर सन्देश धीर क्या हो सकता है ? राजाका प्रधान कार्य प्रजाका अनुसन्धान है । अराजक राज्यके दुर्गुणोंसे हटा भली भाँति परिवर्तित हैं । राजाके बिना समाज उन्मिद्ध हो जाएगा, परन्तु राजाका प्रधान कर्तव्य होना चाहिए समाजकी रक्षा । राष्ट्रको उन्नति तथा अम्युदयके मार्गपर से जानेवाले ससके विद्वज्जन ही होते हैं । अतः उनकी सरस्वतीका पूजन तथा समादर हमारा पवित्र कार्य है । राजा क्षम बलका प्रतीक है तथा विद्वज्जन ब्राह्मणेयके प्रतिनिधि हैं । इन दोनोंके परस्पर सहयोगसे ही देशका सच्चा वसूला हो सकता है । ब्रह्मदेव तथा क्षात्रबलका सहयोग पवन तथा अग्निके समागमके समान निताम्न उपादेय तथा फलप्रद है—

स यभूव दुरासवः परैर्गुह्यामवैविधा कृतक्रियः ।

पवनान्निस्समागमो ह्यथ सहितं ब्रह्म यदज्जतेजरा ॥

—रघुवंश, ८ । ४

समाजकी मुख्यवस्था होनेपर व्यक्ति अपनी प्राध्यात्मिक सम्पत्ति कर सकता है । इस प्रकार समाज तथा व्यक्ति परस्पर अम्युदय भारतीय संस्कृतिका चरम लक्ष्य है । सम्राट् विक्रमकी समाके राज महाकवि कालिदासका यह त्याग धीर उपस्थाका सन्देश जगती-तनपर प्रत्येक प्राणीके हृदयको छदन तथा सहानुभूतिमय बनावे, यही अन्तमें हमारी अग्रगण्य प्राप्ति है ।

कालिदास और प्रकृति

[व्याकरणार्थ, साहित्यशास्त्री पंडित कल्याणपति त्रिपाठी, एम० ए० बी० टी०, (हिन्दी-संस्कृत)
प्राध्यापक काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय]

विश्वके विशाल साहित्यमें श्रेष्ठतमपरको लोग अन्तर्जगत्का सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार मानते होते हैं और कालिदासको वास्तव जगत्का । वास्तव जगत्के चित्रणमें, प्राकृतिक वर्णनमें कालिदासने जो मनोरम काव्य-रचना की है, वह साहित्य-जगत्में अद्वितीय है । इनके प्रकृति-वर्णनमें इतनी यजीवता है, इतनी रमणीयता है तथा इतनी भव्यता और स्वाभाविकता है कि पाठको और श्रोताओंके मन बरबस हो इतने रम जाते हैं । इनके प्रकृति-वैभवा अनुमान मेघदूतके इस एक ही पंक्तिके जगया जा सकता है—

हस्ते सीतानगलमलके बानकुन्धानुविद्ध

नीला सोमप्रसरणवसा पाण्डुतामानने श्रीः ।

पूडापाशे मयकुरवक चाप कर्णे शिरोप

सीमन्ते च त्वदुपगमय यय नीप बधूनाम् ॥

—उत्तरमेघ, २ ।

इस श्लोकमें जो वर्णन है वह शकुन्तला-जैसी किसी तपोवनवासिनी स्त्रीका वर्णन नहीं है बल्कि मनपति कुबेरकी उस अलकापुरीकी पतिश्रियोक्ता वर्णन है जहाँ महापद्म आदि नवो निधियाँ सदा निवास करती हैं, जहाँकी भूमि मणि की बनी है, जहाँ गगनचुम्बी प्रसाद होते हैं, जहाँ सित-मणिमें हर्म्यस्थल हैं, बानकमय सिकता है, अमर-प्रापित यदाक्यपार् जहाँ दिनरात मणियोंसे खेल खेल करती हैं, रात्रिमें जहाँ रत्न प्रदीप जला करते हैं, चन्द्रकान्ता-भित्ताओंका बाह्य है, जहाँके तालाबोंकी सीढियों मरकत आदि मणियोंकी बनी है, हेम-कमलोंमें बैद्ययं मणिके ताल हैं, इन्द्र-नीलके क्रीडा शिखर हैं और अन्य सभी बहुमूल्य तथा देवदुर्लभ सम्पत्तियाँ विखरी पड़ी हैं और फिर कल्पवृक्षोंसे समस्त सम्पत्ति और समस्त विभूति भी सुप्राप्य है । इतना सब होनेपर भी वहाँकी अमर-प्रापित भङ्गनाओंके शृङ्गारकी सामग्रियाँ प्रकृतिकी विभूतियाँ हैं व कि जड़ मणि शिलाओंके टुकड़े । यह वर्णन सूचित करता है कि प्रकृतिके पुजारी मानुष कविकी अन्तर्गत-दृष्टिको इन प्राकृतिक पदार्थोंमें जो सुपमा ललित होती है वह सुपमा रत्नमुत्तम-ललित काचनके आभूषणोंमें नहीं दिखाई पड़ती ।

इस महाकविकी शकुन्तला भी मानो-साक्षात् प्रकृतिकी कन्या है । तपोवनके पावन वातावरणमें पत्नी हुई शकुन्तला जिस समय आश्रम-वृक्षोंको सींचती हुई हमारे सम्मुख आती है, उस समय आश्रम-वृक्षोंके प्रति शकुन्तलाका स्नेह-देखा जान पड़ता है मानो वे उसके गले कुटुम्बी ही हो । आश्रम वृक्षोंकी इस भाँति मनोपोष-पूर्वक सेवा करनेवाली शकुन्तला, श्रवण वृक्षोंके अनुराग-पूर्वक

पीचनेवाली शकुन्तला, उपोवनकी किन सतारोने स्तवक कव प्रकट हुए, कव उनमे मञ्जरियाँ दिखाई पड़ी, इन सब बातोंका ध्यानपूर्वक निरीक्षण करनेवाली कण्व-सालिता शकुन्तलाका अद्भुत प्रकृति प्रेम उस समय लक्षित होता है 'जब स्वयं महर्षि कण्व जाती हुई शकुन्तलाको निर्दिष्ट करके वृक्षोनी घोर देखते हुए कहते हैं—

पालु न प्रथम व्यवस्यति जल कुम्पास्वपीतेषु वा
नादते प्रियमण्डनाऽपि भवता स्नेहेन या पत्ववम् ॥
माघे व कुमुदप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्तम
स्य याति शकुन्तला पतिशृह सर्वैरनुजायताम् ॥

—शकुन्तला, ४१६

शकुन्तलाने इस वरम प्रकृति प्रेमका प्रभाव यह होता है कि उपोवनके समस्त जड़-पेदन उसके ऐसे अनन्य अनुरागी हो जाते हैं कि उसकी बिदाईके समय वहाँके वन-वैवताओ और तरलताओने प्रलीकित वस्त्राभूषणादि तक उसके लिये उपहारमे प्रदान कर डाले ।

ऐसा जान पड़ता है कि कविकुल-मुखी समस्त वृत्तियाँ प्रकृतिके सौंदर्य-निरीक्षणमे, उनकी प्रारम्भिक अवस्थासे ही रम गई थी । उनका ऋतुसंहार जो उनका प्रारम्भिक काव्य माना जाता है—प्रकृतिपी मनोहर सुन्दरताओके सूक्ष्म एवं सहृदय निरीक्षणका एक ज्वलन्त साक्षी है । यद्यपि ऋतुषोका भाव्यम लेकर प्रकृतिकी सहज विशेषताओका वर्णन ऋतुसंहारने उद्दीपन विभावके अन्तर्गत हुआ है तथापि उसका प्रथम श्लोक—

प्रचण्डसूर्य स्पृहणीयचन्द्रमा सबावसाहसतदारिस्तवम् ।
दिनान्तरन्योऽभ्युपसान्तमन्मथो निदापकनोज्यमुपापन्न त्रिवे ॥

ऋतुसंहार, ११९

इस वाक्या पर्याप्त प्रमाण है कि सरस्वतीके लाहले पून कवित्वासके वर्णन, लक्ष्मिने और अलक्षार-शास्त्रीय परम्पराओंके बोरे विवाह भान नहीं, वरन् आत्मानुसूति-अन्य हैं । फिर—

काशमंहो शिशिरसीधितिना रजन्यो हसंजैलानि सरिता कुमुदै सरासि ।

सप्तज्यै कुमुदभारनतैर्धन्याया धुकीहताभ्युपबगानि च मानतीभि ॥

—ऋतुसंहार, ३१२

यह शरदका वर्णन कविकी व्यापक दृष्टि और उनके भारतविक तथ्य-निरीक्षणका परिचापक है । अतन्वने बायुजा वर्णन करते हुए कवि कहता है—

पावम्यनु नुमुगिता सहृदयताया
विस्तरायद् परभृतस्य वचासि दिद्यु ।
यामुविवाति हृदयानि हरम्पराया
नीहारपातविगमात् मुमयो नसते ॥

—ऋतुसंहार, ६१२४

इस वर्णनमे यद्यपि बहुत ही साधारण बात कही गई है तथापि इससे यह सूचित होता है कि घोर हुए माघके बागमे गेटन मतवाली कोनिकी बूज गुनवर अपना तन-भन निछावर कर

देनेवाले कविने ही यह सिखा होगा। इसी भाँति ऋतुसंहारके प्रत्येक सर्गमें प्रादि और अन्तके ऋतु-वर्णन-विषयक एक इतने सरस, सुन्दर और साथ ही इतने मजबूत हैं कि उन्हें पढ़ते ही या सुनते ही हृदयमें उन ऋतुसंकोच चित्रका चित्र जाता है।

कुमार सम्भव तो प्रकृति-नदीके तमिल साहसकी रमणीय रङ्गभासा है। प्रथम सर्गका हिमालय-वर्णन सस्कृत साहित्यमें क्या, समस्त विश्व-साहित्यमें एक देदीप्यमान रत्न है। कुछ उदाहरण नीचे—

यश्चाप्सरो विधमगण्डनाना सम्पादयित्री शिवरंविगति ।
यलाह्वयजेदविभक्त रागामकालसन्ध्यामिव घातुमताम् ॥४॥
यपोलवणहू करिभिर्भिनेतु विषद्विद्याना सरसद्रुमाशाम् ।
यत्न सुखसीरताया प्रसूत सानूनि गन्ध सुरभीकरोति ॥५॥
भागीरथीनिर्भरसीधराखत बोद्ध भुहु कण्ठितदेवदाह ।
यद्वागुरन्विष्टमृगे किरालैरासेष्यते सिन्नविजिह्विह्वं ॥११॥

ऐसा सुन्दर और स्वाभाविक पर साथ ही साथ सरस वर्णन सबसक सम्भव नहीं हो सकता जबतक कविका हृदय प्रकृतिकी मनोरम क्षीताओंको देखकर मुग्ध न हो गया हो।

आगे चलकर तृतीय सर्गमें पुनः वसन्तका वर्णन और अष्टम सर्गमें सन्ध्या तथा चन्द्रोदयका वर्णन भी अत्यन्त मोहक है। महाकविजी अनेक विशेषताओंमें यह भी एक विशेषता है कि जहाँ वे एक और प्रकृतिके स्वाभाविक सम्बन्धित विगतिमें प्रवीण प्रवीण हैं, वहाँ वे दूसरी ओर अपनी नव-नवोन्मेषशालिनी कल्पनामयी प्रतिभाके सहारे असौम्य और विषय विभूषणोंका वर्णन भी बड़ी विपुलताके साथ करते हैं। जहाँ एक ओर हिमालयका अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन करनेमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है, वही दूसरी ओर शेषविषय पुरीके, हिमालय-निवासी पक्षी, गन्धर्वों, किन्नरों और अप्सराओंके, अमरकाके सुमेरुके और गन्धमादनादिके काल्पनिक वर्णनमें भी उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। उनही सूक्ष्म निरीक्षण-शक्तिके उदाहरण सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। पर्वतके ऋतुपर दिनके समय जब सूर्यकी किरणें पड़ती हैं तब उनमें इन्द्रधनुष चमकने लगता है, पर सम्भाने समय सूर्यके लटक जानेपर उनमें इन्द्रधनुष नहीं दिखाई पड़ता। इसीका कवि वर्णन कर रहा है—

सीमरव्यतिकर मरीचिभिर्दूरत्यवधनते विवस्वति ।

इन्द्रधनुषपरिवेपमुम्यता निर्भरास्तव पितुर्वजन्त्यमी ॥८॥३१

किन्तु भरनोने इन्द्रधनुष के न दिखाई पड़नेपर भी वास्तविके असल लटकते हुए सूर्यकी उमड़न वान्ति पड़नेसे ऐसा जान पड़ता है मानो उनके ऊपर सोनेका पुल बना हो—

पश्य पश्चिमदिगन्तसम्बिना निर्मित मितकथे विवरवता ।

सम्पया प्रतिमया सरोम्भसा तापनीधमिव सेतुबन्धनम् ॥८॥३४

इसका अनुसरण करनेवाले कविका वे उक्तियाँ नहीं हो सकतीं, वरन् ये उसकी उक्तियाँ हैं जो कि मुग्ध दृष्टिसे प्रकृति की योजना देखते हुए सब कुछ भूल जाता है।

इसी प्रकार रघुवशमे भी तपोवनका वर्णन, प्रभात-वर्णन, वसन्त-वर्णन, शमुद्र-वर्णन प्रादि भी अनुपम हैं—

सेकान्ते भुविन्याभिरुत्तराखोन्मिदवृक्षानम् ।

विश्वासाय विह्वानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥

—रघुवश, १।११

भृगुताच्छ्रवणं हरति पुष्पमनोवहना

ससृज्यते सपठिनेरस्त्राश्रुमिनी ।

स्वाभाविकं परगुणेन विभ्रातिवायु

खौरम्यमीप्सुरिख ते मुखमास्तस्य ॥

ताम्रोदरेषु पतितं तरपत्त्वनेषु

भिषातिहागुलिका विशद हिमाम्भ ।

आभाति सम्पपरमाणतायाधरोष्ठे

सीतास्मित सदशनार्किरिख त्वदीयम् ॥

—रघुवश, ५।६६-७०

अमदयन् मधुगन्धसनायया किञ्चलबाधरसगतया मन ।

बृधुमसभृतया मयमस्तिका स्मितरथा तत्त्वाहविज्ञासिनी ।

—रघुवश, ६।४२

ससरबमादाय नदीमूलाम्भ सम्मील्यन्तो विवृताननत्वाद् ।

अमी शिरोभिस्त्रियम सरन्म्रं कर्ष्यं वित-वन्ति जलप्रवाहार्त् ।

—रघुवश, १३।१०

तथापरस्पदिषु विदुमेषु पर्यस्तपेतसहस्रोभिनेपाद् ।

ऊर्ध्वान्दुरप्रोत्तमुल कवचित्तलेषादपन्नमति क्षययूपम् ।

—रघुवश, १३।१३

इसी सर्गमें आगे चलकर गंगा-यमुनाके संगमका कितना सज्जिष्ट वर्णन है । सम्भवत गंगा-यमुनाके संगमका ऐसा मध्य चित्र सस्वत साहित्यमें उपलब्ध नहीं है । सोलहवें सर्गमें कुशकी जलक्रीडाके प्रसरपर नदीका तथा मार्गके अन्धाम्य दृश्यका कितना मनोहर वर्णन है । इस प्रकार बैचन रघुवशमें ही प्रकृतिके न जाने कितने सज्जिष्ट एवं मनोरम दृश्योंके सरपन्न कलापूर्वक चित्रा-रणन वर्णन भरे पड़े हैं ।

मेघभूत तो मानो प्रकृति रमणीके सात्त्विकपूर्ण मनोरम विलास-चेष्टाप्रयोग आगार ही है । पूर्व-मेघमें आरम्भते सेवर पन्थ तब केवल अनुपम प्रकृतिवा वर्णन है । वर्षाके आरम्भका एक वर्णन नीचे—

मन्द मन्द नुदति पवनप्रागुन्मुखो यथा रवा

वामप्राय नदति मधुर चातवस्ते सगन्धः ।

यमपानसणपरिषयान्मूलमायदपासा

तेविप्यनौ नयनमुष्णं ते मयन्द जलात्वा ॥

—पूर्वमेघ, १०

ग्रीष्म ऋतुके बाद पहले-महल वर्षाकी बूंदोंके पड़नेपर चरमी भर लगे हुये पत्थरवाले बिन्द्यादि पहाड़ोंसे जो भाप निकलती है उसका वर्णन लीजिए—

काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेव
स्नेहभ्यक्तिश्चिरधिरद्वज, मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ॥

—पूर्वमेघ, १२

इसी भाँति कानियेण ऊपर मकड़ीके जालो और नीचे घासपर पड़ी हुई शीतकी बूंदोंपर या वर्षाकी बूंदोंपर दिखाई पड़नेवाले इन्द्रके धनुषके समान इन्द्रधनुषकी छाया पड़नेसे मेघकी कान्ति कौसी हो उठती है—इसे देखिए—

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुनस्तदा
वस्पीकाघ्रातप्रभवति घन स्रग्दमाखण्डलस्य ।
येन श्याम वपुस्तितरा कान्तिमापस्यते ते
बह्वेव स्फुरितरुचिना शेषेष्वेवस्य विप्र्लो ॥

—पूर्वमेघ, १५

वर्षाके आरम्भमें जब जलकी बूंदोंके चिरनेपर भूमिसे सोधी-सोधी गन्ध उठती है उस समय मरल कृष्णक बालाएँ नितने स्नेहसे श्यामल घन्मुवाहोंको देशती हैं—

श्वभ्यामस्त कृपिफलमिति भ्रूविस्त्रासानभिज्ञै
प्रीतिरिन्ध्वर्जनपदवधूतोषर्न पीपमान ।
सद्यः सौरोत्कमलमुरभि क्षेत्रमाराह्य भाल
किञ्चित्पञ्चाद्वज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥

—पूर्वमेघ, १६

रेवाका वर्णन लीजिए—

रेवा इक्ष्मस्फुपलविषमे बिन्द्यपादे विशीर्णा ।
अतिच्छेदैरिव विरचिता भूतिमङ्गु गजस्य ॥

—पूर्वमेघ, २०

कण्ठ-आबद्ध बिन्द्यके निचले भागमें बहती हुई रेवा सने हुए हाथीके भङ्ग-सी जान पड़ती है ।
एक और सुन्दर वर्णन लीजिए—

नीप दृष्ट्वा हरितकपिश केसरैरर्धरुद्धै-
रविर्भूतप्रयममुकुला कन्दतीक्ष्णानुकञ्चम् ।
अम्बारण्येष्वधिकमुरभि गन्धमाध्राय चोर्व्या
सारङ्गास्ते जलतवमुच सूचयिष्यन्ति यावत् ॥

—पूर्वमेघ, २२ ।

एक प्रकार समस्त पूर्वमेघ अत्यन्त मधुर और रमणीय प्राकृतिक दृश्य-चित्रोंसे भरा पड़ा है ।
प्रकृतिके किसी एक भङ्गके नहीं बरन् समस्त भङ्गोंके वर्णनमें वे बड़े सिद्ध-हस्त हैं । मेघभूतमें

हम देखते हैं कि उनका प्रवृत्ति-वर्णन एक ओर तो प्राकृतिक सुन्दरताओंका अन्व-चित्राङ्गुम है और दूसरी ओर बाह्य जगत्का अन्तर्जगत्के साथ सम्बन्ध दिखानेवाला है। उन प्राकृतिक दृश्योंको देखकर केवल बहिके, यत्ने या अनुप्राणित मेघके हृदय भाव ही नहीं वर्णित हैं, वरन् ग्रामवधुओ, पक्षियों और विरहियोंके भावोंका भी अत्यन्त मनोरम चित्रण है। इसका ही नहीं, वरन् चातको, मयूरो, वगुनो तथा हंसोंकी भी उन चेष्टाओंका वर्णन है जिनमें उनकी अन्तरानुभूतियोंकी छाया झलकती है। जगु-जगत्की मनोहर चेष्टाओंके चित्रणमें तो कालिदास सिद्ध-हस्त हैं। दुष्यन्त बाण तथा हरिश्चन्द्र पीछे रथ बौद्ध रहे हैं और वह गर्दन टेढ़ी कर-करके पीछे निहारता और नोकड़ी मारता नाग रहा है, यथ जानेके कारण उसकी छाँट फूल रही है और मुँह चुन गया है, इस कारण माथी पयार्द हुई कुशा उसके मुँहसे गिर रही है और चौकड़ीके वेगसे वह उड़ता या जान पड़ रहा है—

श्रीबामङ्गाभिराम गृह्णन्नुपतति स्यन्दने बद्धहृष्ट
पद्माब्जं प्रविष्टं तारुतनमयाद्भूषणं पूर्वबाणम् ।
दर्भैर्धौकलौढं श्रमविवृतमुखं प्रसिद्धं वीर्यपत्नीं
पद्मोदप्रसूतकामिनीं यद्वत्तरं स्तोकमुष्णं प्रयाति ॥

—साकुन्तल, १।७

महाकवि जो कुछ लिखते थे वह उनकी वैयक्तिक अनुभूति और निरीक्षणका परिणाम होता था। साकुन्तलके प्रथम अध्यायमें तपोवनकी जिस परिपूर्ण विशेषताओंका वर्णन वर्णन किया है, वे मानो उनके अनेक बारके देखे हैं—

तीवरा धुक्कर्मपोटरमुखमृष्टास्तकृष्णामघ
प्रसिन्धवा क्वचिद्विगुदीपलभिदं सूक्ष्मन्त एवोपमा ।
विद्वानोपगमादभिन्नगतयं शब्दं सहन्ते मृगा—
स्तोमाधारस्पादश्च यत्नतश्चिन्तानिप्यदरेसाङ्कितः ॥

—साकुन्तल, १।१४

तृत्यामोमि प्रमृद्विचपदे क्षामिनीं वीर्यमूला
मिनीं रागं विसलधरुचामागम्यमूषोद्भवेन ।
एते चार्वाणुपवनमुचिच्छिन्नदर्भाश्चक्रुः रागा
मृष्टाज्ज्वा हरिणानिधानो मन्दमन्दं वरन्ति ॥

—साकुन्तल, १।१५

महाकविने वर्णनीय यह एक अनुपम विशेषता है कि यदि उसका वर्णन दिव्य पाशो और पद्मोद्भिन्न स्पर्शपङ्क्ति सम्बद्ध नहीं है तो उसमें स्वाभाविकता और भौगोलिक सत्यता अवश्य रहती है। भारविने गमान् हिमानयम के भौतीका वर्णन नहीं करते। जिस देश, जिस पाल और जिस परिस्थितिमें उनकी प्रकृति चित्रित होती है वह उसी देशकालके पूर्णतः अनुपम होती है। रघुने दिग्विजय का वर्णन करते हुए बलि, जिस मार्गसे और जिन समय जिस देशमें वे चलता है, उस समय वहाँ की जो बातें उसने वर्णनमें आती हैं, वे भौगोलिक विचारसे पूर्णतः वास्तविक हैं। पाहे

वे प्राच्य समुद्रके तटस्थ श्यामल छातीवनका वर्णन करता है, चाहे बङ्गालके कमलका निर्देश करता है, चाहे महेन्द्राद्रिने नागवल्ली-बलो और नारिकेलासबका चित्र खींचता है, चाहे मारीच-वनमें परिभ्रान्त हारीतवाले मलयवृक्षकी उपत्यकाकी कथा सुनाता है। चाहे बाण्डव देशकी ताम्रपर्णकी बात बघाता है चाहे 'केरल' की मुरला नदीके पुलिनस्थ केवकीके पुष्प-परागकी भाषा गाता है, चाहे भारतके पश्चिमी सीमा-प्रान्तके अमरसे व्याप्त प्रदेशका वृत्तान्त कहता है, चाहे काश्मीरके ककुम-केसरकी कहानी कहता है, चाहे हिमालयके भोजपत्रोका मर्मर, मृधोकी कस्तूरी, सरल और देवदासके तण्ड और गंगाके शीकरसे मिश्रित शीतल अनिलके भीत गाता है अथवा लीहित्य नदी पार करनेपर कामरूपके अमृद वृक्षोकी सम्प्रतिष्ठा वर्णन करता है, सब कुछ भौगोलिक और प्राकृतिक वास्तविकता और वायासव्यसे परिपूर्ण है। रघुदिम्बिजयके अतिरिक्त इन्दुमती-स्वयंवर और मेघदूतमें मेघके मार्ग-वर्णन आदिमें भी ऐसे अनेक उदाहरण भरे पडे हैं, जहाँ दक्षिण विरोपतामंकि प्राकृतिक वर्णनमें बड़ी पूर्ण रूपसे यथार्थ है।

भौगोलिक तथ्य—वर्णनके अतिरिक्त महाकवि कालिदासके प्रकृति-वर्णनकी दूसरी विशेषता यह है कि प्रस्तुतकी अमूर्त विशेषताओं और सुषमा-सम्बन्धी विषयगतताओंके सामान साक्षात्कारके लिये वह प्रकृतिके अग्रस्तुत प्रसङ्गोको निर्वाध सहायता सेवा है। शकुन्तलाकी अग्रिम सुषमाकी मलिन कल्पनाको मूर्तकपमें चित्रित करनेके लिये वह कहता है—

सरसिजममुमिद्ध लैवतेवापि रम्य
मलिनमपि हिमालोलेभ्य लक्ष्मी तनोति ।
इयमधिकमनोभा मत्स्यसेनापि लब्धी
किमिष हि मधुराद्या मण्डन गारुवीनाम् ॥

—शकुन्तला १।१६

इसमें शकुन्तलाकी सहज रूपसम्पत्तिका मूर्त प्रत्यक्षीकरण करानेके लिये सेवारसे पिरे हुए कमल और सकलङ्क कस्तामरकी सहायता ली गई है। इसी भाँति शकुन्तलाके अग्रस्तुतपूर्व जीवनकी अभिव्यक्तिके लिये, उसके अङ्गने जीवनकी मनोहरताके प्रतिपादनके लिये, कवि अग्रस्तुतकी सहायता लेकर कह उठता है—

अनाघात पुष्प किसलयमकुल करह्यै-
रनाविद्ध रत्न मधु मयमनास्वादिस्तरसम् ।
अखण्ड पुष्पाणा फलमिव च तद्रूपमनघ
न जावे शोत्तार कमिह समुपस्थास्यति विधि ॥

—शकुन्तला २।१०

अनाघात पुष्पादिको वर्णन हमारे अन्मुख उसकी अग्रुक्त रूपसम्पत्तिका बड़ा मज्ज और प्रभाव-शाली चित्र उपस्थित कर देता है। इस चित्रकी सहायतासे अमूर्त भावनाके मूर्त साक्षात्करणमें अत्यन्त तीव्रता भा जाती है, हृदयपर उसकी बड़ी मधुर और अमिट छाप पट जाती है।

रमणी-सौन्दर्यकी देखभर भवेष लक्ष्णोंके मन आकृष्ट होते रहते हैं, पर इतना कह देना कि मधुव गुन्दरीनी देखभर अग्रुक्त सुषवना मन मुग्ध हो गया, पर्याप्त नहीं होता। केवल इतनेमें न

तो कोई साहित्यिक समीक्षका जान पड़ती है और न इसका कोई प्रभाव ही पड़ता है। अतः, उर्वशीका स्वर्गीय सोन्दर्य देखकर पुरुरवाका हृदय जब मुग्ध हो गया तब उसीका प्रभावशाली वर्णन करते हुए कवि कहता है—

एषा मनो मे प्रसन्न करीरात् यितु पद मध्यममुत्पतन्ती ।

सुराङ्गना कर्णेति खण्डिताग्रालूत मृणालादिव राजहसी ॥

—बिक्रमोर्वशीम् १।२०

[जैसे मृणालके दो खण्ड करके एक खण्डसे दूसरे टुकड़ेके दूर किए जानेपर भी उसमेंसे निकलता हुआ सूक्ष्म शोभाका सम्बन्ध बनाए रखता है, उसी भाँति उर्वशीके चले जानेपर भी महाराजकी भाँति और समस्त घनवृत्तियाँ उसी ओर लगी हैं।] इसी प्रकार विरहिणी यक्षिणीकी मलिन मूर्तिवा विशात्मक साक्षात्करण करनेके हेतु कविने उसे शिशिरमयिता पद्मिनीके तुल्य कहा है। आपे उसीका वर्णन करते हुए कविपुल-कमल-विवाकर कहते हैं—

नून तस्या प्रबलवदितोच्छ्वनेन प्रियाया

निष्पासामामशिशिरतया भिन्नवर्णाचरोष्ठम् ।

हृत्पद्मस्त मुलममकलध्वसि सम्वालकत्वा—

दिन्दोर्द्वय रत्नदुसरणुवितल्लगान्तेविभक्ति ॥

मेघदूत (उत्तरमेघ)—२४

यहाँ भी अग्रस्तुत का यह सूचित करता है कि सहज-सुन्दर यक्षिणीका मूल वियोगके वादलोसे कान्तिहीन हो गया है। इस रीतिसे महाकविके काव्योमे अग्रस्तुत रूपमे भी प्रकृतिका अत्यन्त प्रभावशील और विशात्मक दृश्योत्थापक वर्णन पग-पगपर भरा पड़ा है।

मक्षि कालिदासके प्रकृति-वर्णनमे अनेक विशेषताएँ हैं तथापि उन सबका वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है, अतः यहाँ केवल एक और विशेषताके सम्बन्धमे कुछ विवेचन कर देना है।

कविकी दृष्टिमे मानवके चारो ओर फैली हुई विशाल प्रकृति, अनगिनती तारोसे जगमगाता हुआ अनन्त भन्दर, अगाध समुद्र, विद्याल वन, लता, वृक्ष, पत्तन, प्रभून, कलादि, नदी, पशुपक्षी तथा अन्य अनन्त प्रकृतिके पदार्थ केवल जल या बुद्धि और भावनासे हीन साधारण वस्तुएँ नहीं हैं, बरन् उसकी भावुक कल्पना-वस्तुओके सम्मुख ये सभी चेतन जान पड़ते हैं, वे सभी भावनाशील हैं और मानव जगत्के प्रति उनके हृदयमे सहानुभूति है, मानवपीडासे वे व्यथित होते हैं और मानव-मुक्तसे खुशी। इससे अन्य और विशद उदाहरण एक नहीं, महाकविके काव्यमे अनेक हैं। बिक्रमोर्वशीयके चतुर्विंश प्रच्छेद उर्वशीके वियोगमे विलाप करते हुए पुरुरवाको देखकर मानी समस्त प्रकृति सहानुभूतिसे घावुल हो उठती है, और पुरुरवाको भी सारी प्रकृति सजीव और मानव-गुणमामे व्याप्त दिखाई पड़ती है। सम्पूर्ण प्रकृतिको अपने प्रति समानुभूतिपूर्ण और सरस देखकर ही पुरुरवाके द्वारा कवि अपने हृदयका भाव उनके प्रति व्यक्त करता है।

इसी भाँति अनुन्मत्ता भी मानी प्रकृति-सुन्दरीकी, नैसर्गिक शोभाययी वनदेवीकी दुलारी पुत्री है। तपोवनके मुक्तो तथा अन्य पशु-पक्षिमयि प्रति उसका हृदय दान्धव-स्नेहसे घावुल है। नैसर्गिक वन-गुणमामे उसने वनेवर्गके अनेक अनेक निमित्त और परिपाकित हैं। कविके कल्पनागार

अनुसार जो अनुन्तथा तक्षतादिको बिना सींचे जल पीना भी उचित नहीं समझती भी उस अनुन्तथाकी विदाइके समय समस्त उपोवन निरुद्धाकुल हो उठता है, तो क्या आश्चर्य ।

उगलितप्रदग्धनवसा मिथ्या परिवर्तितशयणा मोरा ।

ओसरिष्यपण्डुपता मुमन्ति अस्मू विप्र नदाभो ॥

अनुन्तथा—४।१२

धर्मपिता स्वयं और अन्य उपोवनवासियोंकी निरुद्ध-व्याकुलता तो ठीक ही है, पर जब और मूक प्रकृतिकी शोककातरता तथा व्यथा व्याकुलता उसी कविके अन्तःकरणके साथ स्थानित हो रहती है जिसके हृदयकी बीरुणके सार प्रकृतिवे व्यापारोसे बंध उठा करते हैं ।

महाकविके द्वारा जट प्रकृतिका चेतनीकरण मेघदूतमे आदिसे अन्ततः प्रतिबिम्बित विलासि पड़ता है । यदा जब मेघको अपनी दूत बनाकर अपनी प्रियतमाके पास भेजता है । मेघकी सेवा मार्गमें यलाभा (यक्ष-वृत्ति) करेगी, किसलयका पायेय लिए हुए राजहंस मार्गमें उसका साथ देंगे, जातेके समय 'रामगिरि' भी भाँसू बहायगा, मार्गमें सुन्दर रैवा नदी मिलेगी, मयूर स्वागत करेंगे, विदिशाने पहुँचनेपर कामकेच्छा पूर्ण होगी और चैत्रवतीके चरूपल-तरङ्ग-भ्रुकुटियोवासे मुसका वह शुम्भन करेगा तथा प्रकृति चेतन मानवके समान आचरण करेगी ।

जहाँ एक ओर कवि मनुष्यके बाह्य शारीरिक सुन्दरताकी प्रभावशील और तीव्र अनुभूतिके लिये प्रकृतिके मनोरम और सज्जित उपादानोंकी सहायता लेता है, वहीं दूसरी ओर वह प्राकृतिक रमणीयताकी प्रभावशीलता तथा ठीकठा बढ़ानेके लिये प्रकृतिमें भी मानव-सौन्दर्यका आरोप करके अस्तुत रूपसे मानवीय सुन्दरता तथा भावामिष्यतिकी सहायता लेता है —

वीचिधीमस्तनितविहगध्रेणिकास्त्रीगुणाय

ससर्पन्त्या स्खलितगुण दक्षितावर्तनाभे ।

निर्दिध्याया पथि भव रसाम्बन्तर सन्निपत्य

स्त्रीलामाद्य प्रणयवचन विप्रमोहि हि प्रियेषु ॥

मेघदूत (पूर्वमेघ)—१०

महाकविके सम्मुख सुरत भानिको दूर करनेवाला शिप्रानिल मानो प्रार्थना-चाटुकार प्रियतम है । इसी प्रकार गम्भीरा नदीका 'चतुल्लसकरोद्धर्तन' ही उसके कटाक्ष है । अतः, मेघसे यक्ष कहता है —

तस्या निचित्करपुलमिव प्राक्तवानीरसाद्य

हरिषा नील खलिलवसन मुक्तरोधोनितम्बम् ।

अस्वान् ते वयमपि सखे चम्बवानस्थ नायि

जातास्वादो विवृतजघना को निहातु समयं ॥

मेघदूत (पूर्वमेघ)—४४

इस दलीबसे हमे ज्ञात होता है कि बिच भीति एवं विलास प्रिय कामकला-निपुण नायकके हृदयमें 'विवृतजघना' रमणीको देखकर उसके प्रति आकर्षण होता है, उसी भीति वषट्कालीन गम्भीराकी उपर्युक्त सहच उठा देखकर कविता जी वही रम जाता है और वह अब कुछ भूलकर उसे निहारनेमें मस्त हो उठता है ।

कविकुल-गुरु कालिदासके सभी काव्योंमें और विद्येयत. मेघदूतमें इस भाँतिके वर्णन भरे पड़े हैं। मत्त, चाहे प्रस्तुत रूपमें हो भगवा अस्तुत रूपमें, कविका प्रकृति-निरीक्षण और उसका वर्णन अनुपम है। पर यहीतक उसका प्रकृति-प्रेम समाप्त नहीं हो जाता। हमारे चारों ओर जो विचाल प्रकृति अपने अग्रन्त सौन्दर्यके नैमवमें अज्ञात रहस्यका आवरण डाले दिखाई पड़ती है, उसकी अपार महिमाके सम्मुख धृष्टा और भक्तिये मस्तक झुकाता हुआ महाकवि अभिज्ञान शाकुन्तलके आरम्भमें कह उठता है—

या मृष्टिः सपट्टराया बहति विधिहुत या हविर्वा च होत्री,
ये द्वे काल विपत्त ध्रुतिविपयमुष्णा या स्थिताम्याप्य विश्वम् ।
यामाहुः संपंथीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रापयन्ति. प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरिणः ॥

अभि० शाकुन्तल—१।१

अर्थात् परमेश्वर भी कहीं अन्यत्र नहीं है। ससारमें, प्रकृतिमें दिखाई पड़नेवाली महिमाययी स्रष्टविभूतियाँ हो भगवाद् स्रष्टृभूतिकी भाठ प्रत्यक्ष सूँटियाँ हैं।

इसीलिये कवि कुमारसम्भवमें भी कहता है—

अथ सपावकठिन. स्फूर्त. मूर्खो नपुगुणः ।
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्य ते विभूतिषु ॥

कुमारसम्भव—२।११

वही परमेश्वर पूर्णबी आदि प्रकृतिके रूपमें इस स्रष्टव्यपावर विश्वको आरण्य किए हैं—

नसितान्योग्यसामर्थ्यै. वृष्टिव्यादिभिरात्मभिः ।
येनेद अभयते विश्वं दुर्येयानिमिश्रानि ॥

कुमारसम्भव ६।७६

अस्तु, ईश्वरकी परम मुखमयी प्राकृतिक विभूतियोंके अनन्य उपासक महाकवि कालिदासकी कवितामें प्रकृतिका महत्त्वपूर्ण तथा परमरमणीय चित्रण तनिक भी आश्चर्यकारक नहीं कहा जा सकता।

निसर्ग-कन्या शकुन्तला

[शॉ० एस० के० बेल्बेलकर, ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना ।]

धोंगरेज कवि बर्ट्रान्ड रॉसेने किसी स्तुतीका वर्णन करते हुए लिखा है—

“यू इयर्स शी ब्लू इन सन ऐण्ड शीवर,
 बैन् नेचर सेड् “ए लवलिघर फ्लौवर,
 मोन बयं वाज् नेचर सोन,
 दिस वाइल्ट माइ टु माइसैल्फ विल टेक,
 श्री थैल वो माइन, ऐण्ड माइ विल मेक,
 ए सेटी श्रीफ माइ मोन,
 माइसैल्फ विल टु माइ डार्सिज्ज यू
 वोय ली ऐण्ड इम्पल्स; एण्ड बिद यू
 दि वर्ल इन रीक ऐण्ड प्लेन,
 इन बयं ऐण्ड हैबिन, इन गेठ ऐण्ड बीवर
 शैल फील एन्ड मोवर-सीईंग पीवर
 टु किडिल और रैस्ट्रन,”

[यौन वर्ष तक वह धूप और वर्षा में पड़ी । तब निसर्ग ने कहा—इससे अधिक सुन्दर फूल इस पृथ्वी पर कभी उगाया ही नहीं गया । इस कन्याको मैं स्वयं ले लूँगा । वह मेरी रहेगी और इसे मैं अपनी प्रेयसी बनाऊँगा ।

“मैं ही अपनी इस प्रेयसीका नियम और भाव बनूँगा; और मेरे ही साथ यह कन्या चट्टानों और मैदानोंमें, मार्ग और स्वर्गमें, वनपर्वत और कुञ्चोंमें मगको उकसानेवाली या संयम करनेवाली दिव्य शक्तिका अनुभव करेगी ।”]

‘टिटन एबीरो कुछ मील ऊपर’ गयी हुई अपनी दूसरी बलितामें वही कवि कहता है कि मैं जिस प्रकार—

“इन नेचर ऐण्ड दि लम्बेज श्रीफ सैन्स,
 दि ऐन्चुर श्रीफ माइ प्योरेस्ट थोद्स, दि बसं,
 दि गाइड, दि गार्डियन श्रीफ माइ हार्ट, ऐण्ड सोल
 श्रीफ श्रीम माइ गौरल बीईंग,”—

[“निसर्ग और भावकी भावामें, अपने सबसे गवित्र विचारोंको याच रखनेवाली, अपनी यात्री, अपनी गन्ध-प्रदशिका, हृदयपर शासन करनेवाली और अपने समस्त तंत्रिक शक्तित्वके आत्मा.....”] को पहचाननेमें समर्थ हुआ । और अपनी ‘शेर’ (दि एन्सकर्सन) शीर्षक कवितामें उसने मानव और प्रकृतिके बीच स्थापित हो सनेवाले सम्बन्धके कई रूपों और अवस्थामोंका

धरुन दिया है। आलोचक-गण इस बातपर सहमत हैं कि जो कुछ बहस-वर्धनने इनमें तथा धर्म-रचनाओंमें बर्णन किया है वे उस भाव-मक्रान्ति विभ्रमके उदाहरण मात्र नहीं हैं जिसके द्वारा मनुष्य अपनी निजी अनुभूतिमें, उदगारा और भावोंकी अचेतन पदार्थोंमें आरोपित करता है। मनुष्यको प्रकृतिसे जो विचार और प्रेरणाएँ मिलती हैं उसे प्रदान करनेकी शक्ति सचमुच प्रकृतिमें है, क्योंकि मनुष्य और प्रकृतिके बीच वही आत्मा या चेतना व्याप्त है जिससे दोनोंमें परस्पर आन्तरिक सम्बन्ध उत्पन्न हो शीघ्रतासे और आवश्यक रूपसे भव्य है जैसा कि परस्पर प्रेम करनेवाले दो मित्रोंमें होता है, और ऐसे सम्पर्कके लिये सदा व्यक्त आपाणी आवश्यकता हुआ भी नहीं करती।

यह समझा जाता है कि उपर्युक्त प्रकृतिवाद बहस-वर्धनका ही चलाया हुआ है और वह उसमें पूर्णतः विश्वास भी करता था। इसका दार्शनिक आधार हमारे बैदातरे उस रूपमें बहुत कुछ मिलता-जुलता है जहाँ यह माना जाता है कि एक ही आत्मा मनुष्य, पशु, वनस्पति और समस्त सृष्टिमें व्याप्त है। यह भी निश्चय है कि यही कालिदासका भी ध्येय मत था। किन्तु यदि इसके लिये वाक्य-ब्रमाणकी आवश्यकता होती तो उर्बशीका यह कथन सबसे अधिक प्रमाणिक होगा जो उल्लेखित होवेका साप पाकर और फिर अपना पूर्व रूप धारण करके अपनी जगती प्रवस्थाके अनुभवका लेजा हमारे लिये गुरुसित रख छोड़ा है—

अभ्यन्तरकरणं मय पञ्चशीकृदपुत्ततो बहु महाराष्ट्रो । (मैंने अपनी भीतरी इन्द्रियोंको महाराजकी सय बानें जान ली थी ।)

—विक्रमोर्वशीयम्, प्रबु ४, श्लोक ७१ के पश्चात्

वास्तवमें हिन्दुधर्म पुनर्जन्म और आत्मोत्थमणकी भावनाके आधारपर यह तथ्य ऐसे ध्वस्तका सामान्य अनुभव माना जा सकता और इससे यह निष्पत्तिपूर्वक कहा जा सकता है कि प्रकृतिके पदार्थ भी ठीक मनुष्योंके समान ही अनुभव कर सकते हैं और अपने विचारोंका आदान-प्रदान कर सकते हैं। इसका मटीक उदाहरण कालिदासके अधिष्ठानशानुत्तलकी गायिका उस शानुत्तलामें पाया जाता है जो नीचेके उपरतक प्रकृतिकी सच्ची कथा थी और जिसे कविने केवल शब्दोंमें ही वर्णन नहीं किया है बरन् उसे हमारे समक्ष रक्त-मांससे निमित्त शरीर रूपमें भी लाकर रख दिया है और वह बोलती भी है, अनुभव भी करती है, कार्य भी करती है और ठीक उसी प्रकार भाषण करती है जैसे उस वातावरणमें उत्पन्न किसी वस्तुसे भाषा की जा सकती है और इसीमें हमारे निम्नादिष्ट अनुसन्धानका वास्तविक कौतुक निहित है।

• शानुत्तलाका जन्म स्वर्गीय अम्बर मेनकाके गर्भसे और उन विश्वामित्र ऋषिसे हुआ जिनके भयङ्कर तपसे स्वर्गमें स्वामी इन्द्र इतने डर गए कि उन्होंने ऋषिको चुगाने और उनकी तपस्या भग करनेके लिये मेनकाको नीचे मर्त्यलोके भेजा। कन्याके उत्पन्न होते ही माता उसे वनमें छोड़कर स्वर्ग लौट जाती है। इस प्रकार अरक्षित छोड़ी हुई बालिकाकी दैतमाल वनके पक्षी करते हैं और उसका अवतक पोषण करते हैं अवतक फल ऋषि उसे भत्कर उठा नहीं ले जाते। वे उसका नाम शानुत्तला (पक्षियों द्वारा पोषित) रख देते हैं और उसे अपनी पालिका कन्या बना लेते हैं।

कप्यने अपनी पालिका कन्याके लिये बाल-सत्त्विकी रूपमें धनयूया और प्रियवदा नामकी दो सत्त्विकी भी दे दी जिनके नाम ही सुविहित रूपसे उनके भिन्न स्वभावोंकी सूचना देते हैं।

इतना ही नहीं यरभ उसके लिये कण्ववे गाधयो, अतिमुक्तन और सबसे अधिक शकुन्तलाकी महनः नवमालिना भी दे दी थी जिसका उसने प्रेमसे यन-ज्योत्स्ना नाम रख दिया था, और चतुल, केसर, सहकार और दूसरे स्नेह और सावधानीसे रोपे और पाले हुए वृक्ष दिए थे, और हरिण, मृग, मोर, हंस, कोकिल, चक्रवाक आदि पशु-पक्षी भी दे दिए थे और वनके देवी-देवता तो उसके साथी थे ही । इन सभी आश्रम निवासियोंकी उत्पत्तसे पालना, पानी देना, पोषण करना, इन सबके मुखवा ध्यान रखना और समय-समयपर आए हुए अतिथियोंका स्वागत-सत्कार करना, ये सब निरत्यके कार्य कण्ववे शकुन्तलाकी सौंप दिए थे और उसे थोड़े ही दिनोंमें ये काम अपने भी लगे और इन कामोंमें उसे सेवाया सदा आनन्द भी मिलने लगा था । देखिए—

एष केवल तावद्विप्रोभो । अतिथि ममाति सोदरसिन्धो एदेव ।

(मैं केवल पिताजीकी ही आजासे इन्हे नहीं सीचती हूँ । मैं स्वयं भी इनको सगे भाई महन जैसा प्यार करती हूँ ।)

या चतुर्धं भगवे कण्वका यह प्रतिष्ठ श्लोक देखिए—

पातु न प्रथम व्यवस्यति जल मुष्मास्वपीतेषु वा ।

नादत्ते प्रियमण्डनापि भवता स्नेहेन वा पत्न्यवम् ।

प्राप्ये व कुसुमप्रवृत्तिसमये यस्या भवत्युत्सवः ।

तैव याति शकुन्तला पतिगृह सर्वरनुग्राहकाम् ॥

—शाकुन्तलम्, ४।१

उसके ये पशु और वनरपति-जगत्के सभी साथी अपने निजी व्यक्तित्व और जीवनसे अनुप्राणित हो उठे और इनके व्यक्तित्व और जीवनमें अनमूया और प्रियम्यदासे कुछ कम विशेषता नहीं थी । मत यह स्वामाविश था कि उन्होंने शकुन्तलाको अपनी अपनी परिस्थितियोंके अनुसार सेवा और मैत्रीके लिये प्रेरित किया तो शकुन्तलाको केवल प्रतिदिन लताघोमें पानी देना और उनका पोषण ही नहीं करना पड़ता था बरन् जब बरसी उनमें उभरते हुए योग्यता सशक्त दिखाई देता था तब उन्हें उपयुक्त पुरस्कार सहारे पढ़ाना भी पड़ता था अथवा यदि शकुन्तलाके समान ही बढोकी प्रतीक्षा बिना किए वे स्वयम्भर या आत्मनिर्णयसे अपना सम्बन्ध कर लेती थीं तो भी कर्मसे कम उनके सौभाग्यपर उत्सव तो अवश्य ही मनाना पड़ता था । इसी प्रकार इन्हे मृगछीनोनी भी सावधानीमें देखरेख आवश्यक होती थी विशेषतः जब, जब पहले पहल घास चबाते समय उनके मुहं कट जाते थे । एक ऐसा मृगछीन वहाँ था भी, जिसकी माँ उसके जन्मते ही मर गई थी । शकुन्तला ही इस छीनेकी माँ बन गई थी उसने प्रेमसे इसका नाम रखवा था—दीर्घापाग (बड़ी-बड़ी माँखोवाला) । यह धीरे-धीरे उस छीनेके बड़े हुए ओछेपर तेज लगाती और तबमुक्त वह उसे दुलार करनेवाली वैसी ही माँके समान सब काम करती थी जैसे प्रकृति माताने स्वयं शकुन्तलाका उस समय पालन किया था जब उसकी कठोर-हृदया माता मेनका उसे छोड़कर चली गई थी । चतुर्धं भगवे शकुन्तलाके शब्दोपर विचार तो कीजिए—

‘बन्ध । किं सहवासपरिषदाहं सि म भग्युवरसि । अचिरमसूयाए षण्णसीए विष्ठा वदिदो एव ।
शाणि पि मए विरहिद तुम तावो चित्तइस्सदि ।’

(यन्त्रे ! मुझ साथ छोड़कर जानेवालीके पीछे-पीछे तू कहाँ जा रहा है ? तेरी माँ जब तुझे जन्म देकर मर गई थी उस समय मैंने तुझे पाल-पोसकर बड़ा किया । अब मेरे पीछे पिताजी तेरी देखभाल करेंगे ।)

प्रियवा इसके पहलेका श्लोक देखिए जहाँ बड़ी मानुषतासे बन्ध बर्णन करते हैं कि शकुन्तला किस प्रकार अपना छोटीका पालन-पोषण किया करती थी—

मस्य स्वया जलविरोधमभिज्ञं वीना

सैल न्यपिच्यत मुचे कुतस्त्वचिबिम्बे ।

द्यानाकमुष्टिपरिचरितको जहाति

सोऽयं न पुनरुक्तक पदवी मृगस्ते ॥

—शकुन्तल, ४।१४

इस सहानुभूति और सेवाके ऐसे अद्विष्ट और स्थिर आदान-प्रदानसे यह साक्षात् की जाती है कि शकुन्तला और उसके ये सब सज्जी-साथी परस्पर एक दूसरेकी आवश्यकताओं और भावोंकी भली भाँति समझते होंगे और एक दूसरेके विचारोंको पहलेसे ही समझकर उनकी व्यक्त या अव्यक्त इच्छाओंको पूरा करनेके लिये शीघ्रता करते होंगे । इसलिये जब शकुन्तला वनज्योत्स्नाके पाससेने पानी देती हुई उसकी और घावभरी हाँडिसे देखती है उस समय शकुन्तलाके मनकी बात प्रियववा समझ जाय तो कोई आश्चर्य नहीं—

मणुषूय । जाणसि किंलिमिन्नं सज्जन्ता वणजोसिणिं अरिपेत्तं पेवज्जदि ।... जहा वणजोसिणी मणुष्वेण पापवेण सगग, अवि श्याम एव अहं नि अत्तणो मणुष्यं वयं सहेम ति ।'

(मनमूषा ।) जानती हो शकुन्तला इतनी भग्न होकर वनज्योत्स्नाको क्यों देख रही है ?... जैसे इस वनज्योत्स्नाको अपने योग्य वृक्ष मिल गया है, वैसे ही मुझे भी मेरे योग्य घर मिल जाय ।)

किन्तु यहाँ भी यह प्रश्न उठाना क्या बँसा ही उचित न होगा कि क्या शकुन्तलाकी सत्ता-महत् वनज्योत्स्ना भी शकुन्तलाके लिये वैसा ही नहीं सोच सकती थी और जिस प्रकार मणुषूषा और प्रियवदाने दुष्यन्तके लिये शकुन्तलासे यह प्रेमभय पत्र लिखवाकर नायक और नायिका परस्पर मिलन करनेके उपाय दूढ़ निकाले थे—

'तं सुमणो गोविन्द करिअ देवदासेतावदेसेण हत्वम पावइस्स ।'

(उसे पूर्वोक्त छिपाकर देवताका प्रसाद गृहकर उन्हें दे दिया जाय ।) वैसे ही क्या इस प्रकारसे मिलन करनेकी कोई ऐसी ही विधि बकुल या केसरका वृक्ष या वनज्योत्स्ना सत्ता नहीं सोच सकती थी ? जिस प्रकार कानिदासने शकुन्तलाके आश्रम-संस्थाओंका विग्रह किया है, उस दृष्टिसे इस प्रकारका प्रयत्न करना अवज्ञा न होगा, क्योंकि पीछे जब शकुन्तला अपने पतिके घर जानेको उद्यत होती है उस समय केवल मनमूषा और प्रियवदा ही निम्नलिखित मञ्जुल साज नहीं जुटाती हैं—

'गोरोषण, तिरपमिच्छिअ, दुब्बाविस्सलआणि ति मञ्जुलसमानम्भणाणि ।' (गोरोवन, तीर्थ-मृत्तिका, दूबके पत्ते आदि मञ्जुल सामग्रियाँ) और वे बकुल (केसर) के फूलोंकी यह माला भी नहीं, मूलकी है जिसे मनमूषाने इस व्यवहारके लिये भत्तय रख छोड़ा था—

'एदस्सि भूदधात्तन्तमिन्दे एरिएलसमुण्ण एदं मिमिच्छं' एव कालन्तरकलना एविकत्ता

मए केसरमालिना (वह जो आमकी झालीपर नाचियत सटक रहा है उसम मैंने बहुत दिनोतक सुगन्धित रहनेवाली बकुलकी मावा आबके ही लिये रख छोड़ी है ।)

[—वरुन् जसा भानिदासने भी जान-बूझकर कहा है—आश्रमके वृद्धोंने भी शकुन्तलाके विवाहके लिये भट दी थी—

शोम केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माञ्जूल्यमाविष्टत

निष्पथतश्चरणोपगोगयुलभो साधारस केनचित् ।

शब्देभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-

रंत्ताम्बाभरक्षामि तत्किमस्योक्तेऽप्रतिहन्दिभि ॥

—शकुन्तल, ४१४

यह मेरी पहली समस्या है ।

इसी प्रकार यदि दुष्कृतके प्रति शकुन्तलाका प्रेम जगत्के पहले भनसूया और प्रियवदा आपसने बड़ी उत्कण्ठासे इस बातपर विचार कर खपती हैं कि राजा सचमुच शकुन्तलाके प्रेमका उचित अधिकारी हो सकेगा या नहीं—

‘मलयुगे । वृषाभनम्बहा भक्तमा इम कालहरणस्त । अस्मि बद्धभावा एसा सो सलामभूषो पीरबाण । जुत से महिनासो पहिलामेन्दु ।’

(भनसूया । इसकी प्रेम-व्यथा इतनी बढ गई है कि कोई उपाय सोच ही करना चाहिए । सचमुच इस बातकीतो सराहना करनी ही पड़ेगी कि शकुन्तलाके प्रेम किया तो पुत्रवशके भूषण दुष्कृतसे ही ।)

और फिर जब राजा स्वम भनामास रङ्गमञ्चपर आ पहुँचाते हैं, उस समय भी यदि वे ही दोनों सखियाँ स्वयं प्रेम-भीडाके सफल परिणामकी सिद्धिके लिये सभी उपायोंका अवलम्बन करती हुई इस प्रकार कहती हैं—

‘वधस्त । बहुवल्गु रात्राणो भुलीमन्त्रि । नह शो विभक्तही बन्धुप्रणसोभ्रणिष्ठा ए होदि तह खिण्वाहेहि ।’ (वयस्य । सुनते हैं कि राजाओंके बहुत सी रानियाँ होती हैं । तो हमारी प्यारी सखीके लिये कुछ ऐसा प्रबन्ध कीजिएगा कि हम सगे-साथियोंकी फिर पक्षतावा न पड़े ।)

—तो क्या हमें यह आशा करनेका अधिकार नहीं है कि यदि वनस्पति और पशु वर्गमेंसे शकुन्तलाकी जिन सखियोंका वर्णन किया है उनके द्वारा भी कवि, शकुन्तलाके भावी भगवत्के लिये उसी प्रकारकी उत्कण्ठा प्रदर्शित करावे ?

यह मेरी दूसरी समस्या है ।

अन्तमें उष प्रसिद्ध और मुक्तकण्ठसे प्रशंसित चतुर्थ अंकके विवाहके दृश्यमें, जहाँ सम्पूर्ण प्रकृति शकुन्तलाके जाते समय उसके वियोगसे दुखी है—

उगसिददम्भकवला मिथा परिवतरखचला मोरा ।

प्रोत्थस्त्रिपण्डुपला भुमन्ति मरयू विम सदाशो ॥

[उदयतितदगंकवला भूया परिवत्तनर्त्तना मयूरा ।

अपसुतपाण्डुपना भुञ्चन्त्यशूरीव तता ॥]

—शकुन्तल, ४१२

और जहाँ दुर्वासके आपके बयानमें परिणामका विचार करते विद्वान्के अन्तिम समय भी वे दोनों सखियाँ शकुन्तलाके तात्कालिक व्यापारे थोड़ा बचा देनेमें तुच्छ बहुतेसे दुष्कृतकी श्रेयुंठीका

स्मरण कराते हुए प्रसंगबद्ध इतना भर पहुँची है कि जब आवश्यकता पड़े तो मँगूटीका प्रयोग कर लेना पर भूलंता नरके छापनी बात दिखा लेती हैं—

‘रविसदव्या बहु पकिदिपेलया पिमसही ।’

(उस बोल स्वभाववाली प्यारी सखीकी रखा तो करनी ही होगी ।) और अपनी पुत्रीकी भावी विपत्ति और ध्यवानो पहलेसे जाननेकी दिव्य दृष्टि वाले पिता कब भी कोई ऐसा स्केच या चेतावनी नहीं देते और यह बात केवल उस नीतिके उपदेशमे ही नहीं है जिसे वे विशेष रूपसे शत्रुताकाको सुनाते हैं—

‘शुभूपरब गुरव बुद्ध प्रियससौवृत्ति सपलीजने ॥’ प्रादि

शाकुन्तल—४।१८

परन्तु क्षीर-वृत्तके तले बैठकर दुष्यन्तके लिये उन्होंने जो सँदेसा अर्यस्त सोच-समझकर कहा—

अस्मान् साधु विचिन्त्य समयधनानुषर्षं कुल चात्मन-

रत्नम्यस्या कथमप्यवाग्धकृता सौहृदवृत्तिं च ताम् ।

शाकुन्तल—४।१७

उसमे भी उन्होंने अपनी पुत्रीका लिए किसी विशेष कृपाकी याचना न करते हुए केवल यही साहा है कि उसे अपने भाग्यका निर्णय करके लिये समान धनसह और समान स्वतन्त्रता मिले—

सामान्य प्रतिपत्तिपूर्वकमिव दारेषु दद्यात् स्वया ।

भाग्यामत्तमत पर न खनु तदाप्य बधुबन्धुभि ॥

शाकुन्तल—४।१७

मे पुन दुहराया है कि इस विदाहि दसमे जहाँ हम शत्रुताका अपनी सुप-दुप छोड़कर, विरहाघमरी आकाशे, सके नगरकी ओर बढ़ते हुए देखते हैं^१ और जहाँ (यद्यपि भिन्न-भिन्न परिस्थितियों) उसकी सतिधनि और पिताम मानो आपसमे यह यमना करती है कि वे उसके शिरपर सटकती हुई आपसियोंकी गम्भीरता और निकटतासे उसे बिल्कुल धनगत न होने देंगे— और विशेषकर पिता तो व्यर्थ ही अपने सौबपूखें विचारोंको दबानेका प्रयत्न कर रहे हैं^२ वहाँ हम लोग ऐसी कबो न बताना करें कि भाग्यवाणी समुप्येवर सतिधाम से कुछ तो ऐसी निश्चल

१ ‘एव’ शब्दात् प्रत्ययमेव तत्र भवति कथयत्येव ।

२ यत्रम क्रममे शाकुन्तलाक दृष्ट्य दृष्टिदः—

परिदय घन सदरो । तुरो दारिण मे दृष्टिरोहिण्या आम्ना ।

(आर्तुरको ॥ निराहने ही कन्दे दो रहा है एव तो मेन और बर्ब-बर्ब आकाश और रसकी भी उनका ल निर दिशना ही बड़ी है ।)

३ इतिहासने बर्ब-या प्रकाश यह प्रयोग है—

अभिज्ञाने न । अत्र न किता मुनिमद

विमर्शानि इतिहास्य प्रत्यक्षमनुना ।

जो अधिके मनकी बात समझकर अपनी आँखों, हँसुते और गतिथोकी भाषामें वामसे कम थोड़ी देरके लिये तो शकुन्तलाको यादधान कर दें, भले ही वह पीछे किसी बाधा परिस्थितिके वश भूल जाय । इस अज्ञानका परिणाम यह होता है कि दुष्कृतकी राजसगामे जब वह पहुँचती है तो यह उस शयनसे एकदम अनभिज्ञ रहती है जो उसके ऊपर प्रचानक गहरा जाता है ?

यह मेरी तीसरी समस्या है ।

कालिदासके अभिज्ञान-शकुन्तलके इतने वर्षोंके अध्ययनसे मेरे मनमें यह बात अच्युत तरह बैठ गई है कि यदि अन्वयस्थित रूपसे सम्पादित किए हुए संस्करणोंके शकुन्तलको छोड़कर हमारे सामने यह वास्तविक शकुन्तल अपने उरी मौलिक रूपमें होता जैसा उसे कालिदासने रचा था, तो उपर्युक्त सभी समस्याओंके उत्तर तत्क्षण ठीक-ठीक मिल जाते । किन्तु परिस्थिति ऐसी गहरी है । शकुन्तलकी समस्या उसी प्रकार हल की जानी चाहिए जिस प्रकार हलम्बड़ महा-भारतकी समस्या हल की जा रही है । दोनों दशाधोमें पाठ-सुधारके आधारभूत सिद्धान्त एक ही हैं, गहनपूर्ण अन्तर केवल यह होया कि यो० भो० भार० इस्टीमेटके उस गृह्य-वीर-काव्यके संस्करणके वर्तमान सुविचारित पाठकी रचना करते हुए, 'उच्च कोटिकी बालोचना' नामकी वस्तु तो नहीं-कहीं देखनेमें आती है पर कालिदासकी इस महान् कृतिमें इसे अधिक विस्तारपूर्वक काममें लाना होगा, क्योंकि नाटकमें यह समस्या अपेक्षाकृत कम जटिल है । स्थानकी कमीके कारण मैं सूचित किये हुए पाठसम्बन्धी सुधारोंका यहाँ वर्णन नहीं कहूँगा बल्कि इतना ही कहकर सतोष कहूँगा कि यदि सुधारे हुए पाठको कुछ मान लिया जाय तो इस योगे शकुन्तलाकी निर्वर्ण-संक्षिप्तके विषयमें बैसे ही निष्कर्ष निकालनेमें समर्थ हो सकते हैं जैसा कोई भी कालिदास-जैसे उस सच्चे हिन्दुसे प्राणा कर सकता है जो प्रकृतिके सभी पदार्थोंको जीवन और चेतनतासे अनुप्राणित समझता था ।

सर आशुतोष मुखर्जी सिल्वर जुबिली ओरियन्टलियाके द्वितीय खण्डके १४६ से १५६ पृष्ठोंमें मैंने एक लेखने अपना यह मत प्रदर्शित किया था कि अभिज्ञानशकुन्तलके प्रथम अङ्ककी दात-पीठका प्रथम वेपथ्वमें नायिकाके इस कथन—

‘इसे इवो पिपसहीमो’ । [इधर आओ, इधर आओ, प्यारी सखियों !] से प्रारम्भ होकर बतजमोसनाके बाबलेसे औरिके निवालने तकका भाग—

सनवमाचिरात् प्राचीनकर्म प्रवृत्त न शक्यं

सम किञ्चन न ॥ नरो गुण गणनिधयि ॥

जो यद्यपि शकुन्तलाको बहुत धीमाने और प्रयत्न करनेके अभिप्रायसे ही कहा गया है फिर भी शोकधुनक कण-पीठके समान इतनी छन्दमें व्यक्त दिवा गया है । और यह जान-बूझकर किया हुआ कवि-कर्म है, जिसका पता इस बातसे नञ्च आता है कि इस नाटकमें केवल तीन ही स्तोत्र होते हैं जो इस छन्दमें रचये गए हैं, और सचमुच वे अपने स्थानपर बड़े उपयुक्त आते हैं ।

‘ग्रामो । सलिलसेयसभमादो सौमन्त्रिष उज्जिम्भ वमण मे महूमरो ग्रहिवट्टदि ।’ [अरे रे । जल पड़नेसे धवरानर उठा हुआ यह भीरा नई चमेलीको छोटकर मेरे ही मुँह पर मँडराने लगा है।] —प्राजवलके सस्करणोमे उल्टा हो गया है । नवीन बगाली सस्करणमे इस स्थल पर ३५ सम्भाव दिए गए हैं, काश्मीरी नम सस्करणमे २७ और कँपलर-द्वारा संपादित दक्षिण-भारतीय सस्करणके साथवाले नागरी सस्करणमे केवल २२ । इन सबानेमें आर्द हर्द कथा तीन घटनाओंका वर्णन करती है—शकुन्तलाके कसे हुए वस्त्रोंको ढीसा करना (वल्लभशिषिलीकरण), केसर वृक्षके कल्प-नामक समेतपर शकुन्तलाका उसके पास जाना (केसरसमीप-गमन)।

‘एसो बादेरिपरल्लवाकुलीहि तुबरेदि बिअ म केसर-रक्खओ । जाव वा सम्भावेमि ।’ [यह केसरका वृक्ष पवनके भोजोंसे हिलती हुई पत्तियोंकी उँगलियोंसे मानो मुझे भटपट बुला रहा है । वरूँ इसका भी मन रल लूँ ।]

—और शकुन्तलाके हाथों नवमासिका लताका सींचा जाता (गवमासिकासेवन) । प्राप्त मुद्रित सस्करणोंमें वल्लभ शिषिलीकरणका प्रथम केसर-समीप-गमनके पहले है । केवल उस नवीन सस्करणमें, जो एकमात्र भोजपत्र पांडुलिपि (बीन्वे गवन्मेष्ट कसेकलन न० १६२) सन् १८५७ में मिली (और जो अब बी० ओ० प्रार० इन्स्टिट्यूटमें जमा कर दी गई है), केसर-समीप-गमन-वाली घटना पहले दी गई है । उसी पांडुलिपिसे हमें यह भी पता चलता है कि राजा इसी केसर-वृक्षके पीछे छिपे हुए थे । तो इस दृष्टानेमें आश्चर्य नहीं कि एक अपरिचित व्यक्तिको ग्रहणपूर्व उपस्थितिसे केसरका वृक्ष भ्रममें पड़ गया हो और शकुन्तलाको (जिसे सभी प्रागतुकोपर ध्यान रखनेवा भारतोंपा गया था) इच्छितसे आगली और बुलाने लगा हो । यदि ऐसी बात न होती तो शकुन्तलाने यो ही चलती हुई बगार से केसरके पत्तोंके हिलने-थानसे यह क्यों सन्नत लिया कि पेड़ उसे बुला रहा है ? पासकी एक पत्ती भी बिना किसी अभिप्रायके नहीं हिल सकती यही हिनू-कविके विश्वासका आधार था । दूसरे स्थलपर कालिदासने यह कहाया भी है कि वृक्ष, प्रायः पक्षियोंके द्वारा (और हम इतना और जोड़ दें कि भीरोंके उड़ने और पत्तियोंके हिलने-डोलनेके द्वारा) अपने विचार प्रकट किया करते हैं । उदाहरणार्थ—

अनुमत्तगमना शकुन्तला तरुभिरय वनवासवधुभि ।

परभूतबिस्त नल मया प्रतिपत्तौकृतमेभिचात्मन ॥

—साकुत्तल, ४।१०

केसर वृक्षके पास शकुन्तलाके जानेका वर्णन इन सस्करणोंमें ‘तथा करोति’ के नाटकीय संकेत द्वारा किया गया है । केवल भोजपत्रवाली पांडुलिपिमें ही ‘राज्ञ सन्निकर्षं प्रागच्छति’ लिखा है । इनमें पश्चात् जब नायिकाको इसी वृक्षके पासवाली लताके समान बताया जाता है—

जाव तुए उवगदाए लदासणाहो विअ अम केसररक्खओ पावमादि ।

[जब तू पेड़से लगनर लगी होती है तब यह केसरका वृक्ष ऐसा लपटा है मानो उससे कोई लता लिपटी हुई हो]

—उसकी व्यनना, सभी पूरी उतरती है जब राजा उसी वृक्षके पीछे हो, और यदि वल्लभशिषिलीकरण भी उसी समय हो जब नायिका, नायकके (जिसकी उपस्थितिकी सखीको ‘पञ्चात्मन’ नहीं है) इतन पास हो, सभी उद्यम यह गृह्यारका भाव आता है जिसे वमसे वम कालिदास जैसे

कवि तो छोड़ ही नहीं सकते थे। अतः, इस नाटकीय संकेतमें कुछ ऐसी बात प्रवेश है जिससे सिद्ध होता है कि पाण्डुलिपिमें कभीसे कम कुछ शन्दर्भ तो मौलिक पाठसे अवश्य मिल सकते हैं। केवल मूख या पठितमन्य लोग ही उपर्युक्त नाटकीय संकेतको शेष सरकरणोंके नीरस 'तथा करोति' के रूपमें परिचित करनेकी बात सोचेंगे।

इसके पश्चात् रोचन-दृश्यमें जो संवाद आते हैं और विशेषतः शकुन्तलाके ये शब्द—

‘हला ! रमणीए कबु वाले इनस्त लदावादवमिहुएस्त बइमरो सबुत्तो । एवबुसुमजोवणा पाणोसिणी, बढपल्लवदाए उवभोघनखमो सहमारो ।’

[राजो ! राक्षस्य दस लता और वृक्षका मेल बड़ा मन्थी घड़ी हुआ है। इधर यह वनज्योत्स्ना पूलवर नयनोवना हुई है और उधर पत्तोसे लदा हुआ आमका वृक्ष भी उभारपर आया हुआ है।]

—शकुन्तलाकी भीतरी मनोवृत्तियोंकी पूर्ण रूपसे सूचना देते हैं। प्रियवदाका अनुमान ठीक सम्भवपर पड़ता है और नायिकाको भ्रममें डाल देता है। किन्तु क्या दूसरी निसर्ग-शक्तियाँ और विशेषकर जिस वनज्योत्स्नावे विषयमें यातायात हो रहा था, वह इसी प्रकार नहीं ताड़ सकती थी ? अवश्य ताड़ सकती थी ? और लतामें घटे ही सुन्दर ढंगसे यह बात जताई भी। वह शकुन्तलासे पहले विवाहित हो चुकी थी इसलिये जब उसने छिपे हुए राजाको देखा तब और उसे शकुन्तलाके योग्य समझ लिया तब उसने अपनी छोटी बहन शकुन्तलाको उसके भावी पतिसे मिलानेका काम उसी प्रकार पूरा किया जैसे घड़ी बहन अपनी छोटी बहनके लिये किया करती है। अतः हम लोगोको यही मागना चाहिए कि मौरिकी जनानेका काम उस लदाने ही किया। उस दिन प्रातःकाल शकुन्तलाने न जाने किसके घूँसी और लताओंको सीधा था, तो केवल वनज्योत्स्नाके ही पाँवसे भ्रमरों को निकलना चाहिए था ? कुछ लोग उत्तर देंगे—‘देवत संयोग’ किन्तु जिस जगत्में एक अन्तर्ध्यापिनी शक्तिका बारा माना जाता है वहाँ संयोगके लिये स्थान ही कहाँ है ? मैं अपनी प्रथम समस्याको इसी प्रकार हल करना चाहता हूँ।

दूसरी समस्याका सतीपञ्चन सम्मान करनेकी क्षमता रखना मानो कालिदासकी शकुन्तलाके स्वभावकी समझनेकी अपनी शक्तिको खरी करीबीपर कसना है। पञ्चम पाँचके परित्याग-दृश्यमें जब शकुन्तला आश्चर्य चकित होकर देखती है कि मुद्रिका जनजानने लगे गई है तो राजाकी मुष्ट स्मृतिका जगानेके लिये यह अन्तिम तीव्र प्रयत्नके रूपमें, दीर्घापागवासी घटनाका वर्णन करने अपनी बुद्धिमानीका परिचय देती है—

ए एङ्गदिमहे सोमालिभागण्वे रुत्तिणीपत्तभागणवद उदम तुह हल्ये गणिहित भासि । तवजण सो मे पुत्तकिदमो दीहपज्जो णाम हरिणपोदमो अवट्ठिदे । तुए—अथ दाव पढम पिघउत्ति भणुमग्गिण्ण उवच्छन्दिदो उदण्ण । ए उण दे अपरिचमादो हस्यग्गास उवणदो । पच्छ तस्सि एव मए महिदे सल्लो ऐख किदो पखमो । तदा तुम इत्थ पव्हसिदो सि । सज्जो सगन्धेसु विस्स-सदि । दुवे वि एत्थ धारण्णमा ति ।’

[एक दिन आप नवमासिकाके कुब्जे अपने हाथमें पानीसे मरा कमलके पत्तेवा दोना लिए हुए थे। इतनेमें ही यहाँ मेरा पुत्रके समान पाला हुआ दीर्घपाङ्ग नामका मृगघोषा भी आ पहुँचा। आपने उसपर दया करके कहा—पहले इसे जल भी देने दो। यह कहकर आप उसे जल पिलाने

‘वणञ्जोसिणि । भूदसगदावि पन्नालिङ्गं म इदो गदाहि साहावाहाहि ।’

(‘धारी वनज्योत्स्ना । तू भाग्यने’ वृक्षसे लिपटी होनेपर भी अपनी इधर फैली हुई शाखकी बांहेंसे मुझसे भेट तो कर ले ।)

और अपने मन ही मन राजा दुष्यन्तके साथ अपने वैवाहिक जीवनका मुताबिक चित्र खींचती है । इसके पश्चात् उसका ध्यान उस हरिणीपर जाता है जो स्वयं शकुन्तलाके समान घोड़े दिनोंमें ही माता बननेवाली थी—

‘तदा । एता उद्वजपञ्चत्वारिंशो गन्धाम्बरा मिश्रवहू उदा अणुधम्पराया होइ तदा मे कपि पिप्रशिबेदइत्तमं पिप्रिजइत्तसह ।’ (ततः । आश्रममें चारों ओर गर्भके भारसे मजसाती हुई बचने-वाली इस हरिणीको जब सुलसे बघा हो जाय तब किसीके हाथ वह प्यारा समाचार मेरे पास भिजना दीजिएगा ।)

उसकी कैरके लिये वह पानी और रानीवाले अपने प्रारभिय चित्रको भूलकर अपनेकी माताके रूपमें देखने लगती है और हम कल्पना कर सकते हैं कि उस समय शकुन्तला अपने मन ही मन यह सोच रही है कि मेरी माँ मेनकाने मेरे साथ कैसा व्यवहार किया था और मैं अपने भायी पुत्रके साथ कैसा व्यवहार करूँगी—ठीक इसी मन स्थितिके अन्तर्गत उसका पालित पुत्र वीरपाण्डु उसके बदन कीचकर माने यह प्रकट है कि मुझे छोड़कर क्या तुम अपनी माँ मेनकाकी अपेक्षा कुछ अच्छा व्यवहार कर रही हो ? मैं तो यह सोचती हूँ कि वीरपाण्डुको यही इशारे उपस्थित करमा गया है कि वह अपनी धर्म-माताको फिरसे बिछाईके रागव उस दुष्यन्तके सम्बन्धमें दूसरी चेतावनी दे दे जिसके विश्वासपात्रता पता मोली-भाली मनुष्योंको भी चल गया था—

‘एवम एताम विस्मयपरमुहस्य पि कणस्स सु एद ए विविधं यथा तेसु रण्णा सचन्दसाए अणान्ज आभरिद ।’ (यद्यपि मैं प्रेमकी बातें कुछ भी नहीं जानती फिर भी इतना तो अवश्य कह सकती हूँ कि उस राजाने शकुन्तलाके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया ।)

यदि शकुन्तलाका मन कल्पनाके मधुर स्वप्नोंमें मग्न न होता तो संभवतः वह अपने निरर्ग-साथियों द्वारा दी हुई इन चेतावनियोंको अवश्य समझ जाती । यही मेरी दूसरी समस्याका समाधान है । यदि हम जितना गान्धे कामिदासके इस प्रमुख प्रश्नको पढ़नेका अभ्यास करें तो हमें रौगायबरा, इधर-उधरकी छोटी-मोटी बातोंको छोड़कर विभिन्न पाठोंकी समस्या इस परिणामतक पहुँचनेमें बाधा नहीं आती ।

सन् १९२१ ई० में एशिया मेजरके द्वितीय सम्मले ८४ से ८७ पृष्ठमें मैंने अपनी तीसरी समस्यापर एक लेखमें पूर्ण विस्तारसे विचार किया है । इसका सम्बन्ध पतुर्व भक्तकी बक्रबाकवाली घटनासे है । इस घटनासे संबंध रखनेवाले तीन प्राकृत सवाद हैं जिनमें पहलेको छोड़कर दूसरा और तीसरा सवाद देवनागरी सस्करणमें मिलता है, बंगाली सस्करणमें पीछेके दो सवादोंको छोड़कर केवल पहला सवाद मिलता है, कन्नड़ी पादुलिपिमें तीनों सवाद मिलते हैं और वही रावो रामोशाकी कसोटीपर ठीक उतरता भी है । ठीक क्रमसे ये सवाद इस प्रकार हैं—

१ अगस्त्या—सहि । स सो अस्वग्रपदे मस्थि नितवन्तो जो तए विरहिन्तो भज ए अमुधो नदो । पेश ।

पुढर्हि वतन्तरि भ वाहरिओ शासुवाहरेदि पिय ।

मुहउब्बदमुलानो यह दिदि देद पक्षामो ॥

[सवि ! न म धाश्रमपदेऽस्ति चित्तवान् यस्त्वया विरहमानोऽयं मोक्षुन कृतः । प्रसन्नः ।

पयिनीपवान्तरिता व्याहृतो नानुव्याहृति प्रियाम् ।

गुणोद्बूढमृष्टान्तस्त्वयि हृष्टि ददाति भववाक्य ॥]

(सगी ! यही आश्रममें कीन ऐसा प्राणी है जो तुम्हारे विछोहसे दुखी नहीं है । देखो ।—
कमलिनीने पत्ते की छोटमे बैठा हुआ चकवा अपनी प्यारीके कुलानेपर भी उसका उत्तर नहीं दे
रहा है और चौधमे कमलपरी ठठल पकड़े हुए तुम्हारी ही ओर टकटकी लगाए देख रहा है ।)

१ गनुन्तला—हवा । देख ।

रात्रिलीवन्तर्निष्ठा एसा यिम्न सहभर भवेनसत्ती ।

भारद्व पङ्कवाई बुकुरमहम करेमि ति ॥

(सगी ! देख तो । कमलिनीने पत्तेकी छोटमे छिपे हुए अपने ककड़ेको न देख सकनेसे यह
ककड़ी घबराकर किल्ला रहो है । इसलिये मैं जिस कामसे जा रही हूँ वह पूरा होता नहीं दिखाई
देता ।)

२ प्रियवदा—सहि ! मा एव नन्तेहि ।

एसवि पिएण विष्ठा गमेह रर्राणि विसादवीहमर ।

गम्भ पि विरहदुग्गम भासावग्गो सहावेदि ॥

(सगी ! ऐसा नहीं सोचना चाहिए । जानली हो ? यह ककड़ी विरहकी लम्बी रातों अपने
प्यारे बिना अपने ही काट देती है क्योंकि मिलनेकी चाहत सबसे बड़े विरहके दुःखमें भी दावस
बैधानी रहती है ।)

यहाँपर यह पूरी पठना गनुन्तलाको यह समझानेके लिये खाई गई है कि भागे-तुम्हारे भागमें
क्या दशा है । ककड़ी पृथक् होती है किन्तु पङ्कवान् उत्तर नहीं देता, क्योंकि उत्तर न देनेके कारणोंपर
जगता बोर्ड बना नहीं है, उसका हृदय गनुन्तलाके विषयसे भरा हुआ है । इसी प्रकार सीध ही
गनुन्तला भी पृथक्की ओर दुःखान्त भी उसका उत्तर नहीं देता । अनभूया अपनी लकीरों सागरना
देती है और यह विषयसे साथ सान्त्वना दे भी सकती थी क्योंकि उसने हाथमें सापका भग्न
कपड़ोंकी धँगुड़ी ली थी । इसीलिये ठीक इस घटनासे पहले एकादमे के सन्निधि गनुन्तलाको
धँगुड़ीका स्मरण करा देती है । दूसरी दृष्टिसे हम यह सकते हैं कि ककड़े अपने जिस शोषको
प्रत्य री हो दिमा जमीनो पकटावने एक प्रकारसे देवी परिजानगे समझकर गनुन्तलाको भावी
विशेष ओर दुःखी भेजानी दे दी ।

उपर्युक्त सीमाभागे यह मनो रीति स्पष्ट हो गया कि वाचिदासने गनुन्तलाकी उस सच्ची
विमर्श-भावने कायं प्रतिष्ठ विषय है किसे प्रकृति के उन पदार्थोंने साथ प्राप्त पविष्ट व्यवहार
को सम्भव करनेका अधिकार बिना या बिनाके बीचमें वह परोषी । जबतक हम कविसे
“प्रकृति-गण” को नहीं समझ लेते तबतक वाचिदासकी गनुन्तलाके भीतरी महत्त्वको हम ठीक-
ठीक समझ नहीं सकते । विशेष, पाठनपर तथा रीतिरसे प्रति पादर प्रदर्शित करने हुए भी मैं यह
गहरा है कि वाचिदास इस तरहकी ओर मोड़ना पर्याप्त ध्यान न देनेका यही कारण है कि अभी
तक हम नाटक की सामाजिक मान्यता-गुणों सम्भरण विचार नहीं हो सका है ।

योगवासिष्ठमें मेघदूत

[प्रो० डा० भीमनलाल आशेष, एम० ए०, डी० लिट्० भूतपूर्व अध्यक्ष दर्शन तथा मनोविज्ञान,
राजी हिन्दू विश्वविद्यालय]

योगवासिष्ठ महाराजस्य निर्वर्ण-प्रकरणे उत्तरार्द्धके ११६ वें सर्गमें मेघदूतका निम्नोद्धृत-
मूलं प्राप्ता है—

वसपारयेप पथिक वस्य मन्दरमुत्तमै । प्रियायादिचरत्तम्याया वृत्ता विरह्यवपाम् ॥१॥

एकप पूर्णं वि वृत्तमादवर्गमिदमुत्तमम् । दातु त्वप्रियते व्रतमह चिन्ताग्नितोष्यवम् ॥२॥

अस्मिन्महाप्रलयकालसमं वियोगे यो मा तवेह मम याति गृह स व स्वात् ।

नैवास्त्यती क्षमति य परदुःखान्तर्ग्य प्रीत्या निरन्तरं सरस मत्त ॥३॥

या एष मित्ररे मेव स्मराद्य इव सनुत ।

वियुत्तता पितासिन्या वलितो रसिक स्थित ॥४॥

प्रातर्मयं महेंद्रपापमुचितं ब्यालम्य कण्ठे मुण नीर्धर्मजं मुहूर्तं कृच्छ्र दया सा वात्पपूर्णेक्षण ।

पाना पातमृणात्त कोमलतनुस्तन्वी न सोढुं सम्राज्ञा गत्वा मुगते पलजलतवीराध्यासमारमानिर्ले ॥५॥

चित्तशूलिकाया व्योम्नि मिलित्वाऽप्रतिक्षिता सती ।

न जाने क्वापुनमेत पयोद दयिता गता ॥६॥

[—देखाए । यह पथिक मन्दर पर्वतके गुह्यमें चिरवाजते वियुक्त पत्नीको पाकर उगते अपने पूर्वजालके विरहकी कथा इस प्रकार कहता है—इस मेरे एक दिवसे उतम तथा आर्यवर्जनप वृत्तातको मुनो । एक दिन तुम्हारे निकट अपना वृत्तात्म भेजनेके लिये दूतकी किन्ता मरते हुए मैंने यह कहा कि इस महाप्रलय कालके समान वियोगके दुःखमें ऐसा बौन दूत है जो मेरे इस वृत्ता-
त्मको मेरे पर जाकर मेरी प्रियासे कहें, क्योंकि इस सत्कारमें ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो प्रीतिसे दूतदेके दुःखकी शान्तिसे लिये सरस भावसे प्रयत्न करे । इतनेमें मुझे स्मरण हो आया कि इस पर्वतके शिखरपर दूतदेके दुःखकी शान्ति देनेवाला रसिक भेष अपनी विनासनी वियुक्त स्त्री प्रियासे गद्युक्त स्थित है । इसलिये उससे मैंने कहा कि हे इन्द्रपशुप स्त्री सुन्दर माना अपने गलेमें पहने हुए नाई भेष । मेरी जिस पत्नीकी भासोंमें जल मय हुआ है, उसके पास जाकर धीरे गरजना क्योंकि वह कमलकी भाँति समान कोमल शरीरवाली इस बाला है धीरे तुम्हारा बठोर या ऊँचा गर्जन सुननेमें अत्यर्थ है । उसे अपने जलरगुणसे मुक्त मन्द मन्द पदमके भोंबोंसे जगाना । मैंने अपनी प्रियाकी हृदयकाशमें चित्तस्त्री सपनीसे लितकर जो आतिशुभ किया तो न जाने हे भेष । यह तरंगण कहाँ चली गई ।]

योगवासिष्ठ महाराजस्यके इस छोटेसे “मेघदूत” के वर्णनको यदि हम महानवि बालि-
दासके प्रसिद्ध काव्य “मेघदूत” से तुलना करके अध्ययन करें तो जान पड़ता है कि दोनोंके वर्णनमें बहुत ही समानता और एकरा है । पाठकोंके सामने यहीपर हम कवि बालिदासने मेघदूतकी उन पंक्तियों और वाक्योंको उद्धृत करने हैं जिनमें यह समानता विशेष स्पष्ट पाई जाती है ।

योगवासिष्ठ—

“प्रियायादिचरत्तम्याया वृत्ता विरह गवपाम्” ६२०।११८

मेघदूतम्—

“कान्ता विरहगुह्या” १।१

योगवासिष्ठ—

“दातु त्वन्निकटे दूतमहं चिन्तान्वितोऽब्रवम्” ६३० ११६।२

मेघदूतम्—

“धीभूतेन स्वकुशलमयी हारयिष्यन्प्रवृत्तिम्” १।४

योगवासिष्ठ—

“अस्मिन्महाप्रलयकालसमे विपरीते यो या तयेह मम याति गृहं स क इत्याह ।

नैयास्त्यसो जयति य परदुःखवान्त्यं श्रोत्या निरन्तरतरं सरलं यतेत ॥” ६३०।११६ २३

मेघदूतम्—

“सततानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायां सदेव मे हर” । १।७

योगवासिष्ठ—

“या एष दिक्षरे मेघं स्मरन्वहं इव सद्युत” । ६३०।११६।४

मेघदूतम्—

“ मेघमासिष्टसानु ।

वप्रकीटा-परिणत-गज-श्रेष्ठणीयं ददर्श ॥ १।२

योगवासिष्ठ—

“विद्युस्ततां बिलासिन्यां बलितौ रयिकं स्थित”

मेघदूतम्—

‘विद्युद्भवं २।४०

“या भूतेन सख्यमपि यं ते विद्युता विप्रयोग” २।५८

योगवासिष्ठ—

“भ्रातर्मेषं भहेन्द्रबाणमुचितं व्यासमय्यं कण्ठे गुण

भीमं गजं गुरुर्लोकं गुरु दया सा बाष्पपूर्णाक्षणा ।

बाला बालमृणालकोमलतनुस्तन्वी न सोढुं सया

तां गत्वा मुपति गलज्जलतलवैरादवाप्तपात्मानिव ॥” ६३०।११६।५

मेघदूतम्—

“तामुत्पाप्य स्वजलकणिकाशोत्पलेनागिनेन

प्रत्यादवस्ता सममभिनवैर्जलकैर्मलितोनाम् ।

विद्युद्भवं स्तिमिततपना त्वत्पानां गवाक्षे

बभूवु धीरः स्तनितवचनैर्मगिनी प्रक्रमेवा” ॥२।४० ॥

योगवासिष्ठ—

“चित्तपूजिकया व्योम्नि सितिरवाञ्जनङ्किता सती ।

न जागे क्रीडुर्वैदेत पयोदं दयिता गता” ॥ ६३०।११६।५

मेघदूतम्—

“स्वागालिष्य प्रणयकुपिता पातुरागं शिलाया-

मात्मानं ते चरणं गतित यावदिन्द्रायि वर्तुम् ।

असंस्तान्मुहुष्मचित्तं हृष्टिरानुप्यते मे

कूरस्तस्मिन्नपि न सह्ये सगम नो कृतान्त ॥ २१७ ॥

योगवासिष्ठ महारामायणके निर्वाण प्रकरणके उत्तरार्द्धके ११६ वें सर्गके ३२ वे श्लोककी

इन—

“अस्या प्रागभवत्पति स मुनिना शापेन वृक्षी कृतो ।

वर्षद्वादशक खदेव गणयन्त्येवञ्च साऽन स्थिता ॥”

की पत्तियोकी तुलना भी मेघदूतकी इन पत्तियोसे कीजिए —

कश्चिपरकान्ता विरहं पुरुषास्त्वाधिकारात्प्रपन्न ।

शापेनास्तथापि तमहिमा खर्वभोग्येण भर्तु ॥ २११ ॥

मेघदूतमे ही नहीं, महाकवि बालिदासके अन्य काव्य कुमारसम्बद्ध भी कुछ पत्तियाँ ऐसी हैं जोकि योगवासिष्ठ महारामायणमे पाई जाती हैं ।

उद्वाहरणार्थ देखिए—

योगवासिष्ठ—

अथ तामतिमात्रविह्वला स कृपाऽऽकाशमवा सरस्वती ।

खफरी हृदयोपविह्वला प्रथमा वृष्टिरिवान्यकम्पत ॥

कुमारसम्बद्ध—

इति वैह विमुक्तये स्थिता रतिमाकाशमवा सरस्वती ।

खफरी हृदयोपविह्वला प्रथमा वृष्टिरिवान्यकम्पत ॥ ४१३६ ॥

इन दोनों श्लोकोंमे ये शब्द—‘आकाशमवा सरस्वती । खफरी हृदयोपविह्वला प्रथमा वृष्टिरिवान्यकम्पत ॥’ पुरातन एक ही हैं । अतएव यह कहना ठीक नहीं है कि ऊपर दिखाई हुई समताएँ आकस्मिक हैं । अवश्य ही योगवासिष्ठकार और कालिदास दोनोंमे से किसी एकमे दूसरेके भाष्यो और विचारोंका प्रयोग किया है । विद्वानोंके अभी तक ये दो महाकवि कालिदासका ही और न योगवासिष्ठ रामायणका ही समय पूरे ढंगसे निश्चित कर पाया है । अतएव यह कहना कठिन है कि दोनोंमे से किसको मौलिक कहा जाय । ऐतिहासिक-प्रमाणकी यदि माना जाय तो योगवासिष्ठ महारामायण आदिकवि श्रीवाल्मीकिजीकी कृति है और मेघदूत और कुमारसम्बद्धके लेखक महाकवि कालिदास आदि विक्रम सम्राट्के (५७ ई० पू०) नवरत्नमे से एक थे जो सबसे केवल दो सहस्र पूर्व भारतपर शासन करते थे । कवि वाल्मीकि अवश्य ही कवि कालिदासके पूर्ववर्ती माने जाने चाहिएँ । किन्तु भावकर्मके विद्वानोंके मतमे शङ्कना योगवासिष्ठ—जैसा कि वह भाषयन्त्र भिन्नता है—इतना पुराना ग्रन्थ नहीं है जितना वह बताया जाता है । उसमे बहुत सा भाग बहुत पीछेका है और अवश्य ही कालिदासके समयके पीछे का है । निर्वाण प्रकरणका उत्तरार्द्ध पीछे का जान ही पड़ता है । जिसमे “मेघदूत” भी कल्पना की गई है । अतएव यह संभव है कि योगवासिष्ठकारके ऊपर कालिदासके विचारों और प्रयोगोंकी कुछ छाप पड़ गई हो । कुछ भी हो, विद्वानोंके लिए यह बात विचारणीय है । आशा है कि पुरातत्वके कोई विद्वान् इस समस्याकी ओर ध्यान देकर इसको सुलझानेका यत्न करेगे ।

मेघदूतकी महत्ता

[भानार्थ सीताराम चतुर्वेदी]

किसी प्राचीन जीवन रसिक, सहृदय पुरुषने अपने जीवनकी उत्कट अभिलाषाओंका वर्णन करते हुए बड़ी तन्मयतासे साथ कहा है—

कानिदास-कविता नव वय माहिय दधि मशकंर वय ।

एसमासमयता सुकोमला समवन्तु मम जन्म-जन्मनि ॥

(मुझे इस मयप्रकृति चाहें जितनी बार जन्म लेना पड़े तब भी मुझे स्वीकार है यदि प्रत्येक जन्ममें मुझे कालिदासकी कविता, नई चढ़ती हुई जपानी, नैसर्गका जमा वही, शक्कर पड़ा हुआ वृष, हरिणका मांस और कोमल नवेली प्राण्य होती रहे ।) पारसीके प्रसिद्ध कवि उमर खैय्यामने भी कुछ इसी प्रकारकी इच्छा प्रकट की है कि मेरे पाठ साकी हो, वृषकी छाया हो, मदिरासे भरी हुई सुराही और प्याला हो और हाथमें पुस्तक हो । किन्तु उमर खैय्यामने उस पुस्तकका नाम स्पष्ट नहीं बताया है । किन्तु मुझे विश्वास है कि यदि उमर खैय्यामने कालिदासकी कविताका अनुवाद पढ़ा या सुना होगा तो निश्चय ही उसने मेघदूतकी पौधी हो चाही होगी । जिस भारतीय रसिकने अपनी सपूर्ण जीवनकी अभिलाषाओंमें सर्वप्रथम रचान कालिदासकी कविताकी दिया है उसने निश्चय ही रघुपथा और कुमार-नभब नही, अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्र भी गही, ऋतुसंहार भी नही, केवल मेघदूत ही सीमा होगा क्योंकि कविता तो मेघदूत ही है और तो महावाक्य हैं या वाक्य हैं या स्फुट मुक्तक हैं ।

विश्वनाथ कविराजने अपने साहित्य-सर्पणमें 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' कहकर काव्यकी ओर परिभाषा बताई है और पंडितराज जगन्नाथने अपने रस-नगाधरने जिस काव्यको 'रमणीयार्थ प्रतिपादक चम्पू' कहकर स्मरण किया है वह निश्चय ही कोई अलौकिक चमत्कार और रससे पूर्ण कृति ही हो सकता है जिसके सम्बन्धमें कहा गया है—

संजीवाद, कवितारस, सरस राग, रतिरस ।

मनबूढ़े यूके, तरे, जे यूके सब धय ॥

[संजीवाद, कविताका रस, मनोहर राग और वामसीदामे जो नही हूय वे ही हूय गए, उनका नाम निरर्थक हुआ और जो उनमें भरपूर हूय गए, रम गए उनकीका जीवन सार्थक है ।]

सयोग हारय, भद्रभुव, नरख, वीर, रौद्र, भयानक, बीमरस और शान्त भी रस बहुताते और माने जाते हैं किन्तु शृङ्गार तो रसराज है एव मात्र रस है । 'शृङ्गारकरस' । इस शृङ्गारसे धीतप्रोत यदि कालिदासका कोई काव्य है तो वह एतन्मात्र मेघदूत है । वाक्यशास्त्र-मर्मज्ञ मनीर्माति जानते हैं कि शृङ्गारसे दो पत्र होते हैं—सयोग और वियोग । केवल सयोग शृङ्गारको हमारे यहाँ मधुरा और बच्चा माना गया है—

न बिना विषयोपन सयोग भुष्टिमस्तुते ।

व्यापिते हि वस्त्रादौ भूयावु रागो विवर्धते ॥

[विप्रलम्भके बिना संयोग शृङ्गार गुण्ट ही नहीं होता क्योंकि वस्त्र धाविकी जितने कर्तसे पदार्थमे दुबो लिया जाता है उतना ही अच्छा उसपर राम चढ़ता है] इसी का समर्थन करते हुए एक उर्बूके कविने कहा है—

जो मला इन्तजारमे देखा,
यह नहीं नस्लेयारमे देखा ।

[प्रियवी प्रतीक्षामे जो आनन्द है वह उससे मिलनेमे नहीं है ।] सस्कृतके एक कविने किसी विरहीसे कहाया है ।

सगम-विरह-विकल्पे यरमिह विरहो न सपमस्तस्या ।
अविरह काने सैका त्रिभुवनमपि तन्मय विरहे ॥

[सगम और विरहमेसे यदि मुझे कोई एक चुनना हो तो सगमकी प्रेम्णा में विरहकी ही अच्छा समझता हूँ क्योंकि सगमके समय तो यह केवल एक ही होती है किन्तु विरहमे तो यह सपूर्ण त्रिभुवन ही प्रियामय प्रतीत होने लगता है ।] उसकी अवस्था यह हो जाती है—‘जिपर देखता हूँ उधर तू ही तू है ।’ प्रियावी इस महत्ताका वर्णन करते हुए उर्बूके एक कविने तो पराकाष्ठा दिखला दी है—

माधुकके जलपैनी महारमे कोई देते ।
अल्लाह भी भयनूको सैना नजर आता है ॥

[प्रियका प्रभाव देखना हो तो प्रलयके अन्तमे न्यायके दिन देखे । सब भी प्रेमीकी मिष्ठा इतनी प्रबल होती है कि मजबूती ईश्वर भी सैना ही प्रतीत होता है । ऐसा ही अधिक अत्यन्त और अज्ञात प्रेमी यह यक्ष था जिसका नाम भी कालिदासने नहीं लिया है, केवल कश्चित् (कोई) कहकर उसका संकेत जर दे दिया है क्योंकि हमारे यहाँ नीति शास्त्रमे कहा गया है—

शुद्धेयी कृतान्दध कुपणो क्षप्तहिरकरी ।
निन्दक्रीभरत-विक्रंता न ह्येताव नामतः स्मरेत् ॥

[गुधे डेप करनेवाले, कृतघ्न, छापबस्त, हिंसक, कुपण, दूसरोंकी निन्दा करनेवाले और सन्तान-विक्रंता इनका क्यो नाम नहीं लेना चाहिए ।] मेघदूतका यक्षभी ‘शापेनास्तगमित-महिमा’ (शापके कारण समाप्त हो गई हुई महिमावाला) था, जो ‘यन्वतिस्त्रोषविस्तेपित’ (शुद्धेरीके स्त्रोषके कारण एक बर्षने लिए अपनी प्रियासे विभुक्त होकर रामगिरि पर पड़ा हुआ था, जिसका वर्णन कालिदासने अत्यन्त कल्याणके साथ किया है ।

कश्चिदकान्ता विरहगुण्णा स्वाधिकारात्प्रभत ।
शापेनास्तगमितमहिमा वर्षभोभ्येष भर्तु ॥
यदावपल्ले जनकजनया-स्नानपुष्पोत्केपु ।
स्निग्धच्छायातप्यु वसति रामगिरिश्रमेपु ॥

[यु० मेघ० १]

[अपनी कान्तामे अतिशय अनुरक्त कोई यक्ष अपना कर्तव्य-हीन प्रकार पालन नहीं कर पाता था । (वार्तिक युक्त की देवोत्पान्या एकवधीके दिन) इसने अपने स्वामी शुद्धेरीके नायमे

ऐसी डिलाई कर दी कि उसे कुबेरने शाप दे डाला कि जिस कान्ताके मोहमे पड़कर तू अपने कर्त्तव्यमें प्रमाद करता है उससे तू एक वर्षतक दूर पड़ा रह ।] यह घटना देवीत्यान्या एकादशीको ही हुई थी । इसका प्रमाण स्वयं मेघदूतके अन्तमें दिया गया है—

आपान्तो मे भुजबभ्रयनादुल्लिते द्वादशंपाखौ ।

मासानन्यान् वषम चतुरो चोषने मीलमित्वा ॥

[उ० मेघ० ५।३]

[देतो । अगली देवठठनी एकादशीको जब विष्णु ममवान् सेपसप्यासे उठेंगे उसी दिन मेरा शाप भी समाप्त हो जायगा । इसलिये इन चार महीनोंको भी किसी प्रकार मौलें मूँदकर बिता डालो ।]

और वह शाप भोगनेके लिए गलफासे चलकर कैलास, मानसरोवर, कौचरन्ध्र, कनकल, ब्रह्मावर्त, कुरप्रदेरा, वसपुर, उज्जयिनी, दशासुं, अयन्ती, वेत्रवती, चर्मण्वती, आश्रूट, रेवा, नीच पर्वत और गालवेश होता हुआ कागदगिरि चित्रकूट (रामगिरि) पहुँचा और वही रह गया—

तस्मिन्मद्रौकठिचिववलाचिप्रपुक्त स कामी ।

नीरवा मातान् वनकवलयभ्रसरिक्वप्रबोष्ठ ॥

[उस पर्वत पर अपनी पत्नीसे बिछुड़े हुए उस कामीने कुछ महीने काट दिए जिसके हाथका सोनेका कगन विरहमें डीले होनेके कारण निकल गया ।]

यहाँ पुन कामी कहकर पत्नीमें उसकी आसक्ति और भी दृढ़ करने स्पष्ट कर दी है । गोस्वामी तुलसीदासजीने भी परम निष्ठाके लिये कामीको ही आदर्श माना है और राममें अपनी निष्ठाका स्वल्प स्पष्ट करनेके लिए उन्हीं यही कहा है—

कामिहि मारि पियारी जिमि, लोभहि जिमि प्रिय राम ।

श्री रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागइ मोहि राम ॥

[देखे कामीको स्त्री प्यारी होती है, लोभीको पैसा प्यारा होता है, उसी प्रकार श्रीराम भी मुझे प्यारे लगे ।]

इसीलिये नालिदासने भी उसे 'कामी' से विशेषण-विनिष्ट करके उसकी एतान्त आसक्तिमें स्पष्ट कर दिया है । और इसी कामिताके कारण ही अपनी सुख-बुध भूले हुए मलने मेघको ही अपना दूत बना डाला ।

इस विपरीत मलने अपने विरहके दिन काटनेके लिये रवाना भी चुना रामगिरि । बहुसरी विद्वानोंका मत है कि यह रामगिरि वास्तवमें चित्रकूट नहीं बरन् नागपुरके पासकी 'रामटेक' पहाड़ी या रीवा राज्यकी 'रामगढ़' पहाड़ी है किन्तु यह उनका भ्रम है । उसका कारण यह है कि 'जनवतनया-म्यानपुण्योदकेषु' और 'तिग्मपन्थाया-सर्षु' वाले आश्रम चित्रकूट पर ही हैं, रामटेक पर नहीं । सुन्दर लाल, मन्दाकिनीका प्रवाह, पहाड़ी धाराएँ, पत्ते वृक्ष, हरियाली कुजें और श्रृंगियोंके प्राथम चित्रकूट पर ही हैं, रामटेक पर नहीं, क्योंकि रामटेक तो सुखी पहाड़ी है जहाँ नभी-नभी जलके भी दर्जन नहीं होने हैं । ऐसी सूखी पहाड़ीपर यज्ञ नथी रहने जायगा । इस सम्बन्धमें उद्दिष्टा यह बोधा भी विचारणीय है—

चित्रकूट नै रमि रहै, रहिगन अवध-नरेश ।

जापर विपदा परत है, वो थावत इहि देख ॥

[अवधके नरेश (रहीम) जापर चित्रकूटपर बस गए क्योंकि जिसपर विपत्ति पड़ती है वह यही आता है ।]

इस दोहेमें जहाँ अवध-नरेश (अवधके नवाब) शम्शेरुद्दीन शाहखानाने अपने भापत्कायके निवासकी सूचना दी है वही विपद्ग्रस्त अवध-नरेश राम और मेघदूतके विमुक्त दक्षकी ध्वनि भी लगाविल्लकी है ।

इतिहास भी इसीका साक्षी है । वाल्मीकीय रामायणके अनुसार प्रमोष्माके चलकर राम चित्रकूटमें रहे और फिर भरतने अपनी पादुका देनेके पश्चात् वे ऋषियोंके साथ अश्वमेध आश्रममें पहुँचे । यहाँसे दशरथजीने प्रविष्ट होकर विराटका रूप करते हुए शरभ ऋषिके आश्रममें पहुँचे । यहाँसे चलकर सुतीक्ष्णके आश्रममें एवं रात्रि निवास करते फिर अश्वमेध मुनिसे पारा रहस्य, मांडपण्डित-द्वारा निर्मित पचाप्तर नामक (पचास) सरोवरका प्रभाव सुनकर ऋषियोंके आश्रममें रहते हुए फिर सुतीक्ष्णके आश्रममें लौटे और वहाँसे अगस्त्यजीके आश्रममें पहुँचे । फिर अगस्त्य मुनिजी आज्ञासे वे गोदावरी के तीरपर पंचवटीमें रहने लगे । इस प्रसंगमें वही भी रामदेव या किसी अन्य ऐसे स्थानका विवरण ही नहीं आया जहाँ सीताजीने स्नान किया हो और जिसकी भक्तलाभ्यर रामसे करण अधिक हो । ऊपर जिन ऋषियोंका वर्णन है उनमेंसे किसीका आश्रम भी रामदेवजी और नहीं था ।

यदि दशरथजी इच्छिते विचार किया जाय तो स्वयं कालिदास ही इस सम्बन्धमें सबसे बड़े प्रमाण हैं । उन्होंने स्वयं पुरुषार्थमें लिखा है—

चित्रकूटवनस्थ च कश्चित्स्वर्गतिर्गुरो । [रघु० १२।१५]

रामस्त्वास्तन्देसत्याद्भरतावपन पुन ।

आश्रयोल्लुक्सारगा चित्रकूटस्थसी जहाँ ॥ [रघु० १५।२४]

इसमें भी चित्रकूटमें ही रहनेकी बात आई है [चित्रकूटमें ही उन्होंने अपने पिताके स्वर्गवासका समाचार सुना और चित्रकूटका परिष्राग भी उन्होंने इसलिए किया कि वह प्रदेश प्रमोष्माके पास था । उन्हें आशंका थी कि भरत फिर न वही आ जायें] वे चित्रकूट छोड़कर जब किए और फिर अनेक ऋषिपुत्रोंमें होते हुए, अन्तिम मुनिका दर्शन करते हुए विराटका रूप करते हुए अगस्त्यजीकी आज्ञाके अनुसार गोदावरीके तीरपर पंचवटीमें रहने लगे । इस वाल्मीकि और कालिदास दोनोंने रामके निवासके लिये दो ही स्थान माने हैं और वे हैं चित्रकूट और पंचवटी । दूसरा प्रमाण यह है कि कुटज (वृक्षज) का फूल केवल किष्क-मेखला में ही होता है रामदेवपर उसका नाम तक नहीं है । अतः यशनाथ प्रसाद स्वः निबन्ध ही चित्रकूट है । यह भी विचित्र बात है कि कालिदासने 'रामगिरिप्रभेषु' और 'ब्रूया एव तव सहचरो रामगिरिप्रभमस्थ' दोनों स्थानोंपर 'रामगिरिका' ही नाम दिया है, चित्रकूटका नहीं और उसका कारण यही है कि अभिज्ञत यज्ञके निवासके कारण महावनि चित्रकूटकी शर्मादाकी रक्षाके लिये उसका नाम उसके सम्बन्धमें लेकर उसे रामगिरि कहते हैं । अतः कालिदास-स्नान पुण्योदयेषु और 'वन्दे पुष्करपुष्पविन्दरन्ध्र मेखलासु' कहकर भी चित्रकूटका ही परिष्राग दिया गया है क्योंकि राम

जब ललाचे घोट रहे हैं तब भी उन्होंने अत्यन्त भावुक होकर चित्रकूटका ही वर्णन करते हुए कहा है—

पारास्वनोदगारिदरीमुतोसो शृणुप्रसन्नान्मुदवप्रपक ।
व्यनाति मे वन्धुरगात्रिचक्षुहृष्टवन्दमानिव चित्रकूट ॥

[रघु० १३।४७]

[हे गुन्दरी ! भरत साँठके समान यह चित्रकूट मुझे बड़ा सुहावना लग रहा है। गुफा हो इसका मुत्त है, जलको पारा की ध्वनि ही डकार है, छोटी ही सीमें हैं और छाए हुए बादल ही सींगोंपर लगा हुआ बीच है।]

अब इसे मिलाए—‘वप्रबोधापरिप्लवगजेष्वलीय ददत्तं ।’ अन्तर इतना ही है कि मेघदूतमे हाथी की वप्र बोधाका वर्णन है और रघुवचने कील-कीलवाले साठ का। अतः, निश्चय ही वह यश चित्रकूट पर ही था रामदेवपर नहीं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि चित्रकूटके आस-पास गाँवमि रहने वाले आजभी उसे रामगिरि कहते हैं, चित्रकूट नहीं।

उस चित्रकूटपर उसने आठ महीने बिताए। उस दशमे वह सुलकर काँटा हो गया और इतना दुबला हो गया कि सोनेका बड़ा चमके हाथसे निकल गया। मिरहमे कूतलाका वर्णन दिखके सभी साहित्यमें किया गया है। और इस कृतताकी स्मृति करनेके लिये शक्तिशयोक्ति या मुवालाके प्रयोग किया गया है। सीताजीकी विरह-वधाका वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजीने भी सीताजीसे कहासा है—

अब जीवन कै है बनि आस न कोइ ।

वनगुरिया के मुंदरी कगन होइ ॥ [बर०-रामा०]

[हे हनुमान ! अब जीवन की कोई आशा नहीं है, क्योंकि विरहजन्य दुर्बलताके कारण बनिष्ठिरा डोंगलीकी झँपूठीको अब बगल बन गई है।]

अब प्रपंचे एक बनिने तो अति ही कर दी है और कहा है—

आयमु उद्दासनि भए, पिउ दिदुव सहसति ।

अछा बनया मरिहि गय, अछा छुटि लदति ॥

[अपने प्रियके आगमनके अनुकूल लिये कोई विरहिणी कौधा उठा रही थी। उस उठाने में हाथ फटनेसे हुए दुर्बलताके कारण आधी हाथकी छूटियाँ हाथसे निरसकर बाहर गिर गईं। इनमेम महत्ता विवेक गया हुआ पति सीटा हुआ दियाई पड़ गया। वह नायिका हँसें पूली नहीं मनायी और सह्या इनमें मोटी हो गई कि हाथ में बची हुई आधी छूटियाँ मोटाईके कारण टूट गईं।]

उईने एक बनिने तो विरहकी कृतताके वर्णनमें सीमा पार करदी है। एक विरही अपनी विरह-वधाका वर्णन करते हुए किसीसे कह रहा है—

दन्हाए साधरीमे अब नखर आया न मैं ।

हँसने लगे बिस्तरको आहा चाहिए ॥

[हनुमान् परमात्माके कारण अब मैं अपने प्रियके दियाई नहीं पडा तो प्रियने कहा कि बिस्तर भारी तो गिरने पर दियाई पड जायेंगे।]

किन्तु महाकवि कालिदासने इस प्रकारकी हास्यास्पद अतिशयोक्तिका आश्रय न लेकर केवल यही कहा—अपने हाथका कटा निकलकर गिर जाने से सूनी पहुँची वाले पक्षने कुछ महीने निवास दिए :

‘नीत्वामासान्कनकपलपत्र शरित्क प्रकोष्ठ. ।

इस प्रकार वहाँ पाठ महीने बिताने हुए आपाङ्कके प्रथम दिन वह क्या देखता है कि चित्रकूटकी चोटोपर लिपटे हुए बादलोसे चित्रकूट देखा प्रतीत हो रहा है कि मानो कोई हाथी मट्टीके टोलेको काहनेका प्रयत्न कर रहा हो । बहुतसे बिद्वानोंने चम्र-कीड़ा-परिणत-गज-प्रेक्षणीयमे बादलोको हाथी माना है और चित्रकूटको चम्र, किन्तु यदि कोई चित्रकूटमे हनुमान-धारापर बैठकर आपाङ्कके पहले दिन चित्रकूट पर छाए हुए बादलका दृश्य देखले तो उसे प्रतीत होगा कि वास्तवमे चित्रकूट ही अस्तक उठए हुए गजके समान है और बादल ही चम्र (टीला) है । स्वयं कालिदासने अपने रघुवधमे भृङ्गावलम्बाम्बुवधप्रपक, ककुदमानिव चित्रकूटः [रघु० १३।४७] बताकर इसे स्पष्ट कर दिया है कि चित्रकूट उस साँसेके समान है जिसकी थोड़ी पर छाए बादल ऐसे लगते हैं मानो उसके सींगपर टोलेकी मिट्टी लगी हो ।

मेघदूतकी कुछ प्रतियोगे आपाङ्कस्य प्रथम-दिवसेके बदले ‘प्रथम-दिवसे’ पाठ मिलता है किन्तु वह पाठ सप्रामाण्य भी है और भ्रामक भी । आपाङ्कके प्रारम्भमे बादल भानेकी बात उत्तर भारतके सम्पूर्ण प्राग-भीतोमे व्याप्त है—

चलत घसाढ गवन घन छाए
चमचम चपला धी डरपाए ।
विव विन मोको कछु न सुहाए ॥
साजन सीतल धर विस्रवाए ।
कुछु न सुहाए, बादल छाए ॥

गुजरातके मयभंघ साहित्यमे मृणालवतीने मृज को सदेव ही भेषा है—

मुञ्ज पडल्ता दीरडी पैसैति न गम्मारि ।

आपाङ्क चखु गज्जीई चिनिस्तल होंते वारि ॥

[हे गँवार मुज ! तू प्रेमकी डीसी डोरीको समझ नहीं रहा है । जब मायाङ्कमे बादल गुजरने तमोगे तब भागमे पानी ही पानी भर जायगा, तब कंठे आ पावेगा ।]

हमारे देसी साहित्यमे जो अनेक बारहमासे लिखे गए हैं या लिखे जाते हैं उन तममे आपाङ्क चखे ही बादल भानेका वर्णन है । न्योतिष शास्त्रके अनुसार मी आपाङ्कके पहले पक्षमे मेघ-दर्शन आवश्यक है मन्मथा दो मास तक अनावृष्टिकी भासका होती है—

आपाङ्कमासे प्रथमेच पक्षे निरग्रहण्टे रविमक्षते न ।

बिद्युन्मज्जैत्यथ नव मेघा मासद्वय तत्र न नश्यंत्यस्यात् ॥

[आपाङ्कके पहले पक्षवाक्यमे यदि सूर्य खुला, बिना बादलके रहे और न बिजली चमके-भारले, न वादल हो तो दो मास तक वर्षा नहीं होती ।]

और फिर वह तो प्रत्यक्ष दृश्य है जिसे कोई भी चित्रकूटपर जाकर देख सकता है ।

मेघदूतका अध्ययन करनेसे पूर्व यह समझ लेना चाहिए कि कालिदास कोई भूगोलकी पुस्तक नहीं लिख रहे हैं, काव्यकी पुस्तक लिख रहे हैं और मेघकी मर्यादाके अनुसार (त्वत्प्रयाणानुरूप) मार्ग समझा रहे हैं। अन्यथा 'यत्र' 'अन्यात्र' प्रश्न ही न उठता। किन्तु उस काव्यका यही चमत्कार है कि उसके भूगोल की सटीकता, जीवन-विज्ञान तथा वनस्पति-विज्ञानकी प्रागाणिकता और इतिहासकी वास्तविकता सब उपस्थित है। आपादके पहले दिन कामदगिरिके तिसिर पर लटके हुए मेघको देखते ही यह कान्ता-विरही कामी यक्ष विरहसे व्याकुल हो उठा और जिस मेघको देखकर दूर देशस्थ पक्षि भी अपने घर लौटनेको उत्सुक हो जाता है उस समय शापग्रस्त यक्षकी क्या दशा हुई होगी यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। उसकी इस स्वाभाविक व्याकुलता का समर्थन करते हुए कालिदासने कहा है—

मेघालोके भवति सुतिनोऽप्यन्यथावृत्तिचैतः ।

कठान्तेपप्रणमिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥

[बादलको देखकर जब तुम्हो लोभोका मन डोल जाता है तब उस वियोगीका तो कहना ही क्या, जो दूर देशमें पड़ा हुआ अपनी प्यारीके गले लगानेके लिये दिन-रात तड़पा करता है।]

चर्चके कविके अनुसार—

तौबा की थी मैं न पिऊँगा कभी शराय ।

बादलका रग देखके नीयत बदल गयी ॥

[मैंने प्रतिज्ञा की थी कि कभी मदिरा नहीं पीऊँगा। किन्तु बादल उठे हुए देखकर संकल्प टूट गया।]

यह अपनी प्रियतमाके लिए छुटपटाने लगा और फिर तत्काल उसने सोचा कि आपके कारण भलवा लौट जाना तो धर्मो सम्भव नहीं है इसलिये क्यों न सदेत भेज दिया जाय। कहीं ऐसा न हो कि बादलको देखकर वह विरहकी व्याकुलतामें प्राण दे दे। अपभ्रंसके एक कविने इस स्थितिमें बड़ी मामूक्तताके साथ कहा है—

अहं यं सण्णैरीं तो मुहस भह जीवद निन्नेह ।

विदहिं पयारेहिं वदहिं धरा किं गज्जहिं खल मेह ॥

[यदि यह प्रिया मुझसे स्नेह करती होगी तो तुम्हारा मर्जन गुनकर उसने अपने प्राण छोड़ दिए होंगे और यदि वह जीवित है तो निश्चय ही उसके मनमें मेरे लिये स्नेह नहीं। इसलिये यह तो दोनों प्रकारसे मेरे हाथसे जाती रही। दुष्ट मेघ ! अब तू क्या गरजे जा रहा है।] इसीलिए उम बामी यक्षने गोवा कि क्यों न इसी मेघसे ही सदेत भेजा जाय।

तुम्हींने दर्द दिया है तुम्हीं दवा देना।

यही मेघ तो जाकर प्राण लेनेवाला है, क्यों न इसीके हाथ सन्देश भेज दिया जाय, क्योंकि इससे पहले कोई पट्टेब नहीं पायेगा और इससे योग्य कोई सदेतपाहक भी नहीं मिलेगा। क्यों ?

पट्टेबे विश्रान्ति कहा है कि मेघने हाथ सदेत भेजना प्रत्याभाविक है। यह बात कालिदास भी जानते थे। दर्शाने उल्टेने कहा भी है—

धूमज्योति सलिलमस्ता सन्निपात नव मेघ
सदेशार्था नव पटुवरसं प्रापसं प्रापणीया
इत्योत्पुनवाद्यपरिगणयन्पुष्पकस्त यथाचे
वामार्ता हि प्रवृत्तिकृपणादभेतपाचेतनेपु ॥

(यही तो घुम्राँ, अग्नि, जल और वायुसे बना हुआ मेघ और कहाँ चतुर लोगोसे पहुँचाया जानेवाला रास्ते। 'किन्तु कामार्तमे इतनी समझ कहाँ यह जाती है कि यह जड़ और बेतनवा भेद कर सके।) यह तो कालिदासका अपना अर्थान्तरन्यास है। किन्तु यद्यपि अपने इस दूतके चुनावकी बहुत ठोस बजावर किया है। वह कहता है—**जाते वक्षे भुवनविहिते पुष्करावर्तकानाम् । जानामि त्वा प्रवृत्तिपुरुष कामरूप मधोज ।** तेनाधित्वं त्ययिविधि बधाद्भूतबन्धुर्गंतोहम् याचामोषावरमधि-
गुणे नाधमे मध्वनाम् ॥ कि तुम विश्व-प्रसिद्ध पुष्कर और भावर्तक वक्षते उत्पन्न हुए हो, तुम इनके कामरूप अर्थात् इच्छाके अनुसार रूप धारण करनेवाले प्रवृत्ति-पुरुष अर्थात् मत्पन्न विश्वस्त पुत्र हो इसलिए मैं तुमसे यह प्रार्थना कर रहा हूँ क्योंकि किसी गुणीके भाने हाथ फैलाकर निष्कल लौटना अच्छा है किन्तु अधर्मसे इच्छित फल पाना भी अच्छा नहीं है। नीतिशास्त्रोमे दूतके जो अनेक गुण बताए हैं उन सभीका दर्शन यद्यपि मेघमे किया है। दूत कुलीन होना चाहिए, मेघ कुलीन है, पुष्कर और भावर्तक कुलमे उसका जन्म हुआ है। सबसे बड़ी बात यह है कि यह विश्वस्त होता चाहिए मेघ साक्षात् देवराज इन्द्रका विश्वासपात्र है। दूत ऐसा हो कि जब जैसी आवश्यकता हो वैसे रूप धारण करले ये। गुण मेघमे स्वभावतः विद्यमान हैं। जब रामके दूत बनकर सीताजीकी खोज करने हुआम गए थे उस समय इनकी भी यही परीक्षा सपौनी माता सुरसाले ली थी और देख लिया कि ये बुद्धिमान है, निर्भीक है, विश्वस्त है, जब चाहे जैसा बड़ा या छोटा रूप धारण कर सकते हैं।

उपोत्तिप-तारकके अनुसार बादलोंके चार कुल बताये गये हैं—

भावर्तं निजली मेघ सवर्तं च बहुदध ।

पुष्करो दुष्करजलो द्रोण सस्यप्रपूरक ।

[भावर्तं मेघ निजल होता है। सवर्तंमे बहुत फल होता है। पुष्करसे कठिनाईसे बोझ-सा होता है और द्रोण तो घन्य-वर्धक होता है।]

इनम सम्यक्तं नामक बहुदध बादलको छोड़ दिया कि कहीं फलकासे पहुँचकर धुमांधार पानी न बरसाने लगे और सस्य-प्रपूरक द्रोणको भी छोड़ दिया कि यदि उसे सदेश-वाहक बनाकर भेजा तो लोग बिना भ्रमने मर जायेंगे। इसलिए बचने दुष्कर जलवाले पुष्कर और भावर्तक कुलके निर्जल मेघको चुना कि उन्हें चाहे जितने दिनों तक इधर-उधर निश्चिन्तताके साथ घुमाया जा परता है। मेघोकी इसी प्रवृत्तिके कारण कामिदासने उन्हें बीच बीचमे पढ़नेवाली नदियोका श्ल शीते पढ़नेवा परामर्श दिया।

मेघको दूत बनानेवा एक और भी कारण है जो यद्यपि स्पष्ट नर दिया है—

'सन्तपानास्त्वमधि धरणम् ।'

[तुम गन्तव्य लोभानो धरण देनेवाले हो।] पनाकन्द या वह गर्वका तो प्रसिद्ध ही है—

पर-कारज देहको घारे फिर परजन्म मथारथ हूँ दरसी ।
निपि-नोर मुखाके समान करो सब ही विधि सज्जनता सरसी ॥
घनघनानंद जीवनदायक हो, कबो मेरिसो पीर हिये परसी ।
कदहूँ वा बिसारी सुखानके धांगन मो मँसुवानहूँ लै वरसी ॥

और फिर किसी प्रतिष्ठित व्यक्तिको दूत बनावा होता है तो उसकी बड़ी चाटुकारी की जाती है । उसे यह विश्वास दिलाया जाता है कि मैं किसी ऐसे वैसे स्थानपर किसी वीहृद मार्गसे नहीं भेज रहा हूँ, किसी अवाञ्छनीय व्यक्तिके पास नहीं भेज रहा हूँ । इसीलिये यक्षने पहले स्थानका निर्देश देते हुए भलकाका परिचय दिया—

यन्तन्या सै बसतिरसकानामयलेश्वराणा ।

बाह्योपायस्थितहरसिरसचन्द्रिणा धौतहर्म्या ॥

यक्षने यतसाया कि 'मित्र पयोध' । तुम्हें यलेश्वरोकी उस भलका नामकी वस्तीको जानैको यह रहा है जिसको बाहरसे ही देखकर सुम फटक उठोगे क्योंकि बाहर उद्यानमें स्थित महादेवजीके सिरपर स्थित चन्द्रमाके प्रसरसे वहाँके भवन आरखे मास नमपमाते रहते हैं । इसके पश्चात् भलकाका मार्ग बताते समय यक्षने बड़े मनोबैज्ञानिक ढंगसे वादलको नोजन, विभ्राम, दृष्टीनीय स्थल, रमणीय दृश्य आमोद-श्रमोद, मनोरञ्जन, और देव-दर्शनके साथ बीचमें पड़नेवाले नद, नदी, पर्वत, प्रवेश, नगर, पशु, पक्षी, वृक्ष, पुष्प, जलवायु, पुरप, स्त्री, देवता और ऐतिहासिक घटनाओंका बड़ा सतिलप्ट वर्णन करते हुए उस मार्गसे जानेका प्रलोभन दिया है क्योंकि यह मेपको कहता है कि 'त्वत्प्रमाणागुरुत्पम्' तुम्हारे पदके अनुसार मार्ग बता रहा हूँ । और विचिन बात यह है कि यह सम्पूर्ण विवरण सम्पूर्ण जड़ प्रकृति कानिदाक्षने शृङ्गारमयी दिखाई है कि कहीं रसमय मेघ विरल न हो जाय इसलिये वह नदियों और पर्वतोंको भी मानव रूपमें मानवीय सौन्दर्यसे पूर्ण ही देखता है ।

मेपको प्रारम्भमें ही प्रलोभन देने हुए यक्ष कहता है कि तुम्हारा उपचार केवल मैं ही नहीं मानुंश बरन् अन्य पक्षि-वनिताएँ भी मानेंगी—

त्वाभास्वपवनपदवीमुद्गुहीतालवान्ध

प्रेक्षिष्यन्ते पक्षि-वनिता प्रत्ययादाश्चसन्त्य ।

न सन्द बिह्विधुरा त्वय्युपेक्षेत् तयां

न स्यादम्बोपहृमिव जनी न पराधीनवृत्ति ॥

[यक्ष कहता है कि तुम्हें उठा हुआ देखाएँ अपने गालीपर फैले हुए बाल हटाकर घड़े विश्वासके साथ परदेसियोंकी पत्तियाँ तुम्हारी और देखने लगेंगी क्योंकि मेरे जैसे पराधीनको छोड़कर और कौन होगा जो ऐसे समय अपनी विरहणी पत्नीकी अपेक्षा कर सके ।

विरहणी दशमं दिन गिजनेकी बड़ी सामिल स्थितिवा वर्णन मिलता है—

जे बहु दिवसा विषहृद ददर्श पवसन्तेषु ।

काश यलन्तिषु भगित्तव जञ्जरिपाज नहेषु ।

[मेरे श्रियने परदेश जाने समय जो लोटनेकी प्रवृत्ति बताई थी उसे गिनते-गिनते उंगलियोंके पीर तर लगनेकी स्थिति होख गए हैं] इसलिये यक्ष कहता है—

ता जावयं दिवसमणुनातत्परामेवपत्नी
प्रव्यापन्नागबिहृतगतिर्द्वयसि भ्रातृजायाम् ।
भाशावन्य कुमुदसहस्रप्रामोदयनाना
सस्य यातिप्रणयिहृदय विप्रयोगे ह्यसिद्धिः ॥

[तुम जाकर अपनी उस भाभी से अवश्य मिलना जो वहाँ बैठे दिन दिन रही होगी और
जैसे प्राण दसी आशा पर टिके होंगे कि अभी फिर भेंट हो होगी ही ।]

शीताजीने भी हनुमानजीसे अपने प्राण बिरहमे न छोड़नेका कारण बताते हुए कहाथा था—

नाम पाहुरु दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कण्ठ ।

लोचन प्रदुषट्-जनिवत, प्राण जाहि केहि बाट ।

[रात दिन आपका नाम स्मरण हो पहर देता है, ध्यानके किवाड़ लगे हैं । आँखों पर आपके
धरण कमलका ताला लगा है फिर भला प्राण किस मार्गसे निकल सकते हैं ।]

इससे पश्चात् पहले भारतीय विश्वासके अनुसार अच्छे धनुषका भी निर्देश करते हुए प्रोत्साहन
दिया है—

मन्द मन्द मुदति पवनश्चानुवृत्तो यथा त्वा

बामश्चाय नदति मधुरश्चातकस्ते सगन्ध ।

गर्भाधानक्षणेपरिचयान्नूनमायद्धमाला

सेविष्यते मयनमुभय से भवन्त यत्नायाः ॥

[मन्द मन्द पवन तुम्हें आगे भी बढा रहा है । बाईं ओर कायमत्त चातक मधुर बोल रहा है
और गर्भाधानके समय का परिचय पाकर निरुपय ही अनुस्रियाँ आकाशमे सरयन्त नयनागिराम
सकमात्ता बनाकर तुम्हारी सेवा करेंगी] और ये ही गयो ।

यत्तुमन्व प्रभवति महीमुष्मितीग्रायवन्मया

तच्छ्रुत्वा ते श्रवणमुमग गजित मानसोत्का ।

मार्कलासाश्चिसविसलयच्छेदपाथेयवन्य

सम्पश्यन्ते नभसि भवतो राजहसा सहाया ॥

तुम्हारा गर्जन सुनकर कुकुरमुते निकल आवेंगे, भरती हरी भरी हो उठेंगी । और मान-सरोवर
जानेको डरसुक राजहस भी तुम्हारे शाय बँलास तक उठे चले जायेंगे ।]

और यह मैं नहीं महत्ता कि तुम गट चलओ । अभी आए हो, ठहरो, बैठो । अपने मित्र
चिक्कटसे गले मिल लो, कुशल मंगल पूछ लो क्योंकि यह साधारण पर्वत नहीं है । यह भगवान्
रामके वरण-कमलसे भक्तिमेखलावाला वह पर्वत है जिसकी लोग वन्दना किया करते हैं ।]

आपृच्छस्व प्रियसप्तमम्, तूगमाजिष्य खैल

वन्द्यं पुसा रघूपतिपदैरकित मेखलासु ।

बाने-काले भवति मयतो यस्य सयोगमेत्य

स्नेह्यतिविश्वविरहज युचतो बाष्पमुष्णम् ॥

यश इतने मनोवैज्ञानिक ढंगसे मेघसे अपना नाम करानेके लिये उपचारका प्रयोग करता है—

गरीबजानेमे विस्वाह दो भट्टी बैठो ।

बहुत दिनोंमे तुम आये हो इस गलीकी तरफ ॥

जरासो देर हो हो जायगी जो क्या होमा ।
 घड़ी-घड़ी न उठाओ नजर पड़ीकी तरफ ॥
 जो कोई पूछे तो पगवाह क्या है वह देना ।
 चले गए थे टहलते हुए किसीकी तरफ ॥

[भगवानके लिये इस कुटिया में थोड़ी देर बैठो क्योंकि इस मलीकी घोर बहुत दिनोंमें धाए हो । थोड़ी देर हो हो जायगी तो कोई बात नहीं है । बाज-बार पड़ीकी घोर दृष्टि न दीरामो । जो कुछ पूछने भी सगे तो कोई चिन्ताकी बात नहीं है, कह देना टहलते हुए किसीकी घोर चले गए थे ।]

घोर इस उपचारके परचात्र भी वह भीचे हृदयहीमें अपना सदेश नहीं वह सुनाता । पहले मार्ग बताता है और कहता है—

मार्गं तावच्छृणु कथयन्मन्त्रप्रमाणानुरूपं
 सदेशम्मे तदनु जतर । धोव्यसि ओषधेयम् ॥

यस्य कहता है कि [पहले तुम अपने अनुरूप अर्थात् जिस मार्गसे किसी मले व्यक्तिको भेजा जा सकता है वह समझ लो उस में तुम्हें वह ओषधेय (कानिसे पीया जा सकनेवाला, रसीला) सदेश सुनाऊंगा जिसे सुनकर तुम कड़क उठोगे] अब यह सीधा मार्ग न बता कर बादमें प्रमाणानुरूप मार्ग बता रहा है और वही मार्ग बता रहा है जिस मार्गसे होकर उस स्वयं चलकर चलकर चित्रकूट तक घामा है ।

मार्ग बतानेमें भी वह अपने दूतकी पूरी सुविधाका ध्यान रखता है । पुष्कर और आबतक बादमें जस नहीं होता इसलिये यह उन्हें समझाता है कि—

सिन्धु सिन्धु सिन्धुरिपुष्य न्यस्य गन्तासि यत्र ।

क्षीण क्षीण परिसम्पन्न, सौतसा चोपभुज्य ॥

जब पगवाह हो तो पर्वतकी चोटियोंपर ठहरते जाना और ध्याय लपती चले तो भरनोका हुन्का-हुन्का जन पीते जाना । वह नहीं कि बिना लाए-पिए सोधे हरकारके समान चलते चले जाओ क्योंकि हनुमानकीके समान दूत मित्रता तो बड़ा कठिन है जो यह बड़े कि—

*राम-काज बीन्हे बिना, मोहि नहीं बिसराम ॥

[रामका कार्य अर्थात् सीताजीकी सौत्र लिए बिना मुझे विश्वास करनेका अवकाश नहीं है ?]

यत्र यत्र मार्ग बताने हुये उस बीचमें पहनेवाले अनुभवोंपर सचेत देते हुए समझाता है कि जत्र तुम इस चेतने लदी हुई पहाड़ीसे ऊपर उठोगे तो पिढीकी मोसी-माली पत्तियाँ नकिल होकर चढ़ेंगी कि नहीं पहाड़की ओटी हो तो नहीं उठी जा रही है । इस प्रकार उठते समय दिङ्नामोरी मूर्छोंकी चटकारें देनेसे हुए घागे बंद जाना । दिङ्नामाना पथि परिहरन्मूल-हस्तायमेतद् । इससे कुछ विद्वानोंने कल्पना की है कि कालिदासने प्रमाण-समुच्चयके प्रसिद्ध बोध लेखक दिङ्नामपर आशेष किया है जिसे भन्तिनाथने कालिदासका प्रतिद्वन्द्वी बताया है ।

यत्र यत्र सामने उठते हुए इन्द्र चतुर्भुजी घोर देख रहा है और वहींसे सुन्दर मार्गसे अनुभवका क्षीणपण करता है । यह इन्द्रचतुर्भुज या तो मातृकात दियाई देता है या सामनाल घोर यदि

वादनके ऊपर विमानसे देखा जाय तो इन्द्र चक्र दिखाई देता है, इन्द्र-धनुष नहीं। इस इन्द्रधनुषसे यक्षों वायुनका नीला शरीर ऐसा जान पड़ता है जैसे 'गौर-मुकुट स्याद् वृष्ण ।'

'यह्मंशेव स्फुरितरुचिना मोपवेधस्य विभ्रणो ।' [पूर्वमेघ, १५]

यव विज्ञानोकी परिचयोना परिषय देखा हुआ यक्ष कहता है कि तुम उड़कर चलोने तो कितानोही ये भोली भाली पत्नियाँ वहीं आजासे तुम्हारी गौर भाँखें उठाकर देखेंगी जिन्हे भी पत्ताकर रिझाना नहीं आता—'अभिलासानभिज्ञ'। तुम वहाँ मात्र देशके क्षेत्रपर वरस जाना जिससे वहाँकी भूमि सौधी यक्षों वनक उठेगी। फिर पश्चिमकी ओर उड़कर उत्तरकी ओर चल देना। वहाँ घात्रकुटरी भाग बुझाकर उसकी चोटो पर ठहर जाना जो पके हुए फलोसे लदे हुए फामके वृक्षोंसे घिरा हुआ है। उस समय देव-दम्पतिनो वह पर्वत स्तनद्वयसुय (पृथ्वीके स्तनके समान) प्रतीत होगा। उस वनमे जगनी द्विषयी भूगा करती हैं इसलिये वहाँ ठहर कर क्या करोगे डग बहायर चल देना। जल बरसा देनेसे तुम्हारी देहका भारीपन भी दूर हो गया रहेगा जिससे चाल भी बढ जायगी। आगे चलकर किम्बयाचसके ऊबड़ साबड पठार पर अनेक धाराओंमे फैली हुई रेवा नदी ऐसी प्रतीत होगा जैसी मधूतसे चींटी हुई हाथीके देह हो। वहाँ जगनी हाथियोंके मध्ये बसा हुआ और जामुनकी कूजोमे बहता हुआ रेवाकाजल पीकर सब भागे बढना क्योंकि—

रिक्त सर्वो भवति हि सधु पूर्णता गौवाय । [पूर्वमेघ—२१]

[जिसके हाथ रीते रहते हैं उसे सब दुरदुराते हैं और जो भर-भरा होता है उसका सभीभावर परते हैं।]

इसने आगे बघपके हरे-पीले वदम्ब पर बैठराते हुए भँरि, नई फूली हुई चान्दलीकी पत्तियोंको भरते हुए हरिण और जगती परतीकी सीला गध धुँचते हुए हापी तुम्हे मार्ग दिखाते चलेगे। उत रामस सिद्ध लोग धपनी पत्तियोंके छाष ऊपर ही ऊपर बूँद पड़ने-वाले बातोंकी ओर पाँत बाँधकर उबड़ी हुई वगुत्तियोंका दृश्य देख रहे होंगे। अब, जहाँ तुम गरजे कि ये स्त्रियाँ उड़कर गट अपने पतिवोसे चिपट जायेंगी और वे सिद्ध लोग तुम्हारा बरा उपकार मानेंगे—'मान-विष्यन्ति सिद्धा'।

यक्ष कहता है—यद्यपि मैं जानता हूँ कि मेरे वामके लिए तुम सीधे ही जाना चाहोगे किन्तु ऐसी कोई बात नहीं है। तुम कटुभ (धनुर्जन) सुगन्धित फूलोंसे लदे हुए उन पहाड़ों पर उड़ते हुए मस्ती सेते हुए जाना जहाँ कि गौर अपनी कूबसे तुम्हारा स्वागत करेंगे। वहाँसे चलकर तुम आगे दशाक्ष देशमे पहुँच जाओगे जहाँ के उपवनोकी बाड फूले हुए केवशेमे उजली हो उठी होगी। गाँवोंके मन्दिरोंमे कीबे पोसले बना रह होंगे। सारा जगल काली-नाली जामुनोसे लदा मिलेगा और इस भी कुछ दिनोंके लिए जहाँ घा बसे होंगे। वहाँकी राजधानी बिदिशामे तुम्हे बिलासकी सब सामग्री मिल जायगी। वहाँ सह्राष्टी हुई वेनकलीका जल पीते हुए तुम्हे ऐसा लगेगा जैसे किसी बटीली भीहोवाली काबिनी का रस पी रहे हो।

वहाँसे चलकर नीच नामकी पहाड़ी बकावट मिटानेके लिए रुक जाना। वहाँ फूले हुए कदम्ब ऐसे जान पड़ेंगे जैसे तुमसे मिलनेके कारण उनके रोम-रोम करकरा उठे हो। इतना ही नहीं उरली गुफाओंमे वहाँके खेतोंका भी राग-रव देखना।

सपत्न्यप्रीतिपरितोद्गारिभिर्नागराणाम्

उद्गमानि प्रपद्यति गितावेदमभिर्बोवनानि । [पूर्वमेव २७]

[उनो पट्टादीनीं शुपाशमिने जन सुगन्धित पद्मार्थोकी संघ विवस रही होगी जो वहाँके फीले, वेदपाथोके साथ रति करनेके समय काममें लाते हैं । इससे तुम यह भी जान आयोगे कि वहाँके नागरिक नितनी पुन्नमपुन्ना जयानीदा रम लेते हैं]

ऐसा ही गिरावेदमको भावनन्के बहुलमे विद्वानोंने भरत-दास निरिष्ट नाट्य-गृह तप बना दिया है ।

यहने समझाया है कि वहाँ टहरकर बूहोकी पुन्यचारिको सीबते हुए उन मालिनोके सुस्तर छाया करने हुए उनमे हेल-जेल बगरो हुए छाते का जाना जिनके काममें खूँसे हुए फल उतरे मानके पगीनेमे सैमे पड़ गये हों ।

इसके पदनाम् यहने देखते कहा है कि तुम्हें थोड़ा चक्र तो पड़ेगा किन्तु कोई बात गरी है—

वक्त्र कथा मदपि भवतः प्रसिधत्स्योत्तराना

सौभोत्वप्रणुतिविभुवो मात्माभूद्वज्रमिण्याः ।

विमुद्गममृतिरतिरतिस्तथ पीरागनानाम् ।

मोनायार्गवदि न दग्ने मोचनर्वचितीति ॥

[पूर्वमेव, २९]

मान देवकी 'भूविनाशानभि' मोनी-भाती नारिके मिन्न हैं उज्जयिनीकी नारिकी । [यद्यपि तुम्हारा मार्ग कुछ टेढ़ा पड़ेगा किन्तु तुम वहाँके विद्यान सबकोति लिपटना न भूलना मीरा तुम्हारी रिजमीकी बमदने डरकर जो वहाँकी नकेलिनी बचन बिनवन कलापेगी डतप न गीमे गो सपको तुम्हारा जीवन छकाग्य गया ।]

ही, उधर जाते हुए निकम्मा नदी का रम से-सेना जिनकी सहरोपर बनरम करते हुए पगे ही मेरातके गमान धीर नंबर हों नाभिके समान प्रतीत होंगे । सब समझ लेना कि बदन-मदन दिगावर तुम्हें गिरा रही है क्योंकि—

त्रोम्गामाद्य प्रणयवचन विभ्रमो हि श्रेष्ठः । [पूर्वमेव, ३०]

[गिरती बदन-मदन दिगावर ही कानि प्रेमियोको अपने प्रेमकी बान बह देती हैं ।]

उन गिरिणी दुर्बल निविन्धवारो जनमे बलम् गुप्त धीविनाश विनाश उज्जयिनी मे पद्वि आग गहरे गीरीमे लेने बहूमे बड़े-बड़े नीय हेल जो उदयनकी बचारी मनी प्ररार माने ।

शाम्पावन्तोमुदयनपाथोविद्वजमृदान्

पुर्वोद्गममृतिरतिरतिस्तथ पीरागनानाम् ।

म्वन्तोद्गममृतिरतिरतिस्तथ पीरागनानाम् ।

म्वन्तोद्गममृतिरतिरतिस्तथ पीरागनानाम् ।

[पूर्वमेव, ३२]

[उत्तम देवम पद्विबर गुप्त धन-पान्दये गरी हुई उध विनाश नगरीकी धीर बते जाना

जिसकी चर्चा मैं पहले ही कर चुका हूँ और जहाँ गाँवके बड़े-बूढ़े लोग, महाराज उदयनकी वधा भली प्रकार जानते बूझते हैं। वह नगरी ऐसी लगती है मानो स्वयं अपने पुण्यका फल भोग चरुनेवाले पुण्यवाला लोग, पुण्य समाप्त होनेसे पहले ही, अपने बचे हुए पुण्यके बदले, स्वर्गका एक चमकीला भाग लेकर उसे अपने साथ घरतीपर उतार आए हो।]

ऐतिहासिक दृष्टिसे यह श्लोक बड़े महत्त्व का है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कालिदासकी उज्जयिनी बहुत प्रिय थी और इस नगरसे उसका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था—वह सम्बन्ध चाहे जन्मका हो या कर्मका। दूसरी बात यह है कि मेघदूत उस समय लिखा गया जब वासराज उदयन द्वारा वासवदत्ताके हरण-वाली कथा बहुत पुरानी नहीं हुई थी और जिसकी चर्चा उस समय तक द्रवीड मौखिक साहित्यके श्रोण होनेका प्रसङ्ग थी।

उज्जयिनीके सौन्दर्य के कारणके सम्बन्धमें कालिदासने जो कल्पनाकी है वह अद्भुत है। हमारे यहाँ माना गया है—'सीसे पुण्ये मर्त्यलोके विभान्ति।' इसी आधारपर कालिदासने कहा है कि स्वर्गमें गये हुये लोगोंने सोचा कि अन्तमें मर्त्यलोकमें वो जाता ही पड़ेगा इसलिये उन्होंने बहुत दिनों तक स्वर्ग-सुख भोग चरुनेपर जब थोड़ा पुण्य बच रहा तब वे अपने बचे हुए पुण्यके बदले स्वर्गका जो सुन्दर लक्ष भाग लेने आए वही उज्जयिनी है। यह भी एक बड़ा प्रमाण है कि कालिदास उज्जयिनीके थे।

यहाँके तन्वाधम मेघकी समझाते हुए वे कहते हैं कि उज्जयिनीमें सारसोशी मीठी बोली सुनाई पड़ेगी, कमलकी गन्धमें बसा हुआ शिप्राका 'प्रियतमश्च प्रार्थना-चाटुकार' पवन वहाँ 'मुरतलानि' हर रहा होगा। अगरके घुंसे तुम्हारा शरीर भरेगा, पालतू मोर नाच-नाचकर तुम्हारा अभिनन्दन करेंगे और फूलोंकी गंधसे महकेंगे हुए उन भवनोंकी सजावट देखकर तम अपनी पकावट गिटाना जिनमें सुन्दरियोंके चरणोंमें मरी हुई महापरासे साल पैरोंकी छाप बनी हुई होगी।

इसके प्रचार उस महाभारतके मन्दिरमें जानेका निर्वेच करता हुआ उस कहता है कि महाकायके पवित्र मन्दिरमें शिवजीके गण तुम्हें अपने स्वामी शिवजीके कठके समान ही मीठा देखकर तुम्हें बड़े आदरसे दिहारेंगे। पुण्यियोंके स्नानसे सुगन्धित और कमलके पन्थमें बसी हुई गन्धवती नदीकी ओरसे भागेवाला पवन इस मन्दिरके उपवनकी बार-बार मुला रहा होगा यहाँ तुम महाकायकी साम्प्रभारती में गरजकर उनके गंगाबेका साथ देना। वहाँ नृत्य करती हुई बेरपाभोंके नक्षत्राक्षरों पर जब तुम्हारी ठड़ी-ठड़ी दूँ पड़ेंगी तब वे तुम्हारी ओर भीरेके समान अपनी चित्तवत् चलायेंगी। सध्याकी भारती हो खुशने पर जब महाकाल ताडव स्थ करने लगे तब वृक्ष रुनी उनके उठे हुए बाहूओं पर सँकरी सलाई लेकर तुम छा जाना जिससे शिवजीने अपने हाथोंकी खाल धोने को इच्छा पूरी हो जाय। यह दृश्य देखकर पहले तो पावतीजी डर बायेंगी किन्तु फिर तुम्हें देखकर और पहचानकर वे तुम्हारी ममताका आदर करेंगी। उज्जयिनीमें जो कृष्णामिसारिकाएँ अपने प्रियतमोंसे मिलनेके लिए अँवेरी रातमें निकले उन्हें तुम चिजली चमकाकर ठीक मान दिवा देना, गरजना-चरसना मत नहीं तो वे धवरा उठेंगी। फिरतुम दिन निकलते ही यहाँसे चल देना क्योंकि अपने मित्रोंका काम करनेका जो बौद्धा चलाता है वह आलस्य नहीं करता—

[मन्वायन्त म सतु सुहृदामम्पुषेतायैतया ।] खेच होनेपर सविता नायिवाभावे प्रिय भी अपनी

प्रियतमाप्रोके प्राँसू पोछ रहे होंगे और सूर्य भी अपनी प्रियतमा कमलिनीके मुँह पर पड़ी हुई मोक्ष पोछ रहा होगा, उस समय तुम उनके हाथ न रोकना, नहीं तो वे बुरा मान जायेंगे ।

इसने पश्चात् यशने गभारा नदीका विमल अत्यन्त सहृदयता और रसिकताके साम करते हुए उसे विवक्षा नायिकाके रूपमें चित्रित किया है और कहा है कि जो जवानोंका रस ले चुका है वह खुली हुई जाँघोवालीको मत्ता कैसे बिना भोगे छोड़ देगा । 'आतास्वादो विवृतजघना को विहातु समयं ।' यहाँसे चलकर मेघको देविगिरि पर्वतकी ओर भेजते हुए बताया है कि शिष्टावृत्ते हुए हाथी वहाँ परतीकी गध पी रहे होंगे और वनके मूलर पकने लग गए होंगे वहाँ सदा निपास करनेवाले स्कन्ध भगवान पर जस चढ़ाकर गजन करना जिससे स्वामि-कार्तिकेयका मोर नाच उठेगा । उनकी पूजा कर, चुकनेपर भागे बढोगे तो अपनी पत्थियोंके साथ जाते हुए सिद्ध लोग मिलेंगे जो अपनी बीछा भीमनेके इस्ते तुमसे दूर हो दूर हट दिखाई देंगे । फिर कुछ दाने जा कर तुम चर्मखवती नदीका जल पीनेके लिए उतर जाना जो राजा रज्जिदेवके ग्यालभ यशवी पीति गनी हुई यह रही है । वहाँ तुम धाकाचकारी सिद्धों और मन्धकोको ऐसे प्रतीत होंगे जैसे किसी एकलडे हारने मोटोरी इन्द्रगोल मणि पोह दी गई हो । चर्मखवती (चबल) नदी पार करने तुम ददापुरकी ओर चले जाना जहाँको रक्षियोंकी भीहे कुन्वपर भेंदरानेवाले भीरोके समान चमक रही होगी । यहाँसे चलकर सीधे प्रह्लादवर्षण छाया करते हुए कुवक्षेत्रपर उड़ते चले जाना जो बौरयो और पाँइयोकी परेखु बडाईके कारण कुर्तम ई और जहाँ घाटीक-पारी चर्मनने राजापोपर उसी प्रकार अण्डित बाण बरसाये थे जैसे तुम अपनी जलपारा बरसाते हो । यहाँ सरस्वती नदीका वह शीतल जल पीकर तुम्हारा मन चबला हो जायगा जिसे चलरामने भी मदिरा छोटकर ग्रहण किया था । यहाँसे चलकर तुम बनखल पहुँच जाना जहाँ हिमालयसे उतरी हुई गगाजी मिर्चों जिनहोंने तपस्से पुमोरी स्वर्न पहुँचा दिया और जो अपनी लहरोके हाथ चन्द्रमापर टेककर मानो शिवजीकी बेन परम्पर पार्वतीजीको बता रही हो कि शिवजी मेरी मुट्ठीमें हैं । वहाँ जल पीते समय गगाजी पर चलती हुई तुम्हारी छाया एसी प्रतीत होनी मानो प्रयाग पहुँचने से पहले ही गगासे यमुना मिल गई हो । यहाँसे तुम गगीकी पहुँचकर अपनी बकाशट मिटावेना जहाँकी शिलाएँ बत्सूरी मृगोंसे बँटनेसे सदा महफूजी रहती है ।

अवस्यध्वयमविलपने तस्य श्रुते निपण्ण ।

शोभापुत्रनिमननुपोत्थात-यकोपमेयाम् ॥

[पूर्वमेघ, १६]

[उम सप्तम पर्वतकी पीटी पर बैठे हुए शूम जैसे ही दिखाई देने जैसे महादेवजीने उजले तीक्ष्णी सींगों पर मिट्टीने टीलो पर टक्कर मारनेसे नीचढ जम गया हो]

देगी मेघ ! अब चम्बर चलनेसे देवदारु वृक्षोंकी छाहसे जगलमें धाग लपने लगे और उसकी चिंगारियाँ मुरगायके लक्ष्म-नने रोयें जलाने लगे तब तुम पुष्पाधार पानी बरसाने से उसे दुम्मा देना बयोकि ।

‘आपन्नानिप्रसमापना मपशे ह्यतमानाम् ।’ [पूर्वमेघ, १७]

[भने मोर्गी पाम जो कुन होना है पर रीत-मुगिवाना दुग मिटावेके निचे ही होना है]—

हिमालयपर जब शरभ जातिके घाट पैरो वाले हरिण बहुत उछलने-कूदने लगे और तुमपर सींग चलावनेकी झपटें तब तुम धुप्राधार ओले बरसाकर उन्हें तितर-बितर कर देना क्योंकि के ना न द्यु परिमवपद निष्फसारमपला ।' [पूर्वमेघ, ५८]

[वैशाम्पा काम करने वालोंकी ऐसे ही ठीक करना चाहिए—]

यहाँ पर्वतकी एक शिखरपर शिवजीके जिन पैरोंकी छापपर सिद्ध लोग पूजा बढ़ाते हैं वहाँ तुम भी भक्ति-भावसे झुककर प्रदक्षिणा कर लेना क्योंकि यद्वावान लोगोंने पाप उनके दर्शनसे ही धुल जाते हैं । यहाँ के मोले-मोले बाँधोंमें वायु भरनेसे बज उठने वाले भीठे स्वरोंके साथ किन्नरोंकी स्त्रियाँ जब विपुल-विजयका गीत गाने लगे तब तुम भी मृदंगके समान गजंन करके संगीतसे सब प्रग पूरे कर देना । हिमालय पर्वतके घासपास सब सुन्दर स्थान देखकर तुम उस शीश रत्नप्रसे होकर उत्तरपरी और बड़ जाना जिससे होकर इसीसे समूह मानसरोवरकी ओर जाया करते हैं और जिते छेदकर गरतुरामजी भयर हो गए हैं । उस चेंकरे मार्गसे तुम पैसे ही लड़े और तिरछे होकर जाना जैसे बलिपरी छलनेके समय विष्णुका धाँवला चरण लवा और तिरछा हो गया था । वहाँसे ऊपर उठकर तुम उस वैसास पर्वतपर पहुँच जाओगे जिसकी चोटियोंके जोड़-जोड़ राखणके बाहुओंमें हिंसा आसे थे, जिसमें देवताओंकी स्त्रियाँ प्रपन्ना मुँह देवती हैं और जिसकी कुमुद-जैसी उजली चोटियाँ भाकासमें इस प्रकार फैली हैं मानो —

राशीमूला प्रतिदिनमिव भ्रमरस्याहहास । [पूर्वमेघ, ६२]

[नित्यका इकट्ठा किया हुआ शिवजीका भट्टहास ही ।] कालिदासकी उपमाओंमें यह उपमा बड़े महत्वकी और प्रप्रतिम समझी जाती है । इतना ही नहीं, तुल्य काटे हुए हाथी-शैतके समान गोरे कंलासपर प्रपन्ना धिकने घुटे हुए मजिनके समान काला रूप लेकर तुम पैरी ही मुहावने लगीके जैसे बलरामके कन्धोंपर पड़े हुए चटकीसे कामे बसत ।' इसी प्रसंगसे मेघको यश समझाता है कि उस कंलासपर जब महादेवीजीके हाथोंमें हाथ आसे पार्वतीजी दहल उठीं हो तब तुम बरसना मत, वरन् सीढ़ीके समान मन जाना जिससे उन्हें ऊपर चढ़नेमें गुविधा हो ।' शिवजीके सम्मन्धने कालिदासका इतना भक्तिपूर्ण उत्प्रेष इस बातका भी साक्षी है कि कालिदास निश्चय हो पड़े गे थे ।

इतना भक्ति-भक्त निर्देश कर चुकनेके पश्चात् यश पुन श्रुत्वाकी ओर प्रवृत्त हो कर कहता है कि वहाँ पर्वतपर जब प्रप्यारामें अपने गग-जड़े कंधारों नव कुभीकर तुम्हारे शरीरसे धाराएँ निकलने लगे और तुम्हें छुड़ाए न छोड़ें तो तुम कान फोड़नेवाला गजन मुलाकर उन्हें डरा देना, वहाँ पहुँचकर वहाँसे तो तुम मुनहरे बमलोसे भरे हुए मानसरोवरका जल पीना, फिर बपड़ेके समान बोही देर ऐरावतके मुँह पर छाँकर उसका मन बहलाना, तब वल्गुमके कोमल पत्ते हिताते हुए वैसास पर्वतपर जी भर कर घुमना ।

फलकारा यशोन्त करते हुए यश कहता है कि उस कंलास पर्वतकी गोदमें बड़ी हुई प्रसन्न पैसी ही लगती है जैसे किसी प्रियतमकी गोदमें बसिनी हो और वहाँसे निवृत्ती हुई गगजी ऐसी प्रीति होती है मानो उस काशिकीके शरीरपर से सरकी हुई उसकी छाटी हो ।'

इसके पश्चात् यशने फलकापुत्रीका विसृष्ट, सन्निष्ट, भावपूर्ण तथा मध्य परित्यक्त देव हुए बताया है कि यन्तदाम ऊँचे भवन, मुन्दरी नारिणी, मन्नाम रविरसे चित्र, गगीत और मृदंगकी

धूमधाम, मौलमसे जड़ी हुई घरती और गवन-चुबी अटारियां विद्यमान हैं। वहांकी कुल-वधुओंके हाथोंमें कमलके आभूषण, नोटियोंमें कुन्दके फूल, मुंह पर लोभके फूलोंका पराग, सूझमें कुरवक (कटसरैयाका फूल), कानोंपर सिरसके फूल, और मांगमें कदम्बके फूल दिखाई देंगे। वहाँ सदा फूलनेवाले वृक्ष, बाग़माली कमल और कमलिनियाँ सदा बसे रहनेवाले हंस, चमकीले पक्षोवाले पालतू मोर तथा सदा प्रसन्न यक्ष और यक्षिणियों की भरमार है। वहलिये प्रसन्न यक्ष नित्य अपने भवनोंमें अपनी प्रियाओंके साथ बैठकर वह मधु पीते हैं जो बाजोंके बजनेके कारण कल्पवृक्षसे निकला करता है। वहाँकी सुन्दरी कन्याएँ मन्दाकिनीके तट पर रत्नसे खेलती हैं, चन्द्रपान्त मणियोंसे टपकता हुआ जल वहाँ स्त्रियोंको पकावट दूर करता है। मवाह सप्ततिवाले यक्ष आसरागो और शिन्नरोके साथ वहलिये वैवाहिक उपवनमें निवास करते हैं, कल्पवृक्षसे उठे सब शृङ्गार की वस्तुएँ मिलती रहती हैं, पत्तोंके समान साँवले वहलिये छोटे, रंग और बालमें सूर्यके धौड़ोंको कुछ नहीं समझते। पहाड़-जैसे ऊँचे हाथी वहाँ मर बरसाते चलते हैं। रायणसे लड़नेवाले वीर मौन पादके चिह्नोंकी ही आभूषण समझते हैं और शिवजीका निवास वहाँ होनेके कारण कामदेव भी अपना मौरीकी डोरीवाला धनुष न बढाकर खड़ीखी कामिनियोंकी बाँकी चितवनसे ही काम निकाल लेता है। कालिदासने यक्षकाकी वनस्पति और जीव जन्तुओंका जो वर्णन किया है वह वनस्पति शास्त्र और प्रकृति शास्त्रके सर्वथा विपरीत है क्योंकि हिमालयके उस प्रदेशमें बबूल, कुन्द, कदम्ब, मोर, घोड़े और हाथी नहीं हो सकते किन्तु वहाँतो दैवी सृष्टि ही जिसके लिये वनस्पति शास्त्र प्रमाणित नहीं है।

इस प्रकारका स्थान किसी भी सहृदय व्यक्तिके मनमें उसे देखने की उत्कण्ठा उत्पन्न कर सकता है, इसीलिए यक्षने पहले अलकाका वर्णन किया और इसके पश्चात् वह अपने घरका वर्णन करने लगता है—

'कुन्दके भवनसे उत्तरकी ओर हाथधनुषके समान सुन्दर मौल फाटक-वाला मेरा घर दूरसे दिखाई पड़ेगा जिसके पास ही फूलोंके गुच्छोंसे नवा और नीचेतक भूसा हुआ कल्पवृक्ष खड़ा है। भीतर कानेपर नीलम जड़ी हुई सीधियोंवाली बाबली है जिसमें बिकने वैदुर्य मणिकी-भी डडलवाले सुन्दर वनम लिले हैं। उसके जन्मसे बसे हुए हंस इतने सुखी हैं कि मानसरोवर पास होनेपर भी और तुम्हें देखकर भी वे वहाँ नहीं जाना चाहेंगे। इस बाबलीके तीर पर मौलमणियोंकी चौड़ी वाला बनाबटी पहाड़ है जिसके चारों ओर सोनेके केले लगे हुए हैं। इस पर्वतपर कुरवकके वृक्षोंसे घिरा हुआ माधवी मठके पास एकमे कनकके से पत्तोवाला लाल अशोकका वृक्ष है और दूसरा मौलसिरीका वृक्ष है। जवसे अशोक तो मेरी प्रियाके बाँएँ परबनी छोकर साँके लिए और मौलसिरीका पेड़ उसके मुँहसे छोड़े हुए मंदिरके छीटे पानेके लिए तरस पटिया पर जड़ी हुई सोनेकी छतपर तुम्हाय मिला मोर नित्य साँफ़को धाकर बँटा करता है जिससे मेरी पत्नी अपने पुष्पस्वार बढेवाले हाथोंसे तालियाँ बजा-बजाकर नचाया करती है। मेरे द्वार पर राख और चक्रके निहू देखकर तुम मेरा घर अवश्य पहचान लोगे जो मेरे बिना बड़ा उदास दिखाई पड़ रहा होगा। वहाँ हाथीके बच्चेके समान छोटे बनकर पहाड़ोंकी मुहाफ़ती चौटीपर बैठकर धुपधुपोंके समान अपनी आँखें मिचका कर घरके भीतर झाँकता।

रमणीक मार्ग, मध्य पुरी तथा मनोरम भवनके बरखुम्बसे मेघमे वहाँ जानेकी उत्कठा जगाकर रखने अपनी पत्नीके रूपका वर्णन किया है जिससे मेघको यह विश्वास हो जाय कि जिसके पास मुझे भेजा जा रहा है वह कुदरत (असुन्दर) नहीं है—

तन्वी श्यामा विसरदशना पक्ववियाचरोष्ठी ।

मध्येक्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ॥

योणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाम्बा ।

या तत्र स्थाद्युबतिविषये गृष्टिराद्येव वायुः ॥

[उत्तरमेघ, २२]

[वहाँ बुबली-पतली, नन्हे बाँतो-बाली, पके हुए बिब-कलके उमान साल होठोवाली, पतली कमरवाली, ठरी हुई आँखोवाली, गहरी नाभिवाली, निबबोके बोझसे धीरे-धीरे चलनेवाली और स्तनोके भारसे कुछ भागेको झुकी हुई जो बुबली तुम्हें दिखाई दे वही मेरी पत्नी होगी । उसकी सुन्दरता देखकर ऐसा जान पड़ेगा मानो ब्रह्माकी सबसे बड़िया कारीगरी वही हो ।] भागे उस विरहिणीका परिचय देते हुए यश कहता है 'विरहिता चकवीके समान अकैली और कम बोलनेवाली उस प्रेयसीको देखकर तुम समझ लोगे कि वह मेरा दूसरा प्राण ही है । विरहने उसका रूप इतना बदल गया होगा कि उसे देखकर तुम्हें पालेसे मारी हुई कमलिनीका भ्रम हो सपता है । रोते-रोते उसकी आँखें 'सूख भाई होपी, गरम जलसोसे उसके होठोका रंग फीका पड़ गया होगा । चिन्ताके कारण मालपर हाथ धरने से और मुँह पर बाल धा जानेसे उसका अक्षर दिखाई देने वाला मुँह शेषसे ढके हुए चन्द्रमाके समान उदास दिखाई देने लग गया होगा ।'

अपनी प्रियतमाकी विरह-क्रियाप्रोत्साहन करने हुए यश कहता है कि 'या तो वह पूजा खटाती मिलेगी या मेरा चित्त बनाती मिलेगी या मैंना से गुँध रही होगी कि तुम अपने पक्षिको स्मरण करती हो या नहीं या मैंने कपडे पहने गोबरों की लाने लिए अँधेरे स्वरसे मेरे नामके गीत गायी होगी । उस समय मेसुधीमे उसे रागके उतार-चढ़ावका भी ध्यान न रहता मिलेगा या देहली पर रनते हुए फूलोको देखकर शापके बने हुए दिन भिन रही होगी या मन ही मन पिछली मधुर स्मृतिमोका आनन्द ले रही होगी । उसकी प्यारी सज्जियाँ बिनमे उसका साथ नहीं छोड़ती होगी इसीलिए उसके पक्षिके पासवाली झिठकीपर जा बैठना और जब उसकी सब सज्जियाँ सो जायें तब उसके पास पहुँच जाना और बूँद लेना । वह एक करपट पड़ी होगी, भाँसू बह रहे होंगे और बड़े हुए नखोंवाले हाथसे वह अपने गालोपर छामे हुए रुखे और उलझे हुए बाल हटा रही होगी । विरहके कारण चन्द्रमाकी किरणों भी उसे कष्ट देती होगी । आजकल वह बोरे जलसे नहा रही होगी इसलिए उसके रुखे बाल मुँहपर लटक कर उसके पतले होठोको छानेवाली साँसेमि हिलते जा रहे होंगे । वह स्वप्नमे मुझसे मिलनेके लिए मोद बुलाती होगी पर बहते हुए भाँसू उसकी आँखें नहीं लगने देते होंगे ।

फिर यश उसे बड़े कौशल और मनोवैज्ञानिक ढंगसे धमकी बात बर्खास्त करनेकी रीति, भूमिका और सन्देश की बात समझाता है कि 'हे मेघ ! तुम्हारे पहुँचनेपर यदि उसे कुछ भी

वह भाषाद शुपल एकादशीको अलंकार पहुँच जाता है। इसीलिए यश कहता है कि आश्वमेध योष
चार मास तुम किसी-किसी प्रकार आँख मूँद कर बिता लो।

हनुमानजी जब सीताजीकी खोजमें निकले थे तो उनके भगवान् श्रीरामने अपनी भंगूठी
पहचानके लिए दी थी बल्कि यशने केवल गोत्रस्मरणकी एक पटनाका उल्लेख पहचानके लिए
सन्देशके साथ मेघको बता दिया है जिससे यशिश्वीको अविश्वास न हो। आगे कालिदासने भी
विरहमें ही प्रेमकी प्राकृतिका वर्णन करते हुए कहा है—

स्नेहानाह किमपि विरहे ध्वसिमस्ते त्वमोगात् ।

दिष्टे वस्तुन्युपचितरसा प्रेमराशोभवन्ति ॥

[उत्तरमेघ, ५५]

[न जाने सोग क्यों कहा करते हैं कि विरहमें प्रेम कम हो जाता है। सच्ची बात तो यह है
कि जब पाही हुई वस्तु नहीं मिलती तभी उसके पानेके लिए प्यास बढ़ जाती है और प्रेम ठेर होकर
इकट्ठा हो जाता है।]

यह सन्देश देकर उसने मेघसे प्रार्थना की है कि मेरी प्रियतमाको डाँटत बँधाकर उसके
कुशल-समाचार पाकर और उससे अभिज्ञान लेकर तुम यहाँ लौट आना और मेरे प्राणोंकी रक्षा
करना।

यश इतना चतुर है कि वह मेघकी स्वीकृतिकी भी बिना मही करता और पूछता है—
हे मेघ ! तुमने मेरा काम करना निश्चय किया है या नहीं। पर इससे यह न समझ बैठना कि
तुम्हारी स्वीकृति लेकर ही मैं तुम्हें इस कामके योग्य समझूँगा क्योंकि तुम तो चातकके माँगने पर
बिना कुछ कहे ही जल दे देते हो इसलिये—

प्राप्तुक्त हि प्रणमिपुस्तानीप्सितार्थकिर्षय ।

[उत्तरमेघ, ५७]

[सज्जनोकी रीति ही यह है कि दूसरेका काम पूरा करना ही उनका उत्तर होता है।] और
इसके पश्चात् वह मगल कामना करता हुआ कहता है कि 'चाहे बिजलाके नाते चाहे मुम्भर कृपा
करके तुम पहले मेरा प्यारा काम कर देना और फिर अपना बरसाती रूप लेकर जहाँ मन चाहे
वहाँ पूनमा। मैं यही मनाता हूँ कि प्यारी बिजलीके एक क्षणके लिए भी तुम्हारा वियोग न हो।

इस प्रकार 'भाषादस्य प्रथम दिवसे' चित्रकूट पर्वत पर खड़े हुए मेघको देखकर यशके मनमें
कालिदासने उसे दूत बनाने की वासना जगाकर विश्वमें—विशेषतः भारतीय साहित्यमें—
दूत-काव्यकी अत्यन्त स्पृहणीय परंपरा बाँध दी जिसके अनुसरणपर अनेक कवियोंने अनेक दूत-काव्य
लिखे बल्कि भृङ्गार रससे ओजश्रोत बनस्पति और मानव प्रकृति तथा जट प्रकृतिकी सूक्ष्म निरीक्षण
भावनासे भरा हुआ यदि कोई दूत-काव्य ससारमें सफल हो सका और लोकप्रियता प्राप्त कर सका
तो यह महाकवि कालिदासका अद्वितीय काव्य मेघदूत ही है।

मेघदूतका अध्ययन—शिवका स्वरूप

[भा० श्रीवासुदेवसरण भगवानल, प्राध्यापक, बाघी हिन्दू विश्वविद्यालय]

पंडितोंकी दृष्टिमें मेघदूत-नाट्यका सधर्म कुछ भी हो, स्वयं कालिदासने मेघदूतमें बड़े कौशलसे शिवके स्वरूपका सन्निवेश कर दिया है। उसके उद्गमविर्गके वर्णनमें महाकाल शिवके पुष्पधामका शिवके गणोंका, उनके नीलकण्ठ गुणका, शिवजीके नृत्यका तथा उसके आरम्भमें गङ्गासुरकी कृतिके परिधानका उल्लेख है [मे० १।४०] शंकरको शूनी कहकर उनके शिघ्रलवी और भी सकेत है। नदी, मवानो और गौरीके गाय भी हैं। शिवजीके शट्टहासका [मे० १।६२], उनकी जटाओंमें बल्लोल करती हुई जल्लु तथावाका तथा पार्वतीके साथ गंगाके उपलब्धि-भावका भी वर्णन है [मे० १।५४]। शङ्खके गुणगाका, पार्वतीके साथ उनके विहारका, [मे० १।६४], कुवेरके साथ उनकी मंत्रीका, मित्रारिषोन्धरा उनके यज्ञोपानका, त्रिपुरकी विजयका एव उनके वृषभका भी वर्णन है। शिवजी भिनयन हैं [मे० १।५६], उनके ललाटपर द्वितीयाके चन्द्रमाकी बत्ता है [मे० १।५६], मदनका वे दहन कर चुके हैं, इसलिये जहाँ शिवका निवास है वहाँ वामदेव जानेसे डरता है। देवागनामोंके दर्पणके समान वाममें आनेवाले रजतगिरि कैलासके उत्तरमें तो मालकापुरी हो बसी हुई है। शिवजी पशुपति हैं [१।६०], उनके चरण म्पासकी परिक्रमा और दर्शन करके भद्रानु जन सिंहर पद पर्याप्त भगवदुत्तिमय मोक्ष पानमें समर्थ होते हैं [मे० १।५६] जो शिवके प्रथम आदि गणोंका स्थान है।

स्वामिशक्तिकेय और उनके जन्मका भी उल्लेख कविने किया है। शक्तिकेय स्कंद क्या हैं ? शिवजीका जो सूर्यसे भी अधिप प्रगाद्याली तेज है वही शक्तिके मुखमें संचित होकर कुमारके रूपमें प्रकट हुआ है। अस्मादित्य द्रुतबहमुखे सभृत तद्धि तेज, मे० १।४७]। कुमारका निवास स्थान देवगिरि है, मेघको वहाँ जाकर गुप्ताकार जलविन्दु बरसानेका आदेश है क्योंकि स्वन्दका जन्म देवासुर-रागाममें देवसेनानी रक्षाके लिये हुआ था, इसलिये वे पूजाकी भजतिके अधिकारी हैं। कालिदासने स्कन्दके भयूरजो भी स्मरण किया है। पुत्रके शक्तिसय प्रेमने कारण मवानी पार्वती कुमारके वाहन मयूरके गिरे हुए पक्षको कान्ता मल्लवार बनाकर पहनती हैं। उस मयूरकी वृक्षके द्वारा आनन्दित करनेका भी मेघको परामर्श है। इस प्रकार अनेक प्रकारसे वृषराजकेतन शिवके स्वरूपका निर्देश कालिदासने मेघदूतमें किया है। इस स्वरूपपर विरक्त विचार करनेकी आवश्यकता है।

कविने अनुसार मेघ तो वायव्य पुरुष है और हरने अपने कोपानलसे कामको भस्म कर दिया था, इसलिये भी शिव और कृपात्मक मेघका अनिष्ट सम्बन्ध है। वस्तुतः कालिदासका सम्पूर्ण दार्शनिक विज्ञान शिवके स्वरूपके पीछे छिपा हुआ है। शिव, पार्वती और कुमार कौन हैं, इसपर सूक्ष्म विचार कर लेनेसे हम केवल कालिदासके ही नहीं, वरन् अन्य भारतीय साहित्यके

शिवात्मोरो भी सहानुभूतिके साथ समझ सकेंगे। कालिदास उल्टा बोटिके घट्टैतवादको माननेवाले थे। वेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्मको ही वे शिव कहते हैं। ब्रह्मकी शिव सभा वेदोंमें भी गई स्पष्टोपर आई है—

नमः तन्मयाय च मनोमयाय च नमः एकरात्राय च सत्यस्माराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥

[मनु १६।४१]

यही शिवके शम्भु, दाबर, महाकर, मनोभव नाम आए हैं। कालिदासने जिसकी बसत सत्तावा बराबर गुलुगुलु किया है। जो ब्रह्म सब लोकोंका अधिष्ठाता है, जिसकी आत्मशक्ति अपने गुणोंसे मुक्त होकर प्रकृतिकी रचना और उसके निरन्तरता कायं करती रहती है, वही अमर्यादा, भज स्वयम्भू, परमपति, [रघुपञ्च २।३६] भूतपति महेश हैं। जिन पर स्वरूपकी स्तुति कालिदासने अनुमानके मगल-स्तोत्रमें की है वे ही शीताने भी हैं—

मृमिरापोजतो वायु रत मनो बुद्धिरेव च ।

महेश्वर इतीय मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ७।४॥

[पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन बुद्धि और महेश्वर, इन साठ रूपोंमें वैरी प्रकृति विभाजित है।] कविने स्वयम्भू, विष्णु और शिव, इस त्रिमूर्तिके घट्टे भावना भी प्रतिपादन किया है। ब्रह्माका चलन करते समय उन्होंने स्पष्ट कहा है कि वे शिव, ब्रह्मा और विष्णुमें कोई भेद नहीं मानते [कुमारसम्भव २।४]।

कालिदासके दार्शनिक मतमें एक अलख सुख और घट्टे ब्रह्म ही परम तत्त्व है। उनकी निवेद-रुमियों उपनिषदोंके उमान ब्रह्मा सरस और निर्भीक प्रतिपादन करने जाती हैं। रघुपञ्चने दशम सर्गमें [१६ से ३२ तक] शीतलपर-स्वयं अनाहमनस-शेखर शेषासीन विष्णु भगवानको प्रणाम करके देव लोग उनकी स्तुति करते हैं।

शिव, विष्णु और ब्रह्मके जो गृह-गृह-चलन कालिदासने किए हैं उनमें भी अमर्यादा-सामर्थ्य भाव और पर है। शिवका घट्टे स्वरूप कुमारसम्भवके अनेक श्लोकोंमें आया है—

कलितान्योन्यसामर्प्यं वृषिष्वादिभिरारम्यम् ।

येनैव प्रियते विरवः पुर्ययानमिवाव्यभि । [कुमार-सम्भव, ६।७६]

शिव विश्वगुणोंका [कु० ६।८२], विश्वात्मा [कु० ६।८८], सैलोक्य-मन्य [कु० ७।५४] और लोकोविचारोंके मनपट्ट [कु० ७।४८] हैं। वह शिव किसीकी स्तुति नहीं करता, उसकी सब स्तुति करते हैं, वह किसीकी बदना नहीं करता, उसकी सब बदना करते हैं [कु० ६।८३], वह जानूँगा अमर्याद और मनोरमोंका अधिपति है। [कु० ६।१७], बाकी मन और बुद्धिने वही पट्टे नहीं हैं, उसकी तत्त्व कीन जान सक्ता है ?

वि देन मृजनि व्यनभुत येन विप्रयि तत् ।

अथ विदवस्य महर्ना भागः नम एष ते ॥ [कु० म०, ६।३२]

उसने घट्टेका प्रतिपादन करके कालिदास आगे बढ़ते हैं। जो घनत पुरुष लोक-लोकान्तर्गत अधिष्ठाता है, वही हमारे आत्म-तत्त्वके प्रतिष्ठित है शीताने जिसे अक्षर कहा है [अक्षर परम ब्रह्म, सो० ८।३] उसने और हृदय-देवमें स्थित आन्तरिक बोई भेद नहीं है। शीताने शेष-शेष विचार कालिदासको मान्य है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ [गीता, १३।१]

क्षेत्रज्ञ चापि मा-विद्धि सर्वं क्षेत्रेषु भारत ।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

[हे अर्जुन ! इसी शरीरको क्षेत्र कहते हैं । इस क्षेत्रको जो जानता है उसे इस शास्त्रको जानने-वाले क्षेत्रज्ञ कहते हैं । हे भारत ! सब क्षेत्रमें क्षेत्रज्ञ मुझे ही समझो । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है वही मेरा ज्ञान माना गया है ।] इस प्रकार गीताके अधर, क्षेत्रज्ञ, तद्विद् प्रादि शब्द भी काव्यशान्ति के लिए हैं—

यमदार क्षेत्रज्ञो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् । [कुमार०, १।५०]

योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्त्तिनम् ।

धनावृत्तिमयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः ॥ [कुमार०, १।७७]

कालिदासने उसी योगसाधना-मायंका वर्णन किया है जिसका प्रतिपादन गीतामें है—

‘योग्यासी पुरुष एषे शुद्ध आसनपर ध्यना स्थिर प्राशन लगावे जो न बहुत ऊंचा हो न नीचा ।

उपर पहले दर्भ और फिर मृषलासा और घस्र विछावे । वहाँ चित्त और इन्द्रियोका व्यापार रोक्कर तमा मनको एकाग्र करके आत्म-शुद्धिके लिये आसनपर बैठकर योगका ध्यानास करे ।

काय ध्यात् पीठ मस्तक और पीवाको सम करके स्थिर होता हुआ, दिशाप्रोक्तो न बने और नासिकासे अग्र भागपर दृष्टि जमावे । मायुर्हित स्थानसे रखे हुए बीपककी ज्योति जैसे निश्चल होती है, वही उपमा चित्तको सयत करके योगाभ्यास करनेवाले योगीकी भी दी जाती है । योगानुष्ठानसे निश्चल हुआ चित्त स्वयं आत्माको देखकर आत्मामें ही समुष्ट हो रहता है.....।

इसकी तुलना कुमारसमय [१ । ४४-५०] से करनी चाहिए—

स देवदाहदुर्मदेविकाया शार्दूलचर्मव्यवधानवस्थाया ।

भासीनभासप्रशरीरपातस्मन्वकं सयमिनं ददर्श ॥

पर्मकवम्भस्थिरपूर्वकायमृज्ज्वागतं सन्ममितायपासम् ।

उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात् प्रकुत्सराजीवमिवाकमण्ये ॥

शुक्लमोमद्वयजटाकलापं कण्ठविषक्तं द्विगुणसमूहम् ।

कठप्रभा-सम-विशेषनीला कृष्णत्वचं चन्पिमयीं दधाम् ॥

निजिप्रभाशान्तिमितीव्रनारैर्ध्रुवक्रियाया निरतप्रसवं ।

नेत्रैरविस्फन्दितपद्ममार्तलैर्योज्यैश्चतस्राणामधोमधूर्तं ॥

प्रभृष्टिसरम्भमिवाम्बुवाहपामिवाधारमनुत्तरम् ।

अन्तरचराणामदृता निरोधानिर्वातनिष्पन्पमिव प्रदीपम् ॥

एपातनेवान्तरस्यमार्गज्योतिः प्ररोहेरदितिं शिरस्तः ।

मृणालभूषाधिकं सौकुमार्यां बालस्य सारमो म्लपयन्तमिन्दो ॥

मनोनवद्वारनिगिद्धाङ्गं हृदि व्यक्ताप्य सपाधिवस्यम् ।

यमदार क्षेत्रज्ञो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥

“आसन्न-मृत्यु वामने देवदारुशोभे धनोभागमे वनी हुई वेदीपर बाधाम्बर पिछानर बैठे हुए समाधिनिष्ठ शिवजी देखा। वे बीरासनसे धारीले ऊर्ध्व भागको निश्चल करके मेरुदण्ड सीधा ताने हुए थे, उनके दोनों हाथ-प्रदेश कुछ आगेकी ओर हुए थे, हथेलीयों ऊपर रखी हुई हथेलीको प्रकुल कमलमे समान धनमे घास लिए हुए थे। भुजगोसे लिपटी हुई जटाशोवाले, वानोसे लटवती हुई हुहरी रक्षा माताशोवाले नीलकण्ठी प्रभाके मिलनेसे विवृद्ध वान्तिवामी कृष्ण भृग-छाया गलेमे गाँठ लगाकर पहने हुए चाकरजी, नीचे छूटती हुई प्रवासी की किरणोवाले उन मेघोसे नासिकाके ध्रुवभागको देख रहे थे, जिन मन्द प्रकाशसे मुक्त नेत्रोकी उग्र पुतलियाँ निश्चल थी, जो भूविशेषमे घनातल से तथा जिनका निमेषोन्मेष नाच भी बन्द था। दृष्टि-सशोभसे रहित मेघों समान तथा तरंग रहित तालवे समान प्रासापावादि धारीरूप बाधुशोभा निरोध करके वे निष्काम्य प्रवृत्तकी भाँति स्थित थे। कपालस्य विवृद्धि मार्गसे भीतर प्रवेश पाकर सिरपर छूटती हुई तेजकी किरणें धमकते भी अक्षिज कोमल हनुकी काँतिको फीकी कर रही थी। इस प्रकार प्रणिमानसे घामे किये हुए मनषे, समस्त इन्द्रियोकी वृत्तियोसे हठावर, हृदय देशमे अधिष्ठित करने उस परमात्म-वत्त्वको आत्माने ही प्रत्यक्ष कर रहे थे, जिसे क्षेपविद् लोग 'मूढत्व' कहा कहते हैं।

शिव, विष्णु और ब्रह्माका अद्वैतभाव, शिव और ब्रह्मस्य आत्माका साक्षात्त्व और योग-द्वारा उस अक्षर ब्रह्मका साक्षात्कार ही वासिदानका धार्मिक मन्त्र है।

शिवके द्वारा मदन-दहनका रहस्य

शिव जिस समय आत्म-प्रत्यक्ष करना चाहते हैं, उस समय काम उनके मार्गमे विघ्न करता है। उस कामको वे अपने धनमे करते हैं। मोक्ष-मार्ग करनेसे पूर्व भगवान् बुद्धको भी मार-विषय करना पड़ा था। काम और शिवका सम्बन्ध अत्यन्त गतिष्ठ है। कामकी सभा वृष है, वृष नाम नैमेषा है। मेघ ही वृषाकर्म इन्द्रका कामरूप पुरुष है, धर्वात् वृष, नाम भी मेघ एक ही वत्त्वके नामान्तर हैं। जिस मेघको दूत कल्पित करने का अपने बायोहारोका प्रवास करता है, उसको बारम्बार परामना है कि वह शिवको प्रसन्न करे भक्तिके तथा होकर हर-वराण्मातकी परिग्रमा करे तथा अपना स्निग्ध यमीर घोष, पशुपतिके संगीत-साजके धाममे लाये। कामका निषेध करनेवाले। शिव, कामसे किस प्रकार प्रसन्न हो सकते हैं, इसका उत्तर शिव-धार्मिकोंका विषय है। धर्वात् सुपुष्पा नाडीका नाम है। मेरुदण्ड हिमालय है, इसीसे भीतर सुपुष्पा है। इस मेरुदण्डमे दूध पक और तंबूष पर्व यह अस्ति-शोर है। वे शोर एक दूसरेसे सटे रहते हैं। मेघ ही पर्वत है [पर्वति सन्वयस्य]। उस पर्वतके भीतर रहनेवाली सुपुष्पा पर्वतराजकी पुत्री धर्वात्ती है। अस्ति शोरोके भीतर एक छिद्र है, पर्वति परस्पर मिलनेसे वह रुद्र, दीर्घ नविकावार हो जाता है। इसीके भीतर सुपुष्पा नाडी है। वह नाडी अस्ति-रूपसे होती हुई पृष्ठ-धाममे अवस्थित होकर समीचीनके मूलाधार तक चल आती है। धर्वात्तिके भीतर पहले रवेत, फिर विभूति गणका

१. शिवकी पुत्री लाके चरन्तर एव च।

२. महाविष्णु धर्मन बृहत्संहिता उ-५४ ॥ श्लो १२१-२५

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ [गीता, १३।१]

क्षेत्रज्ञं चापि मा-विद्धि सर्वं क्षेत्रेषु भारत ।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं भक्तज्ञानं मतं मम ॥२॥

[हे प्रजुन ! इसी शरीरको क्षेत्र कहते हैं । इस क्षेत्रको जो जानता है उसे इस शास्त्रको जानने-वाले क्षेत्रज्ञ कहते हैं । हे भारत । सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मुझे ही समझो । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञता जो ज्ञान है वही मेरा ज्ञान माना गया है ।] इस प्रकार गीताने ध्वजार, क्षेत्रज्ञ, तद्विदः आदि शब्द भी कालिदासे से लिए हैं—

यमदार क्षेत्रनिन्दो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् । [कुमार०, १।५०]

योगिनो यं विचिन्मन्ति क्षेत्राम्यन्तरवर्तिनम् ।

अनादृशिमयं यद्यं पदमाहुर्मनीषिणः ॥ [कुमार०, १।७७]

कालिदासे उसी योगसाधना-मार्गका वर्णन किया है जिसका प्रतिपादन गीताने है—

‘योगाभ्यासी पुरुष एते शुद्धासनपरं अपना स्थिरं आसनं लगावे धो न बहुत ऊँचा हो न नीचा । उसपर पहले दर्भ और फिर मृगछाला और वस्त्र बिछावे । वहाँ चित्त और इन्द्रियोका व्यापार रोककर तथा मनको एकाग्र करके आत्म-शुद्धिके लिये आसनपर बैठकर योगका अभ्यास करे ।

कथं धर्मात् पीठं मस्तकं और श्रोत्राको सम करके स्थिर होता हुआ, दिशाओंको न देखे और नासिकाके धम्र भागपर दृष्टि जमावे । वायुरहित स्वागते रखे हुए दीपककी ज्योति जैसे निश्चल होती है, वही उपमा चित्तको तपत करके योगाभ्यास करनेवाले योगीकी भी दी जाती है । योगागु-प्यानसे निरुद्ध हुआ चित्त स्वयं आत्माको देखकर आत्मामे ही सतुष्ट हो रहता है . . ।

इसकी तुलना कुमारसम [३ । ४४-४०] से करनी चाहिए—

तं देवदारुद्रुमवेदिकामां शार्ङ्गलचर्मव्यवधानवत्त्वाम् ।

आसीनमासप्रशयरीपातस्थान्यकं सयमिदं ददर्श ॥

पर्यंकवन्धस्थिरपूर्वकाममृग्यायतं सन्नमितौ भवाद्यम् ।

उत्तानपाशिद्वयसन्निवेशात् प्रफुल्लराजोवमिवाकण्ठ्ये ॥

भुजगमोम्रद्वन्द्वानलापं यज्जानिसक्तं द्विगुणासगूत्रम् ।

कठप्रमा-सनं विशेषनीला कृष्णत्वणं यन्निभती दधानम् ॥

किञ्चित्प्रकाशरितमितोश्चतारैर्भूनिद्रियायां विरतप्रसङ्गं ।

नेत्रैरविस्पन्दितपल्लवमालैर्लक्ष्मीकृतव्याघ्रमधोमयूले ॥

अदृष्टिसरम्भमिवाभ्युवाहमपामिवावात्मनुत्तरगम् ।

अन्तश्चराणां यस्तां निरोषान्निवर्तिनिकम्पमिव प्रदोषम् ॥

कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गज्योतिं प्ररोहैरुदितं शिरस्तं ।

मृणालसूत्राधिकसौकुमार्यां बालस्य लक्ष्मीं व्यपयन्तमिन्दो ॥

अनोनवद्वारनिषिद्धवृत्तिं हृदि व्यवस्थाप्य सप्ताधिवस्त्रम् ।

यमदार क्षेत्रनिन्दो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥

" भ्रातृन्मृत्यु कामने देवदास्योके ग्रयोभागे वनी हुई वेदीपर बाधाम्बर विद्यावर बैठे हुए समाधिनिष्ठ शिवको देखा । वे वीरासनसे शरीरके ऊर्ध्व भागको निश्चल करके मेरुपद्म सीधा ताने हुए थे, उनके दोनों रक्षण्य-प्रदेश गुच्छ छागेनो झुके हुए थे, हृष्यलोके ऊपर रखी हुई हृष्यलोको प्रफुल्ल वमलने समान भवने पारण किए हुए थे । भुजगोसे लिपटी हुई जटाधोवाले, कानोंसे लटकती हुई दुहरी रत्नाक्ष माताधोवाले नीलकण्ठी प्रभाके मिलनेसे विबुद्ध वाग्निवासी कृष्ण भृग-प्राप्ता गलेमें गोट कपाबर पहने हुए शकरजी, नीचे छूटती हुई प्रकाशकी निरणोवाले उन नेत्रोंसे वाय्विकके मध्यभागको देख रहे थे, जिन मन्द प्रकाशसे युक्त नेत्रोंकी जय पुतलियां निश्चल थी, जो भ्रूविशेषसे भ्रातृसक्त थे तथा जिनका निवेद्योन्मेष कार्य भी मन्द था । वृष्टि-सक्षोमसे रहित मेघने समान तथा तरंग रहित साक्षके समान प्राज्ञापानादि शरीरस्व भावधोवा निरोध करके वे निष्काम प्रदीपकी भांति स्थिता थे । वपास्य विवृति-मार्गसे भीतर प्रवेश पाकर सिरपर फूटती हुई तैलकी किरणें जलसे भी घमिर कोमल हनुकी वाग्निसे फीकी कर रही थी । इस प्रकार प्रणिधानसे वसने विधे हुए गणको, रामस्त इन्द्रियोंकी वृत्तिसे हटाकर, हृदय-वेशने अधिष्ठित करके उस परमात्म-तत्त्वको आत्मामे ही प्रत्यक्ष कर रहे थे, जिसे शेषविद् लोग फूटस्व^१ ब्रह्म कहते हैं ।

शिव, विष्णु और ब्रह्माका भद्रतभाव, शिव और ब्रह्मस्व आस्थाका तदात्म्य और योग-द्वारा उस अक्षर ब्रह्मका साक्षात्कार ही कानिदासका दार्शनिक मत है ।

शिवके द्वारा मदन-दहनका रहस्य

शिव जिस समय आत्म-अवस्था करना चाहते हैं, उस समय काम उनके मार्गमें विघ्न करता है । उस कामको वे अपने वशमें करते हैं । बोधिन्तास करनेसे पूर्व भगवान् मुक्तको भी मार-विजय करना पड़ा था । काम और शिवका सम्बन्ध अत्यन्त अनिष्ट है । कामकी सत्ता वृष है, वृष नाम नेत्रवा है । मेघ ही वृषाक्षि इन्द्रका कामरूप पुरुष है, अर्थात् वृष, काम और मेघ एक ही तत्त्वके नामान्तर हैं । जिस मेघको वृत्त वरिष्ठ करने वश अपने कामोद्धारके प्रकाश करता है, उसको बारम्बार परामर्श है कि वह शिवको प्रसन्न करे भक्तिसे गल होकर हर-चरगुन्यासकी परीक्षा करे तथा अपना स्विम्प यभीर घोष, पशुपतिके सपीत-साजके काममें लावे । कामका निग्रह करनेवाले । शिव, कामसे किस प्रकार प्रसन्न हो सक्ते हैं, इसका उत्तर शिव-पार्वतीका विवाह है । पार्वती सुपुण्या नाखीका नाम है । मेघदह हिमालय है, इसीके भीतर सुपुण्या है । इस मेघदहमें छद्म चक्र और तैत्तिष पर्व या पस्वि-गोर हैं । ये गोर एक दूसरेसे सटे रहते हैं । मेघ ही पर्वत है [पर्वणि सन्त्यस्य] । उस पर्वतके भीतर रहनेवाली सुपुण्या पर्वतराजकी पुत्री पार्वती है । पस्वि-गोरीके भीतर एक छिद्र है, पर्वणि परस्पर मिलनेसे वह रन्ध्र, दीर्घ भस्मिकाकार हो जाता है । इसीके भीतर सुपुण्या नाखी है । वह नाखी भस्मिकसे होती हुई वृष्ट-वसामे अवसृत होकर सबसे नीचेके मूलाधार चक्र तक आती है । पर्वण्यिके भीतर पहले श्वेन, फिर विभूति यशका

भूरा मज्जामय पदार्थ भरा रहता है जो मस्तिष्कके कोशोंमें भी पाया जाता है। इसी मज्जामय सुषुम्णाके भीतर एक भूषम विवर है जो नीचेसे ऊपर तक भागते रहता है। सुषुम्णाके बाईं ओर दहा और दक्षिण ओर विंगला नाम की नाडियाँ हैं जो सुषुम्नामे सबद्ध रहती हैं और सहस्र जालसे फैलती हुई अन्तर्मे कपालस्थ आज्ञाचक्रमे सुषुम्णासे मिल जाती हैं। ये नाडियाँ सब प्राणकी वाहिका हैं और प्राण ही जीवन-तत्त्व है।

भौतिक पक्षमे इस प्राणके आधार मे सब नाडी-जाल और पद् चक्र हैं। नाडियोंकी सूक्ष्मताकी कोई सीमा नहीं है। उनकी संख्या योग-शास्त्रके अनुसार ७२००० है। वस्तुतः प्राधुनिक शरीर-शास्त्रीके लिये भी सगरत नाडी-संख्याका निर्धारण कठिन है। इन सबमे मुख्य सुषुम्णा ही है। स्थूल-शरीर-विज्ञान जीवन-तत्त्वके भौतिक आधारका ही परिचय पा सका है, उसका भोग्यतन [किजियो लौजिकल] रूप प्रयोग-साध्य है। परन्तु योग-विद्या मानसिक पक्षमे भी प्राणकी गतिका निर्देश और सूक्ष्म परिचय कराती है। इसीलिये भौतिक प्रयोगसे जिस वस्तुका ज्ञान नहीं हो जाता, ध्यानमे उन्हीं शारीरिक रहस्योंका मानसिक क्रियामोके साथ प्रत्यक्ष हो जाता है। तन्मग्न्योमे इसके दो प्रकारसे वर्णन मिलते हैं। कहीं तो भोग्यतन-पक्षमे शरीर सपठनमे जीवन-तत्त्वका अभिष्टान हमभागेके लिये सुषुम्णा आदि सज्ञाभोसे काम लिया जाता है और कहीं उस वर्णनको प्राप्तिमिक स्वरूप देकर शिव, पार्वती, कुमार, प्रमथ आदि सज्ञाएँ कल्पित करके योग-प्रत्यक्षको शब्दों-द्वारा प्रकट किया जाता है। पद् चक्रोका स्थान और क्रम इस प्रकार है—

१. मूलाधार [फौलसीजियल रीजन]—इसका संयोग गुदासे है। इसमे चार पर्व (वर्ति-वर्त) हैं जो कि ऊपरके पर्वोंकी अपेक्षा छोटे और बगुण दशांगे हैं। वे चारो पृथक् पृथक् स्फुट स्वरूपके न होकर एक ही अस्तिवसे प्रतीत होते हैं जिसे अंग्रेजीमे कौक्लिपस कहते हैं। कौक्ला अस्ति भी यही बात होती है। कूटलिनी शक्ति यही निवास करती है। शिव-भारवतीके विवाहमे कूटलिनीको जगाकर ही ब्रह्मांड या मस्तिष्कमे ले जाते हैं। इसीको योगकी परिभाषामे सपिण्डी कहते हैं क्योंकि यह सपिण्डीकी भाँति कूटल मारकर छोड़ी रहती है। मूलाधारमे धृष्टी तत्त्वका स्थान है।

२. स्वाधिष्ठान [सेकल रीजन]—इसका अभिष्टान त्रिगुमे है। इसमे पाँच पर्व हैं। ये पाँचो भी एक ही अस्तिमे जुड़े रहते हैं जिसे अंग्रेजीमे सेकल कहते हैं। इन्हीं दोनो अस्तिमोके ती पर्वोंको निकालकर प्राधुनिक शरीर-शास्त्री, मेरुदण्डमे २४ अस्तिमोरोखी गणना करते हैं। पर भारतीयोंने इस शक्तिको तीसरी पर्वसे युक्त ही माना है। स्वाधिष्ठान चक्रमे जल-तत्त्वका अभिष्टान है।

३. मणिपूर [सम्बर रीजन]—इसका स्थान नाभि है और मेरुदण्डके इस भागमे ५ पर्व हैं। तेज इसका तत्त्व है। इन तीन चक्रोंका भेद कर नेगेपर योगी विराट् भावसे युक्त हो जाता है, उसकी मोह-निद्रा टूट जाती है।

४. अनाहत [ओसल रीजन]—मेरुदण्डमे १२ पर्वोंवाला यह चक्र हृदयमे स्थित है। यहाँ वायु तत्त्वका स्थान है।

५. विशुद्ध चक्र [सर्विक रीजन]। इसमे सात पर्व हैं और यह शीर्षामे स्थित है। यही योग-शास्त्रगुणक शब्दका जन्म होता है। इसके भेद करनेपर योगीने आकाश तत्त्वपर विजय प्राप्त हो जाती है।

६. माताचक्र—मस्तिष्क प्रदेशके भ्रूमध्य या त्रिजुटीमें योगी इसका स्थान मानते हैं। यहाँ सुषुम्णाका भ्रन्त हो जाता है। यहाँ मन, बुद्धि और ग्रहकारका निवास है। इसी स्थानपर ज्ञान-पशु है जो तृतीय नेत्र है। यही शिवका वास है।

जब योगी पाँच चक्रोंको सिद्ध कर लेता है, तब उसे काम-बाधा नहीं सता सकती। शिवको शिवे कालिदासने कहा—‘ग्रसरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात्’, अर्थात् मदनके निग्रहके कारण रूप या सौन्दर्य जगने चित्तको महो हर सकता। पहले शिवने मदनको भस्म कर डाला है [गस्मादसेष मदन चकार] तभी ये पार्वतीके साथ विवाह करके पञ्चानन कुमारको जन्म देते हैं। आशा-चक्रसे ऊपर सहस्रदल-चक्र [सिरेयस रीजन] है जहाँपर साक्षात् शिव निवास करते हैं।

कुमारका जन्म शिवके स्वन्दित तेजसे होता है। यह तेज पार्वती रूपी सुषुम्णामें निक्षिप्त होकर क्रमशः छत्रो^१ चक्रों के द्वारा पुष्ट और साक्षित होता हुआ स्कन्दको जन्म देता है जो इसी कारण छह माताओंके पुत्र या पाण्मातुर कहे गए हैं। कालिदासने मेघदूतमें स्कन्दके जन्मका रहस्य सूत्र रूपमें मिल दिया है—

तत्र स्कन्द नियतवर्त्तित पुष्पमेघीकृतात्मा

पुष्पासारं रनपयतु भवाग्न्योभवाग्निसार्त्रं ।

रसाहेतोर्नवशशिभृता वासवीना चमूना-

मयादित्य हृतवहमुषे सभृत तद्धि तेज ॥१४७॥

[बड़ा देवगिरिपर बसनेवाले कुमारको अपना अभ्र-पुष्पात्मक रूप बनाकर प्रकाशगमने सीधी हुई पुष्पवृष्टिसे स्नान कराना। देवसेनाकी रसाके हेतु पावकके मुखमें संचित सूर्यसे भी अधिक प्रभाशाली शिवका तेज ही कुमार है —

मायादित्य हृतवहमुषे सभृत तद्धि तेज ।]

यही स्कन्दकी परिभाषा है। हृतवह अर्थात् अग्नि नामक सुषुम्णाके मुखमें सूर्यसे भी अधिक प्रकाशित शिवका तेज ही स्कन्द है। क्रोधोमें स्कन्दकी पत्नीका नाम देवसेना है। इन्द्रियोंकी सार्विक और सामिक वृत्तिमोका द्वन्द्व देवासुर-संग्राम है। जब सत्रोगुरी इन्द्रियाँ कामसे हारने लगती हैं, तब वे समाधिमें बैठे हुए शिवसे प्रार्थना करती हैं कि वे उन्हें एक सेनापति दें। देवोंने भी यही कहा है—

१. सुसुम्नः। सुसुम्न=आनन्दः। पुत्र अभिषेधे प्राप्तो सुसुम्नः जनकः है। स्कन्द केन्द्रके पर्याय स्कन्द भवेत् सौम्यः है। लोकमें स्कन्दका सम्बन्ध तब की सत्त्वशक्ति से—वचनन, स्कन्द-वटी। आकाशकला जो चित्र श्री आर्षे श्वेतने दिवा है जगमें कुमार पञ्चानन दिखाए गए हैं।

२. स्कन्द सुषुम्णा नासोमें ही रहते हैं। शरीर विज्ञानमें सुषुम्णाके पाँच स्वाभाविक विभाग दो बंध हैं, द्वाद सत्त्वो ऊपर है जहाँ सुषुम्णा (स्वायत्त कोर्ट), कौन रजः (मैगनाम फोरमेन, अर्थात् बड़े खेद) में होती हुई मस्तिष्क या मत्तायुद्धमें फैल जाती है। इस पाँच चक्रोंकी शक्तिप्रवाहिकी शक्तिशाली सम्बन्ध क्रमशः गुहा, जिग, नाभि, हृदय और कठने है। उदाहरणके लिये मणिपूर चक्र, नाभि देशका नियन्त्रण करता है जो उसका स्थान सुषुम्णा में हो है। इसी प्रकार अन्यत्र भी है।

तदिच्छामो विभो स्रष्टु सेनान्य तस्य ज्ञान्ते । [कुमार०, २।११]

[उस असुरको परास्त करनेके लिये हम लोग एक सेनापति चाहते हैं ।] शिवजीने मदनको भस्म किया, तदुपरान्त जगन्नी तपस्यासे सुषुम्णा नाडी-द्वारा योगकी साधनासे शिव धीर पार्वतीका विवाह हुआ अर्थात् व्यक्तिकी चिदात्मिका शक्ति जो अधोमुखी थी वह अन्तर्मुखी होकर सहस्रारदलमें स्थित पर-बिन्दु शिवसे समुक्त हो जाती है, फिर विपरीति उसे कोई भय नहीं रहता । जो इन्द्रियाँ और तत्वोंको भय देती हैं, वे ही प्रमथोंके रूपमें शिवके पार्षद [परिपदि साधु] होकर रहती है । 'अस्यादित्य हृतयह मुखे समृत्त तद्वि तेज' को समझनेके लिये तीनो नाटियोंके नाम जान लेने चाहिएँ । सुषुम्णा=बह्नि स्वरूपा, सरस्वती, सोहित-गर्णा । इडा=बन्द-स्वरूपा, गंगा, सतीगुणी, कर्मत विग्रहा, पीत गर्णा । पिंगला=सूर्य-स्वरूपा, सजसदगर्णा, रौद्रात्मिका, यजिणी यमुना, राजगी ।

सुषुम्णाका नाम बह्नि या हुतवह है । इसीमें प्रपना तेज हवन करनेसे शिव यज्वा कहलाते हैं । साधनामें पुरपका तेज इसी बह्निसे मुखमें राखित होता रहता है और जब छोटी पत्रिका भेद पूरा हो जाता है तभी उस कुमारका जन्म होता है जिसकी अव्ययतामें देवताका कभी नहीं हासती । दुष्टाणिके अनुसार कुमार वे हैं जो आजन्म ब्रह्मचारी है ।

सहस्रारदलमें जो शिव है वे ही अक्षर तत्व हैं । वही समस्त ब्रह्मावकी चिद-शक्ति हैं । मूलाधार चक्रमें शक्तिपीठ है जहाँ व्यक्तिकी शक्ति निवास करती है । शक्तिके तीन फोण कहे गए हैं—इच्छा, ज्ञान और क्रिया । इच्छाका नाम त्रिपुर है । इनके मध्यमें बसनेवाली शक्ति त्रिपुरसुन्दरी वही गई है । इसी त्रिपुर या शिकोणमें कुटल मारकर शान्त बघनेवाली शक्ति श्री शम्भुगत कल्पना सपिणीकी है । इसीसे शिवके शरीरमें भुवय लिपटे रहते हैं और शिवको अद्विजलय धारण करीयाजा कहा गया है । कालिदासने कहा है—

हिरवा ठस्मिन् भुवग-वलय शम्भुना दत्तहस्ता ।

श्रीठासने यदि च विनरेत् पादचारेण गौरी ॥ [मेघ०, १।६४]

मूलाधारमें यह सपिणी शिवरूप ज्योतिके चारों ओर लिपटी रहती है, परन्तु प्राज्ञानक्रमे पहुँचकर जब शिव-पार्वतीका संयोग हो जाता है तब यह कुडलिसी पूरी खुल जाती है, मानो शिवजीने अपने सर्ववलयको त्याग दिने हो । जहाँतक शरीरशास्त्रों प्रत्यक्ष करनेका विषय है वहाँतक इस प्रकार शिवोणात्मिका शक्तिके रूपको अल्पशास्त्रों द्वारा हम नहीं देख सकते । मानस-प्रत्यक्षसे सम्मन्य रखनेवाली वस्तु, यत्र द्वारा कैसे जानी जा सकती है ? इसका दर्शन योगपक्षमें ध्यान

१ न उक्त गाथा जलकी रचना आशय-वर्तित है । उक्त तन्त्र ममूह, यद्विना त्रिगुणों और अतनुधर्मों धरित दोमेवागे सवेदनात्मक कृष्ण सौम्य तत्त्व वादवा टीस टीस पना आत्मनव नहीं लग्य सवा है । कुछ आदर्श नहीं यदि भारतवर्ष योवा ध्यानमें इत्यन्त अवल क संने हो । यह जो अमरत रखना चाहिये कि जेवनाका वा भौतिक आधार है वह उनके बहुत मोहे मत्त वा स्वरूपा परिचय कराता है । कुछ क्षण भोगायन पक्षमें ऐतनाका आधार वा कारक जगदी मूलको ही सर्वव्य मान बैठते हैं । जेवना [चिरात्मक शक्ति] मनोविज्ञानसे सम्बन्ध रखता है । भौतिक रचनामें उमवा कर्षण आधार मिलता है इत्यधिके भौतिक रचनाको उमका प्रमाण दण्ड नहीं मान सकते ।

द्वारा ही हो सकता है। ज्योति या तेजः स्फुलिंगके आकारका शिखरिण इसीका प्रतीक है। शिव इसी शक्तिके त्रिकोण या त्रिपुरी विजय करते हैं, इससे उनकी राज्ञा त्रिपुर-विजयी है। मेरुदण्ड स्त्री पर्वतके शिखर उसीके एक प्रदेशका नाम कंसास है। मेरुदण्डका ऊर्ध्व गिरा हो कंसास है जहाँ आशाचक्र है। वहाँ रंसासपर ही अलवापुरी है। कातिदास कहते हैं कि यहाँ कामदेव अपने पापपर धार नहीं चढ़ाता—

मत्वा देव धनपतिसस यत्र साक्षाद्वसन्त ।

प्रायश्चाप न नहति अयान्मन्मय पट्पदवधम् ॥ [मे०, २।१४]

[कंसासके उत्सवमें वसी हुई अलवापुरी त्रिपुरा साक्षात् निवास जानकर वहाँ कामको प्रणम्य भीरोपी डोरीवाला धनुष वाममें सानेका ग्राह्य नहीं होता।] ठीक भी है, आशा-चक्र-वत् सिद्धि प्राप्य योगीको वामबाधा नहीं सता सकती। इसीलिये यहाँ विनासकमें ही किन्नरियाँ मिलकर त्रिपुर-विजयके गीत गाती है—

सताभिन्निपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः । [मे०, १।६०]

यही धनपतिका मत किन्नर गाते है क्योंकि शिव और धनपतिके स्वयं-भाव है—

उदगायन्तु धनपतिषा किन्नर्यश्च सार्धम् ॥ [मे०, २।१०]

धनपति कुशेरका धनुषर वक्ष अवसर पाते ही अपने कामरूप पुरुषको शिवकी उपासना करनेका आदेश देता है। पार्यसीकी राज्ञा गृह, स्कन्दकी गृह और यक्षीकी गृहण है। इससे भी इनके परस्पर सम्बन्ध का संकेत मिलता है। यक्ष कामकी भूति है। उसने मेघोसे ही कामदेव दण्डका करता है। इस प्रकार पाण्डवे भरा हुआ पुरुष प्रवश्य ही गुह्यक या रक्षा करने योग्य है। वह अपनी रक्षाके लिये उस देवकी शरणमें जाता है जिसने कामकी भस्म कर दिया है, तब फिर जिसके धनपतिवत् रूपके सेवानो गृहका जन्म हुआ^१। शिवजी पिनाक-पाणि है—

अरुण-हर्षं मदनस्य निग्रहात् पिनाकपाणिः पतिमाप्नुमिक्वसि । [कुमार०, ५।४३]

पिनाकको शिवका धनुष कहते हैं। निग्रहमें पिनाकके अर्थ हैं—

रम्भ पिनाकमिति दण्डस्य । [नैगम का० १।४]

धर्मात् रम्भ और पिनाक दण्डके नाम है। यही यह भी सिखा है—

कृत्तिवासा पिनाक-हस्तोऽवततधन्येत्यपि निबन्धो भवति ।

पिनाक नाम मेरुदण्डका ही है। यही शिवका धनुष है। इस दण्डकार धनुषकी दो कोटियाँ, शिखर हैं। नीची कोटि गूसाधार चक्रमें हैं। वहाँ जो कूटचिन्ती पड़ी है, उसीको पिनाककी प्रत्यक्षा कल्पित करके उसके दूसरे शिखर शिव आशा-चक्रमें ले जाते हैं। यही धनुषकी प्रत्यक्षा चढ़ाना या अवतत-धनवा होना है। प्रायः धनुषकी प्रत्यक्षा खुली रहती है और ये दण्डकार होते हैं। जो पुरुष धनुष पर चित्त [डोरी] चढ़ा सकता है, वही उस धनुषका स्वामी माना जाता है। पिनाकको सबसे प्रथम शिलने प्राधिप्य किन्ना, इसलिये वे ही उस धनुषके स्वामी हैं।

१. गुरति रजि देवनेनाभिते गुर । द कम्भ अक्षिपु कम्भ म यक्ष । [मासुता शक्ति] [देवसेनाकी जो रक्षा करता है वह गुर दे और किन्नी अक्षिमें काम मरा रहता है वह यक्ष है ।]

शिवजीकी सजा खटपरशु है—

भूतेषु खटपरशुगिरीशो विरिणो मृद । [धर्मकोष]

घोर यही सजा भृगुपतिकी भी है। भृगुपतिकी सजा कौचदारण कालिदासने ही दी है—
हस्तदार भृगुपतिप्रसोक्तम् अक्षौचरत्नम् [मे०, १।६१]। कौचदारण सजा स्वमिकातिकेय^१ की भी है। इस प्रकार शिव, भृगुपति और कुमारका सम्बन्ध भी स्थापित होता है। शिव और कुमारसे कोई भेद नहीं है क्योंकि शिवका ही तेज कुमार है। यह भी प्रसिद्ध है कि कुमारको उत्पत्तिमें किसी लोकमें गर्भसे प्रायस्सबना नहीं हुई। वस्तुतः कालिदासने कुमारको अग्निमें मृक्षमें सभृत तेज लिखा है। फिर जो पिता शिवके पास है, वही अन्नपत्र नामक शिव-पशु खट परशुरामके पास भी था। इस प्रकार इन तीनोंमें सम्बन्ध प्रतीत होता है। योगकी साधनामें पट्चक्रके भेदनके समय प्राणको जिस रत्नमें होकर सुषुम्णा मस्तिष्कमें प्रवेश करती है वह द्वार ही कौच-रत्न है सुषुम्णा [स्वाइनल कौट] इसके घोर विभूति यहाँ पदार्थकी बनी हुई नाही है। वह मूलाधार चक्रके उदर, घाघेके चार चक्रोंमें होती हुई विद्युद्भि-पक्ष [सर्विकल रीजव] को पारकर मस्तिष्कमें फैल जाती है। सर्बिकल रीजवने प्रथम पश्चिम-पर्वतको धरणीमें घेदसह बड़ा जाता है, जो अपने ऊपर आकाश या घुलेकको उठाए हुए था। यहाँसे सुषुम्णा नाड़ी स्वाइनल बल्लमे होकर मस्तिष्कमें जाती है। इसीसे कौच पर्वत ही स्वाइनल बल्ल है जिसे मेहुला घोबलीगाड़ा भी कहते हैं। इसीसे कौचरत्न या बड़ा घेद है जिसे धरणीमें मोपनम प्रोसामेन कहते हैं। इसी विवरमें तिमिंगायामके साथ धर्मात् विरहो भुजकर सुषुम्णा प्रवेश करती है। कुर्बलकी शक्ति जिस समय मूलाधारसे जापकर शिव नामक आज्ञाचक्रमें जाती है, उसे भी इसी द्वारमें होकर जाना पड़ता है। इस रत्नका दारण करना भृगुपतिके लिये बड़ा यत्नही कार्य है, इसीसे कालिदासने इसे भृगुपतिप्रसोक्तम् [मे०, १।६१] कहा है। अलेयाद्रि या हिमाद्रि धर्मात् पर्वतान् पृथक्का उपात्तरमें ही यह कौचद्वार बताया गया है। भृगुपति, शिवका नामान्तर है। कौच-दारण, खट-परशु, कुमार, भृगुपति, और शिव ये एक ही चैतन्यके नामान्तर हैं जो विशेष मुण्डकि कारण कल्पित किए गए हैं।

कौचरत्नसे गुप्त आगे पुत्र बीजास ही सजा है [मे०, १।६२]। योगकी परिभाषामें विद्युद्भि-चक्रमें अनन्तर आज्ञाचक्र है वहाँ शिवरूप ज्योतिष्का प्रकाश है। मूलाधार-चक्रसे योग-साधनाके लिये बिग नृपका आरम्भ होता है उसकी सिद्धि होनेपर शिवजी बन्ध-मूढहास करते हैं, वही मानो पुत्र बीजासने कष्टमें पनीनृत हो गया है—

राशोभूत प्रतिदिनमिदं आनन्दमप्युद्गात [मे०, १।६२]

इसी बीजासका नाम राजनगिरि है। यहाँ एक मणि-तट है। उसपर शिवजी, गोपीके साथ आरोहण करना चाहते हैं। मेफको चाहिए कि वह स्वमिमान्जलोच [अपने जनवत्त्वको भीतर गेक गलेधाना] होकर अपने पत्नीरक्षी लोडी बनाकर शिवको वहाँ आरोहण करनेसे सहृदयता दे।

१ पदवानु' रा'उधर-कुमार. कौचदारण'। धर्मकोष।

बीजास पदार्थन बीजास और लोडरीदते मरदासधर्म।

२ मेयो दि मरदास-को हर्मदेव मर्ममन्त्रान्यन्तः। [महिम्ना]। कौच-वह तेज शबरका मरदास मर्म-पर ह' है।

इस मण्डित^१का योग-ग्रन्थोंमें विशद वर्णन है। पादुका-यन्त्र नामक तन्त्रयोगके ग्रन्थमें मण्डिपीठकी बड़ी महिमा कही गई है। मण्डिष्कमें जो परम चिन्माय सहस्रदल-नभस है उसमें अनेक-य त्रिकोण है। उस त्रिकोणमें मण्डिपीठ है, उसपर शुभ रजताद्रिके जमान अनन्तगुह शिव सुशोभित हैं प्रथवा प्रकृति पुरुषके सयोग रूप शिव-गौरी विराजते हैं। मेघदूतमें वामरूप पुरुषको स्तम्भित करके शिव उस मण्डित-पर चढ़ते हैं। इस मण्डितकी प्रभा तद्विच्छविको समानेवाली है [पटु तद्विद्व-वर्धारिम-स्पष्टमान मण्डिपाटलप्रमम्]। कालिदासे न केवल कौबरगुहके पश्चात् कैलासका ही धारुण भावदयक सम्भा, वरन् वहाँके मण्डितका भी नाम लिखा है। इससे उनकी योग-परिभाषाका सकेत स्पष्ट सिद्ध है—

भगी भवत्सा विरचितकपु स्तम्भितान्तर्गमौष ।

सोपानद्वय कृद मण्डितद्वारोहणायाम्प्रायी ॥ [मे०, १।६४]

[हे मेघ ! तू आगे बढ़कर अपना जन भीतर रोककर शिवके मण्डित-पर चढ़नेके लिये सोपान बन जाना ।] इन पण्णोमें कविने काम्यके आश-पाश योगसाधके उन धनुभक्तोंका भी गूढ़ समन्वय किया है।

मल्लिनाथने क्रीडाशैल [मे०, १।६०] का अर्थ बताते हुए शम्भु रहस्यका पवतरण देकर लिखा है—

कैलास कन्योद्विधं मन्दरी गन्धमावन ।

क्रीडार्थनिर्मिता लभोर्द्वेषं क्रीडाद्रयोऽभवत् ॥

[देवतामेंसे शम्भुकी क्रीडाके लिये कैलास (रजताद्रि), दनवाद्रि (मेघ, सुमेध, हेमगिरि, महा रजतगिरि), मन्दर और गन्ध-मावन पर्वत बनाए थे, इसलिये ये सब क्रीडाशैल कहलाते हैं ।]

मेघ पर्वत या मेरुद्वार और उतारके समीप स्थित क्रीडाशैल कैलासका परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है। कैलासकी ध्रुवति ही क्रीडा-स्थान है—कैलीया समूह कैलम् [सत्य समूह इत्यण ।] तेन प्राप्तयेऽन्य [प्राप्-सैठ्या] इति कैलास [मानुषी दीक्षित], अर्थात् शिवकी क्रीडाभोका स्थान कैलास है। यहीं कुबेर रहते हैं, यही यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध और चारणोंके निधुन बिह्वार करते हैं, यही ध्वानावस्थित होकर योगी बकर तथा करते हैं और फिर प्रावर्ती-शक्तिके विवाह करके क्रीडा करते हैं। वस्तुतः यहाँ एक ही मेरुद्वारके पर्वत कल्पित करके उसके भिन्न भिन्न नाम दिए हैं। इस मेरुद्वारका जो भाग मूलाधार-चक्रमें स्थित है उसका नाम चित्रकूट है क्योंकि चित्रा नाम सुपुम्णा या कूटजिनी^२का है, और यह चित्रिणी मूलाधार-चक्रके धामारपर उहरी हुई ॥ चित्राका कूट ही चित्रकूट है। यही रामगिरि है क्योंकि शिवधनुको शिवकी भाँति सापने

१ मण्डिका महामन्त्र—“मण्डिपरे दु—इत्ये मण्डिकी भोरे सकेत करता है। काशी। [मानकी पुरी, शिवके पास] में मण्डिकलिका पाट है जहाँ नक्षत्रोंके अक्षय भाग व्यावसेसे मोड़ होता है। मण्डिकलिका—सहस्रारक्ष कालकी कलिका ।

२ भूरे और उभे दो बच्चोंके सयोगके कारण कुण्डलिनीको खलिता या चित्रा नाम दिया गया है। ये मन्दर और हाट्ट मन्दरके मिलनेसे चित्र वर्षा बनता है—देखिए आर्चर पण्येनकृत ‘सर्पट पावर’, पादुका-यन्त्र भाग, पृष्ठ १६५ ।

भी अधिज्य किया था। यहीसे काम-मुख्य उठकर कैलासकी भोदमे बसी अलकागो जाता है। मेघदूतकी एक कोटिपर शिव और दूसरीपर राम हैं, इन्हींके बीचमे यह अजगव धनुष तना हुआ या अमृतत है। कुण्डलीके विरहको सहस्रार पंथ ढके हुए है। कुण्डलीके विवर [स्वाह्नल कौलम-के अन्तर्गत स्वादनल केनास] से सात्त्विक उत्त मार्गसे है जिसके द्वारा मूलधारमे शिव-तेजके चारो ओर प्रमुखा कुण्डलिनी प्रबुद्ध होकर ऊपर चढ़ती हुई शिवसे मिल जाती है। चित्रिणीके भीतर ही यह मार्ग है। चित्रिणी उत्त नलिकाको समझना चाहिए जिसके भीतर यह विवर है। जिस प्रकार कमल अपनी नालके सिरेपर खोभित होता है, वैसे ही चित्रिणी और सहस्रवक्त्र तथा हाथशाल कमलका सम्बन्ध है। चित्रिणी या कुण्डलिनी परम चैतन्य ज्योति है। यही यह स्पन्दनात्मक शक्ति है जिससे सब रचना होती है। इसीकी इच्छा, ज्ञान और मायामयी निगुणारिम्पया मूर्ति जीवो [पशुमो] ने सत्त्व, रज और तम रूपमे प्रकट होती है। उसीके सर्वोच और प्रकर्षके स्फुरणसे क्रीडा-शरीर बनता है। अन्वेदमे इसी प्रदिति प्रकृतिने भाठ पुन मलाए गए हैं। शैव दर्शनसे भी शिवकी भाठ मूर्तियाँ प्रसिद्ध हैं।^१ योष-साधनामे सर्वांग [पञ्चेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि], कुण्डलिनी-रूपिणी उमा और शिवके बीचमे पहकर धनका विवाह-सम्बन्ध स्थिर करते हैं। जब शिवका पार्वतीके साथ विवाह रचाया जाता है तब वे सातों ऋषि विवाह-वनके सम्मुख बनते हैं। इस यज्ञमे यदि इनकी अनुमति और शुभाधीर्वाद होगा तभी यह सफल हो सकता है। शिवजी कहते हैं—

विवाह यज्ञे विततेऽयं युवमर्भ्यम्ब पूर्वावृत्ता मयेति । [कुमार०, ७।४७]

[विवाह-यज्ञका वितान होनेपर पहले ही मैंने आप लोगोंको अपना अर्घ्यम्ब बना लिया था ।]

मेघदूतमे शिवके माहून वृषका [१।१६] और कुमारके वाहन भयूरका [१।४८] भी उल्लेख है। वृष या इन्द्र, इन्द्रियोंकी शक्तिका कारण है। पारिणि भी इन्द्रिय शक्तिकी व्युत्पत्तिका इन्द्रसे ही करते हैं^२ [५।२।६३] वृष, इन्द्र और कामका भनिष्ठ सम्बन्ध है। शिवजी जिस समय तीसरे नेत्रसे सत्त्व अग्निसे कामको भस्म कर बैठे हैं तब मानो वे वृष [काम] पर आरोहण करते हैं। इस वृषपर आरोहण करनेके लिये वे कुम्भोदर सिंहकी सहायता लेते हैं, यथा -

कैलासगौर नृपमास्सक्षो पादाङ्गस्थानुषहपूतपृष्ठः ।

मयेहि मा किङ्करमष्टमूर्ते कुम्भोदर नाम निकुम्भ मित्रम् ॥ [रघु०, २।६५]

[कैलासके सहस्र पुत्र वृषण आरोहण करनेकी इच्छासे जिसकी पीठपर पैर रखकर शिव बैठते हैं वह मैं अष्टमूर्तिका मित्र कुम्भोदर नामका सिंह हूँ ।] काम-शक्तिका वर्णन गीतामे भी यही है—

महाशनो महापाप्मा विदधे नमिह वैरिणम् ।

[कामदेव बड़े भोगवाला है ।] काम और रानाका सदा साथ है, क्योंकि जो जलतरंग

१ श्री चित्तिशक्तिदेव पारमेस्वर स्वान किया माया शक्ति निव्यवस्था श्रीभक्तित्वादिपदे श्रुतिता मङ्गोचमकर्म तत्त्वत्रयमोक्ष प्रीति ररेश अर्वा [रचद निखंड ५० ३३] । प्रमुखा योग अपनी किद शक्तिने स्फुरते ही सब प्रकाशको अधिष्ठि । जानन है [अन्विषाणागर] ।

२ इन्द्रियमि अन्विषमि-इन्द्रियमिन्द्रियार्थमि द्रव्य दर्शनमिन्द्रियमिति वा । [अष्टाध्यायी, १।२।६३]

स्वाधिष्ठान-चक्रका अधिष्ठाता है, वही जिह्वामें बसता है। वृषभ चढ़नेके लिये कुम्भोदरकी पीठ-पर बैर रखना आवश्यक है। स्कन्दका वाहन मयूर है। हम बता चुके हैं कि स्कन्दका सम्बन्ध छ की सरपासे है, उसका वाहन मयूर भी पद्म स्वर सवादी^१ है। सर्पस्व कुण्डलिनीका स्वाभाविक बैर मयूरसे है। परन्तु शिवकी साधनासे जन्मे हुए कुमारका वाहन होकर मयूर, कुण्डलिनी-स्त्री सपिण्डीका मित्र हो जाता है। शिवके मुटुम्बमें सर्प और मोर बैर त्याग कर बसते हैं। तात्पर्य यह कि पहले मनुष्य कुण्डलिनीके यथायं स्वरूपको न जानकर उसे विनाशकारी मार्गमें लगाता है पर 'कुमार' स्कन्दके जन्मके पश्चात् वह अपने पदचक्रोंके सममूर्छा विनियोगको जान जाता है। कामका सम्बन्ध रेतसे है, कामका निवास स्वाधिष्ठान-चक्रमें है। इसी चक्रमें जलका निवास है, जैसा कहा है—आप रेतो भूत्वा तिमम् प्राविशत् [ऐतरेय ङ० १।२।४]। आपूर्णदेके मतसे पीयेका जलवत्त्वसे सम्बन्ध है। निरुक्तमें ठूपा राक्षस साहित्यमें भी जलके ही विष और अमृत दो नाम हैं। शरीररूप रेत, हिरण्यके समान भास्वर तेजवाला है। जिस समय ईश्वरी वृत्तियाँ आपूर्ण वृत्तियोंसे ढकी रहती हैं, उस समय रेत, विष स्वरूप होकर सब इन्द्रियोंके तेजको जीयाँ कर देता है। उस विषको सहने, पचाने और धारण करनेकी शक्ति किसी इन्द्रियाधिष्ठाता देवतामें नहीं है। जबतक शिव विषको नहीं पीते तबतक इन्द्रियरूपी देवता उसकी सपटोसे झुलसे हुए रहते हैं। गोसाईजीने ठीक कहा है—

जरत सकल गुरुवृन्द, विषम गरज जेहि पान किया ।

भजति न तेहि मतिमन्द, को कृपालु धकर-सरिस ॥

शिव ही योग-समाधिके कारण उस विषको पान कर सकते हैं। पाँचो चक्रोंको भेदकर जब पहले शिव इस रेतके दुर्निषाह तेजको विमुक्त-यज्ञ प्रर्षात् कठमें स्थापित कर लेते हैं, तभी सब देवता अमृतका भाग पाते हैं। शिवके विषपानके पश्चात् वही रेत अमृत रूप होकर इन्द्रियोंके धारम-तेजका संचालन करता है। शिवका विषपान प्रकारान्तरसे योग साधनाके फलका वर्णन है।

पक्षमे मेघसे एक काम और लिया है—

नृत्यारम्भे हर पशुपतेराईनागजिनेष्णाम् ।

साम्प्रीदेगस्तिमितनयन इहभक्तिर्भवान्मा ॥ [मे०, १।३६]

[हे मेघ ! सामकालके समय नवीन जपा-मुष्पकी सालीके सहस्र रक्तिभासे सम्पन्न अपने मण्डलके शिवकी गुजापीपर इस प्रकार स्नान देना कि अपने भावके धारम्भसे सग्रे गजामुरकी गीती लालकी इच्छा न रहे। उस डेरी शिव-भक्तिको उस समय गार्वती भी निश्चल नयन होकर देखेंगी।]

सशेषमें तन्त्रके अनुसार इसका अर्थ यह है कि जिस मूलाधार चक्रका धृषी तत्त्व है उसमें एक सप्तशुद्ध गजामुर ज्योति है जिसकी पीठपर शिव-तेजके चारो ओर वसित कुण्डलिनी स्थित रहती है। जिस समय योग-साधनकी इच्छासे [नृत्यारम्भे] शिवजी इस चक्रको भेदते हैं, तब इस गजनी मानो मृत्यु हो जाती है। जिस व्यक्तिके कामकी चरामे नहीं किया है ऐसा कोई व्यक्ति इस गजको परास्त नहीं कर सकता ।

^१ पद्म सर्पादिनी केका दिया शिवका प्रसन्नकिम् । सु० १।३३

पद्म मयूरे बसता — इति सातव ॥

ज्ञाना-चक्रमे प्रणवका प्रत्यक्ष होता है। वही ही चन्द्राकार ज्योतिका दर्शन होता है। यही सूर्य, चन्द्र, और अग्निके तीन बिन्दु हैं जिनके नामान्तर शिव, विष्णु और ब्रह्मा तत्र-ग्रन्थोमे प्रसिद्ध हैं। यहाँ साधकको चन्द्रकी किरणोंसे टपकनेवाली गुफाके आस्वादका आनन्द मिलता है। इसी-लिये शिवजी नवमश्रिभूत [मेघ० १।४७] और इन्दुशेखर [कुमार० ५।७८] हैं। योगशास्त्रमे शिवके रूपका बड़ा विस्तार दिया गया है। शिवपुराण, स्कन्दपुराण,^१ तथा तन्त्रोमे इसे बड़ाकर कथाओंके रूपमे प्रकट किया है। कालिदासका यह कहना बहुत ठीक है—

न सन्नि यापार्यविष्टः । पिनाकिलः । [कु०, ५।७७]

न विश्वमूर्तेरवधार्यते षणु । [कु०, ५।७८]

[शिवके स्वरूपका ठीक-ठीक निर्धारण कीन व्यक्ति कर सकता है।^१] वायुपतशास्त्रमे^२ शिव, विष्णु और ब्रह्माके धर्मोंको मानवर जीवात्माके साथ परम निष्ठ शक्तिका सादृश्य दिखाया है। वह चित्-शक्ति-रूप परमहंस शिव सहस्रार-पद्ममे प्रतिष्ठित है। उस पर बिन्दुतक पहुँचनेका मार्ग, योग साधना-द्वारा कुटिलिनीको जपाकर ब्रह्मात्ममे ले जाना है। जबतक वृषकेतु, वृषारूचन, शिव-रूप आत्माके दर्शन नहीं होते, तबतक काम-बाधा चित्त-वृत्तियोंको धमोमुखी रखती है। वृषपति शिवकी सामना और भक्ति [मेघ० १।५६] प्राप्त करना प्रत्येक कामरूप पुरुषके लिये अत्यन्त प्रावश्यक है। कालिदासके अनुसार योगके द्वारा परमात्म-संज्ञक परम-ज्योतिका दर्शन करना ही जीवन्मुक्ति परम सिद्धि है।

योगात्स बाल्य परमात्मसंज्ञ इष्ट्वा पर ज्योतिस्परारामः । [कुमार०, ३।५८]

शिवके स्वरूपका यवार्थ ज्ञान ही कालिदासके दर्शन और काव्य-साधनाका ज्ञान है।

।

१. इसका कथा एक-द महापुराणान्तर्गत कालीसंहिताके ३८ मे अध्यायमें दी हुई है। गंगाधरमे महासे वर पाया था— कि कदप-नष्टाभूत किंनरी व्यक्ति के हाथ उसकी मूर्त्ति न होया। पार्वतीने जिन समय महादेव से खेलेवर लिए [महिषासुराधिराज शिव] का आकाशय सुना उसी समय गंगाधर अपने कलवामर्ष उमर होकर प्राणोंका निर्वीजन करते शिवजी और भगवा। कदम्ब रईसारी महादेवने पाप भागेवर उसे विशालसे देकर शून्यमें डाल दिया। महादेवजीने महाधरर उम्मे अपना खरीर ध्वजकी मूर्ति पैला लिया था। जब अपने शिवकी बहुत शक्ति की तब शिवने वर देना चाहा। गंगाधरने कहा कि आप मेरे खराबका चयन पदम लाविए। इसमे शिवजी कुतिसाम कदमाप।

२. अत कार्य है, इसका जन्म पशु है। ईश्वर भारव है, वही पशुपति है। पशुपतिमें चित्तकी समाधि ही योग है। भाग, विष्णु, श्वाण आदि उपरवका विधि है। मोक्ष इसका प्रयोजन है। उस मोक्षका फल है सका अन्त है। वही स उपमे पशुधन-शास्त्र है।

महाकवि कालिदासकी उपमाओंका मनोवैज्ञानिक अध्ययन

[श्री पी० के० गोडे, सचहालभाष्यक, भांडारकर धोरिवण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना]

संस्कृत-साहित्यका प्रत्येक विद्यार्थी उस श्लोकोसे पूर्णतः परिचित है जो 'उपमा कालिदासस्य' से प्रारम्भ होता है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरघ्वोरवम् ।

दण्डिन. पदलालित्य भाषे सन्नि नयो गुणाः ॥

—और यद्यपि उस उद्धरणके महत्त्वको कालिदासके बहुतसे अध्येताओंने समझ भी लिया है फिर भी किसीने उनकी उपमाओंका यह भासोचनात्मक रूप सामने लाकर नहीं रखा, जो केवल भलकार-शास्त्रके विद्वानोंके लिये ही नहीं अपितु साहित्यके साधारण प्रेमीके लिये भी अत्यन्त आकर्षक और रुचिकर होता है। मैं स्वतन्त्र भाषारोपर उपर्युक्त कथनकी परीक्षा करना चाहता हूँ परन्तु ऐसा करनेमें मेरा ध्येय मुख्यतः मनोवैज्ञानिक विस्तारण ही है। मैं केवल कविकी पर्यवेक्षण-परिधि, उसकी शान्दर्यानुभूति और उसके विस्तृत सागकी ही और संकेत करना नहीं चाहता, अपितु उसकी उपमान्धेयणकी विविध शक्तिके उन विभिन्न रूपोंका विस्तारसे वर्णन करना चाहता हूँ जो 'बौद्धिक जीवनके मूल स्तम्भ' माने जाते हैं।

मैं 'उपमा' शब्दका यहाँ विस्तृत अर्थ ग्रहण कर रहा हूँ। इसलिये इसमें केवल समानतापर आधारित भलकार ही नहीं सम्मिलित किए गए हैं बरन् और भी बहुतसे ऐसे भलकार इसीमें सम्मिलित हैं जो भारतीय आलंकारिकों द्वारा यौथी हुई सीमाओंके बाहर हैं, उदाहरणार्थ—
रूपोत्पत्तौ [सहावती] का जीवनकी विशेष परिस्थितियोंके लिये प्रयोग करना भारतवर्षे तुलना ही तो है, इसीलिये मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे मैं उन्हें उपमार्थ ही सम्मिलित करना ठीक समझता हूँ।

मैंने केवल 'शकुन्तला' की उपमाओंकी आलोचनामें ही अपने प्रयत्नको परिमित रक्ता है क्योंकि पहले तो यह महाकवि कालिदासकी सर्वश्रेष्ठ रचना है और दूसरे, नाटकीय रचना होनेके कारण उसमें उनके काव्योत्थी अपेक्षा मानव-जीवनका अधिक सच्चा चित्रण है।

इस आलोच्य धन्यमें सब मिलाकर १८० उपमाएँ हैं। यद्यपि प्रथम और पष्ठ प्रक विस्तारमें लगभग बराबर हैं, फिर भी पहला तो उपमाओंसे धन्य-सा है और उसमें लगभग आठ उपमाएँ हैं जबकि दूसरा उनसे एकदम बरा हुआ प्रकाशमान-सा है, और उसमें सब मिलाकर ५१

उपमाएँ हैं। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। प्रथम शब्द तो पूरी रचनाकी प्रायः मूमिका है और कवि 'जीवनकी आलोचना' की अपेक्षा बहुत करनेमें अधिक व्यस्त है—मुख्य जीवनकी वह आलोचना, जो जिसी भी दृष्ट्य-आव्यमे नाटककारका मुख्य काम है। छठे अंक्रमे कवि कुछ मानस अनासन्निकी सिद्धिमें राफन हुआ है जो मानव-चरित्रके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और इसके विस्तृत व्यक्तीकरणके लिये बहुत आवश्यक है। दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें अंक्रमे क्रमशः १३, १७, २७ और २६ उपमाएँ हैं। छठे अंक्रमे आधे सख्यामें वृद्धि नहीं है अपितु निरन्तर रूपसे ह्रास है और सातवेंमें केवल ३४ हैं। नाटकका उपग्रहण सातवें ही अंक्रमे प्रारम्भ होगा है और उतीमें पूर्ण भी हो जाता है। इसीलिये इसमें उपमाओंकी कमी है वास्तवमें इसमें दो सत्व मानो छींचा-सानो कर रहे हैं। नाटकके प्रारम्भमें वर्णनात्मक सत्यकी प्रघातता है जो कमी से प्रत्यक्ष रहता है और कमी प्रचञ्चल। आलोचनात्मक ठहराव वहीं एकदम गीरा हो गया है। इसलिये चौथे अंक्रमे विशेष रूपसे ऐसा सात होता है कि कवि पूर्ण अन्तर्कार भावनाको स्थिर रखनेमें असमर्थ है। ऐसी ही परिस्थितिमें उपमाओंका प्रादुर्भाव धारण हो जाता है। इस स्थलपर कोमल भावनाका पूर्ण अधिपत्य है और मन भावावेशमें झूलने लगता है। इस अन्वयी शैली विशेषतः भावनात्मक है, विवेचनात्मक नहीं और इसीलिये उपमाओंकी सख्यामें क्रमिक ह्रास दिखाई देता है क्योंकि यह रचना मुख्यतः कविके हृदयको उपज है, न कि उसके मस्तिष्ककी।

इस निबन्धका मुख्य लक्ष्य मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है, परन्तु मैं सब उपमाओंको उनके मूल-स्रोतोंके अनुसार पहले विभाजित कर लेना चाहता हूँ। मनुष्य और वस्तुओंके सम्बन्धमें कविका ज्ञान-जगत् जितना चित्रित है उतने ही विस्तृत उपमाओंके मूल स्रोत हैं—

१ स्वर्ग और आकाश—सूर्य अपने अनेक रूपमें अधिकतर सुखनाके लिये प्रयोगमें लाया गया है। जलको सीला देनेवाला प्रीम शत्रुकी सन्तुष्टाका वर्णन तीसरे अंक्रमे इसमें श्लोकमें मिलता है। उसका शक्तिशाली प्रकाश चन्द्रमाको मन्द कर देता है (अंक ३, श्लोक १५)। एक साथ ही चन्द्रमाका उदय और सूर्यका अस्त होना सप्ताहकी एक साथ होनेवाली समृद्धि और दोनताका द्योतक है (अंक ४, श्लोक २)। एक प्रकाशमान पुत्रका जन्म पूर्वमें सूर्योदयके समान है (अंक ४, श्लोक १६)। सूर्य हमारे सामने कर्तव्य-श्रमणके रूपमें रस्ता गया है क्योंकि लोगोंको प्रकाश देनेके कर्तव्यमें वह नहीं पीछता (अंक ५, श्लोक ४)। वह अन्धकार दूर करनेका सबसे बड़ा साधन है (अंक ५, श्लोक १४) ऐसा होनेपर भी रात्रिका अन्धकार दूर करनेमें वह असमर्थ ही रहता है (अंक ६, श्लोक ३०)। भरण या प्रातःकालीन सन्निवेलाको उसका प्रपन्न (या प्रपन्न) बताया गया है (अंक ७, श्लोक ४)। सूर्य ही कमलोंको खिलता है (अंक ५, श्लोक २८)।

जैसा कि निम्नांकित उद्धरणोंसे स्पष्ट है, चन्द्रमाके विविध रूप और उगनी विशेषताएँ ससृज-आव्यमें प्रायः रूढ़ हो गई हैं—

पारदी पन्धिका बहुत ही घानपेन होती है (अंक ३, श्लोक १२ के पदवाच्य)।—

‘व इसानी घरीरनिर्वापिनी पारदी ज्योत्स्ना पदान्तेन वारयति।’

वह सूर्यसे प्रगर प्रकाशके सम्मुख छोटी पठकर महत्त्वहीन हो जाती है (अंक ३, श्लोक १५)।

चन्द्रोदय इस जगतके कुछ व्यक्तियोंके चमकते हुए ऐश्वर्यका सूचक है (भक्त ४, श्लोक २) । केवल यही राजाके पन्धवारको दूर करनेमें समर्थ है (भक्त ६, श्लोक ३) । चन्द्रग्रहणका वर्णन भक्त ७, श्लोक २२ में है । चन्द्रके चरातलके कासे पक्षोंकी चर्चा भक्त १, श्लोक १६ में की गई है । कमल-नाभ जتنا ही कोमल होता है जितनी चन्द्र-किरण (भक्त ६, श्लोक १८) । शकुन्तलाका उसकी दो सक्षियोंकी ओर व्यक्तियुक्त आकर्षण उसी आकर्षण, जैसा बताया गया है जिससे कि विशाखा-सारण-मण्डलको चन्द्रमा अपनी ओर खींचता है—

‘विमल चित्र यदि विशाखे धराकलेखामनुवर्त्तते ।’ (भक्त ३)

चन्द्रकी किरणें यद्यपि स्वयं दीप्त होती हैं फिर भी काम-पीडित जनको तो जलाती-सी ही हैं (भक्त १, श्लोक १) । दिनमें चन्द्रमाकी अनुपस्थिति, कुमुदिनियोंकी समस्त मनोहारिणी सुन्दरताका अपहरण कर लेती है (भक्त ४, श्लोक ३) । चन्द्रमा ही कुमुदिनियोंकी खिलानेका कारण है (भक्त ५, श्लोक ७८) ।

उपग्रहोरी चर्चा नाट्यमें बहुत कम है । विशाखा उपग्रह चन्द्रमा-द्वारा खींचा जाता है (देखो ऊपर) । चन्द्रमण्डलकी उपग्रह रोहिणी अपने प्रेमी चन्द्रमासे चन्द्र-ग्रहणके पदचान मिलती है (भक्त ७, श्लोक २२) । आकाश-मंडलके सभी ग्रह-विण्डोंके ग्रहणोंमें केवल चन्द्रमाकी ही चर्चा है (भक्त ७, श्लोक २२) । आकाशमेंके चरातलकी चर्चा भक्त ७, श्लोक ७ में की गई है । मायाका और पृथ्वीके भूगर्भमें स्थित पक्षियोंके बिबरण करने-योग्य स्थानकी चर्चा भक्त ५, श्लोक २२ में की गई है ।

२ पृथ्वी आकाश के निष्प्राकृत व्यापारोका प्रयोग सुननाके लिये किया गया है—

समस्त विमुक्त्यो चर्चा उस काँचो और चमकते हुए प्रकाशके रूपमें की गई है जिसका उद्भव अपांयव है (भक्त १, श्लोक २४) । प्रातःकालीन धरण प्रकाश, अन्धकारको दूर करनेमें इसलिये समर्थ होता है कि वह सूर्यसे प्रकाश लेता है (भक्त ७, श्लोक ४) । वायुका भविराम गतिसे बहुता कर्तव्य-निष्ठानर घोटक है (भक्त २, श्लोक ४) । अथर्वसे बिना हिले-डुले पर्वत सदा स्थिर रहते हैं—‘ननु प्रघातेऽपि निष्कम्पा गिरयः ।’ (भक्त ६) वायु, कोमल लताओंके रस भरे हरे-हरे पत्तोंसे सुषा देता है (भक्त ३, श्लोक ८) । एवंत-श्रेणी, पवित्रमी क्षितिजपर सन्ध्याके मेघोंके गरजोठके समान दिखाई देती है—‘सन्ध्या इव मेघपरिधः सायुमानाशोकयते (भक्त ७) ।

भूरे रंगके राशस सन्ध्याके धारणोंके समान प्रकट होते हैं (भक्त ३, श्लोक २५) । पृथ्वी पर झुके और पानीसे भरे हुए मेघके समान ही नम्र गुण्य होते हैं (भक्त ५, श्लोक १२) । दुष्पन्तने अपनी प्रजाकी सहायताके लिये जो विश्वास दिया उसका उत्तरे सामयिक वपनि समान स्वागत किया—‘वर्तते प्रवृष्टिनिवाभिनन्दित देवस्य धासन्तम् (भक्त ६) ।

समुद्रका एक बड़ी जदीसे सीधा भीर अभिषेचन सम्बन्ध, पुष्पजमेके प्रसिद्ध उत्तराधिकारीके प्रति शकुन्तलाके हृदयकी प्राकृतिक और उचित अभिलाषाश्लोको अभिव्यक्त करता है—‘तद्युक्त-मस्या अभिलाषोऽस्मिन्नितुम् ।’ (भक्त ३)

पृथ्वीको आन्ध्रदिग्ध करनेवाला समुद्र उसका वक्ष कहा गया है (भक्त ३, श्लोक १८) ।

किसी पट्टानसे दो धाराधोमे विभाजित होकर वेगसे बहती हुई नदी राजाके हुविचामे पड़े हुए चित्तकी अभिव्यक्त करती है (अष्ट २, श्लो० १७) । बड़ी नदियाँ समुद्रसे पूर्ण रूपसे सम्यग् होती हैं—'सागरमुज्जिम्भत्वा कुत्र वा महानज्वतरति ।' (अष्ट ३)

नदीकी वेगवती धार, अपने कगारपर स्थित वृक्षोको नीचे गिरा देती है (अष्ट ५, श्लो० १०) । उमड़ी हुई नदी और भुग-मरीचिकाकी विषमताका प्रयोग अष्ट ६, श्लोक १६ में मिलता है । निराशाकी तुलना मृग-मरीचिकासे दी गई है—'अपि नाम भृगुतृप्तिरुक्तेव नाममानप्रस्ताव, (अष्ट ७) । नदीकी बहती हुई धारासे वेगसे उसमे उभे हुए नरकट झुक जाते हैं—'यद्देतस' भुङ्गजलीला विदग्ध्यति तस्मिन्मार्ग्यन प्रभावेण उत नदीवेगेन' (अष्ट २) ।

सरोवरमे स्नान करनेकी कल्पना अष्ट ७, श्लोक १ में है और अपने कगारोपर उफनाती हुई नदीकी कल्पना अष्ट ५ में है जहाँ वि एक नील आवावेशसे उफनाता सा कहा गया है—'अद्यो रागपरिमाहिनी गीति' ।

घाँसे भरे हुए और धानव्यातिरेक सूचित करनेवाले मैत्रिके बर्णनका भाव भी सूक्ष्म रूप से ही है (अष्ट ४) जल नीचेसे ऊपर नहीं जा सकता । यह प्रकृति का नियम अनुत्तलके प्रति स्थिर किए हुए दुष्यन्तके प्रेमको प्रवट करता है (अष्ट ३) । इस पानीकी लीनी झलक करता है जब कि वह घूमने मिलाकर उसे दिया जाय (अष्ट ६, श्लो० २५) । कोमल सताघोपर गर्म जलका नाशकारी प्रभाव अष्ट ४ में वर्णन किया गया है ।

पर्वतोकी विशाल शक्तिना बर्णन केवल एक उपमामे किया गया है । भस्मावातके अत्यधिक झोमसे भी वे अचल स्थिर रहते हैं (अष्ट ६) । पृथ्वी-सतही ऊँचाई-निचाईना संकेत अष्ट ६ में है जहाँ पृथ्वीसतही एक पित्रका वर्णन है ।

घाटसे उका हुआ नूतन छात्र अनुप्यने समान है जिसने सत्यताका धाना धारण किया हो (अष्ट ५) । पृथ्वीका धरातल बिजली उत्पन्न करनेमें असमर्थ है (अष्ट १) । एक मन्द बुद्धिकी तुलना मृत्पिण्डसे की गई है (अष्ट ६) । पृथ्वीना भार क्षेपणात् भगवान् बहल करते हैं (अष्ट ५) । पृथ्वी, घासन करनेवाले राजाकी पत्नी वही गई है (अष्ट ३, श्लो० १८) ।

सर्जित-जगत्मे बहुत कम उपमाएँ दी गई हैं, परन्तु जो हैं, उनमे से अधिभाग एकदम मौलिक हैं । चमकीला रान, यद्यपि चमकमे धमिले मिलता-जुलता है, फिर भी हाथसे स्पर्श किया जा सकता है (अष्ट १) । सूर्यकी चिरणें जब सूर्यवान्त-अगिपर पड़ती हैं तब उसमे से जलानेवाली गर्मी निकलती है (अष्ट २, श्लो० ७) । रत्नोका वेष्टा जाना अष्ट २, श्लो० १० में वर्णित है । पाण्डुने पित्रवर छोटा कर देनेपर भी रत्नोमे अत्यन्त चमक धा जाती है (अष्ट ६, श्लो० ६) । शीवे शीतदर्पनी तुलना रत्नमे की गई है (अष्ट २, श्लो० ६) ।

३—[१] यन्मार्गि शीतन—इसकी उपमाएँ अमर्य हैं—

वाटिका और यन्की सताघोमे विषमता दिखाई गई है (अष्ट १) । एक पत्नी मोहकी तुलना सताघे की गई है (अष्ट ३, श्लो० १३) । पत्नी और कोमल स्त्री सताघे समान होती हैं (अष्ट ७) । मन्त्रों वगैरह कतुम मिलती हैं (अष्ट ७) । पूनोंमे चरी हुई सता मधुपर्को श्रिय प्रतिदिने रूपमे पाकर प्रशन्न होती हैं (अष्ट ६) । तपोवनके वृक्षसे अनुत्तलकी विदाई

सगम सताएँ मधुपात करती हैं (भद्र ४, श्लोक १२) । एक घातनावस्थित साधुकी गर्दनके चारों ओर लताघोषी कुण्डली बन गई है (भद्र ३) ।

विशेष पोषो और लताघोषि भी उपमाएँ ली गई हैं । बहुधा कोमलता तथा सौन्दर्यके हैं । लिये उनका सन्निवेश किया गया है—

धर्मो-लता काटनेमें बड़ी कड़ी होती है (भद्र १) और शमीकी लकड़ीमें स्वयं अग्नि उत्पन्न करनेकी क्षमता होती है (भद्र ४, श्लोक ४) । वायुसे माधवी-लता सूख जाती है (भद्र ३) । अतिमुक्तक लता पत्तोंके भारसे झुकी होती है और सहकार वृक्षसे लिपटी रहती है (भद्र ३) । मधुमालिकाके फूलकी कोमलता अधिनत्तर शकुन्तलाके लिये प्रयुक्त हुई है (भद्र १) सूर्यकी किरणोंसे नवमालिका लतापर चर्म चानो छोटना चाहें ? (भद्र ४) । फूली हुई वनस्पति-लताका वर्णन भद्र १ में मिलता है । उसे शकुन्तलाकी ममिनी कहा गया है (भद्र ४) ।

कुछ फूलोंका भी उपमाओंके लिये प्रयोग किया गया है—

उप कालमें भोसकणसे भरा हुआ कुन्द-गुण्य मधुपको सलबाठा है, परन्तु ठंडे भोसके कारण वह उसका रस लेनेसे रोव दिया जाता है (भद्र ५, श्लोक १६) । नील जलजकी कोमलता और शमीकी कठोरतामें विपमता दिखाई गई है (भद्र १) । शंखजसे पिरा हुआ कमल मनोहर बीज पड़ता है (भद्र १) । कमलसे पते पड़ना भक्तनेके लिये प्रयुक्त होते हैं (भद्र ३, श्लोक १६) । राजमांसकी भूल कमलके कोमल परागकेचरके समान है (भद्र ४) । मधुपका स्वाभाविक वास-स्थान कमल है (भद्र ५, श्लोक १) । सुन्दर हाथ रत्न कमलनालके समान बीज पड़ता है (भद्र ६) । किसी शिशुका कोमल हाथ उप कालमें जिले हुए कमलके समान विसाई देता है (भद्र ७, श्लोक १६) । सूर्यका कुमुदिनीपर हानिकारक प्रभाव पड़ता है (भद्र ३, श्लोक १६) । चन्द्रमाके न रहनेपर कुमुदिनीसे भरे हुए सरोवरकी सचमुच दयनीय दशा होती है । (भद्र ४, श्लोक ३) उसकी उपस्थितिमें वे जिल जाती हैं (भद्र ५, श्लोक २८) । कमल केवल सूर्यकी उपस्थितिमें जिलते हैं (भद्र ५, श्लोक २८) । मुवावस्था उतनी ही आकर्षक है जितना कि कोई फूल (भद्र १, श्लोक १६) । जिस सौन्दर्यका ध्यान नहीं किया गया वह मानो बिना सुंघा हुआ सुगन्धित फूल है (भद्र २, श्लोक १०) । मधुप एक नवीन पुष्पसे मधु चूसता है (भद्र १, श्लोक २२) । वह फूलोंसे मधु घुरानेवाला घोर है (भद्र ६) । वसन्तसे लताघोषके सयोगकी सूचना वसन्तकी कली देती है (भद्र ७) । फूलोंका विसाई देना युवावस्थाकी सूचना देता है (भद्र १) । ओठ उतने ही आस होते हैं जितने कि वृक्षोंके ताल पते (भद्र १, श्लोक २०) । किसी युवतीका अपर इतना ही सुन्दर दीख पड़ता है, जितना कि हाथसे न छुए हुए वृक्षोंके कोमल पते (भद्र ६, पृ० ८२, श्लो०) । किसी युवतीका निष्कल सौन्दर्य मन्दृष्ट कोमल कोपलके समान होता है । (भद्र २, श्लोक १०) हृदयवोका रंग वृक्षोंकी नवीन शाखाओंसे होड लेता है (भद्र ४, श्लोक ५) । जाज कोपलो और सूखी हुई पक्षियोंमें विपमता दिखाई गई है (भद्र ५, श्लोक १३) । एक होनहार पक्षिनाली नवपुष्पकी तुलना विद्यास वृक्षकी प्रजापतिसे की गई है (भद्र ७, श्लोक १६) । वृक्षोंकी

पतिर्मा मानो उनकी जंगलियाँ हैं जो दशकोंको अपने पास आनेके लिये बुला रही हैं (अंक १) । वृक्षोंकी शालाएँ उनकी भुज, रें हैं जिनसे वे शकुन्तलाका आनिमज्जन करती हैं । (अंक ४) । फलोंके भारसे झुके हुए वृक्ष, रूपानु मनुष्यकी नम्रता प्रकट करते हैं (अंक ५, श्लोक १२) । आत्मिक विचारोंमें लीन व्यक्ति, वृक्षके उनके समान मौन होता है (अंक ७) वृक्षोंकी जड़ें तपस्विधर्मके निवास-स्थान हैं (अंक ७, श्लोक २०) ।

वृक्ष शकुन्तलाके मित्र हैं (अंक ५, श्लो० १०) । वे सूर्यका अत्यधिक ताप सहन करते हैं और अपने नीचे घाए हुए लोगोंको शरण देते हैं (अंक ५, श्लो० ७) ।

भाइए, यह कुछ विशेष वृक्षों और मौखोंपर विचार करें । केवल सहकार या आश्रय ही अतिमुक्तका भार सहन कर सकता है । वह वनज्योत्स्ना सत्ताका भी प्रेमी है (अंक १) और नवमासिकाका भी (अंक ४) । कल्पमें अपना निवास-स्थान बना सेनेपर भ्रमर आश्रमशरियोती तनिक भी चिन्ता नहीं करता (अंक ५, श्लो० १) । ये तो वसन्तके प्राण ही हैं (अंक ४) । ये भ्रमरोपर मादक प्रभाव डालती हैं (अंक ६) । नदीकी धारामौके वेगवान् प्रवाहसे मरकट झुज जाते हैं (अंक २) । इसको चर्चा अंक ३ में की गई है । चन्दन वृक्ष, यद्यपि अपने पास आनेवाले सभी जीवोंको प्रसन्न करता है तथापि अपने भीतर वृक्ष सर्व रसनेके कारण वह स्वयं निन्द्य समझा जाता है (अंक ७, श्लो० १८) । जब शकुन्तला केदार-वृक्षकी जड़के पास बैठती है तो वह ऐसा लगता है मानो उससे कोई सत्ता लिपटी हो (अंक १) । असुरोंकी तुलना काँटोंसे की गई है (अंक ७, श्लोक ३) ।

हाथि सम्बन्धी उपमाएँ बहुत कम हैं—

समयपर बौर हुए बीज बहुत अधिक धन उत्पन्न करते हैं (अंक ६, श्लो० २४) ।

(२) पशु-जीवन—पशु-जीवन अपने साथ पशु-शरीरके सभी विचार भी साता है । इनका भी उपमाओंमें प्रयोग किया गया है—

दुष्कृत एक रोगसे कुली कहा गया है और वह रोग 'शकुन्तला' है (अंक ६) । दुष्कृतकी दशा लगभग पूर्णतः निराशा-जनक है । एक फोड़ेके ऊपर छोटी कुन्तीका होना अंक २ में दिलाया गया है । विद्रूपककी प्रचलित मूल उसे ही लाए डाल रही है (अंक ६) ।

नरमात्रोंमें कुछ पशुमोक्ष प्रयोग इतलिये हुआ है कि अन्य पदार्थोंके समान उनमें स्पष्ट मिलनेवाले गुणोंकी व्याख्या की जा सके—

हरिण, संस्कृत काव्यमें तुलनाका साधारण मापदण्ड है । शकुन्तलाके नयन हरिणोंके नेत्रोंके समान हैं (अंक १, श्लोक २४) और वे हरिणके नेत्रोंके समान भी हैं (अंक ६, श्लो० ७) । शकुन्तलाके कटाओंके समान दिखाई देनेवाले मृगीके सुन्दर कटाक्ष, राजाको उसे मारनेसे रोक्ते हैं (अंक २, श्लोक ३) । मृग-आवकको शकुन्तलाका पोष्य पुत्र कहा गया है (अंक ४, श्लो० १४) । भगाध मृगया प्रेमके कारण पर्वतोंपर भ्रमण करते हुए राजा, बनेले हाथीके समान जान पड़ते हैं (अंक २, श्लो० ४) । दिनके कृत्योंको समाप्त करके विराम करता हुआ राजा हाथियोंके उस स्वामीके समान दोस पड़ा है जो उन्हें अपने चरागाहोंमें छोड़कर एक मौतल-स्थानमें बैठकर निशाम कर रहा हो (अंक ५, श्लो० ५) । विद्रूपककी भयंकरी तरह हुआमत बनावर मातलि, अपनी तुलना उस बाघसे करता है जो किसी छटपटाते हुए पशुपर भपटा हो (अंक ६,

स्तो० २७) । शिली-द्वारा पकड़ा हुआ बूझा जीवनसे निराश हो जाता है (भक्त ६) । सर्प जब क्रोध करता है, तब अपना फल फेंक देता है (भक्त ६, स्तो० ३१) । कृष्ण-सर्प अपनी उपस्थितिसे चन्दन वृक्षको घावित करता है (भक्त ७, स्तो० १८) । घाघमके वृक्षीपर जमी हुई धूल टिड्डी-दलके समान दिखाई देती है (भक्त १, श्लोक २६) । कोमल घाघ्र-मञ्जरियोको देखकर प्रसन्नतासे मस्त हो जाता है (भक्त ६) । वृक्षीये आता हुआ कोकिलका मधुर कूजन, गानो शकुन्तलाके, पतिवृद्ध जानेके समय भावेष्ट है (भक्त ४, श्लोक १०) । कोकिला कोमलके घोंसलेमें पली हुई मानी गई है (भक्त ५, स्तोत्र २२) । चकई पक्षीकी चर्चा भक्त ३ में की गई है । उसकी 'पी कहीं' की ध्वनि उसके जोड़ेके विगोचके दुःखकी सूचना देती है (भक्त ४) । मधुप बड़ी शानमान्नी और कोमलतासे निर्भीक पूरका मधुर-रस चूसता है (भक्त ३, श्लोक २२) । इसके लिये यह भी कहा गया है कि यह घाघ्र-मञ्जरियोको चूसकर कमलामे प्रवेश कर जाता है (भक्त ५, श्लोक ८) । यह बात कालकी मोखसे बरे हुए कुल्ल पूरकर रस नहीं ले सकता है (भक्त ५) । यह पूरलोसे युक्त गतावा बहुत ही प्रिय प्रतिधि है (भक्त ६) । प्रमरी, प्रत्यभिच प्रेमके कारण बिना अपने प्रेमीके मधु नहीं पी सकती (भक्त ६, श्लोक १६) । किसी स्थानपर मणिजयोवा न रहना यहाँ पूर्ण शान्तिका द्योतक है (भक्त २, भक्त ६) ।

४ गृह-जीवन—ज्ञानके इस विभाषसे भी गई उपमाएँ अनेक प्रकारकी और परेख हैं—

जिस मनुष्यकी सखूरसे मरिच हो गई है, वह इसी खानेकी इच्छा कर सकता है (भक्त २) । राघव मधुकी चर्चा भक्त २, श्लोक १० में की गई है । कामिनी जियाँ मधुर मोली बोलती हैं (भक्त ५) । राजाको भी मधुर-भाषी कहा गया है (भक्त ५) । ईशका दर्शन छोटे प्रक्रमे मिलता है । तुल-राशिको जलाकर नष्ट करनेके लिये अग्निकी एक चिनगारी पर्याप्त है (भक्त १, श्लोक १०) । अग्निके छेड़नेपर वह चमकती हुई शिलाके बल उठती है (भक्त ७, श्लोक ३१) । अग्निके प्रतिरिक्त और कोई साधन बस्तुमीको नष्ट करनेवाला नहीं है (भक्त ४) । दीपकके पास रहनेपर भी यदि उसे पदसे ढका दिया जाय तो मनुष्यको अन्धकार ही दीख पड़ता है (भक्त ४) । जल नीचेसे ऊपर उसी प्रकार नहीं जा सकता जिस प्रकार राजा का हृदय शकुन्तलाकी ओरसे नहीं फिर सकता (भक्त १) । राज्य शासनकी तुलना उस घनसे दी गई है जिसका दण्ड हावमे पारण किया हुआ हो (भक्त ५, श्लोक ६) । गर्से भरा हुआ दण्ड स्पष्ट प्रतिबिम्ब नहीं देता है, परन्तु गहरी स्वच्छ कर देनेपर वही सरलतासे स्पष्ट छाया प्रतिबिम्बित करता है (भक्त ७, श्लोक ३२) । इन्द्रका बन्ध किसी लौके भाभूपणके समान था, क्योंकि भस्मुरोंके मुँहमे वह व्यर्थ शिख हुआ (भक्त ७, श्लोक २६) । एक रेशमी कड़ा पीछेकी ओर फरफराता है यद्यपि इशका दण्ड धारणकी ओर ले जाया जाता है, ठीक यही दशा राजाके मनकी भी उस समय थी जब वह शकुन्तलासे प्रथम प्रेम करके अपनी राजधानीकी ओर लौट रहा था (भक्त १, श्लोक ३१) । तपस्या तपस्विनोवा धन है (भक्त ४, श्लोक १) । मन और दरीरका समय स्वयं एक वेष है (भक्त ४, श्लोक १७) । बन्धा धरोहर है (भक्त ४, श्लोक १२) । शारद्वत और विलासी नागरिकोंमे बड़ी सम्यन्ध है जो स्नान किए हुए और तेल लगाए हुए में, धुब और मधुब व्यक्तिमें, पूरेसे जगे हुए और सोए हुएम और अन्धन-शुक्त तथा स्वतन्त्र मनुष्यमे है (भक्त ५, श्लोक ११) ।

कौटुम्बिक सम्बन्धावा भी प्रयोग उपमाओंमे हुआ है । उस अन्धमे छोटे पैमानेपर प्राचीन

भारतीय जीवनका अनेक रूपोंमें आदर्श बिज खींचा गया है, अतः, यह स्वाभाविक ही है कि इन सम्बन्धोंको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाय। पत्नीका पतिपर स्वाभाविक प्रभाव अंक ७, श्लोक ३२ में वर्णित है। आश्रयार्थ, नवमातिकाका पति है (अङ्क ४, श्लोक १३)। पृथ्वी, आराककी पत्नी है (अङ्क ४, श्लोक २०)। भ्रमर-भ्रमरीकी चर्चा अङ्क ६, श्लोक २० में की गई है।

पैतृक-प्रेमका निरूपण करनेवाली उपमाएँ निम्नांकित हैं—

पशुपति को सन्तान सम्पन्ना चाहिए (अङ्क ७, श्लोक १६)। एक मृगशायक ती शकुन्तलाका पोष्य पुत्र था (अङ्क ४, श्लोक १४)। राजा अपनी प्रजाकी रक्षा अपनी सन्तानके समान करता है (अंक ५, श्लोक ५)।

आर्य सम्बन्धोंको सूचित करनेवाली उपमाएँ भी ध्यान देने योग्य हैं—राजाको प्रजाका बन्धु कहा गया है (अङ्क ५, श्लोक ७ और अङ्क ६, श्लोक २४)।

५. सामाजिक जीवन—प्राचीन भारतमें प्रतिधि-सत्कार बहुत बड़ा धर्म माना जाता था। इन्द्र-द्वारा दुष्यन्तके सम्मानका विषय वर्णन अङ्क ७ में मिलता है। मधुप, फूलोंसे भरी हुई लताओंका प्रिय प्रतिधि है (अङ्क ६, श्लोक १६)। व्यक्तिओंको पुकारनेके शिक्षाचारका वर्णन अंक ५ में मिलता है। बिना दूसरेके हृदयको भली भाँति समझे, जो मित्रता शीघ्रतामें की जाती है वह अवश्य शत्रुतामें परिणत हो जाती है (अंक ५, श्लोक २४)। सज्जन सदा अपने मित्रोंकी कृपा-हृदिते देखते हैं (अंक ६, श्लोक २६)। कृपाके आदर्श रूपकी उपमा किसी मनुष्यको धूसीसे उतारकर हाथीपर बठा देनेसे दी गई है (अंक ६, श्लोक २)।

कुछ मित्रता विरोधी उपमाओंका विषय कण्ठ है—

राजाकी उपमा अधुरभायी बपटीसे दी गई है (अंक ५)। उसकी तुलना चोरसे भी की गई है (अङ्क ५, श्लोक २०)। भ्रमरको ऐसा चोर कहा गया है जो फूलोंसे मधु चुराता है (अंक ५, श्लोक १०)। जनसकुला नगरीकी उपमा भीड़से घिरे हुए उस परसे दी गई है जिसमें घाग लग गई हो (अङ्क ५, श्लोक १०)। बन्दी होनेकी भावना अंक ६, श्लोक २० में निहित है, जहाँ राजा उस भ्रमरसे ईर्ष्या करता है जिसे बन्दिने सकुन्तलाके मुँहपर भँबराते हुए चित्रित किया है। राजा चाहता है कि मैं भी कमसमें बन्द हो जाऊँ। जान-बूझकर दुष्टता करनेसे कुछ लोगोंको जो प्रसन्नता होती है उसका वर्णन दैनिक जीवनकी तद्रूप पट्टमासे किया गया है—अर्थात् किसी मनुष्यकी भाँति इस प्रकार धोद देना कि उसमें भ्रष्टी निकलने लगे और फिर उसीके इसका कारण पूछना (अंक २)। सैनिक-जीवन, मृगया और अन्य सेमोंसे सम्बन्ध रखनेवाली उपमाएँ भी मिलती हैं। सूतधार अपनी प्रियाके मनोहर आलापसे उसी प्रकार भ्रान्तिनिया जाता है जिस प्रकार दुष्यन्त सवेग दोहनेवाले हरिणसे (अंक १, श्लोक ५) पुनः अंक १, श्लोक ६ में दुष्यन्तकी तुलना जिवसे की गई है जो हरिणका पीछा कर रहे है। किसी दिग्वाताघातीके दिशावली पर्यावरणकी तुलना बबूबसे की गई है (अंक ५)। किसी पश्मात्ताप करते हुए हृदयके जोबीद्वार बंद हो हैं जैसे उस हृदयसे होते हैं जो विष-बुके बाणध्वंसे देहा गया हो (अंक ३, श्लोक ६)। ऐसा बाणध्वं निजाल लिया जाता है तो जैसा सुख उस मनुष्यको होता है जिसने हृदयसे वह बाण निजाला जाता है उसका वर्णन अंक ७ में मिलता है। पशुपट्टारकी तुलना किसी बन्धु के पर्वनेसे की गई है (अंक ३, श्लोक १)।

पृथ्वीकी कल्पना एक ऐसी गंदेने समान की गई है जो भाकाशमे ऊँचे फेंक दी गई हो (भक ७, श्लोक ८) ।

६ धार्मिक जीवन—योग्य पति पानेके लिये शकुन्तलाको उसकी सखियाँ उस समुचित घटनासे उपमा देती हुई बघाई देती हैं जिसमे होता द्वारा घुरेसे ढकी हुई अग्नि न देखी जानेपर भी हव्य ठोक यज्ञकी अग्निमे हो गिरता हो । शकुन्तलाकी उपमा अन्धे शिष्यको दिए हुए ज्ञानसे दी गई है, क्योंकि ऐसे ज्ञानको नष्ट होनेकी चिन्ता कर्त्ताको नहीं करनी पड़ती (भक ६) मातलि-द्वारा बड़ी कठोरतासे पकड़े जानेपर विदूषक अपनी तुलना उस बलि-पशुसे करता है जो भव मारा ही जाने-धाता हो (भक ६) ।

निम्नांकित उपमारें, कर्म और मोलके दो धार्मिक सिद्धांतोंको स्पष्ट करती हैं—

पूर्व जन्ममे किए गए कर्मोंका फल पकता है (भक २, श्लोक १०) यदि किसी साधुकी अप्साराभेति मोहित कर लिया तो उसके लिये मोक्ष पानेकी ध्वजदम सम्भावना नहीं है (भक ५) ।

॥ पुराण और अन्य साहित्य ज्ञानके मूलसे ली गई उपमाओंसे स्पष्ट हो जाता है कि पौराणिक कथाओं और कहानियोंकी प्राचीन पुस्तकोंका कालिदासको बहुत गम्भीर ज्ञान था ।

विद्युत्की कृत्रिमके पीछे दोहनेको कल्पना पुराणोंसे ली गई है (भक १, श्लोक ६) । लक्ष्मीजी, जो सौन्दर्यका केवल एक ही भाव-बन्ध है, यदि बंद कर नहीं तो शकुन्तलाकी रागतामे रमती हुई जान पड़ती है (भक २, श्लोक १) दुविधामे पड़े हुए किकर्तव्यविमूढ चित्तकी सटीक तुलना स्वर्ग और पृथ्वीके बीचमे लटके हुए मिनकुसे की गई है (भक २) विशाखा उपग्रह और चन्द्रकलाकी चर्चा (भक ३) का मूल यह व्योतिष तत्त्व है कि विशाखा उपग्रह चन्द्रमाके पास उस समय दिखाई देता है जब कि भाकाश फल रहता है और बहुत तीव्रता चमकता है अर्थात् मशाल और ज्योत्स्ने महीनेमे ।

प्राचीन पौराणिक कथासे यथाति और सन्निहाका उल्लेख किया गया है (भक ४, श्लोक ७) । कामनाओंपर प्राधिपत्य करनेवासे साधुओंके विरुद्ध मोहमेवाली मुक्तिपथका प्रयोग करनेके लिये शक्ति अक्षराश्लोका वहाँ भक ५ मे मिलता है ।

रथमे जोड़े हुए घोड़ोंके साथ सूर्यका और पृथ्वीका भार वहन करनेवाले रथनागका वर्णन भक ५, श्लोक ४ मे मिलता है । सूर्यके साथ घोड़े हैं, इसकी चर्चा भक ६, श्लोक ३० से की गई है । सूर्यके सारथी ग्रहणके विषयमें कहा गया है कि वह अपने स्वामीसे शक्ति लेकर अन्धकारावधि माया करता है (भक ७, श्लोक ४) ।

विषोका विष कालकूट, राजाके रनिवासके विषयमें प्रभावकी वृत्तवाता है (भक ६, श्लोक २१) ।

दुष्पन्त अपने उन पूर्व पुरुषोंका काल्पनिक निज खींचते हैं जो पुनः न रहनेपर भावमय मिथोदक नहीं पायेंगे (भक ६, श्लोक २५) । दुष्पन्त और इन्द्रमे इसके अतिरिक्त और कोई अन्तर नहीं है कि इन्द्रका रथ पृथ्वीपर उसे बिना स्पर्श किए चलता है और दुष्पन्तवा स्वयं करते हुए चलता है । मारोचके आश्रयमे रहते हुए दुष्पन्त अपनेको गहरे समुद्र-सरोवरमे बैठा हुआ समझते हैं, क्योंकि स्थानका बाधुमण्डल मानवसे भरा हुआ है (भक ७, श्लोक १) । रोहिणी और चन्द्रमाके प्रेमसे सम्बद्ध कथाके साथ-साथ चन्द्रग्रहणके पौराणिक अभिप्रायका प्रयोग भक ७, श्लोक २२ मे किया गया है, जिसमे शकुन्तला और दुष्पन्तका वियोग और

सयोग दिखाया गया है। श्रक ७, श्लोक २८ में दुष्यन्तकी तुलना इन्द्रसे, उनके पुत्रकी इन्द्रके पुत्र जयन्तसे और शकुन्तलानी पौलोमीसे की गई है।

दुष्यन्तने इन्द्रसे बरी असुरोंके कुलना नाश कर दिया, अतः उनकी तुलना विष्णुके नीचे भवतार नृसिंह से की गई है (अङ्क ७, श्लोक ३)।

८ सलिल बजाएँ—कालिदासके ग्रन्थमें सलिल कलाशोसे सम्बन्ध रखनेवाले उद्धरण इस बातको सिद्ध करते हैं कि कवि होनेके अतिरिक्त उनको काव्यसे सम्बद्ध पित्रविद्या और गायन आदि अन्य कलाशोका भी बहुत गम्भीर ज्ञान और तत्त्वम्यन्धी आलोचनात्मक द्रष्टृदृष्टि थी।

प्रेक्षागृहमें रङ्गमञ्चके मधुर गानोंको उत्सुकता और ध्यानसे सुननेवाले श्रोताओंको चित्र-संक्षिप्त व्यक्तियोंका समूह कहा गया है (अङ्क १)। किस प्रकार कोई कलाकार एक भावार्थ चित्र चित्रित करते समय उसमें सभी सुन्दर रंग निहित करनेका प्रयत्न करता है इसका बहुत प्रच्छा वर्णन अङ्क २, श्लोक ६ में मिलता है जहाँ राजा, शकुन्तलाके अपार सौन्दर्यसे चौंघिया कर उसकी उत्पत्तिके विषयमें अनेक प्रकारकी भावावेक्षपूर्ण कल्पनाओंमें लीन हो जाता है। चित्र-कलाका दूसरा सिद्धान्त कि चित्रमें बनाई हुई वस्तुएँ अपनी जैसाई-निजाईके अनुसार होनी चाहिए, अङ्क ६ में समझाया गया है, जहाँ राजा इरा बनाया हुआ चित्र विस्तारसे देखता है। उसी चित्रके वर्णनमें कहा गया है कि वह तपोवनके पीपोंको खीपनेके कारण किञ्चिद् भ्रान्त चित्रितकी गई है। (अङ्क ६)।

गायन-रङ्गमन्धी उपमाएँ 'शकुन्तला' में बहुत कम हैं, यद्यपि कालिदासके अन्य ग्रन्थोंमें और अधिक मिल जायेंगी। गायनका भावेशमय रूप श्रक ५ में निहित है जहाँ राजा अपनी प्रथम कृपा-पात्रा हंसपक्षिकके गायनकी बड़ी प्रशंसा करता है।

९ मानसिक दशाएँ—परिप्लुत मस्तिष्क या विह्वल मस्तिष्ककी दशाओंका वर्णन करनेवाली उपमाएँ और साथ ही साधारण अनुभवोंसे सम्बन्ध रखनेवाली उपमाएँ भी मिलती हैं—

पावनके प्रतापमें अनुबन्धकी आशा नहीं की जा सकती (अङ्क ४, श्लोक १)। कान्योक्त विचारोंके भावेशमें अपनी शङ्कोसे बातचीत करते हुए राजा की तुलना पाण्डसे की गई है (अङ्क ६)। अन्धा मनुष्य अपने खिरपर फँकी हुई आवा को भ्रम-रस मर्ष समझता है (अङ्क ७, श्लोक २४)। स्वप्नमें अनुभव किए हुए, एक तान्त्रिक द्वारा उत्पन्न किए गए भ्रमवा मस्तिष्ककी तल्लीनताकी कमीसे पैदा हुए मति-भ्रमोंकी ओर श्रक ६, श्लोक १० में संकेत किया है।

पृथ्वीकी ओर सीमे उन्नते हुए इन्द्रके रथकी अत्यन्त द्रुति गति एवं प्रकारका ऐसा भ्रम उत्पन्न करती है मानो भ्रमानक दृष्टिपथमें घाते हुए पर्वत शिखरोंसे पृथ्वी स्वयं नीचे उतर रही हो (अङ्क ७, श्लोक ८)। निरवसनीय साक्ष्यपर आश्रित निष्कर्षके द्वारा किसी वस्तुके विषया ज्ञानसे अत्यन्तमें होनेवाले परिवर्तनवत् वर्णन अङ्क ७, श्लोक ३१ में किया गया है। श्रव ७, श्लोक ३१ से हम जानते हैं कि कुछ विषयोंमें हमारी निजी अमिर्त्तिचित्र किस प्रकार मृत वस्तुओंको भी जीवित कर सकती है।

१० भाव-जगत्—जिसी भी ग्रन्थमें उपमाओंके प्रयोगपर मुख्य तात्पर्य यह है कि स्पष्ट उदाहरणों द्वारा सूक्ष्म भाव स्पष्ट किए जायें। परन्तु ऐसी आदि कुछ भाग्य कवियोंकी भाँति कालिदासको भी हम इस समायत पद्धतिके विरुद्ध पाते हैं। बहुधा व्यतीकृत भाव उपमाका भाव-रस हो जाता है। भाव-सम्बन्धी उपमाओंके निम्नादिष्ट उदाहरण हैं—

राजाके रथसे उग्यर एव हाथी, कण्ठके पवित्र सता-वितानमे इस प्रकार घुसता है मानो वह उनकी उपस्थाका मूर्तिमान विघ्न हो (अंक १, श्लोक ३०) । अंक ७, श्लोक १३ मे शकुन्तला, जो वास्तवमे राजाकी कामनाका लक्ष्य थी, स्वयं कामना-रूपमे अंकित की गई है । दुष्यन्त, शकुन्तला और उनके पुत्र। सर्वदमनके प्रेम-मिलनकी उपमा विश्वास, भाग्य और कर्मके प्राकस्मिक योगसे दी गई है (अङ्क ७, श्लोक २६) । शकुन्तलाके निर्दोष शोन्दर्यकी तुलना महान् कृत्योंके पूर्ण फलसे की गई है (अङ्क २, श्लोक १०) । पश्चात्ताप करता हुआ राजा शकुन्तलासे अपने प्रथम प्रेम-प्रदर्शनकी तुलना उतने ही कम पारितोषिकसे करता है (अंक ६, श्लोक १०) ।

दूसरे व्यक्तीकृत भावोंके उदाहरण भी शाय मिल जाते हैं—

शोषोके धारण बहुतसे अनिष्ट होते हैं (अंक ६) । साम्य राजमुच सर्वव्यापी है (अङ्क ६) महाममाकी महत्वाकांक्षाएँ वास्तवमे ऊँचे उठा करती हैं (अङ्क ७) दुष्यन्तकी प्रतिबिम्बित स्वर्गके भरातल-नर स्थित है (अङ्क ७) । भूख विह्वलकी प्राय छा गई है (अंक ६) ।

११ काव्य-सम्बन्धी या अन्य रुचियाँ—

सभी सस्कृत-साहित्य-भेगियोंका साथ कवन है कि बहुतासी भावनाएँ जो प्रारम्भमे आवेश और प्रोवसे भरी हुई थीं उनमे यद्यपि अतिशयोक्ति थी फिर भी वे पिछले सेवेके कवियोंके हाथमे पढ़कर सर्वथा रुचिबद्ध और निर्णीय-सी हो गईं । अत इसमे सन्देह नहीं कि हमकी कुछ स्वर्ण-के साथ-साथ कालिदासकी रचनाश्रमे कुछ निम्न कोटिकी यापुष्टीका मिश्रण भी मिलता है यद्यपि उनमे कलनाकी कीमिमा भी पर्याप्त है ।

काम-भीषित मनुष्यपर चन्द्रमाकी सीतल किरणें अग्निकी वर्षा करती हैं (अङ्क १, श्लोक ३) । काम-भीषित मनुष्योका रुद्ध चरुण 'शकुन्तला' मे भी वैसा ही है जैसा प्राचीन पुस्तकोमे मिलता है, यद्यपि धनसूमा यह भाषाचर्या करती हुई पाई जाती है कि उपर्युक्त चरुण उतकी छाँची शकुन्तलाके लिये उपयुक्त हो है (अङ्क ३, श्लोक १४) । सतारके साथ भौंहोकी तुलना बहुत पुरानी है (अङ्क ३, श्लोक १३) । कुमुदिनिवोपर चन्द्रमाका प्रभाव प्राय सभी सस्कृत-नाट्योमे उद्धृत है, यह उपमाश्रमे सबसे अधिक नीरस है (अङ्क ३, श्लोक १५) । पृथ्वी, राजाकी परनी समझी गई है (अंक ३, श्लोक १८) । चक्रवा-चक्रवीका विमोह एकदम रुचिबद्ध है (अंक ३, श्लोक ३) । कन्दर हुसके बल-रत्न नलन श्वेतका चरुण अंक ४, श्लोक १२मे मिलता है । जोफिलाके बचनोका पालन पोषण बीषोके पोखलोमे होता है (अंक ५, श्लोक २२) । अग्न प्रकृतिवादी ही इस उक्तिके सरपकी जाँच करें । कामदेवका धनुष और बाणसे सुसज्जित दिखलाना योरोपीय और सस्कृत वाण्यमे समान है (अंक ५, श्लोक २३, अंक ६, श्लोक ४) । आश्रमञ्जरी कामदेवका दृष्टा प्रज्ञ है (अंक ६, श्लोक ३, अंक ६, श्लोक ८) । आश्रमञ्जरियोंको देखकर अमरोंका मदमस्त होना यद्यपि स्वाभाविक है फिर भी यह वाण्य-शोन्ध्य प्राप्त करनेके लिये एक प्रवेश-द्वार सा हो गया है (अंक ६) । दूध और जलके मिश्रणसे केवल दूध चूस लेना और जलको छोड़ देना हस्त-पक्षीका विशेष गुण है । यह एक शीघ्रकालिक रुचि है (अंक ६, श्लोक ८) ।

कुछ साधारण निष्कर्ष—

उपरिलिखित निम्नोकी सारिणी से शरी गाँठ स्पष्ट हो जायगा कि साधारण बातोंमे असाधारणके प्रति कालिदासकी प्रायुक्तता बहुत हो सीध थी । अपने विश्लेषणके निष्कर्षोंसे भी सुने यह

दिलनेमें प्रसन्नता है कि उनकी बुद्धि सचमुच विस्तृत थी और इस बुद्धिने अपने धेरेमें घाई हुई प्रत्येक वस्तुको उचित स्थान दिया । उनका प्रकृति-ज्ञान एकदम नया था । दुष्मन्तके प्रथम प्रेमने एक स्थायी स्थान बना लिया है । वह कहता है—

न च निम्नादिव सलिल निवर्तते मे उतो ह्रुदयम् ।

[अपने प्रेम-नाथ को छोड़ना मेरे लिये उतना ही असम्भव है जितना कि नीचे बहते हुए जल को ऊपर-चढ़ा ले जाना ।]

शब्द चित्रने कोई उपमा, पहले पशुधोकी खुरसे उठाई गई थीर फिर कण्ठके तपोदानके वृक्षोपर स्थित धूलसे अधिक कलाका प्रदर्शन नहीं करती । धूलके जमावकी तुलना टिड्डी दलसे की गई है—

जलमसमूह इव रेणु पतति । क्या यह उपमा कानिदासके प्राकृतिक दृष्टिकोणकी नवीनता नहीं सूचित करती ? क्या उनमें प्रत्यक्ष संकेतो द्वारा वस्तु प्रदर्शित करनेकी विचित्र शक्ति नहीं है जिनको टेनिसन या प्राउनिफ़ या अन्य कवि भीर अधिकतासे दिलाते हैं ?

उनके प्राकृतिक ज्ञानके सम्बन्धमें दूसरी ध्यान देने-योग्य बात यह है कि उन्होंने मनुष्य और प्रकृतिके बीच कोई विभाजन-रेखा नहीं खींची है । समाजमें मनुष्योका सम्बन्ध पौधोंके पारस्परिक सम्बन्ध-द्वारा समझाया गया है । विशेषतः 'शकुन्तला' में वनस्पति और पशु-जीवनके सभी अन्तर विलुप्त निकाल दिए गए हैं और पूर्ण जीवन हमारे समक्ष रक्खा गया है ।

दुष्मन्तके सम्पूर्ण मनुष्यका वर्णन विस्तारसे करनेके लिये कल्पनाके बहुत ही उत्कृष्ट रूपकी आवश्यकता है । उदाहरणार्थ—किस प्रकार नीचे उतरते समय पृथ्वी दुष्मन्तकी ओर झुका दी गई थी जान पड़ती है, इसका प्राकृत वर्णन—प्रक ७, श्लोक ८ में किया गया है । कानिदासके समयमें वायुयान नहीं थे फिर भी विचित्रता यह है कि पूराका पूरा वर्णन, एष० जी० वेल्स-द्वारा अपने केषामे दिए गए उस वर्णनसे अधिक स्थाने पश्चिमा मिल जाता है जिसमें उन्होंने अपना प्रथम वैमानिक अनुभव होने बताया है ।

फिर भी मैं इस बातपर बर देता हूँ कि सभी उपमाएँ बुद्धिमत्ताकी सूझ नहीं हो सकती । सत्तारकी श्रम्य वस्तुओंमें समान उपमाधोका भी धारणा किसी सौन्दर्य होता ॥ । प्रथम तो उन्हें उचित होना चाहिए । जब किसी पण्डितमानीने किसी अँधी बीमारको देखकर इस प्रकार आलोचनाकी "यह गृहका रंसा निरर्थक वाक्यांश है" तो उसने सचमुच शिथिल या कवि होनेकी अपनी क्षम्यता प्रकट की ।

कानिदासकी उपमाधोमें यह शोचित्य निश्चय ही है, इसका विवरण कुछ उदाहरणोंसे पल जायगा । प्रियम्बदा अपनी सखी शकुन्तलाकी योग्य पति पानेपर ब्याई देते हुए कहती है :—

दिप्या भ्रमाभुनिहृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुति पतिता ।

श्लो । मुनिप्यपरिहृता विधेयाजोषनीपाति सवृता ।

उपमाधोका शोचित्य और सौन्दर्य इस बातमें समझा जाता है कि कविमें यह शक्ति हो कि यह पार्थिव जीवनसे उदाहरण लेकर धार्मिक सम्बन्धको समझ दे ।

दूसरी ओर विदूषकके हाथमें पडकर प्रत्येक गम्भीर और पवित्र विचार घससकृत और हास्यास्पद हो जाते हैं। जब भावति उसे इसी प्रकार पीट चुकता है तो वह कहता है—

इष्टिपशुमारं मारितः ।

दूसरे स्थलपर दुष्यन्तके प्रेमोन्मत्त हो जाने पर वह कहता है—

‘सिद्धिं एव भूयोऽपि सकुन्तलाव्याधिना’ ।

व्यसनाका हास्य-सिद्धान्त विदूषककी चरित्र-वृद्धिमें नती भाँति दिखाया गया है, क्योंकि आत्माके विषयमें बातचीत करते हुए वह सर्वदा शरीर और उसके असंस्कृत प्रेमकी ओर ही निर्देश करता है।

उपमाओंके अर्थ गुण जैसे वैचित्र्य, वैविध्य आदिका विशेष रूपसे वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे ऊपर दी हुई उपमाओंके मूल स्रोतोंके बिभागोंसे स्पष्ट हो गए हैं।

अंगरेजी साहित्यका विद्यार्थी मिट्टन अथवा होमरमें अधिकतरसे मिलनेवाली लम्बी पूछोवाली उपमा न पाकर आश्चर्यमें पड़ जाता है। किसी विचारको जान-बूझकर पीट-पाटकर ध्वाना, कुत्रिमता ही सूचित करता है, चाहे वह कितनी ही चतुराईसे क्यों न किया जाय, क्योंकि मौलिक रचनाके लिये वह किसी प्रकार भी सहायक नहीं है। बनावट कभी मौलिक रचनाके समकक्ष ही भी नहीं सकती। कालिदासकी प्रायः सभी उपमाएँ सीधी-सादी हैं और वे भारतीय मस्तिष्कपर अपना प्रभाव डालती हैं क्योंकि वे उस भारतीय सम्पत्ताका चित्रण करती हैं जिसका पालन-पोषण हमने हुआ है न कि यूनानी और रोमन सम्पत्ताकी भाँति नगरकी चहार-दीवारीके भीतर। अतः उन सभीमें वह स्वातन्त्र्यकी अलक दिखाई देती है जो प्रकृतिके घटितवासी प्रभावके वैज्ञानिक सम्पर्कसे ही सम्भव है।

कासिदासकी छन्दोयोजना

[श्री पण्डित रामगोविन्द शुक्ल, स्थाय-व्याकरण-साहित्याचार्य, काशी]

जैसे विभिन्न प्रकारके उच्चारणके लिये विभिन्न प्रकारके षष्ठ्यानुके अभिप्रातोंका विधान है और जैसे विभिन्न प्रकारके वर्ण पृथक् पृथक् रस, भाव तथा प्रत्यय आदिसे व्यञ्जक हैं वैसे ही उत-उन रसोंकी व्यञ्जनाके लिये भिन्न-भिन्न छन्दोंका या विधान है जैसे शृङ्गार रसके व्यञ्जक वर्णोंके द्वारा ही शृङ्गार रसकी सिद्धि होती है वैसे ही छन्दोंके विषयमें भी यह विचार किया गया है कि किस छन्दमें रसा हुआ काव्य किस रसकी पुष्टिके लिये अधिक उपयुक्त होगा। उसका तात्पर्य यह है कि केवल छन्द-योजना ही काव्यमें रस-सिद्धिके लिये पर्याप्त नहीं होता, उसने लिये छन्दोयोजना भी उतनी ही अधिक अपेक्षित है। महाकवि क्षेमेन्द्रने अपने सुवृत्त-विलम्बे कहा है कि—

काव्ये रसानुसारेण वर्णानुसारेण च ।
शुचीति सर्ववृत्तानां विनियोग विभाषवित् ॥

(काव्यमें रस तथा वर्णोंकी वस्तुके अनुसार छन्दोयोजना ठीक समझकर छन्दोंका विनियोग करना चाहिए ।)

छन्दोयोजनाका परिणाम तो उन महाकवियोंके काव्योंमें ही सम्भव है जिनकी वाग्मरा अधिक प्रवाह-द्वारा साहित्य तथा साहित्यकारोंके कृत्य करती रही है। आचार्य मम्मट भट्टने कहा है कि काव्य-निर्माणकी शक्ति होनेपर भी 'काव्यशक्तिमान्वाच' की आवश्यकता रहती ही है। अतएव नये कवि अपने पूर्ववर्ती बड़े बड़े कवियोंके बनाए हुए मार्गपर ही चलना उचित समझते हैं और शृङ्गार ऐसी परिपाटी बना लेते हैं जिससे पीछे आनेवाले कवि-मालाच भटवते न दिरें, प्राप्त उसी मार्गपर सावधानीसे पैर रखते हुए बड़े बड़े भावें। इसीलिये महाकवि क्षेमेन्द्रने अपने सुवृत्तविलम्ब नामक ग्रन्थमें छन्दोयोजनाके विषयमें नियम लिखते हुए कहा है—

मारम्भे सर्गबन्धस्य कथाविस्तारवग्रहे ।

समोपदेशवृत्तान्ते सन्त शसन्त्यनुष्टुभम् ॥

शृङ्गारसम्बन्धोदारनायिकारूपवर्णनम्

यसन्तादि सरङ्ग च सन्ध्यायमुपजातिभिः ॥

रपोढता विभावेषु भव्या चन्दोदयादिषु ।

पार्श्वगुण्यप्रगुणा नीतिव्यगस्येन विराजते ॥

वसन्तनिगक भाति सङ्करे गोरतोदयो ।

शुर्पा सर्गस्य पर्वने मातिनी दृताश्रुत्व ॥

उपपन्ने परिच्छेदकाले शिखरिणी मता ।

भौदायंश्चिरोचित्य-विचारे हरिणी मता ॥

साधोपक्षेपचिक्कनरे पर पृथ्वीभरक्षमा ।

प्रावृट्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते ॥

शोभंस्तथे नृपादीना शार्दूलक्रीडत मत्तम् ।

सावेगपवनादीना वर्णने लम्बरा मता ॥

शेषकतोऽनर्कटमुक्त मुक्तफलेव विराजति सूत्रम् ।

निर्निषयस्तु रसादिषु तेषां निर्निषयस्य सदा विनियोगः ॥

शोषाणामप्यनुत्ताना वृत्ताना विषय दिना ।

वैचित्र्यमात्रपात्राणां विनियोगो न दर्शित ॥

इत्येव वक्ष्यवचना सर्ववृत्त-प्रसंगिनाम् ।

अदो विभाग सद्वृत्तविनिवेशे विक्षेपमाद् ॥

महाकवि क्षेमेन्द्रकी दृष्टिसे कालिदासकी छन्दोयोजना इस प्रकार की है —

सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवक्ष्यति ।

सपक्षवदम् ? स्येव काम्बोजनुराङ्गना ॥

सुवर्णहिं प्रबन्धेषु यथास्थान-विवेशिनाम् ।

रत्नागामपि वृत्तानां भवत्यम्बविकारः कविः ॥

[किसी संगके प्रारम्भमें, कयाके विस्तारका तद्वह करनेसे उपदेश या वृत्तान्त कथनमें अनुष्टुप् छन्दके प्रयोगकी प्रशंसा सम्बन्धन लोग करते हैं । शृङ्गारके भासम्बन्ध-स्वरूप उदार नामिकाके वर्णन और शृङ्गारके भगभूत वसन्त भाविका वर्णन उपजाति छन्दमें करना चाहिए । भग्य चन्द्रोदय आदि विभाविका वर्णन रम्योद्धतामें और पाङ्गुध्व आदि नीति सम्बन्धी विषयोंका वर्णन वशास्य छन्दमें शोभन होता है । और और शीतके मेलमें वसन्ततिलका छन्द ठीक होता है और संगके अन्तमें द्रुत तानके समान मालिनी छन्दका प्रयोग करना चाहिए । चम्पायको प्रसंग करने का प्रारम्भ करते समय शिखरिणी छन्द उचित होता है । उदारता, रुचि और मोचिर्य आदि गुणोंके वर्णनके लिये हरिणी छन्द ठीक है । आशेष, क्षेप और चिक्कनरे लिये पृथ्वीभरक्षमा छन्द उचित है । वर्णा, प्रवास, विपत्ति आदिके वर्णनके लिये मन्दाक्रान्ता छन्द उपयुक्त है । राजाओंके शौर्यकी स्तुतिके लिये शार्दूलविक्रीडित तथा प्राची-नवदरके लिये लम्बरा ठीक है । मुत्तर सूत्रियाँ दोषक, तोटक तथा नर्कुट छन्दमें अच्छी लगती हैं । बिन अन्य छन्दोंके प्रयोगका वर्णन नहीं किया गया है उनके विषय और प्रयोगके भौचित्यका विचार कर लिया जा सकता है । कवि लोग उचित प्रकारसे यथा स्थान उनका प्रयोग कर ही लेते हैं ।]

महाकवि क्षेमेन्द्रका यह निर्देश सर्वथा सराहनीय है और छन्दोंके विषयमें पूर्णरूपसे यह विभाग बन जाना चाहिए कि किस छन्दका वहाँ प्रयोग करना उचित और नहीं अनुचित है

जिसमें नये बन्धियोंका उचित 'पथ' प्रदर्शन हो सके। रीति-ग्रन्थकारोंने काव्यदोष गिनते हुए 'हृतवृत्तता' नामक दोष भी लिखा है। उनका कहना है कि जो वृत्त उसके स्वभावसे विपरीत पड़ता हो उसका प्रयोग उस उसके लिये करना ही हृतवृत्तत्व दोष है। इस विषयपर ऐसे पृथक् नियन्त्रणी आवश्यकता है जिसमें विभिन्न रसोंके अनुगुण विभिन्न छन्दोंकी योग्यता विस्तारसे समझाई जाय। इस समय केवल यही विचार किया जा रहा है कि महाकवि कालिदासने अपने पात्रोंमें किन रसों, भावों तथा वर्णनोंके लिये किन छन्दोंका प्रयोग किया है—

छन्द

विषय-भाव या इस

१. उपाजाति—व्याख्यान, वपस्या तथा सावक-नायिकाका सौन्दर्य।
२. अनुष्टुप्—सम्बन्धी वचनों सक्षिप्त करने तथा उपदेश देनेमें।
३. वल्लभ्य—वीरताके प्रकरणमें, चाहे युद्ध हो या युद्धकी रीति हो रही हो।
४. वैतालिक—कहना रखने।
५. हुतपिलम्बित—समृद्धिके वर्णनमें।
६. रघोदत्ता—जिस वर्णनका परिणाम सेवके रूपमें परिणत हो चाहे वह सेव रति-जनित हो, दुष्कर्तृ-जनित हो या पञ्चाशत-जनित हो। अतः कामक्रीडा, आनन्द साधना वर्णन इसी छन्दमें है।

■ मन्दाक्रान्ता—प्रवास, विपत्ति तथा वर्णनके वर्णनमें।

७. मातिनी—सफलताके साथ पूर्ण होनेवाले वर्णनके अन्तमें।
८. प्रहर्षिणी—हर्षके साथ पूर्ण होनेवाले वर्णनके अन्तमें। यदि वर्णनमें भी यही इष्टता प्रयोग है तो वही भी दुःखकी धारामें हर्ष या हर्षकी धारामें हर्षातिरेक ही परिणत है।

१०. हरिणी—जब नायिका अत्युत्थान हो या तीभाग्यका वर्णन हो।

११. वरुणनिका—कार्यकी उपलब्धतापर। अनु-वर्णनमें भी पुरुषोंकी उपलब्धता या अनुगुण उपलब्धतापर तभी विद्वत् हो सकती है जब उसका उपभोग उन वस्तुओंका आभोग कर रहा हो।

इसी प्रकार सफलताके लिये प्रस्थान या प्राप्तिमें सार्थकतायुक्त पुष्पिताकर, निराशाके साथ विपत्तिमें सौन्दर्य, दुःख-सन्ताप में मातिनी, युवा वीरता-प्रदर्शनमें योग्यद्वन्द्वित्व, प्रीतिमें वर्णनमें (चाहे वानरोंका हो या अन्य वीरोंका हो) रघोदत्ता, संयोगसे स्वर्गप्राप्त विपत्ति या सम्पत्तिमें स्वागत, पञ्चाशतमें सत्ययुग, प्रजन्मोंका परिणाम करनेमें मारण तथा वीरता आदिसे वर्णनमें सार्थकतावर्द्धित्वका प्रयोग किया गया है।

यहाँ यही सम्झना प्रयोज्य किया गया है कि किस प्रकारकी घटनाओं तथा विद्वत् प्रकारके विचारोंका वर्णन किस किस छन्दमें किया है। निश्चय स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि कालिदासने अपने रसोंके प्रयोग-द्वारा ही जो छन्द करने और सम्पत्ति-प्रयत्न किया है कि इन एतदोक्त प्रयोग किछ रसम कम्पा चाहिए। जिस वर्णन की घटनाओंमें शोक-दोषपर भाव बदला है या

घटना बदली है ठीक उसीके अनुसार कविने छन्दों भी भिन्न करके हा परिवर्तित किया है जिससे यह भी मानना अनुचित न होगा कि कविने अपने काव्यके द्वारा स्वर्णि अनुकूल छन्दोयोजनाकी शिक्षा भी दी है ।

छन्दोका प्रयोग समझने और उनका प्रकरण जाननेके लिये छन्दोकी कालिका भागे दी जाती है जिसके द्वारा सीधे लिखी हुई बातोंकी पुष्टि हो सकेगी—

रघुवंश

| प्रथम सर्ग | छन्द | संख्या |
|--------------|--------------|---|
| १ से ६४ तक | अनुष्टुप् | सधुस्वाव पवन यत्र मुखपठ ॥ सप्तमम् । द्विचुषं पादयो ह्यं स्वमप्यधर अनुष्टुभम् । |
| ६५ वाँ | प्रह्विपणी | मनी मनी गच्छिदरायति प्रह्विपणीयम् । |
| द्वितीय सर्ग | | |
| १ से ७४ | उपजाति | उपेद्रकथापदव्यतानि मदीन्द्रवज्रावरणानि च स्तु । उदोपजाति कथिता कवीन्द्रैर्महाभवासीह चतुर्दशास्या । |
| ७५ वाँ | मात्तिनी | नममममुतेय मात्तिनी भोगितोके । |
| तृतीय सर्ग | | |
| १ से ६६ तक | महास्थ | जती धु महास्थमुदीरित जरी । |
| ७० वाँ | हरिणी | रसयुगह्वयैर्ह्यं मनीस्त्री गो यदा हरिणी तदा । |
| चतुर्थ सर्ग | | |
| १ से ५६ तक | अनुष्टुप् | (ऊपर देखो) |
| ५७ से ८८ तक | प्रह्विपणी | (ऊपर देखो) |
| पंचम सर्ग | | |
| १ से ६२ तक | उपजाति | (ऊपर देखो) |
| ६३ से ७३ तक | महा-उत्तिलवा | उत्तल महा-उत्तिलवा उभया वयोप । |
| ७४ से ७५ तक | मात्तिनी | (ऊपर देखो) |
| ७६ वाँ | पुणितारा | अपुनितमुनरेकतो यनारो मुनि च न जीवन्ताश्च पुणितारा । |
| षष्ठ सर्ग | | |
| १ से ८४ तक | उपजाति | (ऊपर देखो) |
| ८५ वाँ | मात्तिनी | (ऊपर देखो) |
| ८६ वाँ | पुणितारा | (ऊपर देखो) |
| सप्तम सर्ग | | |
| १ से ६६ तक | उपजाति | द्वितीय सर्गमें, (ऊपर देखो) |
| ७० से ३१ तक | मात्तिनी | द्वितीय सर्गमें, (ऊपर देखो) |

अष्टम सर्ग

१ से ६० तक वेंतालीय निपमे यदि पटनलासमेष्टौ स्फुल्ला इह नो निरन्तरा ।
न समात्र पराश्रिता कला वेंतालीयेष्टे रली गुरु ।

६१ वां तोटक इह तोटकमम्बुधिसं प्रथितम् ।
६२ वां प्रहृषिणी प्रथम सर्गमे (ऊपर देखो)
६३ से ६४ तक वसन्ततिलका पचम सर्गमे (ऊपर देखो)
६५ वां मन्दाक्रान्ता मन्दाक्रान्ता बलपिण्डमभ्रगती तद्गुरुचेत् ।

नवम सर्ग

१ से ५४ तक द्रुतविलम्बित द्रुतविलम्बितमाह नभी भरो ।
५५ से ६३ तक वसन्ततिलका पचम सर्गमे (ऊपर देखो)
६४ से ६५ तक मालिनी मालिनीपुल्ल म्दो तयो मोम्पिजोर्क ।
६६ वां औपच्छन्दसिक चरमे यदि रेफयो भवेतामौपच्छन्दसिक दलद्वये तत् ।
६७ वां मालिनी द्वितीय सर्गमे (ऊपर देखो)
६८ वां रघोदत्ता रान्तराविह रघोदत्ता संगी ।
६९ से ७० तक गुप्तिरात्रा पचम सर्गमे (ऊपर देखो)
७१ से ७३ तक स्वागता स्वागतारनभयैर्गुरुरात्रा च
७४ वां वेंतालीय अष्टम सर्गमे (ऊपर देखो)
७५ वां मत्तमयूर वेदं रश्मिस्तो यसमा मत्तमयूरम् ।
७६ से ८२ तक वसन्ततिलका पचम सर्गमे (ऊपर देखो)

दशम सर्ग

१ से ८५ तक अनुष्टप् प्रथम सर्गमे (ऊपर देखो)
८६ वां मालिनी द्वितीय सर्गमे (ऊपर देखो)

एकादश सर्ग

१ से ८२ तक रघोदत्ता नवम सर्गमे (ऊपर देखो)
८२ वां वसन्ततिलका पचम सर्गमे (ऊपर देखो)
८३ वां मालिनी द्वितीय सर्गमे (ऊपर देखो)

द्वादश सर्ग

१ से १०१ तक अनुष्टप् प्रथम सर्गमे (ऊपर देखो)
१०२ वां मालिनी द्वितीय सर्गमे (ऊपर देखो)
१०३ वां वसन्ततिलका पचम सर्ग मे (ऊपर देखो)
१०४ वां नाराय इह नगरवतुष्वमृष्ट तु नारायमाचराते ।

त्रयोदश सर्ग

१ से ६७ तक उपजाति द्वितीय सर्गमे (ऊपर देखो)
६८ से ७८ तक वसन्ततिलका पचम सर्गमे (ऊपर देखो)
७९ वां प्रहृषिणी प्रथम सर्गमे (ऊपर देखो)

| | | | |
|--|---|---|--|
| चतुर्दश सर्ग १ से २६ तक २७ वाँ | उपजाति मन्दाक्रान्ता | द्वितीय सर्गमें अष्टम सर्गमें | (ऊपर देखो) (ऊपर देखो) |
| पंचदश सर्ग १ से १०२ तक १०३ वाँ | अनुष्टुप् मन्दाक्रान्ता | प्रथम सर्गमें अष्टम सर्गमें | (ऊपर देखो) (ऊपर देखो) |
| षोडश सर्ग १ से २५ तक २६ वाँ २७ से ३२ तक | उपजाति वसन्ततिलका मन्दाक्रान्ता | द्वितीय सर्गमें पञ्चम सर्गमें अष्टम सर्गमें | (ऊपर देखो) (ऊपर देखो) (ऊपर देखो) |
| सप्तदश सर्ग १ से २० तक २१ वाँ | अनुष्टुप् मन्दाक्रान्ता | प्रथम सर्गमें अष्टम सर्गमें | (ऊपर देखो) (ऊपर देखो) |
| अष्टादश सर्ग १ से ५१ तक ५२ से ५३ तक एकौतविंशति सर्ग १ से ५५ तक ५६ वाँ ५७ वाँ | उपजाति वसन्ततिलका रघोदत्ता वसन्ततिलका मन्दाक्रान्ता | द्वितीय सर्गमें पञ्चम सर्गमें प्रथम सर्गमें पञ्चम सर्गमें अष्टम सर्गमें | (ऊपर देखो) (ऊपर देखो) (ऊपर देखो) (ऊपर देखो) (ऊपर देखो) |

कुमारसम्भव

प्रथम सर्गमें

| | | | |
|--|--------------------------------|--|-------------|
| १ से ५६ तक ६० वाँ | छन्द उपजाति माहिनी | लक्षण द्वितीय सर्ग द्वितीय सर्ग | रघुवध " |
| दूसरा सर्ग १ से ६३ तक ६४ वाँ | अनुष्टुप् माहिनी | प्रथम सर्ग द्वितीय सर्ग | " |
| तीसरा सर्ग १ से ७४ तक ७५ वाँ ७६ वाँ | उपजाति वसन्ततिलका माहिनी | द्वितीय सर्ग पञ्चम सर्ग द्वितीय सर्ग | " " " |

घोषा सर्ग

१ मे ४४ तक
४५ वी
४६ वी

वैतालीय
वसन्तविलम्ब
पुष्पिकाशा

षष्ठम सर्ग रघुवंश
पञ्चम सर्ग "
चतुर्थम सर्ग "

पद्मिनी सर्ग

१ मे ८४ तक
८५ मे ८६ तक

वधस्य
वसन्तविलम्ब

तृतीय सर्ग "
पञ्चम सर्ग "

शङ्खा सर्ग

१ मे ६४ तक
६५ वी

अनुष्टुप्
पुष्पिकाशा

प्रथम सर्ग "
पञ्चम सर्ग "

सातवी सर्ग

१ मे ४३ तक
४४ मे ४५ तक

उपजाति
मालिनी

द्वितीय सर्ग "
द्वितीय सर्ग "

आठवी सर्ग

१ मे ६० तक
६१ वी

रघोदत्ता
मालिनी

नवम सर्ग "
द्वितीय सर्ग "

नववी सर्ग

१ मे ५१ तक
५२ वी

उपजाति
पुष्पिकाशा

द्वितीय सर्ग "
पञ्चम सर्ग "

दशवी सर्ग

१ मे ३६ तक
३७ वी

अनुष्टुप्
मालिनी

प्रथम सर्ग "
षष्ठम सर्ग "

ग्यारहवी सर्ग

१ मे ४६ तक
४७ वी

उपजाति
हिंगी

द्वितीय सर्ग "
तृतीय सर्ग "

बारहवी सर्ग

१ मे ३६ तक
३७ वी

उपजाति
हिंगी

द्वितीय सर्ग "
तृतीय सर्ग "

तेरहवी सर्ग

१ मे ३० तक
३१ वी

उपजाति
मालिनी

तृतीय सर्ग "
द्वितीय सर्ग "

कालिदास के काव्यों में निर्दिष्ट
स्थलों से युक्त
भारत का मानचित्र



अभिधान-कोष

[पण्डित सीताराम चतुर्वेदी]

प्र

अनुमान—सूर्यवंशी राजा सगरका पौत्र
अक्षयजसका पुत्र । (देखो सगर)

अक्षत—पावसके समूचे दाने जो देवपूजाके
काममें आते हैं ।

अगस्त्य—१ ऋषि, जिनका अरुण चंडसे
हुमा था, जिनहोंने समुद्र सोल लिया था और
जिनके कहनेसे विन्ध्यपर्वत सेट गया था । 'अग
विन्ध्याचल स्थाययति इति अगस्त्य ।' ऋग्वेदके
अनुसार यज्ञस्थलमें उर्वशीको देखकर विन और
बहलका वीर्य रसलित होकर यज्ञके कुम्भमें जा
गिरा, उसीसे अक्षित और अगस्त्यकी उत्पत्ति
हुई । सोपामुवासे अगस्त्यका विवाह हुमा ।
अगस्त्यका आश्रम गौदावरीके उत्तर तटपर
दण्डकारण्यमें विदर्भ (बर्तमान बरार)की पूर्वोत्तर
सीमापर था । देवताओंके अनुसंधानसे इन्होंने समुद्र
सोख डाला, इन्धन और यातापि अनुसंधानको गूढ
कर डाला । जब विन्ध्याचलने सूर्यका पथ रोक
लिया था, उस समय इन्होंने उसे सींचे सिटा
दिया था ।

विद्वानोंका विश्वास है कि अगस्त्यकी स्मरण
करते हुए यह श्लोक पढ़नेसे अजीर्ण दूर हो
जाता है—

आतापी मारिती येन वातापी च महाबल ।
समुद्र रोपितो येन स मज्जस्त्य प्रसीदतु ॥

२—तारा जो दक्षिण दिशामें सौर भाद्रपद
मासके सप्तहव्य दिन उदय होता है । यह तारा
जब उदित हो जाता है तब वर्षा समाप्त हो
जाती है ।

३—वृष, जिसमें द्वितीयाके चन्द्रमाके
आकारके पूल लगते हैं ।

अमृद—सुगन्धित काष्ठ । इसके घुएँसे
महिलाएँ अपने केश सुगन्धित करती हैं । अगर
चन्दन । यह देखनेमें काला, पर परस्परपर घिसनेसे
सुन्दर पीले रंगका हो जाता है । इसका पेठ बहुत
बड़ा होता है और सिलहटके पहाड़ी जंगलमें
जगता है । इसीके पुराने वृक्षसे गुग्गुलु-जैसी एक
प्रकारकी गोद निकलती है जिसे पीतबर आगपर
डालनेसे मोठी धुगध निकलती है ।

अग्नि—आग्नेय-कोण (दक्षिण-पूर्व दिशा)
के अधिष्ठाता देवता । अग्निके तीन प्रकार हैं—
दावाग्नि, जठराग्नि, वाडवाग्नि ।

दावाग्नि—सकड़ीकी आग, (जठराग्नि,
पेट की आग जो भोजन पचाती है, वाडवाग्नि
समुद्रकी अग्नि ।)

अग्निहोत्र—यज्ञ विशेष । एक मासमें इस
यज्ञका उवाचन किया जाता है फिर पावजीवन
यह यज्ञ करनेसे प्रात और संध्याको होम करना
पड़ता है ।

अङ्ग—किसी वादकका एक कार्य जिसने
असमं पूर्ण होता है उसे अङ्ग कहते हैं ।

अक्षय—वे बाजे जो गोदमें रखकर बजाए
जाते हैं । जैसे—मृदंग, डोलक, पखावज ।

अक्षराद्य—वे सब सुगन्धित पदार्थ—चन्दन,
कभूर, अगर, पराग, धालता आदि जिन्हें लेप
करनेसे सरीरमें सुगन्ध और शोभा आती है ।

अगिरा या **अगिरस्** ऋषि—ब्रह्माके
द्वितीय पुत्र । इनकी पत्नी शुभा और पुत्र
गृहस्पति हुए । एक बार महर्षि अगिराने इतना
कठोर तप किया कि उनकी ज्योतिसे सप्ताह
बर गया । उन्हीं दिनों अग्निदेव भी तपस्या

कर रहे थे। जब अगिराके तेजसे अग्निकी अपना तेज मन्द जान पड़ने लगा तब उन्होंने सोचा कि क्या प्रह्लादने दूसरी अग्निवा निर्माण किया है, तब अगिरा ने अग्निसे कहा कि आप अपना अधिपार से लौटिए, मैं आपका पुत्र बनूँगा। तभीसे बृहस्पतिके नामसे वे अग्निके पुत्र बने।

(देखो अग्नि गो)

अजगर—'अज छाग गिरति निवति । जो साँव बकरेकी भी निगल जाय । यह पहाड़ी साँव एधिया और अकोबामे होता है। इसे अंग्रेजीमें पाइयन और अमेरिका में, 'बोया कस्टि-बटर' कहते हैं। यह बकरे, भेड़ें हरियल, भैंसे और कीदतयको निगल जाता है या लपटकर उन्हें शकटकर मार डालता है।

अञ्जना—सुमेध पर्वतके पासवाले प्रदेशमें रहनेवाले बानरराज केसरी (या केसरी) नामके बानरकी पत्नी थी। इनके गर्भसे पवनके सम्बन्धसे हनुमानजीका जन्म हुआ। वे बड़ी धीर, धीर नारी थी। जब लका किनारे पधारा हनुमानजी इनसे मिलने गए तब इन्होंने हनुमानजीको डाँटते हुए कहा कि तू राख-जैसे अत्यन्त सामान्य व्यक्तिसे मुठ करने क्यों गया। तुझे तो चाहिए या कि अपने दसों दसोंसे राजएने दसों सिर गोच लागाना, समीकवनके साथ साँताको सावर रामने पास पड़पा देना और अपना शरीर पनाकर समुद्रपर पुल बना देना।

अञ्जलि—दीनो हाथोरी हथेलियों और उँगलियोंकी मिलाकर जो इस प्रकार बना सेना कि उसमें पानी या कोई चमू भरी जा सके।

अट्टहास—'अट्टन अट्टनयेन हास ।' ठग-कर या टहारा मारकर हँसना।

अलिभा—यह एक ऐलचें सिद्धि है जिसके गंध जातार मनुष्य अत्यन्त मूढ अथवा बना रहता है इसी बात सिद्धियाँ हैं—

अलिभा लघिमा प्राप्ति प्रावाम्य महिमा तथा ।
ईशित्वञ्च वशित्वञ्च तथा कामयसायिता ॥
[अलिभा, लघिमा, प्राप्ति प्रावाम्य, महिमा, ईशित्व, वशित्व तथा कामयसायिता (गरिमा)]

अतिबला—बला और अतिबला नामकी दो विद्याएँ विद्वामिदजीने राग लक्ष्मणको उस समय सिखाई थी जब वे विद्वामिदजीके साथ उनके यज्ञकी रक्षाके लिये चले जा रहे थे। इन विद्याओंके ग्रहण करनेसे भकावट, भूल, प्यास, गर्मी कुछ नहीं बतावी, कोई कुछ हानि नहीं कर सकता अपार कसपीय मिलता है, सीमागम, उबारता ज्ञान, विज्ञान सब मिल जाता है। मार्गमें इनका पाठ करनेसे कोई भय नहीं होता ये तेजस्विनी विद्याएँ वितामह प्रह्लाकी बन्पाएँ हैं।

अतिमुक्त (लता)—तिनसुनेका पेड़, मापकी लता, मोगरा।

अत्रि—सप्तऋषियोंमेंसे एक ऋषि जो प्रह्लाद के चक्षुसे उत्पन्न हुए थे। बर्दम ऋषिकी पुत्री अनसूयाकी इनकी पत्नी हैं। वत्सार्थ दुर्वासा और चन्द्र इनके पुत्र हैं। मनुषे उत्पन्न दस प्रजापतियोंमें से ये एक थे—

मरीचिष्यश्चिह्नस्त्री पुलस्त्य पुत्रश्च वत्सु ।

प्रचेतस वशिष्ठश्च भृगु भारदमश्च ॥

[मनु० १।३५]

जिन सप्तऋषियोंमें इनकी गिनती होती है वे हैं—

मरीचिष्यश्चिह्नस्त्री पुलस्त्य पुत्रश्च वत्सु ।

प्रह्लाणो मानस्य पुत्रश्च वशिष्ठश्च वत्सु त ॥

अति—ये दसवीं पुत्री और मरीचिके पुत्री पत्नी मानी जाती हैं। वे देवमाता और दासादसों कहलाती हैं।

अतपुर—रतिदास। राजभवनमें शनिपों के निवास और बिहारकर स्थान।

प्रतपाल (दुर्ग)—राज्यकी सीमापर बना हुआ वह दुर्ग जिससे राज्यपर बाहरके अनुप्रोके आक्रमणसे रक्षाकी जा सके । अन्त सीमान पालयति इति अन्तपाल ।

प्रतर्पन—गपने भीतर खिस जाना । ग्रहण हो जाना ।

प्रत्यूषा—प्रति मुनिकी पत्नी तथा कईय गणिकी पुत्री । (देखो प्रति)

प्रनुदात्त—(स्वर) जब कोई स्वर दल देकर नबोला जाय तब उसे प्रनुदात्त कहते हैं । नीचैरनुदात्त जैसे उ । शिक्षाशास्त्रमे लिखा है—उदात्ताभ्यानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्वय । दीर्घो ह्रस्वोऽप्युत्तरैवेति पालतो नियमस्त्वचि ॥

(उदात्त, प्रनुदात्त और स्वरित ये तीन स्वर होते हैं, जो उनके उच्चारणमे लगनेवाले समयके अनुसार दीर्घ, ह्रस्व और प्युत कहलाते हैं । इसके अनुसार अ, इ, उ, प्रनुदात्त हैं, आ, ई, ऊ उदात्त, हैं तथा ए, ऐ, ओ, स्वरित हैं ।)

प्रधक—दितिके गर्भसे और कल्पके धौरस (बीज) से इस धैत्यका जन्म हुआ था । इसने भ्रायाचारसे ऊँकर महादेवजीने इसे मार डाला था ।

प्रपराजिता (विद्या)—वह विद्या जिसके सीख लेनेपर कभी हार न ही ।

प्रप्तरातीर्थ—या प्रप्तरातीर्थ—१ वह तीर्थ या स्थान जहाँ प्रप्तराएँ रहती हो । २ आकाश गंगाका वह पाट जहाँ प्रप्तराएँ स्नान करती हैं । ३ प्रप्तराके समान रूपवाली ।

प्रभिनय—'प्रभिनयति हन्तभ्रायान्प्रकाशयति ।' नाटकमे निर्दिष्ट पात्रोंके अनुसार वेश-भूषा धारण करने उससे निर्दिष्ट पात्रोंके अनुसरण और प्रियाभोगा अनुकरण करके दिखाना प्रभिनय कहलाता है । प्रभिनय चार प्रकारका होता है भागिव, भाषिव, सत्त्विव और आहार्य, जेव

सिर, हाथ, पैर आदि-वर्णनकर प्रभिनय करता भागिव कहलाता है । बाणोंके उतार-चढ़ावसे बोलनेवा प्रभिनय भाषिक कहलाता है । मांस, काम, पसीना निबलने आदि का अनुकरण सत्त्विक कहलाता है और नाटकीय पात्रोंके अनुसार वेडभूषा धारण करना आहार्य कहलाता है ।

प्रभिसारिका—'प्रभिसरति, प्रभिसारयति वा सकेतस्थानम् ।' किसी निश्चित स्थानपर मिलनेका सकेत करके अपने प्रेमीके पासजानेवासी नायिकाको प्रभिसारिका कहते हैं ।

प्रभिसारयति काव्य या मन्मथेऽस्य प्रसवदा । स्वयंवाप्रभिसरयेषा धीरैरुक्ताभिसारिका ॥ (साहित्य दर्पण)

जो स्त्री काम-पोंडित होकर अपने प्रियकी सहेतु या सकेत-व्यवहारी भेज दे या स्वयं वहाँ जाय उसे प्रभिसारिका कहते हैं । ये तीन प्रकार की होती हैं, १-दिवाभिसारिका, जो दिनमे प्रियके मिलने जाय, २-युक्ताभिसारिका (ज्योत्स्ना-भिसारिका) जो श्वेत वस्त्र पहनकर चाँदनी रातमे मिलने जाय और ३-कृष्णाभिसारिका (अधव-प्रभिसारिका) जो अश्वरी रातमे काले कपड़े पहनकर मिलने जाय ।

प्रमरावती—'प्रमरा देवा विद्यन्ते यस्या सा इन्द्रपुरी, विश्वकर्मणि सुमेध पर्यवतर इत्यथा निर्माणं कियत, यहाँ किसीको बुझाया, मृत्यु, शोक और ताप कुछ भी नहीं सताता । यही कामधेनु गो, ऐरावत हाथी, उष्णीषा घोड़ा, प्रमराएँ और नन्दवनके पाँच प्रकार वृक्ष हैं—मदार, पारिजात, सतान, कल्पवृक्ष और हरिचन्दन । इस पुरीके भीतरसे अलकनन्दा बहती है, इन्द्र यहाँके स्वामी हैं । विद्वानोंका अनुमान है कि तुर्किस्तानमे बोखाराके पास इन्द्रालय नामक स्थान ही प्रमरावती और वर्तमान भोक्ताम् नदी ही अलकनन्दा है ।

प्रमाथ-परिषद्—राजाधोकी सहायताके

लिये मन्त्रिमंडल, जो विभिन्न विषयों पर राजाको सहायता करता था ।

धमृत—पृथुराजके भयसे पृथ्वीने गोरूप धारण किया था । देवोंने इन्द्रको बरस धनाकर मुरली पात्रमे गोरूप पृथिवीको दूहा । उसके स्तनमे धमृत निषरा था । पोछे दुर्वायाके धारणे वही धमृत समुद्रमे जा गिरा । तब देवताओं और धमुरेनि घोरनागको रस्सी घोर मदराचलको मयानी बनाकर क्षीरसागरको भया, जिनसे १४ रत्न निकले जिनमे धमृतका बलच भी था ।

धमृतीकरण—चन्द्रमा, जिसकी किरणोंमे धमृत रहता है । चन्द्रमाको धोपचीनां पति, कहते हैं और यह माना जाता है कि जड़ी-बूटियों मे चन्द्रमानी किरणोंमे ही गुण आता है ।

धविका—हुग्रां वा पावंसीवा एक कृष ।

धवोष्मा—सूर्यवनी राजाओंकी राजधानी । यहूनि राजाओंको बुझने कोई परास्त नहीं कर सक्ता था इसीसे इसका नाम धवोष्मा पड़ा । यह शरयु नदीके तटपर स्थित बोझालकी राजधानी थी । यह उस समयकी सात मुख्य पुरियोंमे थी ।

धवोष्मा मधुरा माया काशी काशी स्वर्गतिवा ॥

पुरी द्वारावती धंभ ललैता पुरय स्मृता ॥

धरणि—वह स्थली जिसे रगड़नेमे धाव गिरावे । मर्त्यमे एक तलहटीपर बरमेके समान दूगरी सनडी रगड़ी जाती थी जिससे धमि उभरा होने लगे । इनके दो भाग होते हैं — अधरार्गल और उत्तरार्गल और यह धर्मीमे उभरेवाये पीगमने संसार होती है । उत्तरधरणि (उत्तराणी सनडी) को अधरधरणि (नीचेवाली धरणि) के देश मे मानकर मयानीके समान लगेने पञ्चानार देशों कोने रखा हुआ कुन अथ उल्ला है और वही धरणि-मयने निम्नो हुई धरि पश्य काय प्राप्ती है ।

धरुण—१—सूर्यका शारधि, २—सूर्य ३—श्रात कास की चालिमा ।

धरुण्यती—१—वर्षाजलीकी पत्नी तथा वर्धन ऋषिकी हन्या । २—भाकाशमे सप्तर्षियोंके वशिष्ठवारेके पास एक छोटासा तारा, जो ऐसे सोरोंकी नहीं दिखाई देता जिनकी प्रायु समाप्त होनेवाली हो ।

दीपनिर्वाण-गन्धश्च गुह्यद्वयमहम्भतीम् ।
न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति यत्तावत् ॥
[जिनकी प्रायु पूरी हो चलती है वे न तो बुझाए गए दीपककी लव सूँघ पाते हैं, न गिम्नो-की बाण सुन पाते हैं और न धरुण्यतीको देख पाते हैं ।] जिह्वा का नाम भी धरुण्यती है इसलिये मुखु समीप घानेपर जिह्वाया अग्रभाग भी नहीं दिखाई देता है ।]

धर्मसा—द्वारके निवाड बन्द करने उसके पीछे लकड़ीका बूखन जो द्वारमे दोनों घोरवाले छेदोंमे धार-धार बाल दिया जाता है जिससे साकत खुले रहनेपर भी घबरा देनेसे द्वार न खुले ।

धर्म्य—१—धरने पर भाए हुए सतिधि या देवताओं हाथ धोनेके लिये जो जल देते हैं उसे धर्म्य कहते हैं । २—पूजनके लिये जल, दूध, कुसुमी पुनमी, दही, सरसों, चायल और जी । ३—जहाँ-जहाँ दुब घोर पायल प्रादि पूजाकी सामग्री ।

धनुंभ (धुध)—इसका वेद धमरुदेवे देव जैसा होता है और इसकी पत्नी और दाल भी धमरुद जैसी होती है । इसने छोटे घोर देवा पूरोंमे बड़ी लीगो घोर भीठी लव होती है । इसका वेद धमरुदेवे देवने बहुत बड़ा धपध, बगान, धम्ममारत और दलिलुमें बहुत होता है । इसे बहुम और नालीरक भी कहते हैं । इसकी सात रंफकी छान प्रायग बारधंभ होती है । यह धमनेकी विज्ञा करने एक बपड़ा

रगनेके काम आती है। यह हृदय रोगकी औषधि है। इसके काढ़ेसे थो देनेपर चाव सूख जाता है और हृद्दी दूटनेपर इसका जूरा फाँकनेपर पीडा कम हो जाती है और हृद्दी जुट जाती है।

धर्म (गुरुधर्म)—धर्म, धर्म, काम, मोक्ष नामक चार गुरुधर्मोंसे एत। धर्म, संपत्ति। धर्म तीन प्रकारका होता है—शुचि, श्रवण और कृष्ण। धर्मसे-धर्मसे बहनेके अनुसार धर्मके द्वारा उपाजित धर्मको शुचि, धर्मसे नीच धर्मको धृति द्वारा कमाया हुआ श्रवण और जुआ, चोरी छीनी, परपीठन आदिसे उपाजित किया हुआ कृष्ण कहलाता है।

धर्मचन्द्र (चाण)—एक प्रकारका चाण, जिसका फल धर्म चन्द्रमाके आकारका होना है।

धर्मकापुरी—हिमालयपर बसी हुई कुबेरकी नगरी जिसमें शिवजी भी रहते हैं। इसका बहने उत्तर मेघदूतने देखिए।

धर्मन्ति (देव)—मालव देश और उसकी राजधानी उज्जयिनी। विशाला, धर्मन्ति और उज्जयिनी तीनों इसके नाम हैं। धर्मन्ति नगरी धिमा (सिमा)के तटपर मालवामें बसी हुई है वही महाकाल महादेवजीका प्रसिद्ध मंदिर है। ईशान्के जन्मसे ५७ वर्ष पूर्व महाराज विक्रमादित्य महर्षि राजा थे। वही सान्दीपनि आचार्य भी रहते थे जिनके यहाँ यत्तराम और श्रीकृष्ण ब्रह्म-विद्या सीखने गए थे। धिमा नदीका भी धर्मन्ति नाम प्रचलित है।

धर्मशोक (वृक्ष)—एक प्रकारका वृक्ष जिसके पीलापन लिए हुए लहरिया हरे पत्ते तथा फूल सास और पीसा होता है। धर्मशोक दो प्रकारके होते हैं—रक्तधर्मशोक और पीताशोक। चंच शुक्ल धर्मशोक धर्मशोककी आठ कलियाँ आ लेनेसे शोक नहीं रहता। साते समय शोक पड़े—

त्वामशोक हराभीष्ट, मधुमाससमुद्भव।

पिबामि शोकसन्तप्तो मामशोक सदा कुप ॥

कहा जाता है कि स्त्रियोंकी सात पहनेसे धर्मशोक फूल उठता है—'पादापादाशोक'। इसे बकुल, वज्रुल, चित्र भी कहते हैं। यह सीनी या नागके शरके पेड़ जैसा होता है और बसन्तमें फूलता है। इसके पत्ते लहरियादार होते हैं जो उत्सवोंमें खजानेके काम आते हैं। इसके फल गुष्केदार हलके मुलासी रंगके होते हैं। इसकी छाल ठण्डी और कड़वी होती है जिससे प्यास, जलन, पेटके पीड़े, सुषापन और विष दूर होता है। स्त्रियोंके रजोदोषमें इसकी छालका बाडा दिया जाता है।

धर्ममेघ—जो लोग स्वर्गका राज्य चाहते हैं वे सो धर्ममेघ ब्रह्म करते हैं। इसमें नियम यह है कि एक थोड़ा छोड़ दिया जाता है और वह सब चारों ओरसे घूमकर आता है तब उसका बलि दी जाती है। इस यज्ञका बड़ा माहुरम्य सम्भ्रम जाता है। इस यज्ञके घोड़े स्वामकर्ण धर्मन्ति वाले बानवाले होते हैं।

धर्मिनी—(दक्षकन्या, चन्द्रपत्नी)—२७ नक्षत्रोंमें पहला नक्षत्र। यह चन्द्रकी पत्नी मानी जाती है। दक्षकी ६० कन्याओंमें दो भगिराजकी, दो कुशाग्रकी, १० धर्मकी और २७ चन्द्रकी ग्याही गई। धर्मिनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, उत्तरा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद और रेवती, ये चन्द्रकी २७ पत्नियाँ मानी गई हैं।

धर्मिनीकुमार—सूर्यके जुबवाँ पुत्र, जो सूर्यके औरस और विष्णुकी पुत्री सजासे उत्पन्न हुए हैं। ये देवताओंके बैद्य हैं जिनका योग्य और सोन्दर्य शरवत है। सजाका दूसरा नाम धर्मिनी भी है अतः ये धर्मिनीकुमार कहलाते हैं।

अष्टमूर्ति—शिव । जिनकी आठ मूर्तियाँ हैं—जल, अग्नि, होता, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायु ।

अस्ताचल—पश्चिम दिशामें कल्पित पर्वत जहाँ सध्याके समय सूर्य अस्त होता माना जाता है ।

अश्व—१—फेंककर भारे जानेवाले हथियार, बाण, बछ्छाँ, चक्र आदि । २—घनुप, करवाल तथा अन्य हथियार ।

असिधार—(या असिधारा व्रत) जिसने कोई सुन्दर दुवा अपनी युवती परनेके साथ पतिभावसे रहते हुए भी कामभावसे संग न करे । इस व्रतके दृढनेपर गरक असिधार अर्थात् तलवार की पाली चोट लगती है । जैसे कोई तलवारकी धारपर चलकर बिना चोट खाए नहीं रह सकता, वैसे ही इस व्रतमें भी अश्रिग रहना मड़ा कठिन है । इसीलिये किसी नठिन कामके प्रयत्नको असिधारा-व्रत कहते हैं ।

अहल्या—गौतम ऋषि की पत्नी अहल्याके नाम जपनेसे महापाप नष्ट हो जाते हैं—

अहल्या औषधी कुन्ती तारा मदोदये तथा ।
पचवर्षा स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम् ॥
[ये वृद्धास्वर्षी कन्या वी इन्द्रेण छलसे गौतम-का रूप धारण करने अहल्याका पतिव्रत धर्म नष्ट किया इसपर गौतमने इन्द्रको शाप दिया कि तुम्हारे शरीर भरमें मोनि हो जाय और अहल्या को शाप देकर पत्न्यर बना दिया । वेतामें राम-के चरणस्पर्शसे अहल्याका आप छूटा ।]

आ

आवागमना—१—आवागमन रहनेवाली गंगा । आवागमन भी इसी अर्थमें प्रयुक्त होता है । २—नश्वर मनुष्य विदोष—यह आवागमन उत्तरसे दक्षिण तक विन्युत है । आभीरु लोग इसे आवाग-जनेऊ, हाथीवी मूँड या प्रेत मार्ग कहते हैं ।

आदित्य—आद, पूर्वार्ध वाडे दीप्यते वा । आदित्य १२ है—विषुवस्थान, प्रथमा, पूर्वा त्वष्टा, सविता, अय, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शक्र एवं उपक्रम ।

आनवीलिकी—‘अनवील’ तर्कविद्या-अंशामृतयो ॥

२—गौतम प्रणीत आर्ये विद्या । अक्षपादने पाँच अध्यायमें इसे पूरा किया है । प्रथममें प्रमाण प्रमेय, सहाय, प्रयोजन, दृष्टान्त, अवयव, तर्क निरुपय, वाद, उत्तर, वितर्क, हेत्वाभास, छल, जाति, और निग्रह । इन सबके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष मिलता है ।

आम्रकुंड—अमर ककट नामक पर्वत जो बुंदेलखंडके सीता राज्यमें पड़ता है । शोण और तर्मदा नदी इसीसे निकली हैं । यही तर्मदा नदी-के चारों ओर मंदिर बने हैं । यह विष्णुचलके सातपुत्र पर्वतका एक भाग हिन्दुओं का पवित्र तीर्थ है और यही प्रतिवर्ष मेला लगता है ।

आसिम्प (बाघ)—जो हाथमें लिपटाकर शरीरसे चिपटाकर बचाया जाता है । मृदग, डोल, महुयगी और मसक आदि ।

आश्व—१—मुनियों का स्थान, २—मठ ३—तपो-वन, ४—भुक्त व्यक्ति (परमेश्वरमें लीन रहने तथा अग्रज रहनेसे भुक्त व्यक्तिमें भी आश्व कहते हैं) ।

५—अह्वारो, अहस्व, वानप्रस्थ और संन्यासी का आश्रित आश्रम प्रकरणा धर्म विशेष ।

आसन (मुखा) या आसन या अशन—पीतभासवृक्ष । इसे मारवाडीमें आसन, हिन्दीमें राजव और उडियामें पिपासाळ कहते हैं । इसका पेड़ बहुत बड़ा होता है । इसकी ऊपरी लकड़ी गूरी बाड़े बागवाली, अत्यन्त बठोर और पक्की होती है । आसनकी पक्की लकड़ीमें पोलिश अच्छी लगती है । इसके भीतरकी लकड़ीमें लाल रूप होता है । नेपालीमें इसे गंगी काठ कहते

१। इसकी लकड़ी मुँघले रखी, सखली और नोमल होती है। एक प्रकारका और भी आसन वृक्ष होता है जिसे पञ्जाबमें पावर रहते हैं। इसकी भी लकड़ी मुँघले रखी होती है। भींग जाने या मच्छी रहनेपर इसमें पीला दाग पड़ जाता है। पञ्जाब, दक्षिण और ग्रहामें आसन नामकी एक लकड़ी होती है, जो ऊपर श्वेत और लाल होती है तथा भीतरसे भूरी, काली, कठोर और लहरदार रेखावाली होती है। पामला पहाड़पर भी बैलून नामका आसनवा वृक्ष होता है जिसे पञ्जाबीम सफेदा या आसन कहते हैं।

आसब—एक प्रकारका मद्य, चीनी या मूड़की ताजा शराब। आमुर्वेदीय औषध।

आहुयनीय—‘आहुयते ह्यनीम हविरत्न।’ मन्त्रकी अग्नि विशेष यह गार्हपत्य अग्निसे लेकर अन्न होमादिके लिए प्रस्तुत किया जाता है।

आहुति—मन्त्र-द्वारा स्वाहा कहकर देवताके उद्देश्यसे पूतमादिका अग्निमें निदोष करना आहुति कहा जाता है।

इक्ष्वाकु—नैवस्वत मनुके पुत्र जो सर्व प्रथम अयोध्याके राजा थे। इनके एक ही पुत्र थे जिवम सबसे बड़े विदुषि थे। अर्थात्-पुत्रोत्तम भीरामचन्द्रजी इन्हींके वंशज थे।

इन्द्र—१-इन्द्र। देवराज, वेदोक्त प्राचीन देवता। इन्द्र सिन्धीवीके पुत्र है। इसकी माताने इन्हे सहस्रों वर्ष गरम रोक रखा था। उसके पश्चात् इन्द्रने स्वयं वीर्यपूर्ण होकर जन्म ग्रहण किया, इनकी माता का नाम एकग्रहा था। जन्मके समय इनकी माता प्रसन्न हो गई थी। इन्द्रने अपने पिताके दोनो पैर, पकड़कर उन्हे मार डाला। २-स्वर्गके राजा।

इन्द्रपुत्र—इन्हे उत्त्वामिके भेदे मनु इव। इसे इन्द्राणुम भी कहते हैं। वर्षाकालम

सूर्यकी विपरीत दिशामें दिखाई पड़ता है।

इन्द्रनीलमणि—एक मणि जिसे दूधमें डालनेपर दूधका रंग काला पड़ जाता है। यह अनिग्रहको प्रिय है। इससे सूर्यदोष शान्त हो जाते हैं। इसका रंग काले मेंव जैसा होजा है। यह मध्यम कोटिका रत्न है।

इन्द्रलोक—इसे अमरावती कहते हैं। स्वर्ग की दशका नाम है। (देखो अमरावती)

इमलो—यह दक्षिण भारत तथा अमीकामें अपने आप उत्पन्न होती है। इसका वृक्ष बहुत बड़ा होता है। इसके फल लट्टे होते हैं यह प्रायः सर्वत्र पाई जाती है।

उज्ज्वैय—गमुद-मपनसे उत्पन्न हुआ श्वेत रंगका सात भुंवाला घोडा, जिसके कान सदा खड़े रहते हैं, जो अत्यन्त गंभीर स्वरमें हिनहिनाता है। यह घोडा इन्द्रकी दे दिया गया था।

उज्जयिनी—मध्यभारतमें मालवाकी पुरानी राजधानी क्षिप्रा नदीके दक्षिणी तटपर बसी हुई थी। राजकल इसे उज्जैन कहते हैं। इसका प्राचीन नाम अवन्ती है। इसे विशाला और पुष्प-कराडिनी (फूलोंकी बगियाँ) कहते हैं। उज्जयिनी हिन्दू तीर्थ भी है। स्कन्ध पुराणके अवन्ति खण्डमें उज्जयिनीका विस्तृत विवरण मिलता है। वहाँ महाकालका उद्योतिलिप भी है जिसे अमृतकल्पेश्वर भी कहते हैं। इस लिंगके कारण उज्जयिनीको पीठस्थान भी कहते हैं।

उत्तरा फाल्गुनी—२७ नक्षत्रोंमेंसे १२ वाँ नक्षत्र। जिसमें दक्षिणमें उत्तरकी ओर पलेगकी आकृति बनाते हुए दो तारे होते हैं। इस नक्षत्रमें जन्म लेनेसे मनुष्य दाता, दयालु, सुगोल, कांति-मान्, सुमति, योग्य, धीर और धीर अत्यन्त मृदु स्वभावका होता है। इसके पहले चरणमें सिंह और श्वेत तीन चरणों में कन्या-राशि पड़ती है। इसे उत्तराफाल्गुनी भी कहते हैं।

उत्तरायण—यकर सञ्क्रान्तिसे ६ मास तक सूर्य उत्तरायने रहते है। उत्तरायणमे तिसिर, चतुस्र और शीघ्र ऋतुएँ पड़ती हैं। जन पृथिवीके गोलेकी ककरेखा सूर्यकी ओर सीधी हो जाती है और सूर्यकी किरणें विपुल रेखासे सीधी पड़ने लगती है तब सूर्य उत्तरायण मे कहे जाते हैं। उत्तरायणमे मृषु होनेसे स्वर्ग प्राप्य होता है। भीष्ममे इसीलिये दक्षिणायनमे प्राण नहीं छोडे।

वसरीय—कमरके ऊपर छोडनेका बल दुपट्टा, ओठनी, बादर।

उदयन—इसासे ६०० वर्ष पूर्व वत्स (वर्तमान प्रयाग) देशके राजा थे। इनकी परनोक नाम वासवदत्ता और पुत्रका नाम नरवाहन था। बौध्माब्दीमे (प्रयागके पास) इनकी राजधानी थी। ये भीरा बजाकर हाथी फेंकानेकी विद्यामे बडे निपुण थे। अदन्तिके राजा अरधोतने यनावटी हाथीके द्वारा इन्हे बडी कर लिया और इन्हे अपनी कन्या वासवदत्ताका वीर्या-सिक्क बना दिया। बहाने एक दिन वासवदत्ताके साथ नल-गिरि हाथीपर चढ़कर निवल भाए और वासवदत्ताके साथ विवाह कर लिया। ये वत्स देशके राजा थे इसीलिये इन्हें वत्सराज उदयन भी कहते हैं।

उवात (स्वर)—उज्ज्वलदात (पा० १। २। २६) मुजमे उातु भादि उज्ज्वलभासे उज्ज्वलित होनेवाला स्वर।

वडप (नदी)—एक नदीका नाम।

वपसर्ग—वे प्रत्यय छन्द जो सातुमीके पहले जोड देनेसे विभिन्न अर्थ प्रकट करते हैं। सस्कृतमे निम्न लिखित उपसर्ग हैं—प्र, परा, अप, सम, अनु, अव, निव, निर, दुस, दुर, वि, माद्, नि, अघि, अघि, अति, गु, उत, अघि, प्रति, परि, उप।

उल्लङ्घना—भीर शक्ति जिन्होंने अपना हृदय मयकर अत्यन्त उवातापूर्ण ध्योनिज पुत्र

उत्पन्न किया और जिसे समुद्रमें बडवाके मुसमें छोड दिया जो निरन्तर जल पीता रहता है। ये शक्ति मृगुवत् के थे। यह बडवा सूर्यकी पत्नी थी जो घोडीका रुध धारण करके सूर्यके तापसे और उसके तेजसे दहती हुई जलमे तपस्या करती थी।

उषःकाल—उडकेक समय, जब धावाश में पूर्वकी ओर हलका उजाला होता है जिसे भी फटना कहते हैं।

ऊ

ऊर्ध्वक—वे बाजे जिनका मुख ऊपरकी ओर होता है। जैसे १—नरसिंह, २—बह मृदंग जिसका बहुत तीखा स्वर होता है।

ऊ

असवान—यह पर्वत गण्डोयाना देशमें है और रैवतक पर्वत से निकला है। यह सप्त-कुलाचल अर्थात् सात परिवारके पहाडोंके बीच का पर्वत है।

अतु—एक प्रकारके जलमायुके समय को अतु कहते हैं। भारतमें ६ अतुएँ होती हैं। युयुतके मतसे भाष फाल्गुनमें शिशिर, चैत्र-वैशाखमें वसन्त, ज्येष्ठ-भाद्रपदमें शीघ्र आषण भाद्रमें वर्षा आश्विन श्रातिकमें शरद, आश्विन भाषमें हेमन्त। ऋक् संहितामें ५ ही अतुएँ मानी गई हैं। योरपमें चार अतुएँ माने जाती हैं।

जाडा, जसन्त, गर्मी, वर्षा, वादमें हेमन्त, तिसिर-के एक ही अतु माना है। साधारणतः लोग तीन ही अतु मानते हैं—जाडा, गर्मी, बरसात।

अतिवज्र—पुरोहित। वेदके मन्त्रोंसे यज्ञमें नर्मवाण्ड करानेवाला। प्राय यज्ञोंमें चार अतिवज्र प्रयान होते हैं—हीता, उवाता, अथर्व और अह्ना।

अथर्वशृग—अथर्वस्य शृगस्य शृगमिव शृगमस्य। एक मुनि। विभाषत्र नामक कल्प

वशीय ऋषिका वीर्य उर्वशीको देखकर जलमे गिर गया जो मृगी-रूप धारिणी बाणभ्रष्टा देव-कन्याने पी लिया । उसके गर्भसे ऋष्यशृङ्गका जन्म हुआ । उनने सिरपर एक हिरण्यका सीम भी था । दशरथकी शान्ता नामकी कन्या ऋष्यशृङ्गने स्वीही पी । इन्ही ऋष्यशृङ्गने दशरथको पुनर्दृष्टि यज्ञ कराया था ।

ऐ

ऐरा (अर) — इन्द्र-द्वारा दिया हुआ वह भस्त्र जिसके धलानेसे भयकर जल बरसता है ।

ऐरावत — १ इन्द्रहस्ती — यह सफेद और चार बाँतोवाला हाथी समुद्र-मयनके समय निकला था । यही पूर्व दिशाका दिग्गज है जो इन्द्रको दे दिया गया था और इसलिये वह इन्द्र पाहुन कहलाता है । 'ऐरावान् समुद्र तन भव ऐरावत ।'

ओ

ओषधिप्रत्प — हिमालयमे मगर, जिसके पास एक चोटीपर गंगाभी पहले-पहल ब्रह्मपुरीसे उतरकर गिरी थी । 'ओषधि-बहुल प्रस्थ गानुर्वध' जहाँ ओषधियोंसे भरी चोटी हो ।

यत्र गङ्गा निपतिता पुरा ब्रह्मपुराश्च गृता ।

ओषधिप्रत्पनगरपाददूरे गानुर्वधतम ॥

(कनिकापुराण, ४१ अ०)

क

ककुत्स्थ — सूर्यवंशमे शशादके पुत्र पुरज्यय नामके राजा जिन दिनों पृथ्वीपर शासन कर रहे थे उन्हीं दिनों देवताओंने देवसेहि हारकर विष्णुकी शरण ली । उन्होने सम्मति दी कि राजा पुरज्ययकी सहायता ली । पुरज्यय तैयार हो गए । इन्द्रने कृपम (सौत्र) का रूप धारण किया । उधीपर चबनर पुरज्ययने देवोंको हराया । इसी लिये उनका नाम ककुत्स्थ (ककुदि विजयीति — जो सौत्रपर बैठा हो) पट गया ।

ककुम (कूल) — मर्जुन नामक वृक्ष और उसका फूल ।

ककुकी अथवा कञ्जुकी — राजाके भन्त पुरमा रक्षक । भरतने उसका सहायता किया है —

भन्तपुरपुरो वृद्धो विश्वो गुणगणान्वित ।

सर्वकार्यार्थकुशल कञ्जुकीत्यभिधीयते ॥

रनिवासमे आ-जा सकनेवाला जो वृद्ध याह्यण सब गुणोमे पूरा हो और सब कामोमे सब डगकी बातोमे चतुर हो वह कञ्जुको कहलाता है ।

कम्प — येनका द्वारा छोधी हुई कम्पा शकुन्तला का शासन करनेवाले कश्यप गोत्रको कम्प काश्यप ।

कदम्ब — १ वृक्ष, जो भारत, ब्रह्मा और सिंहलमे होता है । इसकी लम्बाई ७० से ८० फुट होती है । यह नित्य हरित वृक्ष है । इसके पत्ते गहवरे पत्ते जैसे होते हैं । वर्षा ऋतुमे यह फूलता है । इसका फूल गेदके समान गोल होता है । इस परतो जब पीली केसर फल जाती है तब यह फूल ही पककर फल बन जाता है जो खानेमे सटमिट्टा लगता है । इसीसे कादम्बरी मरिचा बनाई जाती है । २ कलहस, राजहस पक्षी ।

कनकल — हरिद्वारसे दक्षिण प्राये कोसपर गंगाके पच्छिमी तटपर बसा हुआ है । यही पर दखने या किया था जहाँ सतीमे अथवा शरीर छोड़ दिया था और त्रिबलीके गणोने यज्ञ विध्वंस कर दिया था । यह पवित्र तीर्थ माना जाता है — हरिद्वारे कुशावर्त विस्वके नीलपर्वते । स्वात्वा कनकले तीर्थे पुनर्जन्म न विद्यते ॥ (यहोभा० अनु० २५ अ०)

कदली — (पत्ती) — एक प्रकारका गुल्म या पौधा जिसकी आदियाँ फैलती हैं । २ कुकुरपुत्रको भी कदली-कुसुम कहते हैं ।

कन्दाराशि — मेघ, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर कुंभ तथा मीन

इन १२ राशियोंमेंसे छठी राशि। यह राशि उत्तर फाल्गुनीके अन्तिम तीन चरणोंपर सम्पूर्ण हस्त नक्षत्र पर तथा चित्रा नक्षत्रके प्रथम तथा द्वितीय चरण पर व्याप्त रहती है। इस राशिमें जन्म लेनेसे मनुष्य शास्त्रमें व्युद्धा रखने वाला उचित क्रोधपर भी पश्चात्ताप करनेवाला, पानीमें बिरत, अनेक शास्त्र विद्वान्, स्यांग-गुप्तर, शोभायशाली, और सुरतप्रिय होता है।

पवित्र—१ एक ऋषि का नाम, वेद के उपनिषद् भागमें इगा नाम मिलता है। इनके पिताका नाम कर्दम और माता का नाम देवहूति था ये सारथ्य दर्शनके प्रसिद्ध थे।

२. जब सगरके तीर्थे अश्वमेधका घोड़ा इन्द्रने छुराया तब उसे जापरपातलमें तप करने वाले कपिलने प्राथममें भेजाकर वाप दिया। उस घोड़ेको ढूँढते हुए सगरके ६००० पुत्र उस प्राथममें पहुँचकर कपिल मुनिको गाली देन लगे विन्नु लोही पक्षि मुनिने समाधि खोलकर उनको और देखा लोही ये भस्म हो गए। (देखो सगर)

कविता—राजा रघु इसीको पार करके उत्पल पहुँचे थे। यह नदी मेदिनीपुरमें दक्षिणार्धमें प्रवाहित होकर बंगालकी खाड़ीमें गिरती है। इसका वर्तमान नाम बसाई नदी है।

वचन—एक श्लोक। रघु नामके एक दानवीक सपत्न्यापर प्रसन्न होकर ब्रह्माने उसे दीर्घायुका भरण दिला। वर पाकर वह इन्द्रसे मुक्त करन पहुँच गया। इन्द्रने वचन मारकर जगता तिर धृष्ट के भीतर घँसा दिया। उस घटन प्रार्थना करनेपर इन्द्रने उसके हाथ एक-एक योजन लम्बे कर दिए और घटके ऊपर एक मुँह बना दिया। जब राम वनमें बने जा रहे थे तब दया राम, लक्ष्मण, सीताको अपने हाथमें समेट लिया। रामने उसका हाथ बाटकर चले मार दाया। चमके हाथमें मरनेपर वह

दिव्यस्वरूप पाकर स्वर्ग चला गया। यह पिछले जन्ममें विश्वावसु नामका गन्धर्व था जो एक ब्राह्मणके हाथसे राक्षस हो गया था।

कमल—यह श्वेत, नील और रक्त तीन प्रकारका होता है। इसका निवास जलमें रहता है। इसकी पखडियाँ चौड़ी होती है और यह वर्षा और शरदमें दिनमें फैलता है। श्वेत और लाल कमल भारत, ईरान, तिब्बत, चीन और जापानमें ही मिलता है। नील कमल कश्मीरमें उत्तर और तिब्बतमें ही होता है। श्वेत कमलको घतपत्र, पुष्करोक्त, शरोक्त, नलिन और महोत्पल या महापत्र कहते हैं। लाल कमलको वीकनद, रक्तोत्पल और रविप्रिय कहते हैं। नील-कमलको इन्दीवर, युवलय, मृदुत्पल और भद्र कहते हैं। कमलके बीज-कोषको बनिकर, मधुको मयराज, कैशरको किंजल्क और नालको मृणाल कहते हैं।

कमलिनी—जलमें दिनमें खिलनेवाला एक फूल जिसकी पखडियाँ लम्बी होती हैं। यह भी तीन रंग की होती है श्वेत, रक्त और नील। कमल और कमलितामें भेद नहीं है कि कमलमें बीजकोष होता है कमलिनीमें नहीं होता। कमलकी पखडियाँ चौड़ी होती हैं कमलिनीकी पतली और लम्बी।

कर—भूमिके प्रयोग अथवा व्यापार आदिने लिए राजाको जो आचक्ष्म भाग दिया जाता है इसे कर या राजस्व भी कहते हैं।

करजक (फूल)—करोड़ा इसकी भांती ६ प्रकार की होती है। इसमें छोटे छोटे फल-वार कुछ लताई लिए श्वेत खट्टे पत्र लगते हैं। यह भांती वर्षा में पानी लदी घटत गुन्दर लगती है। जन्माष्टमीमें अथवा पर श्रीकृष्णजी का भूषा इसमें सजाया जाता है।

कर्णफूल—वागधे पहननेका फूलों का प्रकार या फूलवा घामूषण।

कहिलार—बनैर।

कम्बोज—वर्तमान अफगानिस्तानका वह भाग जो कन्दहारके पास है। सत्तिसगम तबने लिखा है—

पाञ्चालदेशमारम्य म्लेच्छादृक्षिणपूर्वत ।

काम्बोजदेशोदेवेशि क्षात्रिराक्षि-मरायण ।

[पञ्चाशते लगाकर म्लेच्छ अर्थात् घरख देशसे दक्षिणपूर्व कम्बोज है जहाँ घोड़े बहुत होते हैं ।]

रघुवशमे जो कम्बोजका वर्णन आता है वह बाहुल्यसे उत्तरका कम्बोज था ।

कलिंग—वीर्यतमके औरस और बलिनी पत्नी सुदेव्याके गर्भसे बलिगने जन्म लिया। इन्होंने अपने नामपर बहु जलपद बसाया जो जगन्नाथपुरीके पूर्व भागसे कृष्णा नदीके तीर तक फैला हुआ है। मेदिनीपुर, उड़ीसा, और राजाग प्रदेश कलिंगमें आते हैं। महाभारत और हरिश्चन्द्र पुराणके समय वैतरणी नदीसे मोदावरी तक कलिंग था। इसे पौण्ड्र भी कहते हैं।

कल्पलता—स्वर्गकी कल्पित लता जिससे जो माँगो मिल जाता है। सुवर्ण-निर्मित, लताको भी कल्पलता कहते हैं।

कल्पवृक्ष—यह समुद्र मन्थनके समय निकला था। कल्पास तक यह वृक्ष बन रहता है। चौदह रत्नोमेंसे यह एक है।

काम्यप—ब्रह्मादि मानसपुत्र अरेचिके औरस और बलाके गर्भसे वज्रयन्त्रा जन्म हुआ था। वेदोके भस्ते हिरण्यगर्भ ब्रह्मासे कश्यपका जन्म हुआ था। इन्होंने १७ कन्याओंसे विवाह करके देव, दैत्य, दानव, असुर, गन्धर्व, राक्षस वृक्ष, यक्षरा, सर्प, घृध्र, श्वापद, जल-जन्तु, गरुड, भस्त्रु, मर, फाग और खलज सत्पन्न किए। मार्कण्डेय पुराणमें इनकी १३ पत्नियाँ-अरिषि, दिति, दनु विमला, खजा, वदु, मुनि, त्रोषा, अरिष्टा, इरा, ताम्रा, इला और प्रध्व गिनाई गई हैं। कश्यपकी पत्नियाँ (ऊपर देखो)

कस्तूरी—कस्तूरी मृगकी नाभिसे निकलता हुआ सुगन्धित पदार्थ। कस्तूरी हिरण्यके सींग नहीं होते किन्तु इसका आकार हरिणोंसे मिलता चुसता है। इसकी आँखोंमें आँसूके छेद नहीं होते। इसके मुँहमें दो-तीन घण्टा दो गजदन्त बाहर निकले रहते हैं और इसके बाल कड़े होते हैं। इसकी उँचाई लगभग २॥ फीट और रंग कासा होना है जिसमें दोन-बीचमें छाल चकरो पड़े होते हैं। इसका गला पीला और पूँख बहुत छोटी होती है। केवल नर हिरण्य ही कस्तूरी निकलती है। यह मृग गर्मि समुद्रतली घाट हुआ फीट ऊँचे स्थानों पर साइदेरिया, मध्य एशिया, हिमाचल और आसाममें मिलता है। इसमेंसे तिब्बतका मृग सबसे भच्छा होता है कस्तूरी तीन रंगकी होती है—सैपाल की कपिला, कश्मीरकी पिपला और कामरूपकी काशी होती है। इनमें कामरूपकी सर्वश्रेष्ठ सैपालकी मध्यम और कश्मीरकी साधारण होती है।

काम्यप—मस्तकके दोनों ओर बालोंको विकनारसे गिँथिकी ओर केरकर बहाए रखना। इसीको पटे बहाना भी कहते हैं।

काम्य—१ चार पुण्यार्थों (धर्म, धर्म, काम, मोक्ष) मेंसे एक। २ इच्छा। ३ कामदेव। शास्त्रकारोंने कामदेवके ५० भेद बताए हैं। स्मरदर्पोपनिषत् बहा गया है—प्रतिपदाकी पीरके अंगुष्ठमें, द्वितीयाकी मुलकमें, तृतीयाकी नाभियमें, चतुर्थीको भगने पञ्चमीको नाभियमें, षष्ठीको स्तनमें, सप्तमीको हृदयमें अष्टमीको कुक्ष (बगल) में, नवमीको वटमें दशमीको श्रोत्रमें, एकादशीको गालोंपर, द्वादशीको नेत्रोंमें, त्रयोदशीको कानोंपर, चतुर्दशीको ललाटपर, अमावस्या और पूर्णिमाको मस्तकपर कामदेव रहता है। कामदेवके पास दध, पध धनुष और बाण हैं। उसके कारण उसकी आँखें कुछ-कुछ बन्द रहती हैं। उसके भण्डेपर मकर

है। रति, प्रीति, शक्ति और उज्ज्वला नामकी उसकी चार स्त्रियाँ हैं। जब बहाने दक्ष आदि मानसपुत्र उत्पन्न किए उस समय सध्या नामकी गन्धा भी हुई थी। उन्नी कन्वासे कामदेवका जन्म हुआ और फिर दक्षसे उत्पन्न रति नामकी सुन्दरीसे कामदेवका विवाह हुआ। तारका-मुरके उत्पात करनेपर जब देवताओंने कामको महादेवजीके पास उन्हे काम पीठित करनेके लिए भेजा तब कामदेव उनके क्रोधसे जल मरा। पार्वतीके साथ शिवजीका विवाह हो जानेपर कामको फिर शरीर मिल गया। अगले जन्ममें कृष्णके शरीर और रुक्मिणीके गर्भसे कामदेवका जन्म हुआ। महाभारतमें कामदेवको धर्मका पुत्र माना गया है। कामदेवके ये पाँच हाथ हैं—

शरविषमशोक व धूतञ्च नवमल्लिका ।
नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चबाणा प्रकीर्तिताः ॥

(शरविन्द, शरीक, आम्रपत्र मयरी, नवमल्लिका और नीलोत्पल ।)

कामदेव—देवी (गाम)

कामधेनु—स्वर्गकी गाय। इस पायसे इच्छानुसार जो वस्तु माँगे वही मिलती है। दक्षकी कन्या सुरभिसे धर्मसे कश्यपके शरीरसे रोहिणीका जन्म हुआ। उस रोहिणीसे सपोनिधि धूरसेन नामकय मुके शरीरसे कामधेनु-जन्म हुआ। इसका वर्ण श्वेत है, चारों पैर ही उसके चारों पैर हैं, उसके चारों स्तनोंसे धर्म, धैर्य, काम और मोक्ष बहता करते हैं। यौवनमें कामधेनुकी सुन्दरता देखकर एक बंतालने नृप बनाकर उससे सभोग किया था। जिससे एक बड़ा विशाल नृप उत्पन्न हुआ जो अपनी तपस्याके बलसे महादेवजीका बाहन बना।

कार्तवीर्य—वन्द्यवीर्य कृतवीर्य राजाका पुत्र सहस्रार्जुन। माहिष्मतीपुत्री कार्तवीर्यकी

राजधानी थी। इसने दत्तात्रेयकी आराधना की जिससे दत्तात्रेयने प्रसन्न होकर इसे सहस्र भुजा-वाली बना डाला। अपने पराक्रमसे उसने समुद्र-पर्वन्त भूमिपर अधिकार कर लिया। तत्काके राजा रावणको भी इसने हराकर बन्दी बना लिया था तब पुनस्त्य मुनि आकर उसे छुड़ा लाए। कार्तवीर्यने जमदग्नि ऋषिके माघमसे बल्लभके सहित कामधेनुको भी चुरा लिया था। जमदग्निके पुत्र परशुरामने इसे मार डाला और वेनु बौटा सो।

कार्तिकेय—जब तारकामुरके भ्रमाचारसे पीठित होकर देवताओंने महादेवजीसे पुत्र माँगा तब महादेवजीका तेज अग्निमें, अग्निसे गंगाजीमें और गंगाजीसे छहो कृतिकाओंमें जा पहुँचा। वही तेज रावणपने कार्तिकेय हुए और उन्होंने ही तारकामुरका वध किया। वे मरूपर बैठते हैं। उनके छ मूँह और दो भुजाएँ हैं। वे देवताओंकी सेनाके सेनापति हैं। देवसेना ही उनकी पत्नी है जिन्हें पष्ठी भी कहते हैं। इन्हें सेनापति, कुमार, पण्मुख, सुब्रह्मण्य, क्रीञ्चदारण और स्वाभीकार्तिकेय भी कहते हैं।

कालनेमि—१ यह रावणका मामा था और जब लक्ष्मणको दक्षिण लगनेपर हनुमानजी द्रोणाक्षतपर घोषित लेने गए थे तब वह भी बीचमें बाधा देने पहुँचा और बाहता था कि हनुमानजीको एक मयरी निगल जाय किन्तु हनुमानजीने मयरीको मारकर थाप मुक्त कर दिया और कालनेमिके भी मार डाला।

२ हिरण्यवशिषुका पुत्र एक राक्षस जिसका शरीर मन्दार पर्वतके समान विशाल और गौर-वर्ण जिसके सौ हाथ और सौ मुख, धूर्तके रणका बाल, हठी भूख-खाड़ी और बड़े-बड़े बाहर निकले हुए दाँत थे। इसने देवताओंको हराकर स्वर्ग जीत लिया था और फिर अपनी देहको

चार भागमें बाँटकर स्वर्गका राज्य चलाया था। विष्णुने हाथ मारे जानेपर मही कस हुआ।

कासागुद—काले धरकरा पेड़ या कासा अगर। इसे संस्कृतमें कृष्णकाष्ठ, गड़ और शृङ्गार भी कहते हैं। (देखो अगर)।

कालिका—जब शुभ और निशुभ दैत्योंने एरादि देवोंको रूष्ट किया तब इन सौगौने महा-माया देवीकी स्तुति की। देवीने पूछा—‘तुम यहाँ क्यों आए हो। तब उनके बारीरसे ही एक देवीमूर्तिने प्रकाट होकर कहा कि ये देव लोग निशुभ और शुभका पथ चाहते हैं। इन्हीं देवोंका नाम कालिका या क्योमि इत्यादि रत्न जाना था। इनकी आठ योगिनियाँ हैं—महाकाली, उद्गाणी, उषा, भीमा, घोरा, भमरी, महाराजि और मैरवी।

कालियनाग—कण्डसे युद्धमें हारकर यह नाग यमुनाके कुण्डमें छिपकर रहता था इसीसे इसे कालिय कहते हैं। ‘के जले, भालीयते इति कालिय।’ इसी नामसे श्रीकृष्णजीने नाचकर भेज दिया था।

कालीयक—१ काला अगर, २ पीत पद्म, १ रास हल्दी, ४ मलेन्द्री काष्ठ, या एक प्रकारका दीपदार।

कावेरी—दक्षिणपक्षकी प्रसिद्ध महानदी। भारंग्रन्थोंमें यह पूरुषोत्तमा माता गढ़ी है। स्नानके समय इसका स्मरण किया जाता है।

यह च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती।
नर्मदे सिन्धु कावेरी जलेऽसिन्धु सन्निधि कुरु।
यह नदी पश्चिमो घाट पर्वतमें ब्रह्मगिरिसे निकलकर महासुर घाटीमें से होती हुई बदायके दक्षिणमें बंगालकी खाड़ीमें जा गिरती है।

कास—काँस, वर्षा बीतनेपर यह लबी पास फूल उठती है।

किन्नर—देवयोनि में एक प्रकार के देव जिनका मुख भालके समान और शरीर मनुष्यके समान होता है। इन्हे किंपुरुष, भस्वमुख और गीतघोरी भी कहते हैं। ये प्रत्यक्ष संगीत प्रेमी होते हैं और निरंतर गाते रहते हैं।

किन्नरी—विघ्नर जातिकी स्त्री—

किरात—१ तम कुण्डसे लेकर रामेशान्त पर्यन्त किरात देश है। यह विष्णुसंज्ञमें स्थित है। (शक्तिसंगम खण्ड)

२ बहुत देवकी और किरातोंका विषरण भिन्नता है। नेपालमें भी किरात रहते हैं जो घराग तक फैले हुए हैं। ये लोग कन्या मोल लेकर विवाह करते हैं। यह सारी जाति लडाकु है और वायु चलानेमें प्रवृत्तीय है।

किरीट—मुकुटके नीचे बाँधी जानवाली पपड़ी या मुकुट।

कुङ्कुरमुल्ले—वर्षाके दिनोंमें गोबर आदि तथा कृषेपर जो छतरीदार पीषा सा निकल जाता है। इसे संस्कृतमें कदलीकुसुम भी कहते हैं।

कुङ्कुम केसर—यह कपरीमें चरपन्न होता है और एक फूल का किञ्चल है जिसके पीछे छोटे होते हैं। यह क्पारिपोमें बोया जाता है। साल, बारीक तथा कमलकी गंधवाला केसर सबसे अच्छा समझा जाता है।

कुटब—कुरैया या कुरषाका पीषा। इसे साधारण बोलीमें इन्द्रजब भी कहते हैं। इसका फूल खेच, सम्बा और सुगन्धित होता है।

कुड—देवताओं, होमके लिये जहाँ प्रणि स्वापित की जाती है उसे कुण्ड कहते हैं। कर्म-काण्डमें इसके निर्माणका बड़ा विधान है। प्रत्येक यज्ञमें अलग-अलग प्रकार के कुण्ड बनाए जाते हैं और कुण्ड ठीक न बननेपर बड़ा दोष भी होता है। कुण्डका सात अधिक होनेसे रोषी, अल्प होनेसे धनसय, टेढ़ा होनेसे

दुख, छिन्न-मडल होनेसे मृत्यु, मेखलाशून्य होनेसे शोक, मेखला अधिक लगानेसे घननाथ, योनिधून्य होनेसे स्त्रीनाथ और कण्ठ नाथ होनेसे पुत्र नाथ होता है ।

कुम्भ—१. पल्लवियोंका छोटा अत्यन्त धवल फूल जिसे पुष्प पुष्प, मकरन्द और मदन-पुष्प भी कहते हैं । यह पुष्प शिवजीपर चढ़ाया जाता है । इसके व्यवहारसे सिरका रोग और विष-पित्त भी दूर हो जाता है ।

कुवेर—विश्वनाथके पुत्र रावणके भाई कुवेर की माताका नाम हिलामिला था । उनकी बुद्धि-गतासे प्रसन्न होकर ब्रह्माजीने धनपति और सर्वपूज्य होनेका आशीर्वाद दिया । वे अपनी तपस्यासे लोकाजल हुए और ब्रह्माने उन्हें पुष्पक विमान दिया । उनके पिता महामुनि विश्वनाथ उन्हें लकापुरीमें राज्य करनेका आदेश दिया किन्तु रावणके भयसे वे लकापुरी छोड़कर कैलाशके पास धनकापुरीमें यक्ष किन्नर आदिपर शासन करते हुए रहने लगे । उनका बर्ण श्वेत आठ दाँत और तीन पैर हैं । इसी विनयागतके कारण उन्हें कुवेर कहते हैं—'कुवेर कुञ्जीर-त्वात् गाम्ना तैगममद्भूत' उनके पुत्र का नाम मलद्वार है । उनकी वैश्रवण्णी नामक वस्तुओं सभाके परिग्रह है—विश्वकाम, हाहा, इह, तुमु, पर्वत, निवाहन, चित्ररथ और चक्रवर्मा ।

कुम्भ—१. पुष्प इसे बेसी भावामे करव, कोषा, कोई कहते हैं । यह रातको जलमें गिरता है । इसकी पत्रादियाँ भीड़ी बिजु बरस से छोटी होती है । यह श्वेत होता है । इसे धवलोल्लस, करव और चन्द्रवान् भी कहते हैं । २. नाथ जो सप्तपुत्रमें था ।

कुम्भुरिनी—रातकी जलमें गिरनेवाला कमलके रूपका फूल, जिसकी पत्रादियाँ छोटी

और सम्बी होती हैं । बेसी भावामे इसे कोई कहते हैं ।

कुम्भोनसी—यह रावणकी बहिन और लवणसुरकी माँ थी ।

कुम्भक—कटसरंगाका फूल जिसे एक गिम्को, कुरंथा या महुआ भी कहते हैं । इसका फूल लाल होता है ।

कुररी—कौच या साररा या करकुल नामका पक्षी जो कष्ट जानेपर अत्यन्त कवणसे रोता है ।

कुक्षेत्र—दण्डवतीके उत्तर और सरस्वती नदी के दक्षिण कुक्षेत्र है जो आजकल दिल्ली के मास-यास परगा है । कुक्ष नामके राजाजिने उस क्षेत्रको जीता था, अब उसका नाम कुक्षेत्र पड़ गया । वही महाभारत का प्रसिद्ध युद्ध हुआ था ।

कुञ्ज—कुञ्जा—पञ्चादिके वारमें मानवाली सम्बी पवित्र घास जिसकी बड़में तीक्ष्ण पाँटे होते हैं । इसे दधं दाध, डाग भी कहते हैं ।

कुमुभ—(फूल) इसे कुमुम्भ भी कहते हैं । इसके छोटे-पेधेमें छोटे-छोटे लाल फूल लगते हैं जिन्हें आयामे सावधानीसे सुखाते हैं । इसके फूलसे सात रंग बनता है । कुमुभके फूलका रंग सात प्रकारका होता है, उनमें प्याजी गुलाबी, उजवा गुलाबी, गहरा लाल तो उसका अपना रंग होता है । सँझका फूल मिलानेसे सुनहला और नारंगी रंग आ जाता है । हल्दी मिलानेसे पीली चमकवा गहरा लाल और नील मिलानेसे बैंगनी रंगका हो जाता है । इसके तीन भेद हैं—महानुमुम्भ, ह्रस्वनुमुम्भ और धननुमुम्भ ।

कुमुम्भी—(फूल) १. (देखो कुमुभ) २. सातरण ।

कुटनीति—कपट नीति । ऐसी चाल जिससे विचार भेद सुले काम बन जाय ।

कुटशास्त्रमत्तो (यमका धर) —यमकी गदा ।

कृत्तिका—तीसरा नक्षत्र । चन्द्रकी पत्नी कृत्तिकामें ६ तारे हैं । चन्द्रमाके आपसे कृत्तिका नक्षत्रमें माना रजित है । एक बार भरखो, कृत्तिका, आश्लेषा, मघा, उत्तरा, फाल्गुनी, विशाखा, उत्तराषाढा और उत्तर आश्विनमें चन्द्रमाको बहुत टाँदा कि तुम हमसे स्नेह नहीं करते हो केवल रोहिणीसे ही प्रेम करते हो । इसीपर चन्द्रने इन्हें शाप दिया कि तुमने हमें दुर्बलन कहे हैं इस कारण तुम उग्र और तीव्र कहलाओगी और तुम्हारे भोग्य किनारे जो मान्य करेगा उसका अनिष्ट होगा ।

कृत्तिकापुं—इन ६ कृत्तिकाओंमें कर्त्तिकेय का पावन किया था ।

केकय—केकयप्रेश । सतलु (सतलज) नदीसे पश्चिम और विपाशा (व्यास) नदीके उत्तरमें था जिसका कुछ भाग कश्मीरमें पड़ता है । केकयके राजा प्रत्यपति ही कैकेयीके पिता, दशरथके स्वसुर और भरतके नाना थे । प्राकल भी केकयवाले कबका कहलाते हैं ।

केतकी—केवडा । इसके पत्ते लम्बे, उबले, कोमल और चिकने होते हैं । इन्हीं पत्तोंके बीच से फूल निकलता है । इसके पत्ते काटेदार होते हैं । इसकी जड़में प्रायः छाप रहते हैं । केतकीके फूल शिबजीपर नहीं चढ़ाए जाते । केतकी दो रंग की होती है—सफेद और पीली ।

केरल—दक्षिण भारतमें पश्चिमकी पट्टी केरल कहलाती है । आजकल गोकर्णसे लेकर गुमारी भन्तरीय तक का भाग केरल कहलाता है ।

केवडा—(देखो केतकी)

केसर—१. नागकेसरवा फूल ।

२. मौलसिरी । ३. कश्मीरमें उत्पन्न होनेवाला सुगन्धित फूल । (देखो केसर)

केसो—(राक्षस)—जो कसके कहनेसे बुन्दावर पट्टपर भत्थाचार करने लगा और जिसे वृष्णजीने मारा ।

केसर—फूलोंके भीतर छीनमेंसे जो पतले तंतु निकले रहते हैं, उन्हें केसर कहते हैं ।

केसर (वृक्ष)—१. मौलसिरीका पेड़ ।

२. पुन्नागका वृक्ष ।

केसर (सिंहके)—सिंहके कन्धेपर फैले हुए बड़े बड़े बाल या श्रयाल ।

कैकेयी—(देखो केकय)

कैलास—असिद्ध पर्वत, महाराम और यक्षा-पिप कुबेरका वास्तव्य, अनेक रत्नामय भूत-युक्त हिमशैलके वृद्धपर है । यह राक्षस तालाब या रावण-दृष्टसे ५० मील दूर है । इसीसे सिंधु, इन्द्र, फल्गुन नद उत्पन्न हुए हैं । मोट लोच इसे 'विशि' कहते हैं । कैल कैलीना समूह आस्तोम इति कैलास —मानन्द तथा खीझका स्थान ।

फोई—(देखो कुमुदिनी)

कौशल या कौशल—काशीसे उत्तर प्रयो-ध्या सहित सरयूके तीरका सब भाग । यह सूर्यवंशी राजाओंका राज्य था और प्रयोध्या इसकी राजधानी थी ।

कौरव—कुत्स नामक ऋषिके पुत्र और महर्षि परतस्त के शिष्य ।

कौपीन—मेखलासे बँधकर कटिमें पहना जानेवाला कपडा । इसे कच्छा, कच्छादिका, कला, और कटी भी कहते हैं । इसीसे पोता शब्द बना ।

कौशल्या—कौशल-राजकी कन्या, महाराज दशरथकी बड़ी राणी, रामकी माता । इनके पिता वर्तमान मध्यप्रान्तमें दक्षिणी भागके राजा रहे होंगे ।

कौशिक (गोत्र)—राक्षस बुधिवरके पुत्र । इन्हींका नाम नागि या इन्होंने ही कौशिक गोत्र चलाया ।

कौस्तुभ (मणि)—समुद्र-मयनमें जो चोदह रत्न निकले उनमें यह मणि भी थी जो अगवाव विष्णुको दे दी गयी और जिते विष्णुने

खत—गटर घासकी जड़ । जिसमें सुगन्ध प्राप्ती है । गर्मीमें इसकी टट्टियाँ बनाकर पानीसे भिजोकर द्वारपर टांग दी जाती हैं जिससे घर ठंडा रहता है । इसके पत्ते भी बनते हैं, पान भी बचाए जाते हैं और फुलेस भी बनता है । इसे पीसकर माथेपर घोष देनेसे पागलपन बचछा हो जाता है । यह घास १-६ फीट लंबी, भारस और ब्रह्ममें बहुत उत्पन्न होती है । इसे लचीर भी कहते हैं ।

ग

गङ्गा—भारतकी प्रसिद्ध नदी, जिसका प्रथम गङ्गोत्री में हुआ है । जब भगवाद् विष्णुमें बलियो चलकर अपने तीनों पैरोंसे तीनो लोकोंको मापनेके लिये त्रिविक्रमका रूप धारण किया था, उस समय ब्रह्माजीने उनके मल धीकर उस जलको अपने कमंडलुमें रस लिया था । वही ब्रह्मतीय पगर-जलज भागीरथके रूपसे महादेवजीकी जटाघोमें झाकर गिरा और वही जलकी धारा गंगा कहलाई जिसमें भागीरथके पीछे-पीछे चलकर कपिलसे कोपसे भस्म सगरके साथ सहस्र पुत्रोंका उद्धार किया । यह नदी भारतके उत्तर-पूर्वी प्रदेशमें बहती हुई बंगालकी खाड़ीमें समुद्रमें मिलती है । इन्होंने इस प्रदेशको मज्झिमी होनेसे बचा लिया है इसीलिये गंगाको माता मानते हैं और बिश्वास करते हैं कि गंगाका नाम लेनेसे और उसमें स्नान करनेसे सब पाप दूर हो जाते हैं ।

गंगा गोमति यो ह्याद् योजनाना धर्तरीष ।

पुण्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोक ॥ चञ्चलति ॥

गंगाजलकी यह विशेषता है कि यह कभी बिसडता नहीं, उसमें कभी कीड़े नहीं पडते ।

गंगासागर—यह स्थान जहाँ गंगाजी समुद्रमें मिलती हैं । मकर-सक्रान्तिके दिन, यहाँ बहुत बड़ा मेला होता है । यहाँके स्नान, ध्यान, दानका वडा पुण्य है ।

हरिद्वारे प्रयागे च गंगासागर-संगमे ।

सर्वत्र दुर्लभा गंगा त्रिस्थानेषु सुदुर्लभा ॥

गङ्गमुक्ता—पुराने हाथीके भाथेमें पाया जानेवाला मोती । किन्तु आजके वैज्ञानिक आजकल हाथीके मस्तकमें मोती नहीं पा सके । इसलिये वे गङ्गमुक्ताको नल्पित मानते हैं और बड़े मोतीको ही गङ्गमुक्ता मानते हैं । हमारे यहाँ मुक्ता उत्पन्न होनेके घाठ स्थान माने हैं—गज, मेघ, सूकर, चक्र, मत्स्य, सर्प, सीपों और गंस ।

करोन्द्र-जीमूठ-वराह-सख-

भरवादि-सुवर्णद्वय-वेणुजानि ।

मुक्ताफलानि प्रथितानि सौके

लेषान्त्तु सुवर्णद्वयमेवभूनि ॥

गणमादन—एक पर्वत जो रोमक पत्तन (रोम नगर) के उत्तरमें केनुमाल और इलावृत्त वर्षके बीचमें नील और निपपतक पैजा हुआ है । विष्णुपुराणके मतसे यह सुमेरुके दक्षिणमें है, जिसपर अश्वि नामका केतु वृक्ष है । इसके पूर्वमें वैद्यरथ, दक्षिणमें गण्यमादन, पश्चिममें वैभ्राज, उत्तरमें नन्दन नामके चार मनोहर उपवन हैं जिनमें देवता विहार करते हैं । गणमादनपर विशेषतः किमुक्ष या किन्नर और किन्नरी, सिद्ध, चारण्य, विद्याधर और विद्याधरिणी विहार करती हैं । इस पर्वतपर महाभद्र नामका बहुत बड़ा सुन्दर सरोवर भी है । किन्तु सिद्धान्त त्रिरोमणिके अनुसार मानसरोवर पर ही गण-मादन पर्वत है ।

गन्धर्व—यह प्ररवन्त सुन्दर जातिकी देव-योनि है जो देवताओंकी समामे गान, वाद्य और नाट्य करते हैं, इनकी दो जातियाँ हैं—दिव्य और मर्त्य । जो मनुष्य इस कल्पमें अपने पुण्य-वत्तसे गन्धर्व हुए हैं वे मर्त्य हैं, जो इस कल्पके प्रारम्भसे गन्धर्व हैं वे दिव्य हैं । हरिवंशके मतसे स्वारात्रिप मन्दतरसे धरिप्टाके गर्भसे गन्धर्वोंका जन्म हुआ ।

गणपती—१-पुरी जितेमे भुवनेश्वरके पास यह यहाँ है। निबपुराणके मतमे दक्षिण समुद्रके पास विन्ध्यपादमे यह नदी निबती है।

गभीरा—चर्मचर्मी (चबल) नदीकी एक धारा।

गरुड—विनयायें गर्भसे और बस्त्रके श्रीमते इनका जन्म हुआ। भद्रण इनके भाई हैं जो गुरुके धामे रहते हैं। ये स्वयं अपना अस्त्र जोड़कर निकले थे। एक बार गरुड समुद्र तैलर विष्णुके साथ जा रहे थे। विष्णुने प्रसन्न होकर कहा—पर मांगो। गरुडने कहा—मैं आशात नार्मी होकर धामे ऊपरके भागमे रहूँ और समुद्रके विना ही अस्त्र-समर बना रहूँ। विष्णुने यह वर पाकर गरुडने विष्णुने कहा—आप भी वर मांगिए। विष्णुने कहा—आप मेरा साहस बनिए और मेरे पक्षपर रहकर मेरे ऊपर भी रहिए।

गणपति—गोवध। (गंगा चर्मचर्मी)

गणेश—समुद्रका पतुन। वह पतुन दक्षिण प्रजापति, प्रजापति, इन्द्रजी, इन्द्रने गोमरी और गोमरे वरगुणों दिया था। पतिने वरगुणों प्रार्थना करके यह पतुन समुद्रकी दिवाया था। पक्षिने १००० वर्ष, प्रजापतिने २०० वर्ष, गोमरे २०० वर्ष, वरगुणने १०० वर्ष और समुद्रने ६२ वर्ष एक पतुनकी धारण किया था। तबिबकी हृद्दीने यह पतुन बनाया गया था।

गणेश (विष्णु)—आठ प्रजापति विष्णुने १० वर्ष दिवाया—प्रथम बार और कन्या वरगुण एक दूसरेमें प्रेम करके दिवाया कर गये हैं। यह विष्णु तबिलोक गये ही हीन माना गया है। आठ प्रजापति दिवाया है— आठ, दैव, दाने, प्रजापति, धामुन, पक्षिने, शायन और वरगुण।

गणेश—दक्ष। ६० वर्ष २२ वर्ष दिवाया वरगुण ४० वर्ष और वरगुण दिवाया ४० वर्ष

प्रबोधपात्र। यह भद्र वेदमाता है और द्विजोंका उपास्य है। इसके द्रष्टा श्रुति विद्वानिभ हैं। मृत्युं द्रवके देवता हैं। इसे सावित्री मन्त्र भी कहते हैं।

गार्हपत्य—यह पक्ष या दाएँ जिसके बगानेमे सपे या विष नष्ट हो जाय।

गार्हपत्य—१. यह अग्नि जो यजमान या गृहपतिके साथ सदा रहती है। २. यह कृष्ण जिसमे गार्हपत्य अग्नि रहती जाती है।

गुरु—सत्य, राज और तम नामन तीन गुरु जिनके मतसे यह दृष्टि हुई है।

गुरुवशिष्टा—गुरुने विद्या लेकर धडाके साथ गुरुने जो संत दी जाय उसे गुरुवशिष्टा कहते हैं। कभी-कभी गुरु लोग स्वयं दक्षिणार्ध भी भेजे थे जिसे पूरा करना विष्णु अपने निवे गौरव समझता है।

गुरु—(विष्णु) गुरुनेसुरके एक पुत्र जातिके भुविना विन्ध्यने बनवासके समय रामकी संगति पाकर उगारा था। कुछ लोग विष्णुको केवट मानते हैं किन्तु विष्णु-भक्ति पूजामे ही है। ये लोग विष्णु केवट, मधुनी मानते और कन्या मानते थे। मनुके माने ब्राह्मण विष्णु और गुरु मानने वगल्व जाति ही विष्णु मानते हैं। कुछ लोग इन्हे धीवर भी मानते हैं।

गुरु—दक्षक सातोंमे निबतनेवासी मान कटिनि गिटी। इसके जो पुरपुरों होती है उसे बगुना देव और जो कटी होती है उसे पक्षि देव कहते हैं। गोदेव रग पक्षिने और पर रीतनेमे दक्षक प्रयोग होता है।

गोवध—गोवध प्रार्थने उगार बनाया तबि और पुनः मानुसेम पुनः मन्त्रों १० और उगार विष्णुकोर अग्नि रीति मन्त्रे स्थापित है। गुरुको और गुरुवशिष्टने कटिनि द्वा विष्णु था। वही पक्ष गुरुवशिष्टका गो-देव है।

गोत्र—वध । जिस पूर्व पुरुषसे किसीके पुत्रकी उत्पत्ति होती है उस कुलके सब लोग उस पूर्व पुरुषसे गोत्रके समझे जाते हैं ।

गोद—गोदावरी नदीके पासका स्थान ।

गोदान—विवाह आदि मंगल कार्योंमें सज्जता गो देनेका बड़ा पुण्य लिखा है । मृत्युके समय जो गोदान करते हैं उन्हें साक्षात् स्वर्ग-लोक मिलता है ।

गोदावरी—दूसरा नाम गौतमी नदी है । तीर्थ यात्राको जाती हुई ब्राह्मणोंसे एक कामुकने वसपूर्वक रमण किया और जब उससे पुन उत्पन्न हुआ तब उसे परिव्रज्य कर दिया । इससे दुखी होकर ब्राह्मणोंने तप किया और गोदावरी नदी बन गई । जम्बई प्रान्तके नासिक जिलेके अश्वमेध गाँवके पास बहाइसे यह नदी निगलती है और दक्षिण पठारको पार करती हुई बंगालकी खाड़ीमें समुद्रसे जा मिली है ।

गोमत्तर—सरदूके तीरेपर जिस स्थानपर रामने अपना पाँचमीतिक शरीर त्याग किया था वही गोमत्तर या गोमत्तार तीर्थ कहलाता है ।

गोरोचन—या गोरोचना, पीले रंगका सुगन्धित द्रव्य जो गौके माथेसे निकलता है । इसीसे तब और वैद्यकोंके चर्चन लिखे जाते हैं ।

गोमपंत—गुन्दावनमें पास प्रसिद्ध पर्वत जिसे श्रीकृष्णने अपनी उँगलीपर उठाया था ।

ग्रह—सूर्य, चन्द्र, मीन, बुध, शुक्र, शनि, राहु और केतु । इनमें सेवका सूर्य, वृषभ, चन्द्र, मृगका मंगल, कन्याका बुध, बर्कन बृहस्पति, मीनका शुक्र, तुला का शनि उन्न या भ्रष्ट होता है । तुलाना सूर्य, वृश्चिकका चन्द्र, बर्कन मंगल, मीनका मंगल मकरका बृहस्पति कन्याका शुक्र, मेषका शनि नीच होता है । प्लूटो यूरेनस और नेपचून नामक तीन और भी ग्रह खोजे गए हैं ।

ग्रहण—जब पृथ्वी और सूर्यके बीच चन्द्रमा आ जाता है तब सूर्यग्रहण होता है और जब चन्द्रमा और सूर्यके बीच पृथ्वी आ जाती है तब चन्द्रग्रहण लगता है ।

ग्राह—गहर (मकर) या गडियाल ।

घ

गडियाल—जसजन्तु जिसका रूप छिपकली के समान किन्तु आकार इतना बड़ा होता है कि यह पाप और भ्रमको निगला जाता है इन्हे नाकू, नाका (मक) या गहर भी कहते हैं ।

चक्रवाक—चक्रवा जलके पास रहनेवाला एक पक्षी जो देखनेमें हंसके समान होता है । इसकी सम्बाई २५-२६ इञ्च होती है । कहा जाता है कि दिवसे चक्रवा और चक्री दोनों चोच मिलाकर बैठते हैं और साप-साप जलमें डूबते हैं किन्तु रातमें धसन धसन हो जाते हैं इनके माथेकी चोटी और दोनों पक्षोंका रंग बेरंग होता है, छाती तथा पीठका रंग चना नारंगिया होता है । इनकी गर्दनमें नीचे और छातीके ऊपरके हिस्सेमें तीन बार मंगुल चौड़ा एक चमकीला काले रंगका पीछासा होता है जो छातीसे लगाकर पीठके ऊपरसे घूमा हुआ रहता है । यह चक्रबन्ध होता है, चक्रीयो नहीं, कुछ चक्रबन्ध भी नहीं होता है । पीछेका निचला भाग कुछ-कुछ पीछापन लिए सात होता है । कुछ चक्रबन्धों इस स्थानपर लाल और काले खोरे भी होते हैं । इसके पल और पैर आदि अन्य रंगोंके भी होते हैं । चक्रबन्धों के देहका रंग पीला और सलाई लिए हुए ज्वेत होता है । मस्तक और गर्दनका रंग लहके रंगवा तथा चौंभ और पैर काले होते हैं । ये बड़े सजग रहने हैं । इसलिये ग्रहेरी लोग इन्हें जल्दी मार नहीं पाते हैं । भारतमें जाड़ेके दिनोंमें दिसाई करते हैं ।

चक्री—(देखो चक्रवाक)

घक—एक प्रकारका घन् जो सोहरे
पहिए के आवाजा सीधी धारवाला होता है।
मुश्-नीरिने प्रभुमार घाठ अरो-वाला उत्तम,
६ वाला मध्यम और चारवाला अधम बहुलता
है। युवको निये १६ घगुलवा उत्तम, १४ का
मध्यम और १२ का निवृष्ट सममा जाता
है। इसकी परिधि या घुट्टीकी चौड़ाई तीन
घगुल उत्तम, दार्द घगुल मध्यम और दो घगुल
अधम सममी जाती है। इसका बिनारा बाने
धोरोसे सीमा पैना होना चाहिए।

घकबती—एक समुद्रसे दूसरे समुद्र तक
पैने हुए रागरे राजा, जिन्हें दूसरे राजा लोग
कर देने हों। ऐसे सात ककबती राजा माने
गए हैं—भरत, सहस्रार्जुन, मान्धाता, भगीरथ,
मुषिष्ठन, लहर और मनुष्य।

भरतार्जुनमान्धातुभगीरथमुषिष्ठिताः।

सगने मनुष्यवैद्य लौकिके चाक्षतिके ॥

घरडी—दुर्गा।

घग्गवाला मलि—एक प्रकारका रत्न जो
पूर्णिमादि गन्धर्वाकी सामने घाबर डबित होता
है। मुक्ति-नन्दनमें लिखा है—

पूर्णादुत्तरमन्मार्गदृष्टं यवति ललान्।

गद्गवान् ललान्नात्र दुर्गम ललानी मुने ॥

घग्गहार—जैसेमें पहनेवा गीनेवा साभू-
षण निर्गम जटाऊ काम ही।

घट्टात—रावणका लट्ठ।

घमंभनी—जबम नदी। इसका दूसरा
नाम घमंवाला और गिर-नर भी है। प्राचीन
दम्पुर नाम नदीके लट्ठक था। महाराज
रजिन्दर प्रसिद्ध कथाकथन धर्मार्थ कई जो
ईर माग्यर काटण और अतिथियोंको गिलाते
थे। उन लोगोंके चमड़े और पगीमेंसे इस नदीकी
उत्पत्ति हुई। घमंभनी महाकाव्यकी इन्दो
गान्धे काटण पर्वमें विचित्र घमंभनी नि
र्ग है।

घातक—पपीहा। यह पपी स्वातिके जलके
प्रतिरिक्त कोई दूसरा जल नहीं पीता।
चातकके सरोरके घावेका भाग हरा और पस
वाले होते हैं। पसकी जड़में सफेद और वाता
मिला हुआ, कंधेपरके पस स्वेत और पूछ काली
होती है। घातकीवा रंग भी ऐसा ही होता है
किन्तु इसकी पूछका रंग पना वाला होता है
किन्तु पस चातक के पलोंके समान लाला
नहीं होता। घातक और घातकी दोनोंकी चोच
और पैरोका रंग कुछ नीला और भूरा होता है।
पस स्वेत और घुघने रंगके होते हैं। यह लग-
भग ५॥ इंच लंबा होता है। इसके पल लगभग
२॥ इंच, पूछ २ इंच और चौच तीन इंचकी
होती है। कहा जाना है कि इसके गलेमें एक
छेद होता है और जब यह पानी पीने लगता है
तो बहुत सा पानी इससे गलेसे निकल जाता है।

घामर—मृग—सुरा गाय। घामर—सुरा
गायकी पूछ बिनसे पेंवर बनाया जाता है।
सुरागायको चमरी या घामर मृग कहते हैं।
जब पेंवर दुलवानेमें दीर्घायु, छोटेसे भय और
बिनाम, उत्रनेसे घन तथा नीति और गनेसे
वपश मिलती है।

घारल—राजाघोरे यहाँ उनकी मग-
नीतिना विवरण हस्तनेवाने और घाघारण
कवितामें नीति कहनेवाले लोग। इन्हें कुमीनव,
भाट और कन्दोजन भी कहते हैं।

बिचरूट—अपानसे दक्षिणमें मन्दाकिनी
नदीके लट्ठक स्थित पर्वत जो उत्तर प्रदेशमें
बाँस जिलेमें पहाड़ है। बनवागवे प्राग्भिन्न
दिनोंमें राम इसी पर्वतका रहे हामीनि इसे
रामगिरि भी कहते हैं।

बिचरा—२७ नक्षत्रोंमें यह १४वाँ नक्षत्र
घातक उगम प्रवादाता है। इसमें एक
भाग है। यह पूर्ण दिगमें निरन्तर और
परिधयमें घम्य होता है। बिचामे उगम हुआ

छ

मनुष्य दायुधोरो वस्तु रक्ता, नीति-शास्त्रमे
निपुण धीर अनेक शास्त्रोरा पण्डित होता है।
पुराणके अनुसार यह दश प्रजापतिनी चौदहवीं
कन्या धीर चन्द्राती पत्नी है। वैजयी पूर्वसमाप्तो
चन्द्रमा इसीका भोग करता है। चित्रासे यात्रा
निर्गम है।

भूदायति—छिरपर पहननेवा सीधपून
नामका गहना जो माथेके ऊपर ठीक बीचमें
मागपर पहना जाता है।

अय्यन—श्रृंगि। इनके पिता महर्षि भृगु
धीर माता पुलोमा थी। जब ये मातापे गर्भमें
थे तब समय एक राक्षस इनकी माताको
हरण करनेको आया। अपनी माताकी रक्षा
करनेके लिये इन्होंने तत्काल गर्भसे निम्नवर
उत्पन्न हुए, इसीलिये इनका नाम अय्यन
पड़ा। एक बार तपस्वा करते-करते इनके
शरीरपर बल्मीक या बाँधी उठ आई। वेकल
बोनों घमनीली झालें झुकी रह गई। एक
दिन राजा शर्मतिवी पुत्री सुवन्मासे कुतूहलपन्न
उनमें गति पुत्रा दिए। महर्षिके क्रोधसे
शर्मतिने सामन्तोका मल-मूत्र रच गया। तब
शर्मतिने शमा मागपर अपनी बन्धा उन्हें
झाड़ दी। गुवाया इतनी साध्वी थी कि जब
अश्विनीकुमारने परीक्षा लेनेके लिये इन्हे
पुछलाया तब भी यह हठ रही। इससे प्रसन्न
होकर इनके पति अय्यनजीको अश्विनी-
कुमारने गुदर पुष्पा बना दिया। इसके
बदलेमें अय्यन श्रृंगिने अश्विनीकुमारको
यज्ञमें योग रस दिया। इसपर इन्द्र गष्ट हो गए
और इनपर वज्र चलाया। अय्यनने अपने मन्त्र-
बलसे वज्रको रोक दिया और उनका नाम
करनेके लिए एक विचराम असुरकी सृष्टि की।
तब इन्द्र भयभीत होकर अय्यनकी गरुणमें
आया और इन्द्रकी मुक्ति मिली। उस विचराम
असुरकी बदलने पर आर्गोनि बाँटकर स्त्री,
मघ, पुत्र, और मृदमासे प्रतिष्ठित कर दिया।

छतिवन (सप्तपर्ण)—भारतके सभी
क्षीतप्रधान प्रदेशोंमें होनेवाला वृक्ष। इसके
एक-एक पत्तेमें कई दल होते हैं। इसका पेड़
बड़ा होता है और टहनियोंसे द्रुप निरालता
है। इसका द्रुप कोड़े को अच्छा भर देता है
और जेलमें मिलाकर कानमें डालनेसे दर्द दूर
हो जाता है।

छत्तिक—एक प्रकारका रूपक या नाटक
जिसमें दर्शकोंसे किसी प्रकारका छल लिया
जाता है, उन्हें मूर्ख बनाया जाता है या जिसका
सक्य छल करना होता है।

ज

जटापु—प्रसिद्ध गृध्र पक्षी जो सूर्यके
सारथी धरणीके धीरस तथा इष्यनीके गर्भसे
उत्पन्न हुए थे। इनके बड़े भाईका नाम सपाती
था। जब राक्षसने सोदाका हरण किया तब
जटापुने राक्षससे युद्ध किया और उसके हाथों
मारा गया। रामने अपने पिताका मित्र
समझकर उसका दाह संस्कार किया।

जनक—निमि वनामें हृस्वरोमाके पुत्र,
मिथिलाके राजा, सीताके पिता। निमिने
अपने पुरोहित वशिष्ठकी उपेक्षा करने यज्ञ किया
था। इसपर वशिष्ठने क्रुद्ध होकर मष्ट होनेका
पाप दे दिया। तब श्रृंगिमेंनि मृत निमिकी
देहको गया जिससेसे मयित होकर उत्पन्न
होनेके कारण मिथि नामका पुत्र हुआ।
इन्हींका दूतता नाम जनक था। इन्होंने द्वारा
स्थापित देग मिथिला कहाया। ये ब्रह्म-
जानी और विरक्त थे। इसलिये विदेह कहाते
हैं और उपदेष्टा होनेके कारण राजर्षि कहाते
हैं। मिथिनाके सभी राजा ब्रह्मजानी होते
थे और इन्होंने सभी जनक कहाते हैं।

जनपद—एकही बोनों बोलनेवाले लोग
जिनके प्रदेशमें बसते हो उसे जनपद करते हैं।

जनस्थान—(१) दण्डकारण्य । (२) दण्डकारण्यके पासका स्थान । इहवाकु वंशके राजपुत्र दण्डने जब युष्माचार्य की कन्या अरजासे बलात्कार किया तब युष्माचार्य ने शाप दिया कि तुम रात रात्रिगे भस्म हो जाओगे । उन्हींके नाम-पर इस जनका नाम दण्डवन् पड़ा और उससे जिस स्थानपर रहनेसे तपस्विगोपी रक्षा हुई थी उसे जनस्थान कहते हैं । (३) दण्डकारण्यका वह स्थान जिसमें राजाशुकी सेना लेकर सर, वृषण आदि रहते थे ।

शयन्त—इन्द्रका पुत्र ।

जया—पार्वतीजीकी सखी जो वपस्याके समय उनके साथ थी ।

जलधुलकुड—पनटुखी नामक पत्नी जो जलमें डूबकर मछली आदि जीव निकालकर खाता है । मुखावी ।

जातकर्म—जस सत्कारोमेंसे भीषा सत्कार । इसका विधान यह है कि पुत्रके जन्मका समाचार सुनते ही पिताको यह कहना चाहिए—नाभि या वृन्त, स्तन न भावदत्त । (नार न काटना, स्तन न पिलाना) और फिर सप्तस्नान करके पट्टी, मार्कण्डेय और मोदसमातृकाका पूजन करके वसुधारा तथा तान्त्रीमुख आदि कार्य करना चाहिए । सब किसी ब्रह्मचारी, कुमारी, गर्भवती या वेदान्तिक ब्राह्मणसे एक पत्थरकी शटिका धुलकर करवाहिते हाथकी धनामिका और भगुलसे धावस और जो लेकर 'कुमारस्य विज्ञा निर्माणि शयमाका' कहकर कुमारको डुबाना चाहिए । फिर सोनेकी सलादसे धी लेवर यथाविधि मन्त्रोंके साथ बासवकी जोयपर लगाना चाहिए और 'नाभि वृन्त स्तन न ददत्त' (नार देदो, स्तन पिलाओ) कहकर बाहर पला जाना चाहिए ।

जामकी—जनकका पुत्री, रामकी भगंपत्नी । इनको बँदेही, मेघिनी सेता और घरणीसुता भी कहते हैं । येत जोतने हुए राजा जनकको

हलकी फालसे टकराए हुए एक मिट्टीके घड़ेमें मिली थी । अतः, ये जनककी भगोनिजा कन्या थी और इससे उत्पन्न होनेके कारण सीता कह-साई । इनका जन्म वंशास युवसा घट्टीको हुआ था । जब रावणने ऋषियोसे भी कर माँगा तो उन्होंने अपने अँगूठे चोरकर उसके रक्तसे घड़ा भर कर रावणके पास यह कहकर भेज दिया कि इसमें तुम्हारा विनाश निहित है । रावणने वह घड़ा मिथिलाके खेतमें गड़वा दिया । वही ऋषियोका रक्त सीताके रूपमें उत्पन्न हुआ और उन्हींके कारण रावणका विनाश हुआ ।

जलसय—(दसौ दस)

जूही—सफेद धमेसीसे मिलते जुलते छोटे छोटे फूल जो हिमालयकी ढालपर भाडिमेंमि होते हैं और फुलवारियोंमें लगाए जाते हैं । इसका पीषा कुन्वसे मिलता है और बरसातमें फूलता है । इसे सस्कृतमें मूषिका कहते हैं क्योंकि ये मुरके भंड गुच्छोंमें लपते हैं ।

ज्वार—प्रतिदिन समुद्रमें दो बार पानी घटता बढ़ता है । इस बढ़ाव-उत्तराको ज्वार-भाटा कहते हैं । जब पानी बढ़ता है तब ज्वार होता है, जब उत्तरता है तब भाटा होता है । ज्वारको सस्कृतमें वेला कहते हैं । प्रायः १२ घंटे २५ मिनटपर ज्वार आता है ।

ड

डंड—(दंड) जपली मच्छर, डंड । इस मच्छरके काटनेपर बड़े-बड़े फकीरे पड़ जाते हैं और बड़ी खुजलपट्ट होती है ।

त

तसक—घाट नगोंमेंसे एक नाम । इसका जन्म बरदय और कट्टेके गर्भसे हुआ था । यह साण्डव वनमें रहता था और इसने ही शृङ्गी ऋषिका शाप सफल करनेके लिये राजा परीक्षित को काट लिया था जिससे क्रुद्ध होकर जन्मेजयने

सर्प-यज्ञ किया था। यज्ञमा सभाचार सुनकर तराकने इन्द्रकी शरण ली और वासुकीने यज्ञ रोकनेके लिए आस्तीकको भेजा, राजा जनमेजयने तक्षकको इन्द्रका शरणगत जानकर श्रुतिजोसे कहा कि तक्षकके साथ इन्द्रकी आहुति कर शानिए। फलतः 'इन्द्राय तक्षकाय स्वाहा' नहुते ही तक्षकके साथ इन्द्र भी अग्निकी ओर धावूँ हो गए। तब इन्द्रने डरकर तक्षकको छोड़ दिया जो अग्निकी ओर गिरने लगा। इसी समय आस्तीकने अपनी ध्यान देकर महाराज जनमेजयसे तर्प मंत्र बन्द करनेकी शिक्षा मांगी। और तभीसे यह प्रसिद्ध है कि आस्तोत्रका नाम जपनेसे सर्प-भय नहीं रहता। सर्प दूर करनेका मंत्र यह है—

सर्पपसर्पं बध्नते दूर मच्छ महाविष ।

जनमेजयस्य यज्ञान्ते आस्तीकं वचनं स्मर ।

आस्तीकवचनं भुत्वा य सर्पो न निवर्तते ॥

शतधा भिद्यते भूध्नि विश्ववृक्षफलं यथा ।

विश्वाद्य किया जाता है कि यह माग इच्छा-नुसार मनुष्य शरीर धारणकर सकता था। वैद्यक ग्रन्थोमे लिखा है—

ममूर निम्बपत्रं च योर्जितं मेघपत्रे रवी ।

प्रतिरोपान्वितस्त्वस्मै तक्षकः किकरिष्यति ॥

वैशालमे जो ममूरके साथ नीमके पत्ते खाता है उसपर क्रोध करके तक्षकभी कुछ नहीं बिगाड़ सकता मर्बाद उन्हें कोई विष नहीं चढ़ सकता। घाठ प्रधान नाग ये हैं—अनन्त, वासुकि, पद्म, महापद्म, तक्षक, कर्कोटक, शय और शेष ।

तपोवन—नदीके किनारे हरे-भरे छाछ-फलोसे युक्त जिस वनमे भर्हीन सोय उपस्था करते थे ।

तमसा—टोस या छोटी सरयू नदी। जिस के स्मरण करनेसे पाप नाश हो सकका नाम तमसा है—यस्या स्मरणात्तामसवि पाय सा तमसा। वन जाते समय रातने पहली रात इसी

नदीके तीरपर बितायी। यह नदी उत्तर प्रदेशके आजमगढ़ और बलिया जिलेमेसे होती हुई बलियाके पास गंगामे मिल गई है।

तमाल—यह वृक्ष बीससे सठ्ठाईस फुट तक ऊँचा होता है। इसनेग महाराज और सुन्दर होता है। वंशाखमे इसमे बड़े-बड़े श्वेत फूल लगते हैं और बलमी नींबू जैसा एक फल लगता है जिसका छिलका बलके समान बिकना और पीसा होया है किन्तु यह इतना खट्टा होता है कि एक बार खानेसे कई दिनतक दाँत खट्टा रहता है। सियार इसे बहुत खाते हैं। इसके पत्ते तेज-पातके समान होते हैं और इसकी छाया बड़ी घनी होती है। इसे नीलताल बलताल और नीलध्वज भी कहते हैं। या तो भारतमे सभी स्थानोपर यह वृक्ष होता है किन्तु समुद्रके तटपर भी बहुत पाए जाते हैं।

तमोगुलु—घटव, रण, लग तीन गुरांगेमेसे एक, जिसमे तमोगुलु विशेष होता है वह क्रोधी और दुष्कर्मी होता है।

तर्पण—अपने पितरोंकी जल-दान देकर तृप्त करनेका कार्य। यह तर्पण विशेष विधानके साथ किया जाता है। तर्पणका यह कल लिखा है—कि तर्पण करनेवालेको किसी प्रकारका दुःख नहीं होता।

ताडका (ताडका)—यह मुक्केनु नामक परा-क्रमी यक्षकी कन्या थी जिसे उसने ब्रह्मसे बरके रूपमे पाया। इसमे एक सहस्र हाथियोंका बल था, यह जम्बूके पुत्र सुन्दसे व्याही थी। जब अगस्त्य ऋषिने सुन्दको मार डाला तब यह अपने पुत्र मारीचको साथ लेकर अगस्त्य ऋषिको जाने दोही, किन्तु उनके जापसे दोनों राक्षस हो गए। तभीसे यह राक्षसी अगस्त्यजीका तपोवन नष्ट करने लगी और वहाँके सब ऋषियोंको खाने लगी। इसीलिए यह जगत् ताडका जगत् कहलाता है। जब यह विश्वामित्रजीके यज्ञमे भी विघ्न करने लगी

तब वे राम-सहस्रनामों से ध्याए और रामने उनका वष किया। स्त्री समझ कर जब राम भिन्न रहे थे तब विश्वामित्रने कहा था—'जो स्त्री बोरने समान बुद्ध करे, सखा और नोमलता का त्याग करे, उसे मारनेमें स्त्रीवधका दोष नहीं लगता।

ताण्डव—युगलोंके नृत्यको ताण्डव और शिवोके नृत्यको साम्य कहते हैं। यह नृत्य शिवजीको परमेश्वर प्रिय था। १. किसीके मतसे इस नृत्यके प्रवर्तक शिव हैं। २. तण्डु नामक ऋषिने पहले-महल इसकी शिखा दी थी। अतः, इसका नाम ताण्डव पड़ा।

ताम्ररणी—१. यह नदी मद्रास प्रान्तके तिल्लेवेनि जिलेमें है। इसे उग भाषामें 'पसने' कहते हैं। यह पश्चिमी घाट पर्वतमें निक्षलकर बंगालकी गङ्गामें जा गिरती है। २. इसीके घाटपाव ताम्ररणी नामकी एक और नदी जो पश्चिमकी ओर बहती है। ३. बम्बई प्रान्तके बेनगार जिलेकी एक छोटी नदी।

तारबामुर—यह ईश्वर तारक नामका धर्मगुरु पुत्र था। गृहणी धर्म त्याग्य करने पर इसने सततज्ञे ऐसी श्रुति गूढ निबन्धी जितने इन्द्रादि देवता जानने लगे। देवताओंने यह वृत्तान्त ब्रह्मासे कहा। तत्काल ब्रह्माजी तारबामुरसे पास गए। बरदानके रूपमें उसने दो वर माँगे। १. मेरे समान कोई बर्तन न हो। २. जिसके पुत्रके प्रतिष्ठा शिर्षासे न माया जाऊँ। वर पाकर वह घरों पर भागा। सब धर्मगुरुने उसका शान्ताभिप्रेत किया। वह मत्सरमें माना प्रजापति काजाकार करने लगा। इससे देवता बहुत दुःखी हुए। तब जिसके पुत्र काँतिसेवने उसका वष किया। (देवी काँतिसेव)।

ताप—गर्भिके समय शीतली प्रत्येक काँतिग समान माननेके दिने हाथकी जो तापी बजाई जाती है उसका सूट, ऋषि धादि पर

विशेष बोलेंगे वैसे हुए जो विभिन्न कष्टोंके समयकी अभिव्यक्ति की जाती है उसे ताल कहते हैं। ऐसी तालें अनेक हैं। तालकी उत्पत्ति महादेवजीके ताण्डवके 'ता' और पार्वतीजीके लास्यके 'न' से हुई। यह दो प्रकारकी होती है—मार्गी और देसी। भरतने ६० प्रकारकी मार्गी ताल १२० प्रकारकी देसी तालोंका विवरण दिया है जिनमेंसे प्रायःसत् कुछ बीसेसे ताल प्रयुक्त होते हैं।

तिली—नीवार या मुग्धप्र। यह एक प्रकारका चावल होता है जो अपने प्राप बिना बोए उदयन हो जाता है। प्रायः यतीमें लोग इसीका प्रयोग करते हैं।

तिल—यह छोटा पतला, बिपटा बीज होता है जो बाला, सफेद और सास रगता होता है जबकी तिल भी होता है। तैल शब्द इसी तिलके तेलने लिये प्रयुक्त होता है। यह आढ-तण्डुलादिमें अधिक काम आता है। इसने पूतकी उभमा माषों दी जाती है जो सफेद रगता, गिलासने मत्सरकर, ऊपर चार हलोंमें बिभक्त रहता है जिसपर भीतरकी ओर बंजनी पारियाँ होती हैं। इसका पोया पार पृष्ठतक ऊँचा होता है। इसका पत्ते ८, १० धगुन सम्ये और ३४ धगुन चौड़े होत हैं जिससे बिनारे देगे में दे होत हैं।

तिलक १—चन्दन, मेरार आदिमें निजके पुष्पके समान भाषे, छापी या हाथपर जो पीता प्रायः उने चित्रक कहते हैं। १—रामदास वेद। १—मुद्रापरकी आदिता पर, विषम वसन्त ऋतुमें लोचने धाजाने पूज गये हैं।

विभाजिन—धरने चित्रोंको तुल्य करनेके लिए तरोटके समय जलमें तिल दासकर सज्जित करा।

तीर्थ—जिह्वासे शम्भ, लट्ट, धर्मदा धर्म शिर्षा पाशुपत्यक जन्म ग्या। धर्मदा शिर्षा

पवित्र घटनाके स्थलको तीर्थ कहते हैं जहाँ स्नान करने, निवास करने या दर्शन करनेसे पाप दूर हो जाते हैं। तीन प्रकारके तीर्थ बताये गये हैं—जगम, मानस और स्थावर। ब्राह्मण और सन्त लोग जगम तीर्थ हैं। सत्य, धामा, इन्द्रिय-निग्रह, दया, ऋजुता, दान, दम, सन्तोष, व्रतपथ, त्रिवेदादिता, ज्ञान, धर्म और तपस्या ये मानस तीर्थ हैं। गंगा, काशी आदि स्थावर तीर्थ हैं।

मृगीर—हरकस। चाणू रखनेका सोस। जो बाहिन कन्धेकी ओर पीठसे बाँधा रहता है।
मृग (छरही)—मुँहसे भूमकर बजाए जाने-वाला एक लड़ा मारा।

त्रयी—ऋग, यजु और साम ये तीन वेद। सृष्टिके आदिमें ऋग्वेदमय ब्रह्मा, स्थितिके यजुर्वेदमय विष्णु और लयके सामवेदमय रुद्र ही त्रयी हैं।

त्रिकूट—तीन शिखरोवाला पर्वत। ऐसा पर्वत एक लकाने है, दूसरा क्षीरसागरमें है, तीसरा गुजरातमें गिरिनार पर्वतमें है जिसे पार करके रघु सिन्धुकी ओर गए थे।

त्रिपुर-विजय—तारकासुरके तीन पुत्र-तारकात्म, कमलात्म और विद्युन्मासीने तपस्या करके ब्रह्मासे यह वर ले लिया कि हम तीनों तीन पुरोंमें रहकर पूजित हो और जब एक साथ मिल जायें तब जो एक समय बाणसे तीनों पुरोंका नाश कर दे, उसीके हाथसे हमारी मृत्यु हो। मम दानवने इनके लिये स्वर्गमें सोनेका, भस्तरिदामे चाँदीका और मर्मलोकमें लोहेका सोन दसाया। इन दानवोंने धरके चारण देवताओंपर भस्त्राचार प्रारम्भ कर दिए। तब महादेवजीने सब देवताओंका आधा-आधा भस्त्र लेकर ब्रह्माजीको सारथी बनाकर विश्व-कर्मके बनाए रथपर बैठकर दिव्य घनुर खींचकर त्रैलोक्य-सार-भूत-बाण छोड़ा जिससे त्रिपुर नष्ट हो गए और उन्होंने तीनों पुरोंकी जलानर पश्चिम त्वाणरम पैर दिया।

त्रिपुण्ड्र तीर्थ—ब्रह्माका बनाया एक तीर्थ, जहाँ तीन तासाव है।

त्रिशङ्ख—ये सूर्यवंशी राजा सशरीर स्वर्ग जाना चाहते थे। जब वसिष्ठ और उनके पुत्रोंने ऐसा यज्ञ करना स्वीकार नहीं किया तब त्रिशङ्खने विश्वामित्रकी चरण ली। विश्वामित्रने जो यज्ञ किया उसमें कोई देवता नहीं आए। तब विश्वामित्रने क्रोधसे त्रिशङ्खसे कहा—नेरी तपस्या-के फलसे ही तुम सशरीर स्वर्गमें चले जाओ। स्वर्गकी ओर भाते देखकर इन्द्रने उसे टकेलकर कहा—तुमपर नुस्का छाप है, तुम भीमे मुँह होकर छोट जाओ। जब वह भीचे मिरने लगे सब विश्वामित्रने उन्हें बीचमें रोक दिया। तबसे त्रिशङ्ख वही नीचे सिर किए हुए लटके हैं।

त्रिमुल—तीन फलबाला महादेवजीका मूल।

त्रैता—सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग नामक चार युगोंमेंसे एक। कालिव युगल नवमीको त्रेता युग प्रारम्भ हुआ। इस युगमें बारह साल छानवे हजार वर्ष होते हैं। इसमें मनुष्यकी आयु १० सहस्र वर्षकी होती है, लम्बाई १४ हाथ होती है। इसमें तीन चरण पुण्य और एक चरण पाप होता है, चाँदीके पात्र ही काममें आते हैं। इस युगमें बामन, परशुराम और राम-का अवतार होता है। मनुके अनुसार इस युगमें मनुष्योंकी आयु ३०० वर्षकी होती है।

त्रोटक—यह ५, ७, या ९ प्रकका एक नाटक होता है। जिसमें स्वर्ग और पृथ्वी दोनोंके नियम वर्णन किए जाते हैं। शृङ्गाररस प्रधान होता है और नायक कोई दिव्य मनुष्य होता है। विक्रमोर्वशीय नाटक त्रोटक ही है।

४

वस—अदितिके पिता और प्रजापति। इन्होंने अपनी १० कन्याएँ धर्मकी, १३ कश्यप-के, २७ चन्द्रमाकी, दोनो मृगु, अगिरा और

घ

धनुषयज्ञ—सीताजीके विवाहके लिये जनकजीने प्रण किया था, जो महादेवजीका धनुष उठाकर उसपर डोरी बँधा देगा उसीके साथ सीताजीका विवाह होगा। यद्यपि बहुत राजाओंने धनुष उठानेका प्रयत्न किया किन्तु रामके अतिरिक्त कोई भी धनुष नहीं उठा सका इसीलिये सीताजीका विवाह रामसे हुआ।

धर्म—जिस रामसे इस लोकमें अमृतद्वय और परलोकमें मोक्ष मिले वही धर्म है। यनोऽमृतम लि ध्येयमृषिश्चि स धर्मः। परहिं तरिस् धरम नहिं भाई।

धर्मसिन्धु—राजा या न्यायाधीश जिस आसन पर बैठ कर न्याय करता है।

धातु—वह मूल क्रियाकूप जिससे क्रियाके अनेक रूप बनते हैं—जैसे धस, ह, भादि।

धूँकैतु—(देखो पुच्छलतारा)

ध्वजा—१ झंडीका डंडा। २ झण्डा।

न

नक्षत्र—मान्त्रिकी आदि २७ तारक-समूह। (देखो कृत्तिका)

नक्षत्रत—रतिदासमें प्रेयसीके शरीरपर प्रियतम-द्वारा बनाए जानेवाले नक्षत्रके चिह्न। कामशास्त्रमें इसका विस्तारसे वर्णन किया गया है।

नदी—मूत्रधार या बटनी पत्नी।

नन्दनवन—इन्द्रका वह उद्यान जिसमें मनुष्य अपना भोगवाला पूरा करके विहार करते हैं। यह वृष्टिभरके सब स्थानोंमें सुन्दरतम माना गया है। यहाँ भाऊ-पुत्र गगनमें घुमते कमल खिलते हैं। भूमिपर कल्पवृक्ष फलता प्रभता है, कामधेनु दधेन्द्र वन देती है और यहाँ पहुँचकर लोग अप्सराओंके साथ विहार करते हैं।

नन्दिग्राम—अयोध्यासे चार कोसपर एक गाँव जहाँ भरतने रामके नियोगमें १४ वर्षतक व्यतीत किया था।

नन्दिनी—देव सुरभि कामधेनुकी कन्या और वशिष्ठकी गौ जिसे प्रसन्न करके दिलीपने पुत्र पाया था। एक दिन केतु लेकर विश्वामित्रजी वशिष्ठके यहाँ गए। वशिष्ठने नन्दिनी गौके प्रभावसे उनका इच्छानुसार सत्कार किया। विश्वामित्रने उनसे यह गौ माँगी। जब वशिष्ठने अस्वीकार कर दिया तब वे अंतर्पूर्वक गौको ले चले मार्गमें नन्दिनीके बिल्लानेसे उसके विभिन्न अंगोंमेंसे स्नेहोद्गो और जवनोंकी इतनी सेनाएँ निकल पड़ी कि विश्वामित्र हार गए।

नन्दी—१ धातुव्याकरण नामक शिवजीके द्वारपाल। २ शिवजीके एक प्रकारके गण जिनके तीन भेद होते हैं—वनवनन्दी, गिरिनन्दी और शिवनन्दी।

ननुकि—१ एक दानव जो दुग्ध और विद्युत्प्रकाश तीसरा भाई था और कश्यपकी दनु नामक पत्नीसे उत्पन्न हुआ था। २ विप्रचित नामक दानवका पुत्र, जो इन्द्रका मित्र था, जिसने सोमरसके साथ इन्द्रका बल हर लिया था और जिसे इन्द्रने सरस्वती और अश्विनीकुमारसे बच लेकर मारा था। इन्द्रने इससे प्रतिज्ञा की थी कि मैं न तो तुम्हें दिनमें मारूँगा और न रातमें न सुखे अरुसे न गीले अरुसे। इसीलिये इन्द्रने प्रातः या मध्यारके समान एक बच्चाजैसे उसका बंध किया।

नमोद—एक प्रकारका पुन्नाग वृक्ष। इसे हिन्दीमें मुस्तानी शम्पा कहते हैं। इसका फूल बड़ा-बड़ा चात चात होता है जिसमेंसे अत्यन्त सुन्दर गंध निकलती है।

नरकट—सरकट (शरपत्र) के समान दलदलमें होनेवाली एक पास, जिसमें पीरदार छड़ी निकलती है जिससे जिसनेके कलम बनाए जाते हैं। इसका चौथा भेदने समान, पत्तियाँ चौकी पत्तियोंके समान और डटल या छड़ी पौसी होती है जिसकी टुप्पेकी निगालियाँ,

टोकरी और मुँदे भी बनते हैं। इसे नरकुल भी कहते हैं।

नर्मदा (नदी)—यह रीवाँ राज्यके धर्मर-कण्ठक पहाड़से निकलकर भड़ौचके पास धरम सागरसे गिर जाती है। यह विन्ध्यके दक्षिण ६०० मील तक बहती है। धर्मरकण्ठकसे निकलकर माल भूमिमें धुंभककर यहसे ७० फुट नीचे गिरकर बपितपारा प्रपात बनाती है। इस नदीमें स्नान करनेका बड़ा पुण्य बताया गया है क्योंकि यह शकरजी देहसे उत्पन्न हुई है।

नम्रकुल—बुंदेलखाना पुत्र, मणिप्रोषका भाई। एक बार यह कैलास पर्वतपर मदिरा पीकर स्त्रियोंके साथ विहार कर रहा था तब नारदने शाप दिया, जिससे यह वृंशवधमें वमलार्जुन हुआ था।

नमगिरि—(हाथी) उज्जयिनीके राजा चक्रवर्तीका प्रसिद्ध वेगशील हाथी।

नवमस्तिका—१. चमेली, २. मेवारी।

नहुष—ये पन्द्रवती राजा आयुके पुत्र और पूषणके पौत्र थे। ये बड़े प्रतापी पक्षवर्ती राजा थे। जब वृषासुरको गारुडपर ब्रह्महत्याके बरसे इन्द्र वमलनालने छिप गए, तब बृहस्पतिने नहुषको ही इन्द्र बना दिया। इन्द्राणीपर मोहित होकर जब इन्होंने उन्हें पास बुलाना चाहा तब इन्द्राणीने कहाया कि आप सत्तापिपेकि कंधेपर पालकीपर चढ़कर आइए। पालकीपर चढ़कर हटबटोमें इन्होंने सत्तापिपेसे कहा—‘सर्प, सर्प’ धर्षित् जस्टी-बस्टी चलो। इसपर भगस्त्वनीने इन्हे शाप दे दिया कि जाओ, सर्प हो जाओ। किन्तु प्रार्थना करनेपर भगस्त्वने कहा—मुषिष्ठर तुम्हें शाप मुक्त करेगा। इसीसे ये बहुत बिनो सर्प बनकर दैत्यवधमें पड़े रहे और जब इनकी एकदखे योगकी पुष्टानेने लिये मुषिष्ठर आए तब इनकी मुक्ति हुई।

नाग—कश्यपकी कन्या नामच स्त्रीसे अनन्त, वासुकि, कम्बज, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शङ्ख, कृत्तिक और अषरानित नामके नाग उत्पन्न हुए। ये नाग, भूमिके नीचे रमणीयक द्वीपमें रहते थे।

नागकन्या—नागजातिकी कन्याएँ जो बहुत सुन्दर बनाई गई हैं।

नागपाश—दक्षिणा भल जिससे वे शत्रुभोको बाँध लेते हैं। मेघनादने इन्द्रसे यही भल प्राप्त किया था। उनके अनुसार बाईं फेरेके बन्धनका नाम नागपाश है।

नागरमोघा—नागरमुस्ता—एक प्रकारकी घास जो जंगली सूक्ष्म बहुत साते हैं।

नागदी—नाटकके प्रारम्भमें देवताभोको प्रसन्न करनेके लिए जो प्रार्थनाएँ की जाती हैं। साहित्यदर्पणके अनुसार यह घाठ या १२ पदोंमें होनी चाहिए किन्तु भरतने १० पदोंकी भी बताया है। नागदीका पाठ मन्मम स्वरमें होना चाहिए।

नारद—अपने पितरोंको सदा जलदान देनेके कारण इनका नाम नारद पड़ा। ये ब्रह्माके भानस-पुत्र इनके कण्ठसे उत्पन्न हैं। और देवपिपेमें प्रधान माने जाते हैं।

नारायण—(नर-नारायण) एक बार शरभरूपी महादेवने अपने दाँतसे नरसिंहके दो टुकड़े कर दिये जिससे उनके नररूपसे तपस्वी मुनि नरकी उत्पत्ति हुई और सिंहरूपि देहसे नारायण का। ये नर और नारायण हिमालय-पर बदरिबाधमें तपस्या करने लगे। वहाँ उनके तपसे डर कर इन्द्रने बाधा देनेके लिये अष्टराष्ट्र भेजी। उन्हें लज्जित करनेके लिये नर-नारायणने अपनी जगहसे उर्बशी उत्पन्न करके लड़ी कर दी।

निधुल—एक प्रकारके व्रतका पेड़।

निमिधुल—निधिताबराको स्थापित करनेवाले और दसबाहुने पुत्र निमिने यह विदेह

यज्ञ चलाया। एक बार निमिने वशिष्ठजी को बुलाया किन्तु वशिष्ठजी इन्द्रका यज्ञ करने चले गए। तब निमिने दूसरे ऋषिओं को बुलाकर यज्ञ प्रारंभ कर दिया। इसपर वशिष्ठजी आप दिया कि मेरी अवज्ञा करनेके कारण तू दोन होगा और तेरा शरीर नहीं रहेगा। निमिने भी वशिष्ठजी को आप दिया कि बिना समझे वृक्षों काप देनेके कारण आपका भी शरीर नहीं रहेगा। यह कहकर निमिने शरीर छोड़ दिया और उनकी वेह लेलमे रख दी गई। ऊपर वशिष्ठजी शरीर छोड़ कर मित्रावरणके तेजसे समा गए और फिर मित्रावरणके धोरमये उर्वशीके द्वारा उत्पन्न हुए। यज्ञको समाप्तिपर ऋष देवताओंने मृतक निमिसे घर मीननेके लिए कहा तब उन्होंने उत्तर दिया—मैं जोना नहीं चाहता। किन्तु यही चाहता हूँ कि मैं पक्षीकोपर रहूँ। तब से वे सबकी पक्षीकोपर रहते हैं। उनकी मृत वेहको गमवर एक पुत्र उत्पन्न किया गया जिसका नाम जनक रखा गया और इसी मयनेसे उत्पन्न होनेके कारण उनका नाम मिमि भी था। उसी समयसे निमि सबकी पक्षीकोपर रहते हैं और सबकी पक्षों उठी रहती है। उन्हीना कुल निमिना कुल कहलाया है।

मिर्मिग्या—विग्यायनसे निपसी हुई एक नदी।

मीन—पहाड़ी जो विग्यानी ही एक प्रजाया है।

मीति—पट-मीति—सन्धि, विग्रह, घाम, घासन, मध्य, द्वीपभाषा।

मीसार—(देखो तिथी)

मुरुर—(देखो विष्टुए)

मैर्द्धत—१ एक राधास। २ नैर्द्धत्यकोय के दिग्पाल।

मर्द्धत्य—पश्चिम-दक्षिण कोणको दिया।

नैमिपारण्य—वर्तमान नीमसार नामका तीर्थ जो भवपके सीतापुर जिलेमें है। यहाँ गौमुख मुनिने निमिप्रमाणसे प्रसुरोको भस्म कर दिया था इसीलिसे इसका नाम नैमिपारण्य पड़ा। देवी गामवतमे लिखा है—जब कलिकालके भयसे ऋषि लोग ब्रह्माके पास गए तब उन्होंने मनोमय चक्र लेकर कहा कि जहाँ इसकी नैमि (धेरा) गूर-गूर हो जाय वही पवित्र स्थान संगमबद रहना। वही नैमिपारण्य है। यहाँ गोमती नदी बहती है।

नैमिषेय यज्ञ—निमिपारण्यने किया हुआ यज्ञ।

न्यापासन—(दे० चमरान)

प

पक्ष—प्रतिमासमें १५ दिनका समय। कृष्ण पक्षमें चन्द्रमा निर्य एक कला पड़ता है शुक्ल पक्षमें निर्य एक कला बढ़ता है।

पञ्चतत्व—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, इन्हीं पाँच तत्वोंके सयोगसे सारी सृष्टि बनी है।

पञ्चपटी—१ पीपल, बैल, बड़ प्राँवला और घड़ोरके वृक्षोंका समूह। इनमें पीपलकी पूर्य, बैलको उत्तर, बड़को पश्चिम, प्राँवलेकी दक्षिण और घड़ोरको आग्नेय कोणमें लगाकर पाँच धन्य बाद इस पञ्चपटीकी प्रतिष्ठा करनी चाहिए और इसके बीचमें चार हाथ लंबी-चौड़ी वेदी बनानी चाहिए। २ दण्डकारण्यमें नाशिकके पास गोदावरिके तटपर एक धन जिसमें नववायने समय राम, लक्ष्मण, सीताने निवास किया था जहाँ धूर्पलखाके नाक काट बाटे गए थे और सीताहरण हुआ था।

पञ्चबाण—१ कामदेव २ कामदेवके पाँच बाण—द्रवण, शोषण, क्षापन, मोहन, और उन्मादन। कामदेवके पाँच बाण ये हैं—यमल, घण्टी, घामरी मजरी, नवमल्लिका (चमेली) और मोला कमल।

अरविन्दमनोयस्य श्रुतश्च नवमस्तिवा ।

नीलोत्पलश्च पञ्चवैते पञ्चवाणस्य सायवा ॥

पञ्चाक्षर—(पञ्चाक्षर) जहाँ सातवर्ण

मुनि तपस्या करते थे । इनका तप भग्न करनेके

लिये इन्होंने पाँच अक्षराएँ भेजी थी ।

रामायणमें इन्हे भग्न-कर्मि लिखा है ।

परांशुटी—परांशु छई हुई कूटिया या

भोगटी । वनवासमें समय लक्ष्मणने पञ्चवटीने

रामके लिए बड़ी सुन्दर परांशुटी बनाई थी

जिसकी प्रशंसा बाहमीक्षिने की है ।

पताका—भण्डी । भण्डीवा कपड़ा ।

पद्मराग—जान रमबा 'सात' नामक

मणि । कहा जाता है कि जब इन्होंने असुरोंको

मारते समय उनका रक्त पृथ्वीपर न गिरने

देनेके लिये पूर्वकी मियुक्त विद्या और जब

राक्षसोंने उरते पूर्व गिर गए तब असुरोंका रक्त

तिहाय देवोंमें राखण गया नदीमें जा गिरा ।

उसीसे तीन प्रकारके सालमणिकी उत्पत्ति

हुई—गुणधि, पुटविन्द, और पद्मराम । पद्म-

रामका रंग कमल-जैसा, कमल कुमुद-जैसा,

बोगल सारस या शंखोर-जैसा और देखनेमें

सात-जैसा होता है ।

पद्मासन—बाएँ जेबके ऊपर दाहिना जग

पदावर, छातीपर संभूटा रक्तकर नाविकके

पद्मभागकी देताना पद्मासन कहलाता है ।

इस भागकी सामनेसे किसी प्रकारकी कोई

व्याधि नहीं होती ।

पद्मा—इसे ही भरवत्त कहते हैं । इसका

रंग हरा जज्ज होता है । कहा जाता है जिस

समय दैत्यपतिरा पित्त सेवर भाग-राज बासुकी

पत्ते का रू ये उस समय मरत उसे प्रसन्नकी

तैंगार हुए । उसी समय बासुकीने वह पित्त

मुराच दगने परतकी पाटिघोरर पेंच दिया ।

और वही मरत-उमणि का पद्मा वैन गया ।

फोमें पद मुग है कि ताँका जो निय मोरवि

या मन्त्रसे दूर न हो वह इससे दूर हो जाता है । पद्मा पारण करनेमें सब पाप क्षय हो जाते हैं, वनधान्यकी वृद्धि, युद्धमें विजय, विश्व रोगोंका नाश होता है ।

पद्माक्षर—(देखो पञ्चाक्षर) दाहिणमें पद्मा नदीके किनारे और अष्टमभूक पर्वतसे पास एक तालाब है । वर्तमान वनमलय नदी ही पद्मा नदी जान पड़ती है और पश्चिमी घाट ही अष्टमभूक पर्वत है । यही भग्न अष्टिका आश्रम भी था ।

परमानन्द—निर्विकल्प समाधिके समय योगीको त्रिपुटीमें जब परा ज्योतिष्का प्रकाश दिखाई पड़ने लगता है वही परमानन्दकी प्रवृत्ति है । इसे ब्रह्मानन्द भी कहते हैं ।

परशुराम—जमदग्निने घोरतसे रेगुकाके पुत्र । ये अपने पाँच भाइयोंमेंसे सबसे छोटे थे । इनके चाई थे—रमणानु, सुनेण, यमु और विश्वावसु । चैत्र शुक्ल कृतीमा पुनर्वसु नक्षत्रमें इनका जन्म हुआ था । इन्होंने गन्धगादन पर्वत पर तपस्या करने महादेवजीसे मन्त्र विद्या सीखी और मल्लेश्वरीसे परशुविद्या सीखी इसीलिये परशुराम कहलाते हैं । एक बार इनकी माता रेगुकाने नदीमें बिस्तरपकी अपनी छीके साथ निहार करते देखा और बहुतसे बामोद्भिन्न होकर पर आई । जमदग्निने इसपर क्रोध हुआ और उन्होंने बारी-बारीसे अपने पुत्रोंकी आज्ञा दी कि माताका वध कर डालो । अन्य चारों भाइयोंने तो विज्ञाका कहना नहीं माना पर परशुरामने पिताकी आज्ञासे मानाका छिर बाट डाला । इसपर प्रसन्न होकर जमदग्निने वर मागनेसे लिये कहा । परशुरामने कहा— मेरी माताको जिला दीजिए । उन्हें परमानु दीजिए, मेरे भाइयोंको जैनन वर दीजिए और ऐसा बीजिए कि मुझमें मेरे सामने कोई न बट । जमदग्निने ऐसा ही वर दिया । एक बार हैहय राजा पार्श्वधीयं सह्यायजुन जमदग्निने आश्रममें आया । रेगुकाने उसका

स्वागत किया किन्तु यह मदान्ध होकर वृद्धोको उजाड़कर होमघेनुका बहलवा लेकर चल दिया। परशुरामको ज्ञात हुआ तो उन्होंने तुरन्त आकर कात्तवार्यकी सहस्रो भुजाएँ काट डाली। इसके बदलेमे कात्तवार्यके कुटुम्बिकोंने जगदम्निको मार डाला। इसपर क्रुद्ध होकर परशुरामने क्षत्रियोंके नाशका प्रण किया और सब क्षत्रियोंको मार डाला। जब इस क्रूरताकी निन्दा ब्राह्मणोंने होने लगी तब वे तपस्याके लिये वनमें चले गए। वहाँ इनके पीन परावक्षुने यह कहकर इन्हें उत्तेजित किया कि प्रयातिके यज्ञमे अभी बहुतसे राजा आए थे इसलिये प्राणकी प्रतिज्ञा व्यर्थ हुई है। इसपर उन्होंने पुन क्षत्रियोंका नाश प्रारम्भ किया और यह सब कर चुकनेपर सारी पृथ्वी कश्यपको दानमे दे दी। कश्यपने बचे हुए क्षत्रियोंकी रक्षाके लिये परशुरामसे कहा— यह पृथिवी हमारी हो चुकी, अब मुम जाकर दक्षिणमें रहो। तब वे दक्षिणमें (वर्तमान केरलमे) समुद्रके तटपर घुर्पारक नामक स्थानमे रहने लगे। परशुरामने २१ बार पृथ्वीको निक्षत्रिय करके समस्तपञ्चक (५ ताल) रुधिरसे भर दिए और उन्ही तालोसे तपंज करके अपने पितामह महर्षि ऋचीकका दर्शन पाया था जिसमे ऋचीकने परशुरामको क्षत्रिय-व्रम करनेसे रोक दिया। बनारस जिलेमे तुर्तीपारके पास खैरागढका नामक भागबपुर है। कहा जाता है कि यहीं परशुरामका जन्म हुआ था और यहूति हीन कोस पश्चिममे रत्नार्द्र नामक तालमे ही सहस्रार्जुनका वध हुआ था। इनमे ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों मध ये क्योंकि इनके पिता ब्राह्मण थे और माता क्षत्रिया। इनका कथन था—

अश्वत्थगुणेदेदा गृष्टन सदारयन् ।

एद ब्राह्मिद क्षाम क्षापादपि सरादपि ॥

परा—१. नाभि-क्षयी भूलाधार पत्रमे

पहले-पहल निकलनेवाली बाणी जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरीमेसे सबसे पहला है। २ ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करानेवाली उपनिषद् विद्या या ब्रह्म विद्या।

परिक्रमा—१ जिसी मूलनीय व्यक्ति, देवमूर्ति या स्थानके चारो ओर दाहिनी ओरसे घूमना। २. देवमन्दिरके चारो ओर घूमनेके लिये बनी हुई गली।

पारिपात्यक—सूत्रधारके पास रहनेवाला गट। इसे पारिपात्यिक भी कहते हैं।

परिवह—वह पवन जो प्रातः कालीन वायुपर रहता है, प्रातःकाल-मग्नको बहाता है और धुक धारेको घुमाता है। आठ प्रधान पवन ये हैं—मावह, प्रवह, उर्वह, सम्पह, सुवह, परिवह और परावह।

पलाश—बाक या किशुक। इसके पत्ते चौड़े, मोस और एक डठलमे तीन लगते हैं। गर्ममे इसमे सास फूँस लगते हैं जिसे देख कहते हैं, इसे पकानेसे पीला रंग निकलता है। उब पीने रंगसे लोभ होती खसते हैं। इसके पत्ते और जड़में बड़ा गुण होता है।

पवन—(पाँच) प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। माकमे स्थित पवन प्राण, गुदा आदि स्थानोमे अपान, अन्य जलादिमे पचानेवाला समान, कण्ठमे उदान और सब नाडियोमे व्याप्त पवन व्यान है। साक्ष्यके आधारेमे नाग, कूर्म, वृक, देवदत्त और धनवय नामक पाँच वायु माने हैं। जगलानेवाले वायुका नाम नाग, धौधे खोजनेवालेका नाम कूर्म, भूल उत्पन्न करनेवालेका नाम वृक, जैभाई उत्पन्न करनेवालेका नाम देवदत्त और शरीर पोषण करनेवाले वायुका धनवय।

पवन—(४६) प्रत्येककालमे उनवास पवन।

पश्यन्ती—मूलाधारसे पहले उठा हुआ वह नागरूप वरुण या वाणी जो हृदयमे पहुँच जाती है।

पाटन—१. मुलाबका पूतः । २. मुलावी रणः ।

पाताल—पृथ्वीके नीचेने सात लोकमेसे सातवाँ लोक । ये लोक हैं—भूतल, नितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल (पच-पुराण) । पाताल भी सात माने गए हैं—भूतल, नितल, वितल, गभस्तिमल, सल, सुतल और पाताल । (शब्दरत्नावली) ये पाताल अनेक भवग, उद्यान, ठगवन आदिसे सुशोभित हैं । ये सब स्वर्गलोकसे भी बड़कर हैं । इनमें महानाग और सर्प निवास करते हैं । यहाँ नन्दना और मूर्ध प्रकाश देते हैं, गर्मी सर्दी नहीं होती ।

पाण्ड्य—भारतमें धुर दक्षिणका भाग जिसमें वर्तमान तिरुपराकूर, गङ्गासका दक्षिणी भाग और कोचीनका राज्य पड़ता है ।

पातिपात्य—अपने पतिमें शुद्ध निष्ठा रखकर पतिको ही देवता और सर्वस्य माननेका भाव ।

पाद्य—वीर धुलानेके लिये जल ।

पारसिक (पारसीक)—भारतके पश्चिममें पारस व ईरान देशमें निवासी जो पहले अग्नि-पूजक थे और अब मुसलमान हैं ।

पारिजात—समुद्र-मण्डनसे निकला हुआ वृक्ष । मह द्रुपदी नगरी भमरावतीमें लगा दिया गया था जिसे श्रीकृष्णजी सत्यभामाके कहनेसे द्वारिका ले आए ।

पिण्डदान—पितरोंको तुष्ट करनेके लिये दूधमें पके भात, मधु, शक्कर, तिल और चीका पिण्ड ।

पिताऊ—महादेवजीका धनुष जो उन्होंने प्रसन्न होकर जनकको दिया था ।

पितामह—१. नन्ना माँस खानेवाले । २. एक हीन देवयोनि । ये अत्यन्त अपवित्र और गन्दे बताये गए हैं ।

पुत्रयम—गर्भके तीसरे चढ़ीनेमें पुत्र उत्पन्न प्रसव करानेके लिये यह संस्कार कराया जाता है ।

पुच्छततारा—धूमकेतु । एक प्रकारका अत्यन्त चमकदार तारा जिसके पीछे सभी पृथ्वी दिखाई देती है । कहा जाता है कि जब यह दिखाई देता है तब पृथ्वीपर कोई न कोई उप-द्रव होता है ।

पुत्रेष्टि—(यज्ञ) पुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छा से किया हुआ यज्ञ ।

पुत्रबन्धु—२७ नक्षत्रोंमेंसे सातवाँ नक्षत्र । इसकी साहसि धनुषके समान है और इसमें पाँच तारे हैं । इसके पहले तीन चरणोंमें जन्म लेनेसे मिथुन राशि, और चौथे चरणमें कर्क राशि होती है । इस नक्षत्रमें जो जन्म लेता है वह बहुत भिन्नवासा, शास्त्र पढ़नेवाला, रत्नोंसे प्रेम करनेवाला, बाता, प्रतापी और भूस्वामी होता है ।

पुत्र—पयाविके सबसे छोटे पुत्र जिन्होंने अपने पिताको अपना यौवग अर्पित किया था । इन्हींसे पन्द्रहवीं सत्रियोंकी उत्पत्ति हुई है ।

पुरोहित—जो हित करनेवाला, वेद स्मृति ज्ञानदेवाला, सत्यवादी, पवित्र, ब्राह्मण-कर्म करनेवाला, निर्मल आचरण करनेवाला, आपत्ति दूर करनेवाला सौम्य होता है ।

पुस्तस्य—ब्रह्माके मानस पुत्र और सप्त-विमोसेसे एक ऋषि जिनकी गिनती प्रजाप-तियोंमें भी होती है । इन्होंने ब्रह्मासे आदि पुराण सुनकर उसका प्रचार पृथ्वीपर किया था । ये विश्वनाथके पिता तथा कुबेर और रावणके पितामह थे ।

पुण्यक—कुबेरका विमान, जो इच्छानुसार चलता था । रावणने यह विमान कुबेरसे छीन लिया था किन्तु रामने रावणवधके उपरान्त कुबेरको लौटा दिया था ।

पुष्करावर्तक—पुष्कर समीप जलाशय, आसर्तक अर्थात् समुद्र या नदीमें पड़ी हुई भँवर जिनमें आप उठनेसे वादल बनते हैं । ज्योतिष

तत्त्वमे भावतं, सम्बतं, पुष्कर और द्रोण नामक चार प्रकारके मेघोका उल्लेख किया गया है। इनमेंसे भावतं-मेघ निर्जल, सबतं बहुत जलवाला, पुष्कर भयकर जलवाला, और द्रोण सब प्रकारके भाव्योंको बढ़ानेवाला होता है—

भावतो निर्जलो मेघ सम्बर्णश्च बहुदक ।

पुष्करो पुष्क-जलो द्रोण सस्य-प्रपूरक ॥

[कालिदासेन भावर्णं वशके निर्जल मेघ और पुष्कर नामक दुष्कर जल वाले मेघको ही वृत्त बनाकर भेजा है। क्योंकि दोनों ही प्रजाके लिये निरर्थक हैं।]

पुण्य—१७ नक्षत्रोंमें आठवाँ नक्षत्र। इनकी आकृति बाणकी समान है। सब पुण्य कार्य इसी नक्षत्रमें किए जाते हैं। यह नक्षत्र कर्क राशिमें पड़ता है। इसमें जन्म लेनेवाला बुद्धिमान, इच्छक, धनधाम्ययुक्त, परम विद्वान्, भास्तिक, पिता-माताका भक्त, अभिनय-बुद्धान और सम्पन्न होता है। इस नक्षत्रमें गणगन्तान करनेसे करोड़ों कुलौका बढाव हो जाता है।

पृथु—त्रेतायुगके सूर्यवंशी पाँचवें राजा। जब राजा बंशुका नि सन्तान देहान्त हो गया तब ब्राह्मणोंने इनके दोनो हाथ हिलाए जिससे इनके दाहिने हाथसे पृथु और बाएँसे एव अचि नामकी पत्निया हुई जिसका परस्पर विवाह कर दिया गया। जब पृथुका राज्याभिषेक हुआ तब पृथ्वीसे अन्न उत्पन्न होना बन्द हो गया। पृथुने भट भ्रमन धनुषपर बाण चढ़ाकर पृथ्वीको दीछाया और कहा—तुम अन्न क्यों नहीं उत्पन्न करती हो। तब पृथ्वीने कहा—ब्रह्माने मुझपर जो ओषधियाँ धादि उत्पन्न की थी उनका लोग दुरुपयोग करते सगे। प्रजापासन और लोकहितका निर्याको ध्यान नहीं है इसी कारण मैं तब ओषधियोंकी धपने उबरने रख दिया है। अब आप राजा हो गए इसलिय बौर्द बरसा, दुहनेन बर्तन और दुहनवाला सदा

कीजिए। मुझे ऐसा समतल बना दीजिए कि वर्षाका जल गिरकर समान रूपसे फैल जाय। तब पृथुने मनुको बद्धवा बनाया और अपने हाथपर सब ओषधियाँ बूढ़ ली। इसके पश्चात् अनेक ऋषियोंने अनेक प्रकारसे अनेक वस्तुओंको बद्धवा बना-बनाकर पृथ्वीको दूहा। हिमालयको बद्धवा बनाकर पर्वतोंने भी अनेक रत्न दुह दिए थे तभीसे पृथ्वीका नाम दुहिया पडा और पृथ्वी धान्यपूर्ण हो गई। यह सब करके पृथुने २६ वर्षभर यज्ञ किए। जब सौवाँ यज्ञ कर रहे थे तब इन्द्र उनका घोडा लेकर भागे। पृथुके पीछा करनेपर इन्द्रने जो अनेक रूप धारण किए उन्हीसे जैन, बौद्ध, कापालिक आदि मतोंकी सृष्टि हुई। किन्तु पृथुने इन्द्रसे घोडा छीन लिया और इनका नाम विविचारण पडा। इस यज्ञमें पृथुने इन्द्रको मन्त्रद्वारा भस्म करता बाहु पर बहाने धाकर मेल करा दिया। यज्ञ समाप्त करके पृथुने सनत्कुमारसे ज्ञान प्राप्त किया।

पौलोमि—(देखो शची)

प्रसव—घोकार। अक्षरसे विष्णु, उकारसे महेश्वर और भकारसे प्रह्ला। भट, भोकार कहनेसे तीनोका स्वरण होता है। मनुके मनुसार वेद पाठके पहले और पीछे प्रणवका उच्चारण कर लेना चाहिए। भाकार और भर्ष ये दो अन्त प्रह्लावा अन्त छेदकर बाहर निकले थे इसीसे ये मगल-जनक कहे जाते हैं। प्रसवके कारण भव और क्रियाके सब दोष दूर हो जाते हैं।

प्रतिपदा—प्रत्येक पक्षकी पहली तिथि (प्रतिपद्)। प्रतिपद् तिथिका नाम गदा भी है। प्रतिपद्को ठेल लगावा, बाल बनवाना और कीहटा (बुधाङ्ग) साना निषिद्ध बताया गया है। प्रतिपदाकी जो अन्य सेवा है वह मणि

पादिसे सयुक्त, मनोहर कान्तिवाला, प्रतापशाली और कुलवा उद्धारक होता है ।

प्रतिष्ठानपुरी—चन्द्रवशी राजा पुरुरवाकी राजधानी गया-जमुनाके संगमपर थी जहाँ अब भूंगी है ।

प्रतिहार (प्रतीहार)—१. द्वारपाल । २. राज कर्मचारी जो सदा राजाओंके पास रहते थे और सब प्रकारके समाचार गुनाया करते थे । ये प्रायः पड़े-लिसे घाहाख या राजपरिवारके होते थे ।

प्रतीहारी—(देखो प्रतिहार) स्त्री प्रतिहारी कहलाती है ।

प्रत्यय—वह अक्षर जो शब्दके अन्तमें जोड़ देनेसे शब्दकी विशेषता उत्पन्न करता है । जैसे 'समर्थ' शब्दमें 'ता' लगा देनेसे 'समर्थ' गुणका बोध कराता है ।

प्रदक्षिणा—देवभूति या पूज्य पुरुषके दाहिनी ओरसे उसके चारों ओर घूमना । देवीकी प्रदक्षिणा एक बार, सूर्यकी सात बार, विनायककी तीन बार, विष्णुकी चार बार और महादेवकी आधी बार करनी चाहिए । कालिका पुराणमें लिखा है कि दाहिना हाथ फैला और फिर झुकाकर देवताकी दाहिनी ओर करके एक या तीन बार उनकी परिक्रमा की जाती है ।

प्रद्योत—उज्जयिनीके राजा जो विक्रमकी शताब्दीसे लगभग ६०० वर्ष पूर्व राज्य करते थे । इनका नाम शब्द-प्रद्योत भी है । इन्हींकी कन्या वासवदेवताका हरण बत्सरज उदयभने किया था ।

प्रमथ—१. महादेवजीके मुखकी फेरो घसीस करीब प्रमथोकी सृष्टि हुई है । २. महादेवजीके खेल-बूझ और विहारमें सहायता देनेवाले उनके गण । ये सब विचित्र धामरसोंसे सलकृत, जटाजूट और अर्धचन्द्र धारण किए हुए उज्ज्वले वृक्षपर चढ़े हुए उमाके समान मुन्दरी

कामिनियोंको साथ लेकर पार्वती और महादेवके पीछे पीछे उनके विहारमें साथ रहते हैं और जब महादेव-पार्वतीजी एगान्त विहार करते हैं तब ये द्वारकी रक्षा करते हैं । ३. शिवके पार्षद ओ हस्तरसके अधिष्ठाता देवता कहलाते हैं ।

प्रमथ-वन—रविवासकी कुलवारी ।

प्रमोद-वन—पानन्द या विहार करनेका उपवन ।

प्रलय—१. सम्पूर्ण सृष्टिका विनाश । यह चार प्रकारसे होता है—मित्य, नैमित्तिक, प्राकृत और भाव्यन्तिक—

मित्य नैमित्तिक चैव प्राकृतात्मन्तिको तथा ।

मित्य सकीर्यते भावना मुनिभिः प्रति क्षणम् ॥

लोकमें जो बराबर क्षय हुआ करता है वह मित्य प्रलय है । कल्पके अन्तमें तीनों लोकोंका जो क्षय होता है वह नैमित्तिक या ब्राह्म प्रलय कहलाता है । जिस समय प्रकृतिके महाबाहि विशेष तत्त्व बिलीन हो जाते हैं वह प्राकृतिक प्रलय कहलाता है । ज्ञानकी पूर्णस्थिती प्राप्त होनेपर ब्रह्म या चित्तमें लीन हो जाना भाव्य-न्तिक प्रलय है ।

प्रवेशक—गादकमें वह स्थल जहाँ दो धक्कों की बीचकी घटनाका परिचय कोई पात्र अपने वार्तालाप द्वारा सूचित करता है ।

प्रवाल—१. भूंगा । २. पत्थरी मोपलें ।

प्राज्योत्तिथि—प्रधान देश जो भारतवर्षमें पूर्वकी ओर अवस्थित है ।

प्राणायाम—नाबन्धे प्राणवायुको भीतर खींचना, (पूरक) रोचना (कृमक) और बाहर निवाल देना (रेचक) प्राणायाम कहलाता है । इसका नियम यह है—यदि ३२ गिनते हुए साँस भीतर खींची जाय तो ६४ तक गिनकर उसे रोक रचना चाहिए और १६ गिनकर उसे धीरे-धीरे छोटना चाहिए । साँस छोड़ते हुए या छोड़ते हुए

शीघ्रता नहीं करनी चाहिए अथवा बड़ी हानि होती है और अनेक रोग हो जाते हैं ।

प्रियमु—एक प्रकारकी सुगन्धित जड़ी, जिसे सस्कृतमें फलिनी और पोता भी कहते हैं । यह भारतके पश्चिमी तटके देशोंमें और सिंधल, सिंगापुर, जावा, सुमात्रा, मलायामें होता है । इसका फल मोटा होता है ।

प्रियाल—इसे सस्कृतमें प्रसट्ट । स्नेहवीज तापस प्रिय भी कहते हैं । इरोर बीज रिरीजी कहलाता है । इसका वृक्ष त्रिम्घरी जगलोमें होता है । इससे वेदिया घोंद भी निकलता है ।

व

वकुल—मालसिरीका पेठ । इसके फूलोंकी सुगन्धि बड़ी मीठी होती है । यह भारतमें प्रायः सभी स्थानोंमें पाया जाता है । इसके साल रखते रेशमी और सूती कपड़े रंगे जाते हैं । यह गर्ममें फूलता है और इसने फूल निरंतर भड़ते रहते हैं । इसमें फल लपता है जो पकनेपर स्वादिष्ट भी लगता है ।

वडवानल एक बार महर्षि श्रीरं धर्मो-
न्निज पुत्रकी इच्छासे धपता वसस्थल गये।
इससे जो श्वानामय पुरुष उत्पन्न हुआ
उसने पितासे प्रार्थनाकी कि मैं भूखसे व्याकुल
हूँ, मुझे जगद् भक्षण करनेकी आज्ञा मिले ।
ब्रह्माजी यह सुनकर श्रीरंके पास गए और उनसे
कहा कि अपने पुत्रको खंभालिए । श्रीरंने कहा —
भापही कुछ उपाय निबालिए । ब्रह्मा बोले—
समुद्रमें इन्द्रपत्नी भरवाके मुखमें इसका पास
होगा और समुद्रके जलरूपी हविषे इसकी भूल
मिटेशी और यह वडवानल कहलायेगा । गृष्टिने
धर्ममें यही वडवानल देवामुर्खोंको भक्षण कर
जायगा ।

वदरिकायम—हिमालय पर्वतपर कण्ठाश्रय
और गन्ध पर्वतने बीच वैष्णव तीर्थ है जहाँ नर-

नारायण अर्जुनने तपस्या की थी और श्रीकृष्ण
भी उनके साथ थे । (देखो नर-नारायण)

वन्धुजोष—(वन्धूक) दुपहरियाका फूल ।
दुपहरियाका पौधा । यह फूल चार प्रकारका
होता है—नीला, श्वेत, पीला और लाल । छोटी
कटोरीके आकारका यह अत्यन्त लाल फूल
लगभग ६ से १० इंच तक लम्बी शाखाओंमें
लगता है, पत्ते छोटे-छोटे और मोमल होते हैं,
इसे सस्कृतमें रक्तज जीवन, वन्धूक, वन्धुल,
मम्मन्दिन, हरिप्रिय रक्तपुष्प और मोच्छपुष्प
भी कहते हैं ।

वन्धूक—(देखो वन्धुजीव)

वत्सराम—श्रीकृष्णजीके बड़े भाई जो
रोहिणीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे । वसुदेवकी पत्नी
रोहिणी योकुलमें रहती थी । जब देवकीको
कारावासमें सातवाँ गर्भ हुआ तब महाभामाने
कसके भयसे वह गर्भ रोहिणीके उदरमें पहुँचा
दिया । इसी गर्भके सकर्षणके कारण इनका
नाम सकर्षण भी पड़ा । इनका नाम वत्सदेव
था । 'वत्सेन, दीव्यसीति वत्सदेव ।' शेषनामके
अवसे जन्म लेनेके कारण शेषामतार, हल पारण
करनेके कारण हली, नीला पक्ष पद्मनेके कारण
शितियास भी कहते हैं । इसकी पत्नीका नाम
देवती था । गर्भ भुजिने इनका नामकरण किया
था और सान्दीपनि भुजि इनके गुरु थे । यदुकुल
ज्वल हो जानेपर जब द्रुहोने योगासन साधा
तब इनके शरीरमेंसे सहस्र जाल फलोंवाला
बढ़ावा श्वेत रंग निकलकर समुद्रमें बसा गया ।
कुरुज्य दुर्धौधन इनका शिष्य था । इनका ध्यान
इस प्रकार किया जाता है—

वत्सदेव दिवाहन्व घसत्पुन्देन्दु-सन्निभम् ।

नामे ह्यनुषधर मुसल दक्षिणे वरे ॥

हातावीर्य नीलपद्म तैलावत स्मरेत्परम् ।

बला—(विद्या) यह विद्या ब्रह्मकन्या
मानी जाती है । विद्यामित्रने रामको यह विद्या

सिपाई भी जितने प्रभावसे युद्धमें योद्धाको भूख प्यास नहीं लगती थी। बत्ता और प्रतिबलता विद्या समस्त ज्ञानकी मातृस्वरूपिणी है। (देखो प्रतिबलता)।

बलि—१ देवता, पितर, यक्ष, भूत-प्रेत आदिके निमित्त किसी विशेष स्थानपर किसी विशेष कामनासे जो पड़ाया जाता है उसे बाल्य-बलि कहते हैं। २ किसी देवताके लिये किसी विशेष उद्देश्यसे किसी जीवका यज्ञ किया जाता है उसे भी बलि कहते हैं। दक्षिणमार्गी लोग ब्रह्मपण्ड आदि पाठकर बलि चढ़ा देते हैं। ३ ब्रह्मादिके पीन, शिरोचक्रके पुन तथा पातालके राजा बलि जिन्हें प्राचीनमें लिये स्वयं विष्णु भगवान्ने यामत रूप धारण किया था। बलिते ब्रह्मदेव करके जब बहुत दान देना प्रारम्भ किया तब विष्णु भगवान् यामनरूप धारण करके वहाँ आए और उन्होंने तीन पैर भूमि माँगी। पुष्पाचार्य तत्काल पहचान गए और बलिको दान देनेसे रोका किन्तु बलिते कहा—मैं यज्ञ के चुका हूँ। मैं अक्षय्य दान दूँगा। एवं पुष्पाचार्यने धाप दिया कि मेरे यज्ञको भी भवजा करोवे कारण तू श्रीभद्र हो जा। किन्तु बलिते धमिधमिध होकर विष्णुकी पूजा की और कहा—भूमि माप लीजिए। विष्णु भगवान् धड़ने सगे और उन्होंने एक परसे समस्त भूमि, शरीरसे अनायास, दोनों भुजाओंसे दिशाओंको घोंट दूसरे पैरसे स्वयं नाप लिया—तीसरे पैरके लिये कोई स्थान नहीं मिला। तब विष्णुने कहा—तुम्हारे यज्ञ पूर्ण नहीं हुए इसलिए तुम नरक जानेकी तैयारी करो। बलि बोले—मैं भक्त्य नहीं बोलता। आपने स्वयं बपट रूप धारण किया है। अतः, तीसरा चरण मेरे मातङ्गपर रख लीजिए। विष्णु चडे प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा—मैं तुम्हें यह रत्ना दूँगा जो देवताओंको भी अक्षय्य है। तुम विश्वकर्मा द्वारा बनाए हुए मुक्तमे जावर

रहो, मैं भीमदिकी गदासे तुम्हारी रक्षा करूँगा और तभीसे विष्णु भगवान् बलिके यहाँ द्वारपाल बनकर रहते हैं।

बाज—भटमेंसे रक्क काली पीठ और जाल भाँसो-पाला चौसठे छोटा एक शिकारी पक्षी जो आकाशमें उठती हुई चिड़ियोंको झपटकर पकड़ लेता है। पक्षियोंका शिकार करनेवाले इसे पालते हैं। सत्कृतमें इसे स्मेल कहते हैं।

बारहसिया—हरिणकी जातिका एक पशु जो तीन-चार फुट ऊँचा और ७-८ फुट लम्बा होता है। नर-हरिणकी सींगोंने कई धाराएँ निकलती हैं इसीसे बारहसिया कहलाते हैं। इन सींगोंपर कोमल चमड़ा रहता है जो प्रति वर्ष फलजुन या चैत्रमें उतरता है और सींगोंसे एक नई धारा निकल आती है जो बदार, कार्तिक तक पूरे बढ़ जाती है। मादाके सींग नहीं होते। वे चैत्र वैशाखमें बच्चा देती हैं।

बालविल्य (श्ववि)—ब्रह्मदेव रोमरूपसे उत्पन्न होनेवाले साठ सहस्र मुनि जो बोलबोलमें झगड़ते बराबर हैं। (महामारत विष्णु पुराण) वे सब बड़े तपस्वी और ऊर्ध्वरेता हैं और बहुतही भार्या सन्तानिके गर्भसे उत्पन्न हुए हैं। वे सूर्यको मान्य दिखाने चलते हैं।

बालि—मेर पर्वतपर योगाम्यास करते समय ब्रह्मदारी धामसे सहस्र भ्रातृकी बृद्ध टपकनेसे जह्नवान नामका बानर उत्पन्न हुआ जिसे ब्रह्मदेव सुमेरु पर्वतपर फल-फूल खाने और अन्न पात्र रहनेको कहा। एक दिन यह बानर प्याससे मारे सुमेरुके सरोवरमें अपनी छाया देखकर सोचने लगा—यह मेरा शत्रु है। यह भट पानीमें डूब पडा और निकलनेपर सुन्दर स्त्री बन गया। इन्द्र और सूर्य उत्सव में मोहित हो गए। इन्ने उससे भक्त्यपर और सूर्यने उसकी प्रीतिपर अपना वीर्य छोडा। इसी

इन्द्रने भीमंते बालिका जन्म हुआ और मूर्खने भीमंते मुरीय। कुछ दिनमें वह फिर वानर हो गया और दोनो पुत्रोंको लेकर ब्रह्माने पास पहुँचा। ब्रह्माने उन दोनों पुत्रोंको विविध्यामें राज्य बनानेकी आज्ञा दी जहाँ विदवाविधने एक सुन्दर नगरी बना रखी थी। अपनी गनी ताराने माय बालि और अपनी स्त्री रोमाने माय मुरीय वहाँ रहने लगे। एक दिन वहाँ एक दैत्य आया। इसमें ब्रह्मा हुआ बालि पर्वतकी पुत्राने पुत्र गया। जब बहुत दिन बीत जानेपर भी बालि नहीं लौटा और उस सोहमेमें तबकी पार निक्की तब मुरीयने गमना कि बालि मारा गया। यह सुनकरे डारण एक पत्थर रखकर विविध्याका राजा हो गया और उगने ताराने विषात कर दिया। जब बालि लौटा तो उसी राज्य भी छोड़ दिया और अपनी पत्नी के साथ-साथ मुदीयकी पत्नी भी छोड़ गी। इसके पाने मुदीय तबने धोधममें जाकर रहने लगी। सभी बीच एक बार रावण जने इन्द्रनेके विदे उनके पास पहुँचा एक रावणकी कानमें राजाका बालि मरणा बताया। इसी समय एक दिन प्रयाग जाकर रावण भाग निकला। भीमाकी ईदने हुए जब तब वहाँ पहुँचे तब उन्होंने मुदीयके भित्तों की और बालिका दक्षक वहाँका राज्य मुदीयकी दे दिया। बालिका पुत्र प्रमद भी बड़ा दासगी था। उनके भाग-भाग्य मुद्रने रामकी बनी गगना की।

विष्णु—नीकी जैलियेके पाने खी-बाने एकबार काटवण जो अपनेके समय करने है। प्रभु।

ब्रह्मा—हृदय नामका एक जो पाने-दा दाग पान हो जाता है। इसकी डरमा दूरकीकीके छोले की जाती है।

भीमकी—ब्रह्माके ब्रह्मकीके संसारके

निवत्तर रेंपेनेवासा एक कीडा जिसका ऊपर माथ गहरे जाल रमके मखमली रोसे ढँका होता है। इसे इन्द्रबधू, बीरबधूटी और राम की मुद्रिया भी कहते हैं।

बुध—जबपहले चौथा ग्रह। कहा जाता है कि चन्द्रमाने देवगुरु बृहस्पतिनी पत्नी ताराकी हर किया था। ब्रह्मा तथा देवविषोने चन्द्रकी बहुत समझाया पर वह नहीं माना। देखोके बुध पुत्र भी चन्द्रने सहायक हुए और उनके कारण सभी प्रधान दानव भी चन्द्रके पक्षमें आ गए। बृहस्पति और चन्द्रने बड़ा युद्ध हुआ किन्तु ब्रह्माने बीच-बचाव करनेसे बृहस्पतिको तारा दिया दी गई। किन्तु वह गमिणी थी। बृहस्पतिने कहा कि हमारे क्षेत्रमें दूसरेपा पुत्र कारण करना मुझे उचित नहीं है। यह सुनकर ताराने मूखने पूनेमें वह गर्म गिरा दिया जिससे अत्यन्त तेजस्वी बुध उत्पन्न हुए। जब देवताओंने तारासे पूछा कि यह मान विषयी है तब ताराने भजिजा होकर कहा—चन्द्र की। तब प्रमन्न होकर चन्द्रने बुधने कहा—तू बुद्धिमान है इसलिये तेरा नाम बुध है। इस कहना रम दूबके सपान गहरा हुआ है। रवि और बुध इससे मिल रहे, चन्द्र मानु है। इसकी पाहनि बनुरने गगन है। यह २८ दिनोंमें एक गतिका भोग करता है। बुधने नवीममें उगना होनेवाला शमक लून, धीर, शीवता, दयानु, रात्रमेरी, प्रमन्न, चतुर, बुद्ध्यालक, धनेक केपायी तथा गगन होता है। १०वें धममें उत्पन्न बनुर्य प्राक्क मुगी, दीर्घांशु और बुद्धिमान होता है। ११वें धममें उत्पन्न बनुर्य धादल ऐश्वर्यगामी, मुगी तथा धनी होता है। कुछ लोगोंने मत है कि बुधकी मगगाका नाम मोहुरी है।

बध—पक्ष, रज और तम मुनीने पने, विष्णु, विष्णु-बन्ध, चन्द्र-बन्धन बन्ध दा

रुपातिके साथ इनका विवाह हुआ। इनके गर्भसे लक्ष्मी नामकी बच्ची तथा पाता और विधाता नामके दो पुत्र हुए। महारत्ना भेरुकी प्रायति और निपति नामकी दो बच्चीसोके साथ इन दोनों पुत्रोंका विवाह हुआ। धीरे-धीरे इनका वध विस्तृत होकर भागव नामसे प्रसिद्ध हुआ। श्रुगु धनुर्विद्याके प्रवर्तक भी थे।

मृद्ध—१. भृङ्गो, घजनहारी या विली नामका कीड़ा। यह घग्घ कीड़ोंको पकड़कर उनके सामने गूँलता हुआ उन्हें भी अपने समान बना लेता है। २. इन्द्र आदि देवताओंके सारकासुरके बधके लिये महादेवों उमाके गर्भ और महादेवजीके भौरससे एक पुत्रको प्रार्थना की। महादेवजीने उसे स्वीकार करके उमाके साथ महामुरत क्रीडा प्रारम्भ कर दी। इस प्रकार १२ वर्ष बीत जानेपर सब देवता घबरा उठे। भरपन्त भयभीत होकर वे महादेवके पास गए और कहा कि इतने महामुरत क्रीडाते उमाके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होया वह हम लोगोंके लिये सारकासुरसे भी बड़कर ब्यावह होगा। तब महामै इन्द्र और देवताओंके साथ महादेवजीके पास जाकर प्रार्थना की। महादेवजीने महामुरत क्रीडा समाप्त कर इन देवोंके आनेका कारण पूछा। देवताओंने कहा—हे महाराज। आपकी इस महामुरत क्रीडाके तीनों लोक बाँट गए हैं। अतः आप महामेशुन समाकर रति मानना अवलम्बन कीजिए। महादेवजीने कहा—मह सब मैं आप ही लोगोंके लिये कर रहा हूँ फिर भी आप तीनोंके कहतेसे उस महामेशुनका परिचाय कर दूँगा। आप लोग इस महामेशुन-प्रभू तेलको धारण कर गजनेवाले एवं देवतानों आदिग दीजिए। सब देवोंने अभिमानों तैयार किया और महादेवजीने अभिमान छोड़ा। अभिमान छोड़े गए महादेवजीने तेलमेंसे दो परमाणु के बराबर तत्र पर्यंतके विष्णुपर

गिरा। उससे दो पुत्र उत्पन्न हुए। उसमेंसे एक भौरके समान कृष्ण वर्णका था। अतः, उसका नाम महामै भृङ्गो रखा और दूसरा मले हुए मज्जन जैसा काला था अतः, उसका नाम महाकाल पड़ा। महादेवजीने उन दोनोंका पालन प्रमय आदि पणों द्वारा कराया और अग्रणी विधेय यज्ञसे उनका पालन किया। बादमें महादेवजीने इन दोनोंको मण्णाधिपति बनाकर द्वारपर नियुक्त कर दिया।

—(कालिकापुराण)

भेद—ताम, दाम, दण्ड और भेद नामके शत्रुको बध करनेके चार उपायोंमेंसे तीसरा, जिस उपायके द्वारा शत्रु-दलमेंसे किसीको बहकाकर अपने दलमें मिला लिया जाय।

भोजपत्र—एक प्रकारके मछोले आकारके वृक्षकी छाल, जो हिमालयपर बहुत होता है।

म

मगध—बनारससे पूर्वका प्रदेश। वर्तमान बिहारही मगध है। तीर्थ-यात्राके प्रतिरिक्त यहाँ आना निषिद्ध है।

मगरमच्छ—१. मगर या पडियाल नामका प्रसिद्ध जलजन्तु। (दे० पडियाल) २ एक बड़ी मछली।

मगलसूत्र—यह तामा जो किसी शुभ अवसर पर देवताके प्रसादके रूपमें हाथमें बाँधा जाता है।

मगलाधरण—जो पीठ-पाठ किसी शुभ-कार्यके पहले किया जाता है। ग्रन्थ लिखनेके पहले इसीलिपे मगल लिखा जाता है कि उसकी निविष्टता समाप्ति हो। "धर्मात्मिकासौ मगल-मागरेदिति श्रुतिः।" कार्यारम्भ, कार्यमध्य, कार्यसमाप्ति, इन तीनोंमें भी मगल हो श्रुता है फिर भी कार्यारम्भमें मगल करना शोभन है।

मज्जो—१. छोटे पीछे या लता आदिकी बर्द निवृत्ती हुई वनियाँ तथा गोपलें। २. बुद्ध

विशेष वृक्षोंमें एक सीकेमें बने हुए बहुतसे छोटे-छोटे फूलोंका समूह ।

मरिचबन्ध—हाथकी कलाईमें जो धातूपस पड़ना जाता है उसे मरिचबन्ध कहते हैं ।

मंडल—चन्द्र-सूर्यके चारों ओर पड़नेवाले क्षेत्र ।

मत्संग—(ऋषि)—एक ऋषि जो ब्राह्मण स्त्रीके गर्भसे और नापितके वीर्यसे उत्पन्न हुए थे । ब्राह्मणने अपना ही प्रीरस समझकर इनका जगजात उत्कार किया । पिताके कहनेपर एक दिन वे यज्ञीय सामान लेनेके लिये गधेपर बैठकर गए । इधर-उधर चलनेके कारण बस गधेको इन्होंने खूब पीटा । उस गधेकी माता भीने उसकी पीट देखकर कहा कि यह ब्राह्मणका लड़का नहीं है यह धूर्तका लड़का है क्योंकि ब्राह्मण इतना निर्दयी नहीं होता । यह सुनकर इन्हें थड़ा पश्चात्ताप हुआ । उसी दिनसे वे ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेके लिये तपस्या करने लगे । इन्होंने बार-बार आकर बरदान देनेको कहा पर इन्होंने ब्राह्मणत्वके अनिरिक्त दूसरा घर नहीं माँगा । इन्होंने यह घर देनेमें अपनी भक्तमयता प्रकट की । अन्तमें इन्होंने यह घर माँगा कि मुझे ऐसा पक्षी बना दोजिए जिसकी सभी पंखवाले पूजा करें । इन्होंने यही घर दिया और वे छन्दोदेवके नामसे प्रसिद्ध हुए ।

मव—हाथियोंके मंडस्थलसे बहनेवाला रस ।

मदार—मदार या भाक, इसका बीजा बालुकाभय प्रदेशमें प्रायः पाया जाता है । मरसातमें इसकी पत्तियाँ भड़ जाती हैं । इसका दूसरा नाम भकवद् या भाक भी है । महादेवजीपर इसका फल चढ़ाया जाता है ।

मध्यमा—पानी में अँगुलियोंके बीचवाली उँगली ।

मध्यम तय—गीतकी वह तय जो न प्रति तीव्र हो न प्रति मन्द ।

मध्यलोक—पृथ्वी । यह स्वर्ग और पातालके बीचमें पड़ती है इसी से इसे मध्यलोक कहते हैं ।

मन-शिक्षा—(देशो मैनसिल)

मनु—ब्रह्माके पुत्र और मानव जातिके आदि पुण्य, जो प्रजापति और धर्मशास्त्र-वक्ता होते हैं । प्रत्येक कल्पमें १४ मनु होते हैं—स्वामनुष्य, रवारींष्य, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्ष सावर्णि, प्रह्ला-सावर्णि, पर्य-सावर्णि, रुद्र-सावर्णि, देव-सावर्णि और इन्द्र-सावर्णि । इस समय वैवस्वत मनुका पुत्र पन्न रहा है । वे सावरे मनु विवस्वादेके पुत्र आद्यदेव हैं । इनके पुत्र दक्षवाक्य, नभग, वृष्टसर्वाति, नरिष्यन्त, गम्भाग, विष्ट, कल्प, पृषन्न और वसुमान् हैं ।

मन्त्र—मन्त्र्यते गुप्त परिभाष्यते इति मन्त्रः । ऐसे वचन या शब्दसमूह जिनके जप या उच्चारणसे कोई कार्य सम्पन्न किया जाय । मन्त्र केवल अधिकारीको ही सिखाया जाता है अतः इसे मन्त्र कहते हैं । मन्त्र, तन्त्र और यन्त्रमें त्रयसे अधिक शक्तिसाली मन्त्र ही माना जाता है । भ्राह्मिक उत्त्वमें लिखा है । “मननात् त्रायते यस्मात्तस्मान्मन्त्र प्रकीर्तितः ॥” जिसके जपनेसे रक्षा हो उसे मन्त्र कहते हैं । प्रत्येक व्यक्तिको मन्त्रसे दीक्षित होना चाहिए । भर्तृशक्तके हाथका अन्न विद्याके समान और जल मूषके समान है और जनका किया हुआ सब कार्य निष्फल समझा जाता है ।

मदराजस—यह पर्वत जिसे कच्छकी पीठ पर खड़ा करके क्षीरसागर मया गया था । यह पर्वत ११ सहस्र योजन नीचे गड़ा हुआ था । विष्णुके कहनेपर वासुकि इसे उखाड़ लाए और रागुद्र मयनेने समथ मथानी बनाकर खड़ा किया ।

मन्वाहिनी—१ नदी जो चित्रवूटके पास होकर बहती है। यह चित्रवूट पर्वतसे ही निकली है। २ स्वर्गाया इसकी लम्बाई १० सहस्र योजन और चौड़ाई १ योजन है। इसका जल दूधके समान उजला और ऊँची सहरोबाला है। यह धारा बेंदुण्डसे होती हुई स्वर्गलोक तक चली गई है।

साधार—एक देववृक्ष विशेष। यह वृक्ष बहुत जल्दी बड़ता है। इसका साकार मध्यम होता है। इसने अपनेके समग्र पट्टे रहते हैं। बड़े हो जानेपर पट्टे भङ्ग जाते हैं। यह वृक्ष भारतमें पानपी लता तथा मिर्च वृक्षके पारो और केरनके वाम प्राता है। यह पित्तनाशक है। इसने बाजलसे धातुके सभी प्रकारके रोग नष्ट हो जाते हैं। इसका रस कृमिनाशक तथा रेचक है तथा गान, शनिके मूत्रादेकी पीठामें लाभ पहुँचाता है।

मरकत—मणि विशेष। (दलौ पन्ना)

मरीचिका—भृगुवृक्षा। जल या जलकी सहरोकी यह मिश्रण प्रतीति जो कभी-कभी मरु-भूमिमें बड़ी धूप पड़नेके समय होती है। मरीचि विनेमि जप यागुरी तहाना घमरव उष्णताके कारण घटमान होता है तब पृथ्वीने निवटका वायु अपिवा गर्मिसे ऊपर उठना चाहता है, परन्तु ऊपरवाली ठह जगे बढने नहीं देती। इसी कारण उग वायुरी सहरे पृथ्वीके समानान्तर घटन लगती है। यही सहरे दूरसे देगनपर जपकी घारा भी दिसाई पढने लगती हैं। भृगु दमने प्राय भोगम सागर जगे पीनेके लिये दीज्ये है। इसीस दगे गृगवृक्षा, भृगवन और भृग-मरीचिरा भी रहने हैं।

मलयवायु—दक्षिण दिशाका वायु। दक्षिण-दिशि गिरिसे चन्दन वृक्षा की सुगन्ध सञ्चर यह वायु बहता है।

मलयवर्द्ध—पश्चिमी घाटकी दो पहाडियाँ जो कानेरीके दक्षिणमें पड़ती हैं।

मसमाचल—मलय पर्वत।

मस्तिका—वेत्ता। जिस समय वामदेव महादेवजीका ध्यान तोडनेके लिये आए तो महा-देवजीने अपने तृतीय नेत्रसे उसे जला ढाला। कामदेवके भस्म होते ही उसका धनुषबाण पृथ्वीपर गिरकर पाँच भागमें बँट गया। इसी धनुषकी भूठसे मस्तिकामा धात्रि वृक्षोकी उत्पत्ति हुई। (शामनपुराण ६ अ०)

महाकाल—उज्जयिनी नगरीमें शिवजीके पूर्व ओर पिशाचमुक्तेस्वरघाटके दक्षिणसे महाकाल या विशाल मन्दिर है। महाकालके दर्शनसे करोडो मन्त्रमेघ यज्ञा फल होता है।

महानाल ततो गच्छेत् नियतो निमताशन।
चोटीतीर्थमुपस्पृश्य हयमेघफल लभेत्॥
शक्तिनादेवीकी पूजाके पश्चात् दाहिनी ओर महानालकी पूजाका विशेष साहाय्य है। श्याम-पुर्वव महाकाशका मन्त्र अपनेसे सब प्रकारकी सिद्धि होती है—मन्त्र है—हूँ कीं का रा ला वा को महाकाल भैरव सर्वविघ्नाद् नाशाय नाशाय ह्रीं वट स्वाहा—

महाकाल यजेद् यस्तस्मै परब्राह्मेण प्रपूजयेत्।

महामोघी—एक नदीका नाम।

महामणि—एक मूल्यवान् रत्न।

महेन्द्र—एक पर्वत। यह सात श्रेष्ठे पर्वतोंमें गिना जाता है।

मुनामन्त्री इसी पर्वतकी सीपपर लका गए थे। दक्षिणमें तिन्नेक्लोके समीप दस पर्वत प्राकमे निचैनमुडो नगर मोरुरपुत्त सुन्दर मन्दिरम गोविन्द है तथा पश्चिममें तिस्वरावर ओर मन्दन मिमनरी सोछास्टोरा प्राचीन आराय नगर-मोबिल स्थित है। पर्वतपर रहवरी येतोके लिये जलसञ्च बहून भाग बाट दिशा गया है।

मातलि—इन्द्रका सारथी ।

माताएँ—[सात]

शाही गद्देद्वारा चैन्दी रोड़ी कागद्दिकी तथा :
बावेरी चैव शीमारी, ग़ाज़र सम्प्रकीर्तिता ।
ये ही सात माताएँ है ।

माथथी—पुण्यलता । यह चमेलीका एक
भेद है । इसमें घबड़ो गन्ध देनेवाले पुष्प
होते हैं ।

मानसरोवर—हिमालयके उत्तरमें पँसाध
पर्वतके दक्षिण भागमें राजन नामक पर्वतके
निकट वैद्युत प्रदेशमें मानसरोवर पड़ता है ।
इसीसे सरयू गरी निकली है । इसके किनारे
वैभाज नामका उपवन है । यही महापाव
नामका राशस रहता है । सिन्धु, पतङ्ग, ब्रह्मपुत्र
नदियाँ यहींसे निकलती हैं । यहाँमें ३० योजन
विरलुत इस शरीरकी स्थापना की थी । इसके
अनुपम सौन्दर्यको देखकर ऋषियोंने इसे स्वर्ग
कहा है ।

माया—स्वप्न और इन्द्रजासके समान
जिराका फल प्रचिन्तनीय है उसीको माया
कहते हैं—

विचित्रकार्यकारणा अचिन्तितफलदरा ।
स्वप्नेन्द्रजासवल्लोके माया तेन प्रकीर्तिता ॥
प्रकृति, भविष्य, प्रज्ञान, प्रधान, शक्ति और
भजा भी इसीको कहते हैं ।

माया मृग—सीताना हरण करनेके लिये
राबणने अपने मामा मारीचको स्वर्णमृग बना
कर भेजा था जिससे सीताभी उसकी छाव
नेनेके लिये मुग्ध हो गई । यह रामको बहुत
दूर तक ले गया । अन्तमें रामने हाथसे मारा
गया । वह मारीच, मुन्दक और सा पुत्र ताटका
राक्षसीके गर्भसे उत्पन्न हुआ था ।

माझरी—समीतमें एक प्रकारकी मूच्छन्ता ।

मारिय—नाटनवा सुनधार अथवा यंत्र
भक्ति ।

मारीच—१ मरीचिके पुत्र कश्यप ।

२. ताटकाका पुत्र (देखो माया-मृग) ।

मरम—रीवाँ राज्यका यह प्रदेश जो नर्मदा
नदीके उद्गमसे आरम्भ होकर विन्ध्यके पासतक
फैला हुआ है ।

मालती—एक प्रकारका स्वेत पत्रादियों
वाला फूल, जिसकी दृष्टन लगभग एक इंचकी
होती है । जब फूल भट जाते हैं तो वृक्षके नीचे
फूलोका बिछोवा-सा बिछ जाता है । इसका
पौधा वर्षाके आरम्भमें जमाया जाता है । पत्र-
पुराणमें लिखा है कि गौरी, जयमी और धन्वा
ये तीन देवियाँ ही माथी, गामती और तुलसी
वृक्षके रूपमें अवतरित हुई हैं । मा घर्षात् जयमी-
से उत्पन्न होनेके कारण इसका नाम मालती
पड़ा । यह लता उद्यानोमें लगाई जाती है और
किसी बड़े वेष्ट या मण्डपपर चढ़ा दी जाती है ।

मालिनी—१ बगदेवी, जो पार्वतीजीकी
सखा थी । २ लवी, जिसके तटपर महर्षि
कण्डका आश्रम था और जो हिमालयकी तराईमें
बहती है । उत्तर प्रदेशके विजयनगर जिलेमें
अभीतक यह नदी है ।

मास्ययात्रा—[पर्वत] बम्बई प्रदेशके
रत्नागिरि जिलेका एक भाग जिसके बीचमें
जगन्नाथे पिरो हुई पहाड़ियाँ हैं ।

मिथिलापुरी—महाराज जनकजी नगरी ।
(देखो जनक और निमि) ।

मुग्धा—बहु नायिका जिसको अपने शोक-
के प्रायमनका ज्ञान न हो । इसके दो भेद हैं
[१] रभीया या स्वकाया [२] परकीया ।

मुष्कन—१६ सस्कारोमेंसे एक सस्कार,
जिसमें बालकाका शिर मूँद दिया जाता है ।
यह सस्कार यज्ञोपवीतसे पहले होता है ।

मुस्ता—[नदी] नर्मदाका दूसरा नाम ।

मुस्ता—(देखो नायरमोया)

भोती—१ एक प्रसिद्ध बहुमूल्य रत्न, जो छिद्यते समुद्रोत्तरे अथवा देखीले तटोके पास सीपीमेरे निकलता है।

मोषा—[पात] १ मुस्तक, नामरुषोवा नामक पात। २ उपर्युक्त पातकी बड़ जो मोषाधिकी भालि प्रयुक्त होता है। यह तुल्य जलाशयोमे पैदा होता है। इसकी पत्तियाँ कुपाकी पत्तियोकी तरह लम्बी-लम्बी और गहरे हरे रंगकी होती हैं। इसकी जड़ बहुत पीटी होती है जिसे घूमर लोहकर खाते हैं।

(देखो मुस्ता)

मौलसिरी—[देखो बज्रुल] इस प्रकारका बड़ा सबाबहार पेड़। इसकी लकड़ी अन्दरसे खाल होती है।

य

यजमान—१ वह जो यज्ञ करता हो। दक्षिणा आदि देकर ब्राह्मणोंसे यज्ञ, पूजन आदि धार्मिक कृत्य करानेवाला। २. वह जो ब्राह्मणोंको दान देता हो। ३ महादेवकी पाठ भूतिषोमेसे एक भूति।

यज्ञ—जिसमे सभी देवताओंका पूजन, अथवा धृत आदि द्वारा हवन हो उसे यज्ञ कहते हैं।

यज्ञशाला—यज्ञस्थान। वह मंडप जहाँ यज्ञ होता है।

यज्ञोपवीत—यज्ञमूल, जनेऊ। यथा विहित यज्ञ करके यह उपवीत पहनना होता है इसीसे इसीको यज्ञोपवीत कहते हैं। सोलह संस्कारोंमेंसे एक संस्कार है। इसका मूल चंद्रस्य उपनयन मर्मांत संस्कार करके मुण्डे पास विद्याभ्यसन करनेके लिये भेजना है।

यम—१ समय, मन इन्द्रिय आदिको बचने या रोक रखना। २ भारतीय धर्मोंके प्रसिद्ध-देवता जो दक्षिण दिशाके विष्णु कहें जाते हैं। मानकल ये मृत्युके देवता माने जाते हैं, पापी

और पुण्यात्माके पाप पुण्यका विचारकर पापीको नरकमे और पुण्यात्माको स्वर्गमे भेजते हैं।

यमराज—(देखो यम)

यमुना—१ उत्तर भारतमे प्रवाहित यह पुण्यतोया नदी यमुनात राज्के मध्य हिमालय क्षेत्रके यमुनोतरी शृङ्गसे बाई कोस उत्तर और पाँचवाँहर शृङ्गसे चार कोस उत्तर-पश्चिम प्रकट हुई है। हिमालयसे लेकर प्रयागतक अनेक छोटी नदियाँ इसमें आकर मिली हैं और प्रयागमे पहुँचकर त्रिवेणी सगमपर यह स्वयं भी यमाजीमे मिली है। २ मारकण्डेय पुराणमे लिखा है कि यमुनाजी सूर्यकी कन्या और यमकी भगिनी हैं। यम और मनुना माताके गर्भसे यमय उत्पन्न हुए। इनका बहुत काला था।

ययाति—गुरु राजाके एक पुत्रका नाम। महाभारतमे उनका उपाख्यान इस प्रकार लिखा है कि एक दिन ये सिकार सेजने जगलमे गए। वहाँ उन्होंने कुर्रुमे गिरा हुई देवयानीको देखा और बाहर निकाल लिया। पीछे एक दिन शुककी कन्या देवयानी अपनी शर्मिष्ठा आदि दो सहस्र दासियोंके साथ जलविहार कर रही थी। इसी समय ये वहाँ पहुँच गए और जल गाँगे लगे। देवयानीने राजाके कहा—मैं राजपुत्र हूँ, मेरा नाम ययाति है, मैं ब्रह्मचर्य धारण करके वेदका अध्ययन करता हूँ। सिकार करते-करते एक यथा हूँ। देवयानीने कहा—दो सहस्र कन्याओं और दासी शर्मिष्ठाकी स्वामिनी मैं आपका चरण करना चाहती हूँ। ययातिने कहा, तुम ब्राह्मण-नन्या हो, मैं क्षत्रिय हूँ, विवाह कैसे हो सकता है। देवयानीने यह वृत्तान्त अपनी दासी-के द्वारा अपने पिता शुकके कहला भेजा कि इन्होंने मेरा हाथ पकड़कर कुर्रुसे बाहर निकाला था। अतः आपसे प्रार्थना है कि मेरा विवाह इनके साथ करनेकी आज्ञा दें। धुकाचार्यके

लवली—एक फल विशेष, जिसे हरपत्ररे-
यरी कहते हैं।

लास्य—कोमल नृत्य, जिसकी रचना
पार्वतीजीने की। भाव और तालके साथ कोमल
प्रणोके द्वारा विशेषतः स्त्रियोंके द्वारा शृङ्गार
आदि कोमल रसोंके उद्दीपनके लिये यह नृत्य
होता है। इसके दो भेद हैं, क्षुरित और योवत।
इसके दस भग हैं—पेयपद, स्थितपाठ, धासीन,
पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, निगूढ, सैन्धवाक्ष्य
द्विगूढक, उत्तमोत्तम और युक्तप्रयुक्त।

लू—गर्मीके दिनोंमें पसनेवाली गर्म हवा
जिसके लगनेपर तीव्र ज्वर हो जाता है और
मृत्यु भी हो जाती है। लू लगनेपर कच्चे आम
भूतकर उसकी छुगड़ी बनाकर शरीरपर लेप
करनेसे और कच्चा आम भूनकर उसका पना
बनाकर पीनेसे भी लू का प्रभाव कम हो जाता
है। साधने प्याज रखनेसे भी लू नहीं लगती।

लोल—(सात) देखो भुवग।

लोकपाल—छाटो दिशाओंके प्रलय-प्रलय
योधपाल हैं। (दिलो दिक्पाल।)

लोकालोक—(पर्वत)—यह पर्वत पृथ्वीके
चारों ओर परकोटेके समान सटा है। इसके
कुछ भागमें सूर्यका प्रकाश दिखाई देता है और
कुछमें नहीं, इसीलिये इसका नाम लोकालोक
है। प्रकृति इस पर्वतपर चारों ओर ऋषभ,
पुष्पकूट, वामन और अपराजित नामके चार
दिग्गज स्थापित किए हैं।

लोप—[लोभ]—एक वृक्ष जो भारतके
सभी जगलोंमें होता है। इसका दितका चमड़ा
सिंभाने और रंगने का मूल्य होता है। यह पेड़
१० से १२ फुट ऊँचा होता है। इसकी जड़के
पूँजसे भविर बनता है।

लोहित्य [नदी] का अद्भुत-शान्तनु मुनि
जब हरियपमें हिरण्यगर्भ मुनिजी बन्धा समोधाके
पाप रहते थे तभी एक दिन समोधाको मनेजी

पाकर ब्रह्मा उस पर मोहित होकर उसपर
बलात्कार करनेके लिये उद्यत हो गए किन्तु
समोधा घरमें घुस गई और ब्रह्मा अपना वीर्य
वही छोड़कर चले गए। जब शान्तनु मुनिने
सौटकर यह सब देखा-सुना तो उन्होंने अपनी
पत्नीको ब्रह्मा वीर्य पी जानेको कहा। बहुत
बेरतक पत्नीसे याद-विवाद करनेके पश्चात्
शान्तनु उसे पी गए। कुछ दिनोंके पश्चात् वह तेज
समोधाके गर्भसे जलराशि बनकर उत्पन्न हुआ
जिसके बीचमें नीलाम्बर, रत्नमाला तथा किरीट
पहने चतुर्भुज गौर दर्शनाला मगर पर
षडा हुआ एक पुत्र दिखाई दिया। यह जल
कलास, सत्यतक, गम्पमादन और जाशधि नामक
गहानोके बाटीके बीचमें रख दिया गया। जब
परशुरामअपनी मातृहत्याका पाप छुड़ाने उस
कुम्भमें स्नान करने गए तब लोकहितके लिये
उन्होंने पहाड़ काटकर उस जलको नदी बनाकर
बहा दिया। लोहित सरोवरसे निकलनेसे उसका
नाम लोहित्य पड़ गया और ब्रह्माका मग
होनेसे ग्रहपुत्र कहलाया।

व

वख—इन्द्रे दधीचिजी हृद्दीप्ते विश्व-
कर्मके द्वारा वृषासुरको मारनेके लिये जो वख
बनवाया उसे वख कहते हैं।

वस्त [देश]—प्रयागके चारों ओरका देश
जिसकी राजधानी प्रतिष्ठादपुरी (वर्तमान
मूँसी थी।)

वनारु [देश]—अरुण देश, जहाँसे सोडे
प्रसिद्ध होते थे।

वन्धी—अपने आश्रयदाता राजाधोकी
निष्ठावशी रहने वाले भाट।

बराह—विष्णुका तीसरा अवतार। जब
प्रलय सागरमें पृथ्वी डूब गई तब ब्रह्माकी
नाकसे प्रोष्ठे भरका एक बराह-सोतक निकला
जो निवर्तत ही आवासान्व बच गया। उन्होंने

अपने दाँतोंसे पृथ्वीको पकड़कर बाहर निकाला और उस दैत्य हिरण्याक्षको मारा जो पृथ्वीको नीचे ख़ातममे ले गया था ।

परतन्तु [श्रुति]—जिन्होंने अपने त्रिण्य शीतसे इतनी गुन-दक्षिणा माँगी कि वह उस गुन-दक्षिणाके लिये रघुके पास पहुँचा और रघुने जिसे चुका दिया ।

बरदा [नदी]—हिमालयसे निकली हुई नदी जिसके तटपर अष्टादह भुजावाली बेनीकी मूर्ति है ।

बर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और वृद्ध ।

बर्णमाला—बारह खड़ी । अ से लेकर ह तक वर्ण ।

बल्कल—१. पेड़की छात । २. पेड़की छातसे बने हुए वस्त्र ।

वशिष्ठ या वसिष्ठ—मुनि । ये ब्रह्माके प्राणसे उत्पन्न हुए थे । कईमन्त्री पुत्री भरु-भती इत्यादि पत्नी थी । ऋग्वेदके सप्तम मन्त्रका अधिकारा वशिष्ठकी कृति है । जब भिन और अरुणाकी भीम बसतीबर नामक यज्ञकुभमे गिरा उससे अगस्त्य और वशिष्ठकी उत्पत्ति हुई । [देखो अगस्त्य] इन्होंने इसलिये सूर्यमन्त्रका गीरोहितम् स्वीकारा था कि उस वसमे राम जन्म लेंगे ।

वपद्—यज्ञोमे माहुति देने समय इसका उच्चारण किया जाता है । देवताओंको स्वाहा, औपद्, वोपद्, वपद् और स्वधा शब्दोंके साथ माहुति दी जाती है ।

वसन्तोत्सव—फाल्गुनकी पूर्णिमाके दिन यह उत्सव मनाया जाता है । उस दिन वसन्त ऋतुमे जो चन्दनके साथ आमकी भजरी खाता है वह निश्चय हा सौ वर्षतक सुखसे जीवन बिताता है ।

वामन—विष्णुका पाँचवाँ अवतार । (देखो वलि)

वायव्य [अस्थ]—मन्त्रसे चलाया हुआ वह वायु जिसके चलते ही आँधी चलने लगती है ।

वार्ता—वैश्यवर्ग अर्थात् वृषि, गोरक्षा, व्यापार और नुसीद (महाजनी) ।

वायशाख—मन्त्रसे चलाया हुआ वह वायु जो जल बरसा दे ।

वाल्मीकि या वाल्मीक—प्रचेता ऋषिके यशमे बतव पुरुष । शमसाके तटपर इनका आश्रम था । ये प्रारम्भमे ब्राह्मण-गुन होते हुए भी किरातका काम करते थे । शूद्रासे विवाह करके इन्होंने उससे कई सन्तान उत्पन्न की । एक बार इन्होंने ऋषियोंको भी बेर लिया । उन्होंने कहा कि जो पाप तुम करते हो उसमे तुम्हारे परिवारवाले भागी है या नहीं । जब परिवार वालोने अस्वीकृति दे दी तब इन्हे ज्ञान हुआ और इन्होंने मुक्तिका उपाय पूछा । उन्होंने 'राम' नाम जपनेको कहा तो वे उलटा करके 'मरा मरा' जपने लगे यहाँ तक कि इनके शरीरपर बाँबी उठ आई । सबसे इनका नाम वाल्मीकि या वाल्मीकि हुआ । इन्होंने राग-जन्मसे बहुत पहले रामायणकी रचना कर दी थी । प्रथम कवि होनेके कारण इन्हे आदिकवि भी कहते हैं । सीता वनवासके समय इन्होंने ही रामके पुत्र लव और कुशको शिक्षा-दीक्षा दी थी ।

वासवदत्ता—प्रवर्तिके राजा वज्र प्रद्योतकी कन्या जिसे पत्तराज उदयन हर ले गया था ।

वासुकि या वासुकी—नागोका राजा । आठ प्रधान नागोंमेसे एक । (देखो नाग) ।

विद्याधर—एक देवघोषि, जिसके अन्तर्गत खेचर, गन्धर्व और बिन्दर आते हैं ।

विष्णु—सृष्टिका भरण-पोषण करनेवाले देवता जो खीरसागरमे शेषनागपर शयन करते हैं और जिनकी नाभिसे उत्पन्न कमलमेसे ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई है ।

विजया—१ पावंतीकी राखी जो गौतमजी कन्या थी । २ वनदेवी ।

विजित्वर—वह रथ जिसपर चढ़कर विजय भवश्य मिलती है ।

विदमं [देन]—दत्तगान हैवरावादि के उत्तरमे सरार प्रदेन ।

विद्वर [पर्वत]—वह पर्वत जहाँ बैदूर्यमणि मिलती है ।

विद्यवापल—भारतके मध्यमे पूर्वसे पश्चिम तक फैला हुआ पर्वत (देतो अमस्त्य ।)

विदध—[राक्षस] इसके विनाका नाम सुपुत्रेय और माताका नाम सतहृदा था । पिछले जन्ममे यह तुम्बक नामका गन्धर्व था जो वैश्रवणके शापसे राक्षस हो गया था । लक्ष्मण-के हाथसे इसकी मृत्यु हुई ।

बिल—१ एक प्रकारके थोड़े, २ उर्ध्व अथवा घोड़ा ।

विशाखा—सप्तार्द्ध नक्षत्रोंमेसे सोलहवाँ नक्षत्र । इसका रूप तीरछाकार है और इसमे चार तारे हैं । यह नक्षत्र दो भागोंमे बँटा है इसलिये इसके दो देवता हैं—इन्द्र और अग्नि ।

विश्वरर्षा—देव शिल्पी जो सत्र प्रकारके शिल्प-शास्त्रोंमे माविष्णुता माने जाते हैं । ये ब्रह्मा नामक ब्रह्मके औरत तथा बृहस्पतिजी ब्रह्मचारिणी बहिनके भगवें उत्पन्न हुए थे । इन्होंने ही देवताओंके लिये विमान बनाए थे ।

विश्वामित्र—वह यज्ञ जिसमे सब कुछ दक्षिणमे दे दिया जाता है ।

विश्वामित्र—इन्होंने सत्रिंशत्वारिंश जन्म लेकर ब्राह्मणत्व प्राप्त किया और सत्र ब्रह्म महर्षियोंमे गिने जाने लगे । इनके पिताका नाम पाणि था ।

विश्वामित्र [गन्धर्व]— भमरावतीका निवासी गन्धर्व ।

विष्कम्भक—नाटकके किसी मञ्चके प्रारम्भमे तक्षेपसे जो विषय कहा जाता है उसे विष्कम्भक कहते हैं । जहाँ एक या दो मध्यम पात्रोंसे कहलाया जाता है वहाँ शुद्ध, जहाँ तीन तथा मध्यम पात्रोंसे कहलाया जाता है वहाँ सक्तीर्ण या विमिश्र कहा जाता है ।

वीरसा—वह तारका बाजा जिसके दोनो ओर दो तुम्बियाँ होती हैं और बीचके डबेर सात तार सिंचे रहते हैं । महादेवजी कीणा खम्बी, सरस्वतीकी कच्छपी, नारदजी महती और तुम्बुरकी बलावती कहलायी है ।

वीरसन्न—(देखो पद्मासन) इस भासनसे बैठकर साथक साधना करते हैं ।

बृहस्पति—अङ्गिराके पुत्र और देवताओंके गुरु । पर्यव्रासके प्रयोक्ता और नवग्रहोंमे पचम ।

वेत्रवती—वेतवा नदी जो मालवासे निकलकर कालपीके पास यमुनामे मिली है ।

वेद—ऋग्वेद, यजु, साम, और अथर्व ।

वेदाय—[६] शिखा, कल्प, निरुक्त, छन्द, प्रवृत्ति और व्यङ्करण ।

वेदान्ती—वेदान्त जाननेवाला । विरक्त ।

वेदो—यज्ञके लिये स्वच्छ की हुई भूमि ।

जो विशेष मापके अनुसार खम्बी, चौड़ी, गहरी और ऊँची बनाई जाती है ।

वेला—(देखो ग्वार)

वैलसी—चन्द्रमे उत्पन्न होनेवाली वाणी जो उर्ध्व व गम्भीर सुनाई पड़े ।

वैजयन्ती—एक प्रकारकी यात्रा जो पाँच रंगोंकी और छुटनो-जड़ खटकी होती है । इसे थोड़प्पणजी पहनते थे ।

वैतालिक—चारण या बन्दी जो प्रातः काल मञ्जुल-गोत तथा बाबू बचावर राजाओंको जगाते थे ।

वैदूर्य [मणि]—पीले रंगकी मणि जिसके देवता केतु हैं । इसके धारण करनेसे

केतुका दोष नष्ट हो जाता है। इसे सहस्रगुनियां कहते हैं।

संभ्राज—(देखो नन्दन-वन)

शंकाकरण—ध्याकरण जाननेवाला।

शंख [बाण]—विष्णुका बाण।

शूद्र—शत्रुसे रक्षा करनेके लिये जो सेनाका विशेष तगठन किया जाता है उसे शूद्र कहते हैं। यह शूद्र चार प्रकारका होता है, दण्ड, भोग, मण्डल और असह्य और इनके भी बहुतसे भेद हैं।

श्रत—किसी विशेष पर्वपर विशेष प्रकारका आहार-विहार-सम्बन्धी आचारका पालन करना।

श

शक्रावतार—महाकाल तटपर वह तीर्थ जहाँ शक्रुत्तलाकी झंझूड़ी गिर पड़ी थी। वर्तमान सोरो को बदामू जिलेमें है।

शृङ्गार—नवरत्नोत्तम प्रधान। इसे भरतने रत्नराज माना है। इसमें दो आलम्बन होते हैं नायक और नायिका, सभी संचारियों और नवी अनुभावोंका प्रयोग होता है। इसका स्थायी भाव रति है—पुंस स्त्रिया स्त्रिय पुंसि सयोग प्रति या स्पृहा। ए शृङ्गार इति रथात् रति-क्रीडाविचारणम्॥ इसके दो भेद हैं—विप्रलम्भ और सयोग। जहाँ नायक या नायिकाका अनुपासने परिपूर्ण रहनेपर अपने अपने अस्मिन्निहित लोकोक्ति साथ सयोग नहीं होता वहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार होता है। जिस समय दम्पतिके दर्शन, स्पर्शन, शुष्मन एव परिरम्भण आदिका सघटन होता है, उस समय सयोग शृङ्गारकी उत्पत्ति होती है। बिना विप्रलम्भ सम्भोग नहीं परिपुष्ट नहीं हो सक्ता।

न बिना विप्रलम्भ सम्भोग पुष्टिगन्तुते।

कपायिने हि वस्त्रादौ भूयान्द्रसमो विवर्धते॥

शकुन—सुभाशुभ-सूचक लक्षण—जिन चिह्नों को देखनेसे शुभ और अशुभ जाना जा सके।

शक्ति [शस्त्र]—वर्द्धा जो फेंककर मारा जाय।

शची [पीतोष्णि]—इन्द्रकी पत्नीका नाम जो दानवराज पुलोमकी कन्या थी।

शतघ्नो—वर्द्धा, एक प्रकारका शस्त्र। यह किसी बड़े पत्थर या लकड़ीके बुन्देमें बहुतसे फीस काँटे ठोककर बनाया जाता है। इसका व्यवहार युद्धके समय शत्रुओं पर फेंककर होता था। यह शस्त्र दुर्गके घाटों और रक्षा जाता था।

शुगंध परिशोषेत चयाट्टालक-समुत्तम्।

शतघ्नी-यत्रमुख्यश्च शतशश्च समावृत्तम्॥

शन्दयेधी [नाण]—एक प्रकार का बाण।

शब्दोच्चारणके साथ ही जो तालु छेदकर ऊपर निकलता है।

शम्भुक—भूद तपस्वी, जिसकी तपस्याके कारण वेता-युगमें रामराज्यमें एक ब्राह्मणका पुत्र अकाल मृत्युको प्राप्त हुआ था। उसे रामने मारकर मृत ब्राह्मण पुत्रको पुन-रुज्जीवित किया।

शमी—एक प्रकारका वृक्ष, जो यज्ञके काममें आता है। भारतके प्राय सभी प्रदेशोंमें पाया जाता है। बंगाल और बिहारमें अधिक होता है। इसकी लकड़ी खदिर जैसी होती है। इस जातिके सात पत्तेवाले वृक्ष अग्निदमन कहलाते हैं।

शरत्—आश्विन और कार्तिक मासमें यह ऋतु मानी जाती है। यह काल उष्ण, पित्त-वर्द्धक और मानसोंके लिये बलप्रद होता है। शरत्कालमें वायु प्रचलित और पित्त प्रकुपित होता है। इस कालमें जन्म लेनेवाला मनुष्य उत्तम वार्ष करनेवाला, तेजस्वी, पवित्र, सुशील, शुणवान्, सम्माननी और धनी होता है।

शरभ—एक प्रकारका भृगु जिसके प्राठ पैर होते थे। यह सिंहसे भी अधिक बलवान् होता था। अपने लम्बे कठोरे यह कुँएमें मुँह डालकर पानी पी सकता था। इसकी जाति नष्ट हो गई है।

शरभग—ये महर्षि दक्षिणमें रहते थे। वनवासके समय भगवान् रामने इसका दर्शन किया था।

शर्मिष्ठा—[देखो ययाति]।

शालकी—शालईका पेड़। (देखो शाल)

शक्र—खड्ग या तलवार। जो हाथसे पकड़ कर चलाया जाय उसे शक्र और जो फेंककर चलाया जाय उसे शक्र कहते हैं।

शातकुलि—ये ऋषि पञ्चान्नर नामके क्रीडा-सरोवरमें तप करते थे। पहले ये तप करते समय मृगोंके साथ पास चरते थे। तब इन्द्रने पाँच भस्त्रास्रोको भेजकर इन्हें तपसे विरत कर दिया।

शाय कहित कामना-सूचक लक्ष्य, जो ऋषि या तपस्वी लोग किसी वर रख होकर कहते थे और जो अवश्य पूरा होता था।

शान्तिजल—जो जल पूजाके पदपात्र शान्तिके निमित्त घरके रहनेवाले व्यक्तियों पर छिटा जाता है।

शाङ्ग [शत्रुघ्न]—विष्णुके हाथमें रहने-वाला धनुष जो दधीचि ऋषिकी हड्डीसे बना था।

शाल—शालका गैड। हिमालयकी तराईमें सतलजसे सासार-वृक्ष तथा मध्य भारतमें इसके घने जंगल हैं। यह वृक्ष घोड़ा बना सकता है। और इसने पत्ते बड़े-बड़े होते हैं। इसकी छालमें छेद करने-पर गुग्गुलु निकलता है। इसने वृक्षमें छोट-छोटे फूलोंसे मुञ्छे लगते हैं जिन्हें चोहकर कोल त्रिपां सम्पापों अपने छूटेमें सोस लेती हैं।

शालमली—(देखो सेमर या सेमल)

शास्त्र—ये प्राचीन ग्रन्थ जिनमें मनुष्योंके लिये अनेक प्रकारके कर्तव्य बताए गए हैं तथा अनुचित कर्तव्योंका निषेध किया गया है। हमारे यहाँ ये द्वाे शास्त्र श्रामाणिक माने गए हैं जो वेद-मूलक हैं। इनको सरया १८ है—जिज्ञासा, कल्प, व्याकरण निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, श्रुतवेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, मीमांसा, न्याय, पुराण, ग्रायुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद, और अयंशास्त्र। इन १८ शास्त्रोंको १८ विद्याएँ भी कहते हैं।

शिप्रा [शिप्रा या शिप्रा]—उज्जैनके पास बहनेवाली नदी। जब दशिष्ठने द्रक्ष्यतीके साथ विवाह किया उस समय बह्मा, विष्णु और महादेवने उन्हें शान्तिजल और आशीर्वाद दिया। वह शान्तिजल पहले मानस पर्वतकी कन्दरामें और पीछे सात धाराओंमें विभक्त होकर मानस-पर्वतसे हिमालय पर्वतकी गुहा, शिखर और सरोवरमें पुष्क-पुष्क भागते गिरा। उससे शिप्रा सरोवर बहुत बहने लगा। पीछे विष्णुने चक्र-द्वारा गिरिशृङ्गकी काटकर उस प्रवृद्ध जल-राशिको पुण्यतमा नदी बनाकर पृथिवीपर भेजा। शिप्रा सरोवरसे इसकी उत्पत्ति हुई, इसीसे इसका नाम शिप्रा हुआ। इसमें नहानेसे सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। कार्तिक भासकी पूर्णिमा तिथिको इसमें नहानेका विशेष माहात्म्य है।

शिरोध—शिरसका पेट जिसके फूल बड़े नोमल होते हैं।

शिलाजीत—पहाड़में उत्पन्न होनेवाली औषधि विशेष। गर्मिके दिनोंमें घूमकी किरणों द्वारा सन्तप्त पर्वतोंमें जो धातुसार निकलता है, उसीको शिलाजीत कहते हैं। यह चार प्रकारका होता है—१ सोवर्ण जो जवा पुष्पकी तरह लाल बटु, मधुर, सीता, क्षीतवीर्य और कटुभिषाक होता है। २, राजत जो स्वेतवर्ण,

पातवीर्य, कटुरस, धीर-गधुर विपाक होता है । तावस जो मयूर कण्ठके समान शमायिष्ठ, तीक्ष्ण और उष्णवीर्य होता है । ४ धामस जो जटायुके पक्ष जैसा शमायिष्ठ, तीक्ष्ण, तबखरस कटुविपाक, धीर जीतवीर्य होता है । यही सबसे श्रेष्ठ है ।

पुष्प [ग्रह]—भयग्रहमे पाँचवाँ ग्रह । वह शुभग्रह है । यदि पुरे स्थानमे न हो तो भानवका बन्धन करता है । सुख, धी, विलास, भूपण, विमान-नाम, भगिनी, छो, समीत और कविता शक्ति देनेवाले हैं ।

शुक्राचार्य—ये देवताके मुख और भृगु ऋषिके पुत्र थे । इनकी बन्धावा नाम देवमानी तथा पुत्रीका पण्ड और भ्रमक था । देवगुप्त बृहस्पतिके पुत्र बनने इनसे सजीवनी विद्या सीधी थी [देखो ययाति और कन] ।

धूर्पराजा—रावणकी बहिन । बिधवा थापिके धीरस और लैकसीके गर्भसे इसका जन्म हुआ था । भगवान् रामचन्द्र जब हनुमान्देवसे गए थे उस समय नाम-दीक्षित होकर रावणके पास गया वह धरनेकी इच्छासे भाई थी । रामके सकलसे सम्मुखने इसने नाक फाँट डाले । इसीका बदला लेनेके कारण रावणकी छाप बैरा बनाकर सीताको हरण करना पड़ा । इसका नल सुनके रामान था ।

हूनी—लौहकी वह मोकदार किस्ती जिसपर भगवद्गीता की मुद्रा की ओरसे टीकते थे और वह नियन्त्रण गर जाता था ।

शेषात्मिका—एक प्रकारका पुष्प विशेष । परश्वामने इसमे फूल सगते हैं । इस शत्रुके प्रतिरिक्त इसका पुष्प पूजामे पढ़ाना निषिद्ध है । इसके पत्तेका रस सेवन करनेसे सभी प्रकारके ज्वर नष्ट होते हैं । इसकी गन्ध बरबरी और मीठी होती है । इसकी प्रलेख सीकने धारहरकी पतियोने धमान पाँच पाँच पतियाँ होती हैं ।

जिसका ऊपरी भाग नीला और नीचेका भाग सफ़ेद होता है । इसकी अनेक जातियाँ हैं । किसीमे बाजे और किसीमे सफ़ेद पुष्प सगते हैं । फूल धामके मोरके मजरीके समान सगते हैं और केसरिया रणके होते हैं । इसकी मात्ता प्रणयी जनोको बहुत प्रिय है ।

शेषनाम—जब यह जगत् प्रलय कालमे नष्ट हो जाता है तब भगवान् लक्ष्मीके साथ धीर-सागरमे शेषके पक्षकी छायामे शयन करते हैं । ये अपना पूर्व पक्ष कैलाकर समस्त पुष्पसे सन्धे आच्छादित करते हैं, उत्तर फणसे भगवान् के सिर एवं दक्षिण फणसे पाँच ठके रहते हैं, पश्चिम फणकी कैलाकर भगवान् पर पड़ा फलते हैं, दैवान फणके द्वारा राज, चक्र, भद्र, खड्ग, दोनो सुखीर तथा गडकों डकते हैं एवं भानेय फणके द्वारा गदा, पद्म प्रभृति पारण किए रहते हैं । इस प्रकार भगवान् विष्णु प्रलयके समय शयन किया करते हैं ।

शेषशब्दा—(दे०—शेषनाम)

श्रेय—(देखो साध)

श्राद्ध—शास्त्र विधानके अनुसार पितरोंकी तृप्त करनेके लिये जो कर्म किया जाता है उसे श्राद्ध कहते हैं । इसमे अन्नआदिके दानका विशेष माहत्त्व है ।

सकृत्-व्यजनादप्यत्र पयोद्विभूताश्वितम् ।

अद्वया दीयत यस्मात् श्राद्ध तेन निगद्यते ॥

श्रीवत्स—विष्णु ने वशरवल पर भगुष्ठके वरावर स्वेस नालकोका दक्षिणावर्त भीरी-वाला चिह्न जो भृगुके चरण प्रहारका चिह्न माना जाता है ।

श्रुति—वेदकी श्रुति और धर्मशास्त्रकी स्मृति कहते हैं । जहाँ वेद और धर्मशास्त्रकी विरोध पड़ता है वहाँ श्रुति ही प्रमाण मानी जाती है । श्रुतिद्वये स्मृतिद्वये श्रुतिरेव गरीयसी ।

II

यज्ञ—समीक्षमें सप्तवक्त्र पहला स्वर ।
भोरका शब्द यज्ञ माना जाता है ।

III

संस्कार—यद्युद्धि दूर करनेकी क्रिया ।
शास्त्रोंने अनुसार इस प्रकारके संस्कारसे जीवकी
द्युद्धि होती है—सर्पाधान, पुण्ड्रिक, सीमन्तो-
घ्रयन जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण,
अन्नप्राशन, शूडावर्धन, कर्णपेष, वेनाम्न,
पशोपवीत, वेदारम्भ, समार्वर्तन, विवाह,
गार्हपत्य, और अन्त्येष्टि नामक १६ संस्कार
माने गए हैं ।

सगर—सूर्यवंशमें बाहु नामक प्रतापी राजा
थे । इनकी स्त्रीका नाम यादवी था । एक दिन
प्रवत्साय इनके ऊपर शत्रुओंने चढ़ाई कर दी ।
युद्धमें बाहु परास्त हुए और पत्नीके साथ जमल-
में भाग गए । इस समय इनकी पत्नी गर्भिणी
थी । यादवीकी सपत्नीकी जब हात हुआ कि
यादवी गर्भिणी है तो उसने उसे विष पिला
दिया पर उससे कोई घमिष्ट नहीं हुआ । राजाकी
मृत्यु जगलमें ही हो गई । समी जब राजाके
छाव साती होने जा रही थी उसी समय शीर्ष
श्रुतिने वहाँ घाकर उसे रोक दिया । समय
पूरा होने पर एक पुत्र उत्पन्न हुआ । शीर्षने-
उसका जात संस्कार किया और विषकर्म पान
करनेके कारण उसका नाम सगर रखा । शीर्षने
ही उ हे वेद शास्त्र और धर्म विद्याकी शिक्षा
दी । उन्होंने हेतुय आदि शत्रुओंको मार डाला ।
राजा सगर इस प्रकार शत्रुओंको परास्त करके
राजसिंहासन पर बैठे । इनकी दो रानियाँ
थी—वैदर्भी और वैष्णवी । ऊँहें उकरजी ने
व दिया था कि एक पत्नीसे ६० स अ पुत्र
होंगे तथा उनका नाम होगा । एक बरसपर पुत्र
होया । कुछ दिन पश्चात् वैदर्भीके गर्भसे एक
कृष्णाट (कद्दू) उत्पन्न हुआ और वैष्णवीके

गर्भसे वीर्यवान पुत्र । राजा उस कृष्णाट
(कद्दू) को फेंकने जा रहे थे कि भ्राताभवाणी
सुनाई दी 'हे राजन् इसमें तुम्हें ६० सहस्र
पुत्र उत्पन्न होंगे ।' राजाने उस कद्दूमेंसे एक
एक बीज निकलवाने पर घृत कुण्डमें रख दिया
और उसकी रक्षाके लिये एक घात्री नियुक्त
कर दी । कुछ दिन पश्चात् उसमेंसे एक-एक
करके ६० सहस्र बलिष्ठ पुत्र उत्पन्न हुए । ये
योग देवताओंके प्रति भ्राताभार करने लगे ।
कुछ दिन पश्चात् राजा सगरने प्रद्वयमेघ यज्ञ
प्रारम्भ किया । थोड़ेने साथ उनके ६० सहस्र
पुत्र रक्षाके लिये चले । कुछ दूर पर घोडा घुस
हो गया । राजपुत्रोंने राजासे सब घटनाएँ कही ।
राजाने उन्हें खोजनेकी आज्ञा दी । ये सब
खोजते-खोजते कपिल मुनिके आश्रममें पहुँचे ।
यही वंश हुए थोड़ेने देखकर इन लोगोंने उन्हें
कपिलजीको दुस्कारणा प्रारम्भ किया । श्रुतिवी
शोध-पूर्ण दृष्टिसे वे ६० सहस्र पुत्र बड़ी जलकर
भस्म हो गए । फिर राजा सगरने पौत्र तथा
असमयसके पुत्र राजा भगीरथ कठिन तपस्या
करके गङ्गाको साथ और इन सयवा उद्धार
किया ।

राजीवनी—१ जीवन देनेवाली शोषधि ।

२ एक विद्या जिसके प्रभावसे मृतक भी जी
उठता है । युक्राचार्यको यह विद्या माती की
इससे कोई दैत्य मरता ही नहीं था । तब देव-
ताओंने वृहस्पतिके पुत्र कचको युक्राचार्यके पास
यह विद्या सीखने भेजा । वहाँ दैत्योंने कई बार
कचका बध किया किन्तु युक्राचार्यने उसे जिला
दिया । तब असुरोंने उसे मारकर उसका भाँस
युक्राचार्य को खिला दिया । तब युक्राचार्यके
भग्नसे कच उनका पेट फटकर निकल आया
और फिर उसने अपने गुरको भी जिला दिया ।
सतोमुख या सत्त्वमुख—सत्य, रज और
तम नामक तीन मुखोंमें से एक । यह मुख जिसमें

होता है वह प्रसन्न, प्रेमी, धैर्यशाली और मेधावी होता है ।

सन्धि—[नाटककी ५ सन्धियाँ] मुल-सन्धि, प्रतिमुख-सन्धि, गम-सन्धि, विमर्श-सन्धि, निर्वहण-सन्धि ।

सन्निपात—बहु ध्वस्तता, जब नष्ट, नाश पित बिगड़ जाते हैं और मनुष्य ज्वरसे बकने-भङ्गने लगता है ।

सप्ताश—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सप्ताश नामक चार आश्रमोंमें ॥ चौथा आश्रम । ७१ वर्षकी अवस्थामें घरबार छोड़कर केवल ईश्वर प्राप्तिमें लगना ।

सप्तमातुका—(देखो मातृकाएँ) ।

सप्तर्षि—कश्यप, भृगु, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमिनि, भरद्वाज तो इस वैवस्वत मन्त्र, तारके सप्तर्षि हैं । प्रारम्भिक सप्तर्षि ये हैं जो ब्रह्माके भाग्य पुत्र थे—मरीचि, भृगु, पुलह, पुनर्वसु, ऋषि, अगिरा और वसिष्ठ । प्रत्येक मन्त्रजने भलग-भलग सप्तर्षि होते हैं ।

समिध—यज्ञ करनेके लिये भज, पलाश या पूतरकी प्रादेश भरकी [भगूठेसे तर्जनी तकके तापकी] उस दहलीको कहते हैं जिसमें भागे फूलकी पत्ते हो और पूरा छिलका हो । यह समिध भगूठेके बराबर मोटी होनी चाहिए और हरी होनी चाहिए । निक्षीण समिधसे हुवन करनेसे प्रायुक्षय, निष्पन्नसे पुत्रनाश, छोटीसे पत्नीनाश, टेढ़ी होनेसे बन्धुनाश, कीटा खाई होनेसे रोग, दो टुकड़ोंमें फटी होनेसे विद्वेष, घी होनेसे पशुनाश और अधिक मोटी होनेसे खुवाव होता है । रविके होममें भकंजी, मित्रमें पलायकी, ममलकेमें खैरकी, बुधकेमें श्याम या चिरचित्की, शुक्रकेमें गीपलकी, क्रकेमें पूतरकी, रतिकेमें शमीकी, राहुकेमें दाँगी और नेतुके होममें कुशाकी समिध गममें लानी चाहिए ।

समुद्र—[घात] सवग, इक्षु, दुग्ध, दधि, गुरा, घृत, महासमुद्र ।

सम्प्राप्ति—[पक्षी] श्येनीके गर्भमें पक्षुका पुत्र, जटायुका बेटा भाई । जब इन्द्रने वृषासुरको मार डाला, तब यह इन्द्रको जीतनेके लिये सुरपुर गया । वहाँ जब सूर्यकी ज्वालासे जटायुके पक्ष जलने लगे तब सम्प्राप्तिने उसपर छाया कर ली । तब सम्प्राप्तिके भी पक्ष जल गए और यह विन्ध्याचलपर भा गिरा । जब हनुमान आदि सीताको ढूँढ़ने जा रहे थे वहा समय समुद्र तटपर सम्प्राप्तिने ही उन्हें लकाका मार्ग विज्ञाया था और उन्हीं समय वैसे पक्ष भी निकल आए थे ।

सम्मोहन—बहु भ्रम जिसके पलानेसे सब जगवत् हो जाय ।

सरकडा—सरपतकी जातिकी एक भाबी जिसके बीचसे गडवाली छईयाँ निकलती हैं ।

सरस्यती—१ देवी, शुभलक्ष्मी, वीणा-धारिणी, वेद-शास्त्रकी जननी, विद्याकी देवी । ये ब्रह्माकी मानस-पुत्री हैं । २ नदी, जो पंजाबमें सिरमूर राज्यकी पहाड़ीसे निकलकर बानेद्वर और कुशोध होती हुई सिरसा जिलेकी कागार [हथहत्ती] नदीमें विलीन हो गई है । यह पहले प्रयागमें त्रिवेणी पर गङ्गा-यमुनासे मिल जाती थी और अब कहा जाता है कि यह वहाँ धन्त सलिला अर्थात् धरती के नीचे होकर बहती है ।

सर्ज—[वृक्ष] शालका पेड़ (देखो घाल) ।

सहस्राबाहु—[देखो कालंबोध] ।

सह्य—ताप्ती नदीसे कन्याकुमारी तक फैली हुई पश्चिमी घाटकी पहाड़ियाँ सह्याद्रि कहलाती हैं ।

सारथ—बगलेके रूपका चार फुट लम्बा पक्षी जिसका ऊपरी भाग लाल, धारीर भूरा, और टाँगें सन्धी जाती होती हैं । यह सेतके

बीज, मेढक और घोंघे खाता है । इसके दर्शनसे मात्रा सिद्ध होती है ।

सारिका—(देखो मैना)

साहित्य—कवियों-द्वारा लिखित तथा सुरक्षित वाङ्मय ।

सिद्धि—[प्राठ] धर्मिमा, महिमा, लक्ष्मिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, यशित्व । जिन्हे ये सिद्धियाँ मिल जाती हैं उन्हें कोई वस्तु तथा कोई बापें दुर्लभ नहीं होता ।

शिम्बु—[नव] यह नद हिमालयसे निकल कर पद्मीर, पञ्जाब और तिब्बुमे होता हुआ सरय सागरमें गिरता है ।

शिम्बुवार—निर्गुण्डी या सिन्दुवार ।

शुद्धी—वांस्ति भाई (देखो वांस्ति) ।

शुतीश—भगवत्स्य मुनिके भाई जो बन-वासके समय रामसे मिले थे ।

शुप्रतीव—देवताप्रोवा हाथी जो ईशान कोराजा दिग्गज है । (देखो दिग्गज) ।

शुबागु—मारीषवा भाई जो ताडकाके साथ रामसे लड़ने आया था ।

शुमत्र—राजा दशरथसे मन्त्री और तारवि । ये ही रामसे रथपर बैठाकर समवासने समय कुछ दूर छोड़ कर आए थे ।

शुमित्रा—राजा दशरथकी पत्नी, लक्ष्मण और लक्ष्मणकी माता ।

शुमेरु—[पर्वत] (देखो मेरु)

शुरागाय—(देखो चंवर) ।

शुद्ध—[देव] वर्तमान राज देव जो बगानों पक्षिममें दामोदरसे उत्तरी भागमें है ।

शून—आश्वपदाया गजामोरी स्तुति करने-वाले चारण, जो श्रुति गाकर राजामोरी प्राप्त बना जाते थे ।

शूनपार—गाढाका प्रकण करनेवाला ।

शूर्प—[दंष्ट्रा घारिण] बरखणें औरखने दिंडों गंधमें इनकी उत्पत्ति हुई ।

शूर्पकान्त—[मणि]—विन्तीरी परवर, जिसे शूर्पके सामने रखनेसे उसमें माग निकलती है ।

सेमर या सेमत—आत्मलोका पेठ । इसका बहुत बड़ा पेठ होता है जिसमें मोटी पखडियो-वाले लाल फूल खगते हैं और जिसके फलों या डोडोमेसे कोमल रुई निकलती है ।

सोमतीर्थ—वर्तमान कन्नडके पास पिड-पुरीके पास है जहाँ सोमने तपस्या की थी ।

सोरीयर—वह प्रकोष्ठ जिसमें लो-वालकका प्रथम करके धुड़ होने तक रहती है ।

स्कन्द—[देखो वांस्तिकेय]

स्कटिक—विन्तीरी परवर जो पारदर्शी होता है । (देखो शूर्पकान्त)

स्मृति—१५ स्मृतिमें मानी गई हैं । अनु-भूत ज्ञान । महर्षिभिर्बेदाधर्मचिन्तन स्मृति । महर्षियोने वेदके धर्मका जिस प्रकार विस्तृत किया वही स्मृति है । इसे धर्मशास्त्र या धर्म-संहिता भी कहते हैं । कलियुगमें पाराशर स्मृति मान्य समझी जाती है । 'कलौ पाराशरस्मृति ।'

सूया—खैरकी लकड़ीका बना हुआ कमवा जिससे हवनमें घी डाला जाता है ।

स्वयवर १ वह उत्सव, जिसमें ब्याका पिता अनेक युवकोंको एवम करता है और ब्या उममेंने किसी एवको चुन लेती है । २. स्वय भोजना कर चुन लेनेका कार्य ।

स्मरित—[देखो उदात्त और अनुदात्त]

स्वधा—[देखो वाग्द] पितृव्य स्वधा नष्टकर पित्रोको रामी वस्तुएँ दी जाती है । इसके बिना वहे यदि पित्रोकी कोई वस्तु दी जाती है तो ये ग्रहण नहीं करते ।

स्वर्ग—देवताप्रोवा सोव जहाँ नन्दनन, स्वर्गा बल्यवृक्ष, चन्द्रा, विमान, अमृत प्रादि सब धानन्द विहारके पदार्थ हैं जिन्हु वह नरवर सोव है । पुण्य छोछ होनरर वहीच छि

सौटना पड़ता है । "क्षीरो पुण्ये मर्त्यलोके
विवर्ति ।"

स्वामिकान्तिकेय—[देखो कार्तिकेय]

स्वाहा—[देखो वषट्] देवताओंको इस
शब्दके साथ आहुति दी जाती है ।

ह

हंस—[देखो राजहंस]

हनुमान या हनुमान—पवनके और
प्रजनके गर्भसे इनका जन्म हुआ था । (देखो
मनमा) जन्म लेते ही ये क्षुधापूर होकर
बाल विम्याकल सनककर सूर्य पर उछले । यह
देखकर देव-दानव, पक्ष सभीमें हाहाकर मच
गया । सूर्यके तापसे बचानेके लिये पवनदेवने
पीतल चापके द्वारा इनकी रक्षा की । उस समय
एक सूर्यको प्रसने जा रहा था । इस निरुद्ध
पूर्वनेपर राहु डरकर नाम गया और इन्द्रसे
जाकर कहा कि आपने मुझे सूर्यको प्रसनेके
लिये भेजा था परन्तु एक दूसरे व्यक्तिको भी
वहाँ आपने भेज दिया । इसपर इन्द्र बहुत क्रुद्ध
हूँ और उन्होंने जाकर पञ्चाक्षसे उस पर प्रहार
किया जिससे उनका वामहनु टूट गया । पवन
जो उड़कर गुफामें से गए । पवनदेवने क्रुद्ध
होकर सभी बापुओंको रोक दिया । इससे चारों
ओर शृङ्गार मच गया । देवोंने जाकर ब्रह्मासे
कहा । ब्रह्माने आकर उस बच्चेको आशीर्वाद
दिया । सभी देवोंने आकर उसे अभिषेक कर
दिया । इस प्रकार देवताओंसे वर प्राप्त करके
हनुमानकी ऋषियोंको सन्तानें लगे । ऋषियोंने
शपथ दिला कि जिस बालसे गर्वित होकर हम
लोपोतो पट्ट दे रहे हो उसे तुम भूल जाओगे ।
यह कोई स्मरण दिला देगा तब तुम्हारा बच
वर्गा । हनुमान ऋषियोंके शपथसे सन्तानहीन होकर
आपसमें विचरने लगे । ऋक्षराजके करनेपर
बासि राजा हुआ । बासि और सुग्रीवके परस्पर

कसह होनेपर हनुमानने सुग्रीवका साथ दिया ।
इन्होंने ही आनकीजीकी खोज का भी और
रामकी आबन्ध सेवा की । ये भ्रमर हैं । सात
भ्रमर पुरुष ये हैं—

अश्वत्थामा बलिर्वासी हनुमाश्च विभीषणः ।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः ॥

हयपक्षा [हस्तावाप]—बाण फलाते
समय धनुषकी छोरीकी फटकार पारें हाथमें
फलाते हैं ऊपर पड़ती रहती है जिससे पड़ते पड़
जाते हैं । उस फटकारसे हाथको बचानेके लिये
चमड़ेकी जो पट्टी बांधी जाती थी उसे हयपक्षा
या हस्तावाप कहते थे ।

हरिताल—[सं० स्त्री०] १—एक खनिज
पीतलवर्ण उपधातु । वैद्यक-शास्त्रमें लिखा है कि
हरिके धीर्यसे हरिताल तथा लक्ष्मीके रजसे भगः
खिलाकी उत्पत्ति हुई थी, राज, भाल और तासक
ये तीन नाम हरितालके हैं । हरिताल दो प्रकार
का होता है : १. पत्र हरिताल और २. पिण्ड
हरिताल । इनमेंसे पत्र-हरिताल सर्वश्रेष्ठ और
पिण्ड-हरिताल गुणहीन होता है । पत्र-हरिताल
सुनहला, भारी, चिकना, अमरक जैसा तहबाला,
श्रेष्ठ, मुखदायक और रसायन होता है । पिण्ड-
हरिताल पिण्ड-जैसा, स्तरहीन, स्वल्पस्व,
अल्पगुण-युक्त लघु और रजोनाशक होता है ।
औषधादिके व्यवहारमें इसका सशोधन कर लेना
होता है । सशोधित हरिताल क्षामप्रद तथा
अशोधित रोगप्रद होता है ।

हरिचन्दन—१. एक प्रकारका चन्दन ।
२. स्वर्गके पाँच वृक्षोंमेंसे एक । शेष चार वृक्षोंके
नाम ये हैं—पारिजात, मन्दार, सतान और
कल्पवृक्ष । ३. पीतचन्दन । ४. पारिभाषिक
चन्दन । तुलसीकी लकड़ीको घिसकर कपूर
और अगर अथवा केसर मिलातेसे उसको हरि-
चन्दन कहते हैं । ५. कुकुम-केसर, ६. रक्त-
चन्दन ।

हृषिकेश—होमकुण्ड, हवनी ।

हस्ताश्रय—[देखो हथरखा] ।

हाथभाय—छिपेकी बहुत चेट्टा जिससे पुरुषोंका चित्त आकृष्ट होता है । नाब-नक्षत्र ।

हिगोड—हिमनखेर । इगुदी वृक्ष ।

हिमालय—भारतवर्षके उत्तरमें सदा हिमसे ढका रहनेके कारण इसका नाम हिमालय पड़ा है । इसमें अनेक प्रकारके घातुल पदार्थ तथा औषधियाँ मिलती हैं । जलदु और कासी नदीके मध्यस्थित पर्यंतपर लोहा, जस्ता बहुतप्रमाणात् मिलता है । हिमालयपर इराण और तुर्क नामकी दो आदि-जातियाँ रहती हैं । उत्तर भारतवर्षको अत्यन्तप्रामाण्य बनानेवाली नदियाँ हिमालयके पश्चिम और पूर्वसे निकली हैं—सेलम, चेनाव, रावी, व्यास, सतलज, यमुना, गङ्गा, घाघरा, गडक, बीती, तिरता, बह्मपुत्र, और विहङ्ग । इसके सबसे उच्च शिखरका नाम गौरीशङ्कर है । भगवान् शङ्करकी यही लीला-भूमि है ।

हिरण्यवर्ण—बहु ज्योतिर्मय अण्ड जिससे जह्वा और सारी सृष्टिकी उत्पत्ति हुई ।

हूण—प्राचीन जाति । ये चौथी सदीमें एशियासे दो बलोंमें विभक्त हो गए—एक दलने

यूरोपमें जानकर अपना आधिपत्य जमाया और दूसरा दल पाँचवीं सदीमें भारतके उत्तर-पश्चिम प्रदेशसे होता हुआ मध्य, श्यामल भारतमें समस्त क्षेत्रमें पहुँचा और यहाँ शासकोंको अपने प्रबल पराक्रमसे भयभीत करने लगा । गुप्त सम्राट् स्वयंशुद्धने इन लोगोको अपने पराक्रमसे परास्त किया । हूणोंका आधिपत्य अफगानिस्तानमें भी था । कुछ दिनों पश्चात् गान्धा और पेशावरके भाग लेकर हूणोंने गुप्त साम्राज्यको सहस्र-सहस्र पर डाला । पञ्जाबका चाकल या वर्तमान सिवालकोट उनकी राजधानी रहा । पञ्जाब पर्यन्त भी ऊपर हूणोंके भारतवर्षपर शासन रहा । उस समय सत्त भारतमें पाण्ड्योपीय प्रादुराज्यकी शक्ति बोलती थी ।

हेमकुण्ड—हिमालयके उत्तरका एक पर्व जो भारतवर्षकी सीमापर स्थित है । इसका कल्पित सम्बाई नब्बे सहस्र योजन और चौड़ाई दो सहस्र योजन मानी गई है ।

होता—होम करनेवाला । यह चार प्रधान ऋषिजोमे है जो ऋग्वेदके मन्त्र पढ़ता और वेदवाचोक आवाहन करता है । इसके तीनों सहायक होते हैं—अध्वर्यु, उद्गाता और ब्राह्मण ।

कालिदास सम्बन्धी पुस्तकों तथा निबन्धोंकी सूची

[डा० रामनुमार चौधे]

नोट—कालिदास सम्बन्धी निबन्धोंकी सख्या इतनी अधिक है कि उसकी पूरी सूची इस पन्ना दुस्तर है। तथापि मुख्य पुस्तकों और निबन्धोंका विवरण ही नीचे दिया जाता है।

पुस्तकें

| | |
|----------------------|--|
| जैनेश्वर | • A History of Sanskrit Literature. |
| र | : A History of Indian Literature |
| हरिप्रसाद | : A History of Indian Literature |
| प | : The Sanskrit Drama |
| | : A History of Sanskrit Drama |
| | : Classical Sanskrit Literature |
| श्यामाबाय्यार | • History of Classical Sanskrit Literature |
| उषा, के. सी | • Sanskrit Drama and Dramatists |
| दशरथप्रसाद द्विवेदी | कालिदास |
| मदन | Hindu Theatre |
| लाल मोदी | The Theatre of the Indians (French) |
| रविन्द्र घोष | The Age of Kalidasa |
| सहस्रनाम भट्टारकर | • A Peep into the early History of India |
| — | Early History of the Deccan |
| धर्मदत्त राय | कालिदास और भवभूति |
| श्री, बागुदेव बिष्णु | कालिदास |
| अध्याय, के. सी | The Date of Kalidasa |
| हनीश्वर काला | The birth-place of Kalidasa |
| एस सी | Kalidasa and Vikramaditya |
| एच. सी. | Early History of India. |
| एन. के. एस | Studies in Gupta History |
| एन. डार, एस. सी | Social Life in Ancient India |
| रामानुज चौधे | कालिदासकी प्रतिष्ठा और उसके समय तथा इन्द्र |
| | विवेचना पर एक नवीन दृष्टि। |
| एन. डार | Kalidasa (German) |
| हिन्दू धर्मा | Padmapurana and Kalidasa |
| | : Die Zeit des Kalidasa |

- साइडिस : Kalidasa Annual, Rep of the Ges für Vaterländische Kultur (Breslaw 1903)
- याकोबी (Jacobi) Kalidasa Vo J III p 127
- ताताचार्य Ist Verse of Raghuvansha JASB XXI and oriental Conf Proc III (Madras)
- शिवप्रसाद मट्टाचार्य Analysis of Raghuvansha JASB XXI
Proceedings 4th oriental Conference
Studies of Ritusanhara Karma yugin Journal
- मोरेल Kalidasa Z D M G LXVI
Kalidasa J R A S 1913 401
Kalidasa J R A S 1912
- स्ट्रेन्जलर Kalidasa Z D M G XLIV
- सरविंद घोष Kalidasa's Seasons
- वेन्डेल Kalidasa in Ceylon J R A S (1880)
- प्रियसंग Are Kalidasa's heroes monogamists J A S B XLVI p 39
- Some Notes on Kalidasa JASB XLVIII (32-48)
- लेमोनडे Further proof of Polygamy of Kalidasa's heroes JASB XLVI p 160
- मालनाथ पंडित Morals of Kalidasa JASB XLV p 352
- जैबसन Legend of Kalidas preserved in Ujjain JAOS XXII p 331
Time Analysis of Drama of Kalidasa JAOS XX p 341-59
Bibliography of Kalidasa's plays JAOS XXII p 237
XXIII p 937
- हर्बुड, मा थी Traditional Account of Kalidasa IA VII p 115
- होल्ले Kalidasa and Kamandaki IA XLI p 156
- चक्रवर्ती, जे बी Kalidasa the great Indian poet Journal of Mythic Soc VIII p 261
- श्रीसहाचार्यार Life of Kalidasa J of Mythic Soc VIII p 273
- कृष्णशास्त्री Formative influences of Kalidas J My S IX p. 557
- ब्यकुट मुन्बय्या Kalidasa's Sociological Ideals J My S Ibid 95
- ब्यकुट रमनय्या Some Views of Kalidasa's philosophy and Religion J M Y S Ibid 98
- कृष्ण प्रायगर Kalidasa and Shakespeare J My Soc ibid 151
- मंडारकर, डी मार Soleisms of Shankaracharya & Kalidasa (I A XLI 214)
- 1941 Kalidas's Religion and Philosophy (IA, XXXIX 236)

- सोपानी, पी. सी. : Essay on Society in the time 'of Kalidasa (in Malavati)
- रामदासी, भलहराज : Heroines of Kalidasa (Sah XXII, 45)
- शर्मा, ए. सी. : Kalidasa, his poetry and mind (M. R. XI alood Calcutta)
- कृष्णमाचार्यार : Kalidasa and Bhavabhuti (Sah XVIII)
- रामानुजाचार्य : Kalidasa's date (Sah XIX)
- रामाचार्य : Kalidas's Love for deers (SahXXIV) (Sahridaya, a Sanskrit Journal of Madras)
- पेपगिरि दास्त्री : Kalidasa (I A. I 340)
- कृष्णस्वामी भट्टर : Poetry of Kalidasa (I. R. XIV 899)
- शिरे : Notes on Kalidasa (I AXLXII)
- हरिचन्द : Les Citations des Kalidasa dans le traites d' Alankara (J. A. VII. No 1, u)
- : Kalidasa et la poetique de l' inde Paris Reviewed in (J. R. A. S. 1981)
- पेंड, सी. वि. : Pandyas and the date of Kalidasa
- महामदार, के. जी. : Vatsyayana and Kalidasa (IA XLVII 195)
- : Kalidasa and Kamandaki (IA XLVI 220)
- पार्जी पी. के. : Poet Kalidasa and sea voyage (Journal Dep. of Letters Calcutta XVI)
- प्रानन्द शील : Birth place of Kalidasa (Journal of Indian His. VII 345)
- बालमुद्रहास्य भट्टर : Kalidasa his philosophy of Love (JOR. III 349)
- बैकुण्ठ रामय्या सी. के. : Kalidasa and Bhasa in the light of western Criticism (J My XVII 125)
- रत्नस्वामी सरस्वती : Kalidasa J. My. XV 269 XVI 98.
- राहु, ए. : Kalidasa and Kautalya (J. My. Soc. XI 42, X 303)
- : Astronomical date in the dramas of Kalidasa (Proceedings, All India Oriental Congress 1924)
- शर, भट्टर के. जी. : Vikrama theory of Kalidasa's date (J. My, XI 188)
- शर्मा, सी. : Date of Kalidasa J. R. A. S. (1891) 330
- शर्माजी : On the Sankrit Pact Kalidasa (J. B R. A S. VI 1920)
- महामदार पी. सी. : Date of Kalidasa (J. B. O. R. S II 388)
- एकर, भट्टर के. जी. : Yasodhaman's theory of Kalidas's date (J. B O. R. S VII 60)

- के. वैकुण्ठ रमय्या : Kalidasa and Bhasa in the light of western Criticism J. My. S XVIII 127
- सुव्यापव शास्त्री : Kalidasa's flowers (Bharati)
- वैकुण्ठ रमय्या : Was Kalidasa a votary of Kalidasa (Bharati V 688)
- रामकृष्ण पट्टा : Ritusanhara, Bharati V 387
- विषय शास्त्री : Megha Sandesha Bharati V 678
- रामदास्य : Megha Sandesha, Bharati V 20
- प्रमो पन्तायू : Kalidasa, Bharati VIII 19
- रामकृष्ण राव : Kalidasa and Bhavabhuti (Bharati III 15)
- सुततनमय शास्त्री : Kalidasa patrauchityam (Bharati V 326)
- शिवराम कृति : Kalidasa and painting (J O R VII 160)
- वैकुण्ठराम शास्त्री : Mystical elements Kalidas (J. O. R. VII 357)
- मजुमदार : Birth place of Kalidasa IA XLVII 264
- दामस : Birth place of Kalidasa J. R. A. S 1918 p 118
- डि. एस. के. : Kalidasa I IL Q 1940 385 ff
- रामनॉय शर्कर : The authorship of Nalodaya (J R A. S 1925)
- गोलेले, वी बी : The Mangalashtaka of Kalidasa
- मजुमदार, जी एन : Kalidasa and music Annals, B O B I 1925-26 VI
- महारकर, वी भार : Date of Kalidasa Annals BORI VIII p II
- हरदत्त शर्मा : Padmapurana and Kalidasa Cal O S, No 17-1923
- लूई फिलो : Kalidasa in China (I H Q 1933, 829, 834)
- स्टाइन कोनो : Kalidasa in China (IHQ 1934 566 ff)
- प्रबोधचन्द्र सेन गुप्त : Date of Kalidasa Sahitya parishad patrika Benga XLI No, 2
- चट्टोपाध्याय, के. सी : Kalidasa and the Hunes Jour Ind His XV pt I
- भगवतशरण उपाध्याय. : Educations and Learning as depicted by Kalidasa and Fine as Arts depicted in Kalidasa Journal B F Uni I VI—3
- राघवन, वी. : Women characters in Kalidas's dramas (Annals Oriental Research Uni. Madras IV 1939-40)
- कुन्दन राजा : Studies in Kalidasa (Annals Oriental Res Uni Madras V pt 2 1940-41)
- सुब्रह्मण्य, ए. सी. : Nature Poetry in Kalidasa's Raghvansha J. Anna Univ. III 1934 and 35